ओ३म्

अथर्ववेदभाष्य

(आध्यात्मिक व्याख्या)

[काण्ड ८ से १३]

द्वितीय भागः

भाष्यकार :

प्रो० विश्वनाथ विद्यालङ्कार

प्रकाशक :

वैदिक पुस्तकालय

केसरगंज, अजमेर (राज०)

प्रकाशक : **वैदिक पुस्तकालय**
केसरगंज, अजमेर-३२२ २३० (राजस्थान)
दूरभाष : ०१४५-२४६०१२०

संस्करण : २०७० विक्रमी संवत्, २०१३ ई०

मूल्य : ५००.०० (द्वितीय भाग)

शब्द-संयोजक : स्वस्ति कम्प्यूटर्स, करनाल, हरियाणा
दूरभाष : ०९२५५९-१२३१४

मुद्रक : अजय प्रिंटर्स, दिल्ली-११००३२

विषय-सूची

अष्टम काण्ड	सूक्त संख्या
१. उपनीत ब्रह्मचारी का वर्णन (मन्त्र १)	१
२. बुढ़ापे में ज्ञानोपदेश करने का परामर्श (मन्त्र ६)	१
३. यम के दो श्वानौ श्याम और शबल (मन्त्र ९)	१
४. प्रेयमार्ग भीम है (मन्त्र १०)	१
५. बोध और प्रतीबोध (मन्त्र १३)	१
६. ब्रह्मचारी को रजस्-तमस् मार्ग से बचाना (मन्त्र १, १०)	२
७. ब्रह्मरूपी कवच का धारण (मन्त्र १०, २५)	२
८. केश-श्मश्रु का वपन (मन्त्र १७)	२
९. ब्रह्मचारी का भोजन, कृष्यन्न, पयः (दूध) (मन्त्र १९)	२
१०. ब्रह्मचारी को युगों, युगकालों का परिज्ञान (मन्त्र २१)	२
११. जीवन की परिधि, ब्रह्म (मन्त्र २५)	२
१२. एकशतं मृत्यवः (मन्त्र २७)	२
१३. आदित्यौ=सूर्याचन्द्रमसौ (मन्त्र १५)	२
१४. अग्नि अर्थात् अग्रणी उभयावी है, अभ्युदय और निःश्रेयस का रक्षक है (मन्त्र ३)	३
१५. यातुधान=अनृत द्वारा ऋत का हननकर्त्ता (मन्त्र ११)	३
१६. गो हत्यारे का वेधन (मन्त्र १७)	३
१७. राक्षसों के साथ संग्राम (मन्त्र १८)	३
१८. कवि और काव्य (मन्त्र २०)	३
१९. शृङ्गे=जलते शस्त्रास्त्र (मन्त्र २४, २५)	३
२०. अग्नी अर्थात् अग्रणी (प्रधानमन्त्री के गुण) (मन्त्र २६)	३
२१. भिन्न-भिन्न अपराधों में नानाविध दण्ड, यथा—	
(क) हृदयवेधन और बाहुओं को तोड़ना (मन्त्र ६)	३
(ख) पापी, कुटिल और वाचास्तेन को बन्धनागार (मन्त्र १४)	३
(ग) फटकारदण्ड (मन्त्र १२)	३
(घ) शिरःछेददण्ड (मन्त्र १५)	३
(ङ) विषप्रयोग द्वारा हनन (मन्त्र २३)	३
२२. इन्द्र-सोम का वर्णन, मन्त्र २५ (मन्त्र १-२५)	४

२३. इन्द्र=सम्राट्, सोम=सेनाध्यक्ष (मन्त्र १) ४
२४. इन्द्र और सोम को वेदोक्त सन्मतिप्रदान (मन्त्र ६) ४
२५. सत्य और असत्य वचनों की परख (मन्त्र १२) ४
२६. शत्रुप्रेरित गुप्तचर स्त्री (मन्त्र १७) ४
२७. उल्लू आदि की ६ चालें (मन्त्र २२) ४
२८. विविध दण्ड—(क) ब्रह्मद्वेषी के प्रति द्वेषधारण (मन्त्र २) ४
(ख) कूप में डालकर बींधना (मन्त्र ३) ४
(ग) पसलियों, छाती को बींधना (मन्त्र ५) ४
(घ) मृत्युदण्ड (मन्त्र ८, ९) ४
(ङ) बन्धन दण्ड (मन्त्र १३, १४) ४
(च) निज परिवार से पृथक् कर देना (मन्त्र १५) ४
(छ) पत्थरों द्वारा मार देना (मन्त्र १७) ४
(ज) ग्रीवाछेद (मन्त्र २४) ४
२९. "प्रतिसर-मणिं" बन्धन, मणि का स्वरूप, मन्त्र २२ (मन्त्र १-२२) ५
३०. यह मणि वीर हे, वीर्यवान्, शूरवीर है [सेनाध्यक्ष?] (मन्त्र १) ५
३१. मणि सपत्नों का हनन करता, वीर, सुवीर, उग्र है (मन्त्र २) ५
३२. ९० नदियों का आध्यात्मिक-स्वरूप (मन्त्र ९) ५
३३. सूक्त में सम्राट्, राष्ट्रपति, पुरुषमणि (सेनाध्यक्ष?) की प्रायः चर्चा हुई है। ५
३४. गर्भिणी स्त्री का वर्णन (मन्त्र २६) ६
३५. कीटाणु (germs) दो प्रकार के (१) दुर्णामा अर्थात् दुष्परिणामोत्पादक, तथा सुनामा अर्थात् सुपरिणामोत्पादक (मन्त्र १, ४) ६
३६. दुर्णामा कीटाणु अलिंश=स्त्रीस्तन पर भ्रमराकृतिक कैंसर, (२) वस्तप=उत्पन्न वत्स के पेय दुग्ध को सुखा देने वाला और सुनामा है स्त्रीस्वास्थ्यकर (मन्त्र १, ४) ६
३७. स्त्रियों के भी दो अण्ड होते है, परन्तु अनभिव्यक्त (मन्त्र ५) ६
३८. दुर्णामा-रोगकीटाणुओं के विनाश, वज और पिङ्ग नामक द्विविध सर्षप, सरसों (मन्त्र ६) ६
३९. स्वाप्निक दोषों का विनाशक "वज" (मन्त्र ७) ६
४०. केशवाः germs (मन्त्र २३) ६
४१. रोगकीटाणुओं का सूर्यातप द्वारा विनाश (मन्त्र २४) ६
४२. सामाजिक कुकर्मियों को भी रोगकीटाणु कहा है, तथा अन्य विविध प्रकार के कीटों का भी वर्णन हुआ है। (मन्त्र २१) ६
४३. सूक्त के अन्त में वज, पिङ्ग की विशेष व्याख्या। ६
४४. ओषधिवर्णन (मन्त्र २८) ७(२८)

४५. यक्ष्म से त्राण सम्बन्धी ओषधियां (मन्त्र १, २, ५, १५) ७
४६. पाप का फल यक्ष्म (मन्त्र ३, २८) ७
४७. ओषधियों की भस्में (मन्त्र ८) ७
४८. बलास रोगनाशक औषधें (मन्त्र १०) ७
४९. अमृतभोजन=दुग्ध, घृत, अन्न (मन्त्र १२) ७
५०. व्याघ्रनामक औषध (मन्त्र १४) ७
५१. रोगनाशक पीपल, दर्भ, सोम, जल, हविः, व्रीहि, यव (मन्त्र २०) ७
५२. पशु, पक्षी, साँप आदि द्वारा ज्ञात ओषधियों का संग्रह (मन्त्र २३-२६) ७
५३. पञ्चशल तथा दशशल (बाणों) द्वारा जन्य रोग (मन्त्र २८) ७
५४. राजनैतिक (युद्ध) (मन्त्र २४) ८
५५. पूतिरज्जु धड़ाके का शब्द करती हुई शत्रुदल में दुर्गन्ध फैलाने वाली रस्सी (मन्त्र २) ८
५६. बृहत्-जाल द्वारा शत्रु को बाँधना (मन्त्र ४-७) ८
५७. तामसास्त्र (मन्त्र ८) ८
५८. युद्ध में महात्माओं और विद्वानों का सहयोग (मन्त्र १२) ८
५९. विमानों द्वारा युद्ध (मन्त्र १३) ८
६०. कूट प्रयोग (मन्त्र १६) ८
६१. लोकलोकान्तरवासी देव तथा मनुष्य आदि (मन्त्र २१) ८
६२. देवरथ, उसके अवयव (मन्त्र २२) ८
६३. संवत्सर रथ, उसके अवयव (मन्त्र २३) ८
६४. स्वाहा पद का निर्वचन (मन्त्र २४) ८
६५. नील और लोहित रश्मियों द्वारा शत्रु पर विजय (मन्त्र २४) ८
६६. सूर्य द्युलोक से, चन्द्रमा पृथिवी से उत्पन्न (मन्त्र १) ९
६७. त्रिभुज ब्रह्माण्ड में परमेश्वर का शयन (मन्त्र २) ९
६८. त्रीणि बृहन्ति ऋक्, यजुः, साम। चतुर्थं वाचम् "अथर्ववेदम्" (मन्त्र ३) ९
६९. पारमेश्वरी प्रज्ञा से अस्मत्प्रज्ञा का निर्माण (मन्त्र ५) ९
७०. कश्यप परमेश्वर से ६ ऋषियों द्वारा जिज्ञासा (मन्त्र ७) ९
७१. यज्ञकर्म परमेश्वरार्थक (मन्त्र ८) ९
७२. परमेश्वर का दर्शन कई करते हैं, कई नहीं (मन्त्र ९) ९
७३. प्रतिदिन की दो उषाएँ (मन्त्र १२) ९
७४. पञ्चनाम्नी गौः (मन्त्र १५) ९
७५. त्रिविधा द्यौ, त्रिविधा पृथिवी (मन्त्र १६) ९
७६. सप्तगृध्राः (मन्त्र १८) ९

७७. अष्टपुत्रा अदिति (मन्त्र २१) ९
७८. एक गौ, एक ऋषि, एक यक्ष, एक ऋतु (मन्त्र २६) ९
७९. एकाष्टका परिशिष्ट (सूक्त की समाप्ति पर) (मन्त्र १-१३) ९
८०. विराट् का उत्क्रमण (पर्याय १ से ५ तक) १०
(पर्याय १)
८१. शासनव्यवस्था तथा सामाजिक व्यवस्था का विकास भयमूलक (मन्त्र १) १०
८२. गार्हपत्यव्यवस्था=गृहसंगठन (मन्त्र २, ३) १०
८३. आहवनीयव्यवस्था=ग्रामसंगठन (मन्त्र ४, ५) १०
८४. दक्षिणाग्निव्यवस्था=जिलासंगठन (मन्त्र ६, ७) १०
८५. सभाव्यवस्था=राष्ट्रिय-असेम्बली संगठन (मन्त्र ८, ९) १०
८६. समितिव्यवस्था=राष्ट्रिय राजसमिति संगठन (मन्त्र १०, ११) १०
८७. आमन्त्रणव्यवस्था=सम्राटों में परस्पर मन्त्रणासंगठन (मन्त्र १२, १३) १०
(पर्याय २)
८८. शासनव्यवस्था [विराट्] का चतुर्धा विकास (मन्त्र १, ४) १०
८९. देवों, मनुष्यों में मेल (मन्त्र २) १०
९०. ऊर्जा, स्वधा, सूनृता, इरावती व्यवस्था (मन्त्र ४) १०
९१. विराट् का वर्णन गोरूप में (मन्त्र ५-१०) १०
(पर्याय ३)
९२. विराट् का वानस्पतिक विकास (मन्त्र १, २) १०
९३. पितृसम्बन्धी विराट् (मन्त्र ३, ४) १०
९४. देवसम्बन्धी विराट् (मन्त्र ५, ६) १०
९५. मनुष्यसम्बन्धी विराट् (मन्त्र ७, ८) १०
(पर्याय ४)
९६. असुरराज्य (मन्त्र १-४) १०
९७. पितरराज्य (मन्त्र ५-८) १०)
९८. मनुष्यराज्य (मन्त्र ९-१२) १०
९९. ऋषिराज्य (मन्त्र १३-१६) १०
(पर्याय ५)
१००. इन्द्रादिदेवताक राज्य, आधिदैविकार्थ में (मन्त्र १-४) १०
१०१. इन्द्रादिदेवाताक राज्य, आधिभौतिकार्थ में (वैश्यप्रकृतिक राज्य) (मन्त्र १-४) १०
१०२. गन्धर्वाप्सरसराज्य, आधिदैविकार्थ में (मन्त्र ५-८) १०
१०३. गन्धर्वाप्सरसराज्य, आधिभौतिकार्थ में (मन्त्र ५-८) १०

१०४. इतरराज्य (मन्त्र ९-१२) १०
१०५. सर्पराज्य (मन्त्र १३-१६) १०
(पर्याय ६)
१०६. शत्रु का अलाबु द्वारा अभिषेक कर हनन (मन्त्र १-४) १०

नवम काण्ड

सूक्त संख्या

१. मधुकशा के त्रिविध अर्थ (मन्त्र १-२१) १
२. भ्रमर; चमगीदड़; पक्षियों के आधिदैविक स्वरूप-प्रदर्शक द्युलोक का चित्र (मन्त्र २२-२३) २
३. शाला निर्माण ३
४. ऋषभ के दो अर्थ, श्रेष्ठ परमेश्वर और बैल ४
५. अज है अजन्मा जीवात्मा, न कि बकरा ५
६. अतिथियज्ञ; श्रोत्रिय अतिथि; गोक्षीर गोमांस आदि ६
७. विश्व का वर्णन गोरूप में ७
८. शीर्षण्य रोग; तक्मा (बुखार); यक्ष्म; श्लेष्म (बलास) मूत्ररोग आदि ८
९. "अस्यवामस्य"—आध्यात्मिक सूक्त की विशिष्ट व्याख्या ९
१०. धेनु, अध्न्या, गो द्वारा वेदमाता का निर्देश, ब्रह्म, जीवात्मा का विस्तृत वर्णन १०

दशम काण्ड

सूक्त संख्या

११. कृत्या=विषकन्या; सेना; कृष्यन्न आदि को विषाक्त करना, तथा विस्फोटक १
१२. मनुष्य शरीर के भिन्न-भिन्न अङ्ग; उनके रचयिता सम्बन्धी प्रश्न (मन्त्र १-८) २
१३. आप:=रक्त (शरीरस्थ) (मन्त्र ११-१२) २
१४. ब्रह्म; अथर्वा मूर्धा-हृदय संसीवन; मस्तिष्क; देवकोश (मन्त्र २१-२७) २
१५. ब्रह्मपुरुष की पुरी; देवपुरी; हिरण्यकोष (मन्त्र २८-३३) २
१६. वरणमणि=शत्रुनिवारक सेनाध्यक्ष; रोग-निवारक वनस्पति ३
१७. प्रजापति, परमेष्ठी में स्वरूप-भेद (मन्त्र २४) ३
१८. नाना सर्प; उनके विष; तत्प्रतीकार; यथा विद्युत्, मिट्टी, जलचिकित्सा विष द्वारा विषनाशन, दर्भ, तरुणक, श्वेत पुनर्नवा, श्वेत सर्षप की जड़, न्योला, साँप को दण्ड द्वारा तथा बिच्छू को हथौड़े द्वारा मारना, नदी के प्रवाह में जल चिकित्सा आदि ४
१९. इन्द्र=सम्राट् (मन्त्र १-८) ५
आप:=प्रजा: (मन्त्र ६, ७) ५
सोम=जलविभाग और ओषधि-विभाग का अधिकारी; वरुण=माण्डलिक राजा; मित्र=विदेशनीति अधिकारी; वरुण=गुप्तचरविभाग का अधिकारी; यम=न्यायाधिकारी; पितर:=सभा, समिति के सदस्य (मन्त्र ९-१४) ५
२०. शासकवर्ग अनृतत्याग का "त्रैहाणिक-व्रत" लें (मन्त्र २२) ५

२१. सार्वभौम शासक ब्रह्मवर्चसी हो; जो शासक ब्रह्मवर्चसी नहीं उन्हें खोजकर उचित दण्ड देना (मन्त्र ३७-५०) ५
२२. फालमणि=कृष्यन्न; राज्याधिकारी फालमणि को बाँधें ६
२३. स्कम्भ=सर्वाधार परमेश्वर का विस्तृत वर्णन ७-८
२४. शतौदना=विविध अन्नदात्री पारमेश्वरी माता, न कि चतुष्पाद् गौ ९
२५. वशा=जगत् को वश में रखने वाली पारमेश्वरी-माता, न कि बन्ध्या चतुष्पाद् गौ १०

एकादश काण्ड

सूक्त संख्या

१. ब्रह्मौदन १
२. भव, शर्व, रुद्र २
३. ओदन-ब्रह्म तथा ओदन कृष्यन्न; ओदन प्राशन; (मन्त्र १, २) ३
ओदन का आध्यात्मिक स्वरूप (मन्त्र ३) ३
४. प्राण के विविध स्वरूप ४
५. ब्रह्मचर्य ५
६. पापमोचन ६
७. उच्छिष्ट ब्रह्म ७
८. मन्यु का विवाह, शरीर-रचना ८
९. देवों-असुरों का युद्ध और नाना अस्त्र शास्त्र ९,१०

द्वादश काण्ड

सूक्त संख्या

१०. समग्र भूमि का भरण-पोषण, भूमि, माता, पर्जन्यः पिता १
११. यक्ष्मनाशन २
१२. गृह्य-कर्त्तव्य, गृही, संन्यासी और उसकी अन्त्येष्टि ३
१३. वशा का स्वरूप, वेदवाणी के प्रचार में स्वतन्त्रता ४
१४. ब्रह्मगवी का स्वरूप (मन्त्र १-६) ५

त्रयोदश काण्ड

सूक्त संख्या

१५. रोहित=परमेश्वर, राजा, तथा आदित्य १
१६. रोहित=परमेश्वर, आदित्य २
१७. अध्यात्म (परमेश्वर) तथा आदित्य ३
१८. अध्यात्म (सविता) (मन्त्र १-६) ४

प्रत्येक बड़े सूक्त की व्याख्या के प्रारम्भ में प्रत्येक सूक्त-सम्बन्धी विषयों की संक्षिप्त भूमिकाएँ ''विषय- प्रवेश'' नाम से दे दी हैं, ताकि सूक्त के विषयों को समझने में आसानी हो सके।

ग्रन्थकार—

विश्वनाथ, विद्यालंकार, विद्यामार्तण्ड

अष्टम काण्ड

सूक्त १

विषय-प्रवेश

(१) उपनीत ब्रह्मचारी के दीर्घजीवन और स्वास्थ्य के लिए प्राकृतिक साधन (मन्त्र १-५), और बुढ़ापे में ज्ञानोपदेश करने का परापर्श (मन्त्र ६)।

(२) ब्रह्मचारी को सदुपदेश और उसका हस्तावलम्बन (मन्त्र ७, ८)।

(३) यम के दो श्वानौ, श्याम और शबल (मन्त्र ९)।

(४) प्रेयमार्ग भीमपथ है (मन्त्र १०)।

(५) ब्रह्मचारी की रक्षा के ६ साधन बोध, प्रतीबोध आदि (मन्त्र १३)

(६) ब्रह्मचारी दुर्जन के संग का परित्याग करे (मन्त्र १२)।

अथाष्टादशः प्रपाठकः

अनुवाक १

सूक्त १

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**पुरोबृहती त्रिष्टुप्** ॥

अन्तकाय मृत्यवे नमः प्राणा अपाना इह ते रमन्ताम्।

इहायमस्तु पुरुषः सहासुना सूर्यस्य भागे अमृतस्य लोके ॥ १ ॥

अर्थ—(अन्तकाय मृत्यवे) अन्त करने वाले मृत्युनामक परमेश्वर के लिए (नमः) नमस्कार हो। [हे आयु की कामना वाले!] (ते) तेरे (प्राणाः अपानाः) प्राण और अपान (इह) इस तेरे शरीर में (रमन्ताम्) रमण करें। (अयम् पुरुषः) यह आयुष्काम पुरुष, (सह असुना) प्राणों के साथ वर्तमान हुआ, (सूर्यस्य भागे) सूर्य के सेवन के स्थान अर्थात् (अमृतस्य) शीघ्र न मरने के (इह लोके) इस लोक अर्थात् पृथिवी में (अस्तु) विद्यमान रहे।

[मन्त्र में तीन का वर्णन है; परमेश्वर का, आचार्य का, तथा आयुष्काम पुरुष का। कौशिक सूत्रों में माणवक के उपनयनकर्म में मन्त्र का विनियोग किया है। अथर्व १३.४ (३).२५ में परमेश्वर को "मृत्यु" कहा है। यथा "**स एव मृत्युः सोऽमृतं सोऽभ्वं सः रक्षः**"। माणवक के दीर्घायुष्य के लिए परमेश्वर को नमस्कार किया है। साथ ही पुरुष पद द्वारा माणवक को सम्बोधित कर उसे कहा है कि तू ऐसे स्थान में वास कर जो कि सूर्य के प्रकाश वाला हो, प्रकाशरहित गृहों में निवास न कर। यथा "**ता वां वास्तून्युष्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः**" (ऋ० १.१५४.६)। "गावः भूरिशृङ्गाः" का अर्थ है बहुप्रकाशी सूर्यरश्मियाँ। **शृङ्गाणि ज्वलतो नाम** (निघं० १.१७)। **गावः रश्मिनाम** (निघं० १.५)।

अमृत का लोक है पृथिवी। योगाङ्गों के अनुष्ठान से योगी पृथिवी में ही निवास करता हुआ अमृतत्व को, या अमृत-परमेश्वर को प्राप्त कर मुक्तात्मा हो सकता है। भागे=**भज सेवायाम्**]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

उदेनं भगो अग्रभीदुदेनं सोमो अंशुमान्। उदेनं मरुतो देवा उदिन्द्राग्नी स्वस्तये ॥ २ ॥

अर्थ—(भगः) भजनीय परमेश्वर ने (उद्) इसकी उन्नति के लिए (एनम्) इस आयुष्काम का (अग्रभीत्) ग्रहण किया है, इसे निज शरण में लिया है, (उद्) इसकी उन्नति के लिए (अंशुमान् सोमः) किरणों वाले चन्द्रमा ने (एनम्) इसे अपनाया है। (उद्) इसकी उन्नति तथा (स्वस्तये) कल्याण के लिए (देवाः मरुतः) मोदप्रद वायुओं ने तथा (इन्द्राग्नी) अन्तरिक्षस्थविद्युत् तथा भौम-अग्नि ने (एनम्) इसे ग्रहण किया है।

[आयु की समृद्धि के लिए चन्द्रमा के प्रकाश का सेवन, मोदप्रद शुद्धस्वच्छ वायुओं का सेवन वर्षाप्रद अन्तरिक्षस्थ-विद्युत् का प्रयोग तथा अग्निहोत्र सम्बन्धी पार्थिवाग्नि आवश्यक है। देवाः=**दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोद** आदि (दिवादिः)]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

इह तेऽसुरिह प्राण इहायुरिह ते मनः।
उत्त्वा निर्ऋत्याः पाशेभ्यो दैव्या वाचा भरामसि ॥ ३ ॥

अर्थ—(इह) इस पृथिवी में (ते) तेरी (असुः) प्रज्ञा हो, (इह) इसमें (प्राणः) प्राणापान क्रिया हो, (इह) इसमें (आयुः) पूर्ण आयु हो, (इह) इसमें (ते) तेरा (मनः) मन हो। (निर्ऋत्याः) कृच्छ्रापत्ति के (पाशेभ्यः) फन्दों से (दैव्या वाचा) दिव्य वेदवाणी के अनुसार (त्वा) तेरा (उत् भरामसि) हम उद्धार करते हैं।

[आयुष्काम व्यक्ति, निज ज्ञान तथा मन द्वारा दृढ निश्चय तथा संकल्प दीर्घजीवन के लिए करे तो वह दीर्घायु प्राप्त कर सकता है, और कष्टों से मुक्त रह सकता है। **असुः प्रज्ञानाम** (निघं० ३.९)।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**प्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

उत्क्रामातः पुरुष माव पत्था मृत्योः पड्बीशमवमुञ्चमानः।
मा च्छित्था अस्माल्लोकादग्नेः सूर्यस्य सन्दृशः ॥ ४ ॥

अर्थ—(पुरुष) हे पुरुष! (मृत्योः) मृत्यु के (पड्बीशम्) पादबन्धन को (अवमुञ्चमानः) छोड़ता हुआ (अतः) इस अवस्था से (उत्क्राम) उन्नति की ओर तू पग बढ़ा, (मा अवपत्थाः) नीचे की ओर अपना पतन न कर। (अस्मात् लोकात्) इस पृथिवीलोक से, तथा (अग्नेः सूर्यस्य) अग्नि और सूर्य के (संदृशः) सम्यक् दर्शन से (मा छित्थाः) तू अपना सम्बन्ध न काट।

[उत्क्राम=उत्+**क्रमु पादविक्षेपे**। पड्वीशम्=पैरों में प्रविष्ट पाश बन्धन बेड़ियां। मन्त्र में निराश हुए पुरुष को निराशा से मुक्त करने के लिए प्रोत्साहित किया है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**त्रिपाद् विराड् गायत्री** ॥

तुभ्यं वातः पवतां मातरिश्वा तुभ्यं वर्षन्त्वमृतान्यापः।
सूर्यस्ते तन्वे३ शं तपाति त्वां मृत्युर्दयतां मा प्र मेष्ठाः ॥ ५ ॥

अर्थ—(तुभ्यम्) तेरे लिए (मातरिश्वा) अन्तरिक्षसंचारी (वातः) वायु (पवताम्) प्रवाहित हो

(तुभ्यम्) तेरे लिए (आपः) मेघीय-जल (अमृतानि) अमृत वस्तुएँ (वर्षन्तु) वरसाएँ। (सूर्यः) सूर्य (ते तन्वे) तेरी तनू के लिए (शम्) सुखपूर्वक (तपाति) तपे, (मृत्युः) मृत्यु (त्वां) तेरी (दयताम्) रक्षा करे या तुझ पर दया करे, (मा प्रमेष्ठाः) ताकि तू हिंसित न हो।

[मन्त्र में पुरुष के लिए आशीर्वाद का कथन हुआ है। मातारिश्वा=**माता अन्तरिक्षम्, निर्मीयन्तेऽस्मिन् भूतानीति व्युत्पत्तेः, तस्मिन् श्वसितीति मातरिश्वा** (सायण)। अन्तरिक्षसंचारी वायु स्वास्थ्यकारी होती है। अमृतानि=जल, नानाविध अन्न, फल, सब्जी आदि अमृत वस्तुएँ हैं, जिनकी प्राप्ति वर्षा द्वारा होती है। मृत्युः=परमेश्वर (मन्त्र १)। दयताम्=**दय दानगतिरक्षणहिंसादानेषु** (भ्वादिः) में "दय" का अर्थ "रक्षण" भी है। तपाति=लेट्। मेष्ठाः=**मीङ् हिंसायाम्,** लुङ्]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**त्रिपाद् विराड् गायत्री** ॥

उ॒द्यानं॑ ते पुरुष॒ नाव॒यानं॑ जी॒वातुं॑ ते॒ दक्ष॑तातिं कृणोमि।
आ हि रोहे॒मम॒मृतं॑ सु॒खं रथ॒मथ॒ जिर्वि॒र्वि॒दथ॒मा व॑दासि ॥ ६ ॥

अर्थ—(पुरुष) हे पुरुष! (ते) तेरा (उद्यानम्) मार्ग ऊपर की ओर है, (न अवयानम्) नीचली ओर मार्ग नहीं (ते) तेरे (जीवातुम्) जीवन को (दक्षतातिम्) वृद्धि का विस्तार करने वाला (कृणोमि) मैं करता हूँ। (इमम्) इस (अमृतम्) दीर्घजीवी या मोक्ष के साधनभूत, (सुखम्) सुखदायक (रथम्) शरीर-रथ पर (हि) निश्चयपूर्वक (आ रोह) आरोहण कर, (अथ) और (जिर्विः) जीर्ण होकर, बूढ़ा हो कर (विदथम्) ज्ञानोपदेश (आ वदासि) सर्वत्र किया कर।

[जीवातुम्=जीवनम् (उणा० १.७८; दयानन्द)। दक्षतातिम्=**दक्ष वृद्धौ** (भ्वादिः)+तातिम् (**तनु विस्तारे,** तनादिः) कृणोमि=यह कथन परमेश्वर अथवा आचार्य का है (मन्त्र १) रथम्="**शरीरं रथमेव तु**" (कठ० उप० ३.३)]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**त्रिपाद् विराड् गायत्री** ॥

मा ते॒ मन॒स्तत्र॑ गा॒न्मा ति॒रो भू॒न्मा जी॒वेभ्यः॒ प्र म॑दो॒ मानु॑ गाः पि॒तॄन्।
विश्वे॑ दे॒वा अ॒भि र॑क्षन्तु त्वे॒ह ॥ ७ ॥

अर्थ—(ते) तेरा (मनः) मन (तत्र) अन्यत्र (मा गात्) न जाए, (मा तिरः) न तिरस्कृत या तिरोभूत (भूत्) हो, (मा जीवेभ्यः प्रमदः) न प्राणियों की सेवा में तू प्रमाद कर, (पितृन्) [मृत] पितरों का (मा अनुगाः) अनुगामी न बन। (विश्वे देवाः) सब देवकोटि के आचार्य (त्वा) तुझे (इह) इस आश्रम में (अभि रक्षन्तु) सब प्रकार से सुरक्षित करें।

[मन्त्रों का विनियोग उपनयन संस्कार निमित्त हुआ है (मन्त्र १)। उपनयन का अर्थ है "अपने समीप लाना", (उप=समीप+नयन=लाना)। आचार्य माणवक को, उपनयन विधि द्वारा, अपने आश्रम में ले आता है। "विश्वे देवाः" का अर्थ इसलिए आचार्य किया है। आश्रम के सभी आचार्य देवकोटि के होने चाहिए]।

अथवा

[इस आश्रम में रहकर तेरा मन निज माता-पिता के घर की ओर न जाता रहे, न आश्रम में रहकर तेरा मन टेढ़ी चालों वाला हो, न माता-पिता आदि की ही तू निरन्तर चिन्ता करता रहे]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**विराट् पथ्या बृहती** ॥

मा गतानामा दीधीथा ये नयन्ति परावतम्।

आ रोह तमसो ज्योतिरेह्या ते हस्तौ रभामहे॥ ८॥

अर्थ—(गतानाम्) गुजरे हुओं का (मा) न (आ दीधीथाः) सदा ध्यान अर्थात् चिन्तन किया कर, (ये) जो कि (परावतम्) कर्त्तव्यपथ से परे (नयन्ति) ले जाते हैं, पराङ्मुख कर देते हैं। (आ रोह) तू आरोहण कर (तमसः) तमस् से (ज्योतिः) ज्योति पर (आ इहि) तू आ (ते) तेरे (हस्तौ) दो हाथों को (आ रभामहे) हम पूर्णतया सहारा देते हैं।

[गुजरों का सदा ध्यान करते रहना, यह तमोगुण का परिणाम है, सत्त्वगुण ज्योतिरूप है। तू तमोगुण का परित्याग कर सत्त्वगुण की ओर आरोहण कर। तू इस आश्रम में आ [एहि], हम आश्रमवासी सदा तेरे सहायक हैं]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**प्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

श्यामश्च त्वा मा शबलश्च प्रेषितौ यमस्य यौ पथिरक्षी श्वानौ।

अर्वाङेहि मा वि दीध्यो मात्र तिष्ठः पराङ्मनाः॥ ९॥

अर्थ—(यमस्य) यम के (श्वानौ) दो कुत्ते हैं, (श्यामः) काला (च) और (शबलः च) चितकबरा (प्रेषितौ) [ये यम के] भेजे हुए हैं, (यौ) जो दोनों कि (पथिरक्षी) [यम द्वारा दर्शाए] मार्ग में रक्षक हैं, [चौकीदार हैं]। (अर्वाङ्) इधर अर्थात् इस आश्रम की ओर (एहि) आ (विदीध्यः मा) विविध पदार्थों का ध्यान न कर या विविध प्रकार की चिन्ताएँ न कर, और (अत्र) इस ब्रह्मचर्याश्रम में (पराङ्मनाः) कर्त्तव्य पराङ्मुख हुआ (मा तिष्ठः) तू बैठा न रह।

[यम का अभिप्राय है ''नियन्ता परमेश्वर''। इसे ''महायम'' भी कहा है (अथर्व० १३.४.५), यह नियन्ता है और सर्वतो महान् है। दो कुत्ते हैं तमोगुण और रजस् तथा तमस् का मिश्रण। ''तमस्'' श्यामः काला कुत्ता है, और रजस्-तमस् का मिश्रण शबल अर्थात् चितकबरा कुत्ता। ये दोनों प्रेयमार्ग के पथिक को प्रेयमार्ग में बान्धे रखते हैं। इनसे बचने का उपाय है ब्रह्मचर्य जीवन। दोनों कुत्ते यम द्वारा निर्दिष्ट मार्ग की रक्षा करते हैं, ताकि तमोगुणी की और रजस्-तमस् के मिश्रणवाले व्यक्ति की निजकर्मों से बन्धी हुई आत्मा इस मार्ग में रहती हुई, निजकर्मों के फलों को भोग सके]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**त्रिपाद् विराड् गायत्री** ॥

मैतं पन्थामनु गा भीम एष येन पूर्वं नेयथ तं ब्रवीमि।

तम एतत्पुरुष मा प्र पत्था भयं परस्तादभयं ते अर्वाक्॥ १०॥

अर्थ—(एतम्) इस (पन्थाम्) प्रेय पथ का (मा अनुगाः) अनुगमन न कर, (एषः) यह पथ (भीमः) भयानक है, (येन) जिस पथ द्वारा (पूर्वम्) पुराकाल में (न इयथ) तुम अभी नहीं गये (तम्) उसे (ब्रवीमि) मैं आचार्य कहता हूँ। (पुरुष) हे पुरुष! (एतत् तमः) इस प्रेयरूपी तमोमय पथ को (मा प्र पत्थाः) न स्वीकार कर, (परस्तात्) यह परला पथ है (भयम्) जो कि भयानक है, (अर्वाक्) और इधर का ब्रह्मचर्य पथ (ते, अभयम्) तेरे लिए भयरहित है।

[मन्त्र ९ में ''पथिरक्षी'' द्वारा पथ का निर्देश हुआ है, यह मार्ग, ''जिस में कि ''श्वानौ'' अर्थात्

श्याम और शबल दो कुत्ते रक्षक हैं" भयानक है। यह मार्ग तमोगुणी और रजस्तमस्-गुणी व्यक्तियों का है, सत्त्वगुणियों का नहीं। यह मार्ग सत्त्वगुणियों के लिए परे[1] का मार्ग है, और अर्वाक् मार्ग है ब्रह्मचर्य का मार्ग। यह "अर्वाक्" मार्ग तेरे लिए अभयरूप है, श्रेयरूप है। प्रेय और श्रेय मार्गों की विस्तृत व्याख्या के लिए देखो "कठोपनिषद्"[2]]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**त्रिपाद् विराड् गायत्री** ॥

रक्षन्तु त्वाग्नयो ये अप्स्व१न्ता रक्षतु त्वा मनुष्या३ यमिन्धते।
वैश्वानरो रक्षतु जातवेदा दिव्यस्त्वा मा प्र धाग्विद्युता सह॥ ११ ॥

अर्थ—(ये अग्नयः) जो अग्नियाँ (अप्सु अन्तः) जलों के भीतर हैं वे (त्वा रक्षन्तु) तेरी रक्षा करें, (यम्) जिसे (मनुष्याः इन्धते) मनुष्य प्रदीप्त करते हैं [वह अग्नि] (त्वा रक्षतु) तेरी रक्षा करे। (वैश्वानरः) सब नर-नारियों का हितकारी (जातवेदाः) प्रज्ञानी परमेश्वर (रक्षतु) तेरी रक्षा करे, (विद्युता सह) विद्युत् के साथ (दिव्यः) द्युलोकस्थ [सूर्याग्नि] (त्वा) तुझे (मा प्रधाक्) दग्ध न करे।

[भिन्न-भिन्न स्थानों के जलों में अग्नियाँ होती हैं। यथा "**अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा। अग्निं च विश्वशंभुवम्**" (अथर्व० १.६.२) में जलों में सब औषधों की, और सब रोगों को शान्त करने वाली अग्नि की सत्ता कही है। जलचिकित्सा द्वारा पुरुष की रक्षा होती है। मनुष्य पाकाग्नि को, तथा अग्निहोत्र आदि यज्ञिय अग्नियों को प्रदीप्त करते हैं। ये भी रक्षक हैं। वैश्वानर-अग्नि भी सब की रक्षा करती है। **जातवेदाः=जातप्रज्ञानः** (निरुक्त ७.५.१९)। दिव्य अग्नि=सूर्य। तथा विद्युत् है मेघीय-विद्युत्। अर्थात् निवासगृह ऐसे होने चाहिएँ जिन में सूर्य का ताप, संतापकारी न हो, और जिन्हें मेघीय-विद्युत्प्रपात नष्ट न कर सके]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदा जगती** ॥

मा त्वा क्रव्यादभि मंस्तारात्संकसुकाच्चर।
रक्षतु त्वा द्यौ रक्षतु पृथिवी सूर्यश्च त्वा रक्षतां चन्द्रमाश्च।
अन्तरिक्षं रक्षतु देवहेत्याः॥ १२ ॥

अर्थ—(क्रव्याद्) कच्चामांस खाने वाली अग्नि (त्वा) तुझे (मा अभिमंस्त) न अपनाए, (संकसुकात्) दुर्जन से (आरात्) दूर (चर) विचर, उसका संग न कर। (द्यौः) द्युलोक (त्वा रक्षतु) तेरी रक्षा करे, (पृथिवी रक्षतु) पृथिवी रक्षा करे, (सूर्यः च, चन्द्रमाः च) सूर्य और चन्द्रमा (त्वा) तेरी (रक्षताम्) रक्षा करे। (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षस्थ वायु (रक्षतु) रक्षा करे (देवहेत्याः) इन्द्रियों की मार से।

[क्रव्याद्=क्रव्य (कच्चामांस)+अद् (भक्षणे)। शवाग्नि अल्पावस्था में मृतदेह के कच्चे मांस का भक्षण करती है। जीवनचर्या इस प्रकार की होनी चाहिए कि व्यक्ति १०० वर्षों से पूर्व न मरे। १०० वर्षों की आयु के आसपास देह जीर्ण हो जाता है, मानो पक जाता है, कच्चा नहीं रहता। संकसुक का अर्थ है, दुर्जन (उणा० २.३० पर दयानन्द तथा भट्टोजी दीक्षित)। दुर्जन का संग त्याज्य है। द्युलोक "स्वः और नाक" आदि लोकों की प्राप्ति द्वारा तेरी रक्षा करे, पृथिवी आवास और अन्न द्वारा रक्षा करे। सूर्य ताप, प्रकाश और वर्षा द्वारा रक्षा करे, चन्द्रमा शीतल प्रकाश द्वारा रक्षा करे। अन्तरिक्ष अर्थात् तत्स्थ स्वच्छ तथा

---

१. अर्थात् त्याज्य हैं। २. श्रेय और प्रेय मार्ग (अध्याय १, वल्ली २, सन्दर्भ १-५)।

संचारी वायु द्वारा तेरी इन्द्रियों को शुद्ध कर अपवित्र इन्द्रियों की मार से तुझे बचाए, इस प्रकार तेरी रक्षा करे। मन्त्र में उपनीत पुरुष के रक्षासाधनों का निर्देश किया है। देवाः=इन्द्रियाणि (यजुः० ४०.४)]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आयुः**॥ छन्दः—**त्रिपदा भुरिग् महाबृहती**॥

बोधश्च त्वा प्रतीबोधश्च रक्षतामस्वप्नश्च त्वानवद्राणश्च रक्षताम्।

गोपायंश्च त्वा जागृविश्च रक्षताम्॥ १३॥

अर्थ—(बोधः[१] च) इन्द्रियजन्य ज्ञान, (प्रतीबोधः[१] च) और योगसमाधिजन्य प्रातिभज्ञान (त्वा) तेरी (रक्षताम्) रक्षा करें, (अस्वप्नः च) स्वप्नों से रहित निद्रा (अनवद्राणः च) तथा [दिन में] निद्रा न करना (त्वा) तेरी (रक्षताम्) रक्षा करें। (गोपायन्) आत्मरक्षा करना (जागृविः च) और जागरूक अर्थात् सावधान रहना (त्वा रक्षताम्) तेरी रक्षा करें।

[गोपायन्=गुप् धातु रक्षार्थ, अथवा गो (इन्द्रियां)+पायन् (रक्षा)। इन्द्रियों की रक्षा अर्थात् इन्द्रियों को विषयों में न जाने देना। मन्त्र में उपनीत माणवक को निर्देश दिये गये हैं। अनवद्राणः=निद्रारहितः (सायण)। ब्रह्मचारी के लिए कहा है कि "दिवा मा स्वाप्सीः"। कि तू दिन में न सोया कर। गोपायन्=गो (इन्द्रियां)+पा (रक्षणे)+युक्+शतृ; **आतो युक् चिण्कृतोः** (अष्टा० ७.३.३३)]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आयुः**॥ छन्दः—**द्विपदा साम्नी भुरिग् बृहती**॥

ते त्वा रक्षन्तु ते त्वा गोपायन्तु तेभ्यो नमस्तेभ्यः स्वाहा॥ १४॥

अर्थ—(ते) वे [मन्त्र १३ में कथित निर्देश] (त्वा) तेरी (रक्षन्तु) रक्षा करें, (ते) वे (त्वा) तेरी (गोपायन्तु) रक्षा करें, (तेभ्यः) उन के लिए (नमः) यथोचित अन्न [का सेवन] हो, (तेभ्यः) उन के लिए (स्वाहा) यथोचित अन्न की यथोचित आहुतियाँ [जठराग्नि में] हों।

[मन्त्र में आत्मयाजी उपनीत-माणवक का निर्देश है। आत्मयाजी निज जीवन को यज्ञमय समझे और उस यज्ञ की पूर्ति के निमित्त, यज्ञिय अन्न की आहुतियां, यज्ञिय प्रकार से, निज जठराग्नि में दिया करे। इस द्वारा मन्त्र १३ में कथित निर्देश सफल हो सकते हैं। **नमः अन्ननाम** (निघं० २.७)। गोपायन्तु=गोपायनं सर्वतो रक्षणम् (सायण)]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आयुः**॥ छन्दः—**प्रस्तारपङ्क्तिः**॥

जीवेभ्यस्त्वा समुदे वायुरिन्द्रो धाता दधातु सविता त्रायमाणः।

मा त्वा प्राणो बलं हासीदसुं तेनु ह्वयामसि॥ १५॥

अर्थ—(जीवेभ्यः) प्राणियों के लिए (समुदे) संमोदार्थ (वायुः) वायु, (इन्द्रः) मेघीय-विद्युत् (धाता) धारण और पोषण करने वाला मेघ, (त्रायमाणः सविता) त्राण करता हुआ प्रातःकालीन सूर्य (त्वा) तेरी (दधातु) रक्षा करे। (त्वा) ताकि तुझे (प्राणः) प्राण तथा (बलम्) शारीरिक बल (मा) न (हासीत्) त्याग दे, इस निमित्त (ते) तेरी (असुम्) प्रज्ञा का (अनु) तदनुरूप (ह्वयामसि) हम आचार्य आह्वान करते हैं। समुदे=संमोदाय (सायण); समुदे=मोदसहित होने के लिए।

[दधातु=धारण करे; वायु आदि प्रत्येक, अथवा इन सबका समुदाय। **असुः प्रज्ञानाम** (निघं०

१. **"ऋषी बोधप्रतीबोधावस्वप्नो यश्च जागृविः"** (अथर्व० ५.३०.१०)।

३.९)। उपनीत-ब्रह्मचारी के लिए कहा है कि तू प्राणियों के मोद अर्थात् हर्ष को इन की सेवा करके बढ़ाया कर। इन्हें कष्ट न पहुँचाया कर। समुदे=संमुदे=**मुद हर्षे** (भ्वादिः)। ब्रह्मचारी स्वयं भी निज प्रज्ञा का प्रयोग इस निमित्त किया करे]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आयुः**॥ छन्दः—**प्रस्तारपङ्क्तिः**॥

मा त्वा जम्भः संहनुर्मा तमो विदन्मा जिह्वा बर्हिः प्रमयुः कथा स्याः।
उत्त्वादित्या वसवो भरन्तूदिन्द्राग्नी स्वस्तये॥ १६॥

अर्थ—(जम्भः) दाढ़ (संहनुः) परस्पर मिलकर (त्वा) तेरा हनन (मा) न करे, (तमः) तम (मा विदत्) तुझे न प्राप्त हो, (जिह्वा) तेरी वाणी (बर्हिः) किसी की हिंसा (मा) न करे, (प्रमयुः) हिंसा करने वाला (कथा) किस प्रकार (स्याः) तू हो सकता है?। (आदित्याः वसवः) आदित्य और वसु कोटि के आचार्य (त्वा) तेरा (उद्भरन्तु) उद्धार करें, (इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्नि (स्वस्तये) तेरे कल्याण के लिए हों।

[संहनुः=सम् (मेल)+हनुः (जबड़ा)। हिंस्रप्राणी के जम्भ अर्थात् दाढ़ें ऐसी न हों कि उसके दो जबड़े परस्पर मिल जाएँ। काटना तभी सम्भव होता है जब कि हिंस्रप्राणी के मुख के ऊपर और नीचे के दो जबड़े मिल जाएँ। इसके द्वारा यह कहा गया है कि सांप आदि हिंस्रप्राणी तुझे न काटें, और तेरा हनन न करें। हनुः=**हन्यतेऽनेनेति हनुः कपोलावयवः** (उणा० १.१०, दयानन्द)। विषैले प्राणी द्वारा काटने पर मृत्यु भी सम्भव है और मूर्च्छा भी। तुझे तम अर्थात् मूर्च्छान्धकार न प्राप्त हो, इसे "तमो मा विदत्" द्वारा सूचित किया है। जिह्वा का अर्थ है वाणी, वाक् "**जिह्वा वाङ्नाम**" (निघं० १.११) और बर्हिः का अर्थ है काटने वाली। **बर्ह हिंसायाम्** (चुरादिः, भ्वादिः), अर्थात् तेरी वाणी दूसरों को काटने वाली अर्थात् कटु न हो। जब उपनीत ब्रह्मचारी वाणी द्वारा भी किसी की हिंसा न करेगा, तो उसके शरीर द्वारा तो हिंसा किसी प्रकार भी करना सम्भव नहीं। "प्रमयुः" अर्थात् वह ब्रह्मचारी किसी प्रकार हिंसा करने वाला नहीं हो सकता। प्रमयुः=प्र+**मीङ्, मीञ् हिंसायाम्** (दिवादिः, क्र्यादिः)+उः (औणादिक प्रत्ययः)। इन्द्रः=सम्राट् "**इन्द्रश्च सम्राट्**" (यजुः० ८.३७); अग्निः=**अग्रणीर्भवति** (निरुक्त) प्रकरणानुसार अग्निः=अग्रणी प्रधानमन्त्री। अभिप्राय यह है कि राष्ट्रावस्था ऐसी हो कि सभी अधिकारी ब्रह्मचारियों के कल्याण की व्यवस्था करें]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आयुः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

उत्त्वा द्यौरुत्पृथिव्युत्प्रजापतिरग्रभीत्। उत्त्वा मृत्योरोषधयः सोमराज्ञीरपीपरन्॥ १७॥

अर्थ—(त्वा) तुझे (द्यौः) द्युलोक ने (उदग्रभीत्) समुन्नति के लिए स्वीकृत किया है, अपनाया है, (उत् पृथिवी) पृथिवी ने उन्नति के लिए अपनाया है, (उत् प्रजापतिः अग्रभीत्) प्रजाओं के पति परमेश्वर ने उन्नति के लिए अपनाया है। (त्वा) तुझे (मृत्योः) मृत्यु से [छुड़ा कर] (सोमराज्ञीः) सोम-ओषधिप्रधान (ओषधयः) ओषधियों ने (अपीपरन्) पालित किया है।

[अपीपरन्=**पॄ पालनपूरणयोः** (जुहोत्यादिः, क्र्यादिः)। मृत्योः=आसन्नमृत्यु से, या मूर्च्छा से]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आयुः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अयं देवा इहैवास्त्वयं मामुत्र गादितः। इमं सहस्रवीर्येण मृत्योरुत्पारयामसि॥ १८॥

अर्थ—(देवाः) हे आदित्य आदि देवो! [मन्त्र १६] (अयम्) यह [उपनीत माणवक] (इह एव अस्तु) यहां ही रहे, (अयम्) यह (इतः) इस स्थान से (अमुत्र) उस मृत्यु के स्थान में (मा गात्) न जाए। (इमम्) इसे (सहस्रवीर्येण) सहस्रवीर्य द्वारा (मृत्योः) मृत्यु से (उत्पारयामसि) हम पार कर देते हैं।

["सहस्रवीर्य" नामक ओषधि है, या इसका अभिप्राय है "अपरिमित सामर्थ्य"। आचार्यों के अपरिमित सामर्थ्यों का निर्देश हुआ है, ये आध्यात्मिक तथा लौकिक सामर्थ्य हैं। यथा (अथर्व० ४.१३.५-७)]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

उत्त्वा मृत्योरपीपरं सं धमन्तु वयोधसः।
मा त्वा व्यस्तकेश्योऽ मा त्वाघरुदो रुदन्॥ १९ ॥

अर्थ—(त्वा) तुझे (मृत्योः) मृत्यु से (उत् अपीपरम्) मैंने पार कर दिया है, (वयोधसः) आयु को धारण कराने वाली धमनियाँ (सं धमन्तु) सब धड़कने लगें (व्यस्तकेश्यः) बिखरे केशों वाली स्त्रियाँ (त्वा) तुझे लक्षित कर (मा रुदन्) न रोएँ, (अघरुदः) व्यसन अर्थात् दुःख आने पर रोदन करने वाले अन्य बन्धुजन (त्वा) तुझे लक्षित करके (मा रुदन्) न रोएँ।

[सं धमन्तु=सम्+**ध्मा शब्दाग्निसंयोगयोः** (भ्वादिः)। यहाँ शब्द अर्थात् धमनियों का धड़कना अभिप्रेत है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

आहार्षमविदं त्वा पुनरागाः पुनर्णवः।
सर्वाङ्ग सर्वं ते चक्षुः सर्वमायुश्च तेविदम्॥ २० ॥

अर्थ—(त्वा) तुझे (आहार्षम्) मैंने मृत्यु से छीन लिया है, (अविदम्) और तुझे प्राप्त कर लिया है, (पुनः) फिर तू (आ अगाः) आ गया है, (पुनर्णवः) फिर तुझे नया जीवन प्राप्त हुआ है। (सर्वाङ्ग) हे सब अङ्गों वाले! (ते) तुझे (चक्षुः) चक्षु आदि (सर्वम्) सब इन्द्रियाँ (च) और (सर्वम् आयुः) सम्पूर्ण आयु (अविदम्) मैंने प्राप्त करा दी है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

व्यवात्ते ज्योतिरभूदप त्वत्तमो अक्रमीत्।
अप त्वन्मृत्युं निर्ऋतिमप यक्ष्मं नि दध्मसि॥ २१ ॥

अर्थ—(ते) तेरा (तमः) [मूर्च्छा सम्बन्धी] अन्धकार (व्यवात्) विगत हो गया है, (ज्योतिः अभूत्) और जीवन-ज्योति प्रकट हो गई है, (त्वत्) तुझ से (तमः) अन्धकार (अप अक्रमीत्) अपक्रान्त हो गया है, हट गया है। (त्वत्) तुझसे (मृत्युम्) मृत्यु को (अप) अलग (निदध्मसि) हम कर देते हैं, (निर्ऋतिम्) कष्टापत्ति को (अप) अलग कर देते हैं, (यक्ष्मम्) यक्ष्मरोग को [अप] अलग कर देते हैं।

[व्यवात्=वि+अवात् (अट्+वात्) **वा गतिगन्धनयोः** (अदादिः)=विगत हो गया है, नष्ट हो गया है]।

सूक्त २

विषय-प्रवेश

(१) ब्रह्मचारी को रजस्-तमस् मार्ग से बचाना (मन्त्र १, १०)।

(२) रुग्ण ब्रह्मचारी का उपचार ब्रह्मचर्याश्रम में ही गुरुजन करते हैं। (मन्त्र ४,५,६, आदि)।

(३) ब्रह्मरूपी वर्म [कवच] का धारण (मन्त्र १०; २५)।

(४) ब्रह्मचारी कोमल वस्त्र धारण करे (मन्त्र १६)।

(५) केश श्मश्रू का वपन (मन्त्र १७)।

(६) ब्रह्मचारी के लिए भोजन, (१) कृषि में प्राप्त धान्य, (२) पयः (दूध); (मन्त्र १९)।

(७) ब्रह्मचारी को युगों और युगकालों का परिज्ञान देना (मन्त्र २१)।

(८) जीवन की परिधि ब्रह्म (मन्त्र २५)।

(९) एकशतं मृत्यवः (मन्त्र २७)।

(१०) "पूतुद्रु" भेषज है, रोगनाशक (मन्त्र २८)।

(११) आदित्यौ=सूर्याचन्द्रमसौ। (विशेष वक्तव्य) अदिति है प्रकृति, उसके पुत्र हैं आदित्यौ (मन्त्र १५)। चन्द्रमा को भी आदित्य कह कर यह ध्वनित किया है कि वैदिक नामपद यौगिकार्थक हैं, आख्यातज हैं।

सूक्त २

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आयुः**॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्**॥

आ रभस्वेमाममृतस्य श्नुष्टिमच्छिद्यमाना जरदष्टिरस्तु ते।

असुं त आयुः पुनरा भरामि रजस्तमो मोप गा मा प्र मेष्ठाः॥ १॥

अर्थ—(आरभस्व=आलभस्व) प्राप्त कर (अमृतस्य) अमृत परमेश्वर की (इमाम्) इस (श्नुष्टिम्=प्रस्नुतिम्[1]) प्रस्त्रवित हुई आनन्द रसमयी धारा को, ताकि (अच्छिद्यमाना) बिना कटी (जरदष्टिः) जरावस्था की प्राप्ति (ते) तुझे (अस्तु) हो। (ते) तेरे (असुम्) प्राण या प्रज्ञा (आयुः) तथा आयु को (पुनः) फिर (आ भरामि[2]) मैं वापिस लाता हूँ। (रजस्तमः) रजोगुण और तमोगुण को (मा उपगाः) न प्राप्त हो, (मा प्रमेष्ठाः) और न हिंसित हो।

[यह उक्ति उपनीत माणवक के आचार्य की है। "**रलयोरभेदः**" द्वारा आरभस्व=आलभस्व। श्रुष्टिम्=प्रस्नुतिम् (सायण)। आभरामि=आहरामि, "**हृग्रहोर्भश्छन्दसि**" द्वारा हकार को भकार हुआ है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आयुः**॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्**॥

जीवतां ज्योतिरभ्येह्यर्वाङा त्वा हरामि शतशारदाय।

अवमुञ्चन्मृत्युपाशानशस्तिं द्राघीय आयुः प्रतरं ते दधामि॥ २॥

---

१. प्रस्नुतिम्=प्र+स्नु [**ष्णु, प्रस्रवणे,** अदादिः]+तिप्=धाराम्।

२. यह आचार्य का कथन है। ब्रह्मचारी यदि रुग्ण हो गया हो तो आचार्य का कर्त्तव्य है कि वह ब्रह्मचारी का रोगोपचार करे।

अर्थ—(जीवताम्) जीवित मनुष्यों की (ज्योतिः) ज्योति की (अभि) ओर (एहि) तू आ, (अर्वाक्) अर्थात् इधर आश्रम की ओर (शतशारदाय) सौ सर्दियों अर्थात् शरदृतुओं तक जीवित होने के लिए (त्वा) तुझे (आ हरामि) मैं आचार्य लाता हूँ। (मृत्युपाशान्) मृत्यु के फंदों और (अशस्तिम्) अप्रशस्त जीवन को (अवमुञ्चन्) छुड़ाता हुआ (ते द्राघीयः आयुः) तेरी दीर्घ आयु को (प्रतरम्) अधिक प्रकृष्ट करके (दधामि) मैं आचार्य परिपुष्ट करता हूँ।

[बच्चों के आचार्य कैसे होने चाहिएँ? इसका वर्णन सूक्त १ और २ में हुआ]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आयुः**॥ छन्दः—**आस्तारपङ्क्तिः**॥

वातात्ते प्राणमविदं सूर्याच्चक्षुरहं तव।

यत्ते मनस्त्वयि तद्धारयामि सं वित्स्वाङ्गैर्वद जिह्वयालपन्॥ ३॥

अर्थ—(वातात्) वायु से (ते) तेरे (प्राणम्) प्राण को (अविदम्) मैंने पाया है, (सूर्यात्) सूर्य से (तव) तेरी (चक्षुः) चक्षु अर्थात् दृष्टिशक्ति को (अहम्) मैंने पाया है। (यत्) जो (ते) तेरा (मनः) मन है (तत्) उसे (त्वयि) तुझ में (धारयामि) मैं स्थापित करता हूँ, (अङ्गैः) समग्र अङ्गों से सम्पन्न हुआ तू (संवित्स्व) सम्यक् प्रकार से ज्ञान प्राप्त कर, और (जिह्वया) जिह्वा द्वारा (अलपन्) प्रलाप न करता हुआ (वद) बोला कर।

[माणवक को खुली अन्तरिक्षीय वायु में रखना चाहिए, तथा अन्धेरे कमरों में उसके अध्ययन के स्थान में, सूर्य के प्रकाश में उसका अध्ययन-अध्यापन होना चाहिए। उसके मन में स्थिरता पैदा करनी चाहिए, मन की चञ्चलता का निरोध करना चाहिए ताकि वह सम्यक् प्रकार से ज्ञान प्राप्त कर सके। दण्ड प्रदान द्वारा उसका कोई अङ्ग विकृत नहीं करना चाहिए। व्यर्थ की बातचीत से उसे रोकना चाहिए। उसे ठीक प्रकार बोलना सिखाना चाहिए। अथवा मूर्छा तथा रोग के कारण माणवक के प्राण तथा चक्षुः आदि इन्द्रियों में जो क्षति आ गई है, और मनोविकार हो गया है, तथा अङ्ग विकृत हो गया है, और बोलने में जिह्वा का पक्षाघात हो गया है; इन सब को स्वस्थ करने का कथन मन्त्र में हुआ है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आयुः**॥ छन्दः—**प्रस्तारपङ्क्तिः**॥

प्राणेन त्वा द्विपदां चतुष्पदामग्निमिव जातमभि सं धमामि।

नमस्ते मृत्यो चक्षुषे नमः प्राणाय तेकरम्॥ ४॥

अर्थ—(द्विपदां चतुष्पदाम्) दो पायों और चौपायों सम्बन्धी (प्राणेन) प्राण द्वारा (त्वा अभि) हे माणवक! तुझ पर (संधमामि[1]) मैं आचार्य प्राण फूंकता हूँ, (इव) जैसे कि (जातम्) नवोत्पन्न (अग्निम्, अभि) अग्नि को [धौंकनी, मुख, पंखे आदि द्वारा फूंका जाता है]। (मृत्यो) हे मृत्यु नामक परमेश्वर [सूक्त १। मन्त्र १] (ते) तेरी (चक्षुषे) कृपादृष्टि के लिए (नमः) नमस्कार, तथा (ते) तेरे (प्राणाय) प्राणप्रदस्वरूप के लिए (नमः) नमस्कार (अकरम्) मैं करता हूँ, या मैंने किया है।

[मूर्च्छित हुए माणवक के स्वास्थ्य के लिए, उसे निज मुख आदि द्वारा प्राण अर्थात् प्राणवायु के फूंकने का वर्णन हुआ है। द्विपद्-मनुष्यों तथा चतुष्पद्-पशुओं में जैसे स्वस्थ प्राण होते हैं, तत्सम्बन्धी

१. "संधमामि" द्वारा धौंकनी सूचित होती है। अतः सम्भवतः धौंकनी द्वारा शनैः शनैः स्वच्छ वायु के संचार का कथन हुआ है। मुख द्वारा संचारित वायु स्वच्छ नहीं होती।

स्वस्थ प्राण के फूंकने का कथन आचार्य ने किया है। इसलिए आचार्य रुग्ण माणवक को कहता है कि द्विपदों और चतुष्पदों की स्वस्थ प्राणवायु के सदृश प्राणवायु द्वारा मैं आचार्य हे माणवक! तुझमें, फूंक कर प्राणवायु का संचार करता हूँ। इस निमित्त आचार्य मृत्युनामक परमेश्वर की सहायता के लिए उसे नमस्कार करता है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आयुः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अयं जीवतु मा मृतेमं समीरयामसि। कृणोम्यस्मै भेषजं मृत्यो मा पुरुषं वधीः॥ ५॥

अर्थ—(अयम्) यह (जीवतु) जीए, (मा मृत) न मरे (इमम्) इसे (समीरयामसि) [पंखे आदि द्वारा] हम प्राणवायु प्रेरित करते हैं। (अस्मै) इसके लिए (भेषजम्) औषध (कृणोमि) मैं आचार्य या वैद्य करता हूँ, (मृत्यो) हे मृत्यु के अधिष्ठाता मृत्यु नामक परमेश्वर! (मन्त्र १) (पुरुषम्) माणवक का (मा वधीः) वध न कर।

[समीरयामसि=अन्तरिक्षस्थ वायु को ''समीरण'' कहते हैं जो कि ''सम्'' सम्यक्तया ''ईरण'' गति करती रहती है। सम्+ईर् (गतौ)। इस लिए वायु का नाम ''सदागति'' भी है। सदा गति करने के कारण इसकी शुद्धता को सूचित किया है, अतः यह प्राणप्रद है। ''मा मृत'' द्वारा सूचित किया है कि पुरुष अर्थात् माणवक वस्तुतः मरा नहीं, अपितु यह मूर्च्छित या आसन्नमृत्यु है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आयुः**॥ छन्दः—**पथ्या पङ्क्तिः**॥

जीवलां नघारिषां जीवन्तीमोषधीमहम्।
त्रायमाणां सहमानां सहस्वतीमिह हुवेस्मा अरिष्टतातये॥ ६॥

अर्थ—(जीवलाम्) जीवन देने वाली, अर्थात् प्राण धारण कराने वाली, (नघारिषाम्) अहत्या और अहिंसा करने वाली, (जीवन्तीम्) जीवित, हरी-भरी अर्थात् ताजा (त्रायमाणाम्) रक्षा करने वाली, (सहमानाम्) रोगों का पराभव करने वाली, (सहस्वतीम्) बलवती (ओषधीम्) ओषधि का (अहम्) मैं (इह) यहां (हुवे) आह्वान करता हूँ। (अस्मै) इस माणवक की (अरिष्टतातये) अहिंसा के लिए।

[जीवलाम्=जीव (**जीव प्राणधारणे**)+लाम् (मत्वर्थीयः लः)। नघारिषाम्=न+घ (हन्)=(न हन्ति)+अ, रिषाम् (**रिष हिंसायाम्**) न हनन करने वाली, न हिंसा करने वाली। सहमानाम्=रोगस्याभिभवित्रीम् (सायण)। सहस्वतीम्=**सहः बलनाम** (निघं० २.९)। अरिष्टतातये=अरिष्ट+तातिः, ''**शिवशमरिष्टस्य करे**'' (अष्टा० ४.४.१४३) द्वारा तातिल् प्रत्यय। ''जीवलाम्'' आदि नाना नाम भिन्न-भिन्न गुणों की दृष्टि से एक ही ओषधि के हैं, अथवा ये नाना ओषधियाँ हैं। ''औषधीम्'' पद का तथा ''हुवे'' का प्रत्येक के साथ अन्वय है (सायण)। सायण के अनुसार यह ओषधि ''पाठा'' है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आयुः**॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्**॥

अधि ब्रूहि मा रभथाः सृजेमं तवैव सन्त्सर्वहाया इहास्तु।
भवाशर्वौ मृडतं शर्म यच्छतमपसिध्य दुरितं धत्तमायुः॥ ७॥

अर्थ—(अधिब्रूहि) हे परमेश्वर! अधिकार पूर्वक इसे तू ''अपना'' कह, (मा आरभथाः=लभस्व) इसे [रोग में] पकड़ न रख, (इमम्) इसका (सृज) सर्जन कर, नवजीवन सर्जन कर, (तव एव सन्) तेरा ही हुआ (सर्वहायाः) सब प्रकार की गतियों वाला होकर (इह) इस पृथिवी या आश्रम में (अस्तु)

रहे। (भवाशर्वौ) हे नवोत्पत्ति करने वाले! तथा रोगों का विनाश करने वाले! (मृडतम्) तुम्हारे दोनों रूप इसे सुखी करें, और (शर्म यच्छतम्) आश्रय प्रदान करें, (दुरितम्) बुरे परिणाम [रोग] को (अपसिध्य) हटाकर (आयुः धत्तम्) आयु प्रदान करें।

[आचार्य प्रत्यक्षीकृत परमेश्वर से माणवक के स्वास्थ्य के लिए प्रार्थना करता है। गुणभेद से परमेश्वर के दो नाम हैं भव और शर्व। सर्वहायाः=सर्व+हाङ् (गतौ)+असुन्। असुनि णिद्वद्भावात् युक् (सायण) **शर्म गृहनाम** (निघं० ३.४)। गृह=आश्रय]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आयुः**॥ छन्दः—**पुरस्ताज्ज्योतिष्मती जगती**॥

अस्मै मृत्यो अधि ब्रूहीमं दयस्वोदितो३ऽयमेतु।

अरिष्टः सर्वाङ्गः सुश्रुज्जरसा शतहायन आत्मना भुजमश्नुताम्॥ ८॥

अर्थ—(मृत्यो) मृत्य के अधिष्ठाता मृत्यु नामक हे परमेश्वर! [मन्त्र १], (अस्मै) इसे (अधिब्रूहि) सन्मार्ग का निर्देश कर (इमम्) इस पर (दयस्व) दया कर, या इसकी रक्षा कर, (अयम्) यह (अरिष्टः) अहिंसित हुआ, (सर्वाङ्गः) सब अङ्गों समेत (सुश्रुत्) ठीक श्रवण करने वाला, (जरसा) जरावस्था के साथ (शतहायनः) सौ वर्षों वाला हो, (इतः उद् एतु) इस रुग्णावस्था से उठे, और (आत्मना) स्वयं (भुजम्) भोजनादि को (अश्नुताम्) प्राप्त करे।

[दयस्व=दया कर, या रक्षा कर। **दय दानगतिरक्षणहिंसादानेषु** (भ्वादिः)]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आयुः**॥ छन्दः—**पञ्चपदा जगती**॥

देवानां हेतिः परि त्वा वृणक्तु पारयामि त्वा रजस उत्त्वा मृत्योरपीपरम्।

आरादग्निं क्रव्यादं निरूहं जीवातवे ते परिधिं दधामि॥ ९॥

अर्थ—(देवानाम्) इन्द्रियों का (हेतिः) आयु (त्वा) तुझे (परि वृणक्तु) छोड़ दे, (त्वा) तुझे (रजसः) रजोगुण से (पारयामि) मैं पार करता हूं, और (मृत्योः) मृत्यु से (उत् अपीपरम् त्वा) तुझे उठाकर तेरा मैंने पालन किया है। (क्रव्यादम् अग्निम्) हिंसाप्राप्त-मांसभक्षक शवाग्नि को (आरात्) दूर (निरूहम्) मैंने निकाल दिया है, (ते) तेरे (जीवातवे) जीवन के लिए (परिधिम्) परिधि को (दधामि) मैं स्थापित करता हूँ।

[इन्द्रियों का आयुध है, विषयों में विचरना। रजोगुण, इन्द्रियों को विषयों की ओर प्रेरित करता है। रजोगुण मृत्यु का कारण है। क्रव्याद्=कच्चे[1] मांस का भक्षण करने वाली शवाग्नि। निरूहम्=नि+वह्। परिधि का अर्थ है घेरा। जीवन को जिस घेरे के भीतर रहना चाहिए वह जीवन की परिधि "ब्रह्म" (८.२.२५)]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आयुः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यत्ते नियानं रजसं मृत्यो अनवधर्ष्यम्।

पथ इमं तस्माद्रक्षन्तो ब्रह्मास्मै वर्म कृण्मसि॥ १०॥

---

१. कच्चे मांस का अभिप्राय है अल्पावस्था तथा युवावस्था के ब्रह्मचारियों का शरीर। आचार्य रोगोपचार द्वारा यह अभिलाषा प्रकट करता है कि ब्रह्मचारी का शरीर शवाग्नि के भेंट न होने पाए। वृद्धावस्था में शरीर परिपक्व हो

अर्थ—(मृत्यो) हे मृत्यु! (यत् ते) जो तेरा (अनवधर्ष्यम्) न धर्षण करने योग्य अर्थात् अप्रसह्य (रजसम्) रजोगुणी (नियानम्) नीचे की ओर ले जाने वाला मार्ग है, (तस्मात् पथः) उस पथ अर्थात् मार्ग से (इमम्) इस माणवक की (रक्षन्तः) रक्षा करते हुए, (अस्मै) इसके लिए (ब्रह्म) ब्रह्म को (वर्म कृण्मसि) कवच हम करते हैं।

[रजोमार्ग मृत्युकारक है। माणवक की रजोगुण से रक्षा करनी चाहिए। रजोगुण नीचे की ओर ले जाता, अर्थात् पतन करता है। नियान तथा रजोगुण के प्रहारों से बचने के लिए ब्रह्मरूपी कवच को धारण करना चाहिए]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**विष्टारपङ्क्तिः** ॥

कृणोमि॑ ते प्राणापा॒नौ ज॒रां मृ॒त्युं दी॒र्घमायुः॑ स्व॒स्ति।
वै॒व॒स्व॒तेन॒ प्रहि॑तान्यमदू॒तांश्चर॒तोप॑ सेधामि॒ सर्वा॑न्॥ ११ ॥

अर्थ—हे माणवक! (ते) तेरे लिए (प्राणापानौ) प्राण और अपान को (जराम्, मृत्युम्) जरावस्था को, तदनन्तर मृत्यु को, (दीर्घम्, आयुः) दीर्घ आयु तथा (स्वस्ति) अविनाश या कल्याण को (कृणोमि) मैं आचार्य करता हूँ। (वैवस्वतेन) विवस्वान् अर्थात् सूर्य द्वारा (प्रहितान्) भेजे गये (चरतः) संचरण अर्थात् विचरते हुए, (सर्वान् यमदूतान्) यम के सब दूतों को (अप सेधामि) मैं निवारित करता हूँ।

[वैवस्वतेन=विवस्वान्+स्वार्थे अण्, सूर्य द्वारा। विवस्वान् या वैवस्वत है सूर्य, सूर्य की जाया है रात्रि। रात्रि माता है यम की। यम द्वारा भेजे दूत हैं मच्छर, सांप आदि हिंस्रप्राणी, जो कि मृत्युकारक हैं, और रात्रि में संचरण करते हैं, विचरते हैं। इनके निराकरण का वर्णन मन्त्र में हुआ है। विवस्वान् आदि के स्वरूप के परिज्ञानार्थ देखो (ऋ० १०.१७.१) तथा निरुक्त (१२.१.१२)। जराम्, मृत्युम्=जरावस्था को, तदनन्तर मृत्यु को]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**पुरस्ताद् बृहती** ॥

आ॒राद॑रा॒तिं निर्ऋ॑तिं प॒रो ग्राहिं॑ क्र॒व्यादः॑ पिशा॒चान्।
रक्षो॒ यत्सर्वं॑ दुर्भू॒तं तत्तम॑ इ॒वाप॑ हन्मसि॥ १२ ॥

अर्थ—(अरातिम्) शक्तिप्रदान न करने वाले शत्रुभूत रोग को, (निर्ऋतिम्) तथा कृच्छ्रापत्ति को (आराद्) दूरतः [हन्मसि] हम आचार्य मार देते हैं, या भगा देते हैं, (ग्राहिम्) अङ्गों को जकड़ देने वाले रोग को, (क्रव्यादः, पिशाचान्) मांसभक्षक रोगकीटाणुओं को, और (यत्) जो (दुर्भूतम्) दुःस्थिति पैदा करने वाला (रक्षः) राक्षसी स्वभाव वाला कीटाणु समूह है, (तत् सर्वम् परः) उस सब को दूर करके, (अपहन्मसि) हम उसका हनन कर देते हैं। (तमः इव) जैसे कि अन्धकार को दूर कर दिया जाता है, या उसका हनन कर दिया जाता है।

[ग्राहि=वात रोग, रूमाटिज्म आर्थ्रईटिस। क्रव्याद् और पिशाच का अर्थ है माँसभक्षक "रोग-कीटाणु"। ये रोगकीटाणु रोग द्वारा मांस को सुखा देते हैं, (marasmus) पैदा कर देते हैं। मांस को सुखा देना ही मांस को खाना है। दुर्भूतम्=दुः स्थितिः; दूर्+भू (सत्तायाम्)। अपहन्मसि=अपगत करके हनन

जाता है। इस अवस्था में शवाग्नि के प्रति शरीर की भेंट तो स्वाभाविक है। कच्चा मांस है बिना पकाया मांस, जिसे कि हिंस्र प्राणी खाते हैं।

करते हैं, (**हन् हिंसागत्योः**, अदादिः)। क्रव्यम्=**क्रुवि हिंसाकरणयोश्च** (भ्वादिः)। पिशितम्=**पिश अवयवे** (तुदादिः)]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आयुः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अग्नेष्टे प्राणममृतादायुष्मतो वन्वे जातवेदसः।

यथा न रिष्या अमृतः सजूरसस्तत्ते कृणोमि तदु ते समृध्यताम्॥ १३॥

अर्थ—[हे रुग्ण माणवक!] (अमृतात्) अमृतस्वरूप (आयुष्मतः) आयुप्रदाता (जातवेदसः) जातप्रज्ञ अर्थात् प्रज्ञानी (अग्नेः) सर्वाग्रणी परमेश्वर से (ते) तेरे (प्राणम्) प्राण की (वन्वे) मैं याचना करता हूं। (यथा) जिस प्रकार कि (न रिष्याः) तू हिंसित न हो, (अमृतः) और अमृत हो जाए, (सजूः) और परमेश्वर के साथ प्रीति करने वाला (असः) हो जाए। (ते) तेरे लिए (तत्) उस कर्म को (कृणोमि) मैं आचार्य करता हूँ, (ते) तेरे लिए (तत् उ) वह कर्म (समृध्यताम्) समृद्धिदायक हो।

[वन्वे=**वनु याचने** (तनादिः)। सजूः=स+**जुषी प्रीतिसेवनयोः** (तनादिः)। मन्त्र में अग्नि द्वारा परमेश्वरार्थ प्रतीत होता है। आयुष्मतः=अथवा जिसके साथ आयुः अर्थात् जीवनकाल का नित्य सम्बन्ध है उस नित्य स्वरूप परमेश्वर से तेरे लिए प्राण की याचना करता[1] हूँ]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आयुः**॥ छन्दः—**षट्पदा जगती**॥

शिवे ते स्तां द्यावापृथिवी असन्तापे अभिश्रियौ।

शं ते सूर्य आ तपतु शं वातो वातु ते हृदे।

शिवा अभि क्षरन्तु त्वापो दिव्याः पयस्वतीः॥ १४॥

अर्थ—(अभिश्रियौ) शोभा और सम्पत्तियों को प्राप्त हुए (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवी (ते) तेरे लिए (शिवे) कल्याणकारी (स्ताम्) हों; (असन्तापे) [और सम्पत्ति प्रदान कर तेरे लिये] मानसिक-सन्ताप अर्थात् चिन्ता को हटाने वाले हों। (ते) तेरे लिए (सूर्यः) सूर्य (शम्) सुख-शान्ति पूर्वक (आतपतु) सदा तपे, (ते) तेरे (हृदे) हृदय के लिए (वातः) वायु (शम्) सुख-शान्ति (वातु) प्रवाहित करे। (दिव्याः) दिव्य तथा (पयस्वतीः) स्वादिष्ट, मधुर (आपः) जल (त्वा अभि) तेरे प्रति, (शिवाः) कल्याणकारी हुए (क्षरन्तु) क्षारित हों, प्रस्रवित हों।

[अभिश्रियौ=अभिप्राप्तश्रियौ, सम्पत्तियों वाले, सम्पत्तियों के कारणभूत तथा शोभायुक्त। असंतापे=सम्पत्ति के अभाव में मानसिक संताप अर्थात् चिन्ता रहती है। द्यावापृथिवी संपत्ति प्रदान कर तुझे सन्ताप से मुक्त करें]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आयुः**॥ छन्दः—**पथ्या पङ्क्तिः**॥

शिवास्ते सन्त्वोषधय उत्त्वाहार्षमधरस्या उत्तरां पृथिवीमभि।

तत्र त्वादित्यौ रक्षतां सूर्याचन्द्रमसावुभा॥ १५॥

अर्थ—(ते) तेरे लिए (ओषधयः) ओषधियाँ (शिवाः सन्तु) कल्याणकारिणी हों, (त्वा) तुझे

१. ब्रह्मचारी के स्वास्थ्य तथा समृद्धि के लिए आचार्य के हृदय में कितनी उग्र भावना है, यह इन मन्त्रों द्वारा प्रकट हो रही है।

(अधरस्याः) नीचे की भूमि से (उत्तराम् पृथिवीम् अभि) ऊपर की पृथिवी की ओर (उत् अहार्षम्) मैं उठा लाया हूँ। (तत्र) वहाँ अर्थात् पृथिवी पर (उभौ सूर्याचन्द्रमसौ) दोनों सूर्य और चन्द्रमा (आदित्यौ) जो कि निज प्रकाशों द्वारा प्रदीप्त हैं, (त्वा) तुझे (रक्षताम्) सुरक्षित करें।

[अधर की पृथिवी है, समतलभूमि; और उत्तरा पृथिवी है पर्वतभूमि। पर्वतभूमि स्वास्थ्यप्रद होती है। पर्वत भूमि स्वास्थ्यकरी होती है, चूकिं वहां वायु स्वच्छ होती है, और सूर्य की गर्मी कम होती है, चन्द्रमा भी पृथिवी की अशुद्ध वायु से अमिश्रित हुआ प्रकाश देता है। तथा ताजी और विविध प्रकार की ओषधियाँ भी सुगमता से प्राप्त हो सकती हैं। आदित्यौ। आदित्यः "**आदीप्तो भासा**" **इति वा** (निरुक्त २.४.१३), अर्थात् जो सूर्य और चन्द्रमा दीप्ति द्वारा आदीप्त होते हैं]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आयुः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यत्ते वासः परिधानं यां नीविं कृणुषे त्वम्।
शिवं ते तन्वे३ तत्कृण्मः संस्पर्शेऽद्रूक्ष्णमस्तु ते॥ १६॥

अर्थ—(यत्) जो (ते) तेरा (परिधानम्, वासः) ओढ़ने का वस्त्र है, (याम्) और जिस (नीविम्) अधोवस्त्र को (त्वम्) तू (कृणुषे) धारण करता है, (तत्) उसे (ते तन्वे) तेरी तनू के लिए (शिवम्) कल्याणकारी वा सुखकारी (कृण्मः) हम करते हैं, वह (संस्पर्शे) शरीर के साथ स्पर्श में (ते) तेरे लिए (अद्रूक्ष्णम्) कोमल (अस्तु) हो।

[अद्रूक्ष्णम्=अरूक्ष्णम् "दकार" का आगम। न-रूखा अर्थात् न-कठोर अपितु कोमल। नीविम्= **नाभिदेशे संबद्धं वस्त्रं नीविरित्युच्यते** (सायण)। पहनने के वस्त्र कोमल होने चाहिएँ। यह निर्देश रुग्णावस्था में है। नीविः=**निवीयते संव्रियते सा नीविः, दुकूलबन्धनं वा** (उणा० ४.१३७, दयानन्दः)]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आयुः**॥ छन्दः—**त्रिपादनुष्टुप्**॥

यत्क्षुरेण मर्चयता सुतेजसा वप्ता वपसि केशश्मश्रु।
शुभं मुखं मा न आयुः प्र मोषीः॥ १७॥

अर्थ—(यत्) जो (मर्चयता) शुद्ध और (सुतेजसा) उत्तम प्रकार से तेज (क्षुरेण) उस्त्रे के द्वारा, (वप्ता) तू छेदन करने वाला नापित (केशश्मश्रु) केशों तथा मूंछ-दाढ़ी को (वपसि) काटता है, तो (नः) हमारे (शुभम्, मुखम्) मुख की शोभा को बढ़ा, तथा (आयुः) जीवनकाल को (मा) न (प्रमोषीः) नुकसान पहुँचा।

[मर्चयता="मर्च" धातु शब्दार्थक है। यथा "**गज मार्ज शब्दार्थौ, मर्च च** (चुरादिः) परन्तु उणा० ३.४३ में "मर्च" को सौत्रधातु कहा है (दयानन्दः); "**मर्च इति सौत्रो धातुरिति बहवः**" (कौमुदी टीका, ज्ञानेन्द्र सरस्वती)। अतः इनके मत में मर्च धातु चुरादिगणी नहीं। मर्च=To cleanse (आप्टे), अर्थात् शोधन। यह अर्थ मन्त्र में सङ्गत प्रतीत होता है। क्षुर को शुद्ध अर्थात् स्वच्छ तथा तेज होना ही चाहिए। तभी क्षौर-कर्म ठीक सम्पन्न हो सकता है। मोषीः=**मुष स्तेये**। स्तेय द्वारा द्रव्यापहरण किया जाता है। हमारे मुख की शोभा और आयु को वपन द्वारा तू अपहृत न कर, यह भाव है। ब्रह्मचारी विद्याग्रहण के लिए उपनयन पूर्वक गुरु के आश्रय में जाता है। वैदिक विधि में उस समय उसका क्षौरकर्म होना चाहिए। विद्या के ग्रहण में आयु का विचार नहीं है। अल्पायु तथा युवा भी उपनयन पूर्वक विद्या ग्रहण

कर सकता है। युवा की दृष्टि से "श्मश्रु" पद पठित है[१]]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आयुः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

शिवौ ते स्तां व्रीहियवावबलासावदोमधौ।

एतौ यक्ष्मं वि बाधेते एतौ मुञ्चतो अंहसः॥ १८॥

अर्थ—(ते) तेरे लिए (व्रीहियवौ) धान और जौ (शिवौ) कल्याणकारी, (अबलासौ) बलास रोग से रहित, (अदोमधौ=अदोमधू) खाने में मधुर (स्ताम्) हों। (एतौ) ये दोनों (यक्ष्मम्) यक्ष्मा को (वि बाधेते) विशेषतया बाधित करते हैं, उसके आने में बाधा उपस्थित करते हैं, (एतौ) ये दोनों (अंहसः) पाप से (मुञ्चतः) मुक्त करते हैं।

[अबलासौ=अ+बल+अस् (क्षेपणे), बल का न क्षेपण करने वाले। "**अबलासौ=शरीरबलस्य अक्षेप्तारौ, बलकरौ**" (सायण)। अदोमधौ=अदोमधू मधुरौ (सायण)। अथवा अदोमधौ=अदोमदौ=**अदसि भक्षणे मदौ तृप्तिकरौ (मद तृप्तियोगे;** चुरादिः, वर्णविकारः)। अंहसः=व्रीहि और यव सात्त्विक भोजन हैं, तामसिक और राजसिक भोजन नहीं, अतः इनका भोजन पाप की ओर प्रवृत्त नहीं करता। मन्त्र १७ में युवावस्था के ब्रह्मचारी का वर्णन हुआ है, उसे सात्त्विक भोजन करने का निर्देश दिया है। युवावस्था में पापकर्म की ओर प्रवृत्ति की सम्भावना हो जाती है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आयुः**॥ छन्दः—**उपरिष्टाद् बृहती**॥

यदश्नासि यत्पिबसि धान्यं कृष्याः पयः।

यदाद्यं यदनाद्यं सर्वं ते अन्नमविषं कृणोमि॥ १९॥

अर्थ—हे ब्रह्मचारी! (यत्) जो (कृष्याः धान्यम्) कृषि से प्राप्त धान्य को (अश्नासि) तू खाता है, (यत्) जो (पयः) दूध (पिबसि) तू पीता है, अर्थात् (यद्) जो धान्य (आद्यम्) भक्षणीय है, (यत्) और जो (अनाद्यम्) भक्षणीय नहीं, अपितु पेय दुग्ध है, (ते) तेरे लिए, (अविषम्) विष रहित (सर्वम्, अन्नम्) इस सब अन्न को (कृणोमि) मैं आचार्य नियत करता हूँ।

[अर्थात् मांसभक्षण तथा मदिरापान विषरूप अन्न हैं]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आयुः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अह्ने च त्वा रात्रये चोभाभ्यां परि दद्मसि। अरायेभ्यो जिघत्सुभ्य इमं मे परि रक्षत॥ २०॥

अर्थ—हे ब्रह्मचारी! (त्वा) तुझे (अह्ने च रात्रये च) दिन के प्रति और रात्रि के प्रति (उभाभ्याम्) दोनों के प्रति, (परिदद्मसि) हम सुरक्षार्थ समर्पित करते हैं। (अरायेभ्यः) शत्रुरूप रोगों से, (जिघत्सुभ्यः) और भक्षण कर लेने वाले रोगों से, (मे) मेरे (इमम्) इस ब्रह्मचारी को (परिरक्षत) सब प्रकार से सुरक्षित करो।

१. मन्त्र १७ की व्याख्या में सायणाचार्य ने "देवसविता" का अध्याहार करके अर्थ किया है, "हे संस्कारक पुरुष!" यह अर्थ आधिभौतिक है, आधिदैविक नहीं। इसलिए प्रकरणानुसार "देव और सविता" आदि पदों के आधिभौतिक अर्थ भी सम्भव हैं, यह सायणाचार्य को भी अभिप्रेत है। ऋषि दयानन्द ने अपने वैदिक भाष्यों में दैवत नामों के प्रायः आधिभौतिक अर्थ किये हैं। सायणाचार्य के अनुसार सविता है "वप्ता, केशानां छेत्ता नापितः" अर्थात् नाई। वप्ता=**डुवप बीजसन्ताने छेदने च** (भ्वादिः)। मन्त्र में वप्ता पद छेदनार्थक है, नापित है।

[दिन में सूर्य के प्रकाश में रोगी को रखना और रात्रि में पूर्ण विश्राम, यह है दिन और रात्रि के प्रति समर्पण। ''अराय'' हैं अराति अर्थात् शत्रु। रोग सभी शत्रु होते हैं, कई तो जीवन का न भक्षण करने वाले और कई जीवन का भक्षण करने वाले! इन दोनों प्रकार के रोगों की निवृत्ति के लिए [वैद्यों से] प्रार्थना की गई है। (मे) ''मेरे'' द्वारा रोगी के प्रति आचार्य की आत्मीयता प्रकट की गई है। ''जिघत्सुभ्यः'' में अद् (भक्षणे) को घस्लृ आदेश हुआ है (अष्टा० २.४.३७)]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**सतः पङ्क्तिः** ॥

श॒तं ते॒यु॒तं हा॑य॒नान्द्वे यु॒गे त्रीणि॑ च॒त्वारि॑ कृण्मः।
इ॒न्द्रा॒ग्नी विश्वे॑ दे॒वास्तेनु॑ मन्यन्ता॒मह॑णीयमानाः ॥ २१ ॥

अर्थ—हे ब्रह्मचारिन्! (ते) तेरे लिए (शतम्, हायनान्) सौ-वर्ष (कृण्मः) हम निश्चित करते हैं। और (अयुतम्) दस हजार [१०,०००] वर्षों की संख्या (१) के स्थान में पूर्व-पूर्व के क्रम में ४३२ रखकर ४३२००० कलियुग की संख्या का निर्माण करते हैं। (द्वे युगे) कलियुग की संख्या को द्विगुणित करके द्वापर की संख्या ८६४००० करते हैं,। (त्रीणि युगानि) कलियुग की संख्या को त्रिगुणित करके त्रेता की संख्या १२९६००० करते हैं। (चत्वारि युगानि) कलियुग की संख्या को चार गुणा करके सतयुग की संख्या १७२८००० करते हैं। इस प्रकार चतुर्युगी की संख्या ४३२,०००० वर्ष करते हैं। (इन्द्राग्नी) इन्द्र अर्थात् राजा और अग्नि अर्थात् अग्रणी प्रधानमन्त्री, तथा (विश्वे देवाः) तथा राष्ट्र के सब विद्वान् (ते) तेरे परिज्ञान के लिए (अहृणीयमानाः) क्रोध किये विना (अनुमन्यताम्) युगशिक्षा को अनुकूल मान लें अर्थात् इसे स्वीकृत कर लें।

[अहृणीयमानाः, ''**हृणीयते क्रुध्यतिकर्मा**'' (निघं० २.१२), तथा ''**हृणीङ् रोषणे लज्जायाञ्च**'' (कण्ड्वादिः)। लज्जा=संकोच। ब्रह्मचारी को युगों की संख्यानिर्माण की शिक्षा दी गई है।

मन्त्र में एक चतुर्युगी के काल का कथन किया है, जिसका कि परिज्ञान ब्रह्मचारी अर्थात् विद्यार्थी को करा देना चाहिए। जैसे विद्यार्थी को दिनांक, मास तथा संवत् या सन् का परिज्ञान वर्तमान में कराया जाता है, वैसे वैदिक विद्यार्थी को, एक चतुर्युगी के काल के परिज्ञान का कथन मन्त्र में हुआ है]।

मन्त्र में युग शब्द युगार्थक है इसमें निम्नलिखित मन्त्र प्रमाण है। यथा—

या ओष॑धीः॒ पूर्वा॑ जा॒ता दे॒वेभ्य॑स्त्रियु॒गं पु॒रा।
मनै॑ नु ब॒भ्रूणा॑म॒हꣳश॒तं धामा॑नि स॒प्त च॑। ॥ यजुः० १२.७५॥

(याः) जो (ओषधीः) ओषधियाँ (पूर्वाः जाताः) प्रथम पैदा हुई हैं, (देवेभ्यः) देवों की अपेक्षया (त्रियुगम्, पुरा) तीन युग पहिले अर्थात् पुराकाल में। उन (बभ्रूणाम्) भरण-पोषण करने वाली ओषधियों के (शतं धामानि, सप्त च) सौ और सात धामों को (अहम्) मैं (नु) निश्चय से (मनै) जानता हूँ।

[इस मन्त्र में, देवों से तीन युग पुराकाल में उत्पन्न ओषधियों का कथन हुआ है। इसमें पुरातत्त्वविद्या का निर्देश हुआ है। सम्भवतः प्रथम ओषधियों के पुराकाल, तदनन्तर जलीय जन्तुओं के पुराकाल, तदनन्तर पृथिवी वासी जन्तुओं के पुराकाल का निर्देश मन्त्र में हुआ है। तत्पश्चात् देव अर्थात् मनुष्य देवों की उत्पत्ति निर्दिष्ट की है। ये तीन युग हैं कृतयुग [सत्ययुग], त्रेता तथा द्वापरयुग। मनुष्य युग है कलियुग। यजुर्वेद में ''देवेभ्यः'', तथा व्याख्येय मन्त्र में ''विश्वेदेवाः'' का कथन हुआ है। दोनों पदों में ''देव''

पद का एक ही अभिप्राय है]।

"चतुर्युगी" का वर्णन भूमिसम्बन्धी पुरावृत्त के ज्ञान के लिए है। भूमि के पुरातत्त्व के सम्बन्ध में देखो (अथर्व० ११.८.७; १२.१.८, ६०)।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आयुः**॥ छन्दः—**पुरस्ताद् बृहती**॥

शरदे त्वा हेमन्ताय वसन्ताय ग्रीष्माय परि दद्मसि।

वर्षाणि तुभ्यं स्योनानि येषु वर्धन्त ओषधीः॥ २२॥

अर्थ—(त्वा) तुझे (शरदे) शरदृतु के लिए, (हेमन्ताय) हेमन्त ऋतु के लिए (वसन्ताय) वसन्त ऋतु के लिए (ग्रीष्माय) ग्रीष्म ऋतु के लिए (परिदद्मसि) रक्षार्थ हम सौपते हैं। (वर्षाणि) बरसातें (तुभ्यम्) तेरे लिए (स्योनानि) सुखदायक हों, (येषु) जिन में (ओषधीः) ओषधियाँ (वर्धन्ते) बढ़ती हैं।

[मन्त्र में ऋतुचर्या का निर्देश किया है। वर्षाणि=वर्ष शब्द नपुंसक लिङ्ग में प्रयुक्त है, जिसका अर्थ है वर्षा। स्योनानि "**स्योनम् सुखनाम**" (निघं० ३.६)।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आयुः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

मृत्युरीशे द्विपदां मृत्युरीशे चतुष्पदाम्। तस्मात्त्वां मृत्योर्गोपतेरुद्भरामि स मा बिभेः॥ २३॥

अर्थ—(मृत्युः) मृत्यु (द्विपदाम्) दो-पयों का (ईशे) अधीश्वर है, (मृत्युः) मृत्यु (चतुष्पदाम्) चौपायों का (ईशे) अधीश्वर है। (तस्मात्) उस (गोपते) पृथिवी के पति (मृत्योः) मृत्यु से (त्वाम्) तेरा (उद्भरामि) उद्धार मैं करता हूँ, (सः) वह तू (मा) न (बिभेः) भय कर।

[गोपतेः; **गौः पृथिवीनाम** (निघं० १.१)। दो-पायों और चौ-पायों का पृथिवी के साथ सम्बन्ध है, इसलिए "गोपतेः" का अर्थ "पृथिवीपति" सुसङ्गत है। पृथिवीनिवासी समग्र प्राणियों की अधीश्वरी है मृत्यु]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आयुः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सोऽरिष्ट न मरिष्यसि न मरिष्यसि मा बिभेः।

न वै तत्र म्रियन्ते नो यन्त्यधमं तमः॥ २४॥

अर्थ—(सः) वह (अरिष्ट) हे हिंसारहित! (न मरिष्यसि) तू न मरेगा, (न मरिष्यसि) न मरेगा, (मा बिभेः) तू न भय कर। (वै) निश्चय से (तत्र) उस अवस्था में (न म्रियन्ते) नहीं मरते, (नो) न (अधमम् तमः) मरणकालीन अधम मूर्छा को (यन्ति) प्राप्त होते हैं॥२४॥

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आयुः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सर्वो वै तत्र जीवति गौरश्वः पुरुषः पशुः।

यत्रेदं ब्रह्म क्रियते परिधिर्जीवनाय कम्॥ २५॥

अर्थ—(तत्र) उस अवस्था में (वै) निश्चय से (जीवति) जीवित रहता है, (सर्व) सभी (गौः, अश्वः, पुरुषः, पशुः) गौ, अश्व तथा पुरुष और पंशु, (यत्र) जिस अवस्था में (इदम् कम् ब्रह्म) इस सुखस्वरूप ब्रह्म को (जीवनाय) जीवन के लिए (परिधिः) परिधि (क्रियते) कर लिया जाता है॥२५॥

["गौः, अश्वः, पुरुषः, पशुः" के दो अभिप्राय सम्भव हैं (१) गौ, अश्व, पुरुष, इन में से प्रत्येक पशु है। यथा "**तवेमे पञ्च पशवो विभक्ता गावो अश्वाः पुरुषा अजावयः**" (अथर्व० ११.२.९) में गौ आदि पांचों को पशु कहा है। (२) गौ, अश्व, पुरुष तथा तद्भिन्न पशु। पशु जात्येकवचन है। ब्रह्म के भी दो अर्थ हैं। (१) परमेश्वर (२) वेद। ये दोनों परिधि हैं। परमेश्वरार्थ में अभिप्राय है ब्रह्म को निज की परिधि मानना। अपने-आप को इस परिधि में केन्द्ररूप में जानकर यह समझना कि मैं ब्रह्म द्वारा घिरा हुआ हूँ, जो कि कर्माध्यक्ष और कर्मफल दाता है, अतः सदा सत्कर्म करना। इससे जीवन पवित्र और सात्त्विक बन कर जीवनावधि से पूर्व नहीं मरता। जीवनावधि है १०० वर्ष।

दूसरी परिधि है, वेद। जैसे कि कहा है कि "**सप्तास्यासन् परिधयः**" (यजुः० ३१.१५) अर्थात् सप्तविध छन्दों वाला वेद परिधिरूप है। इस परिधि के भीतर अपने-आप को रख कर वेदोपदिष्ट मार्ग पर चलने से व्यक्ति जीवनावधि से पहले नहीं मरता, अपितु "शतात्" से भी "भूयः" जीवित रह सकता है। वेद भी "कम्" है, यतः वेद सुखी जीवन का मार्ग दर्शाता है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आयुः**॥ छन्दः—**आस्तारपङ्क्तिः**॥

परि त्वा पातु समानेभ्योऽभिचारात्सबन्धुभ्यः।
अमम्रिर्भवामृतोऽतिजीवो मा ते हासिषुरसवः शरीरम्॥ २६॥

अर्थ—[हे ब्रह्मचारी!] (त्वा) तेरी (परिपातु) सब ओर से रक्षा करे, [आचार्य], (समानेभ्यः) समान आचार्य वाले सतीर्थ्यों से होने वाली, तथा (सबन्धुभ्यः) समानजाति के बन्धुओं से होने वाली (अभिचारात्) अभिचार क्रिया से, हिंसा से। [ब्रह्म की परिधि के भीतर रहता हुआ तू (मन्त्र २५)] (अमम्रिः भव) न मरने वाला हो जा (अमृतः) अमृत हो जा, (अतिजीवः) जीवन काल को अतिक्रान्त कर जा, (असवः) प्राण (ते शरीरम्) तेरे शरीर को (मा हासिषुः) न त्यागें [जीवन की अवधि से पूर्व]।

[अतिजीवः=जीवन की सामान्य अवधि है १०० वर्ष। इस अवधि को तू अतिक्रान्त कर जा "भूयश्च शरदः शतात्" के अनुसार १०० वर्षों से भी अधिक तू जीवित हो। समानेभ्यः=सतीर्थ्येभ्यः, यथा "**समानतीर्थे वासी**" (अष्टा० ४.४.१०७)। हासिषुः=**ओहाक् त्यागे** (जुहोत्यादिः)]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आयुः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ये मृत्यव एकशतं या नाष्ट्रा अतितार्याः।
मुञ्चन्तु तस्मात्त्वां देवा अग्नेर्वैश्वानरादधि॥ २७॥

अर्थ—(ये) जो (एकशतम्) एक सौ या एकाधिक सौ (मृत्यवः) मृत्युएँ हैं, तथा (याः) जो (अतितार्याः) सुगमता से तैरी जा सकने वाली अन्य (नाष्ट्राः) विनाशक शक्तियाँ हैं, (तस्मात्) उस द्विविध से, तथा (वैश्वानरात् अग्नेः) सब नर-नारियों सम्बन्धी अग्नि अर्थात् जो शवाग्नि है उस से (त्वाम्) तुझे (देवाः) देव आचार्य (अधि मुञ्चन्तु) छुड़ा दें।

[१०० वर्षों में से प्रत्येक वर्ष में, एकैक की दृष्टि से सम्भाव्य मृत्युएँ १०० हैं, तथा गर्भ में ही सम्भाव्य मृत्यु उन से एक पृथक् है। इस प्रकार मृत्युओं की संख्या १०० भी है, और १०१ भी। नाष्ट्राः शक्तियाँ हैं, रोगरूप। इनसे सुगमता पूर्वक तैर जाना सम्भव है, जैसे कि नौका द्वारा नदी या समुद्र को तैर जाना। देवाः=अध्यात्मशक्तिसम्पन्न व्यक्ति आचार्य]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**पुरस्ताद् बृहती** ॥

अग्नेः शरीरमसि पारयिष्णु रक्षोहासि सपत्नहा।

अथो अमीवचातनः पूतुद्रुर्नाम भेषजम्॥ २८॥

अर्थ—(अग्नेः) अग्नि का (शरीरम्) शरीर (असि) तू है, (पारयिष्णु) रोगों से पार करने वाला (रक्षोहा) रोगकीटाणुओं का हनन करने वाला, (सपत्नहा) रोगशत्रु का हनन करने वाला (असि) तू है। (अथो) तथा (अमीवचातनः) अमीवा नामक रोगकीटाणु का विनाशक तू है, (पूतुद्रुः नाम) पूतुद्रु नामक (भेषजम्) औषध तू है।

[मन्त्र (२७) में कथित "नाष्ट्राः" रोगो का परिगणन मन्त्र २९ में हुआ है। "पूतुद्रु" नामक भेषज द्वारा इनका हनन या विनाश किया जा सकता है। "पूतुद्रु" का अर्थ है पूति अर्थात् दुर्गन्धि का द्रावण करने वाला। यह दुर्गन्ध है, रोगजन्य। पूतुद्रु वृक्षविशेष है जो कि अग्नि का शरीर है। अग्नि इस वृक्षशरीर में निवास करती है। सम्भवताः पूतुद्रु की लकड़ी शीघ्र ज्वलनशील है, इसलिए इसे अग्नि का शरीर कहा हो। अमीव=**अम रोगे** (चुरादिः) चातनः; सम्भवतः "**चट भेदने**" (चुरादिः)। चाट जाने वाला, खा जाने वाला। पूतुद्रु=पूतुम्, पूतिः Putrid, foul smelling (आप्टे)+द्रु (गतौ), द्रावक। अथवा पूतु+द्रु (द्रुम, वृक्ष)]।

प्रथम अनुवाक समाप्त॥

सूक्त ३

विषय-प्रवेश

(१) सूक्त में २६ मन्त्र हैं। आधिभौतिकार्थ दर्शाया है। आधिदैविकार्थ तो स्पष्ट है। आधिभौतिक अग्नि=प्रधानमन्त्री।

(२) अग्नि अर्थात् अग्रणी प्रधानमन्त्री "उभयावी" है, राष्ट्र के अभ्युदय और निःश्रेयस का रक्षक है प्रधानमन्त्री (मन्त्र ३)।

(३) यातना देने वालों के हृदयवेधन और उनकी बाहुओं को तोड़ देना (मन्त्र ६)।

(४) यातुधान है जो अनृत द्वारा ऋत अर्थात् सत्य का हनन करता है (मन्त्र ११)।

(५) परस्पर शाप देने वाले पति-पत्नी को, तथा कटु-वक्ता को मानसिक क्रोधरूपी शर-समूह द्वारा हृदय-वेधन दण्ड (मन्त्र १२)।

(६) पापी और कुटिल को, तथा "वाचास्तेन" को बन्धनागार का दण्ड (मन्त्र १४)।

(७) अश्वादि पशु की हत्या करके उनके मांस के भक्षक पुरुष को, तथा जो अहन्तव्या गौ के हनन द्वारा गोदुग्ध का अपहरण करता है उसे शिरः-छेद दण्ड (मन्त्र १५)।

(८) गोहत्यारे के मर्मस्थान का वेधन (मन्त्र १७)।

(९) "न त्वा रक्षांसि पृतनासु जिग्युः" द्वारा ज्ञात होता है कि राक्षसों के साथ संग्राम करने पड़ते हैं। अतः राक्षस है मनुष्य, और वे संग्रामशील हैं। अतः सूक्त ३ का आधिभौतिक अर्थ सूक्त में अभिप्रेत है (मन्त्र १८)।

(१०) अग्नि अर्थात् अग्रणी प्रधानमन्त्री कवि है, मेधावी है (निघं० ३.१५), और वह काव्येन

अर्थात् वेदकाव्योक्त विधि द्वारा रक्षा करता है (मन्त्र २०)।

(११) राक्षस स्वभाव वाले व्यक्तियों का हनन विष तथा अस्त्रों द्वारा (मन्त्र २३)।

(१२) शृङ्गे=जलते हुए आग्नेय अस्त्र-शस्त्र (मन्त्र २४, २५)।

(१३) अग्नि अर्थात् प्रधानमन्त्री कैसा होना चाहिए (मन्त्र २६)।

अनुवाक २

सूक्त ३

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

रक्षोहणं वाजिनमा जिघर्मि मित्रं प्रथिष्ठमुप यामि शर्म।

शिशानो अग्निः क्रतुभिः समिद्धः स नो दिवा स रिषः पातु नक्तम्॥ १ ॥

अर्थ—(रक्षोहणम्) राक्षसों का हनन करने वाले, (वाजिनम्) बलशाली तथा अन्नवाले अग्नि को (आ जिघर्मि) मैं प्रदीप्त करता हूँ और (प्रथिष्ठम्) विस्तार वाले (मित्रम्) मित्र को (शर्म) आश्रयरूप में (उपयामि) मैं प्राप्त करता हूँ। (अग्निः) अग्नि (शिशानः) अपने आप को तीक्ष्ण करता हुआ, (क्रतुभिः) क्रतुओं द्वारा (समिद्धः) सम्यक् प्रदीप्त (सः) वह अग्नि (दिवा नक्तम्) दिन-रात (नः) हमें (रिषः) हिंसाओं तथा हिंसकों से (पातु) सुरक्षित करे।

[वेदों में कई मन्त्र द्व्यर्थक तथा त्र्यर्थक होते हैं। इसलिए उनमें ऐसे पद होते हैं जो कि दो या तीन अर्थों को सूचित करते हैं। वर्तमान सूक्त भी ऐसा है। मैंने केवल आधिभौतिक अर्थ की व्याख्या की है। एतदनुसार मन्त्र में "अग्नि" अर्थात् प्रधानमन्त्री के प्रति राजा की उक्ति है। राजा प्रधानमन्त्री को कहता है राक्षसों अर्थात् निज राष्ट्र पर आक्रमण करने वाले परराष्ट्र के सैनिकों की हत्या करने वाले, बलशाली तथा प्रभूत अन्न सामग्री वाले तुझको मैं राजा घृत आदि पदार्थों द्वारा पूर्णतया प्रदीप्त करता हूँ, तेरी शक्ति को बढ़ाता हूँ। और तेरी सहायता के लिए, विस्तृत राष्ट्र वाले तथा विस्तृत शक्ति वाले मित्र राष्ट्र के राजा की सहायतार्थ उसके राष्ट्र में उसे मिलने के लिए मैं जाता हूँ। तू अपने राष्ट्र में अस्त्र-शस्त्रों आदि द्वारा तीक्ष्णता प्राप्त कर, और नाना सैनिक कर्मों तथा प्रज्ञाओं द्वारा सम्यक्-प्रदीप्त होकर हम सब की रक्षा आक्रमणकारियों से दिन-रात कर।

वाजिनम्="**वाजः बलनाम**", "**वाजः अन्ननाम**" (निघं० २.९; २.७)। आजिघर्मि=आ+घृ क्षरणदीप्त्योः। मित्रम्="**क्षत्रेणाग्ने स्वेन संरभस्व मित्रेणाग्ने मित्रधा यतस्व। सजातानां मध्यमेष्ठा राज्ञामग्ने विहव्यो दीदिहीह**" (अथर्व० २.६.४)। इस मन्त्र में क्षत्रेण, मित्रेण, मित्रधा राज्ञाम्, अग्ने, विहव्यः [विविध हव्यों अर्थात् भक्षणयोग्य अन्नों वाला], तथा दीदिहि [प्रदीप्त हो] तथा इह [इस अपने राष्ट्र में] इत्यादि शब्द राजनीतिक अर्थात् आधिभौतिक अर्थ के सूचक हैं। व्याख्येय मन्त्र १, तथा २.६.४ के मन्त्र में पदों के सामान्य अर्थ पर विचार करने पर व्याख्येय मन्त्र राष्ट्रपरक प्रतीत होता है। "**शर्म गृहनाम**" (निघं० ३.४)। गृह आश्रय होता है। अतः मन्त्र में शर्म का अर्थ आश्रय किया है]।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अयोदंष्ट्रो अर्चिषा यातुधानानुप स्पृश जातवेदः समिद्धः।

आ जिह्वया मूरदेवान्रभस्व क्रव्यादो वृष्ट्वापि धत्स्वासन्॥ २ ॥

अर्थ—(जातवेदः) हे उत्पन्नप्रज्ञ! मन्त्री! (समिद्धः) शस्त्रास्त्र द्वारा सम्यक्-प्रदीप्त हुआ, तथा (अयोदंष्ट्र) लोहनिर्मित दाढ़ों से सम्पन्न हुआ तू (अर्चिषा) जलती आग्नेय-लपटों द्वारा (यातुधानान्) यातना देने वाले परकीय सैनिकों को (उपस्पृश) समीपता के स्पर्श कर। (जिह्वया) आग्नेय लपटों द्वारा (मूरदेवान्) परराष्ट्र के मूढ विजिगीषु-सैनिकों को (आरभस्व=आलभस्व) तू पकड़, और (क्रव्यादः) इन कच्चा मांस खानेवाले सैनिकों पर (वृष्ट्वा) बाण-वर्षा करके (अपि धत्स्व) जेलों में बन्द कर दे, जैसे कि (आसन्) मुख में खाद्यवस्तु को बन्द कर दिया जाता है, और मुखाग्नि उन्हें खा जाती है।

[अयोदंष्ट्रः=प्रधानमन्त्री के लोहनिर्मित शस्त्रास्त्र। यथा '**अयोमुखाः**' **वाणाः** (अथर्व० ११.१०.३); **स्वायसा असयः** (अथर्व० १०.१.२०) आदि। यातुधानान्=**यातवो यातनाः ता एषु धीयन्ते=यातुधानाः** (सायण)। जिह्वया=अग्नि की सात जिह्वाएँ, ज्वालाएँ (मुण्डक० उप० १.२.४)। मूर (मूढ़)+देवान्, **दिवु विजिगीषा०** (दिवादिः)। क्रव्यादः=निज सैनिकों द्वारा, शस्त्रास्त्रों से परकीय जीवित सैनिकों को मारना, उनके कच्चे मांसों को खा जाना है। क्रव्य (कच्चा मांस)+अदः (भक्षणे) खा जाने वाले]।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

उभोभयाविन्नुप धेहि दंष्ट्रौ हिंस्रः शिशानोवरं परं च।
उतान्तरिक्षे परि याह्यग्ने जम्भैः सं धेह्यभि यातुधानान्॥ ३॥

अर्थ—(उभयाविन्) हे दोनों की रक्षा करने वाले! (हिंस्रः) शत्रु की हिंसा करने वाला तथा (शिशानः) शस्त्रास्त्रों द्वारा तीक्ष्ण हुआ तू (अवरम्, परम् च) अवर और पर के (उभ) दोनों (दंष्ट्रौ) दाढ़ों को (उपधेहि) शत्रु के समीप स्थापित कर। (उत) तथा (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में (परि याहि) सब ओर तू जा। (अग्ने) हे अग्रणी! प्रधानमन्त्री! (जम्भैः) शस्त्रास्त्ररूपी दाढ़ों या दांतों द्वारा (यातुधानान्) यातना देने वालों की (अभि) साक्षात् (संधेहि) संनिधि में तू जा।

[उभयाविन्[1] प्रजा के अभ्युदय और निःश्रेयस इन दोनों की रक्षा करने वाला अग्रणी प्रधानमन्त्री। अवर और पर दो दंष्ट्राएँ हैं, निजराष्ट्र के शस्त्रास्त्र (मन्त्र २), तथा परराष्ट्र अर्थात् मित्र राष्ट्र के शस्त्रास्त्र। मन्त्र में "अग्ने" पद द्वारा प्राकृतिक अग्नि का ग्रहण संमत नहीं होता]।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अग्ने त्वचं यातुधानस्य भिन्धि हिंस्राशनिर्हरसा हन्त्वेनम्।
प्र पर्वाणि जातवेदः शृणीहि क्रव्यात्क्रविष्णुर्वि चिनोत्वेनम्॥ ४॥

अर्थ—(अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्रीन्! (यातुधानस्य) यातना देने वाले की (त्वचम्) त्वचा को (भिन्धि) छिन्न-भिन्न कर दे। (हिंस्रा अशनिः) हिंसाकारी वैद्युतास्त्र (हरसा) जीवनापरहरण द्वारा (एनम् हन्तु) इस का हनन करे। (जातवेदः) हे उत्पन्नप्रज्ञ! (पर्वाणि) इस के शारीरिक अङ्गों या जोड़ों को (प्रशृणीहि) काट दे, (क्रव्यात्) कच्चा मांस खाने वाला, (क्रविष्णुः) कच्चा माँस खाने के स्वभाव वाला [वृकादि पशु] (एनम्) इसे उग्र (विचिनोतु) भक्षणार्थ चुने।

[शान्तिप्रिय राष्ट्र या व्यक्ति को यातना देने वाले व्यक्ति के लिए दण्ड विधान हुआ है]।

---

१. उभय+अव (रक्षणे)+इनिः, सम्बुद्धौ।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यत्रेदानीं पश्यसि जातवेदस्तिष्ठन्तमग्न उत वा चरन्तम्।

उतान्तरिक्षे पतन्तं यातुधानं तमस्ता विध्य शर्वा शिशानः ॥ ५ ॥

अर्थ—(अग्ने) हे अग्रणी, प्रधानमन्त्री! (जातवेदः) तथा हे उत्पन्नप्रज्ञ! (इदानीम्) इस काल में (यत्र) जिस भी प्रदेश में (तिष्ठन्तम्) स्थित हुए (उत वा) या (चरन्तम्) इधर-उधर घूमते हुए, (उत) या (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में (पतन्तम्) उड़ते हुए (यातुधानम्) यातना देने वाले को (पश्यसि) तू देखता है, (तम्) उसे (अस्ता) अस्त्र प्रहार करने वाला तू (शिशानः) उग्र हुआ-हुआ (शर्वा) घातकायुध द्वारा (विध्य) वींध।

[पतन्तम्=विमान द्वारा उड़ते हुए को। विध्य=वाण या वज्र द्वारा, या गाली द्वारा बींध। (अथर्व० १.१६.४) में सीसे द्वारा बींधने का वर्णन हुआ है, जो कि सीसे की गोली प्रतीत होती है]।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यज्ञैरिषूः संनममानो अग्ने वाचा शल्याँ अशनिभिर्दिहानः।

ताभिर्विध्य हृदये यातुधानान्प्रतीचो बाहून्प्रति भङ्ग्ध्येषाम् ॥ ६ ॥

अर्थ—(अग्ने) हे अग्रणी, प्रधानमन्त्री! (यज्ञैः) युद्धयज्ञों के कारण या द्वारा (इषूः) शत्रुओं के वाणों को (संनममानः) नमाता हुआ उनके वाणों को अधोमुख करता हुआ तू (वाचा) वेदवाणी में कथित विधि के अनुसार (अशनिभिः) विद्युत् प्रयोगों द्वारा (शल्यान्) निज इषुओं के अग्रभागों में लगे शंकुओं को (दिहानः) तीक्ष्ण करता हुआ, (ताभिः) उन तीक्ष्य इषुओं द्वारा (यातुधानान्) यातना देने वालों को (हृदये) हृदय में (विध्य) बींध और (एषाम्) इनके (बाहून्) बाहुओं को (प्रतीचः) टेढ़े कर (प्रतिभङ्ग्धि) प्रत्येक बाहु को तोड़ डाल।

[यज्ञैः=युद्धयज्ञैः। आत्मरक्षार्थ किये गये युद्ध, यज्ञरूप हैं। परकीय-राष्ट्र पर विजय की भावना से किये युद्ध, यज्ञरूप नहीं। भङ्ग्धि=बाहुओं को तोड़ना ताकि बाहुओं द्वारा ये अस्त्र न चला सकें]।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्** ॥

उतारब्धान्स्पृणुहि जातवेद उतारेभाणाँ ऋष्टिभिर्यातुधानान्।

अग्ने पूर्वो नि जहि शोशुचान आमादः क्ष्विङ्कास्तमदन्त्वेनीः ॥ ७ ॥

अर्थ—(जातवेदः) हे उत्पन्नप्रज्ञ! (उत) तथा (आरब्धान्) जिन्होंने युद्ध आरम्भ कर दिया है उन पर (स्पृणुहि) तू बाणों की बौछार कर, (उत) तथा (आरेभाणान्) जो युद्धारम्भ करने वाले हैं उन (यातुधानान्) यातना देने वालों को, (ऋष्टिभिः) आयुधों द्वारा, (अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्रीन्! (शोशुचानः) तेजस्वी शस्त्रास्त्रों द्वारा तेजस्वी हुआ तू (पूर्वः) पहला हो कर (निजहि) नितरां मार डाल। (आमादः) कच्चा मांस खाने वाले (एनीः) नाना वर्णों वाले (क्ष्विङ्काः) पक्षी, (तम्) उस प्रत्येक यातुधान को (अदन्तु) खा जाएँ।

[स्पृणुहि=**स्पृ प्रीतिसेवनयोः। प्रीतिचलनयोरित्यन्ये** (स्वादिः), धातुप्रोक्त अर्थ मन्त्र में संगत प्रतीत नहीं होता। सम्भवतः आङ्गल भाषा का "Spray" शब्द "स्पृ" का विकृतरूप हो, जिसका अर्थ है बौछार करना। इससे मन्त्रार्थ संगत हो जाता है। सायणाचार्य ने अर्थ किया है "**आरब्धन् त्वां स्तोतुं**

प्रक्रान्तान् अस्मान् स्पृणुहि पालय"। "स्पृणुहि" अथवा उनकी तू वाणों द्वारा सेवा कर। यह वक्रोक्ति है। अभिप्राय पूर्ववत् है कि वाणों की बौछार कर (स्पृ सेवने)]।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

इह प्र ब्रूहि यतमः सो अग्ने यातुधानो य इदं कृणोति।

तमा रभस्व समिधा यविष्ठ नृचक्षसश्चक्षुषे रन्धयैनम्॥ ८॥

अर्थ—(अग्ने) हे सर्वाग्रणी प्रधानमन्त्री! (इह) यहां या इस सम्बन्ध में (प्रब्रूहि) कहिए कि (यतमः) जो कि (सः) वह (यातुधानः) यातना देने वाला है (यः) जोकि (इदम्) यह यातना-कर्म (कृणोति) करता है। (तम्) उसे (समिधा) समिधा द्वारा (आरभस्व=आलभस्व) पकड़ (यविष्ठ) हे युवतम मन्त्री! और (एनम्) इसे (नृचक्षसः) प्रजाओं पर दृष्टि रखने वाले राजा की (चक्षुषे) दृष्टि के लिए (रन्धय) वशंगत कर, उपस्थित कर।

[सेनापति की उक्ति है प्रधानमन्त्री के प्रति कि वह "समिधा" द्वारा यातुधान को पकड़ कर उसे राजा के सामने उपस्थित करे। मन्त्र में शिष्ट भाषा का प्रयोग हुआ है। विशिष्ट व्यक्ति को कोई वस्तु देनी हो तो उसे "नज्राना" [नज़राना] कहते हैं अर्थात् शिष्ट की नजर अर्थात् चक्षु (दृष्टि) के लिए उपस्थित की जाने योग्य समिधा वस्तु। समिधा है यज्ञिय समिधा, जिस द्वारा अग्नि को प्रदीप्त करना होता है। युद्धयज्ञ में समिधा है सेना या सेनाध्यक्ष। इस द्वारा युद्धाग्नि प्रदीप्त की जाती है। यह ही परराष्ट्र के यातुधान को पकड़ता है। पकड़ा गया यातुधान राजा के लिए 'नजराना' हैं। राजा ही इसे यथोचित दण्ड देता है]।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

तीक्ष्णेनाग्ने चक्षुषा रक्ष यज्ञं प्राञ्चं वसुभ्यः प्र णय प्रचेतः।

हिंस्रं रक्षांस्यभि शोशुचानं मा त्वा दभन्यातुधाना नृचक्षः॥ ९॥

अर्थ—(प्रचेतः) पूर्णतया सचेत अर्थात् सावधान रहने वाले, (नृचक्षः) तथा प्रजाजनों पर दृष्टि रखने वाले, (अग्ने) हे प्रधानमन्त्री! (तीक्ष्णेन चक्षुषा) अपनी पैनी दृष्टि द्वारा (यज्ञम्) राष्ट्र-यज्ञ की (रक्ष) रक्षा कर, (प्राञ्चम्) और प्रगतिशील राष्ट्र-यज्ञ को (वसुभ्यः) राष्ट्र में वसने वाले वसुरूप अधिकारियों के प्रति (प्रणय) सौंप। (यातुधानाः) यातना देने वाले (रक्षांसि) राक्षस (हिंस्रम्) परसेना की हिंसा करने वाले और (अभि शोशुचानम्) तेज द्वारा तेजस्वी (त्वा) तेरे साथ (मा दभन्) दम्भ अर्थात् छल कपट न करें, या तेरी हिंसा न कर दें।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

नृचक्षा रक्षः परि पश्य विक्षु तस्य त्रीणि प्रति शृणीह्यग्रा।

तस्याग्ने पृष्टीर्हरसा शृणीहि त्रेधा मूलं यातुधानस्य वृश्च॥ १०॥

अर्थ—(अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्री! (नृचक्षाः) प्रजाजनों पर दृष्टि रखने वाला तू (विक्षु) निज प्रजाजनों में [प्रविष्ट] (रक्षः) परकीय राक्षस प्रकृति वाले व्यक्ति को (परि पश्य) ढूंढ। (तस्य) उसके (त्रीणि) तीन (अग्रा) अग्र अर्थात् उपर के भागों को (प्रति शृणीहि) एक-एक करके काट डाल! (तस्य) उसकी (पृष्टीः) छाती और पीठ के अङ्गों को (हरसा) संहारी शस्त्र द्वारा (शृणीहि) काट डाल, (यातुधानस्य) यातना देने वाले के (मूलम्) मूलभाग को (त्रेधा) तीन भागों में (वृश्च) छिन्न-भिन्न कर।

[मन्त्र में उग्र दण्ड का विधान है। उग्रदण्ड, राष्ट्रव्यवस्था को स्थिररूप में बनाए रखता है। नर्मदण्ड प्रजा को भ्रष्टाचारी बनाता है। किसी उग्र अपराधी को उग्रदण्ड के देने पर प्रजा भ्रष्टाचार से बची रहती है। उपरि भाग के तीन अग्र हैं, सिर तथा दो बाहुएँ। मूल का अर्थ होता है जड़। वृक्ष का मूल अर्थात् जड़ नीचे की ओर होती है। अतः यातुधान के मूल का अभिप्राय है शरीर के निचले अङ्ग। ये तीन हैं। घुटनों से ऊपर के अङ्ग हैं ऊरू; घुटनों से नीचे के अङ्ग हैं टांगे अर्थात् जङ्घाएँ तथा पाद। धड़ के अङ्गों को काटने का पृथक् विधान हुआ है "पृष्टीः" शब्द द्वारा। इस प्रकार ये नीचे के विविध अंग हैं। सिर, पृष्टीः और बाहुओं से नीचे हैं]।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

त्रिर्यातुधानः प्रसितिं त एत्वृतं यो अग्ने अनृतेन हन्ति।

तमर्चिषा स्फूर्जयञ्जातवेदः समक्षमेनं गृणते नि युङ्ग्धि॥ ११ ॥

अर्थ—(अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्री! (यातुधानः) यातना देने वाला (ते) तेरे (प्रसितिम्) बन्धन को (त्रिः) तीन बार (एतु) प्राप्त हो, (यः) जो कि (अनृतेन) असत्य द्वारा (ऋतम्) सत्य का (हन्ति) हनन करता है। (जातवेदः) हे जातप्रज्ञ! (स्फूर्जयन्) गर्जता हुआ तू (तम्, एनम्) उसे अर्थात् (गृणते) स्तोतृ प्रजाजन के लिए (समक्षम्) अपनी आँखों के सामने (अर्चिषा) निज क्रोधाग्नि द्वारा (नि युङ्ग्धि) नितरां युक्त कर, सम्बद्ध कर।

[यातुधान को प्रधानमन्त्री तीन बार कारागार में बन्द करे। यातुधान है असत्य वक्ता और असत्य व्यवहारी। यदि वह तब भी सत्यचारी न बने तो प्रधानमन्त्री गर्जता हुआ, निज क्रोधाग्नि द्वारा उसे सम्बद्ध करे, उसे फटकारे। प्रजा के भले के लिए यह कार्य वह अपने सामने कराए या करे। मन्त्र में जेलदण्ड तथा वाग्दण्ड का वर्णन हुआ है। प्रसितिम्=प्र+सि (**षिञ् बन्धने**)+तिम्]।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्** ॥

यदग्ने अद्य मिथुना शपातो यद्वाचस्तृष्टं जनयन्त रेभाः।

मन्योर्मनसः शरव्या३ जायते या तया विध्य हृदये यातुधानान्॥ १२ ॥

अर्थ—(अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्री! (अद्य) आज अर्थात् किसी भी दिन (मिथुना) पति-पत्नी (यत्) जो (शपातः) परस्पर के प्रति शाप देते हैं उन्हें तथा (रेभाः) परमेश्वर के स्तोता (यत्) जो (वाचः) वाणी की (तृष्टं) कटुता (जनयन्त) पैदा करते हैं उन्हें तथा (यातुधानान्) जो यातना देने वाले हैं, उन्हें (या) जोकि (मनसः मन्योः) मानसिक मन्यु से (शरव्या) इषु (जायते) पैदा होती है (तया) उस द्वारा (हृदये) उनके हृदयों को (विध्य) बींध।

[पति-पत्नी का परस्पर कलह, परमेश्वरभक्त द्वारा कटु वचनों का प्रयोग, इनके करने वाले भी यातुधान हैं। यातना देने वाले हैं, इन्हें मानसिक क्रोधरूपी वाण द्वारा हृदयों में बींधना चाहिए, ताकि ये हार्दिक कष्ट अनुभव करें। **रेभ स्तोतृनाम** (निघं० ३.१६)। मन्युः=मननपूर्वक क्रोध, अन्धा क्रोध नहीं]।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

परा शृणीहि तपसा यातुधानान्पराग्ने रक्षो हरसा शृणीहि।

परार्चिषा मूरदेवाञ्छृणीहि परासुतृपः शोशुचतः शृणीहि॥ १३ ॥

अर्थ—(अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्री! (यातुधानान्) यातना देने वालों को (तपसा) तापक-शस्त्र-अस्त्र द्वारा (परा शृणीहि) पराङ्मुख कर, नष्ट कर, (रक्षः) राक्षस स्वभाव वाले को (परा) पराङ्- मुख करके (हरसा) संहारी शस्त्र-अस्त्र द्वारा (शृणीहि) नष्ट कर। (मूरदेवान्) मूढ़ अर्थात् कर्त्तव्याकर्त्तव्य के ज्ञान के रहित विजिगीषुओं को (परा) पराङ्मुख करके (अर्चिषा) ज्वाला द्वारा (शृणीहि) नष्ट कर, (असुतृपः) दूसरों के प्राणों को लेकर तृप्त होने वालों को, जो कि (शोशुचतः) अत्यन्त हनन कर्म में प्रदीप्त होते हैं, उन्हें (परा) पराङ् मुख करके (शृणीहि) नष्ट कर।

[मन्त्र में यातुधान, रक्षः, मूरदेव, तथा असुतृपः भिन्न-भिन्न प्रकार के आततायी वर्णित हैं, तथा "तपसा, हरसा, अर्चिषा" द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों का वर्णन हुआ है]।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्** ॥

पराद्य देवा वृजिनं शृणन्तु प्रत्यगेनं शपथा यन्तु सृष्टाः।
वाचास्तेनं शरव ऋच्छन्तु मर्मन्विश्वस्यैतु प्रसितिं यातुधानः॥ १४॥

अर्थ—(अद्य) आज अर्थात् प्रतिदिन (देवाः) हमारे विजिगीषु सैनिक तथा सेनाधिपति (वृजिनम्) पापी तथा कुटिल को (पराशृणन्तु) नष्ट करें, (सृष्टाः) इस पापी द्वारा दिए (शपथाः) शाप, (प्रत्यक्) उल्टे (एनम्) इसको (यन्तु) प्राप्त हों। (वाचास्तेनम्) वाणी द्वारा धोखा देकर चोरी करने वाले को, (मर्मन्) उसके मर्मस्थान में, (शरवः) घातक शस्त्र-अस्त्र (ऋच्छन्तु) प्राप्त हों, (यातुधानः) इस प्रकार की यातनाएँ देने वाला (विश्वस्य) सबके (प्रसितिम्) बन्धन को (एतु) प्राप्त हो।

[पापी तथा कुटिल, शपथदाता, तथा वाणी द्वारा धोखा देकर चोरी करने वाला, ये सब यातुधान हैं। कोई भी प्रजाजन इन्हें रस्सियों आदि द्वारा बान्ध सकता है। शरवः=शर और शरु में भेद प्रतीत होता है]।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्** ॥

यः पौरुषेयेण क्रविषा समङ्क्ते यो अश्व्येन पशुना यातुधानः।
यो अघ्न्याया भरति क्षीरमग्ने तेषां शीर्षाणि हरसापि वृश्च॥ १५॥

अर्थ—(अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्री! (यः) जो (यातुधानः) यातना देने वाला (पौरुषेयेण) पुरुष के (यः) जो (अश्व्येन) अश्व के (क्रविषा) मांस द्वारा (पशुना) [या अन्य किसी] पशु [के मांस] द्वारा (समङ्क्ते) अपने-आप को परिपुष्ट तथा कान्ति सम्पन्न करता है (यः) और जो (अघ्न्यायाः) अहन्तव्या गौ का हनन कर उसके (क्षीरम्) दूध को (भरति=हरति) हरता है, (तेषाम्) उन के (शीर्षाणि अपि) सिरों को भी (हरसा) अस्त्र-शस्त्र द्वारा (वृश्च) काट दे।

[मांसभक्षकों, तथा गौओं को मार कर उनके दूध का क्षय करने वालों के सिरों को भी प्रधानमन्त्री काट दे। प्रधानमन्त्री ने स्वयं तो सिरों को नहीं काटना, अपितु उसके निर्णीत नियमों के द्वारा जल्लाद आदि ने सिरों को काटना है। इन मन्त्रों में वर्णित दण्ड विधान को देखकर "अग्नि" आग अर्थ समन्वित नहीं होता]।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

विषं गवां यातुधाना भरन्तामा वृश्चन्तामदितये दुरेवाः।
परैणान्देवः सविता ददातु परा भागमोषधीनां जयन्ताम्॥ १६॥

अर्थ—(यातुधानाः) यातना देने वाले (गवाम्) गौओं के (विषम्) विष अर्थात् मूत्रजल को (भरन्ताम्) प्राप्त करें, और (दुरेवाः) ये दुष्टगति वाले (अदितये) पृथिवी के लिए (आ वृश्चन्ताम्) छिन्न-भिन्न कर दिए जाए। (सविता देवः) सर्वप्रेरक देव अर्थात् सम्राट् (एनान्) इन्हें (परा ददातु) निरस्त कर दे, देशनिकाला दे दे, (ओषधीनाम्) व्रीहि-यव आदि ओषधियों के (भागम्) भाग को (पराजयन्ताम्) वे हार जाएँ अर्थात् उससे भागरहित हो जाएँ[१], वञ्चित हो जाएँ।

[**विषम् उदकनाम** (निघं० १.१२)। यातुधानों को गौ के दूध के स्थान में गोमूत्र[२] रूपी जल पिलाना चाहिए। तथा पृथिवीवासियों के भले के लिए इन दुष्टों को मृत्युदण्ड देना चाहिए, तथा देशनिकाले का दण्ड देना चाहिए, तथा अन्न से वञ्चित कर इन्हें मरने देना चाहिए। व्याख्येय मन्त्र में "सविता देव" का अर्थ है सर्वप्रेरक सम्राट्। **षू प्रेरणे** (तुदादिः)]।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्** ॥

संवत्सरीणं पय उस्रियायास्तस्य माशीद्यातुधानो नृचक्षः।
पीयूषमग्ने यतमस्तितृप्सात्तं प्रत्यञ्चमर्चिषा विध्य मर्मणि ॥ १७ ॥

अर्थ— (नृचक्षः) प्रजाजनों पर दृष्टि रखने वाले (अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्री! (संवत्सरीणम्) संवत्सर में होने वाला (उस्रियायाः पयः) गौ का दूध है, (तस्य) उसका (मा आशीत्) न भक्षण करे (यातुधानः) गौ को यातना देने वाला। (यतमः) जो यातुधान (पीयूषम्) पेय दुग्धामृत को (तितृप्सात्) निज तृप्ति के लिए चाहे, (तम्) उस (प्रत्यञ्चम्) प्रतीपाचारी को (अर्चिषा) "अर्चिः" नामक अस्त्र द्वारा (मर्मणि) मर्मस्थल में (विध्य) बींध।

[प्रतिवर्ष वत्स दे कर गौ संवत्सर के पश्चात् दुधारू होती है। जो गौ को यातना देता है उसे गोदुग्ध से वञ्चित कर देना चाहिए (मन्त्र १६)। यदि राजाज्ञा के विरुद्ध वह फिर भी दूध द्वारा निज तृप्ति करता है तो उसे मृत्युदण्ड देना चाहिए]।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सनादग्ने मृणसि यातुधानान्न त्वा रक्षांसि पृतनासु जिग्युः।
सहमूराननु दह क्रव्यादो मा ते हेत्या मुक्षत दैव्यायाः ॥ १८ ॥

अर्थ—(अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्री! (सनात्) सदा से (यातुधानान्) यातना देने वालों को (मृणसि) तू मारता रहा है, (रक्षांसि) राक्षस-स्वभाव वाले यातुधान (त्वा) तुझे (पृतनासु) युद्धों में (न जिग्युः) नहीं जीत पाए। (क्रव्यादः) इन मांसभक्षियों को (सहमूरान्) जो कि मूढ़ता के साथ विद्यमान हैं, (अनु दह) निरन्तर दग्ध कर, (ते) तेरी (दैव्यायाः हेत्याः) दिव्य हेति अर्थात् अस्त्र से (मा मुक्षत) ये मुक्त न हों, छूट न पाएँ।

[सनात्=सदा से, जब से तू प्रधानमन्त्री बना है तभी से। ये राक्षस मूढ़तासम्पन्न हैं, अतः कर्त्तव्याकर्त्तव्य

---

१. तथा रुग्णावस्था में औषधोपचार से वञ्चित कर दिए जाएँ।

२. गोमूत्र शोधक तथा औषध रूप भी है। इसे हिन्दू पञ्चगव्य के अङ्गरूप में भी देते हैं। गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ में चक्षूरोग में इसे कई वर्षों तक प्रयुक्त किया जाता रहा है। तथा देखो मन्त्र १७ की भावना, दण्डरूप में गोदुग्ध से उसे वञ्चित रखने को।

से अनभिज्ञ हैं। मन्त्र १७ में अर्चि: और १८ में हेति, दोनों अस्त्र विशेष हैं। सहमूरान्=अथवा मूढ़सैनिकों सहित अधिकारियों को]।

ऋषि:—**चातन:** ॥ देवता—**अग्नि:** ॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्**॥

त्वं नो अग्ने अधरादुदक्तस्त्वं पश्चादुत रक्षा पुरस्तात्।

प्रति त्ये ते अजरासस्तपिष्ठा अघशंसं शोशुचतो दहन्तु॥ १९॥

अर्थ—(अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्री! (त्वम्) तू (न:) हमें (अधरात्) दक्षिण से, (उदक्त:) उत्तर से, (पश्चात्) पश्चिम से, (उत) और (पुरस्तात्) पूर्व से (त्वम्) तू (रक्षा) सुरक्षित कर। (ते) तेरे (त्ये) वे (अजरास:) अजीर्ण, (तपिष्ठा:) अत्यन्त तपे, (शोशुचत:) अत: अति चमकीले शस्त्रास्त्र (प्रति) प्रत्येक (अघशंसम्) पाप प्रशंसक को (दहन्तु) दग्ध कर दें।

ऋषि:—**चातन:** ॥ देवता—**अग्नि:** ॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्**॥

पश्चात्पुरस्तादधरादुतोत्तरात्कवि: काव्येन परि पाह्यग्ने।

सखा सखायमजरो जरिम्णे अग्ने मर्ताँ अमर्त्यस्त्वं न:॥ २०॥

अर्थ—(अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्री! (कवि:) वेदकाव्य का कवि अर्थात् विद्वान् तू (काव्येन) वेदकाव्य की शिक्षा द्वारा (पश्चात्) पश्चिम से, (पुरस्तात्) पूर्व से, (अधरात्) दक्षिण से, (उत उत्तरात्) और उत्तर से (परिपाहि) सब ओर से हमारी रक्षा कर। (सखा) जैसे सखा (सखायम्) सखा की [पाति] रक्षा करता है, तथा (अजर:) जरारहित [युवा पुत्र] (जरिम्णे) बूढ़े पिता के लिए पालक होता है, वैसे (अमर्त्य: त्वम्) चिरजीवी तू (न: मर्तान्) हम मर्त्यों को (परिपाहि) सब ओर से सुरक्षित कर।

[(ऋग्वेद १०.८७.२१) में "अग्ने" के स्थान में "राजन्" पाठ है। इस से प्रतीत होता है कि ये मन्त्र राजनैतिक[१] अर्थपरक है। अमर्त्य:=प्रधानमन्त्री "अमर्त्य-सा" है, क्योंकि रक्षकवर्ग सदा सब ओर से उसकी रक्षा करता है। और प्रजाजन "मर्त" हैं, यत: उपद्रवों और आक्रान्ताओं के शिकार वे होते हैं]।

ऋषि:—**चातन:** ॥ देवता—**अग्नि:** ॥ छन्द:—**भुरिक् त्रिष्टुप्**॥

तदग्ने चक्षु: प्रति धेहि रेभे शफारुजो येन पश्यसि यातुधानान्।

अथर्ववज्ज्योतिषा दैव्येन सत्यं धूर्वन्तमचितं न्योष॥ २१॥

अर्थ—(अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्री! (येन) जिस [चक्षुषा] चक्षु अर्थात् दृष्टि द्वारा (शफारुज:) शफ द्वारा भग्न किये जा सकने वाले (यातुधानान्) यातना देने वालों को (पश्यसि) तू देखता है, (तत् चक्षु:) उस चक्षु अर्थात् दृष्टि को (रेभे) स्तोता पर (प्रति धेहि) तू रख। (अथर्ववत्) तथा अथर्वा के सदृश (दैव्येन ज्योतिषा) दिव्य ज्योति द्वारा, (सत्यम् धूर्वन्तम्) सत्य का हनन करने वाले (अचितम्) अज्ञानी को (न्योष) तू नितरां दग्ध कर।

[शफारुज:=शफ (खुर)+आरुज: (**रुजो भङ्गे**) (तुदादि:), अथवा "**रुज हिंसायाम्**" (चुरादि:)। "**पदा क्षुम्पमिव स्फुरत्**" (अथर्व० २०.६३.५); "**आरुजासि....शफारुज:**" (अथर्व० २०.९४.९); "**शफेन इव ओहते**" (२०.१३१.७) इन मन्त्रवाक्यों में शफारुजों का वर्णन है अर्थात् जो कि गौ के खुर

१. इसलिए सूक्त में भिन्न-भिन्न अपराधों में भिन्न-भिन्न दण्ड विधान हुआ है, जो कि नियम द्वारा मिलता है।

के स्पर्श द्वारा भग्न कर दिए जाते हैं। रेभे=रेभ है परमेश्वर का स्तोता, स्तवन करने वाला। यह यदि कटुभाषी[1] हो तो प्रधानमन्त्री जो दण्ड यातुधानों को देता है वही दण्ड इन्हें भी दे (मन्त्र ३.१२)। **रेभः स्तोतृनाम** (निघं० ३.१६)। अथर्ववत्; अथर्वा=**"थर्वतिः चरतिकर्मा, तत्प्रतिषेधः"** (निरुक्त ११.२.१९) अर्थात् "अचलचित्तवृत्तिक" योगी। योगी जब "निरुद्धचित्तवृत्तिक" हो जाता है तब इसे दिव्यज्योति प्राप्त हो जाती है। उस द्वारा योगी के राजस-तामस कर्म विनष्ट हो जाते हैं। प्रधानमन्त्री की दिव्यज्योति है अन्तरिक्षीय-विद्युत्, तथा सूर्य की सप्तविध रश्मियां। इस ज्योति द्वारा वह यातुधानों तथा कटुभाषी रेभों, और सत्य के हन्ता को जला देने का दण्ड देता है। न्योष=नि (नितराम्)+उष (दाहे)]।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

परि॑ त्वाग्ने॒ पुरं॑ व॒यं विप्रं॑ सहस्य धीमहि। धृ॒षद्व॑र्णं दि॒वेदि॑वे ह॒न्तारं॑ भङ्गु॒राव॑तः ॥ २२ ॥

अर्थ—(अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्री! (सहस्य) तथा हे बलवन्! (त्वा विप्रम्) तुझ मेधावी को (वयम्) हम प्रजाजन, (पुरम्) किले या नगर के सदृश (परिधीमहि) परिधिरूप में स्थापित करते हैं। जो तू कि (धृषद्वर्णम्) धर्षकरूप वाला है, और (दिवेदिवे) आए-दिन (भङ्गुरावतः) भग्न हो जाने वाले यातुधानों का (हन्तारम्) हनन करने वाला है।

[पुरम्=जैसे किले या नगर की परिधि प्रजा की रक्षा करती है वैसे तू बलवान् हमारी रक्षा करता है। तेरा स्वरूप यातुधानों का धर्षक है। तेरे स्वरूप को देखते ही यातुधानों के धैर्य भग्न हो जाते हैं]

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

वि॒षेण॑ भङ्गु॒राव॑तः॒ प्रति॑ स्म र॒क्षसो॑ जहि।
अग्ने॑ ति॒ग्मेन॑ शो॒चिषा॒ तपु॑रग्राभिर॒र्चिभिः॑ ॥ २३ ॥

अर्थ—(अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्री! (विषेण) विष प्रयोग द्वारा (भङ्गुरावतः)[2] भग्नस्वभाव वाले या भङ्गुर-चित्तवृत्तियों वाले (रक्षसः) राक्षसों में से (प्रति) प्रत्येक का (जहि) हनन कर, (तिग्मेन) तथा तीक्ष्ण (शोचिषा) दीप्ति द्वारा [जहि] [इनका हनन कर] तथा (तपुरग्राभिः) तपते अग्रभागों वाले (अर्चिभिः) अर्चि नामक अस्त्रों द्वारा [जहि] [इन का हनन कर]।

[तीन साधनों द्वारा राक्षसस्वभाव वालों के विनाश का वर्णन मन्त्र में हुआ है। (१) विषप्रयोग द्वारा। (२) आंखों पर तीक्ष्ण प्रकाश डाल कर इन्हें चौंधिया कर। (३) अस्त्रों के अग्रभाग में तपाने वाले आग्नेय-विस्फोटक लगाकर। ऋग्वेद (१०.८७.२३) में '**अर्चिभिः**' के स्थान में '**ऋष्टिभिः**' का प्रयोग हुआ है। ऋष्टिः=आयुध (अथर्व० ८.३.७)। तथा **"शतम् ऋष्टीः अयस्मयीः"** (अथर्व० ४.३७.८), लोहनिर्मित सैकड़ों ऋष्टियां, आयुध]।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

वि ज्योति॑षा बृह॒ता भा॑त्य॒ग्निरा॒विर्विश्वा॑नि कृणुते महि॒त्वा।
प्रादे॑वीर्मा॒याः स॑हते दु॒रेवाः॒ शिशी॑ते॒ शृङ्गे॒ रक्षो॑भ्यो वि॒निक्ष्वे॑ ॥ २४ ॥

अर्थ—(अग्निः) अग्रणी प्रधानमन्त्री (बृहता ज्योतिषा) महातेज द्वारा (विभाति) चमकता है, और

---

१. देखो (८.३.१२)

२. अथवा आसानी से भग्न हो जाने वाले।

(महित्वा) निज महत्व द्वारा (विश्वानि) राष्ट्र के सब स्वरूपों [साधनों] को (आविः कृणुते) प्रकट करता है। (दुरेवाः) दुष्ट चालों वाली (अदेवीः मायाः) आसुर-मायाओं का (प्रसहते) पराभव करता है, (रक्षोभ्यः) राक्षसों के लिए, उनके (विनिक्ष्वे) विनाश के लिए, (शृङ्गे) जलते हुए अस्त्रों और शस्त्रों को (शिशीते) तीक्ष्ण करता है।

[विश्वानि=राष्ट्र के सब युद्ध-साधनों को अर्थात् शस्त्रास्त्र, सैनिक शक्ति, तथा धनसम्पत् आदि को आविष्कृत करता है। मायाः=छलकपट। शृङ्गे=**"शृङ्गाणि ज्वलतो नाम"** (निघं० १.१७)। अथवा गौ जैसे निज रक्षार्थ दो सींग रखती है, तद्वत् निज राष्ट्र की रक्षा के लिए प्रधानमन्त्री शस्त्र और अस्त्ररूपी द्विविध शृङ्गों को रखता और उन्हें तेज करता है। विनिक्ष्वे=वि+निक्ष् (चुम्बने[1], भ्वादिः) चुम्बन=छूना। प्रधानमन्त्री के शस्त्रास्त्र ऐसे होने चाहिएँ कि शत्रु के साथ स्पर्श होते ही शत्रु का विनाश हो जाए। **"वि, निक्षे=तुमर्थे केन् प्रत्ययः। वकारोपजनश्छान्दसः"** सायण]।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**बृहतीगर्भा जगती** ॥

ये ते शृङ्गे अजरे जातवेदस्तिग्महेती ब्रह्मसंशिते।
ताभ्यां दुर्हार्दमभिदासन्तं किमीदिनं प्रत्यञ्चमर्चिषा जातवेदो वि निक्ष्व॥ २५॥

अर्थ—(जातवेदः) हे जातप्रज्ञ! (ये) जो (ते) तेरे (अजरे) अजीर्ण (शृङ्गे) दो सींग हैं, या जलते हुए (तिग्महेती) तिग्म शस्त्र और अस्त्र हैं, (ब्रह्मसंशिते) जो कि वेदोक्त विधि द्वारा सम्यक्-तीक्ष्ण किये गये हैं, (ताभ्याम्) उन दो द्वारा (जातवेदः) हे जातप्रज्ञ! तू (दुर्हार्दम्) दुष्टहृदय, कपटी (अभिदासन्तम्) उपक्षयकारी, (प्रत्यञ्चम्) हमारे विरोध में गतिवाले (किमीदिनम्) "अब क्या हो रहा है, यह क्या है" इस प्रकार हमारा भेद लेने-वाले "पर गुप्तचर" को (अर्चिषा) अर्चि नामक अस्त्रों के द्वारा (विनिक्ष्व) चुम्बन अर्थात् शस्त्रास्त्र के स्पर्श[2] मात्र द्वारा विनष्ट कर।

[शृङ्गे, तिग्महेती=दो प्रकार के तीक्ष्ण आयुध=अस्त्र और शस्त्र। अभिदासन्तम्=**दसु उपक्षये** (दिवादिः)। प्रत्यञ्चम्=प्रति अर्थात् प्रतिकूल हो कर **"अञ्चु गतौ"** गति करने वाला]।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

अग्नी रक्षांसि सेधति शुक्रशोचिरमर्त्यः। शुचिः पावक ईड्यः॥ २६॥

अर्थ—(अग्निः) अग्रणी प्रधानमन्त्री, जो कि (शुक्रशोचिः) प्रदीप्तप्रकाश वाला है, प्रसिद्ध है, (अमर्त्यः) मरणधर्म रहित है, (शुचिः) आचार-व्यवहार से शुद्ध है, (पावकः) प्रजा को पवित्र करनेवाला है, (ईड्यः) स्तुति के योग्य है, वह (रक्षांसि) राक्षसस्वभाव वालों का (सेधति) निवारण करता है।

[अमर्त्यः=शुद्धाचारी होने से दीर्घायुष्य वाला]।

सूक्त ४

विषय-प्रवेश

(१) सूक्त ४ के मन्त्र २५। इन्द्र और सोम का वर्णन।

(२) इन्द्र है सम्राट्, और सोम है सेनाध्यक्ष, जो कि सेना के आगे-आगे चलता है (मन्त्र १)।

(३) ब्रह्मद्वेषी के प्रति द्वेषधारण करना (मन्त्र २)।

१-२. चुम्बन स्पर्श मात्र ही होता है। **णिक्ष चुम्बने** (भ्वादिः)।

(४) दुष्कर्मियों को गहरे अन्धेरे गढ़े या कूप में डाल कर बीन्धना (मन्त्र ३)।

(५) मांसभक्षकों की पसलियों, छाती को बीन्धना (मन्त्र ५)।

(६) इन्द्र और सोम को वेदोक्त सन्मति प्रदान (मन्त्र ६)।

(७) झूठे दोषारोपणों द्वारा पवित्रमन वाले शासक के निन्दक को विद्यमान न रहने देना (मन्त्र ८,९)।

(८) चौर्यकर्म करने वाले चोर को दण्ड (मन्त्र १०)।

(९) सत्य और असत्य वचनों की परख (मन्त्र १२), तथा असद्-वक्ता को दण्ड (मन्त्र १३, १४)।

(१०) झूठा दोषारोप करने वाले को निज परिवार से पृथक् कर देना (मन्त्र १५)।

(११) शत्रु प्रेषित गुप्तचर-स्त्री को गहरे कूप में डालकर पत्थरों द्वारा मार डालना (मन्त्र १७)।

(१२) उल्लू आदि की चाल वालों को सम्राट् मार डाले (मन्त्र २२)।

(१३) यातना देने वाले मायावी पुरुष और स्त्री को सम्राट् ग्रीवाछेद दण्ड दे (मन्त्र २४)।

विशेष

वैदिक दण्ड-विधान उग्र है। इसके होते राजकर्मचारी तथा प्रजावर्ग अनाचार, भ्रष्टाचार तथा चौर्य आदि दुष्कर्मों से बचे रहते हैं, और नर्म दण्डों के होते अनाचार आदि की वृद्धि हो जाती है। उग्र दण्डों का यह परिणाम था कि निज जनपदव्यापी सदाचार तथा सात्त्विक वृत्ति के आधार पर केकय जनपद का महाराज यह उद्घोषित कर सका था कि—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।

नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥ छान्दोग्य उपनिषद् अध्या० ५। खण्ड ११।

तथा महाभारत में उद्घोषित हुआ था कि पुराकाल में—

न राज्यं नैव राजासीद् न दण्डो न च दाण्डिकः।

धर्मेणैव प्रजाः सर्वाः वर्तन्ते स्म परस्परम्॥

सूक्त ४

ऋषिः—**चातनः**॥ देवता—**इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**जगती**॥

इन्द्रासोमा तपतं रक्ष उब्जतं न्यर्पयतं वृषणा तमोवृधः।

परा शृणीतमचितो न्योषतं हतं नुदेथां नि शिशीतमत्त्रिणः॥ १॥

अर्थ—(इन्द्रासोमा[१]) हे परमैश्वर्य वाले सम्राट्! तथा सेना के प्रेरक सेनाध्यक्ष! तुम दोनों (रक्षः) राक्षसवर्ग को (तपतम्) तपाओ, (उब्जतम्) उसे ऋजु कर्मों वाला करो। (वृषणा) हे बाणों की वर्षा करने वालो! (तमोवृधः) तमोगुण के बढ़ाने वालों को (न्यर्पयतम्) हमारे प्रति समर्पित करो। (अचितः) इन अज्ञानी, (अत्रिणः) माँसभक्षकों को (परा शृणीतम्) हमारे राष्ट्र से परे करके विशीर्ण करो, (न्योषतम्) नितरां दग्ध करो, (हतम्) मार डालो, (नुदेथाम्) धकेल दो, (निशिशीतम्) नितरां जीर्ण-शीर्ण कर दो।

---

१. सूक्त ४ में सम्राट् की देखभाल में सैनिक-शासन का वर्णन हुआ है।

[वेदों में इन्द्र को क्षत्रिय कहा है, तथा अग्नि को ब्राह्मण। युद्धप्रकरण में सोम है सेनाध्यक्ष या सेनानायक, जो कि सेना के अग्रभाग में स्थित हुआ सेना का नयन करता है। यथा "**इन्द्र आसां नेता बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञः पुर एतु सोमः**" (यजुः० १७.४०) में सोम को "पुरः एतु" कहा है। मन्त्र में "राक्षससेनावर्ग" को राक्षस-कर्मों से हटाने के लिए विविध निर्देश दिए हैं। इन्द्रः="**इन्द्रश्च सम्राट्**" (यजुः० ८.३७)]।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

इन्द्रासोमा समघशंसमभ्य१घं तपुर्ययस्तु चरुरग्निमाँ इव।

ब्रह्मद्विषे क्रव्यादे घोरचक्षसे द्वेषो धत्तमनवायं किमीदिने॥ २॥

अर्थ—(इन्द्रासोमा) हे सम्राट् तथा सेनाध्यक्ष! (अघशंसम्) पाप की प्रशंसा करने वाले, (अघम्) पापी के (अभि) प्रति (तपुः) सन्तापी-अस्त्र (सम् ययस्तु) सम्यक्तया प्राप्त हो, (इव) जैसे कि (चरुः) चावल पकाने वाला माण्ड (अग्निमान्) अग्निवाला हो जाता है, अग्नि द्वारा सन्तप्त हो जाता है। तथा (ब्रह्मद्विषे) वेद और परमेश्वर के द्वेषी के लिए, तथा (क्रव्यादे) मांसभक्षक के लिए, और (घोरचक्षसे) भयङ्कर दृष्टि वाले, तथा (किमीदिने) भेद लेने वाले गुप्तचर के लिए (अनवायम्) विना व्यवधान अर्थात् सदा (द्वेषः धत्तम्) द्वेष धारण करो।

[पापी को तो सन्तापी अस्त्र द्वारा सन्तप्त करने, और ब्रह्मद्वेषी आदि के प्रति सदा द्वेष रखने का विधान हुआ है]।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

इन्द्रासोमा दुष्कृतो वव्रे अन्तरनारम्भणे तमसि प्र विध्यतम्।

यतो नैषां पुनरेकश्चनोदयत्तद्वामस्तु सहसे मन्युमच्छवः॥ ३॥

अर्थ—(इन्द्रासोमा) हे सम्राट् तथा सेनाध्यक्ष! (दुष्कृतः) दुष्कर्मियों को (वव्रे अन्तः) कूप के अन्दर, (अनारम्भणे तमसि) आलम्बन रहित तम में (प्र विध्यतम्) बींधो। (यतः) जहां से (एषाम्) इन में से (एकः चन) एक भी (पुनः) फिर (न उदयत्) न ऊपर आए, तथा (वाम्) तुम दोनों का (तद्) वह (मन्युमत् शवः) क्रोधसंवलित बल (सहसे) उन के पराभव के लिए (अस्तु) हो।

["**वव्रः कूपनाम**" (निघं० ३.२३)। कूप अन्धकारमय हो। कूप में इन्हें फैंक कर, या डाल कर, वाण आदि इन्हें बींध डालने का विधान हुआ है। यह राजनैतिक दण्ड है, जो कि राजपुरुषों द्वारा दिया जाता है। प्रत्येक नागरिक को दण्ड देने का अधिकार नहीं। "**शवः बलनाम**" (निघं० २.९)।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

इन्द्रासोमा वर्तयतं दिवो वधं सं पृथिव्या अघशंसाय तर्हणम्।

उत्तक्षतं स्वर्य१ पर्वतेभ्यो येन रक्षो वावृधानं निजूर्वथः॥ ४॥

अर्थ—(इन्द्रासोमा) हे सम्राट् तथा सेनाध्यक्ष! (अघशंसाय) पाप की प्रशंसा करने वाले के प्रति (तर्हणम्) उसके हिंसक (वधम्) आयुध को (दिवः) द्युलोक से, (उत्) तथा (पृथिव्याः) अन्तरिक्ष से (संवर्तयतम्) युगपत् गिराओ तथा फैंको तथा (पर्वतेभ्यः) पर्वतों से (स्वर्यम्) शब्द करने वाले उपतापी आयुध को (उत् तक्षतम्) अच्छी प्रकार घड़ो, निर्मित करो, (येन) जिस द्वारा (वावृधानम्) बढ़े

हुए (रक्षः) राक्षस-वर्ग को (निजूर्वथः) तुम हिंसित करते हो।

[इस आयुध के लिए देखो (मन्त्र ५)। स्वर्यम्=**स्वृ शब्दोपतापयोः** (भ्वादिः)। तर्हणम्=**तृह हिंसायाम्** (रुधादिः)। निजूर्वथः=**जर्वति वधकर्मा** (निघं० २.१९)। **पृथिवी अन्तरिक्षनाम** (निघं० १.३)]।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

इन्द्रासोमा वर्तयतं दिवस्पर्यग्नितप्तेभिर्युवमश्महन्मभिः।

तपुर्वधेभिरजरेभिरत्रिणो नि पर्शाने विध्यतं यन्तु निस्वरम्॥ ५॥

अर्थ—(इन्द्रासोमा) हे सम्राट् तथा सेनाध्यक्ष! (युवम्) तुम दोनों (दिवस्परि) द्युलोक से [आयुधों को] (वर्तयतम्) फैंको, तथा (अग्नितप्तेभिः) अग्नि की तरह या अग्नि द्वारा प्रतप्त, (अश्महन्मभिः) पत्थररूपी हथियारों द्वारा और (अजरेभिः) नये (तपुर्वधेभिः) प्रतप्त आयुधों द्वारा (अत्रिणः) मांस-भक्षकों को (पर्शाने) उन की पसलियों पर (विध्यतम्) उन्हें बींधो और वे (निस्वरम्=निःस्वरम्) विना चिल्लाए (यन्तु) चल बसें, मर जाएँ।

[दिवः=अन्तरिक्ष के ऊपर के स्थान अर्थात् द्युलोक से। पृथिवीस्थ अत्रियों पर अन्तरिक्ष से, तथा विमानों द्वारा युद्ध करने वालों पर द्युलोक से आयुध फैंको। निस्वरम्=निःस्वरम् (सायण)। अश्महन्मभिः=अश्मा, अयःसार। **अयःसारमयैर्हननसाधनैरायुधैः** (सायण)]।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

इन्द्रासोमा परि वां भूतु विश्वत इयं मतिः कक्ष्याश्वेव वाजिना।

यां वां होत्रां परिहिनोमि मेधयेमा ब्रह्माणि नृपती इव जिन्वतम्॥ ६॥

अर्थ—(इन्द्रासोमा) हे सम्राट् और सेनाध्यक्ष! (इयम्, मतिः) यह मति, (विश्वतः) सब ओर से, (वाम्) तुम दोनों की (परिभूतु) हो, (इव) जैसे कि (कक्ष्या) पेटी (वाजिना) बलवान् (अश्वा) दो अश्वों की कक्षाओं के सब ओर लिपटी होती है। (वाम्) तुम दोनों के लिए (याम्) जिस (होत्राम्) वेदवाणी को, (मेधया) विचार पूर्वक, (परिहिनोमि) तुम्हारी वृद्धि के लिए मैं प्रेरित करता हूँ, (इमा ब्रह्माणि) इन वेदमन्त्रों अर्थात् वेदवाणियों को (जिन्वतम्) आप दोनों प्रीतिपूर्वक स्वीकार करो (इव) जैसे कि (नृपती) प्रजाओं के दो अधिपति इन्हें प्रीतिपूर्वक स्वीकार करते हैं।

[मति है सन्मति, वेदोक्तज्ञान, जिसे कि मेधापूर्वक, विचारपूर्वक इन्द्र और सोम को दिया है। होत्रा=वेदवाणी "**होत्रा वाङ्नाम**" (निघं० १.११)। हिनोमि=**हि गतौ वृद्धौ च** (स्वादिः)। जिन्वतम्=**जिवि प्रीणनार्थः** (भ्वादिः)। इन्द्रासोमा तथा नृपती="**इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा**" (यजुः० ८.३७)। सम्राट् का अर्थ है "सम्+राट्" अर्थात् संयुक्त-राष्ट्रों का अधिपति। वरुण है राजा, अर्थात् एक राष्ट्र का अधिपति। राजाओं को वरुण इसलिए कहते हैं कि ये राष्ट्रपति मिलकर सम्राट् का वरण करते हैं, चुनाव करते हैं। जैसे सम्राट् और सेनाध्यक्ष को साम्राज्यशासन के लिए मति अर्थात् वैदिक सन्मति, वैदिक सत्-ज्ञान की आवश्यकता है, वैसे प्रत्येक राष्ट्र के वरुण अर्थात् राजा तथा उसके मन्त्रों को भी इसकी आवश्यकता है। राजा और उसके मन्त्री को "नृपती" कहा है।

मेधया परिहिनोमि; इन्द्रासोमा=इन्द्रासोमौ, ये दो हैं सम्राट् और सेनाध्यक्ष। परन्तु वैदिक राजनीति के

अनुसार शासन के लिए "अग्नि" अर्थात् अग्रणी प्रधानमन्त्री की भी आवश्यकता है, जिसका कि वर्णन सूक्त ३ में हुआ है। वह प्रधानमन्त्री ही "इन्द्रासोमौ" और "नृपती" के प्रति कहता है कि "शासन के लिए मैंने जो मेधापूर्वक राजशासन विषयक वेदवाणी या वैदिक मन्त्रों को, तुम्हें सन्मति देने के लिए दिया है, उन्हें तुम प्रीतिपूर्वक स्वीकार करो"]।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

प्रति स्मरेथां तुजयद्भिरेवैर्हतं द्रुहो रक्षसो भङ्गुरावतः।
इन्द्रासोमा दुष्कृते मा सुगं भूद्यो मा कदा चिदभिदासति द्रुहुः ॥ ७ ॥

अर्थ—(तुजयद्भिः) हिंसाकारक (एवैः) गतियों अर्थात् व्यवहारों द्वारा [हिंसाकारी], (प्रति) शत्रु के प्रत्येक व्यवहार का (स्मरेथाम्) तुम दोनों स्मरण करो, और (द्रुहः) द्रोहकारी (भङ्गुरावतः) भङ्गुर हो जाने वाले (रक्षसः) राक्षस स्वभाव वाले [शत्रु राजा] का (हतम्) तुम दोनों हनन करो। (इन्द्रासोमा) हे सम्राट् तथा सेनाध्यक्ष! (दुष्कृते) दुष्कर्मी राक्षस [शत्रु राजा] को (सुगम्) सुगम जीवन का सुख (मा भूत्) न हो, (यः) जो (द्रुहुः) दुष्कृत द्रोही कि (मा) मेरा (कदाचित्) कभी भी (अभि दासति) उपक्षय करता है। एवैः=अयनैः [व्यवहारैः] (निरुक्त २.७.२५; १२.२.२३)।

[राष्ट्र या साम्राज्य के अधिकारी, एक बार भी हिंसा करने वाले परराष्ट्र के दुष्कर्म को न भूलें, अपितु उसका स्मरण कर हिंसक के विनाश के लिए यत्न करें। तुजयद्भिः=**तुज हिंसायाम्** (भ्वादिः)। एवैः=**इण् (गतौ)**+वन् (उणा० १.१५२)। "मा" का अभिप्राय है प्रधानमन्त्री। साम्राज्य का उपक्षय, प्रधानमन्त्री का उपक्षय है]।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यो मा पाकेन मनसा चरन्तमभिचष्टे अनृतेभिर्वचोभिः।
आप इव काशिना संगृभीता असन्नस्त्वासत इन्द्र वक्ता ॥ ८ ॥

अर्थ—(पाकेन मनसा) परिपक्व या पवित्र मन से (चरन्तम् [शासन कार्य में] विचरते हुए (मा) मुझे [प्रधानमन्त्री को] (यः) जो (अनृतेभिः वचोभिः) अनृतभाषणों द्वारा (अभिचष्टे) निन्दनीय देखता है, वह (असतः वक्ता) असत्य या अविद्यमान वस्तु का वक्ता, (इन्द्र) हे सम्राट्! (असन् अस्तु) विद्यमान न रहे नष्ट हो जाए, (इव) जैसे कि (काशिना) मुट्ठी द्वारा (संगृभीताः आपः) संग्रह किये गये जल [मुट्ठी के छिद्रों से बहकर अविद्यमान हो जाते हैं]।

[काशि=मुष्टि, मुट्ठी (निरुक्त० ६.१.१)। "**चष्टे पश्यतिकर्मा**" (निघं० ३.११)]।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ये पाकशंसं विहरन्त एवैर्ये वा भद्रं दूषयन्ति स्वधाभिः।
अहये वा तान्प्रददातु सोम आ वा दधातु निर्ऋतेरुपस्थे ॥ ९ ॥

अर्थ—(ये) जो (पाकशंसम्) परिपक्व विचारों तथा पवित्र कर्मों के कथन करने वाले मुझ को, (एवैः) निज व्यवहारों द्वारा (विहरन्ते) कर्त्तव्यों से विहृत अर्थात् पराङ्मुख कर देते हैं, (वा) या (ये) जो (स्वधाभिः) स्वनिहित कुसंस्कारों के कारण (भद्रम्) [मेरे] भद्रकर्म को (दूषयन्ति) दूषित कर्म कहते हैं, (तान्) उन्हें (सोमः) सेनाध्यक्ष [मन्त्र १] (वा) या तो (अहये) सांप के लिए (प्रददातु)

प्रदान करे, (वा) अथवा (निर्ऋतेः) कृच्छ्रापत्ति की (उपस्थे) गोद में (आदधातु) स्थापित करे।

[विहरणम्=(Taking away) (आप्टे)। इवैः=**इण् गतौ+वन्** (उणा० १.१५२), तथा मन्त्र (७)।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यो नो रसं दिप्सति पित्वो अग्ने अश्वानां गवां यस्तनूनाम्।

रिपु स्तेन स्तेयकृद्दभ्रमेतु नि ष हीयतां तन्वा३ तना च॥ १०॥

अर्थ—(यः) जो (नः) हमारे (अश्वानाम्) अश्वों के (गवाम्) गौओं के (अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्री! (यः) जो (तनूनाम्) हमारे पुत्रादि के शरीरों सम्बन्धी (रसम्) पेय रस को (पित्वः) और खाद्य अन्न को (दिप्सति) दम्भ पूर्वक [आत्मसात् करना] चाहता है, (सः) वह (रिपुः) शत्रु (स्तेनः) चोर और (स्तेयकृत्) चोरी करने वाला, (दभ्रम्) रस और अन्न की अल्पता को (एतु) प्राप्त हो, (च) और (तन्वा) निज तनू से तथा (तना) सन्तानों से (निहीयताम्) विहीन हो जाए।

[दभ्रम्=Little, small (आप्टे)। तना=**तनु विस्तारे**+क्विप्+तृतीयैकवचन। सन्तान द्वारा विहीन हो जाए। हमारे शरीर तथा सन्तानें परम्परा प्राप्त वीर्य और रजस् के विस्तार रूप ही हैं। सन्तानों से विहीन होने का अभिप्राय है कि वह सन्तानों से मिल न सके। तथा वह रस और अन्न की अल्पता के कारण निर्बल होता-होता मृत्यु को प्राप्त हो जाय]।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

परः सो अस्तु तन्वा३ तना च तिस्रः पृथिवीरधो अस्तु विश्वाः।

प्रति शुष्यतु यशो अस्य देवा यो मा दिवा दिप्सति यश्च नक्तम्॥ ११॥

अर्थ—(सः) वह (तन्वा) निज शरीर से (च) और (तना) सन्तानों से (परः अस्तु) परे हो जाए, [अथवा] (विश्वाः) सब (तिस्रः पृथिवीः) तीन पृथिवियों से (अधः) नीचे (अस्तु) हो जाए तथा (अस्य) इसका (यशः) यश (प्रति शुष्यतु) सूख जाए, मिट जाए, (देवाः) हे साम्राज्य के दिव्य अधिकारियो! (यः) जो (मा) मुझे (दिवा) दिन में (यः च) और जो (नक्तम्) रात में (दिप्सति) धोखा देना चाहता है, या मार देना चाहता है।

[परः=परदेश निकाला, स्वदेश से निकाल देना। इस प्रकार वे स्व-शरीर की दृष्टि से स्वदेश से परे हो जाता है, और सन्तानों से भी परे हो जाता है। सन्तानें तो स्वदेश में ही रहती हैं।

तिस्रः पृथिवीः=(१) पर्वतीय अधित्यका, उच्चभूमि। (२) पर्वतीय उपत्यका, पादभूमि। (३) तथा समतल भूमि। इन से अधोभूमि=कबर, भूमि खोद कर निर्मित गड्ढा]।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते।

तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत्॥ १२॥

अर्थ—(चिकितुषे, जनाय) ज्ञानी जन के लिए (सुविज्ञानम्) सुगमता से ज्ञेय है कि (सत् च असत् च वचसी) सद्वचन [सत्यवचन] और असद् वचन [असत्यवचन] (पस्पृधाते) परस्पर स्पर्धा करते हैं। (तयोः) उन दोनों वचनों में (यत्) जो (सत्यम्) सत्य है, (यतरत्) जो कि (ऋजीयः) अपेक्षया

अधिक ऋजु है, (तत् इत्) उस अधिक ऋजु की (सोमः) सोम (अवति) रक्षा करता है, और (असत्) असत् [असत्य] का (आ हन्ति) पूर्णतया हनन करता है।

[मन्त्र (८) में अनृत वचनों का कथन हुआ है। अनृत वचनों की पहचान के लिए मन्त्र (१२) में अनृत और सत्य की पहचान का वर्णन हुआ है। ज्ञानी जन सुगमता से जान लेता है। ''सत्'' वह वस्तु है जिसकी वस्तुतः सत्ता है; उसे ''सत्य'' कहा है। और ''असत्'' वह है जिसकी वस्तुतः सत्ता नहीं; उसे असत्य कहा है, क्योंकि असत् की सत्ता कल्पित होती है, वस्तुतः सत्ता नहीं होती। इन दोनों में ''सत्य'' अधिक ''ऋजु'' होता है, सीधे मार्ग वाला होता है, और ''अनृत'' कुटिल अर्थात् टेढ़े मार्ग का होता है। सत्य के कथन के लिए कल्पित बातें नहीं बनानी होतीं, परन्तु असत्य के कथन के लिए कई कल्पित बातों का मिश्रण करना पड़ता है। इसलिए सत्य का मार्ग ऋजु है, और असत्य का मार्ग अनृजु है। राष्ट्र का साम्राज्य प्रकरण में, सोम है सेनाध्यक्ष, जिससे कि शासन का वर्णन सूक्त (४) में हो रहा है। वह सेनाध्यक्ष, प्रजोन्नति की दृष्टि से सत्यवादी की तो रक्षा करता है, और असत्यवादी का पूर्णतया हनन। इस प्रकार सत्य की रक्षा और असत्य का हनन हो जाता है। ज्ञानीजन जब आत्मनिरीक्षण करता है तो वह अनुभव कर लेता है कि मैं जो कथन कर रहा हूँ, वह सत्य है, या असत्य। लाभ और हानि की दृष्टि से सत्यवचन और असत्यवचन में परस्पर स्पर्धा होती रहती है, यह सर्वसाधारण अनुभूतियों का विषय है]।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

न वा उ सोमो वृजिनं हिनोति न क्षत्रियं मिथुया धारयन्तम्।

हन्ति रक्षो हन्त्यासद्वदन्तमुभाविन्द्रस्य प्रसितौ शयाते॥ १३॥

अर्थ—(सोमः) सेनाध्यक्ष (वै उ) निश्चय से (वृजिनम्) पाप और पापी को (न) नहीं (हिनोति) बढ़ाता या बढ़ने देता, तथा (मिथुया) मिथ्या अर्थात् असत्य को (धारयन्तम्) धारण करने वाले (क्षत्रियम्) क्षत्रिय को (न [हिनोति]) नहीं बढ़ाता या बढ़ने देता। (रक्षः) राक्षसस्वभाव वाले अर्थात् प्रजाभक्षक का (हन्ति) सोम हनन करता है, तथा (असत् वदन्तम्) असत्यवादी का (आ हन्ति) पूर्णतया हनन करता है। (उभौ) ये दोनों (इन्द्रस्य) सम्राट् के (प्रसितौ) बन्धन अर्थात् बन्दीगृह में (शयाते) शयन करते हैं। प्रसितिः=प्र+**षिञ् बन्धने**+तिः।

[उभौ=पापी और मिथ्याचारी क्षत्रिय; तथा रक्षः और असत्यवादी। शयाते=सम्भवतः दीर्घनिद्रा में शयन अर्थात् मृत्यु; अथवा बन्दीगृह]।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

यदि वाहमनृतदेवो अस्मि मोघं वा देवाँ अप्यूहे अग्ने।

किमस्मभ्यं जातवेदो हृणीषे द्रोघवाचस्ते निर्ऋथं सचन्ताम्॥ १४॥

अर्थ—(अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्री! (यदि वा) यदि (अनृतदेवः अहम् अस्मि) अनृत को देव मानने वाला मैं हूँ, (वा) अथवा (मोघम्) व्यर्थ में (देवान्) विजिगीषु सैनिकों या राष्ट्रव्यवहार सम्बन्धी अधिकारियों को (अपि ऊहे) मैंने अर्दित किया है, हिंसित किया है तो (हृणीषे) मुझे लज्जित या अपमानित कर, या मुझ पर क्रोध कर, परन्तु [इनके न होते] (किम्) क्यों (जातवेदः) हे प्रज्ञाशील!

(अस्मभ्यम्) हमारे लिए [हृणीषे] तू क्रोध करता या हमें लज्जित, अपमानित करता है, (द्रोघवाचः) द्रोहवादी (ते) तुझ द्वारा निर्दिष्ट (निर्ऋथम्) निर्ऋति अर्थात् कृच्छ्रापत्ति को (सचन्ताम्) प्राप्त हों।

[ऊहे=**उहिर् अर्दने** (भ्वादिः)। **अर्द हिंसायाम्** (चुरादिः)। हृणीषे=**हृणीङ् रोषणे लज्जायाञ्च** (कण्ड्वादिः); तथा **हृणिः क्रोधनाम** (निघं० २.१३); **हृणीयते क्रुध्यतिकर्मा** (निघं० २.१२)। देवान्=**दिवु क्रीडा, विजिगीषा, व्यवहार** आदि (दिवादिः)। "अनृत देव" का अभिप्राय है अनृतभाषण, अनृतव्यवहार को ही निज देव मान कर तदनुकूल व्यवहार करना।

समग्र चतुर्थ सूक्त में इन्द्र और सोम का वर्णन है। इन्द्र है सम्राट् तथा सोम है सेनाध्यक्ष। इन से अतिरिक्त अग्नि द्वारा अग्रणी-प्रधानमन्त्री का भी वर्णन चतुर्थ सूक्त में हुआ है। मन्त्र में सैनिकशासन का वर्णन है। इसलिए प्रधानमन्त्री के प्रति सेनाध्यक्ष कहता है कि सैनिकशासन काल में यदि मैंने कोई अनृतव्यवहार किया है, या सैनिकों तथा अन्य शासकरूपी देवों के साथ कोई अनुचित व्यवहार किया है तो तू मुझे लज्जित या अपमानित कर, और मुझ पर क्रोध प्रकट कर, परन्तु जिस किसी अधिकारी ने मुझ पर "यातुधान" होने का आरोप किया है, यदि वह आरोप न्यायालय द्वारा असत्य सिद्ध हो जाए तो उसे तू मन्त्रोक्त दण्ड प्रदान कर। यातुधान=यातना का निधान, यातना देने वाला। "न्यायालय" इसलिए कि वेदानुसार दण्डविधान न्यायालय द्वारा होता है। इसलिए कहा है कि **"धर्माय सभाचरम्" [आलभते]** (यजुः० ३०.६); धर्माय=राजधर्म की व्यवस्था के लिए, राजा सभाचर अर्थात् (मुख्य न्यायाधीश) को प्राप्त करे। सभा=न्यायाधीशों की सभा]।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अ॒द्या मु॑रीय॒ यदि॑ यातु॒धानो॒ अस्मि॒ यदि॒ वायु॑स्त॒तप॒ पूरु॑षस्य।
अधा॒ स वी॒रैर्द॒शभि॒र्वि यू॑या॒ यो मा॒ मोघं॒ यातु॑धा॒नेत्याह॑॥ १५॥

अर्थ—(अद्य) आज (मुरीय) मैं मर जाऊं (यदि) यदि (यातुधानः) यातना देने वाला (अस्मि) मैं हूँ, (यदि वा) अथवा यदि (पूरुषस्य) किसी पुरुष के (आयुः) जीवन को (ततप) मैंने संतप्त किया है। (अधा) तथा (सः) वह (दशभिः वीरैः) १० पुत्रों से (वियूयाः) वियुक्त हो जाए (यः) जो कि (मा) मुझे (मोघम्) व्यर्थ में (आह) कहता है (यातुधान इति) कि हे "यातुधान"! अर्थात् जो मुझ पर यातुधान होने का दोषारोपण करता है। यातुधान=यातनाओं का निधान।

[वियूयाः=पुरुषव्यत्यय हुआ है। मन्त्र में साम्राज्य के संविधान के अनुसार [सोम] सेनाध्यक्ष कहता है कि मैं आज ही मर जाऊं, अर्थात् मुझे आज ही मृत्युदण्ड दिया जाए, यदि मैं अपराधी हूँ। तथा वह व्यक्ति जो कि साम्राज्य के न्यायाधीश के सामने मुझ पर यातुधान होने का आरोप करता है, यदि वह आरोप असत्य निर्णीत हो जाए तो आरोपकर्त्ता को १० पुत्रों के सदा के लिए वियुक्त करने का दण्ड दिया जाए, अर्थात् उसे मृत्युदण्ड दिया जाए या पुत्रों से अलग कर दिया जाए। १० पुत्र इसलिए कहा कि वेदाज्ञा के अनुसार गृहस्थी को १० पुत्र उत्पन्न करने की स्वतन्त्रता दी है, इससे अधिक की नहीं। यथा **"दशास्यां पुत्रानाधेहि पतिमेकादशं कृधि"** (ऋग्वेद १०.८५.४५)। व्याख्येय मन्त्र में शपथ और अभिशाप का वर्णन प्रतीत नहीं होता, अपितु प्रकरणानुसार वैदिक-न्यायालय में सेनाध्यक्ष द्वारा अभियोग मात्र का वर्णन है। यदि प्रकरण का ध्यान न कर मन्त्र पर विचार किया जाए तो मन्त्र में शपथ और अभिशाप की प्रतीति अवश्य होती है]।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यो मायातुं यातुधानेत्याह यो वा रक्षाः शुचिरस्मीत्याह।

इन्द्रस्तं हन्तु महता वधेन विश्वस्य जन्तोरधमस्पदीष्ट॥ १६॥

अर्थ—(यः) जो (अयातुम्, मा) यातना न देने वाले मुझ को (यातुधान इति आह) हे यातुधान! इस प्रकार कहता है, सम्बोधित करता है, (वा) तथा (यः रक्षाः) जो राक्षस स्वभाव वाला अपने आप को (आह) कहता है कि (शुचिः अस्मि इति) मैं पवित्र हूँ, (तम्) उस उभयविध को (इन्द्रः) सम्राट् (महता वधेन) वधकारी महास्त्र द्वारा (हन्तु) मार डाले, (विश्वस्य जन्तोः) सब जन्मधारियों से (अधमः) निकृष्ट वह (पदीष्ट) पतन करे, नष्ट हो जाए।

[वर्तमान मन्त्र में भी मन्त्र (१५) की भावना है]।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्र या जिगाति खर्गलेव नक्तमप द्रुहुस्तन्वं गूहमाना।

वव्रमनन्तमव सा पदीष्ट ग्रावाणो घ्नन्तु रक्षस उपब्दैः॥ १७॥

अर्थ—(या[१]) जो (द्रुहुः) द्रोहकारिणी शत्रुरूपी (तन्वम्) निज स्वरूप को (अप गूहमाना) छिपाती हुई (नक्तम्) रात में (खर्गला इव) उलूकिनी की तरह (प्र जिगाति[२]) गति करती है [हमारे नगर में] (सा) वह (अनन्तम्[३]) गहरे (वव्रम्) कूप में (अव) अधोमुखी हुई (पदीष्ट) गिरा दी जाए, और (ग्रावाणः) पत्थर (उपब्दैः[४]) ध्वनियों सहित (रक्षसः) ऐसी राक्षसी स्त्रियों को (घ्नन्तु) मार डालें।

[यह शत्रुस्त्री गुप्तचरी है, जो किसी महाव्यक्ति को मारने तथा भेद लेने के लिए शत्रु द्वारा भेजी जाती है। ऐसी स्त्री या अन्य गुप्तचर पुरुष को जो कि शत्रुराष्ट्र द्वारा प्रेषित होता है, गहरे कूप में अधोमुख करके गिरा कर, पत्थरों का पत्थर, ध्वनि करते हुए, गिरा कर, मार देने का विधान हुआ है। "**वव्रः कूपनाम**" (निघं० ३.२३)। खर्गला=जिसके "गले" की आवाज "खर" है, कठोर रूप है। खर्गल=उलूक]।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

वि तिष्ठध्वं मरुतो विक्ष्वी३च्छत गृभायत रक्षसः सं पिनष्टन।

वयो ये भूत्वा पतयन्ति नक्तभिर्ये वा रिपो दधिरे देवे अध्वरे॥ १८॥

अर्थ—(मरुतः) हे सैनिको! तुम विक्षु) प्रजाजनों में (वि तिष्ठध्वम्) विविध स्थानों में स्थित हो जाओ, (रक्षसः) राक्षसस्वभाव वाले गुप्तचरों को (इच्छत) मार देने का संकल्प करो, (गृभायत) इन्हें पकड़ो, (सं पिनष्टन) और सम्यक्तया पीस डालो। तथा (ये) जो शत्रु सैनिक (वयो भूत्वा) पक्षी होकर अर्थात् वैयक्तिक विमानों द्वारा उड़ कर (नक्तभिः) रात्रियों में (पतयन्ति) उड़ते हैं, या उड़ कर आ जाते हैं; (ये वा) अथवा जो (देवे अध्वरे) हमारे दिव्य-हिंसारहित यज्ञ के सम्बन्ध में, या राष्ट्ररूप यज्ञ के सम्बन्ध में, (रिपः) हिंसाभावनाओं को (दधिरे) चित्तों में धारण करते हैं [उन्हें पकड़ो और पीस डालो]।

---

१. अथवा "या"=शत्रुसेना।
२. जिगाति=**गाङ् गतौ**।
३. अनन्तं वव्रम्=अथवा संख्या में अनन्त कूप। शत्रु सेना के बहुसंख्याक सैनिकों को कूपों में गिरा कर मारने के लिये।
४. उपब्दैः=उपवदैः=उपशब्दैः, पत्थरों की बौछार में पत्थरों के परस्पर टकराने से पैदा शब्द या ध्वनियां। मन्त्र में "रक्षस" पद बहुवचनान्त है। इसलिए "या" का अर्थ "शत्रुसेना" किया है।

[पतयन्ति=अथवा हम पर आक्रमण करते हैं। मरुतः=मरने-मारने में कुशल तथा निर्भीक सैनिक। यथा "**देवसेनानामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम्**" (यजुः० १७.४०) में "मरुतः" ये सैनिक अभिप्रेत हैं। मन्त्र १७ और १८ में एक ही विषय है। रिपः[१]=हिंसाः रिपुताम्, शत्रुताम्]।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

प्र वर्तय दिवोऽश्मानमिन्द्र सोमशितं मघवन्त्सं शिशाधि।

प्राक्तो अपाक्तो अधरादुदक्तो३ऽभि जहि रक्षसः पर्वतेन॥ १९ ॥

अर्थ—(इन्द्र) हे सम्राट्! (दिवः) द्युलोक से (अश्मानम्) पत्थरों को (प्रवर्तय) लुढ़काओ, अर्थात् फैंको, (सोमशितम्) जो कि सेनाध्यक्ष द्वारा तीक्ष्ण किये गये हैं, (मघवन्) हे ऐश्वर्यवान् इन्द्र! (सं शिशाधि) उन्हें सम्यक्तया और तीक्ष्ण करो। (प्राक्तः) पूर्व से, (अपाक्तः) पश्चिम से, (अधरात्) दक्षिण से, (उदक्तः) उत्तर से (पर्वतेन) पर्वतसदृश सुदृढ़ आयुधों के समूह द्वारा (रक्षसः) राक्षस कृत्यों वालों का (अभि) साक्षात् (जहि) हनन कर।

[यदि राक्षस "वयोभूत्वा" (मन्त्र १८) अन्तरिक्ष से प्रहार करें, तो विमानों द्वारा अन्तरिक्ष से भी ऊपर जाकर, द्युलोक से उन पर प्रहार करने का विधान हुआ है। मन्त्र में "अश्मा" द्वारा तीक्ष्ण आयुध अभिप्रेत है, पत्थर नहीं, और पर्वत द्वारा सुदृढ़ आयुधों का समूह अभिप्रेत है। तभी "शितम् और सं शिशाधि" पद सार्थक हो सकते हैं। समग्र सूक्त में सोम पद सेनाध्यक्षार्थ है। पर्वतेन=**पर्ववता वज्रेण** (सायण)। अश्मानम्=**अशनिलक्षणं वज्रम्** (सायण)।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्**॥

एत उ त्ये पतयन्ति श्वयातव इन्द्रं दिप्सन्ति दिप्सवोऽदाभ्यम्।

शिशीते शक्रः पिशुनेभ्यो वधं नूनं सृजदशनिं यातुमद्भ्यः॥ २० ॥

अर्थ—(एते) ये (उ) तथा (त्ये) वे पूर्व वर्णित राक्षस, जो कि (श्वयातवः) कुत्तों के साथ वर्तमान या कुत्तों द्वारा यातना देने वाले (पतयन्ति) विचरते हैं, वे (दिप्सवः) हिंसेच्छुक (अदाभ्यम्) अहिंसनीय (इन्द्रम्) सम्राट् की (दिप्सन्ति) दम्भपूर्वक हिंसा करना चाहते हैं। अतः (शक्रः) शक्तिशाली (पिशुनेभ्यः) खल-श्वयातुओं के लिए (नूनं वधम्) निश्चित मारू आयुध को (शिशीते) तीक्ष्ण करता है, और (यातुमद्भ्यः) यातना वालों के निमित्त (अशनिम्) वैद्युत-वज्र का (सृजत्) सर्जन करता है।

[मन्त्र (१९) में "संशिशाधि" और मन्त्र (२९) में "शिशीते" का अभिप्राय समान है। यातु=यातना (मन्त्र २०)]।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगती**॥

इन्द्रो यातूनामभवत्पराशरो हविर्मथीनामभ्या३ऽविवासताम्।

अभीदु शक्रः परशुर्यथा वनं पात्रेव भिन्दन्त्सत एतु रक्षसः॥ २१ ॥

अर्थ—(यातूनाम्) यातना देने वालों, (हविर्मथीनाम्) हविष्यान्न को मथने वालों तथा (अभि) हमारी ओर (आ=आगत्य) आ कर (विवासताम्) विविध स्थानों में निवास करने वालों को, (इन्द्रः)

१. रिपः=हिंसाः; **री रेषणे हिंसायाम्**, (क्र्यादिः)+पुट्। (उणा० ५.५५)।

सम्राट् (परा शरः) पराङ्मुख करके विनाशकर्त्ता (अभवत्) हुआ है। (शक्रः) शक्तिशाली इन्द्र, (यथा) जैसे (वनम्) वन को (परशुः) कुठार, वैसे (रक्षसः) राक्षसों के (अभि एतु) अभिमुख आए (सतः) प्राप्त हुए राक्षसों को (भिन्दन्) तोड़ता हुआ (पात्रा इव) जैसे कि पात्रों को तोड़ता हुआ [पत्थर या दण्डा] प्राप्त होता है।

[सतः=**तिरः सत इति प्राप्तस्य** (निरुक्त ३.४.२०)। यातूनाम्=यातुधानानाम्। यथा देवदत्तो, दत्तः]।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र॥ २२॥

अर्थ—(उलूकयातुम्) उल्लू की चाल वाले को, (शुशुलूकयातुम्) अतिशीघ्रता से परद्रव्य का अपहरण कर जीवनयात्रा करने वाले को, (श्वयातुम्) कुत्तों की चाल वाले को, (उत) और (कोकयातुम्) चक्रवाक की तरह व्यवहार वाले को (जहि) मार डाल। (सुपर्णयातुम्) गरुड़ की चाल वाले, (उत) और (गृध्रयातुम्) गीध की चाल वाले (रक्षः) राक्षस को (इन्द्र) हे सम्राट्! तू (प्रमृण) मार डाल, (दृषदा इव) जैसे कि चक्की के पाट द्वारा [चनों को पीसा जाता है]।

[उलूकयातुम्=उल्लू की तरह रात्री में परराष्ट्र में घूमने वाला। शुशुलूकयातुम्=**"शु" इति क्षिप्रनाम** (निरुक्त ६.१.१)। "शुशु" अभ्यास द्वारा अतिशीघ्रता द्योतित की है; लूक=**लुञ्च अपनयने** (भ्वादिः)। परद्रव्य का अपहरण करने वाला। श्वयातुम्=कष्ट देने के लिए शिकारी कुत्तों के साथ विचरने वाला यथा (मन्त्र २०)। कोकयातुम्=चक्रवाक की तरह विषयानुरागी। सुपर्णयातुम्=गरुड़ की तरह शिकार[१] पर झपटने वाला। गृध्रयातुम्=गीध की तरह गर्धा सम्पन्न। दृषदा[२] (अथर्व० २.३१.१)]।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्** ॥

मा नो रक्षो अभि नड्यातुमावदपोच्छन्तु मिथुना ये किमीदिनः।
पृथिवी नः पार्थिवात्पात्वंहसोन्तरिक्षं दिव्यात्पात्वस्मान्॥ २३॥

अर्थ—(नः) हमें (यातुमावद्) यातना देने वाले (रक्षः) राक्षस स्वभाव वाला व्यक्ति [शत्रु] (मा) न (अभिनट्) प्राप्त हो, (ये) जो (किमीदिनः) अब क्या हो रहा है, यह क्या है, इस प्रकार प्रश्नों द्वारा भेद लेने वाले (मिथुनाः) स्त्री-पुरुषरूप राक्षस हैं, वे (अपोच्छन्तु) अपगत हो जाएँ [हमारे राष्ट्र से]। ताकि (पृथिवी) पृथिवी (नः) हमें (पार्थिवात्) पार्थिव पदार्थों के [अभाव से होने वाले] (अंहसः) कष्ट से (पातु) रक्षित करे, और (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष (अस्मान्) हमें (दिव्यात्) दिव्य पदार्थों के [अभाव से होने वाले] कष्ट से (पातु) रक्षित करे।

[अभिनट्=अभि+नश् (व्याप्तिकर्मा, निघं २.१८)। अपोच्छन्तु=अप+**उछी विवासे** (भ्वादिः) किमीदिनः (निरुक्त ६.३.१२)। अंहसः=**अंहतिश्च अंहश्च हन्तेः** (निरुक्त ४.४.२५; पदसंख्या ५७)। मृत्यु या मृत्युसदृश कष्ट। राक्षस उत्पात द्वारा कष्टोत्पादक होते हैं। वे हमारे अन्नों [पार्थिवात्], तथा प्राणवायु [अन्तरिक्ष] को दूषित भी कर देते हैं। उनकी सत्ता कष्टदायक और मृत्यु कारक भी हो जाती

१. गरुड़ सांपों पर झपट्टा मारता है। २. **इन्द्रस्य या मही दृषद् क्रिमेर्विश्वस्य तर्हणी। तथा पिनष्मि संक्रिमीन् दृषदा खल्वाँ इव।** (अथर्व० २.३१.१)। **खल्वान् चणकान्** (सायण)।

है। राक्षसों के न रहने से पृथिवी पार्थिव अन्न प्रदान कर, तथा अन्तरिक्ष दिव्य-प्राणवायु देकर हमारी रक्षा करते हैं। यातुमावत्=यातु (यातना)+मा (ज्ञानम्)+वत् (मतुप्); मा=ज्ञानम् यथा मा, प्रमा प्रमाणम्। अर्थात् यातना विधिविज्ञ]।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

इन्द्र॒ ज॒हि पुमां॑सं यातु॒धान॑मु॒त स्त्रियं॑ मा॒यया॒ शाश॑दानाम्।
विग्री॑वासो॒ मू॒रदे॑वा ऋदन्तु॒ मा ते दृ॑श॒न्त्सूर्य॑मु॒च्चर॑न्तम्॥ २४॥

अर्थ—(इन्द्र) हे सम्राट्! (यातुधानम्) यातनाओं को धारण करने वाला, यातना के निधिभूत (पुमांसम्) पुरुष का, (उत) तथा (मायया) छलकपट द्वारा (शाशदानाम्) हिंसा करने वाली (स्त्रियम्) स्त्री का (जहि) तू हनन कर (मूरदेवाः) मूढ-व्यवहारी या मारण-क्रीडा करने वाले ये (विग्रीवासः) ग्रीवाओं से विगत हुए (ऋदन्तु) नष्ट हो जाएँ और (उच्चरन्तम्) उदित होते हुए (सूर्यम्) सूर्य को (मा) न (दृशन्) देख पाएँ।

[मन्त्र (२३) में मिथुनाः द्वारा स्त्री-पुरुष दोनों का वर्णन हुआ है। मन्त्र (२४) में भी पुमान् और स्त्री दोनों का वर्णन हुआ है। अत्याचारी दोनों को समान दण्ड देने का विधान हुआ है। जिस दिन ये उग्र अपराधी घोषित किए जाएँ उसी दिन इनकी ग्रीवाएँ काट देनी चाहिएँ ताकि अगले दिन के सूर्य का ये दर्शन न कर पाएँ। दण्डप्रदान और अपराध में विशेष व्यवधान न होना चाहिए। अपराध का दण्ड उसी दिन ही हो जाना चाहिए जिस दिन कि अपराध किया गया हो]।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रति॑ चक्ष्व॒ वि च॒क्ष्वेन्द्र॑श्च सोम जागृतम्। रक्षो॑भ्यो व॒धम॑स्यतम॒शनिं॑ यातु॒मद्भ्यः॑॥ २५॥

अर्थ—(सोम) हे सेनाध्यक्ष! तू (प्रति) प्रत्येक राक्षस को (चक्ष्व) दृष्टिगत कर, उस की चेष्टाओं को देख, (वि चक्ष्व) तथा विविध प्रकार के राक्षसों को भी दृष्टिगत कर, उन की चेष्टाओं को देख। तू (च) और (इन्द्रः) सम्राट् (जागृतम्) इन कार्यों में जागरूक रहो। (रक्षोभ्यः) राक्षसों अर्थात् (यातुमद्भ्यः) यातना देने वालों के प्रति (अशनिम् वधम्) वधकारी वैद्युत वज्र (अस्यतम्) फैंको।

[सोम=सेनाध्यक्ष (मन्त्र १)। सेनाध्यक्ष का काम है कि वह प्रत्येक तथा नानाविध उपद्रवकारियों को निज दृष्टि में रखे। साम्राज्य की रक्षा के लिए सेनाध्यक्ष और सम्राट् दोनों को सदा जागरूक अर्थात् सावधान रहना चाहिए। दण्डप्रदान में सेनाध्यक्ष तथा सम्राट् की समान मति होनी चाहिए। ताकि सोम द्वारा दिए दण्ड में क्षमा प्रार्थना पर, सम्राट् दण्ड क्षमा न करे]।

द्वितीय अनुवाक समाप्त ॥

सूक्त ५

विषय-प्रवेश

(१) सूक्त ५, मन्त्र २२। प्रतिसर-मणि का बान्धना और मणि का स्वरूप (मन्त्र १-२२)।
(२) यह मणि वीर है, वीर्यवान् तथा शूरवीर है [सेनाध्यक्ष है] मन्त्र १।
(३) मणि सपत्नों का हननकर्त्ता, वीर, सुवीर तथा उग्र है (मन्त्र २)।
(४) मणि द्वारा मनीषी इन्द्र अर्थात् सम्राट् लोकविजयी होता है (मन्त्र ३)।

(५) मणि स्राकृत्य अर्थात् स्रक् [स्रज्] अर्थात् माला के योग्य है, हमारा रक्षक है (मन्त्र ४, ७, ८)। मणि के विशेषणों द्वारा मणि चेतन-पुरुष है, यह स्पष्ट है, यह काष्ठनिर्मित नहीं।

(६) ९० नदियों का आध्यात्मिक स्वरूप (मन्त्र ९)।

(७) मणिधारण द्वारा शक्तिसंचार आदि (मन्त्र १२-२२)।

(८) सूक्त में सम्राट्, राष्ट्रपति तथा पुरुषमणि-सेनाध्यक्ष की प्रायः चर्चा हुई है।

अनुवाक ३

सूक्त ५

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाद् बृहती** ॥

अयं प्रतिसरो मणिर्वीरो वीराय बध्यते।

वीर्यवान्त्सपत्नहा शूरवीरः परिपाणः सुमङ्गलः ॥ १ ॥

अर्थ—(अयम्) यह (प्रतिसरः) शत्रु के प्रतिसरण करने वाला, (वीरः) वीर, (वीर्यवान्) वीर्यवाला, (सपत्नहा) शत्रुनाशक, (शूरवीरः) शूरवीर, (परिपाणः) सब ओर से रक्षा करने वाला (सुमङ्गलः) उत्तम-मङ्गल करने वाला (मणिः) सेनाध्यक्षरूप पुरुषरत्न (वीराय) वीर राजा के लिए (बध्यते) बांधा जाता है।

[मणि के विशेषण[1] जो मन्त्र में कथित हैं, वे वीर आदि विशेषणों से युक्त सेनाध्यक्ष पुरुषरत्न के लिए सार्थक होते हैं। राष्ट्र का पति राजा भी वीर-क्षत्रिय होना चाहिए (वीराय) "बध्यते" द्वारा वीर राजा और वीर सेनाध्यक्ष के पारस्परिक सम्बन्ध सुदृढ़बद्ध होने चाहिएँ, यह मन्त्राभिप्राय है। मन्त्र में उक्ति न राजा की है, न सेनाध्यक्ष की। उक्ति या तो राष्ट्र के न्यायाध्यक्ष की है, या प्रधानमन्त्री की]।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिपदा विराड् गायत्री** ॥

अयं मणिः सपत्नहा सुवीरः सहस्वान्वाजी सहमान उग्रः।

प्रत्यक्कृत्या दूषयन्नेति वीरः ॥ २ ॥

अर्थ—(अयम् मणिः) यह मणि (सपत्नहा) शत्रु का हनन कर्त्ता, (सुवीरः) उत्तम वीरों वाला, (सहस्वान्) बलवान्, (वाजी) वेग वाला, (सहमानः) पराभवकर्त्ता, (उग्रः) तथा उग्र स्वभाव वाला है। (वीरः) यह वीर (कृत्याः) कर्तन योग्य, छेदन-भेदन करने योग्य शत्रु सेनाओं को (दूषयन्) दूषित करता हुआ (प्रत्यक्) हमारे अभिमुख (एति) आता है।

[मन्त्र में कथित विशेषण वीर सेनाध्यक्ष के सम्बन्ध में चरितार्थ होते हैं, काष्ठनिर्मित मणि के सम्बन्ध में नहीं। दूषयन्—**दुष वैकृत्ये** (दिवादिः) वैकृत्य का अर्थ है विकृति। शत्रुसेना को छिन्न-भिन्न कर भगा देना, और उन्हें तितर-बितर कर देना यह शत्रुसेना को दूषित करना है। प्रत्यक् एति=विजय पाकर सेनाध्यक्ष निज प्रजा के अभिमुख लौटता है। कृत्याः=पृतनाः (मन्त्र ८)]।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**भुरिग् जगती** ॥

अनेनेन्द्रो मणिना वृत्रमहन्ननेनासुरान्पराभावयन्मनीषी।

अनेनाजयद् द्यावापृथिवी उभे इमे अनेनाजयत्प्रदिशश्चतस्रः ॥ ३ ॥

---

१. यदि विशेषणों के अनुरूप विशेष्य व्यक्ति या वस्तु न हो, तो विशेषण गप्प ही होंगे।

अर्थ—(अनेन मणिना) इस सेनाध्यक्षरूपी पुरुषरत्न द्वारा (इन्द्रः) सम्राट् ने (वृत्रम्) साम्राज्य पर घेरा डालने वाले शत्रुदल का (अहन्) हनन किया, (अनेन) इस द्वारा (मनीषी) मनस्वी इन्द्र ने (असुरान्) प्राणशाली शत्रु-सैनिकों को (पराभावयन्) पराभूत किया। (अनेन) इस द्वारा (इमे उभे) इन दोनों (द्यावापृथिवी) द्युलोक-पृथिवीलोक को (अजयत्) उसने जीता, (अनेन) इस द्वारा (चतस्रः प्रदिशः) चार व्याप्त दिशाओं को (अजयत्) उसने जीता।

[क्या मन्त्रोक्त वर्णन काष्ठनिर्मित मणि द्वारा सम्भव है? "राष्ट्रपति" को प्रोत्साहित करने के लिए कहा है कि "इस सेनाध्यक्ष के द्वारा इन्द्र ने भी विजय पाई, इसलिए यह सेनाध्यक्ष" हे राष्ट्रपति! [राजन्] तुझे भी विजयी करेगा। मन्त्र में "मनीषी" पद द्वारा इन्द्र को मनुष्य सूचित किया है। इन्द्र है सम्राट् संयुक्तराष्ट्रों अर्थात् साम्राज्य का अधिपति और (मन्त्र १, २) में वर्णित राजा है एक-राष्ट्र का अधिपति। यथा "**इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा**" (यजुः० ८.३७)। राष्ट्र के राजा को वरुण कहा है। ये सब राष्ट्रपति मिल कर संयुक्तराष्ट्रों के अधिपति सम्राट् का वरण करते हैं, निर्वाचन करते हैं। द्युलोक के विजय का अभिप्राय यह है कि विमानों द्वारा द्युलोक तक जा सकना]।

ऋषिः—**शुक्रः**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अयं स्राक्त्यो मणिः प्रतीवर्तः प्रतिसरः।
ओजस्वान्विमृधो वशी सो अस्मान्पातु सर्वतः॥ ४॥

अर्थ—(अयम्) यह (स्राक्त्यः मणिः) स्राक्त्य-मणि, (प्रतीवर्तः) शत्रुसेना को वापिस मोड़ देता है, (प्रतिसरः) और शत्रुसेना के प्रति सरण करता है। (ओजस्वान्) ओजस् वाला, (विमृधः) शत्रुओं का विमर्दन करने वाला, (वशी) उन्हें वश में करने वाला है, (सः) वह (अस्मान्) हमें (सर्वतः) सब ओर से, या सब प्रकार के भयों से (पातु) सुरक्षित करे।

[स्राक्त्यः=विनियोगकारों के अनुसार सायणाचार्य लिखते हैं कि "**अयं तिलकवृक्षनिर्मितो मणिः**" (मन्त्र १), अर्थात् यह मणि तिलक वृक्ष से निर्मित है, अर्थात् तिलक वृक्ष के फल या काष्ठ से निर्मित है। इस काष्ठनिर्मित मणि में, सूक्त ५ में कथित वर्णन उपपन्न हो सकते हैं, यह असम्भव है। "स्राक्त्य-मणिः" वस्तुतः है स्रक् (स्रज्) अर्थात् माला द्वारा सत्कार योग्य विजयी सेनाध्यक्षरूपी पुरुष-रत्न। इस के सम्बन्ध में ही सूक्तोक्त वर्णन उपपन्न हो सकते हैं। "स्राक्त्य" का वर्णन "स्रक्त्यः" द्वारा [अथर्व० २.११.२] में भी हुआ है। स्राक्त्यः=स्रक्त्य+स्वार्थे अण्। सायणाचार्य ने अथर्व० २.११.२ में भी इसे तिलक वृक्ष द्वारा निर्मित कहा है। यथा "**स्रक्तिस्तिलकवृक्षः तत्र भव स्रक्त्यः**। अथर्ववेद में 'स्रक्त्य' (अथर्व० २.११.२) को 'सूरि' (अथर्व० २.११.४) कहा है। सूरिः का अर्थ सायणाचार्य ने "अभिज्ञः" किया है, अर्थात् ज्ञानी। क्या काष्ठनिर्मित या फलरूप वस्तु ज्ञानी हो सकती है]।

ऋषिः—**शुक्रः**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**भुरिक् संस्तारपङ्क्तिः**॥

तदग्निराह तदु सोम आह बृहस्पतिः सविता तदिन्द्रः।
ते मे देवाः पुरोहिताः प्रतीचीः कृत्याः प्रतिसरैरजन्तु॥ ५॥

अर्थ—(तत्) [१-४ मन्त्रों में उक्त तत्त्व को (अग्निः) अग्रणी प्रधानमन्त्री ने (मे) मुझे (आह) कहा है (तदु) उसे ही (सोमः) सेनाध्यक्ष ने (आह) कहा है, (बृहस्पतिः) बहती सेना के अधिपति

ने, (सविता) सविता ने, (इन्द्रः) सम्राट् ने (तत्) उसे कहा है। (ते) वे (देवाः) दिव्यगुणों वाले अधिकारी (मे) मेरे लिए (पुरोहिताः) पुरोहितरूप में है, या मेरे पुरोगामी रूप में हितकारी हैं, वे (प्रतीचीः) मेरे प्रति आने वाली (कृत्याः) शत्रुसेनाओं को, [मन्त्र ८, पृतनाः,] (प्रतिसरैः) उन के प्रति सरण करने वाले सैनिकों द्वारा (अजन्तु) धकेल दें।

[पूर्व के मन्त्रों में राष्ट्रपति राजा और संयुक्त राष्ट्रों अर्थात् साम्राज्य के अधिपति इन्द्र का वर्णन हुआ है। अग्नि आदि हैं साम्राज्य के अधिकारी और मन्त्रप्रवक्ता है राष्ट्रपति राजा। अग्नि है अग्रणी प्रधानमन्त्री। सोम है सेनाध्यक्ष। बृहस्पति है साम्राज्य की समग्र सेना का अधिपति। सविता है वित्ताधिकारी और इन्द्र है सम्राट्। सविता "**षु प्रसवैश्वर्ययोः**" (भ्वादिः) के अनुसार ऐश्वर्य अर्थात् साम्राज्य के वित्त का अधिकारी है। मन्त्रप्रवक्ता राष्ट्रपति विश्वास प्रकट करता है कि ये साम्राज्याधिकारी युद्धावस्था में मुझे सहायता देकर आक्रान्ताओं को मेरे राष्ट्र से धकेल देंगे। अजन्तु="**अज गतिक्षेपणयोः**" (भ्वादिः)। यहां क्षेपणार्थ में "अज" धातु है। "अजन्तु" में णिजर्थ अन्तर्भावित है]।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाद् बृहती** ॥

अ॒न्तर्द॑धे॒ द्यावा॑पृथि॒वी उ॒ताह॑रु॒त सूर्य॑म्।

ते मे॑ दे॒वाः पु॒रोहि॑ताः प्र॒तीचीः॑ कृ॒त्याः प्र॑तिस॒रैर॑जन्तु॥ ६॥

अर्थ—(द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी को, (उत) तथा (अहः) दिन को, (उत) और (सूर्यम्) सूर्य को (अन्तर्दधे) मैं छिपा देता हूँ, अदृश्य कर देता हूँ। (ते) वे (देवाः) दिव्यगुणों वाले अधिकारी [मन्त्र ५] (मे) मेरे लिए (पुरोहिताः) पुरोहितरूप में हैं, या मेरे पुरोगामीरूप में हितकारी हैं, वे (प्रतीचीः) मेरे प्रति आने वाली (कृत्याः) शत्रु सेनाओं को [मन्त्र ८ पृतनाः], (प्रतिसरैः) उन के प्रति सरण करने वाले सैनिकों द्वारा (अजन्तु) धकेल दें।

[दो प्रकार से, शत्रुसेनाओं द्वारा किये आक्रमण को, विफल किया जा सकता है। (१) द्यावापृथिवी आदि को ढांप दिया जाए, उन्हें अदृश्य कर दिया जाए। (२) साम्राज्य की सहायता द्वारा उन्हें परास्त किया जाए। वेद में तामसास्त्र का वर्णन हुआ है, जिस द्वारा सर्वत्र अन्धकार फैला दिया जाता है, और शत्रुसेना को अपने पराये का भेद ज्ञान न रहने पर वह निज सैनिकों से ही लड़ती हुई परस्पर में विनष्ट हो जाएँ। यथा—

अ॒मीषां॑ चि॒त्तानि॑ प्रतिमो॒हय॑न्ती गृहा॒णाङ्गा॑न्यप्वे॒ परे॑हि।

अ॒भि प्रेहि॒ निर्द॑ह हृ॒त्सु शोकै॒र्ग्राह्या॒मित्रां॒स्तम॑सा विध्य॒ शत्रू॑न्॥ अथर्व० ३.२.५॥

अ॒सौ या सेना॑ मरु॒तः परे॑षाम॒स्मानैत्य॒भ्योज॑सा॒ स्पर्ध॑माना।

तां वि॑ध्यत॒ तम॒साप॑व्रतेन॒ यथै॑षाम॒न्यो अ॒न्यं न जा॒नात्॥ अथर्व० ३.२.६॥

इन दो मन्त्रों से "अप्वा" अस्त्र का वर्णन हुआ है, जो कि "तमसा" शत्रुओं को बींधता है।

अन्तर्दधे=यथा अन्तर्धान हो जाना, छिप जाना, अदृश्य हो जाना। covering, concealment, अन्तर्धानम्= Being invisible (आप्टे)।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**ककुम्मत्यनुष्टुप्** ॥

ये स्रा॒क्त्यं म॒णिं जना॒ वर्मा॑णि कृ॒ण्वते॑। सूर्य॑ इव॒ दिव॑मा॒रुह्य॒ वि कृ॒त्या बा॑धते व॒शी॥ ७॥

अर्थ—(ये) जो (जनाः) प्रजाजन (स्राक्त्यम् मणिं) स्रज् द्वारा सत्कार योग्य पुरुषरत्न [सेनाध्यक्ष] को (वर्माणि) कवचरूप में (कृण्वते) कर लेते हैं, उनकी शात्रवी (कृत्याः) सेनाओं को यह मणि (वि बाधते) विशेषतया नष्ट कर देता है, और (वशी) उन्हें अपने वश में कर लेता है, (इव) जैसे कि (सूर्यः) सूर्य (दिवम् आरुह्य) द्युलोक में आरोहण कर [अन्धकारों को विनष्ट कर देता है]।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**ककुम्मत्यनुष्टुप्** ॥

स्राक्त्येन मणिन ऋषिणेव मनीषिणा।
अजैषं सर्वाः पृतना वि मृधो हन्मि रक्षसः ॥ ८ ॥

अर्थ—(इव) जैसे (मनीषिणा ऋषिणा) मनस्वी ऋषि द्वारा [मैंने निज आसुरी भावनारूपी पृतना पर विजय पाया है] वैसे (स्राक्त्येन) स्रज् द्वारा सत्कार योग्य सेनाध्यक्षरूपी (मणिन) पुरुषरत्न द्वारा (सर्वाः पृतनाः) मैं [राष्ट्रपति राजा] ने सब सेनाओं पर (अजैषम्) विजय पा लिया है। इस प्रकार मैं (मृधः) प्रमाथी (रक्षसः) राक्षसों को (वि हन्मि) विशेषतया मार देता हूँ।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पुरस्कृतिर्जगती** ॥

याः कृत्या आङ्गिरसीर्याः कृत्या आसुरीर्याः कृत्याः स्वयंकृता या उ चान्येभिराभृताः।
उभयीस्ताः परा यन्तु परावतो नवतिं नाव्या३ अति ॥ ९ ॥

अर्थ—(याः) जो (आङ्गिरसीः) अङ्गों से रसों सम्बन्धी (कृत्याः) पृतनाएँ [मन्त्र ८] हैं, (याः) जो (आसुरीः) प्राणों सम्बन्धी (कृत्याः) पृतनाएँ हैं, (याः) जो (स्वयंकृताः) निज संस्कारों द्वारा उत्पन्न की गई पृतनाएँ हैं, (याः उ च) और जो (अन्येभिः) अन्यों की कुसंगति या पैतृकरूप में (आभृताः=आहृताः) प्राप्त हुई हैं, (ताः) वे (उभयीः) दोनों प्रकार की पृतनाएँ (परावतः) दूर से दूर (परायन्तु) हमसे पृथक् होकर चली जाएँ, (नाव्याः) नौका द्वारा पार करने योग्य (नवतिम्) ९० नदियों का (अति) अतिक्रमण करके।

[मन्त्र ८ में दो प्रकार की पृतनाओं, सेनाओं का वर्णन हुआ है, ऋषि द्वारा जेय, तथा सेनापति द्वारा जेय। मन्त्र ९ में भी द्विविध कृत्याओं का वर्णन किया गया है। एक तो शारीरिक अङ्गों के रस सम्बन्धी तथा प्राणों सम्बन्धी; और दूसरी आध्यात्मिक अर्थात् स्वयंकृत, तथा पर कुसंगति द्वारा उपार्जित। आङ्गिरसीः= अङ्गानां रसः अर्थात् शरीर के जो अङ्ग हैं उनके रस। इन रसों में विकार पैदा करने वाली पृतनाएँ हैं रोगोत्पादक रोगकीटाणु=germs तथा आसुरी कृत्याएँ हैं प्राणों में विकारोत्पादक दूषित वायु, जल तथा अन्न। असुः=प्राणः "**असुरिति प्राणनाम अस्तः शरीरे भवति**" (निरुक्त ३.२.८); असु हैं, प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान आदि। अङ्गों के द्रवरस और वायुरूप प्राण-परस्पर भिन्न स्वरूप वाले हैं। शरीर से सम्बन्ध रखने वाली, तथा आचार से सम्बन्ध रखने वाली कृत्याः अर्थात् पृतनाः, ये उभयीः हैं, दो प्रकार की हैं। शरीर सम्बन्धी पृतनाः साक्षात् शरीर पर प्रभाव करती हैं, और आचार सम्बन्धी पृतनाः साक्षात् मन पर प्रभाव करती हैं। नवतिं नाव्याः=मन्त्र में आध्यात्मिक "पृतनाः" का वर्णन हुआ है। ९० नदियाँ भी आध्यात्मिक हैं और नौका द्वारा पार की जा सकती हैं, अतः ये महावेगाः और महाविस्ताराः हैं। शरीर में १० इन्द्रियाँ हैं, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ और पञ्च कर्मेन्द्रियाँ। ये नदियाँ हैं। ज्ञानेन्द्रियों द्वारा बाह्य पदार्थों से उत्पन्न ज्ञान-जल भीतर की ओर प्रवाहित होता है, और कर्मेन्द्रियों द्वारा कर्मरूपी जल भीतर

से बाहर की ओर प्रवाहित होता है। इन दो प्रकार की नदियों का वेग और विस्तार भयावह है। (श्वेता० उप०) में १० इन्द्रियों को "स्रोतांसि" कहा है, अतः ये नदीरूप हैं। तथा इन "स्रोतांसि" को "भयावहानि" भी कहा है, अतः ये नाव्याः हैं, नौका द्वारा पार करने योग्या हैं। इन्हें पार करने के लिए नौका है ब्रह्मोडुप। उडुप है पार करने वाली नौका। ब्रह्मोपासनारूपी नौका द्वारा दशेन्द्रियों की ९० नदियों[1] को पार किया जा सकता है। यथा—

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिरुध्य।

ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि॥ श्वेता० उप० २.८॥

नवतिं नाव्याः=इन्द्रियाँ सत्त्व, रजस्, तथा तमस् गुणों द्वारा निर्मित हुई हैं। प्रकृति के इन तीन गुणों के परस्पर मुख्य, गौण, तथा गौणतररूप में मिश्रित होने पर प्रत्येक इन्द्रिय के ९ स्वरूप होते हैं। इस प्रकार १० इन्द्रियों के ९×१०=९० स्वरूप हो जाते हैं, जो कि ९० नदियाँ हैं। नदियों के ये आध्यात्मिक स्वरूप हैं। इन्हें स्रोतांसि कहा है। प्रत्येक इन्द्रिय के नौ स्वरूप यथा—

१. सत्त्व मुख्य, रजस् गौण, तमस् गौणतर (१ स्वरूप) २. सत्त्व मुख्य, रजस् गौणतर, तमस् गौण (१ स्वरूप) ३. सत्त्व मुख्य, रजस्+तमस् गौण या गौणतर (१ स्वरूप)	= ३ स्वरूप
४. इसी प्रकार रजस् को मुख्य मानकर	= ३ स्वरूप
५. इसी प्रकार तसस् को मुख्य मानकर	= ३ स्वरूप
कुल	= ९ स्वरूप[2]

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अस्मै मणिं वर्म बध्नन्तु देवा इन्द्रो विष्णुः सविता रुद्रो अग्निः।

प्रजापतिः परमेष्ठी विराड् वैश्वानर ऋषयश्च सर्वे॥ १०॥

अर्थ—(अस्मै) इस राष्ट्रपति राजा के लिए (इन्द्रः) इन्द्र (विष्णुः) विष्णु, (सविता) सविता (रुद्रः) रुद्र (अग्निः) अग्नि (प्रजापतिः) प्रजापति (परमेष्ठी) परमेष्ठी, (विराट्) विराट्, (वैश्वानरः) और वैश्वानर (देवाः) ये देव, (च) और (सर्वे) सब (ऋषयः) ऋषि (मणिम्) सेनाध्यक्षरूपी पुरुषरत्न को सुदृढरूप में (बध्नन्तु) सम्बद्ध करें।

[मन्त्र में साम्राज्य के घटक प्रत्येक राष्ट्र के राष्ट्रपति राजा और सेनाध्यक्ष के पारस्परिक सम्बन्ध को

१. विशेष—मन्त्र १-८ तक राजनैतिक विजय का वर्णन हुआ है। आध्यात्मिक विजय को मन्त्र ९ में दर्शाया है। ९० नदियों का आधिदैविक स्वरूप स्पष्ट नहीं, जिन पर कि राजनैतिक विजय का कथन मन्त्र में हो। आधिभौतिक या आधिदैविक अर्थ को आध्यात्मिक अर्थ में परिवर्तित करने के दृष्टान्तरूप में ९० नदियों का कथन किया गया है। मन्त्र में उपमावाचक पद लुप्त है। योगशास्त्र में आध्यात्मिक विजय दर्शाने के लिए "इन्द्रियविजय" को "इन्द्रियजयः" कहा है (विभूतिपाद, सूत्र ४७)। ९० रूपों वाली इन्द्रिय-नदियाँ [स्रोतांसि] "इन्द्रियजयः" द्वारा अभिप्रेत हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से योगदर्शन के भाष्य में व्यासमुनि ने चित्त को भी नदी कहा है। यथा "**चित्तनदी नाम उभयतो वाहिनी, वहति कल्याणाय वहति पापाय च**" (समाधिपाद, सूत्र १२)।

२. प्रत्येक इन्द्रिय की इन्द्रियवृत्तियों के ९ स्वरूप। १० इन्द्रियों के ९×१०=९० स्वरूप। ये स्रोतांसि तथा नदियाँ हैं।

सुदृढ़ करने के निमित्त साम्राज्य के अधिकारियों तथा साम्राज्य के ऋषियों का सम्मेलन करने का विधान हुआ है, और इस सम्मेलन में परमेश्वर की कृपा का आह्वान किया है। प्रजापति परमेष्ठी, विराट्, वैश्वानर ये नाम परमेश्वर के हैं। और अवशिष्ट नाम साम्राज्य के अधिकारियों के लिए हैं। तथा ऋषि आमन्त्रित हैं, आशीर्वाद तथा परामर्श के लिए। इन्द्र है सम्राट् (यजुः० ८.३७)। विष्णु से अभिप्रेत यदि "सूर्य" हो तो यह "**चक्षुषाम् अधिपतिः**" (अथर्व० ५.२४.९) अर्थात् गुप्तचरों का राज्यधिकारी[१] है। सविता है वित्ताधिकारी (मन्त्र ५)। रुद्र है पशुपतिः, पशुओं का अधिकारी, जैसे कि "**य ईशे पशुपतिः पशूनाम्**" (अथर्व० २.३४.१)। इसकी व्याख्या में सायणाचार्य लिखते हैं कि "**यः पशुपतिः पशूनां पालयिता, रुद्रः**। साम्राज्य के पशुओं का संवर्धन, उत्तम बैलों तथा गौओं का उत्पादन आदि कर्म रुद्र के हैं। अग्नि है अग्रणी प्रधानमन्त्री। यह सब व्याख्या केवल आधिभौतिक व्याख्या की दृष्टि से है]।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पथ्या पङ्क्तिः** ॥

उत्तमो अस्योषधीनामनड्वाञ्जगतामिव व्याघ्रः श्वपदामिव।

यमैच्छामाविदाम तं प्रतिस्पाशनमन्तितम्॥ ११ ॥

अर्थ—हे सेनाध्यक्ष! तू (ओषधीनाम्) ओषधियों में (उत्तमः) उत्तम ओषधिरूप (असि) है, (जगताम्) जङ्गम-चतुष्पदों में (अनड्वान्) शकटवाही बैल की (इव) तरह, तथा (श्वपदाम्) श्वपदों में (व्याघ्रः इव) बाघ चीता की तरह तू है। (यम्) जिसकी (ऐच्छाम) हमने इच्छा की थी, (तम्) उसे (अविदाम) हमने प्राप्त कर लिया है, (तम्) उसका (अन्तितम्) अत्यन्त समीपता से (प्रतिस्पाशनम्) हमने स्पर्श किया है। अथवा शत्रुओं के बाधक उस तुझ को अत्यन्त समीपता से हमने प्राप्त कर लिया है। अन्तितम्=अन्तिकतमम्।

[ओषधियों के दो प्रयोजन होते हैं, रोगी के दोषों अर्थात् रोगों को दूर करना और उसके शरीर का संवर्धन करना। राष्ट्रपति-राजा के भी दो प्रयोजन हैं, राष्ट्र-शरीर के रोगों को दूर करना, और राष्ट्र-शरीर का संवर्धन करना। राष्ट्र-शरीर के रोग हैं, चोरी, डकैती, लूटमार, व्यभिचार विप्लव तथा उपद्रव आदि। राजा सेनाध्यक्ष की सहायता से इन रोगों को दूर करता है अतः उसे "उत्तम ओषधीनाम्" कहा है। और अवशिष्ट मन्त्रियों की सहायता से व्यापार, उद्योग, कृषि आदि द्वारा राष्ट्र का संवर्धन करता है। इन से अतिरिक्त एक राजनैतिक बड़ा रोग है, "परराष्ट्र द्वारा आक्रमण"। एतदर्थ राजा सेनाध्यक्ष को व्याघ्र से उपमित करता है, और राष्ट्र-शकट के वहन में सहायक होने से उसे अनड्वान् कहता है। राजा निज मन्त्रियों को कहता है कि राष्ट्ररक्षार्थ हमने जिस की इच्छा की थी, उस सेनाध्यक्ष को हमने प्राप्त कर लिया है, और उसके साथ अतिसमीपता से हमने अपना सम्बन्ध पैदा कर लिया है, जैसे कि किसी भी वस्तु का स्पर्श उसके अत्यन्त समीप होने पर ही किया जाता है। यह सेनाध्यक्ष राष्ट्र के शत्रुओं के लिए भी बाधारूप है। "**स्पश बाधनस्पर्शयोः**" (भ्वादिः) अनड्वान्=अनः शकटं वहतीति। श्वपदाम्=कुत्ते के पञ्जे के सदृश जिन के पञ्जे हैं]।

---

१. यथा "चारचक्षुः=राजा, चारचक्षुर्महीपतिः (मनुस्मृतिः ९.२५६), तथा "चारैः पश्यन्ति राजानः" कामन्दक। इन्हें "स्पशाः" भी कहते हैं (अथर्व० ४.१६.४)। अथवा विष्णु है यज्ञ। अतः राष्ट्र के यज्ञकर्मों का अधिकारी।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

स इद्व्याघ्रो भवत्यथो सिंहो अथो वृषा। अथो सपत्नकर्शनो यो बिभर्तीमं मणिम्॥ १२॥

अर्थ—(यः) जो राष्ट्रपति-राजा (इमम्, मणिम्) इस सेनाध्यक्षरूपी पुरुषरत्न का (बिभर्ति) धारण-पोषण करता है, (सः इत्) वह ही (व्याघ्रः) व्याघ्र के सदृश (भवति) होता है, (अथो) और (सिंहः) सिंह के सदृश होता है, (अथो) और (वृषा) अनड्वान् के सदृश सुखवर्षी होता है। (अथो) और (सपत्नकर्शनः) शत्रुओं को कृश अर्थात् तनूकृत करने वाला होता है।

[बिभर्ति=**भृञ् भरणे** (भ्वादिः); **डुभृञ् धारणपोषणयोः** (जुहोत्यादिः)। सेनाध्यक्ष का धारण करना तथा उसके सैन्यविभाग की शास्त्रास्त्र आदि द्वारा संपुष्टि करना। कर्शन (**कृश तनूकरणे,** दिवादिः)। सिंह सदृश=''**सिंहवच्च पराक्रमेत्**'' (मनु०), अर्थात् शत्रु को जीतने के लिए सिंह के समान पराक्रम करे[१] यद्यपि युद्ध में पराक्रम सेनाध्यक्ष ने ही करना है, परन्तु सेनाध्यक्ष द्वारा किया गया पराक्रम राजा में ही आरोपित होता है, जैसे विजय और पराजय के साधन सेनाध्यक्ष और सैनिक होते हैं, तो भी विजय और पराजय राजा की ही कही जाती है]।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

नैनं घ्नन्त्यप्सरसो न गन्धर्वा न मर्त्याः।
सर्वा दिशो वि राजति यो बिभर्तीमं मणिम्॥ १३॥

अर्थ—(यः) जो राष्ट्रपति-राजा (इमम्) इस (मणिम्) सेनाध्यक्षरूपी पुरुषरत्न का (बिभर्ति) धारण और पोषण करता है, (एनम्) इसका (न अप्सरसः) न तो अन्तरिक्ष विहारिणी शत्रु शक्तियां, (न) न (गन्धर्वाः) पृथिवी का धारण करने वाले अन्य राजा और (न मर्त्याः) न साधारण प्रजाजन (घ्नन्ति) हनन करते हैं। वह (सर्वाः दिशः) सब दिशाओं पर (वि राजति) राज्य करता है।

[अप्सरसः=अप्सारिण्यः, अप्सु सारिण्यः। **आपोऽन्तरिक्षनाम** (निघं० १.२); अन्तरिक्ष में संचार करने वाली शात्रवी-सेनाएँ। गन्धर्वाः=**गौः पृथिवीनाम** (निघं० १.१), उसका धारण करने वाले राजा]।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**षट्पदा जगती** ॥

कश्यपस्त्वामसृजत कश्यपस्त्वा समैरयत्।
अबिभस्त्वेन्द्रो मानुषे बिभ्रत्संश्रेषिणेऽजयत्।
मणिं सहस्रवीर्यं वर्म देवा अकृण्वत॥ १४॥

अर्थ—(कश्यपः) सर्वद्रष्टा परमेश्वर ने [हे मणि! सेनाध्यक्षरत्न!] (त्वां) तुझे (असृजत) सृष्टा है, (कश्यपः) सर्वद्रष्टा परमेश्वर ने (त्वा) तुझे (सम् ऐरयत्) सम्यक्तया [सर्वोपकार के लिये] प्रेरित किया है। (इन्द्रः) सम्राट् ने (मानुषे) मनुष्य प्रजा की [सुरक्षा के निमित्त] (अबिभः) तेरा धारण किया है (बिभ्रत्) और धारण करते हुए इन्द्र ने (संश्रेषिणे[२]) युद्ध में, संग्राम में (अजयत्) विजय पाई है। (देवाः) विजिगीषुओं ने (सहस्रवीर्यम्) विविध वीरता से युक्त (मणिम्) सेनाध्यक्षरत्न को (वर्म)

१. व्याघ्र=बाघ, चीता। चीता के समान छिप कर शत्रुओं को पकड़े। (सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ६)।

२. जहां सेनाओं का परस्पर श्लेष होता है, मेल तथा दहन होता है; **श्लिष श्लेषणे** (चुरादिः), तथा **श्लिषु दाहे** (भ्वादिः)=संग्राम।

अपना कवच (अकृण्वत) किया है।

[कश्यपः=पश्यकः, आद्यन्तविपर्यासः=सर्वद्रष्टा सर्वज्ञ परमेश्वर। परमेश्वर ने सृष्टि के सर्जनकाल में, वेदविधि द्वारा शासन में सेनाध्यक्ष को भी अविभाज्य अंगरूप में घोषित किया है, प्रजा के उपकार के निमित्त। इसे साम्राज्याधिपति भी धारण कर संग्राम में विजय पाता है। विजिगीषुओं ने सेनाध्यक्ष को निज और राष्ट्र की कवच माना है]।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पुरस्ताद् बृहती** ॥

यस्त्वा कृत्याभिर्यस्त्वा दीक्षाभिर्यज्ञैर्यस्त्वा जिघांसति।
प्रत्यक्त्वमिन्द्र तं जहि वज्रेण शतपर्वणा ॥ १५ ॥

अर्थ—(यः) जो (त्वा) तुझे (कृत्याभिः) घातक सेनाओं द्वारा, (यः त्वा) जो तुझे (दीक्षाभिः) व्रतों द्वारा, (यः त्वा) जो तुझे (यज्ञैः) आभिचारिक-यज्ञों द्वारा (जिघांसति) मारना चाहता है, (तम्) उसे (त्वम्) तू (इन्द्र) हे सम्राट्! (प्रत्यक्) प्रतिमुख करके, (शतपर्वणा) सौ-जोड़ों वाले (वज्रेण) वज्र द्वारा (जहि) मार डाला।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अयमिद्वै प्रतीवर्त ओजस्वान्त्संजयो मणिः। प्रजां धनं च रक्षतु परिपाणः सुमङ्गलः ॥ १६ ॥

अर्थ—(अयम्) यह (मणिः) सेनाध्यक्ष पुरुषरत्न (इद् वै) निश्चय से ही (प्रतीवर्तः) शत्रुसेना को वापित लौटा देता है, (ओजस्वान्) ओजस्वी है, (संजयः) सम्यक् जेता है। (परिपाणः) सब ओर से रक्षा करने वाला (सुमङ्गलः) तथा उत्तम मंगलस्वरूप यह (प्रजाम्, धनम्, च) प्रजा और धन की (रक्षतु) रक्षा करे।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

असपत्नं नो अधरादसपत्नं न उत्तरात्।
इन्द्रासपत्नं नः पश्चाज्ज्योतिः शूर पुरस्कृधि ॥ १७ ॥

अर्थ—(शूर! इन्द्र) हे शूर! सम्राट्! (अधरात्) दक्षिण से (नः) हम प्रजाजनों को (असपत्नम्) शत्रुरहित (कृधि) कर। (नः) हम प्रजाजनों को (उत्तरात्) उत्तर से (असपत्नम्) शत्रुरहित (कृधि) कर। (नः) हम प्रजाजनों को (पश्चात्) पश्चिम से (असपत्नम्) शत्रुरहित (कृधि) कर (पुरः) पूर्व से शत्रु रहित (कृधि) कर, इस प्रकार हमारे सम्मुख (ज्योतिः) ज्योति प्रकट कर अर्थात् हमारे जीवन और लक्ष्य अन्धकारमय न हों।

[सेनाध्यक्ष तो शूर होता ही है। सम्राट् को भी शूर होना चाहिए, ताकि साम्राज्य के चहुंदिशि सपत्नों का अभाव हो और प्रजाजनों के संमुख आशा और उत्साह की ज्योति जगमगाती रहे]।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वर्म मे द्यावापृथिवी वर्माहर्वर्म सूर्यः। वर्म म इन्द्रश्चाग्निश्च वर्म धाता दधातु मे ॥ १८ ॥

अर्थ—(द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवीलोक (मे) मेरे लिए (वर्म) कवच हों, (अहः) दिन (वर्म) कवच हो, (सूर्यः) सूर्य (वर्म) कवच हो, (इन्द्रः च) विद्युत् (अग्निः च) और अग्नि (वर्म)

कवच हो, (धाता) विधाता परमेश्वर (मे) मेरे लिए (वर्म) अपने-आप को कवचरूप में (दधातु) स्थापित करे।

[मानुष-सपत्नों का अभाव हो जाने पर [मन्त्र ७] सम्राट्, प्राकृतिक शक्तियों और विधाता अपने कवचरूप में स्थापित करने की प्रार्थना विधाता से करता है]।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगतीगर्भा त्रिष्टुप्**॥

ऐ॒न्द्रा॒ग्नं वर्म॑ ब॒हु॒लं यदु॒ग्रं विश्वे॑दे॒वा नाति॒ विध्य॑न्ति॒ सर्वे॑।

तन्मे॑ त॒न्वं॑ त्रायतां स॒र्वतो॑ बृ॒हदायु॑ष्मां ज॒रद॑ष्टि॒र्यथासा॑नि॥ १९॥

अर्थ—(यत्) जो (बहुलम्) बहुसुखदायक, (उग्रम्) तथा भयावह (ऐन्द्राग्नम्) सम्राट् और अग्रणी [प्रधानमन्त्री] में परस्पर सहयोग तथा सहकारिता रूप (वर्म) कवच है, उसका (विश्वे देवाः) समग्र विजिगीषु परकीय सैनिक तथा (सर्वे) परकीय सब अधिकारी भी (अति विध्यन्ति न) अतिवेधन नहीं कर पाते। (तत्) वह "ऐन्द्राग्न" वर्म अर्थात् कवच (मे) मेरी (तन्वम्) तनू तथा तनय आदि की (सर्वतः) सब प्रकार से (बृहत् त्रायताम्) महारक्षा करे, (यथा) जिससे कि (आयुष्मान्) दीर्घायुः तथा (जरदष्टिः) जरावस्था को (असानि) मैं प्राप्त हो जाऊं।

[ऐन्द्राग्नम्=यह देवताद्वन्द है, समस्त पद है। इस समस्त पद में इन का परस्पर सहयोग और सहकारिता की भावना अन्तर्गर्भित अर्थात् अन्तर्भावित है। इन्द्र और अग्नि में से एक-एक कवचरूप नहीं, अपितु इनमें परस्पर मेल ही कवचरूप है। इसी प्रकार की भावना वेदोक्त अन्य "देवताद्वन्द्वों" में भी जाननी चाहिए। यथा "इन्द्रावरुणा" इन्द्र अर्थात् सूर्य और वरुण अर्थात् मेघ में; या इन्द्र अर्थात् सम्राट् और वरुण अर्थात् राजा[1] में; "इन्द्राग्नी" सूर्य और अग्नि में; "इन्द्रासोमा" सूर्य और चन्द्रमा में; "इन्द्रापूषणा" सूर्य और पृथिवी में, या सम्राट् और खाद्य वस्तुओं के अधिकारी में है। इसी प्रकार अन्य "देवताद्वन्द्व" पदों में भी सहयोगिता तथा सहकारिता जाननी चाहिए। बहुलम्=बहु [सुखम्] लाति आदत्ते इति।

देवाः="**दिवु क्रीडाविजिगीषा**" आदि (दिवादिः)। तन्वम्=राष्ट्र तथा साम्राज्य का प्रत्येक प्रजाजन, निज तनू तथा निज सन्तानों की महारक्षा, तथा दीर्घायुष्य, "ऐन्द्राग्न" वर्म अर्थात् कवच से चाहता है]।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**विराड् गर्भाऽऽस्तारपङ्क्तिः** ॥

आ मा॑रुक्षद्देवम॒णिर्म॒ह्या अ॑रि॒ष्टता॑तये।

इ॒मं मे॒थिम॑भि॒संवि॑शध्वं तनू॒पानं॑ त्रि॒वरू॑थ॒मोज॑से॥ २०॥

अर्थ—(देवमणिः) दिव्यगुणी-मणि अर्थात् पुरुषरत्न सेनाध्यक्ष (मा) मुझ पर (आ अरुक्षत्) आरूढ़ हुआ है, (मह्यै अरिष्टतातये) साम्राज्य या राष्ट्र के महा-अरिष्ट के लिए। (मेथिम्) शत्रुहिंसक (इमम्) इस देवमणि के सैन्य में (अभिसंविशध्वम्) प्रवेश पाओ (ओजसे) साम्राज्य और राष्ट्र के ओजस की समृद्धि के लिए। यह सैन्य (तनूपानम्) तनूओं और सन्तानों का पालक है, और (त्रिवरूथम्) तीन साधनों द्वारा शत्रु का निवारक है।

[मा आरुक्षत्=युद्ध उपस्थित हो जाने पर सम्राट् और राजा को चाहिए कि वह सेनाध्यक्ष के

१. **इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा** (यजुः० ८.३७)।

निर्देशानुसार युद्धकार्य में सहयोग दें। यह सेनाध्यक्ष का आरोहण है, राष्ट्रशासन में सर्वोच्चरूप में होता है। अरिष्ट=**रिष् हिंसायाम् तदभावः**, अर्थात् साम्राज्य या राष्ट्र का क्षेम। त्रिवरूथम्=पदाती सैनिक, अश्वारोही सैनिक, रथारोही सैनिक, ये तीन साधन हैं शत्रु के निवारण के लिये]।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**विराट् त्रिष्टुप्** ॥

अस्मिन्निन्द्रो नि दधातु नृम्णमिमं देवासो अभिसंविशध्वम्।
दीर्घायुत्वाय शतशारदायायुष्माञ्जरदष्टिर्यथासत्॥ २१ ॥

अर्थ—(इन्द्रः) सम्राट् (अस्मिन्) इस पुरुषरत्न सेनाध्यक्ष में (नृम्णम्) बल और धन (निदधातु) निधिरूप में स्थापित करे, (देवासः) हे विजिगीषु प्रजाजनो! (इमम्) इस [के सैन्य] में (अभि संविशध्वम्) तुम प्रवेश पाओ, भर्ती हो जाओ, (दीर्घायुत्वाय) ताकि तुम सब की दीर्घ आयु हो, (शतशारदाय) सौ वर्षों की आयु हो, और यह पुरुषरत्न भी (आयुष्मान्) प्रशस्त और दीर्घ आयु वाला (जरदष्टिः) अर्थात् जरावस्था को (यथा) जिस प्रकार (असत्) प्राप्त हो जाए।

[युद्धकाल में सम्राट् सेनाध्यक्ष को सब प्रकार की शक्ति प्रदान कर दे, और राजकोष के व्यय करने का अधिकार भी इसे दे दे। शक्तिप्रदान और राजकोष सौंप देने को वह सेनाध्यक्ष निधिरूप समझे जो कि सेनाध्यक्ष में निहित की गई है। प्रजाजनों को चाहिए कि सैन्य में स्वेच्छया भर्ती हों, ताकि प्रजाजन दीर्घायु हों, अर्थात् शत्रु द्वारा १०० वर्षों की आयु से पूर्व मार न दिए जाएँ, और सेनाध्यक्ष भी सुखी आयु और दीर्घायु प्राप्त कर सके। सैनिकों की यथोचित संख्या के अभाव में प्रजाजन भी मारे जाते हैं, और सेनाध्यक्ष भी मार दिया जाता है। **नृम्णम्=बलम्, धनम्** (निघं० २.९; २.१०)]।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**सप्तपदा विराड्गर्भा भुरिक्शक्वरी** ॥

स्वस्तिदा विशां पतिर्वृत्रहा विमृधो वशी।
इन्द्रो बध्नातु ते मणिं जिगीवाँ अपराजितः सोमपा अभयंकरो वृषा।
स त्वा रक्षतु सर्वतो दिवा नक्तं च विश्वतः॥ २२ ॥

अर्थ—(स्वस्तिदाः) कल्याणप्रद (विशांपतिः) प्रजाओं का पति अर्थात् रक्षक, (वृत्रहा) पापनाशक, या आवरण अर्थात् घेरा डालने वाले शत्रु का हनन करने वाला (विमृधः) संग्रामों से रहित अर्थात् जिसके साथ संग्राम करने वाला कोई शत्रु नहीं रहा, (वशी) सब को वश में किये हुआ, (जिगीवान्) जयशील, (अपराजितः) जो कभी पराजित नहीं हुआ, (सोमपाः) वीर्यशक्ति की रक्षा करने वाला, (अभयङ्करः) प्रजा को भयरहित करने वाला, (वृषा) सुखवर्षी (इन्द्रः) सम्राट् (ते) हे [राष्ट्र के राजन्] तेरे लिए, अर्थात् तेरी रक्षा के लिए तेरे साथ (मणिम्) पुरुषरत्न सेनाध्यक्ष को (बध्नातु) सुदृढ़बद्ध करे। (सः) वह पुरुषरत्न (सर्वतः) सब प्रकार (विश्वतः) तथा सब ओर से (दिवा नक्तम् च) दिन और रात (त्वा रक्षतु) तुझे सुरक्षित करे।

[प्रत्येक राष्ट्र के राष्ट्रपति-राजा की सुरक्षा के लिए, साम्राज्य का अधिपति सम्राट्, सेनाध्यक्ष नियत करे। निज सेनाध्यक्ष की नियुक्ति का अधिकार राष्ट्रपति को नहीं। यह अधिकार सम्राट् का है। ताकि उसके राष्ट्रों में कहीं विप्लव हो जाए तो सम्राट् द्वारा नियुक्त सेनाध्यक्ष सम्राट् की आज्ञानुसार उस का शमन कर सके। **मृधः संग्रामनाम** (निघं० २.१७)। सोम=वीर्य (Semen) अथवा बलकारी सोम-रस का पीने वाला]।

सूक्त ६

विषय-प्रवेश

(१) सूक्त ६ में रोग कीटाणुओं का प्रायः वर्णन हुआ है। रोग कीटाणु=germs।

(२) कीटाणु दो प्रकार के हैं "दुर्णामा" अर्थात् दुष्परिणामोत्पादक, तथा "सुनामाः" अर्थात् उत्तम परिणामोत्पादक (मन्त्र १, ४)।

(३) दुर्णामा तथा सुनामा प्रायः गर्भिणी स्त्री जाति विषयक कथित हुए हैं (मन्त्र १, ४)।

(४) कई मन्त्रों में प्रतीत होता है कि उन में दुर्णामा कीटाणुओं तथा कुकर्मी मनुष्यों का गौणमुख्यभाव में युगपत् वर्णन हो रहा है।

(५) स्त्रियों के भी दो अण्ड और अण्डकोष होते हैं [मुष्काभ्याम्] परन्तु अनभिव्यक्तावस्था में (मन्त्र ५)।

(६) रोग कीटाणुओं के विनाशक "वज" और "पिङ्ग"= दो प्रकार के सर्षप (सायण; मन्त्र ६)।

(७) स्त्रियों के स्वाप्निक दोषों का निवारक "वज" (मन्त्र ७)।

(८) यव और पिङ्ग हैं श्वेत और पीत सर्षप (सायण मन्त्र ६, २४), ये स्त्री जाति के रक्षक हैं, स्त्रैण रोगों से बचाते हैं (नीविभार्यौ, मन्त्र २०)।

(९) केशवः=जल, वायु और शरीर में शयन करने वाले कीटाणु (मन्त्र २३)।

(१०) रोग कीटाणु सूर्य के ताप द्वारा नष्ट हो जाते हैं (मन्त्र २४)।

(११) गर्भस्थ पुमान् शिशुपिण्ड को स्त्री शिशुपिण्ड में परिवर्तन करने वाले कीटाणु (मन्त्र २५)।

(१२) पिङ्ग-सर्षप रोग-कीटाणुओं के विनाश में अधिक सहायक (मन्त्र ६, २५)।

(१३) सामाजिक कीटाणुरूप लुटेरों, आततायिओं, और कुकर्मियों के विनाशार्थ (मन्त्र १४, २१), पिङ्ग अर्थात् कठोर स्वभाव वाले बलवान् पुरुष की नियुक्ति (मन्त्र २१), "इन्द्र" अर्थात् सम्राट् द्वारा (मन्त्र १५)।

(१४) खलों को दण्ड न्यायाधीश द्वारा (मन्त्र १५)।

(१५) व्यभिचारियों को दण्ड निज पत्नी के संभोग से वञ्चित करना (मन्त्र १६)।

(१६) कुकर्मियों को दण्ड "हृदयवेधन" (मन्त्र १८)।

(२७) वज और पिङ्ग की विशेष व्याख्या सूक्त ६ की समाप्ति पर।

(२८) सूक्त ६ में नानाविध, अज्ञातस्वरूप, कीटाणुओं और स्थूल कीटों का वर्णन हुआ है।

अथैकोनविंशः प्रपाठकः

सूक्त ६

ऋषिः—**मातृनामा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, मातृनामा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यौ ते मातोन्ममार्ज जातायाः पतिवेदनौ। दुर्णामा तत्र मा गृधदलिंश उत वत्सपः॥ १॥

अर्थ—(जातायाः[1]) उत्पन्न हुई के (यौ) जो दो [स्तन], (ते) तेरी (माता) माता ने (उन्ममार्ज[1])

१. "जाता" के स्तनों का परिमार्जन जातकर्म संस्कार का एक अङ्ग है।

परिमार्जित किये थे, (पतिवेदनौ) जो दो कि पति को प्राप्त करने के लिए हैं, (तत्र) उन में (दुर्णामा) दुर्-नाम या दुष्परिणामोत्पादक (अलिंशः) भ्रमराकृतिक रोगोत्पादक क्रिमी (मा) न (गृधत्) अभिकाङ्क्षा अर्थात् अभिलाषा करे, (उत) तथा (वत्सपः) वत्सप क्रिमि (मा) न (गृधत्) अभिकाङ्क्षा अर्थात् अभिलाषा करे।

[जब "स्त्रीशिशु" उत्पन्न हो तब उसकी माता उस के दोनों स्तनों का विशेषरूप में शुद्ध जल द्वारा परिमार्जन करे, शुद्ध करे। "स्त्री शिशु" के दो स्तन उस के भावी पति के सूचक हैं। ये दो स्तन उत्पन्न शिशु के स्तन्यपान के लिए हैं। स्तन्यपान के लिए, शिशु की सत्ता चाहिए, और शिशु की सत्ता के लिए शिशु की माता का पति चाहिए। इस प्रकार स्त्री के दो स्तन पति को प्राप्त करने के लिए हैं—यह कथन समुचित ही है। पुरुष और स्त्री में अङ्गों का भेद उन के परस्पर सम्बन्ध का सूचक है, अन्यथा यह भेद निष्प्रयोजन होगा। इन दो स्तनों में रोगोत्पादक कीटाणु अर्थात् germs, दो हैं। एक का नाम है "अलिंश" और दूसरे का नाम है "वत्सप"। ये दोनों दुर्णामा हैं, दुष्परिणामों के उत्पादक हैं। "अलिंश" का अभिप्राय सायणाचार्य के अनुसार है "**अलयो भ्रमराकारेण वर्तमाना केचन रोगाः, तदभिमानिदेवाः वा**"। अर्थात् अलि हैं भ्रमराकृति वाले रोग, या रोगों के उत्पादक जन्तु अर्थात् "रोगकीटाणु"। यह भ्रमराकृतिक रोग "कैंसर" प्रतीत होता है। इस रोग के उत्पादक जन्तु की आकृति cancer अर्थात् केंकड़े-जन्तु के सदृश होती है, जिसे सायणाचार्य ने भ्रमराकृतिक कहा है। अलिंश पद "अलि" और "श" का रूप है। "अलि" अर्थात् भ्रमर की आकृति में "श" शयन करने वाला। अलिंश-कीटाणु रक्त में कुछ काल तक शयन करता रहता है, अज्ञातावस्था में रहता है, और कालान्तर में रोग उत्पन्न कर देता है। "वत्सप" भी दुर्णामा कीटाणु है। वत्सप का अभिप्राय है "वत्स" द्वारा पेय दुग्ध को पी जाने वाला। "वत्सप" कीटाणु माता के स्तन्य [दुग्ध] को पैदा नहीं होने देता। अतः यह वत्सप है। इस सूक्त में नानाविध कीटाणुओं का वर्णन है, जिन के स्वरूपों और रोगोत्पादन की शक्तियों का अनुसन्धान अपेक्षित है। अथर्ववेद में रोगकीटाणुओं को "क्रिमि" कहा है (२.३१.१-५; २.३२.१-६)। अलिंश=अलिश (सायण)]।

ऋषिः—**मातृनामा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, मातृनामा**॥ छन्दः—**पुरस्ताद्बृहती**॥

प॒ला॒लानु॑पला॒लौ शर्कुं॒ कोकं॑ मलिम्लु॒चं प॒लीज॑कम्।
आ॒श्रेषं॑ व॒व्रिवा॑ससमृक्ष॑ग्रीवं प्रमी॒लिन॑म्॥ २॥

अर्थ—(पलालानुपलालौ) पलाल और अनुपलाल को, (शर्कुम्, कोकम्) शर्कु और कोक के (मलिम्लुचम्, पलीजकम्) मलिम्लुच और पलीजक को, (आश्रेषम्) आश्रेष को, (वव्रिवाससम्, ऋक्षग्रीवम्, प्रमीलिनम्) वव्रिवासस, ऋक्षग्रीव, प्रमीली को [हम नष्ट करते हैं]।

["पलाल" आदि रोगकीटाणुओं के नाम हैं। पदों के धात्वर्थ निम्नलिखित किये हैं। पलाल का अर्थ है तिनके, और अनुपलाल है भूसा। इनकी आकृति वाले या इन की तरह अतितुच्छ रोगकीटाणु। अथवा इनके सड़ने-गलने से उत्पन्न रोगकीटाणु। शर्कु[१]=शर् शर् ऐसा शब्द करने वाला (सायण) कोक=चक्रवाक की आकृति वाला या बलादि का संहार करने वाला 'कुक वृक आदाने (भ्वादिः)। मलिम्लुच=अत्यन्त मलिन। पलीजकम्=पल्या पलितेन चकते इति अर्थात् केशों को पलित अर्थात् सफेद

१. शराकृतिक अथवा हिंसाकारी (**शॄ हिंसायाम्**), अथवा शर् कु; कुत्सित हिंसाकारी, आद्यन्त विपर्यास आदि। शर्कोट? (अथर्व० ७.५८.५)।

कर देने वाला। आश्रेष=आश्लेषण अर्थात् सम्पर्क द्वारा दुःखदायक। वत्रिवासस=गहरे कूपों या गड्ढों में निवास करने वाला। अक्षग्रीव=बन्दर विशेष की गर्दन के सदृश गर्दन वाला। प्रमीली अर्थात् आंखों को अन्धा कर देने वाला या क्षण-क्षण में झपकाने वाला रोगकीटाणु। सायणाचार्यकृत अर्थों के आधार पर अर्थ किये हैं।

ऋषिः—**मातृनामा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, मातृनामा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

मा सं वृ॒तो मोप॑ सृप ऊ॒रू माव॑ सृपोन्त॒रा।
कृ॒णोम्य॑स्यै भेष॒जं ब॒जं दु॒र्णाम॒चात॑नम्॥ ३॥

अर्थ—[हे दुर्णामारोग [मन्त्र १] या रोगकीटाणु!] (ऊरू अन्तरा) दो ऊरुओं के मध्य (मा संवृतः) संकोचन न कर, (मा उपसृप) अर्थात् न [योनि] के समीप आस-पास सर्पण कर, (मा अव सृपः) न ऊरूओं से नीचे की ओर सर्पण कर। (अस्यै) इस स्त्री के लिए (दुर्णामचातनम्) दुर्नाम रोगनाशक (वजम्, भेषजम्) वजनाम वाली औषध (कृणोमि) मैं करता हूँ।

[स्त्री की योनि के समीप और टांगों में सर्पण करने वाले रोग तथा रोग कीटाणु की ओषधि है वज। कौशिक सूत्र में वज को सर्षप अर्थात् "सरसों" कहा है]।

ऋषिः—**मातृनामा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, मातृनामा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

दु॒र्णामा॑ च सु॒नामा॑ चो॒भा सं॒वृत॑मिच्छतः। अ॒राया॒नप॑ हन्मः सु॒नामा॒ स्त्रैण॑मिच्छताम्॥ ४॥

अर्थ—(दुर्णामा च सुनामा च) दुर्णामा और सुनामा रोगकीटाणु (उभा) दोनों (संवृतम्) अङ्ग का संकोचन [करना] (इच्छतः) चाहते हैं। (अरायान्) शत्रुरूप, अरातिरूप रोगकीटाणुओं का (अप हन्मः) हम हनन करते हैं, (सुनामा) सुखदायक कीटाणु (स्त्रैणम्) स्त्री के अङ्ग विशेष को (इच्छताम्) चाहे।

[इच्छतः,[१] इच्छताम्[१] द्वारा दोनों प्रकार के कीटाणुओं को चेतनसदृश दर्शाया है। इच्छताम् में व्यत्यय से आत्मनेपद है। दुर्णामा तो रोगोत्पादक है, और सुनामा स्त्री के लिए स्वास्थ्यकारी[२] है]।

ऋषिः—**मातृनामा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, मातृनामा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यः कृ॒ष्णः के॒श्यसु॑र स्तम्ब॒ज उ॒त तुण्डि॑कः।
अ॒राया॑नस्या मु॒ष्काभ्यां॒ भंस॒सोप॑ हन्मसि॥ ५॥

अर्थ—(यः) जो (कृष्णः) काला (केशी) रोमों वाला, (असुरः) प्राणवान् अर्थात् शक्तिमान् [रोगकीटाणु है] (स्तम्बजः) झाड़ियों में पैदा हुआ (उत) तथा (तुण्डिकः) अल्पमुख वाला [रोगकीटाणु है]; (अरायान्) उन शत्रुरूप, अरातिरूप-कीटाणुओं को (अस्याः) इस स्त्री के (मुष्काभ्याम्) दोनों अण्डकोशों से, (भंससः) तथा कटिप्रदेश [योनि] से (अप हन्मसि) हम अलग करते हैं और मार देते हैं।

[मुष्काभ्याम्=स्त्रियों के भी दो अण्डकोश होते हैं, परन्तु वे छिपे हुए, अनभिव्यक्तावस्था में रहते हैं। वे समय पाकर अभिव्यक्तावस्था में भी कभी-कभी प्रकट हो जाते हैं]।

१. इच्छा होने से दुर्णामा और सुनामा रोगकीटाणु हैं, चेतन सदृश हैं।
२. दुर्णामा स्वस्थ शरीर को सुखा कर मांस को संकुचित करता है, और सुनामा, प्रसूतिकाल के हुए योनिविस्तार को संकुचित करता है, यह अभिप्राय प्रतीत होता है।

ऋषिः—मातृनामा॥ देवता—मन्त्रोक्ताः, मातृनामा॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

अनुजिघ्रं प्रमृशन्तं क्रव्यादमुत रेरिहम्।

अरायांछ्वकिष्किणो बजः पिङ्गो अनीनशत्॥ ६॥

अर्थ—(अनुजिघ्रम्) सूंघने द्वारा हिंसक को (प्रमृशन्तम्) स्पर्शमात्र द्वारा हिंसक को, (क्रव्यादम्) शरीर के मांस को खा जाने वाले को, (उत) तथा (रेरिहम्) अतिहिंसक को (श्वकिष्किणः) कुत्ते के सदृश झपटने वालों को (अरायान्) इन सब शत्रुओं को, या दुर्भग रोगकीटाणुओं को (पिङ्गः) पीला (बजः) अर्थात् वज [सर्षप] (अनीनशत्) नष्ट करता है।

[किष्किणः=**कण गतौ** (भ्वादिः)। रेरिहम्=**रिह हिंसायाम्, इत्येके** (तुदादिः)। वजः=सर्षप, सरसों (कौशिकसूत्र)। अरायान्, अरातिरूप=अ+राय (ऐश्वर्य) तद्रहितान्=दुर्भगान्। क्रव्यादम्=जो शरीर के माँस को खा जाता है, शरीर को सुखा देता है]।

ऋषिः—मातृनामा॥ देवता—मन्त्रोक्ताः, मातृनामा॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

यस्त्वा स्वप्ने निपद्यते भ्राता भूत्वा पितेव च।

बजस्तान्त्सहतामितः क्लीबरूपांस्तिरीटिनः॥ ७॥

अर्थ—[हे स्त्री!] (भ्राता भूत्वा) भाई की तरह हो कर (च) और (पिता इव) पिता की तरह होकर, (यः) जो (स्वप्ने) स्वप्नावस्था में (त्वा) तुझे (निपद्यते) [कामवासना से] प्राप्त होता है, (तान्) ऐसे उन सब (क्लीबरूपान्) नपुंसकरूपी, (तिरीटिनः) टेढ़ी अर्थात् कपट चालों वालों को, (इतः) इस तेरे मस्तिष्क से, (बजः) वज [सर्षप] (सहताम्) पराभूत कर दे।

[मन्त्र में स्वप्नावस्था के दृश्य का वर्णन है। कामवासना सर्वप्राणिसाधारण है। यह मानुषपुरुषों तथा मानुषस्त्रियों में भी है। स्वप्नावस्था में जैसे पुरुषों में कामवासना उद्बुद्ध हो जाती है, वैसे स्त्रियों में भी उद्बुद्ध हो जाती है। स्वप्न में उद्बुद्ध घटनाएँ वास्तविक नहीं होतीं। वे प्रायः उल्टी-पुल्टी होती हैं। स्त्री को पहले तो स्वप्न हुआ कि भाई और पिता आए हैं परन्तु स्वप्नावस्था में वे कामी-कपटी पुरुषों के रूप में बदल गये। ऐसी स्वाप्निक मस्तिष्कावस्था को स्वस्थ करने के लिए वज-औषध का विधान मन्त्र में हुआ है। स्वप्नावस्था में प्राप्त ऐसे काल्पनिक व्यक्तियों को क्लीब कहा है, जोकि वस्तुतः भोग करने में अशक्त होते हैं, शक्तिविहीन होते हैं। इस प्रकार की अवस्था को आपन्न हुए अर्जुन को भी गीता में क्लीब कहा है। यथा "**क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत् त्वय्युपयुज्यते**" (गीता अध्याय २, श्लोक ३)। तिरीटिनः=तिरस् (कुटिल)+इट (गतौ)+इन्। मन्त्र में स्वाप्निक रोग के विनाश का वर्णन हुआ है]।

ऋषिः—मातृनामा॥ देवता—मन्त्रोक्ताः, मातृनामा॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

यस्त्वा स्वपन्तीं त्सरति यस्त्वा दिप्सति जाग्रतीम्।

छायामिव प्र तान्त्सूर्यः परिक्रामन्ननीनशत्॥ ८॥

अर्थ—[हे स्त्री!] (स्वपन्तीम् त्वा) सोती हुई तुझ को (यः) तो पुरुष (त्सरति) छद्मगति से प्राप्त होता है, (यः) और जो (जाग्रतीं त्वा) जागती हुई तुझ को (दिप्सति) दम्भपूर्वक दबाना चाहता है (तान्) ऐसे उन सब को (अनीनशत्) वज-औषध ने विनष्ट कर दिया है, (इव) जैसे कि (परिक्रामन्)

आकाश में परिभ्रमण करता हुआ (सूर्यः) सूर्य (छायाम्) छाया अर्थात् अन्धकार को (अनीनशत्) नष्ट कर देता है।

[त्सरति=त्सर छद्मगतौ (भ्वादिः)। स्वप्नावस्था की वासनाओं के सम्बन्ध में वर्णन मन्त्र (७) में हुआ है। जाग्रदवस्था में भी वासनाएँ उद्बुद्ध हो कर व्यक्ति को दूषित करती रहती हैं, वे भी छाया के सदृश अवास्तविक होती हैं। उन का भी विनाश वज-औषध कर देता है]।

ऋषिः—**मातृनामा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, मातृनामा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यः कृणोति मृतवत्सामवतोकामिमां स्त्रियम्।
तमोषधे त्वं नाशयास्याः कमलमञ्जिवम्॥ ९॥

अर्थ—(यः) जो (इमाम्, स्त्रियम्) इस स्त्री को (मृतवत्साम्) गर्भ में ही मरे बच्चे वाली अथवा (अवतोकाम्) गर्भपात वाली (कृणोति) कर देता है, (अस्याः) इस स्त्रीसम्बन्धी (तम्) उस [रोगकीटाणु, germs] को (ओषधे) हे ओषधि! (त्वम्) तू (नाशय) नष्ट कर [जैसे कि] (अञ्जिवम्) अभिव्यक्त अर्थात् पुष्पित (कमलम्) कमल को [तुषार नष्ट करता है]।

[अवतोकाम्=अव (अवस्तात्), तोकम् (पुत्रः) यस्याः, ताम्। मन्त्र में ओषधि का नाम नहीं दिया। सम्भवतः "वज" अभिप्रेत हो। अञ्जिवम्=अञ्जिः (अभिव्यक्तिः)+वम् (तद्धितप्रत्ययः)]।

ऋषिः—**मातृनामा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, मातृनामा**॥ छन्दः—**षट्पदा जगती**॥

ये शालाः परिनृत्यन्ति सायं गर्दभनादिनः।
कुसूला ये च कुक्षिलाः ककुभाः करुमाः स्त्रिमाः।
तानोषधे त्वं गन्धेन विषूचीनान्वि नाशय॥ १०॥

अर्थ—(ये) जो कीट (गर्दभनादिनः) गदहों की तरह नाद करते हुए (सायम्) सायंकाल (शालाः) शालाओं के (परि) सब ओर (नृत्यन्ति[1]) नाच करते हैं। तथा (ये च) और जो (कुसूल आदि) कुसूल, कुक्षिल, ककुभ, करूप, स्त्रिम नामक कीट हैं (तान्) उन (विषूचीनान्) सब ओर गति करने वालों को (ओषधे) हे ओषधि? (त्वम्) तू (गन्धेन) निज गन्ध द्वारा (विनाशय) विनष्ट कर।

[सायंकाल शालाओं में नाद करने वाले विशेषतया मच्छर होते हैं। इन के नाद कानों को कटु अनुभूत होते हैं, अतः घृणा की दृष्टि से इन्हें "गर्दभनादिनः" कहा है। गर्दभ का नाद कर्णकटु होता है। कुसूल आदि नाम भिन्न-भिन्न कीटों के हैं, जो कि सायंकाल प्रकट हो जाते हैं। इन कीटों या क्रिमियों के लिए देखो अथर्व० (२.३१.१-५; २.३२.१-६)। इन में से मच्छरों का विनाश ओषधि के गन्ध द्वारा दर्शाया है। ओषधि को अग्नि में जला कर उस के धूम[2] द्वारा इन मच्छरों के विनाश का विधान किया है। इस से प्रतीत होता है कि ये सब कीट रोगकीटाणु [germs] ही नहीं है। ओषधि का नाम तो मन्त्र में नहीं दिया। सम्भवतः ओषधि कृष्ण और-पिङ्ग [पीत] वज ही है। वज=सरसों के दाने। अथर्व० (४.३७.२) में "अजशृङ्गी" ओषधि का नाम पठित है जिस के गन्ध द्वारा रक्षः आदि का विनाश कहा है]।

---

१. रात में मच्छर नाद करते हुए इधर-उधर उड़ते हैं। मानो वे गाते हुए नृत्य करते हैं।
२. यथा "मशकार्थो धूमः"।

ऋषिः—**मातृनामा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, मातृनामा** ॥ छन्दः—**पथ्या पङ्क्तिः** ॥

ये कुकुन्धाः कुकूरभाः कृत्तीर्दूर्शानि बिभ्रति।

क्लीबा इव प्रनृत्यन्तो वने ये कुर्वते घोषं तानितो नाशयामसि॥ ११ ॥

अर्थ—(ये) जो (कुकुन्धाः, कुकूरभाः) कुत्सित गतियों को धारण करने वाले तथा कुकूर अर्थात् कुक्कुरों, कुत्तों के सदृश भासित होने वाले व्याघ्र आदि, (दूर्शानि=दूषणीयानि, सायण) दूषणीय (कृत्तीः) चमड़ों को (बिभ्रति) धारण करते हैं, और (ये) जो (क्लीबाः इव) मानो उन्मत्तों के सदृश (प्रनृत्यन्तः) नृत्य करते हुए (वने) वन में (घोषम्) अव्यक्त शब्द (कुर्वते) करते हैं, (तान्) उन्हें (इतः) इस वन से (नाशयामसि) हम नष्ट करते हैं।

[वनों में निवास करने वाले वानप्रस्थी तथा वनवासी, श्वापदों तथा मच्छर आदि का विनाश करते हैं]।

ऋषिः—**मातृनामा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, मातृनामा** ॥ छन्दः—**पथ्या पङ्क्तिः** ॥

ये सूर्यं न तितिक्षन्त आतपन्तममुं दिवः।

अरायान्बस्तवासिनो दुर्गन्धीँल्लोहितास्यान्मककान्नाशयामसि॥ १२ ॥

अर्थ—(ये) जो (दिवः) द्युलोक से (आतपन्तम्) सर्वत्र ताप करते हुए (अमुम्) इस (सूर्यम्) सूर्य को (न तितिक्षन्ते) नहीं सह सकते, उन (अरायान्) अरातियों दुश्मनों को, जोकि (बस्तवासिनः) भेड़ के चमड़े की वास वाले, (दुर्गन्धीन्) दुर्गन्ध वाले, तथा (लोहितास्यान्) खूनी मुखों वाले (मककान्) मकक[1] नामक श्वापद हैं, उन्हें (नाशयामसि) हम नष्ट करते हैं।

[यह मन्त्र भी वानप्रस्थियों तथा वनवासियों सम्बन्धी है। श्वापद सूर्य के प्रकाश को नहीं सह सकते, अतः ये दिन के समय छिपे रहते हैं। श्वापदों के शरीरों से दुर्गन्ध आती है। शिकार को खाने से इन के मुख रक्त से लिपे रहते हैं। इन श्वापदों को मन्त्र में मकक कहा है।]

ऋषिः—**मातृनामा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, मातृनामा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

य आत्मानमतिमात्रमंस आधाय बिभ्रति।

स्त्रीणां श्रोणिप्रतोदिन इन्द्र रक्षांसि नाशय॥ १३ ॥

अर्थ—(ये) जो (अतिमात्रम्) अतिपरिमाण वाले (आत्मानम्) स्वकीय अङ्ग को, (अंसे) निज कन्धे पर (आधाय) रख कर (बिभ्रति) निज भरण-पोषण करते हैं, तथा जो (स्त्रीणाम्) स्त्रियों के (श्रोणिप्रतोदिनः) कटि प्रदेश को व्यथित कर देते हैं, (इन्द्र) हे इन्द्र! (रक्षांसि) उन राक्षस-स्वभाव वाले कीटों तथा कीटाणुओं का तू (नाशय) नाश कर।

[मन्त्र के पूर्वार्ध और उत्तरार्ध के प्रतिपाद्य विषय पृथक्-पृथक् हैं। पूर्वार्ध में अतिमात्रम् का अर्थ है "अतिस्थूलम्" (सायण)। अतिस्थूल कीट तो सम्भव है परन्तु कीटाणु नहीं। यह कीट "अल्गण्डु" प्रतीत होता है, अथर्व० (२.३१.२, ३)। "अल्गण्डु" में "अल्" का अर्थ है "भूषण" और "गण्डु"[2]

---

१. मककान्=मा+ककान्; **कक लौल्ये** (भ्वादिः), लौल्य=चञ्चलता। श्वापद दिन में सूर्य के प्रकाश में छिपे रहते हैं, चञ्चल अर्थात् चलते नहीं, विचरते नहीं,। लौल्य=Roam about (आप्टे)।

२. यह फफोला ही इस का भूषण है, शिरोभूषण है। **गण्ड**=Bubble, swelling, pimple (आप्टे)।

का अर्थ है "फफोला"। इस कीट की पीठ पर एक सफेद फफोला। अर्थात् फूली हुई एक ग्रन्थि होती है जो कि कीट के स्कन्धप्रदेश तक फैली होती है, "अंस" तक फैली होती है। यह कीट देखने में अति घृणित होता है। सम्भवतः इसलिए इस के हनन का कथन मन्त्र में हुआ है। यह कीट कभी-कभी घरों में, शौचालयों में दृष्टिगोचर हो जाता है। मन्त्र के उत्तरार्ध में रोगकीटाणुओं का वर्णन है, जो कि स्त्रियों के कटिप्रदेश को व्यथित कर देते हैं "तोदिनः" **तुद व्यथने** (तुदादिः)। "श्रोणि" पद "स्त्रीयोनि" वाचक प्रतीत होता है, जिसे कि कटिप्रदेश द्वारा सूचित किया है। इन्द्र का अर्थ सूर्य नहीं। इन्द्र है सम्राट्, यथा "**इन्द्रश्च सम्राट्**" (यजुः० ८.३७)। साम्राज्य में सम्राट् का कर्त्तव्य है कि वह प्रजा के रोग निवारण तथा स्वास्थ्य का प्रबन्ध करे, तथा दुष्टाचारियों का नियन्त्रण करे, यथा (मन्त्र १४-१७)।

ऋषिः—**मातृनामा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, मातृनामा**॥ छन्दः—**पथ्या पङ्क्तिः**॥

ये पूर्वे वध्वो३ यन्ति हस्ते शृङ्गाणि बिभ्रतः।
आपाकेस्थाः प्रहासिनं स्तम्बे ये कुर्वते ज्योतिस्तानितो नाशयामसि॥ १४॥

अर्थ—(ये) जो [आततायी] (हस्ते) हाथों में (शृङ्गाणि) जलती-मशालों को (बिभ्रतः) धारण करते हुए [वधू के मार्ग पर] (वध्वः पूर्वे) वधू से पहले (यन्ति) पहुँच जाते हैं, तथा (प्रहासिनः) उपहास अर्थात् वधू पर ठठा-मखौल करते हुए (अपाकेस्थाः) पाकशाला में आ खड़े होते हैं, और (ये) जो (स्तम्बे) झाड़ियों में (ज्योतिः कुर्वते) आग लगा देते हैं (तान्) उन्हें (इतः) इस पृथिवी से (नाशयामसि) हम नष्ट कर देते हैं।

[**शृङ्गाणि ज्वलतो नाम** (निघं० १.१७)। वधू के विवाह में माता-पिता आदि वधू को स्त्रीधन देते हैं, तथा नाना आभूषण और वस्त्र प्रदान करते हैं। वधू, पितृगृह से जब पतिगृह जाने वाली होती है तो लुटेरे-आततायी वधू के मार्ग पर पहले पहुँच कर, मशालों द्वारा मार्गस्थ झाड़ियों में आग लगा कर वधू का मार्ग रोक कर, स्त्रीधन को लूट लेते हैं, और वधूगृह की पाकशाला में घुस कर पाकशाला में पहुँची वधू का उपहास कर, और उपहास द्वारा उसे प्रकुपित कर पहिने आभूषणों को लूटने का यत्न करते हैं, ऐसों के नाश करने का विधान मन्त्र में हुआ है। मनु ने भी कहा है कि "**आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्**" अर्थात् आततायी को आते देख कर सोच-विचार के बिना ही उस का हनन कर दे। आततायिओं में मनु ने "अग्निदः, गरदः" का भी परिगणन किया है। मन्त्र में "अग्निदः" का वर्णन "हस्ते शृङ्गाणि बिभ्रतः" द्वारा हुआ है। ऐसे "सामाजिक-मनुष्य कीटों" के हनन की विधि मन्त्र में कही है]।

ऋषिः—**मातृनामा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, मातृनामा ब्रह्मणस्पतिः**॥ छन्दः—**सप्तपदा शक्वरी**॥

येषां पश्चात्प्रपदानि पुरः पार्ष्णीः पुरो मुखा।
खलजाः शकधूमजा उरुण्डा ये च मट्मटाः कुम्भमुष्का अयाशवः।
तानस्या ब्रह्मणस्पते प्रतीबोधेन नाशय॥ १५॥

अर्थ—(येषाम्) जिन के (प्रपदानि) पादाग्र प्रदेश (पश्चात्) पीछे की ओर, और (पार्ष्णीः) एड़ियाँ (पुरः) आगे की ओर हैं, (पुरः मुखाः) और मुख पुरस्तात् अर्थात् आगे की ओर हैं। (खलजाः) जो खलों के परिवारों में पैदा हुए हैं, (शकधूमजाः) पशुओं के शकृत् अर्थात् गोबर के धूम्र से धूमिल गृहों में पैदा हुए हैं, (उरुण्डाः) और उरु अण्डों वाले हैं, (ये च) और जो (मट्मटाः) मटक-मटक कर

चलते या शृङ्गार से विभूषित [**मडि भूषायाम्**] हुए [चलते हैं] (कुम्भमुष्काः) जो कुम्भ[१] सदृश अण्डकोशों वाले हैं (अयाशवः) आशु गतिवाले हैं (ब्रह्मणस्पते) हे वेदज्ञ! [न्यायाधीश] (अस्याः) इस स्त्री सम्बन्धी (तान्) उन्हें (प्रतीबोधेन) उनके अपराधों का बोध करा कर (नाशय) नष्ट कर।

[इस मन्त्र में भी लुटेरों आदि का वर्णन है जो कि "सामाजिक मानुष-कीट" हैं। "प्रपद पीछे की ओर, और एड़ियाँ आगे की ओर द्वारा" इन की उल्टी चालों का कथन हुआ है तथा "पुरोमुखाः" द्वारा यह दर्शाया है कि ये उल्टी चालें चलते हुए निज स्वार्थ साधन के लिए, दृष्टि को आगे की ओर करके चलते हैं। खलजाः; खलः[२]=A wicked mischierous (आप्टे) "**सर्पः क्रूरः खलः क्रूरः सर्पात् क्रूरतरः खलः**"। "शकधूमजाः" द्वारा गरीबी सूचित की है। कुम्भमुष्काः द्वारा शारीरिक बल सूचित किया है। "अयाशवः"=अय (गतौ)+आशु। हिन्दी में "अय्याश" स्वभाव वाले। "ब्रह्मणस्पते" द्वारा उग्रदण्ड को, ब्रह्मज्ञ अर्थात् वेदज्ञ [न्यायाधीश] द्वारा अनुमोदित दर्शाया है]।

ऋषिः—**मातृनामा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, मातृनामा**॥ छन्दः—**पथ्या पङ्क्तिः**॥

पर्यस्ताक्षा अप्रचङ्कशा अस्त्रैणाः सन्तु पण्डगाः।
अव भेषज पादय य इमां संविवृत्सत्यपतिः स्वपतिं स्त्रियम्॥ १६॥

अर्थ—(पर्यस्ताक्षाः) इधर-उधर के विषयों में आंखे भटकाने वाले, (अप्रचङ्कशाः) अप्रशस्त गति वाले दुराचारी, या शासनविरोधी विप्लवकारी, (पण्डगाः) हिजड़ों के सदृश चालों वाले (अस्त्रैणाः सन्तु) निज स्त्रियों से विरहित कर दिए जाएँ। (यः) जो (अपतिः) पति न होता हुआ (स्वपतिं इमाम्, स्त्रियम्) निज पति वाली इस स्त्री के साथ (सं विवृत्सति) संवर्तन अर्थात् संभोग चाहता है उसे (भेषज) हे दण्डव्यवस्थारूपी औषध! तू (अवपादय) अवाङ्मुख करके पटक दे। रोगपक्ष में स्त्रीकीटों को नरकीटों से पृथक् कर देना चाहिए। ताकि नए कीट उत्पन्न न हों।

[अप्रचङ्कशाः=अप्र (अप्रशस्त) चङ्कशाः गति वाले, (**कश गतिशासनयोः**, अदादिः, यङ्लुगन्त)। अथवा अ (विरोधे) प्रचङ्कशाः (कश शासने)=प्रकर्षरूप में शासनविरोधी, विप्लवकारी। षण्डगाः=क्लीब सदृश गतिवाले, व्यवहार वाले परस्त्रीभोगियों को निज स्त्रियों से रहित करके उन्हें संभोगशून्य कर देना चाहिए। मन्त्र में वज, पिङ्ग का कथन नहीं केवल भेषज पद है]।

ऋषिः—**मातृनामा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, मातृनामा**॥ छन्दः—**सप्तपदा जगती**॥

उद्धर्षिणं मुनिकेशं जम्भयन्तं मरीमृशम्। उपेषन्तमुदुम्बलं तुण्डेलमुत शालुडम्।
पदा प्र विध्य पार्ष्ण्या स्थालीं गौरिव स्पन्दना॥ १७॥

अर्थ—(उद्धर्षिणम्) अति धृष्ट, (मुनिकेशम्) प्रवञ्चन के निमित्त मुनिवत् केशधारी (जम्भयन्तम्) हिंसाशील, (मरीमृशम्) पुनः पुनः [संभोगार्थ स्त्रियों से] परामर्श करने वाले (उपेषन्तम्) उन की समीपता चाहने वाले, (उदुम्बलम्) उग्र बल प्रयोगकारी बलात्कारी (तुण्डेलम्) मुख को बहु प्रेरित करने वाले अर्थात् बहुत बकवास करने वाले (शालुडम्) तथा अपराध कर के निज संवरण करने वाले, छिप जाने वाले को (पदा) पैरों द्वारा (प्रविध्य) ठुकरा कर फैंक दे (इव) जैसे कि (स्पन्दना) उछलने-कूदने

१. इस द्वारा पूर्ण यौवनावस्था सूचित की है। जैसे पूर्णब्रह्मचारी को "बृहच्छेपः" कहा है (अथर्व० ११.७.११)।
२. यथा "**विद्या विवादाय धनं मदाय। शक्तिः परेषां परिपीडनाय**" खलस्य.....।

वाली (गौः) गौ (पाष्र्ण्या) अपने पिछले पैर द्वारा (स्थालीम्) दूध दोहने के पात्र को ठुकरा कर फैंक देती है।

[उपेषन्तम्=उप+**इषु इच्छायाम्** (तुदादिः)। तुण्डेलम्=तुण्ड (मुख)+**इल प्रेरणे** (चुरादिः)। (शालुढम्=**शल संवरणे**) (भ्वादिः) संवरणम्=Hiding covering (आप्टे)। अथवा शलम् संवरणं वहतीति। शल्+वह (ऊढ्)]।

ऋषिः—**मातृनामा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, मातृनामा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यस्ते गर्भं प्रतिमृशाज्जातं वा मारयाति ते। पिङ्गस्तमुग्रधन्वा कृणोतु हृदयाविधम्॥ १८॥

अर्थ—(यः) जो (ते) तेरे (गर्भम्) गर्भस्थ शिशु को (प्रतिमृशात्) पीड़ित करे, (जातम्, वा) अथवा पैदा हुए (ते) तेरे बच्चे को (मारयाति) मार दे, (तम्) उसे (उग्रधन्वा) उग्र-धनुष वाला (पिङ्गः) पिङ्ग पुरुष [मन्त्र २१] (हृदयाविधम्, कृणोतु) हृदय में विद्ध कर दे।

[कामुक-पुरुष का वर्णन है, जो कि गर्भिणी के साथ बलात्कार कर के गर्भस्थ बच्चे को पीड़ित करता है, और संभोग के कारण कोई बच्चा पैदा होता है तो उसे मार देता है, ताकि भोगी का अपयश न हो। ऐसे पुरुष को बाण द्वारा हृदयाविध करा देना चाहिए। सायणाचार्य ने ''पिङ्ग'' का अर्थ किया है—''पीतसर्षप''। इस अर्थ में मन्त्र के पूर्वार्ध में रोगकीटाणु का वर्णन कविता में जानना चाहिए]।

ऋषिः—**मातृनामा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, मातृनामा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ये अम्नो जातान्मारयन्ति सूतिका अनुशेरते।
स्त्रीभागान्पिङ्गो गन्धर्वान्वातो अभ्रमिवाजतु॥ १९॥

अर्थ—(ये) जो (अम्नः जातान्) रुग्णावस्था में पैदा हुए शिशुओं को (मारयन्ति) मार देते हैं, तथा (सूतिका) अभिनव प्रसवा स्त्रियों के (अनु शेरते) संग शयन करते हैं, (स्त्रीभागान्) स्त्रीसेवी उन (गन्धर्वान्) सुगन्ध लगाए हिंसकों को (पिङ्गः) पिङ्ग [मन्त्र २१] पुरुष (अजतु) सामाजिक जीवन से प्रक्षिप्त करदे, पृथक् करके (इव) जैसे कि (वातः) प्रबल वायु (अभ्रम्) मेघ को अन्तरिक्ष से पृथक् कर देती है।

[गन्धर्वान्=गन्ध+**अर्व (हिंसायाम्**, भ्वादिः)। अम्नः=**अम रोगे** (चुरादिः)]।

ऋषिः—**मातृनामा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, मातृनामा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

परिसृष्टं धारयतु यद्धितं माव पादि तत्। गर्भं त उग्रौ रक्षतां भेषजौ नीविभार्यौ॥ २०॥

अर्थ—(परिसृष्टम्) सृष्ट अर्थात् पैदा हुए शिशु का [माता] (धारयतु) धारण-पोषण करे, (यत्) जो (हितम्) गर्भ में निहित हुआ है (तत्) वह (मा) न (अवपादि) नीचे गिरे, अर्थात् उस का गर्भपात न हो। (उग्रौ भेषजौ) दो उग्र भेषज, (नीविभार्यौ) जो कि अधोवस्त्र में धारण करने योग्य हैं—(ते) तेरे (गर्भम्) गर्भ को (रक्षताम्) सुरक्षित करें।

[माता को शिशु की सुरक्षार्थ परामर्श दिया है। नीविः=स्त्री के कटि प्रदेश का वस्त्र, या इस वस्त्र के प्रान्त भागों को परस्पर बान्धने की गांठ। भेषजौ=श्वेतपीतोभयविधौ सर्षपौ (सायण)। भार्यौ=**डुभृञ् धारणपोषणयोः**]।

ऋषिः—**मातृनामा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, मातृनामा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पवीनसात्तङ्गल्वा३च्छायकादुत नग्नकात्।

प्रजायै पत्ये त्वा पिङ्गः परि पातु किमीदिनः॥ २१ ॥

अर्थ—(पवीनसात्) वज्रधारी द्वारा विनाश से, (तङ्गल्वात् शायकात्) तीव्र-गति से छेदन करने वाले वाण से, (उत) तथा नग्नकात् भूखे-नङ्गे[१] से, (किमीदिनः) पिशुन व्यक्ति से, [हे गर्भवती स्त्री!] (प्रजायै पत्ये) सन्तानलाभ के लिए तथा पति की प्रसन्नता के लिए (पिङ्गः) "पिङ्ग" पुरुष (त्वा परिपातु) तुझे सब प्रकार से सुरक्षित करे। तङ्गल्वात्=**तगि गत्यर्थः** (भ्वादिः)+लूञ् छेदने।

[यथासम्भव मन्त्रपदों के यौगिकार्थ के द्वारा कुछ बुद्धिगम्य अर्थ किया है। सूक्त में सर्षप द्वारा शारीरिक रोगों का भी उपचार विहित है, और "पिङ्ग", पद द्वारा नागरिकों की सुरक्षा का भी वर्णन सूक्त में यत्र-तत्र मिलता है। "राजा द्वारा-नियुक्त सुरक्षावर्ग है, यह नागरिक पुलिस [स्पशाः] सदृश है। "पिङ्ग" शब्द "पिजि" धातु द्वारा निष्पन्न है जिस का अर्थ "बलादान" भी है (चुरादिः)। अतः "पिङ्ग" का अभिप्राय है "बली"। नागरिक रक्षकों को बलवान् होना ही चाहिए। ये शारीरिक शक्ति तथा शस्त्रास्त्रशक्ति द्वारा बलवान् होने ही चाहिएँ। इस दृष्टि से मन्त्र (१८) में "पिङ्ग" को "उग्रधन्वा" अर्थात् उग्र-धनुष वाला कहा है। "किमीदिने" का अर्थ निरुक्त में "पिशुनाय" किया है। पिशुन मनुष्य होते हैं रोगकीटाणु नहीं। इस से भी यह प्रतीत होता है कि मन्त्र (२१) में प्रजादुःखदायक "मनुष्यों" का ही वर्णन है जिन से गर्भिणी की रक्षा करनी है (निरुक्त ६.३.१२; पद ४४)। पवीनसात्=पवीनशात्। शकार को सकार "वर्णविकार" द्वारा। इसे "वर्णव्यापत्ति" भी कहते हैं। **पविः वज्रनाम** (निघं० २.२०)+नस=नशा (णश, दिवादिः)]।

ऋषिः—**मातृनामा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, मातृनामा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

द्व्यास्यिाच्चतुरक्षात्पञ्चपादादनङ्गुरेः। वृन्तादुभि प्रसर्पतः परि पाहि वरीवृतात्॥ २२ ॥

अर्थ—(द्व्यास्यात्[२]) दुमुही से (चतुरक्षात्) चार आंखों वाले से, (पञ्चपादात्) पांच पेरों वाले से, (अनङ्गुरेः) अङ्गुलिरहित से, (वृन्तात्) लता से (अभिप्रसर्पतः) ऊपर-नीचे सर्पण करने वाले से (वरीवृतात्) वृत्ताकार वाले अर्थात् गोलावृत्ति वाले से (परि पाहि) रक्षा कर।

[मन्त्र में कीटों द्वारा हुए भय से पूर्ण रक्षा करने का वर्णन है। मन्त्रप्रोक्त प्राणी अनुसन्धेय है। दुमुही लम्बा कीट होता है जिसके दोनों और मुँह होता है]।

ऋषिः—**मातृनामा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, मातृनामा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

य आमं मांसमदन्ति पौरुषेयं च ये क्रविः।

गर्भान्खादन्ति केशवास्तानितो नाशयामसि॥ २३ ॥

अर्थ—(ये) जो (आमम्) [स्त्री के] कच्चे (मांसम्) मांस को (अदन्ति) खाते हैं, (च) और

---

१. भूखे नंगों द्वारा धनप्राप्ति के लिए, आक्रमण की सम्भावना रहती है। अतः नग्नकात् का वर्णन हुआ है।
२. मन्त्र में "द्व्यास्य" आदि ६ प्रकार के कीटों का वर्णन हुआ है। ये कीटाणु नहीं। इन में से किसी द्वारा प्राप्त शरीर-विकार को सर्षप के बीज ठीक करते हैं। अनङ्गुरि द्वारा सांप और गण्डोए अभिप्रेत हैं। इन दोनों के न तो पैर होते हैं, न हाथ। अतः ये अनङ्गुरि हैं, अंगुलियों से रहित हैं।

(ये) जो (पौरुषेयम्) पुरुष के (क्रविः) हिंसा प्राप्त मांस को खाते हैं, तथा (केशवाः) जल, वायु तथा शरीर में गति करने वाले जो कीटाणु (गर्भान् खादन्ति) स्त्री के गर्भस्थ शिशुओं को खाते हैं, (तान्) उन कीटाणुओं को (इतः) इस उत्पत्ति स्थान से (नाशयामसि) हम नष्ट करते हैं।

[स्त्री और पुरुष के कच्चे मांस के खाने का अभिप्राय है—उन्हें रुग्ण करके उन्हें सुखा देना। इसी प्रकार गर्भस्थ बच्चे को पुष्ट न होने देने द्वारा उसे सुखा देना। ये काम रोगजनक कीटाणुओं [germs] के हैं। ये रोगजनक कीटाणु जल आदि में पैदा होते तथा गति करते रहते हैं। केशवाः=क (Air, Body, Water, आप्टे)+शवाः (**शु गतौ,** भ्वादिः)। क्रविः=**कृवि हिंसाकरणयोश्च** (भ्वादिः)।

ऋषिः—**मातृनामा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, मातृनामा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ये सूर्यात्परिसर्पन्ति स्नुषेव श्वशुरादधि।

बजश्च तेषां पिङ्गश्च हृदयेधि नि विध्यताम्॥ २४॥

अर्थ—(ये) जो (सूर्यात् परि) सूर्य का परिवर्जन कर के (सर्पन्ति) सर्पण करते हैं, (इव) जैसे कि (स्नुषा) पुत्रवधू (श्वशुरात्) श्वशुरा से (अधि) परे-परे विचरती है, (बजः च पिङ्गः च) वज और पिङ्ग (तेषाम्) उनके (हृदयेऽधि) हृदय में (नि विध्यताम्) नितरां वेधन करें।

[सूर्यात् परि=सूर्यं वर्जयित्वा। **अपपरी वर्जने** (अष्टा० १.४.८९)। सूर्य की रश्मियों में रोगकीटाणु मर जाते हैं अतः वे निज जीवनार्थ सूर्य रश्मियों को वर्जित कर सर्पण करते हैं। (अथर्व० २.३२.१)। वजः, पिङ्गः=भूरे तथा श्वेत सर्षप=सरसों के बीज। मन्त्र में रोगकीटाणुओं का वर्णन है। तथा चोर आदि का भी जो कि सूर्य को परिवर्जित कर के रात्रीकाल में चौर्य आदि कर्म करते हैं। इस अभिप्राय में "वजः"=वाजः=बलशाली (निघं० २.९)। पिङ्ग अर्थात् रक्षक राजपुरुष (मन्त्र २१)। "पिङ्ग" के साहचर्य से "वज" का अभिप्राय है रक्षकवर्ग के साथ गति करने वाले अन्य बलशाली सहायक। **वज व्रज गतौ** (भ्वादिः)।

ऋषिः—**मातृनामा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, मातृनामा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

पिङ्ग रक्ष जायमानं मा पुमांसं स्त्रियं क्रन्।

आण्डादो गर्भान्मा दभन्बाधस्वेतः किमीदिनः॥ २५॥

अर्थ—(पिङ्ग) हे पिङ्ग सर्षप! (जायमानम्) पैदा होते हुए शिशु को (रक्ष) सुरक्षित कर, (पुमांसम्) गर्भस्थ पुमान् को [रोगकारी शक्तियां] (स्त्रियम्) स्त्रीरूप में (मा क्रन्) न परिणत कर दें। तथा (आण्डादः) अण्डभक्षक रोगकीटाणु (गर्भान्) गर्भस्थ शिशुओं की (मा दभन्) हिंसा न करें, (किमीदिनः) पिशुन [मन्त्र २१] शक्तियों को (इतः) इस गर्भिणी से (बाधस्व) हे पिङ्ग! तू पीड़ित कर।

[मनुष्य समाज में कभी-कभी यह घटना हो जाती है कि जो पहले पुमान् था वह कालान्तर में स्त्री घोषित किया जाता है, और जो स्त्री थी वह पुमान् घोषित की जाती है। इन में लिङ्ग परिवर्तन हो जाता है। सायण ने निम्नलिखित अर्थ भी दिया है, "**जायमानं पुमासं, जायमानां स्त्रियं वा मा कुर्वन्तु, पीडायामिति शेषः**"। लिङ्गपरिवर्तन सम्बन्धी यह अर्थ "पिङ्ग" अर्थात् गौर सर्षप सम्बन्धित है।

"पिङ्ग" का अर्थ राज्यरक्षक [मन्त्र २१] तथा "किमीदिनः" का अर्थ "पिशुन" होने पर मन्त्र का भाव निम्नलिखित होगा। हे पिङ्ग! तू जायमान शिशु की रक्षा कर ताकि कोई माता उत्पन्न होते हुए

शिशु की हत्या न कर पाए, तथा कोई व्यक्ति पुमान् को डरा-धमका कर स्त्री न करे, उसे निःशक्त अबलारूप न कर दे, अर्थात् बली निर्बल को दबा न सके। तथा अण्ड-भक्षक, पक्षियों की उत्पत्ति के कारण रूप, अण्डों को न खाएँ]।

ऋषिः—**मातृनामा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, मातृनामा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अप्रजास्त्वं मार्तवत्समाद्रोदमघमावयम्।
वृक्षादिव स्त्रजं कृत्वाप्रिये प्रति मुञ्च तत्॥ २६॥

अर्थ—(अप्रजास्त्वम्) प्रजा का न होना, (मार्तवत्सम्) मृतपुत्र का पैदा होना, (आत्) तदनन्तर (रोदम्) रोना, (अघम्) पाप [जिस कारण अप्रजास्त्व आदि पैदा होते हैं] उनका (आ वयम्) सदा बुनते रहना, [जैसे कि पट को बुना जाता है], इन सब अप्रजास्त्व आदि को, (वृक्षात्) वृक्ष [के पुष्पों से] (स्त्रजं कृत्वा इव) रची मालारूप[१] कर के, (तत्) उसे (अप्रिये) अप्रियपक्ष में (प्रतिमुञ्च) डाल। आवयम्=असकृद् वयनम् (सायण)।

[गृहस्थ जीवन में अप्रजास्त्व, मार्तवत्स, तथा इन के कारण रोदन तथा इन की सत्ता का कारण पाप और इस पाप-पट का आवयन अर्थात् बुनते रहना, मानो यह मालारूप है। इन सब को परस्पर सम्बन्धी जान कर सब का उच्छेद साथ-साथ करना चाहिए, एक-एक का पृथक्-पृथक् काल में नहीं। राष्ट्रोन्नति के लिए इन सब का उच्छेद आवश्यक है। "अप्रजास्त्व" आदि की सत्ता में कारणीभूत पाप "द्विविध" है। (१) दुराचारियों के पापमय कर्म। (२) तथा गृहजीवन में अतिभोग और अमर्यादित भोग, पति और पत्नीकृत। यह भी पापमय है।

सूक्त ६ सम्बन्धी व्याख्या

सूक्त ६ में वर्णित वज और पिङ्ग को सर्षप मान कर विशेष व्याख्या। सायणाचार्य ने श्वेत-और-पीत, तथा श्वेत-और-गौर सर्षपों को वज-और पिङ्ग कहा है। "वज" नामक सर्षप को "दुर्णामा" कीटों तथा कीटाणुओं का हननकारी कहा है, और पति-या-गौर सर्षप को "सुनामा" कहा है। दोनों प्रकार के सर्षपों का वर्णन आयुर्वेद के ग्रन्थों में मिलता है। दोनों प्रकार के सर्षप दो जाति के सरसों-बीज हैं। यथा "सरसों के पौधे का बीज कुछ ललाई लिए हुए पीले रङ्ग के होते हैं। एक जाति के सरसों के बीज सफेद होते हैं। लाल और सफेद सरसों समान ही गुण वाली होती हैं। किन्तु तो भी सफेद सरसों, लाल की अपेक्षा उत्तम होती है। इन दोनों के गुणावगुण नाना वर्णित हुए हैं। परन्तु यहां वे ही लिखे जाते हैं जिन का सम्बन्ध सूक्त ६ के विषय के साथ सम्बद्ध है। "यथा" ये कृमिनाशक तथा गृह-पीड़ा अर्थात् स्त्री सम्बन्धी पीड़ा अर्थात् स्त्री सम्बन्धी पीड़ाओं को दूर करते, तथा विष नाश करते हैं। सरसों का रस और पाक राक्षस बाधा, कृमि, और गृह की बाधा दूर करता है। "सरसों को पीस कर उस का शाफा बना कर, मासिकधर्म के स्नान के पश्चात् तीन दिन तक योनि में रखने से गर्भधारण होता है" (वनौषधि चन्द्रोदय, चन्द्रराज भण्डारी, विशारद, ज्ञानमन्दिर, भानपुरा)।

तृतीय अनुवाक समाप्त॥

---

१. अर्थात् जैसे वृक्ष से प्राप्त पुष्पों की माला रच कर प्रिय को पहनाई जाती है, अप्रजास्त्व, मृतवत्सत्व, रोद और अघरूपी पुष्पों की माला को तू अप्रियपक्ष में डाल, अर्थात् इस "पापमयी" माला को अप्रिय जान कर गृहस्थ जीवन में तू इस का परित्याग कर दे।

सूक्त ७

विषय-प्रवेश

१—यक्ष्म से त्राणसम्बन्धी ओषधियाँ (मन्त्र १, २, ५, १५)।

२—पाप का फल, यक्ष्म (मन्त्र ३, २८)।

३—पुरुषजीवनी ओषधियाँ (मन्त्र ४)।

४—ओषधियों की भस्में (मन्त्र ८)।

५—बलास रोगनाशक ओषधियाँ (मन्त्र १०)।

६—ग्राम्यपशुओं का त्राण (मन्त्र ११)।

७—अमृतभोजन=दुग्ध, घृत, अन्न (मन्त्र १२)।

८—व्याघ्रनामक औषध (मन्त्र १४)।

९—हृदयकल्याणकारी औषध (मन्त्र १७)।

१०—रोगनाशक=पीपल, दर्भ, सोम, जल, हविः, व्रीहि, यव (मन्त्र २०)।

११—पशु, पक्षी, सांप आदि द्वारा ज्ञात ओषधियों का संग्रह करना (मन्त्र २३-२६)।

१२—पञ्चशल (वाणों), दशशल (वाणों) द्वारा जन्य रोग (मन्त्र २८)।

अनुवाक ४

सूक्त ७

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भैषज्यम्, आयुष्यम्, ओषधयः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

या बभ्रवो याश्च शुक्रा रोहिणीरुत पृश्नयः।

असिक्नीः कृष्णा ओषधीः सर्वा अच्छावदामसि॥ १॥

अर्थ—(याः) जो (बभ्रवः) भूरे रङ्ग की या भरण-पोषण करने वाली, (याः च) और जो (शुक्राः) सफेद या वीर्यवर्धिका, (रोहिणीः) लाल या घाव को भरने वाली, (उत) और (पृश्नयः) चित्रविचित्र वर्ण वाली, (असिक्नीः) न शुक्ल न काली (कृष्णाः) काली (ओषधीः) ओषधियाँ हैं (सर्वाः) उन सब को (अच्छावदामसि) हम कहते हैं कि वे चिकित्सा में अच्छी हैं, श्रेष्ठ हैं, या तुम्हारे प्रति हम कथन कहते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भैषज्यम्, आयुष्यम्, ओषधयः**॥ छन्दः—**उपरिष्टाद् भुरिक् बृहती**॥

त्रायन्तामिमं पुरुषं यक्ष्माद्देवेषितादधि।

यासां द्यौष्पिता पृथिवी माता समुद्रो मूलं वीरुधां बभूव॥ २॥

अर्थ—(देवेषितात्) [दोषयुक्त] इन्द्रियों तथा दूषित जल-वायु अन्न से प्रेषित हुए, भेजे गये प्रेरित हुये। (यक्ष्मात्) यक्ष्म से (इमम्) इस (पुरुषं) पुरुष को (अधि त्रायन्ताम्) वे सुरक्षित करें। (वीरुधाम्) विविध प्रकार की पैदा हुई ओषधियाँ (यासाम्) जिन का कि (पिता) उत्पादक (द्यौः) द्युलोक है, (माता) माता (पृथिवी) पृथिवी है, और (मूलम्) मूल (समुद्रः बभूव) समुद्र हुआ है।

[देव=इन्द्रियाँ तथा प्राकृतिक तत्त्व। ये जब दूषित हो जाते हैं तो यक्ष्म आदि रोग उत्पन्न हो जाते

हैं। दूषित=प्रेषित। वीरुधाम्=वि+**रुह (जन्मनि प्रादुर्भावे च)**। विविध प्रकार की उत्पन्न लताएँ, ओषधियां, वनस्पतियाँ। समुद्रः=अर्थात् जो जलप्राय प्रदेशों या समुद्र में या समुद्र-समीपवर्ती प्रदेशों में उत्पन्न हुई हैं]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भैषज्यम्, आयुष्यम्, ओषधयः**॥ छन्दः—**पुर उष्णिक्**॥

आपो अग्रं दिव्या ओषधयः। तास्ते यक्ष्ममेनस्य१मङ्गादङ्गादनीनशन्॥ ३॥

अर्थ—(आपः) जल हैं (अग्रम्) सर्वश्रेष्ठ (दिव्याः ओषधयः) दिव्य ओषधियाँ (ताः) वे (ते) तेरे (एनस्यम् यक्ष्मम्) पाप-जनित यक्ष्म को, (अङ्गात्, अङ्गात्) प्रत्येक अङ्ग से (अनीनशन्) नष्ट करें, या इन्होंने नष्ट कर दिया है।

[एनस्यम्=यक्ष्म आदि रोग पुरुष के पापकर्मों से उत्पन्न होते हैं, चाहे वे दूषित इन्द्रियों द्वारा प्राप्त हुए हों, या दूषित प्राकृतिक तत्त्वों द्वारा। मन्त्र में जलचिकित्सा को सर्वोत्तम दर्शाया है।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भैषज्यम्, आयुष्यम्, ओषधयः**॥ छन्दः—**पञ्चपदा परानुष्टुबतिजगती**॥

प्रस्तृणती स्तम्बिनीरेकशुङ्गाः प्रतन्वतीरोषधीरा वदामि।

अंशुमतीः काण्डिनीर्या विशाखा ह्वयामि ते वीरुधो वैश्वदेवीरुग्राः पुरुषजीवनीः॥ ४॥

अर्थ—(प्रस्तृणतीः) छत्राकार, (स्तम्बिनीः) झाड़ीरूप (एकशुङ्गाः) एक उपादान कारण वाली, (प्रतन्वतीः) तान-प्रतानों अर्थात् शाखा-प्रशाखाओं वाली, (अंशुमतीः) छोटी-छोटी शाखाओं वाली, (काण्डिनीः) अनेक गांठों या बड़े तनों वाली (याः विशाखाः) और जो शाखा विरहित, (वैश्वदेवीः) सूर्य, भूमि, जल आदि सब देवों के सम्बन्ध वाली, उन से उत्पन्न (पुरुष-जीवनीः) पुरुष को जीवन देने वाली (उग्राः) बलशाली (वीरुधः) विरोहण करने वाली (ओषधीः) ओषधियाँ हैं, उन्हें (ते आवदामि) मैं तेरे लिए कहता हूँ, उनका कथन करता हूं, इसलिए (ह्वयामि) तुझे अपने समीप बुलाता हूँ।

[ओषधियाँ गुणों और आकृतियों में नानाविध हैं, और इन के उत्पादक तत्त्व भी नानाविध हैं, परन्तु उपादान कारण की दृष्टि से वे एकविध हैं, एकरूप। इन का उपादान कारण एक है, प्रकृति; और उत्पादक एक है, परमेश्वर। "शुङ्ग" का अभिप्राय है उपादान कारण या मूल कारण (छान्दोग्य० उप० अध्याय ६। खण्ड ८। संदर्भ ३-६)।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भैषज्यम्, आयुष्यम्, ओषधयः**॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः**॥

यद्वः सहः सहमाना वीर्यं१ यच्च वो बलम्।

तेनेममस्माद्यक्ष्मात्पुरुषं मुञ्चतौषधीरथो कृणोमि भेषजम्॥ ५॥

अर्थ—(सहमानाः) रोगों का पराभव करने वाली हे ओषधियो! (यत्) जो (वः) तुम्हारा (सहः) पराभवबल है, (वीर्यम्) उत्तम परिणामोत्पादक शक्ति है, (यत् च) और जो (वः) तुम्हारा (बलम्) बल है, (तेन) तद्-द्वारा (इमम् पुरुषम्) इस पुरुष को (अस्मात् यक्ष्मात्) इस यक्ष्म से (ओषधीः) हे ओषधियो! तुम (मुञ्चत) मुक्त करो, (अथो) अब (भेषजम् कृणोमि) औषधोपचार मैं करता हूँ [यक्ष्म निराकरणार्थ]।

[ओषधियों और ओषधियों के गुणों के जानने वाला वैद्य, इन दोनों के सहचार से, औषधोपचार होना चाहिए]।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भैषज्यम्, आयुष्यम्, ओषधमः** ॥ छन्दः—**विराड्गर्भा भुरिक्पथ्यापङ्क्तिः** ॥

जीवलां नघारिषां जीवन्तीमोषधीमहम्।

अरुन्धतीमुन्नयन्तीं पुष्पां मधुमतीमिह हुवेस्मा अरिष्टतातये॥ ६ ॥

अर्थ—(जीवलाम्) प्राणप्रदा, (नघारिषाम्) न हनन और न हिंसन करने वाली, (जीवन्तीम्) जीवित (ओषधीम्) ओषधि को, तथा (अरुन्धतीम्) अभिमतफल का अवरोध न करने वाली, या घावों को भरने वाली (उन्नयन्तीम्) स्वास्थ्यवर्धनी (पुष्पाम्) जीवन को विकसित करने वाली, (मधुमतीम्) मधुर ओषधि को (इह) इस चिकित्सा कर्म में (अहम्) मैं (हुवे) आहूत करता हूँ, (अस्मै अरिष्टतातये) इस रुग्ण के लिए, अहिंसार्थ।

[जीवलाम्="**जीव**" **प्राणधारणे**+"**ला**" **आदाने**। जीवन्तीम्=ताजी न कि शुष्क हुई। अरुन्धतीम्= अ+रुधिर् आवरणे (रुधादिः)। न अवरोध करने वाली, सफलता प्रदान करने वाली या अरुस्=घाव+**धेट्** (**पाने**) घाव को पी जाने वाली। पुष्पाम्=**पुष्प विकासे** (दिवादिः)। अथवा "जीवलाम्" आदि पृथक्-पृथक् ओषधियाँ हैं। हुवे=इनका आह्वान=इन्हें प्राप्त करना। कविता में "हुवे" पद प्रयुक्त है। अथवा "**अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखविवर्जिताः**" (मनु०) मनु के इस कथनानुसार ओषधियों को चेतन जान कर "हुवे" पद का प्रयोग हुआ है]।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भैषज्यम्, आयुष्यम्, ओषधयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

इह यन्तु प्रचेतसो मेदिनीर्वचसो मम। यथेमं पारयामसि पुरुषं दुरितादधि॥ ७॥

अर्थ—(प्रचेतसः) चेतना देने वाली (मेदिनीः) मेदस् वाली ओषधियाँ (मम) मेरे (वचसो[1]= वचसा+उ) कथनानुसार (इह) यहां अर्थात् मेरे पास (आ यन्तु) आ जाएँ, (यथा) जिस से कि (इमम्, पुरुषम्) इस पुरुष को (दुरितात्) बुरे कर्मों द्वारा प्राप्त यक्ष्म रोग से (अधि पारयामसि) हम पार कर दें। मेदिनीः=मेदस्वतीः।

[मन्त्र में, ओषधियों और उन के गुणों के ज्ञाता का साहचर्य, रोगी को नीरोग करने में अपेक्षित दर्शाया है। यक्ष्म रोग दुष्कर्मों का फल है। यह सिद्धान्त "**एनस्यं यक्ष्मम्**" (मन्त्र ३) द्वारा भी कथित हुआ है। "प्रचेतसः" द्वारा ओषधियाँ भी अभिप्रेत हो सकती हैं, ओषधियों को चेतन सा जान कर (मन्त्र ६)। "आ यन्तु" द्वारा चिकित्सक, निज सेवक को निर्देश देता प्रतीत होता है, कि यक्ष्मरोग की सब ओषधियां, समय पर, मेरे पास ला दो]।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भैषज्यम्, आयुष्यम्, ओषधयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अग्नेर्घासो अपां गर्भो या रोहन्ति पुनर्णवाः।

ध्रुवाः सहस्रनाम्नीर्भेषजीः सन्त्वाभृताः॥ ८ ॥

अर्थ—(अग्नेः घासः) अग्नि के भक्ष्य, (अपाम् गर्भः) जलों के गर्भीभूत अर्थात् जलप्रधान प्रदेशों, अनूप प्रदेशों में उत्पन्न, (याः) जो (पुनर्णवाः रोहन्ति) पुनः पुनः नवीन पैदा होने वाली, अर्थात् प्रतिवर्ष नई पैदा होने वाली, (ध्रुवाः) स्थिर परिणाम पैदा करने वाली, (सहस्रनाम्नीः) विविध नामों वाली

१. अर्थदृष्ट्या "वचसा, उ" ऐसा पदच्छेद किया है। पदपाठ "वचसः" है।

(भेषजीः) ओषधियाँ हैं वे, (आभृताः सन्तु) आहृताः सन्तु, लाई जाएँ। यथा "इहायन्तु" (मन्त्र ७)।

[अग्नेः घासः=इस के दो अभिप्राय सम्भव हैं, (१) अग्नि अर्थात् जाठराग्नि को प्रदीप्त करने वाली ओषधियां। (२) अग्नि द्वारा भस्म में परिवर्तित की जाने वाली ओषधियां, भस्मरूप ओषधियां। अपां गर्भः=**समुद्रो मूलं वीरुधाम्** (मन्त्र २), जोकि जलीय प्रदेशों में पैदा हुई हैं, उन ओषधियों की भस्म। मन्त्र में "पुनर्णवाः" द्वारा नवोत्पन्न "पुनर्णवा" ओषधि भी सूचित की गई है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भैषज्यम्, आयुष्यम्, ओषधयः**॥ छन्दः—**द्विपदाऽऽर्ची भुरिगनुष्टुप्**॥

अवकोल्बा उदकात्मान ओषधयः। व्यृषन्तु दुरितं तीक्ष्णशृङ्ग्यः॥ ९॥

अर्थ—(अवकोल्बाः) काई से लिपटी हुई, (उदकात्मानः) जलोत्पन्न, (तीक्ष्णशृङ्ग्यः) तीक्ष्ण काटों वाली (ओषधयः) ओषधियां, (दुरितम्) दुष्कर्मों द्वारा प्राप्त [यक्ष्म] को (व्यृषन्तु) विगत करें, दूर करें। उल्ब=गर्भस्थ शिशु पर लिपटी हुई झिल्ली।

[व्यृषन्तु=वि+**ऋषी गतौ** (तुदादिः), विगत करें। दुरितम्=दुर् (बुरे कर्मों द्वारा)+इतम् (प्राप्त)। रोगों का मूल कारण है, पाप। यथा "यक्ष्मम्, एनस्यम्" (मन्त्र ३)। "अवका" अर्थात् कई उदक में पैदा होती है। अतः ये ओषधियाँ उदकात्मा हैं। "तीक्ष्णशृङ्गी" ओषधियाँ भी यक्ष्म निवारक हैं]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भैषज्यम्, आयुष्यम्, ओषधयः**॥ छन्दः—**पथ्या पङ्क्तिः**॥

उन्मुञ्चन्तीर्विवरुणा उग्रा या विषदूषणीः।
अथो बलासनाशनीः कृत्यादूषणीश्च यास्ता इहा यन्त्वोषधीः॥ १०॥

अर्थ—(उन्मुञ्चन्तीः) रोग से मुक्त करती हुईं, (विवरुणाः) वारुण्य रोगों को विरहित करने वाली, (उग्राः) उद्गूर्ण बलशाली, (याः) जो (विषदूषणीः) विषापहारी, (अथो) और (बलासनाशनीः) श्लेष अर्थात् कफरोग का नाश करने वाली, (याः च कृत्यादूषणीः) और जो हिंस्रक्रियाजन्य कष्टों को दूर करने वाली हैं, (ताः) वे (ओषधीः) ओषधियाँ (इह) यहां अर्थात् मेरे पास (आ यन्तु) आ जाएँ, मुझे प्राप्त हो जाएँ।

[विवरुणाः=वरुण के पाशों का वर्णन; देखो अथर्व० (४.१६.१-९); अथवा वरुण है जल, अतः जलीय रोगों से रहित करने वाली ओषधियां। जलोदर रोग जलीय है। जलप्राय प्रदेशों में होने वाले रोग भी जलीय हैं। "बलास" है कफ तथा कफोत्पन्न रोग। कफ बलास है, बल को क्षीण करता है, बल+**असु क्षेपणे** (दिवादिः)]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भैषज्यम्, आयुष्यम्, ओषधयः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अपक्रीताः सहीयसीर्वीरुधो या अभिष्टुताः।
त्रायन्तामस्मिन्ग्रामे गामश्वं पुरुषं पशुम्॥ ११॥

अर्थ—(अपक्रीताः) खरीदी गईं, (सहीयसीः) बलशालिनी या रोगों का पराभव करने वालीं, (अभिष्टुताः) मन्त्रों में स्तुत हुईं, (याः) जो (वीरुधः) विरोहण करने वाली लताएँ आदि ओषधियाँ हैं, वे (अस्मिन् ग्रामे) इस ग्राम में (गाम् अश्वं पुरुषं पशुं) गौ, अश्व, पुरुष आदि तथा अन्य पशुजगत् की (त्रायन्ताम्) पालना तथा रक्षा करें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भैषज्यम्, आयुष्यम्, ओषधयः**॥ छन्दः—**पञ्चपदा विराडतिशक्वरी**॥

मधुमन्मूलं मधुमदग्रमासां मधुमन्मध्यं वीरुधां बभूव। मधुमत्पर्णं
मधुमत्पुष्पमासां मधोः संभक्ता अमृतस्य भक्षो घृतमन्नं दुह्रतां गोपुरोगवम्॥ १२॥

अर्थ—(आसाम् वीरुधाम्) इन विरोहणशील लता आदि का (मूलम्, मधुमत्) मूल अर्थात् जड़ मधुर, (अग्रम्) अगला भाग (मधुमत्) मधुर, (मध्यम्, मधुमत्) मध्यभाग मधुर (बभूव) हुआ है। (आसाम्) इन का (मधुमत् पर्णम्) पत्ता मधुर, (पुष्पम् मधुमत्) फूल मधुर है; (मधोः संभक्ता) मधु-भीनी तथा मधु देने वाली ये ओषधियाँ (अमृतस्य भक्षः) अमृतभोजन रूप हैं, ये ओषधियाँ (गोपुरोगवम्) गोदुग्ध जिन में अग्रगामी है ऐसे (घृतम्, अन्नम्) घी और अन्न का (दुह्रताम्) दोहन करें, प्रदान करें।

[मन्त्र में घृत, अन्न, तथा गोदुग्ध को अमृतभोजन कहा है। इन में भी गोदुग्ध सर्वश्रेष्ठ है। गोपुरोगवम्=गो (दुग्ध)+पुरः, गवम्)। यथा "**अथाप्यस्यां ताद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति** "**गोभिः श्रीणीत मत्सरम्**" (ऋ० ९.४६.४) **इति पयसः**" (निरुक्त २.२.५)। सभी ओषधियों के अङ्ग-प्रत्यङ्ग, यद्यपि आस्वादन में मधुमत् नहीं होते, परन्तु यतः इन का सेवन, मधुर परिणामी होता है, अतः इनका वर्णन मधुमत्-रूप में हुआ है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भैषज्यम्, आयुष्यम्, ओषधयः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यावतीः कियतीश्चेमाः पृथिव्यामध्योषधीः
ता मा सहस्रपर्ण्यो मृत्योर्मुञ्चन्त्वंहसः॥ १३॥

अर्थ—(यावतीः कियतीः च) जितनी-कितनी भी (इमाः) ये (ओषधीः) ओषधियाँ (पृथिव्याम् अधि) पृथिवी में हैं, (ताः) वे (सहस्रपर्ण्यः) हजारों पत्तों वाली, या सहस्रविधि से पालने वाली, (मा) मुझे (मृत्योः) मृत्यु से, (अंहसः) और मृत्यु के कारणभूत पाप से (मुञ्चन्तु) छुड़ा दें।

[सहस्रपर्ण्यः=सहस्र+पर्णी (पत्तों वाली); अथवा सहस्र+पर्णी (**पॄ पालने**) हजारों का पालन करने वाली। मन्त्र द्वारा यह द्योतित होता है कि औषध-सेवन द्वारा पापकर्मों में प्रवृत्ति का भी शमन होता है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भैषज्यम्, आयुष्यम्, ओषधयः**॥ छन्दः—**उपरिष्टाद् निचृद् बृहती**॥

वैयाघ्रो मणिर्वीरुधां त्रायमाणोभिशस्तिपाः।
अमीवाः सर्वा रक्षांस्यप हन्त्वधि दूरमस्मत्॥ १४॥

अर्थ—(वीरुधाम्) विरोहण स्वभाववाली लता आदि में, (वैयाघ्रः) वैयाघ्र वीरुध् (मणिः) सर्वश्रेष्ठ रत्न है, (त्रायमाणः) यह मणि पालन करता, (अभिशस्तिपाः) तथा रोगजन्य हिंसा से रक्षा करता है। (अमीवाः) रोगों या रोगकीटाणुओं, तथा (सर्वा रक्षांसि) सब राक्षसी कर्मों का (अप हन्तु) यह हनन करे, और उन्हें (अस्मत् अधि) हम से (दूरम्) दूर करे। अमीवाः=**अम रोगे** (चुरादिः)।

[वैयाघ्रः; व्याघ्र का अभिप्राय है "कास्टर-आयल का पौधा"। यथा "व्याघ्रः" "The red variety of the castor-oil" (आप्टे)। व्याघ्र एव वैयाघ्रः (स्वार्थे अण्)। व्याघ्र ओषधि को मणि कहा है, यह वीरुधों में श्रेष्ठ है। यथा "**जातौ जातौ यदुत्कृष्टं तद्रत्नमभिधीयते**" (मल्लिनाथ)। तथा मणिः= "Any thing best of its kind" (आप्टे)। कास्टर आयल पौधे को मणि इसलिए कहा है कि बद्धकोष्ठता [कब्ज] के लिए यह सर्वोत्तम तैल है। रोगों का कारण बद्धकोष्ठता [कब्ज] है। कोष्ठ के ठीक रहने पर

रोग प्रायः नहीं होते। व्याघ्रपदघटित अन्य आषधियाँ भी हैं, यथा व्याघ्रपुच्छ, व्याघ्रपात् (वनौषधि चन्द्रोदय, चन्द्रराजभण्डारी, विशारद)। अथवा "व्याघ्र इव वैयाघ्रः" व्याघ्रवत् रोगों पर आक्रमणकारी]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भैषज्यम्, आयुष्यम्, ओषधयः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सिंहस्येव स्तनथोः सं विजन्तेग्नेरिव विजन्त आभृताभ्यः।

गवां यक्ष्मः पुरुषाणां वीरुद्भिरतिनुत्तो नाव्या एतु स्रोत्याः॥ १५॥

अर्थ—(आभृताभ्यः=आहृताभ्यः) लाई हुई वीरुधों से (सं विजन्ते) भय से कांप जाते हैं रोग; (इव) जैसे (सिंहस्य स्तनथोः) सिंह की गर्जना से [वन्य पशु आदि], तथा (इव) जैसे (अग्नेः) अग्नि से पशु आदि सम्यक् रूप में [भय से] (विजन्ते) कांप जाते हैं, (गवाम् पुरुषाणाम्) गौओं और पुरुषों का (यक्ष्मः) यक्ष्म रोग, इसी प्रकार (वीरुद्भिः) वीरुधों द्वारा (नुत्तः) धकेला गया, (नाव्याः स्रोत्याः) नौका द्वारा पार करने योग्य नदियों को (अति एतु) अतिक्रान्त कर चला जाए। अर्थात् जैसे मनुष्य नौका द्वारा गहरी और तेज नदियों से पार हो जाते हैं, वैसे यक्ष्म आदि रोग वीरुधों द्वारा शारीरिक नस-नाड़ियों से पार हो जाते हैं (देखो अथर्व० ८.५.९)।

[मन्त्र १४ में वैयाघ्र का वर्णन हुआ है, और मन्त्र १५ में सिंह की स्तनथु अर्थात् स्तनयित्नु का, गर्जन का]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भैषज्यम्, आयुष्यम्, ओषधयः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

मुमुचाना ओषधयोग्नेर्वैश्वानरादधि।

भूमिं सन्तन्वतीरित यासां राजा वनस्पतिः॥ १६॥

अर्थ—(वैश्वानरात्, अग्नेः अधि) वैश्वानर अर्थात् पार्थिव अग्नि से (मुमुचानाः) मुक्त हुईं (ओषधयः) हे ओषधियो (भूमिम्) भूमि को [अभिलक्ष्य] लक्षित कर (संतन्वतीः) फैलती हुईं (इत) तुम आओ, (यासाम्) जिनका कि (राजा) अध्यक्ष (वनस्पतिः[1]) वनों का पालक है, रक्षक है।

[राष्ट्र द्वारा वनों की रक्षा के लिए, वनाध्यक्ष नियत होना चाहिए, जो कि वनों की रक्षा करे, और पार्थिक अग्नि से इन्हें बचाए। विश्वानर हैं विद्युत् और सूर्य। इन से पार्थिव अग्नि पैदा होती है, अतः पार्थिव अग्नि वैश्वानर है। इस सम्बन्ध में देखो निरुक्त (७.६.२१ से ७.६.२३)। वनस्पतिः="वनस्य[1] पतिः" वन का रक्षक, अध्यक्ष या राजा मनुष्य, न कि कोई महावृक्ष। इस अध्यक्ष की दृष्टि से कहा है कि "वनानां पतये नमः" (यजुः० १६.१८)। नमस्कार अध्यक्ष को किया है, न कि किसी महावृक्ष को अर्थात् विना पुरुषों के फलदायी वृक्ष को। यथा "तैरपुष्पाद् वनस्पतिः"]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भैषज्यम्, आयुष्यम्, ओषधयः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

या रोहन्त्याङ्गिरसीः पर्वतेषु समेषु च।

ता नः पयस्वतीः शिवा ओषधीः सन्तु शं हृदे॥ १७॥

अर्थ—(याः) जो (आङ्गिरसीः) "शरीर और अङ्गों में प्राणरूपी रस की उत्पादिका" (ओषधीः) ओषधियाँ (पर्वतेषु, समेषु, च) पर्वतों और समतलों में (रोहन्ति) प्रादुर्भूत होती हैं (ताः) वे ओषधियाँ

---

१. जात्येकवचन। अभिप्राय है राष्ट्र के सब वनों का पति।

जोकि (पयस्वतीः) रसवाली हैं (नः) हमारे (हृदे) हृदयों के लिए (शिवा) कल्याणकारिणी तथा (शम्) सुखदायक और रोगशामक (सन्तु) हों।

[आङ्गिरसीः, "**आङ्गिरसोऽङ्गानां हि रसः, प्राणो वा अङ्गानां रसः**" (बृहद्० उप० १.३.१९)। पयस्वतीः=पयः दुग्धम्, तद्वत् रसों वाली]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भैषज्यम्, आयुष्यम्, ओषधयः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

याश्चाहं वेद वीरुधो याश्च पश्यामि चक्षुषा।

अज्ञाता जानीमश्च या यासु विद्म च संभृतम्॥ १८॥

सर्वाः समग्रा ओषधीर्बोधन्तु वचसो मम।

यथेमं पारयामसि पुरुषं दुरितादधि॥ १९॥

अर्थ—(याः च) जिन (वीरुधः) ओषधियों को (अहम् वेद) मैं [वैद्य] जानता हूं, (याः च) और जिन्हें (चक्षुषा) निज आंख द्वारा (पश्यामि) मैं देखता हूं, (अज्ञाताः) जो अभी नहीं जानीं, (याः जानीमः, च) और जिन्हें हम जानते हैं, (यासु च) और जिन में (संभृतम्) [रसामृत] भरा हुआ या संहृत अर्थात् एकत्रित हुआ (विद्म) हम वैद्य जानते हैं॥ १८॥

(सर्वाः) ये सब (समग्राः) मिली हुईं (ओषधीः) ओषधियाँ (मम) मेरे (वचसः) कथन को (बोधन्तु) जानें (यथा) जिस प्रकार कि (इमम्) इस (पुरुषं) पुरुष को (दुरितात् अधि) दुष्कर्मों द्वारा प्राप्त रोग से (पारयामसि) हम पार कर दें॥ १९॥

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भैषज्यम्, आयुष्यम्, ओषधयः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अश्वत्थो दर्भो वीरुधां सोमो राजामृतं हविः। व्रीहिर्यवश्च भेषजौ दिवस्पुत्रावमर्त्यौ॥ २०॥

अर्थ—वे ओषधियाँ हैं—(अश्वत्थः, दर्भः) अश्वत्थ और दूभ; (वीरुधाम्) ओषधियों में (सोमः राजा) ओषधियों का राजा सोम-औषध; (अमृतम्) जल (हविः) यज्ञिय हवियाँ (दिवः पुत्रौ) तथा द्युलोक के दो पुत्र (व्रीहिः यवः च) व्रीहि अर्थात् धान और जौ (भेषजौ) जो कि औषधरूप हैं, (अमर्त्यौ) और मृत्यु से रक्षा करते हैं या औषधरूप में सदाजीवी हैं, किसी विशिष्ट रोग के न होते हुए भी क्षुधारोग में इन का सेवन सदा करना होता है।

[अश्वत्थः=पीपल। दर्भः=दूभ घास। "**अमृतम् उदकनाम**" (निघं० १.१२)। व्रीहि और यव, द्यौः के पुत्र कहे हैं। द्युलोक या द्युतिमान् सूर्य द्वारा बरसे जल से पैदा होते हैं। यद्यपि सभी ओषधियाँ द्यौः के जल से पैदा होती हैं, परन्तु व्रीहि और यव दैनिक भोजनरूप हैं, अतः इनका विशेष कथन हुआ है। ये दोनों विशिष्ट औषध हैं और मृत्यु से बचाते हैं, अन्नाभाव से मृत्यु हो जाती है, अतः ये दोनों प्राणापान-रूप हैं यथा "**प्राणापानौ व्रीहियवौ**" (अथर्व० ११.४.१३)। यज्ञिय हविः, वायुशुद्धि द्वारा औषध है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भैषज्यम्, आयुष्यम्, ओषधयः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

उज्जिहीध्वे स्तनयत्यभिक्रन्दत्योषधीः। यदा वः पृश्निमातरः पर्जन्यो रेतसावति॥ २१॥

अर्थ—(ओषधीः) हे ओषधियो! (स्तनयति) मेघ के गर्जने और (अभिक्रन्दति) कड़कड़ाने पर (उज्जिहीध्वे) तुम बढ़ती हो। (पृश्निमातरः) नाना वर्णों वाली या पृथिवीरूप माता वाली हे ओषधियो! (यदा) जबकि (वः) तुम्हें (पर्जन्यः) मेघ (रेतसा) जल द्वारा (अवति) तृप्त करता है, सींचता है।

[उज्जिहीध्वे=उद्+**ओहाङ् गतौ** (जुहोत्यादिः)। पृश्निः=पृथिवी, **प्राश्नुते एनं वर्णः** (निरुक्त २.४.१४)। **रेतः उदकनाम** (निघं० १.१२)। ओषधियों का सम्बोधन कविता में किया है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भैषज्यम्, आयुष्यम्, ओषधयः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

तस्यामृतस्येमं बलं पुरुषं पाययामसि। अथो कृणोमि भेषजं यथाऽसच्छतहायनः॥ २२॥

अर्थ—(तस्य) उस (अमृतस्य) रसामृत का (बलम्) बल (इमम्, पुरुषम्) इस पुरुष को (पाययामसि) हम पिलाते हैं। (अथो) अब (भेषजम् कृणोमि) इस की चिकित्सा मैं करता हूँ, (यथा) जिस से कि (शतहायनः) सौ वर्षों का यह (असत्) होवे।

["तस्य" द्वारा मन्त्र (१८) में निर्दिष्ट "संभृतम्" एकत्रित रसामृत का निर्देश हुआ है। रसामृत को बल का कारण न कह कर बलरूप कहा है। अथवा "**अमृतम् उदकनाम**" (निघं० १.१२); वर्षाप्राप्त उदक ओषधियों में जा कर जो अमृतरूप हो गया है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भैषज्यम्, आयुष्यम्, ओषधयः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

वराहो वेद वीरुधं नकुलो वेद भेषजीम्।
सर्पा गन्धर्वा या विदुस्ता अस्मा अवसे हुवे॥ २३॥

अर्थ—(वराहः) सूअर (वीरुधम्) ओषधि को (वेद) जानता है, (नकुलः) नेवला (भेषजीम्) चिकित्सा योग्य ओषधि को (वेद) जानता है। (सर्पाः) सर्प (गन्धर्वाः) जो कि गन्ध द्वारा हिंसा कर देते हैं (याः) जिन ओषधियों को (विदुः) जानते हैं, (ताः) उन्हें (अस्मै अवसे) इस के लिए रक्षार्थ (हुवे) मैं पुकारता हूँ।

[गन्धर्वाः=उग्रविष वाले "सर्प" जो कि सूंघने मात्र से व्यक्ति की हिंसा कर देते हैं; गन्ध+अर्वाः (**अर्व हिंसायाम्**, भ्वादिः)। वराह आदि प्राणी निज रोग की ओषधि स्वयं जानते हैं। ये जिन ओषधियों को जानते हैं, उन्हें जान कर चिकित्सक रोगी से रोगानुसार उन का संग्रह करे। "हुवे" द्वारा संग्रह का निर्देश किया है। नेवला और सर्प परस्पर विद्वेषी हैं, ये विषैली ओषधियों को जानते हैं। विषप्रयोग द्वारा भी नानाविध रोगों का उपचार होता है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भैषज्यम्, आयुष्यम्, ओषधयः**॥ छन्दः—**षट्पदा जगती**॥

याः सुपर्णा आङ्गिरसीर्दिव्या या रघटो विदुः।
वयांसि हंसा या विदुर्याश्च सर्वे पतत्रिणः।
मृगा या विदुरोषधीस्ता अस्मा अवसे हुवे॥ २४॥

अर्थ—(याः) जिन (आङ्गिरसीः) शरीर और अङ्गों के रसरूप प्राण-सम्बन्धी ओषधियों को (सुपर्णाः) गरुड़ तथा (याः) जिन (दिव्याः) दिव्य ओषधियों को (रघटः) लघुकायरूप अन्तरिक्ष में उड़ने वाली चिड़ियां-तोते आदि (विदुः) जानते हैं, (वयांसि) महाकायरूप पक्षी या कौए, (हंसाः) और हंस (याः) जिन ओषधियों को (च) तथा (सर्वे पतत्रिणः) अन्य सब पक्षी (याः) जिन्हें (विदुः) जानते हैं (मृगाः) मृग (याः) जिन (ओषधीः) ओषधियों को (विदुः) जानते हैं (ताः) उन्हें (अस्मै) इस के लिए (अवसे) रक्षार्थ (हुवे) मैं पुकारता हूँ।

[आङ्गिरसीः, देखो मन्त्र (१७)। रघटः=रघ् (रघु, लघु) अट (गतौ)+क्विप्+प्रथमा बहुवचन]।

ऋषि:—**अथर्वा** ॥ देवता—**भैषज्यम्, आयुष्यम्, ओषधय:** ॥ छन्द:—**पथ्या पङ्क्तिः** ॥

यावतीनामोषधीनां गावः प्राश्नन्त्यघ्न्या यावतीनामजावयः।

तावतीस्तुभ्यमोषधीः शर्म यच्छन्त्वाभृताः॥ २५॥

अर्थ—(यावतीनाम्, ओषधीनाम्) जितनी ओषधियों को (अघ्न्याः, गावः) अहन्तव्या गौएँ, (यावतीनाम्) जितनियों को (अजावयः) बकरियाँ और भेड़ें (प्राश्नन्ति) खाती हैं, (तावतीः) उतनी (ओषधीः) ओषधियां, (आभृताः) लाई गईं, (तुभ्यम्) हे रोगी! तेरे लिए (शर्म) सुख (यच्छन्तु) देवें।

[**शर्म सुखनाम** (निघं० ३.६)। आभृताः=**आहृताः**, "**हृग्रहोर्भश्छन्दसि**"]।

ऋषि:—**अथर्वा** ॥ देवता—**भैषज्यम्, आयुष्यम्, ओषधय:** ॥ छन्द:—**निचृदनुष्टुप्** ॥

यावतीषु मनुष्या भेषजं भिषजो विदुः। तावतीर्विश्वभेषजीरा भरामि त्वामभि॥ २६॥

अर्थ—(यावतीषु) जितनी [वीरुधों] में (मनुष्याः भिषजः) चिकित्सक मनुष्य (भेषजम्) औषध (विदुः) जानते हैं; (विश्वभेषजीः) सब रोगों को औषधरूप (तावतीः) उन सब को (त्वाम्, अभि) तेरे प्रति (आभरामि) मैं लाता हूं।

[हुवे (मन्त्र २३, २४) और आभरामि का समान अभिप्राय है। आभरामि=आहरामि]।

ऋषि:—**अथर्वा** ॥ देवता—**भैषज्यम्, आयुष्यम्, ओषधय:** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्** ॥

पुष्पवतीः प्रसूमतीः फलिनीरफला उत। संमातर इव दुह्रामस्मा अरिष्टतातये॥ २७॥

अर्थ—(पुष्पवतीः) फूलों वाली, (प्रसूमतीः) नवीन कोपलों वाली, (फलिनी) फलों वाली, (उत) तथा (अफलाः) फलों से रहित [ओषधियां], (संमातरः) मिल कर, माताओं के (इव) सदृश, (अस्मै) इस के लिए (अरिष्टतातये) अहिंसा अर्थात् स्वास्थ्य के विस्तार के निमित्त (दुह्राम्) दुग्ध के सदृश रसों का दोहन करें, प्रदान करें।

[अरिष्टतातये=अथवा "अरिष्टकरणाय", "**शिवशमरिष्टस्य करे**" (अष्टा० ४.४.१४३)+तातिल्]।

ऋषि:—**अथर्वा** ॥ देवता—**भैषज्यम्, आयुष्यम्, ओषधय:** ॥ छन्द:—**भुरिगनुष्टुप्** ॥

उत्त्वाहार्षं पञ्चशलादथो दशशलादुत।

अथो यमस्य पड्बीशाद्विश्वस्माद्देवकिल्बिषात्॥ २८॥

अर्थ—(अथो) और (पञ्चशलात्) पांचविषयरूपी पांच शल्यों अर्थात् बाणों से, (उत) तथा (दशशलात्) दस-विषयरूपी दश शल्यों अर्थात् बाणों से, (अथो) और (यमस्य) मृत्यु के (पड्बीशात्=पड्वीशात्) पादबन्धन से, तथा (विश्वस्मात्) सब (देवकिल्बिषात्) ऐन्द्रियिक पापों से (त्वा) तुझे (उत् अहार्षम्) मैंने उद्धृत किया है, तेरा उद्धार किया है।

[मुख्यरूप से पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ, पांचविषयरूपी पांच बाणों का प्रहार करती हैं। तत्पश्चात् ज्ञान द्वारा प्रेरित होकर पञ्चकर्मेन्द्रियाँ विषयों के प्रति गमन करती हैं। अतः मन्त्र में पञ्चशल और दशशल का निर्देश हुआ है[१]। शल=शल्य, बाण। देव=इन्द्रियाँ, यथा "**नैनद् देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्**" (यजुः० ४०.४)]।

---

१. पञ्चविध ज्ञानबाण, पञ्चविध कर्मबाणों में परिणत होकर, १० बाण हो जाते हैं।

सूक्त ८

विषय-प्रवेश

(१) पूतिरज्जुः=धड़ाके का शब्द करती हुई, शत्रुदल में दुर्गन्ध फैलाने वाली रज्जु अर्थात् रस्सी (मन्त्र २)।

(२) बृहत्-जाल द्वारा शत्रुदल को बाँधना (४-७)।

(३) तामसास्त्र (८) शत्रुदल में अन्धकार फैला देने वाला अस्त्र।

(४) नागरिकशासक "भव" और सेनाशासक "शर्व" (११, १७)।

(५) राष्ट्ररक्षार्थ युद्ध में महात्माओं और विद्वानों का सहयोग (१२)।

(६) विमानों द्वारा युद्ध (१३)।

(७) युद्ध में पकड़े गये शत्रुसैनिकों का सुगमता से हनन (१४, १५)।

(८) मृत्यु के फंदे, तथा कूट-प्रयोग (१६)।

(९) बृहस्पतिः=राष्ट्र की बृहती सेना का अधिपति (१९)।

(१०) लोकलोकान्तर वासी देव तथा मनुष्य आदि (२१)।

(११) देवरथ, उस के अवयव (२२)।

(१२) संवत्सररथ, उस के अवयव (२३)।

(१३) युद्ध में निज योद्धाओं को प्रोत्साहन तथा "स्वाहा" का निर्वचन (२४)।

(१४) नील और लोहित रश्मियां, इन द्वारा शत्रुपर विजय (२४)।

सूक्त ८

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहन च** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

इन्द्रो मन्थतु मन्थिता शक्रः शूरः पुरन्दरः।

यथा हनाम सेना अमित्राणां सहस्रशः ॥ १ ॥

अर्थ—(मन्थिता) मथन करने वाला, (शक्रः) शक्तिशाली (पुरंदरः) पुरों तथा किलों को विदीर्ण करने वाला (शूरः) शूर (इन्द्रः) सम्राट् (मन्थतु) [उन्हें] मथ डाले। (यथा) जिस प्रकार कि (अमित्राणाम्) शत्रुओं की (सहस्रशः) हजारों (सेनाः) सेनाओं को (हनाम) हम मारें। "**इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा**" (यजुः० ८.३७)।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहन च** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाद् बृहती** ॥

पूतिरज्जुरुपध्मानी पूतिं सेनां कृणोत्वमूम्।

धूममग्निं परादृश्यामित्रा हृत्स्वा दधतां भयम् ॥ २ ॥

अर्थ—(उपध्मानी) जलती हुई तथा शब्द करती हुई (पूतिरज्जुः) दुर्गन्धित रस्सी (अमूम् सेनाम्) उस सेना को (पूतिम् कृणोतु) दुर्गन्धित कर दे। (धूमम्, अग्निम्) धूएँ और अग्नि को (परादृश्य) दूर से देख कर (अमित्राः) शत्रु (हृत्सु) हृदयों में (भयम्, आदधताम्) भय धारण करें।

[उपध्मानी=उप+**ध्मा शब्दाग्निसंयोगयोः** (भ्वादिः)]।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहन च** ॥ छन्दः—**विराड्बृहती** ॥

अमूनश्वत्थ निः शृणीहि खादामून्खदिराजिरम्।

ताजद्भङ्ग इव भज्यन्तां हन्त्वेनान्वधको वधैः ॥ ३ ॥

अर्थ—(अश्वत्थ) अश्वसदृश शक्तिशाली और युद्ध में स्थिर रहने वाले हे सेनाध्यक्ष! (अमून्) उन शत्रु सैनिकों को (निः शृणीहि) निःशेषतया कुचल डाल, (खदिर) हे खा जाने वाले! [सेनाध्यक्ष] (अमून्) उन्हें (अजिरम्) शीघ्रता से (खाद) खा जा। (ताजद्भंगः इव) टूटने वाले भंग के सदृश (भज्यन्ताम्) वे भग्न हो जाएँ (वधकः) वध करने वाला सेनापति (वधैः) मारू शस्त्रों द्वारा (एनान्) इन सैनिकों को (हन्तु) मार डाले।

[अश्वत्थ; अश्व=काष्ठतुल्य कठोर शरीर वाला, निर्भय तथा धृष्ट व्यक्ति (आप्टे)+स्थ। खादिर अग्नि के सदृश खा जाने वाला सेनापति। अजिरम्=**अज गतौ क्षेपणे च**। ताजत्=त्यजत्? निजस्वरूप का शीघ्र त्याग कर देने वाले अर्थात् भङ्गुर]।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहन च** ॥
छन्दः—**बृहती पुरस्तात् प्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

परुषानमून्परुषाह्वः कृणोतु हन्त्वेनान्वधको वधैः।

क्षिप्रं शर इव भज्यन्तां बृहज्जालेन सन्दिताः ॥ ४ ॥

अर्थ—(परुषान्) कठोर शब्दों वाले (अमून्) उन शत्रुओं को (परुषाह्वः) कठोर शब्दों में [सम्राट्] (कृणोतु) आहूत करे, (वधकः) वध करने वाला सेनापति (वधैः) मारुशस्त्रों द्वारा (एनान् हन्तु) इन्हें मार डाले। (बृहत् जालेन) बड़े जालद्वारा (संदिताः) बंधे हुए (शर इव) सरकण्डे के सदृश (क्षिप्रम्, भज्यन्ताम्) शीघ्र ये शत्रु टूट-फूट जाएँ, भग्न हो जाएँ]।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहन च** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अन्तरिक्षं जालमासीज्जालदण्डा दिशो महीः।

तेनाभिधाय दस्यूनां शक्रः सेनामपावपत् ॥ ५ ॥

अर्थ—(अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष [समान महान्] (जालम् आसीत्) जाल था, (महीः दिशः) महती दिशाओं के सदृश महान् (जालदण्डाः) जाल के दण्डे थे। (तेन) उस जाल द्वारा (अभिधाय) बाँध कर, (शक्रः) शक्तिशाली सम्राट् ने (दस्यूनाम्) उपक्षयकारी शत्रुओं की (सेनाम्) सेना को (अप, अवपत्) पृथक् कर छिन्न-भिन्न कर दिया।

[अभिधाय, अभिधानी=रस्सी। दस्यूनाम्=**दसु उपक्षये** (दिवादिः)। अवपत्=**डुवप् बीजसन्ताने छेदने च** (भ्वादिः) लङ् लकार]।

अथवा

अन्तरिक्ष "वस्तुतः" जाल है, और दिशाएँ अन्तरिक्ष के जालदण्ड हैं। यह अन्तरिक्ष में होने वाला युद्ध है। वर्तमान में बहुचर्चित "Star war" है, जिस का कि निर्देश मन्त्र में हुआ है। इससे भी बड़ा युद्ध "लोक-लोकान्तर युद्ध" है, जिस का निर्देश मन्त्र (८) में हुआ है। परन्तु इन वैदिक युद्धों में नरसंहारी आयुधों का प्रयोग वैदिक नहीं, जैसे कि मन्त्रों की व्याख्या से स्पष्ट हो जाएगा। अन्तरिक्ष और लोक-

लोकान्तर को जाल इस लिए कहा है कि यहीं विमानों द्वारा लड़ने वाले शत्रुसैनिकों को, सम्राट् के वैमानिक सैनिक घेर कर उन्हें परास्त करते हैं, अवशिष्ट नागरिक प्रजा को क्षति नहीं पहुँचती]।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः॥ देवता—इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहन च॥ छन्दः—आस्तारपङ्क्तिः॥

बृहद्धि जालं बृहतः शक्रस्य वाजिनीवतः।
तेन शत्रूनभि सर्वान्न्युब्जि यथा न मुच्यातै कतमश्चनैषाम्॥ ६॥

अर्थ—(बृहतः) महान् (शक्रस्य) शक्तिशाली (वाजिनीवतः) बलशालिनी सेना वाले सम्राट् का (जालम्) जाल (बृहत् हि) निश्चय से बड़ा है। (तेन) उस द्वारा (सर्वान् शत्रून्) सब शत्रुओं को (अभि, न्युब्ज) अभिधाय अर्थात् बाँध कर अपने अधीन कर, (यथा) ताकि (एषाम्) इन में से (कतमः चन) कोई भी (न मुच्यातै) न मुक्त हो सके, छूट सके। उब्ज्=subdue (आप्टे)।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः॥ देवता—इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहन च॥
छन्दः—विपरीतपादलक्ष्मा चतुष्पदाऽतिजगती॥

बृहत्ते जालं बृहत इन्द्र शूर सहस्रार्घस्य शतवीर्यस्य।
तेन शतं सहस्रमयुतं न्यर्बुदं जघान शक्रो दस्यूनामभिधाय सेनया॥ ७॥

अर्थ—(इन्द्र शूर) हे शूर सम्राट्! (बृहतः) महान् (सहस्रार्घस्य) हजारों भेंटों[१], वाले (शतवीर्यस्य) सैंकड़ों वीरकर्मों वाले (ते) तुझ सम्बन्धी (जालम्) जाल (बृहत्) बड़ा है। (तेन) उस जाल द्वारा (शक्रः) शक्तिशाली सेनापति ने (अभिधाय) बाँध कर (दस्यूनाम्) उपक्षयकारियों के (शतम्) सौ (सहस्रम्) हजार, (अयुतम्) १० हजार (न्यर्बुदम्) तथा लाखों सैनिकों को, (सेनया) सेना द्वारा (जघान) मार दिया।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः॥ देवता—इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहन च॥ छन्दः—उपरिष्टाद् बृहती॥

अयं लोको जालमासीच्छक्रस्य महतो महान्।
तेनाहमिन्द्रजालेनामूंस्तमसाभि दधामि सर्वान्॥ ८॥

अर्थ—(अयम् महान् लोकः) यह महालोक अर्थात् ब्रह्माण्ड (शक्रस्य) शक्तिशाली (महतः) महान् सम्राट् का (जालम् आसीत्) जाल था, (तेन इन्द्रजालेन, तमसा) सम्राट् के उस जाल द्वारा तथा तमस् द्वारा (अहम्) मैं सेनाध्यक्ष (अमून् सर्वान्) उन सब [शत्रु सैनिकों] को (अभिदधामि) बाँधता हूं।

[ब्रह्माण्ड के लोकान्तरों से आक्रमणकारी[२] शत्रु-सैनिकों को, तामसास्त्र द्वारा, तमस् से घेर कर, उन्हें निःशक्त कर देने का वर्णन वेदमन्त्र में हुआ है। तामसास्त्र का वर्णन यथा—

अमीषां चित्तानि प्रतिमोहयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि।
अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैर्ग्राह्यामित्रांस्तमसा विध्य शत्रून्॥ अथर्व० ३.२.५॥
असौ या सेना मरुतः परेषामस्मानैत्यभ्योजसा स्पर्धमाना।
तां विध्यत तमसापव्रतेन यथैषामन्यो अन्यं न जानात्॥ अथर्व० ३.२.६॥

१. जिसे साम्राज्य के राजा, सामन्त तथा प्रजाएँ भेंटे देते हैं।
२. मन्त्र में संभाव्य आक्रमणों का पूर्वनिर्देश किया है। मानुष जनता को सचेत करने के लिये।

तामसास्त्र को मन्त्र में "अप्वा" कहा है। अप्वा=अप+वा (गतौ), फैंकने वाले से पृथक् होकर शत्रु की ओर जाने वाला तामसास्त्र। मरुतः=मरने मारने वाले सैनिक। मन्त्र में नरसंहारी अस्त्रों के स्थान में तामसास्त्र के प्रयोग का विधान किया है, जिस से तमस् के आवरण से आवृत होकर शत्रुसैनिक कर्म से रहित हो जाएँ, और परस्पर एक-दूसरे को पहचान न सकें]।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहन च** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाद् बृहती** ॥

सेदिरुग्रा व्यृद्धिरार्तिश्चानपवाचना।

श्रमस्तन्द्रीश्च मोहश्च तैरमूनभि दधामि सर्वान्॥ ९ ॥

अर्थ—(उग्रा सेदिः) उग्र अवसाद (व्यृद्धिः) ऋद्धि अर्थात् सम्पत्ति का विगत हो जाना, (च) और (अनपवाचना) जिस का कि अपाकरण कहा नहीं जा सकता ऐसी (आर्तिः) मानसिक पीड़ा (श्रमः) परिश्रम या थकावट, (तन्द्रीः च मोहः च) आलस्य और पारिवारिक मोह, (तैः) उन द्वारा (अमून् सर्वान्) उन सब शत्रुओं को (अभिदधामि) मैं बाँधता हूं, जकड़ देता हूँ।

[अवसाद=निराशा, निरुत्साह। अनपवाचना=अन्+अप (अपाकरण)+वाचना]।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहन च** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाद् बृहती** ॥

मृत्यवेमून्प्र यच्छामि मृत्युपाशैरमी सिताः।

मृत्योर्ये अघला दूतास्तेभ्य एनान्प्रति नयामि बद्ध्वा॥ १० ॥

अर्थ—(अमून्) उन्हें (मृत्यवे) मृत्यु के प्रति (प्रयच्छामि) मैं देता हूँ (अमीः) वे (मृत्युपाशैः) मृत्यु के फंदों द्वारा (सिताः) बन्धे हुए हैं। (मृत्योः) मृत्यु के (ये) जो (अघलाः) हत्यारे (दूताः) दूत हैं (तेभ्यः) उन के प्रति (एनाम्) इन्हें (बद्ध्वा) बाँध कर (प्रतिनयामि) प्रत्येक को, मैं लाता हूँ।

[अघलाः="**अघं हन्तेर्निर्ह्रसितोपसर्ग आहन्तीति**" (निरुक्त ६.३.१२; पद ४३, ४४)+लाः (वाले)। यथा मधुलाः, मधुराः। सिताः=**षिञ् बन्धने** (स्वादिः)]।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहन च** ॥ छन्दः—**पथ्या बृहती** ॥

नयताभून्मृत्युदूता यमदूता अपोम्भत।

परःसहस्रा हन्यन्तां तृणेढ्वेनान्मत्यं भवस्य॥ ११ ॥

अर्थ—(मृत्युदूताः) हे मृत्यु के दूतो! (अमून्) उन [शत्रुओं] को (नयत) ले जाओ, (यमदूताः) हे यम के दूतो! (अपोम्भत) इन की सम्पूर्ण शक्तियों से इन्हें अलग कर दो। (परःसहस्राः) हजार से भी अधिक ये (हन्यन्ताम्) मार दिए जाएँ (एनान्) इन्हें (भवस्य) भव का (मत्यम्) वज्र (तृणेढु) हिंसित करे।

[भवस्य=शासक दो प्रकार के होते हैं "भव" अर्थात् नई-नई उत्पत्तियों द्वारा प्रजा का पालन करने वाला नागरिक अध्यक्ष, तथा "शर्व" शत्रुओं को जीर्ण-शीर्ण करने वाला सेनाध्यक्ष। युद्ध की घोषणा का अधिकार "भव" का होता है, अतः युद्ध सम्बन्धी वज्र का अधिष्ठाता "भव" है। मृत्यु और यम कविकल्पित हैं। मृत्यु और यम परमेश्वर के नाम हैं। मृत्यु है मारने वाला, और यम है नियन्ता। यथा "**स एव मृत्युः सोऽमृतम्**" (अथर्व० १३.४(३).४); तथा "**सो अग्निः स उ सूर्यः स एव महायमः**" (अथर्व० १३.४(१).५)। अपोम्भत=अप (पृथक्)+**उम्भ पूरणे** (तुदादिः)। तृणेढु=**तृह हिंसायाम्**

(रुधादिः)। मत्यम्= मतिपूर्वक निर्मित वज्र]।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहन च** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥

साध्या एकं जालदण्डमुद्यत्य यन्त्योजसा।

रुद्रा एकं वसव एकमादित्यैरेक उद्यतः ॥ १२ ॥

अर्थ—(साध्याः) साध्य (एकम्) एक (जालदण्डम्) जालदण्ड को (उद्यत्य) उठा कर (ओजसा) ओज के साथ (यन्ति) चलें, (रुद्राः) रुद्र (एकम्) एक को, (वसवः) वसु (एकम्) एक को [उठा कर ओज के साथ चलें] (आदित्यैः) आदित्यों द्वारा (एकः) एक जालदण्ड (उद्यतः) उठाया गया है।

[शत्रु द्वारा राष्ट्र पर जब आक्रमण हो जाए, तब महात्मगण और पठितगण भी राष्ट्ररक्षार्थ युद्ध में सहयोग दें। जाल हैं पृथिवी, अन्तरिक्ष और महालोक (मन्त्र ४-८); और दण्ड हैं इन युद्धों को सहारा देने की शक्तियां। इन शक्तियों को अवलम्ब देने वाले हैं साध्य, रुद्र, वसु और आदित्य। ये मनुष्य हैं। साध्याः है महात्मगण (यजुः० ३१.९), यथा "साध्याः ऋषयश्च"। और वसु, रुद्र, आदित्य हैं स्नातक, पठितगण। इन महात्माओं और पठितों के सहयोग से उत्साहित हो कर प्रजावर्ग भी युद्धनिमित्त अपने-आप को न्यौछावर कर देता है]।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहन च** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विश्वे देवा उपरिष्टादुब्जन्तो यन्त्वोजसा।

मध्येन घ्नन्तो यन्तु सेनामङ्गिरसो महीम् ॥ १३ ॥

अर्थ—(विश्वे देवाः) सब विजिगीषु-सैनिक, (उपरिष्टात्) विमानों द्वारा शत्रुओं को, ऊपर की ओर से (उब्जन्तः) ऋजु करते हुए, (ओजसा) ओज से (यन्तु) गति करें। और (अङ्गिरसः) अङ्गारों के सदृश झुलसाने वाले सैनिक (मध्येन) मध्यवर्ती अन्तरिक्ष से (महीम्, सेनाम्) शत्रुओं की महती सेना को (घ्नन्तः) मारते हुए (यन्तु) गति करें।

[शत्रुसेना, जब अन्तरिक्ष में स्थित हुई, निज सेना पर प्रहार करती हो, तो उस सेना से और ऊपर जा कर, निज सैनिक, उन की प्रहरण शक्ति को ऋजु कर दें, ढीली कर दें, ताकि उन की प्रहरण-शक्ति कम हो जाए। और यदि शत्रुसेना पृथिवीस्थ हुई प्रहार करती हो तो अङ्गारों के सदृश झुलसाने वाले निज सैनिक अन्तरिक्षस्थ हो कर शत्रुओं को मारते हुए विचरें।

विश्वे देवाः=विश्वे (सब)+देवाः (विजिगीषवः) "**दिवु क्रीडाविजिगीषा आदि**" (दिवादिः)। अङ्गिरसः="**अङ्गारेषु अङ्गिराः**" (निरुक्त ३.३.१७) उब्जन्तः=**उब्ज आर्जवे** (तुदादिः)]।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहन च** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वनस्पतीन्वानस्पत्यानोषधीरुत वीरुधः।

द्विपाच्चतुष्पादिष्णामि यथा सेनाममूं हनन् ॥ १४ ॥

अर्थ—(वनस्पतीन्, वानस्पत्यान्) फलदार वृक्षों, (ओषधीः) ओषधियों, (उत) तथा (वीरुधः) लताओं को, (द्विपात् चतुष्पाद्) तथा दो-पायों और चौपायों को (इष्णामि) मैं बार-बार भेजता हूँ (यथा) ताकि वे (अमूम्, सेनाम्) उस सेना का (हनन्) हनन करें।

[अभिप्राय यह है कि युद्ध में पकड़े गये सैनिकों को, वृक्षों के फलों, ओषधियों और सब्जी लताओं को पूर्व से ही विषाक्त कर, उनके घेरे में रखना चाहिए, ताकि उन्हें खा कर और औषधियों का सेवन कर वे स्वत: मरते चले जाएँ, और मांसभक्षी पक्षी तथा मांसभक्षी पशु उन्हें खाकर और उनका सर्वथा विनाश कर दें। इष्णामि=**इष आभीक्ष्ण्ये** (क्र्यादि:)। वृक्ष और लताएँ तो पूर्वत: स्थिर हैं, ओषधियों तथा मांसभक्षियों को बार-बार भेजने का निर्देश हुआ है। वनस्पति:, वानस्पत्य:="**वानस्पत्य: फलै: पुष्पात् तैरपुष्पाद् वनस्पति:**" अर्थात् जिन पर विना फूलों के फल लगें वे वृक्ष वनस्पति हैं, तथा जिन पर फूलों के पश्चात् फल लगें वे वृक्ष वानस्पत्य हैं। उद्देश्य है "हनन", अत: हननोपायों का अवलम्बन कहा है]।

ऋषि:—**भृग्वङ्गिरा:** ॥ देवता—**इन्द्र:, वनस्पति:, परसेनाहन च** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्** ॥

गन्धर्वाप्सरस: सर्पान्देवान्पुण्यजनान्पितॄन्।
दृष्टानदृष्टानिष्णामि यथा सेनाममूं हनन्॥ १५॥

अर्थ—(गन्धर्वान्[1] अप्सरस:) गानविद्याविज्ञ गायकों और उनकी गायिका पत्नियों (सर्पान्) सर्पों (देवान्) देवों (पुण्यजनान्) पुण्यात्माओं (पितॄन्) बुजुर्गों (दृष्टान्-अदृष्टान्) जो कि ज्ञात[2] और अज्ञात[2] हैं उन्हें (इष्णामि) मैं बार-बार भेजता हूँ, (यथा) ताकि वे (अमूं सेनाम्) उन बन्दीकृत सैनिकों को (हनन्) मार डालें।

[गायकों और गायिकाओं का प्रेषण सैनिकों के मनोविनोद के लिए है। पुण्यात्मजन और बुजुर्ग बहुरूपिये हैं, वास्तविक नहीं। ये सर्पसदृश हैं, जो कि गुप्तरूप में विषप्रयोग करते रहेंगे। वास्तविक पुण्यात्मा सर्पकृत्य नहीं कर सकते और न बुजुर्ग ही। बहुरूपियों को और गायक-गायिकाओं को समय-समय पर भेजते रहना चाहिए ताकि वन्दीकृत सैनिकों में इनके प्रति विश्वास और श्रद्धा पैदा हो जाए, और इन द्वारा किये गये सर्पकृत्यों में वे शङ्कास्पद न हों, और शनै: शनै: मृत्यु को प्राप्त होते जाएँ]।

ऋषि:—**भृग्वङ्गिरा:** ॥ देवता—**इन्द्र:, वनस्पति:, परसेनाहन च** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्** ॥

इम उप्ता मृत्युपाशा यानाक्रम्य न मुच्यसे।
अमुष्या हन्तु सेनाया इदं कूटं सहस्रश:॥ १६॥

अर्थ—(इमे) ये (मृत्युपाशा:) मृत्यु के फन्दे (उप्ता:) बीजरूप में बोए हैं, (यान् आक्रम्य) जिन पर पग रख कर [हे शत्रु सैनिक!] तू (न मुच्यसे) मृत्यु से छूट नहीं सकता। (इदम्, कूटम्) यह कूट प्रयोग (अमुष्या: सेनाया:) उस शत्रुसेना के (सहस्रश:) हजारों बन्दीकृत सैनिकों की (हन्तु) हत्या करे।

[इमे=मन्त्र १४, १५ में प्रयुक्त प्रयोग। दुष्कर्मियों के दुष्कर्मों के सर्वथा निराकरण के लिए उग्रप्रयोग वेदानुमोदित हैं]।

ऋषि:—**भृग्वङ्गिरा:** ॥ देवता—**इन्द्र:, वनस्पति:, परसेनाहन च** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्** ॥

घर्म: समिद्धो अग्निनायं होम: सहस्रह:।
भवश्च पृश्निबाहुश्च शर्व सेनाममूं हतम्॥ १७॥

---

१. गान्धर्ववेद सामवेद का उपवेद है, जिसमें गायन विद्या का वर्णन है।
२. ऐसे अन्य बहुरूपिये जो कि गुप्तरूप से सर्पकृत्य कर सकें।

अर्थ—(अग्निना) युद्धाग्नि के द्वारा (घर्मः) युद्धस्थलरूपी भाण्डा (समिद्धः) प्रदीप्त हो गया है (अयम्) यह (होमः) प्रत्येक सैनिक की आत्माहुति (सहस्रहः) हजारों शत्रुसैनिकों का हनन करने वाली है। (शर्व) हे शर्व! तू (च) और (पृश्निबाहुः भवः च) पृश्निबाहु भव [अर्थात् तुम दोनों] (अमूम्, सेनाम्) उस शत्रुसेना को (हतम्) मारो।

["घर्म" का अभिप्राय हैं "घर्मदुघा" नामिका गौ से दुहा दूध। मन्त्र में घर्मः का अभिप्राय है घर्मपात्र, जिसमें कि अग्नि द्वारा प्रतप्त करने के लिए दुहा दूध गर्म किया जाता है। इस याज्ञिक प्रक्रिया द्वारा युद्ध का वर्णन किया गया है। युद्धस्थल है घर्मपात्र, अग्नि है युद्धाग्नि, और दुग्ध है सैनिकाहुति। शर्व है सेनाधिपति, भव है नागरिक अध्यक्ष, इसे पृश्निबाहु कहा है। पृश्नि है नाना वर्णों से रञ्जित पृथिवी। पृथिवी के रक्षार्थ, बाहुओं वाला "भव" है। पृश्निबाहु में मध्यपदलोपी समास है। पृश्निः=भूमिः (सायण ऋक् १.२३.१०)।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहन च** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मृत्योराषमा पद्यन्तां क्षुधं सेदिं वधं भयम्।
इन्द्रश्चाक्षुजालाभ्यां शर्व सेनाममूं हतम्॥ १८॥

अर्थ—[शत्रु सैनिक] (मृत्योः आषम्) मृत्यु की दीप्ति [प्रचण्डता, क्रोध] को (आपद्यन्ताम्) प्राप्त हों, अर्थात् (क्षुधम्, सेदिम्, वधम्, भयम्) भूख, अवसाद, वध और भय को। (शर्व) हे शर्व! तू (च) और (इन्द्रः) सम्राट् (अक्षुजालाभ्याम्) विस्तृत दो जालों द्वारा (अमूम्) उस (सेनाम्) सेना को (हतम्) मारो।

[आषम्=**अस गतिदीप्त्यादानेषु। अष इत्येके** (भ्वादिः)। "अष" का दीप्त्यर्थ "आषम्" में अभिप्रेत है। दीप्ति का अभिप्राय है प्रचण्डता, क्रोध। यह दीप्ति है क्षुधा, अवसाद, वध और भय। क्षुधा आदि द्वारा मृत्यु हो जाती है। अक्षुजालाभ्याम्=अक्षु (**अक्षू व्याप्तौ**, भ्वादिः) अर्थात् विस्तृत दो जालों द्वारा। ये दो हैं (१) समिद्धः घर्मः, और (२) होमः (मन्त्र १७)। मन्त्र (१७) में भव और शर्व का वर्णन हुआ है। मन्त्र (१८) में इन्द्र और शर्व का। भव है माण्डलिक राजा, इन्द्र है सम्राट्]।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहन च** ॥ छन्दः—**पुरस्ताद् विराड् बृहती** ॥

पराजिताः प्र त्रसतामित्रा नुत्ता धावत ब्रह्मणा।
बृहस्पतिप्रणुत्तानां मामीषां मोचि कश्चन॥ १९॥

अर्थ—(अमित्राः) हे अमित्र शत्रु सैनिको! (ब्रह्मणा) ब्रह्मवेद अर्थात् अथर्ववेद की विधि द्वारा (पराजिताः) पराजित हुए तुम (त्रसत) त्रास अर्थात् भय हो प्राप्त होओ, और (प्रनुत्ता) धकेले गये तुम (धावत) भाग जाओ। (बृहस्पतिप्रणुत्तानाम्) बृहती सेना के पति द्वारा धकेले गये (अमीषाम्) इन में से (कश्चन) कोई भी (मा मोचि) मृत्यु से न छूटे।

[ब्रह्म है ब्रह्मवेद अर्थात् अथर्ववेद। अथर्ववेदोक्त विधि द्वारा शत्रु पराजित किये जाते हैं, और बृहस्पति द्वारा धकेले जाते हैं। बृहस्पतिः, यथा—

इन्द्रऽआसां नेता बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञः पुरऽएतु सोमः।
देवसेनानामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम्॥ यजु० १७.४०॥

इस मन्त्र में इन्द्र=सम्राट्। बृहस्पतिः=बृहती सेना का पति, अर्थात् साम्राज्य की समग्र सेना का पति। सोमः=सेनानायक। मरुतः=मारने में कुशल सैनिक]।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहन च** ॥ छन्दः—**निचृत्पुरस्ताद् बृहती** ॥

अव पद्यन्तामेषामायुधानि मा शकन्प्रतिधामिषुम्।

अथैषां बहु बिभ्यतामिषवो घ्नन्तु मर्मणि॥ २०॥

अर्थ—(एषाम्) इन के (आयुधानि) आयुध (अव पद्यन्ताम्) नीचे गिर जाएँ ये (इषुम्, प्रतिधाम्) शरसंधान (मा शकन्) न कर सकें। (अथ) तब (बहु बिभ्यताम्) बहुत भयभीत हुए (एषाम्) इन के (मर्मणि) मर्मस्थलों में (इषवः) हमारे इषु वाण (घ्नन्तु) प्रहार करें।

[प्रतिधाम् इषुम्=इषु का धनुष् पर चढ़ाना]।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहन च** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सं क्रोशतामेनान्द्यावापृथिवी समन्तरिक्षं सह देवताभिः।

मा ज्ञातारं मा प्रतिष्ठां विदन्त मिथो विघ्नाना उप यन्तु मृत्युम्॥ २१॥

अर्थ—(द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवीलोक (सम्) मिलकर (एनान्) इन्हें (क्रोशताम्) कोसें (अन्तरिक्षम्, देवताभिः सह) देवताओं के सहित अन्तरिक्ष (सम्) सम्यक् कोसे। (मा ज्ञातारम्) न किसी परिचित को (मा प्रतिष्ठाम्) न ठहरने के स्थान को (विदन्त) ये प्राप्त करें, (मिथः) परस्पर (विघ्नानाः) हनन करते हुए (मृत्युम्) मृत्यु के (उप) समीप (यन्तु) चले जाएँ।

[अभिप्राय यह कि समग्र संसार इन्हें कोसे, क्योंकि शान्तप्रकृतिक राज्य पर इन्होंने आक्रमण किया था। समग्र संसार के लोकलोकान्तर परस्पर ऐसे सम्बद्ध हैं, जैसे कि अस्मदादि शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग। और इन में प्राणियों तथा मनुष्यों और देवताओं का भी निवास है। ये सब परस्पर मिलकर सांसारिक घटनाओं से प्रभावित होते रहते हैं। अतः इन द्वारा कोसना कोई अस्वाभाविक बात नहीं। समग्र संसार एक महानात्मा परमेश्वर के शरीरवत् है। इसलिए परस्पर में शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गवत् सम्बद्ध है।

महर्षि दयानन्द का निम्नलिखित कथन, इस सम्बन्ध में उपयुक्त ही है, यथा—

"ये सब भूगोल, लोक और इनमें मनुष्यादि प्रजा भी रहती है। जैसे परमेश्वर का छोटा सा लोक, मनुष्यादि सृष्टि से भरा हुआ है तो क्या ये सब लोक शून्य होंगे" इत्यादि (सत्यार्थप्रकाश, अष्टम समुल्लास)। इस प्रकार द्युलोक और पृथिवी लोक के निवासियों द्वारा कोसना उपपन्न हो सकता है]।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहन च** ॥ छन्दः—**चतुष्पदा शक्वरी** ॥

दिशश्चतस्रोश्वतर्यो देवरथस्य पुरोडाशाः शफा अन्तरिक्षमुद्धिः।

द्यावापृथिवी पक्षसी ऋतवोभीशवोन्तर्देशाः किंकरा वाक्परिरथ्यम्॥ २२॥

अर्थ—(चतस्रः दिशः) चार दिशाएँ हैं (अश्वतर्यः) चार खच्चरियाँ (देवरथस्य) परमेश्वर देव के रथ की, (पुरोडाशाः) पुरोडाश हैं (शफाः) खर, (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष है (उद्धिः) रथ की ऊंचाई। (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवीलोक हैं (पक्षसी) रथ के दो पक्ष, पार्श्व, (ऋतवः) ऋतुएँ हैं (अभीशवः) लगामें (अन्तर्देशाः) दिशाओं के मध्यवर्ती दिशाएँ हैं (किंकराः) भृत्य, (वाक्) वाक् है (परिरथ्यम्) रथ के पहियों पर चढ़ा हाल अर्थात् लोहचक्र।

[जगत् में रथ का, तथा जगत् के घटकों में रथ के घटकों का आरोप किया है। "रथ" की दो अभिप्रेत व्युत्पत्तियाँ हैं—(१) "**रथः रंहतेर्वा स्याद् गतिकर्मणः**", (२) "**रममाणोऽस्मिन् तिष्ठतीति वा**" (निरुक्त ९.२.११)। आरोप द्वारा दर्शाया है कि जगत् गतिमान् है, तथा इसमें देवाधिदेव परमेश्वर रममाण हुआ स्थित है। इसीलिए जगत् को "देवरथ" कहा है।

पुरोडाश यज्ञिय हैं जो कि गोल होते हैं, अतः इन्हें अश्वतरियों के शफाः अर्थात् खुर कहा है, खुर गोल होते हैं। उद्धिः=उद्+धा+किः। अन्तर्दशाः=उपदिशाएँ ऐशानी, आग्नेयी, नैर्ऋती, वायवी। वाक्=पारमेश्वरी वाक्, वेदवाक्, जिसमें प्रतिपादित नियमों के अनुसार परमेश्वर जगत् की रचना करता तथा संचालन करता है। जैसे पारमेश्वरी वेदवाक् जगत् की रक्षिका है, वैसे रथ के पहियों पर चढ़ा लोहचक्र पहियों की रक्षा करता है।

देवरथ के अवयव

चतस्रः दिशः=चतस्रः अश्वतर्यः	ऋतवः अभीशवः (लगामें)
पुरोडाशाः=शफाः	अन्तर्देशाः=किंकराः (भृत्य)
अन्तरिक्षम्=उद्धिः (रथ की ऊंचाई)	वाक्=परिरथ्यम् (पहियों के लोह चक्र)
द्यावापृथिवी=पक्षसी (रथ के दो पार्श्व)	

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहन च** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाद् बृहती** ॥

संवत्सरो रथः परिवत्सरो रथोपस्थो विराडीषाग्नी रथमुखम्।
इन्द्रः सव्यष्ठाश्चन्द्रमाः सारथिः ॥ २३ ॥

अर्थ—(संवत्सरो रथः) संवत्सर है रथ, (परिवत्सरो रथोपस्थः) परिवत्सर है रथ में बैठने का स्थान, (विराट् ईषा) विराट् है रथ का दण्ड जो कि जुए (yoke) के साथ लगा रहता है, (अग्निः रथमुखम्) अग्नि है रथ का मुख, (इन्द्रः) सूर्य है (सव्यष्ठाः) रथ के बाईं ओर स्थित रथ का स्वामी, (चन्द्रमाः) चन्द्रमा है (सारथिः) सारथि।

[संवत्सरः=वर्ष, पृथिवी का एक भ्रमण, सूर्य की परिक्रमा के रूप में। संवत्सर का वर्णन यथा—

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः ॥ ऋ० १.१६४.२॥

"एक चक्रवाला रथ[१] है सूर्यमण्डल, इस रथ में ७ रश्मियाँ जुती हुई हैं, परन्तु वे परस्पर मिलकर एक शुक्लरश्मिरूप हैं, अतः एकरश्मिरूपी अश्व ही सूर्यमण्डल का वहन करता है। यह एक शुक्लरश्मि, सातरश्मियों में परिणत होती है। संवत्सररूपी-चक्र की तीन नाभियाँ हैं तीन ऋतु; ग्रीष्म, वर्षा और हेमन्त। यह संवत्सर चक्र जीर्ण नहीं होता और न इसके चलाने वाला कोई चतुष्पाद् "अर्वा" अर्थात् घोड़ा है। इस संवत्सर चक्र में सब सौरभुवन अधिष्ठित हैं" (निरुक्त ४.४.२७)।

७ रश्मियाँ=वर्षा काल में अन्तरिक्ष में कभी-कभी दृष्टिगोचर होने वाला इन्द्रधनुष, जिसमें कि सप्तरंगी ७ पट्ट दिखाई देते हैं। ये ही सात रश्मियाँ Spectrum में दिखाई देती हैं, यथा Red (लाल), Orange

१. रथ स्वयं निर्मित नहीं होता। इस की सत्ता, इस के निर्माता को सूचित करती है। संवत्सर को रथ कह कर इसके निर्माता परमेश्वर को सूचित किया है।

(नारङ्गी रंग), Yellow (पीत), Green (हरा), Blue (नीला), Indigo (नील के पौधे से निकाले रंग जैसा), Violet (बेंगनी रंगवाली)। इस सम्बन्ध में निरुक्त में भी कहा है **"सप्तास्मै रश्मयोरसान् संनामयन्ति"** (निरुक्त ४.४.२७)।

संवत्सर के रथ के अवयव

संवत्सरः=रथः	अग्निः=रथमुखम्
परिवत्सरः=रथोपस्थः	इन्द्रः=सव्यष्ठाः (बाईं ओर स्थित)
विराट्=ईषा	चन्द्रमाः=सारथि (दाईं ओर स्थित)

व्याख्या

संवत्सरः=पृथिवी की एक बार सूर्य की परिक्रमा का काल। परिवत्सरः=सूर्य के दूरस्थग्रह शनैश्चर का एक वार सूर्य की परिक्रमा का काल। विराट्=विशेषेण राजते दीप्यते, असौ विराट्=आग्नेयगोला, जिससे कि सौरपरिवार पैदा हुआ। यथा **"ततो विराडजायत विराजो अधिपूरुषः। स जातोऽत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः।** (यजुः० ३१.५)। इस मन्त्र में विराट् से भूमि, पुरः (प्राणियों के शरीर), पृषदाज्य, आरण्य-ग्राम्य पशुओं, (६), ऋग्वेदादि वेदों (७), अश्वों, गौओं, अजावयः (८) का क्रमशः वर्णन हुआ है, जिनका कि सम्बन्ध सौर-जगत् के साथ है। अतः यजुर्वेदीय विराट् सौर जगत् का ही मूल कारण प्रतीत होता है। अग्निः=संवत्सर रथ का मुख है। अर्थात् इस रथ के अग्रभाग में जुती हुई प्रतीत होती है, जो कि संवत्सर रथ का वहन कर रही है। वस्तुतः संवत्सर का प्रारम्भ चैत्र मास से होता है, जबकि सौराग्नि दक्षिण से उत्तर की ओर प्रदीप्त होने लगती है। इसलिए अग्नि संवत्सर-रथ के मुख में जुती हुई है—यह कथन उपयुक्त ही है। इन्द्रः चन्द्रमाः=इन्द्र अर्थात् सूर्य की, और चन्द्रमा की स्थिति परस्पर विरुद्ध दिशाओं में होती है। सूर्य पूर्व में उदित होता और चन्द्रमा पश्चिम में। सूर्य भूमध्यरेखा के दक्षिण में होता तो पूर्ण चन्द्रमा भूमध्यरेखा के उत्तर में। अतः जब सूर्य को रथ में "सव्यष्ठाः" कहा है, तो पूर्ण चन्द्रमा उसका सारथि रथ के दक्षिण में स्थित होगा ही]।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः॥** देवता—**इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहन च॥**
छन्दः—**त्रिष्टुबुष्णिग्गर्भा पराशक्वरी पञ्चपदा जगती॥**

इतो जयेतो वि जय सं जय जय स्वाहा। इमे जयन्तु परामी जयन्तां स्वाहैभ्यो दुराहामीभ्यः। नीललोहितेनामूनभ्यवतनोमि॥ २४॥

अर्थ—(इतः) इधर से (जय) तू जीत (इतः) इधर से (विजय) विजय को प्राप्त हो, (संजय) सम्यक् जीत, (जय) जीत (स्वाहा) तेरा उत्तम त्याग हो। (इमे) ये [हमारे सैनिक] (जयन्तु) जीतें (अमी) और वे [शत्रु] (पराजयन्ताम्) पराजय को प्राप्त हों, (एभ्यः) इन [हमारे सैनिकों] के लिए (स्वाहा) उत्तम-त्याग हो, (अमीभ्यः) उन [शत्रुओं] के लिए (दुराहा) दुःखदायी या बुरा त्याग हो। (नीललोहितेन) नील और लोहित द्वारा (अमून्) उन शत्रुओं को (अभि) लक्ष्य करके (अवतनोमि) मैं अब धनुषों की डोरियाँ ढीली कर देता हूँ।

[स्वाहा=सु+आ+**ओहाक् त्यागे**। (जुहोत्यादिः)। दुराहा=दुर्+आ+**ओहाक् त्यागे**। नीललोहितेन= सप्तरश्मियों (मन्त्र २३) की नील और लोहित रश्मियों द्वारा "अवतनोमि"। इन दो रश्मियों के प्रयोग द्वारा शत्रुपक्ष को झुलसा देना होता है, तब अपने धनुषों की डोरियाँ ढीली कर देनी होती हैं, क्योंकि शत्रु रहे

ही नहीं। नील और लोहित [लाल] रश्मियां, रश्मिसप्तक के दो किनारों अर्थात् सीमान्तों की रश्मियाँ हैं, तथा देखो अथर्व० (१५.१.६-८)। "स्वाहा" का वेदानुमत निर्वचन=सु+आ+हा (त्यागे)]।

चतुर्थ अनुवाक समाप्त॥

सूक्त ९

(१) सूर्य द्युलोक से, चन्द्रमा पृथिवी से उत्पन्न (मन्त्र १)।

(२) त्रिभुज ब्रह्माण्ड में परमेश्वर का शयन (२)।

(३) त्रीणि बृहन्ति=ऋक्, यजुः, साम। तथा चतुर्थम् वाचम्=अथर्ववेद (३)।

(४) अक्षर छन्द तथा मात्रिक छन्द। पारमेश्वरी प्रज्ञा से अस्मत्प्रज्ञा का निर्माण (५)।

(५) वैश्वानर-परमेश्वर की प्रतिमा=द्यौः। तथा दो सन्ध्या कालों में परमेश्वर की उपासना (६)।

(६) कश्यप-परमेश्वर से ६ ऋषियों द्वारा जिज्ञासा (७)।

(७) यज्ञकर्म परमेश्वरार्थक हैं (८)।

(८) परमेश्वर के दो स्वरूप विराट् और स्वराट्। परमेश्वर का दर्शन कई करते हैं, कई नहीं (९)।

(९) परमेश्वरीय कर्मधर्मों का वास्तविक ज्ञान दुष्कर है (१०)।

(१०) उषाओं में पारमेश्वरी-माता चमकती है (११)।

(११) प्रतिदिन की दो उषाएँ प्रातःकालीन तथा सांयकालीन (१२)।

(१२) तीन शक्तियों और तीन घर्मों के कार्य (१३)।

(१३) यज्ञरूपी पुरुष के स्वरूप के ४ घटक (१४)।

(१४) पञ्चनाम्नी गौ (१५)।

(१५) त्रिविधा द्यौः, त्रिविधा पृथिवी (१६)।

(१६) सप्तगृध्राः के स्वरूप (१८)।

(१७) छन्दों और स्तोमों का वर्णन (१९, २०)।

(१८) अष्टपुत्रा अदिति, तथा अष्टमी रात्री (२१)।

(१९) गोदुग्ध के अधिकारी (२४)।

(२०) एक है गौ, एक है ऋषि, एक है यज्ञ, एक है ऋतु (२६)।

(२१) अष्टमी रात्रि (मन्त्र २१)=एकाष्टका (देखो सूक्त ९ की समाप्ति पर "एकाष्टका परिशिष्ट", मन्त्र १-१३)।

अनुवाक ५

सूक्त ९

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

कुतस्तौ जातौ कतमः सो अर्धः कस्माल्लोकात्कतमस्याः पृथिव्याः।
वत्सौ विराजः सलिलादुदैतां तौ त्वा पृच्छामि कतरेण दुग्धा॥ १॥

अर्थ—(कुतः) किस उपादान कारण से (तौ) वे दो (जातौ) पैदा हुए, (कतमः) कौन सा (सः)

वह (अर्धः) समृद्ध[१] भाग था, (कस्मात् लोकात्) किस लोक से तथा (कतमस्याः[२] पृथिव्याः) किस पृथिवी से। (विराजः) विराट् के (वत्सौ) दो वत्स (सलिलात्) सलिल से (उदैताम्) उदित हुए, (तौ) उन दो के सम्बन्ध में (त्वा पृच्छामि) तुझे मैं पूछता हूँ कि (कतरेण) दो में से किस ने (दुग्धा) विराट् दोही थी।

[''तौ'' द्वारा सूर्य और चन्द्रमा का निर्देश हुआ है, और ''कुतः'' द्वारा उपादान कारण का। सूर्य और चन्द्रमा प्रकृति रूपी उपादान कारण से उत्पन्न हुए। ''कतमः'' प्रकृति का पूर्व-दिशा[१] का भाग था, जोकि ''अर्धः'' अर्थात् समृद्ध हुआ था, घना हुआ था, जहाँ से कि सूर्य और चन्द्रमा पैदा हुए। इस दिशा को ''पूर्वे अर्धे'' कहा है, अथर्व० (४.२.६)। प्रकृति के भिन्न-भिन्न भागों से भिन्न-भिन्न नक्षत्र तथा तारा पैदा हुए—यह दर्शाने के लिए ''कतमः'' में ''तमप्'' प्रत्यय हुआ है। ''तमप्'' प्रत्यय कम से कम तीन का सूचक है, जोकि प्रकृति के भिन्न-भिन्न भागों का निर्देशक है। ''कस्मात् लोकात्'' द्वारा प्रश्न किया है कि सूर्य किस लोक से पैदा हुआ। उत्तर से स्पष्ट है कि द्युलोक से। सूर्य का स्थान द्युलोक ही है। चन्द्रमा के सम्बन्ध में पूछा है कि वह किस पृथिवी से पैदा हुआ। पृथिवी त्रिविधा है, जलभाग, स्थलभाग और पर्वतभाग। इस दृष्टि से कहा है कि ''चन्द्रमा'' पृथिवी के किस भाग से उत्पन्न हुआ। चन्द्रमा पृथिवी की परिक्रमा करता है, अतः पृथिवी से पैदा हुआ कहा है, जैसे कि ग्रह, सूर्य की परिक्रमा करते और सूर्य से पैदा हुए हैं। सम्भवतः जहां समुद्र जल है उस स्थल से चन्द्रमा पैदा हुआ हो। सूर्य और चन्द्रमा ''विराट्'' नाम वाली प्रकृति से पैदा हुए थे, इसलिए इन्हें ''विराजः वत्सौ'' कहा है। ये दोनों ''सलिलात्'' ''सति लीनं सलिलम्'' प्रलय काल में सत्परमेश्वर में लीन प्रकृति से ''उदैताम्'' उदित हुए थे। तथा परमेश्वर और जीव इन दो में से ''कतरेण'' अर्थात् परमेश्वर द्वारा प्रकृति दोही गई थी, जिस से कि सूर्य और-चन्द्रमा पैदा हुए। जीवात्मा इस दोहन में निमित्त कारण थे, भोगापवर्गदृष्टि से]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥

यो अक्रन्दयत्सलिलं महित्वा योनिं कृत्वा त्रिभुजं शयानः।
वत्सः कामदुघो विराजः स गुहा चक्रे तन्वः पराचैः॥ २॥

अर्थ—(योनिम्) घर को (त्रिभुजम्) तीन भुजाओं वाला (कृत्वा) कर के (शयानः) उस में शयन करते हुए (यः) जिस ने (महित्वा) निज महिमा द्वारा (सलिलम्[३]) प्रकृति तत्त्वरूप सलिल को (अक्रन्दयत्) आक्रन्दन युक्त किया, गर्जना युक्त किया, और जो (कामदुघः विराजः) कामना का दोहन करने वाली विराट् अर्थात् विराजमान, विशेषेण दीप्यमान प्रकृति का (वत्सः) वत्सरूप है, या उसमें बसा हुआ है (सः) उस परमेश्वर ने (गुहा) गुह्यस्थानों में, अज्ञात स्थानों में (पराचैः) दूर-दूर तक (तन्वः)

१. इसलिए ग्रह, सूर्य, नक्षत्र और तारागण, निज धुरी पर, पश्चिम से पूर्व की ओर घूमते हैं, Revolve कर रहे हैं।
२. पैप्पलाद शाखा में ''कतमस्याः'' के स्थान में ''कतरक्ष्याः'' पाठ है। ''तरप्'' प्रत्यय द्वारा दो पृथिवियाँ सूचित की हैं, सम्भवतः पृथिवी और मंगल। मंगल को ''भौम'' कहते हैं, अर्थात् भूमि से उत्पन्न हुआ। सम्भवतः जैसे भूमि में मंगल की उत्पत्ति सूचित की है, इसी प्रकार पृथिवी से मूलतः चन्द्रमा भी उत्पन्न हुआ हो या मंगल से फटकर चन्द्रमा पैदा हुआ है और पृथिवी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति के अधिक होने से चन्द्रमा पृथिवी का उपग्रह हो गया हो। और पृथिवी के सामुद्रिक अवतान अर्थात् गढ़े से हिमालय पर्वत का उत्थान हुआ हो। अर्थात् इस गढ़े का लावा ही हिमालय से उत्थानरूप में प्रकट हुआ हो।
३. ''सति ब्रह्मणि लीनम्'' प्रलय में सद्ब्रह्म में लीन प्रकृति तत्त्व (ऋ० १०.१२९.३) यथा 'सर्वं सलिलमा इदम्'।

विस्तृत लोक-लोकान्तरों को (चक्रे) उत्पन्न किया है।

[**योनिः गृहनाम** (निघं० ३.४)। त्रिभुजयोनि:[१]=प्रकृति, बद्धजीव, और मुक्तजीव, ये जगत् की तीन भुजाएँ हैं, इस त्रिभुज में परमेश्वर शयन कर रहा है, और शयन करता हुआ इनमें व्यवस्था कर रहा है। गौ से दूध मिलता है उसके वत्स के कारण। संसाररूपी विराट् से सुखसम्पत्तिरूपी दुग्ध मिलता है परमेश्वररूपी वत्स के कारण। प्रकृति से जब संसार पैदा हुआ तब प्रकृति में विशेष प्रकार का आक्रन्दन हुआ था (आक्रन्दयत्)]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**आस्तारपङ्क्तिः**॥

यानि॒ त्रीणि॑ बृ॒हन्ति॒ येषां॑ चतु॒र्थं वि॑यु॒नक्ति॒ वाच॑म्।
ब्र॒ह्मैन॑द्विद्या॒त्तप॑सा विप॒श्चिद्यस्मि॒न्नेकं॑ यु॒ज्यते॒ यस्मि॒न्नेक॑म्॥ ३॥

अर्थ—(यानि) जो (त्रीणि[२]) तीन (बृहन्ति) बड़े वाक्य रूप हैं (येषाम्) जिन में के (चतुर्थम्) चौथे वाक्यरूप (वाचम्[३]) वाणी को [परमेश्वर] (वियुनक्ति) तीन वाणियों के साथ विशेषतया नियुक्त करता है, सम्बद्ध करता है, (एनत्) इस चौथे वाक्यरूप वाणी को (विपश्चित्) मेधावी (ब्रह्मा) चतुर्वेद-ज्ञाता व्यक्ति (तपसा) तपश्चर्या द्वारा (विद्यात्) जाने या प्राप्त करे। (यस्मिन्) जिस चतुर्थ में कि (एकम्) एक अद्वितीय ब्रह्म (युज्यते) सम्बद्ध है, (यस्मिन्) जिस चतुर्थ में कि (एकम्) एक अद्वितीय ब्रह्म सम्बद्ध है। [दो बार कथन दृढ़तासूचक है]।

[मन्त्र में चार वेदों को ''त्रीणि'' और ''चतुर्थम्'' द्वारा वर्णित किया है। चौथा वेद है ब्रह्मवेद अर्थात् अथर्ववेद। इस वेद में परमेश्वर का वर्णन ''ब्रह्मपद'' द्वारा कई मन्त्रों में हुआ है, और इसका विषय भी भिन्न प्रकार का है—विज्ञान। इसलिए ''चतुर्थम्'' पद द्वारा ''त्रीणि'' पद से पृथक् वर्णन चतुर्थ का हुआ है। मन्त्र में वेदों को ''वाक्'' कहा है, अतः परमेश्वर द्वारा वाक्यरूप में, वाणीरूप में, वेद प्रकट हुए पदरूप में नहीं—यह भावना मन्त्र द्वारा प्रतीत होती है। चतुर्थवेद को ''ब्रह्मा'' तपस् द्वारा जाने, यह कथन वस्तुतः ठीक है। अथर्ववेद के वर्णन अतिगूढ़ और गहन हैं। निरुक्त में ''**नैषु प्रत्यक्षमस्ति, अनृषेः अतपसो वा**'' (१३.१.१२) द्वारा चारों वेदों के विषयों के प्रत्यक्षीकरण के लिए ''तपस्'' की आवश्यकता

---

१. त्रिभुजगृह

२. ''त्रीणि बृहन्ति'' द्वारा ऋक्, यजुः, साम को सूचित किया है। ये तीन मिल कर ''अथर्ववेद'' से बड़े हैं। अथर्ववेद के मन्त्र लगभग ६००० (६ हजार) हैं। शेष तीनों के लगभग १४००० मन्त्र हैं। तथा सर्वसाधारण के जीवनों के लिए ज्ञान, कर्म और उपासना—इन तीनों की आवश्यकता है, जिनका कि क्रमशः प्रतिपादन ऋक्, यजुः और साम में है। इसलिए मुख्य विषयों और मन्त्रों की दृष्टि से ''त्रीणि'' को ''बृहन्ति'' कहा है। चतुर्थवेद अर्थात् अथर्ववेद का विषय है ''विज्ञान''। इसके लिए प्रत्येक मनुष्य अधिकारी नहीं।

३. अथर्ववेद को ''वाचम्'' कहा है। इस कथन से शेष तीन वेद भी ''वाक्'' रूप सूचित होते हैं। ''वाक्'' ''संहिता'' रूप होती है, पदरूप नहीं। इस से सूचित किया है कि परमेश्वर से प्राप्त वेद ''संहिता'' रूप में थे। इन का घटन पदों द्वारा नहीं हुआ। अपितु संहिता से पदों का विच्छेद हुआ है। पैप्पलाद शाखा में ''त्रीणि'' के स्थान में ''चत्वारि'' पठित है।

दर्शाई है। अथर्ववेद के विषयों के प्रत्यक्षीकरण के लिए व्याख्येय मन्त्र में "तपस्" का विशेषतया कथन किया है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

बृहतः परि सामानि षष्ठात्पञ्चाधि निर्मिता।
बृहद् बृहत्या निर्मितं कुतोधि बृहती मिता॥ ४॥

अर्थ—(बृहतः, षष्ठात्[1] परि अधि) ५ बृहत् पादों सहित छठे बृहत् पाद से अर्थात् ६ बृहत् पादों से (पञ्च सामानि) ५ साम [सामगान] (निर्मिता=निर्मितानि) निर्मित होते हैं। (बृहत्) बृहत् पाद (बृहत्याः) बृहती छन्द से (निर्मितम्) निर्मित होता है। (बृहती) बृहती छन्द (कुतः) किस से (अधिमिता) निर्मित होता है?।

[सम्भवतः ५ बृहत्-पादों द्वारा ४ सामगान निर्मित होते हों, और ६ बृहत् पादों द्वारा ५वां बड़ा सामगान निर्मित होता हो, इसलिए षष्ठात् का पृथक् वर्णन हुआ हो। बृहत्-पाद बृहती छन्द द्वारा निर्मित होता है। बृहती छन्द में ३६ अक्षर होते हैं। बृहती छन्द अनुष्टुप् छन्द से ४ अक्षरों की वृद्धि द्वारा निर्मित होता है। साम के सम्बन्ध में कहा है कि "सहस्रवर्त्मा सामवेदः"। एक ही छन्दोमयी रचना को विविध नाना स्वरों में गाया जा सकता है। साम है स्वर। इसलिए सामवेद के मन्त्रों को हजार सामों अर्थात् हजार स्वरों में गाए जा सकने का निर्देश हुआ है। छान्दोग्य० उप० में कहा है कि "**का साम्नो गतिः, स्वर इति**" (छान्दोग्य १.८.४)। अथर्ववेद में ८ सामों के नाम प्रतिपादित हैं। यथा "बृहत्, रथन्तर, यज्ञायज्ञिय, वामदेव्य, वैरूप, वैराज, श्यैत, नौधस" (अथर्व० १५.४.३,५,८,११)]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

बृहती परि मात्राया मातुर्मात्राधि निर्मिता।
माया ह जज्ञे मायाया मायाया मातली परि॥ ५॥

अर्थ—(बृहती) बृहती छन्द (मात्रायाः परि) मात्रा से; (मात्रा) और मात्रा (मातुः अधि) निज परिमाण से (निर्मिता) निर्मित हुई है। (माया) प्रज्ञा (ह) निश्चय से (मायायाः) प्रज्ञा से (जज्ञे) पैदा हुई है, और (मायायाः परि) प्रज्ञा से (मातली) निर्माण की प्रतिष्ठा अर्थात् नींव प्रकट हुई है।

[बृहती-छन्द, "अक्षरों" की मापसंख्या से निर्मित होता है। परन्तु बृहती छन्द मात्राओं की मापसंख्या से भी निर्मित होता है—यह मन्त्र द्वारा सूचित होता है। दो प्रकार से छन्दों का निर्माण होता है, अक्षर संख्या द्वारा तथा मात्रासंख्या द्वारा। मात्रासंख्या द्वारा निर्मित छन्द को मात्रिक छन्द कहते हैं। मात्रा का निर्माण भी निज परिमाण द्वारा निश्चित होता है। ह्रस्व स्वर एक मात्रा का होता है, और दीर्घ स्वर दो मात्राओं का। माया=प्रज्ञा। "**माया प्रज्ञानाम**" (निघं० ३.९)। वेदों में प्रतिपादित प्रज्ञा [ज्ञान], पारमेश्वरी प्रज्ञा से पैदा हुई है। इस वैदिक प्रज्ञा से अस्मदादि की प्रज्ञा [ज्ञान] पैदा हुई है। और हमारी प्रज्ञा द्वारा जगत्-और-वैदिक छन्दों का निर्माण करने वाली "मातली" प्रकट होती है। मातली=मा (निर्माण) की प्रतिष्ठा अर्थात् आधारभूता पारमेश्वरी माता। मा+**तल प्रतिष्ठायाम्** (चुरादिः)]।

---

१. "षष्ठाद् बृहतः" के कथन से "पञ्चबृहतः" अन्य आक्षिप्त होते हैं। अतः मन्त्रपठित "पञ्च" पद का अन्वय उभयत्र जानना चाहिये। यथा "पञ्चबृहतः" तथा "पञ्चसामानि"।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वैश्वानरस्य प्रतिमोपरि द्यौर्यावद्रोदसी विबबाधे अग्निः ।

ततः षष्ठादामुतो यन्ति स्तोमा उदितो यन्त्यभि षष्ठमह्नः ॥ ६ ॥

अर्थ—(वैश्वानरस्य) सब नर-नारी रूप प्राणियों के हितकारी परमेश्वराग्नि का (प्रतिमा) प्रतिरूप है (उपरि द्यौः) ऊपर की द्यौः। (अग्निः) वह वैश्वानर-अग्नि (यावत्) जहाँ तक (रोदसी) पृथिवी-और-द्यौः फैले हुए हैं वहां तक (विबबाधे) विविध-जगत् का संयमन अर्थात् नियन्त्रण कर रही है उस के विघटन में बाधक हो रही है। (ततः) उस (अमुतः) दूरस्थ (षष्ठात्) छठे भुवन से (स्तोमाः) वैदिकस्तुतिमन्त्र (आयन्ति) आते हैं, और (इतः, अह्नः) इस ब्राह्म दिन से (षष्ठम् अभि) छठे भुवन को लक्ष्य कर के (उद्यन्ति) उपरिस्थित वैश्वानर को पुनः पहुँच जाते हैं। अर्थात् वैदिक स्तोम ब्राह्मदिन में तो आते हैं, और ब्राह्मदिन से [ब्राह्मीरात्रि के प्रारम्भ में] वापिस चले जाते हैं। सृष्टिकाल तो ब्राह्म दिन है और प्रलय काल ब्राह्मी रात्री है।

[सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, तारागण अग्निरूप में चमक रहे हैं, द्यौः भी अग्निरूप में चमक रही है। द्यौः यद्यपि वैश्वानर अग्नि से चमकती है, तो भी वर्तमान निज चमक के कारण वह वैश्वानर अग्नि की प्रतिमारूप है। जैसे सूर्य के प्रकाश में न चन्द्र चमकता, न विद्युत्, न नक्षत्र-तारा चमकते, इसी प्रकार परमेश्वर की आग्नेय ज्योति के चमकते न सूर्य चमकता, न चन्द्र और तारे, न विद्युतें चमकतीं; अग्नि [पार्थिव अग्नि] का तो कहना ही क्या, अपितु उस परमेश्वर के चमकते ही ये सब चमक रहे हैं। उसकी चमक द्वारा ही यह सब कुछ चमक रहा[१] है। परमेश्वर की यह दिव्य ज्योति समाधि में भासित होती है। परन्तु युक्ति द्वारा भी परमेश्वरीय ज्योति की सत्ता बुद्धिगम्य हो सकती है। प्रलय में सर्वत्र तम ही तम होता है। परमेश्वरीय कामना से जगत् जब पैदा होता है, तो जगत् की ज्योति भी परमेश्वरीय कामना से ही प्रकट होती है। अतः परमेश्वर ज्योतिर्मय है, यह समझा जा सकता है। इस लिए परमेश्वर को "आदित्यवर्णम्" भी कहा है (यजुः० ३१.१८)।

अमुतः षष्ठात्=पृथिवी के ऊपर उस छठे स्थान से या लोक से। यह छठा स्थान या लोक है "सत्यलोक", "सत्यं ज्ञानमानन्दम्" रूपी ब्रह्म। यथा भूः अर्थात् पृथिवी के ऊपर "भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, तथा सत्यम् है"। इस सत्य लोक से "स्तोमाः" अर्थात् परमेश्वर की स्तुति करने वाले वेदमन्त्र "आयन्ति" [सृष्टि-रचनाकाल में] आते हैं। यह रचनाकाल ब्राह्मदिन है। तथा प्रलयकाल में सत्यलोकरूपी ब्रह्म में वापिस चले जाते हैं। प्रलय काल ब्राह्मी-रात्री है, जिसमें कि स्तुतिमन्त्र "उद्यन्ति"]।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

षट् त्वा पृच्छाम ऋषयः कश्यपेमे त्वं हि युक्तं युयुक्षे योग्यं च ।

विराजमाहुर्ब्रह्मणः पितरं तां नो वि धेहि यतिधा सखिभ्यः ॥ ७ ॥

अर्थ—(कश्यप=पश्यक) हे सर्वद्रष्टः! (इमे षट् ऋषयः) ये छह ऋषि हम (त्वा) तुझसे (पृच्छामः) पूछते हैं, [क्योंकि] (त्वम् हि) तूने ही (युक्तम्) इस जुते सृष्टिरथ को (युयुक्षे) जोता है, (च) और

---

१. **न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्। नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।**
तमेव भान्तमनु भाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥ (कठोपनिषद्)

तू ही (योग्यम्) जुतने योग्य भावी सृष्टिरथ को [जोतेगा]। (विराजम्) विराट् को (आहुः) कहते हैं कि वह (ब्रह्मणः) ब्रह्म का (पितरं) पिता है, (ताम्) उस विराट् का, (नः) हम (सखिभ्यः) सखियों के लिए (यतिधा) जितने कि हम हैं, (विधेहि) विधिपूर्वक कथन कर।

[कश्यप=पश्यक, आद्यन्ताक्षरविपर्यासः। यथा "तुर्कः" **कृती छेदने** (तुदादिः) **इति कृतेराद्यन्त-विपर्यासः** (उणा० १.१६)। एवम् "स्तोकाः" **(श्च्युतिर् क्षरणे,** भ्वादिः) रज्जुः **(सृज विसर्गे,** दिवादिः) सिकताः (कस विकसने भ्वादिः) (निरुक्त २.१.१)।

विराज् या विराट्-पद उभयलिङ्गी है, पुंलिङ्गी भी और स्त्रीलिङ्गी भी। इसलिए पितरम् और "ताम्" ये द्विविध प्रयोग हुए हैं। विराट् है प्रकृति जोकि उत्पन्न जगत् के रूप में विशेषेण दीप्त हो रही है। यह ब्रह्म का पिता है। ब्रह्म निज जगत्-कृतियों द्वारा विराट् से उत्पन्न हुआ अनुमित होता है, ज्ञात होता है, अतः विराट् को ब्रह्म का पिता कहा है। सखिभ्यः=जीवात्मा और ब्रह्म परस्पर सखा हैं। यथा **"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया"** (ऋक् १.१६४.२०)। सखा होने के कारण ६ ऋषि परमेश्वर से सांसारिक रहस्यों के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्ति की अभिलाषा करते हैं। ये ६ हैं पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और एक मन। ये जब ऋषियों की कोटि के हो जाते हैं, तब ये परमेश्वरीय ज्ञान सम्बन्धी अभिलाषा वाले हो जाते हैं, और सर्वद्रष्टा कश्यप से साक्षात् प्रश्न करने के योग्य हो जाते हैं। पांच ज्ञानेन्द्रियों, मन और बुद्धि को "सप्तर्षि" कहा भी है। यथा **"सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे"** (यजुः० ३४.५५), तथा निरुक्त (१२.४.३८), **सप्तऋषयः** (२५)। जिज्ञासु षट् ही होते हैं, बुद्धि तो ज्ञेय का ग्रहणमात्र करती है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**जगती**॥

यां प्रच्युतामनु यज्ञाः प्रच्यवन्त उपतिष्ठन्त उपतिष्ठमानाम्।
यस्या व्रते प्रसवे यक्षमेजति सा विराडृषयः परमे व्योमन्॥ ८॥

अर्थ—(याम्) जिस [विराट्] के (प्रच्युताम्, अनु) सृष्टि से प्रच्युत हो जाने के पश्चात् (यज्ञाः) सब प्रकार के यज्ञकर्म (प्रच्यवन्ते) प्रच्युत हो जाते हैं, और (उपतिष्ठमानाम्) सृष्टि में उपस्थित हो जाने पर (उपतिष्ठन्ते) यज्ञकर्म उपस्थित हो जाते हैं, तथा (यस्याः) जिस के (व्रते, प्रसवे) व्रत में और प्रेरणा में (यक्षम्) यक्ष (एजति) गति करता है (सा) वह (विराट्) विराट् (ऋषयः) हे ऋषियो! (परमे व्योमन्) निरवधिक व्योम अर्थात् आकाश में [व्याप्त] है।

[प्रलयकाल में विराट्-परमेश्वर सृष्टि से प्रच्युत हो जाता है, पृथक् हो जाता है, अतः यज्ञकर्म भी उस समय प्रच्युत हो जाते हैं। तथा सृष्टि-रचना काल में जब परमेश्वर सृष्टि में उपस्थित हो जाता है तब यज्ञकर्म भी उपस्थित हो जाते हैं, यज्ञकर्मों का करना भी प्रारम्भ हो जाता है। सृष्टि का प्रलय करना और पैदा करना परमेश्वर का व्रत है, इसी की प्रेरणा से यह होता है। "यक्षम्" के स्वरूप के लिए देखो मन्त्र (२५, २६)। मन्त्र (७) में विराट् द्वारा जगत् में अभिव्यक्त हुई प्रकृति का वर्णन हुआ है, और मन्त्र (८) में विराट् द्वारा परमेश्वर का कथन हुआ है। यह "तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यम्" के अनुसार लाक्षणिक है। जैसे "मञ्चाः क्रोशन्ति" में मञ्च का अभिप्राय है मञ्चस्थ-पुरुष, इसी प्रकार विराट् का अभिप्राय है "विराट्स्थ" परमेश्वर]।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्** ॥

अप्राणैति प्राणेन प्राणतीनां विराट् स्वराजमभ्येति पश्चात्।

विश्वं मृशन्तीमभिरूपां विराजं पश्यन्ति त्वे न त्वे पश्यन्त्येनाम्॥ ९ ॥

अर्थ—(अप्राणा) प्राणरहिता[1] (विराट्) विराट् (प्राणतीनाम्) प्राणधारिणी प्रजाओं सम्बन्धी (प्राणेन) प्राणप्रदान हेतु से (एति) विश्व में आती है। वह विराट् होती हुई (पश्चात्) तदनन्तर (स्वराजम्, अभि) स्वराज को लक्ष्य कर (एति) आती है। (विश्वम्) विश्व को (मृशन्तीम्) स्पर्श करती हुई, (अभिरूपाम्) रूप को प्राप्त हुई (विराजम्) विराज् को (त्वे) कई (पश्यन्ति) देखते हैं, (त्वे) कई (न) नहीं (एनाम्) इसे (पश्यन्ति) देखते।

[विराज्=विराट् द्वारा विराट्-स्थ परमेश्वरी माता का कथन हुआ है, मन्त्र (८)। विराट् प्राणवायु से रहित है अतः अप्राणा है। यह विश्व का निर्माण कर के विश्व में आती है ताकि प्राणवती प्रजाओं को प्राण देकर सजीव कर सके। प्रलयावस्था में यह विराट् अर्थात् दीप्तिरहित प्रकृति में विराजमान रहती है, तत्पश्चात् सृष्टि रच लेने पर वह "स्वराज्" अर्थात् स्वयं प्रदीप्त या स्वात्मना प्रदीप्त स्थूल जगत् में आती है। विराज्-परमेश्वरी माता विश्व के साथ निज स्पर्शमात्र का सम्बन्ध रखती है, भोक्तृत्व का नहीं। यह रूपवती है। इस के रूप को योगी तो देखते हैं, अयोगी नहीं देखते। प्राणेन=हेतौ तृतीया (अष्टा० २.३.२३)। विराज्=**राजृ दीप्तौ**; दीप्तिरहित-प्रकृत्यवस्था वाली माता। स्वराजम्=स्वयं राजते; "परमेश्वरः स्वेन रूपेण राजते"। जगदवस्था में परमेश्वर बिना प्राणवायु के प्राणित है, और जीवात्मा प्राणवायु द्वारा प्राणित होते हैं]।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

को विराजो मिथुनत्वं प्र वेद क ऋतून्क उ कल्पमस्याः।

क्रमान्को अस्याः कतिधा विदुग्धान्को अस्या धाम कतिधा व्युष्टीः॥ १० ॥

अर्थ—(कः) कौन (विराजः) सृष्टि में विशेषतया प्रदीप्त हुई प्रकृति के (मिथुनत्वम्) मैथुन-कर्म को (प्रवेद) प्रकृष्ट अर्थात् ठीक प्रकार से जानता है, (कः) कौन (ऋतून्) ऋतुधर्मों के कालों को, (क उ) और कौन (अस्याः) इस प्रकृति के (कल्पम्) कल्पकाल को, (कः) कौन (अस्याः) इस प्रकृति के (क्रमान्) क्रमों को, तथा (कतिधा) कितनी वार यह (विदुग्धान्) दुग्धरहित हुई है इसे, (कः) कौन (अस्याः) इस के (धाम) तेज को, तथा (कतिधा) कितने प्रकार या कितनी (व्युष्टीः) यह विविध उषाओं में चमकी है—[इन सब को सम्यक् रूप में जानता है]।

[विराजः=वि+**राजृ दीप्तौ**। मिथुनत्वम्=प्रकृति है पत्नी, और परमेश्वर है उस का पति। परमेश्वर की कामना कि मैं सृष्टि को रचूं—यह है रेतस् [वीर्य] जिस का आधान वह प्रकृति के गर्भ में करता है, और सृष्टि पैदा होती है। यथा "**कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्**" (ऋ० १०.१२९.४), अर्थात् प्रारम्भ में काम अर्थात् कामना प्रकट हुई, जो कि प्रथम मानसिक रेतस् थी। इस अभिप्राय में "ऋतून्" ऋतुधर्म हैं जिन के होते स्त्री गर्भधारण करती है। कल्पम्=जितने काल तक सृष्टि बनी रहती है उतना काल, जिसे कि ब्राह्मदिन कहते हैं, जोकि १००० युगों का काल होता है।

१. "आनीद्वातम्" (ऋ० १०.१२९.२)।

क्रमान्=जिन क्रमों से सृष्टि की रचना होती है, यथा "परमेश्वर से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से आपः, आपः से पृथिवी, पृथिवी से ओषधियाँ, ओषधियों से अन्न, अन्न से रेतस्, रेतस् से पुरुष" (तै० उपनिषद्)। वैदिक साहित्य में अन्य प्रकार से भी क्रमों को दर्शाया है।

कतिधा=सृष्टि कितनी हुई है, इसे भी कौन जानता है?

विदुग्धान्=दूध के सम्बन्ध से विराट् को गोसदृश निर्दिष्ट किया है। विदुग्धान् के दो अर्थ हैं—(१) दुग्ध से विशिष्ट होना, इसके द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति दर्शाई है, गौ दुग्धसम्पन्न तभी होती है जब कि उस से वत्स पैदा होता है। (२) दूसरा अर्थ है "दुग्धरहित" होना, यह अवस्था प्रलयकाल को सूचित करती है।

धाम=धाम के अर्थ हैं नाम, स्थान, जन्म और तेज। यतः यह उषा-कालों में चमकी है, इसलिए धाम का अर्थ तेज किया है। उषाओं द्वारा भी सृष्टिकालों को सूचित किया है। सूक्त में विविध पहेलियों का कथन हुआ है जिन के सुलझाने में मतभेद सम्भव है]।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

इयमेव सा या प्रथमा व्यौच्छदास्वितरासु चरति प्रविष्टा।
महान्तो अस्यां महिमानो अन्तर्वधूर्जिगाय नवगज्जनित्री॥ ११॥

अर्थ—(इयम्) यह परमेश्वर-माता (एव) ही (सा या) वह है जोकि (प्रथमा) सर्वप्रथम (व्यौच्छत्) चमकी थी, और यह ही (आसु इतरासु) इन तद्भिन्न उषाओं में (प्रविष्टा) प्रविष्ट हुई (चरति) विचर रही है। (अस्याम्, अन्तः) इस परमेश्वर-माता में (महान्तः महिमानः) महामहिमाएँ हैं (जिगाय) इस ने सब पर विजय पाई हुई है, जैसे कि (नवगत् जनित्री) पतिगृह में नई-नई गयी और जन्मदात्री माता हुई (वधूः) वधू [पतिगृह पर विजय पा लेती है]।

[वधू पतिगृह में जा कर यदि सन्तानोत्पादन करती है तो वह पतिगृह की वंशवृद्धि कर पतिगृह में मान पाती है, यह पतिगृह पर विजय पाना है। वन्ध्यावधू पतिगृह में मान नहीं पाती]।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

छन्दःपक्षे उषसा पेपिशाने समानं योनिमनु सं चरेते।
सूर्यपत्नी सं चरतः प्रजानती केतुमती अजरे भूरिरेतसा॥ १२॥

अर्थ—(पेपिशाने) प्रत्यवयव में रूपवती, (छन्दःपक्षे) छन्दरूपी पंखों वाली (उषसा) दो उषाएँ (समानम्) एक (योनिम्) गृह में (अनु) निरन्तर (संचरेते) संचार करती हैं। (सूर्यपत्नी) ये दोनों सूर्य की पत्नियां, (प्रजानती) निजमार्ग को जानती हुईं, (केतुमती) मानो झण्डा ली हुईं, (अजरे) जरारहित हुईं, (भूरिरेतसा) प्रभूतशक्तिसम्पन्ना हुईं, (संचरतः) इकट्ठी विचरती हैं।

[पेपिशाने=**पिश अवयवे** (तुदादिः), तथा "**पेशः रूपनाम**" (निघं० ३.७)। [१]छन्दःपक्षे= स्वच्छन्दतारूपी पंखों वाली अर्थात् स्वतन्त्रता पूर्वक द्युलोक में उड़ने वाली पक्षीरूप दो उषाएँ, प्रातःकालीन उषा तथा सायंकालीन उषा। अथवा छन्दः अर्थात् वेदमन्त्र, द्विविध वेदमन्त्रों सम्बन्धी दो उषाएँ। उषाकाल ध्यान का काल है। इन कालों में परमेश्वर का ध्यान करना होता है और द्विविध मन्त्र अर्थात् स्तुति

१. छन्दस् wish, desire, Pleasure, Free will (आप्टे)।

और प्रार्थना सम्बन्धी मन्त्र मानो पंख हैं पक्षी के दो ही पंख होते हैं। उपासना के मन्त्र नहीं कहे, उपासना अर्थात् ध्यान में परमेश्वर के समीप बैठना "उप[१]+आसना" के अधिकारी सभी मनुष्य नहीं होते। समीप बैठने में वे ही सशक्त हो सकते हैं जो कि निज चित्तवृत्तियों का निरोध कर सकते हैं। सर्व साधारण इस में निःशक्त होते हैं। अतः वे केवल स्तुति और प्रार्थना ही कर सकते हैं। समान योनि है द्युलोक। इसी में दोनों उषाएँ विचरती हैं। "**योनिः गृहनाम**" (निघं० ३.४)। दोनों उषाएँ सूर्य की पत्नी हैं। सूर्य के आगे-आगे चलती हैं और सायंकाल की उषाएँ अर्थात् लालिमाएँ सूर्य के अस्त होने के समनन्तर द्युलोक में कुछ काल तक चमकती हैं। इन का केतु अर्थात् झण्डा सूर्य ही प्रतीत होता है। ये अजरा हैं। इन पर बुढ़ापा नहीं आता, ये सदा शक्तिमती होती हैं। जब से सृष्टिरचना हुई है तब से निरन्तर द्युलोक में चमकती रही हैं, और जब तक सृष्टि रहेगी, ये निरन्तर चमकती रहेंगीं। अतः ये अजरा हैं]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

ऋतस्य पन्थामनु तिस्र आगुस्त्रयो घर्मा अनु रेत आगुः।
प्रजामेका जिन्वत्यूर्जमेका राष्ट्रमेका रक्षति देवयूनाम्॥ १३॥

अर्थ—(ऋतस्य) सत्यस्वरूप परमेश्वर के दर्शाए (पन्थाम्, अनु) पथ के अनुसार (तिस्रः) तीन शक्तियाँ (आ अगुः) आई हुई हैं, (त्रयः) तीन (घर्माः) प्रदीप्त तत्त्व (रेतः अनु) परमेश्वरीय कामना[२] के अनुसार [पथ पर] (आ अगुः) आए हुए हैं। (एका) शक्तियों में से एक (प्रजाम्) प्रजा को (जिन्वति) प्रीणित करती है, (एका) दूसरी एक (ऊर्जम्) बल और प्राण के दाता अन्न को प्रीणित करती है, (एका) तीसरी एक (देवयूनाम्) दिव्यगुणों तथा दिव्यकोटि के जनों को चाहने वाले प्रजाजनों के (राष्ट्रम्) राष्ट्र की (रक्षति) रक्षा करती है।

[जब समग्र संसार परमेश्वर के दर्शाए मार्ग पर चलता है, और मनुष्य निज अवाञ्छनीय कृत्यों द्वारा संसार को भ्रष्ट तथा गन्दा नहीं करते, तब तीन तात्त्विक शक्तियाँ और तीन प्रदीप्त तत्त्व संसार का वस्तुतः उपकार और समुन्नति करने लगते हैं। तीन तात्त्विक शक्तियाँ हैं—पृथिवी, वर्षा और तीसरी "सरस्वती" अर्थात् ज्ञानविज्ञान वाली वेदविद्या। तथा तीन प्रदीप्त तत्त्व हैं—पार्थिव अग्नि, अन्तरिक्षीय मेघस्था विद्युत् और सूर्य।

पृथिवी तो निवासस्थान और अन्न के उत्पादन द्वारा समग्र प्रजा को तृप्त करती है, इतना उत्पादन कर देती है कि कोई प्राणी अन्नाभाव का अनुभव नहीं करता "**ऊर्क्[३] अन्ननाम**" (निघं० २.७)। तथा वर्षा, पृथिवी के उत्पादन में सहायक होती है। वर्षा द्वारा अन्न पैदा होता तथा अन्न में रस का संचार होता है। अन्न द्विविध है, स्थूल अन्न और रसरूप अन्न। तीसरी तात्त्विक शक्ति है सरस्वती। जब राष्ट्रस्थ मनुष्य राष्ट्र को दिव्य बनाना चाहते हैं तब वह वेदोपदिष्ट मार्ग द्वारा ही राष्ट्र की रक्षा कर सकते हैं, अन्यथा

---

१. वस्तुतः "उप+आसना" चित्त की वह अवस्था है, जबकि उपासक परमेश्वर का साक्षात् दर्शन करता हुआ, परमेश्वरीय आनन्दरस का आस्वादन कर रहा होता है। यह तल्लीनावस्था है। इस अवस्था में स्तुति और प्रार्थना दोनों का अभाव रहता है।

२. रेतस्=कामना। परमेश्वर की कामना अर्थात् इच्छा उस का मानसिकरेतस् है (ऋ० १०.१२९.४); तथा मन्त्र १० की व्याख्या।

३. **ऊर्ज बलप्राणनयोः** (चुरादिः)।

युद्धों, उपद्रवों, महामारियों और कष्टों द्वारा राष्ट्र का विनाश हो जाता है। राष्ट्ररक्षा होते तीन प्रदीप्त तत्त्व भी निजकार्यों को यथावत् करने लगते हैं। पार्थिव अग्नि प्रत्येक घर की पाकशाला में अन्न का पाक करने लगती है, किसी के घर की पार्थिव अग्नि अन्नाभाव के कारण अप्रज्वलित नहीं रहती, मेघस्था विद्युत् नियमानुसार वर्षा करती, और सूर्य नियमपूर्वक ताप और प्रकाश देने लगता है। घर्माः=**घृ क्षरणदीप्त्योः** (जुहोत्यादिः)। सरस्वती=**सरो विज्ञानं विद्यतेऽस्यां सा सरस्वती वाक्** (उणादि० ४.१९०। महर्षि दयानन्द)]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**चतुष्पदाऽतिजगती**॥

अग्नीषोमावदधुर्या तुरीयासीद्यज्ञस्य पक्षावृषयः कल्पयन्तः।
गायत्रीं त्रिष्टुभं जगतीमनुष्टुभं बृहदर्कीं यजमानाय स्वराभरन्तीम्॥ १४॥

अर्थ—(यज्ञस्य) यज्ञ के (पक्षौ) दो पार्श्वों की (कल्पयन्तः) कल्पना करते हुए (ऋषयः) ऋषियों ने (अग्नीषोमौ) अग्नि और सोम की (अदधुः) परिपुष्टि की और (या) जो (तुरीया) तुरीया अर्थात् ब्राह्मीशक्ति (आसीत्) थी [उस की भी परिपुष्टि की]। तथा (यजमानाय स्वः आभरन्तीम्) यज्ञकर्ता के लिए सुख पहुँचाने वाली (गायत्रीम्, त्रिष्टुभम्, जगतीम्, अनुष्टुभम्, बृहदर्कीम्) गायत्री आदि छन्दों की भी परिपुष्टि की। बृहदर्की=परमेश्वर की स्तुति करने वाली महती ऋक्।

[अग्निः=यज्ञियाग्नि। सोमः=सोमोषधिप्रधान ओषधियाँ। ऋषियों ने इन दो को यज्ञ के दो पार्श्वरूप निश्चित किया। मन्त्र में यज्ञ को पुरुष रूप में कल्पित किया है। जैसे अस्मदादि पुरुषों के शरीर दो पार्श्वों वाले हैं, दाएँ और बाएँ पार्श्वों वाले हैं, वैसे यज्ञ-पुरुष के भी दो पार्श्व हैं अग्नि और सोमादि हव्यपदार्थ। इन दो पार्श्वों के मेल से यज्ञपुरुष बनता है। तथा जैसे हमारे शरीरों की आत्माएँ हैं, जीवात्माएँ, वैसे यज्ञपुरुष की आत्मा है तुरीया ब्राह्मीशक्ति। जैसे विना जीवात्माओं के शरीर निष्प्राण होते हैं, वैसे विना तुरीयोद्देश्यक क्रिया यज्ञ भी निष्प्राण सा होता है। जो यज्ञ तुरीया की उपासना या प्रसन्नता के उद्देश्य से नहीं किया जाता वह यज्ञ मृतशरीरवत् निष्फल है। इसी प्रकार "इस भावना पूर्वक यज्ञ करना चाहिए" कि यज्ञ करते समय गायत्री आदि छन्दों वाले उच्चारित मन्त्र सुखप्रदाता हैं, अतः इनका उच्चारण श्रद्धापूर्वक होना चाहिए। बृहदर्कीम्=बृहत् अर्थात् बृहती छन्द वाली अर्की अर्थात् परमेश्वरीय या तुरीया की पूजा करने वाली ऋचा। "अर्कीम्" का सम्बन्ध गायत्रीम् आदि प्रत्येक के साथ अभीष्ट है। गायत्री आदि को भी समझना चाहिए कि यह प्रत्येक सुखप्रदान करने वाली हैं। अर्की=**अर्कः मन्त्रः भवति, यदनेनार्चन्ति** (निरुक्त ५.१.४)। इस प्रकार यज्ञ-पुरुष का स्वरूप ४ तत्त्वों से रचित होता है (१) अग्नि; (२) सोमादि हव्यपदार्थ; (३) यज्ञ में पूजनीया तुरीया; (४) गायत्री आदि छन्दोमय मन्त्र।

तुरीया=ओ३म् के अ, उ, म् ३ मात्राओं द्वारा जगत्-व्यापी ब्राह्मीशक्ति का वर्णन होता है और तुरीया ब्राह्मी शक्ति "अमात्रा" है स्वरूपस्था प्रपञ्चोपशमरूपा, शिव और अद्वैतरूपा है, जिस की कामना द्वारा जगत् की उत्पत्ति होती है (माण्डूक्योपनिषद् खण्ड १२)।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

पञ्च व्युष्टीरनु पञ्च दोहा गां पञ्चनाम्नीमृतवोनु पञ्च।
पञ्च दिशः पञ्चदशेन क्लृप्तास्ता एकमूर्ध्नीरभि लोकमेकम्॥ १५॥

अर्थ—(पञ्चनाम्नीम्) पांच नमनों अर्थात् झुकावों वाली (गाम् अनु) पृथिवी के अनुसार (पञ्च व्युष्टीः) पांच प्रकार की भिन्न-भिन्न उषाएँ हैं, और पाँच व्युष्टियों के (अनु) अनुसार (पञ्चदोहाः) पञ्चविध दोह हैं, पृथिवी में उत्पत्तियाँ हैं, और पञ्चविध नमनों के अनुसार (पञ्च ऋतवः) पांच ऋतुएँ हैं। (पञ्च दिशः) पांच दिशाएँ (पञ्चदशेन) १५ कलाओं वाले चन्द्रमा द्वारा (क्लृप्ताः) कल्पित हुई हैं, या निर्मित हुई हैं, (एकमूर्ध्नीः) चन्द्रमारूपी एकमूर्धा वाली (ताः) वे पांच दिशाएँ (एकम्, लोकम् अभि) एक पृथिवीलोक की ओर है [फैली हुई हैं]।

[गाम्=**गौः पृथिवीनाम** (निघं० १.१)। पञ्चनाम्नीम्=पृथिवी अपने अक्ष पर ६६$\frac{१}{२}$ अंश का कोण बनाती हुई सूर्य की परिक्रमा, घड़ी की सुईयों के उल्टे क्रम अर्थात् दाएँ से बाईं ओर करती है। ६६$\frac{१}{२}$ अंश का कोण पृथिवी का एक "नमन" है। इस "नमन" के साथ पृथिवी के भिन्न-भिन्न भागों के "नमन" अर्थात् झुकाव भी, भिन्न-भिन्न कालों में, सूर्य के संमुख होते रहते हैं। इन द्विविध नमनों के कारण ऋतुओं का निर्माण होता है। वेदानुसार ऋतुएँ ६ हैं, और इन में से ४ ऋतुओं अर्थात् वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, और शरद् के अपने-अपने विशिष्ट लक्षण अनुभूत होते हैं, परन्तु हेमन्त और शिशिर ऋतुओं में सर्दी लगभग एक समान होने के कारण इनका पारस्परिक भेद अनुभूत नहीं होता, अतः इन दो ऋतुओं को एक ऋतु मानकर मन्त्र में "ऋतवः पञ्च" कहा है। इसलिए निरुक्त में कहा है कि "**इति पञ्चर्तुतया पञ्चर्तवः संवत्सरस्येति च ब्राह्मणं हेमन्तशिशिरयोः समासेन**" (निरुक्त ४.४.२७)। पञ्चदिशः=दिशाएँ ५ हैं। मन्त्र में "पञ्च, पञ्च" द्वारा दिशाओं की संख्या भी पांच कही है, पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण तथा ऊर्ध्वा या ध्रुवा दिशाएँ। इन दिशाओं का निर्माता कहा है पञ्चदश अर्थात् चन्द्रमा यथा "**चन्द्रमा वै भान्तः पञ्चदश। स च पञ्चदशाहानि आ पूर्यते, पञ्चदशापक्षीयन्ते, भाति च चन्द्रमाः**" (शत० ब्राह्मण ८.४.१.१०)। चन्द्रमा द्वारा भी दिशाओं का निर्माण होता है। अमावस्या के द्वितीय दिन में चन्द्रमा का उदय पश्चिम में, तथा पौर्णमास की रात्री में पूर्व में होता है। इस प्रकार चन्द्रमा भी दिशाओं का ज्ञापक है। दिन में सूर्य द्वारा दिशाओं का निश्चय होता है, और रात्री में चन्द्रमा द्वारा। पांच ऋतुओं की प्रत्येक ऋतु में, पृथिवी के प्रदेशों में उषाओं की चमकों में भी पंचविध भेद हो जाता है। तथा ऋतुभेद के कारण पृथिवी में पञ्चविध दोह अर्थात् उत्पत्तियाँ भी होती रहती हैं। इन पांच दिशाओं को "एकमूर्ध्नीः" कहा है, अर्थात् एक सिर वाली। जैसे मूर्धा से ज्ञानवाहिनी नाड़ियाँ समग्र शरीर में व्याप्त हो जाती हैं, इसी प्रकार मानो चन्द्रमा रूपी मूर्धा से पाँच दिशाएँ निकल कर "एकलोक" पृथिवी में व्याप्त हो रही हैं। मन्त्र में सब वर्णन कविता में है। इसलिए वेद को काव्य कहते हैं। यथा "**देवस्य पश्य काव्यम्**" (अथर्व० १०.८.३२; ९.१५.९)। तथा परमेश्वर को कवि कहा है। यथा "**कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः**" (यजुः० ४०.८)। वेदों में कल्पनाएँ केवल कल्पनाएँ ही नहीं अपितु इन कल्पनाओं में यथार्थता अनुस्यूत रहती है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

षड् जाता भूता प्रथमजर्तस्य षडु सामानि षडहं वहन्ति।
षड्योगं सीरमनु सामसाम षडाहुर्द्यावापृथिवीः षडुर्वीः॥ १६॥

अर्थ— (ऋतस्य) नियम सम्बन्धी अर्थात् नियम के अनुसार (प्रथमजा[१]=प्रथमजानि) प्रथमोत्पन्न

१. पदपाठ में, जाता। भूता। प्रथमजा—ऐसे पाठ हैं, जोकि नपुंसकलिङ्गी प्रतीत होते हैं। अतः भूता=भूतानि। जाता=जातानि। प्रथमजा=प्रथमजातानि।

होने वाले (षट्) ६ (भूता=भूतानि) सत्तासम्पन्न तत्त्व (जाता=जातानि) उत्पन्न हुए। (षट् उ) ६ ही (सामानि) साम (षडहम्) ६ दिनों में सम्पाद्य यज्ञ का (वहन्ति) वहन करते हैं, सम्पादन करते हैं। (षड्योगम्) ६ [बैलों] के योगवाले हल द्वारा किये (सीरम्) कृषिकर्म के (अनु) अनुरूप (सामसाम) प्रत्येक योग के साथ एक-एक साम होता है। (षट्) ६ (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी हैं (आहुः) ऐसा कहते हैं और (षट् उर्वीः) ६ विस्तृत दशाएँ हैं।

[यह नियम है कि प्रत्येक प्रलय के अनन्तर पुनः सृष्टि होती है। इस नियम के अनुसार प्रारम्भ में ६ सत्तासम्पन्न तत्त्व उत्पन्न हुए। (१) साम्यावस्था वाली प्रकृति का विषमावस्था में होना। (२) आकाश। (३) वायु। (४) अग्नि। (५) आपः। (६) पृथिवी। ये ६ तत्त्व ब्रह्माण्ड के सर्जनारम्भ में पैदा हुए।

"६ साम हैं"—बृहत्, रथन्तर, यज्ञायज्ञिय, वामदेव्य, वैरूप, वैराज (अथर्व० १५.४.३,५,८,११) इन ६ सामों के अतिरिक्त श्यैत और नौधस सामों का भी वर्णन अथर्ववेद में हुआ है।

"षडहम्" है षड्रात्रयज्ञ (अथर्व० ११.९.१९)।

"सीरम्" सीर का अर्थ है हल, जिस द्वारा खेत जोता जाता है। हल के साथ ६ बैलों को जोतना हास्यास्पद है। गीता के अनुसार (१३.१-३) शरीर है क्षेत्र और आत्मा है क्षेत्रज अर्थात् शरीरक्षेत्र का स्वामी। आत्मा शरीर क्षेत्र में हल जोतकर और इसे तय्यार कर, सत्कर्मरूपी बीज बोता है। यह है आध्यात्मिक कृषिकर्म। इस कर्म में सहायक ६ हैं, ५ ज्ञानेन्द्रियाँ और १ मन। ये ही ६ बैल हैं, जोकि बुद्धिरूपी हल के आगे जुते हुए हैं। इस आध्यात्मिक कृषिकर्म की सफलता के लिए जीवन में भक्ति भरे ६ सामगान भी होने चाहिएँ, ५ ज्ञानेन्द्रियों और १ मन की शुद्धि के लिए। इन ६ की शुद्धि हो जाने से कर्मेन्द्रियाँ स्वतः शुद्ध हो जाती हैं, क्योंकि ज्ञानानुरूप ही कर्म होते हैं।

'द्यावापृथिवी'—त्रिविधा है द्यौः और त्रिविधा है पृथिवी। द्यौः त्रिविधा है, दृश्यमाना द्यौः, स्वः, नाकः। "**येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा, येन स्वः स्तभितं येन नाकः**" (यजुः० ३२.६) में "उग्रा द्यौः, स्वः,[१] नाकः"[२] द्वारा द्युलोक का त्रैविध्य प्रदर्शित किया है। "नाकः" में योगसिद्ध साध्य देवों की स्थिति भी वेदानुमत है (यजुः० ३१.१६)।

१-२. "स्वः नाकः"=निरुक्त में इन पदों की व्याख्या निम्न प्रकार हुई है। **स्वः आदित्यो भवति, एतेन द्यौर्व्याख्याता। नाक आदित्यो भवति, अथ द्यौः। कमिति सुखनाम, तत्प्रतिषिद्धं प्रतिषिध्येत। "न वा अमुं लोकं जग्मुषे किं च नाकम्"** (काठक सं० २१.२; तथा निरुक्त २.४.१४)। **विष्टबादित्यो भवति, आविष्टो भासेति। अथ द्यौराविष्टा ज्योतिभिः पुण्यकृद्भिश्च** (निरुक्त २.४.१४)।

इन उद्धरणों के अनुसार "अमुं लोकं जग्मुषे" द्वारा द्यौः में गये को "न अकम्" पदों द्वारा सुखाभाव का अभाव दर्शाया है, अर्थात् सुख विशेष की सत्ता दर्शाई है। तथा यह भी दर्शाया है कि द्यौः में पुण्यकर्माओं का निवास है। इस से स्वः और नाकः स्थान विशेष प्रतीत होते हैं जो कि द्यौः के अङ्गरूप हैं।

परन्तु महर्षि दयानन्द का विचार "**येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः। यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः**" (यजुः० ३२.६) द्वारा भिन्न प्रकार का प्रतीत होता है। विचार यह कि लोक तो तीन हैं, द्यौः, पृथिवी, अन्तरिक्ष। अतः स्वः और नाक पद किसी स्थान विशेष का निर्देश नहीं करते, अपितु ये दो पद "स्वः=सुख को, और नाकः सब दुःखों से रहित मोक्ष को" [सूचित करते हैं] महर्षि दयानन्द का विचार इसलिए भी ठीक प्रतीत होता है कि "स्वः" और "स्वर्ग" में भेद तो होना ही चाहिये। स्वर्ग का अर्थ है "स्वः गम्यते यत्र सः स्वर्गः"। अतः "स्वः" का अर्थ सुख है, यह वस्तुतः यथार्थ है। "स्वर्ग" शब्द स्थानवाची है, न कि 'स्वः' शब्द।

पृथिवी भी त्रिविधा है, समुद्र, समतल, तथा पर्वत। अथवा पृथिवी का ऊपर का पार्थिव स्तर इस के नीचे जलीय स्तर, जिस की सूचना कूपजलों तथा चश्मों द्वारा ज्ञात होती है, तथा इसके भी नीचे आग्नेयस्तर, जिसकी सूचना ज्वालामुखी पर्वतों तथा गर्मचश्मों द्वारा मिलती है। इस प्रकार द्यौः और पृथिवी मिलकर षट् हैं।

षट् उर्वीः=६ विस्तृत दिशाएँ, पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ध्रुवा तथा ऊर्ध्वा।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

षडा॑हुः शी॒तान्षडु॒ मास॑ उ॒ष्णानृ॒तुं नो॑ ब्रूत यत॒मोऽति॑रिक्तः।

स॒प्त सु॑प॒र्णाः क॒वयो॒ नि षे॑दुः स॒प्त च्छन्दां॒स्यनु॑ स॒प्त दी॒क्षाः॥ १७॥

अर्थ—(षट् शीतान्) ६ शीत (मासः) मास हैं, (उ) और (षट् उष्णान्) ६ उष्ण मास हैं—यह (कवयः) मेधावी लोग (आहुः) कहते हैं, (यतमः) जो (अतिरिक्तः) इन से अतिरिक्त (ऋतुम्) ऋतु है उसे (नः ब्रूत) हमें कहिए। (कवयः) गतिशील (सप्त) ७ (सुपर्णाः) उड़ने वाली रश्मियाँ (निषेदुः) सौरमण्डल में स्थित हैं, (सप्त छन्दांसि अनु) ७ छन्दों के अनुसार (सप्त दीक्षाः) ७ दीक्षाएँ हैं।

["कवयः" के दो अभिप्राय हैं—(१) "**कविः मेधाविनाम**" (निघं० ३.१५); (२) "**कवते गतिकर्मा**" (निघं० २.१४)। सुपर्णाः=**सुपतनाः आदित्यरश्मयः** (निरुक्त ३.२.१२)। "पतन" द्वारा आदित्यरश्मियों को पक्षी कहा है। ये रश्मियाँ मानो दूरस्थ, आदित्य से, शीघ्र उड़कर, पृथिवी पर आ पहुँचती हैं। ये सात हैं। इन सातों का मिश्रण है आदित्य की "शुक्लरश्मि"। वेदों के मुख्य छन्द ७ हैं, गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप्, जगती—इन सात छन्दों द्वारा सात दीक्षाएँ अभिप्रेत हैं। इन ७ छन्दों द्वारा ७ प्रकार के व्रतग्रहण करने चाहिएँ। ७ व्रतग्रहण और तदनुसार जीवनचर्या करनी—ये सात दीक्षाएँ हैं। "**दीक्ष मौण्डेज्योपनयननियमव्रतादेशेषु**" (भ्वादिगण)। मन्त्र में "अतिरिक्तः" पद द्वारा यह पूछा गया है कि शीत-उष्ण-१२ मासों से अतिरिक्त यदि कोई ऋतु है तो उसे कहो, क्योंकि १२ मास ही ६ ऋतुओं में विभक्त हैं। उत्तर के अभाव में मन्त्र (१८) में स्वयं कह दिया कि "ऋतवो ह सप्त" कि निश्चय से ऋतुएँ ७ हैं]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

स॒प्त होमाः॑ स॒मिधो॑ ह स॒प्त मधू॑नि स॒प्तर्तवो॑ ह स॒प्त।

स॒प्ताज्या॑नि॒ परि॑ भू॒तमा॑य॒न्ताः स॑प्तगृ॒ध्रा इति॑ शुश्रुमा व॒यम्॥ १८॥

अर्थ—(होमाः सप्त) होम ७ हैं, (ह) निश्चय से (समिधः सप्त) समिधाएँ ७ हैं, (मधूनि सप्त) मधु ७ हैं, (ह) निश्चय से (ऋतवः सप्त) ऋतुएँ ७ हैं। (सप्त आज्यानि) सात आज्य, (भूतम्) सत्तावाले सूर्य के (परि) सब ओर (आयन्) गति कर रहे हैं—(ताः) वे (सप्तगृध्राः) ७ गृध्र हैं—(इति) यह (वयम्) हम ने (शुश्रुमा) सुना है।

[सप्तगृध्राः=(१) सप्तसुपर्णाः; (२) सप्तदीक्षाः, (मन्त्र १७); (३) सप्तहोमाः; (४) सप्त समिधः; (५) सप्तमधूनि; (६) सप्त ऋतवः; (७) सप्त आज्यानि। इन्हें गृध्राः कहा है। **गृधु अभिकांक्षायाम्।** मनुष्यों द्वारा इन ७ सप्तकों की अभिकांक्षा होती है, अभिलाषा होती है, अतः मन्त्र में ७ गृध्र हैं]।

सप्तहोमाः=अग्निहोत्रः, दर्श, पौर्णमास, वैश्वदेव, वरुणप्रघास, साकमेध शुनासीरीय, ये ७ हविर्यज्ञ हैं,

होम हैं। सप्तसमिधः—अग्नि के सम्बन्ध में कहा है कि **"ऊर्ध्वा अस्य समिधो भवन्त्यूर्ध्वा शुक्रा: शोचींष्यग्नेः"** (यजुः० २७.११) अर्थात् अग्नि को प्रदीप्त करने वाली समिधाएँ ऊर्ध्वदिशा में हैं। ये सम्भवतः सूर्य की सप्त रश्मियाँ हैं। इन ७ रश्मियों द्वारा अग्नि की प्रदीप्ति होती है, क्योंकि काष्ठमयी समिधाएँ भी सूर्य की ७ रश्मियों द्वारा ही प्राप्त होती हैं, इसलिए काष्ठमयी समिधाओं को भी समिधा कहते हैं। यह लाक्षणिक प्रयोग होता है। कारणनिष्ठ सप्त संख्या का प्रयोग कार्यरूपी समिधाओं के लिए भी होता है। अथवा **"त्रिःसप्त समिधः कृताः"** (यजुः० ३१.१५) में कथित २१ समिधाओं में से किन्हीं ७ समिधाओं का निर्देश अभिप्रेत होगा।

सप्तमधूनि—

यो वै कशा॑याः स॒प्त मधू॑नि॒ वेद॒ मधु॑मान्भवति।

ब्रा॒ह्म॒णश्च॒ राजा॑ च धे॒नुश्चा॑न॒ड्वांश्च॑ व्री॒हिश्च॒ यव॑श्च॒ मधु॑ सप्त॒मम्॥ अथर्व० ९.१.२२॥

इस मन्त्र में सप्तमधूनि का वर्णन हुआ है।

सप्त ऋतवः=मन्त्र १५ में पञ्च ऋतुओं का वर्णन हुआ है हेमन्त और शिशिर को एक मानकर। मन्त्र (१७) में ६ ऋतुएँ अभिप्रेत हैं, हेमन्त और शिशिर को पृथक्-पृथक् मानकर। मानकर। मन्त्र (१८) में सात ऋतुएँ कही हैं। सातवीं ऋतु "त्रयोदश मास" रूप है, इसे मलमास भी कहते हैं। यथा **"अहोरात्रैर्विमितं त्रिंशदङ्गं त्रयोदशं मासं यो निर्मिमीते"** (अथर्व० १३.३.८)। इस त्रयोदश मास को अधिकमास भी कहते हैं। इसकी व्याख्या के लिए देखो, (अथर्व० १३.३.८)]।

सप्त आज्यानि="आज्य का अभिप्राय है "अभिव्यक्त पदार्थ"। **अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु** (रुधादिः)। "आज्य" पद में व्यक्ति अर्थात् अभिव्यक्ति अर्थ प्रतीत होता है। "भूत" है महासत्ता वाला सूर्य। भू सत्तायाम्+क्तः। सात अभिव्यक्त पदार्थ हैं, बुध, शुक्र, पृथिवी, मंगल, गुरु (बृहस्पति), शनैश्चर, तथा चन्द्रमा। ये ७, भूतनामक सूर्य की परिक्रमा कर रहे हैं, "परिभूतमायन्"। ये सब हैं ७ गृध्राः।

"सप्त समिधः, और सप्त सुपर्णाः" आदित्य रश्मियाँ हैं। जिन के स्वरूपों मे भेद "ऊर्ध्वाः" और "सुपतनाः" द्वारा दर्शाया है। कर्मभेद से आदित्य की सप्तरश्मियों को द्विविध माना है।

सप्तछन्दांसि अनु सप्त दीक्षाः=इन दो सप्तकों में "अनु" द्वारा पौर्वापर्य दर्शाकर कारणभाव और कार्यभाव सूचित कर और दोनों में अभेद[१] मान कर, और फलभूत सप्त दीक्षाओं को मुख्य मान कर "सप्तदीक्षाः" पदों द्वारा कथित किया है, और सप्त छन्दांसि का पृथक् कथन नहीं किया। इस प्रकार ये सात-सप्तक सप्तगृध्राः हैं, सात अभिकांक्षणीय हैं। गृध्राः=**गृधु अभिकांक्षायाम्** (दिवादिः)।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

स॒प्त च्छन्दां॑सि चतुरुत्त॒राण्य॒न्यो अ॒न्यस्मि॒न्नध्यार्पि॑तानि।

क॒थं स्तोमाः॒ प्रति॑ तिष्ठ॒न्ति॒ तेषु॒ तानि॒ स्तोमे॑षु क॒थमार्पि॑तानि॥ १९॥

अर्थ—(सप्त छन्दांसि) सात छन्द हैं (चतुः उत्तराणि) जिन में उत्तरोत्तर के छन्दों में चार-चार अक्षर बढ़ते हैं, (अन्यः) उत्तरोत्तर छन्द (अन्यस्मिन् अधि) पूर्व-पूर्व के छन्द में (आर्पितानि) अर्पित होते हैं,

१. यथा **"अन्नं वै प्राणिनां प्राणः"**=में अन्न (कारण) और प्राण (कार्य) में अभेद कथित है।

आश्रित होते हैं। (कथम्) किस प्रकार (स्तोमा:[१]) मन्त्रों के गेय स्वरूप (तेषु) उन छन्दों [छन्दोयुक्त मन्त्रों] में (प्रति तिष्ठन्ति) स्थित होते हैं, (तानि) और वे छन्द [छन्दोयुक्त मन्त्र] (स्तोमेषु) मन्त्रों के गेयस्वरूपों में (कथम्) किस प्रकार (आर्पितानि) अर्पित होते हैं, आश्रित होते हैं।

[७ छन्द हैं—गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप्, जगती। गायत्री छन्द में २४ अक्षर होते हैं, और उत्तरोत्तर छन्दों में चार-चार अक्षरों की वृद्धि द्वारा अन्तिम छन्द "जगती" में ४८ अक्षर हो जाते हैं। इस प्रकार उत्तरोत्तर छन्द अपने से पूर्व-पूर्व के छन्द में आश्रित होता है क्योंकि पूर्व-पूर्व छन्द में चार-अक्षरों की वृद्धि से ही उत्तरोत्तर छन्द बनता है। मन्त्रों में स्तोम अर्थात् मन्त्रों के गेयस्वरूपों की स्थिति होती है। मन्त्रों के "गेयस्वरूप" मन्त्रों की आवृत्तियों द्वारा निष्पन्न होते हैं, जिन पर कि सामगान किये जाते हैं। जैसे कि त्रिवृत्-स्तोम में गायत्री छन्द के तीन मन्त्र होते हैं, और प्रथम तथा तृतीय मन्त्र को तीन-तीन वार आवृत्त करना होता है, दोहराना होता है। कहा भी है "त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम्" (ऋचम्)। इस प्रकार मन्त्रों या ऋचाओं में "स्तोम" समवेत होते हैं, और स्तोमों में मन्त्र या ऋचाएँ समवेत होती हैं[२]]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

कथं गायत्री त्रिवृतं व्याप कथं त्रिष्टुप्पञ्चदशेन कल्पते।
त्रयस्त्रिंशेन जगती कथमनुष्टुप्कथमेकविंशः॥ २०॥

अर्थ—(कथम्) किस प्रकार (गायत्री) गायत्री मन्त्र [ऋक्] (त्रिवृतम्) त्रिवृत्-स्तोम में (व्याप) व्याप्त हुआ है, (कथम्) किस प्रकार (त्रिष्टुप्) त्रिष्टुप् मन्त्र [ऋक्] (पञ्चदशेन) पञ्चदश-स्तोम के साथ (कल्पते) समर्थित होता है। (कथम्) किस प्रकार (जगती) जगती मन्त्र [ऋक्] (त्रयस्त्रिंशेन) त्रयस्त्रिंश-स्तोम के साथ; (कथम्) और किस प्रकार (अनुष्टुप्) अनुष्टुप् मन्त्र [ऋक्] और (एकविंशः) एकविंश-स्तोम परस्पर समन्वित होते हैं।

[गायत्री और त्रिवृत् का परस्पर समन्वय, मन्त्र (१९) की व्याख्या में दर्शा दिया है। इसी प्रकार अन्य मन्त्रों तथा उनके स्तोमों में भी पारस्परिक समन्वय, अपने-अपने ढंग से होते हैं।

मन्त्रस्वरूप तथा मन्त्रसंख्या तथा उनकी आवृत्तियों से स्तोमों का निर्माण होता है, उन्हें देखकर मन्त्रों द्वारा निर्मित स्तोमों को देख कर तद्घटक मन्त्रों[३] को जाना जा सकता है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अष्ट जाता भूता प्रथमजर्तस्याष्टेन्द्रर्त्विजो दैव्या ये।
अष्टयोनिरदितिरष्टपुत्राष्टमीं रात्रिमभि हव्यमेति॥ २१॥

---

१. यजुः० १४.२३ में नाना स्तोमों का कथन हुआ है। "यथा" त्रिवृत्, पञ्चदशः, सप्तदशः, एकविंशः, अष्टादशः, नवदशः, सविंशः, द्वाविंशः, त्रयोविंशः, चतुर्विंशः, पंचविंशः, त्रिणवः, एकत्रिंशः, त्रयस्त्रिंशः, चतुस्त्रिंशः, षट्त्रिशः अष्टाचत्वारिंशः, चतुष्टोमः। परन्तु इन का, आधिदैविक रूपों में भी शतपथ में कथन हुआ है। परन्तु मन्त्र (१९) में आधिदैविक व्याख्या अभिमत नहीं।

२. स्तोमों के गान में, मन्त्र में, मध्य में, "स्तोभ" भी होते हैं, जोकि "आलाप" रूप होते हैं।

३. तथा जिसे स्तोमों के स्वरूप ज्ञात हैं वह सुगमता से जान सकता है कि अमुक स्तोम में कौन से मन्त्र पुनरावृत्त हैं, और कौन से पुनरावृत्त नहीं। इस प्रकार स्तोम के मौलिक मन्त्र जान लिए जाते हैं।

अर्थ—(ऋतस्य) सत्यस्वरूप परमेश्वर सम्बन्धी (प्रथमजा) प्रथम पैदा होने वाले (भूता) सत्पदार्थ (अष्टजाता) आठ पैदा हुए थे। (इन्द्र) हे इन्द्र! (अष्ट ऋत्विजः) ये आठ ऋत्विक् हैं (ये) जो (दैव्याः) देव सम्बन्धी हैं। (अष्टयोनिः) आठ योनियों वाली (अदितिः) प्रकृति (अष्टपुत्रा) आठ पुत्रों वाली है, जो कि (अष्टमीम्, रात्रिम् अभि) आठवीं रात्रि को लक्ष्य करके (हव्यम्) हवि को (एति) प्राप्त होती है।

[अदितिः=प्रकृति, जो कभी क्षीण नहीं होती [अ+**दीङ्क्षये**]। इस के आठ पुत्र पैदा हुए। यथा—

अष्टौ पुत्रासो अदितेर्ये जातास्तन्व१स्परि। देवाँ उप प्रैत्सप्तभिः परा मार्ताण्डमास्यत्॥ ८॥

सप्तभिः पुत्रैरदितिरुप प्रैत्पूर्व्यं युगम्। प्रजायै मृत्यवे त्वत्पुनर्मार्ताण्डमाभरत्॥ ९॥

ऋ० १०.७२.८-९॥

अदिति के शरीर से जो आठ पुत्र पैदा हुए थे, उनमें से ७ पुत्रों द्वारा वह द्युलोकस्थ द्युति वाले तारागण आदि को प्राप्त हुई, और मार्तण्ड अर्थात् आदित्य को उसने परे फैंका (ऋक् १०.७२.८)। अभिप्राय यह कि अदिति के सात पुत्र हैं, सात ग्रह—बुध, शुक्र, पृथिवी, मंगल, गुरु [बृहस्पति], शनैश्चर, सूर्य। ये सातों या पृथिवी का उपग्रह चन्द्रमा तो रात्रि काल में द्युलोक में समय-समय पर यह दृष्टिगोचर होते रहते हैं, यह हैं अदिति का ७ पुत्रों सहित द्युलोक में जाना, उपस्थित होना। परन्तु आठवां पुत्र मार्तण्ड [सूर्य] रात्रिकाल में दृष्टिगोचर नहीं होता, यह है उसका परे फैंकना (१०.७२.८)।

तथा पूर्व युग में अदिति ७ पुत्रों समेत हुई, और प्रजा की उत्पत्ति तथा मृत्यु के लिए एक मार्तण्ड को अदिति ने पैदा किया। प्राणियों की उत्पत्ति और मृत्यु का विशेष सम्बन्ध मार्तण्ड के साथ है, अतः अदिति ने मार्तण्ड को भी पैदा किया। बुध आदि ७ पुत्र यद्यपि मार्तण्ड से ही पैदा हुए हैं, परन्तु रात्रिकाल में सात की दृष्टिगोचरता और दृष्टिगोचर न होने वाले सूर्य के इस भेद को दर्शाने के लिए इन में परस्पर पार्थक्य दर्शाया है (१०.७२.९)। इन्द्र द्वारा जीवात्मा का सम्बोधन किया है। अष्ट ऋत्विजः=ये ही ८, दैव्य ८ ऋत्विक् हैं जो कि सौरमण्डलरूपी यज्ञ को रचा रहे हैं।

अष्टयोनिः=आठ को पैदा करने वाली योनि से सम्बद्ध अदिति।

अष्टमीम्, रात्रिम्—यह अष्टमी-रात्री कौन सी रात्री है, जिसे अभिलक्ष्य करके अदिति हव्य को प्राप्त होती है—यह अनुसंधेय है। सम्भवतः यह "एकाष्टका-रात्री" हो, जिस में कि हव्य प्रदान किया जाता है, हव्य की आहुतियाँ दी जाती हैं। इस एकाष्टका रात्री का वर्णन एकाष्टकासूक्त में हुआ है (अथर्व ३.१०.१-१३)। परन्तु इस सूक्त में, अदिति का कथन नहीं हुआ। "**भूतस्य पतये यजे**" (९,१०) में भूतपति के लिए, तथा देवों के लिए (११) यज्ञ का विधान हुआ है। सूक्त ९.२१ में दैव्याः" पद द्वारा देवों का निर्देश हुआ है। वे सम्भवतः एकाष्टका-सूक्त मन्त्र (११) में "देवान्" पद द्वारा अभीष्ट हों परन्तु "भूतस्य पतिः" परमेश्वर ही प्रतीत होता है। अदिति परमेश्वर की जायारूप से अर्धाङ्गिनी है, अतः परमेश्वरार्पित हवि, अर्धाङ्गिनी रूप में अदिति को भी प्राप्त समझी जा सकती है। एकाष्टका-सूक्त, ९ वें सूक्त की समाप्ति पर 'परिशिष्ट' रूप में दे दिया है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**जगती**॥

इत्थं श्रेयो मन्यमानेदमागमं युष्माकं सख्ये अहमस्मि शेवा।

समानजन्मा क्रतुरस्ति वः शिवः स वः सर्वाः सं चरति प्रजानन्॥ २२॥

अर्थ—(इत्थम्) इस प्रकार (श्रेयः) निःश्रेयस (मन्यमाना) मानती हुई (इदम्) इस जगत् में (आगमम्) मैं आई हूँ। (युष्माकम्) तुम्हारे (सख्ये) सखिभाव[1] में (अहम्) मैं (शेवा[1] अस्मि) सुखी हूँ। (समानजन्मा) सब को जन्म देने वाला या मुझे-और-तुम्हें समानरूप में जन्म देने वाला (क्रतुः) जगत्कर्त्ता तथा प्रजावान् परमेश्वर (वः) तुम सब का (शिवः) कल्याण करने वाला है, (सः) वह (वः) तुम्हारी (सर्वाः) सब कृतियों और चेष्टाओं को (प्रजानन्) ठीक प्रकार से जानता हुआ (सं चरति) विचरता है।

[मन्त्र (२१) के पूर्वार्ध में "अदिति" का वर्णन है। यह मातृरूप में मनुष्यों के प्रति कथन करती हुई कहती है। अदितिः "**अदीना देवमाता**" (निरुक्त ४.४.२२); तथा "**अदितिर्माता स पिता**" (ऋ० १.८९.१०) आदि प्रकृति है अदिति। वह सब की माता है, तथा पिता भी है। माता और पिता, शरीर की दृष्टि से हैं; और ये शरीर प्रकृतिरूप हैं, प्रकृतिजन्य हैं। आत्मरूप में जीवात्माएँ न मातृरूप हैं, न पितृरूप। कविसम्प्रदाय की भाषा में अदिति कहती है कि हे मनुष्यो! तुम्हारा और अपना निःश्रेयस चाहती हुई मैं इस जगद्रूप में आई हूँ। शरीरों के होते ही योगसाधनाओं द्वारा जीवात्माओं को निःश्रेयस की प्राप्ति होती है। प्रकृति यदि शरीरों के रूप में परिणत न हो तो निःश्रेयस की प्राप्ति नहीं हो सकती जिस-जिस आत्मा को निःश्रेयस प्राप्त होता जाता है, उस-उस जीवात्मा के शरीर के उत्पादन कार्य से अदिति प्रकृति निवृत्त हो जाती है—यह अदिति का भी पाक्षिक-निःश्रेयस है। इसलिए अदिति मनुष्यों के साथ सखिभाव में सुखी है। "**शेवम् सुखनाम**" (निघं० ३.६)।

मन्त्र के उत्तरार्ध में परमेश्वर का वर्णन है। अदिति का जन्म है "शरीरों तथा जगत् के रूप में" तथा साम्यावस्था से विषमावस्था के रूप में। "**क्रतुः कर्मनाम**; तथा **प्रज्ञानाम** (निघं० २.१; तथा ३.९)। मन्त्र में "क्रतु" अर्थात् कर्म द्वारा परमेश्वर को जगत्-कर्तृत्वरूप में तथा प्रज्ञा द्वारा प्रज्ञावान्रूप में प्रकट किया है। "प्रजानन्" शब्द द्वारा भी परमेश्वर को प्रज्ञावान् कहा है। "वः सर्वाः प्रजानन्" के दो अभिप्राय हैं। (१) तुम सब की कृतियों तथा चेष्टाओं को तथा (२) तुम सब प्रजाओं को जानता हुआ]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अष्टेन्द्रस्य षड्यमस्य ऋषीणां सप्त सप्तधा।
अपो मनुष्या३नोषधीस्ताँ उ पञ्चानु सेचिरे॥ २३॥

अर्थ—(इन्द्रस्य) इन्द्र सम्बन्धी (अष्ट) आठ हैं (यमस्य) यम सम्बन्धी (षट्) छह हैं, (ऋषीणाम्) ऋषियों सम्बन्धी (सप्त सप्तधा) सात प्रकार के सात [सप्तक] हैं। (तान्) उन (अपः) जलों, (मनुष्यान्) मनुष्यों (ओषधीः) ओषधियों को (पञ्च) पांच (अनु) ऋतुओं के अनुसार (सेचिरे) सींचते हैं।

---

१. मनुष्यों के शरीर, इन्द्रियाँ तथा अन्तःकरण अदिति अर्थात् प्रकृतिमय हैं, प्रकृति द्वारा जन्य होने से प्रकृति के ही रूपान्तर हैं। इन का सदुपयोग होना मानो प्रकृति (अदिति) के साथ सद्-व्यवहार करना है। इस अवस्था में मानो शरीर-आदि रूपों में विद्यमान प्रकृति (अदिति) भी सुखी रहती है। अन्यथा नानाविध बीमारियों द्वारा शरीरादिनिष्ठ प्रकृति अर्थात् अदिति-माता दुःखी हो जाती है। सखिभाव में सखा, निज सखा को, दुःख नहीं होता। आत्माओं के संग वाली अदिति माता तभी सुखी रहती है जब कि आत्माएँ, प्राप्त, अदितिमाता अर्थात् शरीरादिरूप में विद्यमान प्रकृति का सदुपयोग करते हैं, इसे सदाचार तथा आत्मिक उन्नति में प्रयुक्त करते हैं। स्थान-स्थान में वैदिक वर्णन अति रहस्यमयी भाषा तथा कविता में पाये जाते हैं। मन्त्र (२२) में भी कवितामयी तथा रहस्यमयी भाषा है।

["अष्ट" पद द्वारा मन्त्र (२१) के तत्त्व निर्दिष्ट किये हैं। उन तत्त्वों में "अष्ट" पद द्वारा अष्ट ऋत्विजः, अष्टभूता, अष्टयोनिः अष्टपुत्रा अदिति और अष्टमीं रात्रिम्, को निर्दिष्ट किया है और साथ ही इन्द्र का भी कथन हुआ है। "षड् यमस्य" द्वारा मन्त्र (१७) के तत्त्व निर्दिष्ट किये हैं। "यम" पद द्वारा (मन्त्र १७) में निर्दिष्ट तत्त्वों के नियन्ता परमेश्वर द्वारा उन तत्त्वों का नियमन सूचित किया है। "सप्त सप्तधा" द्वारा "सप्तगृध्राः" को सूचित किया है (मन्त्र १८)। और "पञ्च" पद द्वारा मन्त्र (१५) के तत्त्वों को निर्दिष्ट किया है। तथा "अपः मनुष्यान् और ओषधीः" इन्हें (मन्त्र १५) में "दोहाः" पद द्वारा सूचित किया है। इस प्रकार (मन्त्र २३)—मन्त्र १५ से २२ तक के विषयों का उपसंहार अर्थात् संग्रहरूप है। "ऋषीणाम्" का अभिप्राय है कि जिन्हें आर्षदृष्टि प्राप्त है वे ही "सप्त सप्तधा" के वास्तविक तत्त्वों का सम्यक्-ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। यथा "**नैषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा। पारोवर्यवित्सु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति**" (निरुक्त १३.१.१२) अर्थात् इन वेदमन्त्रों में उसे प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता जो न तो ऋषि है, और न तपस्वी। तो भी परलोक और अवरलोक सम्बन्धी पराविद्या और अपरा विद्या के जानने वालों में, जिसे नाना विद्याओं का ज्ञान है, वह मन्त्रार्थों के समझने में अधिक प्रशस्त होता है"। निरुक्त में "तपः" का अभिप्राय शारीरिक "तपः" नहीं अपितु सतत स्वाध्यायरूपी "तपः" है। तभी कहा है कि "**स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः**" (योग २.४४), अर्थात् वेद के स्वाध्याय करने से मन्त्रों में प्रतिपाद्य देवों के साथ सम्बन्ध प्राप्त हो जाता है, अर्थात् वेद प्रतिपाद्य विषयों को सम्यक् जाना जा सकता है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

केवलीन्द्राय दुदुहे हि गृष्टिर्वशं पीयूषं प्रथमं दुहाना।
अथातर्पयच्चतुरश्चतुर्धा देवान्मनुष्याँ३ असुरानुत ऋषीन्॥ २४॥

अर्थ—(केवली) सेवनीया (गृष्टिः) गौ (वशम्) कान्तिमय (पीयूषम्) पेय दुग्धामृत को (दुहाना) देती हुई, (प्रथमम्) पहिले (इन्द्राय) इन्द्र के लिए (हि) ही (दुदुहे) दोही जाती है। (अथ) तदनन्तर (देवान्, मनुष्यान्, असुरान्, उत ऋषीन्) देवों, मनुष्यों, असुरों, और ऋषियों (चतुरः) इन चारों को (चतुर्धा) दुग्ध को चतुर्विध विभक्त करके (अतर्पयत्) तृप्त करती है।

[अभिप्राय यह कि गौ के कान्तिमय, पेयदुग्धामृत पर, प्रथम इन्द्र का अधिकार है। इन्द्र अर्थात् परमैश्वर्यवान् परमेश्वर के लिए पहिले दुग्धाहुतियाँ देनी चाहिएँ। तदनन्तर उस के चार विभाग कर के (देवान्) देवयज्ञ द्वारा देवों को, तत्पश्चात् मनुष्यों को, असुरों को, तथा ऋषियों को तृप्त करना चाहिए। केवली=**केवृ सेवने** (भ्वादिः) वशम्=**वश कान्तौ** (अदादिः) तथा "**किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावः**" (ऋ० ३.५३.१४) की भावना मन्त्र (२४) में प्रतीत होती है। गृष्टिः=A young cow (आप्टे)]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

को नु गौः क एकऋषिः किमु धाम का आशिषः।
यक्षं पृथिव्यामेकवृदेकर्तुः कतमो नु सः॥ २५॥

अर्थ—(कः नु) कौन है निश्चय से (गौः) गौ, (कः) कौन है (एकः) एक (ऋषिः) ऋषि (किम्, उ) क्या है निश्चय से (धाम) धाम, (काः) कौन हैं (आशिषः) आशीर्वाद (पृथिव्याम्) पृथिवी

में (यक्षम्) यक्ष है (एकवृत्) एकवृत्, (एकर्तुः) एक है ऋतु, (सः) वह ऋतु (नु) निश्चय से (कतमः) ऋतुओं में कौन सी है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

एको गौरेक एकऋषिरेकं धामैकधाशिषः। यक्षं पृथिव्यामेकवृदेकर्तुर्नाति रिच्यते॥ २६ ॥

अर्थ—(एकः) एक (गौः) गौ है, (एकः) एक है (एक ऋषिः) एक ऋषि है (एकम्) एक (धाम) स्थान अर्थात् आश्रय है, तथा तेजों में तेजा है, (एकधा) एक ही प्रकार की (आशिषः) आशीर्वादोक्तियाँ हैं। (पृथिव्याम्) पृथिवी में (यक्षम्) पूजनीय (एकवृत्) एक ही वर्तमान है, (एकर्तुः) एक ही ऋतु है, (न अति रिच्यते) उस से बढ़कर और कोई नहीं।

[मन्त्र (२४) में "**गृष्टि**" द्वारा गौ का वर्णन हुआ है, जो कि दुग्ध द्वारा सब को तृप्त करती है। मन्त्र (२५-२६) में वास्तविक गौ आदि के सम्बन्ध में प्रश्न किये हैं, तथा उत्तर दिये हैं। वास्तविक गौ, जो कि सबके साथ "गृष्टि" को भी तृप्त करती है, वह है पृथिवी। "**गौः पृथिवीनाम**" (निघं० १.१)। पृथिवी से गृष्टि भी पैदा होती, और पार्थिव घास आदि द्वारा परिपुष्ट होकर दुग्ध प्रदान करती है। पृथिवी के अन्नरूपी हव्य तथा घृत द्वारा देवयज्ञ होता, परमेश्वर के प्रति आहुतियाँ दी जातीं; और पृथिवी से मनुष्यादि उत्पन्न होकर पृथिवी द्वारा प्राप्त अन्नों से तृप्त होते हैं। अतः वास्तविक गौ है पृथिवी। तथा एक ही ऋषि है परमेश्वर। ऋषि हैं मन्त्रद्रष्टा या मन्त्रार्थद्रष्टा। परमेश्वर तो सभी वेदों तथा मन्त्रार्थों का पारदृश्वा है। अतः वह ही एक ऋषि है, मुख्य ऋषि है। परमेश्वर ही सब के लिए एक धामरूप है, एकाश्रयरूप है। वह ही सब धामों में धाम हैं, सब तेजस्वियों में तेजोरूप है। वेदों द्वारा दिए उस के आशीर्वाद सब के लिए एकसमान हैं। स्त्री, शूद्र, आर्य, अनार्य सब के लिए उस के दिए आशीर्वादों में भेदभाव नहीं। उसने आशीर्वादरूप में दी 'कल्याणी वेदवाक्' सभी के लिए हैं।

यक्षम् है ब्रह्म[1]। वह पूजनीय है "**यक्ष पूजायाम्**" (चुरादिः)। पृथिवी में यक्ष्म अर्थात् ब्रह्म पूजनीय है। "एकवृत्"[2] पूजा की दृष्टि से पृथिवी में वह एक ही वर्तमान है। "एकः वर्तते" इति एकवृत्।

ऋतुओं में ऋतु भी एक है, वह है वसन्त-ऋतु। यथा "**ऋतूनां कुसुमाकरः**" (गीता १०.३५) कुसुमाकरः=कुसुमों अर्थात् फूलों की खान। वसन्त से बढ़कर कोई ऋतु नहीं। एकर्तुः=एकः मुख्यः ऋतुः]।[3]

एकाष्टका-परिशिष्ट
(सूक्त ९। मन्त्र २१ में कथित अष्टमीं रात्रिम्=अष्टमी रात्रि=एकाष्टका-सम्बन्धी परिशिष्ट)

[अथर्व० काण्ड ३। सूक्त १०]

प्रथमा ह व्युवास सा धेनुरभवद्यमे। सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम्॥ १ ॥

अर्थ—(सा) वह (प्रथमा) पहिली [उषा] (ह व्युवास) चमकी, (सा) वह (यमे) नियन्ता-

---

१. "तस्मिन् यद् यक्षममात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः" (अथर्व० १०.२.३२)।

२. "**स एष एकवृत्, एक एव**" (अथर्व० १३.४.१२)। तथा "**य एतं देवमेकवृतं वेद**" (अथर्व० १३.४(२). १५।

३. सूक्त ९ सम्पूर्ण। इस के पश्चात् सूक्त ९ (मन्त्र २१) में कथित "अष्टमी रात्रि" के एकाष्टका स्वरूप का स्पष्टीकरण किया गया है।

परमेश्वर के नियमन में (धेनुः) दुग्धदात्री गौ के सदृश फलदात्री (अभवत्) हुई। (सा) वह [उषा] (पयस्वती) दुग्धवाली गौ के सदृश (उत्तराम्, उत्तराम्, समाम्) उत्तरोत्तर वर्षों में (नः) हमें (दुहाम्) अभिमत फल का दोहन करे। दुहाम्=दुग्धाम्।

[प्रलयकाल में तम ही तम था। सर्जनकाल में जो पहली उषा चमकी उसे फलदात्री होने के कारण धेनु तथा पयस्वती कहा है]।

यां देवाः प्रतिनन्दन्ति रात्रिं धेनुमुपायतीम्। संवत्सरस्य या पत्नी सा नो अस्तु सुमङ्गली॥ २॥

अर्थ—(याम् रात्रिम्) जिस रात्रि को (उपायतीम्) समीप आती हुई [देख कर] (देवाः) देव (प्रतिनन्दन्ति) प्रसन्न होते हैं, (या) जोकि (संवत्सरस्य पत्नी) संवत्सर की पत्नी है, (सा) वह (नः) हमें (सुमङ्गली) उत्तम मङ्गलरूपा (अस्तु) हो।

[सृष्टि के उत्पन्न हो जाने पर संवत्सर आदि कालविभाग होता है, और रात्रि-दिन की सत्ता होकर नानाविध उत्पत्तियाँ होती हैं अतः रात्रि को संवत्सर की पत्नी कहा है, जो कि उत्पत्तियों का उत्पादन प्रतिसंवत्सर करती रहेगी]।

संवत्सरस्य प्रतिमां यां त्वा रात्र्युपास्महे। सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण सं सृज॥ ३॥

अर्थ—(रात्रि) हे रात्रि! (याम् त्वा) जिस तुझ को (संवत्सरस्य प्रतिमाम्) संवत्सर की निर्मात्रीरूप में (उपास्महे) हम सेवित करते हैं, (सा) वह तू (आयुष्मती) आयुप्रदान करती हुई (नः प्रजाम्) हमें और हमारी प्रजा को (रायस्पोषेण) धन सम्पत् की पुष्टि के साथ (संसृज) संयुक्त कर।

[मन्त्र १-३ में उषा द्वारा दिन को रात्रि द्वारा दैनिकी-रात्रि को सूचित किया है, ब्राह्मदिन और ब्राह्मीरात्री को नहीं]।

इयमेव सा या प्रथमा व्यौच्छदास्वितरासु चरति प्रविष्टा।
महान्तो अस्यां महिमानो अन्तर्वधूर्जिगाय नवगज्जनित्री॥ ४॥

अर्थ—(या) जो (प्रथमा) पहली उषा (व्यौच्छत्) चमकी थी (सा एव) वह ही (इयम्) यह अद्यतनी उषा है, वह ही (इतरासु) भिन्न-भिन्न उषाओं में (प्रविष्टा) प्रविष्ट हुई (चरति) विचरती है। (अस्याम् अन्तः) इस प्राथमिक उषा में (महान्तः महिमानः) अपरिमित महिमाएँ हैं, यह (नवगत्) नये-नये रूप को प्राप्त होने वाली उषा (वधू) वधूवत्[1] (जनित्री) जो कि नये-नये दिन को पैदा करती हुई (जिगाय) विजयिनी हुई है। नवगत्=नव+गम् (क्विप्, अनुनासिकलोप+तुक्)।

वानस्पत्या ग्रावाणो घोषमक्रत हविष्कृण्वन्तः परिवत्सरीणम्।
एकाष्टके सुप्रजसः सुवीरा वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥ ५॥

अर्थ—(वानस्पत्याः) वनस्पति के काष्ठ से निर्मित ऊखल-मुसल आदि ने, तथा (ग्रावाणः) पत्थररूप दृषद्-उपल आदि ने (घोषम्, अक्रत) घोष अर्थात् नाद किया है, (परिवत्सरीणम्) संवत्सर के उद्देश्य से निर्वृत्त होने वाली (हविः) हवि को (कृण्वन्तः) तय्यार करते हुए। (एकाष्टके) हे मुख्य अष्टका! (सुप्रजसः) उत्तम-प्रजाओं वाले तथा (सुवीराः) उत्तमवीर (वयम्) हम (रयीणाम्) सम्पत्तियों के

---

१. वधू जैसे विवाहानन्तर नई-नई पति के घर जा कर, और जननी बन कर पतिगृह में महिमा को, अर्थात् सम्मान को प्राप्त होती है, तद्वत्। सन्तानरहिता वधू सम्मान को प्राप्त नहीं होती।

(पतयः) स्वामी (स्याम) हों।

[ऊखल-मुसल द्वारा धान से तण्डुल तय्यार किये जाते हैं। तदनन्तर दृषद्-उपल द्वारा तण्डुलों की पीठी तय्यार कर, पुरोडाश पका कर, हविः निष्पन्न होती है, और संवत्सर की पूर्वभाविनी अष्टमी में इस पुरोडाश हविः की आहुतियाँ दी जाती हैं। उत्तम-सन्तान पैदा करने, तथा धर्मकार्य में सुवीर रहने तथा विक्रमी बनने का संकल्प कर, धनोपार्जन में प्रवृत्त होना चाहिए। सुप्रजसः=सु+प्रजा+असिच् (अष्टा० ५.४.१२२)। सुवीराः=सु+**वीर विक्रान्तौ** (चुरादिः)+कः (**'इगुपधज्ञा०'** अष्टा० ३.१.१३५)]।

इडायास्पदं घृतवत्सरीसृपं जातवेदः प्रति हव्या गृभाय।
ये ग्राम्याः पशवो विश्वरूपास्तेषां सप्तानां मयि रन्तिरस्तु॥ ६॥

अर्थ—(जातवेदः) हे उत्पन्न प्रत्येक पदार्थ के जानने वाले! या उत्पन्न प्रत्येक पदार्थ में विद्यमान! तथा वेदाविर्भावक परमेश्वर! (इडायाः) अन्न के (पदम्) इस एकांश को (घृतवत्) जो कि घृत वाला, तथा (सरीसृपम्) जिस से घृत सर्पण कर रहा है, टपक रहा है—ऐसे अन्न को, तथा (हव्या) अन्य हवियों को (प्रतिगृभाय) ग्रहण कर। (ये) जो (विश्वरूपाः) विश्व को निरूपति करने वाले या नानारूपों वाले (ग्राम्याः) ग्राम के, या समूहरूप में विद्यमान (पशवः) इन्द्रियाँ आदि या पशु हैं, (तेषाम्, सप्तानाम्) उन सातों की (रन्तिः) रति (मयि) मुझ में (अस्तु) हो।

[मन्त्र (५) में तण्डुलों की पीठी द्वारा हविः के निष्पादन का वर्णन हुआ है। मन्त्र (६) में पीठी से उत्पन्न पुरोडाश को घृताक्त कर उस की, तथा अन्य हव्य पदार्थों की आहुति अग्नि में दे कर, उसे परमेश्वर के प्रति समर्पित किया है। मन्त्र के उत्तरार्ध में सात पशुओं का वर्णन हुआ है। ये ग्राम के भी सात पशु सम्भव हैं, तथा सात शारीरिक-तत्त्व भी। ग्राम के सात पशु हैं, गौ, अश्व, अजा, अवि, गर्दभ, उष्ट्र तथा श्वा। और शारीरिक सात पशु हैं पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, १ मन, और बुद्धि। ये सात शरीररूपी शकट का वहन करते हैं अतः पशु हैं।

इडा=इला=अन्न (निघं० २.७), अथवा इरा=अन्न (निघं० २.७), रलयोरभेदः, डलयोरभेदः। पदम्=एकांश। तय्यार किया पुरोडाश, परमेश्वर प्रदत्त अन्नों का एकांशमात्र ही है]।

आ मा पुष्टे च पोषे च रात्रि देवानां सुमतौ स्याम।
पूर्णा दर्वे परा पत सुपूर्णा पुनरा पत। सर्वान्यज्ञान्त्संभुञ्जतीषमूर्जं न आ भर॥ ७॥

अर्थ—(रात्रि) हे रात्रि! (मा) मुझे (पुष्टे च) परिपुष्ट धन-सम्पत् में, तथा (पोषे च) पुत्रादि के परिपोषण में (आ "स्थापय") स्थापित कर, (देवानाम्) दिव्य गुणों वाले सज्जनों की (सुमतौ) सुमति में (स्याम) हम हों, हम रहें। (दर्वे) हे यज्ञिय होम की कड़छी! (पूर्णा) घृत आदि से पूर्ण हुई तू (परापत) यज्ञियाग्नि की ओर जा, और (पुनः) फिर अर्थात् तदनन्तर (सुपूर्णा) यज्ञिय फल से पूर्ण हुई तू (आपत) हमारी ओर आ। (सर्वान् यज्ञान्) सब यज्ञों को (सं भुञ्जती) सम्यक्-सम्पन्न करती हुई तू (नः) हमें (इषम्) अभीष्ट अन्न (ऊर्जम्) बल और प्राण (आभर=आहर) प्राप्त करा।

[चान्द्र-संवत्सर अमावास्या से अमावास्या तक मन्त्राभिमत प्रतीत होता है और अमावास्या से पूर्वभाविनी-अष्टमी [एकाष्टका, मुख्य अष्टमी] को यज्ञ करने का विधान हुआ है। सम्भवतः यह यज्ञ एक सप्ताह तक चलता रहता है जो कि अमावास्या के दिन पूर्ण होता है। इस दिन की रात्री को "रात्रि" कहा है। यज्ञ का फल है पुष्टि, इष् और ऊर्ज]।

आयमगन्त्संवत्सरः पतिरेकाष्टके तव। सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण सं सृज॥ ८॥

अर्थ—(एकाष्टके) हे मुख्य अष्टके! (अयम्) यह (संवत्सरः) संवत्सर (तव पतिः) तेरा पति (आ गन्) आया है। (सा) वह तू [संवत्सर पति के साथ] (नः) हमारी (आयुष्मतीम्) स्वस्थ तथा दीर्घ आयु वाली (प्रजाम्) पुत्र-पुत्री आदि का (रायस्पोषेण) धन सम्पन्न की पुष्टि के साथ, (संसृज) संसर्ग कर, उसे सम्बद्ध कर।

[मन्त्र में संवत्सर भर, सन्तान की स्वस्थ तथा दीर्घ आयु की, तथा प्रभूत धन-सम्पत् की अभिलाषा प्रकट की है]।

ऋतून्यज ऋतुपतीनार्तवानुत हायनान्। समाः संवत्सरान्मासान्भूतस्य पतये यजे॥ ९॥

अर्थ—(ऋतून् आदि) ऋतुओं आदि को लक्ष्य करके (यजे) मैं यज्ञ करता हूँ, तथा (भूतस्य) भूतभौतिक जगत् के (पतये) पति परमेश्वर की प्रसन्नता के लिए (यजे) यज्ञ करता हूँ।

[प्रत्येक व्यक्ति संकल्प करता है कि वह ऋतु आदि की शुद्धि और स्वच्छता के लिए यज्ञ करता रहेगा। प्राणियों के श्वास-प्रश्वास, मलमूत्र-त्याग, तथा शिल्पकर्मों द्वारा वायु आदि में मल बढ़ता रहता है। अतः उन की शुद्धि तथा स्वच्छता के लिए यज्ञों का करना प्रत्येक मनुष्य के लिए धार्मिक कर्त्तव्य है। इस द्वारा परमेश्वर भी प्रसन्न होता है।

''ऋतून्'' आदि में ''**कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे**'' (अष्टा० २.३.५) द्वारा द्वितीया हुई है। ऋतु आदि को ''व्याप्त'' कर यज्ञों के करने का विधान मन्त्र में हुआ है। तभी दैनिक अशुद्धि और अस्वच्छता का निराकरण सम्भव है।

ऋतुपतीन्=ऋतुओं के पति हैं, प्रत्येक ऋतुकाल के नियामक सूर्य विशेष, अर्थात् भिन्न-भिन्न ऋतुओं के काल की भिन्न-भिन्न सूर्य स्थितियां, राशिचक्र में। आर्तवान्=ऋतुओं के अवयव कृष्ण-शुक्लपक्ष, तथा अष्टमी आदि, या ऋतुओं के समूहरूप उत्तरायण तथा दक्षिणायन के काल। हायन=सायन, दो अयनों द्वारा निर्मित सौरवर्ष। समाः=चान्द्र वर्ष। चन्द्रमाः=''**चन्द्रो माता**'' (निरुक्त ११.१.६), के ''मा'' का समास ''सह'' के साथ हुआ है। इस प्रकार ''समाः=चान्द्र-वर्ष। ''**सहस्य सः०**'' (अष्टा० ६.३.७७) द्वारा सह को ''स'' आदेश हुआ है। संवत्सरः=सौरवर्ष]।

ऋतुभ्यष्ट्वार्तवेभ्यो माद्भ्यः संवत्सरेभ्यः। धात्रे विधात्रे समृधे भूतस्य पतये यजे॥ १०॥

अर्थ—(ऋतुभ्यः) ऋतुओं के सम्पोषण के लिए, (आर्तवेभ्यः) आर्तवों के सम्पोषण के लिए, (माद्भ्यः) मासों के सम्पोषण के लिए, (संवत्सरेभ्यः) संवत्सरों के सम्पोषण के लिए, [त्वा] हे एकाष्टके! तुझे लक्ष्य करके (यजे) मैं यज्ञ करता हूँ, (समृधे) समृद्धि के लिए। तथा (धात्रे) जगत् के धारक-पोषक (विधात्रे) विधाता और (भूतस्य) भूत-भौतिक जगत् के (पतये) पति की प्रसन्नता के लिए [मैं यज्ञ करता हूँ]।

[ऋतुभ्यः आदि में ''तुमुन्नर्थे'' चतुर्थी है, यथा ''ऋतून् सम्पोषयितुं, यजे'' इत्यादि (**क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः**, अष्टा० २.३.१४)। ऋतु आदि की संपुष्टि पर हमारी सम्पुष्टि तथा समृद्धि निर्भर है। ऋतु आदि के विकृत हो जाने पर रोग आदि का संचार हो जाता है। यज्ञ में हविः चतुर्विध होनी चाहिए। यथा प्रथम सुगन्धित, द्वितीय पुष्टिकारक, तृतीय मिष्ट, चतुर्थ रोगनाशक (संस्कारविधि, ऋषि दयानन्द)। इन में से पुष्टिकारक तथा रोगनाशक होमद्रव्य सम्पुष्टिकारक हैं]।

इडया जुह्वतो वयं देवान्घृतवता यजे। गृहानलुभ्यतो वयं सं विशेमोप गोमतः॥ ११॥

अर्थ—(घृतवता) घृतवाले (इडया) अन्न द्वारा (देवान्) अग्नि वायु आदि दिव्य पदार्थों के प्रति (जुह्वतः) आहुतियाँ देते हुए (वयम्) हम सब, और मैं [गृहस्वामी] (यजे) यज्ञ करता हूँ। तदनन्तर (गृहान् उप=उपेत्य) घरों को प्राप्त कर, (गोमतः) गौओं वाले (वयम्) हम (अलुभ्यतः) लोभ-मोह से रहित हुए (संविशेम) मिल कर गृहों में प्रवेश करें। अथवा लोभ-मोह से रहित गृहों में प्रवेश करें।

[मन्त्र में गृहप्रवेश-सम्बन्धी संस्कार का वर्णन हुआ है। "वयम्" का अभिप्राय है "हम सब पारिवारिक व्यक्ति, और "यजे" द्वारा गृहस्वामी का कथन हुआ है। गृहस्थ-धर्म पालते हुए भी जीवन में लोभ-मोह न होना चाहिए। केवल कर्त्तव्य समझ कर गृहस्थ कृत्य करने चाहिएँ। पुष्टि के लिए गृहस्थी को गोसंग्रह भी करना चाहिए ताकि गोघृत द्वारा यज्ञ भी किये जा सकें और पारिवारिक पालन-पोषण भी हो सके]।

एकाष्टका तपसा तप्यमाना जजान गर्भं महिमानमिन्द्रम्।
तेन देवा व्यषहन्त शत्रून्हता दस्यूनामभवच्छचीपतिः॥ १२॥

अर्थ—(तपसा) ताप से (तप्यमाना) तप्त होती हुई (एकाष्टका) मुख्य अष्टमी ने (गर्भम्) गर्भरूप (महिमानम्) महिमा वाले (इन्द्रम्) सूर्य को (जजान) पैदा किया। (तेन) उस इन्द्र द्वारा (देवाः) संसार की दिव्यशक्तियों ने (शत्रून्) शत्रुओं का (व्यसहन्त) विशेषरूप में पराभव किया, इस प्रकार (शचीपतिः) कर्मों का पति इन्द्र (दस्यूनाम्) उपक्षयकारियों का (हन्ता) हनन करने वाला (अभवत्) हुआ।

[एकाष्टका है माघ-कृष्णपक्ष की अष्टमी। यह अष्टमी फाल्गुन-मास की पूर्वभाविनी है। इस अष्टमी के पश्चात् फाल्गुन-मास प्रारम्भ होता है। फाल्गुन-मास वसन्त काल है। यथा "फाल्गुनः=Vernal season (वसन्त काल) [आप्टे]। वसन्त काल २१ मार्च को प्रारम्भ होता है। सूर्य दक्षिण से उत्तर की ओर आता है, और इस का ताप बढ़ने लगता है। एकाष्टका की अष्टमी भी वासन्तिक काल के सूर्य के ताप द्वारा तप्त होने लगती है। वसन्तकाल की एकाष्टका अर्थात् अष्टमी ने मानो इन्द्र अर्थात् परमैश्वर्ययुक्त, रश्मियों के ऐश्वर्य से युक्त सूर्य को निज गर्भ से पैदा किया। दक्षिणदिशास्थ सूर्य उत्तरवासियों के लिए रश्मिरूपी ऐश्वर्य से विहीन था। परन्तु वसन्तकाल अर्थात् २१ मार्च से सूर्य निज "ऐन्द्रत्व" को प्राप्त हो जाता है। मानो उत्तर की दिव्यशक्तियाँ इस इन्द्र द्वारा शैत्य, अन्धकाररूपी शत्रुओं का विशेषतया पराभव करने लगती हैं। ये शैत्य-अन्धकार आदि दस्यु हैं, उपक्षयकारी हैं। **शची कर्मनाम** (निघं० २.१)। शची है, शक्तिरूपी कर्म]।

इन्द्रपुत्रे सोमपुत्रे दुहितासि प्रजापतेः। कामानस्माकं पूरय प्रति गृह्णाहि नो हविः॥ १३॥

अर्थ—(इन्द्रपुत्रे) इन्द्र नामक पुत्रवाली, (सोमपुत्रे) सोम नामक पुत्र वाली हे एकाष्टके! तू (प्रजापतेः) प्रजाओं के पति परमेश्वर की (दुहिता असि) पुत्री है। (अस्माकम्) हमारी (कामान्) कामनाओं को (पूरय) पूरा कर और (नः) हमारी (हविः) हवि को (प्रति गृह्णाहि) स्वीकार कर।

[मन्त्र (१२) में इन्द्र को एकाष्टका ने जन्म दिया है, यह वर्णित है। इन्द्र है सूर्य। एकाष्टका के पश्चात् अमावास्या [के गर्भ] से सोम अर्थात् चन्द्रमा ने पैदा होना है; अतः चन्द्रमा भी एकाष्टका का पुत्र है। कामनाएँ हैं नवीन वर्ष में वर्षभर होनी वाली मानुषी कामनाएँ। वे अव्याहतरूप में पूरी होती रहें इस निमित्त, हविर्यज्ञ करते रहने का निर्देश हुआ है ताकि वायु आदि की शुद्धि और सम्पुष्टि होती रहे]।

सूक्त १०

विषय-प्रवेश

पर्याय १

(१) शासन व्यवस्था, भयमूलिका (मन्त्र १)।

(२) गार्हपत्य-व्यवस्था अर्थात् गृहसंगठन (२, ३)।

(३) आहवनीय-व्यवस्था=ग्रामसंगठन (४,५)।

(४) दक्षिणाग्रणी-व्यवस्था=जिला संगठन (६,७)।

(५) सभा तथा समिति व्यवस्था=राष्ट्रिय असेम्बली, तथा राष्ट्रिय राजसभा (८ से ११)।

(६) आमन्त्रण-व्यवस्था=सम्राटों में पारस्परिकमन्त्रणा संगठन (१२,१३)।

पर्याय १

सूक्त १०

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**आर्ची पङ्क्तिः** ॥

विराड् वा इदमग्र आसीत्तस्या जाताया: सर्वमबिभेदियमेवेदं भविष्यतीति ॥ १ ॥

अर्थ—(इदम्) यह दृश्यमान जगत्, (अग्रे) मानुष-सृष्टि से पहिले, (वै) निश्चय से, (विराट्) राज्यव्यवस्था से विहीन (आसीत्) था [अर्थात् मानुषी राज्यव्यवस्था उस में न थी], (तस्याः जातायाः) मानुष-सृष्टि में उस के प्रादुर्भाव हो जाने से (सर्वम्) सब [मानुष वर्ग] (अबिभेत्) भयभीत हो गया, [और कहने लगा] कि (इयम्) यह [राज्यविहीन अवस्था] (एव) ही (इदम्) इस रूप में (भविष्यति, इति) भविष्य में होगी, रहेगी।

[मानुष-सृष्टि से पूर्व केवल ईश्वरीय व्यवस्था थी, उस समय मानुषीसृष्टि अभी पैदा ही नहीं हुई थी, अतः मनुष्यकृत भय भी उस समय न था। यह वर्णन ऐतिहासिक वृत्त नहीं अपितु सृष्ट्युत्पत्ति का दार्शनिकरूप है। यह एक विचाररूप है कि आरम्भ में सामाजिक तथा राजनैतिक अवस्था किस प्रकार की होनी सम्भावित है। और किस प्रक्रिया से मानुष जगत् में सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था का विकास हुआ होगा। यह तो मन्त्र (१) द्वारा स्पष्ट है कि इस व्यवस्था का विकास "भयमूलक" है]।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**याजुषी जगती** ॥

सोदक्रामत्सा गार्हपत्ये न्यक्रामत् ॥ २ ॥

अर्थ—(सा) वह विराट् (उदक्रामत्) उत्क्रान्त हुई [उसने उत्क्रमण किया, वह समुन्नत हुई, उसने उन्नति की ओर पादविक्षेप किया], (सा) वह समुन्नत हुई-विराट् (गार्हपत्ये) गार्हपत्य-व्यवस्था में (न्यक्रामत्) अवतीर्ण हुई।

[उदक्रामत्=उत्+**क्रमु पादविक्षेपे** (भ्वादिः)। गार्हपत्य का अभिप्राय है, (१) घर का होना; (२) उस के पति अर्थात् स्वामी का होना; (३) पति सम्बन्धी पत्नी का होना। मन्त्रों में उदक्रामत् तथा न्यक्रामत् पद भूतकाल के हैं, अतः तदनुसार अर्थ दर्शाए हैं, वस्तुतः अभिप्राय सार्वत्रिक सिद्धान्तरूप है। क्योंकि वेदों में लुङ्, लङ्, लिट् वर्तमान में भी प्रयुक्त होते हैं। **छन्दसि लुङ्लङ्लिटः** (अष्टा०

३.४.६)]।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**साम्न्यनुष्टुप्** ॥

गृहमेधी गृहपतिर्भवति य एवं वेद॥ ३॥

अर्थ—(यः) जो व्यक्ति (एवम्) इस प्रकार (वेद) जानता है वह (गृहमेधी) गृह-यज्ञ का करने वाला और (गृहपतिः) गृह का पति (भवति) हो जाता है।

[मनुष्यसमाज की दुरवस्था को जान कर जिस ज्ञानी से इस दुरवस्था को हटाना चाहा, उसने पहिले स्वयं गृहमेध किया, गृहयज्ञ का संगम किया, गृहरचना की, और गृहपति बना, उसने पति-पत्नीभाव को भी व्यवस्थित किया। **मेधः यज्ञनाम** (निघं० ३.१७), तथा **मेधृ संगमे** (भ्वादिः)]।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**याजुषी जगती** ॥

सोदक्रामत्साहवनीये न्यक्रामत्॥ ४॥

अर्थ—(सा) वह [गृहमेधरूप में उत्क्रान्त] गार्हपत्य व्यवस्थारूपी विराट् (उदक्रामत्) उत्क्रान्त हुई (सा) वह (आहवनीये) आहवनीय में (न्यक्रामत्) अवतीर्ण हुई।

[अभी तक गार्हपत्य व्यवस्था उस ज्ञानी व्यक्ति के जीवन के साथ सीमित थी। उस ने अन्यों का आह्वान किया, आस-पास रहने वालों को बुलाया, और उन्हें भी गार्हपत्य-व्यवस्था के लाभ समझाए और आहवनीय व्यवस्था की चर्चा की]।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**आर्च्यनुष्टुप्** ॥

यन्त्यस्य देवा देवहूतिं प्रियो देवानां भवति य एवं वेद॥ ५॥

अर्थ—(अस्य) इस आह्वान करने वाले के (देवहूतिम्) दिव्य-आह्वान में, (देवाः) उस समय के देव (यन्ति) प्राप्त होते हैं, और वह (देवानाम्) उन देवों का (प्रियः) प्यारा (भवति) हो जाता है (यः) जो (एवम्) इस प्रकार की आहवनीय व्यवस्था को (वेद) जानता है।

[यह आहवनीय व्यवस्था है, साथ के समझदार व्यक्तियों [देवों] को एकत्रित कर, निज पारस्परिक जीवनों को सुखी बनाने के लिए, आहवनीय व्यवस्था को स्थापित करना। यह आह्वानकर्त्ता उन आहूत देवों का प्रिय बन जाता है, और वे आहूत देव इसे आहवनीय व्यवस्था का मुखिया चुन लेते हैं, यह भावना मन्त्र में निहित है। यह भावना अगले मन्त्रों द्वारा अनुमित होती है।

आहवनीय व्यवस्था की स्थिति से पहिले जिन व्यक्तियों ने गार्हपत्य जीवन को अपनाया और जाङ्गलिक जीवन को त्याग कर पति-पत्नी व्यवस्था को स्वीकार कर लिया, उन्हें मन्त्र में "देवाः" कहा है, क्योंकि ये व्यक्ति गार्हपत्य व्यवस्था के अनुसार अब दिव्यगुणों वाले और दिव्य जीवनों वाले हो गये हैं। यह आहवनीय "ग्रामसंस्था" का पूर्वरूप है। जो कि समय पाकर एक संगठित "ग्रामसभा" बन जाती है, और इस का अध्यक्ष "ग्रामणीः" कहलाता है। यथा "**ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्च ये**" (अथर्व० ३.५.७)। इस "ग्रामसभा" के नियमों तथा आज्ञाओं को उद्घोषित करने के लिए एक कर्मचारी रख लिया जाता है, जिसे कि "ग्रामघोषी" कहा है (अथर्व० ५.२०.९)।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**याजुषी जगती** ॥

सोद॑क्रामत्सा दक्षिणाग्नौ न्य॑क्रामत् ॥ ६ ॥

अर्थ—(सा) वह आहवनीय अवस्था की विराट् (उदक्रामत्) उत्क्रान्त हुई (सा) वह (दक्षिणाग्नौ) दक्षिणाग्नि में (न्यक्रामत्) अवतीर्ण हुई।

[उदक्रामत्=उत्+क्रामत् (**क्रमु पादविक्षेपे**)। न्यक्रामत्=नि (नीचे की ओर) क्रामत् (**क्रमु पादविक्षेपे**)। दक्षिणाग्नि=दक्षिण (Able, skilful, competent) आप्टे)+अग्निः=**अग्रणीर्भवति** (निरुक्त ७.४.१४)। अतः दक्षिणाग्नि=योग्य होशियार नेता। ग्रामणियों के योग्य अग्रणी। इन की संस्था को दक्षिणाग्नि संस्था कहा है। अर्थात् ग्रामणियों के योग्य व्यक्तियों के परस्पर मेल द्वारा रचितसंस्था। यह जिला-संस्था का रूप है]।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**विराड् गायत्री** ॥

यज्ञर्तो॑ दक्षिणीयो॑ वास॑तेयो भवति॒ य ए॒वं वेद॑ ॥ ७ ॥

अर्थ—(यः) जो (एवम्) इस प्रकार (दक्षिणीयः) दक्षिणाग्नि संस्था के महत्त्व को (वेद) जानता है वह (यज्ञर्तः) इस संस्थारूपी-यज्ञ में जाने योग्य हो जाता है, और (वासतेयः) वसती का शुभकारी (भवति) होता है।

[यह दक्षिणाग्नि संस्था है। दक्षिणाग्नि संस्था को यज्ञ कहा है। इस में देवकोटि के ग्रामणी ही होते तथा इनमें परस्पर संगम होता है, समग्र जिला के निवासियों के हितकर कार्यों के लिए।

[आगामी मन्त्रों में उक्त तीन संस्थाओं का वर्णन हुआ है]।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**याजुषी जगती** ॥

सोद॑क्रामत्सा स॒भायां॒ न्य॑क्रामत् ॥ ८ ॥

अर्थ—(सा) वह दक्षिणाग्नि-संस्था अर्थात् जिला प्रबन्धकारिणी संस्था (उदक्रामत्) उत्क्रान्त हुई, (सा) वह (सभायाम्) सभा संस्था में (न्यक्रामत्) अवतीर्ण हुई।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**साम्न्यनुष्टुप्** ॥

यन्त्य॑स्य स॒भां सभ्यो॑ भवति॒ य ए॒वं वेद॑ ॥ ९ ॥

अर्थ—(यः) जो (एवम्) इस प्रकार (वेद) सभा-संस्था के महत्त्व को जानता है (अस्य) इसकी (सभाम्) सभा में [दक्षिणाग्नि संस्था के सदस्य] (यन्ति) जाते हैं, प्राप्त होते हैं, और वह सभा के महत्त्व को जानने वाला (सभ्यः) सभासद् होकर सभा का सभापति (भवति) हो जाता है।

[यह सभा, लोकसभा अर्थात् असेम्बली है—

स॒भा च॑ मा॒ समि॑तिश्चावतां प्र॒जाप॑तेर्दुहि॒तरौ॑ संविदा॒ने।

येना॑ सं॒गच्छा॒ उप॑ मा॒ स शि॑क्षा॒च्चारु॑ वदानि पितर॒ः संग॑तेषु ॥ अथर्व० ७.१२.१॥

अर्थ—(सभा च समितिः च) सभा और समिति (मा) मुझ सभापति की (अवताम्) रक्षा करें (प्रजापतेः) प्रजाओं के पति अर्थात् राजा की (दुहितरौ) तुम दोनों [सभा, समिति] दुहिता के सदृश कामनाओं का दोहन करने वाली हो, (संविदाने) तुम दोनों सम्यक् ज्ञानी हो, परस्पर ऐकमत्य होकर कामनाओं का दोहन करो। (येन) तुम में से जिस किसी के साथ (संगच्छै) मैं [सभा-समिति का पति]

संग करूँ। (सः) वह (मा) मुझे (उपशिक्षात्) मेरे समीप आकर परामर्श प्रदान करे। (पितरः) हे पिता के समान सभासदो! (संगतेषु) तुम्हारे इन सम्मेलनों में (चारु) सुचारुवाणी (वदानि) मैं बोलूं।

[समिति का वर्णन मन्त्र (१०; ११) में होगा। यह समिति राजसभा है। "**सभ्य सभां मे पाहि ये च सभ्याः सभासदः**" (अथर्व० १९.५५.५), प्रजापति राजा कहता है कि "हे सभ्य! अर्थात् सभापति! तथा हे सभा में उपस्थित सभासदो! तुम मिलकर मेरी सभा की रक्षा करो। यह सभापति सभा का संचालक है, जो कि प्रजापति द्वारा नियत किया जाता है। संगतेषु=सभा और समिति के संयुक्त अधिवेशनों को "संगत" कहा है]।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**याजुषी जगती** ॥

सोद॑क्रामृत्सा समि॑तौ॒ न्य॑क्रामत्॥ १० ॥

अर्थ—(सा) वह सभासंस्था (उदक्रामत्) राज्य या राष्ट्र की व्यवस्था से और उत्क्रान्त हुई (सा) वह (समितौ) समिति में (न्यक्रामत्) अवतीर्ण हुई।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**साम्नी बृहती** ॥

यन्त्य॑स्य॒ समि॑तिं सामि॒त्यो भ॑वति॒ य ए॒वं वेद॑॥ ११ ॥

अर्थ—(यः) जो (एवम्) इस प्रकार (समितिम्) समिति-संस्था के महत्त्व को (वेद) जानता है वह (सामित्यः) समिति का समितिपति (भवति) हो जाता है, (अस्य) और इस की (समितिम्) समिति में (यन्ति) राजा लोग जाते हैं।

[समिति है राजसभा, राजाओं की सभा। यथा "**यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव। विप्रः स उच्यते भिषग् रक्षोहामीवचातनः** ॥ (यजुः० १२.८०), अर्थात् जिस में ओषधियों का संगम होता है, जैसे कि राजाओं का समिति में, वह विप्र, भिषक् अर्थात् चिकित्सक कहा जाता है, जो कि रोगोत्पादक क्रिमिरूपराक्षसों का हनन करता है, और अमीवाओं का विनाश करता है। अमीवा=**अम रोगे** (चुरादिः)।

इस प्रकार यजुर्वेद में भिषक् के लक्षण में, समिति में राजाओं का संगम दर्शाया है। समिति में राष्ट्रों के राजा एकत्रित होते हैं। यह है "राजसभा"। वेदानुसार राष्ट्रों के राजा वंशानुगत नहीं हैं, अपितु प्रादेशिक प्रजाओं द्वारा चुने[1] गये होते हैं। (अथर्व० ६.८७.१; ४.८.४)। यजुर्वेद के मन्त्र में "रक्षोहा" पद में रक्षः का अर्थ राष्ट्रशत्रु जान कर "समिति" द्वारा "युद्धसमिति" अर्थ प्रायः किया जाता है। यह ठीक नहीं प्रतीत होता।

राष्ट्रों के राजाओं की "राजसमिति"[2] साम्राज्य के प्रजापति अर्थात् "सम्राट्" का चुनाव करती है।

---

१. "**विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत्**" (अथर्व० ६.८७.१)। तथा "**विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु**" (अथर्व० ४.८.४)।

२. सभा संगठन है राष्ट्रसभा अर्थात् प्रत्येक राष्ट्र तक सीमित सभा। और जब राजसमिति का निर्माण हो जाता है, तब राष्ट्र-सभा और राज-समिति मिल कर साम्राज्य कहलाता है, साम्राज्य=संयुक्त-राज्य। और इस का अधिपति सम्राट् कहलाता है। सम्राट्=संगत हुए राजाओं की संस्था। यजुर्वेद में कहा है कि "**इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा**" (८.३७)। सम्राट्=इन्द्र तथा इन्द्र=सम्राट्। अथर्व० ७.१३.१ में सम्राट् को प्रजापति भी कहा है, अर्थात् नाना राष्ट्रों की नानाविध प्रजाओं का पति। "वरुणश्च राजा" में राजा को वरुण कहा है, यतः राजा सम्राट् का वरण अर्थात् चुनाव करते हैं।

इसलिए कहा है **"ये राजानो राजकृतः"** (अथर्व० ३.५.७), अर्थात् जो राजा, मुख्य राजा अर्थात् सम्राट् को नियत करते हैं, **"राजानं कुर्वन्तीति राजकृतः"**]।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः**॥ देवता—**विराट्**॥ छन्दः—**याजुषी जगती**॥

सोद॑क्राम॒त्सामन्त्र॒णे॒ न्य॑क्रामत्॥ १२॥

अर्थ—(सा) वह समिति संस्था द्वारा निर्वाचित सम्राट्-संस्था (उदक्रामत्) उत्क्रान्त हुई (सा) वह (आमन्त्रणे) आमन्त्रण में (न्यक्रामत्) अवतीर्ण हुई।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः**॥ देवता—**विराट्**॥ छन्दः—**विराड् गायत्री**॥

यन्त्य॑स्या॒मन्त्र॑णमामन्त्र॒णीयो॑ भवति॒ य ए॒वं वेद॑॥ १३॥

अर्थ—(यः) जो सम्राट् (एवम्) इस प्रकार (आमन्त्रणम्) आमन्त्रण के महत्त्व को (वेद) जानता है वह (आमन्त्रणीयः) आमन्त्रण-संस्था का अधिपति (भवति) हो जाता है, और (अस्य) इसकी (आमन्त्रणम्) आमन्त्रणसंस्था में (यन्ति) अन्य सम्राट् जाते हैं।

[सम्राट्=सम् (संगत हुए)+राट् (राजाओं) की संस्था। आमन्त्रण=साम्राज्यों के मुखिया-सम्राटों या उनके प्रतिनिधियों की संस्था। ये अधिपति-सम्राट् के आमन्त्रण पर आकर परस्पर मन्त्रणा करते हैं, जिस से कि भूमण्डलव्यापी उन्नति हो सके, और पारस्परिक युद्ध न होने पाएँ।

विशेष—(मन्त्र २) से "सोदक्रामत्" में "सा" द्वारा गार्हपत्य आदि संस्थाओं में उत्क्रान्त हुई विराट् की उत्तरोत्तर उत्क्रान्तियों का वर्णन हुआ है, मन्त्र (१) सम्बन्धी भयावह-विराट् का नहीं। इन उत्क्रान्त हुई विराटों को भी विराट् कहा है, क्योंकि इन उत्क्रान्त विराटों में भी यत्-किञ्चित् (मन्त्र १) का अंश भी सम्भावित विद्यमान रहता है]।

विषय-प्रवेश : पर्याय २

(१) शासनव्यवस्था का चतुर्विध विकास (मन्त्र १,४)।

(२) देवों और मनुष्यों में परस्पर मेल (मन्त्र २)।

(३) ऊर्जा, स्वधा, सूनृता, इरावतीरूपा, व्यवस्था (मन्त्र ४)।

(४) विराट् का वर्णन गौरूप (मन्त्र ५ से १० तक)। विराट्-गौ का वत्स=इन्द्र [विद्युत्], ऊधस्=अभ्र; बान्धने की रस्सी=गायत्री (मन्त्र ५)। विराट्-गौ के चार स्तन—(१) बृहत् स्तन से=व्यचः [विस्तार]; (२) रथन्तर स्तन [पृथिवी] से ओषधियां; (३) वामदेव्य स्तन से प्राणवायु; (४) यज्ञायज्ञिय स्तन [चन्द्रमा] से यज्ञ।

सूक्त १०, पर्याय २

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः**॥ देवता—**विराट्**॥ छन्दः—**त्रिपदा साम्न्यनुष्टुप्**॥

सोद॑क्राम॒त्सान्तरि॑क्षे चतु॒र्धा विक्रा॑न्तातिष्ठत्॥ १॥

अर्थ—(सा) वह विराट् (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में (उदक्रामत्) उत्क्रान्त हुई, (सा) वह (चतुर्धा) चार प्रकार से (विक्रान्ता) विक्रम अर्थात् पराक्रम वाली हुई (अतिष्ठत्) स्थित हुई।

[अभिप्राय यह कि आमन्त्रण-संस्था वाली विराट् भूमण्डल में चारों दिशाओं में व्याप्त हो गई]।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**उष्णिग्गर्भा चतुष्पदोपरिष्टाद् विराड् बृहती** ॥

तां देवमनुष्या अब्रुवन्नियमेव तद्वेद यदुभय उपजीवेमेमामुप ह्वयामहा इति ॥ २ ॥

अर्थ—(ताम्) उस चतुर्धा विभक्त विराट् के सम्बन्ध में (देवमनुष्याः) देव और मनुष्य (इति अब्रुवन्) यह बोले कि (इयम् एव) यह ही [चतुर्धा विक्रान्त] विराट् निश्चयपूर्वक (तद्) उसे (वेद) जानती है, (यद्) जिस के आश्रय पर (उभये) हम दोनों [देव, मनुष्य] (उप जीवेम) जीवित हो सकते हैं। अतः (इमाम्) इसे (उप) समीपे (ह्वयामहे) हम बुलाते हैं। देवाः=विद्वांसो वै देवाः। मनुष्य[१]=मननशील सर्वसाधारण मनुष्य।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**एकपदा याजुषी गायत्री** ॥

तामुपाह्वयन्त ॥ ३ ॥

अर्थ—(ताम्) उस विराट् को (उप[२]) समीप (अह्वयन्त) उन्होंने बुलाया।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**एकपदा साम्नी पङ्क्तिः** ॥

ऊर्ज एहि स्वध एहि सूनृत एहीरावत्येहीति ॥ ४ ॥

अर्थ—(ऊर्जे) हे बल और प्राण-प्रद अन्नरूप विराट्, (एहि) तू आ, (स्वधे) हे स्वधारण-पोषण की शक्ति देने वाली विराट् (एहि) तू आ, (सूनृते) हे सत्य और प्रिय-वाक्-रूप-विराट् (एहि) तू आ, (इरावति) हे विविधान्नोत्पादक जलों वाली विराट् (एहि इति) तू आ।

[उत्क्रान्त-विराट् जब भूमण्डल में चहुंदिशि फैल गई (मन्त्र १), तब देवों और मनुष्यों ने अनुभव किया कि हम दोनों के जीवन इसी विराट् पर आश्रित हैं, अतः इस का उन दोनों ने स्वागत करते हुए कहा (मन्त्र ४) कि "ऊर्जे एहि" इत्यादि। अभिप्राय यह कि उत्क्रान्त-विराट् की स्थिर-स्थिति [अतिष्ठत] में चहुंदिशि रहने वाली प्रजाओं में "ऊर्जा" आदि की प्राप्ति हो जाती, न ऊर्जा का अभाव होता, न प्रजाओं पर किसी शत्रु का आक्रमण होता, सब प्रजाएँ स्वयं निजधारण-पोषण में स्वतन्त्र होतीं, सर्वत्र प्रिय और सत्य वाक् का प्रसार होता तथा अन्न और जल भी प्रभूत मात्रा में सब को प्राप्त होता है। इरावती=**इरा अन्ननाम** (निघं० २.७); **इरा जलनाम** यथा "**इरावान् समुद्रः**" (उणा० २.२९, महर्षि दयानन्द), तथा इरा=water (आप्टे)+वती (मतुप्) "भूमा" अर्थ में]।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**विराड् गायत्री** ॥

तस्या इन्द्रो वत्स आसीद्गायत्र्यभिधान्यभ्रमूधः ॥ ५ ॥

अर्थ—(तस्याः) उस [चतुर्धा अन्तरिक्षव्यापिनी विराट् ?] का (वत्सः) वत्स (इन्द्रः आसीत्) इन्द्र था, (गायत्री) गायत्री (अभिधानी) बन्धन-रज्जु और (अभ्रम्) मेघ (ऊधः) दुग्धाशय था।

[मन्त्र (५) में अन्तरिक्षव्यापिनी विराट् को, गोरूप में रूपित किया है। वत्सरूपी इन्द्र है विद्युत् और विद्युत में आविष्ट मेघ है ऊधस्[३] दुग्धाशय। गायत्री को अभिधानी अर्थात् बन्धनरज्जु कहा है। गौ को रज्जु द्वारा बान्धकर दोहा जाता है, ताकि वह इधर-उधर विचलित न हो सके। गौ, विना वत्स के दूध नहीं देती। विराट्-गौ का वत्स है विद्युत्। विद्युत् द्वारा आविष्ट अभ्र से वर्षा द्वारा जलदुग्ध प्राप्त होता है अतः विद्युत्

१. मनुष्याः=**मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति** (निरुक्त ३.२.७)।
२. उपाहूयन्त=अथवा समादर पूर्वक बुलाया।
३. ऊधः=ऊधर्=udder।

वत्सरूप है। अभ्र से जलदुग्ध प्राप्त होता है अतः अभ्र को ऊधः कहा है। गायत्री द्वारा गायत्री का अधिपति परमेश्वर अभिप्रेत है। यथा "**यो गायत्र्या अधिपतिर्बभूव**" (अथर्व० ४.३५.६)। वह परमेश्वर अभिधानी रूप है। उस के नियम द्वारा अन्तरिक्ष में बन्धे अभ्र आदि जलदुग्ध प्रदान करते हैं]।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**आर्च्यनुष्टुप्** ॥

बृहच्च रथन्तरं च द्वौ स्तनावास्तां यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च द्वौ ॥ ६ ॥

अर्थ—(बृहत् च रथंतरम् च) बृहत् और रथन्तर (द्वौ) दो (स्तनौ आस्ताम्) स्तन थे, (यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च) यज्ञायज्ञिय और वामदेव्य (द्वौ) दो स्तन थे।

[गौ के चार स्तन होते हैं। बृहत् आदि चार को विराट्-गौ के चार स्तन कहा है]।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**साम्नी पङ्क्तिः** ॥

ओषधीरेव रथन्तरेण देवा अदुह्रन्व्यचो बृहता ॥ ७ ॥

अर्थ—(देवाः) देवों ने (रथन्तरेण) रथन्तर द्वारा (ओषधीः एव) ओषधियों का ही (अद्रुहन्) दोहन किया, (बृहता) और बृहत् द्वारा (व्यचः) विस्तार का दोहन किया।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**आसुरी गायत्री** ॥

अपो वामदेव्येन यज्ञं यज्ञायज्ञियेन ॥ ८ ॥

अर्थ—(अपः) जल का (वामदेव्येन) वामदेव्य द्वारा, (यज्ञम्) और यज्ञ का (यज्ञायज्ञियेन) यज्ञायज्ञिय द्वारा [दोहन किया]।

[मन्त्र ७,८ में ओषधीः, व्यचः, अपः, और यज्ञ इन चार का दोहन, चार स्तनों से हुआ कहा है। सम्भवतः एक=एक स्तन से एक-एक ओषधि आदि का दोहन। ये चार फल हैं "विराट् रूपी गौ" से प्राप्त।

रथन्तर है पृथिवी, जिसमें रथों द्वारा मार्गरूपी समुद्र तैरा जाता है। इस पृथिवी से ओषधियाँ पैदा होती हैं। बृहत् द्वारा विस्तृत अन्तरिक्ष का कथन हुआ है, जो कि बृहत् है। यथा "**अन्तरिक्षं व्यचो हितम्**[1]" (अथर्व० १०.२.१५)। वामदेव्य का अभिप्राय है "प्राण" अर्थात् वायु। यथा "**प्राणो वै वामदेव्यम्, वायुरु प्राणः**" (शत० ब्रा० ९.१.२.३८)। वायुमण्डल से दृष्टि द्वारा "अपः" की प्राप्ति होती है। यज्ञायज्ञिय है, चन्द्रमा। यथा "**यज्ञायज्ञियः चन्द्रमा। यो हि कश्च यज्ञः संतिष्ठत एतमेव तस्याहुतीनां रसोऽप्येति। तद् यदेतं यज्ञोयज्ञः** [प्रत्येक यज्ञ का रस] **अप्येति, तस्मात् चन्द्रमा यज्ञायज्ञियः**" (शत०ब्रा० ९.१.२.३९)। यज्ञ "चन्द्रमा की पूर्णिमा, अमावास्या [दर्श], तथा अष्टमियों में किये जाते हैं" अतः यज्ञ का सम्बन्ध, यज्ञायज्ञिय अर्थात् चन्द्रमा के साथ दर्शाया है। इस प्रकार विराट्-गौ के चार स्तनों से चार प्रकार के जीवन साधन प्राप्त होते हैं; (१) बृहत् द्वारा व्यचः अर्थात् विस्तार, अन्तरिक्षीय विस्तार, जिसके होते प्राणी चल फिर सकते हैं; (२) रथन्तर अर्थात् पृथिवी द्वारा ओषधियां, जिसमें मुख्य व्रीहि और यव हैं, जिसके भक्षण से पुष्टि प्राप्त होती है; (३) यज्ञायज्ञिय अर्थात् चन्द्रमा द्वारा दर्शयज्ञ पौर्णमासयज्ञ, तथा अष्टमी के यज्ञ होते हैं, जिन द्वारा जल-वायु की शुद्धि तथा स्वास्थ्य प्राप्त होता है; (४) और वामदेव्य द्वारा प्राणवायु, और प्राणवायु द्वारा वर्षा से पेयजल प्राप्त होता है। ये चार जीवन साधन, विराट्-गौ के

१. अन्तरिक्ष बृहत् है, महाविस्तार वाला है। इस द्वारा व्यचस् अर्थात् विस्तार प्राप्त होता है, खुला स्थान प्राप्त होता है।

दुग्धरूप हैं।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**९ साम्न्यनुष्टुप्, १० साम्नी बृहती** ॥

ओषधीरेवास्मै रथन्तरं दुहे व्यचो बृहत्॥ ९ ॥

अपो वामदेव्यं यज्ञं यज्ञायज्ञियं य एवं वेद॥ १० ॥

अर्थ—(अस्मै) इसके लिए (रथन्तरम्) रथन्तर स्तन [पृथिवी] (ओषधीः एव) ओषधियों का ही (दुहे) दोहन करती है (बृहत्) बृहत् स्तन (व्यचः[1]) विस्तार [अन्तरिक्षरूपी] का [दोहन करता है] (वामदेव्यम्) वामदेव्य स्तन (अपः) जल का [दोहन करता है], (यज्ञायज्ञियम्) और यज्ञायज्ञिय स्तन (यज्ञम्) यज्ञ का [दोहन करता है], (यः) जो कि (एवम्) इस प्रकार [ओषधि आदि का जीवन के साधन] (वेद) जानता है।

[रथन्तर, बृहत्, वामदेव्य और यज्ञायज्ञिय—चार स्तन हैं, विराट् रूपी गौ के। और ओषधि आदि चार दुग्धरूप हैं, विराट्रूपी गौ के। जो व्यक्ति इस तत्त्व को जानता है वह स्वयं इन ओषधि आदि को प्राप्त करने में यत्नवान् होता है। वैदिक सिद्धान्तानुसार ज्ञान का पर्यवसान कर्म में होता है। यथा '**आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्**' (उत्तरमीमांसा) अर्थात् वैदिक फलश्रुतियाँ क्रियार्थक हैं, जीवनचर्या के लिए हैं, जीवनचर्या के अभाव में, फलश्रुतियाँ व्यर्थ अर्थात् निष्प्रयोजन हो जाएँगी]।

विषय-प्रवेश : पर्याय ३

(१) विराट् प्राप्त हुई वनस्पतियों को अर्थात् वनस्पतियों में भी एक व्यवस्था प्रकट हुई, जिस द्वारा वनस्पतियों के कटे पत्र-पुष्प-फल आदि संवत्सर काल में पुनः प्ररोहित हो जाते हैं। प्राकृतिक-घटना के इस दृश्य से शिक्षा ग्रहण कर व्यक्ति, प्रति संवत्सर, निज भावनाओं को सुधारे और मनोगत पापों का उच्छेद कर सात्विक भावनाओं को प्ररोहित करे (मन्त्र १,२)।

(२) पितृसम्बन्धी विराट्; पितृयाण पन्थाः; पितरों के प्रति मास में हविः प्रदान (मन्त्र ३,४)।

(३) देवसम्बन्धी विराट्; देवायान पन्थाः देवों के प्रति अर्धमास में हविःप्रदान (मन्त्र ५,६)।

(४) मनुष्य सम्बन्धी विराट्; मनुष्यों के प्रति प्रतिदिन अन्नोपहार (मन्त्र ७,८)।

सूक्त १०, पर्याय ३

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**चतुष्पदा विराडनुष्टुप्** ॥

सोदक्रामत्सा वनस्पतीनागच्छत्तां वनस्पतयोघ्नत सा संवत्सरे समभवत्॥ १ ॥

अर्थ—(सा) वह विराट् (उदक्रामत्) उत्क्रान्त हुई, समुन्नत हुई, (सा) वह (वनस्पतीन्) वनस्पतियों की ओर (आगच्छत्) आई, (ताम्) उसे (वनस्पतयः) वनस्पतियों ने (अघ्नत[2]) प्राप्त किया, (सा) वह (संवत्सरे) संवत्सर में (सम् अभवत्) प्रकट हुई।

विराट् वनस्पतियों को प्राप्त हुई, और इस का प्रकट होना, संवत्सर में हुआ है। यथा—

---

१. व्यचः का अर्थ है, विस्तार। "व्यचः" पद विस्तृत अन्तरिक्ष का उपलक्षक है। "**अन्तरिक्षं व्यचोहितम्**" (अथर्व० १०.२.२५)।

२. अघ्नत="**हन् हिंसागत्योः**" (अदादिः), "हन्" का अर्थ "गति" अभिप्रेत है। गतेस्त्रयोऽर्थाः—ज्ञानम्, गतिः, प्राप्तिश्च। अतः अघ्नत=प्राप्त किया।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**आर्ची त्रिष्टुप्** ॥

तस्माद्वनस्पतीनां संवत्सरे वृक्णमपि रोहति वृश्चतेस्याप्रियो भ्रातृव्यो य एवं वेद ॥ २ ॥

अर्थ—(तस्मात्) इसलिए (वनस्पतीनाम्) वनस्पतियों का (वृक्णम्) कटा अंश (अपि) भी (संवत्सरे) नया संवत्सरकाल प्राप्त होने पर (रोहति) प्ररोहित हो जाता है। (यः) जो (एवम्) इस तथ्य को (वेद) जानता है (अस्य) इसका (अप्रियः) अप्रिय (भ्रातृव्यः) भ्रातृव्य (वृश्चते) कट जाता है, नष्ट हो जाता है।

[जो व्यक्ति यह जानता है कि संवत्सर-काल प्राप्त होने पर वनस्पतियों के कटे अंश भी प्ररोहित हो जाते हैं तो वह भी निज मनोभावनाओं के कटु अंशों में सुधार करता है, और उस के मन का मालिन्य अर्थात् पाप भी कट जाता है। "भ्रातृव्य" पद मनोगत "पाप" को सूचित करता है। यथा "पाप्मना भ्रातृव्येण" में पाप को भ्रातृव्य कहा है। "**पाप्मना भ्रातृव्येणेति तूपचारात्**" (भट्टोजिदीक्षित कौमुदी, अष्टा० ४.१.१४५)। अभिप्राय यह कि ज्ञानी व्यक्ति प्राकृतिक घटनाओं से भी शिक्षा प्राप्त कर निज जीवन को समुन्नत करता रहता है]।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**चतुष्पदा प्राजापत्या पङ्क्तिः** ॥

सोदक्रामत्सा पितॄनागच्छत्तां पितरोऽघ्नत सा मासि समभवत् ॥ ३ ॥

अर्थ—(सा) वह विराट् (उदक्रामत्) उत्क्रान्त हुई, समुन्नत हुई, (सा) वह (पितॄन्) ऋतुओं[१] की ओर (आगच्छत्) आई (ताम्) उसे (पितरः) ऋतुओं ने (अघ्नत) प्राप्त किया। (सा) वह समुन्नत विराट् (मासि) मास में (सम् अभवत्) प्रकट हुई।

[यद्यपि दो मासों की एक ऋतु होती है। तो भी ऋतु के दो मासों[२] में से प्रत्येक मास में विराट् प्रकट होती है]।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**आर्ची बृहती** ॥

तस्मात्पितृभ्यो मास्युपमास्यं ददति प्र पितृयाणं पन्थां जानाति य एवं वेद ॥ ४ ॥

अर्थ—(तस्मात्) इसलिए (पितृभ्यः) ऋतुओं के प्रति (मासि) प्रतिमास (मास्यम्) मास में देय हविः (उप ददति) उपहाररूप में देते हैं, वह (पितृयाणम् पन्थाम्) 'पितृयाण' नामक मार्ग को (प्रजानाति) जानता है (यः) जो (एवम्) इस प्रकार [ऋतुओं के स्वरूप को] (वेद) जानता है।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**चतुष्पदा प्राजापत्या पङ्क्तिः** ॥

सोदक्रामत्सा देवानागच्छत्तां देवा अघ्नत सार्धमासे समभवत् ॥ ५ ॥

अर्थ—(सा) वह विराट् (उदक्रामत्) उत्क्रान्त हुई, समुन्नत हुई, (सा) वह (देवान्) द्युतिसम्पन्न चान्द्र कलाओं में (आगच्छत्) आई, (ताम्) उसे (देवाः) द्युतिसम्पन्न चान्द्र कलाओं ने (अघ्नत) प्राप्त

१. **ऋतवो वै पितरः** (शतपथ २.६.१.३२)।

२. वैदिक साहित्य में प्रत्येक मास को भी ऋतु कहा है। यथा "**मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतू**" (यजुः० १३.२५); "**शुक्रश्च शुचिश्च ग्रैष्मावृतू**" (यजुः० १४.६); "**नभश्च नभस्यश्च वार्षिकावृतू**" (यजुः० १४.१५) इत्यादि। मधु=चैत्र, माधव=वैशाख ये दो मास "ऋतू" दो ऋतुएँ हैं। इसी प्रकार शुक्र=ज्येष्ठ, शुचि=आषाढ ये दो मास "ऋतू" दो ऋतुएँ हैं। तथा नभः=श्रावण, नभस्य=भाद्रपद ये दो मास "ऋतू" दो ऋतुएँ हैं। इन तीन प्रमाणों में "ऋतू" पद द्विवचनान्त हैं, अतः दो मास को सूचित करते हैं। इसी प्रकार देखो (यजुः० १४.१६; १४.२७)।

किया। (सा) वह (अर्धमासे) अर्धमास में (सम्, अभवत्) प्रकट हुई।

[अर्धमास का अभिप्राय चन्द्रमा के दो पक्ष प्रतीत होते हैं। ये दोनों अर्धमास हैं। चन्द्रमा देव है यथा "**अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता......**" (यजुः० १४.२०)। अतः चन्द्रमा की कलाएँ भी, देवता की कलाएँ होती हुईं, देवता या देव हैं]।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**आर्ची बृहती** ॥

तस्माद्देवेभ्योऽर्धमासे वषट् कुर्वन्ति प्र देवयानं पन्थां जानाति य एवं वेद॥ ६॥

अर्थ—(तस्मात्) इसलिए (देवेभ्यः) देवों के प्रति (अर्धमासे) अर्धमास में (वषट्) वषट् शब्द के उच्चारणपूर्वक (कुर्वन्ति) हविःप्रदान करते हैं, वह (देवयानं पन्थाम्) "देवयान" नामक मार्ग को (प्रजानाति) जानता है (यः) जो कि (एवम्) इस प्रकार के तत्त्व को (वेद) जानता है।

[अर्धमास में हविःप्रदान द्वारा दर्शपौर्णमास यज्ञों को सूचित किया है]।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**चतुष्पदा प्राजापत्या पङ्क्तिः** ॥

सोदक्रामत्सा मनुष्यांऽऽनागच्छत्तां मनुष्याऽअघ्नत सा सद्यः समभवत्॥ ७॥

अर्थ—(सा) वह विराट् (उदक्रामत्) उत्क्रान्त हुई, समुन्नत हुई (सा) वह (मनुष्यान्) मनुष्यों को (आगच्छत्) प्राप्त हुई, (ताम्) उसे (मनुष्याः) मनुष्यों ने (अघ्नत) प्राप्त किया, (सा) वह (सद्यः) प्रतिदिन (सम्, अभवत्) प्रकट हुई।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**आर्ची बृहती** ॥

तस्मान्मनुष्येभ्य उभयद्युरुप हरन्त्युपास्य गृहे हरन्ति य एवं वेद॥ ८॥

अर्थ—(तस्मात्) इसलिए (मनुष्येभ्यः) मनुष्यों के प्रति (उभयद्युः) दोनों दिन (उप हरन्ति) उपहाररूप में [अन्न] लाते हैं, (अस्य) इसके (गृहे) घर में (उप हरन्ति) उपहाररूप में [अन्न] लाते हैं (यः) जो (एवम्) इस प्रकार (वेद) जानता है।

[विराट् है, संस्था, नियम व्यवस्था। मनुष्यों के जीवन के सम्बन्ध में यह व्यवस्था है कि उन्हें प्रतिदिन भोजन मिले। सम्भवतः मन्त्र में मनुष्य के लिए दिन में एक बार भोजन करने का निर्देश हुआ है। एकवार प्रतिदिन भोजन करने पर सुपच होकर अगले दिन भूख चमक उठती है, तब पुनः भोजन करने पर कोष्ठबद्धता आदि की शिकायत नहीं रहती। शरीर हल्का रहता और स्वस्थ रहता है। पैप्पलाद शाखा में "उभयद्युः"[१] के स्थान में "अहरहः" पाठ है, जिस का अर्थ है दिन-प्रतिदिन। मन्त्र ४ और ६ में मास और अर्धमास में हविः देने का विधान, और मन्त्र में प्रतिदिन एक वार मनुष्य को भोजनाहुति देने का संकेत हुआ है। "उभयद्युः" का अभिप्राय है दो लगातार दिन। अर्थात् एक दिन भोजन लेकर उसके अगले दिन भी भोजन लेना चाहिए, बीच में व्यवधान न होना चाहिए, अन्यथा निर्बलता की सम्भावना है]।

१. "उभयद्युः" का भाव अस्पष्ट है, और "अहरहः" स्पष्टार्थक है। अतः प्रतीत होता है कि पैप्पलाद ने 'उभयद्यु' की व्याख्या "अहरहः" द्वारा की है। "उभयद्युः" और "अहरहः" भाषाशास्त्र की दृष्टि से एक दूसरे के अपभ्रंश नहीं हो सकते। अपितु प्रतीत यह होता है कि "उभयद्युः" की व्याख्या ही "अहरहः" है। अतः महर्षि दयानन्द का यह विचार कि शाखाएँ मूल वेदों की व्याख्यारूप हैं, वस्तुतः यथार्थ है।

विषय-प्रवेश : पर्याय ४

(१) असुरराज्य। असुर हैं प्रकृति के उपासक। प्राह्लादि विरोचन है विराट्-गौ का वत्स। इन के शस्त्रास्त्र हैं लोहनिर्मित। द्विमूर्धा [विरोचन ?] है दोग्धा। दोहा दूध है माया अर्थात् प्रकृति (मन्त्र १-४)।

(२) पितरराज्य। पितर हैं सभा और समिति के सदस्य। यम राजा है विराट्-गौ का वत्स। स्वधारूपी दुग्ध का दोहनकर्त्ता है अन्तक। रजत है सम्पत्ति (मन्त्र ५-८)।

(३) मनुष्यराज्य। यह है दक्षिणाग्निराज्य अर्थात् जिला के अग्रणियों का राज्य [पर्याय १, मन्त्र ६,७] विराट्-गौ है इरावती। इस का वत्स है वैवस्वत "मनु"। पृथिवी है पात्र अर्थात् रक्षा तथा त्राण का साधन। पृथी वैन्य है दोहनकर्त्ता। कृषि और सस्य है दोहा-दूध (मन्त्र ९-२२)।

(४) ऋषिराज्य और ऋषिसचिवराज्य। विराट्-गौ है ब्रह्मण्वती। सोम राजा है विराट्-गौ का वत्स। वैदिक छन्द हैं पात्र, अर्थात् रक्षा तथा त्राण के साधन। आङ्गिरस बृहस्पति है दोहनकर्त्ता। ब्रह्म और तपः हैं दोहा दूध (मन्त्र १३-१६)।

सूक्त १०, पर्याय ४
(असुरराज्य)

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**चतुष्पदा साम्नी जगती** ॥

सोदक्रामत्सासुरानागच्छत्तामसुरा उपाह्वयन्त माय एहीति॥ १ ॥

अर्थ—(सा) वह विराट् (उदक्रामत्) उत्क्रान्त हुई (सा) वह (असुरान्) असुरों को (आ गच्छत्) प्राप्त हुई, (ताम्) उस विराट् को (असुराः) असुरों ने (उपाह्वयन्त) अपने समीप बुलाया कि (माये) हे माया! (एहि) आ, (इति) इस प्रकार।

[असुर हैं प्राण[1] के और धन के अनुयायी, जो कि निजप्राणों के पोषण और धनार्जन को जीवन का ध्येय समझते हैं। उन्होंने विराट् को अपने पास बुलाया, और वह मायारूप में उनके पास आई। माया है प्रकृति "**मायां तु प्रकृतिं विद्यात्**" (श्वेता० अ० ४। खं० १०)। प्रकृति के उपासकों को "असुराः" कहा है, ये प्राकृतिक उन्नति को निज ध्येय जानते हैं। आसुरजीवन के सम्बन्ध में छान्दोग्य उप० (अध्याय ८। खण्ड ७-१२) द्रष्टव्य है]।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**साम्नी बृहती** ॥

तस्या विरोचनः प्राह्रादिर्वत्स आसीदयस्पात्रं पात्रम्॥ २ ॥

अर्थ—(तस्याः) [असुरों में प्राप्त हुई उस] विराट्-रूपी गौ का (वत्सः) बछड़ा (आसीत्) था (प्राह्लादिः) प्रह्लाद का पुत्र (विरोचनः) विरोचन। और (अयस्पात्रम्) उन का रक्षक और पालक लोहा था, (पात्रम्) यही था रक्षक और पालक।

[मन्त्र में आसुर-राज्य का वर्णन हुआ है। "प्रह्लाद" है ऐन्द्रियिकसुख "**ह्लादी सुखे च**" (भ्वादिः)। "सुख" का अर्थ है "सुप्रसन्न ख" (इन्द्रियाँ)। इन इन्द्रियों को "खानि" कहते हैं, यथा—"**पराञ्चि**

---

१. असुरः=प्राणवान् "**अपि वा असुरिति प्राणनाम**" (निरुक्त ३.२.८)। तथा "**असुरत्वमादिलुप्तम्**" (निरुक्त १०.३.३४) असुरः=वसुरः धनरतः। वसुरः के आदिभूत "व्" का लोप।

खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः'' (कठ० ४.१)। प्राह्लादि अर्थात् ऐन्द्रियिक-सुख का पुत्र है विरोचन चमकते-दमकते कपड़े पहनने वाला और इस प्रकार विविध-रुचियों वाला व्यक्ति [छान्दो० उप० अध्याय ८। खण्ड ७] में विरोचन को असुरों का प्रतिनिधि कहा है। इसे मन्त्र में ऐन्द्रियिक-सुख का पुत्र कहा है। असुरों का राज्य सांसारिक सुखों की प्राप्ति के लिए है। इस राज्य में रक्षक और पालक है ''अयः'' अर्थात् लोहा। लोहा तमोगुण है, प्रकृति का तामसिकरूप। लोहा भी काला होता है, और तमस् भी काला। मन्त्र में विराट्-गौ के दोहने के लिए ''विरोचन'' को वत्स कहा है। वत्स के विना गौ दुही नहीं जा सकती। इसी प्रकार विरोचन स्वभाव वाले नेता के विना आसुरी सम्पत्ति, विराट्-गौ से दोही नहीं जा सकती।

तथा— ''अयस्पात्रम्'' का अभिप्राय यह भी है ''लोहनिर्मित रक्षा और पालन के साधनभूत शस्त्रास्त्र, असुरों के रक्षक और पालक हैं। आसुर-स्वभाव वाले राज्य, युद्धों के लिए, शस्त्रास्त्रों का संग्रह करते हैं'']।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**साम्न्युष्णिक्** ॥

तां द्विमूर्धार्त्व्योऽधोक्तां मायामेवाधोक् ॥ ३ ॥

अर्थ—(ताम्) उस विराट् को (द्विमूर्धा) दो सिरों वाले (अर्त्व्यः) ऋतुओं के पुत्र ने (अधोक्) दुहा, (ताम्) उस से (मायाम् एव) माया को ही (अधोक्) दुहा है।

[विरोचन को दों सिरों वाला कहा है, वह एक सिर से तो सोचता है, और दूसरे सिर से वाणी बोलता है, अर्थात् मन में कुछ और वाणी में कुछ। ''मनस्यन्यत्, वचस्यन्यत्'' का वह अनुयायी है। वह ऋतुओं का मानो पुत्र हैं, ऋतुओं के सदृश परिवर्तनशील है, अस्थिरमति है। उसने विराट्-गौ से माया अर्थात् प्राकृतिक धन-सम्पत् रूपी दूध को ही दोहा]।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**आर्च्यनुष्टुप्** ॥

तां मायामसुरा उप जीवन्त्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ ४ ॥

अर्थ—(ताम् मायाम्) उस माया अर्थात् प्रकृति के आश्रय (असुराः) असुर (उपजीवन्ति) जीवित होते हैं। (यः) जो व्यक्ति (एवम्) इस प्रकार (वेद) जानता है, वह भी (उपजीवनीयः) अन्यों के लिए जीवन का आश्रय (भवति) हो जाता है, अन्यों को जीवन प्रदान करता है। मन्त्र १-४ में ''असुर-राज्य'' का वर्णन हुआ है।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**चतुष्पदा साम्नी जगती** ॥

सोदक्रामत्सा पितॄनागच्छत्तां पितर उपाह्वयन्त स्वध एहीति ॥ ५ ॥

अर्थ—(सा) वह विराट् (उदक्रामत्) उत्क्रान्त हुई, समुन्नत हुई, (सा) वह (पितॄन्) पितरों को (आगच्छत्) प्राप्त हुई (ताम्) उस को (पितरः) पितरों ने (उप अह्वयन्त) अपने समीप बुलाया कि (स्वधे) ''हे स्वधा!'' (एहि) आ'' (इति) इस प्रकार।

[पितरः हैं सभा और समिति के सदस्य। सभा है लोकसभा, और समिति है राजसभा (अथर्व० ८.१०.८-११)। सभा और समिति के संयुक्त अधिवेशन में स्थित सभ्यों और सामित्यों को ''पितरः'' कहा है। यथा—

सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने।
येना संगच्छा उप मा स शिक्षाच्चारु वदानि पितरः संगतेषु॥ अथर्व० ७.१२.१॥
मन्त्र के चतुर्थ पाद में "पितरः" का कथन हुआ है। स्वधा=स्व+धा (धारण-पोषण), अर्थात् स्वयम् अपने-आप का धारण-पोषण करना, इस के लिए पराश्रित या पराधीन न होना]।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः**॥ देवता—**विराट्**॥ छन्दः—**साम्नी बृहती**॥

तस्या यमो राजा वत्स आसीद्रजतपात्रं पात्रम्॥ ६॥

अर्थ—(तस्याः) उस विराट् गौ का (वत्सः) वत्स (आसीत्) था (यमः) नियमन करने वाला (राजा) राजा, (रजतपात्रम्) रक्षक और पालक रजत अर्थात् चान्दी[१]-सुवर्ण आदि थे (पात्रम्) ये ही रक्षक और पालक थे।

[पितरों अर्थात् सभासदों और समिति के सदस्यों को विराट्-गौ के रूप में प्राप्त हुई विराट् संस्था का राजा था यम; अर्थात् इन दोनों का नियन्ता प्रजापति (अथर्व० ७.१२.१)। पात्रम्=पा (रक्षण)+त्रम् (**त्रैङ् पालने**)।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः**॥ देवता—**विराट्**॥ छन्दः—**आसुरी गायत्री**॥

तामन्तको मार्त्यवोऽधोक्तां स्वधामेवाधोक्॥ ७॥

अर्थ—(ताम्) उस विराट्-गौ को (अन्तकः) पराधीनता के अन्तकारी, (मार्त्यवः) मृत्यु के पुत्र मर्त्य-सेनापति ने (अधोक्) दोहा (ताम्) उस विराट्-गौ से उस ने (स्वधाम्) स्वधा को (एव) ही (अधोक्) दोहा। अन्तकः=अन्तम् [पराधीनतायाः] करोतीति। स्वधा=अपने आप को स्वयं धारण-पोषण करने की शक्ति, स्वतन्त्रता, अपराधीनता।

[अभिप्राय यह कि सेनापति अन्तक भी है, और मृत्यु का पुत्र भी, चूंकि सैन्य विभाग है "मरने और मारने के लिये"। अतः यह समग्र विभाग मृत्यु का पुत्र है, और सेनापति भी। अतः सेनापति को मार्तव्य कहा है। परन्तु सैन्यविभाग है "स्वधा" की रक्षा के लिए। स्वधा ही विराट्-गौ का दुग्ध है]।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः**॥ देवता—**विराट्**॥ छन्दः—**आर्च्यनुष्टुप्**॥

तां स्वधां पितर उप जीवन्त्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद॥ ८॥

अर्थ—(ताम्, स्वधाम् उप) उस स्वधा अर्थात् स्व-धारण-पोषण के आश्रय (पितरः) सभा-समिति के सदस्य (जीवन्ति) जीवित होते हैं, वह भी (उप जीवनीयः) अन्यों के जीवित रहने का आश्रय (भवति) हो जाता है (यः) जोकि (एवम्) इस प्रकार अर्थात् स्वधा जीवन का आश्रय है, (वेद) यह जानता है।

[मन्त्र ५-८ तक पितृराज्य तथा स्वधा के स्वरूपों का वर्णन किया है। पितृराज्य को प्राजापत्यराज्य, सभा-समितिराज्य तथा पौरराज्य कह सकते हैं]।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः**॥ देवता—**विराट्**॥ छन्दः—**चतुष्पदोष्णिक्**॥

सोदक्रामत्सा मनुष्या३ नागच्छत्तां मनुष्या३ उपाह्वयन्तेरावत्येहीति॥ ९॥

---

१. रजत उपलक्षक है आर्थिक सम्पत्ति का। विना आर्थिक सम्पत्ति के राज्यशासन तथा राज्यरक्षा नहीं हो सकती।

अर्थ—(सा) वह विराट् (उदक्रामत्) उत्क्रान्त हुई, (सा) वह (मनुष्यान्) मनुष्यों को (आगच्छत्) प्राप्त हुई, (ताम्) उस को (मनुष्याः) मनुष्यों ने (उप अह्वयन्त) अपने समीप बुलाया [और कहा कि] (इरावति) हे अन्न और जलवाली! (एहि) आ (इति) इस प्रकार।

[मन्त्र (५) में विराट् को पितरों ने बुलाया और मन्त्र (६) में मनुष्यों ने। पितरः पुरनिवासी हैं; और मनुष्याः, जनपद अर्थात् ग्रामनिवासी हैं]।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः**॥ देवता—**विराट्**॥ छन्दः—**साम्नी बृहती**॥

तस्या मनुर्वैवस्वतो वत्स आसीत्पृथिवी पात्रम्॥ १०॥

अर्थ—(मनुः वैवस्वतः) विवस्वान् का पुत्र मनु, (तस्याः) उस विराट्-गौ का (वत्सः) बछड़ा (आसीत्) था। (पृथिवी) और पृथिवी (पात्रम्) रक्षापालन का साधन थी। पात्रम्=पा+त्रैङ् (पालने)।

[मनु का अभिप्राय है मननशील मनुष्य और विवस्वान् का अभिप्राय है अन्धकारविनाशक सूर्य। यथा "**जाया विवस्वतो ननाश, रात्रिरादित्यस्योदयेऽन्तर्धीयते**" (निरुक्त १२.१.११)। सभी सौर-परिवार अर्थात् ग्रह, उपग्रह, वृक्ष, वनस्पति, प्राणी ये सब सूर्य से उत्पन्न हुए, सूर्य के पुत्र हैं; परन्तु विशेषाभिप्राय[१] से "मनु" को विवस्वान् अर्थात् सूर्य का पुत्र कहा है। यह "मनु" है जनपद निवासी किसान-वर्ग (मन्त्र ११, १२)। इस वर्ग ने "वत्स" बनकर विराट्-गौ का दोहन किया। दोहन का फल हुआ "कृषि और सस्य" (मन्त्र १२)। इस वर्ग के रक्षा-पालन का साधन है पृथिवी, क्योंकि कृषि-सस्य, पृथिवी से ही प्राप्त होते हैं, जो कि किसान-वर्ग की रक्षा और पालन करते हैं]।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः**॥ देवता—**विराट्**॥ छन्दः—**प्राजापत्यानुष्टुप्**॥

तां पृथी वैन्योऽधोक्तां कृषिं च सस्यं चाधोक्॥ ११॥

अर्थ—(ताम्) उस विराट्-गौ को (पृथी) कृषिविस्तार करने वाले, (वैन्यः) कृषि-मेधावी कृषकों की वंशपरम्परा में उत्पन्न किसान ने (अधोक्) दोहा, (ताम्) उस से (कृषिम् च सस्यं च) कृषिकर्म को तथा सस्य को (अधोक्) दुग्धरूप में दोहा।

[पृथी[२]=जैसे पृथिवी विस्तृत है उसी प्रकार कृषिकर्म का विस्तार करने वाला कृषिकर्म में प्रख्यात कृषक। वैन्यः=**वेनः मेधाविनाम** (निघं० ३.१५)। वैन्यः=मेधावी कृषकवंश में उत्पन्न। जिस की वंशपरम्परा में कृषिकर्म रहा है, वह कृषि का विशेषज्ञ सम्भावित है। वैन्यः=**वेनृ गतिज्ञानचिन्तानिशामनवादित्रग्रहणेषु** (भ्वादिः)+ण्यत्]।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः**॥ देवता—**विराट्**॥ छन्दः—**आर्ची त्रिष्टुप्**॥

ते कृषिं च सस्यं च मनुष्या३ उप जीवन्ति
कृष्टराधिरुपजीवनीयो भवति य एवं वेद॥ १२॥

अर्थ—(ते मनुष्याः) वे मनुष्य (कृषिम् च सस्यम् च) कृषि और सस्य के (उप जीवन्ति) आश्रय

---

१. प्रकरणानुसार "मनु" है किसान-मनुष्य। इस का आश्रय है "विवस्वान्" अर्थात् अन्धकार विनाशक-सूर्य। सूर्य के आश्रय कृषिकर्म है। "सस्य" को ताप, प्रकाश और जल का मिलना सूर्याश्रित है। इसी के आश्रय से खेती फलती है। खेती के फलने पर किसानवर्ग से निराशा का अन्धकार दूर होता है।

२. पृथी=(प्रथ-प्रख्याने, भ्वादिः, चुरादिः), प्रथ के "रेफ" की "ऋकार" सम्प्रसारण द्वारा हुआ है।

जीवित होते हैं, वह (कृष्टिराधिः) कृषिजन्य धनवाला हो जाता है और (उपजीवनीयः) औरों के जीवनों का आश्रय (भवति) हो जाता है (यः) जो कि (एवम्) इस प्रकार के तथ्य को (वेद) जानता है।

[सस्यम्=धान आदि। कृष्टिराधिः=कृष्टि+राधः (**धननाम,** निघं० २.१०)+किः। शासन की दृष्टि से राष्ट्र के दो विभाग हैं, नागरिक और ग्राम्य। ये दोनों परस्पर की आवश्यकताओं को पूरित करते हैं। नागरिक शासन [सभा-समिति का शासन] ग्रामवासियों की रजत आदि की आवश्यकता को पूरित करता तथा उन की स्वधावस्था को सुरक्षित करता है, और ग्राम्यशासन [दक्षिणाग्नि शासन, (अथर्व० १०। पर्याय १। मन्त्र ६)] नगरवासियों की कृषि और सस्य की आवश्यकता को पूरित करता है। इस प्रकार राष्ट्र के ये दो विभाग एक-दूसरे के पूरक होकर एक राष्ट्ररूप हैं। इसे "पितर-मनुष्य राज्य" कह सकते हैं]।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**चतुष्पदोष्णिक्** ॥

सोदक्रामत्सा सप्तऋषीनागच्छत्तां सप्तऋषय उपाह्वयन्त ब्रह्मण्वत्येहीति ॥ १३ ॥

अर्थ—(सा) वह विराट् (उदक्रामत्) उत्क्रान्त हुई (सा) वह (सप्तऋषीन्) सात ऋषियों को (आगच्छत्) प्राप्त हुई, (ताम्) उस को (सप्त ऋषयः) सात ऋषियों ने (उप अह्वयन्त) अपने समीप बुलाया कि (ब्रह्मण्वति[1]) हे ब्रह्मवाली! (एहि) तू आ (इति) इस प्रकार।

[सप्तऋषयः=सात ऋषि हैं, शरीरस्थ। यथा "**सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे**" (यजुः० ३४.५५)। ये सात ऋषि हैं "**षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तमी**" (निरुक्त १२.४.३७), अर्थात् ५ ज्ञानेन्द्रियां, १ मन, और अर्थात् बुद्धि। मनुष्य के निःश्रेयस के लिए ये सात "ऋषिकोटि" के होने चाहिएँ। इस भावना को अभिव्यक्त करने के लिए इन सात को ऋषि कहा है। वैदिक साहित्य में आध्यात्मिक और आधिभौतिक तथा आधिदैविक तत्त्वों में समता कही है। इसलिए आधिभौतिक शासन में भी सात ऋषियों[2] द्वारा शासन का कथन हुआ है। शासन में राजा तो क्षात्रशक्ति सम्पन्न होना चाहिए, परन्तु "ब्राह्मजीवन" के उद्देश्य से मन्त्रिवर्ग सात ऋषियों का होना चाहिए। इसी प्रकार आधिदैविक अर्थ में सात ऋषि स्थानापन्न सूर्य की सात रश्मियाँ हैं (निरुक्त १२.४.३७)]।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**साम्न्युष्णिक्** ॥

तस्याः सोमो राजा वत्स आसीच्छन्दः पात्रम् ॥ १४ ॥

अर्थ—(तस्याः) उस विराट्-गौ का (वत्सः) बछड़ा (आसीत्) था (सोमः राजा) सौम्य स्वभाव का राजा और (छन्दः) वैदिक छन्द-समूह अर्थात् वेदमन्त्र समूह था (पात्रम्) रक्षा और पालन का साधन।

[यद्यपि वैदिक साहित्यानुसार राजा क्षत्रिय होना चाहिए। परन्तु प्रजा के शासन में उसे सौम्य स्वभाववाला होकर, शासक होना चाहिए, और युद्धावस्था में उसे क्षात्रस्वभाववाला होकर युद्ध करना चाहिए। शासन, वैदिकमन्त्रप्रतिपादित विधि द्वारा होना चाहिए (देखो यजुः० २०.५-९)]।

---

१. ऋषियों ने विराट् को ब्रह्मज्ञानप्रदात्रीरूप में बुलाया। (मन्त्र १५) में इस का स्पष्टीकरण हुआ है।

२. मनु ने भी सात या आठ सचिवों का कथन किया है। यथा "**सचिवान् सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान्**" (मनु० ७.५४)।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**विराड् गायत्री** ॥

तां बृह॒स्पति॑राङ्गि॒र॒सोऽधो॒क्तां ब्रह्म॑ च॒ तप॑श्चाधोक् ॥ १५ ॥

अर्थ—(ताम्) उस विराट् को (आङ्गिरसः) प्राणविद्या के जानने वाले (बृहस्पतिः) बृहती वेदवाणी के पति ने (अधोक्) दोहा (ताम्) उस विराट् से (ब्रह्म च, तपः च) ब्रह्म को और तप को (अधोक्) दोहा।

[अङ्गिराः=प्राण। प्राण है शरीराङ्गी और शरीर के अङ्गों का रस, "**सोऽयास्य आङ्गिरसोऽङ्गानां हि रसः, प्राणो वा अङ्गानां रसः, प्राणो हि वा अङ्गानां रसः**" (बृहद् उप० १.३.१९)। अतः प्राणविद्या का ज्ञाता है "आङ्गिरस"। बृहस्पतिः="**वाग् वै बृहती, तस्या एष पतिः, तस्मादु बृहस्पतिः**" (बृहदा० उप० १.३.२०)। आङ्गिरस-बृहस्पति सप्त ऋषियों का मुख्य है। इस ने विराट् से ब्रह्म और तप का दोहन किया। सप्त ऋषियों के मन्त्रित्व में राज्य में ब्रह्म और तप का प्रसार होता है—यह अभिप्राय है। मन्त्र (१४) में "छन्दः" द्वारा वेदमन्त्रों का निर्देश हुआ है और मन्त्र (१५) में बृहस्पति द्वारा वेदवाणी का निर्देश हुआ है]।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**आर्ची त्रिष्टुप्** ॥

तद् ब्रह्म॑ च॒ तप॑श्च सप्तऋ॒षय॒ उप॑ जीवन्ति।
ब्रह्मवर्च॒स्यु॒पजी॒व॒नीयो॑ भवति॒ य ए॒वं वेद॑ ॥ १६ ॥

अर्थ—(तत्) उस (ब्रह्म च, तपः च) ब्रह्म और तप के (उप) आश्रय (सप्त ऋषयः) सात ऋषि (जीवन्ति) जीवित रहते हैं, (यः) जो (एवम्) इस प्रकार के तथ्य को (वेद) जानता है, वह (ब्रह्मवर्चसी) ब्रह्मवर्चसवाला और (उपजीवनीयः) अन्यों के जीवन का आश्रय (भवति) हो जाता है।

[ब्रह्मवर्चसी, अन्यों को ब्रह्मज्ञान और तपोमय जीवन का सदुपदेश दे कर उनके ब्राह्मजीवन का आश्रय बन जाता है। सप्त ऋषि शरीरस्थ भी हैं, पांच-ज्ञानेन्द्रियाँ, मन, और बुद्धि, इन्हें भी ब्राह्मजीवन और तपोमय जीवन में ढालने का निर्देश मन्त्र द्वारा हुआ है]।

विषय-प्रवेश : पर्याय ५

(१) इन्द्रादिदेवताकराज्य। विराट्-गौ है ऊर्जा। इन्द्र [विद्युत्] है विराट्-गौ का वत्स। चमस अर्थात् मेघ है रक्षा तथा त्राण का साधन। सविता है दोहन-कर्त्ता। ऊर्जा है दोहा-दूध (मन्त्र १-४)। यह है (आधिदैविकार्थ)

तथा (आधिभौतिकार्थ)

इन्द्रादिदेवताकराज्य। इन्द्र अर्थात् वणिक्-वृत्तिक राजा है विराट्-गौ का वत्स। चमस अर्थात् मेघ है रक्षा तथा त्राण का साधन। सविता है प्रेरक-राजा दोहनकर्त्ता। ऊर्जा है अन्न। (मन्त्र १-४)।

(२) गन्धर्वाप्सरसराज्य (आधिदैविकार्थ)। गन्धर्व हैं अग्नि आदि, और अप्सरः हैं ओषधि आदि। विराट्-गौ है पुण्यगन्धा। चित्ररथ [मेघ] है विराट्-गौ का वत्स। पुष्करपर्ण है रक्षा तथा त्राण का साधन। वसुरुचि है मेघ, दोहनकर्त्ता। पुण्यगन्ध है दोहा दूध (मन्त्र ५-८)।

गन्धर्वाप्सरसराज्य। गन्धर्व हैं गौः [पृथिवी] के धारक राजा लोग, जिन्हें कि "पार्थिवाः" कहते हैं, और अप्सरसः हैं जल तथा अन्तरिक्ष की सेनाएँ। विराट्-गौ है पुण्यकर्मों की सुगन्ध वाली व्यवस्था।

चित्ररथ अर्थात् नानाविध रथों वाला सैन्यवर्ग है विराट्-गौ का वत्स। वसुरुचि अर्थात् वैश्यवर्ग है विराट्-गौ का दोहन-कर्त्ता। पुण्यकर्मों की सुगन्ध है, दोहा दूध। पुण्यकर्म हैं पात्र अर्थात् रक्षा तथा त्राण के साधन।

(३) इतरजनराज्य। इतरजन हैं (आधिभौतिकार्थ) गन्धर्वाप्सराओं से भिन्न प्रकार के छली-कपटी लोग। विराट्-गौ है तिरोधा। वैश्रवण कुबेर है विराट्-गौ का वत्स। अपरिपक्वनीति है पात्र अर्थात् उन की रक्षा-त्राण का साधन। रजतनाभि कावेरक है विराट्-गौ का दोहन-कर्त्ता। दोहा-दूध है तिरोधा, छलकपट, पापों को छिपाना।

(४) सर्पराज्य। सर्प है परकीय छिद्रों में प्रवेश कर उन में विषप्रयोग करने वाले मनुष्य। विराट्-गौ व्यवस्था है विषवती। विशालकाय तक्षक है विराट्-गौ का वत्स। विषैला कड़वा तूम्बा है पात्रम्, अर्थात् रक्षा तथा त्राण का साधन। ऐरावत धृतराष्ट्र है विराट्-गौ का दोहनकर्त्ता उस ने विषरूपी दुग्ध दोहा।

सूक्त १०, पर्याय ५

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**चतुष्पदा साम्नी जगती** ॥

सोद॑क्राम॒त्सा दे॒वाना॑गच्छ॒त्तां दे॒वा उपा॑ह्वय॒न्तोर्ज॒ एही॒ति॑ ॥ १ ॥

अर्थ—(सा) वह विराट् (उदक्रामत्) उत्क्रान्त हुई, ऊपर की ओर गतिवाली हुई, (सा) वह (देवान्) द्युतिवाले तत्त्वों को (आगच्छत्) प्राप्त हुई। (ताम्) उसको (देवाः) द्युतिवाले तत्त्वों ने (उप अह्वयन्त) अपने पास बुलाया कि (ऊर्जे) हे ऊर्जा! बल और प्राणप्रद अन्नरूपिणी! (एहि) आ (इति) इस प्रकार।

[ऊर्जा=**ऊर्क् अन्ननाम** (निघं० २.७)+टाप् (टापं चैव हलन्तानाम्)]।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**साम्न्युष्णिक्** ॥

तस्या॒ इन्द्रो॑ व॒त्स आसी॑च्चम॒सः पात्र॑म् ॥ २ ॥

अर्थ—(तस्याः) उस विराट्-गौ का (वत्सः) बछड़ा (आसीत्) था (इन्द्रः) इन्द्र (चमसः) और मेघ था (पात्रम्) रक्षा और पालन का साधन।

[इन्द्रः=विद्युत् "**वायुर्वेन्द्रो वा मध्यस्थानः**" (निरुक्त), मध्यस्थानः= अन्तरिक्षस्थानः। "**चमसः मेघनाम**" (निघं० १.१०)। मेघ खाद्यपदार्थों की उत्पत्ति का कारण है, अतः "चमस" है। यह "चमस" है पात्र अर्थात् रक्षा और पालन का साधन, **पा (रक्षणे)+त्रैङ् पालने**। चमस=**चमु अदने** (भ्वादिः); **चमु भक्षणे** (स्वादिः)]।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**साम्न्युष्णिक्** ॥

तां दे॒वः स॑वि॒ताधो॑क्ता॒मू॒र्जामे॒वाधो॑क् ॥ ३ ॥

अर्थ—(ताम्) उस विराट्-गौ को (देवः) द्युतिसम्पन्न (सविता) सूर्य ने (अधोक्) दोहा, (ताम्) उससे (ऊर्जाम्) बल और प्राणदायक अन्न को (एव) ही उस ने (अधोक्) दोहा।

[मन्त्र (२) में इन्द्र अर्थात् विद्युत् को विराट्-गौ का वत्स अर्थात् बछड़ा कहा है। बछड़े के बिना गौ दूध नहीं देती और दोहने वाला ग्वाला है सविता, द्युतिसम्पन्न सूर्य। सविता की प्रखर रश्मियों के द्वारा मेघ का निर्माण होता है, और मेघीय-विद्युत् के ताड़न द्वारा मेघ के जल बरसता है, और वर्षा द्वारा ऊर्क् अर्थात् अन्न पैदा होता है, यह है ऊर्जा का दोहन। इस प्रकार इन्द्र और सविता के द्वारा ऊर्जा का दोहन

मन्त्र में दर्शाया है]।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**आर्च्यनुष्टुप्** ॥

तामूर्जां देवा उप जीवन्त्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ ४ ॥

अर्थ—(ताम्, ऊर्जाम् उप) उस ऊर्जा के आश्रय (देवाः) देव (जीवन्ति) जीवित होते हैं (यः) जो (एवम्) इस प्रकार इस तथ्य को (वेद) जानता है, वह भी (उपजीवनीयः) आश्रितों के जीवनों का साधक (भवति) हो जाता है।

[देवाः=प्राकृतिक देव। उप=उपाश्रित्य। प्राकृतिक देव=वायु, विद्युत्, वृक्ष, वनस्पति आदि, ये भी देव हैं। आधिदैविक देवों के स्वरूपपरिज्ञान के लिए देखो (यजुः० १४.२०)]।

वैश्यप्रकृतिक राज्य (आधिभौतिकार्थ)

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**चतुष्पदा साम्नी जगती** ॥

सोदक्रामत्सा देवानागच्छत्तां देवा उपाह्वयन्तोर्ज एहीति ॥ १ ॥

अर्थ—(सा) वह विराट् (उदक्रामत्) उत्क्रान्त हुई, (सा) वह (देवान्) व्यवहारकुशल अर्थात् व्यापारी-वैश्यों को (आगच्छत्) प्राप्त हुई, (ताम्) उस को (देवाः) व्यापारी-वैश्यों ने (उप अह्वयन्त) अपने समीप बुलाया कि (ऊर्जे) हे बल और प्राण देने वाले अन्नरूपिणी! (एहि) आ; (इति) इस प्रकार।

[देवाः=**दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहार.......**(दिवादिः)। मन्त्र में वाणिज्यव्यवहार अभिप्रेत है। ऊर्जा=**ऊर्क् अन्ननाम** (निघं० २.७) ऊर्क्+टाप् (टापं चैव हलन्तानाम्)]।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**साम्न्युष्णिक्** ॥

तस्या इन्द्रो वत्स आसीच्चमसः पात्रम् ॥ २ ॥

अर्थ—(तस्याः) उस विराट्रूपी गौ का (वत्सः) बछड़ा (आसीत्) था (इन्द्रः) वाणिज्य-प्रवृत्ति वाला राजा, (चमसः) और मेघ था (पात्रम्) रक्षा पालन का साधन।

[इन्द्रः=यद्यपि इन्द्र का अर्थ है ऐश्वर्य वाला राजा। परन्तु मन्त्र में वैश्यप्रवृत्ति वाला राजा अभिप्रेत है। क्योंकि मन्त्र (१) में "ऊर्जा" पद द्वारा विराट् का आह्वान किया है। तथा "**इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि**" (अथर्व० ३.१५.१) में इन्द्र को वणिक् कहा भी है। "**चमसः मेघनाम**" (निघं० १.१०)। चमसः=**चमु अदने** (भ्वादिः); मेघ अन्नोत्पादन द्वारा सहायक है, अतः उसे "चमस" कहा है। इस प्रकार "मेघ" रक्षा तथा पालन का साधन है। पात्रम्=**पा (रक्षणे)**+त्रम् **(त्रैङ् पालने)**]।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**साम्न्युष्णिक्** ॥

तां देवः सविताधोक्तामूर्जामेवाधोक् ॥ ३ ॥

अर्थ—(ताम्) उस विराट्रूपी गौ को, (सविता) प्रेरक (देवः) तथा व्यवहारप्रवृत्ति वाले राजा ने (अधोक्) दोहा, (ताम्) उस से (ऊर्जाम् एव) अन्न को ही (अधोक्) दोहा।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**आर्च्यनुष्टुप्** ॥

तामूर्जां देवा उप जीवन्त्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ ४ ॥

अर्थ—देवाः=व्यापारी वैश्य (ताम्, ऊर्जाम्) उस अन्न के (उप) आश्रय (जीवन्ति) जीवित होते

है, (यः) जो (एवम्) इस प्रकार [इस तथ्य को] (वेद) जानता है, वह (उपजीवनीयः) अन्यों के जीवनों का आश्रय (भवति) हो जाता है।

[ऊर्जाम्, उप, जीवन्ति=ऊर्जाम् उपाश्रित्य, जीवन्ति]।

गन्धर्वाप्सरस राज्य (आधिदैविकार्थ[1])

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः**॥ देवता—**विराट्**॥ छन्दः—**चतुष्पदा प्राजापत्या जगती**॥

सोदक्रामत्सा गन्धर्वाप्सरस आगच्छत्तां गन्धर्वाप्सरस उपाह्वयन्त पुण्यगन्ध एहीति॥ ५॥

अर्थ—(सा) वह विराट्-गौ (उदक्रामत्) उत्क्रान्त हुई, (सा) वह (गन्धर्वाप्सरसः) गन्धर्वों और अप्सराओं को (आगच्छत्) प्राप्त हुई, (ताम्) उस को (गन्धर्वाप्सरसः) गन्धर्वों और अप्सराओं ने (उप अह्वयन्त) अपने समीप बुलाया कि (पुण्यगन्धे) हे पवित्रगन्धवाली! (एहि) तू आ (इति) इस प्रकार।

[मन्त्र १-४ तक की भावनाओं को, मन्त्र ५-८ की भावनाओं में, भिन्न शब्दों में पुनरावृत्त किया है। गन्धर्व और अप्सराएँ निम्नलिखित हैं। यथा "**अग्निः, गन्धर्वः, ओषधयोऽप्सरसः**"; **सूर्यो गन्धर्वः, मरीचयोऽप्सरसः, चन्द्रमा गन्धर्वः, नक्षत्राण्यप्सरसः, वातो गन्धर्वः, आपः अप्सरसः; यज्ञः गन्धर्वः, दक्षिणा अप्सरसः**। (यजुः० १८.३८-४२)। मन्त्र ५-८ तक में पुनः "आपः" द्वारा "मेघ" का वर्णन हुआ है। तथा यजुर्वेद से जिन मन्त्रों के अंशों को उद्धृत किया है वे सब भी मेघ के उत्पादक हैं। अग्नि [यज्ञियाग्नि और वृक्ष आदि मेघोत्पादन में सहायक हैं। सूर्य और मरीचियां, चन्द्रमा और नक्षत्र, वायु और आपः, तथा यज्ञ, ये सब भी मेघोत्पादन में सहायक हैं। इस भावना को ६-८ मन्त्रों में दर्शाया है]। यथा-

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः**॥ देवता—**विराट्**॥ छन्दः—**साम्नी बृहती त्रिष्टुप्**॥

तस्याश्चित्ररथः सौर्यवर्चसो वत्स आसीत्पुष्करपर्णं पात्रम्॥ ६॥

अर्थ—(सौर्यवर्चसः) सूर्य की दीप्ति से उत्पन्न (चित्ररथः) चित्र-विचित्र और रमणीय गति करने वाला मेघ (तस्याः) उस विराट्-गौ का (वत्सः) बछड़ा (आसीत्) था, और (पुष्करपर्णम्) कमलपत्र (पात्रम्) रक्षा और पालन का साधन था।

[चित्ररथः=मेघ। वर्षाऋतु में मेघ नानाकृतियों में दृष्टिगोचर होता, और मेघीय विद्युत्, तथा इन्द्रधनुष द्वारा चित्रित होता है। यह नानाविध गतियों में अन्तरिक्ष में विचरता है। रथः "**रंहतेर्गतिकर्मणः**" (निरुक्त ९.२.११) तथा अन्तरिक्षीय इन्द्र [विद्युत्] इस मेघ-रथ में स्थित हुआ और चमकता हुआ अन्तरिक्ष के पक्षों में गति करता है। रथः "**रममाणोऽस्मिंस्तिष्ठतीति वा**" (निरुक्त ९.२.११)।

सौर्यवर्चसः=मेघ, सूर्य के वर्चस् अर्थात् दीप्ति से उत्पन्न होता है। सूर्य की दीप्ति है, सूर्य की रश्मियां। यद्यपि मेघ की उत्पत्ति में अन्य भी कारण हैं, अग्नि आदि (मन्त्र ५), परन्तु मेघ की उत्पत्ति के मुख्य कारण हैं, सूर्य और उसकी रश्मियाँ। इसलिए चित्ररथ अर्थात् मेघ की उत्पत्ति में सूर्य और रश्मियों को विशेषरूप से कारण कहा है।

पुण्यगन्धे (मन्त्र ५)। विराट् व्यवस्था रूप है, जिस व्यवस्था के अनुसार पुष्कर अर्थात् कमल

---

१. **देवो दानाद्वा, द्योतनाद्वा, द्युस्थानो भवतीति वा** (निरुक्त)। "देवः" द्वारा द्योतन अर्थ अभिप्रेत है। तथा द्युस्थानवासी भी।

उत्पन्न होते और विकसित होते हैं। इन पुष्करों के पराग आदि से जो सुगन्ध आती है उसे पुण्यगन्धा कहा है। यह सुगन्ध है, दुर्गन्ध नहीं। अतः इसे पुण्य अर्थात् पवित्र कहा है। विराट्-व्यवस्था को मन्त्रों में गौरूप में भी दर्शाया है, क्योंकि इस से दोहा भी जाता है यथा "अधोक्"। चित्ररथ अर्थात् मेघ बछड़ा बन कर विराट्-गौ से जल का दोहन करता है, जिस से वर्षा होती, और "पुष्करपर्ण" आदि पैदा होते हैं। पर्ण का अभिप्राय है पुष्कर की पंखुड़ियाँ। एकवचन जात्येकवचन है। इस द्वारा पुष्करों का विकसितरूप दर्शाया है। ये विकसित-पुष्कर भ्रमरों, मधुकरों के पात्र हैं, रक्षक-और-पालक हैं। इन के साथ सूर्य का भी वर्णन हुआ है, सूर्य के होते ही पुष्कर विकसित होते हैं, और सूर्यास्त पर मुकुलित हो जाते हैं। इस प्रकार इन मन्त्रों में नानागूढ अर्थ विद्यमान हैं]।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**विराड् गायत्री** ॥

तां वसुरुचिः सौर्यवर्चसोऽधोक्तां पुण्यमेव गन्धमधोक् ॥ ७ ॥

अर्थ—(ताम्) उस विराट्-गौ को (सौर्यवर्चसः) सूर्य की दीप्ति से उत्पन्न, (वसुरुचिः) वसुओं के उत्पादन में रुचिवाले मेघ ने, (अधोक्) दोहा (ताम्) उस से (पुण्यम् एव गन्धम्) पवित्रतारूपी गन्ध को ही (अधोक्) दोहा।

[मन्त्र (६) का चित्ररथः, और मन्त्र (७) का वसुरुचिः मेघ ही है। मेघ जलप्रदान द्वारा वस्तुओं के मल को धोकर उन्हें पवित्र करता है। मेघ अचेतन है, उसमें "रुचि" सम्भव नहीं क्योंकि रुचि चेतन का धर्म है। तो भी कविसम्प्रदायानुसार अचेतन में भी चेतनधर्मों का आरोप हुआ करता है। निरुक्त में भी कहा है कि "**अचेतनान्यप्येवं स्तूयन्ते, यथा अक्षप्रभृतीन्योषधिपर्यन्तानि**" (निरुक्त ७.२.७)]।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**आर्ची त्रिष्टुप्** ॥

तं पुण्यं गन्धं गन्धर्वाप्सरस उप जीवन्ति

पुण्यगन्धिरुपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ ८ ॥

अर्थ—(तं पुण्यं गन्धम्) उस पुण्यगन्ध के आश्रय (गन्धर्वाप्सरसः) गन्धर्वाप्सरस (उपजीवन्ति) जीवित होते हैं, वह (पुण्यगन्धिः) पुण्यगन्ध वाला भी (उपजीवनीयः) अन्यों के लिए जीवन का आश्रय (भवति) हो जाता है, (यः) जो कि (एवम्) इस प्रकार (वेद) इस तथ्य को जानता है।

तथा

गन्धर्वाप्सरस राज्य (आधिभौतिकार्थ)

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**चतुष्पदा प्राजापत्या जगती** ॥

सोदक्रामत्सा गन्धर्वाप्सरस आगच्छत्तां गन्धर्वाप्सरस

उपाह्वयन्त पुण्यगन्ध एहीति ॥ ५ ॥

अर्थ—(सा) वह विराट् (उदक्रामत्) उत्क्रान्त हुई, (सा) वह (गन्धर्वाप्सरसः) गन्धर्वों और अप्सराओं को (आगच्छत्) प्राप्त हुई, (ताम्) उस को (गन्धर्वाप्सरसः) गन्धर्वों और अप्सराओं ने (उप अह्वयन्त) अपने समीप बुलाया कि (पुण्यगन्धे) हे पुण्यकर्मों की गन्ध वाली (एहि) आ; (इति) इस प्रकार।

[गन्धर्वाः=गौः (पृथिवी)+धर्वाः (धारण करने वाले पार्थिव अर्थात् राजा लोग। **गौः पृथिवीनाम**

(निघं० १.१)+धृञ् (धारणे)। **अप्सरसः="अप्सराः" अप्सारिणी। अप्सु सारिणी। आपोऽन्तरिक्षनाम** (निघं० १.३)। अर्थात् [सामुद्रिक] जलों में तथा अन्तरिक्ष में सरण करनी वाली सेनाएँ। यतः गन्धर्वाः हैं राजानः, अतः तत्सम्बन्धी अप्सरसः हैं सेनाएँ। पुण्यगन्धे=पुण्यकर्मों के सुगन्ध वाली विराट्-व्यवस्था, अर्थात् ऐसी व्यवस्थित राज्य जिस में पुण्यकर्मों की सुगन्ध का प्रसार हो। यथा—"**यथा वृक्षस्य सम्पुष्पितस्य दूराद् गन्धो वाति, एवं पुण्यस्य कर्मणो दूराद् गन्धो वाति**" (तैत्तिरीय आरण्यक १०.९)। इस भावना को सूचित करने के लिए मन्त्र (६) में "पुष्करपर्णम्" पद पठित हुआ है। "पुष्करपर्णम्" का अभिप्राय है "पुष्कर की पंखुड़ियां"। विकसित पुष्कर अर्थात् कमल पर भ्रमर अर्थात् मधुकर मंडराते हैं, पुष्कर की सुगन्ध से आकृष्ट होकर]।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**साम्नी बृहती त्रिष्टुप्** ॥

तस्याश्चित्ररथः सौर्यवर्चसो वत्स आसीत्पुष्करपर्णं पात्रम् ॥ ६ ॥

अर्थ—(तस्याः) उस विराट्-व्यवस्थारूपी गौ का (वत्सः) बछड़ा (आसीत्) था (सौर्यवर्चसः) सूर्यसदृशवर्चस्वी (चित्ररथः) चित्रित अर्थात् शस्त्रास्त्रों द्वारा सुसज्जित रथों वाला सैन्यवर्ग। (पुष्करपर्णम्) विकसित पंखुड़ियों वाला कमल था (पात्रम्) रक्षा और पालन का साधन।

[चित्ररथः[1]=चित्राः रथाः यस्य सः; सैन्यवर्गः। अर्थात् जिस सैन्यवर्ग के रथ शस्त्रास्त्रों तथा पुष्पमालाओं आदि द्वारा सुसज्जित हैं। इस सैन्यवर्ग को विराट्-व्यवस्थारूपी गौ का वत्स कहा है तथा इस चित्ररथ की रक्षा और पालन [पात्रम्] का साधन था विकसित कमल। अभिप्राय यह कि यह राज्य और सैन्यवर्ग है तो शस्त्रास्त्रों द्वारा सुसज्जित, ताकि कोई अन्य राष्ट्र इस पर आक्रमण करने का दुःसाहस न कर सके परन्तु यह "गन्धर्वाप्सरस" राज्य है विकसित-कमलों आदि प्राकृतिक-विभूतियों को चाहने वाला, यह प्राकृतिक विभूतियों को निज रक्षक तथा पालक समझता है]।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**विराड् गायत्री** ॥

तां वसुरुचिः सौर्यवर्चसोऽधोक्तां पुण्यमेव गन्धमधोक् ॥ ७ ॥

अर्थ—(सौर्यवर्चसः) सूर्य सदृश तेजस्वी (वसुरुचिः) धन-सम्पत् में रुचि वाले वैश्यवर्ग ने (ताम्) उस विराट्-व्यवस्था को (अधोक्) दोहा, (ताम्) उस से (पुण्यम्) पुण्यकर्मरूपी (गन्धम्) सुगन्ध को (एव) ही (अधोक्) दोहा।

[वसुरुचिः=वसुओं के उपार्जन में रुचिवाला वैश्यवर्ग। यह भी गन्धर्वों और अप्सराओं के राज्य में उपार्जित धन-सम्पत् को, राष्ट्र की वृद्धि निमित्त समर्पित करता रहता है, इस प्रकार पुण्यकर्मों की सुगन्ध को राष्ट्र में प्रसारित करता रहता है]।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**आर्ची त्रिष्टुप्** ॥

तं पुण्यं गन्धं गन्धर्वाप्सरस उप जीवन्ति
पुण्यगन्धिरुपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ ८ ॥

---

१. चित्ररथ अर्थात् सैन्यवर्ग था बछड़ा और वसुरुचि अर्थात् वसु में रुचि वाला वैश्य या दोग्धा। बछड़े की सहायता द्वारा दोग्धा दूध दोह सकता है। अभिप्राय यह कि सैन्यवर्ग द्वारा राज्य में शान्ति का वातावरण होने पर ही वैश्य, व्यापार द्वारा, विराट्-व्यवस्था से धन-सम्पत् दोह सकता है।

अर्थ—(तम्) उस (पुण्यम्) पुण्यकर्मों की (गन्धम्) सुगन्ध के (उप) आश्रय (गन्धर्वाप्सरसः) गन्धर्व और अप्सराएँ (जीवन्ति) जीवित रहती हैं, (यः) जो (एवम्) इस प्रकार के तथ्य को (वेद) जानता है, वह भी (पुण्यगन्धिः) पुण्यकर्मों की सुगन्धवाला और (उपजीवनीयः) अन्यों के जीवनों का आश्रय (भवति) हो जाता है।

(इतरजन राज्य)

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**चतुष्पदोष्णिक्** ॥

सोदक्रामत्सेतरजनानागच्छत्तामितरजना उपाह्वयन्त तिरोध एहीति ॥ ९ ॥

अर्थ—(सा) वह विराट्-व्यवस्था (उदक्रामत्) उत्क्रान्त हुई (सा) वह (इतर-जनान्) गन्धर्वाप्सराओं से भिन्न जनों को (आगच्छत्) प्राप्त हुई, (ताम्) उस को (इतरजनाः) इतरजनों ने (उप) अपने समीप (अह्वयन्त) बुलाया कि (तिरोधे) हे अन्तर्धानरूपिणी! या कुटिलता का धारण-पोषण करने वाली! (एहि) आ, (इति) इस प्रकार।

[इस विराट्-व्यवस्था को इतरजन व्यवस्था कहा है। इतरजन का अर्थ है भिन्न प्रकार के जन। इस से पूर्व गन्धर्वों और अप्सराओं का आधिभौतिक वर्णन हुआ है। इतरजन उनसे भिन्न प्रकार के हैं। जैसी राज्यव्यवस्था गन्धर्वों और अप्सराओं की है, उससे भिन्न प्रकार की राज्य-व्यवस्था इतरजनों की है। पूर्वकथित राज्य-व्यवस्था तो पुण्यकर्मों की है, परन्तु इतरजनों की राज्यव्यवस्था पापकर्मों की है (मन्त्र १२)।

तिरोधे!=इतरजनों की विराट्-व्यवस्था 'तिरोधा' रूप है। 'तिरोधा' का अर्थ है तिरोधान अर्थात् गुप्तरूप से कार्य करना। पापकर्म गुप्तरूप में ही किये जाते हैं (मन्त्र १२), तथा तिरोधा का अर्थ यह भी है कि कुटिलता का धारण-पोषण करने वाली व्यवस्था। यह भी पापमयी व्यवस्था है, जिसे कि "इतरजन" अपनाते हैं। तिरः (कुटिलता, टेढ़ापन+धा (धारण-पोषण)]।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**साम्नी बृहती** ॥

तस्याः कुबेरो वैश्रवणो वत्स आसीदामपात्रं पात्रम् ॥ १० ॥

अर्थ—(तस्याः) उस [इतरजन विराट्-व्यवस्था] का (वत्सः) बछड़ा या पुत्र (आसीत्) था (वैश्रवणः) श्रवण-मनन से विहीनवंश में उत्पन्न (कुबेरः) तथा निज कर्मों का आच्छादक अर्थात् उन पर पर्दा डालने वाला [इतरजनों का] राजा। (आमपात्रम्) तथा उन की अपरिपक्वनीति के रक्षा-पालन के साधन थे (पात्रम्) उनके रक्षक-पालक। कुबेरः=कुबि (आच्छादने)+रः (वाला) (भ्वादिः चुरादिः)।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**विराड् गायत्री** ॥

तां रजतनाभिः काबेरकोऽधोक्तां तिरोधामेवाधोक् ॥ ११ ॥

अर्थ—(ताम्) उस [इतरजनव्यवस्थारूपी विराट्-गौ को, (रजतनाभिः) मानो नाभिनाल[१] द्वारा प्राप्त रजतादि सम्पत्ति वाले (काबेरकः=कावेरकः[१]) और कुत्सित वीरता वाले कुबेर ने (अधोक्) दोहा (ताम्) उस विराट् से (तिरोधाम्) तिरोधान अर्थात् गुप्तरूप से कार्य करना तथा कुटिलता को (एव) ही

१-२. "कावेरकः" K^2, तथा BP^2 पाण्डुलिपियों के पाठ। कावेरकः, यथा "कापुरुषः"। तथा "रजतनाभिः" द्वारा यह सूचित किया है कि नाभिनाल द्वारा निजमाता के साथ सम्बन्ध होने से, पुत्र के नाते, पुत्र निज माता की रजतादि सम्पत्ति का उत्तराधिकारी हो जाता है।

(अधोक्) उस ने दोहा।

[कावेरकः=का+वीर् (**शूर वीर विक्रान्तौ**; चुरादिः)+अच्+कः। कुत्सितवीर या कावीरः यथा "कापुरुष"। रजतनाभिः=माता से जन्मलाभ करते ही जो प्रभूत रजत आदि का स्वामी बन गया है वह। "इतरजन" राज्य में कुबेर था बछड़ा, और रजतनाभि कुत्सितवीर था दोग्धा। इसे कुत्सितवीर इस लिए कहा है कि इसकी वीरता, तिरोधान को तथा कुटिल कर्मों को ही दोहरूप में प्राप्त करती है]।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**त्रिपदा ब्राह्मी भुरिग् गायत्री** ॥

तां तिरोधामितरजना उप जीवन्ति तिरो धत्ते सर्वं
पाप्मानमुपजीवनीयो भवति य एवं वेद॥ १२॥

अर्थ—(ताम्) उस विराट्-व्यवस्था को, (तिरोधाम्) तिरोधारूप में अर्थात् [पापकर्मों को] छिपाने रूप में (उप) आश्रय मान कर (इतरजनाः) इतरजन (जीवन्ति) जीवित रहते हैं, (यः) जो (एवम्) इस प्रकार के तथ्य को (वेद) जानता है वह (सर्वं पाप्मानम्) सब पापों को (तिरोधत्ते) छिपाता रहता है, और [अन्य-पापियों के लिये] (उपजीवनीयः) जीवनों का आश्रय (भवति) हो जाता है।

(सर्पराज्य)

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**चतुष्पदा साम्नी जगती** ॥

सोदक्रामत्सा सर्पानागच्छत्तां सर्पा उपाह्वयन्त विषवत्येहीति॥ १३॥

अर्थ—(सा) वह विराट्-व्यवस्था (उदक्रामत्) उत्क्रान्त हुई (सा) वह (सर्पान्) सर्पों को (आगच्छत्) प्राप्त हुई, (ताम्) उस को (सर्पाः) सर्पों ने (उप) अपने पास (अह्वयन्त) बुलाया कि (विषवति) हे विषवाली! (एहि) आ (इति) इस प्रकार।

[सर्प द्वारा सांप-कृमि अभिप्रेत नहीं, अपितु वे मनुष्य अभिप्रेत हैं जो कि सर्प सदृश पर-छिद्रों में प्रवेश कर उन की हत्या के लिए, विष प्रयोग करते हैं। उन की राज्य-व्यवस्था विषप्रयोगाश्रित होती है।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**साम्नी बृहती** ॥

तस्यास्तक्षको वैशालेयो वत्स आसीदलाबुपात्रं पात्रम्॥ १४॥

अर्थ—(तस्याः) उस विराट्-व्यवस्था का (वत्सः) बछड़ा (आसीत्) था (वैशालेयः) विशालकाय वाला (तक्षकः) तक्षक अर्थात् तक्षा के सदृश काटने वाला, सांपस्वभाव वाला, राजा। (अलाबुपात्रम्) और रक्षा-पालन का साधन तूम्बा था (पात्रम्) उस का रक्षक-पालक। पात्रम्-**पा (रक्षणे)+त्रैङ् (पालने)**।

[तक्षकः=तक्षम् (तक्षणम्) करोतीति। "**तक्षू तनूकरणे**" (भ्वादिः), जो कि काष्ठों को काट कर, उन्हें सूक्ष्म कर, वस्तुनिर्माण करता है, अर्थात् तर्खान्, बढ़ई। तत्सदृश काटने वाला व्यक्ति भी है, तक्षक सर्प। अलाबु है तूम्बा, परन्तु कड़वा तुम्बा, अर्थात् कड़वे तूम्बे के सदृश कटुविष वाला सांप। ऐसे सांपों के सहारे सर्पप्रकृतिक लोग जीवनचर्या करते हैं, ऐसे सर्प ही उन के जीवनों के रक्षक और पालक होते हैं]।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**साम्न्यनुष्टुप्** ॥

तां धृतराष्ट्र ऐरावतोऽधोक्तां विषमेवाधोक्॥ १५॥

अर्थ—(ताम्) उस विराट्-व्यवस्था रूपी गौ को (ऐरावतः) द्रवविषरूपी जलवाले, तथा (धृतराष्ट्रः)

सांपप्रकृतिकों के राष्ट्र को धारण करने वाले व्यक्ति ने (अधोक्) दोहा, (ताम्) उस से (विषम् एव) विष को ही (अधोक्) उसने दोहा, दोहरूप में प्राप्त किया।

[ऐरावतः="इरा" (जल, अर्थात् द्रवविष)+मतुप्+अण्, अर्थात् द्रवविष का प्रयोक्ता, धृतराष्ट्र। मन्त्र में "राष्ट्र" शब्द का प्रयोग हुआ है। इस से ज्ञात होता है कि यह सर्पराज्य मानुषराज्य है कृमि-राज्य नहीं। नागपुर, नागालैण्ड पदों में "नाग" पद का अर्थ है, नाग जाति के मनुष्य न कि सांप।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**आर्च्यनुष्टुप्** ॥

तद्विषं सुर्पा उप जीवन्त्युपजीवुनीयो भवति य एवं वेद ॥ १६ ॥

अर्थ—(तत्) उस (विषम्, उप) विष के आश्रय (सर्पाः) सर्पप्रकृति वाले मनुष्य (जीवन्ति) जीवित रहते हैं (यः) जो (एवम्) इस प्रकार इस तथ्य को (वेद) जानता है, वह (उपजीवनीयः) अन्यों के अर्थात् अन्य विष प्रयोक्ताओं के जीवनों का आश्रय (भवति) हो जाता है।

विषय-प्रवेश : पर्याय ६

विष के प्रयोक्ता को प्रतीकाररूप में मार डालना चाहिए, इस में मनुष्यहत्या न समझनी चाहिए। अपितु यह समझना चाहिए कि इस के हनन द्वारा अन्यों को विषप्रयोग से मैंने बचा दिया है।

सूक्त १०, पर्याय ६

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**द्विपदा विराट् गायत्री** ॥

तद्यस्मा एवं विदुषेलाबुनाभिषिञ्चेत्प्रत्याहन्यात् ॥ १ ॥

अर्थ—(तत्) तो (एवम्, विदुषे, यस्मै) इस प्रकार [विषविद्या] के जानने वाले जिस विद्वान् के [हन्तुम्] हनन के लिए उसे [विषप्रयोक्ता] (अलाबुना) कटु तूम्बे सदृश कटु[१] अर्थात् विषैले जल द्वारा (अभिषिञ्चेत्) अभिषिक्त करे, उसे स्नान कराए [उस विषप्रयोक्ता को] (प्रति) प्रतिफल रूप में (आहन्यात्[२]) पूर्णतया मार डाले।

[अलाबुना=अथवा "अलम्+अम्बुना, जलने। समाप्त कर देने वाले विषैले जल द्वारा।]

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**द्विपदा साम्नी त्रिष्टुप्** ॥

न च प्रत्याहुन्यान्मनसा त्वा प्रत्याहुन्मीति प्रत्याहन्यात् ॥ २ ॥

अर्थ—(न च) अथवा न (प्रति) प्रतिफलरूप में (आहन्यात्) मारे, परन्तु (मनसा) मन द्वारा मनन करके (त्वा) हे विषप्रयोक्ता! तुझे (प्रति) प्रतिफलरूप में (आहन्मि) मैं मार डालता हूँ, (इति) इस प्रकार संकल्प करके (प्रति) प्रतिफलरूप में (आहन्यात्) मार डाले।

[विषप्रयोक्ता है मनुष्य, न कि सर्प-कृमि। विषप्रयोक्ता मनुष्य को मारे या न मारे यह सन्देहास्पद है। निर्णय यह है कि विषप्रयोक्ता को मार ही डाले, ताकि वह निर्भय होकर अन्यों पर भी विषप्रयोग न करता रहे।

---

१. कटुविष का अभिप्राय है परिणाम में कटु अर्थात् घातक, न कि आस्वाद में कटु। (क) यस्मै अभिषिञ्चेत्=यं हन्तुमभिषिञ्चेत्, तुमर्थे चतुर्थी।

२. मनु के अनुसार "शरद" अर्थात् विषदाता आततायी है और मनु ने कहा है कि "आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्"।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**द्विपदा प्राजापत्यानुष्टुप्** ॥

यत्प्रत्याहन्ति विषमेव तत्प्रत्याहन्ति ॥ ३ ॥

अर्थ—(यत्) जो कि (प्रति आहन्ति) प्रतिफलरूप में मार डालता है (तत्) वह मानो (विषम्) विष को (एव) ही (प्रति आहन्ति) प्रतिफलरूप में मारता है।

[अभिप्राय यह कि विषप्रयोक्ता को मारना विष को मारनामात्र है, न कि विषप्रयोक्ता को यह समझ कर उसे मार डाले। उसे मारने से समझना चाहिए कि विष को सदा के लिए मार दिया। जब विषप्रयोक्ता न रहा तो विष और विष का प्रयोग भी न रहा]।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**द्विपदाऽऽर्च्यनुष्टुप्** ॥

विषमेवास्याप्रियं भ्रातृव्यमनुविषिच्यते य एवं वेद ॥ ४ ॥

अर्थ—(यः) जो (एवम्) इस प्रकार [इस तथ्य को] (वेद) जानता है (अस्य) इस ज्ञाता के (अप्रियम्) अप्रिय (भ्रातृव्यम् अनु) तथा शत्रु को (एव) ही (विषम्) विष (विषिच्यते) विशेषतया सींचा जाता है।

[एवं वेद=मन्त्र (३) में कथित समाधान को जो जान लेता है, वह उसे भी विष देने में शङ्कित नहीं होता, जो कि अधार्मिक शत्रु हो जाने पर प्रियरूप नहीं रहता, अतः उस पर विष के प्रयोग करने में भी वह सकुचाता नहीं।]

पञ्चम अनुवाक समाप्त ॥

अष्टम काण्ड का भाष्य सम्पूर्ण हुआ ॥

भूमिका नवम-दशम काण्ड

(१) काण्ड ९ और १० में दस-दस सूक्त हैं। प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ में "विषय-प्रवेश" नाम से २० सूक्तों के विषयों की संक्षिप्त सूचियाँ दे दी हैं, जिनसे सूक्त के विषय का परिचय प्राप्त हो जाता है।

(२) काण्ड ९ के सूक्तों के विषय का संक्षिप्त परिचय। यथा—

(सूक्त १) में मधुकशा का वर्णन। (सूक्त २) में "काम" द्वारा काम्य परमेश्वर का वर्णन। (सूक्त ३) में आदर्श-शाला के निर्माण तथा दान का वर्णन। (सूक्त ४) में "ऋषभः" पद द्वारा परमेश्वर और वृषभ का वर्णन। (सूक्त ५) में "अजः" पद द्वारा मुमुक्ष आत्मा का, पुनर्भू स्त्री के पुनर्विवाह का, तथा विशिष्ट नामों द्वारा ऋतुओं का वर्णन। (सूक्त ६) के ६ पर्यायों में अतिथि यज्ञ का विस्तृत विवर्णन, तथा अग्निष्टोम, अतिरात्र, सत्त्रसद्य, तथा द्वादशाह के स्वरूपों पर प्रकाश। (सूक्त ७) में विश्व अर्थात् ब्रह्माण्ड की गोरूपता का वर्णन। (सूक्त ८) में शिरोरोगों, अङ्गों के टूटने, अङ्ग-ज्वर, विसल्पक, यक्ष्मा आदि नानाविध रोगों का वर्णन। (सूक्त ९) में "अस्य वामीय" नामक रहस्यात्मक सूक्त विषयों का वर्णन। इसी प्रकार (सूक्त १०) भी रहस्यात्मक है।

(३) काण्ड १० के सूक्तों के विषयों का संक्षिप्त परिचय। यथा—

(सूक्त १) में कृत्याओं अर्थात् हिंस्र प्रयोगों, विस्फोटकों, विषकन्या तथा विविध शस्त्रास्त्रों का वर्णन। (सूक्त २) में मनुष्य के भिन्न-भिन्न अङ्गों, उसकी प्रिय-अप्रिय स्थितियों, रक्त, मृत्यु आदि, मूर्धा और हृदय अथर्वा, ब्रह्मपुरी, अष्टचक्रा नवद्वारा अयोध्यापुरी, हिरण्यय कोश आदि का वर्णन है। (सूक्त ३) में वरुण-मणि के वचन और तद् द्वारा अनिष्ट निवारण आदि का वर्णन है। (सूक्त ४) में सर्प विषनाश, नाना प्रकार के सर्पों आदि का वर्णन है। (सूक्त ५) में इन्द्र द्वारा सम्राट् और उसकी प्रजाओं, त्रैहायन अनृत भाषण के परित्याग का व्रत, रिप्र और दुष्वप्न्यमल का परित्याग, विष्णु क्रमों, सपत्नों पर विजय, सप्त ऋषियों, ब्रह्म और ब्राह्मणों की ओर अभ्यावर्तन आदि का वर्णन हुआ है। (सूक्त ६) में खदिरमणि, अतिथिमणि, बृहस्पति का खदिरमणि को बान्धना, धाता का मणि को बान्धना आदि का वर्णन हुआ है। (सूक्त ७) में स्कम्भ के अङ्गों का, स्कम्भ-परमेश्वर के स्वरूप का, ३३ देवताओं, प्रथमज ऋषियों तथा उन द्वारा आविर्भूत वेदों का परमेष्ठी, प्रजापति तथा स्कम्भ के स्वरूप के संवेदन का, अङ्ग पुराण शब्दों द्वारा प्रकृति का, ज्येष्ठ ब्रह्म के विराट-स्वरूप का, तथा महद् यज्ञ आदि नाना विध विषयों का वर्णन हुआ है। (सूक्त ८) में तिस्रः प्रजा, ६ यज्ञों, तिर्यग् बिलचमस, हरेर्हसस्य, दो अरणियों, अविर्देवता, सूत्रस्य सूत्रम्, पुण्डरीक नवद्वार आदि का वर्णन हुआ है। (सूक्त ९) में शतौदना द्वारा सैकड़ों प्रकार के अन्नों की प्रदात्री पारमेश्वरी माता, स्वर्ग, त्रिदिवं दिवः, शमितारः पक्तारः, गौ के नाना अङ्गों, गौ द्वारा प्राप्य मधु, दो पुरोडाशों, तथा ब्राह्मभोज का वर्णन हुआ है। (सूक्त १०) में "वशा" का वर्णन। वशा का अभिप्राय है "जगत् को वश में रखने वाली पारमेश्वरी माता"। वशा के दोग्धारः और गोप्तारः सैकड़ों हैं; वशा समुद्र में अधिष्ठित हुई है; वशा ऋचाओं और साम को धारण करती हुई समुद्र में नाची है; वशा से चित्त को उत्पत्ति; वशा के स्तनों से रश्मियाँ पैदा हुईं; वशा अमृत है, मृत्यु है; वशा वरुण

की जिह्वा है; वशा की उपासना, वशा में ऋत, ब्रह्म, तप अर्पित है; वशा सर्वरूप है; इत्यादि विविध विषय।

(४) दो चित्र दिये हैं। एक है द्युलोक के तारा मण्डलों का, जिसके आधार पर अथर्व० ९.२.२२ के भृङ्गा, जत्वः, कुरुरवः, तथा वधावृक्षसर्प्यः के स्वरूप प्रदर्शित किये हैं। ''वृक्षसर्प्यः'' को पूर्वा फल्गुनी तथा उत्तरा फल्गुनी नामक दो वृक्षाकृतियों के तारामण्डल रूप में दर्शाया है।

शेष एक चित्र है हृदय का, जिस द्वारा ''समुद्रो यस्य नाड्यः पुरुषेऽधि समाहिता'' (अथर्व० १०.७.१५), तथा **''यस्य चतस्रः प्रदिशो नाड्यस्तिष्ठन्ति प्रथमाः''** (अथर्व० १०.७.१६) में कथित मुख्य चार नाड़ियाँ प्रदर्शित की गई हैं। दोनों चित्र यथास्थान चिपका दिये हैं।

नवम काण्ड

अनुवाक १

सूक्त १

विशेष-प्रवेश

(१) मन्त्र १-२४; देवता मधुकशा। मधुकशा के तीन अर्थ—(१) मधुर चाबुक रूप पारमेश्वरी माता, (२) मेघोदकस्थ विद्युत्, (३) मधुर वाक् वेदवाणी। इन तीनों अर्थों की व्याख्या मन्त्र १ के आरम्भ में की गई है।

(२) सूक्त में प्राधान्येन "मधुकशा" द्वारा पारमेश्वरी माता का वर्णन हुआ है। मन्त्र १-७; तथा २०-२४ में क्रम से पारमेश्वरी माता का तथा प्रजापतिरूप में भी उसी का वर्णन हुआ है। इस प्रकार उपक्रम तथा उपसंहार में पारमेश्वरी माता का वर्णन होने से सूक्त का अभिप्राय पारमेश्वरी माता परक ही है।

(३) मन्त्र ८ और ९ में मेघीय विद्युत् का; मन्त्र १० में विद्युत् और प्रजापति [पारमेश्वरी माता] का मिश्रित वर्णन हुआ है। तद्विदे=वर्षा की विद्या जानने वाले के लिए, उसको काम्यादि वस्तुओं की मानो वर्षा करा देते हैं (९)।

(४) मन्त्र ११-१३ ये ब्रह्मचर्य के प्रसङ्ग में वेदवाणी का वर्णन प्रतीत होता है।

(५) मन्त्र १४-१९ में "मधुकशा" के मधुपद की व्याख्या में मधु [शहद] का वर्णन करते हुए "वर्चस्" की प्राप्ति की प्रार्थना हुई है।

(६) मन्त्र २० में वर्षा के अधिष्ठाता रूप में प्रजापति का वर्णन हुआ है।

(७) मन्त्र २१ में प्रजापति को पृथिवी आदि का उपजीव्य अर्थात् आश्रय कहा है।

(८) मन्त्र २२-२३ में ७ मधुओं का वर्णन राष्ट्रिय दृष्टि से हुआ है।

(९) मन्त्र १४ में मेघगर्जन द्वारा प्रजापति की अभिव्यक्ति दर्शा कर "प्राचीनोपवीतः" द्वारा शुभकर्मों में यज्ञोपवीत धारण करने का वर्णन हुआ है।

अथ विंशः प्रपाठकः

सूक्त १ (मधुकशा)

वैतानसूत्र (१६.१२) में सूक्त १ को मधुसूक्त कहा है। सूक्त १ में "मधुकशा" का भी वर्णन है। "मधुकशा" के निम्नलिखित अर्थ हैं, (२) मधुर (मीठी)+कशा (चाबुक), तथा "**अश्वाजनीं कशेत्याहुः। कशा प्रकाशयति भयमश्वाय**" (निरु० ९.२.१९, पद १५)। (२) मधु (उदक),+कशा (चाबुक)=मेघीय विद्युत्। **मधु उदकनाम** (निघं० १.१२)। (३) मधु (मीठी)+कशा वाक्=मधुमयी वेदवाणी। **कशा वाङ्नाम** (निघं० १.११)।

मन्त्रों में मुख्यरूप से "मधुकशा" द्वारा "पारमेश्वरी माता" का वर्णन हुआ है। इसकी कशा अर्थात्

चाबुक है "कर्मफलव्यवस्था"। यह व्यवस्था मीठी है, मधु है, तत्काल कठोर दण्डप्रदा नहीं, अपितु इस व्यवस्था में संस्काररूप में दण्ड का संचय होता रहता है, और परिपक्व होकर उग्रावस्था में अभिव्यक्त होता है।

पारमेश्वरी माता नानाविध भोग्य पदार्थों के प्रदान द्वारा जीवनों को मधुर बनाए रखती है। जैसे कि मानुषी माता बच्चे का लालन करती हुई मधुरूप होती है, और ताड़ना करती हुई चाबुक रूप होती है, अर्थात् मीठी चाबुक रूप। क्योंकि वह हृदय से प्रेम वाली होती हुई ही ताड़ना करती है। मन्त्रों में विद्युत् तथा वेदवाणी का वर्णन भी लक्षित होता है। व्याख्या में इन अर्थों की भी यथोचित योजना मुख्यार्थ में की गई है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मधु, अश्विनौ**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

दिवस्पृथिव्या अन्तरिक्षात्समुद्रादग्नेर्वातान्मधुकशा हि जज्ञे।

तां चायित्वामृतं वसानां हृद्भिः प्रजाः प्रति नन्दन्ति सर्वाः॥ १॥

अर्थ—(दिवः पृथिव्याः) द्युलोक से, पृथिवी से, (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष से, (समुद्रात्) समुद्र से, (अग्नेः) अग्नि से, (वातात्) वायु से (हि) वस्तुतः (मधुकशा) मीठी-चाबुक रूपी पारमेश्वरी माता (जज्ञे) प्रादुर्भूत होती है। (अमृतम् वसानाम्) अमृतत्व की ओढ़नी ओढ़े हुई, या अमृत जीवात्मा में बसी हुई (ताम्) उसका (चायित्वा) दर्शन करके (सर्वाः प्रजाः) सभी प्रजाएँ (हृद्भिः) हृदयों द्वारा (प्रतिनन्दन्ति) प्रसन्न होती हैं।

[हृद्भिः=अथवा "हृद्भिः चायित्वा"=हृदयों द्वारा दर्शन करके, प्रत्यक्ष करके। द्युलोक आदि पारमेश्वरी माता से पैदा हुए हैं। इन कार्यों द्वारा कर्त्ता का परिज्ञान होता है, परन्तु उसका दर्शन तो हृदयरूपी आँखों द्वारा ही होता है। चायित्वा=**चायृ पूजानिशामनयोः** (भ्वादिः)। निशामनम्=seeing sight beholding (आप्टे)]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मधु, अश्विनौ**॥ छन्दः—**त्रिष्टुब्गर्भा पङ्क्तिः**॥

महत्पयो विश्वरूपमस्याः समुद्रस्य त्वोत रेत आहुः।

यत ऐति मधुकशा रराणा तत्प्राणस्तदमृतं निविष्टम्॥ २॥

अर्थ—(अस्याः) इस पारमेश्वरी माता मधुकशा का (पयः) दूध है (महत् विश्वरूपम्) रूपवान् महाविश्व। (उत) तथा हे पारमेश्वरी माता! (त्वा) तुझे (समुद्रस्य) समुद्र का (रेतः) वीर्य (आहुः) कहते हैं (यतः) जिस समुद्र से कि (रराणा) आनन्द रस देती हुई (मधुकशा) मीठी चाबुक पारमेश्वरी माता (ऐति) आती है, प्रकट होती है। (तत्) वह समुद्र (प्राणः) प्राणरूप है, (तत्) उस समुद्र में (अमृतम्) अमृत ब्रह्म (निविष्टम्) स्थित है।

[महाब्रह्माण्ड को पयः कहा है। पयः के कारण मधुकशा माता प्रतीत होती है, वह है पारमेश्वरी माता। सब प्राणी महाब्रह्माण्डरूपी पयः का सेवन कर रहे हैं। समुद्र द्वारा अध्यात्म समुद्र का वर्णन हुआ है। प्राकृतिक समुद्र का वर्णन मन्त्र १ में हुआ है। यजुर्वेद १७.९३ में "हृदय-समुद्र" द्वारा हृदय को समुद्र कहा है। यथा "**एता अर्षन्ति हृदयात्समुद्रात्**", अर्थात् ये वेदवाणियाँ हृदय-समुद्र से लहरों के समान उठ रही हैं। इसी प्रकार अथर्व० १०.२.११ में "**सिन्धुसृत्याय**" द्वारा हृदय को सिन्धु कहा है जिसमें कि रक्त

रूपी "आपः" का निवास है। पारमेश्वरी माता को हृदय-समुद्र का रेतस् अर्थात् वीर्य कहा है। पुत्र पैदा होता है पिता के रेतस् से। रेतस् ही पुत्ररूप[१] हो जाता है। इसी प्रकार पारमेश्वरी माता हृदय-समुद्र का रेतस् रूप है, हृदय-समुद्र से पैदा होती है, प्रकट होती है, इसी हृदय=समुद्र से वह आती है (ऐति), और आ कर उपासक को आनन्द रस प्रदान करती है (रराणा=रा (दाने)+कानच्)। हृदय रक्त-का-समुद्र है, अतः जीवन में प्राणरूप है, इसी में अमृत ब्रह्म स्थित हैं (अथर्व० १०.२.३०-३३)]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मधु, अश्विनौ**॥ छन्दः—**पराऽनुष्टुप्**॥

पश्यन्त्यस्याश्चरितं पृथिव्यां पृथङ्नरो बहुधा मीमांसमानाः।
अग्नेर्वातान्मधुकशा हि जज्ञे मरुतामुग्रा नप्तिः॥ ३॥

अर्थ—(बहुधा मीमांसमानाः) बहुत प्रकार से मनन करते हुए (नरः) मनुष्य (पृथक्) पृथक्-पृथक् प्रकार से (पृथिव्याम्) पृथिवी में (अस्याः) इस पारमेश्वरी माता के (चरितम्) गतिविधियों को (पश्यन्ति) देखते हैं। (मधुकशा) पारमेश्वरी माता (हि) निश्चय से (अग्नेः, वातात्) अग्नि से और वायु से (जज्ञे) प्रादुर्भूत होती है। यह (मरुताम् उग्रा नप्तिः) मरुतों की उग्रा नप्ति पौत्री या दौहित्री के सदृश है। नप्तिः=नप्त्री।

[पृथिव्याम् से सम्बन्ध से पार्थिव अग्नि तथा पृथिवी के वायु मण्डल का वर्णन हुआ है। "मरुताम्" द्वारा मानसून वायु अभिप्रेत है। यथा "अथर्व० ४.२७.४,५" में मरुतः का अर्थ है मानसून वायु। इस वायु का पुत्र है मेघ, और मेघ की पुत्री है उग्रा-विद्युत्। पारमेश्वरी माता विद्युत् के सदृश प्रकाशमयी है, तथा कर्मव्यवस्था में उग्रा है]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मधु, अश्विनौ**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

मातादित्यानां दुहिता वसूनां प्राणः प्रजानाममृतस्य नाभिः।
हिरण्यवर्णा मधुकशा घृताची महान्भर्गश्चरति मर्त्येषु॥ ४॥

अर्थ—(आदित्यानां माता) आदित्य ब्रह्मचारियों के लिए मातृरूपा, (वसूनाम्) वसु ब्रह्मचारियों के लिए (दुहिता) दुहितारूपा, (प्रजानां प्राणः) प्रजाओं के लिए प्राणरूपा, (अमृतस्य) अमृत हुए जीवात्मा के लिए (नाभिः) नाभि सदृश पोषिका, (हिरण्यवर्णा) हितकर तथा रमणीय रूप वाली या हिरण्य सदृश चमकीली, (घृताची) दीप्ति से अञ्चिता, (मधुकशा) मीठी-चाबुक रूपी पारमेश्वरी माता (मर्त्येषु) मनुष्यों में (महान् भर्गः) महाभर्ग रूप हुई (चरति) विचरती है।

आदित्य ब्रह्मचारी तो ब्रह्मचर्य विषयक कामनाओं को पूर्ण कर चुके हैं, अतः उनके लिए पारमेश्वरी माता मातृवत् केवल स्नेहकारिणी होती है। वसु ब्रह्मचारियों की ब्रह्मचर्य विषयक कामनाओं की पूर्ति के लिए वह "दुहिता" रूपा है। **दुहिता="दोग्धि कार्याणि प्रपूरयतीति दुहिता"** (उणा० २.९७, म० दयानन्द)। जैसे दुहिता स्नेहवश माता-पिता की कामनाओं को, सेवा द्वारा, पूरित करती है, वैसे पारमेश्वरी माता वसुओं की कामनाओं को पूरित करती है। वह मुक्त हुए जीवात्मा की पोषिका है, जैसे नाभिनाल द्वारा माता गर्भस्थ शिशु का पोषण करती है। घृताची=**घृ दीप्तौ**+अच्। भर्गः—पापों का भर्जन करने वाली। यथा "**भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्**" (यजुः० ३.३५; २२.९; ३०.२)। आदित्यानाम् माता=आदित्यानामर्थे माता, इत्यादि]

१. **आत्मा वै पुत्र नामासि। त्वं जीव शरदः शतम्॥**

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मधु, अश्विनौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

मधोः कशामजनयन्त देवास्तस्या गर्भो अभवद्विश्वरूपः।

तं जातं तरुणं पिपर्ति माता स जातो विश्वा भुवना वि चष्टे॥ ५॥

अर्थ—(मधोः कशाम्) मीठी-चाबुकरूपी पारमेश्वरी माता को (देवाः) देवकोटि के अभ्यासी (अजनयन्त) प्रकट करते हैं। (विश्वरूपः) विश्व को रूप देने वाला सूर्य (तस्याः गर्भः) उस पारमेश्वरी माता के गर्भ में (अभवत्) होता है। (तरुणम्) तरुणरूप में (जातम्, तम्) पैदा हुए उस सूर्य को (माता) पारमेश्वरी-माता (पिपर्त्ति) पालित करती है। (सः) वह सूर्य (जातः) पैदा होकर (विश्वा भुवना) सब भुवनों को (विचष्टे) देखता है।

[मधोः कशाम्=मधुकशाम्, विकल्पे षष्ठी "**शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः**" (योग १.९)]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मधु, अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अतिशक्वरीगर्भा यवमध्या महाबृहती** ॥

कस्तं प्र वेद क उ तं चिकेत यो अस्या हृदः कलशः सोमधानो अक्षितः।

ब्रह्मा सुमेधाः सो अस्मिन्मदेत॥ ६॥

अर्थ—(कः) कौन (तम् प्रवेद) उसे ठीक तरह से जानता है, (कः उ) और कौन (तम् चिकेत) उसे विवेक पूर्वक जानता है (यः) जो कि (अस्याः) इस पारमेश्वरी माता का (हृदः कलशः) हृदयरूपी कलश है, जिसमें कि (सोमधानः) सोम निहित है, (अक्षितः) और जो कि क्षीण नहीं होता। (सः) वह (सुमेधाः) उत्तम-मेधा वाला (ब्रह्मा) चारों वेदों का ज्ञाता (अस्मिन्) इस हृदय-कलश में (मदेत) मोद पाता है।

[पारमेश्वरी माता का निवास स्थान है, मानुष-हृदय। यह हृदय कलश है। इस कलश में सोम अर्थात् वीर्य निहित हैं। हृदयस्थ-रक्त सोम की निधि रूप है, जबकि यह सोम क्षीण न किया जाता हो। जैसे दूध विलोड़ने पर उसमें लीन मक्खन प्रकट होता है, वैसे कामवासना द्वारा रक्त से वीर्य (सोम) प्रकट होता है। कामवासना द्वारा न क्षीण किया गया सोम रक्त में निधि रूप में रहता हैं। "सुमेधाः चतुर्वेदवेत्ता" इस हृदय कलशस्थ सोम में मोद को प्राप्त करता है, और सोम को कामवासना द्वारा क्षीण नहीं होने देता। चारों वेदों का विद्वान् यदि आचार हीन है तो वह सुमेधाः नहीं, अपितु दुर्मेधाः है। दुर्मेधाः हृदयकलस्थ सोम में मोद प्राप्ति नहीं कर पाता, क्योंकि वह विचारों और आचार में पवित्र नहीं होता। "**आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः**"। वैदिक विद्वान् अर्थात् ब्रह्मा होते हुए भी आचारहीन होने से वह अपवित्र है।]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मधु, अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अतिजगतीगर्भा यवमध्या महाबृहती** ॥

स तौ प्र वेद स उ तौ चिकेत यावस्याः स्तनौ सहस्रधारावक्षितौ।

ऊर्जं दुहाते अनपस्फुरन्तौ॥ ७॥

अर्थ—(सः) वह सुमेधाः ब्रह्मा (तौ) इन दो को (प्रवेद) ठीक तरह से जानता है, (स उ) वह ही (तौ) उन दो को (चिकेत) विवेकपूर्वक जानता है (यौ अस्याः स्तनौ) जो दो स्तन इस पारमेश्वरी माता के हैं, जो कि (सहस्रधारौ) हजारों का धारण-पोषण करते, (आक्षितौ) और क्षीण नहीं होते, और जो (अनपस्फुरन्तौ) विना रुकावट (ऊर्जम्) बलकारी तथा प्राणप्रद अन्नरूपी दुग्ध (दुहाते) प्रदान करते हैं।

[स्तनौ=ये दो स्तन हैं संसाररूपी तथा मोक्षरूपी दो स्तन। संसाररूपी स्तन तो भोगियों के भोगरूप

हैं, जिनमें कि संसारी मस्त रहते हैं, और मोक्षरूपी स्तन मुक्तात्माओं को आनन्दरसरूपी दुग्ध पिलाते हैं। कहा है "**भोगापवर्गार्थं दृश्यम्**" (योग २.१८)। भोग है सांसारिक भोगियों के लिए, और अपवर्ग हैं मुक्तात्माओं के लिए। ऊर्जम्=**ऊर्ज बलप्राणनयोः** (चुरादिः), **ऊर्क् अन्ननाम** (निघं० २.७)। भोग और अपवर्ग विश्वरूप है, और यह पारमेश्वरी माता का पयः है, दुग्ध है (मन्त्र २)]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मधु, अश्विनौ** ॥ छन्दः—**बृहतीगर्भा संस्तारपङ्क्तिः** ॥

हिङ्करिक्रती बृहती वयोधा उच्चैर्घोषाभ्येति या व्रतम्।

त्रीन्घर्मानभि वावशाना मिमाति मायुं पयते पयोभिः ॥ ८ ॥

अर्थ—(हिङ्करिक्रती) बार-बार गति करती हुई, (बृहती) बड़ी शक्तिरूपा, (वयोधाः) अन्न का पोषण करने वाली, (उच्चैर्घोषा) ऊंची आवाज वाली (या) जो विद्युत् (व्रतम्) निज कर्म को (अभ्येति) प्राप्त करती है, वह (त्रीन्) तीन (घर्मान्) दीप्तियों को (वावशाना) कान्तियुक्त करती हुई, (मायुम्) शब्द का (मिमाति) निर्माण करती है, और (पयोभिः) जलों के साथ (पयते) गति करती है।

[हिम्=हि [**हि गतौ वृद्धौ च,** स्वादिः]+क्विप्, द्वितीयैकवचन। करिक्रती=विद्युत् मेघ में बार-बार चमकती हुई बार-बार गति करती है। वयोधाः=वर्षा द्वारा अन्न का पोषण करती है "**वयः अन्ननाम**" (निघं० २.७)। **व्रतम् कर्मनाम** (निघं० २.१), वर्षा करना विद्युत् का कर्म है। धर्मान्=पार्थिव-अग्नि, सूर्य, और द्युलोक की दीप्तियाँ—ये तीन दीप्तियाँ विद्युत् के ही रूप हैं। पयोभिः=मेघीय जलों के साथ-साथ गति करती है, विद्युत्। पयते=**पय गतौ** (भ्वादिः)। जिधर-जिधर वायु द्वारा प्रेरित हुए मेघ जाते हैं, मेघारूढ विद्युत् भी उधर-उधर ही गति करती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मधु, अश्विनौ** ॥ छन्दः—**पराबृहती प्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

यामापीनामुपसीदन्त्यापः शाक्वरा वृषभा ये स्वराजः।

ते वर्षन्ति ते वर्षयन्ति तद्विदे काममूर्जमापः ॥ ९ ॥

अर्थ—(याम् आपीनाम्) जिस प्रवृद्ध हुई विद्युत् के (उप) समीप (आपः) जलमय मेघ (सीदन्ति) स्थित रहते हैं, (ये) जो जलमय मेघ (शाक्वराः) शक्तिशाली, (वृषभाः) वर्षा करने वाले, तथा (स्वराजः) स्वकीय विद्युत् द्वारा दीप्त होते हैं, चमकते हैं, (ते) वे मेघ (वर्षन्ति) वर्षा करते हैं, और (ते) वे (आपः) जलमय मेघ (तद्विदे[1]) मेघविद्या जानने वाले के लिए (कामम्) यथेष्ट (ऊर्जम्) अन्न (वर्षयन्ति) बरसाते हैं।

[आपीनाम्=आ+**ओप्यायी वृद्धौ** (भ्वादिः)+क्तः "**प्यायः पी**" (अष्टा० ६.१.२८) द्वारा "पी" आदेश। कामम्=वर्षयन्ति क्रिया का विशेषण। ऊर्जम्=**ऊर्क् अन्ननाम** (निघं० २.७)]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मधु, अश्विनौ** ॥ छन्दः—**पुरउष्णिक् पङ्क्तिः** ॥

स्तनयित्नुस्ते वाक्प्रजापते वृषा शुष्मं क्षिपसि भूम्यामधि।

अग्नेर्वातान्मधुकशा हि जज्ञे मरुतामुग्रा नप्तिः ॥ १० ॥

अर्थ—(प्रजापते) हे प्रजाओं के पति परमेश्वर! (स्तनयित्नुः) मेघगर्जन (ते) तेरी (वाक्) वाणी

१. मेघ यदि स्वयं नहीं बरसते, तो मेघविद्या जानने वाला मेघों को कृत्रिम विधि से बरसा लेता है। वह कृत्रिम विधि है" कारीरी यज्ञ। यथा "**वर्षाकामः कारीर्या यजेत्**"।

है, (वृषा) वर्षा करने वाला तू (भूम्याम् अधि) भूमि पर (शुष्मम्) बलशाली जल (क्षिपसि) फैंकता है। (अग्नेः वातात्) अग्नि से और वायु से (हि) वस्तुतः (मधुकशा) मीठी-चाबुक (जज्ञे) प्रादुर्भूत होती है, जोकि (मरुताम्) मानसून वायु की (उग्रा नप्तिः) उग्रा नाती है।

[प्रजापति द्वारा परमेश्वर का वर्णन हुआ है, जिसे कि पूर्व के मन्त्रों में पारमेश्वरी माता कहा है। इसे दर्शाने के लिए मन्त्र के उत्तरार्ध में मधुकशा का वर्णन हुआ है। उत्तरार्ध के लिए देखो मन्त्र (३)। मन्त्र ८, ९, १० में मधुकशा द्वारा विद्युत् का वर्णन मुख्यरूप में हुआ है। परन्तु इसी मन्त्र में प्रजापति के वर्णन द्वारा प्रजापति तथा विद्युत् का पारस्परिक सम्बन्ध भी द्योतित किया है। **शुष्मम् बलनाम** (निघं० २.९), अर्थात् प्रजापति ही मेघ और विद्युत् द्वारा वर्षा कराता है]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मधु, अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यथा सोमः प्रातःसवने अश्विनोर्भवति प्रियः।
एवा मे अश्विना वर्च आत्मनि ध्रियताम्॥ ११ ॥

अर्थ—(प्रातःसवने) प्रातःसवन में (यथा) जैसे (सोमः) सोम (अश्विनोः) दो अश्वियों को (प्रियः भवति) प्रिय होता है, (एवा) इसी प्रकार (अश्विना) हे दो अश्वियो! (मे आत्मनि) मेरी आत्मा में (वर्चः) वर्चस् (ध्रियताम्) स्थापित हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मधु, अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यथा सोमो द्वितीये सवन इन्द्राग्न्योर्भवति प्रियः।
एवा म इन्द्राग्नी वर्च आत्मनि ध्रियताम्॥ १२ ॥

अर्थ—(द्वितीये सवने) द्वितीय सवन में (यथा) जैसे (सोमः) सोम (इन्द्राग्न्योः) इन्द्र और अग्नि को (प्रियः भवति) प्रिय होता है (एवा) इसी प्रकार (इन्द्राग्नी) हे इन्द्र-और-अग्नि! (मे आत्मनि) मेरी आत्मा में (वर्चः) वर्चस् (ध्रियताम्) स्थापित हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मधु, अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यथा सोमस्तृतीये सवन ऋभूणां भवति प्रियः।
एवा म ऋभवो वर्च आत्मनि ध्रियताम्॥ १३ ॥

अर्थ—(तृतीये सवने) तृतीय सवन में (यथा) जैसे (सोमः) सोम (ऋभूणाम्) ऋभुओं को (प्रियः भवति) प्रिय होता है, (एवा) इसी प्रकार (ऋभवः) हे ऋभुओ! (मे आत्मनि) मेरी आत्मा में (वर्चः) वर्चस् (ध्रियताम्) स्थापित हो।

[मन्त्र ११, १२, १३ का विनियोग वेदारम्भ संस्कार के सम्बन्ध में हुआ है (कौशिक सूत्र १३९.१५)। तीनों मन्त्रों में "सोम" का वर्णन हुआ है। ब्रह्मचारी तीन प्रकार के होते हैं वसु, रुद्र, आदित्य। २४ वर्षों की आयु के होते हैं वसु[१], ४४ वर्षों की आयु के होते हैं रुद्र[१] और ४८ वर्षों की आयु के होते हैं आदित्य[१]। तीनों को सोम कहा है, जब तक वसु, रुद्र, और आदित्य ब्रह्मचर्याश्रम में रह कर आचार्यों

१. सत्यार्थप्रकाश तृतीय समुल्लास में, छान्दोग्योपनिषद् (३.१६.३) के प्रमाण के आधार पर, त्रिष्टुप् छन्द के अनुसार रुद्र ब्रह्मचारी को ४४ वर्षों का कहा है। त्रिष्टुप् छन्द के अक्षर ४४ होते हैं।

द्वारा शिक्षा प्राप्त करते हैं तब तक इन्हें "सौम्य प्रकृति" होकर शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए, इसीलिए इन्हें "सोम" कहा है। तथा देखो (११.५ सूक्त)।

"सोम" का अर्थ ब्रह्मचारी होता है। यथा "**बृहस्पतिः प्रायच्छद्वास एतत् सोमाय राज्ञे परिधातवा उ**" (अथर्व २.१३.२), अर्थात् बृहस्पति आचार्य ने यह वस्त्र दिया है सोमराजा के पहिनने के लिए। तथा "**यस्य ते वासः प्रथमवास्यं हरामः**" (अथर्व० २.१३.५) में सोम के "प्रथमवास्य वासः" का वर्णन है। "प्रथमवास्य" का अभिप्राय है ब्रह्मचर्याश्रम में प्रविष्ट होने के काल का वस्त्र। व्याख्याकारों ने इन तीन मन्त्रों में "सोम-ओषधि" का वर्णन माना है, जो कि अयुक्त है।

उपर्युक्त तीन मन्त्रों में "सवने" शब्द पठित है। याज्ञिक विधि से "सवन" का अर्थ किया जाता है "सोम-ओषधि को पीस कर उससे सोमरस निकालने का काल। यथा "**सूयते अभिषूयते सोमः अत्रेति सवनः कालः**" (सायण, अथर्व० ७.८१.२)। छान्दोग्य उपनिषद् ३.१६ में "**चतुर्विंशतिवर्षाणि तत् प्रातःसवनम्**"; **चतुश्चत्वारिंꣳशद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिनꣳ सवनम्** "**अष्टाचत्वारिंꣳशद्वर्षाणि तत् तृतीयसवनम्**"—द्वारा तीन प्रकार के ब्रह्मचारियों के त्रिविध ब्रह्मचर्यकालों को तीन सवन[1] कहा है। अतः व्याख्येय (मन्त्र ११-१३) ब्रह्मचर्य विषयक ही प्रतीत होते हैं। ब्रह्मचर्य काल में वेदाध्ययन किया जाता है। इस प्रकार "मधुकशा" का तीसरा अर्थ "मधुमयी वेदवाणी" भी सार्थक हो जाता है।

तीन मन्त्रों में "**अश्विनोर्भवति प्रियः**"; **इन्द्राग्न्योर्भवति प्रियः**"; तथा "**ऋभूणां भवति प्रियः**"—ऐसा उपक्रम करके, उपसंहार में "**एवा मे वर्च आत्मनि ध्रियताम्**" द्वारा "इसी प्रकार मेरी आत्मा में वर्चस् स्थापित हो,"—वर्चस् की प्राप्ति का वर्णन हुआ है। उपक्रम में सोम की प्रियता का तथा उपसंहार में वर्चस् का वर्णन परस्पर समन्वित प्रतीत नहीं होता। इसलिए उदाहरण के रूप में निम्न प्रकार अर्थ होना चाहिए। यथा "जैसे सोम अश्वियों को प्रिय होता है और इसलिए सोम में वर्चस् स्थापित होता है, इसी प्रकार मैं भी आश्वियों को प्रिय होऊं ताकि मेरी आत्मा में भी वर्चस् स्थापित हो"।

अश्विनोः, अश्विना—अश्विनौ सम्बन्धी सूक्तों के अध्येताओं और तद्वेत्ताओं को, जोकि इन सूक्तों के मर्मज्ञ हैं, उन्हें मन्त्र में "अश्विनौ" कहा प्रतीत होता है। जैसे कि यजुर्वेद की कठ शाखा और चरक शाखा के अध्येताओं और तद्वेत्ताओं को "कठाः" तथा "चरकाः" कहा जाता है।

इसी प्रकार सब वेदों के अध्येताओं को "सर्ववेद" कहते हैं। वर्तमान में भी—जिन्हें कि वेद कण्ठस्थ हैं "वेदमूर्तयः" कहा जाता है। वेदमूर्ति का अभिप्रायः वेद ही है। इस प्रकार के अश्विनों के शिष्य, इन अश्वियों के प्रिय बन जाते हैं। गुरु और शिष्य में यथोचित शिष्टाचार के रहते परस्पर प्रेमभाव का हो जाना स्वाभाविक ही है। गुरु द्वारा अश्विनौ सूक्तों के अध्ययन तथा तत्प्रतिपादित कर्त्तव्यों के पालन द्वारा "अश्विनौ" सम्बन्धी वर्चस् शिष्यों की आत्माओं में स्थापित हो जाता है। समीपस्थ गुरुकुलों में गृहस्थी भी समय-समय पर जाकर जब तत्सम्बन्धी सदुपदेशों के लिए प्रार्थनाएँ करते हैं तब उनकी

१. पुरुषो वाव यज्ञः तस्या यानि चतुर्विंꣳशति वर्षाणि तत् प्रातःसवनं, चतुर्विंꣳशत्यक्षरा गायत्री, गायत्रं प्रातःसवनम्, तदस्य वसवोऽन्वायत्ताः।
अथ यानि चतुश्चत्वारिंꣳशद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिनꣳ सवनं, चतुश्चत्वारिंꣳशदक्षरा त्रिष्टुप्, त्रैष्टुभं माध्यन्दिनꣳ सवनम्, तदस्य रुद्रा अन्वायत्ताः।
अथ यान्यष्टाचत्वारिंꣳशद्वर्षाणि तत् तृतीयं सवनमष्टाचत्वारिंꣳशदक्षरा जगती जागतं तृतीयसवनम्, तदस्यादित्या अन्वायत्ताः।

आत्माओं में तत्सम्बन्धी वर्चस् की स्थापना सम्भव ही है।

इसी प्रकार इन्द्र सम्बन्धी सूक्तों के वेत्ताओं को "इन्द्र", अग्नि सम्बन्धी सूक्तों के वेत्ताओं की "अग्नि", तथा ऋतु सम्बन्धी सूक्तों के वेत्ताओं को "ऋभवः" कहा जा सकता है। ऋभवः के सम्बन्ध में सायणाचार्य कहते हैं कि "**ऋभवो देवा ऋतेन सत्येन अवितथेन आत्मीयेन शिल्पकर्मणा चमसम्, सोमभक्षणपात्रं एकम् ऐरयन्त प्रैरयन्त**", तथा "**ते च मनुष्या एव सन्तो रथनिर्माणादिशिल्पकरणेन देवांस्तोषयित्वा तत्प्रसादेन देवत्वं प्राप्ताः**" (अथर्व० ६.४८.३)। इस कथनानुसार जैसे "ऋभु" मनुष्य हैं, वैसे "अश्विनौ" तथा "इन्द्राग्नी" को भी मनुष्य माना जा सकता है जो कि सोम (सौम्य स्वभाव वाले) नामक ब्रह्मचारियों के यथाक्रम आचार्य हैं। जैसे "ऋभवः" आचार्य, शिल्प विद्या में निपुण होकर, आदित्य ब्रह्मचारियों को शिल्प की शिक्षा देते हैं, वैसे रुद्र ब्रह्मचारियों को आचार्य वेदानुसार, इन्द्र (विद्युत्) और अग्नि सम्बन्धी व्यावहारिक तथा ज्ञानात्मक शिक्षा देते हैं—ऐसा अभिप्राय इन मन्त्रों का प्रतीत होता है। ऐसी शिल्पसम्बन्धी शिक्षा पाकर स्नातक, स्वतन्त्र धन्धे कर, निज आजीविका के लिए स्वावलम्बी हो सकते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मधु, अश्विनौ**॥ छन्दः—**पुरउष्णिक्**॥

मधु जनिषीय मधु वंशिषीय। पयस्वानग्न आगमं तं मा सं सृज वर्चसा॥ १४॥

अर्थ—(मधु जनिषीय) मधु को मैं [अपने जीवन में] पैदा करूँ, (मधु वंशिषीय) मधु की मैं याचना करूँ। (अग्ने) हे अग्नि विद्या के जानने वाले (मन्त्र १२) या ज्ञानाग्नि सम्पन्न आचार्य! (पयस्वान्) दूध लेकर (आगमम्) मैं आया हूँ, (तम् मा) उस मुझ को, (वर्चसा) माधुर्यरूपी वर्चस् के साथ (संसृज) संसर्ग कर।

[व्यक्ति निज जीवन में स्वयं भी मधुर होने का यत्न करे, और आचार्य से भी याचना करे कि वह इस सम्बन्ध में उसे मार्ग प्रदर्शन करे। जब आचार्य के पास जाये तो उसे दुग्ध भेंट करे। वंसिषीय=**वनु याचने** (तनादिः)। सूक्त में "मधुकशा" के मधु का वर्णन है, मधुकशा के माधुर्य के ज्ञापनार्थ "मधु" का वर्णन हुआ है। कशा (चाबुक, तथा वेदवाणी) परिणाम में मधुरूपा ही होती है]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मधु, अश्विनौ**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सं माग्ने वर्चसा सृज सं प्रजया समायुषा।
विद्युर्मे अस्य देवा इन्द्रो विद्यात्सह ऋषिभिः॥ १५॥

अर्थ—(अग्ने) हे अग्नि! [मन्त्र १४] (मा) मेरा (वर्चसा) वर्चस् के साथ (संसृज) संसर्ग कर, (सं प्रजया) प्रजा के साथ संसर्ग कर, (सम् आयुषा) और आयु के साथ संसर्ग कर! (देवाः) विद्वान् लोग, तथा (ऋषिभिः सह इन्द्रः[१]) ऋषियों के साथ इन्द्र (मे अस्य) इस मुझ की (विद्युः) प्रार्थना को जानें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मधु, अश्विनौ**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यथा मधु मधुकृतः संभरन्ति मधावधि।
एवा मे अश्विना वर्च आत्मनि ध्रियताम्॥ १६॥

---

१. इन्द्रः=सम्राट्। ऋषिभिः=ऋषिकोटि के मन्त्रियों सहित।

अर्थ—(यथा) जैसे (मधुकृतः) मधु एकत्रित करने वाले मधुकर अर्थात् भौंरे (मधु) मधु को (मधौ अधि) मधु में या मधुछत्ते में (सं भरन्ति) भरते रहते हैं, इकट्ठा करते रहते हैं, (एवा) इसी प्रकार (अश्विना) हे अश्वियो! (मे आत्मनि) मेरी आत्मा में (वर्चः) वर्चस् (ध्रियताम्) स्थापित हो।

[आश्विना=आश्विनौ (मन्त्र ११)]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मधु, अश्विनौ**॥ छन्दः—**उपरिष्टाद् विराड् बृहती**॥

यथा मक्षा इदं मधु न्यञ्जन्ति मधावधि।

एवा मे अश्विना वर्चस्तेजो बलमोजश्च ध्रियताम्॥ १७॥

अर्थ—(यथा) जैसे (मक्षाः) मधुमक्खियाँ (इदम् मधु) इस मधु को (मधौ अधि) मधु में या मधुछत्ते में (न्यञ्जन्ति) नितरां लेपती रहती हैं, (एवा) इसी प्रकार (अश्विना) हे अश्वियो! (मे) मुझ में (वर्चः, तेजः, बलम् ओजः च) वर्चस्, तेजस्, बल और ओजस् (ध्रियताम्) स्थापित हो।

[वर्चस्=आत्मिक तेजस्; तेजस्=शारीरिक तेजस्, बलम्=शारीरिक बल, ओजस्=पराक्रम शक्ति। न्यञ्जन्ति=नि+अञ्जन् (म्रक्षणे)]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मधु, अश्विनौ**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यद्गिरिषु पर्वतेषु गोष्वश्वेषु यन्मधु। सुरायां सिच्यमानायां यत्तत्र मधु तन्मयि॥ १८॥

अर्थ—(यत्) जो (गिरिषु) पर्वतों में, (पर्वतेषु) मेघों में, और (यत्) जो (गोषु, अश्वेषु) गौओं में और अश्वों में (मधु) मधु है। (सिच्यमानायाम् सुरायाम्) सींचे जाने वाले उदक में तथा (तत्र) उस खेत में [जिसमें कि जल सींचा जाता है] (यत्) जो (मधु) मधु है, (तत् मयि) उस प्रकार मधु, अर्थात् माधुर्य (मयि) मुझ में हो।

[पर्वतों में मधु है स्वच्छ तथा शीतल वायु। मेघों में मधु है स्वच्छ मधुर जल। गौओं में मधु है मधुर दूध। अश्वों में मधु है मधुर चाल। सींचे जाने वाले उदक में है अन्नोत्पादन की शक्ति। खेत में मधु है नानाविध उत्पन्न अन्न। इन नाना प्रकार के मधुओं के सदृश याचक अपने लिए मधु की याचना करता है। पर्वतेषु=**पर्वतः मेघनाम** (निघं० १.१०)। **सुरा उदकनाम** (निघं० १.१२)]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मधु, अश्विनौ**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अश्विना सारघेण मा मधुनाङ्क्तं शुभस्पती।

यथा वर्चस्वतीं वाचमावदानि जनाँ अनु॥ १९॥

अर्थ—(शुभस्पती) शुभकर्मों के स्वामी (अश्विना) हे अश्वियो! (सारघेण) मधुमक्षिका के (मधुना) मधु द्वारा (मा) मुझे (आङ्क्तम्) लीप दो, या कान्तियुक्त कर दो, (यथा) ताकि (जनान् अनु) प्रजाजनों को लक्ष्य करके (वर्चस्वतीम् वाचम्) वर्चस् वाली वाणी (आवदानि) सर्वत्र मैं बोला करूँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मधु, अश्विनौ**॥ छन्दः—**भुरिक् विष्टारपङ्क्तिः**॥

स्तनयित्नुस्ते वाक्प्रजापते वृषा शुष्मं क्षिपसि भूम्यां दिवि।

तां पशव उप जीवन्ति सर्वे तेनो सेषमूर्जं पिपर्ति॥ २०॥

अर्थ—(प्रजापते) हे प्रजाओं के रक्षक या स्वामी परमेश्वर! (स्तनयित्नुः) मेघगर्जना (ते) तेरी

(वाक्[१]) वाणी है, (वृषः) वर्षा करने वाला तू (शुष्मम्) बलप्रद उदक को (भूम्याम्) भूमि में (दिवि)[२] तथा द्युलोक में (क्षिपसि) फैंकता है। (ताम्) उस उदक वाली भूमि के (उप) आश्रय (सर्वे पशवः) सब पशु (जीवन्ति) जीवित हैं, (तेन उ) उस उदक द्वारा (सेषम्) अन्न सहित (ऊर्जम्) बल या प्राण (पिपर्ति) पालित होता है। [**ऊर्ज बलप्राणनयोः** (चुरादिः) **रषम्, अन्ननाम** (निघं० २.७)।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मधु, अश्विनौ**॥ छन्दः—**द्विपदाऽऽर्च्यनुष्टुप् (एकावसाना)**॥

पृथिवी दण्डो३ऽन्तरिक्षं गर्भो द्यौः कशा विद्युत्प्रकशो हिरण्ययो बिन्दुः॥ २१॥

अर्थ—(पृथिवी, दण्डः) पृथिवी और [कर्मानुसार] दण्ड व्यवस्था (अन्तरिक्षम्, गर्भः) अन्तरिक्ष और गर्भीभूत मेघ; (द्यौः, कशा) द्युलोक और उसका शासन में रहना; (विद्युत् प्रकशः) मेघीय विद्युत् और वेगवान् विद्युत्—वज्र; (हिरण्ययः, बिन्दुः) सुवर्णमय और बिन्दुवत् वर्तमान सूर्य [हे प्रजापति! तेरे आश्रय में जीवित से हो रहे हैं, सजीववत् वर्त रहे हैं, मन्त्र २०]।

[अभिप्राय यह है कि ब्रह्माण्ड और ब्रह्माण्ड के अङ्ग-प्रत्यङ्गों में आत्मरूप से व्याप्त होकर इन्हें प्रजापति सजीव सा कर रहा है। कशा=**कश गतिशासनयोः, इत्यन्ये** (अदादिः)। प्रकाशः=प्रकर्षेण शासनरूपः, विद्युत् प्रपातरूपवज्रः। विन्दुः=विन्दुवत् गोलाकार, तथा द्युलोक की व्याप्ति की दृष्टि से बिन्दुवत् अल्पकाय सूर्य। तभी सूर्य को नक्षत्र भी कहा है, (ऋग्वेद मण्डल १०)]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मधु, अश्विनौ**॥ छन्दः—**द्विपदा ब्राह्मी पुरउष्णिक्**॥

यो वै कशायाः सप्त मधूनि वेद मधुमान्भवति।
ब्राह्मणश्च राजा च धेनुश्चानड्वांश्च व्रीहिश्च यवश्च मधु सप्तमम्॥ २२॥

अर्थ—(यः) जो (वै) निश्चय से (कशायाः) प्रजापति की चाबुक के (सप्त मधूनि) सात मधुओं को (वेद) जानता है (मधुमान् भवति) वह मधुओं का स्वामी होता है। (ब्राह्मणः च राजा च) ब्राह्मण और राजा, (धेनुः अनड्वान् च) दूध देने वाली गौ और बैल, (व्रीहिः च यवः च) व्रीहि और यव, (मधु सप्तमम्) तथा सातवां मधु। मन्त्र में सप्तम "मधु" उपलक्षक है आहार योग्य पदार्थों का, जिन्हें कि "आहार्यम्" कहा है (२३)।

[मन्त्र में तीन-जोड़ों में ६ मधुओं का वर्णन कर सातवें को "मधु" कहा है। सातवां मधु है शहद तथा खाण्ड-शक्कर आदि जोकि स्वभावतः मधुर हैं। और आहार्य हैं (मन्त्र २३) तीन जोड़ों के ६ मधु परिणामतः मधु हैं, स्वभावतः नहीं। मन्त्र में "यः" द्वारा राष्ट्र के किसी मुख्याधिकारी का वर्णन हुआ है, सम्भवतः यह सम्राट् है जिसे कि "इन्द्र" कहा जाता है। इसके अधीन जो प्रादेशिक या माण्डलिक राजा होता है उसे "वरुण" कहा जाता है। यथा—

इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा (यजुः० ८.३७)।

---

१. तू ही मेघ में शक्ति प्रदान कर उसमें गर्जना प्रकट करता है, अतः मानो गर्जना तेरी ही वाणी रूप है।
२. वैदिक सिद्धान्तानुसार लोक-लोकान्तरों में भी प्राणी सृष्टि है (यजुः० ३१.१६)। तथा महर्षि दयानन्द के अनुसार "जिस जाति की जैसी सृष्टि इस देश [पृथिवी] में है, वैसी ही जाति की सृष्टि अन्य लोकों में भी है। जिस-जिस शरीर के प्रदेश में नेत्रादि अंग हैं उसी-उसी प्रदेश में लोकान्तर में भी उसी जाति के अवयव भी वैसे ही होते हैं" (सत्यार्थप्रकाश, अष्टम समुल्लास)। इनके जीवन के लिए भी उदक चाहिए। इसलिए मन्त्र में "दिवि" द्वारा वर्षा को सूचित किया है।

प्रत्येक माण्डलिक राज्य में ७ मधु चाहिए। (१) ब्राह्मण अर्थात् विद्वान्, निःस्पृह, तथा परोपकारी प्रधानमन्त्री। (२) राजा, जो कि सद्‌गुणों द्वारा प्रजाओं में दीप्यमान हो [राजृ दीप्तौ] (३) दूध देने वाली गौएँ। (४) कृषि तथा भारवाहक अनड्वान्। (५) व्रीहि [धान]। (६) यव [जौ]। (७) मधु शहद आदि। इन सात पदार्थों के आधार पर राष्ट्र की सत्ता होती है। इसलिए ये सात राष्ट्र के लिए मधु कहे हैं। ये सात "कशा" के सात मधु हैं। "कशा" का अर्थ है "चाबुक"[१] जो कि दण्डरूप होने से राष्ट्र की व्यवस्था को बनाए रखती है। परन्तु इस कशा का प्रयोग "मधु" रूप होना चाहिए, स्नेह और प्रेमभरा होना चाहिए। इस सूक्त का देवता है "मधुकशा। इसी का वर्णन, राष्ट्र दृष्टि से, "कशा" और मधु शब्दों द्वारा मन्त्र में हुआ है]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मधु, अश्विनौ**॥ छन्दः—**द्विपदाऽऽर्ची पङ्क्तिः**॥

मधुमान्भवति मधुमदस्याहार्यं भवति। मधुमतो लोकाञ्जयति य एवं वेद॥ २३॥

अर्थ—(यः) जो [मुख्याधिकारी] (एवम्) इस प्रकार [राष्ट्रशासन के तत्त्वों को] (वेद) जानता है वह (मधुमान् भवति) इन मधुओं का स्वामी हो जाता है। (अस्य) इसके [राष्ट्र का] (आहार्यम्) खान-पान (मधुमत् भवति) मधुवाला हो जाता है। वह मुख्याधिकारी (मधुमतः लोकान्) इन मधुओं से सम्पन्न हुए माण्डलिक राष्ट्रों पर (जयति) विजय पा लेता है।

[मन्त्र में इन्द्र सम्राट्], और वरुण [माण्डलिक राजाओं] के साम्राज्य और माण्डलिक राष्ट्रों का वर्णन हुआ है]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मधु, अश्विनौ**॥ छन्दः—**षट्पदाऽष्टिः**॥

यद्वीध्रे स्तनयति प्रजापतिरेव तत्प्रजाभ्यः प्रादुर्भवति।
तस्मात्प्राचीनोपवीतस्तिष्ठे प्रजापतेनु मा बुध्यस्वेति।
अन्वेनं प्रजा अनु प्रजापतिर्बुध्यते य एवं वेद॥ २४॥

अर्थ—(वीध्रे) अन्तरिक्ष में (यद्) जोकि (स्तनयति) मेघ गर्जता है (तत्) वह (प्रजापतिः एव) प्रजापति ही (प्रजाभ्यः) प्रजाओं के लिए (प्रादुर्भवति) प्रादुर्भूत अर्थात् प्रकट होता है। (तस्मात्) इसलिए [उस समय] (प्राचीनोपवीतः) यज्ञोपवीत को दाहिने कन्धे पर रखकर बाई भुजा के नीचे लटका कर (तिष्ठे) मैं स्थित होता है और प्रार्थना करता हूँ कि (प्रजापते) हे प्रजापति (मा) मेरा (अनुबुध्यस्व इति) अनुचिन्तन कर, मेरा ख्याल कर। (यः एवं वेद) जो इस विधि को जानता है (प्रजाः) प्रजाएँ (एनम्) इसका (अनु) अनुचिन्तन करती हैं, इसका ख्याल करती हैं, (प्रजापतिः) प्रजापति भी (अनुबुध्यते) इसका अनुचिन्तन करता है, ख्याल करता है।

[वीध्रे=अन्तरिक्षे; वि+**इन्धी दीप्तौ** (रुधादिः); अन्तरिक्ष जिसमें मेघीय विद्युत् विशेषरूप में चमकती है। मन्त्र २ में भी कहा है कि "स्तनयित्नुस्ते वाक् प्रजापते"। यही भावना मन्त्र २४ में प्रकट की गई

१. मनुस्मृति में दण्ड की चाबुकता का वर्णन इस प्रकार हुआ है। यथा "**यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति पापहा। प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत् साधु पश्यति**" मनु०॥ अर्थात् "जहाँ कृष्ण वर्ण रक्तनेत्र भयंकर पुरुष के समान पापों का नाश करने वाला दण्ड विचरता है वहाँ प्रजा मोह को प्राप्त न होके आनन्दित होती है। परन्तु जो दण्ड का चलाने वाला पक्षपात रहित विद्वान् हो तो" (सत्यार्थप्रकाश, षष्ठ समुल्लास)।

है। यदि परमेश्वर की सत्ता मेघ में न हो तो न तो मेघ की ही सत्ता होगी, और न उसके गर्जन की ही। प्रत्येक प्राकृतिक घटना में प्रजापति की सत्ता अनुस्यूत जाननी चाहिए—यह सत्य सिद्धान्त मन्त्र द्वारा प्रकट किया है। ''प्रत्येक शुभकर्म में व्यक्ति को प्राचीनोपवीति होना चाहिए, इस विधि को भी मन्त्र में सूचित किया है। ''**नमो हरिकेशायोपवीतिने**'' (यजुः० १६.१७) में भी ''उपवीतिने'' द्वारा यज्ञोपवीत का वर्णन हुआ है। ''हरिकेशाय'' का अर्थ है ''मनोहारी केशों वाले के लिए'' नमः हो। सूक्त की समाप्ति में भी प्रजापति द्वारा परमेश्वर का वर्णन हुआ है। अतः सूक्त में ''मधुकशा'' द्वारा परमेश्वर का ही वर्णन समझना चाहिए, विद्युत् का और वेदवाणी का वर्णन गौणरूप में]।

सूक्त २

विषय-प्रवेश

१. मन्त्र १-२५; देवता ''काम''। काम है 'कमनीय[1] परमेश्वर' इसी का वर्णन मुख्यरूप से मन्त्रों में हुआ है। कविता की दृष्टि से काम द्वारा परमेश्वरीय कामना का या स्वीय प्रबल कामना का भी वर्णन मन्त्रों में समझा जा सकता है।

२. काम द्वारा सपत्नों के निराकरण का वर्णन हुआ है। ये सपत्न न राष्ट्रिय हैं, न परराष्ट्रिय, अपितु ये अध्यात्मरूप हैं, काम, क्रोध, लोभ आदि (मन्त्र २, ३, ५)।

३. मन्त्र ५ में वेदवाणी द्वारा सपत्नों के निराकरण का, तथा मन्त्र १६ में सपत्नों के प्रहारों से बचने के लिए ब्रह्म को कवच कहा है। इस प्रकार मन्त्रवर्णित सपत्न अध्यात्म ही प्रतीत होते हैं।

४. मन्त्र ४, ९, १० में सपत्नों का निवास स्थान तमोगुण कहा है, और इस निवास स्थान के दहन करने का कथन हुआ है।

५. मन्त्र १७, १८ में देवासुरसंग्राम का वर्णन हुआ है।

६. ६, ८ में अग्निहोत्र द्वारा, तथा मन्त्र १५ में उदित होते हुए आदित्य द्वारा सपत्नों के निराकरण का वर्णन हुआ है। ये सपत्न रोग-कीटाणु हैं।

७. मन्त्र १४ में राष्ट्रद्रोही सेनापति के दृष्टान्त द्वारा, अध्यात्म-सपत्नों को धकेलने का वर्णन हुआ है।

८. मन्त्र २२ का अभिप्राय अस्पष्ट है, परन्तु ज्योतिष की दृष्टि से मन्त्र की सम्भाव्य व्याख्या की गई है।

९. मन्त्र २५ में पारमेश्वरी कामना का और मानुषी सात्त्विक या आध्यात्मिक कामना का मिश्रित वर्णन हुआ है।

१०. मन्त्रों में ''विश्वहा'' के दो अर्थ प्रतीत होते हैं, (१) सर्वदा, (२) विश्व (सपत्न) हन्ता, अर्थात् विश्व+अहः और विश्व+हन्।

११. मन्त्र २३, २४ में परमेश्वर की व्यापकता का निर्देश हुआ है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**कामः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सपत्नहनमृषभं घृतेन कामं शिक्षामि हविषाज्येन।
नीचैः सपत्नान्मम पादय त्वमभिष्टुतो महता वीर्येण॥ १॥

---

१. **सर्वान् समश्नुते कामान्** (मनु० ५.५)=**सर्वान् काम्यान् समश्नुते**।

अर्थ—(सपत्नहनम्) सपत्नों का हनन करने वाले, (ऋषभम्) श्रेष्ठ (कामम्) काम[१] के प्रति (घृतेन) घृत की आहुति पूर्वक, (शिक्षामि) मैं अपने आप को समर्पित करता हूँ। हे काम[२]! (हविषा, आज्येन) हवि द्वारा और आज्य द्वारा (अभिष्टुतः त्वम्) स्तुत हुआ तू (महता वीर्येण) निज महा सामर्थ्य द्वारा (मम) मेरे (सपत्नान्) सपत्नों को (नीचैः पादय) मेरे नीचे कर दे, मेरे अधीन करदे।

[सपत्न=जिनका पति समान हो, एक हो, ऐसे शत्रु; जैसे कि सपत्नी में एक पति की नाना पत्नियों की भावना है। दैव और आसुर विचारों का एक ही पति होता है—मन। इसलिए प्रार्थी के सपत्न हैं मानसिक-शत्रु। मन्त्र १७-१८ में देवों और असुरों का वर्णन हुआ है। अतः प्रसिद्ध देवासुर संग्राम सम्बन्धी असुरों का वर्णन सपत्न शब्द द्वारा, मन्त्र में हुआ है। शिक्षामि=दान करता है (**शिक्षति दानकर्मा,** निघं० ३.१०)। अतः दान करता हूँ=समर्पित करता हूँ। यह समर्पण यज्ञ में हविः तथा घृताहुति पूर्वक हुआ है। हविषा-और-आज्येन द्वारा परमेश्वर की स्तुति हुई है, और उससे प्रार्थना की गई है। "कामम्" पद द्वारा जगदुत्पत्ति में कामना वाले परमेश्वर का, (सोऽकामयत, उपनिषद्), तथा कहीं-कहीं मन्त्रों से प्रार्थी की मनोऽभिलाषा या संकल्प शक्ति का भी वर्णन हुआ है]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**कामः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

यन्मे मनसो न प्रियं न चक्षुषो यन्मे बभस्ति नाभिनन्दति।
तद् दुःष्वप्न्यं प्रति मुञ्चामि सपत्ने कामं स्तुत्वोदहं भिदेयम्॥ २॥

अर्थ—(यत्) जो (न मे मनसः) न मेरे मन को, (न चक्षुषः) न चक्षु को (प्रियम्) प्रिय है, (यत्) जो (मे) मेरी (बभस्ति) भर्त्सना करता है, (न अभिनन्दति) और मुझे आनन्दित नहीं करता, (तत्) उस दुःष्वप्न्यम्) स्वाप्निक-बुरे-विचार को (सपत्ने) सपत्न पक्ष में (प्रति मुञ्चामि) मैं डालता हूँ, (कामम्) कमनीय परमेश्वर का (स्तुत्वा) स्तवन करके (उद्) उत्कृष्ट होकर, (भिदेयम्) उसे मैं छिन्न-भिन्न कर दूँ।

[बभस्ति=**भस भर्त्सनदीप्त्योः** (जुहोत्यादिः)। दुःष्वप्न्यम् (देखो अथर्व० काण्ड १६)। अर्थात् ऐसे दुःस्वप्न जो कि मेरे चित्त को नहीं भाते और देखने में जो अग्नि तथा भय पैदा करते हैं, उन्हें मैं अपना सपत्न जान कर त्याग देता हूँ, और परमेश्वर की स्तुति द्वारा उन्हें छिन्न-भिन्न करता हूँ]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**कामः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

दुःष्वप्न्यं काम दुरितं च कामाप्रजस्तामस्वगतामवर्तिम्।
उग्र ईशानः प्रति मुञ्च तस्मिन्यो अस्मभ्यमंहूरणा चिकित्सात्॥ ३॥

अर्थ—(काम) हे कमनीय परमेश्वर! (दुःष्वप्न्यम्) बुरे स्वाप्निक दृश्यों या विचारों को, (काम) तथा हे कमनीय परमेश्वर! (दुरितं च) और उनके दुष्परिणामों को, (अप्रजस्ताम्) सन्तान के अभाव को, (अस्वगताम्) धन प्राप्ति के अभाव को, (अवर्तिम्) आजीविका के अभाव को (उग्रः ईशानः) तू उग्र शासक (तस्मिन् प्रतिमुञ्च) उसमें स्थापित कर (यः) जो कि (अस्मभ्यम्) हमारे लिए (अंहूरणा= अंहूरणानि) पापकृत्यों को (चिकित्सात्) अपने मन में निवासित करता है।

[चिकित्सात्=कित निवासे+सन् (इच्छायाम्]

१-२. कमनीय, काम्य परमेश्वर।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**कामः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

नुदस्व काम प्र णुदस्व कामावर्तिं यन्तु मम ये सपत्नाः।

तेषां नुत्तानामधमा तमांस्यग्ने वास्तूनि निर्दह त्वम्॥ ४॥

अर्थ—(काम) हे कमनीय परमेश्वर! (नुदस्व) धकेल, (काम) हे कमनीय परमेश्वर! (प्रणुदस्व) परे धकेल, (ये) जो (मम सपत्नाः) मेरे सपत्न हैं, वे (अवर्तिम्) अजीविका को (यन्तु) प्राप्त हों। (तेषाम् नुत्तानाम्) धकेले गये उनके (वास्तूनि) बसने के स्थानों को (अग्ने) अग्निरूप हुआ हे परमेश्वर! (त्वम्) तू (निर्दह) निरवशेष रूप से दग्ध कर दे, जो बसने के स्थान कि (अधमा तमांसि) नीच कोटि के तमोगुण हैं।

[अवर्तिम्=बुरे विचार और बुरे स्वप्न हैं, सपत्न। इनकी आजीविका का स्रोत है तमोगुण। यह ही इनका निवास स्थान है। इन निवास स्थानों को भस्मीभूत कर देने की प्रार्थना की गई है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**कामः** ॥ छन्दः—**अतिजगती**॥

सा ते काम दुहिता धेनुरुच्यते यामाहुर्वाचं कवयो विराजम्।

तया सपत्नान्परि वृङ्ग्धि ये मम पर्येनान्प्राणः पशवो जीवनं वृणक्तु॥ ५॥

अर्थ—(काम) हे कमनीय परमेश्वर! (सा) वह (ते) तेरी (दुहिता) बेटी या तेरी कामना को दोहन करने वाली, पूरा करने वाली (धेनुः) दुधारु गौ (उच्यते) कही जाती है, (याम्) जिसे कि (कवयः) मेधावी जन (विराजम्, वाचम् आहुः) ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित वाणी कहते हैं। (तया) उस वाणी द्वारा (सपत्नान्) सपत्नों को (परिवृङ्ग्धि) हटा दे (ये मम) जो मेरे हैं, (एनाम्) इन सपत्नों को (प्राणः) मेरा प्राण, (पशवः) मेरी इन्द्रियाँ, (जीवनम्) मेरा जीवन (परिवृणक्तु) सर्वथा त्याग दे।

[वाचम्=वेदवाणी परमेश्वर की मानो बेटी है, उससे उत्पन्न हुई है। वह दुधारू गौ है जोकि ज्ञान और सत्कर्म रूपी दुग्ध प्रदान करती है। वेदवाणी के अनुसार जीवनचर्या करने से सपत्न हट जाते हैं, और इनके हटाने में परमेश्वर सहयोग प्रदान करता है। पशवः=इन्द्रियाँ। यथा "**इन्द्रियाणि हयानाहुः**" (कठ १.३.४) इन्द्रियों को हय अर्थात् अश्व कहते हैं। ये इन्द्रियाँ जब तक सपत्नों की साथिन बनी रहती हैं जब तक ये पशुरूप ही हैं]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**कामः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

कामस्येन्द्रस्य वरुणस्य राज्ञो विष्णोर्बलेन सवितुः सवेन।

अग्नेर्होत्रेण प्र णुदे सपत्नाञ्छम्बीव नावमुदकेषु धीरः॥ ६॥

अर्थ—(इन्द्रस्य) परमैश्वर्यवान्, (वरुणस्य) पापनिवारक, (राज्ञः) जगत् के राजा, (विष्णोः) सर्वव्यापक (कामस्य) कमनीय परमेश्वर की (बलेन) प्रबल शक्ति द्वारा; (सवितुः) तथा प्रेरक कमनीय परमेश्वर की (सवेन) प्रेरणा द्वारा; और (अग्नेः होत्रेण) दैनिक अग्निहोत्र द्वारा (सपत्नान्) सपत्नों को (प्रणुदे) मैं परे धकेलता हूँ, (इव) जैसे कि (धीरः) धैर्यवाला (शम्बी) नाविक (उदकेषु) नदी तथा समुद्र आदि के जलों में (नावम्) नौका को आगे-आगे धकेलता है।

[अग्नेर्होत्रेण=देखो मन्त्र १ में "घृतेन, हविषा, आज्येन" जोकि यज्ञ के उपलक्षक हैं। मन्त्र में सपत्नों को धकेलने के तीन उपाय दर्शाएँ हैं, (१) परमेश्वर की प्रबल शक्ति, (२) परमेश्वरीय प्रेरणा, (३)

तथा अग्निहोत्र आदि शुभकर्म]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**कामः**॥ छन्दः—**जगती**॥

अध्यक्षो वाजी मम काम उग्रः कृणोतु मह्यमसपत्नमेव।
विश्वे देवा मम नाथं भवन्तु सर्वे देवा हवमा यन्तु म इमम्॥ ७॥

अर्थ—(वाजी) बलवान् (उग्रः) और उग्र (कामः) कमनीय परमेश्वर (मम अध्यक्षः) मेरा अध्यक्ष है, वह (मह्यम्) मेरे लिए मेरे जीवन को (असपत्नम्, एव) सर्वथा सपत्नों से रहित (कृणोतु) करे। (विश्वे देवाः) सब दिव्य गुण (मम) मेरे (नाथम् भवन्तु) स्वामी हो जाएँ, (सर्वे देवाः) सब दिव्यगुण (मे) मेरे (इमम्, हवम्) इस आह्वान पर मेरी सहायता के लिए (आयन्तु) आ जाएँ।

[वाजी=**वाजः बलनाम** (निघं० २.९)। अतः वाजी=बलवान्। उग्रः (देखो मन्त्र ३)। जैसे सेनाध्यक्ष प्रजा और राष्ट्र को सपत्नों से रहित करता है, वैसे मेरे जीवन का अध्यक्ष कमनीय परमेश्वर काम, क्रोध आदि सपत्नों से मुझे रहित करे। जब-जब मेरे जीवन में देवासुर संग्राम छिड़ जाए तब-तब देव मेरे स्वामी होकर मेरी रक्षा करें जैसे कि राजा राष्ट्र का स्वामी होकर राष्ट्र की रक्षा करता है, और इस संग्राम में मेरे आह्वान पर सब देव, दिव्य विचार उपस्थित हो जाएँ]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**कामः**॥ छन्दः—**त्रिपदाऽऽर्ची पङ्क्तिः**॥

इदमाज्यं घृतवज्जुषाणाः कामज्येष्ठा इह मादयध्वम्। कृण्वन्तो मह्यमसपत्नमेव॥ ८॥

अर्थ—जैसे (घृतवत्) घृतवाली भोज्य वस्तु का (जुषाणाः) सेवन करते हुए मनुष्य, निर्बलता आदि सपत्नों से अपने को रहित कर हर्षित होते हैं, वैसे (कामज्येष्ठा) कमनीय परमेश्वर जिनमें ज्येष्ठ शक्ति रूप है ऐसे हे देवो! (इदम् आज्यम्) इस यज्ञीय-आज्य को (जुषाणाः) सेवन करते हुए तुम, (मह्यम्) मेरे लिए, [वायु आदि को] (असपत्नम् एव कृण्वन्तः) रोगरूपी सपत्नों से सर्वथा रहित करते हुए, (इह) इस जीवन में, (मादयध्वम्) मुझे हर्षित करो, प्रसन्न करो।

[देवाः=ऋत्विक् देव, तथा यज्ञ करने वाले पितृदेव, मातृदेव, आचार्यदेव। जुषाणाः=**जुषी प्रीतिसेवनयोः** (तुदादिः)]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**कामः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

इन्द्राग्नी काम सरथं हि भूत्वा नीचैः सपत्नान्मम पादयाथः।
तेषां पन्नानामधमा तमांस्यग्ने वास्तून्यनुनिर्दह त्वम्॥ ९॥

अर्थ—(इन्द्राग्नी) हे इन्द्र-और अग्नि! (सरथम् हि भूत्वा) एक-रथ में स्थित होकर तुम दोनों (मम) मेरे (सपत्नान्) सपत्नों को (नीचैः पादयाथः) मेरे नीचे कर देते हो, मेरे अधीन कर देते हो, अथवा नीचे धकेल देते हो। (तेषां पन्नानाम्) धकेले गये उनके (वास्तूनि) बसने के स्थानों को (काम अग्ने) हे अग्निरूप कमनीय परमेश्वर! (त्वम्) तू (निर्दह) निरवशेषरूप से दग्ध कर दे, जो बसने के स्थान कि (अधमा=अधमानि तमांसि) नीच कोटि के तमोगुण हैं। (देखा मन्त्र ४)।

[इन्द्राग्नी=इन्द्र है प्रबुद्ध जीवात्मा, और अग्नि है प्रबुद्ध ज्ञानाग्नि। यथा "**ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन**" (गीता)। सरथम्=एकरथ है शरीर यथा "**शरीरं रथमेव तु**" (कठ १.३.३)। जब जीवात्मा और ज्ञानाग्नि शरीर में युगपत् प्रबुद्ध हो जाते हैं तब काम, क्रोध आदि सपत्न वशीभूत हो

जाते हैं, परन्तु दग्ध बीज नहीं होते। इन्हें निरवशेष रूप में दहन करने वाला केवल परमेश्वर रूप अग्नि ही है। यथा **रसोऽप्यत्र परं दृष्ट्वा निवर्तते**'' (गीता २.५९)। रसः=संस्कार, बीज]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**कामः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

जुहि त्वं काम मम ये सपत्ना अन्धा तमांस्यव पादयैनान्।
निरिन्द्रिया अरसाः सन्तु सर्वे मा ते जीविषुः कतमच्चनाहः॥ १०॥

अर्थ—(काम) हे कमनीय परमेश्वर! (त्वम्, जहि) तू मार डाल (ये मम सपत्नाः) जो कि मेरे सपत्न हैं, (एनान्) इन सपत्नों को (अन्धा=अन्धानि तमांसि) अन्धा कर देने वाले तमोगुणों में (अव पादय) नीचे गिरा दे। (सर्वे) वे सब सपत्न (निरिन्द्रियाः) हमारी इन्द्रियों का आश्रय न पाएँ, (अरसाः सन्तु) इस प्रकार वे रस रहित हो जाएँ, (ते) वे (कतमत् चन अहः) एक दिन भी (मा जीविषुः) न जीते रहें।

[अन्धा तमांसि=तमोगुण जीवन, व्यक्ति को अन्धा कर देता है। वह विवेक रहित हुआ सत्पथ को देख नहीं सकता। अरसाः=विषय भोग जन्य संस्कार सपत्नों के रस रूप हैं, (मन्त्र ९ की व्याख्या) जिन द्वारा सींची जा कर भोगवासनाएँ प्ररोहित होती रहती हैं। इसी रस का विनाश गीता में कहा है (मन्त्र ९)]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**कामः**॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्**॥

अवधीत्कामो मम ये सपत्ना उरुं लोकमकरन्मह्यमेधतुम्।
मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रो मह्यं षडुर्वीर्घृतमा वहन्तु॥ ११॥

अर्थ—(मम ये सपत्नाः) मेरे जो सपत्न हैं उन्हें (कामः अवधीत्) कमनीय परमेश्वर ने मार दिया है, (मह्यम्, एधतुम्) और मेरे लिए बढ़ने के लिए (उरुम् लोकम्) महान् आलोक को (अकरम्) दिव्य शक्तियों ने कर दिया है। (महयम्) मेरे प्रति (चतस्त्रः प्रदिशः) चारों विस्तृत दिशाएँ, अर्थात् चारों दिशाओं के निवासी (नमन्ताम्) नत हों या हो गये हैं, (महयम्) मेरे लिए (षट् उर्वीः) ६ विस्तृत दिशाएँ अर्थात् तन्निवासी (घृतम्) घृत आदि पदार्थ (आवहन्तु) फैलाएँ।

[षट् उर्वीः चार विस्तृत दिशाएँ पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ध्रुवादिक् तथा ऊर्ध्वादिक्। लोकम्, प्रदिशः=अथवा इनका अभिप्राय यह है कि काम, क्रोध आदि अध्यात्म-सपत्नों के विनाश से प्रकट हुई अध्यात्म शक्ति की विभूतिरूप में, व्यक्ति का संचरण लोकलोकान्तरों तथा दिग्दिगन्तरों में सम्भव हो जाने से, मानो सब दिशाएँ उसके प्रति नत हो गई हैं, बाधा नहीं पैदा करतीं, और व्यक्ति सर्वत्र जा कर घृत आदि पदार्थों का सेवन कर सकता है। जैसे कि "**पृथिव्या अहमुदन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद्दिवमारुहम्**" (यजुः० १७.६७) की व्याख्या में महर्षि दयानन्द लिखते हैं कि "जब मनुष्य अपने आत्मा के साथ परमात्मा के योग को प्राप्त होता है तब अणिमादि सिद्धि उत्पन्न होती है, उसके पीछे कहीं से न रुकने वाली गति से अभीष्ट स्थानों में जा सकता"। घृतम्=घी योगाभ्यास में सहायक होता, भोज्यपदार्थों को स्वादु करता, सात्विक तथा पुष्टि करता है। इसलिए भोज्यरूप में इसका वर्णन होता है। अधिक गुणकारी होने से यज्ञों में भी इसका अधिक प्रयोग होता है]।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**कामः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

तेऽधराञ्चः प्र प्लवन्तां छिन्ना नौरिव बन्धनात्।
न सायकप्रणुत्तानां पुनरस्ति निवर्तनम्॥ १२ ॥

अर्थ—(ते) वे सपत्न (अधराञ्चः) नीचे की ओर (प्रप्लवन्ताम्) बह जाएँ, (इव) जैसे कि (बन्धनात्) बन्धन से (छिन्ना) टूटी (नौः) नौका नदी के प्रवाह में नीचे की ओर (सायकप्रणुत्तानाम्) वाण द्वारा धकेले हुओं का (पुनः) फिर (निवर्तनम्) लौटा आना (न अस्ति) नहीं होता।

[अधराञ्चः=नदी का प्रवाह नीचे की ओर होता है। अधराञ्चः=अधर (नीचे)+अञ्चु (गतौ)। अथवा अधराञ्चः=अधरतमस् वाले, तमोगुण सपत्न (मन्त्र ९)। सायक प्रणुत्तानाम्=अध्यात्म प्रकरण में सायक का अभिप्राय है, आत्मरूपी शर, वाण आत्मशक्ति। यथा "**प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते**" में आत्मा को शर अर्थात् वाण कहा है। आत्मशक्ति से धकेले गये काम, क्रोध आदि सपत्न पुनः आक्रमण नहीं कर पाते]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**कामः** ॥ छन्दः—**द्विपदाऽऽर्च्यनुष्टुप्** ॥

अग्निर्यव इन्द्रो यवः सोमो यवः। यवयावानो देवा यावयन्त्वेनम्॥ १३ ॥

अर्थ—(अग्निः) ज्ञानाग्नि (यवः) पृथक् करने वाला है, (इन्द्रः) जीवात्मा (यवः) पृथक् करने वाला है, (सोमः) वीर्य (यवः) पृथक् करने वाला है। (यवयावानः) इन यवों द्वारा पृथक् करने वाले (देवाः) देव (एनम्) इस अध्यात्म सपत्न को (यावयन्तु) पृथक् कर दें।

[अग्निः, इन्द्रः (देखो मन्त्र ९)। सोमः=सोमन् (उणा० १.१४०) वीर्य=(semen)। ये तीनों यव हैं, सपत्नों का, व्यक्ति के साथ, अमिश्रण करने वाले हैं, व्यक्ति से अध्यात्म-सपत्नों को अलग करने वाले हैं (यव=**यु मिश्रणामिश्रणयोः**, अदादि)। देवाः=मातृदेव, पितृदेव, आचार्यदेव, अतिथिदेव। ये देव, अग्नि आदि यवों द्वारा, अध्यात्म-सपत्नों को पृथक् करें ऐसी प्रार्थना मन्त्र में हुई है। अथवा अग्निः=आग; इन्द्र=सूर्य या विद्युत्; सोम=चन्द्रमाः—ये तीनों यव हैं, पृथक् करने वाले हैं, अन्धकार रूपी सपत्न के। व्यक्ति के जीवन में काम, क्रोध आदि को अन्धकार रूप कह कर उन्हें दूर करने की प्रार्थना की गई है]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**कामः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

असर्ववीरश्चरतु प्रणुत्तो द्वेष्यो मित्राणां परिवर्ग्य१ः स्वानाम्।
उत पृथिव्यामव स्यन्ति विद्युत उग्रो वो देवः प्र मृणत्सपत्नान्॥ १४ ॥

अर्थ—जैसे (असर्ववीरः) सब वीरों से रहित हुआ, (मित्राणाम्) मित्रों में (द्वेष्यः) प्रेमरहित हुआ, द्वेष के योग्य हुआ, (स्वानाम्) सम्बन्धियों द्वारा (परिवर्ग्यः) पूर्णतया परित्यक्त हुआ (प्रणुत्तः) देश से धकेला गया, निःसारित हुआ शत्रु-राजा (चरतु) इधर-उधर चलता रहे, भटकता रहे। [हे प्रजाजनो!] (उत) तथा जैसे (विद्युतः) विद्युतें (अवस्यन्ति) राष्ट्रिय सपत्नों का अवसान कर देती हैं, वैसे (उग्रः देवः) उग्र, कमनीय परमेश्वर देव (वः) तुम्हारे (सपत्नान्) अध्यात्म सपत्नों को (प्रमृणत्) मार डाले।

[वीर=वीर योद्धा सैनिक;। परिवर्ग्यः=परि+**वृजी वर्जने** (अदादिः), परिवर्जनीयः। विद्युतः बहुवचन में, अतः सम्भवतः वैद्युतायुध। राष्ट्रिय-सपत्न के दृष्टान्त द्वारा अध्यात्म सपत्नों का वर्णन हुआ है, उग्रः (देखो मन्त्र ३)]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**कामः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

च्युता चेयं बृहत्यच्युता च विद्युद्बिभर्ति स्तनयित्नूंश्च सर्वान्।
उद्यन्नादित्यो द्रविणेन तेजसा नीचैः सपत्नान्नुदतां मे सहस्वान्॥ १५ ॥

अर्थ—(च्युता) स्व स्थान से च्युत होने वाली (इयं बृहती) यह बड़ी पृथिवी (च) और (अच्युता च) न च्युत होने वाली (विद्युत्) विद्युत्—इन दो में प्रत्येक [जैसे] (सर्वान् स्तनयित्नून् च) सब गर्जने वाले मेघों का (बिभर्ति) धारण-पोषण करती है [वैसे] (सहस्वान्) सहनशील कमनीय परमेश्वर (सर्वान् बिभर्ति) सबका भरण-पोषण करता है। [तथा जैसे] (उद्यन् आदित्यः) उदित होता हुआ आदित्य (द्रविणेन तेजसा) निज बल और तेज द्वारा या तेजरूपी बल द्वारा (मे सपत्नान्) मेरे रोगजनक कीटाणुओं को धकेलता है, वैसे (सहस्वान्) पराभव करने वाला कमनीय परमेश्वर मेरे अध्यात्म सपत्नों को (नीचैः नुदताम्) नीचे धकेल दे, पटक दे।

[पृथिवी च्युता है, निज स्थान से च्युत होती रहती है, सूर्य के चारों ओर परिभ्रमण द्वारा पूर्व स्थान को छोड़ कर अगले-अगले स्थानों की ओर बढ़ती रहती है, पूर्व राशि को छोड़ अगली-अगली राशि की ओर बढ़ती रहती है। है विद्युत् अच्युता। यह पृथिवी के वायुमण्डल में रहती है। पृथिवी का वायुमण्डल पृथिवी के स्थान बदलने के साथ-साथ अपना स्थान बदलता है, स्वतन्त्ररूप में नहीं। अतः वायुमण्डल में रहने वाली विद्युत् भी स्वतन्त्रतया स्थान नहीं बदलती। इसलिए इसे अच्युता कहा है।

ये दोनों पृथिवी और विद्युत्, मेघों का भरण-पोषण करती हैं। पृथिवी के परिभ्रमण से ऋतुएँ बनती, और इसके परिभ्रमण से ही वर्षा ऋतु आती, और मेघों का भरण-पोषण होता है। वायुमण्डल में स्थित कणों पर जब विद्युत् का आवेश होता है, तब पृथिवी से उठे वाष्प के कण, विद्युदाविष्ट पार्थिव कणों पर जमा हो जाते हैं, और मेघ का रूप धारण करते हैं। इस प्रकार विद्युत् भी मेघों का भरण-पोषण करती है। मन्त्र में "च" समुच्चयार्थक है।

उद्यन् आदित्यः—यथा "**उद्यन्नादित्यः क्रिमीन् हन्तु निम्रोचन् हन्तु रश्मिभिः**" (अथर्व० २.३२.१)। आदित्य की प्रातःकाल की लालरश्मियाँ, तथा सायंकाल की लालरश्मियाँ रोग कीटाणुओं का विशेषतया विनाश करती हैं। उदय होता हुआ तथा अस्त होता हुआ सूर्य लालरश्मियों वाला होता है इस सम्बन्ध में कवि की उक्ति है। यथा "**उदेति सविता ताम्रः, ताम्र एवास्तमेति च**"। ताम्रः=ताम्बा, जो कि लाल होता है। सहस्वान्=सहः सहन, तथा पराभव, करने वाला]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**कामः** ॥ छन्दः—**चतुष्पदा शक्वरीगर्भा परा जगती** ॥

यत्ते काम शर्म त्रिवरूथमुद्भु ब्रह्म वर्म विततमनतिव्याध्यं कृतम्।
तेन सपत्नान्परि वृङ्ग्धि ये मम पर्येनान्प्राणः पशवो जीवनं वृणक्तु॥ १६ ॥

अर्थ—(काम) हे कमनीय परमेश्वर! (यत् ते) जो तेरा (शर्म) सुखदायक (त्रिवरूथम्) त्रिविध दुःख निवारक, (विततम्) विस्तृत (ब्रह्म) वेद (उद्भु) उद्भूत हुआ है, प्रकट हुआ है, जोकि मेरे लिए (वर्म) सपत्ननिवारक कवचरूप है, और जिसे तूने (अनतिव्याध्यम्, कृतम्) अनश्वर किया है, (तेन) उस वेद द्वारा (सपत्नान्) सपत्नों को (परिवृङ्ग्धि) पूर्णतया वर्जित कर दे, (ये मम) जो कि मेरे हैं। (एनान्) इन्हें (प्राणः) मेरा प्राण, (पशवः) मेरी इन्द्रियाँ (जीवनम्) मेरा जीवन (परि वृणक्तु) पूर्णतया

त्यक्त कर दे।

[**शर्म सुखनाम** (निघं० ३.६)। विततम्=जोकि सृष्टि के काल में विस्तृत रहता है, और आपः के स्वरूप में सदा विस्तृत रहता है। व्याध्यम्=वींधने योग्य, विनाश योग्य। अनतिव्याध्यम्=unpierceable। प्राणः, पशवः जीवनम् (देखा मन्त्र ५)। त्रिवरूथम्=अथवा तीन आवरणों वाली। गद्य, पद्य, और गीतिरूपी तीन आवरणों द्वारा वैदिक ज्ञान आवृत है]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**कामः**॥ छन्दः—**जगती**॥

येन॑ दे॒वा असु॑रा॒न्प्राणु॑दन्त॒ येनेन्द्रो॒ दस्यू॑नध॒मं तमो॑ नि॒नाय॑।
तेन॒ त्वं का॑म॒ मम॒ ये स॒पत्ना॒स्ताना॒स्माल्लो॒कात्प्र णु॑दस्व दू॒रम्॥ १७॥

अर्थ—(येन) जिस वेद द्वारा (देवाः) दिव्य लोगों ने (असुरान्) आसुर विचारों को (प्राणुदन्त) धकेला, (येन) जिस वेद द्वारा (इन्द्रः) प्रबुद्ध जीवात्मा ने (दस्यून्) उपक्षयकारी भावों को (अधमम्, तमः) अधमकोटि के तमोगुण में (निनाय) प्राप्त कर दिया, (तेन) उस वेद द्वारा (काम) हे कमनीय परमेश्वर! (त्वम्) तू (मम ये सपत्नाः) मेरे जो सपत्न हैं, (तान्) उन्हें (अस्मात् लोकात्) इस पृथिवी लोक से (दूरम्) दूर (प्रणुदस्व) धकेल दे।

[असुरान्=असु हैं "प्राण"+राः (वाले), प्राणपोषण तत्पर, जिन्हें कि अध्यात्म तत्त्वों की परवाह नहीं। दस्यून्=**दसु उपक्षये** (दिवादिः)। दस्युभाव तमोगुण में पनपते हैं]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**कामः**॥ छन्दः—**जगती**॥

यथा॑ दे॒वा असु॑रा॒न्प्राणु॑दन्त॒ यथेन्द्रो॒ दस्यू॑नध॒मं तमो॑ बबा॒धे।
तथा॒ त्वं का॑म॒ मम॒ ये स॒पत्ना॒स्ताना॒स्माल्लो॒कात्प्र णु॑दस्व दू॒रम्॥ १८॥

अर्थ—(यथा) जिस प्रकार (देवाः) देवों ने (असुरान्) आसुर विचारों को (प्राणुदन्त) धकेला, (यथा) जिस प्रकार (इन्द्रः) प्रबुद्ध जीवात्मा ने (दस्यून्) दस्युओं को (अधमम् तमः) अधमकोटि के तमोगुण में प्राप्त कर उन्हें (बबाधे) विलोडा, (तथा) उसी प्रकार (त्वम्) तू (काम) हे कमनीय परमेश्वर! (मम ये सपत्नाः) मेरे जो सपत्न हैं, (तान्) उन्हें (अस्मात् लोकात्) इस पृथिवी लोक से (दूरम्) दूर (प्रणुदस्व) धकेल दे।

[यथा=स्वाध्याय, मनन, निदिध्यासन, सत्सङ्ग ब्रह्मचर्य आदि द्वारा देवों ने असुरों को धकेला। बबाधे=**बाधृ विलोडने** (भ्वादिः)]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**कामः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

कामो॑ जज्ञे प्रथ॒मो नैनं॑ दे॒वा आ॑पुः पि॒तरो॒ न मर्त्याः॑।
तत॒स्त्वम॑सि॒ ज्याया॑न्वि॒श्वहा॑ म॒हांस्तस्मै॑ ते काम॒ नम॒ इत्कृ॑णोमि॥ १९॥

अर्थ—(कामः) कमनीय परमेश्वर (प्रथमः) सर्वप्रथम (जज्ञे) प्रकट हुआ, (एनम्) इसे (न देवाः आपुः) न देवों ने प्राप्त किया, (न पितरः, मर्त्याः) न पितरों ने और मर्त्यों ने। (ततः) इसलिए या उनसे (त्वम्) तू (विश्वहा) सदा से (ज्यायान् असि) ज्येष्ठ है और (महान्) महान् है। (काम) हे कमनीय परमेश्वर! (तस्मै ते) उस तेरे प्रति (नमः इत्) नमस्कार ही (कृणोमि) मैं करता हूँ।

[विश्वहा=अथवा सब "सपत्नों का हनन करने वाला"। नमः इत्=अभिप्राय यह है कि हे काम!

तू इतना महान् है कि तेरे प्रति जो भी भेंट लाऊं वह अति तुच्छ ही होगी, इसलिए नमः द्वारा मैं तेरे प्रति निज नम्रता ही भेंट करता हूँ]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**कामः** ॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्** ॥

यावती द्यावापृथिवी वरिम्णा यावदापः सिष्यदुर्यावदग्निः।
ततस्त्वमसि ज्यायान्विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत्कृणोमि॥ २०॥

अर्थ—(वरिम्णा) विस्तार से (यावती द्यावापृथिवी) जितनी द्यौः=पृथिवी हैं, (यावत्) जितनी दूर तक (आपः सिष्यदुः) जल प्रस्रवित हो रहे हैं, (यावत्) जितनी दूर तक (अग्निः) अग्नि व्याप्त हो रही है, (ततः) उस सब से (त्वम् असि ज्यायान् विश्वहा) तू सदा ज्येष्ठ है, बड़ा है, (महान्) और महान् है। (काम) हे कमनीय परमेश्वर! (तस्मै ते) उस तेरे प्रति (नमः इत्) नमस्कार ही (कृणोमि) मैं करता हूँ।

[द्यावापृथिवी, आपः और अग्नि के सम्मिलित विस्तार से भी तेरा विस्तार अधिक है। "आपः," पृथिवी में नदियों, समुद्रों, कूपों, झरनों, बर्फ आदि के रूप में, अन्तरिक्ष में वाष्प तथा मेघ के रूप में, तथा "दिवि", द्यौः में भी वर्षा के रूप में व्याप्त हैं (मन्त्र ९.१.२०), अग्नि भी सर्वत्र ब्रह्माण्ड में व्याप्त है]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**कामः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

यावतीर्दिशः प्रदिशो विषूचीर्यावतीराशा अभिचक्षणा दिवः।
ततस्त्वमसि ज्यायान्विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत्कृणोमि॥ २१॥

अर्थ—(यावतीः) जितनी बड़ी (दिशः) दिशाएँ और (प्रदिशः) अवान्तर दिशाएँ हैं, (यावतीः) जितनी बड़ी (विषूचीः आशाः) सर्वत्र व्याप्त सुसम्बन्धी दिशाएँ हैं, जोकि मानो (दिवः) द्युलोक का (अभिचक्षणाः) निरीक्षण कर रही हैं, (ततः) उन सब से (त्वम् असि ज्यायान् विश्वहा) तू सदा बड़ा है, (महान्) और महान् है, (तस्मै ते) उस तेरे प्रति (काम) हे कमनीय परमेश्वर! (नमः इत्) नमस्कार ही (कृणोमि) मैं करता हूँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**कामः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

यावतीर्भृङ्गा जत्वः कुरूरवो यावतीर्वघा वृक्षसर्प्यो बभूवुः।
ततस्त्वमसि ज्यायान्विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत्कृणोमि॥ २२॥

अर्थ—(यावतीः) संख्या में जितनी (भृङ्गाः) भृङ्गें अर्थात् भौंरे (बभूवुः) हैं, भ्रमर हैं, (जत्वः) जितने चमगीदड़ हैं, (कुरूरवः) जितने शब्द करने वाले पक्षी हैं, (यावतीः) संख्या में जितनी (वृक्षसर्प्यः) वृक्ष में सर्पण करने वाली (वघाः) वघाएँ हैं, (ततः) उन सब से (त्वम् असि ज्यायान् विश्वहा) संख्या में तू सदा बड़ा है, (महान्) महिमा में महान् है, (तस्मै ते) उस तेरे प्रति (काम) हे कमनीय परमेश्वर! (नमः इत्) नमस्कार ही (कृणोमि) मैं करता हूँ।[१]

---

१. सायणाचार्य ने "वघाः" की निष्पत्ति "अव+हन्" से की है। "अव" के आकार का लोप, और हन्+ड=ह=घ, अतः "व+घ"=वघाः। धातु पाठ में "वघि" धातु है, जिसका अर्थ है गत्याक्षेप, अर्थात् निन्दित गति, स्वल्प गति, स्वल्प गति को "वृक्षसर्प्यः" में सर्पण द्वारा निर्दिष्ट किया है।

[मन्त्र में "भृङ्गाः" आदि का अभिप्राय अस्पष्ट है। "वघाः" के सम्बन्ध में "वघापते" (अथर्व० ६.५०.३) की व्याख्या में सायणाचार्य के अनुसार "**अवघ्नन्ति, अवबाधन्त इत वघाः पतङ्गादयः**" अर्थात् पतङ्गे आदि हैं। कुरूरव,=पक्षी हैं। "कुर्वन्ति रुम् (शब्दम्) इति," जोकि शब्द करते हैं, अर्थात् पक्षी। कुरूरवः=कुरुः[1]+उः[2]+रव (**रु शब्दे,** अदादिः)+क्विप्+प्रथमा बहुवचन।

प्रतीत होता है कि "भृङ्गाः" आदि द्युलोक के तारामण्डल हैं, प्राणी नहीं। भृंग=A large black bee (आप्टे)। भृङ्गा को बड़ी काली Bee अर्थात् मक्खी या मक्षिका कहा है। तारामण्डल में एक "मक्षिकाः तारामण्डल भी है, जिसे कि "musca" कहते हैं। (Popullar Hindu Astronomy), कालिनाथ मुकुरजी। तथा "musca" The fly, originally musca australis, the southern fly (Beyond the solar system, ग्रन्थकार "Willy ley", (पृष्ठ ९८) माक्षिका-मण्डल में कई तारा हैं, इन नाना तारों के कारण भृङ्गा में बहुवचन हुआ है।

जत्वः—यह है चमगीदड़। यह उड़ता है, इसलिए यह पक्षी है।

इसका मुख गीदड़ सदृश होता है, इसलिए इसे गीदड़ अर्थात् fox भी कहा जा सकता है। the "little fox" एक तारा मण्डल भी है। नाना तारा इसमें हैं, इसलिए "जत्वः" में बहुवचन है। fox=गीदड़। कुरूरवः=पक्षी। तारामण्डलों में पक्षी कई हैं। यथा "गरुड़मण्डल (Aquilla); कपोत (columba); हंस (cygnur); मयूरमण्डल (pavo); इत्यादि।

वृक्षसर्प्यः[3] वघाः—वृक्ष से अभिप्राय "फल्गुनी" नक्षत्र का प्रतीत होता है। "पूर्वा-फल्गुनी नक्षत्र" और "उत्तराफल्गुनी नक्षत्र" को द्युलोक के चित्रों में वृक्षरूप में दर्शाया जाता है। इस नक्षत्र के घटक-

---

सम्भवतः "वघाः" पद "मघाः नक्षत्र" का विकृत रूप हो। और मन्त्र में "भृङ्गाः" आदि के सदृश "मघाः नक्षत्र" भी स्वतन्त्र रूप में अभिप्रेत हो, और "वृक्षसर्प्यः" भी एक स्वतन्त्र पद हो। "मघाः" के स्थान में पाठ "अघाः" भी मिलता है (ऋ० १०.८५.१३)। "वृक्षसर्प्यः" द्वारा वृक्षाकृतिक "फल्गुनी" नक्षत्र के द्वारा अभिप्रेत हैं। अतः भृङ्गाः, जत्वः, कुरूरवः, वघाः, वृक्षसर्प्यः सभी स्वतन्त्र तारामण्डल हैं।

१. **कृग्रोरुच्च** (उणा० १.२४)।

२. "उ" अनर्थक है। यथा "**पदपूरणास्ते मिताक्षरेषु, अनर्थकाः**", "**कम्, ईम्, इत्, उ**" निरुक्त १.३.१०)। मघाः=मा+घ (हन्) अघा॥ प्र+घ (हन्); देखो अथर्ववेद भाष्य (१४.१.१३)।

३. सलंग्न चित्र में "वृक्षसर्प्यः" के वृक्षों और उनमें सर्पण करने वाले ताराओं को दर्शाया है। डिगरी १०, ११, १२ के मध्य में नीचे की ओर दो अल्पकाय वृक्ष दर्शाए हैं, जिन्हें कि पूर्वाफल्गुनी तथा उत्तराफल्गुनी कहते हैं। इन दो वृक्षों को अथर्ववेद में "फल्गुन्यौ" कहा है (१९.७.३)। इन दो वृक्षों की शाखाएँ चमक रही हैं। यह चमक नाना ताराओं के कारण है जिन्हें कि मन्त्र २२ में "वृक्षसर्प्यः" कहा है, अर्थात् वृक्षों में सर्पण करने वाले ताराः। इन दो वृक्षों में दो स्थूल तारा हैं, जोकि योगतारा अर्थात् मुख्यतारा हैं। ज्योतिषी इन्हीं दो ताराओं को पूर्वाफल्गुनी तथा उत्तरा-फल्गुनी कहते हैं। परन्तु मन्त्र २२ में "वघाः" तथा "वृक्षसर्प्यः" में बहुवचन द्वारा ताराओं का बहुत्व दर्शाया है। फल्गुन्यौ का अर्थ है "फलरूपी गुणों से समन्वित दो वृक्ष"।

जत्वः—चमगीदड़। गीदड़ को संस्कृत में शृगाल कहते हैं। सलंग्न चित्र में डिगरी २१ के अधोभाग में "शृगाल मण्डल" दर्शाया है, जिसका कुछ भाग छाया-पक्ष अर्थात् आकाश गङ्गा में प्रविष्ट हुआ है।

कुरूरवः अर्थात् पक्षियों के चित्र अन्य नाना चित्रों में दर्शाए जाते हैं। सलंग्न चित्र में ऊपर की १९, २० डिगरियों के अधोभाग में "गरुड़मण्डल है, जोकि छाया पथ के "या"—अक्षर के समीपस्थ है।

अधोलिखित २२, २३ डिगरियों के उपरिभाग में "सारसमण्डल" दर्शाया है। तथा ऊपर की डिगरी २० के अधोभाग में "वकमण्डल" भी दर्शाया है। सारस=crane; वक=बगुला।

तारा नाना होते हैं। इन्हें सम्भवतः "वघाः" कहा हो। "वघाः" तारे इस वृक्ष में सर्पण करते हैं, इसलिए "वघाः" को 'वृक्षसर्प्यः' कहा गया हो। वृक्षसर्प्यः स्त्रीलिङ्ग बहुवचनान्त है, जोकि तारासमूहरूप है। सायणाचार्य भी "वघाः" को "पतङ्गाः" कहते हैं। "तारा" परिणाम में अत्यल्पकाय दीखते हैं, अतः ये "पतङ्गों" के सदृश हैं। मन्त्र का अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि "भृङ्गाः" आदि में संख्या में जितने तारा हैं, संख्या की दृष्टि से कमनीय-परमेश्वर गुण-कर्मों में उनसे भी ज्यायान् है।

मन्त्र का अभिप्राय जो निर्दिष्ट किया है, उससे मन्त्र का महत्त्व प्रतीत होता है। "भङ्गाः" आदि को प्राणी मानने पर मन्त्र का कोई महत्त्व नहीं रहता। "वृक्षसर्प्यः" में स्त्रीलिङ्ग और बहुवचन "वघा-ताराः" की दृष्टि से है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**कामः** ॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्**॥

ज्यायान्निमिषतोऽसि तिष्ठतो ज्यायान्त्समुद्रादसि काम मन्यो।
ततस्त्वमसि ज्यायान्विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत्कृणोमि॥ २३॥

अर्थ—(मन्यो काम) हे मन्युरूप कमनीय परमेश्वर! (निमिषतः) निमेषोन्मेष करने वाले प्राणियों से (तिष्ठतः) और स्थावरों से (ज्यायान् असि) तू बड़ा है, (समुद्रात् ज्यायान् असि) समुद्र से तू बड़ा है। (ततः) उन सब से (ज्यायान् विश्वहा असि) तू सदा बड़ा है, (महान्) तू सर्वतो महान् है, (तस्मै ते) उस तेरे प्रति (काम) हे कमनीय परमेश्वर। (नमः इत्) नमस्कार ही (कृणोमि) मैं करता हूँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**कामः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

न वै वातश्चन काममाप्नोति नाग्निः सूर्यो नोत चन्द्रमाः।
ततस्त्वमसि ज्यायान्विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत्कृणोमि॥ २४॥

अर्थ—(वै) निश्चय है कि (वातः चन) वायु भी (कामम्) कमनीय परमेश्वर [की व्याप्ति] को (न आप्नोति) नहीं प्राप्त होती, (न अग्निः, सूर्यः) न अग्नि और सूर्य, (उत न चन्द्रमाः) और न चन्द्रमा। (ततः) उन सब से (त्वम् असि ज्यायान् विश्वहा) तू सदा बड़ा है, (महान्) और महिमा में महान् है। (तस्मै ते) उस तेरे लिए (काम) हे कामनीय परमेश्वर! (नमः इत्) नमस्कार ही (कृणोमि) मैं करता हूँ।

[विश्वहा=अथवा सब सपत्नों का हनन करने वाला (मन्त्र १९-२४)]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**कामः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

यास्ते शिवास्तन्वः काम भद्रा याभिः सत्यं भवति यद् वृणीषे।
ताभिष्ट्वमस्माँ अभिसंविशस्वान्यत्र पापीरप वेशया धियः॥ २५॥

अर्थ—(काम) हे कमनीय परमेश्वर! (याः) जो (ते) तेरे (शिवाः) कल्याणकारी (भद्राः) और सुखदायी (तन्वः) स्वरूप हैं, (याभिः) जिन द्वारा (सत्यम्, भवति) वह सत्य हो जाता है (यद्) जिसे कि (वृणीषे) तू चाहता है, (ताभिः) उन तनुओं अर्थात् स्वरूपों के साथ (त्वम्) तू (अस्मान्) हममें (अभि सं विशस्व) प्रवेश कर, [और जो हमारी] (पापीः धियः) पापमयी बुद्धियाँ हैं उन्हें (अप) हम से पृथक् करके, (अन्यत्र) हेय पक्ष में (आवेशय) उन्हें प्रविष्ट कर।

[प्राथी चाहते हैं कि परमेश्वर के वे स्वरूप उनमें प्रविष्ट हो जाएँ, अर्थात् उन स्वरूपों समेत परमेश्वर

उनके हृदयों में प्रविष्ट हो जाए, जिनसे कि वह जो इच्छा करता है वह सत्य सिद्ध हो जाती है। प्रार्थी साथ ही यह भी प्रार्थना करते हैं कि जो पापमयी बुद्धियाँ हैं, वे उन से पृथक् हो जाएँ, और उन्हें वे हेयपक्ष की जान कर उनके परिहाण में वे सदा तत्पर रहें।

मन्त्र में ''सत्कामना'' का भी संबोधन प्रतीत होता है, जिस द्वारा कि प्रार्थी की अभीष्ट वस्तु सिद्ध हो जाती है जिसको कि वह चाहता है। इसे प्राकाम्य सिद्धि कहते हैं। प्राकाम्य का अर्थ है ''इच्छानभिघात'', अर्थात् इच्छा की पूर्ति हो जाना (योग ३.४५), व्यासभाष्य]।

प्रथम अनुवाक समाप्त॥

अनुवाक २

सूक्त ३

विषय-प्रवेश

१. आदर्श शाला का निर्माण (१-६)।
२. शाला के ५ कमरे (७), तथा ११ कमरे (२१)।
३. शाला का दान (९, १०, १६)।
४. सन्तानों का शालासम्बन्धी उत्तराधिकार (११)।
५. भोजन के समय बलिवैश्वदेव यज्ञ (१२, १३)।
६. शाला में गार्हपत्याग्नि (१४, २१)।
७. शाला का परिमाण और शेवधियाँ (१५)।
८. पद्वती शाला (२७)। तथा ''चतुःस्रक्तिं परिचक्राम्'' शालाम् (मन्त्र १९ की टिप्पणी)।
९. रात्री काल में शाला के द्वार को बन्द करना (१८)।
१०. विद्युत् तथा अग्नि द्वारा शाला की रक्षा, तथा प्रसूति ग्रह (१९-२०)।
११. यक्ष्म रोग चिकिसा, जल तथा अमृत अग्नि द्वारा (२३)।
१२. शाला को स्थानान्तरित कर सकना (१४)।
१३. शाला प्रवेश संस्कार (२५-३१)।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**शाला**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

उपमितां प्रतिमितामथो परिमितामुत। शालाया विश्ववाराया नद्धानि वि चृतामसि॥ १॥

अर्थ—(उपमिताम्) उपमारूप, (अथ उ प्रतिमिताम्) और प्रतिमारूप, (उत परिमिताम्) तथा सब ओर से मापी गई, [शाला को] (विचृतामसि) हम विशेषतया ग्रथित करते हैं। (विश्ववारायाः) सब ओर द्वारों वाली या सब ओर से आवृत हुई (शालायाः) शाला के (नद्धानि) बन्धनों को (विचृतामसि) विशेषतया हम ग्रथित करते हैं।

[उपमिताम्=शाला के निर्माण में उपमारूप, आदर्शरूप। प्रतिमिताम्=जिसमें आमने-सामने के द्वारा तथा खिड़कियाँ परस्पर में प्रतिरूप हैं, प्रतिच्छाया रूप (Image) है, परस्पर सदृश हैं। विश्ववारायाः= वारः=A door gate (आप्टे), तथा "that which covers" (आप्टे) वि चृतामसि=**चृती हिंसाग्रन्थनयोः**, (तुदादिः)। यहाँ ग्रन्थन अर्थ प्रतीत होता है। शाला को स्थानान्तरित करना है (२४), इसलिए इसके

बन्धनों को अधिक ग्रथित करने का विधान हुआ है]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**शाला** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यत्ते नद्धं विश्ववारे पाशो ग्रन्थिश्च यः कृतः।

बृहस्पतिरिवाहं बलं वाचा वि स्रंसयामि तत्॥ २॥

अर्थ—(विश्ववारे) हे सब ओर द्वारों वाली या सब ओर से आवृत हुई शाला! (ते) तेरा (यत् नद्धम्) जो बन्धन है, (च) और (यः) जो (पाशः ग्रन्थिः कृतः) पाश और गांठ की गई है (तत्) उसे (वाचा) निज कथन या आज्ञा द्वारा, (अहम् विस्रंसयामि) ढीलेपन से या गिरने से विगत मैं करता हूँ, उसे सुदृढ़ करता हूँ, (इव) जैसे कि (बृहस्पतिः) निज सौर मण्डल में बड़ा सूर्य, (बलम्) बलशाली मेघ को, [अन्तरिक्ष में सुदृढ़ करता है। [पाशः=रस्सी]।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**शाला** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आ ययाम सं बबर्ह ग्रन्थींश्चकार ते दृढान्।

परूंषि विद्वाञ्छस्तेवेन्द्रेण वि चृतामसि॥ ३॥

अर्थ—(आ ययाम) जिसने फैलाया है, (सं बबर्ह) आच्छादित किया है, और (ते) तेरी (ग्रन्थीन् दृढान् चकार) गांठों को दृढ़ किया है, उन्हें (इन्द्रेण) शाला स्वामी [की आज्ञा] द्वारा (वि चृतामसि) हम विशेष ग्रथित करते हैं, (इव) जैसे कि (विद्वान् शस्ता) शस्त्र क्रिया अर्थात् शल्य क्रिया को जानने वाला वैद्य (परूंषि) शरीर के अंगों को काटता और जोड़ देता है। [सं बबर्ह=**बर्ह परिभाषणहिंसाच्छादनेषु** (भ्वादिः)]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**शाला** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वंशानां ते नहनानां प्राणाहस्य तृणस्य च।

पक्षाणां विश्ववारे ते नद्धानि वि चृतामसि॥ ४॥

अर्थ—(विश्ववारे) हे सब ओर द्वारों वाली या सब ओर से आवृत हुई शाला! (ते) तेरे (वंशानाम्) बांसों के, (नहनानाम्) बन्धनों के, (प्राणाहस्य) प्राणाह के, (च तृणस्य) और फूस के, (पक्षाणाम्) और पक्ष के कमरों के (नद्धानि) बन्धनों को (वि चृतामसि) हम विशेषरूप में ग्रथित करते हैं।

[नहन, प्राणाह=शाला को दृढ़ बांधने के उपकरण विशेष हैं। दोनों पदों में "नह" धातु है जिसका अर्थ है "बाँधना"] पक्षाणाम् (देखो मन्त्र २१)]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**शाला** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सन्दंशानां पलदानां परिष्वञ्जल्यस्य च।

इदं मानस्य पत्न्या नद्धानि वि चृतामसि॥ ५॥

अर्थ—(इदम्) अब (मानस्य पत्न्याः) मान की रक्षा करने वाली शाला सम्बन्धी (संदंशानाम्) सन्दंशों के, (पलदानाम्) पलदों के, (च) और (परिष्वञ्जल्यस्य) सब ओर बन्धे या लगाए [चित्रों] के (नद्धानि) बन्धनों को (विचृतामसि) विशेषतया हम ग्रथित करते हैं।

[मानस्य पत्न्याः=अपनी शाला का होना "मान" का चिह्न है। किराये की शाला में निवास "मान"

का चिह्न नहीं। पत्न्याः=पत्नी का अर्थ मन्त्र में विवाहित पत्नी नहीं, अपितु इसका अर्थ है ''रक्षा करने वाली अतः वैदिक पद यौगिक हैं। ''पत्नी'' पद ''**पा रक्षणे**'' का रूप है। अथवा ''पत्नी की तरह रक्षा करने वाली''। उपमावाचक पद लुप्त है। संदंशानाम्=सण्डाशियाँ या clamps। पलदानाम्=पल, घटिका, मुहूर्त आदि प्रदर्शक यन्त्र। clamps (पाहू, कोनिया)।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**शाला** ॥ छन्दः—**पथ्या पङ्क्तिः** ॥

यानि॑ ते॒न्तः शिक्या॒न्याबे॒धू र॒ण्या॑यि॒ कम्।

प्र ते॒ तानि॑ चृतामसि शि॒वा मान॑स्य पत्नी॒ न॒ उद्धि॑ता त॒न्वे॑ भव॥ ६॥

अर्थ—(रण्याय) रमणीयता के लिए (ते अन्तः) तेरे अन्दर (यानि शिक्यानि) जो छिक्के (आबेधुः) उन्होंने बाँधे हैं, (तानि) उन (ते) तेरे छिक्कों को (प्र चृतामसि) हम सुदृढ़ ग्रथित करते हैं, (मानस्य पत्नी) हे मान की रक्षा करने वाली शाला! (उद्धिता त्वम्) ऊंची निर्मित हुई तू (नः तन्वे) हमारे शरीरों के लिए (शिवा भव) कल्याणकारिणी हो।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**शाला** ॥ छन्दः—**परउष्णिक्** ॥

ह॒वि॒र्धान॑मग्नि॒शालं॒ पत्नी॑नां॒ सद॑नं॒ सदः। सदो॑ दे॒वाना॑मसि देवि शाले॥ ७॥

अर्थ—(हविर्धानम्) अन्न का स्टोर, (अग्निशालम्) रसोई, (पत्नीनाम्, सदनम्) पत्नियों का निवास स्थान, (सदः) बैठक, (देवानाम् सदः) अतिथि आदि देवों का कमरा (असि) तू है (देवि शाले) हे दिव्य शाला।

[पत्नीनाम्=इस पद द्वारा संयुक्त पारिवारिक जीवन को सूचित किया है, जिसमें कि भाइयों, चचा, ताया आदि की पत्नियाँ एकट्ठी रहती हैं]।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**शाला** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अक्षुमोप॒शं वित॑तं सहस्रा॒क्षं वि॑षूवति। अव॑नद्धम॒भिहि॑तं॒ ब्रह्म॑णा॒ वि चृ॑तामसि॥ ८॥

अर्थ—(विषूवति) विविध प्राणियों को पैदा करने वाली हे शाला! (सहस्राक्षम्) हजारों झरोखों वाला (विततम्) विस्तृत (अक्षुम्) जाल (ओपशम्) तेरा शिरोभूषण रूप है जोकि (ब्रह्मणा) ब्राह्मण-पुरोहित द्वारा (अवनद्धम्) [द्वार के सिर पर] बाँधा गया है, (अभिहितम्) और जो वेद में कथित हुआ है, उसे (वि चृतामसि) हम विशेषतया ग्रथित करते हैं।

[विषूवति=वि+षूङ्[1] (**प्रसवे**)+वति, सम्बोधने] ओपशम् (देखो १४.१.८; ६.१३८.१,२)]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**शाला** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यस्त्वा॑ शाले प्रतिगृ॒ह्णाति॒ येन॒ चासि॑ मि॒ता त्वम्।

उ॒भौ मान॑स्य पत्नि॒ तौ जीव॑तां ज॒रद॑ष्टी॥ ९॥

अर्थ—(शाले) हे शाला! (यः त्वा प्रति गृह्णाति) जो तेरा ग्रहण करता है, (च) और (येन त्वम् मिता असि) जिस द्वारा तू निर्मित हुई है, (मानस्य पत्नि) हे मान की रक्षा करने वाली! (उभौ तौ) वे दोनों (जीवताम्) जीवित रहें, (जरदष्टी) और जरावस्था को प्राप्त हों।

---

१. तथा षूङ् **प्राणिगर्भविमोचने** (अदादिः)।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः॥ देवता—शाला॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

अमुत्रैनमा गच्छताद् दृढा नद्धा परिष्कृता।

यस्यास्ते विचृतामस्यङ्गमङ्गं परुष्परुः॥ १०॥

अर्थ—हे शाला! (यस्याः) जिस तेरे (अङ्गम् अङ्गम्) प्रत्येक अङ्ग को, (परुष्परुः) और प्रत्येक जोड़ को (वि चृतामसि) विशेषतया हम दृढ़ ग्रथित करते हैं, ताकि (एनम्) इस ग्रहण करने वाले को तू (दृढा नद्धा) दृढ़-बद्ध हुई, (परिष्कृता) सजी-सजाई, (अमुत्र) उस दूसरे स्थान में (आगच्छात्) पहुँच सके।

[मन्त्र के वर्णन द्वारा तो यह प्रतीत होता है कि परिग्रह करने वाले को शाला, दृढ़-बद्ध हुई तथा सजी-सजाई भेंट की जा रही है, न कि तोड़-फोड़ करके, और उसके अङ्गों और जोड़ों को अलग-अलग करके। वह अमुत्र अर्थात् दूसरे स्थान में बिना तोड़े कैसे जाएगी, इसके लिए देखो मन्त्र १७, २४)]

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः॥ देवता—शाला॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

यस्त्वा शाले निमिमाय संजभार वनस्पतीन्।

प्रजायै चक्रे त्वा शाले परमेष्ठी प्रजापतिः॥ ११॥

अर्थ—(शाले) हे शाला! (यः त्वा निमिमाय) जिसने तेरा निर्माण किया है, (वनस्पतीन्) और जो वन्य काष्ठों को (सं जभार) लाया है, [मानो कि उन द्वारा] (शाले) हे शाला! (परमेष्ठी) परम स्थान में स्थित (प्रजापतिः) प्रजारक्षक परमेश्वर ने (त्वाम्) तुझ को (प्रजायै) प्रजा=सन्तानों के लिए (चक्रे) निर्मित किया है।

[सं जभार=सं जहार "**हृग्रहोर्भश्छन्दसि**"। परमेष्ठी=परमस्थान अर्थात् हृदय में स्थित। प्रजायै त्वा चक्रे—इस द्वारा सम्पत्ति पर सन्तानों का उत्तराधिकार भी सूचित होता है]।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः॥ देवता—शाला॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

नमस्तस्मै नमो दात्रे शालापतये च कृण्मः।

नमोग्नये प्रचरते पुरुषाय च ते नमः॥ १२॥

अर्थ—(तस्मै) उसके लिए (नमः) अन्न प्रदान करते हैं, (च) और (दात्रे) देने वाले (शालापतये) शाला के स्वामी के लिए (नमः कृण्मः) हम अन्न प्रदान करते हैं। (अग्नये) गृह्य अग्नि के लिए (नमः) अन्न प्रदान करते हैं (ते) हे शाला! तेरे (प्रचरते च) तथा प्रत्येक चलते-फिरते (पुरुषाय) पुरुष के लिए (नमः) अन्न प्रदान करते हैं।

[तस्मै=जिस को शाला समर्पित करनी है। अग्नये=भोजन काल में पाकाग्नि के लिए बलिवैश्वदेव यज्ञ के निमित्त अन्नाहुतियाँ। प्रचरते=शाला निवासी प्रत्येक चलते-फिरते (भृत्य आदि) पुरुष के लिए भी अन्न प्रदान हो! भोजन के काल में अन्न प्रदान का वर्णन हुआ है]

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः॥ देवता—शाला॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

गोभ्यो अश्वेभ्यो नमो यच्छालायां विजायते।

विजावति प्रजावति वि ते पाशांश्चृतामसि॥ १३॥

अर्थ—(गोभ्यः) गौओं के लिए, (अश्वेभ्यः) अश्वों के लिए (नमः) अन्न प्रदान हम करते हैं, (यत्) जोकि (शालायाम्) शाला में (विजायते) जन्म लेता है, उसे भी अन्न प्रदान करते हैं। (विजावति) हे विविध जीवजन्तुओं वाली! (प्रजावति) हे प्रकृष्ट-सन्तानों वाली शाला! (ते पाशान्) तेरे फन्दों, रस्सियों को (वि चृतामसि) हम दृढ़ ग्रथित करते हैं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**शाला** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अ॒ग्निम॒न्तश्छा॑दयसि॒ पुरु॑षान्प॒शुभिः॑ स॒ह।

विजा॑वति॒ प्रजा॑वति॒ वि ते॒ पाशां॑श्चृतामसि ॥ १४ ॥

अर्थ—हे शाला! तू (अग्निम्) अग्नि को, (पशुभिः सह) और पशुओं के साथ (पुरुषान्) पुरुषों को (अन्तः) अपने अन्दर (छादयसि) आच्छादित करती है। (विजावति) हे विविध जीव-जन्तुओं वाली! (प्रजावति) हे प्रकृष्ट-सन्तानों वाली शाला! (ते पाशान्) तेरे फन्दों, रस्सियों को (विचृतामसि) हम दृढ़ ग्रथित करते हैं।

[अग्निम्=गार्हपत्याग्नि। रसोई की अग्नि के लिए देखो (मन्त्र ७)]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**शाला** ॥ छन्दः—**पञ्चपदातिशक्वरी** ॥

अ॒न्त॒रा द्यां च॑ पृ॒थि॒वीं च॒ यद् व्यच॒स्तेन॒ शालां॒ प्रति॑ गृह्णामि त इ॒माम्।

यद॒न्तरि॑क्षं॒ रज॑सो वि॒मानं॒ तत्कृ॑ण्वे॒हमु॒दरं॑ शेव॒धिभ्यः॑।

तेन॒ शालां॒ प्रति॑ गृह्णामि॒ तस्मै॑ ॥ १५ ॥

अर्थ—(द्याम् च पृथिवीं च) द्युलोक और पृथिवी के (अन्तरा) अन्तराल में (यद् व्यचः) जो विस्तार है (तेन) उस विस्तार से [युक्त] (ते) तेरी (इमाम् शालाम्) इस शाला को (प्रति गृह्णामि) मैं ग्रहण करता हूँ। (यद्) जो (अन्तरिक्षम्) शाला के मध्य में अन्तरिक्ष अवकाश है, जोकि (रजसः) मनोरञ्जक वस्तुजात का (विमानम्) निर्माण करता है (तत्) उसे (अहम्) मैं ग्रहीता (शेवधिभ्यः) नानाविध खजानों अर्थात् निधियों के लिए (उदरम्) उदररूप (कृण्वे) करता हूँ। (तेन) इसलिए (तस्मै) उस उदरीकरण के निमित्त (शालाम् प्रति गृह्णामि) मैं शाला को स्वीकार करता हूँ।

[मन्त्र में शाला की ऊंचाई तथा लम्बाई-चौड़ाई का वर्णन, रूपकालंकार तथा कवियों द्वारा स्वीकृत अतिशयोक्ति के अनुसार हुआ है। शाला के छत्र को द्यौः, और आधार भूमि को पृथिवी, तथा बीच के खाली भाग को अन्तरिक्ष कहा है।

तथा शाला के अन्तरिक्ष को "रजसः विमानम्" कह कर विविध प्रकार की मनोरञ्जक वस्तुजात का निर्माता कहा है। क्योंकि इस अन्तरिक्ष में ही विचर कर गृहस्थी नाना प्रकार के गृहोपयोगी वस्तुओं का निर्माण करते हैं।

इस अन्तरिक्ष को "उदरं शेवधिभ्यः" कहा है। "शेवधि" का अर्थ होता है खजाना, जिसमें कि सुखदायी वस्तुएँ सम्भाल कर रखी जाती हैं। चाँदी-सुवर्ण के आभूषणों की निधि, अन्न की निधि, गौ, अश्व रूप निधियाँ आदि सब शेवधियाँ हैं। इन्हें सुरक्षित रूप में शाला के उदर में रखने का विधान हुआ है। जैसे माता के उदर में अनुत्पन्न शिशु सुरक्षित रहता है, वैसे ही गृह की निधियाँ भी शाला के उदर में रखी गयी सुरक्षित रहती हैं। ग्रहीता इन निधियों की सुरक्षा के लिए शाला को स्वीकृत करता है।

रजसः=रञ्जक अर्थात् मनोरञ्जक पदार्थसमूह। उदरम्=**अन्तरिक्षमुतोदरम्** (अथर्व० १०.७.३२)। शेवधिभ्यः=**शेवम् सुखनाम** (निघं० ३.६) धिः (निधिः)]।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**शाला** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ऊर्जस्वती पयस्वती पृथिव्यां निमिता मिता।
विश्वान्नं बिभ्रती शाले मा हिंसीः प्रतिगृह्णतः ॥ १६ ॥

अर्थ—(ऊर्जस्वती) बल और प्राण देने वाले अन्नों वाली, (पयस्वती) दूध वाली [तथा जल वाली], (मिता) और मापी गई शाला, (पृथिव्याम्) पृथिवी में (निमिता) निर्मित हुई है। (विश्वान्नम्) सब प्रकार के अन्नों को (बिभ्रती) धारण करती हुई (शाले) हे शाला! (प्रतिगृह्णतः) ग्रहण करने वाले की (मा हिंसीः) तू हिंसा न कर।

[ऊर्जस्=**ऊर्ज बलप्राणनयोः** (चुरादि); **ऊर्क् अन्ननाम** (निघं० २.७)। मा हिंसीः=गृहरूपी आश्रय के बिना असुरक्षित को, आश्रय देकर, उसे हिंसित होने से बचा]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**शाला** ॥ छन्दः—**प्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

तृणैरावृता पलदान्वसाना रात्रीव शाला जगतो निवेशनी।
मिता पृथिव्यां तिष्ठसि हस्तिनीव पद्वती ॥ १७ ॥

अर्थ—(तृणैः) फूस द्वारा (आवृता) [छत्त पर] ढकी हुई, (पलदान् वसाना) पलदों की ओढ़नी ओढ़े हुई (शाला) शाला, (रात्रीव) रात्री के सदृश, (जगतः) जङ्गम प्राणिसमूह को (निवेशनी) आश्रय देती है। हे शाला! (मिता) निर्मित हुई तू (पृथिव्याम्) पृथिवी में (तिष्ठसि) स्थित हुई है, (पद्वती) पैरों वाली (हस्तिनी) हथिनी (इव) के सदृश।

[शाला को पैरों वाली हथिनी से उपमित किया है। इस द्वारा सम्भवतः यह सूचित किया है कि शाला के भी पैर हैं। ये पैर सम्भवतः चक्र हैं, पहिये हैं, जिन पर शाला खड़ी की गई है, ताकि जहाँ चाहें शाला को चलाकर ले जाया जा सके (२४)। अन्यथा "हस्तिनीव" इतना कहना ही पर्याप्त था। "पद्वती"[१] द्वारा हथिनी, तथा शाला की, गति को सूचित किया है। पलदान्=मन्त्र ५ में "पलदानाम्" को बाँधने का वर्णन हुआ है (नद्धानि); और मन्त्र १७ में "पलदान्" का वर्णन आच्छादनार्थ है (वसाना), अतः इन दो स्थानों में "पलद" शब्द भिन्नार्थक है। वसाना=अथवा पलदों का वस्त्र पहिने हुई]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**शाला** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

इटस्य ते वि चृताम्यपिनद्धमपोर्णुवन्।
वरुणेन समुब्जितां मित्रः प्रातर्व्युब्जतु ॥ १८ ॥

अर्थ—हे शाला! (इटस्य) आने-जाने के (ते) तेरे [मार्ग] को (अपिनद्धम्) जोकि [रात्रीकाल में] बन्धा हुआ अर्थात् बन्द था, उसे (अपोर्णुवन्) आच्छादन से रहित करता हुआ मैं [गृहपति], (विचृतामि)

१. इस द्वारा संम्भवतः यह भी सूचित किया है कि शाला चार खम्भों पर खड़ी करनी चाहिए जैसे कि हथिनी चार टांगों पर खड़ी होती है। तथा गति के लिए शाला के खम्भों के नीचे पैर भी होने चाहिएँ। इस शाला के निर्माण में ईंट का प्रयोग नहीं हुआ।

पुनः ग्रथित कर देता है, (वरुणेन) आवरण करने वाले अन्धकार द्वारा (समुब्जिताम्) ढकी हुई शाला को (मित्रः) सूर्य (प्रातः व्युब्जतु) प्रातःकाल खोल दे।

[इटस्य=**इट गतौ** (भ्वादिः)। अपोर्णुवन्=**अप+ऊर्णुञ् आच्छादने** (अदादिः), आच्छादन से रहित करता हुआ, खोलता हुआ। वरुणेन=**वृञ् आवरणे** (चुरादिः)। मन्त्र में रात्री काल में आने-जाने के मार्ग को बन्द करने, और प्रातःकाल उसे खोल देने का कथन हुआ है। कौशिक सूत्र ६६.२४ में द्वार को बन्द करने के लिए मन्त्र विनियुक्त हुआ है]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**शाला**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ब्र॒ह्मणा॒ शाला॒ं निमि॑तां क॒विभि॒र्निमि॑तां मि॒ताम्।

इ॒न्द्रा॒ग्नी रक्ष॑तां॒ शाला॑म॒मृतौ॑ सो॒म्यं सद॑ः॥ १९॥

अर्थ—(ब्रह्मणा) ब्राह्मण पुरोहित द्वारा (निमिताम्) रखी गई आधार शिला वाली, (कविभिः) मेधावी शिल्पियों द्वारा (निमिताम् मिताम्) मापी गई, तथा निर्मित हुई (शालाम्) शाला को, (अमृतौ) मरने से बचाने वाले (इन्द्राग्नी) इन्द्र-और-अग्नि (रक्षताम्) सुरक्षित करें, तथा (सोम्यम्, सदः, रक्षताम्) सोम[१] ओषधि प्रधान ओषधि[२] गृह की रक्षा करें।[३]

[कविभिः; **कविः मेधाविनाम** (निघं० ३.१५)। इन्द्राग्नी=यज्ञीय-अग्नि, तथा विद्युत्। "**वायुर्वेन्द्रो वाऽन्तरिक्षस्थानः**" (निरु० ७.२.५) में इन्द्र को अन्तरिक्षस्थानी कहा है। अतः इन्द्र=विद्युत्]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**शाला**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

कु॒लायेऽधि॑ कु॒लाय॒ं कोशे॒ कोश॒ः समु॑ब्जितः।

तत्र॒ मर्तो॒ वि जा॑यते॒ यस्मा॒द्विश्वं॑ प्र॒जाय॑ते॥ २०॥

अर्थ—(कुलायेधि) जैसे घोंसले पर (कुलायम्) घोंसला, वैसे (कोशे) कोश पर (कोशः) कोश (समुब्जितः) रखा गया है। (तत्र) उस बीच के कोश में (मर्तः) मरणधर्मा मनुष्य (वि जायते) विशेषतया जन्म ग्रहण करता है, (यस्मात्) जिस जन्म ग्रहण किये मनुष्य से (विश्वम्) मानो एक नया संसार (प्रजायते) सन्तानानुसन्तान रूप में अर्थात् वंश परम्परारूप में पैदा होता है।

[कमरे के मध्य में निर्मित कमरे को कोश कहा है। कोश अर्थात् खजाने की सुरक्षा के लिए कमरे में कमरा चाहिए। इस प्रकार कमरे के भीतर का कमरा सम्भवतः मानुष प्रसूति के लिए प्रसूतिगृह हो। मन्त्र २९ के अनुसार इस प्रसूतिगृह में गार्हपत्य-अग्नि तथा विद्युत् होनी चाहिए, और ओषधिगृह भी]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**शाला**॥ छन्दः—**आस्तारपङ्क्तिः**॥

या द्वि॒पक्षा॒ चतु॑ष्पक्षा॒ षट्प॑क्षा॒ या नि॑मी॒यते॑।

अ॒ष्टाप॑क्षां॒ दश॑पक्षां॒ शाला॒ं मान॑स्य॒ पत्नी॑म॒ग्निर्गर्भ॑ इ॒वा श॑ये॥ २१॥

अर्थ—(या) जो शाला (द्विपक्षा) दो पक्षों वाली, (चतुष्पक्षा) चार पक्षों वाली, (या) जो (षट्पक्षा)

१. "**सोमो वीरुधामधिपतिः**" (अथर्व० ४.२४.७)।
२. ओषधिगृह=जहां ओषधियों का संग्रह किया जाए।
३. पैप्पलाद शाखा में प्रथम पाद में "**चतुः स्रक्तिं परिचक्राम्**" पाठ है अर्थात् "चार कोनों वाली तथा सब और चक्रों वाली शाला" (देखो मन्त्र १७)। चार खम्भों पर खड़ी होने के कारण शाला चतुःस्रक्ति है।

छह पक्षों वाली (निमीयते) निर्मित की जाती है, तथा (अष्टापक्षाम्) आठ पक्षों वाली (दशपक्षाम्) दश पक्षों वाली, (मानस्य पत्नीम्) मान की रक्षा करने वाली (शालाम्) शाला में, (अग्निः) गार्हपत्य-यज्ञियाग्नि (आशये) सोती है, (इव) जैसे कि (गर्भः) गर्भस्थशिशु माता के गर्भ में सोता है।

आ शये=आ शेते, **"लोपस्त आत्मनेपदेषु"** (अष्टा० ७.१.४१) द्वारा "त्" का लोप। पक्ष का अर्थ है "मध्यस्थ मुख्य कमरे के पार्श्वों में निर्मित कमरे। मन्त्रोक्त शाला ११ कमरों वाली है, एक मध्यस्थ कमरा तथा १० पक्षस्थ कमरे। अग्निः (देखो मन्त्र १९)। आ शये=शालास्थ अग्नि सदा उद्बुद्धावस्था में नहीं होती, अपितु प्रसुप्तावस्था में सदा बनी रहती है, आवश्यकतानुसार इसे उद्बुद्ध कर लिया जाता है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि इतनी बड़ी शाला को तोड़े विना यह "अमुत्र" (१४) तथा "पत्रकामं भरामसि" (२४) के अनुसार स्थानान्तरित कैसे किया जा सकता है? इसका उत्तर यह है कि शाला "पद्वती" है। पहियों वाली है। जैसे पहियों वाली रेलगाड़ी एक स्थान से दूसरे स्थान में जाती है वैसे पहियों वाली शाला भी जा सकती है। पैप्पलाद शाखा में मन्त्र १९ के स्थान में पाठ है "चतुःस्रक्तिं परिचक्रां शालाम्", अर्थात् चतुष्कोण तथा चारों कोनों में चक्रों अर्थात् पहियों वाली शाला को [इन्द्राग्नी सुरक्षित करें]। इसलिए शाला में लगे पहिये काल्पनिक नहीं, अपितु पैप्पलाद द्वारा पहिये वास्तविक प्रतीत होते हैं। एक ही मन्त्र में "परिचक्राम्" और "इन्द्राग्नी" के वर्णन से सम्भवतः पैप्पलाद शाखा में यह भी अभिप्रेत है कि इन्द्र (विद्युत्) और अग्नि, निज शक्ति द्वारा, परिचक्रा-शाला के संचालनपूर्वक शाला की रक्षा करें]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**शाला**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

प्रतीचीं त्वा प्रतीचीनः शाले प्रैम्यहिंसतीम्। अग्निर्ह्यन्तरापश्चर्तस्य प्रथमा द्वाः॥ २२॥

इमा आपः प्र भराम्ययक्ष्मा यक्ष्मनाशनीः। गृहानुप प्र सीदाम्यमृतेन सहाग्निना॥ २३॥

अर्थ—(अहिंसतीम्) हिंसा न करने वाली [अर्थात् रक्षा करने वाली], (प्रतीचीम्) मेरी ओर मुखवाली (शाले) हे शाला! (त्वा प्रतीचीनः) तेरा ओर मुखवाला (प्रैमि) मैं जाता हूँ। (अग्निः आपः च) अग्नि और जल (ऋतस्य) यज्ञ के (प्रथमा=प्रथमौ) दो मुख्य (द्वाः) द्वार हैं, साधन हैं [उन्हें] (अन्तः) तेरे भीतर (प्रभरामि) मैं लाता हूँ। (इमाः आपः) ये जल (अयक्ष्माः) यक्ष्मरोग रहित हैं, (यक्ष्मनाशनीः) और यक्ष्मरोग का नाश करते हैं। तथा (अमृतेन) अमृत (अग्निना सह) अग्नि के साथ (गृहान्) घरों में (उप सीदामि) उपस्थित होता हूँ, तथा (प्रसीदामि) प्रसन्न होता हूँ।

[अग्नि और जल गृहस्थ-यज्ञ के दो मुख्य साधन हैं। जल ऐसे स्थान से लाने चाहिएँ जहाँ यक्ष्म रोग न हो। जल चिकित्सा यक्ष्म रोग का नाश करती है। घरों में अग्निहोत्र आदि करते रहना चाहिए। यज्ञाग्नि अमृतत्व का अर्थात् शीघ्र न मरने का साधन है। इससे घर में प्रसन्नता बढ़ती है। घर से बाहिर जब जाए तो घर की ओर पीठ करता हुआ न जाए।[1]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**शाला**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

मा नः पाशं प्रति मुचो गुरुर्भारो लघुर्भव।
वधूमिव त्वा शाले यत्रकामं भरामसि॥ २४॥

१. अर्थात् बाहर जाने पर घर से एकदम विमुख न हो, अपितु सुरक्षा की दृष्टि से घर का पूरा ध्यान रखे।

अर्थ—(नः) हमारे (पाशम्) पाशों को (मा प्रति मुचः) ढीला न कर, (गुरुः भारः) भारी भार (लघुः भव) हल्का हो जाए। (शाले) हे शाला! (वधूम् इव)[१] वधू के सदृश (यत्र कामम्) जहाँ हमारी इच्छा हो वहाँ (त्वा) तुझे (भरामसि) हम ले जाएँ।

[प्रतिमुचः; प्रतिमुच् to free, liberate, release, यथा—**अमुं तुरङ्गं प्रतिमोक्तुमर्हसि** (आप्टे)। लघुर्भव=चूंकि शाला पद्वती है, इसमें चक्र अर्थात् पहिये लगे हुए हैं, इसलिए स्थानान्तरित करने में यह भारी प्रतीत नहीं होती अपितु लघु प्रतीत होती है (मन्त्र १७; पद्वती)। नः पाशम्=हमने जो पाश तुझ पर बाँधे हैं उन्हें तू ढीला न कर, जब कि तुझे स्थानान्तरित किया जाए।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**शाला** ॥ छन्दः—**त्रिपदा प्राजापत्या बृहती (एकावसाना)** ॥

प्राच्या॑ दि॒शः शाला॑या॒ नमो॑ महि॒म्ने स्वाहा॑ दे॒वेभ्यः॑ स्वा॒ह्ये॑भ्यः ॥ २५ ॥

अर्थ—(प्राच्याः दिशः) पूर्व दिशा से, (शालायाः महिम्ने) शाला के महत्त्व या महिमा के लिए (नमः) हम अन्नाहुतियाँ देते हैं, (स्वाह्येभ्यः) अर्थात् स्वाहा योग्य (देवेभ्यः) देवों के प्रति, (स्वाहा) स्वाहा पद के उच्चारण पूर्वक, अन्नाहुतियाँ देते हैं।

[शाला ग्रहण करने वाला जब शाला में प्रवेश करता है तब, शाला प्रवेश संस्कार के अनुसार, यज्ञ करता है, और ग्रहीता के सम्बन्धी[२] अग्नि में अन्नाहुतियाँ देते हैं। "**नम अन्ननाम** (निघं० २.७)]"

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**शाला** ॥ छन्दः—**त्रिपदा साम्नी त्रिष्टुप् (एकावसाना)** ॥

दक्षि॑णाया दि॒शः शाला॑या॒ नमो॑ महि॒म्ने स्वाहा॑ दे॒वेभ्यः॑ स्वा॒ह्ये॑भ्यः ॥ २६ ॥

अर्थ—दक्षिण दिशा से, शाला के महत्त्व[३] या महिमा के लिए हम अन्नाहुतियाँ देते हैं, अर्थात् स्वाहा[४] योग्य देवों के प्रति, स्वाहा पद के उच्चारणपूर्वक अन्नाहुतियाँ देते हैं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**शाला** ॥ छन्दः—**त्रिपदा प्रतिष्ठानाम गायत्री (एकावसाना)** ॥

प्र॒तीच्या॑ दि॒शः शाला॑या॒ नमो॑ महि॒म्ने स्वाहा॑ दे॒वेभ्यः॑ स्वा॒ह्ये॑भ्यः ॥ २७ ॥

अर्थ—पश्चिम दिशा से, शाला के महत्त्व या महिमा[५] के लिए हम अन्नाहुतियाँ देते हैं, अर्थात् स्वाहायोग्य देवों के प्रति, स्वाहा पद के उच्चारणपूर्वक अन्नाहुतियाँ देते हैं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**शाला** ॥ छन्दः—**त्रिपदा प्रतिष्ठानाम गायत्री (एकावसाना)** ॥

उदीच्या दि॒शः शाला॑या॒ नमो॑ महि॒म्ने स्वाहा॑ दे॒वेभ्यः॑ स्वा॒ह्ये॑भ्यः ॥ २८ ॥

अर्थ—उत्तर दिशा से, शाला के महत्त्व या महिमा के लिए हम अन्नाहुतियाँ देते हैं, अर्थात् स्वाहायोग्य देवों के प्रति, स्वाहा पद के उच्चारणपूर्वक अन्नाहुतियाँ देते हैं।

---

१. वधू की उपमा यह दर्शाने के लिए दी है कि जैसे वधू पद्वती है, और पैरों से चलती है, इसी प्रकार शाला भी पद्वती है, और पैरों=चक्रों=पहियों द्वारा चलती है।

२. "भरामसि" (२४) द्वारा सूचित।

३. शाला के परिमाण की दृष्टि से।

४. शाला प्रवेश संस्कार में जिस-जिस दिशा के जो-जो देव हैं उनके प्रति।

५. शाला परिमाण की दृष्टि से अल्पकाया हो या महाकाया परन्तु उपयोग की दृष्टि से उसकी महिमा।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**शाला** ॥ छन्दः—**त्रिपदा प्रतिष्ठानाम गायत्री (एकावसाना)** ॥

ध्रुवायां दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः ॥ २९ ॥

अर्थ—ध्रुवा दिशा से, शाला के महत्त्व या महिमा के लिए हम अन्नाहुतियाँ देते हैं, अर्थात् स्वाहायोग्य देवों के प्रति, स्वाहा पद के उच्चारणपूर्वक अन्नाहुतियाँ देते हैं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**शाला** ॥ छन्दः—**त्रिपदा प्रतिष्ठानाम गायत्री (एकावसाना)** ॥

ऊर्ध्वायां दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः ॥ ३० ॥

अर्थ—ऊर्ध्वा दिशा से [छत पर जाकर], शाला के महत्त्व या महिमा के लिए हम अन्नाहुतियाँ देते हैं, अर्थात् स्वाहायोग्य देवों के प्रति, स्वाहा पद उच्चारण पूर्वक अन्नाहुतियाँ देते हैं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**शाला** ॥ छन्दः—**त्रिपदा प्रजापत्या बृहती** ॥

दिशोदिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः ॥ ३१ ॥

अर्थ—दिशा-दिशा से, शाला के महत्त्व या महिमा के लिए हम अन्नाहुतियाँ देते हैं, अर्थात् स्वाहायोग्य देवों के प्रति, स्वाहापद के उच्चारणपूर्वक अन्नाहुतियाँ देते हैं।

सूक्त ४

विषय-प्रवेश

१. समग्र सूक्त में २४ मन्त्र हैं, और देवता है ऋषभ। महर्षि दयानन्द की दृष्टि में ऋषभ के दो अर्थ हैं—(१) श्रेष्ठ, (२) बलीवर्द, दोनों इस सूक्त में अभिप्रेत प्रतीत होते हैं।

२. ऋषभ शब्द समस्तपद के अन्तावयवरूप में ही श्रेष्ठार्थक है, यह वैदिकमन्त्रों में आवश्यक नहीं—जैसे कि "पुरुषर्षभ" में ऋषभपद श्रेष्ठार्थक है, जोकि पुरुषर्षभ के अन्त में प्रयुक्त हुआ है।

३. ऋषभ शब्द स्वतन्त्ररूप में भी वेद में श्रेष्ठार्थक प्रयुक्त हुआ है। यथा "**यासामृषभो दूरतो वाजिनीवान्त्सद्यः सर्वान् लोकान् पर्यैति रक्षन्**" (अथर्व० ४.३८.५) में सूर्य को ऋषभ कहा है। वाजिनीवान् का अर्थ है "उषावाला"। इस मन्त्र में ऋषभ का अर्थ श्रेष्ठ ही संगत प्रतीत होता है, और यह किसी समस्तपद का अन्तावयव नहीं। इस प्रकार "**हिरण्यशृङ्ग ऋषभः शातवारो अयं मणिः** (अथर्व० १९.३६.५) में शतवार-औषध की मणि को ऋषभ कहा है। इस मन्त्र में भी ऋषभ शब्द असमस्तरूप में प्रयुक्त हुआ है।

४. अतः सूक्त ४ में प्रयुक्त ऋषभ शब्द को दो अर्थों में प्रयुक्त किया गया है, (१) श्रेष्ठ परमेश्वर, और (२) बलीवर्द अर्थात् बैल। इन्हीं दो अर्थों की दृष्टि से सूक्त की व्याख्या हुई है। सूक्त ४ में प्रायः दोनों अर्थों का मिश्रित वर्णन हुआ है, किसी मन्त्र में एक अर्थ श्रेष्ठ परमेश्वर मुख्य है और बलीवर्द गौण, और किसी में बलीवर्द अर्थ मुख्य है और श्रेष्ठ परमेश्वर गौण। १ से १० और १७-२४ मन्त्रों में श्रेष्ठ परमेश्वर अर्थ मुख्य है, और ११ से १६ में बलीवर्द अर्थ मुख्य है। ११ से १६ मन्त्रों में बलीवर्द के शरीरावयवों और प्रत्येक अवयव के देवताओं का परस्पर सम्बन्ध दर्शाया है जोकि बुद्धिगम्य नहीं, इस सम्बन्ध में विशेष अनुसन्धान अपेक्षित[१] है।

---

१. सम्भवतः अवयवों की प्रातिस्विक शक्तियों या गुणकर्मों के प्रदर्शक दैवतनाम हों। इसके लिए शारीरिक-विज्ञान तथा देवों के गुणकर्मों के ज्ञान की आवश्यकता है।

५. याज्ञिक पद्धति के अनुसार बलीवर्द की हत्या करके उसके अवयवों की आहुतियाँ, अवयवसम्बद्ध देवताओं के नाम से दी जाती हैं। परन्तु २४ मन्त्रों में से किसी भी मन्त्र में इस हत्या का वर्णन नहीं, और मन्त्रों में जहाँ जहां-जहां "आजुहोति" (९, १८), तथा "जुहोमि" (१०) पद पठित हैं, वहाँ उनके अभिप्रायों को स्पष्ट कर दिया है।

६. मन्त्रों में मुख्य भावना है "ऋषभ का ब्राह्मण के प्रति दान"। दान का अभिप्राय व्याख्या में देखिये।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ऋषभः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

साहस्रस्त्वेष ऋषभः पयस्वान्विश्वा रूपाणि वक्षणासु बिभ्रत्।
भद्रं दात्रे यजमानाय शिक्षन्बार्हस्पत्य उस्त्रियस्तन्तुमातान्॥ १ ॥

अर्थ—(साहस्रः) हजारों शक्तियों वाला या हजारों नक्षत्र-तारागणों का स्वामी, (त्वेषः) देदीप्यमान, (ऋषभः) सर्वश्रेष्ठ, (पयस्वान्) दुग्धादि पदार्थों या जलों का स्वामी, (वक्षणासु) नदियों में (विश्वा रूपाणि) विविध रूपों और आकृतियों वाले प्राणियों का (बिभ्रत्) धारण-पोषण करने वाला तू है। (दात्रे यजमानाय) दानशील-यज्ञकर्त्ता के लिए (भद्रम्) कल्याण-और-सुख (शिक्षन्) देते हुए—(बार्हस्पत्यः) बृहत्सूर्य के अधिष्ठाता, (उस्त्रियः) किरणों वाले सूर्य के स्वामी, तूने (तन्तुम्) संसार-तन्तु को (आतान्) फैलाया है।

[मन्त्र में परमेश्वर का वर्णन है। वक्षणासु "**वक्षणाः नदी नाम**", (निघं० १.१३)। शिक्षन्; "**शिक्षति दानकर्मा,**" (निघं० ३.२०)। बार्हस्पत्य=सौरमण्डल के बड़े-बड़े ग्रहों का पति है सूर्य और उसका अधिष्ठाता है परमेश्वर। उस्त्रियः="**उस्त्राः रश्मिनाम**" (निघं० १.५); उस्त्रियः—रश्मियों वाला सूर्य। सूर्य+अच् (**अर्श आद्यच्** अष्टा० ५.२.१२७), ऐसे सूर्य का स्वामी। ऋषभः=**श्रेष्ठपर्यायः, बलीवर्दो वा** (उणा० ३.१२३, महर्षि दयानन्द)।

बलीवर्द (बैल) के पक्ष में;—साहस्रः=वंश परम्परा द्वारा हजारों गौओं, बैलों का दाता। पयस्वान्=गौ प्रदान द्वारा दुग्धदाता। वक्षणाः=आन्तें या उदरावयव। **उस्त्राः=गावः** (निघं० २.११) तन्तुम्=गो वंशविस्तार]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ऋषभः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अपां यो अग्रे प्रतिमा बभूव प्रभूः सर्वस्मै पृथिवीव देवी।
पिता वत्सानां पतिरघ्न्यानां साहस्रे पोषे अपि नः कृणोतु॥ २ ॥

अर्थ—(यः) जो परमेश्वर (अग्रे) सृष्टि के सर्जन काल में (अपाम्) अप्तत्त्व का (प्रतिमा) निर्माता (बभूव) हुआ, जो (देवी पृथिवी इव) दिव्य गुणों वाली पृथिवी के सदृश (सर्वस्मै) सबके लिए (प्रभूः) पालन करने में सामर्थ्यवान् है। जो (वत्सानाम्) प्रजारूप बच्चों का (पिता) पिता है, (अघ्न्यानाम्) अनश्वर वेदवाणियों का (पतिः) पति है, वह (नः) हमें (साहस्रे पोषे) सहस्रविध पुष्टियों में (अपि) भी (कृणोतु) स्थापित करे।

[अघ्न्यानाम्; "**अघ्न्या पदनाम**" (निघं० ५.५) प्रभूः=प्रभवतीति। वत्सानाम्="**शृण्वन्तु विश्वेऽमृतस्य पुत्राः**" (यजुः० ११.५)। इस मन्त्र भाग में प्रजा को अमृत=परमेश्वर के पुत्र कहा है।

बलीवर्द में—"अपाम्" उत्पत्ति काल से ही जो जलों के सदृश शान्त प्रकृति का है। वत्सानाम्=बछड़े-बछड़ियों का पिता अघ्न्यानाम्=गौओं का (निघं० २.११)]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ऋषभः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

पुमानन्तर्वान्त्स्थविरः पयस्वान्वसोः कबन्धमृषभो बिभर्ति।

तमिन्द्राय पथिभिर्देवयानैर्हुतमग्निर्वहतु जातवेदाः ॥ ३ ॥

अर्थ—(पुमान्) शक्ति में बढ़ा हुआ, (अन्तर्वान्) सबके भीतर व्याप्त, (स्थविरः) कालवृद्ध, (पयस्वान्) दुग्धादि पदार्थों का स्वामी, (ऋषभः) सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर, (वसोः) वास सम्बन्धी (कबन्धम्) मेघ का (बिभर्ति) भरण-पोषण करता है। (देवयानैः पथिभिः) देवयान मार्गों द्वारा (इन्द्राय) इन्द्रियों के स्वामी जीवात्मा के लिए (हुतम्) समर्पित हुए (तम्) उस परमेश्वर को, (जातवेदाः अग्निः) वेदानुसार उत्पन्न ज्ञानाग्नि (वहतु) प्राप्त करती है। अथवा प्रज्ञानरूपी ज्ञानाग्निः उसे प्राप्त करती है। वह प्रापणे।

[पुमान्=**पुंस अभिवर्द्धने** (चुरादिः) कबन्धम्="**मेघम्, कबनमुदकं भवति, तदस्मिन् धीयते**" (निरु० १०.१.४)। हुतम्=परमेश्वर, जीवात्मा की उन्नति के लिए, उसके प्रति अपने-आप को समर्पित किये हुए है। (देवयानैः पथिभिः) देवजन जिन मार्गों के अनुसार जीवन व्यतीत करते हैं, उन मार्गों में चलाने वाले जीवात्मा के लिए परमेश्वर अपने-आप को समर्पित कर देता है]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ऋषभः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

पिता वत्सानां पतिरघ्न्यानामथो पिता महतां गर्गराणाम्।

वत्सो जरायु प्रतिधुक्पीयूष आमिक्षा घृतं तद्वस्य रेतः ॥ ४ ॥

अर्थ—(वत्सानाम्) प्रजारूपी बच्चों का (पिता) पिता की तरह रक्षक, (अघ्न्यानाम्) अनश्वर वेदवाणियों का (पतिः) स्वामी (अथो) तथा (गर्गराणाम्) गरगर शब्द करते हुए, गर्जते हुए (महताम्) बड़े-बड़े मेघों का (पिता) उत्पादक परमेश्वर (वत्सः) सर्वत्र बसा हुआ है, (जरायु) तथा संसार का जरायु अर्थात् जेर के सदृश रक्षक है, (प्रतिधुक्) वह प्रत्येक व्यक्ति द्वारा दोहा जा सकता है, (पीयूषः) पेय अमृतरूप है। (आमिक्षा) तथा आमिक्षा और (तद् घृतम्) वह घृत (अस्य उ रेतः) इस परमेश्वर का रेतस् है, अर्थात् इन द्वारा वह प्रजाजनों को नवजीवन प्रदान करता है।

[आमिक्षा=गर्म दूध में दधि डाल कर दूध का फटा स्वरूप। गर्गर=गॄ शब्दे (क्र्यादिः)। वत्सः=**वस निवासे** (चुरादिः)। बलीवर्दपक्षे—वत्सानाम=बछड़े-बछड़ियों का। अघ्न्यानाम्=गवाम्। गर्गराणाम्=बैल का गर्जना, गौओं के उत्पादन द्वारा आमिक्षा, घृत आदि का रेतस् अर्थात् कारण]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ऋषभः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

देवानां भाग उपनाह एषो३पां रस ओषधीनां घृतस्य।

सोमस्य भक्षमवृणीत शक्रो बृहन्नद्रिरभवद्यच्छरीरम् ॥ ५ ॥

अर्थ—(एषः) यह परमेश्वर (देवानाम्) दिव्य जनों का (भागः) भजनीय है, (उपनाहः) यह जगत् के घटकों को परस्पर बाँधता है, अथवा भजन कर्त्ताओं के कष्टों के लिए यह अध्यात्म मरहम रूप हैं, (अपाम्) जलों का (रसः) शिवतम रसरूप है, (ओषधीनाम्) ओषधियों के, और (घृतस्य) घृत के (रसः) स्वादिष्ट रसवत् आनन्द रसरूप है। वह (सोमस्य) भक्तिरस के (भक्षम्) भक्षण को (अवृणीत) स्वीकार करता है, (शक्रः) वह शक्तिशाली है। उसकी कृपा से (यत्) जो (शरीरम्) शरीर है वह

(बृहद्-अद्रिः[1]) बड़े पर्वत के सदृश (अभवत्) सुदृढ हो जाता है।

[उपनाहः=उप+**णह बन्धने,** (दिवादिः) तथा "An unguent applied to a wound or sore (आप्टे)]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ऋषभः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

सोमे॑न पू॒र्णं क॒लशं॑ बिभर्षि॒ त्वष्टा॑ रू॒पाणां॑ ज॒नि॒ता प॒शू॒नाम्।

शि॒वास्ते॑ सन्तु प्रज॒न्व॑ इ॒ह या इ॒मा न्य॑१॒स्मभ्यं॑ स्वधिते यच्छ॒ या अ॒मूः ॥ ६ ॥

अर्थ—हे परमेश्वर! (सोमेन पूर्णम्) भक्ति रस से भरे (कलशम्) हृदय कलश का (बिभर्षि) तू भरण-पोषण करता है, (रूपाणाम्) नानाविधरूपों का तू (त्वष्टा) कारीगर या सूर्यसमान है, (पशूनाम्) पशुओं अर्थात् प्राणियों का (जनिता) जन्मदाता है। (इह याः इमाः) इस संसार में जो ये (ते प्रजन्वः) तेरी उत्पत्तियाँ [उत्पन्न पदार्थ] हैं वे (शिवाः सन्तु) कल्याणकारिणी हों, (स्वधिते) हे निजरचित संसार में स्थिति वाले! (याः अमूः) जो वे उत्पत्तियाँ हैं उन्हें (अस्मभ्यम्) हमें (नियच्छ) नितरां प्रदान कर।

[स्वधितिः=**"स्वयं कर्माणि धत्ते"** (निरु० १३ (१४)। २ (१)। २६ (१३)।

बलीवर्दपक्षे—सोम=दुग्ध, कलश=स्तन (गौ के)। रूपाणाम्, पशूनाम्=नानाविध बछड़ी-बछड़े]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ऋषभः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

आज्यं॑ बिभर्ति घृ॒तम॑स्य॒ रेतः॑ साह॒स्रः पोष॒स्तमु॑ य॒ज्ञमा॑हुः।

इन्द्र॑स्य रू॒पमृ॑ष॒भो वसा॑नः सो अ॒स्मान्दे॑वाः शि॒व ऐ॑तु द॒त्तः ॥ ७ ॥

अर्थ—(घृतम्) प्रदीप्त सूर्य (अस्य) इस परमेश्वर का (रेतः) रेतस् है, जो कि (आज्यम्) आज्य आदि का (बिभर्ति) भरण-पोषण करता है, (साहस्रः) परमेश्वर हजारों प्रकार से (पोषः) सबका परिपोषण करता है। (तम् उ यज्ञम् आहुः) उसे [वेदवेत्ता] यज्ञ कहते हैं। (ऋषभः) श्रेष्ठ परमेश्वर (इन्द्रस्य) सम्राट् तथा सूर्य के (रूपम्, वसानः) रूप को धारण करता है। (सः) वह (दत्तः) दिया गया, (देवाः) हे दिव्य जनो! (अस्मान्) हमें (शिवः ऐतु) कल्याणकारी स्वरूप में प्राप्त हो।

[घृतम्=**घृ क्षरणदीप्त्योः** (जुहोत्यादिः); प्रदीप्तम् (उणा० ३.८९; महर्षि दयानन्द)। यज्ञय्=स यज्ञः (अथर्व० १३.४ (४).४०), तथा (यजुः० ३१.६, ७)। इन्द्रः=सम्राट् (यजुः० ८.३७)। तथा सूर्य सम्राट् के सदृश प्रजापोषक परमेश्वर। अथवा "सूर्य" के रूप वाला परमेश्वर यथा **"आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्"** (यजुः० ३१.१८)। दत्तः=योगी आचार्य द्वारा हृदय में प्रकट किया गया परमेश्वर।

बलीवर्दपक्षे—"गौओं के उत्पादन द्वारा घृत आज्य प्रदाता। गो-वंश परम्परा द्वारा हजारों का पोषक। दत्तः=दान में दिया गया]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ऋषभः** ॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्** ॥

इन्द्र॒स्यौजो॒ वरु॑णस्य बा॒हू अ॒श्विनो॒रंसौ॑ म॒रुता॑मि॒यं क॒कुत्।

बृ॒ह॒स्पतिं॒ संभृ॑तमे॒तमा॑हु॒र्ये धीरा॑सः क॒वयो॒ ये म॑नी॒षिणः॑ ॥ ८ ॥

---

१. **एह्यश्मानमातिष्ठाश्मा भवतु ते तनूः** (अथर्व० २.१३.४) मन्त्र में भी तनू अर्थात् शरीर को पत्थर के समान दृढ़ करने का वर्णन हुआ है।

अर्थ—परमेश्वर (इन्द्रस्य) विद्युत् का (ओजः) ओजस् रूप है, (वरुणस्य) अन्तरिक्ष का आवरण करने वाली वायु का (बाहू) यश-और-बल रूप है, (अश्विनोः अंसौ) पृथिवी का स्कन्ध रूप और द्यौः का स्कन्ध रूप है, (मरुताम्) मानसून वायुओं की (इयं ककुद्) यह जो ककुद् अर्थात् मेघ है, परमेश्वर तद्रूप है। इस प्रकार (ये) जो (धीरासः) मेधावी (कवयः) वेदकाव्य के अभिज्ञ, तथा (ये) जो (मनीषिणः) मनीषी लोग हैं वे (एतम्) इस परमेश्वर को (संभृतम्) संहृत अर्थात् एकत्रित रूप (बृहस्पतिम्) महाशक्तियों-का-पति (आहुः) कहते हैं।

[विद्युत् मध्यमस्थानी है, उसके साथ वरुण अर्थात् वायु भी मध्यमस्थानी है। बाहू=**बाहुभ्यां यशोबलम्** (वैदिक-सन्ध्या-मन्त्र)। परमेश्वर पृथिवी और द्यौः को मानो निज कन्धों का सहारा दिये हुए है। मरुताम्=मानसून वायु (अथर्व० ४.२७.४, ५) मरुतों की ककुद् अर्थात् उच्चशिखर है मेघ। परमेश्वर मानो तद्रूप हुआ वर्षा करता है। धीरासः=**धीरः मेधाविनाम** (निघं० ३.१५)]

बलीवर्द पक्ष में प्रसिद्ध अर्थः "इसका ओज इन्द्र का है, दो बाहुएँ अर्थात् अगली दो टांगें वरुण की हैं, दो कन्धे अश्वियों के हैं, ककुद [Hump] मरुतों की है। इस प्रकार दैविकरूप में इसे सम्भृत बृहस्पति कहते हैं।

[बलीवर्द, कृषि द्वारा तथा भारोद्वहन द्वारा, ओज रूप है। यह कथन राष्ट्रिय दृष्टि से हुआ है। अश्विनोः बाहू=माता-पिता के रूप में विभक्त प्रजाजनों के कामों में सहारा देने वाले दो बाहुओं के सदृश यह सहायक है। मरुताम्=कृषि द्वारा सुवर्ण आदि सम्पत्तियों की प्राप्ति के लिए यह दो स्कन्धरूप है। यह भी राष्ट्रिय दृष्टि से कथन हुआ है। "**मरुत् हिरण्यनाम**" (निघं० १.२) तथा "**मरुद्भ्यो वैश्यम्**" (यजुः० ३०.५), अर्थात् हिरण्यादि सम्पत्तियों की प्राप्ति के लिए तथा वैश्यों के लिए यह ककुद् है, उच्चशक्ति रूप है। बृहस्पतिः=बृहतः गोवंशस्य पतिः]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ऋषभः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

दैवीर्विशः पयस्वाना तनोषि त्वामिन्द्रं त्वां सरस्वन्तमाहुः॥
सहस्रं स एकमुखा ददाति यो ब्राह्मण ऋषभमाजुहोति॥ ९॥

अर्थ—हे परमेश्वर! (पयस्वान्) दुग्धादि पदार्थों का स्वामी तू (दैवीः विशः) दिव्यगुणी प्रजा का (आतनोषि) विस्तार करता है, (त्वाम् इन्द्रम्) तुझे परमैश्वर्यवान् (त्वाम् सरस्वन्तम्) तुझे वेदवाणियों का स्वामी (आहुः) कहते हैं। (यः) जो योगी-आचार्य (ब्राह्मणे) ब्रह्मोपासक व्यक्ति में (ऋषभम्) सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर की (आजुहोति) आहुति देता है, (सः) वह मानो (एकमुखा) एक-मुख से प्रकट हुई (सहस्रम्) हजारों वेदवाणियों का (ददाति) प्रदान करता है।

[भोज्य पदार्थों में सर्वश्रेष्ठ सात्त्विक-भोजन में दुग्ध है, परमेश्वर इस सात्त्विक भोजनप्रदान के द्वारा मानुषी प्रजा को बनाता है; अथवा "पयः" का अर्थ है वेदवाणियों का ज्ञान रूपी दुग्ध। इसके प्रदान द्वारा मानुषी प्रजा को वह दिव्य बनाता है। इसलिए वेदवाणी को "धेनुः" कहते हैं, अर्थात् ज्ञान-दुग्ध पिलाने वाली गौः। "**धेनुः वाङ्नाम**" (निघं० १.११)। निरुक्तकार यास्काचार्य वेद-धेनु के दुग्धपान को फल कहते हैं "**देवताध्यात्मे वा**"; अर्थात् वैदिक देवताओं का ज्ञान तथा अध्यात्म-तत्त्वों का ज्ञान। जिन्हें इन दो का ज्ञान हो जाए वह दिव्य तो बन ही जाएगा, धेनुः (ऋ० १०.७१.५), धेनु की व्याख्या (निरु०

१.६.२०)।

वेदवाणियाँ एक ही ब्रह्म या ब्रह्मा के मुख से प्रकट हुई हैं, इसलिए इन्हें "एकमुखाः" कहा है। वेदवाणियों का मुख्यरूप से प्रयोजन है परमेश्वर का वर्णन करके उसका साक्षात्कार कराना। तभी ऋग्वेद में कहा है कि "**यस्तं न वेद किमृचा करिष्यति**" (ऋ० १.१६४.३९) । अर्थात् जो वेद पढ़ कर भी परमेश्वर को नहीं जानता उसे वेद पढ़ने से क्या लाभ हुआ। जिसने ब्रह्मोपासक को ब्रह्म का साक्षात् करा दिया, मानो उसने हजारों वेदवाणियों [गौओं] को प्रदान कर दिया है। वेदमन्त्र लगभग बीस हजार हैं।

बलीवर्द पक्ष में—पयस्वान्=बैल दुग्ध देने वाली गौओं का उत्पादक होने से दुग्ध का स्वामी है। जिसने बैल का दान किया उसने मानो सदृश मुखों-वाली हजारों गौओं का प्रदान किया। गोवंश परम्परा की दृष्टि से एक बैल हजारों गौओं को पैदा करता है]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ऋषभः**॥ छन्दः—**जगती**॥

बृहस्पतिः सविता ते वयो दधौ त्वष्टुर्वायोः पर्यात्मा त आभृतः।
अन्तरिक्षे मनसा त्वा जुहोमि बर्हिष्टे द्यावापृथिवी उभे स्ताम्॥ १०॥

अर्थ—(बृहस्पतिः) बृहद्-ब्रह्माण्ड के पति, (सविता) उत्पादक-तथा प्रेरक परमेश्वर ने (ते) तेरे लिए (वयः) अन्न का (दधौ) पोषण किया है, तथा (त्वष्टुः वायोः परि) सूर्य और वायु से (ते आत्मा) तेरे शरीर को (आभृतः) धारित तथा परिपुष्ट किया है। (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में या तेरे हृदयान्तरिक्ष में स्थित मैं परमेश्वर, (मनसा) विचारपूर्वक तथा स्वेच्छया, (त्वा) तुझे लक्ष्य करके, (जुहोमि) तेरे उदर में अन्नाहुतियाँ देता हूँ, (उभे) दोनों (द्यावापृथिवी) द्युलोक तथा पृथिवी लोक (ते) तेरे लिए (बर्हिः) वृद्धिकारक (स्ताम्) हों।

[परमेश्वर ने मनुष्य को पुष्टिकारक अन्न प्रदान किया है, तथा प्राकृतिक शक्तियों द्वारा उसके शरीर को धारित तथा परिपुष्ट किया है। परमेश्वर ने यह अन्न "आहुति" रूप में दिया है। अतः मनुष्य, निज जीवन को यज्ञ जानता हुआ, कौष्ठ्याग्नि में, आहुतिरूप में अन्न प्रदान करे, लालच और लोभरूप से नहीं। ऐसा करने पर द्यावा पृथिवी दोनों, उसकी वृद्धि के लिए होंगे। दधौ=**डुधाञ् धारणपोषणयोः** (जुहोत्यादिः)। बर्हिः=**बृह वृद्धौ** (भ्वादिः)] आभृतः=आ+**डुभृञ् (धारणपोषणयोः)**, (जुहोत्यादिः)]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ऋषभः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

य इन्द्र इव देवेषु गोष्वेति विवावदत्। तस्य ऋषभस्याङ्गानि ब्रह्मा सं स्तौतु भद्रया॥ ११॥

अर्थ—(देवेषु) देवों में (इन्द्रः इव) इन्द्र के सदृश (यः) जो ऋषभ, (गोषु) गौओं में, (विवावदत्) विविध प्रकार से बोलता हुआ (एति) आता है, (तस्य ऋषभस्य) उस ऋषभ के (अङ्गानि) अङ्गों को, (ब्रह्मा) चारों वेदों का विद्वान् (भद्रया) भद्ररीति से, (संस्तौतु) सम्यक्तया प्रस्तुत करे।

[इन्द्र=विद्युत्[१]; देव=अन्तरिक्ष, वायु, मेघ। विद्युत्-प्रतिवर्ष ऋतु में देवों में विविध प्रकार से बोलता हुआ, कड़कड़ाता हुआ आता है। ऋषभ अर्थात् श्रेष्ठ परमेश्वर, गौओं [वेदवाणियों][२] में भिन्न-भिन्न विषयों का कथन करता हुआ प्रतिसृष्टिकाल में आता है। ऋषभ अर्थात् बलीवर्द गौओं में विविध-गर्जना करता

---

१. "**वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः**" (निरु० ७.२.५) में इन्द्र को अन्तरिक्षस्थ कहा है।
२. **गौः वाङ्नाम** (निघं० १.११)।

हुआ आता है। अधोलिखित मन्त्रों में ऋषभ परमेश्वर के सृष्टि सम्बन्धी "देवों और ऋषभ अर्थात् बलीवर्द के शरीरावयवों में" परस्पर सम्बन्ध वस्तुत: सत्य है—यह दर्शाने के लिए संस्तोता को ब्रह्मा अर्थात् चारों वेदों का ज्ञाता कहा है]

ऋषि:—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ऋषभ:**॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

पार्श्वे आस्तामनुमत्या भगस्यास्तामनूवृजौ।
अष्ठीवन्तावब्रवीन्मित्रो ममैतौ केवलाविति॥ १२॥

अर्थ—बलीवर्द के (पार्श्वे) दो पार्श्व (आस्ताम्) थे (अनुमत्या:) अनुमति के, (अनूवृजौ) दो अनुवृज आस्ताम् थे (भगस्य) भग के (मित्र: अब्रवीत्) मित्र ने कहा कि (एतौ अष्ठीवन्तौ) ये दो घुटने हैं (केवलौ) केवल (मम) मेरे (इति) यह।

अनुमति:=देवपत्नी (नैरुक्ता:)। **या पूर्वा पौर्णमासी साऽनुमति:** (याज्ञिका) **अनुमतिरनुमननात्** (निरुक्त ११.३.२९)। **भग: सूर्य:, "तस्य काल: प्रागुत्सर्पणात्"** (निरुक्त १२.२.१३)। **"अन्धो भग इत्याहु:, अनुत्सृप्तो न दृश्यते। प्राशित्रमस्याक्षिणी निर्जघान इति च ब्राह्मणम्। जनं भगो गच्छतीति वा विज्ञायते, जनं गच्छत्यादित्य उदयेन"** (निरुक्त १२.२.१४)। **मित्र:="प्रमीतेस्त्रायते:। सम्मिन्वानो द्रवतीति वा। मेदयतेर्वा"** (निरुक्त १०.२.२१)। मित्र[1] का सम्बन्ध कृषिकर्म के साथ है (ऋ० ३.५९.१)। अनूवृजो=बलीवर्द की छाती से लेकर "पिछली टांगों के उरुओं तक के दो पासे"—ऐसा अर्थ कई कहते हैं; और पार्श्वे=बलीवर्द की पृष्ठ पर कन्धों से गुदा तक के दो पासे। अवयवों और देवों का परस्पर सम्बन्ध अनुसन्धेय है]।

ऋषि:—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ऋषभ:**॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

भसदासीदादित्यानां श्रोणी आस्तां बृहस्पते:।
पुच्छं वातस्य देवस्य तेन धूनोत्योषधी:॥ १३॥

अर्थ—(भसद्) जघन (आसीत्) था (आदित्यानाम्)[2] आदित्यों का, (श्रोणी) दो कटि प्रदेश (आस्ताम्) थे (बृहस्पते:) बृहस्पति के। (पुच्छम्) पूंछ थी (वातस्य देवस्य) वायु देव की, (तेन) उस पूंछ द्वारा बलीवर्द (ओषधी:) ओषधियों को (धूनोति) कम्पाता है।

[पुच्छ और वायुदेव का परस्पर सम्बन्ध बुद्धिगम्य है। दोनों द्वारा ओषधियाँ कम्पित हो जाती हैं]

---

१. मित्र अर्थात् उस काल का सूर्य जब कि वह मनुष्यों को, निज आजीविका के लिए, कृषि आदि कर्मों में प्रयत्नशील कर देता है। कहा भी है **"मित्रो जनान् यातयति"** (ऋ० ३.५९.१) अर्थात् मित्र जनों को यत्नशील करता है। यत्न स्वस्थ-घुटनों के कारण होता है। इसलिए "अष्ठीवन्तौ" का सम्बन्ध मित्र के साथ दर्शाया है।

२. आदित्यानाम् द्वारा आदित्य रश्मियाँ अभिप्रेत हैं। निरुक्त में आदित्य को "जार" कहा है। यथा **"आदित्योऽत्र जार उच्यते, रात्रेर्जरयिता। स एव भासाम्"** (३.३.१६)। आदित्य निज रश्मियों द्वारा रात्री का, तथा उषा की दीप्ति और द्युलोक की दीप्तियों को जीर्ण करता है। इस कर्म को जारकर्म कहा है। वह रश्मियों द्वारा जारकर्म करता है। इसलिए "आदित्यानाम्" का सम्बन्ध "भसद्" के साथ दर्शाया है। "भसद्"—इन्द्रिय गौ की होती है, बलीवर्द [बैल] की नहीं। तथापि गोजाति की दृष्टि से बलीवर्द के साथ "भसद्" का वर्णन कर दिया है।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—ऋषभः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

गुदा आसन्त्सिनीवाल्याः सूर्यायास्त्वचमब्रुवन्।
उत्थातुरब्रुवन्पद ऋषभं यदकल्पयन्॥ १४॥

अर्थ—(गुदाः) गुदा के अवयव (आसन्) थे (सिनीवाल्याः) सिनीवाली के, (त्वचम्, सूर्यायाः) त्वचा है सूर्या की (अब्रुवन्) यह उन्होंने कहा। (पदः) पैर हैं (उत्थातुः)[१] उत्थाता के (अब्रुवन्) यह भी उन्होंने कहा, (यद्) जब कि (ऋषभम्) बलीवर्द की (अकल्पयन्) विविध कल्पना उन्होंने की।

[उन्होंने=अनुमति आदि देवों ने (१२,१३,१४)। सिनीवाली=**देवपत्नी** (नैरुक्ताः); **या पूर्वा अमावास्या सा सिनीवाली** (याज्ञिकाः)। **सिनीवाली=सिनमन्नं भवति, सिनाति भूतानि, वालं पर्वम्, वृणोतेः, तस्मिन् अन्नवती, वालिनी वा। वालेनेवास्यामणुत्वात् चन्द्रमाः सेवितव्यो भवति, इति वा**" (निरुक्त ११.३.३१)। सूर्या है सूर्य-की-प्रभा। यह सूर्य का आवरणरूप है, त्वचा बलीवर्द का आवरण है। सम्भवतः इसलिए त्वचा का सम्बन्ध सूर्या के साथ कहा हो। "उत्थाता" भी देव है, यह केवल इसी मन्त्र में कहा है। "उत्था" का अर्थ है "ऊपर की ओर स्थित हुआ।" सम्भवतः सूर्य। यह ऊर्ध्वदिशा में, द्युलोक में स्थित है। चलता नहीं। इसका चलना पृथिवी के निज अक्ष पर पश्चिम से पूर्व की ओर परिभ्रमण की वजह से है। यह स्थित तो है, परन्तु इसके पैर नहीं। पैरों द्वारा ही स्थिति होती है। यथा "**पादयोः प्रतिष्ठा**" (अथर्व० १९.६०.२) इस कमी की पूर्ति के लिए मन्त्र में कहा है कि "उत्थातुरब्रुवन् पदः"]

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—ऋषभः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

क्रोड आसीज्जामिशंसस्य सोमस्य कलशो धृतः।
देवाः संगत्य यत्सर्व ऋषभं व्यकल्पयन्॥ १५॥

अर्थ—(क्रोडः) छाती (आसीत्) थी (जामिशंसस्य) जामिशंस की, (कलशः) दुग्धाशय (सोमस्य) सोम के लिए (धृतः) निर्धारित किया। (सर्वे देवाः) सब देवों ने (संगत्य) मिलकर (यत्) जब (ऋषभम्) बलीवर्द की (व्यकल्पयन्) विविध प्रकार की कल्पना की।

"जामिशंस" का अर्थ है "बहिन की प्रशंसा करने वाला। जामि अर्थात् सहजात भगिनी, शंस=**शंसु स्तुतौ,** स्तुति करने वाला, प्रशंसा करने वाला भाई। जो भाई निज बहिन की सदा प्रशंसा करता और उसकी रक्षा करता है उसके लिए क्रोड़ है, छाती है, वह छाती में लगाकर स्नेह करने के योग्य है। "**स्वसुर्जारः**" (ऋ० ६.५५.५) में "जार" का अर्थ "प्रशंसक" भी सम्भव है। यथा "**जरिता स्तोतृनाम**" (निघं० ३.१६)। यहां "**सोमस्य कलशः**" में सोम का अर्थ दुग्ध है '**सोमो दुग्धाभिरक्षाः....**' (ऋ० ९.१०७.९) में सोम का अर्थ दुग्ध है। (निरुक्त ५.१.३)। "कलश" का अर्थ है गौ का दुग्धाशय जिसमें दुग्ध का आवास होता है। निरुक्त में जामिशंस का वर्णन नहीं है।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—ऋषभः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

ते कुष्ठिकाः सरमायै कूर्मेभ्यो अदधुः शफान्।
ऊबध्यमस्य कीटेभ्यः श्ववर्तेभ्यो अधारयन्॥ १६॥

---

१. उत्थातुः=उद् उर्ध्वं तिष्ठति, इति उत्थाता, सूर्यः, तस्य।

अर्थ—(ते) उन्होंने (सरमायै) कुतिया के लिए (कुष्ठिकाः) कुत्सित अर्थात् छोटी अस्थियाँ (अदधुः) निर्धारित कीं, (कूर्मेभ्यः) कछुओं के लिए (शफान्) खुर निर्धारित किये। (अस्य) इसके (ऊबध्यम्=ऊवध्यम्) आन्तों का मल (कीटेभ्यः) कीड़ों के लिए तथा (श्ववर्तेभ्यः) कुत्तों की वृत्ति अर्थात् आजीविका के लिए (अधारयन्) निर्धारित किया।

[सरमा का अर्थ है कुतिया। सारमेय का अर्थ होता है कुत्ते, जोकि सरमा से पैदा होते हैं। कुतिया छोटी-छोटी अस्थियों को चबा लेती है। शफ अर्थात् खुर गोल होते हैं, और कछुए भी गोल। अतः इन दो का परस्पर सम्बन्ध दर्शाया है]

मन्त्र १२ से १६ तक के ऋषभाङ्ग और देवताः

१. पार्श्वे	अनुमत्याः	२. अनूवृजो	भगस्य
३. अष्ठीवन्तौ	मित्रः	४. भसद्	आदित्यानाम्
५. श्रोणी	बृहस्पतेः	६. पुच्छम्	वातस्य
७. गुदाः	सिनीवाल्याः	८. त्वचम्	सूर्यायाः
९. पदः	उत्थातुः	१०. क्रोडः	जामिशंसस्य
११. कलशः	सोमस्य	१२. कुष्ठिकाः	सरमायै
१३. शफान्	कूर्मेभ्यः	१४. ऊवध्यम्	कीटेभ्यः, श्ववर्तेभ्यः

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ऋषभः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

शृङ्गाभ्यां रक्ष ऋषत्यवर्तिं हन्ति चक्षुषा।
शृणोति भद्रं कर्णाभ्यां गवां यः पतिरघ्न्यः॥ १७॥

अर्थ—(शृङ्गाभ्याम्) दो सीगों द्वारा (रक्षः) राक्षस को (ऋषति) हटाता है, (चक्षुषा)[1] चक्षु द्वारा (अवर्तिम्) अनाजीविका का (हन्ति) हनन करता है, (कर्णाभ्याम्) दो कानों द्वारा (भद्रम्) भद्र प्रार्थनावचनों को (शृणोति) सुनता है (यः) जोकि (अघ्न्यः) अहन्तव्य, अत्याज्य अर्थात् प्रापणीय परमेश्वर (गवां पतिः) गौओं का पति है।

[मन्त्र १७ से २४ तक मुख्यरूप में "ऋषभ" द्वारा परमेश्वर का और गौणरूप में बलीवर्द का वर्णन है। अथर्व० ९.७.१ में "**प्रजापतिश्च परमेष्ठी च शृङ्गे**" कहा है। प्रजापति है उत्पन्न पदार्थों का स्वामी परमेश्वर, और परमेष्ठी है परमस्थान जीवात्मा में स्थित परमेश्वर। इन दो स्वरूपों द्वारा तामसिक-राक्षसों काम, क्रोध, लोभ आदि को हटाता है। वह निज कृपा दृष्टि (चक्षुषा) द्वारा अनाजीविका का हनन कर देता है, और चक्षुरूपी सूर्य[1] द्वारा वर्षा आदि करा कर, अन्नोत्पादन करके अनाजीविका का हनन करता है। परमेश्वर के प्राकृतिक कर्ण तो नहीं है परन्तु "**पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः**" (उपनिषद्) के अनुसार कर्णों के विना सुनने से कर्णों का आरोप किया है। वह भद्र-प्रार्थनाओं को सुनकर प्रार्थी की अभिलाषा को पूर्ण करता हे, वह अभद्र प्रार्थनाओं को नहीं सुनता। वह "गवाम्" वेदवाणियों का पति है, "**गौः वाङ्नाम**" (निघं० १.११)। वह "अघ्न्यः" है, न हनन करता और न उसका हनन हो सकता

१. **चक्षोः सूर्योऽअजायत** (यजुः० ३१.१२)। बलीवर्द निज चक्षु द्वारा अनाजीविका का हनन कैसे कर सकता है। उसकी कृपा दृष्टि से कृषि द्वारा अनाजीविका का हनन सम्भव है—यह क्लिष्ट कल्पना है।

है। "**यो न हन्यते न हन्तीति वा स अघ्न्यः** (उणा० ४.११३, दयानन्द)]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ऋषभः** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाद् बृहती** ॥

शतयाजं स यजते नैनं दुन्वन्त्यग्नयः।

जिन्वन्ति विश्वे तं देवा यो ब्राह्मण ऋषभमाजुहोति॥ १८॥

अर्थ—(सः) वह [परमयोगी] मानो (शतयाजम्) सैकड़ों यज्ञ (यजते) करता है, (एनम्) इसे (अग्नयः) कामादि अग्नियाँ (न दुन्वन्ति) उत्तप्त नहीं करतीं, और (विश्वे देवाः) सब प्रकार के दिव्य विचार तथा दिव्य कर्म (जिन्वन्ति) उसे नई प्रेरणाएँ देते हैं, (यः) जो कि (ब्राह्मणे) ब्रह्मोपासक में (ऋषभम्) श्रेष्ठ परमेश्वर की (आजुहोति) आहुति देता है।

[उपासक है तो ब्रह्मोपासक, परन्तु इसे ब्रह्म के दर्शन नहीं हुए। परमयोगी इसकी "उपासनारूपी-अग्नि" में परमेश्वर की आहुति देकर इसे ब्रह्म का साक्षात् करा देता है। यह आहुति देता है, परमयोगी। मानो इस आहुति द्वारा उसने महायज्ञ किया है। इसलिए वह मानो सैकड़ों यज्ञों के फलों का अधिकारी बन जाता है। अग्नयः—देखो (अथर्व० १६.१.१-१३)। दुन्वन्ति=**टुदु उपतापे** (स्वादिः)। जिन्वन्ति=**जिवि प्रीणनार्थः** (भ्वादिः)]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ऋषभः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ब्राह्मणेभ्य ऋषभं दत्त्वा वरीयः कृणुते मनः। पुष्टिं सो अघ्न्यानां स्वे गोष्ठेव पश्यते॥ १९॥

अर्थ—(ब्राह्मणेभ्यः) ब्रह्मोपासकों को (ऋषभम्) श्रेष्ठ परमेश्वर का (दत्त्वा) प्रदान करके दाता (मनः) निज मन को (वरीयः) श्रेष्ठ तथा उदार (कृणुते) करता है, (सः) और वह (स्वे) अपने (गोष्ठे) मन या शरीर में (अघ्न्यानाम्) वेदवाणियों की (पुष्टिम्) पुष्टि को (अवपश्यते) देखता है।

[वरीया=श्रेष्ठ और विस्तृत [उदार] दाता विना किसी प्रतिफल के मांगे, ब्रह्म दर्शन करा देने में दाता निज मन की उदारता प्रकट करता है, और लोभ से रहित होने से मन को श्रेष्ठ बनाता है। गोष्ठे=गावः इन्द्रियाणि वेदवाचो वा तिष्ठन्ति यस्मिन्=मन या शरीर। इन्द्रियों को गौ भी कहते हैं, तभी इन्द्रिय-विषयों को गोचर कहते हैं। गोचर=जिनमें इन्द्रियाँ विचरती हैं तथा "**गौः पशुरिन्द्रियं सुखं किरणो वज्रं चन्द्रमा भूमिर्वाणी जलं वा**" (उणा० २.६८, महर्षि दयानन्द)। "**अघ्न्या पदनाम**" (निघं० ५.५)। वेदवाणी अघ्न्या है, कभी इसका हनन नहीं होता, यह नित्या है। दाता के मन से वेदवाणियों की पुष्टि सदा होती रहती है। यथा "**यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः। यस्मिंश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु**" (यजुः० ३४.५) अभिप्राय यह कि दाता-परमयोगी के मन में, परमेश्वर की स्तुति करने के लिए, वेदवाणी सदा जागृत रहती है, वह निशि-दिन परमेश्वर की स्तुति करता रहता है। इन मन्त्रों में बलीवर्द का वर्णन भी अभिप्रेत है, जोकि मन्त्र पाठ के समय अनायास प्रकट होता है, परन्तु मन्त्रों का मुख्य अभिप्राय परमेश्वर ही है]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ऋषभः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

गावः सन्तु प्रजाः सन्त्वथो अस्तु तनूबलम्।

तत्सर्वमनु मन्यन्तां देवा ऋषभदायिने॥ २०॥

अर्थ—(गावः सन्तु) गौएँ हों, (प्रजाः सन्तु) प्रजाएँ हों, (अथो) और (तनूबलम्) शारीरिक बल

(अस्तु) हो। (ऋषभदायिने) ऋषभ के दाता के लिए (तत् सर्वम्) उस सबका (देवाः) देवलोग (अनुमन्यन्ताम्) अनुमोदन करें, इसकी स्वीकृति दें।

[मन्त्र में परमयोगी का वर्णन है, जोकि ब्रह्मोपासक को ब्रह्म का दर्शन करा देता है। ऐसा योगी यदि गृहस्थी हो तो उसके गृहजीवन के लिए आवश्यक साधनों को उपस्थित करना, तथा यदि वह रुग्ण हो तो उसके स्वास्थ्य तथा शारीरिक बल के लिए औषधादि की व्यवस्था करना राज्याधिकारियों का कर्त्तव्य है, जोकि राज्याधिकारी देव हों, देव कोटि के व्यक्ति हों। किस स्थान में ऐसा कौन सा योगी रहता है इसकी सूचना तो स्थानीय विशिष्ट जन ही दे सकते हैं। वे ही सहायतार्थ यथोचित प्रस्ताव राज्याधिकारियों के समीप उपस्थित कर सकते हैं। प्रस्ताव आने पर राज्याधिकारी उसका अनुमोदन करें, तत्पश्चात् राज्य की ओर से ऐसे परमयोगियों की सहायता की जानी चाहिए, यह उपदेश मन्त्र का है। दूसरी बात मन्त्र से यह प्रतीत होती है कि ऐसे योगी महात्मा भी गृहस्थ धारण कर, धर्मात्मा, सद्‌गुणी तथा सदाचारी सन्तानें उत्पन्न कर, यदि राष्ट्र को दें, तो राष्ट्र की वास्तविक समुन्नति हो सकती है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ऋषभः** ॥ छन्दः—**आस्तारपङ्क्तिः** ॥

अ॒यं पि॑पा॒न इन्द्र॒ इद्र॒यिं द॑धातु चेत॒नीम्।

अ॒यं धे॒नुं सु॒दुघां॒ नित्य॑वत्सां॒ वशं॑ दुहां वि॒प॒श्चितं॒ प॒रो दि॒वः॥ २१॥

अर्थ—(अयम्) यह परमेश्वर (इन्द्रः इत्) मानो विद्युत् ही है, (पिपानः) जोकि विद्युत् जैसे जल पिलाती है वैसे आनन्दरस पिलाता है, (चेतनीम्) वह चेतना अर्थात् सम्यक्-ज्ञानरूपी (रयिम्) सम्पत्ति (दधातु) हमें प्रदान करे (अयम्) यह परमेश्वर जो कि (परः दिवः) द्युलोक से भी परे है वह (सुदुघाम्) सुगमता से दुही जाने वाली, (नित्यवत्साम्) नित्यवत्स वाली, (वशं दुहाम्) यथेच्छ दुही जा सकने वाली, (विपश्चितम्) मेधावियों का चयन करने वाली (धेनुम्) वेदवाणीरूपी धेनु (दधातु) प्रदान करे।

[पिपानः=पा पाने (णिजर्थः अन्तर्भावितः)+कानच्। चेतनीम्=**चिती संज्ञाने** (भ्वादिः) संज्ञानम्= सम्यक्-ज्ञान। धेनुम्=**धेट् पाने** (भ्वादिः), जोकि दूध पिलाती हों। "**धेनुः वाङ्नाम**" (निघं० १.११)। मन्त्र में धेनु का अर्थ है वाक्, वेदवाणी, जोकि सदा ज्ञान-दुग्ध पिलाती है। वेदवाणी नित्या है, और ज्ञान-प्रदा है। अतः सदा ज्ञान-दुग्ध पिला सकती है, "**प्राणिगौः**" सदा दुग्ध नहीं पिला सकती। धेनु, नित्यवत्सा है। वेदधेनु का वत्स है जीवात्मा, जोकि नित्य है, और इस वत्स के कारण वेद-धेनु सदा दुग्ध पिलाती है। यह सुदुघा है, आसानी से दुही जा सकती है, केवल प्रतिदिन स्वाध्याय द्वारा। प्राणिगौः नित्यवत्सा नहीं हो सकती। वेद-धेनु विपश्चित् है, मेधावियों का चयन करने वाली है। व्यक्ति जैसे-जैसे इसका स्वाध्याय और मनन करेंगे, वैसे-वैसे मेधावियों का चयन होता जाएगा, मेधावियों की संख्या बढ़ती जाएगी। विपश्चित्="**विपः मेधाविनाम**" (निघं० ३.१५)+चित् (**चिञ् चयने**)+क्विप्, तुक्। परो दिवः=परमेश्वररूपी "ऋषभः" द्युलोक से भी परे विद्यमान है, चूंकि वह विभु है, सर्वत्र व्यापक है]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ऋषभः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

पि॒शङ्ग॑रूपो नभ॒सो व॑यो॒धा ऐ॒न्द्रः शुष्मो॑ वि॒श्वरू॑पो॒ न॒ आग॑न्।

आयु॑र॒स्मभ्यं॒ दध॑त्प्र॒जां च॑ रा॒यश्च॒ पोषै॑र॒भि नः॑ सचताम्॥ २२॥

अर्थ—(पिशङ्गरूपः) पीतवर्णी-सूर्य को रूप देने वाला, (नभसः) अन्तरिक्षस्थ मेघ से (वयोधाः)

अन्नपोषक, (ऐन्द्रः शुष्मः) विद्युत् सदृश बलस्वरूप, (विश्वरूपः) विश्व को रूप देने वाला [ऋषभ-परमेश्वर] (नः) हमें (आगन्) प्राप्त हुआ है। (अस्मभ्यम्) हमारे लिए (आयुः प्रजां च) आयु और सन्तान (दधत्) देता हुआ, (रायः च पोषैः) सम्पत्तियों की पुष्टियों के साथ, (नः अभि सचताम्) हमारे साथ घनिष्ठ सम्बन्ध वाला हो।

[पिशङ्गः-पीतवर्ण वाला, हिरण्यसदृश रूपवाला काञ्चन सदृश (६.३२.२, अथर्व० सायण) [सूर्य]। नभस्=मेघ, उदक, तथा वर्षा ऋतु (आप्टे)। "**वयः अन्ननाम** (निघं० २.७)। "**शुष्मम् बलनाम**" (निघं० २.९)। सचताम्=**षच समवाये** (भ्वादिः)]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ऋषभः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

उपेहोपपर्चनास्मिन्गोष्ठ उप पृञ्च नः। उप ऋषभस्य यद्रेत उपेन्द्र तव वीर्यम्॥ २३॥

अर्थ—(इह उपपर्चन) इस संसार में समीपता से सम्पर्क वाले! (नः अस्मिन् गोष्ठे) हमारे इस गोष्ठ में (उप पृञ्च) तू समीपता से सम्पर्क कर। (ऋषभस्य) तुझ श्रेष्ठ की (यद् रेतः) जो शक्ति है वह (उप) हमारे समीप हो जाए! (इन्द्र) हे परमैश्वर्य वाले! (तव वीर्यम्) तेरा सामर्थ्य (उप) हमारे समीप हो जाए।

[उपपर्चन=उप (समीप)+पर्चन (**पृची सम्पर्के**, अदादिः)+ल्युट् (कर्तरि)। गोष्ठ=मन में या शरीर में (मन्त्र १७)। गावः इन्द्रियाणि तिष्ठन्ति अस्मिन् इति गोष्ठः।

परमेश्वर सर्वव्यापक होने से सबके समीप है। उपासकों की भावना यह है कि सर्वव्यापक होने पर भी हमारी उपासनाओं तथा जीवनों में उसकी सत्ता अनुभूत नहीं हो रही। इसलिए वे प्रार्थना करते हैं कि तेरी शक्ति और तेरा सामर्थ्य हमें प्राप्त हो, ताकि तेरी सत्ता की समीपता हमें अनुभूत हो सके]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ऋषभः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

एतं वो युवानं प्रति दध्मो अत्र तेन क्रीडन्तीश्चरत वशाँ अनु।
मा नो हासिष्ट जनुषा सुभागा रायश्च पोषैरभि नः सचध्वम्॥ २४॥

अर्थ—(एतम्, युवानम्) इस युवा को, (वः प्रति) तुम्हारे प्रति, (अत्र) इस गोष्ठ में (दध्मः) हम स्थापित करते हैं, (क्रीडन्तीः) हे प्रजाओ! क्रीडा स्वभाव वाली होकर, (वशान् अनु) इच्छाओं के अनुसार (तेन) उस युवा के साथ (चरत) तुम विचरो। (जनुषा) नव जीवन के कारण (सुभागाः) सौभाग्य सम्पन्न हुई तुम (नः) हमारा अर्थात् हम योगियों का (हासिष्ट मा) परित्याग न करो, (च) अपितु (रायः पोषैः) अध्यात्म सम्पत्तियों की पुष्टियों से सम्पन्न हुई तुम (नः अभि सचध्वम्) हमारी ओर आकर हमारे सत्सङ्गों को प्राप्त करती रहो।

[मन्त्र २३ के अनुसार सर्वव्यापक परमेश्वर का सामीप्य उपासक अनुभव नहीं कर रहे हैं परमयोगी उनके प्रति कहते हैं कि इस सदा युवा, अतः सदा शक्ति तथा सामर्थ्य वाले परमेश्वर को तुम्हारे गोष्ठों अर्थात् मनों या शरीरों (मन्त्र १७) में हम स्थापित करते हैं। सदा क्रीड़ा स्वभाव वाली होकर जब चाहो, उस युवा के साथ विचरो। परन्तु इस नए अध्यात्म जीवनों तथा अध्यात्म सम्पत्तियों को प्राप्त कर, हम गुरुओं के साथ अपना सम्बन्ध भी बनाए रखो।

[बलीवर्द पक्ष में युवा बैल तथा गौओं में परस्पर क्रीड़ा का वर्णन है]

द्वितीय अनुवाक समाप्त॥

अनुवाक ३

सूक्त ५

विषय प्रवेश

काण्ड ९ के ५ वें सूक्त का याज्ञिक विनियोग निम्नलिखित है—

अपराजिताया आनीयमानोऽजः हतः संस्कृतश्च इन्द्रं तर्पयित्वा तृतीयनाके नाम स्वर्गभागे, यद्वा सुकृतां पुण्यलोके गच्छति। तत्र गतपूर्वस्य यजमानादेश्च तमोहन्ता भवतीज्यादि वर्णनम् (सायण)।

अपराजिता अर्थात् ऐशानी (उत्तर-पूर्व की) दिशा से लाया गया अज (बकरा) मारा गया तथा शुद्ध किया गया, इन्द्र को तृप्त करके स्वर्ग के भाग रूप तीसरे-नाक में, या सुकर्मियों के लोक में जाता है, वहाँ पहिले गये हुए यजमान आदि के तमस् का हनन करता है—इत्यादि वर्णन इस सूक्त में हुआ है।

तथा अथर्ववेद के अंग्रेजी भाषा में अनुवाद करने वाले "विलियम ड्विट ह्विटनी" ने इस सूक्त का शीर्षक दिया है—"with the offering of a goat and five rice-dishens", अर्थात् पांच ओदनतश्तरियों के साथ, बकरा देना। सूक्त में बार-बार जो "पञ्चौदनम्, अजम्" तथा "ब्रह्मणे" पद पठित हैं उनकी दृष्टि से "ह्विटनी" ने इस प्रकार का शीर्षक दिया है।

१. परन्तु "पञ्चौदनम् अजम्" के दो अर्थ सूक्त में अधिक सुसङ्गत प्रतीत होते हैं। (१) पांच इन्द्रियभोगों का भोक्ता, स्वरूपतः (अज) अजन्मा जीवात्मा। तथा (२) पाँच इन्द्रियभोगों का स्वामी अजन्मा, अकाय परमेश्वर। इसी प्रकार "ब्रह्मणे" का अर्थ है ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर के प्रति, न कि ब्राह्मण के प्रति।

२. मन्त्र ४ में "श्यामेन, असिना अनुच्छ्य, तथा परु" शब्दों द्वारा "अज" के छेदन की भावना प्रतीत होती है, परन्तु मन्त्र के यथार्थभाव प्रमाण सहित प्रकट कर दिये हैं।

३. सूक्त में ३८ मन्त्र हैं। मन्त्र १ से २६ तक एक विषय का वर्णन हुआ है, और मन्त्र २७ से ३८ तक "पुनर्भूः" स्त्री के विवाह सम्बन्धी वर्णन हुआ है।

४. मन्त्र २०, २१ में "अज" परमेश्वर के विराट् स्वरूप का वर्णन हुआ है।

५. मन्त्र १० में "त्रिनाके" पद द्वारा नाक के तीन भागों का वर्णन है। तथा मन्त्र १, ३, ४, ६, ८ में "तृतीय नाक" का वर्णन है।

६. मन्त्र ३१ से ३६ तक में ६ ऋतुओं का वर्णन, तथा इन ऋतुओं और "पञ्चौदन अज" में तादात्म्य का कथन हुआ है। ऋतुओं के नाम हैं—(१) नैदाघ (ज्येष्ठ-आषाढ़); (२) कुर्वन्तम् (श्रावण-भाद्रपद); (३) संयन्तम् (आश्विन-कार्तिक); (४) पिन्वन्तम् (मार्गशीर्ष-पौष); (५) उद्यन्तम् (माघ-फाल्गुन); (६) अभिभुवम् (चैत्र-वैशाख)। मन्त्रों में "नैदाघ" को वर्ष के प्रारम्भ की ऋतु कहा है।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

आ न॑यै॒तमा र॑भस्व सु॒कृतां॑ लो॒कमपि॑ गच्छतु प्रजा॒नन्।
ती॒र्त्वा तमां॑सि बहु॒धा म॒हान्त्य॒जो नाक॒मा क्र॑मतां तृ॒तीय॑म्॥ १ ॥

अर्थ—[कोई शुभेच्छु आचार्य के प्रति निवेदन करता है कि हे आचार्य!] (एतम्) इस मुमुक्षु को

(आनय) अपने समीप ले आ, (आरभस्व) और इसका शिक्षण आरम्भ कर, ताकि (प्रजानन्) योग विधि को जानता हुआ यह (सुकृतां लोकम्) सुकर्मियों के लोक में (अपि गच्छतु) जाए। (बहुधा) बहुत प्रकार के (महान्ति) बड़े-बड़े (तमांसि) तमोमय जीवनों को (तीर्त्वा) तैर कर, पार कर, (अजः) यह अजन्मा जीवात्मा (तृतीयं नाकम्) तीसरे सुखमय लोक की ओर (आक्रमताम्) पग बढ़ाए।

[''अज'' का अर्थ बकरा जानकर, याज्ञिक सम्प्रदाय, मन्त्र में बकरे का वर्णन मानते हैं, परन्तु बकरा अर्थ में ''प्रजानन्'' पद व्यर्थ प्रतीत होता है। मन्त्र में मुमुक्षु का वर्णन है जोकि निज आत्मस्वरूप को ''अज'' अर्थात् जन्ममरण से रहित जानकर मोक्ष पाने का अभिलाषी है। ''महान्ति तमांसि'' का अभिप्राय है लम्बे-लम्बे कालों तक नानाविध तामसिक जीवन को तैर कर मानुष शरीर को पाना। ''तृतीय नाक'' के सम्बन्ध में देखो, मन्त्र १० की व्याख्या]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

इन्द्राय भागं परि त्वा नयाम्यस्मिन्यज्ञे यजमानाय सूरिम्।
ये नो द्विषन्त्यनु तान्रभस्वानागसो यजमानस्य वीराः ॥ २ ॥

अर्थ—[आचार्य मुमुक्षु के प्रति कहता है कि] हे मुमुक्षु! (अस्मिन् यज्ञे) इस योगरूपी, ध्यानरूपी, यज्ञ में, (त्वा सूरिम्) तुझ स्तोता को, (यजमानाय इन्द्राय) संसार-यज्ञ के रचयिता परमैश्वर्यवान् परमेश्वर के लिए (भागम्) भागरूप में, (परिनयामि) मैं पूर्णतया लाता हूँ।

(ये) जो काम, क्रोध आदि (नः) हमारे साथ (द्विषन्ति) द्वेष करते हैं (तान्) उन्हें (अनुरभस्व) निरन्तर तू पकड़ता रह। ताकि (यजमानस्य) संसार-यज्ञ के रचयिता के (वीराः) वीर पुत्र (अनागसः) पापों से रहित हो जाएँ।

[व्यक्ति जब तक सांसारिक भोगों में लिप्त रहता है तब तक वह परमेश्वर के लिए निजभागरूप नहीं होता। परन्तु वह मुमुक्षु होकर जब ध्यानयज्ञ में परमेश्वर का स्तोता बन जाता है तब उसे परमेश्वर निजभागरूप में स्वीकार कर लेता है। काम-क्रोध-लोभ आदि प्रिय तो लगते हैं, परन्तु परिणाम में ये हैं द्वेषी। मुमुक्षु को चाहिए कि वह इनकी पकड़ में न आए अपितु इन शत्रुओं को निरन्तर पकड़ कर इन्हें निज वश में करता रहे। ताकि परमेश्वर के पुत्र, वीर बनें, और वीर बनकर इन शत्रुओं पर विजय पाकर, पापों से रहित हो जाए। सूरिम्=सूरिः **स्तोतृनाम** (निघं० ३.१६)]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**चतुष्पदा पुरोऽतिशक्वरी जगती** ॥

प्र पदोऽव नेनिग्धि दुश्चरितं यच्चचार शुद्धैः शफैरा क्रमतां प्रजानन्।
तीर्त्वा तमांसि बहुधा विपश्यन्नजो नाकमा क्रमतां तृतीयम् ॥ ३ ॥

अर्थ—[हे आचार्य!] (प्र पदः) प्रत्येक पाद सम्बन्धी (यत्) जिस (दुश्चरितम्) दुराचार को (चचार) इस मुमुक्षु ने किया है (अव नेनिग्धि)[१] उसे तथा सदृश दुराचार को तू शुद्ध कर दे, ताकि (प्रजानन्) ज्ञान सम्पन्न हुआ यह (आक्रमताम्) आगे की ओर पग बढ़ाए, जैसे कि ''अज'' अर्थात् बकरा (शुद्धैः) रोगों से रहित (शफैः) निज पगों द्वारा आगे पग बढ़ाता है। ताकि (विपश्यन्) जीवन के नए मार्ग को देखता हुआ (अजः) स्वरूप से जन्म रहित मुमुक्षु (बहुधा तमांसि तीर्त्वा) बहुत प्रकार

१. **णिजिर् शौचपोषणयोः** (जुहोत्यादिः), अर्थात् मुमुक्षु के दुर्गुणरूपी मलों को धोकर इसे पवित्र तथा परिपुष्ट कर।

के तमोमय जीवनों को तैर कर, (तृतीयं नाकम्) तीसरे सुखमय लोक की ओर (आक्रमताम्) पग बढाए।

[प्र पदः=प्रत्येक पाद सम्बन्धी; षष्ठी विभक्ति का एकवचन। जो दुश्चरित किये जाते हैं वे प्रायः पैरों द्वारा चल कर ही किये जाते हैं। मन्त्र में "शफैः" पद द्वारा बकरे के खुरों का निर्देश कर बकरे को उपमान रूप में निर्दिष्ट किया है। मन्त्र में "प्रजानन्-तथा-विपश्यन्" पदों द्वारा ज्ञानवान् मुमुक्षु का निर्देश हुआ है। प्रत्येक पाद सम्बन्धी दुश्चरित का यह अभिप्राय है कि दुराचार करने के लिए जिस पाद को उसने प्रथम उठाया है, मानो वह दुराचार उस पाद द्वारा किया गया है]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

अनु च्छ्य श्यामेन त्वचमेतां विशस्तर्यथापर्व१सिना माभि मंस्थाः।
माभि द्रुहः परुशः कल्पयैनं तृतीये नाके अधि वि श्रयैनम्॥ ४॥

अर्थ—(विशस्तः) हे विशेष प्रशस्त [आचार्य!] (श्यामेन) श्याम ब्रह्म के उपदेश द्वारा, (असिना) तथा ज्ञानासि द्वारा, (यथापरु) परु-परु करके, (एताम् त्वचम्) इस मुमुक्षु की त्वचा को (अनुच्छ्य) अनुकूलतया काट दे, (माभिमंस्थाः) इस सम्बन्ध में तू अभिमान न कर, अथवा इसकी हिंसा न कर (मा अभिद्रुहः) और न इसके साथ द्रोह कर, (एनम् परुशः कल्पय) अपितु इस मुमुक्षु को परु-परु में सामर्थ्यवान् कर, तथा (एनम्) इसको (तृतीये नाके अधि) सुखमय तीसरे नाक पर (विश्रय) विश्राम करने योग्य कर।

[विशस्तः=विशस्तृ[१] प्रातिपदिक का सम्बुद्धि पद; यथा हे पितः! हे मातः!। "शस्" धातु प्रशंसार्थक भी है, यथा प्रशस्तः पुरुषः। शस्त=Praised, best (आप्टे)। अनुच्छ्य=अनुकूल होकर काट (**छो छेदने,** दिवादिः), प्रतिकूल भावना से नहीं। श्यामेन=ब्रह्म के दो रूप हैं श्याम और शबल (छान्दोग्य उप० अध्याय ८, खण्ड १३)। शबल का अर्थ है नानारूपी, और श्याम का अभिप्राय है एकरूपी। जगत् के साथ सम्बन्ध से ब्रह्म नानारूपी है। माता, पिता, बन्धु, जगत् का कर्त्ता, धर्त्ता, प्रलयकर्त्ता, कर्माध्यक्ष, न्यायकारी आदि नानारूपों में ब्रह्म प्रकट होता है, और प्रलयकाल में वह एकरूपी होता है "अमात्र" अव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवः, अद्वैतम्=आदि रूप। आचार्य मुमुक्षु को सांसारिक रूपों से पृथक् करने के लिए मुमुक्षु को श्याम[२] ब्रह्म का उपदेश देता है ताकि वह मोक्ष का अधिकारी हो सके। साथ ही आचार्य ज्ञानासि अर्थात् विवेक ज्ञान रूपी "असि"[२] अर्थात् तलवार का भी उपदेश देता है ताकि वह अविद्या की गांठ को काट सके। यथा "**तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः। छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत॥**" (गीता ४.४२) में ज्ञानासि का वर्णन हुआ है।

"असि" के द्वारा शरीर के परुषों अर्थात् अङ्ग-प्रत्यङ्गों के काटने का यह अभिप्राय है कि मुमुक्षु के जन्मजात अङ्ग-प्रत्यङ्गों में दुराचार (मन्त्र ३) प्रविष्ट हुए-हुए हैं उन्हें ज्ञानासि द्वारा काटकर अलग कर देना, ताकि मुमुक्षु नव पवित्र जीवन को प्राप्त कर मुक्त हो सके। इस सम्बन्ध में आचार्य को कहा है कि मुमुक्षु को मोक्षाधिकारी बनाने में तू आत्माभिमान न कर। तथा उसे यह भी कहा है कि मुमुक्षु के साथ तू द्रोह भी न कर।

१-२. आचार्य शिष्य के दुर्गुणों को हटाने के लिए असि-क्रिया अर्थात् शल्य-क्रिया करता है, और सद्‌गुणों का आधार करने के लिए श्याम-ब्रह्म के सदुपदेश का आश्रय लेता है इसलिए आचार्य को "मृत्यु" कहा है, और "वरुण, सोम, ओषधः, तथा पयः (दूध) भी कहा है (अथर्व० ११.५.१४॥)।

अति-तपश्चर्या के द्वारा इसका हनन न कर। "**अभिपूर्वो मन्यतिर्हिंसार्थः**" (महीधर, यजुः० १३.४१)। इसी भावना को प्रकट करने के लिए मन्त्र में "मा द्रुहः" तथा "कल्पयैनम्" का प्रयोग हुआ है। मन्त्रार्थ में प्रायः "शबलेन असिना" ऐसा अन्वय किया जाता है, जिसका अर्थ है "कृष्णवर्ण मिश्रित नीली तलवार" द्वारा इसके परुओं अर्थात् जोड़ों को काट दे। परन्तु यह अर्थ मन्त्रोक्त "माभिमंस्थाः, मा अभिद्रुहः, और कल्पयैनम्" के विरुद्ध प्रतीत होता है]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ऋचा कुम्भीमध्यग्नौ श्रयाम्या सिञ्चोदकमव धेह्येनम्।
पर्याधत्ताग्निना शमितारः शृतो गच्छतु सुकृतां यत्र लोकः ॥ ५ ॥

अर्थ—(ऋचा) वेदवाणी के अनुसार (कुम्भीम्) तेरी शरीरूपी कुम्भी को (अग्नौ) तपश्चर्या की अग्नि पर (अधि श्रयामि) मैं आचार्य स्थापित करता हूँ, (आ सिञ्च उदकम्) [हे आश्रमाध्यक्ष!] इसमें आश्वासनरूपी उदक को तू सींचता रह, (एनम्) और इसे (अवधेहि) सावधान करता रह। (शमितारः) हे शान्त करने वालो! (अग्निना) ज्ञानरूपी अग्नि के द्वारा इसका (पर्याधत्त) पर्याधान करो [इसे नया वस्त्र पहनाओ], (शृतः) परिपक्व होकर यह (गच्छतु) जाए (यत्र) जहाँ कि (सुकृतां लोकः) सुकर्मियों का लोक है।

[मन्त्र में कुम्भी के परिपाक का वर्णन तो स्पष्ट ही है, परन्तु अभिप्राय प्रतीत होता है मुमुक्षु की शारीरिक तपश्चर्या का "ऋचा" पद द्वारा सम्भवतः ब्रह्मचर्य सूक्त (अथर्व० ११.५) प्रतीत होता है जिसमें कि तपश्चर्या का वर्णन है। मुमुक्षु ब्रह्मचर्याश्रम का निवासी नहीं, परन्तु मोक्ष प्राप्ति के लिए भी तपश्चर्या का जीवन आवश्यक है। इसलिए आचार्य, मुमुक्षु को तपश्चर्या की अग्नि पर स्थापित करने की आज्ञा देता है। और आश्रम के अन्य निवासियों को—जिन्हें कि "शमितारः" कहा है—इस मुमुक्षु की देख-भाल के लिए निर्देश देता है—(१) कि इसे आश्वासनरूपी उदक द्वारा सींचते रहो, (२) इसे सावधान भी करते रहो ताकि यह तपश्चर्या के व्रत को छोड़ न दे, (३) तथा इसे ज्ञानाग्नि द्वारा ज्ञानवान् करके नवजीवन रूपी नववस्त्र द्वारा आच्छादित करो, ताकि यह सुकर्मियों के स्थान को प्राप्त हो सके]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

उत्क्रामातः परि चेदतप्तस्तप्ताच्चरोरधि नाकं तृतीयम्।
अग्नेरग्निरधि सं बभूविथ ज्योतिष्मन्तमभि लोकं जयैतम् ॥ ६ ॥

अर्थ—(अतः परि) इस परिस्थिति से (उत्क्राम) तू उन्नति की ओर पग बढ़ा (चेत्) यदि (अतप्तः) तूने तपश्चर्या नहीं की; (तप्तात्) अर्थात् तपश्चर्या द्वारा तप्त हुए (चरोः अधि) चरु से (तृतीयं नाकम्) सुखमय तीसरे लोक की ओर पग बढ़ा। क्योंकि (अग्नेः अधि) तपश्चर्या की अग्नि से (अग्निः) अग्निसदृश पाप मल को जला देने वाला (सं बभूविथ) तू हुआ है। तू (एतम्) इस (ज्योतिष्मन्तं लोकम् अभि जय) ज्योतिःसम्पन्नलोक पर विजय प्राप्त कर।

[चरुः[1]=चलने फिरने वाला शरीर। इसे (मन्त्र ५) में कुम्भी कहा है। (नाकं तृतीयम्, देखो मन्त्र १०)।

---

१. परिपक्व हविः, ओदन, यव आदि।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अजः पञ्चौदनः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

अजो अग्निरजमु ज्योतिराहुरजं जीवता ब्रह्मणे देयमाहुः।
अजस्तमांस्यप हन्ति दूरमस्मिंल्लोके श्रद्दधानेन दत्तः॥ ७॥

अर्थ—(अजः) स्वरूपतः जन्म से रहित जीवात्मा (अग्निः) अग्निरूप है, (अजम्) जन्म से रहित जीवात्मा को (ज्योतिः आहुः) ज्योतिरूप कहते हैं, (जीवता) जीवित व्यक्ति द्वारा [जीवित काल में] (अजम्) निज जीवात्मा को (ब्रह्मणे) ब्रह्म के प्रति (देयम् आहुः) समर्पणीय कहते हैं (श्रद्दधानेन) श्रद्धालु द्वारा (दत्तः) ब्रह्म के प्रति समर्पित किया गया (अजः) जीवात्मा, (अस्मिन् लोके) इस पृथिवी लोक में (दूरम्) दूर-दूर तक (तमांसि) अज्ञानान्धकारों को (अप) हटाकर, (हन्ति) उनका हनन कर देता है।

[मन्त्र में अज को अग्नि कहा है, जैसे अग्नि मल को भस्मीभूत कर देती है वैसे प्रबुद्ध जीवात्मा पाप-मल को भस्मीभूत कर देता है। प्रबुद्ध जीवात्मा ज्योतिरूप हो जाता है, जैसे ज्योतिरूप सूर्य अन्धकार को हटाता है, वैसे प्रबुद्ध जीवात्मा ज्योतिर्मय होकर, भूमण्डल वासियों के अज्ञानान्धकारों को दूर-दूर तक हटा देता है। परन्तु ऐसी शक्ति उसी जीवात्मा को प्राप्त होती है जिसने कि निज को ब्रह्म के प्रति समर्पित कर दिया होता है। याज्ञिक सम्प्रदायानुसारी मन्त्र में "अज" का अर्थ करते हैं "बकरा"। क्या बकरे में मन्त्रोक्त भावनाएँ सार्थक हो सकती हैं?]

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अजः पञ्चौदनः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

पञ्चौदनः पञ्चधा वि क्रमतामाक्रंस्यमानस्त्रीणि ज्योतींषि।
ईजानानां सुकृतां प्रेहि मध्यं तृतीये नाके अधि वि श्रयस्व॥ ८॥

अर्थ—(त्रीणि ज्योतींषि) तीन ज्योतियों की प्राप्ति को लक्ष्य करके (आक्रंस्यमानः) आक्रमण करना चाहता हुआ, (पञ्चौदनः) पांच प्रकार के पञ्चेन्द्रियभोगों वाला व्यक्ति, (पञ्चधा) पांच प्रकार से (विक्रमताम्) विक्रम अर्थात् पराक्रम करे। तब (ईजानानाम् सुकृताम्) जिन्होंने इन्द्रियभोगों पर विजयरूपी यज्ञ किये हैं उन सुकर्मियों के (मध्यम्) मध्य में (प्रेहि) तू जा। तदनन्तर (तृतीये नाके) सुखमय तीसरे नाक में (अधि) अधिकार पूर्वक (विश्रयस्व) तू आश्रय ले अर्थात् विश्राम करे।

[व्यक्ति की परिस्थिति को दर्शाने के लिए उसे पञ्चौदन कहा है, अर्थात् वह अभी पञ्चेन्द्रियों के पांच भागों में लिप्त है। वह चाहता है तीन ज्योतियों की प्राप्ति। एतदर्थ वह आक्रमण करना चाहता है। यह आक्रमण शत्रुरूप पांच विषयों पर करता है। आक्रमण अर्थात् शत्रु पर धावा करने के लिए अधिक बल की आवश्यकता होती है। बल अर्थात् मानसिक और अध्यात्मिक बल का संचय करके व्यक्ति पांच प्रकार से पञ्चभोगों पर आक्रमण करे। पहिले किसी एक इन्द्रियविषय पर आक्रमण करके उस पर विजय प्राप्त करे, तदनन्तर अवशिष्ट विषयों पर एक-एक करके आक्रमण करे। इसके पश्चात् वह तीन ज्योतियों की प्राप्ति का अधिकारी बन जाता है। पांच ऐन्द्रियिक भोगों पर विजय पाकर, वह, (१) सुकर्मियों की समाज में जाने-आने योग्य बनता है, और (२) अधिक उन्नति करके वह तीन ज्योतियों को प्राप्त करता है; (३) तदनन्तर वह सुखमय तीसरे नाक में चिरकाल तक विश्राम पाता है।

तीन ज्योतियाँ हैं तीन ज्ञान ज्योतियाँ, जोकि योगी को विभूतिरूप में प्राप्त होती हैं—

(१) पांचों इन्द्रियों में, दिव्य तथा दूर और व्यवहित विषयों की ग्रहण करने की शक्ति का हो जाना (योग ३.३१)। (२) प्रातिभ-ज्ञान (योग ३.३३) जिसे कि "Intutional insight" कहते हैं। (३) विवेकज-ज्ञान (योग ३.५४)। विवेकज-ज्ञान उत्पन्न हो जाने पर सब वस्तुओं का ज्ञान, प्रत्येक वस्तु की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का ज्ञान, क्रम की अपेक्षा के विना सब को एक क्षण में जान सकना—सम्भव हो जाता है (योग ३.५४)।]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अजा रोह सुकृतां यत्र लोकः शरभो न चत्तोति दुर्गाण्येषः।
पञ्चौदनो ब्रह्मणे दीयमानः स दातारं तृप्त्या तर्पयाति॥ ९ ॥

अर्थ—(अज) हे अजन्मा जीवात्मा! (आरोह) आरोहण कर (यत्र) जहाँ कि (सुकृतां लोकः) सुकर्मियों का लोक है, (चत्तः) प्रार्थित हुए (शरभः) और शान्ति धारण किये हुए के (न) सदृश, (दुर्गाणि अति) दुर्गम मार्गों को लांघ कर भी (एषः) हमारे पास आया कर। (पञ्चौदनः) पांच इन्द्रिय-भोगों वाला जो "अज" था वह जब (ब्रह्मणे) ब्रह्म के प्रति (दीयमानः) समर्पण के योग्य हो जाता है, तो वह (दातारम्) दाता आचार्य को (तृप्त्या तर्पयाति) तृप्ति से तृप्त कर देता है।

[शरभः=जिसने कि शान्त जीवन आरम्भ किया हुआ है, प्रार्थना करने पर, जैसे वह कठिन मार्गों को लांघ कर भी हमारे पास आता है, वैसे हे अजन्मा जीवात्मा! तू भी आया कर। इससे प्रतीत होता है कि अजन्मा जीवात्मा अभी जीवित है, उसने अभी तक मोक्षारोहण नहीं किया। केवल शुभभावना की गई है कि हे अज! तू आरोहण के लिए यत्न करता रह और निज को तू ब्रह्म के प्रति समर्पण कर दे। जब वह योग्य हो जाता है, तब वह उस योगाचार्य को जिसने इस को इस योग्य किया है, तृप्ति से तृप्त कर देता है। (योगाचार्य के लिए देखो मन्त्र १,२)। चतः=**चते याचने** (भ्वादिः)+क्त। एषः=आ+**इष गतौ**]।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

अजस्त्रिनाके त्रिदिवे त्रिपृष्ठे नाकस्य पृष्ठे ददिवांसं दधाति।
पञ्चौदनो ब्रह्मणे दीयमानो विश्वरूपा धेनुः कामदुघास्येका॥ १० ॥

अर्थ—[हे मुमुक्षु!] (पञ्चौदनः) पांच इन्द्रिय-भोगों वाला जो तू था, वह तू (ब्रह्मणे दीयमानः) जब ब्रह्म के प्रति दिया जाने वाला अर्थात् समर्पित किया जाने वाला हो जाता है, तब तू (एका) एक (कामदुघा धेनुः असि) यथेच्छ-दुही-जाने-वाली गौ के सदृश हो जाता है, जो कामदुघा कि (विश्वरूपा) विश्व को रूपवान् बना देती है। और जब तू (अजः) पुनर्जन्म से मुक्त हुआ जीवन्मुक्त हो जाता है, तब (अजः) अज एकपाद् परमेश्वर (ददिवांसम्) ब्रह्म के प्रति दे चुके हुए तुझ को, (त्रिनाके, त्रिदिवे, त्रिपृष्ठे नाकस्य पृष्ठे) त्रिविभक्त नाक में, जोकि ब्रह्म के प्रकाश द्वारा द्योतमान होता है, और जिसकी तीन पीठें हैं, ऐसे नाक की किसी एक पृष्ठ पर (दधाति) स्थापित कर देता है।

[मन्त्र में "दीयमानः और ददिवांसम्" द्वारा मुमुक्षु की दो अवस्थाओं का वर्णन किया है। मुमुक्षु जब ब्रह्म के प्रति निज को दिये जाने की अवस्था में होता है। तब वह कामदुघा गौ के सदृश हुआ-हुआ मानुष जगत् की कामनाओं को सफल करके, मानुष-जगत् को एक नया रूप दे देता है, निज सदुपदेशों द्वारा जीवनों में परिवर्तन पैदा कर उनके जीवनों को सुधार देता है, जैसे कि गौ निज दुग्ध द्वारा दुग्धसेवियों

को रूपवान् कर देती है]।

परन्तु जो जीवन्मुक्त अपने आप को पूर्णरूप से ब्रह्म के प्रति समर्पण कर चुका होता है उसकी आत्मा को "अज" परमेश्वर या ब्रह्म उसके देहावसान पर नाक के किसी एक पृष्ठ पर, उसकी योग्यता अनुसार, स्थापित कर देता है।

योगी तीन प्रकार के होते हैं, विदेह, प्रकृतिलीन, समाधिसिद्ध (योग० १.१९, २०)। तीन प्रकार के के योगियों में से प्रत्येक योगी, निजकर्मानुसार, विविध नाकों में किसी एक नाक के पृष्ठ पर जाने का अधिकारी होता है।

"भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्" (योग० ३.२६) इसके भाष्य में व्यासमुनि ने एक प्राचीन श्लोक उद्धृत किया है। यथा—

ब्राह्मस्त्रिभूमिको लोको बार्हस्पत्यस्ततो महान्। माहेन्द्रश्च स्वरित्युक्तो दिवि तारा भुवि प्रजाः॥

श्लोकपठित "ब्राह्मः त्रिभूमिको लोकः" और मन्त्रपठित "त्रिनाके" में आर्थिक और भाव सम्बन्धी समता प्रतीत होती है। श्लोक में ७ भुवनों का निर्देश भी प्राप्त होता है, तीन तो "ब्राह्मस्त्रिभूमिकलोकः" एक बार्हपत्य लोक "महान्" एक माहेन्द्र लोक "स्वः", द्युलोक, तथा भूलोक[१]]।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

एतद्वो ज्योतिः पितरस्तृतीयं पञ्चौदनं ब्रह्मणेजं ददाति।
अजस्तमांस्यप हन्ति दूरमस्मिंल्लोके श्रद्दधानेन दत्तः॥ ११॥

अर्थ—(पितरः) हे पितरो! (एतत्) यह (वः) तुम्हारे लिए (तृतीयम् ज्योतिः) तीसरी ज्योति है जोकि (पञ्चौदनम्) पांच इन्द्रियिक भोगों को [त्याग कर], (अजम्) निज नित्य आत्मा को (ब्रह्मणे) ब्रह्म के प्रति समर्पित कर देता है। (अजः) यह नित्य आत्मा [जीवात्मा] (अस्मिन् लोके) इस पृथिवी लोक में (तमांसि) अज्ञानान्धकारों को (दूरम्) दूर-दूर के प्रदेशों तक (अप हन्ति) विनष्ट कर देता है, जब कि यह (श्रद्दधानेन दत्तः) श्रद्धापूर्वक ब्रह्म के प्रति समर्पित कर दिया हो।

[पितरः=गृहस्थी लोग, माता-पिता आदि। तृतीयम् ज्योतिः=गृहस्थियों के लिए एक ज्योति है। आचार्य, विज्ञपुरोहित। दूसरी ज्योति है उपस्थित परमेश्वर। तीसरी ज्योति है "अज" अर्थात् नित्य जीवात्मा, जिसने पांच प्रकार के भोगों को त्याग कर, अपने-आप को ब्रह्म के प्रति समर्पित कर दिया है। यह तीसरी ज्योति निज उपदेशों द्वारा दूर-दूर के प्रदेशों के निवासियों के अज्ञानान्धकारों को विनष्ट कर देता

---

१. **"येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा, येन स्वः स्तभितं येन नाकः। योऽअन्तरिक्षे रजसो विमानः, कस्मै देवाय हविषा विधेम"** (यजुः० ३२.६) में (१) द्यौः, (२) पृथिवी, (३) स्वः, (४) नाकः, (५) अन्तरिक्ष का वर्णन है। परन्तु व्याख्येय मन्त्र १० में यतः "नाकः" को "त्रिनाके" कहा है, अतः "नाकः" को त्रिविभक्त मान कर मन्त्र ३२.६ में भी सात भुवनों का ही वर्णन जानना चाहिए। इस नाक में मुक्तात्माओं का निवास होता है। इसमें निम्नलिखित मन्त्र प्रमाण है। यथा **"यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः"** (यजुः० ३१.१६)। मन्त्र में "साध्य देवों" की स्थिति "नाक" में दर्शाई है। "साध्याः देवाः" हैं योगसाधना द्वारा सम्पन्न दिव्य मुक्तात्मा। नाक में मुक्तात्मा ब्रह्म में विचरते हुए ब्रह्मानन्द रस का पान करते हैं। इस भावना को दर्शाने के लिए त्रिभूमिकलोक को "ब्राह्मः" कहा है (योग ३.२६)। त्रिनाके को त्रिदिवे कहा है। यह त्रिनाक ब्राह्मी द्युति द्वारा द्योतमान होता है।

है]।

ऋषिः—भृगुः॥ देवता—अजः पञ्चौदनः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

ईजानानां सुकृतां लोकमीप्सन्पञ्चौदनं ब्रह्मणेजं ददाति।
स व्याप्तिमभि लोकं जयैतं शिवो३स्मभ्यं प्रतिगृहीतो अस्तु॥ १२॥

अर्थ—(ईजानानाम्) ध्यान-यज्ञ जिन्होंने किये हैं ऐसे (सुकृताम्) सुकर्मियों के (लोकम्) लोक की (ईप्सन्) इच्छा करता हुआ मुमुक्षु (पञ्चौदनम्, अजम्) पञ्चौदन "अज" को पञ्चौदन सहित जन्म-मरण रहित निज आत्मा को (ब्रह्मणे ददाति) ब्रह्म के प्रति समर्पित कर देता है। हे अज! (सः) वह तू (एतम्) इस (व्याप्तिम् लोकम्, अभि) व्याप्ति वाले लोक पर (जय) विजय पा, और (शिवः) कल्याणमय हुआ वह (अस्मभ्यम्) हमारे लिए (प्रतिगृहीतः, अस्तु) स्वीकृत हुआ हो]।

[पञ्चौदनम् अजम्=पांच इन्द्रियों के पांच भोगों सहित आत्मा को समर्पित करना। जिस लोक को मुमुक्षु चाहता है वह परिमाण में पृथिवी की अपेक्षा अधिक व्याप्त है। मुमुक्षु अभी कल्याणमार्गी है, वह जब शिवरूप हो जाता है तो प्रजाजन आदर पूर्वक उसे स्वीकृत करते हैं]।

ऋषिः—भृगुः॥ देवता—अजः पञ्चौदनः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

अजो ह्य१ग्नेरजनिष्ट शोकाद्विप्रो विप्रस्य सहसो विपश्चित्।
इष्टं पूर्तमभिपूर्तं वषट्कृतं तद्देवा ऋतुशः कल्पयन्तु॥ १३॥

अर्थ—(अग्नेः) अग्नि स्वरूप परमेश्वर के (शोकात्) प्रकाश से मुमुक्षु, (अजः) पुनर्जन्म से रहित (अजनिष्ट) हुआ है, वह (विप्रस्य) मेधावी परमेश्वर की (सहसः) शक्ति से (विप्रः) मेधावी तथा (विपश्चित्) ज्ञानी हुआ है। अतः (देवाः) देव अर्थात् इसके सम्बन्धी मातृदेव, पितृदेव, आचार्यदेव [इस प्रसन्नता में] (इष्टम्) यथेष्ट (पूर्तम्) सामाजिक दान, (अभिपूर्तम्) बहुदान तथा (वषट्कृतम्) यज्ञाहुतियाँ (ऋतुशः) समयानुसार (कल्पयन्तु) करें।

[अग्निः=परमेश्वर "**तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ताऽआपः स प्रजापतिः॥**" (यजुः० ३२.१)। मन्त्रोक्त वर्णन "बकरा" अर्थ में सम्भव नहीं]।

ऋषिः—भृगुः॥ देवता—अजः पञ्चौदनः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

अमोतं वासो दद्याद्धिरण्यमपि दक्षिणाम्।
तथा लोकान्त्समाप्नोति ये दिव्या ये च पार्थिवाः॥ १४॥

अर्थ—[मुमुक्षु] (अमोतम् वासः) घर में बुना वस्त्र, (अपि) तथा (हिरण्यम्) सोना (दक्षिणाम्) यज्ञ कराने वाले को दक्षिणा में (दद्यात्) दे। (तथा) इस प्रकार मुमुक्षु, (लोकान्) उन लोकों को (समाप्नोति) प्राप्त करता है, (ये दिव्याः) जो दिव्य हैं (ये च) और जो (पार्थिवाः) पार्थिव है (देखो मन्त्र २५, २६)।

ऋषिः—भृगुः॥ देवता—अजः पञ्चौदनः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

एतास्त्वाजोप यन्तु धाराः सोम्या देवीर्घृतपृष्ठा मधुश्चुतः।
स्तभान पृथिवीमुत द्यां नाकस्य पृष्ठेधि सप्तरश्मौ॥ १५॥

अर्थ—(अज) हे जन्म मरण से रहित परमेश्वर! (सोम्याः) सोम का, (देवीः, घृतपृष्ठाः, मधुश्चुतः) दिव्य, घृतस्पर्शी तथा मधुमिश्रित (एताः धाराः) ये धाराएँ (त्वा उपयन्तु) तुझे प्राप्त हों। (नाकस्य पृष्ठे) नाक की पीठ पर (सप्तरश्मौ) सात प्रकार की रश्मियों वाले सूर्य में (अधि) अधिष्ठित हुआ तू (पृथिवीम् उत द्याम्) पृथिवी और द्युलोक को (स्तभान) थाम।

[मन्त्र १३ में अग्नि स्वरूप परमेश्वर के प्रकाश से मुमुक्षु "अज" अर्थात् जन्मरहित है, इस निमित्त मन्त्र १४ में यज्ञ कराने सम्बन्धी दक्षिणा का वर्णन हुआ है, और मन्त्र १५ में घृत तथा मधु से मिश्रित सोमयाग की कर्त्तव्यता का निर्देश किया है। सूर्य को सप्तरश्मि कहा है। इसकी शुभ्र रश्मियाँ फट कर, सातरंगों की रश्मियों में परिवर्त्तित हो जाती हैं। ये सातरंगी रश्मियाँ वर्षर्तु में मेघीय इन्द्र-धनुष् में दीखती हैं। यजुर्वेद (४०.१७) में भी परमेश्वर की स्थिति आदित्य में दर्शाई है।

ऋषिः—**भृगुः**॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः**॥ छन्दः—**त्रिपदानुष्टुप्**॥

अजो३स्यज स्वर्गोऽसि त्वया लोकमङ्गिरसः प्राजानन्।
तं लोकं पुण्यं प्र ज्ञेषम्॥ १६॥

अर्थ—(अज) हे अजन्मा परमेश्वर! (अजः असि) तू सदा से जन्म रहित है, अकाय है, (स्वर्गः असि) तू स्वर्गरूप है, (अङ्गिरसः) प्राण विद्या के विज्ञों ने (त्वया) तेरी कृपा द्वारा (लोकम्) नाक को (प्राजानन्) जाना है। (तं पुण्यं लोकम्) उस पुण्य लोक को (प्रज्ञेषम्) तेरी कृपा से मैं भी जानूं।

[यह कथन जीवन्मुक्त मुमुक्षु का है, क्या यह प्रार्थना अज (बकरा) कर सकता है?]

ऋषिः—**भृगुः**॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

येना सहस्रं वहसि येनाग्ने सर्ववेदसम्। तेनेमं यज्ञं नो वह स्वर्देवेषु गन्तवे॥ १७॥

अर्थ—(अग्ने) हे प्रकाशस्वरूप तथा ज्ञानस्वरूप परमेश्वर! (येना=येन) जिस हेतु से (सहस्रम्) हजारों लोक-लोकान्तरों का (वहसि) तू वहन करता है, (येन) जिस हेतु से (सर्ववेदसम्) सर्वस्वत्यागी का वहन करता है। (तेन) उस हेतु से (नः) हमारे (इमम् यज्ञम्) इस यज्ञ को सफलता की ओर (वह) ले चल, ताकि (देवेषु) देवों मे वर्तमान (स्वः) सुखविशेष को (गन्तवे) हम प्राप्त हो सकें।

[अग्नि है परमेश्वर (मन्त्र १३)। परमेश्वर लोक-लोकान्तरों का वहन करता है मनुष्यों और अन्य प्राणियों के भोग और अपवर्ग के लिए "**भोगापवर्गार्थं दृश्यम्**" (योग २.१८)। सर्वस्वत्यागी का वहन इसलिए करता है क्योंकि उसके सकामकर्म निष्कामरूप हो गये हैं अतः उसके जीवन को परमेश्वर निज प्रेरणाओं द्वारा प्रेरित करता है। मन्त्र में प्रार्थना की गई है कि हम जीवन्मुक्तों के जीवन यज्ञों का भी तू वहन कर, ताकि उस सुख विशेष को हम प्राप्त हो सकें जोकि दिव्य गुणियों को प्राप्त है। गन्तवे=गन्तुम्, तुमुन् प्रत्यय।

ऋषिः—**भृगुः**॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः**॥ छन्दः—**त्रिपदा विराड् गायत्री**॥

अजः पक्वः स्वर्गे लोके दधाति पञ्चौदनो निर्ऋतिं बाधमानः।
तेन लोकान्त्सूर्यवतो जयेम॥ १८॥

अर्थ—(पक्वः अजः) समाधि में परिपक्व हुआ, साक्षात् प्रकट हुआ नित्य परमेश्वर, (पञ्चौदनः) जो कि पंचविध इन्द्रियभोगों का स्वामी है, (निर्ऋतिं बाधमानः) कष्टों को हटाता हुआ, (स्वर्गे लोके

दधाति) स्वर्गलोक में स्थापित कर देता है। (तेन) उसकी सहायता या कृपा से (सूर्यवतः लोकान् जयेम) सूर्य वाले लोकों पर हम विजय पाएँ, उन्हें प्राप्त हों।

[सूर्यवतः लोकान्=सौर परिवार सम्बन्धी लोक ग्रह आदि; या सूर्य जहाँ स्थित है, तत्सम्बन्धी द्युलोकस्थ लोक-लोकान्तर]।

ऋषिः—भृगुः॥ देवता—अजः पञ्चौदनः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

यं ब्राह्मणे निदधे यं च विक्षु या विप्रुष ओदनानामजस्य।
सर्वं तदग्ने सुकृतस्य लोके जानीतान्नः संगमने पथीनाम्॥ १९॥

अर्थ—(यम्) जिस ओदन को (ब्राह्मणे) ब्रह्मवेत्ता तथा वेदवेत्ता आचार्य [के हाथ] में (निदधे) मैं स्थापित करता हूँ, (यं च) और जिसे (विक्षु) प्रजाओं में स्थापित करता हूँ, और (अजस्य) व्रीहि के (ओदनानाम् याः विप्रुषः) पके ओदनों की जो विन्दुएँ हैं, (सर्वं तद्) उस सब को (अग्ने) हे प्रकाशमय तथा ज्ञानमय परमेश्वर! (पथीनां संगमने, सुकृतस्य लोके) पथों के संगम में जहाँ कि सुकर्मों का लोक है वहां, तू (नः) हमारे लिए (जानीत) जान।

[मन्त्र में ब्राह्मण है वह आचार्य, जोकि अध्यात्म-शिक्षक है। विक्षु पद द्वारा बलिवैश्वदेव यज्ञ को सूचित किया है, जिसमें कि प्राणिमात्र के लिए पक्वान्न के अंश भेंट किये जाते हैं। यथा "**शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम्। वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद् भुवि**"। (मनु० ३.९२) "अजस्य" द्वारा व्रीहि सूचित किया है जिससे तण्डुल निकाल कर ओदन पकाए जाते हैं। यथा "**अजसंज्ञानि बीजानि छागं नो हन्तुमर्हथ**" (महाभारत, शान्तिपर्व अध्याय ३३७)। पथीनां संगमने=सम्भवतः देवमार्ग और पितृमार्ग का जहाँ संगम होता हो, वहाँ सुकृत का कोई स्थिति विशेष हो जिसे कि "सुकृतस्य लोके" द्वारा निर्दिष्ट किया है]।

ऋषिः—भृगुः॥ देवता—अजः पञ्चौदनः॥ छन्दः—पञ्चपदानुष्टुबुष्णिग्गर्भोपरिष्टाद्बार्हता भुरिक्॥

अजो वा इदमग्रे व्यक्रमत तस्योर इयमभवद् द्यौः पृष्ठम्।
अन्तरिक्षं मध्यं दिशः पार्श्वे समुद्रौ कुक्षी॥ २०॥

अर्थ—(अग्रे) प्रारम्भ में (वै) निश्चय से (अजः) जन्मरहित, अकाय परमेश्वर ने (इदम्) इस ब्रह्माण्ड पर (व्यक्रमत) विक्रम दर्शाया या पादनिक्षेप किया, (तस्य) उसकी (उरः अभवत्) छाती हुई (इयम्) यह पृथिवी, (द्यौः) द्युलोक हुआ (पृष्ठम्) पीठ। (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष हुआ (मध्यम्) शरीर का मध्यभाग, (दिशः) दिशाएँ हुईं (पार्श्वे) दो पार्श्व (कुक्षी) दो कोखें हुईं। (समुद्रौ) दो समुद्र।

[पार्श्वे=दो पार्श्वों की नाना, अस्थियों को "दिशः" नाना दिशाएँ कहा है। कुक्षी=अन्तरिक्ष का समुद्र, तथा पार्थिव समुद्र[१]।

---

१. इन्हें उत्तर-समुद्र और अधर-समुद्र भी कहा है। यथा "**स उत्तरस्मादधरं समुद्रमपो दिव्या असृजद् वर्ष्या अभि**" (ऋ० १०.९८.५)। अथवा कुक्षी=पूर्व समुद्र तथा पश्चिम समुद्र। यथा "**उतो समुद्रौ वरुणस्य कुक्षी**" (अथर्व० ४.१६.३) पर सायणाचार्य।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अजः पञ्चौदनः ॥ छन्दः—पञ्चपदानुष्टुबुष्णिग्गर्भोपरिष्टाद्-बार्हता भुरिक् ॥

स॒त्यं च॒र्तं च॒ चक्षु॑षी॒ विश्वं॑ स॒त्यं श्र॒द्धा प्रा॒णो वि॒राट् शिरः॑ ।

ए॒ष वा अप॑रिमितो य॒ज्ञो यद॒जः पञ्चौ॑दनः ॥ २१ ॥

अर्थ—(सत्यं च ऋतं च) सत्य और नियम (चक्षुषी) दो आँखें हैं; (विश्वं सत्यम्) सम्पूर्णरूप में सत्य और (श्रद्धा) अर्थात् उस सत्य का धारण करना है (प्राणः) प्राण, अर्थात् श्वास-और-प्रश्वास (विराट्) है (शिरः) सिर। (एषः) यह है (वै) निश्चय से (अपरिमितः यज्ञः) परिमाण रहित अर्थात् सर्वव्यापक यज्ञ (यद्) जोकि (पञ्चौदनः अजः) पांचों भोगों का स्वामी "अज" है, जन्मरहित परमेश्वर है।

[मन्त्र २०, २१ में "अज" परमेश्वर को और ब्रह्माण्ड में उसके शरीरी-और-शरीरभाव को द्योतित किया है। जैसे अस्मदादि पिण्डों में आत्माओं और शरीरों का सम्बन्ध है, नियामक और नियम्य भाव, ऐसा ही सम्बन्ध है परमेश्वर और ब्रह्माण्ड का। अस्मदादि शारीरिक जीवनों में आत्मा और शरीर का सम्बन्ध भोग और अपवर्ग द्वारा प्रेरित है, और परमेश्वर और ब्रह्माण्ड का सम्बन्ध भोग करवाने और आत्माओं को मोक्ष दिलाने के लिए है, कर्मवासनाजन्य नहीं।

यह भी जानना आवश्यक है कि जहाँ मन्त्रों में परमेश्वर के सम्बन्ध में शारीरिक अङ्गों का वर्णन हो, वहाँ उरस्, पृष्ठ आदि (मन्त्र २०) तथा चक्षुः, शिरः आदि (मन्त्र ११) द्वारा ब्रह्माण्ड के अवयव ही समझने चाहिएँ, जो कि काल्पनिक ही होते हैं। परमेश्वर की दो आँखें हैं, सत्य और ऋत। इन द्वारा वह जगत् का निरीक्षण तथा शासन करता है। "विश्वं सत्यम्" को "बृहत्-सत्यम्" भी कहा है (अथर्व० १२.१.१)। वैयक्तिक, सामाजिक, राष्ट्रिय तथा सार्वभौम जीवनों में सदा सत्य व्यवहार ही "विश्वं सत्यम्" है। श्रद्धा है जीवन में श्रत् (सत्यम्, निघं० ३.१०) का+धा (धारण और पोषण करना)। ये दो हैं परमेश्वर के प्राणरूप, श्वास-प्रश्वासरूप, प्राणापानरूप। विराट् है विशेषेण दीप्यमाना द्यौः (वि+**राजृ दीप्तौ**), इसे शिरः कहा है अर्थात् परमेश्वर का शिर। "**शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत**" (यजुः० ३१.१३), तथा "**दिवं यश्चक्रे मूर्धानम्**" (अथर्व० १०.७.३२) में द्यौः, दिव् को सिर तथा मूर्धा कहा है। तथा "**ते दिवमेव विराजं पञ्चमीं चितिमपश्यन्**" (श० ब्रा० ८.५.१.२) में दिव् को विराट् कहा है। त्रिलोकी में सर्वोच्च होने से द्यौः त्रिलोकी का शिर है, जैसे कि मनुष्य का शिरः शरीर में सर्वोच्च है। इसी प्रकार विराट् को शिरः कहना उपयुक्त ही है। तथा विराट् निज दीप्ति से दीप्यमान है, शिरः भी निज ज्ञानदीप्ति से दीप्यमान होता है। अपरिमितः यज्ञः=परमेश्वर (यजुः० ३१.६, ७, ९)]।

पिण्ड और ब्रह्माण्ड में प्रतिरूपता

उरः	=	पृथिवी	पृष्ठम्	=	द्यौः
मध्यम्	=	अन्तरिक्षम्	पार्श्वे	=	दिशः
कुक्षी	=	समुद्रौ	चक्षुषी	=	ऋतं च सत्यं च
प्राणः	=	विश्वं सत्यम्, श्रद्धा	शिर	=	विराट्

"विशेष" मध्यम्=उदरम्। कुक्षी का अर्थ गर्भाशय भी है (उणा० ३.१५५, म० दयानन्द) इस दृष्टि से कुक्षी "दो वृक्क" अर्थात् दो Kideys प्रतीत होते हैं, जिनमें मूत्र पैदा होता है जिन्हें कि समुद्रौ

कहा है।

ऋषिः—भृगुः॥ देवता—अजः पञ्चौदनः॥ छन्दः—पञ्चपदानुष्टुबुष्णिग्गर्भोपरिष्टाद्-बार्हता भुरिक्॥

अपरिमितमेव यज्ञमाप्नोत्यपरिमितं लोकमव रुन्धे।
योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति॥ २२॥

अर्थ—(अपरिमितम् एव) परिमाणरहित अर्थात् सर्वव्यापक (यज्ञम्) यज्ञनामक परमेश्वर को ही (आप्नोति) वह प्राप्त करता है, और (अपरिमितम्) व्यापी (लोकम्) लोक को (अवरुन्धे) रोक लेता है, स्वायत्त कर लेता है, अपना बना लेता है। (यः) जो अध्यात्म गुरु (पञ्चौदनम्) पाँच भागों के स्वामी (अजम्) अकाय आत्मा को तथा (दक्षिणा[1] ज्योतिषम्) ज्योतिः स्वरूप परमेश्वर को, दक्षिणा के फलस्वरूप में (ददाति) शिष्य को प्रदान करता है अर्थात् इनका बोध करा देता है।

[मन्त्र में ऐसे अध्यात्म गुरु का वर्णन हुआ है, जो शिष्य को परमेश्वर की प्राप्ति करा देता है। इस अध्यात्म यज्ञ की सफलता में जो अध्यात्मगुरु शिष्य से दक्षिणा प्राप्त कर लेता है, वह दक्षिणा के फलरूप में शिष्य को परमेश्वर का दर्शन करा देता है। इससे अध्यात्म गुरु भी अपरिमित यज्ञ परमेश्वर को ही और अपरिमित लोक को प्राप्त करता है। "अपरिमितलोक प्राप्त करना" अर्थात् सब लोक-लोकान्तरों में गमन की योग्यता]

ऋषिः—भृगुः॥ देवता—अजः पञ्चौदनः॥ छन्दः—पुरउष्णिक्॥

नास्यास्थीनि भिन्द्यान्न मज्ज्ञो निर्धयेत्। सर्वमेनं समादायेदमिदं प्र वेशयेत्॥ २३॥

अर्थ—(अस्य) इस शिष्य की (अस्थीनि) अस्थियों को (न भिन्द्यात्) अध्यात्मगुरु न तोड़े, (न) और न (मज्ज्ञः) अस्थिगत मज्जा को (निर्धयेत्) निकाल कर पीए। (एनम्) इस शिष्य को (सर्वम्) सम्पूर्णरूप में, (इदम्, इदम्) इसके इस प्रत्येक अङ्ग समेत (समादाय) इसे लेकर (प्रवेशयेत्) परमेश्वर में प्रविष्ट करा दे।

[परमेश्वर की प्राप्ति के लिए तप की अर्थात् तपश्चर्यामय जीवन की आवश्यकता होती है (मन्त्र ६)। इसके लिए गुरु शिष्य से ऐसी तपश्चर्या न कराए जिससे शिष्य के अङ्ग-भङ्ग की आशङ्का हो, इसकी हड्डियों में विकृति पैदा हो जाए, और रीढ़ की हड्डियों का मज्जा सूख जाए, विनष्ट हो जाए। अपितु इसे सर्वाङ्ग रूप में प्राप्त कर इसे परमेश्वर में तल्लीन करे। योगदर्शन में तप के सम्बन्ध में कहा है कि "**नातपस्विनो योगः सिद्ध्यति, तच्च चित्तप्रसादनमबाधमानमनेनाऽऽसेव्यमिति मन्यते**" (साधन पाद, सूत्र १ का भाष्य), अर्थात् अतपस्वी को योग सिद्ध नहीं होता, परन्तु वह तप उस सीमा तक ही होना चाहिए जितनी तक कि मन प्रसन्न रहे और योग में बाधा न पड़े"। शरीर के स्वस्थ रहते ही तो योगसाधन किये जा सकते हैं, अस्थि तोड़ तथा रीढ़ की अस्थियों के रस को सुखा देने वाला तप योगविरोधी ही है]

---

१. दक्षिणायां ज्योतिः=दक्षिणा देने पर प्राप्त हुई ज्योतिः। समासान्तः टच्। अथवा दक्षिणा निमित्तं ज्योतिः। दक्षिणार्थं ज्योतिः, वा।

ऋषि:—**भृगु:** ॥ देवता—**अज: पञ्चौदन:** ॥ छन्द:—**पञ्चपदानुष्टुबुष्णिग्गर्भोपरिष्टाद्-बार्हता विराड् जगती** ॥

इदमिदमेवास्य रूपं भवति तेनैनं सं गमयति।
इषं मह ऊर्जमस्मै दुहे यो३जं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति॥ २४॥

अर्थ—(इदम्, इदम्, एव) इस-इस प्रत्येक स्वस्थ अङ्गों वाला ही (अस्य) इस शिष्य का (रूपम्) स्वरूप (भवति) होता है, (तेन) उस स्वस्थ स्वरूप के साथ ही (एनम्) इस शिष्य का (संगमयति) अध्यात्म गुरु, परमेश्वर के साथ संगम अर्थात् मेल करा देता है। जो अध्यात्मगुरु (पञ्चौदनम्) पांच भोगों के स्वामी, (अजम्) अकाय, तथा (दक्षिणाज्योतिषम्) ज्योति: स्वरूप परमेश्वर को दक्षिणा के फलरूप में (ददाति) प्रदान करता है (अस्मै) इस अध्यात्म गुरु के लिए परमेश्वर (इषम्) अन्न (मह:) महत्त्व, (ऊर्जम्) बल और प्राण [दीर्घायुष्य] (दुहे) दोहन करता है, एतद्-रूपी दुग्ध प्रदान करता है।

[जो अध्यात्म गुरु शिष्य को परमेश्वर का दर्शन करा कर, उसके जीवन को सफल करता है उसे भी परमेश्वर इष आदि प्रदान करता है। **इषम्, अन्नम्** (निघं० २.७), **मह: महन्नाम** (निघं० ३.३) ऊर्जम्=**ऊर्ज बलप्राणनयो:** (चुरादि:)]

ऋषि:—**भृगु:** ॥ देवता—**अज: पञ्चौदन:** ॥ छन्द:—**पञ्चपदानुष्टुबुष्णिग्गर्भोपरिष्टाद्-बार्हता भुरिक्** ॥

पञ्च रुक्मा पञ्च नवानि वस्त्रा पञ्चास्मै धेनव: कामदुघा भवन्ति।
यो३जं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति॥ २५॥

अर्थ—(अस्मै) इस अध्यात्मगुरु के लिए (पञ्च रुक्मा) पांच सुवर्णाभूषण, (पञ्च नवानि वस्त्रा) पांच नवीन वस्त्र, (पञ्च कामदुघा: धेनव:) पांच यथेच्छ दूध देने वाली दुधारु गौएँ (भवन्ति) देय होती हैं (य:) जो अध्यात्मगुरु (पञ्चौदनम्) पांच भोगों के स्वामी, (अजम्) अकाय, तथा (दक्षिणाज्योतिषम्) ज्योति: स्वरूप परमेश्वर को दक्षिणा के फलस्वरूप में (ददाति) प्रदान करता है।

[मन्त्र में "पञ्च" शब्द का प्रयोग हुआ है। इसलिए क्योंकि अध्यात्म गुरु ने पञ्च-इन्द्रिय भोगों पर शिष्य की विजय कराई है। प्रत्येक इन्द्रिय भोग पर विजय प्राप्त कराने के लिए, गुरु एक-एक सुवर्णाभूषण, वस्त्र, तथा उत्तम धेनु की प्राप्ति का अधिकारी होता है। इन्द्रिय भोगों पर विजय प्राप्त कराकर शिष्य के जीवन को सफल बनाना कोई साधारण कार्य नहीं। तो भी परिणाम रूप में कथित दक्षिणा, है भी मामूली। शिष्य पांच सुवर्णमालाएँ तो कृतज्ञता रूप में गुरु की गर्दन पर पहनाता है, मुरझा जाने वाली पुष्पमालाएँ नहीं, तथा गुरु के परिधान के लिए पांच नीवन वस्त्र, तथा दुग्धसेवी गुरु के लिए पांच गौएँ देता है, जिस द्वारा गुरु के परिवार का पालन-पोषण हो सके। पांच सुवर्ण-मालाएँ भी तात्कालिक समारोह में गुरु के सम्मान के लिए ही हैं, गुरु ने स्वयं तो उन्हें पहिने नहीं रखना। ये भी गुरु के परिवार के लिए उपयोगी हो सकती हैं]

ऋषि:—**भृगु:** ॥ देवता—**अज: पञ्चौदन:** ॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्** ॥

पञ्च रुक्मा ज्योतिरस्मै भवन्ति वर्म वासांसि तन्वे भवन्ति।
स्वर्गं लोकमश्नुते यो३जं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति॥ २६॥

अर्थ—(पञ्च रुक्मा) पांच सुवर्णाभूषण (अस्मै) इसके लिए (ज्योतिः भवन्ति) शोभारूप होते हैं, (वासांसि) वस्त्र (तन्वे) शरीर के लिए (वर्म) कवचरूप (भवन्ति) होते हैं, तथा वह (स्वर्गम् लोकम्) सवर्गलोक को (अश्नुते) प्राप्त करता है (यः) जोकि (पञ्चौदनम्) पांच इन्द्रिय भोगों के पति (अजम्) अजन्मा परमेश्वर को, (दक्षिणा ज्योतिषम्) अर्थात् ज्योतिः स्वरूप परमेश्वर को, दक्षिणा के फलस्वरूप में (ददाति) देता है, प्रत्यक्ष दर्शन करा देता है। पञ्चौदनम्=पञ्च ओदनाः ओदनानि वा यस्य, तम्।

[पञ्च रुक्मा ज्योतिः=दक्षिणा प्राप्त करने के समारोह में भेंट किये गये पांच सुवर्णाभूषण, पांच सुवर्णमालाएँ, अध्यात्मगुरु को सुशोभित करती हैं, उस समय उसके मुख की आभा चमकती है। वर्म=वृञ् आवरणे, शरीर का आवरण करने वाले ढकने वाले, कवच के सदृश वस्त्र समारोह में शोभा और ख्याति प्राप्त कर मानो गुरु स्वर्गीय सुख का अनुभव करता है]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

या पूर्वं पतिं वित्त्वाथान्यं विन्दतेपरम्।
पञ्चौदनं च तावजं ददातो न वि योषतः॥ २७॥

अर्थ—(या) जो स्त्री (पूर्वम् पतिम्) पहिले पति को (वित्त्वा) प्राप्त कर, (अथ) पुनः (अन्यम्) उससे भिन्न (अपरम्) दूसरे पति को (विन्दते) प्राप्त करती है, (तौ) वे दोनों (पञ्चौदनम् अजम् च) यदि अपने-अपने पञ्चेन्द्रिय भोगों तथा निज आत्माओं को (ददातः) परस्पर के प्रति सौंप देते हैं तो वे (न वियोषतः) परस्पर से वियुक्त नहीं होते।[1]

[''वियोषतः'', पद द्वारा यह भाव प्रकट होता है कि ये नव वर-वधू प्रथम अपने वैवाहिक सम्बन्धों से वियुक्त हुए-हुए हैं। मन्त्र में यह शिक्षा दी गई है कि यदि पति-पत्नी पारस्परिक भोगों को, और परस्पर की आत्माओं तक को, एक-दूसरे पर न्यौछावर कर दें तो उनके वियोग की सम्भावना नहीं रहती]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

समानलोको भवति पुनर्भुवापरः पतिः।
यो३जं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति॥ २८॥

अर्थ—(पुनर्भुवा) ''पुनः पत्नी'' होने वाली के साथ (अपरः पति) यह दूसरा पति (समानलोकः) एक ही गृहस्थ लोक में वास करने वाला (भवति) हो जाता है, (यः) जोकि (पञ्चौदनम्) निज पञ्चेन्द्रिय भोगों को, (अजम्) और निज आत्मा के, (दक्षिणाज्योतिषम्) विवाहनिमित्त दक्षिणा के समय एक नई ज्योति रूप में (ददाति) पत्नी के प्रति देता है।

[पञ्चौदन और अज का प्रदान, पत्नी के प्रति, पति कर रहा है, पत्नी नहीं। प्रायः पतियों द्वारा पत्नियों पर बलात्कार की सम्भावना होती है। इसलिए विवाह विधि की समाप्ति पर पति जो पत्नी के प्रति पञ्चभोगों और निज आत्मा को न्यौछावर कर देने का आश्वासन देता है वह मानो पत्नी के लिए एक ज्योति का प्रदान है, जीवन मार्ग में जोकि पत्नी को नवमार्ग प्रदर्शन कराएगी]।

---

१. ''पञ्चौदन और अज,'' इन पदों के साम्य के कारण, इस आध्यात्मिक प्रकरण में, पुनर्भू के पुनर्विवाह की प्रसक्ति हुई है।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अनुपूर्ववत्सां धेनुमनड्वाहमुपबर्हणम्।

वासो हिरण्यं दत्त्वा ते यन्ति दिवमुत्तमाम्॥ २९ ॥

अर्थ—(अनुपूर्ववत्साम्) पहिले बच्चे के पश्चात् पुनः बच्चा देने वाली (धेनुम्) दुधारू गौ को, (अनड्वाहम्) शकटवाही बैल को, (उपबर्हणम्) तकिया समेत बिछौने को, (वासः हिरण्यम्) वस्त्र और सुवर्ण को (दत्त्वा) विवाह में [पुरोहित को] दक्षिणारूप में देकर, (ते) वे गृहस्थी लोग (उत्तमाम् दिवम्) उत्तम दिव् को स्तुतियाँ प्रशंसा को (यान्ति) प्राप्त करते हैं।

[**दिवु स्तुतौ** (दिवादिः)]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**ककुम्मत्यनुष्टुप्** ॥

आत्मानं पितरं पुत्रं पौत्रं पितामहम्। जायां जनित्रीं मातरं ये प्रियास्तानुप ह्वये॥ ३० ॥

अर्थ—(आत्मानम्) निज अर्थात् अपने (पितरम्) पिता को, (पुत्रम्) पुत्र को, (पौत्रम्) पोते को, (पितामहम्) पिता के पिता को, (जायाम्) निज पत्नी को, (जनित्रीम् मातरम्) जन्मदात्री माता को, तथा (ये) जो (प्रियाः) अन्य प्रिय सम्बन्धी या मित्र हैं, (तान्) उन्हें, (उपह्वये) अपने समीप मैं बुलाता हूँ, या सदा सत्कारपूर्वक बुलाता हूँ, आदरपूर्वक बुलाता हूँ। ''आत्मनः, अपने पिता आदि''।

[यह कथन पति का है। पति गृहजीवन में सबके साथ प्रेमपूर्वक व्यवहार करे, और उनके प्रति मधुर तथा प्रेममयी वाणी का प्रयोग किया करे। मन्त्र में ''संयुक्त पारिवारिक जीवन'' का निर्देश हुआ है]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**सप्तपदाऽष्टिः** ॥

यो वै नैदाघं नामर्तुं वेद। एष वै नैदाघो नामर्तुर्यदजः पञ्चौदनः।

निरेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियं दहति भवत्यात्मना।

योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति॥ ३१ ॥

अर्थ—(यः) जो (वै) वस्तुतः (नैदाघम् नाम ऋतुम्) निदाघ-सम्बन्धी ऋतु को उसके नामानुसार (वेद) जानता है—(एष वै नैदाघः) यह है वस्तुतः नैदाघ (नाम ऋतुः) नाम वाली ऋतु (यद् अजः पञ्चौदनः) जोकि पांच इन्द्रिय भोगों-का-स्वामी, अजन्मा परमेश्वर है—[अध्यात्म गुरु] (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य) अप्रिय भ्रातृव्य की (श्रियम्) शोभा सम्पत्ति को (निर्दहति) दग्ध कर देता है, (भवति आत्मना) और उस पर स्वयं प्रभुता को प्राप्त करता है, (यः) जोकि (पञ्चौदनम् अजम्) पांच-इन्द्रिभोगों के स्वामी, अजन्मा परमेश्वर को (दक्षिणाज्योतिषम्) दक्षिणा के फलस्वरूप पारमेश्वरीय ज्योति के रूप में गृहस्थ के प्रति (ददाति) प्रदान करता है।

[निदाघ है ग्रीष्मकाल, जोकि नितरां दग्ध कर देता है, जिसमें कि ओषधियाँ वनस्पतियाँ सूख सी जाती हैं, और अति गर्मी के कारण प्राणी भी कमजोर पड़ जाते हैं। यह काल ज्येष्ठ-आषाढ़ मासों का होता है। ''पञ्चौदन अज'' को नैदाघ-ऋतुरूप कहा है, अर्थात् प्रत्यक्षीकृत परमेश्वर उपासक की अविद्या और तज्जन्य कामादि वासनाओं को ऐसे दग्ध कर देता है जैसे कि उग्र नैदाघ ऋतु दग्ध करती है, वैदिक साहित्य में देवों और आसुरों को प्रजापति की सन्तानें कहा है,यथा ''**देवाश्चासुराश्चोभये प्राजापत्या**

अस्पर्धन्त'' (शत०ब्रा० कण्डि ६.८.१.१)। इनमें परस्पर स्पर्धा रही। इस कारण असुर, देवों के भाई होते हुए भी अप्रिय अर्थात् शत्रु हुए। और इनकी सन्तानों को भ्रातृव्य अर्थात् भाई की सन्तानें होते हुए भी शत्रु कहा। ये देव और असुर कोई मानुष जाति के नहीं, अपितु आध्यात्मिक ''देवासुर-संग्राम'' के आध्यात्मिक तत्त्व हैं। इसी प्रकार ''पञ्चौदन-अज' भी आध्यात्मिक तत्त्व हैं। परमेश्वर द्वारा शक्ति को प्राप्त कर देवों ने आसुरी अर्थात् तामसिक तथा राजसिक विचारों और भावनाओं से उत्पन्न उग्र काम, क्रोध, लोभ आदि की श्री को दग्ध कर दिया, और स्वयं उन्होंने जीवन में प्रभुता पाई, जीवन में दिव्य विचारों, दिव्य भावनाओं और तज्जन्य उदारता, परोपकार, दिव्य कामनाओं का राज्य हुआ है।

यह वर्णन अध्यात्म-गुरु सम्बन्धी हुआ है, जोकि गृहस्थी को पञ्चौदनों के स्वामी अजन्मा परमेश्वर की दिव्य ज्योति का दर्शन करा देता है। मन्त्र २८ में वर का विवाह पुनर्भूः के साथ हुआ है। विवाह तो पुरोहित ही ने कराया, अतः मन्त्र २९ में उसे यथोचित दक्षिणा प्राप्त हुई, अतः दक्षिणा के फलरूप में पुरोहित ने विवाहित पुरुष को परमेश्वर का दर्शन=ज्ञान करा दिया। विवाहित पुरुष भी परमेश्वर की दिव्य ज्योति को प्राप्त कर, निज जीवन में आसुरी श्री को दग्ध कर, दैवी श्री को प्राप्त करता है। ऐसी ही भावनाएँ मन्त्र ३२ से ३६ में समझनी चाहिएँ]

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अजः पञ्चौदनः ॥ छन्दः—दशपदा प्रकृतिः ॥

यो वै कुर्वन्तं नामर्तुं वेद। कुर्वतींकुर्वतीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियमा दत्ते।
एष वै कुर्वन्नामर्तुर्यदजः पञ्चौदनः। निरेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियं दहति भवत्यात्मना।
यो३ऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति॥ ३२॥

अर्थ—(यः) जो पुरोहित या अध्यात्म गुरु (वै) वस्तुतः (कुर्वन्तं नाम ऋतुम्) पैदा करने वाली ऋतु को उसके नामानुरूप (वेद) जानता है, वह (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य) अप्रिय भ्रातृव्य की (कुर्वतीं कुर्वतीम् एव) पैदा होती हुई या बढ़ती हुई ही प्रत्येक (श्रियम्) शोभा सम्पत्ति को (आदत्ते) हर लेता है, स्वायत्त कर लेता है। (एष वै कुर्वन् नाम ऋतु,) यह वस्तुतः पैदा करने वाली ऋतु है (यद् अजः पञ्चौदनः) जोकि पांच इन्द्रियभोगों का स्वामी, अजन्मा परमेश्वर है। वह अध्यात्म गुरु (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य) अप्रिय भ्रातृव्य की (श्रियम्) शोभा सम्पत्ति को (निर्दहति) दग्ध कर देता है, और (आत्मना भवति) स्वयं उस पर प्रभुता को प्राप्त कर लेता है, (यः) जोकि (पञ्चौदनम् अजम्) पांच इन्द्रिय भोगों के स्वामी अजन्मा परमेश्वर को (दक्षिणाज्योतिषम्) दक्षिणा के फलस्वरूप पारमेश्वरीय ज्योति के रूप में गृहस्थी के प्रति (ददाति) प्रदान करता है।

[मन्त्र ३१ में निदाघ या नैदाघ द्वारा ग्रीष्म ऋतु का वर्णन हुआ है। वर्तमान मन्त्र में ''कुर्वन्तम्'' द्वारा वर्षा ऋतु कथित हुई है। ग्रीष्म ऋतु तो व्यक्ति को कार्याक्षम कर देता है। वर्षा ऋतु में कृषिकर्म प्रारम्भ होता है, नानाविध सब्जियाँ पैदा होने लगती हैं, पठन-पाठन भी शुरू हो जाता है। अतः वर्षा ऋतु को ''कुर्वन्तम्'' कहा है। इस ऋतु को भी ''पञ्चौदन अज'' कहा है। ऋतुओं का निर्माता तथा नियन्ता परमेश्वर ही है। वही ऋतुओं द्वारा भूमण्डल को सजीव कर रहा है। इसलिए ऋतुओं और ''पञ्चौदन अज'' में तादात्म्य का वर्णन इन मन्त्रों में हुआ है। शेष अभिप्राय पूर्वमन्त्र ३१ वत् है]

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अजः पञ्चौदनः ॥ छन्दः—दशपदा प्रकृतिः ॥

यो वै संयन्तं नामर्तुं वेद। संयतींसंयतीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियमा दत्ते।
एष वै संयन्नामर्तुर्यदजः पञ्चौदनः। निरेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियं दहति भवत्यात्मना।
यो३जं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति॥ ३३॥

अर्थ—(यः) जो पुरोहित या अध्यात्म गुरु (वै) वस्तुतः (संयन्तम् नाम ऋतुम्) एकत्रित करने वाली ऋतु को उसके नामानुरूप (वेद) जानता है वह (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य) अप्रिय भ्रातृव्य की (संयती संयतीम् एव) एकत्रित की जाने वाली (श्रियम्) प्रत्येक शोभा सम्पत्ति को (आदत्ते) हर लेता है, स्वायत्त कर लेता है। (एष वै संयत् नाम ऋतुः) यह वस्तुतः एकत्रित करने वाली ऋतु है (यद् अजः पञ्चौदनः) जोकि पांच इन्द्रियभोगों का स्वामी अजन्मा परमेश्वर है। वह अध्यात्मगुरु (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य) अप्रिय भ्रातृव्य की (श्रियम्) शोभा-सम्पत्ति को (निर्दहति) दग्ध कर देता है, (आत्मना भवति) और स्वयं उस पर प्रभुता को प्राप्त कर लेता है, (पञ्चौदनम् अजम्) जोकि पांच इन्द्रियभोगों का स्वामी अजन्मा परमेश्वर को, (दक्षिणाज्योतिषम्) दक्षिणा के फलस्वरूप पारमेश्वरीय ज्योति के रूप में, गृहस्थी के प्रति (ददाति) प्रदान करता।

[नैदाघ", और "कुर्वन्तम्" ऋतुओं के पश्चात्, "संयन्तम्" ऋतु का वर्णन हुआ है। यह ऋतु है शरद् ऋतु जो वर्षा ऋतु के पश्चात् होती है। "संयत्" का अर्थ है "एकत्रित करना"। वर्षा ऋतु में बोए व्रीहि को एकत्रित करना। यथा "व्रीहीन् संयच्छते" अर्थात् व्रीहि (धान) को एकत्रित करता है। शेष अभिप्राय मन्त्र ३१ पूर्ववत्]

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अजः पञ्चौदनः ॥ छन्दः—दशपदा प्रकृतिः ॥

यो वै पिन्वन्तं नामर्तुं वेद। पिन्वतींपिन्वतीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियमा दत्ते।
एष वै पिन्वन्नामर्तुर्यदजः पञ्चौदनः। निरेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियं दहति भवत्यात्मना।
यो३जं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति॥ ३४॥

अर्थ—(यः) जो पुरोहित या अध्यात्मगुरु (वै) वस्तुतः (पिन्वन्तं नाम ऋतुम्) पुष्टिदायक ऋतु को उसके नामानुरूप (वेद) जानता है। वह (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य) अप्रिय भ्रातृव्य को (पिन्वतीम् पिन्वतीम् एव) पोषण करती हुई प्रत्येक (श्रियम्) शोभा सम्पति को (आदत्ते) हर लेता है, स्वायत्त कर लेता है। (एष वै पिन्वन्नामर्तुर्यदजः पञ्चौदनः) जोकि पाँच इन्द्रियभोगों का स्वामी अजन्मा परमेश्वर है। यह ही पोषण करने वाली ऋतु है। वह अध्यात्मगुरु (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य) अप्रिय भ्रातृव्य की (श्रियम्) शोभा सम्पत्ति को (निर्दहति) दग्ध कर देता है, (आत्मना भवति) और स्वयं उस पर प्रभुता को प्राप्त कर लेता है, जोकि (पञ्चौदनम् अजम्) पांच इन्द्रियभोगों के स्वामी, अजन्मा परमेश्वर को, (दक्षिणाज्योतिषम्) दक्षिणा के फलस्वरूप पारमेश्वरीय ज्योति के रूप में गृहस्थी के प्रति (ददाति) प्रदान करता है।

[पिन्वन्तम् यथा पिन्वथ=पोषयथ (सायण अथर्व० ६.२२.२) एकत्रित की हुई व्रीहि आदि के सेवन द्वारा भोक्ता प्राप्त करते हैं, अतः शरद् ऋतु (मन्त्र ३३) के पश्चात् (मन्त्र ३४) में हेमन्त ऋतु का वर्णन हुआ है। शेष अभिप्राय मन्त्र ३१ के सदृश]

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अजः पञ्चौदनः ॥ छन्दः—दशपदा प्रकृतिः ॥

यो वा उद्यन्तं नामर्तुं वेद। उद्यतीमुद्यतीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियमा दत्ते।
एष वा उद्यन्नामर्तुर्यदजः पञ्चौदनः।
निरेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियं दहति भवत्यात्मना।
यो३जं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति॥ ३५॥

अर्थ—(यः) जो पुरोहित या अध्यात्मगुरु (वै) वस्तुतः (उद्यन्तम्) उदित होती हुई (ऋतुम्) ऋतु को (नाम) उसके नामानुरूप (वेद) जानता है, वह (उद्यतीम् उद्यतीम् एव) उदित होती हुई प्रत्येक (अप्रियस्य भ्रातृव्यवस्य) अप्रिय भ्रातृव्य की (श्रियम्) शोभासम्पत्ति को (आदत्ते) हर लेता है। (एषः) यह (वै) वस्तुतः (उद्यन् नाम ऋतुः) उदय होती हुई ऋतु है, (यद् अजः पञ्चौदनः) जोकि पांच इन्द्रिय भोगों का स्वामी अजन्मा परमेश्वर है। वह पुरोहित या, अध्यात्मगुरु (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य) अप्रिय भ्रातृव्य की (श्रियम्) शोभा सम्पत्ति को (निर्दहति) दग्ध कर देता है, (आत्मना भवति) और स्वयं उस पर प्रभुता पा लेता है (यः) जोकि (पञ्चौदनम् अजम्) पांच इन्द्रिय भोगों के स्वामी अजन्मा परमेश्वर को, (दक्षिणाज्योतिषम्) दक्षिणा के फलस्वरूप पारमेश्वरीय ज्योति के रूप में गृहस्थी के प्रति (ददाति) प्रदान करता है।

[उदित होती हुई ऋतु ''पञ्चौदन अज'' कहा है। ''उद्यन्तम्'' ऋतु शिशिर है जोकि हेमन्त ऋतु के पश्चात् आती है। ''शिशिर'' पद **शॄ हिंसायाम्** (क्र्यादिः) द्वारा निष्पन्न हुआ है, जिसमें कि वृक्षों के पत्ते विशीर्ण हो जाते हैं, झड़ जाते हैं। इसलिए इस ऋतु को पतझड़ भी कहते हैं, अर्थात् पत्ते-झाड़ने वाली ऋतु। शिशिर ऋतु को ''पञ्चौदन अजः'' कहा है। अजन्मा परमेश्वर हृदयाकाश में जब उदित हो रहा होता है तब जीवन में तामस, राजस रूपी पत्ते झड़ने आरम्भ हो जाते हैं। शेष अभिप्राय पूर्ववत् मन्त्र ३१]

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अजः पञ्चौदनः ॥ छन्दः—दशपदाऽऽकृतिः ॥

यो वा अभिभुवं नामर्तुं वेद। अभिभवन्तीमभिभवन्तीमेवाप्रियस्य
भ्रातृव्यस्य श्रियमा दत्ते। एष वा अभिभूर्नामर्तुर्यदजः पञ्चौदनः।
निरेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियं दहति भवत्यात्मना।
यो३जं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति॥ ३६॥

अर्थ—(यः) जो पुरोहित या अध्यात्म गुरु (अभिभुवम् नाम ऋतुम्) पराभव करने वाली ऋतु को उसके नामानुरूप (वेद) जानता है वह (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य) अप्रिय भ्रातृव्य की (अभिभवन्तीम् अभिभवन्तीम् एव) पराभव करती हुई [बढ़ती हुई] प्रत्येक (श्रियम्) शोभा सम्पत्ति को (आदत्ते) हर लेता है, स्वायत्त कर लेता है। (एषः वा अभि भूः नाम ऋतुः) यह है वस्तुतः पराभव करने वाली ऋतु (यद् अजः पञ्चौदनः) जो कि पांच इन्द्रियभोगों का स्वामी अजन्मा परमेश्वर है। (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य) वह पुरोहित या अध्यात्म गुरु अप्रिय भ्रातृव्य की (श्रियम्) शोभा सम्पत्ति को (निर्दहति) दग्ध कर देता है, (भवति आत्मना) और स्वयं उस पर प्रभुता पा लेता है (यः) जोकि (पञ्चौदनम् अजम्) पांच इन्द्रिय भोगों के स्वामी अजन्मा परमेश्वर को, (दक्षिणाज्योतिषम्) दक्षिणा के फलस्वरूप पारमेश्वरीय ज्योति के

रूप में, गृहस्थी के प्रति (ददाति) प्रदान करता है।

[अभि भूः ऋतु है, वसन्त; जोकि शिशिर ऋतु के (मन्त्र ३५) पश्चात् आती है। निज शोभा के कारण शेष सब ऋतुओं पर यह ऋतु विजय पाती है। गीता में श्री कृष्ण ने अपनी श्रेष्ठता दर्शाने के लिए अपने-आप को "**ऋतूनां कुसुमाकरः**" (१०.३५) कहा है। कुसुमाकर का अर्थ है कुसुमों अर्थात् फूलों की खान। इस ऋतु में वृक्षों में भी नवाङ्कुर पैदा होने लगते हैं। इस ऋतु को मन्त्र में "पञ्चौदन-अज" कहा है। जैसे वसन्त निज शोभा द्वारा अन्य ऋतुओं का पराभव करती हुई नवाङ्कुरों को पैदा करती है, वैसे "पञ्चौदन-अज" भी तामस राजस विचारों तथा कर्मों का पराभव कर, ध्याता में सात्विक नवाङ्कुरों को पैदा करता है। शेष अभिप्राय पूर्ववत् मन्त्र ३१]।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**त्रिपदा विराड् गायत्री** ॥

अजं च पचत पञ्च चौदनान्।

सर्वा दिशः संमनसः सध्रीचीः सान्तर्देशाः प्रति गृह्णन्तु त एतम्॥ ३७॥

अर्थ—(अजम् च पचत) अज को परिपक्व करो, (पञ्च च ओदनान्) और पांच इन्द्रिय भोगों को परिपक्व करो। (सान्तर्देशाः) अवान्तर देशों समेत (सर्वाः दिशः) सब दिशाएँ अर्थात् सब दिशाओं के वासी प्रजाजन (सध्रीचीः) परस्पर मिल कर और (संमनसः) एक मन होकर (ते) हे पुरोहित! या अध्यात्म गुरु! तेरे (एतम्) इस गृहस्थी का (प्रतिगृह्णन्तु) प्रतिग्रह करें, इसे स्वीकृत करें, सम्मानित करें। "सान्तर्देशाः" में देशशब्द देशवासियों का सूचक है।

[पचत का अभिप्राय अग्नि पर पकाना नहीं, अपितु निज जीवनों में उनका परिपाक करना है, परिपक्व करना है। "अज" का अर्थ है अजन्मा परमेश्वर, न कि बकरा। इसी प्रकार "पाँच ओदनों" का अभिप्राय है पाँच प्रकार के "ऐन्द्रियिक-भोगाः" रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श रूपी भोग। इन पर विजय पाना है, इनका परिपक्व करना। जो व्यक्ति "अज" और "पञ्च ओदनों का परिपाक निज जीवनों में कर लेते हैं उनका सम्मान सब प्रजाजन करते हैं"]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**द्विपदा साम्नी त्रिष्टुप् (एकावसाना)**॥

तास्ते रक्षन्तु तव तुभ्यमेतं ताभ्य आज्यं हविरिदं जुहोमि॥ ३८॥

अर्थ—(ताः) वे सब दिशाएँ अर्थात् सब दिशाओं के वासी प्रजाएँ (मन्त्र ३७) (ते) हे "पुनर्भूः" तेरे, (तव एतम्) अर्थात् तेरे इस पति की, (तुभ्यम्) तेरे लिए, (रक्षन्तु) रक्षा करें। (ताभ्यः) उन प्रजाओं के लिए (आज्यम्) घृत और (इदम् हविः) (जुहोमि) मैं पुरोहित आहुतियों के रूप में आहुत करता हूँ।

[मन्त्रोक्त कथन "पुनर्भूः" को लक्ष्य करके हुआ है। पत्नी की प्रसन्नता इसमें है कि उसका पति जीवित तथा सुरक्षित रहे]

विशेष—काण्ड ९.५.३१ में नैदाघ ऋतु से वर्षारम्भ किया गया है। इसी प्रकार अथर्व० १२.१.३६ भी ग्रीष्म-ऋतु द्वारा प्रारम्भ हुआ है। यथा "**ग्रीष्मस्ते भूमे वर्षाणि शरद्धेमन्तः शिशिरो वसन्तः**"। का ग्रीष्म या नैदाघ [ग्रीष्मः] ऋतु द्वारा वर्ष का आरम्भ किसी ज्यौतिष काल गणना का सूचक है—इन पर विचार की आवश्यकता है।

इति विंशः प्रपाठकः ॥

अथैकविंशः प्रपाठकः॥

सूक्त ६ (विषय-प्रवेश)

सूक्त ६ में ६२ मन्त्र हैं। सूक्त ६ के पर्याय अर्थात् खण्ड ६ हैं, जिन्हें कि पर्याय १, पर्याय २ आदि द्वारा निर्दिष्ट किया है।

पर्याय (१)—अतिथि "प्रत्यक्ष-ब्रह्म" अर्थात् "ब्रह्मरूप" है (मन्त्र १,२); अतिथि यज्ञ के अङ्ग-प्रत्यङ्ग (३-१७)।[१]

पर्याय (२)—अतिथि यज्ञ में आतिथ्य भोजन (१८-२२); अतिथि चाहे प्रिय हो या अप्रिय, परन्तु हैं अतिथि यज्ञ के ऋत्विक् जोकि अतिथि पति को स्वर्ग का अधिकारी कर देते हैं (२३), अतिथि-यज्ञ को फलदायक न जानने वाले का अन्न, अतिथि स्वीकार न करे (२४); अतिथियज्ञ प्राजापत्य-यज्ञ है (२८, २९); अतिथि आहवनीयाग्नि है (३०)।

पर्याय (३)—अतिथि पति अतिथि से पूर्व भोजन न करे (३१-३६); वास्तविक अतिथि है "वेदाध्येता" (श्रोत्रिय), इससे पूर्व भोजन न करे, इसे निजव्रत जाने; अतिथि से पूर्व स्वादु भोजन न करे अर्थात् गोक्षीर तथा गोमांस न खाए; मांस का अभिप्राय (३७-३९)।

पर्याय (४)—अन्न सम्बन्धी उपसेचन अर्थात् व्यञ्जन है क्षीर, पिघला घृत, मधु, मांस, उदक; अतिथियज्ञ है अग्निष्टोम-रूप (४०-४४)।

पर्याय (५)—अतिथियज्ञ में मानो प्रकृति भी सामगान करती है (४५-४७)।

पर्याय (६)—अतिथि यज्ञ में आश्रावण तथा प्रत्याश्रावण (४९,५०) भोजन परोसने वाले हैं चमसाध्वर्यु (५१); परोसने वाले अनग्निहोत्री न होनी चाहिएँ (५२); अवभृथस्नान (५३); ऋत्विजों को दक्षिणा (५४); तथा मुक्ति या स्वर्ग प्राप्त अतिथि पति का त्रिलोकी में स्वागत (५५-६२)॥

सूक्त ६, पर्याय १

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अतिथिः, विद्या**॥ छन्दः—**नागीनामत्रिपाद् गायत्री**॥

यो विद्याद् ब्रह्म प्रत्यक्षं परूंषि यस्य संभारा ऋचो यस्यानूक्यम्॥ १॥

अर्थ—(यः) जो अतिथिपति अर्थात् गृहस्थी, अतिथि को (प्रत्यक्षम् ब्रह्म) साक्षात् वेदरूप या ब्रह्मरूप (विद्यात्) जाने (यस्य) जिसके कि (परूंषि) अङ्ग (संभारा) यज्ञ के साधन रूप हैं, और (यस्य) जिसका (अनूक्यम्) ज्ञाननाड़ी संस्थान (ऋचः) ऋग्वेद के मन्त्र हैं—

[संभारा=यज्ञ के साधन स्रुव, स्रुक्, आज्यस्थाली आदि। अनूक्य है मस्तिष्क तथा जिसके द्वारा ज्ञान होता है, ऋग्वेद की ऋचाएँ भी ज्ञानप्रदायिनी हैं]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अतिथिः, विद्या**॥ छन्दः—**त्रिपदाऽऽर्षी गायत्री**॥

सामानि यस्य लोमानि यजुर्हृदयमुच्यते परिस्तरणमिद्धविः॥ २॥

अर्थ—(यस्य) जिस अतिथि के (लोमानि) लोम (सामानि) सामवेद के सामगान हैं, और (हृदयम्)

---

१. स्वर्ग की कामना वाला "**यो विद्यात्**" सूक्त द्वारा जप करे। ऐसा विनियोग है। परन्तु सायणाचार्य की इस विनियोग से विमति है। वे कहते हैं कि "**यो विद्यात्**" [पर्याय १] से "**यत् क्षत्तारम्**" [पर्याय ६] तक के मन्त्र, अतिथि के माहात्म्य, उसकी सेवा का फल, तथा अतिथियज्ञ की प्रशंसा परक हैं।

हृदय (यजुः उच्यते) यजुर्वेद कहा जाता है, और (परिस्तरणम्) बैठने के लिए कुशासन (हविः इत्) हविः ही है, प्रथमोपहार है।

[लोमानि=सामगान द्वारा लोमहर्षण होता है। हृदय, रक्तप्रदान द्वारा, जीवन का निर्माण करता है, यजुर्वेद भी यज्ञों की इतिकर्त्तव्यता के प्रदान द्वारा यज्ञों के स्वरूपों का निर्माण करता है]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अतिथिः, विद्या** ॥ छन्दः—**साम्नी त्रिष्टुप्** ॥

यद्वा अतिथिपतिरतिथीन्प्रतिपश्यति देवयजनं प्रेक्षते ॥ ३ ॥

अर्थ—(यद्) जो (अतिथिपतिः) अतिथियों की रक्षा करने वाला गृहस्थी (अतिथीन्) अतिथियों को (प्रति पश्यति) मानपूर्वक देखता है वह (वै) वस्तुतः (देवयजनम्) देवों के प्रति जहाँ आहुतियाँ दी जाती हैं उस यज्ञशाला को (प्रेक्षते) देखता है।

[प्रति पश्यति=आगत अतिथियों में से प्रत्येक को मानपूर्वक देखना]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अतिथिः, विद्या** ॥ छन्दः—**आर्च्यनुष्टुप्** ॥

यदभिवदति दीक्षामुपैति यदुदकं याचत्यपः प्र णयति ॥ ४ ॥

अर्थ—अतिथिपति (यद् अभिवदति) अतिथियों को अभिवादन करता है मानो यज्ञिय दीक्षा को प्राप्त करता है, (यद् उदकम् याचति) जो भृत्यों द्वारा जल लाने की मांग करता है मानो (अपः) यज्ञ निमित्त उदक को (प्रणयति) प्राप्त करता है।

[भृत्यों द्वारा उदक की माँग अतिथियों के पादप्रक्षालनार्थ है]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अतिथिः, विद्या** ॥ छन्दः—**आसुरी गायत्री** ॥

या एव यज्ञ आपः प्रणीयन्ते ता एव ताः ॥ ५ ॥

अर्थ—(यज्ञे) यज्ञ के निमित्त (एव) ही (या आपः) जो जल (प्रणीयन्ते) लाए जाते हैं (ताः एव ताः) वे ही वे हैं [जोकि अतिथि यज्ञ के निमित्त लाए जाते हैं]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अतिथिः, विद्या** ॥ छन्दः—**त्रिपदा साम्नी जगती** ॥

यत्तर्पणमाहरन्ति य एवाग्नीषोमीयः पशुर्बध्यते स एव सः ॥ ६ ॥

अर्थ—सेवक (तर्पणम् यत्) तृप्ति कारक जो (आहरन्ति) आहार लाते हैं, (यः एव) जो ही (अग्नीषोमीयः पशुः बध्यते) अग्नि और सोम देवताक पशु बाँधा जाता है (सः एव सः) वह ही वह है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अतिथिः, विद्या** ॥ छन्दः—**साम्नी त्रिष्टुप्** ॥

यदावसथान्कल्पयन्ति सदोहविर्धानान्येव तत्कल्पयन्ति ॥ ७ ॥

अर्थ—(यद् आवसथान्) जो निवास स्थानों को (कल्पयन्ति) तैयार करते हैं (तत्) वह (सदोहविर्धानानि एव) सदस् [बैठने का स्थान या सभागृह] और हवि के रखने के गृहों को ही (कल्पयन्ति) तैयार करते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अतिथिः, विद्या** ॥ छन्दः—**याजुषी त्रिष्टुप्** ॥

यदुपस्तृणन्ति बर्हिरेव तत् ॥ ८ ॥

अर्थ—(यद् उपस्तृणन्ति) जो बिछौना बिछाते हैं, (तत बर्हिः एव तत्) वह यज्ञ स्थल में कुशास्तरण ही है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अतिथिः, विद्या** ॥ छन्दः—**आर्च्यनुष्टुप्** ॥

यदुपरिशयनमाहरन्ति स्वर्गमेव तेन लोकमव रुन्धे॥ ९ ॥

अर्थ—(यद्) जो (उपरिशयनम्) ऊँची-शय्या (आहरन्ति) लाते हैं (तेन) उस द्वारा (स्वर्गम् लोकम् एव) स्वर्ग लोक का ही (अव रुन्धे) अवरोध करते हैं, उसे प्राप्त करते हैं।

[उपरिशयन=सोने के लिए ऊँची चारपाई। मानो यह ऊर्ध्वा दिशा का स्वर्ग लोक है]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अतिथिः, विद्या** ॥ छन्दः—**साम्नी भुरिग्बृहती** ॥

यत्कशिपूपबर्हणमाहरन्ति परिधय एव ते॥ १० ॥

अर्थ—(यद्) जो (कशिपूपबर्हणम् आहरन्ति) जो तकिया और मसनद लाते हैं (ते परिधयः एव) वे परिधियाँ ही हैं। यज्ञ स्थल को घेरने के साधन हैं।

[परिधयः=यज्ञ स्थल को घेरने के लिए चारों ओर का घेरा]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अतिथिः, विद्या** ॥ छन्दः—**साम्न्यनुष्टुप्** ॥

यदाञ्जनाभ्यञ्जनमाहरन्त्याज्यमेव तत्॥ ११ ॥

अर्थ—(यत्) जो (आञ्जनाभ्यञ्जनम्) सुरमा तथा मलने का तैल (आहरन्ति) लाते हैं (तत्) वह (आज्यम् एव) यज्ञिय घृत ही है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अतिथिः, विद्या** ॥ छन्दः—**विराड् गायत्री** ॥

यत्पुरा परिवेषात्खादमाहरन्ति पुरोडाशावेव तौ॥ १२ ॥

अर्थ—(पुरा परिवेषात्) मुख्य भोजन परोसने से पहिले (यद्) जो (खादम्) खाने की वस्तु (आहरन्ति) आहार रूप में लाते हैं (तौ) वे दो (पुरोडाशौ एव) पुरोडाश ही हैं।

[पुरोडाशौ=तण्डुल को पीस कर भटूरों की सी गोल-आकृति के दो खाद्य]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अतिथिः, विद्या** ॥ छन्दः—**साम्नी निचृत् पङ्क्तिः** ॥

यदशनकृतं ह्वयन्ति हविष्कृतमेव तद्ध्वयन्ति॥ १३ ॥

अर्थ—(अशनकृतम्) भोजन तैयार करने वाले को ही (ह्वयन्ति) बुलाते हैं (तत्) वह (हविष्कृतम् एव) यज्ञ की हवि के तैयार करने वाले को ही (ह्वयन्ति) बुलाते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अतिथिः, विद्या** ॥ छन्दः—**साम्न्यनुष्टुप्** ॥

ये व्रीहयो यवा निरुप्यन्तेंऽशव एव ते॥ १४ ॥

अर्थ—(व्रीहयः यवाः) धान और जौं (ये) जो (निरुप्यन्ते) निकाल कर लाए जाते हैं, (ते) वे (अंशवः एव) सोम ओषधि के अंश ही हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अतिथिः, विद्या** ॥ छन्दः—**साम्न्यनुष्टुप्** ॥

यान्युलूखलमुसलानि ग्रावाण एव ते॥ १५ ॥

अर्थ—(यानि) जो (उलूखलमुसलानि) ओखली और मुसल हैं (ते) वे (ग्रावाणः एव) सिल-बट्टा ही हैं।

[उलूखल और मुसल व्रीही (धान) को कूट कर तण्डुल तैयार करने के लिए होते हैं, और सिल-

वट्टा पीठी पीसने तथा सोम ओषधि पीस कर सोमरस निकालने के लिए होते हैं]

ऋषि:—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अतिथि:, विद्या** ॥ छन्द:—**साम्न्यनुष्टुप्** ॥

शूर्पं पवित्रं तुषा ऋजीषाभिषवणीराप: ॥ १६ ॥

अर्थ—(शूर्पम्) छाज है (पवित्रम्) सोमरस के छानने का साधन, (तुषा:) व्रीहि के कूटने पर प्राप्त छिलके हैं (ऋजीषा) सोम ओषधि के पीसने पर बचे छिलके, (आप:) जल हैं (अभिषवणी:) सोम ओषधि पीसने के लिए जल।

ऋषि:—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अतिथि:, विद्या** ॥ छन्द:—**त्रिपदा भुरिग् विराड् गायत्री** ॥

स्रुग्दर्विर्नेक्षणमायवनं द्रोणकलशा: कुम्भ्यो वायव्यानि।

पात्राणीयमेव कृष्णाजिनम् ॥ १७ ॥

अर्थ—(दर्वि:) कड़छी है (स्रुक्) घी की आहुति देने का चमचा, (आयवनम्) मिश्रित करने का दण्डा है (नेक्षणम्) नेक्षण, (कुम्भ्य:) गृहस्थ की कुम्भियाँ हैं (द्रोणकलशा:) सोमरस के काष्ठ-कलसे, (पात्राणि) जल पीने के पात्र हैं (वायव्यानि[1]) वायव्यपात्र, (इयम्) यह पृथिवी है (कृष्णाजिनम्) कृष्णमृग की छाल।

[आयवनम्=**उदके प्रक्षिप्तानां तण्डुलानां मिश्रणसाधनं काष्ठम्** (सायण)]

सूक्त ६, पर्याय २

ऋषि:—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अतिथि:, विद्या** ॥ छन्द:—**विराट् पुरस्ताद् बृहती** ॥

यजमानब्राह्मणं वा एतदतिथिपति: कुरुते यदाहार्याणि

प्रेक्षत इदं भूया३ इदा३मिति ॥ १ ॥

अर्थ—[यज्ञ में] (यजमानब्राह्मणम्) यजमान के लिए ब्राह्मण जो काम करता है (वै) निश्चय से (अतिथिपति: कुरुते) अतिथिपति वही करता है (यदा) जब कि वह (आहार्याणि प्रेक्षते) आहारयोग्य वस्तुओं की पड़ताल करता है कि (इदम्, भूय:) यह प्रभूत मात्रा में है (इदम् इति) या यह।

ऋषि:—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अतिथि:, विद्या** ॥ छन्द:—**साम्नी त्रिष्टुप्** ॥

यदाह भूय उद्धरेति प्राणमेव तेन वर्षीयांसं कुरुते ॥ २ ॥

अर्थ—[अतिथिपति सेवक को] (यद् आह) जो कहता है कि (भूय: उद्धर इति) प्रभूत मात्र को उठा या ले (तेन) उस द्वारा (प्राणम् एव) प्राण को ही (वर्षीयांसम् कुरुते) प्रवृद्ध करता है।

[प्रभूतमात्रा के अन्न को प्रवृद्धप्राण कहा है। अन्न कारण है प्राण का यथा "**अन्नं वै प्राणिनां प्राण:**"। कार्य का कारण में उपचार हुआ है]।

ऋषि:—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अतिथि:, विद्या** ॥ छन्द:—**आसुरी त्रिष्टुप्** ॥

उप हरति हवींष्या सादयति ॥ ३ ॥

---

१. जल पीने के पात्रों को वायव्य अर्थात् वायु सम्बन्धी पात्रों से रूपित किया है। सोमयाग में वायुदेवताक पात्र होते हैं, छोटी-छोटी प्यालियाँ जिनके द्वारा सोमरस पिया जाता है। इन्हें "ग्रहा:" कहते हैं, अर्थात् सोमरस "ग्रहण" करने के पात्र। पानी के पात्रों को वायु के पात्रों द्वारा रूपित इसलिए किया है कि पानी वर्षा द्वारा अन्तरिक्षस्थ वायु द्वारा ही प्राप्त होता है। पानी और सोमरस दोनों द्रव हैं। अत: इनमें भी रूपकता दर्शाई है।

अर्थ—(उपहरति) समीप लाता है (हवींषि आसादयति) और हवियों अर्थात् भोज्य पदार्थों को समीप स्थापित करता है।

[हवींषि=अतिथिसेवा यतः यज्ञ है, इसलिए भोज्य पदार्थों को हवींषि कहा है। उपहरति=उपहार रूप में देता है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अतिथिः, विद्या** ॥ छन्दः—**साम्न्युष्णिक्** ॥

तेषामासन्नानामतिथिरात्मञ्जुहोति ॥ ४ ॥

अर्थ—(आसन्नानाम् तेषाम्) समीप स्थापित उन भोज्यों की (अतिथिः आत्मन् जुहोति) अतिथि आहुतियाँ अपने में देता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अतिथिः, विद्या** ॥ छन्दः—**साम्नी बृहती** ॥

स्रुचा हस्तेन प्राणे यूपे स्रुक्कारेण वषट्कारेण ॥ ५ ॥

अर्थ—(स्रुचा हस्तेन) हाथ रूपी स्रुच् द्वारा, (प्राणे यूपे) प्राण रूपी यूप[१] में, (स्रुक्कारेण वषट्कारेण) खाते हुए जो स्रुक् शब्द होता है तद्रूपी, वषट्कार[२] द्वारा।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अतिथिः, विद्या** ॥ छन्दः—**आर्च्यनुष्टुप्** ॥

एते वै प्रियाश्चाप्रियाश्चर्त्विजः स्वर्गं लोकं गमयन्ति यदतिथयः ॥ ६ ॥

अर्थ—(वै) निश्चय से (एते) ये (यद् अतिथयः) जो अतिथि हैं (प्रियाः च अप्रियाः च) चाहे प्रिय हों चाहे अप्रिय (ऋत्विजः) परन्तु हैं ऋत्विज्, जो कि अतिथिपति को (स्वर्गम् लोकम्) स्वर्गलोक की ओर (गमयन्ति) पहुँचाते हैं[३]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अतिथिः, विद्या** ॥ छन्दः—**पञ्चपदा विराट् पुरस्ताद् बृहती** ॥

स य एवं विद्वान्न द्विषन्नश्नीयान्न द्विषतोऽन्नमश्नीयान्न।
मीमांसितस्य न मीमांसमानस्य ॥ ७ ॥

अर्थ—(सः) वह (यः) जो (एवम्) इस प्रकार (विद्वान्) अतिथियज्ञ के महत्त्व को समझता है वह [अतिथिपति के प्रति] (द्विषन्) द्वेषभाव रखता हुआ (न अश्नीयात्) [उसका] अन्न न खाए और (न द्विषतः, अन्नम् अश्नीयात्) न द्वेष भाव रखने वाले [अतिथिपति] का अन्न खाए, (न मीमांसितस्य) न उसका अन्न खाए जिसने निश्चय कर लिया हो कि अतिथियज्ञ निष्फल है, (न मीमांसमानस्य) और न उसका अन्न खाए जोकि अतिथियज्ञ के सम्बन्ध में सन्दिग्धावस्था में हो, [कि अतिथियज्ञ करना चाहिए या नहीं]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अतिथिः, विद्या** ॥ छन्दः—**साम्न्यनुष्टुप्** ॥

सर्वो वा एष जग्धपाप्मा यस्यान्नमश्नन्ति ॥ ८ ॥

अर्थ—(वै) निश्चय से (एषः सर्वः) यह प्रत्येक (जग्धपाप्मा) क्षीणपापों वाला हो जाता है

१. यूप, यज्ञिय खम्भा होता है जिसके साथ यज्ञियपशु बाँधा जाता है। (अथर्व० ६.६(१).६)।
२. अग्निहोत्र में आहुति "स्वाहा" के उच्चारण द्वारा दी जाती है। अन्य यज्ञों में याज्यामन्त्रों के अन्त में "वषट्" के उच्चारण द्वारा आहुति दी जाती है।
३. सदुपदेशों द्वारा गृहस्थियों को सन्मार्ग दर्शा कर।

(यस्य) जिसके (अन्नम्) अन्न को (अश्नन्ति) अतिथि खा लेते हैं।

[अतिथि प्रसन्न होकर अतिथिपति को आशीर्वाद देते हैं और सदुपदेशों द्वारा उसके जीवन को निष्पाप कर देते हैं]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अतिथिः, विद्या**॥ छन्दः—**साम्न्यनुष्टुप्**॥

सर्वो वा एषोऽजग्धपाप्मा यस्यान्नं नाश्नन्ति॥ ९॥

अर्थ—(वै) निश्चय से (एषः सर्वः) यह प्रत्येक (अजग्धपाप्मा) क्षीणपापों वाला नहीं होता (यस्य) जिसके (अन्नम्) अन्न को (न अश्नन्ति) अतिथि नहीं खाते।

[सत्संग के अभाव में, अतिथिपति को सन्मार्ग का ज्ञान न होने से, वह कुसंगी होकर पापकर्मों में प्रवृत्त हो सकता है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अतिथिः, विद्या**॥ छन्दः—**त्रिपदाऽऽर्ची त्रिष्टुप्**॥

सर्वदा वा एष युक्तग्रावार्द्रपवित्रो विततोध्वर आहृतयज्ञक्रतुर्य उपहरति॥ १०॥

अर्थ—(यः) जो (उपहरति) उपहार रूप में अन्न देता है (वै) निश्चय से (एषः) यह (सर्वदा) सब काल (युक्तग्रावा) सिलवट्टों को तैयार रखता है, (आर्द्रपवित्रः) छानने का साधन उसका गीला रहता है, (आहृतयज्ञक्रतुः) यज्ञ और क्रतु उसके होते रहते हैं, (विततध्वरः) और अध्वर जारी रहता है।

[अभिप्राय यह कि सब काल अर्थात् जब भी अतिथि आएँ उनकी सेवा के लिए तैयार रहना मानो सभी प्रकार के यज्ञों और क्रतुओं को करना है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अतिथिः, विद्या**॥ छन्दः—**भुरिक् साम्नी बृहती**॥

प्राजापत्यो वा एतस्य यज्ञो विततो य उपहरति॥ ११॥

अर्थ—(एतस्य) इस अतिथि पति का (वै) निश्चय से (प्राजापत्यः यज्ञः) प्रजापति सम्बन्धी यज्ञ (विततः) फैला रहता है (यः उपहरति) जो उपहार रूप में अन्न प्रदान करता रहता है।

[प्राजापत्यः=प्रजापति है प्रजाओं का रक्षक परमेश्वर। प्रजाओं की रक्षा के लिए परमेश्वर रचित संसार-यज्ञ सर्वकाल होता रहता है। जो अतिथिपति सर्वकाल अतिथियों की सेवा के लिए संनद्ध रहता वह मानो प्राजापत्य यज्ञ कर रहा होता है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अतिथिः, विद्या**॥ छन्दः—**साम्नी त्रिष्टुप्**॥

प्रजापतेर्वा एष विक्रमाननुविक्रमते य उपहरति॥ १२॥

अर्थ—(यः) जो (उपहरति) उपहाररूप में अन्न प्रदान करता है (वै) निश्चय से (एषः) यह (प्रजापतेः) प्रजाओं के रक्षक परमेश्वर के (विक्रमान्) पदविक्षेपों के (अनु विक्रमते) अनुसार पदविक्षेप करता है, अर्थात् उसका पदानुयायी होता है।

[विक्रमते=वि+**क्रमु पादविक्षेपे** (भ्वादिः)]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अतिथिः, विद्या**॥ छन्दः—**त्रिपदाऽऽर्ची पङ्क्तिः**॥

योऽतिथीनां स आहवनीयो यो वेश्मनि स गार्हपत्यो यस्मिन्पचन्ति स दक्षिणाग्निः॥ १३॥

अर्थ—(यः) जो (अतिथीनाम्) अतिथियों की [जाठर] अग्नि है (सः) वह (आहवनीयः)

आहवनीय अग्नि है, (यः) जो (वेश्मनि) घर में गृह्याग्नि है (सः) वह है (गार्हपत्यः) गार्हपत्य अग्नि, (यस्मिन्) जिस अग्नि में (पचन्ति) पाकक्रिया करते हैं (सः) वह है (दक्षिणाग्निः) दक्षिणाग्नि।

[यज्ञ में प्रायः तीन अग्नियाँ होती हैं—(१) आहवनीय, जिसमें कि आहुतियाँ दी जाती हैं, (२) दूसरी अग्नि होती है गार्हपत्य, जो कि सदा प्रतप्त रहती है, (३) तीसरी है दक्षिणाग्नि, जिसमें कि यज्ञियपाक किया जाता है]।

सूक्त ६, पर्याय ३

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अतिथिः, विद्या**॥ छन्दः—**त्रिपदा पिपीलिकामध्या गायत्री**॥

इ॒ष्टं च॒ वा ए॒ष पू॒र्तं च॑ गृ॒हाणा॑मश्नाति॒ यः पूर्वोऽति॑थेर॒श्नाति॑॥ १॥

अर्थ—(यः) जो अतिथिपति (अतिथेः) अतिथि से (पूर्वः) पहले (अश्नाति) खा लेता है (वै) निश्चय से (एषः) यह (गृहाणाम्) गृहवासियों के (इष्टम् च) यज्ञों और (पूर्तम् च) सामाजिक दानों को (अश्नाति) खाता है, उन्हें विनष्ट करता है।

[इष्टम्=अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चैव पालनम्। आतिथ्यं वैश्वदेवश्च इष्टमित्यभिधीयते॥ पूर्तम्=वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च। अन्नप्रदानमारामः, पूर्तमित्यभिधीयते॥]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अतिथिः, विद्या**॥ छन्दः—**त्रिपदा पिपीलिकामध्या गायत्री**॥

पय॑श्च॒ वा ए॒ष रसं॑ च गृ॒हाणा॑मश्नाति॒ यः पूर्वोऽति॑थेर॒श्नाति॑॥ २॥

अर्थ—(यः) जो अतिथिपति (अतिथेः पूर्वः अश्नाति) अतिथि से पहिले खा लेता है। (वै) निश्चय से (एषः गृहाणाम् पयः च, रसं च अश्नाति) यह गृहवासियों के लिए दूध को और रस को खाता है, विनष्ट करता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अतिथिः, विद्या**॥ छन्दः—**त्रिपदा पिपीलिकामध्या गायत्री**॥

ऊ॒र्जां च॒ वा ए॒ष स्फा॒तिं च॑ गृ॒हाणा॑मश्नाति॒ यः पूर्वोऽति॑थेर॒श्नाति॑॥ ३॥

अर्थ—जो अतिथिपति अतिथि से पहिले खा लेता है, निश्चय से वह गृहवासियों की ऊर्जा को और वृद्धि को खा लेता है, विनष्ट करता है।

[ऊर्जा=ऊर्ज बलप्राणनयोः ब्रह्म-तथा-प्राण बढ़ाने वाला अन्न। स्फाति=वृद्धिः]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अतिथिः, विद्या**॥ छन्दः—**त्रिपदा पिपीलिकामध्या गायत्री**॥

प्र॒जां च॒ वा ए॒ष प॒शूंश्च॑ गृ॒हाणा॑मश्नाति॒ यः पूर्वोऽति॑थेर॒श्नाति॑॥ ४॥

अर्थ—जो अतिथिपति अतिथि से पहिले खा लेता है, निश्चय से, वह गृहवासियों की प्रजा को और पशुओं को खा लेता है, विनष्ट कर देता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अतिथिः, विद्या**॥ छन्दः—**त्रिपदा पिपीलिकामध्या गायत्री**॥

की॒र्तिं च॒ वा ए॒ष यश॑श्च गृ॒हाणा॑मश्नाति॒ यः पूर्वोऽति॑थेर॒श्नाति॑॥ ५॥

अर्थ—जो अतिथिपति अतिथि से पहिले खा लेता है, निश्चय से, वह गृहवासियों की कीर्त्ति और यशः को खा लेता है, विनष्ट कर देता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अतिथिः, विद्या** ॥ छन्दः—**त्रिपदा पिपीलिकामध्या गायत्री** ॥

श्रियं च वा एष संविदं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति ॥ ६ ॥

अर्थ—जो अतिथिपति अतिथि से पहिले खा लेता है वह गृहवासियों की श्री और संविद् को खा लेता है, विनष्ट कर देता है।

[श्रीः=शोभा (उणा० २.५८, म० दयानन्द। संविद्=सहानुभूति तथा सम्यक्-ज्ञान]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अतिथिः, विद्या** ॥ छन्दः—**साम्नी बृहती** ॥

एष वा अतिथिर्यच्छ्रोत्रियस्तस्मात्पूर्वो नाश्नीयात् ॥ ७ ॥

अर्थ—(वै) निश्चय से (एषः अतिथिः) यह अतिथि है (यत् श्रोत्रियः) जो कि वेदाध्ययन करता तथा वैदिक विद्वान् है, (तस्मात् पूर्वः) उसके पहिले अतिथिपति (न अश्नीयात्) न खाए।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अतिथिः, विद्या** ॥ छन्दः—**पिपीलिकामध्योष्णिक्** ॥

अशितावत्यतिथावश्नीयाद्यज्ञस्य सात्मत्वाय। यज्ञस्याविच्छेदाय तद् व्रतम् ॥ ८ ॥

अर्थ—(अतिथौ अशितावति) अतिथि के खा चुकने पर (अश्नीयात्) अतिथिपति खाए, (यज्ञस्य सात्मत्वाय) अतिथियज्ञ की सात्मकता के लिए, (यज्ञस्य अविच्छेदाय) अतिथियज्ञ के अविच्छेद के लिए, (तद् व्रतम्) यह अतिथिपति के लिए व्रत है।

[मन्त्र में "गृहाणामश्नाति" में दाँतों और मुख द्वारा खाना ही अभिप्रेत नहीं, मन्त्र १ में इष्ट-और-पूर्त, मन्त्र ३, में स्फाति, मन्त्र ४ में प्रजा और पशु, मन्त्र ५ में कीर्त्ति और यशः, मन्त्र ६ में श्री और संविद् का खाना दान्तों और मुख द्वारा नहीं हो सकता, इसलिए "विनाश करना" यह अर्थ सुसङ्गत प्रतीत होता है।

मन्त्र ७ में वास्तविक अतिथि "श्रोत्रिय" कहा है। श्रोत्रिय वेदज्ञ है जिसे कि वेदों द्वारा नाना विद्याओं का ज्ञान है। अतः वह इष्ट-पूर्त, दुग्ध और नानारसों सम्बन्धी, ऊर्जा स्फाति, प्रजा और पशु सम्बन्धी, यश और कीर्त्ति सम्बन्धी ज्ञान-विज्ञान का उपदेश दे सकता है, ताकि गृहवासियों की इस श्रेष्ठ सम्पत्तियों का विनाश न हो निमन्त्रित या स्वयमागत अतिथि के भोजन से पहिले भोजन करना सभ्यता और शिष्टाचार के विपरीत है। इससे अतिथि यज्ञ निरात्मक हो जाता है और अतिथि यज्ञ की प्रथा विच्छिन्न हो जाती है। अतः वेदोक्त विधि को बनाए रखने के लिए अतिथिपति को यह निजव्रत समझना चाहिए कि वह अतिथि से पूर्व भोजन न करे। अतिथिसेवा "यज्ञ" रूप है। यज्ञ में देवता को आहुति देने के पश्चात् यज्ञशेष के प्राशन की विधि है। श्रोत्रिय, सब, अतिथियों में सर्वश्रेष्ठ देवता रूप है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अतिथिः, विद्या** ॥ छन्दः—**त्रिपदा पिपीलिकामध्या गायत्री** ॥

एतद्वा उ स्वादीयो यदधिगवं क्षीरं वा मांसं वा तदेव नाश्नीयात् ॥ ९ ॥

अर्थ—(वै उ) निश्चय से (एतत्) यह (स्वादीयः) अधिक स्वादु है (यद् अधिगवम्) जो कि गो सम्बन्धी है, (क्षीरं वा मांसम् वा) दूध या मांस अथवा दूध-और-मांस, (तदेव) उसे ही (न अश्नीयात्) श्रोत्रिय अतिथि से पहिले न खाए।

[अधिगवम् का अर्थ "पृथिवी में" भी सम्भव है। "**गौः पृथिवीनाम**" (निघं० १.१)। वेदों में गौ को "अघ्न्या" कहा है (निघं० २.११) अतः गोमांस की अनुज्ञा वेद नहीं दे सकता। "मांस" का अर्थ प्राणिमांस भी है और अप्राणिमांस भी। शतपथ १.२.३.८ में चावल और जौं की पीठी पर जल

डालकर जब उन्हें मिलाया जाता है तब पीठी मांसरूप हो जाती है, ऐसा कथन हुआ है। मांस के सम्बन्ध में, अधिक जानकारी के लिए मेरा रचित "वैदिक पशुयज्ञ मीमांसा" पुस्तक देखो। पता "आर्यसाहित्य मण्डल प्राईवेट लिमिटेड अजमेर"।

व्याख्येयमन्त्र में गोपशु सम्बन्धी मांस की झलक प्रतीत होती है। तथा अथर्व० ९.६(४).७ में "**स य एवं विद्वान् मांसमुपसिच्योपहरति**" द्वारा मांसोपसेचन द्वारा भी मांस के रस की झलक मालूम पड़ती है। परन्तु इस मन्त्र ७ में मुझे आमिक्षा का वर्णन प्रतीत होता है। गर्म दूध में जब दधि डाली जाती है तब दूध फट कर जो पनीर होता है वह "आमिक्षा" कहा जाता है। इस आमिक्षा में दो तत्त्व होते हैं, (१) दुग्ध का रस, (२) तथा पनीर। इसे मसाला डाल कर अब इसे पका लिया जाता है तो रस अधिक स्वादु बन जाता है जिसे कि मन्त्र ६.६। (३)। ९ में "स्वादीयः" कहा है। आमिक्षा का स्थूलभाग "पनीर" मांस प्रतीत होता है। वेदोक्त मुख्य भोज्य ओदन है। ओदन में "मांसोपसेचन" का अभिप्राय परिपक्व आमिक्षा का उपसेचन है। इसके द्वारा स्वादु भी बन जाता है, और पौष्टिकपनीर (मांस) भी खाया जाता है। अथर्व० ९.४.४; तथा १०.९.१३,१४ में आमिक्षा का सम्बन्ध गौ के साथ दर्शाया है। आमिक्षा आ+मिषु (सेचने, भ्वादिः)]

सूक्त ६, पर्याय ४

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अतिथिः, विद्या**॥ छन्दः—**१ प्राजापत्याऽनुष्टुप्, २ त्रिपदा गायत्री**॥

स य एवं विद्वान्क्षीरमुपसिच्योपहरति॥ १॥

यावदग्निष्टोमेनेष्ट्वा सुसमृद्धेनावरुन्धे तावदेनेनाव रुन्धे॥ २॥

अर्थ—(यः) जो अतिथिपति (एवम्) इस प्रकार (विद्वान्) अतिथियज्ञ के महत्त्व को जानता है, और (क्षीरम् उपसिच्य) दूध डाल कर (उपहरति) उपहार रूप में अन्न देता है, (सः) वह

(सुसमृद्धेन[१]) उत्तम प्रकार समृद्ध हुए (अग्निष्टोमेन) अग्निष्टोम द्वारा (इष्ट्वा) यजन करके (यावत्) जितना फल (अवरुन्धे) प्राप्त करता है (तावत्) उतना फल (एनेन=अनेन) इस अतिथियज्ञ द्वारा (अवरुन्धे) प्राप्त कर लेता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अतिथिः, विद्या**॥ छन्दः—**३ प्राजापत्याऽनुष्टुप्, ४ त्रिपदा गायत्री**॥

स य एवं विद्वान्त्सर्पिरुपसिच्योपहरति॥ ३॥

यावदतिरात्रेणेष्ट्वा सुसमृद्धेनावरुन्धे तावदेनेनाव रुन्धे॥ ४॥

अर्थ—(यः) जो अतिथिपति (एवम्) इस प्रकार (विद्वान्) अतिथियज्ञ के महत्त्व को जानता है, और (सर्पिः) पिघला घृत (उपसिच्य) डाल कर (उपहरति) उपहाररूप में अन्न देता है, (सः) वह

(सुसमृद्धेन) उत्तम प्रकार सिद्ध हुए (अतिरात्रेण) अतिरात्र द्वारा (इष्ट्वा) यजन करके (यावत्) जितना फल (अवरुन्धे) प्राप्त करता है, या स्वाधिकार में कर लेता है, (तावत्) उतना फल (एनेन=अनेन) इस अतिथियज्ञ द्वारा प्राप्त कर लेता है, या स्वाधिकार में कर लेता है।

---

१. "सुसमृद्धि" फल की दृष्टि से, न कि याज्ञिक इतिकर्त्तव्यता की दृष्टि से। यही भावना अन्य मन्त्रों में भी जाननी चाहिए।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—अतिथिः, विद्या॥ छन्दः—५ प्राजापत्याऽनुष्टुप्, ६ त्रिपदा गायत्री॥॥

स य एवं विद्वान्मधूपसिच्योपहरति॥ ५॥

यावत्सत्रसद्येनेष्ट्वा सुसमृद्धेनावरुन्द्धे तावदेनेनाव रुन्धे॥ ६॥

अर्थ—(यः) जो अतिथिपति (एवम्) इस प्रकार (विद्वान्) अतिथियज्ञ के महत्त्व को जानता है, और (मधु) शहद या मधुरशक्कर (उपसिच्य) सींच कर, डाल कर (उपहरति) उपहाररूप में अन्न प्रदान करता है, (सः) वह।

(सुसमृद्धेन) उत्तम प्रकार से समृद्ध हुए (सत्रसद्येन) सत्रसद्य यज्ञ द्वारा (इष्ट्वा) यजन करके (यावत्) जितना फल (अवरुन्धे) प्राप्त करता या स्वाधिकार में कर लेता है (तावत्) उतना फल (एनेन=अनेन) इस अतिथियज्ञ द्वारा (अवरुन्धे) प्राप्त कर लेता या स्वाधिकार में कर लेता है।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—अतिथिः, विद्या॥ छन्दः—७ प्राजापत्याऽनुष्टुप्, ८ त्रिपदा गायत्री॥॥

स य एवं विद्वान्मांसमुपसिच्योपहरति॥ ७॥

यावद् द्वादशाहेनेष्ट्वा सुसमृद्धेनावरुन्धे तावदेनेनाव रुन्धे॥ ८॥

अर्थ—(यः) जो अतिथिपति (एवम्) इस प्रकार (विद्वान्) अतिथियज्ञ के महत्त्व को जानता है, और (मांसम्[1]) मांस को (उपसिच्य) सींच कर, डाल कर (उपहरति) उपहाररूप में अन्न प्रदान करता है (सः) वह।

(सुसमृद्धेन) उत्तम प्रकार से समृद्ध हुए (द्वादशाहेन) द्वादशाह-यज्ञ द्वारा (इष्ट्वा) यजन करके (यावत्) जितना फल (अवरुन्धे) प्राप्त करता या स्वाधिकार में कर लेता है (तावत्) उतना फल (एनेन=अनेन) इस अतिथियज्ञ द्वारा (अवरुन्धे) प्राप्त करता या स्वाधिकार में कर लेता है।

[मांसम्=देखो अथर्व० पर्याय ३.९ (३९)]।[2]

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—अतिथिः, विद्या॥ छन्दः—९ भुरिक् प्राजापत्या गायत्री, १० चतुष्पदा प्रस्तारपङ्क्तिः॥

स य एवं विद्वानुदकमुपसिच्योपहरति॥ ९॥

प्रजानां प्रजननाय गच्छति प्रतिष्ठां प्रियः प्रजानां
भवति य एवं विद्वानुदकमुपसिच्योपहरति॥ १०॥

अर्थ—(यः) जो अतिथिपति (एवम्) इस प्रकार (विद्वान्) अतिथियज्ञ के महत्त्व को जानता है, और (उदकम्, उपसिच्य) उदक सींच कर (उपहरति) उपहार रूप में अन्न प्रदान करता है, (सः) वह (प्रजानाम्) सन्तानों के (प्रजननाय) उत्पादन के लिए होता है, (प्रतिष्ठाम्, गच्छति) प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है, (प्रजानाम् प्रियः) प्रजाओं का प्यारा (भवति) होता है (य एवम् विद्वान्, उदकम्, उपसिच्य, उपहरति) जो इस प्रकार अतिथियज्ञ के महत्त्व को जानता हुआ उदक सींच कर उपहाररूप में अन्न प्रदान करता है।

[अतिथिपति जो कि क्षीर आदि के उपसेचन देने में असमर्थ है, वह अन्न के साथ केवल जल प्रदान

१. देखो पर्याय ३.९(३९) की व्याख्या। तथा मांसम्=The fleshy part of a fruit (आप्टे)।
२. देखो पयार्य ३.९(३९) की व्याख्या। तथा मांसम्=The fleshy part of a fruit (आप्टे)।

करके ही सामाजिक प्रतिष्ठा और प्रेम को पा लेता है, और सत्सन्तानों के उत्पादन में गृहस्थ कर्त्तव्यों का पालन करता है]।

विशेष वक्तव्य

पर्याय ४ में कथित अग्निष्टोम, अतिरात्र, सत्रसद्य, द्वादशाह यज्ञों का विस्तृत वर्णन विशेषतया शतपथ-ब्राह्मण में है। परन्तु अवाक्-कालीन विस्तृत याज्ञिकवर्णन, सर्वरूप में, अनादि अथर्ववेद प्रतिपादित अग्निष्टोम आदि के सम्बन्ध में लागू नहीं किया जा सकता। अग्निष्टोम आदि यज्ञों का उतना ही अभिप्राय समझना उचित होगा जितना कि इनके यौगिकार्थों द्वारा प्रतीत हो, और अथर्ववेद आदि के अन्य मन्त्रों द्वारा परिपुष्ट हो।

अग्निष्टोमेन इष्ट्वा—अथर्व (११.७.७) में "**अग्निष्टोमस्तदध्वरः**" द्वारा अग्निष्टोमयज्ञ को अध्वरः, अर्थात् हिंसा रहित कहा है। परन्तु ब्राह्मण के अनुसार अग्निष्टोम में पशु हिंसा का विधान है। यथा "**अग्नीषोमीयं पशुमालभेत**"[१]। अतः अग्निष्टोम की वैदिकी व्याख्या निम्न प्रकार होनी चाहिए। यथा "अग्निनायक परमेश्वर" (यजुः ३२.१) के स्तावक मन्त्र समूह द्वारा (इष्ट्वा[२]) परमेश्वरदेव के पूजन, उसके संग तथा उसके प्रति आत्मसमर्पण करके जितना फल प्राप्त होता है उतना फल अतिथिपति को, क्षीर-सेचन पूर्वक, अतिथि के लिए, अन्नोपहार द्वारा प्राप्त होता है।

अतिरात्रेण इष्ट्वा—रात्रिकाल के उपरान्त, प्रातःकालीन परमेश्वर सम्बन्धी ध्यान यज्ञ द्वारा, परमेश्वर देव के पूजन, उसके संग तथा उसके प्रति आत्मसमर्पण करके जितना फल प्राप्त होता है, उतना.......पूर्ववत्।

सत्रसद्येन इष्ट्वा—सत्[३] (ब्रह्म)+त्र (**त्रैङ् पालने**)+सद्+य=स्थिति। अर्थात् "सत्" नामक ब्रह्म द्वारा त्राण निमित्तक ध्यानावस्थिति पूर्वक (इष्ट्वा) परमेश्वरदेव के पूजन, उसके संग तथा उसके प्रति आत्मसमर्पण करके जितना फल प्राप्त होता है, उतना........पूर्ववत्।

द्वादशाहेन इष्ट्वा—द्वादशाह व्रत है, जिसे कि "अनडुहो व्रतम्" कहा है। १२ दिनों की १२ रात्रियों में प्रजापति सम्बन्धी इस व्रत को पूरा करना होता है। अभ्यासी दिन में विश्राम करता है, और रात्रिकाल में ध्यानावस्थित रहता है। ध्यान में प्रजापति ब्रह्म का ध्यान करते हुए यह भावना चित्त में लानी होती है कि यह प्रजापति अर्थात् ब्रह्म अनस् (संसार शकट) का वहन करता है। इस भावना सहित चित्त को ब्रह्म में लीन करना होता है। यथा "**द्वादश वा एता रात्रीर्व्रात्या आहुः प्रजापतेः। तत्रोप ब्रह्म यो वेद तद् वा अनडुहो व्रतम्**"॥ (अथर्व० ४.११.११)। इस व्रत का फल कहा है कि "**अनड्वान् दुहे सुकृतस्य लोके**" (अथर्व० ४.११.४), अर्थात् संसार-शकट का वहन करने वाला उपासक के लिए, "सुकर्मियों के लोक में "दुहे" फलप्रदान करता है, आनन्द रस का दोहन करता है"। उपासना की रात्रियों के सम्बन्ध में कहा कि—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥ (गीता २.६९)।

---

१. सायण, (अथर्व० ११.७.७)।

२. इष्ट्वा=यज् (देवपूजा, संगतिकरण, दानेषु)+क्त्वा।

३. **ओ३म् तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मण "स्त्रिविधः स्मृतः"** (गीता १७.२३) में ब्रह्म का निर्देश ओ३म् तत् और सत् पदों द्वारा किया जाता है, ऐसा कहा है।

अर्थात् जो रात्रि सब भूतों [प्राणियों] के लिए है उसमें संयमी जागता है। और जिसमें भूत जागते हैं वह रात्रि है द्रष्टा-मुनि के लिए। इस श्लोक में अध्यात्म भावना भी ओत-प्रोत है। रात्रि में उपासना की दृष्टि से श्लोक का अर्थ किया है। रात्रि काल सर्वतः शान्तिकाल होता है, अतः उपासना के अनुकूल है। "द्वादशाहेन इष्ट्वा" में अहः[1] शब्द दिन अर्थात् २४ घण्टों के दिन के लिए प्रयुक्त हुआ है। इन दिनों की रात्रियों में उपासना का वर्णन ४.११.११ में हुआ है। अभिप्राय यह कि १२ रात्रियों में ध्यानाभ्यास द्वारा परमेश्वरदेव के पूजन, उसके सङ्ग और उसे आत्मसमर्पण करके जितना फल मिलता है, उतना फल अतिथि की सेवा द्वारा प्राप्त हो जाता है।

अतिथि सेवा सामाजिक धर्म है। अतः इसके माहात्म्य का वर्णन हुआ है। वेद ने सामाजिक धर्म को सर्वश्रेष्ठ धर्म माना है]।

सूक्त ६, पर्याय ५

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अतिथिः, विद्या**॥ छन्दः—**१ साम्न्युष्णिक्, २ पुरउष्णिक्, ३ भुरिक् साम्नी बृहती**॥

तस्मा॑ उ॒षा हिङ्कृ॑णोति सवि॒ता प्र स्तौ॑ति॥ १॥

बृह॒स्पति॑रू॒र्जयोद्गा॑यति॒ त्वष्टा॒ पुष्ट्या॒ प्रति॑ हरति॒ विश्वे॑दे॒वा नि॒धन॑म्॥ २॥

नि॒धनं॒ भूत्याः॑ प्र॒जायाः॑ पशू॒नां भ॑वति॒ य ए॒वं वेद॑॥ ३॥

अर्थ—(तस्मै) उस अतिथिपति के लिए (उषाः) उषाकाल (हिङ्करोति) हिङ् शब्द का उच्चारण करता है, (सविता प्रस्तौति) सविता का काल प्रस्ताव करता है॥ १॥

(बृहस्पतिः ऊर्जया उद्गायति) बृहस्पति का काल बल पूर्वक ऊँचागान करता है, (त्वष्टा) त्वष्टा का काल (पुष्ट्या) पुष्टि पूर्वक (प्रतिहरति) प्रतिहार करता है, (विश्वेदवाः) समग्रदेवों का काल (निधनम्) साम की संपूर्णता करता है॥ २॥

(यः एवम् वेद) जो अतिथिपति इस प्रकार जानता है वह (भूत्याः, प्रजायाः पशूनाम्) सम्पत्ति का, प्रजा का, पशुओं का (निधनम्) निधिरूप (भवति) हो जाता है॥ ३॥

[हिङ्कार, प्रस्ताव, उद्गीथ (उद्गायति), प्रतिहार, निधन—इन पांच अवयवों वाला सामगान होता है, (छान्दोग्य उप० २.२-७)। हिङ्कार प्रारम्भिक आलाप है, प्रस्ताव का अभिप्राय है सामगान का वास्तविक आरम्भ, उद्गीथ है मुख्यगान, प्रतिहार है साम का उपसंहार और निधन है सामगान की सम्पूर्णता। उषा-काल है दिन का प्रारम्भ काल। सविता-काल है जब कि द्युलोक में तो प्रकाश हो और पृथिवी पर अभी तमस्। बृहस्पति काल है मध्याह्न काल, जब कि दिन पूरे यौवन में होता है। त्वष्टा का काल है प्रतिहार या प्रतीहार का काल, मध्याह्न के पश्चात् ढलता हुआ काल। विश्वेदेवाः का काल है जबकि द्युलोक में सब तारे चमक रहे हों। यथा—

उषा का काल=हिङ्कार। सविता का काल=प्रस्ताव। बृहस्पति का काल=उद्गीथ। त्वष्टा का काल=प्रतिहार। विश्वेदेवाः का काल है=तारामण्डितद्युलोक।

---

१. अथवा "द्वादशाहेन=द्वादशरात्रेण"। वेदों में अहन् शब्द रात्रिवाचक भी है। यथा "**अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च**" (ऋ० ६.९.१) में निरुक्त में कहा है कि "**अहश्च कृष्णं रात्रिः, शुक्लं चाहः, अर्जुनं**" (२.६.२१)।

अभिप्राय यह कि जैसे कि यज्ञों में सामगान होता है वैसे अतिथियज्ञ में भी मानो दैनिक काल, सामगान करता है। यह कालिकगान है अर्थात् कालगान कर रहा है। निधनम्=नितरां धनं यस्मिन्। अर्थात् सामगान की सम्पूर्णता। इसी प्रकार अतिथिपति भी प्रजा आदि की दृष्टि से सम्पूर्ण हो जाता है, उसे अधिक प्राप्ति की आवश्यकता नहीं रहती]। इसके अनन्तर सूर्य आदि का ''दैवत सामगान'' वर्णित होगा।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अतिथिः, विद्या**॥ छन्दः—**४ साम्न्यनुष्टुप्, ५ (पूर्वार्धः) त्रिपदा निचृद् विषमानामगायत्री (उत्तरार्द्धः) भुरिक् साम्नी बृहती**॥

तस्मा॑ उ॒द्यन्त्सूर्यो॒ हिङ्कृ॑णोति संग॒वः प्र स्तौ॑ति॥ ४॥

म॒ध्यन्दि॑न॒ उद्गा॑यत्यपरा॒ह्णः प्रति॑ हरत्य॒स्तंयन्नि॒धन॑म्।

नि॒धनं॒ भूत्याः॒ प्र॒जायाः॒ पशू॒नां भ॑वति॒ य ए॒वं वेद॑॥ ५॥

अर्थ—(तस्मै) उस अतिथिपति के लिए (उद्यन्) उदित होता हुआ (सूर्यः) सूर्य (हिङ्कृणोति) हिङ् शब्द का उच्चारण करता है, (संगवः) रश्मियों से संगत हुआ (प्रस्तौति) प्रस्ताव करता है॥४॥

(मध्यन्दिनः) मध्याह्न का सूर्य (उद्गायति) उद्गीथ अर्थात् उच्चैः गान करता है, (अपराह्णः) मध्याह्नोत्तर का सूर्य (प्रतिहरति) प्रतिहार अर्थात् उपसंहार करता है, (अस्तंयन्) अस्तंगत होता हुआ सूर्य (निधनम्) सामगान की सम्पूर्णता करता है।

(य एवं वेद) जो गृहस्थी या अतिथिपति इस प्रकार जानता है वह (भूत्याः प्रजायाः पशूनाम्) सम्पत्ति का, प्रजा का, पशुओं का, (निधनम्, भवति) निधिरूप हो जाता है। मन्त्र में सूर्य के सामगान का वर्णन हुआ है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अतिथिः, विद्या**॥ छन्दः—**६ साम्न्यनुष्टुप्, ७ (पूर्वार्धः) त्रिपदा विराड् विषमानामगायत्री (उत्तरार्धः) भुरिक् साम्नी बृहती**॥

तस्मा॑ अ॒भ्रो भव॒न्हिङ्कृ॑णोति स्त॒नय॒न्प्र स्तौ॑ति॥ ६॥

वि॒द्योत॑मा॒नः प्रति॑ हर॒ति॒ वर्ष॑न्नु॒द्गा॑यत्यु॒द्गृ॒ह्णन्नि॒धन॑म्।

नि॒धनं॒ भूत्याः॒ प्र॒जायाः॒ पशू॒नां भ॑वति॒ य ए॒वं वेद॑॥ ७॥

अर्थ—(तस्मै) उस अतिथिपति के लिए (अभ्रः भवन्) मेघ होता हुआ (हिङ् कृणोति) हिङ् का उच्चारण करता है, (स्तनयन् प्रस्तौति) गर्जता हुआ प्रस्ताव करता है, गान आरम्भ करता है, (वर्षन् उद्गायति) बरसता हुआ ऊच्चैः गान अर्थात् उद्गीथ करता है, (विद्योतमानः प्रतिहरति) विद्युत् रूप में चमकता हुआ प्रतिहार अर्थात् उपसंहार करता है, (उद्गृह्णन्[1] निधनम्) वर्षा के पश्चात् अन्तरिक्ष में ऊपर चढ़ा हुआ (निधनम्) सामगान की सम्पूर्णता करता है।

(यः एवं विद्वान्) जो अतिथिपति इस प्रकार जानता है वह (भूत्याः, प्रजायाः पशूनाम्) सम्पत्ति का, प्रजा का, पशुओं का (निधनम् भवति) निधिरूप हो जाता है।

[निधनम्=नितरां धनं यस्मिन् तत्।]।

---

१. मेघ में जब पानी भरा रहता है तो भारी होने से मेघ वायुमण्डल के नीचे के स्तर में हुआ वर्षा करता है, और वर्षा के पश्चात् हलका होकर वायुमण्डल के ऊपर के स्तरों में चढ़ जाता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अतिथिः, विद्या**॥ छन्दः—**८ त्रिपदा विराडनुष्टुप्, ९ साम्न्यनुष्टुप्, १० भूरिक् साम्नी बृहती**॥

अतिथीन्प्रति पश्यति हिङ्कृणोत्यभि वदति प्र स्तौत्युदकं याचत्युद्गायति॥ ८॥

उप हरति प्रति हरत्युच्छिष्टं निधनम्॥ ९॥

निधनं भूत्याः प्रजायाः पशूनां भवति य एवं वेद॥ १०॥

अर्थ—अतिथिपति जो (अतिथीन् प्रतिपश्यति) अतिथियों में से प्रत्येक को मानपूर्वक देखता है (हिङ् कृणोति) वह हिङ् शब्द का उच्चारण करता है, (अभिवदति) जो अभिवादन करता है वह (प्रस्तौति) प्रस्ताव करता है, सामगान आरम्भ करता है, (उदकम् याचति) भृत्य द्वारा जो उदक की मांग करता है वह (उद्गायति) उच्चैः गान (उद्गीथ) करता है।

(उपहरति) उदक को जो उपहार रूप में देता है वह (प्रति हरति) प्रतिहार करता है, सामगान का उप संहार करता है, (उच्छिष्टम्) खाने के पश्चात् जो बच जाता है [स्थाली आदि वर्तन] वह (निधनम्) सामगान की सम्पूर्णता है।

(यः एवम् वेद) जो अतिथिपति इस प्रकार जानता है वह (भूत्याः प्रजायाः पशूनाम्) सम्पत्ति का, पशुओं का (निधनम् भवति) निधिरूप हो जाता है।

सूक्त ६, पर्याय ६

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अतिथिः, विद्या**॥ छन्दः—**आसुरी गायत्री**॥

यत्क्षत्तारं ह्वयत्या श्रावयत्येव तत्॥ १॥

अर्थ—अतिथिपति (यत्) जो (क्षत्तारम्) क्षत्ता को (ह्वयति) बुलाता है (तत्) वह (आश्रावयति एव) वह यज्ञिय आश्रावण ही करता है।

[क्षत्ता[1]=व्रीहि से तण्डुल तैयार कर, उनका परिपाक करने वाला सेवक। उपोह और समूह को "क्षत्तारौ" कहा है (अथर्व० ३.२४.७)। उपोह=उप+वह (प्रापणे) अर्थात् धान्य आदि प्राप्त कराने वाला, तथा समूह=सम्+वह अर्थात् प्राप्त धान्य आदि का संग्रह करने वाला। इन दो को क्षत्तारौ कहा है। अतः मन्त्र १ में क्षत्ता, ओदन तैयार करने वाला सेवक प्रतीत होता है। यज्ञिय आश्रावण, अर्थात् बुलाने में, अध्वर्यु आश्रावण करता है अग्नीध् का अर्थात् अध्वर्यु बुलाता है अग्नीध् को। अग्नीध्=अग्नि को प्रदीप्त करने वाला ऋत्विक्]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अतिथिः, विद्या**॥ छन्दः—**साम्न्यनुष्टुप्**॥

यत्प्रतिशृणोति प्रत्याश्रावयत्येव तत्॥ २॥

अर्थ—(यत्) जब क्षत्ता (प्रतिशृणोति) स्वीकृति देता है, तो (तत्) वह (प्रत्याश्रावयति एव) आश्रावण का उत्तर ही है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अतिथिः, विद्या**॥ छन्दः—**त्रिपदाऽऽर्ची पङ्क्तिः**॥

यत्परिवेष्टारः पात्रहस्ताः पूर्वे चापरे च प्रपद्यन्ते चमसाध्वर्यव एव ते॥ ३॥

---

१. क्षत्ता=धान्य को "क्षत्" करके, क्षुधा के कष्टों से "तैराने" वाला। क्षत्+तृ (संतरणे)।

अर्थ—(यत्) जब (परिवेष्टारः) परोसने वाले, (पात्रहस्ताः) परोसने के पात्रों को हाथों में लिए, (पूर्वे च अपरे च) आगे-पीछे होकर (प्रपद्यन्ते) आगे की ओर जाते हैं, तब (ते) वे (चमसाध्वर्यवः एव) यज्ञिय चमसों के अध्वर्यु ही हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अतिथिः, विद्या** ॥ छन्दः—**एकपदा प्राजापत्या गायत्री** ॥

तेषां न कश्चनाहोता ॥ ४ ॥

अर्थ—(तेषाम्) उन परोसने वालों में (कः चन) कोई भी (अहोता न) न अग्निहोत्र करने वाला नहीं होता।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अतिथिः, विद्या** ॥ छन्दः—**त्रिपदाऽऽर्ची पङ्क्तिः** ॥

यद्वा अतिथिपतिरतिथीन्परिविष्य गृहानुपोदैत्यवभृथमेव तदुपावैति ॥ ५ ॥

अर्थ—(यद्) जब (अतिथिपतिः) अतिथिपति (अतिथीन् परिविष्य) अतिथियों को खाना परोस कर (गृहान् उप उदैति) समीप के घरों पर चढ़ता है तो वह (वै) निश्चय से (तत्) उस द्वारा (अवभृथम् एव) पवित्रता के लिए यज्ञिय स्नान को ही (उप अवैति) प्राप्त करता है।

[उदैति, अवैति="उद्" का अभिप्राय है ऊपर, और "अव" का अभिप्राय है नीचे। "उद्" से यह प्रतीत होता है कि घर सम्भवतः सीढ़ियों वाला है, "अव" से प्रतीत होता है कि स्नान गृह निचाई पर है अथवा उद् और अव केवल पादपूर्ति के लिए प्रयुक्त हुए हैं]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अतिथिः, विद्या** ॥ छन्दः—**आर्ची बृहती** ॥

यत्सभागयति दक्षिणाः सभागयति यदनुतिष्ठत उदवस्यत्येव तत् ॥ ६ ॥

अर्थ—अतिथिपति (यत्) जो (सभागयति) अन्न बांटता है (दक्षिणाः सभागयति) मानो दक्षिणाएँ बांटता है, (यत्) जो (अनुतिष्ठते) वापिस जाते हुए अतिथियों के पीछे या साथ स्थित होता है (तत्) वह (उदवस्यति एव) अतिथियज्ञ का अवसान करता है, उसे समाप्त करता है।

[सभागयति=अथवा अतिथियों को, अतिथि यज्ञ के ऋत्विक् रूप में, जो कुछ भेंट करता है वह दक्षिणाएँ भेंट करता है। यज्ञ में दक्षिणाएँ तो भेंट करनी होती हैं]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अतिथिः, विद्या** ॥ छन्दः—**आर्ची बृहती** ॥

स उपहूतः पृथिव्यां भक्षयत्युपहूतस्तस्मिन्यत्पृथिव्यां विश्वरूपम् ॥ ७ ॥

अर्थ—(पृथिव्याम्) पृथिवी पर स्थित हुआ (सः) वह अतिथिपति (तस्मिन्) उस भोज के निमित्त (यत्) जोकि (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (विश्वरूपम्) नानाविध है, (उपहूतः, उपहूतः) बार-बार निमन्त्रित हुआ (भक्षयति) भोजों का भक्षण करता है।

[अतिथि यज्ञ नानाविध श्रौत यज्ञों का प्रतिरूप है, जैसे कि पूर्व के मन्त्रों में निर्दिष्ट हुआ है (पर्याय ४.२, ४, ६, ८)। अतिथि यज्ञ द्वारा मानो श्रौतयज्ञों का सम्पादन करके अतिथिपति, स्वर्ग प्राप्ति का अधिकारी हो चुका है। पृथिवीवासी उसे बार-बार निमन्त्रित करते हैं, और वह उपहाररूप में दिये उन नानाविध भोज्यों का भक्षण करता है।]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अतिथिः, विद्या** ॥ छन्दः—**आर्ची बृहती** ॥

स उपहूतोऽन्तरिक्षे भक्षयत्युपहूतस्तस्मिन्यदन्तरिक्षे विश्वरूपम्॥ ८ ॥

अर्थ—(अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में स्थित हुआ (सः) वह अतिथिपति, (तस्मिन्) उस भोज के निमित्त (यत्) जो कि (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में (विश्वरूपम्) नानाविध है, (उपहूतः, उपहूतः) बार-बार निमन्त्रित हुआ (भक्षयति) भोगों का भक्षण करता है, भोग भोगता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अतिथिः, विद्या** ॥ छन्दः—**आर्ची बृहती** ॥

स उपहूतो दिवि भक्षयत्युपहूतस्तस्मिन्यद्दिवि विश्वरूपम्॥ ९ ॥

अर्थ—(दिवि) द्युलोक में स्थित हुआ (सः) वह अतिथिपति, (तस्मिन्) उस भोज के निमित्त (यद्) जो कि (दिवि) द्युलोक में (विश्वरूपम्) नाना विध है, (उपहूतः, उपहूतः) बार-बार निमन्त्रित हुआ (भक्षयति) भोगों का भक्षण करता है, भोगों को भोगता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अतिथिः, विद्या** ॥ छन्दः—**आर्ची बृहती** ॥

स उपहूतो देवेषु भक्षयत्युपहूतस्तस्मिन्यद्देवेषु विश्वरूपम्॥ १० ॥

अर्थ—(देवेषु) देवों में स्थित हुआ (सः) वह अतिथिपति, (तस्मिन्) उस भोज के निमित्त (यद्) जोकि (देवेषु) देवों में (विश्वरूपम्) नानाविध है, (उपहूतः उपहूतः) बार-बार निमन्त्रित हुआ (भक्षयति) भोगों का भक्षण करता है, भोगों को भोगता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अतिथिः, विद्या** ॥ छन्दः—**आर्ची बृहती** ॥

स उपहूतो लोकेषु भक्षयत्युपहूतस्तस्मिन्यल्लोकेषु विश्वरूपम्॥ ११ ॥

अर्थ—(लोकेषु) विविध लोकों में स्थित हुआ (सः) वह अतिथिपति, (तस्मिन्) उस भोज के निमित्त (यद्) जोकि (लोकेषु) विविध लोकों में (विश्वरूपम्) नानाविध है, (उपहूतः उपहूतः) बार-बार निमन्त्रित हुआ (भक्षयति) भोगों का भक्षण करता है, भोगों को भोगता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अतिथिः, विद्या** ॥ छन्दः—**एकपदा आसुरी जगती** ॥

स उपहूत उपहूतः ॥ १२ ॥

अर्थ—(सः) वह अतिथिपति (उपहूतः, उपहूतः) सत्कार पूर्वक निमन्त्रित हुआ, और सत्कार पूर्वक निमन्त्रित हुआ—

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अतिथिः, विद्या** ॥ छन्दः—**याजुषी त्रिष्टुप्** ॥

आप्नोतीमं लोकमाप्नोत्यमुम्॥ १३ ॥

अर्थ—(आप्नोति) प्राप्त होता है (इमम्) इस लोक को, और (आप्नोति) प्राप्त होता है (अमुम्) उस लोक को।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अतिथिः, विद्या** ॥ छन्दः—**एकपदासुर्युष्णिक्** ॥

ज्योतिष्मतो लोकाञ्जयति य एवं वेद॥ १४ ॥

अर्थ—(यः) जो अतिथिपति (एवम्) इस प्रकार [अतिथियज्ञ के महत्त्व को] (वेद) जानता है [तथा तदनुसार अतिथियज्ञ करता है] वह (ज्योतिष्मतो लोकान्) ज्योतिर्मय लोकों पर (जयति) विजय

पा लेता है [उनमें यथेच्छ विचरता तथा सम्मान पाता है]।

विशेष—मुक्ति में जीवात्मा सूक्ष्म भोगों को भोगता है। यथा "**शृण्वन् श्रोत्रं भवति, स्पर्शयन् त्वग् भवति, पश्यन् चक्षुर्भवति, रसयन् रसना भवति, जिघ्रन् घ्राणं भवति, मन्वानो मनो भवति, बोधयन् बुद्धिर्भवति, चेतयंश्चित्तं भवति, अहंकुर्वाणोऽहङ्कारो भवति**" (सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ९)।

तृतीय अनुवाक समाप्त॥

अनुवाक ४

सूक्त ७

विषय-प्रवेश

(१) सूक्त के १-२६ मन्त्रों में विश्व अर्थात् ब्रह्माण्ड को गोरूप कहा है, न कि गौ को विश्वरूप (२५)। मन्त्र १-१८ में गौ का वर्णन स्त्रीलिङ्गी हुआ है, और मन्त्र १९-२४ में गोजातीय बैल का वर्णन हुआ है। सायणाचार्य की दृष्टि में गौ के भिन्न-भिन्न अङ्गों को भिन्न-भिन्न देवता रूप में वर्णित किया है।

(२) गोरूप विश्व का वर्णन—

मन्त्र १	प्रजापतिः परमेष्ठी=शृङ्गे	इन्द्रः=शिरः	अग्निः=ललाटम्
	यमः=कृकाटम्		
मन्त्र २	सोमराजा=मस्तिष्कः	द्यौः=उत्तरहनुः	पृथिवी=अधरहनुः
मन्त्र ३	विद्युद्=जिह्वा	मरुतः=दन्ताः	रेवतीः=ग्रीवाः
	कृत्तिकाः=स्कन्धः	घर्मः=वहः	
मन्त्र ४	विश्वम्=वायुः	स्वर्गो लोकः=कृष्णद्रम्	विधरणी=निवेष्यः
मन्त्र ५	श्येनः=क्रोडः	अन्तरिक्षम्=पाजस्यम्	बृहस्पतिः=ककुद्
	बृहतीः=कीकसाः		
मन्त्र ६	देवानां पत्नीः=पृष्टयः	उपसदः=पर्शवः	
मन्त्र ७	मित्रः, वरुणः=अंसौ	त्वष्टा, अर्यमा=दोषणी	महादेवः=बाहू
मन्त्र ८	इन्द्राणी=भसद्	वायुः=पुच्छम्	पवमानः=वालाः
मन्त्र ९	ब्रह्म, क्षत्रम्=श्रोणी	बलम्=ऊरू	
मन्त्र १०	धाता, सविता=अष्ठीवन्तौ	गन्धर्वाः=जङ्घाः	अप्सरसः=कुष्ठिकाः
	अदितिः=शफाः		
मन्त्र ११	चेतः=हृदयम्	मेधा=यकृत्	व्रतम्=पुरीतत्
मन्त्र १२	क्षुत्=कुक्षिः	इरा=वनिष्ठः	पर्वताः=प्लाशयः
मन्त्र १३	क्रोधः=वृक्कौ	मन्युः=आण्डौ	प्रजा=शेपः
मन्त्र १४	नदी=सूत्री	वर्षस्य पतयः=स्तनाः	स्तनयित्नुः=ऊधः
मन्त्र १५	विश्वव्यचाः=चर्म;	ओषधयः=लोमानि;	नक्षत्राणि=रूपम्;

मन्त्र १६	देवजना:=गुदा:;	मनुष्या:=आन्त्राणि;	अत्रा:=उदरम्;
मन्त्र १७	रक्षांसि=लोहितम्;	इतरजना:=ऊबध्यम्;	
मन्त्र १८	अभ्रम्=पीव:;	मज्जा=निधनम्;	
मन्त्र १९	अग्नि:=आसीन:;	अश्विना=उत्थित:;	
मन्त्र २०	इन्द्र:=प्राङ् तिष्ठन्;	यम:=दक्षिणा तिष्ठन्;	
मन्त्र २१	धाता=प्रत्यङ् तिष्ठन्;	सविता=उदङ् तिष्ठन्;	
मन्त्र २२	सोमो राजा=तृणानि प्राप्त:;		
मन्त्र २३	मित्र:=ईक्षमाण:;	आवृत्त:=आनन्द:;	
मन्त्र २४	वैश्वदेव:=युज्यमान:;	प्रजापति:=मुक्त:;	सर्वम्=विमुक्त:;
मन्त्र २५	विश्वरूम्, सर्वरूपम्=गोरूपम्।		

(३) विश्व को गोरूप कहने का प्रयोजन, (देखो मन्त्र २४ की व्याख्या)।

(४) विश्व और गौ में तादात्म्य के वर्णन द्वारा ''यत् पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे'' उक्ति का भी समर्थन होता है।

ऋषि:—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गौ:** ॥ छन्द:—**आर्चीबृहती** ॥

प्रजापतिश्च परमेष्ठी च शृङ्गे इन्द्रः शिरो अग्निर्ललाटं यमः कृकाटम्॥ १ ॥

अर्थ—(प्रजापति: च) उत्पत्तियों का पति मेघ, (परमेष्ठी च) और परमस्थान में स्थित सूर्य (शृङ्गे) दो सींग हैं, (इन्द्र:) विद्युत्[१] (शिर:) सिर है, (अग्नि:) अग्नि (ललाटम्) माथा है, (यम:) यम (कृकाटम्) ग्रीवास्थियाँ हैं।

[इस मन्त्र और आगामी मन्त्रों में विश्व के घटकों और गौ के अवयवों में तद्रूपता अर्थात् तादात्म्य का वर्णन हुआ है। विश्व के घटकों को उद्देशरूप में माना है, ओर गौ के अवयवों को विधेयरूप में। अत: विश्व को गोरूप कहा है, न कि गौ को विश्वरूप। ''इन्द्र'' अन्तरिक्षस्थानी है (निरुक्त ७.२.५)। अत: यह विद्युत् है।

प्रजापति:, परमेष्ठी=शृङ्गे	इन्द्र:=शिर:
अग्नि:=ललाटम्	यम:=कृकाटम्

शृङ्ग आदि उत्तरोत्तर अङ्ग, गौ के क्रमिक अङ्ग हैं। कृकाट से सुषुम्णा नाड़ी का प्रारम्भ होता है। यह नाड़ी समग्र शरीर का नियमन करती है, अत: यम है। इसी प्रकार प्रजापति आदि में क्रमिकता है। छन्दोदृष्ट्या प्रजापति को परमेष्ठी से पूर्व रखा है। क्रम निम्नरूप जानना चाहिए। परमेष्ठी, प्रजापति:, इन्द्र:, अग्नि: [पार्थिव], और यम: [पृथिवी पर होने वाले जन्म-मृत्यु का अधिष्ठाता] सुषुम्णा नाड़ी के बिगड़

१. विद्युत् सर्वजगद् व्यापिनी है, अत: सबके लिए शिरोरूप है। परन्तु प्रकट होता है वर्षाकाल में अन्तरिक्ष में, इसलिए निरुक्त में इसे अन्तरिक्षस्थ कहा है। इसका वर्णन सूक्त ७ में त्रिविध रूप में हुआ है, (१) अप्रकट रूप में अन्तरिक्ष में। (२) कड़कड़ाती हुई मेघ में, इस रूप में इसे जिह्वा कहा है (मन्त्र ३)। जिह्वा भी बोलती है, मानो कड़कड़ाती है, मुख में। (३) लहररूप में गतिशीला। इस तीसरे रूप में इसे श्येन कहते हैं (मन्त्र ५)। मेघों में विद्युत् लहर रूप में चमकती है।

जाने से मृत्यु हो जाती है, अतः यह मृत्युरूप भी है।]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गौः** ॥ छन्दः—**आर्च्युष्णिक्** ॥

सोमो राजा मस्तिष्को द्यौरुत्तरहनुः पृथिव्यधरहनुः ॥ २ ॥

अर्थ—(सोमः राजा) प्रदीप्त चन्द्रमा (मस्तिष्कः) मस्तिष्क है, (द्यौः) द्युलोक (उत्तरहनुः) ऊपर का जबड़ा है, (पृथिवी अधरहनुः) पृथिवी निचला जबड़ा है।

[राजा=**राजृ दीप्तौ**। चन्द्रमा का सम्बन्ध मन (मस्तिष्क) के साथ है। "**चन्द्रमा मनसो जातः**" (यजुः० ३१.१२), तथा "**मनश्चन्द्रो दधातु मे**" (अथर्व० १९.४३.४)।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गौः** ॥ छन्दः—**आर्च्यनुष्टुप्** ॥

विद्युज्जिह्वा मरुतो दन्ता रेवतीर्ग्रीवाः कृत्तिका स्कन्धा घर्मो वहः ॥ ३ ॥

अर्थ—(विद्युत्[१]) कड़कड़ाती हुई विद्युत् (जिह्वा[१]) जीब है, (मरुतः) मरुत् [बहुवचने] (दन्ताः) दान्त हैं, (रेवतीः) रेवती नक्षत्र के तारा (ग्रीवाः) गर्दन की अस्थियाँ हैं, (कृत्तिकाः) कृत्तिका-तारे (स्कन्धाः) कन्धे की अस्थियाँ हैं, (घर्मः) ग्रीष्मारम्भ (वहः) बैल का वह स्थान है जिस पर शकट का जुआ (yoke) रखा जाता है।

[मरुतः= ये ७×७=४९ प्रकार के मरुत् हैं। यजुर्वेद १७.८०-८५ ये ६ मन्त्र तथा "उग्रश्च भीमश्च" आदि ७ वां मन्त्र। इन ७ मन्त्रों में प्रत्येक में सात-सात मरुतों के नाम दिये हैं। महीधराचार्य लिखते हैं "**शुक्रज्योरित्याद्या एकोनपञ्चाशन्मन्त्राः**" (यजुः० १७.८०)। इन मन्त्रों की व्याख्या में शतपथ ब्राह्मण में कहा है कि "**स यः स वैश्वानरः। असौ सऽ आदित्योऽथ ये ते मारुता रश्मयस्ते, सप्त-सप्त हि मारुता गणाः**" (शत० ९.३.१.२५)। रश्मियाँ नोकीली होती हैं। इस साम्य से मरुतों को मन्त्र ३ में "दन्ताः" कहा है।

रेवतीः, कृत्तिकाः—रेवतीः नक्षत्र है मीन राशि में, और कृत्तिकाः नक्षत्र है मेष राशि में। मन्त्र में रेवतीः को "ग्रीवा" कहा है, और कृत्तिकाः को "स्कन्धः"। गौ में ग्रीवाः पूर्ववर्ती होती है, और स्कन्ध अर्थात् कन्धे पश्चाद्वर्ती। जैसे कि अस्मदादि में ग्रीवाः के पश्चात् दो स्कन्ध वर्तमान हैं। यह ही पूर्वापरभाव रेवतीः [मीनराशि] में और कृत्तिकाः [मेषराशि] में दर्शाया है। रेवतीः नक्षत्र या मीनराशि पर राशिचक्र की समाप्ति होती है, तत्पश्चात् [मेषराशि को छोड़ कर] कृत्तिकाः नक्षत्र या वृषराशि आती है। मेषराशि में अश्विनी और भरणी नक्षत्र विद्यमान हैं। इन्हें इसलिए उपेक्षित किया है कि अथर्ववेदानुसार राशि चक्र की अन्तिम राशि मीन न होकर मेषराशि पड़ती है, क्योंकि अथर्ववेदानुसार कृत्तिकाः या वृषराशि से राशि चक्र का या वर्ष का आरम्भ माना है। यथा "**सुहवमग्ने कृत्तिका रोहिणी च**" (अथर्व० १९.७.२)।

मन्त्र में कृत्तिका और रोहिणी का देवता "अग्नि" कहा है। वर्ष के प्रारम्भ में सूर्य जब कृत्तिका पर आता है तब अधिक प्रकाश और गर्मी अनुभूत होने लगती है, और शीतकाल के शैत्य की समाप्ति हो जाती है। इस अग्नि को व्याख्येय मन्त्र ३ में घर्मः अर्थात् घाम या गर्मी कहा है। इस प्रकार कृत्तिकाः नक्षत्र या वृषराशि, सौर रथ के वहन में "वहः" का काम करती है। "वहः" है बैल का ककुद् [hump] जिसके

---

१. द्रष्टव्य—पूर्व पृष्ठ, टिप्पणी सं० १ (विद्युत् सर्वजगद् व्यापिनी.....)।

अग्रभाग पर शकट का जुआ [yoke] स्थापित किया जाता है]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गौः** ॥ छन्दः—**साम्नी बृहती** ॥

विश्वं वायुः स्वर्गो लोकः कृष्णद्रं विधरणी निवेष्यः ॥ ४ ॥

अर्थ—(विश्वम्) विशेषतया अन्तरिक्ष में गति करने वाली तथा बढ़ने [फैलने] वाली अन्तरिक्षस्थ वायु है (वायुः) गौ की श्वासोच्छ्वास की प्राणवायु है, (स्वर्गो लोकः) स्वर्ग लोक है (कृष्णद्रम्=कृष्णद्रुम[१]) गहरे-हरे वृक्ष [गौ के लिए], (विधरणी) विस्तृत पृथिवी है (निवेष्यः) गौ के बैठने तथा विश्राम करने का स्थान [गोशाला]।

[विश्वम्=वि+श्वम् (**टुओश्वि गतिवृद्ध्योः**) (भ्वादिः) यथा "**मातरिश्वा=मातरि [अन्तरिक्षे]+श्वयति गच्छति वर्द्धते वा** (उणा० १.१५९ महर्षि दयानन्द)। विधरणी=वि+धरणी (the earth, आप्टे)।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गौः** ॥ छन्दः—**आर्च्यनुष्टुप्** ॥

श्येनः क्रोडोऽ३न्तरिक्षं पाजस्यं१ बृहस्पतिः ककुद् बृहतीः कीकसाः ॥ ५ ॥

अर्थ—(श्येनः) श्येन है (क्रोडः) गौ की छाती; (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष है (पाजस्यम्) उदर, पेट; (बृहस्पतिः) बृहस्पति है (ककुद्) ककुद्; (बृहतीः) बृहती हैं (कीकसाः) रीढ की अस्थियाँ।

["श्येन" है अन्तरिक्षस्थ विद्युत् (निरुक्त ११.१.१)। यह गतिशील है "**श्यायति गच्छतीति श्येनः**" (उणा २.४७)। श्येन पक्षी भी होता है जोकि अन्तरिक्ष में गति करता है, उड़ता है। विद्युत् भी अन्तरिक्षस्थ मेघ में गति करती है, लहर के रूप में मानो उड़ती है। इसे क्रोड़ कहा है, अर्थात् गौ की छाती। छाती में दो अङ्ग होते हैं—(१) फेफड़े, जिनमें श्वास-प्रश्वास रूपी वायु रहती है, (२) हृदय, जिसमें कि रक्तरूप आपः रहते हैं। आपः के कारण हृदय को सिन्धु कहा है (अथर्व० १०.२.११)। अन्तरिक्षस्थ श्येन अर्थात् विद्युत् का साधर्म्य भी दो तत्त्वों के साथ है, (१) अन्तरिक्षस्थ वायु के साथ, तथा (२) मेघस्थ आपः के साथ। इस साधर्म्य के कारण श्येन को क्रोड़ अर्थात् गौ की छाती कहा है। "पाजस्यम्" है उदर अर्थात् पेट। "**पाजः बलम्**" (निघं० २.९), तथा "**पाजः अन्नम्**" (निघं० २.७)। **पाजः अस्यते प्रक्षिप्यतेऽस्मिन्निति पाजस्यम्, उदरम्**। अन्न की मुख में चबा कर अधःस्थ उदर में फैंक दिया जाता है। अन्तरिक्ष है "पाजस्य", अर्थात् गौ का उदर। यथा "**अन्तरिक्षमुतोदरम्**" (अथर्व० १०.७.३२)। उदर स्वयं एक थैले जैसा है, अन्तरिक्ष सदृश है, जिसमें कि आमाशय, पक्वाशय आदि अङ्ग रखे हुए हैं। उदरम्=उ+दरम् (**दॄ विदारणे**), विदीर्ण हुआ-हुआ अङ्ग।

"बृहस्पतिः" एक ग्रह है सौरमण्डल में। यह ग्रह बड़ा है "बृहतः पतिः" (निरुक्त १०.१.११)। बड़े होने के कारण इसे बृहस्पति कहा है। कुकद् भी गौ की पीठ से ऊपर उठा रहता है, सींगों को छोड़ कर गौ के सब अङ्गों से ऊंचा है। इसलिए बृहस्पति को गौ का कुकद् कहा है "बृहती" यह वैदिक छन्द है। यह अन्य छन्दों का उपलक्षक भी हैं। छन्दोमय वेद, ज्ञान का स्रोत है। ज्ञानमय होने के कारण इसे वेद कहते हैं (विद् ज्ञाने)। 'कीकसाः' है पृष्ठवंश की अस्थियाँ, जिनके छिद्रों में से सुषुम्णा नाड़ी फैली हुई है। सुषुम्णा नाड़ी ज्ञान-साधिका है। इस हेतु "बृहतीः" को कीकसाः कहा है, अर्थात् गौ के कीकस]

---

१. कृष्ण+द्रु (A tree) [वृक्ष] आप्टे।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गौः** ॥ छन्दः—**आसुरी गायत्री** ॥

दे॒वानां॒ पत्नीः॑ पृ॒ष्टय॑ उप॒सदः॒ पर्शवः॑ ॥ ६ ॥

अर्थ—(देवानाम्) देवों की (पत्नीः) पत्नियाँ (पृष्टयः) गौ [बैल] की पीठ की अस्थियाँ हैं, (उपसदः) उपग्रह (पर्शवः) वक्षःस्थल की अस्थियाँ हैं।

[दिव्यगुणी-पतियों के लिए उनकी पत्नियाँ। आश्रय होती हैं वैसे बैल की पीठ की अस्थियाँ भारोद्वहन में आश्रय होती हैं। इस आश्रयरूपीसाम्य द्वारा "देवानां पत्नी" को पृष्टयः कहा है। मन्त्र में "देवानां पत्नीः" द्वारा ब्रह्माण्ड की देवपत्नियाँ भी अभिप्रेत हैं, इनका वर्णन देखो (निरुक्त १२.४.४४); तथा (ऋ० ५.४६.७, ८); यथा इन्द्राणी, अग्नायी, अश्विनी, रोदसी, वरुणानी। ये ब्रह्माण्ड की शक्तियाँ हैं जिनके द्वारा प्राणिजगत् का उपकार हो रहा है। गौ (बैल की पृष्टियां) अर्थात् पीठ की अस्थियाँ भी भारोद्वहन द्वारा प्राणिजगत् का उपकार करती हैं।

उपसदः हैं उपग्रह, जोकि निज ग्रहों के समीप स्थित हुए उनकी परिक्रमाएँ करते हैं। (मन्त्र ५ में बृहस्पति द्वारा ग्रह का वर्णन है, और मन्त्र ६ में उपसदः द्वारा उपग्रह का वर्णन हुआ है। उपग्रह का अभिप्राय है चन्द्रमा। चन्द्रमा शुक्लपक्ष में अष्टमी से पहिले, तथा कृष्णपक्ष में अष्टमी के पश्चात् पर्शु अर्थात् पसलियों के आकार का दृष्टिगोचर होता है। इसलिए इसे गौ की पसलियाँ कहा है। मन्त्रों में ब्रह्माण्ड के घटकों को गौ के अवयवों के रूप में वर्णित किया है। इस अभिप्राय से कहा है कि "**एतद् वै विश्वरूपं सर्वरूपं गोरूपम्** (अथर्व० ९.७.२५) अर्थात् यह विश्व गोरूप है, गौ का रूप है]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गौः** ॥ छन्दः—**त्रिपदा पिपीलिकामध्या निचृद् गायत्री** ॥

मि॒त्रश्च॒ वरु॑ण॒श्चांसौ॒ त्वष्टा॑ चार्य॒मा च॑ दो॒षणी॑ महादे॒वो बा॒हू ॥ ७ ॥

अर्थ—(मित्रश्च वरुणश्च) मित्र और वरुण (अंसौ) गौ के दो कन्धे (shoulders) हैं, (त्वष्टा च अर्यमा च) त्वष्टा और अर्यमा (दोषणी) दो भुजाएँ हैं, (महादेवः) महादेव (बाहू) दो बाहुएँ हैं।

[मित्र=**मिद् स्नेहने**। सूर्य, वर्षा द्वारा, वनस्पति आदि को स्निग्ध करता है। "**वरुणः पदनाम**" (निघं० ५.४, ५.६) आवृणोति रात्रिं स्वप्रकाशेनेति वरुणः। रात्रि को, चन्द्रमा, निज प्रकाश द्वारा आवृत करता है, अतः वरुण=चन्द्रमा। ये दो सूर्य, चन्द्रमा मानो अंसौ[१] हैं। त्वष्टा=**माध्यमिकः त्वष्टेत्याहुः, मध्यमे च स्थाने समाम्नातः** (निरुक्त=८.२.१४)। इसी प्रकार "अर्यमा" भी माध्यमिक देवता है। ये दोनों "दोः" हैं, कन्धों और कोहनियों के मध्यवर्ती दो भाग हैं। महादेव का अभिप्राय है देवों का देव अर्थात् परमेश्वर। सृष्टि रचना में परमेश्वर की दो बाहुओं का वर्णन होता है, यथा "**सं बाहूभ्यां धमति सं पतत्रैः द्यावाभूमिर्जनयन् देव एकः**" (यजुः० १७.१९), इन दो बाहुओं की शक्तियों को, गौ की बाहुएँ कहा है। बाहू हैं कोहनियों के अग्रभाग, हाथों समेत। इसके द्वारा गौ की आगे की दो टांगों का कथन मन्त्र में हुआ है]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गौः** ॥ छन्दः—**आसुरी गायत्री** ॥

इ॒न्द्रा॒णी भ॒सद्वा॒युः पुच्छं॒ पव॑मानो॒ बालाः॑ ॥ ८ ॥

---

१. पौर्णमासी के सायंकाल पूर्व में तो पूर्ण चन्द्रमा, और पश्चिम में सूर्य, एक-दूसरे के सामने, दो क्षितिजों पर होते हैं, मानो ये उठे हुए भूमि के दो स्कन्धरूप हैं। सूक्त में विश्व और गौ में तादात्म्य का वर्णन है।

अर्थ—(इन्द्राणी) इन्द्राणी है (भसद्) जघनप्रदेश [भसद्], (वायुः) वायु है (पुच्छम्) पूँछ, (पवमानः) बहती वायु है (बालाः) बाल [पूंछ[1] के]। पवमानः=गच्छन् वायुः (अथर्व० ६.१९.१ सायण)।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गौः** ॥ छन्दः—**साम्नी गायत्री** ॥

ब्रह्म॑ च क्ष॒त्रं च॒ श्रोणी॒ बल॒मूरू॥ ९ ॥

अर्थ—(ब्रह्म च क्षत्रं च) ब्रह्म और क्षत्र (श्रोणी) दो कटिप्रदेश [श्रोणी] हैं, (बलम्) बल है (ऊरू) दो ऊरु [दो घुटनों के ऊपर के भाग, कटिप्रदेश तक]। [ऊरू=**उर्वोरोजः** (अथर्व० १९.६०.२)। कटिप्रदेश=गौ की पिछली टाँगें जहाँ जुड़ी रहती हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गौः** ॥ छन्दः—**पुरउष्णिक्** ॥

धा॒ता च॑ सवि॒ता चा॑ष्ठी॒वन्तौ॒ जङ्घा॑ गन्ध॒र्वा अ॑प्स॒रसः॑
कुष्ठि॑का॒ अदि॑तिः श॒फाः ॥ १० ॥

अर्थ—(धाता च सविता च) धाता और सविता हैं (अष्ठीवन्तौ) दो घुटने [अष्ठीवन्तौ=अस्थियों वाले], (गन्धर्वाः) गन्धर्व हैं (जङ्घाः) जङ्घाएँ [लातें], (अप्सरसः) अप्सराएँ हैं (कुष्ठिकाः) जङ्घाओं और खुरों के जोड़ों की अस्थियाँ [कुष्ठिकाः=कु+अस्थिकाः] (अदितिः) प्रकृति है (शफाः) खुर।

[जङ्घाः=“**जङ्घयोर्जवः**” (अथर्व० १९.६०.२)। अदितिः “**अदीना देवमाता**” (निरुक्त ४.४.२२), सूर्यादि देवों की माता प्रकृति अथवा “**अदितिः पृथिवीनाम**” (निघं० १.१)। पृथिवी को “प्रमा” कहा है, यथा “**यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्। दिवं यश्चक्रे मूर्द्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः** ॥ (अथर्व० १०.७.३२)। “प्रमा का अर्थ है “पाद”, जिसके द्वारा कि भूमि नापी जाती है” प्रमीयते यया सा प्रमा”। पादों द्वारा भूमि नापी जाती है, “फुटे” को Foot (पाद) कहते हैं। इस प्रकार अदिति और शफाः का परस्पर सम्बन्ध भी द्योतित हो जाता है। गन्धर्वों, अप्सराओं के स्वरूप, यथा—

	(गन्धर्वाः)	+ (अप्सरसः)		(गन्धर्वाः)	+ (अप्सरसः)
(१)	अग्निः	ओषधयः	(४)	वातः	आपः
(२)	सूर्यः	मरीचयः	(५)	यज्ञः	दक्षिणाः
(३)	चन्द्रमाः	नक्षत्राणि	(६)	मनः	ऋक् सामानि (यजुः० १८.३८-४३)

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गौः** ॥ छन्दः—**साम्न्युष्णिक्** ॥

चेतो॒ हृद॑यं॒ यकृ॒न्मे॒धा व्र॒तं पु॑रीतत्॥ ११ ॥

अर्थ—(चेतः) चित्त है (हृदयम्) गौ का हृदय, (मेधा)[2] आशु ग्रहणशक्ति है (यकृत्) जिगर [Liver], (व्रतम्) व्रत है (पुरीतत्) शरीर में विस्तृत आन्तें।

[चेतः, हृदयम्—चित्त है विश्वाङ्ग, और हृदय है गौ का अङ्ग। इन दोनों में तादात्म्य है। योगदर्शन में भी चित्त और हृदय का परस्पर सम्बन्ध दर्शाया है “**हृदये चित्तसंवित्**” (३.३४), अर्थात् हृदय में चित्त के स्वरूप का ज्ञान होता है। मेधा और यकृत् का पारस्परिक सम्बन्ध अनुसन्धेय है। व्रत का अभिप्राय है व्रत में “खाद्य-अन्न”। इस प्रकार व्रत और पुरीतत् का परस्पर सम्बन्ध द्योतित हो जाता है]

१. पूंछ के हिलते ही पूंछ के बाल हिलते हैं। मच्छर के निवारण के लिए।
२. मेधा आशुग्रहणे (कण्ड्वादिः)।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गौः** ॥ छन्दः—**साम्न्युष्णिक्** ॥

क्षुत्कुक्षिरिरा वनिष्ठुः पर्वताः प्लाशयः ॥ १२ ॥

अर्थ—(क्षुत्) क्षुधा है (कुक्षिः) कोख, जठर, (इरा) अन्न है (वनिष्ठुः) स्थूल-आन्त [colon], (पर्वताः) पर्वत हैं (प्लाशयः) प्लाशियाँ, मांसपशियाँ mussles।

[कुक्षिः=पशु की वह थैली जिसमें कि चबाया हुआ चारा एकत्रित होता है, जिसकी जुगाली पशु करते हैं। वनिष्ठुः="**वनिष्ठोः स्थविरान्त्रात्**" (सायण, अथर्व० २.३३.४)। प्लाशयः=मांसपेशियाँ। ये शरीर में पर्वत श्रेणी के सदृश परस्पर सम्बद्ध हुई फैली हुई हैं। इरा-और-वनिष्ठु में तादात्म्य वर्णित किया है। वनिष्ठु में निःसार परिपक्व मल होता है]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गौः** ॥ छन्दः—**साम्नी गायत्री** ॥

क्रोधो वृक्कौ मन्युराण्डौ प्रजा शेपः ॥ १३ ॥

अर्थ—(क्रोधः) क्रोध है (वृक्कौ) दो गुर्दे, (मन्युः) मन्यु है (आण्डौ) दो अण्ड-ग्रन्थियाँ, (प्रजा) सन्तान है (शेपः) जननेन्द्रिय।

[क्रोध में अज्ञानांश होता है, और मन्यु में ज्ञानांश होता है। ये[1] दोनों मानसिक वृत्तियाँ हैं, विश्व के अङ्ग हैं। वृक्कौ हैं [बैल] के अङ्ग। इसी प्रकार अण्डौ और शेपः भी बैल के अङ्ग है, और प्रजा है विश्व का अङ्ग। क्रोध-और-वृक्कौ, तथा मन्यु-और-आण्डौ का परस्पर सम्बन्ध अनुसन्धेय है]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गौः** ॥ छन्दः—**साम्नी बृहती** ॥

नदी सूत्री वर्षस्य पतय स्तना स्तनयित्नुरूधः ॥ १४ ॥

अर्थ—(नदी) नदी है (सूत्री) नाभिनाल, (वर्षस्य पतयः) वर्षा के पति हैं (स्तनाः) स्तन, (स्तनयित्नुः) गर्जता मेघ है (ऊधः) दुग्धाशय।

[नदी, वर्षस्य पतयः और स्तनयित्नु हैं विश्व के अङ्ग। और सूत्री, स्तनाः और ऊधः हैं गौ के अङ्ग। इनमें परस्पर तादात्म्य दर्शाया है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गौः** ॥ छन्दः—**साम्नी बृहती** ॥

विश्वव्यचाश्चर्मौषधयो लोमानि नक्षत्राणि रूपम् ॥ १५ ॥

अर्थ—(विश्वव्यचाः) अन्तरिक्ष में विस्तृत वायु, या विश्व में विस्तृत सौररश्मियाँ या, अन्तरिक्ष है (चर्म) गौ की चमड़ी, (ओषधयः लोमानि) ओषधियाँ हैं गौ के लोम, (नक्षत्राणि) नक्षत्र हैं (रूपम्) गौ के अङ्गों के [चमकते] रूप।

[व्यचः=विस्तार। यथा "**अन्तरा द्यां च पृथिवीं च यद् व्यचः**" (अथर्व० ९.३.१५) व्यचः=वि+**अञ्चु, अचु, अचि गतौ,** (भ्वादिः)]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गौः** ॥ छन्दः—**साम्नी बृहती** ॥

देवजना गुदा मनुष्या आन्त्राण्यत्रा उदरम् ॥ १६ ॥

---

१. क्रोध, रजस्तमोगुणप्रधाना चित्तवृत्ति है, और मन्यु सत्त्वगुणा चित्तवृत्ति है। परमेश्वर को भी मन्यु कहा है, और उससे मन्यु की प्रार्थना भी की गई है। यथा "**मन्युरसि मन्युं मयि धेहि**"।

अर्थ—(देवजनाः) उन्मत्त जन हैं (गुदाः) गौ की गुदा के अवयव, (मनुष्याः) मनुष्य हैं (आन्त्राणि) गौ का पक्वाशय, (अत्राः) अन्य अदनकर्त्ता प्राणी हैं (उदरम्) गौ का पेट।

[देव पद "दिव्" धातु का रूप है। दिव् का अर्थ "मद" भी होता है (दिवादिः)। अतः देवजनाः=उन्मत्त जन। ये गौ के गुदा के समान हैं। मनुष्याः=मननशील जन। यथा "**मनुष्याः=मत्त्वा कर्माणि सीव्यन्ति**" (निरुक्त ३.२.७)। मननपूर्वक कर्मपट बुनने या सीनेवाले व्यक्ति अपने काम में परिपक्व प्रज्ञा वाले होते हैं, अतः इन्हें आन्त्राणि कहा है, आन्तों में परिपक्व अन्न होता है। मनुष्याः=मनु (मत्त्वा)+स्याः (सीव्यन्ति) देवजनों तथा मनुष्यों से अतिरिक्त प्राणी केवल भोजनपरायण होते हैं, "अत्राः" होते हैं [अद्+राः], अतः इन्हें उदर कहा है]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गौः** ॥ छन्दः—**साम्न्युष्णिक्** ॥

रक्षांसि लोहितमितरजना ऊबध्यम्॥ १७॥

अर्थ—(रक्षांसि) राक्षसस्वभाव के लोग हैं (लोहितम्) गौ का खून, (इतरजनाः) उपर्युक्त कथितों से भिन्न लोग हैं, (ऊबध्यम्) गौ का गोबररूप, सामाजिक जीवन में अल्पोपयोगी।

[राक्षस खूनी स्वभाव वाले होते हैं, अतः इन्हें खून कहा है]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गौः** ॥ छन्दः—**एकपदाऽऽसुरी बृहती** ॥

अभ्रं पीबो मज्जा निधनम्॥ १८॥

अर्थ—(अभ्रम्) जल से भरा मेघ है (पीबः=पीवः) गौ का मोटा शरीर, (मज्जा) मज्जा है (निधनम्) गौ की नलिकास्थियों का अन्तिम सार (marrow), [अभ्रम्=आपः+भृञ् (भरणे)]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गौः** ॥ छन्दः—**एकपदाऽऽसुरी पङ्क्तिः** ॥

अग्निरासीन उत्थितोऽश्विना॥ १९॥

अर्थ—(अग्निः) अग्नि है (आसीनः) बैठा हुआ बैल, (अश्विना) दो अश्विन् तारा हैं (उत्थितः) उठा हुआ बैल।

[अग्नि है पार्थिव-अग्नि। यह पृथिवीस्थ है। अतः अग्नि को बैठा बैल कहा है। अश्विनौ हैं मेषराशिस्थ दो तारा। ये द्युलोक में ऊंचे उठे हुए हैं, इसलिए अश्विनौ को उत्स्थित अर्थात् उठा हुआ बैल कहा है। अग्नि और अश्विनौ विश्व के अङ्ग हैं, और बैल का बैठना और उठना बैल की क्रियाएँ हैं। इनमें तादात्म्य दर्शाया है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गौः** ॥ छन्दः—**याजुषी जगती** ॥

इन्द्रः प्राङ् तिष्ठन्दक्षिणा तिष्ठन्यमः॥ २०॥

अर्थ—(इन्द्रः) रश्मिरूपी ऐश्वर्यवाला सूर्य है, (प्राङ् तिष्ठन्) पूर्व की ओर मुख कर खड़ा बैल। (यमः) रश्मियों को नियन्त्रित किया हुआ सूर्य है, (दक्षिणा तिष्ठन्) दक्षिण की ओर मुख कर खड़ा बैल।

[सूर्य जब विषुवत्रेखा अर्थात् भूमध्यरेखा पर होता है, तब सूर्य रश्मिरूपी ऐश्वर्य वाला होता है, उधर मुख कर खड़ा बैल मानो सूर्यरूप है। सूर्य पूर्वदिशा से जब दक्षिण की ओर जाता है तब शीतकाल होता है, मानो उस समय सूर्य यमरूप होता है, यतः वह निज रश्मियों को नियन्त्रित कर शैत्याधिक्य के कारण मृत्युरूप होता है, दक्षिण की ओर का सूर्य, मानो दक्षिण की ओर मुख कर खड़ा बैल है।

"यमः यच्छतीति सतः" (निरुक्त १०.२.१९)। इन्द्र और यम विश्व के अङ्ग हैं। इन्द्र और यम के द्युलोक में खड़े होने को, पूर्व और दक्षिण की ओर खड़ा बैल कहा है। इसके द्वारा दर्शा दिया है कि सूर्य वास्तव में एक स्थान में खड़ा है। उसमें गति पृथिवी की गति के कारण प्रतीत होती है। तिष्ठन्="**ष्ठा गतिनिवृत्तौ**"]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः**॥ छन्दः—**आसुर्यनुष्टुप्**॥

प्रत्यङ् तिष्ठन्धातोदङ् तिष्ठन्त्सविता॥ २१॥

अर्थ—(धाता) धारण-पोषण करने वाला सूर्य है (प्रत्यङ् तिष्ठन्) पश्चिम की ओर मुख कर खड़ा बैल, (सविता) उत्पादक तथा प्रेरक सूर्य है (उदङ् तिष्ठन्) उत्तर की ओर मुख कर खड़ा बैल।

[मन्त्र २०, २१ में सूर्य की गति दर्शाई है, प्राङ्, दक्षिण, प्रत्यङ् तथा उदङ्। मकरसंक्रान्ति [लगभग २१ दिसम्बर] तक सूर्य दक्षिणभाग में गति करता रहता है। तदनन्तर सूर्य पश्चिमदिशा की ओर अग्रसर होता है। पश्चिम दिशा का सूर्य "धाता" है। इस काल में शीतकाल की वर्षा द्वारा खाद्यान्न पैदा होता है, जिससे प्राणियों का धारण-पोषण होता है। धाता=**धा धारण-पोषणयोः**। धाता की व्याख्या में देखो (निरुक्त ११.१.१०)। निरुक्त में धाता द्वारा "जीवातुमक्षिताम्" अर्थात् प्रवृद्ध-आजीविका की प्राप्ति का कथन हुआ है। उदङ् के साथ "सविता" का वर्णन हुआ है। उत्तर दिशा में ही प्राणियों की अधिक उत्पत्ति है]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः**॥ छन्दः—**एकपदाऽऽसुरी बृहती**॥

तृणानि प्राप्तः सोमो राजा॥ २२॥

अर्थ—(सोमः राजा) सोम राजा है [बैल], जब कि वह [चारे के लिए] (तृणानि प्राप्तः) घास आदि तृणों को प्राप्त होता है।

[सोम है महौषध। अतः यह वीरुधों का अधिपति है। यथा "**सोमो वीरुधामधिपतिः**" (अथर्व० ५.२४.७)। सोम अन्य तृणरूप-वीरुधों में प्राप्त रहता है। अतः इस बैलरूप में वर्णित किया है जब कि बैल घास आदि के तृणों को प्राप्त होता है।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः**॥ छन्दः—**एकपदाऽऽसुरी बृहती**॥

मित्र ईक्षमाण आवृत्त आनन्दः॥ २३॥

अर्थ—(ईक्षमाणः) तप्त होकर जब बैल देख रहा होता है तब वह (मित्रः) मित्र के सदृश स्नेहभरी दृष्टि से मानो देखता है। (आवृत्तः) जब वापिस लौटता है तब वह (आनन्दः) आनन्दस्वरूप होता है। आनन्दमयी अवस्था में होता है। मित्रः=**ञिमिदा स्नेहने** (भ्वादिः)।

अथवा—(मित्रः) वर्षा द्वारा स्निग्ध करने वाला सूर्य, जोकि पृथिवी का (ईक्षमाणः) निरीक्षण करता है। (ईक्षमाणः) ईक्षण करता हुआ बैलरूप है। (आवृत्तः) प्रातःकाल पुनः लौट कर आया सूर्य—(आनन्दः) जोकि आनन्दप्रद होता है, आवृत्त हुए आनन्दस्वरूप बैल सदृश है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः**॥ छन्दः—**साम्नी भुरिग्बृहती**॥

युज्यमानो वैश्वदेवो युक्तः प्रजापतिर्विमुक्तः सर्वम्॥ २४॥

अर्थ—(युज्यमानः) जोता जाता हुआ [बैल] (वैश्वदेवः) विश्वदेवों का है, (युक्तः) जुता हुआ

(प्रजापतिः) प्रजापति है, (विमुक्तः) विमुक्त हुआ (सर्वम्) आत्मना "सर्वरूप" है।

(१) [यह अर्थ गौ [बैल] की दृष्टि से है। जोता जाता हुआ बैल मानो [राष्ट्र के] सब देवों के लिए उपकारी है, दुधारू-गौओं के उत्पादन तथा भारवाही बछड़ों के उत्पादन द्वारा, कृषिकर्म द्वारा, खाद के लिए गोबर प्रदान द्वारा, तथा गोवंश की वृद्धि द्वारा। शकट में जुता हुआ बैल प्रजापति है, प्रजाओं का रक्षक है। शकट कार्य से विमुक्त हुआ आत्मना "सर्वरूप" है। भारोद्वहन आदि कार्यों से विमुक्त हुआ निज "सर्वरूप" में है। युज्यमानः और युक्तः के सदृश "वियुक्तः" प्रयोग चाहिए था। परन्तु इसके स्थान में "विमुक्तः"[१] का प्रयोग कर जीवन्मुक्तावस्था का स्मरण कराया है। मानो आत्मना "सर्वरूप" अवस्था में बैल ऐसा सुख अनुभव करता है जैसे कि जीवन्मुक्त-मोक्षाधिकारी जीवन्मुक्तावस्था में मोक्षानन्द का अनुभव करता है]

शकट-वहन द्वारा बैल के "अनड्वान्" स्वरूप को द्योतित किया है। अनड्वान्=अनः शकटम् वहतीति।

(२) परमेश्वर भी अनड्वान् है, अनः [विश्वरूपम्] शकटं वहतीति। देखो अथर्व० ९.६। पर्याय ४, मन्त्र ८ की व्याख्या। परमेश्वर, ब्रह्माण्ड की रचना के निमित्त प्रथम, ब्रह्माण्ड-शकट के साथ निज सम्बन्धार्थ आलोचना या ईक्षण करता है "**स ऐक्षत लोकान्नु सृजा इति॥ १ ॥ स इमान् लोकान-सृजत**[१] ॥ २ ॥ यह आलोचना या ईक्षण परमेश्वर का "युज्यमान" स्वरूप है। परमेश्वर निज आलोचनानुरूप जब ब्रह्माण्ड की रचना प्रारम्भ कर देता है तब यह उसका "युक्त" स्वरूप है। ब्रह्माण्ड की रचना के पश्चात् जब परमेश्वर ब्रह्माण्ड का प्रलय करता है तब वह परमेश्वर का "विमुक्त" स्वरूप है। प्रलय में ब्रह्माण्ड के सम्बन्ध से विमुक्त हुआ परमेश्वर केवल सब प्रकार से "सर्वात्मस्वरूप" में स्थित होता है। इस स्वरूप को "सर्वम्" कहा है, तथा समग्र-ब्रह्माण्ड प्रलय में परमेश्वर में लीन सा हो जाता है, इसलिए भी परमेश्वर सर्वरूप है। परमेश्वर के सम्बन्ध में विश्वेदेव हैं सभी द्युतिमान् पदार्थ, सूर्य, ग्रह, उपग्रह तथा नक्षत्र और तारामण्डल। परमेश्वर प्रजापति है जब कि वह "युक्त" हुआ प्रजाओं को पैदा कर देता है। प्रजाओं की सत्ता के होने पर ही परमेश्वर प्रजाओं का पति कहलाएगा, प्रजाओं की असत्ता में नहीं।

पूर्व के मन्त्रों में विश्व के अङ्गों में तादूप्य या तादात्म्य दर्शाया है, और मन्त्र २४ में सम्पूर्णविश्व और सम्पूर्ण गौ [बैल] में तादूप्य या तादात्म्य दर्शाया है। मन्त्रों में विश्व को गोरूप कहा है, गौ को विश्वरूप नहीं। गौ सर्वोपकारी है जैसे कि मन्त्र २४ की व्याख्या में दर्शा दिया है। इसीलिए गौ मातृवत् पूजनीया है। परमेश्वर द्वारा रचा "विश्व" भी गोसदृश महोपकारी है। यह हमारे और सब प्राणियों के लिए भोग अपवर्ग के लिए है। भोग और अपवर्ग, इन दोनों द्वारा प्राणियों को सुख और अपवर्ग की प्राप्ति होती है। अतः शिक्षा दी गई है कि जैसे हम गौ की पूजा और सेवा करते हैं उसी प्रकार हमें महोपकारी परमेश्वर की भी पूजा और सेवा करनी चाहिए।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गौः** ॥ छन्दः—**साम्न्युष्णिक्** ॥

एतद्वै विश्वरूपं सर्वरूपं गोरूपम्॥ २५ ॥

अर्थ—(एतद्) यह दृश्यमान् ब्रह्माण्ड (वै) निश्चय से (विश्वरूपम्) विश्वरूप है, (सर्वरूपम्)

१. एतरेय १.१.१, २ ॥ "**ऐक्षत लोकान्नु सृजा इति**", यह "युज्यमान" स्वरूप है, और "**स इमान् लोकानसृजत**" यह "युक्त" स्वरूप है।

सर्वरूप है (मन्त्र २४), (गोरूपम्) गोरूप है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गौः** ॥ छन्दः—**साम्नी त्रिष्टुप्** ॥

उपैनं विश्वरूपाः सर्वरूपाः पशवस्तिष्ठन्ति य एवं वेद ॥ २६ ॥

अर्थ—(यः) जो (एवम्) इस प्रकार (वेद) जानता है (एनम्) इसे (विश्वरूपाः) विश्व के रूप वाले, (सर्वरूपाः) सर्वरूपी (पशवः) पशु (उपतिष्ठन्ति) उपस्थित हो जाते हैं।

[अभिप्राय यह है कि जो व्यक्ति भिन्न-भिन्न पशुओं के लाभों को जानता है वह निज आवश्यकतानुसार भिन्न-भिन्न पशुओं का संग्रह करता है। यथा दूध के लिए गौ का, कृषि के लिए बैल का, सवारी के लिए अश्व का, गृहरक्षा के लिए श्वा का। इस प्रकार विविध प्रयोजनों के लिए पशुओं का संग्रह करता है।

सूक्त ८

विषय-प्रवेश

(१) सूक्त मन्त्र १-२२। शीर्षण्य आदि रोगों का बहिष्कार (१-५, २१, २२)।

(२) मलेरिया का बहिष्करण (६)।

(३) यक्ष्य रोगों का बहिष्करण (७, १०-१२, १९,२०)।

(४) बलास अर्थात् बलक्षय की उत्पत्ति बुरी कामवासना से (८)।

(५) हरापन, पीलापन, पेट की हवा, यक्ष्यभावना का बहिष्करण (९)।

(६) मूत्रमार्ग से यक्ष्मा का निराकरण (१०)।

(७) हृदय कम्पन [Palpitation], हृदयव्यथा का शमन (२२)।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**सर्वशीर्षामयापाकरणम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शीर्षक्तिं शीर्षामयं कर्णशूलं विलोहितम्।
सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं बहिर्निर्मन्त्रयामहे ॥ १ ॥

अर्थ—(शीर्षक्तिम्) सिर की पीड़ा, (शीर्षामयम्) सिर के अन्य रोग, (कर्णशूलम्) कान की उग्रपीडा, (विलोहितम्) मुख का पीलापन अर्थात् रक्तहीनता [अनीमिया], या मुख पर रक्ताधिक्य, अधिक लालिमा (ते) तेरे (सर्वम् शीर्षण्यम् रोगम्) सब सिर के रोगों को (बहिः निर्मन्त्रयामहे) हम चिकित्सक, मन्त्रोक्त साधनों द्वारा, बाहिर निकाल देते हैं (देखो मन्त्र २२)। या परस्पर मन्त्रणा अर्थात् विचार द्वारा रोग को शान्त कर देते हैं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**सर्वशीर्षामयापाकरणम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

कर्णाभ्यां ते कङ्कूषेभ्यः कर्णशूलं विसल्पकम्।
सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं बहिर्निर्मन्त्रयामहे ॥ २ ॥

अर्थ—(ते) तेरे (कर्णाभ्याम्) कानों से, (कङ्कूषेभ्यः) कानों के आभ्यन्तरावयवों से (कर्णशूलम्) कानों की उग्रपीडा को, और (विसल्पकम्=विसर्पकम्) विसर्पी रोग को, तथा (सर्वम्, शीर्षण्यम् रोगम्) सब प्रकार के शिरोरोग को (बहिः निर्मन्त्रयामहे) हम चिकित्सक पृथक् कर देते हैं (मन्त्र १)।

[कङ्कूषेभ्यः="**कम् सुखम् कुष्णन्ति**", (कुष निष्कर्षे, क्र्यादिः), कानों के आभ्यन्तरावयव=

कोकुलस, तीन अस्थियाँ, तथा संवेदन नाड़ी [Nerisa]। विसल्पकम्=विसर्पीरोग, मुख पर फैलता हुआ श्वेतकुष्ठ, Leukoderma, सफेद दाग,]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**सर्वशीर्षामयापाकरणम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यस्य हेतोः प्रच्यवते यक्ष्मः कर्णत आस्यतः।
सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं बहिर्निर्मन्त्रयामहे॥ ३॥

अर्थ—(यस्य हेतोः) जिस किसी उपाय से (यक्ष्मः) यक्ष्म (कर्णतः) कान से और (आस्यतः) मुख से (प्रच्यवते) प्रच्युत हो जाता है, हट जाता है [उसका आश्रय करके] (ते) तेरे (सर्वम् शीर्षण्यम् रोगम्) सब प्रकार के शिरोगत यक्ष्म रोग को, (बहिर्निर्मन्त्रयामहे) हम चिकित्सक पृथक् कर देते हैं (मन्त्र १)।

[यस्य हेतोः=निर्धारणे षष्ठी। शिरोगत यक्ष्मरोग अथर्व० २.३३.१]।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**सर्वशीर्षामयापाकरणम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यः कृणोति प्रमोतमन्धं कृणोति पूरुषम्।
सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं बहिर्निर्मन्त्रयामहे॥ ४॥

अर्थ—(यः) जो यक्ष्म (पूरुषम्) पुरुष को (प्रमोतम्) मूक अर्थात् गूंगा (कृणोति) कर देता है, और (अन्धं कृणोति) अन्धा कर देता है, (ते) तेरे (सर्वम्) उस सब प्रकार के (शीर्षण्यम् रोगम्) शिरोगत यक्ष्म रोग को, (बहिः निर्मन्त्रयामहे) हम चिकित्सक, पृथक् कर देते हैं (मन्त्र १)।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**सर्वशीर्षामयापाकरणम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अङ्गभेदमङ्गज्वरं विश्वाङ्ग्यं विसल्पकम्।
सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं बहिर्निर्मन्त्रयामहे॥ ५॥

अर्थ—(अङ्गभेदम्) अङ्गों का टूटना, (अङ्गज्वरम्) अङ्गों का बुखार, (विश्वाङ्ग्यम्) तथा सब अङ्गों में व्यापी (विसल्पकम्) विसर्पी रोग (मन्त्र २)—इन्हें, तथा (ते) तेरे (सर्वम्) सब प्रकार के (शीर्षण्यम् रोगम्) शिरोगत रोग को (बहिः निर्मन्त्रयामहे) हम पृथक् करते हैं (मन्त्र १)।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**सर्वशीर्षामयापाकरणम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यस्य भीमः प्रतीकाश उद्वेपयति पूरुषम्। तक्मानं विश्वशारदं बहिर्निर्मन्त्रयामहे॥ ६॥

अर्थ—(यस्य) जिसकी (प्रतीकाशः) चमक (भीमः) भयानक है, (पूरुषम्) पुरुष को (उद्वेपयति) कम्पा देती है, उस (विश्वशारदम्) सब प्रकार के सर्दी के (तक्मानम्) कष्टदायक ज्वर को (बहिः निर्मन्त्रयामहे) हम चिकित्सक पृथक् कर देते हैं (१)।

[प्रतीकाशः=प्रति+**काशृ (दीप्तौ)**। विश्वशारदम्=सर्दी लगकर हो जाने वाला मलेरिया बुखार]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**सर्वशीर्षामयापाकरणम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

य ऊरू अनुसर्पत्यथो एति गवीनिके। यक्ष्मं ते अन्तरङ्गेभ्यो बहिर्निर्मन्त्रयामहे॥ ७॥

अर्थ—(यः) जो (ऊरू) दो पट्टों, [Thighs] के (अनु सर्पति) साथ-साथ सर्पण करता है (अथो) और (गवीनिके) दो मूत्रनालियों तक (एति) आ जाता है उस (यक्ष्मम्) यक्ष्मरोग को, (ते)

तेरे (अन्तरङ्गेभ्यः) आभ्यन्तर अङ्गों से (बहिः निर्मन्त्रयामहे) हम चिकित्सक पृथक् करते हैं (१)।

[गवीनिके="**आन्त्रेभ्यो विनिर्गतस्य मूत्रस्य मूत्राशयप्राप्तिसाधने पार्श्वद्वयस्थे नाड्यौ गवीन्यौ इत्युच्यते**" (अथर्व० १.३.६, सायण); तथा (अथर्व० ५.२५.१०-१३ सायण)। तथा "**योनेः पार्श्व-द्वयवर्तिन्यौ निर्गमनप्रतिबन्धिके नाड्यौ**" (अथर्व० १.११.५, सायण)]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**सर्वशीर्षामयापाकरणम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यदि कामादपकामाद्धृदयाज्जायते परि। हृदो बलासमङ्गेभ्यो बहिर्निर्मन्त्रयामहे॥ ८॥

अर्थ—(यदि) यदि (अपकामात् कामात्) बुरी कामनामयी कामवासना से (हृदयात् परि) हृदय से (बलासम्) "बलास" रोग (जायते) पैदा होता है, तो (बलासम्) उस बलास को, (हृदः) हृदय से (अङ्गेभ्यः) और अवशिष्ट अङ्गों से (बहिः निर्मन्त्रयामहे) हम चिकित्सक पृथक् कर देते हैं (१)।

[बलासम्=**बलम् अस्यति क्षिपतीति बलासः, श्लेष्मरोगः** (अथर्व० ६.१४.१, सायण), श्वास-प्रश्वासादिरोगः (अथर्व० ६.१२७.१, २ सायण)। यक्ष्मः (अथर्व० ६.१२७.३)।

बलास रोग बुरी कामवासना से प्रथम, हृदय में प्रकट होता है, तत्पश्चात् अन्य अङ्गों में फैल जाता है। बलास, यक्ष्म का विकार है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**सर्वशीर्षामयापाकरणम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

हरिमाणं ते अङ्गेभ्योऽप्वामन्तरोदरात्। यक्ष्मोधामन्तरात्मनो बहिर्निर्मन्त्रयामहे॥ ९॥

अर्थ—(ते) तेरे (अङ्गेभ्यः) अङ्गों से (हरिमाणम्) हरेपन या पीलेपन को, (अन्तरोदरात्) उदर के भीतर से (अप्वाम्) दुर्गन्धित वायु अर्थात् अपना वायु को (अन्तरात्मनः) तेरी अन्तरात्मा से—(यक्ष्मोधाम्) "मैंने यक्ष्मा धारण किया हुआ है" इस भावना को (बहिः निर्मन्त्रयामहे) हम चिकित्सक पृथक् कर देते हैं।

[हरिमाणम्[१]=jaundice, पाण्डुरोग, कामलारोगः। अप्वाम्=अप (बुरी)+वा (वायु)। अप्वा=**व्याधिर्वा भयं वा** (निरुक्त ६.३.१२)]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**सर्वशीर्षामयापाकरणम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आसो बलासो भवतु मूत्रं भवत्वामयत्।
यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत्॥ १०॥

अर्थ—हे यक्ष्मरोगी! तेरा (बलासः) बलक्षयकारी रोग (आसः भवतु) अस्त हो जाए, और (मूत्रम्) तेरा मूत्र (आमयत् भवतु) उस रोग से युक्त हो जाए। इस प्रकार (सर्वेषां यक्ष्माणां विषम्) सब प्रकार के यक्ष्मों के विष को (त्वत्) तुझ से (निर् अवोचम् अहम्) निकाल देने की विधि मैंने कह दी है।

[उपचार द्वारा यक्ष्म के विष को मूत्र में आरोपित कर, उस रोग युक्त मूत्र को, शरीर से बाहर निकाल देना चाहिए। आमयत्=अम रोगे (चुरादिः)+णिच्+शतृ। बलासः="**बलमस्यति क्षिपतीति**", असु क्षेपणे (दिवादिः)। आसः=क्षिप्त, अस्तः]

---

१. "हरिमा" के लिए अथर्व० १.२२.४ में शुक अर्थात् तोते का दृष्टान्त दिया है। तोता हरा होता है पीला नहीं। हरिमा रोग jaundice का ही भेद है। जिगर का रस पित्त (Bile) यदि देर तक रुका रहे तो वह हरा पड़ जाता है, जिससे दस्तों में हरापन आ जाता है। जिगर रस स्वयं पीला होता है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**सर्वशीर्षामयापाकरणम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

बहिर्बिलं निर्द्रवतु काहाबाहं तवोदरात्।

यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत्॥ ११ ॥

अर्थ—(काहाबाहम्) प्रयत्न पूर्व अल्पाल्पमात्र में परित्यक्त होकर प्रवाहित हुआ मूत्र, (तव उदरात्) तेरे उदर से, पेट से (बिलं बहिः) बस्तिछिद्र द्वारा बाहर (निर्द्रवतु) द्रवरूप में निकल जाए। (सर्वेषां यक्ष्माणाम् विषम्) इस प्रकार (त्वत्) तुझ से, सब प्रकार के यक्ष्मों के विष को (निरवोचम्, अहम्) निकाल देने की विधि मैं ने कह दी है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**सर्वशीर्षामयापाकरणम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुब्गर्भा ककुम्मती चतुष्पदोष्णिक्** ॥

उदरात्ते क्लोम्नो नाभ्या हृदयादधि। यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत्॥ १२ ॥

अर्थ—(ते) तेरे (उदरात्) पेट से, (क्लोम्नः) फेफड़े से, (नाभ्याः) नाभि से, (हृदयात् अधि) हृदय से, (सर्वेषाम् यक्ष्माणाम्) सब प्रकार के यक्ष्मों के (विषम्) विष को (त्वत्) तुझ से (अहम्) मैंने (निर् अवोचम्) निकाल देने की विधि कह दी है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**सर्वशीर्षामयापाकरणम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

याः सीमानं विरुजन्ति मूर्धानं प्रत्यर्षणीः।

अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम्॥ १३ ॥

अर्थ—(मूर्धानम् प्रति) सिर की ओर (अर्षणीः) गति करने वाले (याः) जो [आपः] रक्तरूपी जल (सीमानम्) सीमा को (विरुजन्ति) विशेषतया रुग्ण करते हैं, वे (अहिंसन्तीः, अनामयाः) न हिंसा करने वाले, रोग रहित [आपः] रक्तरूपी जल, (बिलम्, बहिः) बस्ति के छिद्र से बाहर, (निर्द्रवन्तु) द्रवरूप में निकल जाएँ।

[अर्षणीः=**ऋषी गतौ** (तुदादिः)+ल्युट्+ङीप्। मन्त्र में "अर्षणीः" में बहुवचन और स्त्रीलिङ्ग "आप" का सूचक है, और आप पद रक्त-जल का निर्देशक है (अथर्व० १०.२.११) ये रक्त-आपः मूर्धा की ओर गति करते हुए अपने में विलीन यक्ष्म-क्रिमियों [Germs] को ले जाते हैं, और सिर का सीमा [meninges[1]] को रुग्ण कर देते हैं। उपचार द्वारा ये क्रिमी मूत्ररूप[2] में जब मूत्रमार्ग से बाहर निकल जाते हैं, तब सिर हिंसा रहित और रोगरहित हो जाते हैं। क्रिमियों अर्थात् Germs के लिए देखो (अथर्व० २.३१.५; ३२.१-४; ५.२३.१-१३)]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**सर्वशीर्षामयापाकरणम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

या हृदयमुपर्षन्त्यनुतन्वन्ति कीकसाः। अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम्॥ १४ ॥

अर्थ—(याः) जो [आपः] रक्त जल (हृदयम् उपर्षन्ति) हृदय तक सर्पण करते हैं, और (कीकसाः) हंसलियों तथा पसलियों के (अनु) साथ-साथ (तन्वन्ति) फैल जाते हैं, वे (अहिंसन्तीः) न हिंसा करने

---

१. मस्तिष्कावरण। इसके सूजन को maningitis कहते हैं।

२. रक्त में से क्रिमी, रक्त से स्रुत हुए मूत्ररूप में, मूत्रमार्ग से बाहर निकल जाते हैं।

वाले, (अनामयाः) रोगरहित रक्त-जल (बिलम् बहिः) बस्तिछिद्र के बाहर (निर्द्रवन्तु) द्रवरूप में निकाल जाएँ।

[भावार्थ (मन्त्र १३)। कीकसः=कीकसाभ्यः **"जत्रुवक्षोगतास्थिभ्यः"** (अथर्व० २.३३.२, सायण)।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**सर्वशीर्षामयापाकरणम्** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥

याः पार्श्वे उपर्षन्त्यनुनिक्षन्ति पृष्टीः। अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम्॥ १५॥

अर्थ—(याः) जो [आपः] रक्त जल (पार्श्वे) दो पार्श्वों के (उप) समीप-समीप (अर्षन्ति) गति करते हैं, और (पृष्टीः) छाती के पीछे की अस्थियों का (अनुनिक्षन्ति) निरन्तर चुम्बन करते हैं, वे (अहिंसन्तीः) न हिंसा करने वाले (अनामयाः) रोगरहित [आपः] रक्तजल (बिलम् बहिः) बस्ति के छिद्र से (निर्द्रवन्तु) द्रवरूप में निकल जाएँ। निक्षन्ति=**णिक्ष चुम्बने** (भ्वादिः)।

[भावार्थ (मन्त्र १३)]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**सर्वशीर्षामयापाकरणम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यास्तिरश्चीरुपर्षन्त्यर्षणीर्वक्षणासु ते। अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम्॥ १६॥

अर्थ—(याः) जो (अर्षणीः) गति करने वाले [आपः] रक्त-जल (ते) तेरी (वक्षणासु) बखियों में, (तिरश्चीः) तिरछी रेखाओं में, (उप) समीप-समीप (ऋषन्ति) गति करते हैं, वे (अहिंसन्तीः) न हिंसा करते हुए (अनामयाः) रोग रहित [आपः] रक्त-जल (बिलम् बहिः) बस्ति के छिद्र से बाहर (निर्द्रवन्तु) द्रवरूप में निकल जाएँ।

[भावार्थ (मन्त्र १३)। वक्षणाः=शरीर के दो पार्श्वों में पेट के अन्दर की ओर के भाग। तिरश्चीः= Cross-wise]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**सर्वशीर्षामयापाकरणम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

या गुदा अनुसर्पन्त्यान्त्राणि मोहयन्ति च। अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम्॥ १७॥

अर्थ—(याः) जो [आपः] रक्त-जल (गुदाः अनु) गुदा के अवयवों के साथ-साथ (सर्पन्ति) गति करते हैं, (च) और (आन्त्राणि) आन्तों को (मोहयन्ति) मूढ़ावस्था में कर देते हैं, वे [उपचार द्वारा, या चिकित्सा द्वारा] (अहिंसन्तीः) हिंसा न करते हुए (अनामयाः) और रोग रहित हुए [मूत्ररूप में] (बिलम् बहिः) बस्ति के छिद्र से बाहर (निर्द्रवन्तु) द्रवरूप में निकल जाएँ।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**सर्वशीर्षामयापाकरणम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

या मज्ज्ञो निर्धयन्ति परूंषि विरुजन्ति च। अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम्॥ १८॥

अर्थ—(याः) जो [आपः] यक्ष्मान्वित रक्त-जल (मज्ज्ञः) मज्जा को (निर्धयन्ति) पी जाते हैं (च) और (परूंषि) जोड़ों को (विरुजन्ति) तोड़ देते हैं वे [उपचार या चिकित्सा द्वारा] (अहिंसन्तीः) न हिंसा करते हुए, (अनामयाः) और रोग रहित हुए [मूत्ररूप में] (बिलम् बहिः) बस्ति के छिद्र से बाहर (निर्द्रवन्तु) द्रवरूप में निकल जाएँ।

[मन्त्र में पृष्ठवंश का वर्णन प्रतीत होता है। पृष्ठवंश सच्छिद्र-अस्थिमणकों के जोड़ों द्वारा मालारूप में बना हुआ है, जिनमें सुषुम्णा नाड़ी सूत्र में निवास करती है। जोड़ों के जोड़ पर एक-एक गद्दी होती है, और मणकों में मज्जा होती है। मज्जा=Marrow]

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—**सर्वशीर्षामयापाकरणम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ये अङ्गा॑नि म॒दय॑न्ति॒ यक्ष्मा॑सो रोप॒णास्तव॑।

यक्ष्मा॑णां॒ सर्वे॑षां वि॒षं निर॑वोचम॒हं त्वत्॥ १९ ॥

अर्थ—(ये यक्ष्मासः) जो यक्ष्मरोग या यक्ष्मकीटाणु (तव) तेरे (अङ्गानि) अङ्गों को और (रोपणाः) रोपणों को (मदयन्ति) मदयुक्त करते या सुला देते हैं, उन (सर्वेषां यक्ष्माणाम् विषम्) सब प्रकार के यक्ष्मों के विष को (त्वत्) तुझ से (निर्) पृथक् करने की विधि (अहम्) मैंने (अवोचम्) कह दी है।

[रोपणाः=Tendons=मांसतन्तुः जिनके द्वारा मांसपेशियाँ अस्थियों के साथ जुड़ी रहती हैं। यक्ष्म कीटाणुओं के लिए देखो (मन्त्र १३)]

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—**सर्वशीर्षामयापाकरणम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वि॒स॒ल्पस्य॑ विद्र॒धस्य॑ वातीका॒रस्य॑ वाल॒जेः।

यक्ष्मा॑णां॒ सर्वे॑षां वि॒षं निर॑वोचम॒हं त्वत्॥ २० ॥

अर्थ—(विसल्पस्य) विसर्पी रोग के, (विद्रधस्य) विदरणशील व्रण विशेष के, (वातीकारस्य) उदर में वायु के प्रकोप के, (वा) तथा (अलजेः) अलजि के—(सर्वेषां यक्ष्माणाम्) इन सब यक्ष्मों के (विषम्) विष को (त्वत्) तुझ से (निर्) निकाल देने की विधि (अहम्) मैंने (अवोचम्) कह दी है।

[विसल्पस्य, श्वेतकुष्ठ! विद्रधि=सम्भवतः विशेष प्रकार की दाद, या carbuncle[१] फोड़ा अथवा ringworm[२]]।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—**सर्वशीर्षामयापाकरणम्** ॥ छन्दः—**विराट्पथ्याबृहती** ॥

पादा॑भ्यां ते॒ जानु॑भ्यां॒ श्रोणि॑भ्यां॒ परि॒ भंस॑सः।

अनू॑कादर्ष॒णीरु॒ष्णिहा॑भ्यः शी॒र्ष्णो रोग॑मनीनशम्॥ २१ ॥

अर्थ—(ते) तेरे (पादाभ्याम्) पैरों से, (जानुभ्याम्) घुटनों से, (श्रोणिभ्याम्) कटि प्रदेशों से (भंससः परि) जघन प्रदेश से, (अनूकात्) पृष्ठवंश से (उष्णिहाभ्यः) गर्दन की नाड़ियों से, (अर्षणीः[३]) फैलने वाले यक्ष्मों को, तथा (शीर्ष्णः) सिर के (रोगम्) रोग को (अनीनशम्) मैंने नष्ट कर दिया है।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—**सर्वशीर्षामयापाकरणम्** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

सं ते॑ शी॒र्ष्णः क॒पाला॑नि॒ हृद॑यस्य च॒ यो वि॒धुः।

उ॒द्यन्ना॑दित्य र॒श्मिभि॑ः शी॒र्ष्णो रोग॑मनीनशोऽङ्ग॒भे॒दम॑शीशमः॥ २२ ॥

अर्थ—(ते) तेरे (शीर्ष्णः) सिर के (कपालानि सम्) कपालों के साथ (शीर्ष्णः रोगम्) सिर के रोग को, (च) तथा (हृदयस्य) हृदय का (यः) जो (विधुः) कम्पन या बींधना है उसे (उद्यन् आदित्य) हे उदित हुए आदित्य! तूने (रश्मिभिः) रश्मियों द्वारा (अनीनशः) नष्ट कर दिया है, और (अङ्गभेदम्) अङ्गों के टूटने को (अशीशमः) शान्त कर दिया है।

---

१. परस्पर संनिकृष्ट नाना फुंसियाँ, जो कि समय पाकर नानामुखी एक बड़ा फोड़ा बन जाता है।

२. त्वचा में लाल, किनारे कुच्छ उठे हुए, ऐसा फोड़ा।

३. मन्त्र १३, १६ ॥

[विधुः=वि+**धूञ् कम्पने,** हृदये की धड़क, Palpitation, अथवा विधुः=**व्यध् ताडने** (दिवादिः)]।

चतुर्थ अनुवाक समाप्त॥

अनुवाक ५

सूक्त ९

विशष-प्रवेश

(१) मन्त्र संख्या २२। सात पुत्रों वाले विश्पति का दर्शन (१); एकचक्ररथ, सूर्य (२); सप्तचक्ररथ, सूर्य (३); अस्थिवाले शरीर का भर्त्ता अनस्था, जीवात्मा (४); पक्षिरूपी सूर्य का पाद द्वारा उदकपान (५); सप्त तन्तु (६); अज में आश्रित एक तत्त्व, प्रकृति (७); वेदमाता का प्रादुर्भाव (८, ९); तीन माताओं और तीन पिताओं का भर्ता, सूर्य; तथा इसकी पीठ पर वेदवाणी के सम्बन्ध में मन्त्रणा (१०); पांच अरों वाला चक्र, सूर्य (११); पञ्चपाद पिता राशिचक्र (१२); वर्ष में अहोरात्र ७२० (१३); सूर्यचक्र की नेमि, परमेश्वर (१४); स्त्रियाँ पुमान् हैं (१५); षड्यमा ऋषयः (१६); पराविद्या और अपराविद्या (१७); ब्रह्माण्ड का स्वरूप और उसका पिता, परमेश्वर (१८, १९); जीव, ब्रह्म, मोक्ष तथा ब्रह्म-प्राप्ति (२०-२२)।

(२) यह "अस्यवामीय" सूक्त है। ऋग्वेद में भी वर्तमान है। (ऋ० १.१६४.१-२२)।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम्॥ १॥

अर्थ—(वामस्य) सम्भजनीय अर्थात् सेवनीय, (पलितस्य) पालन कर्त्ता, (होतुः) वर्षा प्रदान तथा शक्ति प्रदाता (अस्य) इस प्रत्यक्ष दृष्ट तथा (तस्य) उस दूरस्थ सूर्य का (भ्राता) भाई या भर्तव्य (अस्ति) है (मध्यमः) अन्तरिक्ष लोक में रहने वाला (अश्नः) मेघ, वायु, या विद्युत्। (अस्य) इस सूर्य का (तृतीयः) तीसरा (भ्राता) भाई या भर्तव्य है। (घृतपृष्ठः) यज्ञियाग्नि, जिसकी पीठ पर घृताहुतियाँ पड़ती हैं। (अत्र) इसमें (अपश्यम्) मैंने देखा है (विश्पतिम् सप्तपुत्रम्) सातपुत्रों वाले, प्रजाओं के पति को।

[वामस्य=**वन षण संभक्तौ,** (भ्वादिः)। पलितस्य=पालयितुः भ्राता=भर्तव्यः (निरुक्त ४.४.२६)। **अश्नः मेघनाम** (निघं० १.१०)। सूर्य, मेघ [वायु या विद्युत्] तथा पार्थिवाग्नि ये तीन भाई-भाई हैं, एक पिता परमेश्वर और एक माता अदिति से उत्पन्न हुए हैं। तथा सूर्य द्वारा भर्तव्य है मेघ; मेघ का भरण-पोषण सूर्य रश्मियों द्वारा होता है। पार्थिवाग्नि का भरण पोषण भी सूर्य की रश्मियाँ ही करती हैं। वृक्ष पैदा होते हैं। सौराग्नि द्वारा। यही अग्नि, काष्ठ जलाते समय प्रकट होती है। "अत्र अपश्यम्" द्वारा उपासक कहता है कि "मैंने पार्थिवाग्नि में विश्पति का दर्शन किया है", यह विश्पति है "परमेश्वराग्नि", जो कि यज्ञियाग्नि में प्रविष्ट है। यथा "**अग्नावग्निश्चरति प्रविष्ट ऋषीणां पुत्र अभिशस्तिपा उ**" (अथर्व० ४.३९.९)। इस प्रविष्ट हुए अग्नि के अर्थात् विश्पति के ७ पुत्र हैं, ७ भुवन[१]]।

१. यथा "**ब्राह्मस्त्रिभूमिको लोकः प्राजापत्यस्ततो महान्। माहेन्द्रश्च स्वरित्युक्तो दिवि तारा भुवि प्रजाः।** योग (३.३६, व्यास-भाष्य)। अथवा भूः भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।

त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः॥ २॥

अर्थ—(एकचक्रं रथम्) एकचक्ररूपी रथ को (सप्त युञ्जन्ति) सात अश्व जोतते हैं, वस्तुतः (एकः अश्वः सप्तनामा) एक अश्व जोकि सात अश्वों में परिणत होता है (वहति) सूर्य रथ का वहन करता है। (चक्रम्) रथचक्र (त्रिनाभि) तीन नाभियों वाला है, (अजरम्) जीर्ण नहीं होता, (अनर्वम्) इसके साथ कोई अर्वः अर्थात् प्राणी घोड़ा जुता हुआ नहीं है। (यत्र अधि) जिस रथ में (विश्वा भुवना) सौर परिवार के सब भुवन (तस्थुः) स्थित हैं।

[सूर्य चक्राकार है। यह एकचक्ररूप रथ है। इसमें ७ अश्व लगे हुए हैं। ये हैं रश्मिसप्तक, जोकि वर्षाऋतु में इन्द्र धनुष के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। वस्तुतः इस एकचक्र रथ का वहन एक अश्व ही करता है, जोकि शुक्लरश्मि समूह है। यह शुक्लरश्मि ७ रश्मियों में परिणत हो जाती है। तीन नाभियाँ हैं—ग्रीष्म, वर्षा, तथा शरद् ऋतुएँ। कई ''एकचक्र रथ'' द्वारा ''वर्षचक्र'' का कथन करते हैं]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

इमं रथमधि ये सप्त तस्थुः सप्तचक्रं सप्त वहन्त्यश्वाः।

सप्त स्वसारो अभि सं नवन्त यत्र गवां निहिता सप्त नामा॥ ३॥

अर्थ—(इमम्) इस (रथम् अधि) और रथ के आश्रय (ये सप्त तस्थुः) जो सात चक्र स्थित हैं, उनका (वहन्ति) वहन करते हैं (सप्त अश्वाः) उनके सात अश्व, या सात सौराश्व। (सप्त स्वसारः) सात जोकि ''स्वसारः'' अर्थात् अपने-अपने मार्ग में सरण करते हैं वे (अभि) सूर्य के अभिमुख हुए हुए (संनवन्त) मिल कर मानो सूर्य की स्तुतियाँ करते हैं, (यत्र) जिस सूर्य के आश्रय (गवाम्) सौर-रश्मियों के (सप्त नामा=सप्त नामानि) सात परिणाम (निहिता=निहितानि) निहित हैं।

[सूर्य एकचक्र अर्थात् चक्राकार एक रथ है। एतत्सम्बन्धी सात अन्य चक्र हैं, जो कि चक्राकार हैं। वे सप्तचक्र हैं बुध, शुक्र, पृथिवी, चन्द्रमा, मंगल, बृहस्पति, तथा शनैश्चर ग्रह। ये निज मार्गों पर गति करते हुए सूर्य की परिक्रमाएँ कर रहे हैं। ये परिक्रमाएँ मानो सूर्य की स्तुति रूप हैं। ये सात चक्र या ग्रह मानो अश्वरूप हुए, सूर्यरथ का वहन कर रहे हैं। सूर्य में जो गौएँ अर्थात् श्वेत रश्मियाँ निहित हैं वे ही ''रश्मिसप्तक'' रूप में सात प्रकार की रश्मियों में परिणत हो रही हैं। वर्षा ऋतु में इन्द्र धनुष में भी ये सात रश्मियाँ प्रकट होती हैं। ''**गावः रश्मिनाम**'' (निघं० २.५)]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति।

भूम्या असुरसृगात्मा क्व स्वित्को विद्वांसमुप गात्प्रष्टुमेतत्॥ ४॥

अर्थ—(प्रथमम्) सर्वप्रथम (जायमानम्) पैदा हुए (अस्थन्वन्तम्) अस्थियों वाले शरीर को (कः ददर्श) किस ने देखा है, (यत्) जिस शरीर का कि (अनस्था) अस्थियों से रहित [जीवात्मा] (बिभर्ति) भरण-पोषण करता है। (असुः असृक्) प्राण और रक्त तो (भूम्याः) भूमि सम्बन्धी हैं। (आत्मा) परन्तु जीवात्मा (क्वस्वित्) कहाँ था। (कः) कौन है जोकि (एतत् प्रष्टुम्) इसे पूछने के लिए (विद्वांसम्)

ज्ञाता परमेश्वर के (उप) समीप (गात्) गया है।

[असु है प्राण अर्थात् प्राण वायु, जोकि अन्तरिक्षस्थ है, और भूमि का ही अंश है, असृक् अर्थात् रक्त भूमि का ही अंश है, भूमि से उत्पन्न अन्न का ही परिणामरूप है। परन्तु जीवात्मा भूमि का अंश नहीं। यह कहाँ था? और कहाँ से आया जो कि अस्थियों वाले शरीर का भरण-पोषण करता है। सृष्टि के प्रारम्भ में जब अस्थियों वाला शरीर प्रथम पैदा हुआ तब इसे पैदा होते हुए देखने वाला कोई न था। उस समय इसका द्रष्टा और ज्ञाता केवल परमेश्वर ही था। परन्तु इस रहस्य के जानने और पूछने के लिए उस समय कौन था जो कि परमेश्वर के समीप योग समाधि द्वारा पहुँचा हो।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

इह ब्रवीतु य ईमङ्ग वेदास्य वामस्य निहितं पदं वेः।
शीर्ष्णः क्षीरं दुहते गावो अस्य वव्रिं वसाना उदकं पदापुः॥ ५॥

अर्थ—(अङ्ग) हे प्रिय! (यः) जो (अस्य) इस (वामस्य) सम्भजनीय या सुन्दर (वेः) पक्षी के (पदम्) पद को (वेद) जानता है वह (इह) यहां (ब्रवीतु) उसका कथन करे। (अस्य) इसके (शीर्ष्णः) सिर से (गावः) निकली हुई रश्मियाँ (मन्त्र ३) (क्षीरम्) दुग्धसमान गुणकारी उदक को (दुहते) दोहती हैं, (वव्रिं वसानाः) रूप को ओढ़ती हुईं। और (पदा) पाद द्वारा (उदकम्) उदक को (अपुः) पीती हैं।

[सूर्य को पक्षी कहा है जोकि आकाश में मानो उड़ता है। इसे ही सिर कहा है जो कि सिर के सदृश गोल है, जिसमें कि रश्मिरूपज्ञान-रश्मियों का निवास है। इस सिर से निकलती हुई रश्मियाँ चमकीली होती हैं। अतः इन्हें "वव्रिं वसानाः" कहा है। **वव्रिः रूपनाम** (निघं० ३.७)। सूर्य से निकलती हुई रश्मियाँ जो वर्षा रूप में जल बरसाती हैं वह क्षीर अर्थात् दूध सदृश गुणकारी होता है, क्योंकि वह अति स्वच्छ होता है। और पादस्थानी रश्मियाँ जोकि भूमि पर गिरती हैं, वे अशुद्ध जल के साथ स्पर्श करती हुईं, उसे पान कर अन्तरिक्ष में पहुँचाती हैं। भूमिष्ठ जल में भूमि के अंश मिले होते हैं, अतः वे क्षीर सदृश नहीं होते, अतः इन्हें केवल "उदकम्" कहा है, वर्षा जल शुद्ध होते हैं। अतः इन्हें क्षीरम् अर्थात् दुग्ध कहा है। भूमि पर पड़ने वाली रश्मियों को "पदा" द्वारा निर्दिष्ट किया है। जैसे कि कहा है कि "**बालस्यापि रवेः पादाः पतन्ति शिरसि भूभृताम्**"। जब सूर्य को "वि" अर्थात् पक्षी कहा, तब इसका सिर भी होगा, और पाद भी होंगे। इसलिए मन्त्र में "शीर्ष्णः", और "पदा" का कथन हुआ है। "**क्षीरम् उदकनाम**" (निघं० १.१२)]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

पाकः पृच्छामि मनसाविजानन्देवानामेना निहिता पदानि।
वत्से बष्कयेधि सप्त तन्तून्वि तत्निरे कवय ओतवा उ॥ ६॥

अर्थ—(पाकः) प्रशस्त अर्थात् पवित्र जीवन वाला, परन्तु (मनसा) मन अर्थात् मनन की दृष्टि से (अविजानन्) अज्ञानी (पृच्छामि) मैं पूछता हूँ, जहाँ कि (देवानाम्) पृथिवी आदि देवों के (एना पदानि) ये पैर (निहिता) स्थापित हैं। (बष्कये) दर्शनीय (वत्से अधि) वत्स [आदित्य] में (कवयः) वेदकाव्य के कवि, उन (सप्त) सात पदों को या देवों को, (तन्तून्) तन्तुओं के रूप में, (वि तत्निरे) विस्तृत हुए

कहते हैं, जिनमें कि (ओतवै) बाना डालने के लिए हैं। (उ) वितर्के, बाना के लिए वितर्क? अर्थात् वितर्क करो कि बाना के तन्तु कौन से हैं?

[**"पाकः प्रशस्यनाम"** (निघं० ३.८) प्रशस्य जीवन पवित्र होता है। वत्से=आदित्ये, देखो अधोलिखित[१] चार्ट। वष्कये=वष्क (दर्शने, चुरादिः)+णिञ्+अ। सप्त तन्तून्=बुध, शुक्र, पृथिवी, मङ्गल, बृहस्पति, शनैश्चर, चन्द्र। ये सात तन्तु हैं, "ताना" हैं, वस्त्र बुनने में लम्बाई के तन्तु हैं। और बाना, [ओतवै] हैं चौड़ाई के तन्तु। ताना तो हैं बुध आदि ७। इनमें बाना हैं प्राणियों के त्रिविध कर्म, अर्थात् शुक्लकर्म, कृष्णकर्म, तथा शुक्ल-और-कृष्ण मिश्रित कर्म। ताना के होते भी बाना के बिना, पट नहीं तैयार हो सकता। मन्त्र में सौरमण्डल अर्थात् सौरपरिवार को पट सदृश कहा है। तैयार करने के लिए ताना-बाना दोनों की आवश्यकता है। प्राणियों के त्रिविध कर्म जो कि "बाना" रूप हैं, उनके बिना, सौरपरिवार रूपी पट किस के लिए हैं। समग्र जगत् भोग-और-अपवर्ग के लिए है, जोकि प्राणियों के कर्मों द्वारा अर्जित होता है। वितन्तिरे=वितेनिरे।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अचिकित्वांश्चिकितुषश्चिदत्र कवीन्पृच्छामि विद्वनो न विद्वान्।
वि यस्तस्तम्भ षडिमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्॥ ७॥

अर्थ—(अत्र) यहाँ (अचिकित्वान्) अप्रज्ञानी, (न विद्वान्) और न विद्यावाला मैं (चिकितुषः) प्रज्ञानी (कवीन्) क्रान्तदर्शी (विद्वनः) विद्वानों से (पृच्छामि) पूछता हूँ, कि (यः) जो (इमा) इन (षट् रजांसि) ६ लोकों को (वि तस्तम्भ) थामे हुए है उस (अजस्य) अजन्मा के (रूपे) स्वरूप में (किम् अपि स्वित् एकम्) क्या कोई एक तत्त्व है?

[अचिकित्वान् **"केतु प्रज्ञानाम"** (निघं० ३.९)। इससे ज्ञात होता है कि वैदिक "कित्" धातु है, जिसका अर्थ प्रज्ञान है। षड् रजांसि=**"रजांसि वै लोकाः"** (निरुक्त ४.३.१९)। सौरमण्डल के तीन लोक हैं, पृथिवी लोक अन्तरिक्ष लोक, और सूर्य लोक। इनसे अतिरिक्त तीन लोक हैं द्युलोक, स्वः, तथा नाक। यथा **"येन द्यौरुग्रा, पृथिवी च दृढ़ा, येन स्वः स्तभितं, येन नाकः"** (यजुः० ३२.६) इस मन्त्र में द्यौः, स्वः, और नाकः—ये तीन लोक कहे हैं। ये मिलकर ६ लोक हैं। "किमपि स्विदेकम्" प्रकृति तत्त्व।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

माता पितरमृत आ बभाज धीत्यग्रे मनसा सं हि जग्मे।
सा बीभत्सुर्गर्भरसा निविद्धा नमस्वन्त इदुपवाकमीयुः॥ ८॥

अर्थ—(ऋते) जगत् की यथार्थता के निमित्त (माता) प्रकृति माता ने (पितरम्) सबके पिता परमेश्वर की (आ बभाज) सेवा की। (अग्रे) पहिले (धीती) अपने कर्मों द्वारा और (मनसा) विचार या इच्छा द्वारा (संजग्मे) उस प्रकृति ने परमेश्वर के साथ संगम किया। (सा) वह माता (बीभत्सुः) प्राणियों के लिए कल्याण और सुख चाहने वाली हुई, और (निवित्) ज्ञान वाली हुई ने (गर्भरसा) गर्भ

१. **पृथिवी धेनुः, तस्या अग्निर्वत्सः। अन्तरिक्षं धेनुः, तस्य वायुर्वत्सः।**
द्यौर्धेनुः, तस्या आदित्यो वत्सः। दिशो धेनवः, तासां चन्द्रो वत्सः। अथर्व० ४.३९.२-८॥

में रसधारण किया। (नमस्वन्तः इद्) नमस्कार करने वालों ने ही (वाकम्) वक्तव्य, कथनीय पिता को (उप ईयुः) प्राप्त किया।

[आ बभाज, भज सेवायाम् (भ्वादिः)। "**धीतिं=कर्माणि**" (निरुक्त १३(१४).२(१).२७(१४)। बीभत्सुः=**भदि कल्याणे सुखे च** (भ्वादिः)+सन् (इच्छायाम्)। प्रकृति माता है अतः उसमें इच्छा का आरोप हुआ। निविद्धा=नि+विद् (ज्ञाने)+धा (धारणे), स्त्रियाम्। अथवा नि+व्यध (ताडने, दिवादिः)+क्त+टाप्। प्रलयावस्था में प्राणी सुख और कल्याण से वञ्चित हो रहे हैं। इस चिन्ता से विद्ध हुई प्रकृति माता। परमेश्वर प्राणियों का पिता है, और प्रकृति माता का पति। गर्भरसा=जगत् पैदा करने में परमेश्वर के कामना रूपी रस को गर्भ में धारण करने वाली। प्राणी, पिता के वीर्यरूपी रस और माता के "रजम्" रूपी रस से पैदा होते हैं। इसलिए परमेश्वर की कामना को रस कहा है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

युक्ता मातासीद् धुरि दक्षिणाया अतिष्ठद्गर्भो वृजनीष्वन्तः।
अमीमेद्वत्सो अनु गामपश्यद्विश्वरूप्यं त्रिषु योजनेषु॥ ९॥

अर्थ—(माता) वेदमाता (दक्षिणायाः) वृद्धि की (धुरि) धुरा में (युक्ता आसीद्) युक्त हुई, जुती और (गर्भः) उपदेष्टा परमेश्वर गर्भरूप में (वृजनीषु) शक्तिशाली प्रजाओं के (अन्तः) अन्तरात्माओं में (अतिष्ठत्) स्थित हुआ। (त्रिषु योजनेषु) तीन के योगयुक्त हो जाने पर, (वत्सः) परमेश्वर के पुत्र ने (विश्वरूप्यम्) विश्व का निरूपण करने वाली (गाम्) वेदवाणी का (अपश्यत्) साक्षात् किया, (अनु) तदनन्तर उसने (अमीमेत्) वेदवाणी का उच्चारण किया।

[मन्त्र ८ के अनुसार प्रकृतिरूपी माता ने जब जगत् को उत्पन्न कर दिया, तब वेदमाता प्रकट हुई, और उस द्वारा मनुष्यों वा ऋषियों की समृद्धि हुई। समृद्धि के पश्चात् बलशाली[1] प्रजाजनों की अन्तरात्माओं में परमेश्वर गर्भरूप में प्रकट हुआ, और अन्तरात्माओं में उसने वेदवाणी को प्रकट किया। वेदवाणी प्रकट हो जाने पर ऋषियों ने वेदवाणी का उच्चारण किया, जबकि उनकी इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि तीनों योग सम्पत्ति से सम्पन्न हुए। "वेद माता" यथा "**स्तुता मया वरदा वेद माता**" (अथर्व० १९.७१.१)

दक्षिणायाः=**दक्ष वृद्धौ** (भ्वादिः)। गर्भः=**गृणाति उपदिशतीति** (उणा० ३.१५२, महर्षि दयानन्द)। गृ शब्दे (क्र्यादिः)=गुरुः। इसलिए योगशास्त्र में कहा है "**स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्**" (१.२६)। वृजनीषुः "**वृजनम् बलनाम**" (निघं० २.९)।

वत्सः पुत्रः "**शृण्वन्तु सर्वे अमृतस्य पुत्राः**" (यजुर्वेद)। "वत्सः" जिसका कि परमेश्वर में निवास हो, ऐसा अध्यात्म व्यक्ति, अथवा **वदतीति वत्सः** (उणा० ३.६२), जोकि परमेश्वर के गुणों का कथन करता रहता है] योजनेषु=**युजिर् योगे** (रुधादिः) तथा **युज समाधौ** (दिवादिः)]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

तिस्रो मातॄस्त्रीन्पितॄन्बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्त।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वविदो वाचमविश्वविन्नाम्॥ १०॥

अर्थ—(तिस्रः मातॄः) तीन माताओं का, (त्रीन् पितॄन्) तीन पिताओं का (बिभ्रत्) भरण-पोषण

१. मनोबलशाली या आत्मबलशाली।

करता हुआ (एकः) एक सूर्य, (ऊर्ध्वः) ऊर्ध्वदिशा में (तस्थौ) स्थित है। (ईम्) इसे (न अवग्लापयन्त) विरोधी शक्तियों ने नहीं ग्लानियुक्त किया, नहीं थकाया। (अमुष्य) उस (दिवः) द्युतिमान् की (पृष्ठे) पीठ पर विद्यमान [मुक्तात्मा] (विश्वविदः) विश्व-के-वेत्ता की (वाचम्) वाणी का (मन्त्रयन्ते) गुप्त भाषण करते हैं, या उसके सम्बन्ध में परस्पर मन्त्रणा अर्थात् विचार करते हैं, वह वाणी जो कि (अविश्वविन्नाम्) सब को विदित नहीं होती।

[मातृः-और-पितॄन् के दो अभिप्राय सम्भव हैं, (१) मातृशक्ति सम्पन्न तथा पितृशक्ति सम्पन्न, और (२) स्त्रीलिङ्गी तथा पुंलिङ्गी तत्त्व। तीन माताएँ हैं पृथिवी, अन्तरिक्ष, और द्यौः। ये तीन मातृवत् जगत् के पदार्थों का निर्माण करती हैं। "अन्तरिक्ष" शब्द यद्यपि स्त्रीलिङ्गी नहीं, तब भी इसमें स्त्रीलिङ्गी होने की भावना अन्तर्निहित है। "मातरिश्वा" पद की व्याख्या में कहा है कि "**मातरि अन्तरिक्षे श्वसिति, मातर्याश्वनितीति वा, वायुः**" (निरुक्त ७.७.२६)। इस प्रकार अन्तरिक्ष को भी माता कहा है।

तीन पिता हैं (१) अग्नि, (२) वायु, (३) वरुण अर्थात् मेघ। ये तीनों पितृवत् पालक हैं, और पुल्लिङ्गी हैं। एक सूर्य ऊँचे स्थित है। इसमें गति, पृथिवी के निज अक्ष पर घूमने के कारण प्रतीत होती है। संसार में विरोधी शक्तियाँ भी हैं जिन द्वारा बुढ़ापा, बीमारियाँ तथा मृत्युएँ होती हैं, और हर्षक्षय होता रहता है। परन्तु सूर्य सृष्टि रचना काल से चमक रहा है, मानो निज चमक में हंसता तथा हर्षित रहता है, इसका हर्षक्षय कोई नहीं कर सका। ग्लापयन्त="**ग्लै हर्षक्षये**" (भ्वादिः)।

सूर्य की पीठ पर भी मुक्तात्मा रहते हैं, और वहाँ रह कर वेदवाणी के सम्बन्ध में परस्पर मन्त्रणा करते हैं—यह वर्णन वेदानुमोदित होने से प्रामाणिक है। सूर्य यद्यपि अत्युष्ण है, परन्तु मुक्तात्मा को सूक्ष्म शरीर की अपेक्षा भी अतिसूक्ष्म कारण शरीर में वास करते हैं, अतः उनके शरीरों के भस्मीभूत होने की सम्भावना नहीं होती। परमेश्वर की सत्ता भी आदित्य में कही है (यजुः० ४०.१७)। वहां मुक्तात्माओं को परमेश्वर का सत्सङ्ग भी मिलता है। यजुर्वेद में 'नाक' में साध्य देवों की सत्ता भी कही है। यथा "**ते ह नाकं महिमानः सचन्ते यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः**" (३१.१६)। "साध्या देवाः" का अभिप्राय है सिद्धदेव अर्थात् मुक्तात्मा। अविश्वविन्नाम्=अ+विश्व+विद् (ज्ञाने)+क्त+टाप्। वेदवाणी और उसके अर्थों का ज्ञान सब को नहीं होवे। जो श्रद्धापूर्वक वेद का स्वाध्याय नित्य करता रहता है उसके लिए "**उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे**" (ऋ० १०.७१.४) द्वारा वेदवाणी निज स्वरूप को प्रकट कर देती है, **इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य** (ऋ० १०.७१.५; तथा निरुक्त १.६.२०)]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने यस्मिन्नातस्थुर्भुवनानि विश्वा।
तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभारः सनादेव न च्छिद्यते सनाभिः॥ ११॥

अर्थ—(पञ्चारे चक्रे) पांच अरों वाले चक्र [राशिचक्र] के (परिवर्तमाने) घूमने पर—(यस्मिन्) जिसमें कि (विश्वा भुवनानि) सब [सौर परिवार के] ग्रह, उपग्रह आदि भुवन (आतस्थुः) स्थित हैं—(तस्य) उस [राशिचक्र] का (अक्षः) अक्ष [Axle] (भूरिभारः) जिस पर कि बहुत भार है [ग्रह, उपग्रह आदि का] वह (सनात् एव) सनातन काल से ही (सनाभिः) नाभि समेत (न तप्यते) न तप्त होता है, (न छिद्यते) न टूटता ही है, [वह सनातन काल से ही विद्यमान है]।

[द्युलोक में भिन्न-भिन्न ऋतुओं में भिन्न-भिन्न राशियों का उदयास्त होता रहता है। इसलिए राशिचक्र

को घूमता हुआ कहा है। राशिचक्र के मध्य में सूर्य की स्थिति है, इसे राशिचक्र की नाभि कहा है। सूर्य भी चक्राकार है और राशिचक्र भी चक्राकार है। इन दोनों चक्रों को परस्पर जोड़ने वाली शक्ति को अक्ष कहा है। हेमन्त और शिशिर ऋतु के समास अर्थात् एक हो जाने से, ५ ऋतुएँ पाँच अरे हैं (निरुक्त ४.४.२७)]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**जगती**॥

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम्।

अथेमे अन्य उपरे विचक्षणे सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितम्॥ १२॥

अर्थ—(पञ्चपादम्) पांच पैरों वाले, (पितरम्) पालक, (द्वादशाकृतिम्) १२ आकृतियों वाले, (पुरीषिणम्) जल के कारणीभूत [राशिचक्र] को (दिवः परे अर्धे) द्युलोक के अर्धभाग में (अर्पितम् आहुः) अर्पित हुआ कहते हैं। (अथ) तथा (इमे अन्ये) वे अन्य विद्वान् [राशिचक्र को]—(उ+परे) के अर्धभाग में स्थित (सप्तचक्रे) सात चक्रों वाले (षडरे) और ६ अरों वाले (विचक्षणे) द्रष्टा सूर्य के निमित्त—(अर्पितम्, आहुः) अर्पित हुआ कहते हैं।

["पञ्चपादम्"=राशिचक्र को पञ्चपाद, ५ ऋतुओं की दृष्टि से कहा है (मन्त्र ११ की व्याख्या देखो)। राशिचक्र की दो-दो राशियों में पृथिवी या सूर्य की गति द्वारा एक-एक ऋतु का निर्माण होता है। ९ वीं १० वीं तथा ११ वीं और १२ वीं इन चार राशियों में पृथिवी या सूर्य की गति के कारण एक ही वस्तु का निर्माण अभिप्रेत है, हेमन्त और शिशिर के समास के कारण (निरुक्त ४.४.२७)। "द्वादशाकृतिम्" राशिचक्र द्वादश आकृतियों वाला है, १२ राशियों के कारण। प्रत्येक राशि अपनी-अपनी भिन्न-भिन्न आकृति वाली है। यथा मेषाकृति, वृषाकृति, मिथुनाकृति, कन्याकृति, कर्काकृति, सिंहाकृति, तुलाकृति, वृश्चिकाकृति, धनुषाकृति, मकराकृति, कुम्भाकृति तथा मीनाकृति। इस प्रकार राशिचक्र द्वादशाकृतिक है।

"परे अर्धे"=अथवा (परे) उत्कृष्टे, (अर्धे) नक्षत्रादिसमृद्ध्या समृद्धे, द्युभागे[१]। अर्धे=**ऋधु वृद्धौ**। "पुरीषिणम्"=उदकवन्तम् "**पुरीषम् उदकनाम**" (निघं० १.१२)। रश्मिचक्र उदक वाला है। सूर्य जब कर्कराशि में तथा मकरराशि में होता है तब-तब वर्षा होती है।

"सप्तचक्रे"=सूर्य सम्बन्धी ७ चक्र हैं, बुध, शुक्र, पृथिवी, चन्द्रमा, मंगल, बृहस्पति, शनैश्चर। "सप्तचक्रे", सप्तचक्राणि यस्य, तस्मिन् "षडरे", राशिचक्र की दो-दो राशियों में सूर्य की गति के कारण एक ऋतु होती है, अतः १२ राशियों में गति के कारण ६ ऋतुएँ हुईं। यह वस्तुतः है। परन्तु हेमन्त और शिशिर की सर्दी में एकानुभूति होने के कारण ऋतुएँ ५ भी कही जाती हैं। अतः "पञ्चपादम्", और "षडरे" में परस्पर विरोध नहीं]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परि द्यामृतस्य।

आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थुः॥ १३॥

अर्थ—(द्वादशारम्) १२ अरों वाला, (ऋतस्य) सत्यस्वरूप ब्रह्म का (चक्रम्) चक्राकार सूर्य

---

१. सूर्य और राशिचक्र की स्थिति एक ही द्युभाग में होती है। क्योंकि सूर्य की गति राशिचक्र में होती है। अतः दोनों का एक द्युभाग में होना आवश्यक है।

(द्याम् परि) द्युलोक के समीप (वर्वर्ति) निज कक्ष पर बार-बार घूमता है। (तत्) वह चक्र (जराय नहि) जीर्ण होने के लिए नहीं रचा। (अग्ने) हे अग्नि! (अत्र) इस चक्र में (सप्त शतानि विंशतिः) ७ सौ और बीस (मिथुनासः) मिथुन रूप, नर-मादारूप (पुत्राः) सूर्य के पुत्र (आतस्थुः) स्थित हैं।

[द्वादशारम्=१२ मासरूपी अरे। मिथुनासः=मिथुनरूप, स्त्री-पुरुष रूप, ३६० रात्रियाँ और ३६० दिन। ये ३६० मिथुन हैं। एक रात्री और एक दिन=एक मिथुन। इनके साथ अग्नि का सम्बन्ध है। अथर्ववेदानुसार वर्ष का प्रारम्भ कृत्तिका नक्षत्र से होता है, और कृत्तिका का देवता अग्नि है (अथर्व० १९.७.२)। ऋतस्य द्वारा जगत् को सात्मक दर्शाया है। तथा वेद की दृष्टि में पुत्र-पुत्रियां—दोनों पुत्रपद वाच्य हैं]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**जगती**॥

सनेमि चक्रमजरं वि वावृत उत्तानायां दश युक्ता वहन्ति।

सूर्यस्य चक्षू रजसैत्यावृतं यस्मिन्नातस्थुर्भुवनानि विश्वा॥ १४॥

अर्थ—(सनेमि) ब्रह्मरूपी नेमि वाला, (अजरम्) जीर्ण न होता हुआ (चक्रम्) चक्रसमान गोलाकार सूर्य (विवावृते) निज अक्ष पर घूम रहा है, (उत्तानायाम्) ऊपर तानी हुई दिशा में (युक्ताः दश) जुती हुईं १० शक्तियाँ (वहन्ति) सूर्य का वहन करती हैं। (सूर्यस्य चक्षुः) सूर्यरूपी आँख (रजसा आवृतम्) प्रकाश से घिरी हुई (एति) आती है, (यस्मिन्) जिस सूर्य के आश्रय में (विश्वा भुवनानि) सब सौर-भुवन (आ तस्थुः) उसके सब ओर स्थित हैं।

[सनेमि=रथ के पहिये की परिधि पर लोहे का चक्कर जिसे नेमि कहते हैं, चढ़ा दिया जाता है जो कि पहिये की रक्षा करता है, उसे टूटने से बचाता है। सूर्यरूपी पहिये की रक्षा करता है ब्रह्म। इसलिए ब्रह्म को नेमि कहा है। दशायुक्ताः=१० अश्व[1] सूर्यचक्र या सूर्य के काल्पनिक रथ का वहन कर रहे हैं। सूर्यस्य चक्षुः=सूर्यरूपी चक्षुः, विकल्पे षष्ठी। यथा पुरुषस्य चैतन्यम्। पुरुष चैतन्य स्वरूप है, तो भी पुरुष में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग होता (योग १.९) पर व्यासभाष्य। रजसा=ज्योतिषा। "**ज्योती रज उच्यते**" (निरुक्त ४.३.१९)। अथवा सूर्य को रास्ता दिखाने वाली ब्रह्मरूपी चक्षुः प्रातःकाल की उपासना में प्रकट होती है, जिसमें कि ब्रह्माण्डव्यापी सब भुवन स्थित हैं]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः पश्यदक्षण्वान्न वि चेतदन्धः।

कविर्यः पुत्रः स ईमा चिकेत यस्ता विजानात्स पितुष्पितासत्॥ १५॥

अर्थ—(स्त्रियः सतीः) स्त्रियाँ होती हुईं (तान्=ताः) उन को (मे आहुः) मुझे कहते हैं (पुंसः) कि ये पुमान् हैं, (अक्षण्वान्) आँखों वाला (पश्यत्) इस तथ्य को देख सकता है, (अन्धः) अन्धा (न विचेतत्) इसका विवेक नहीं कर सकता। (यः कविः) जो कविता की दृष्टि वाला (पुत्रः) परमेश्वर का पुत्र है (सः) वह (ईम्) इस तथ्य को (आ चिकेत) सम्यक् प्रकार से जानता है। (यः) जो (ताः) उन्हें (विजानात्) विशेषतया जाने (सः) वह (पितुष्पिता) पिता के पिता [के सदृश पूजनीय] (असत्) होवे।

---

१. बुध, शुक्र, पृथिवी, मङ्गल, बृहस्पति, शनैश्चर, यूरेनस, [वरुण] नेपच्यून, धूम्रकेतु तथा पृथिवी सम्बन्धी चन्द्रमा।

[मन्त्र १३ में "मिथुनासः पुत्राः" का कथन हुआ है। इस द्वारा ३६० रात्रियों और ३६० दिनों को "पुत्राः" कहा है। रात्रियाँ स्त्रियाँ हैं। परन्तु वैदिक विद्वान् इन्हें भी "पुंसः" पुमान् कहते हैं। क्योंकि मन्त्र १३ में इन्हें भी पुत्राः कहा है। जो आँखों वाला है वह पूर्वगत मन्त्र में इस तथ्य को देख सकता है, अज्ञानान्ध व्यक्ति इस तथ्य को नहीं देखता। स्त्रियों को भी "पुंसः" और "पुत्राः" कह कर वेद ने स्त्रियों और पुत्रों को समदृष्टि से देखा है, और इन्हें समानाधिकार दिये हैं। मनु की भी यह सम्मति है। यथा—

अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः। मिथुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्॥

(मनु० ६.१३३, १३९); (निरुक्त ३.१.४)।

इस प्रकार मन्त्र १५ का अर्थ प्रकरण के अनुकूल हो जाता है। इस मन्त्र के भिन्न-भिन्न अर्थ सूक्त ९ की समाप्ति पर देखिये]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**जगती**॥

साकंजानां सप्तथमाहुरेकजं षडिद्यमा ऋषयो देवजा इति।
तेषामिष्टानि विहितानि धामश स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः॥ १६॥

अर्थ—(साकंजानाम्) साथ उत्पन्नों में से (सप्तथम्) सातवें को (एकजम्) एक से उत्पन्न हुआ (आहुः) कहते हैं, इन सात में (षट् इत्) ६ ही (यमाः) नियमकर्त्ता हैं, (ऋषयः) जो कि गति करते हैं, तथा (देवजा इति) देवज हैं। (तेषाम्) उनके (इष्टानि) अभीष्ट (धामशः) उनके स्थानानुसार (विहितानि) विहित किये हैं, निश्चित किये हैं, वे (रूपशः) निज स्वरूपों के अनुरूप (विकृतानि) प्रकृति के विकार हैं, और (स्थात्रे) शरीर में स्थित जीवात्मा के लिए (रेजन्ते) गति करते हैं।

[महत्तत्त्व अर्थात् बुद्धि, तथा ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, और १ मन, ये ७ साथ-साथ रहते हैं। शरीरावस्था में भी साथ-साथ रहते हैं, और जन्मजन्मान्तरों में भी साथ-साथ रहते हैं, और सूक्ष्मशरीरावस्था में भी साथ-साथ रहते हैं। इनमें एक अर्थात् महत्तत्त्व "एक-कारण" प्रकृति से पैदा हुआ है, और शेष ६ अनेक कारणों से पैदा हुए हैं, महत्तत्त्व और अहङ्कार रूपी विकृतियों से। ये ६ शरीर का नियमन करते हैं, गति शील हैं, और परमेश्वर देव के द्वारा पैदा हुए हैं। शरीर में इनके अभीष्ट स्थान निश्चित कर दिये गये हैं। ये शरीर में स्थित हुए जीवात्मा के भोगापवर्ग के लिए गतिमान् होते हैं, अपने-अपने नियत स्थानों में रहते हुए भी गति करते हैं।]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अवः परेण पर एनावरेण पदा वत्सं बिभ्रती गौरुदस्थात्।
सा कद्रीची कं स्विदर्धं परागात्क्व स्वित्सूते नहि यूथे अस्मिन्॥ १७॥

अर्थ—(परेण) पराविद्या के साथ (अवः) अवराविद्या को, और (अवरेण) अवराविद्या के साथ (परः) पराविद्या को निरूपित करने वाले (पदा) मन्त्र पदों के द्वारा (वत्सम्) जीवात्मा का (बिभ्रती) भरण पोषण करती हुई (गौः) वेदवाणी रूप वेद माता (उदस्थात्) सदा उत्थान किये हुए है। (सा) वह वेदवाणी रूप-माता (कद्रीची) कहाँ से आती हुई, (कंस्वित्) किसी ही (अर्धम्) ऋद्धिशील को (परा गात्) उसके दूर रहते हुए भी पहुँच जाती है, (क्वस्वित्) और किसी में ही (सूते) वह स्वरहस्य को

प्रकट करती है, (अस्मिन् यूथे) परन्तु इस मानुष-समुदाय में (नहि) वह स्व रहस्य को प्रकट नहीं करती।

[इस मन्त्र की विशेष व्याख्या के लिए देखो (अथर्व० १३.१.४१, ३३)। उदस्थात्=चतुष्पाद् गौ की दृष्टि से उत्त्थान का वर्णन हुआ है। वत्स को दूध पिलाने के लिए गौ का उत्त्थान होता है, लेटे या बैठे वह दूध नहीं पिला सकती। वेदमाता भी निज ज्ञानदुग्ध पिलाने के लिए सदा उत्त्थान किये हुए है, सदा उद्यत है। मन्त्र की व्याख्या, प्रकरणानुसार, जीवात्मपरक की है, क्योंकि मन्त्र १६ में जीवात्मा तथा जीवात्मा के उपकरणों का वर्णन हुआ है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**जगती**॥

अवः परेण पितरं यो अस्य वेदावः परेण पर एनावरेण।

कवीयमानः क इह प्र वोचद्देवं मनः कुतो अधि प्रजातम्॥ १८॥

अर्थ—(यः) जो (अस्य) इस ब्रह्माण्ड के (पितरम्) पिता को, (परेण) पर लोक के साथ (अवः) अवर के लोक से सम्बद्ध (वेद) जानता है; तथा (अवः) अवर के लोक को (परेण) पर के लोक के साथ, और (एना अवरेण) इस अवर लोक के साथ (परः) पर के लोक को भी [परस्पर सम्बद्ध जानता है, ऐसा] (कः) कौन (कवीयमानः) अपने आप को वेद काव्य का कवि मानता हुआ (इह) इस जगत् में (प्रवोचत्) प्रवचन करेगा कि (देवम् मनः) दिव्यमन (कुतः) किस से (अधि प्रजातम्) पैदा हुआ है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

ये अर्वाञ्चस्ताँ उ पराच आहुर्ये पराञ्चस्ताँ उ अर्वाच आहुः।

इन्द्रश्च या चक्रथुः सोम तानि धुरा न युक्ता रजसो वहन्ति॥ १९॥

अर्थ—(ये) जो (अर्वाञ्चः) इधर के लोक हैं (तान् उ) उन्हें (पराचः) परे के लोक (आहुः) कहते हैं, (ये) और जो (पराञ्चः) परे के लोक हैं (तान् उ) उन्हें (अर्वाचः) इधर के लोक (आहुः) कहते हैं। (सोम) हे चन्द्रमा तू (च इन्द्रः) और सूर्य (याः=यानि) जिन [रात्रियों और दिनों] का (चक्रथुः) निर्माण करते हो, (तानि) वे (धुरा न युक्ताः) धुरि में जुते हुए (रजसः) रञ्जक पृथिवी लोक के कार्यों का (वहन्ति) वहन करते हैं, सम्पादन करते हैं।

[ब्रह्माण्ड एक बड़ा, या ब्रह्म-या-अण्डाकार गोला है। इसके घटक अवयव जो उधर अर्थात् परे दृष्टिगोचर होते हैं, तथा नीचे और ऊंचे दिखाई देते हैं, वे सापेक्ष दृष्टि से हैं, वस्तुतः न कोई नीचे है, न ऊपर। पृथिवी के वासियों को पृथिवी नीचे और सूर्य, नक्षत्र, तारा, ऊंचे दिखाई देते हैं। परन्तु यदि कोई प्राणी नक्षत्रादि में निवास करते होंगे तो उन्हें निज निवास स्थान नीचे दिखाई देंगे और पृथिवी ऊंचे। जैसे अमरीका हमारे लिए पाद तलों की ओर है, परन्तु अमरीका वासियों के लिए हम उनके पाद तलों की ओर हैं।

चन्द्रमा रात्रि का निर्माता है, और सूर्य दिन का। ये रात्रियाँ और दिन पृथिवीवासियों के कार्यों का सम्पादन कर रहे हैं। रात्रियाँ विश्राम देती हैं, और दिन कृत्यों में व्यापृत करते हैं]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥ २०॥

अर्थ—जैसे (सुपर्णा) सुन्दर पंखों वाले, (सयुजा) परस्पर सहयोगी, (सखाया) तथा मित्रों के समान वर्तमान (द्वा) दो पक्षी, (समानम्) एक (वृक्षम्) वृक्ष का (परिषस्वजाते) आश्रय करते हैं, (तयोः) उन दोनों में से (अन्यः) एक (पिप्पलम्) उस वृक्ष के पके हुए फल को (स्वादु) स्वादुपन से (अत्ति) खाता है, और (अन्यः) दूसरा (अनश्नन्) न खाता हुआ (अभि चाकशीति) सब ओर देखता रहता है, ऐसे (सयुजा) व्याप्यव्यापक भाव से परस्पर साथ सम्बन्ध रखने वाले (सखाया) मित्रों के समान वर्तमान जीव-और-ईश, (समानं वृक्षम्) समान नश्वर-देह का (परिषस्वजाते) आश्रय करते हैं, (तयोः) उनमें से (अन्यः) जीव पापपुण्य से उत्पन्न सुखदुःखात्मक (पिप्पलम्) भोग को (स्वादु अत्ति) स्वादुपन से भोगता है, (अन्यः) और दूसरा ब्रह्मात्मा कर्मफल को (अनश्नन्) न भोगता हुआ उस भोगते हुए जीव को (अभि चाकशीति) सब ओर से देखता अर्थात् उसका साक्षी होता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

यस्मिन्वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधि विश्वे।

तस्य यदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोन्नशद्यः पितरं न वेद॥ २१॥

अर्थ—जैसे (मध्वदः) मधुर फल खाने वाले (सुपर्णाः) पक्षी (वृक्षे अधि) वृक्ष पर (निविशन्ते) निवेश अर्थात् निवास करते, (च) और (सुवते) सन्तानें पैदा करते हैं, वैसे (यस्मिन् विश्वे) जिस विश्व में जीवात्मा निवास करते, और सन्तानें उत्पन्न करते हैं, (तस्य) उस विश्व रूपी वृक्ष के जिस (पिप्पलम्) फल को (स्वादु) स्वादयुक्त तथा (अग्रे) सर्वश्रेष्ठ (आहुः) कहते हैं (तत् उत्) उसे (न) नहीं वह (नशत्) प्राप्त करता है (यः) जो कि (पितरम्) जगत् के पिता को (न वेद) नहीं जानता।

[स्वाद युक्त और सर्वश्रेष्ठ फल है, अपवर्ग। **नशत् व्याप्तिकर्मा** (निघं० २.१८)]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भक्षमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति।

एना विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश॥ २२॥

अर्थ—(यत्र) जिस परमेश्वर में, (सुपर्णाः) शोभन कर्मों वाले जीवात्मा (विदथ) ज्ञानपूर्वक (अमृतस्य भक्षम्) मोखसुख के भोग को—(अनिमेषम्) निमेषमात्र काल के व्यवधान के भी विना, अर्थात् सर्वदा (अभिस्वरन्ति) परमेश्वर की साक्षात् स्तुति करते हुए—प्राप्त करते हैं, (सः) वह (विश्वस्य भुवनस्य) समग्र ब्रह्माण्ड का (एना=इनः) स्वामी, (गोपाः) रक्षक (धीरः) ज्ञानवान् परमेश्वर, (अत्र) इस जीवन में, (पाकम् मा) मुझ पवित्र में (आ विवेश) प्रविष्ट हुआ है, मेरे हृदय में प्रविष्ट हो गया है, साक्षात् हो गया है।

[सुपर्णाः=सुपतानाः सुगमनाः "शोभन कर्मों वाले" (म० दयानन्द)। एना=इनः (ऋ० १.१६४.२१)। मन्त्र २०, २१, २२ के अर्थ, ऋ० १.१६४ पर महर्षि दयानन्दकृत भाष्य के आधार पर किये हैं। धीरः=धीः (ज्ञान)+रः (वाला)। यथा मधु और मधुरः]।

विशेष व्याख्या

(१)

स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः पश्यदक्षण्वान्न वि चेतदन्धः।

कविर्यः पुत्रः स ईमा चिकेत यस्ता विजानात्स पितुष्पितासत्।। अथर्व० ९.९.१५।।

अर्थ—(स्त्रियः सतीः) हैं तो स्त्रियाँ, (तान्=ताः) उन्हें [मेधावी लोग] (मे) मेरे प्रति (पुंसः) पुमान् (आहुः) कहते हैं। (अक्षण्वान्) ज्ञानरूपी आँखों वाला व्यक्ति (पश्यत्) इस तथ्य को देखता है, जानता है, (अन्धः) अज्ञानान्ध (न वि चेतत्) इस तथ्य को विवेक पूर्वक नहीं जानता। (यः) जो (पुत्रः) पुत्र (कविः) मेधावी है, वेदकाव्य के रहस्य को जानता है (सः) वह (ईम्) इस तथ्य को (आ चिकेत) ठीक प्रकार से जानता है। (यः) जो (ताः) उन स्त्रियों को (विजानात्) विवेक पूर्वक जाने (सः) वह (पितुः पिता) पिता-के-पिता के सदृश पूजनीय (असत्) हो जाए।

[तान्=यह पद पुंल्लिङ्ग है। विधेय पुंसः की दृष्टि से। तैत्तिरीय आरण्यक में "तान्" के स्थान में "ताः" पठित है। उद्देश्य "स्त्रियः" की दृष्टि से। मन्त्र में पुंसः शब्द यौगिकार्थक है, **"पुंस अभिवर्द्धने"** (चुरादिः)। मन्त्र में स्त्रियों को अभिवर्द्धनशीला कहा है। विदुषी माताएँ गर्भकाल में भी, गर्भस्थ बच्चों में वृद्धिकारक उत्तम संस्कार डाल सकती हैं, और उत्पन्न हुओं में उत्तम शिक्षा द्वारा सत्सन्तान बना कर सामाजिक, राष्ट्रिय, तथा सार्वभौम उन्नति में सहयोग दे सकती हैं]।

(२)

निरुक्तकार यास्काचार्य की दृष्टि में—

"स्त्रिय एवैताः शब्दस्पर्शरूपसगन्धहारिण्यस्ता अमुं पुंशब्देन निराह प्राण इति"।

अर्थात् स्त्रियाँ ही ये हैं जो कि शब्दस्पर्शरूपरसगन्ध हैं, ये इन्द्रियों को अपनी ओर खींचते हैं। मन्त्र इन्हें "पुम्" शब्द द्वारा निर्दिष्ट करता है, जो कि "प्राण" है।

अभिप्राय, यह शब्दादि हैं तो इन्द्रियहारी, परन्तु हैं ये प्राणरूप। जैसे जीवन प्राण पर आश्रित है वैसे जीवन शब्द आदि पर भी आश्रित है। अतः शब्द आदि का सदुपयोग करना चाहिए, दुरुपयोग नहीं। (निरुक्त अ० १४.२०)।

(३)

निरुक्त में "अन्धः" पद की व्याख्या में भी यह मन्त्र उद्धृत किया है, परन्तु व्याख्या नहीं की। निरुक्त भाष्यकार स्वर्गीय स्वामी ब्रह्ममुनि ने व्याख्या में लिखा है। यथा—**"सतीः स्त्रियः" अध्यात्मज्ञानेन प्राप्तसत्ताका ब्रह्मवादिन्यः स्त्रियो याः सन्ति 'पुंस-तान्-आहुः'। अल्पज्ञानेन पुरुषा स्त्रीत्वं भजन्ते, अधिकज्ञानेन, आत्मज्ञानेन स्त्रियः पुरुषत्वं पुरुषवत् मानं लभन्ते"।**

अर्थात् स्त्रियाँ होती हुई भी अध्यात्मज्ञान द्वारा सत्ता प्राप्त ब्रह्मवादिनी स्त्रियाँ "पुंसः" होती हैं। अल्पज्ञान द्वारा पुरुष स्त्रीत्व को प्राप्त होते हैं, अधिक ज्ञान, अध्यात्मज्ञान द्वारा स्त्रियाँ पुरुषत्व को, पुरुषवत् मान को प्राप्त करती हैं। (निरुक्त ५.२)।

(४)

ऋग्वेद के भाष्यकार श्री वेंकटमाधव की दृष्टि में—

"स्त्रीपुंविभागः शरीरकृतः। अनात्मविदां स्त्रियः सतीः इमाः मम तत्त्वविदः पुंस आहुः"।

अर्थात् स्त्री और पुम् विभाग शरीरकृत है। अनात्मविदों के लिए ये चाहे स्त्रियाँ हैं, परन्तु तत्त्ववेत्ता [आत्मदृष्टि से] इन्हें "पुंसः" कहते हैं [आत्मा जो कि शरीरों में है वह पुमान् ही है, पुंल्लिङ्ग ही है] (ऋ० १.१६४.१६)।

(५)

महर्षि दयानन्द की दृष्टि में—

"जिनको (सतीः) विद्या तथा उत्तम शिक्षादि शुभ गुणों से युक्त (स्त्रियः) स्त्रियाँ कहती हैं, (तामु) उन्हें (पुंसः) [पुरुष जानो]। अभिप्राय जैसे विद्वान् पुत्रों को पढ़ा कर विद्वान् करें वैसे विदुषी स्त्रियाँ कन्याओं को करें" (भावार्थ) ऋ० १.१६४.१६॥

सूक्त १०

विषय-प्रवेश

(१) सूक्त की मन्त्र संख्या २८। इस सूक्त के मन्त्र ऋग्वेद में भी हैं (ऋ० १.१६४.२३-५२)। मन्त्र १-३ अत्यन्त अस्पष्ट हैं, इनकी व्याख्या ऋग्वेद भाष्य में म० दयानन्द कृत अर्थों के आधार पर की गई है, जो कि बुद्धिगम्य है। मन्त्र १ में कहा है कि जो गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती की रचना को जानते हैं वे अमृतत्त्व को प्राप्त करते हैं। यह भावना म० दयानन्द कृत अर्थों द्वारा मान्य हो जाती है। ऋग्वेद के अनुवादक मि० विल्सन का कथन है कि गायत्री आदि तीन छन्द वेदों के मुख्य छन्द हैं, इन द्वारा वेद अभिप्रेत हैं, और वेदों का परिज्ञान अमृतत्व के लिए आवश्यक है।

(२) धेनुः (४), अघ्न्या (५), गौ (६) इन पदों द्वारा वेदमाता का निर्देश हुआ है।

(३) ब्रह्म और जीवात्मा का वर्णन, पुनर्जन्म (८, ९); जीवात्मा के स्वरूप का साक्षात्कार (११); प्रश्न-उत्तर (१३, १४); मन से बन्धा जीवात्मा (१५, १६); विश्व के घटक, सात-अर्धगर्भ तत्त्व (१७); ऋचाओं द्वारा मुख्य प्रतिपाद्य परमेश्वर (१८); अर्धर्च द्वारा विश्व का निर्माण तथा त्रिपाद् ब्रह्म (१९); अघ्न्या=विदुषी स्त्री (२०); एकपदी, द्विपदी, चतुष्पदी, अष्टापदी, नवपदी वाक् (२१); वर्षा तथा सुपर्णा आदित्यरश्मयः (२२); अपाद् उषा (२३); विराट् परमेश्वर के विविध रूप (२४); शकमय धूम (२५); त्रयः केशिनः (२६); वाक्=चत्वारि पदानि (२७); एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति (१८)।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**जगती**॥

यद्गायत्रे अधि गायत्रमाहितं त्रैष्टुभं वा त्रैष्टुभान्निरतक्षत।
यद्वा जगज्जगत्याहितं पदं य इत्तद्विदुस्ते अमृतत्वमानशुः॥ १॥

अर्थ—(गायत्रे अधि) गायत्री छन्द वाले मन्त्र में (गायत्रम्) स्तुतिगाने वाले की रक्षा करने वाला (यत्) जो (पदम्[1]) ओ३म् पद वाच्य ब्रह्म (आहितम्) स्थित या कथित है, (त्रैष्टुभात् वा) अथवा त्रिष्टुप् छन्द वाले मन्त्र में (त्रैष्टुभम्) तीनों लोकों में अर्चनीय जिस ओ३म् पद वाच्य ब्रह्म के स्वरूप का परिज्ञान प्राप्त करते हैं, (वा) अथवा (यत्) जो (जगत् पदम्) सर्वगत ओ३म्-पद वाच्य ब्रह्म

---

१. **सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥** (कठ० उप० २.१५)।

(जगति[१]) जगत् या जगती छन्द में (आहितम्) स्थित है, (तद्) उसे (ये इत्) जो (विदुः) जानते हैं (ते) वे (अमृतत्वम्) मोक्ष को (आनशुः) प्राप्त करते हैं[२]। (ऋ० १.१६४.२३)।

[मन्त्र में गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती—इन तीन छन्दों का वर्णन हुआ है। निरुक्त[३] में गायत्री छन्द का सम्बन्ध अग्नि के साथ, जो कि पृथिवी का देवता है—माना है, तथा त्रिष्टुप् छन्द का सम्बन्ध इन्द्र के साथ जो कि अन्तरिक्ष का देवता है—माना है, और जगती छन्द का सम्बन्ध आदित्य के साथ, जो कि द्युलोक का देवता है—माना है। इस प्रकार इन तीन छन्दों को वेदों के मुख्य छन्द कहते हैं। इसलिए व्याख्येय मन्त्र में इन्हीं तीन छन्दों के साथ ब्रह्म का वर्णन हुआ है। त्रैष्टुभम्=त्रि+**स्तोभति अर्चतिकर्मा** (निघं० ३.१)]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्**॥

गायत्रेण प्रति मिमीते अर्कमर्केण साम त्रैष्टुभेन वाकम्।
वाकेन वाकं द्विपदा चतुष्पदाक्षरेण मिमते सप्त वाणीः॥ २॥

अर्थ— (गायत्रेण) गायत्री छन्द द्वारा (अर्कम्) ऋक् को, (अर्केण) ऋचाओं के समूह द्वारा (साम) साम को, (त्रैष्टुभेन) त्रिष्टुप् छन्द द्वारा (वाकम्) यजुर्वेद को, (द्विपदा) दो पादों वाले, (चतुष्पदा) चार पादों वाले (अक्षरेण) नाश रहित (वाकेन) यजुर्वेद द्वारा (वाकम्) अथर्ववेद को, और (सप्त वाणीः) सात गायत्री आदि छन्दों से युक्त वेदवाणियों को (प्रति मिमीते) मापते हैं, (मिमते) और उनके ज्ञान को प्राप्त करते हैं (ऋ० १.१६४.२४॥ म० दयानन्द)।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

जगता सिन्धुं दिव्यस्कभायद्रथन्तरे सूर्यं पर्यपश्यत्।
गायत्रस्य समिधस्तिस्र आहुस्ततो मह्ना प्र रिरिचे महित्वा॥ ३॥

अर्थ—परमेश्वर ने (जगता) जगत् के साथ (सिन्धुम्) नदी, समुद्र को, तथा (दिवि) प्रकाश में और (रथन्तरे) अन्तरिक्ष में (सूर्यम्) सूर्य को (अस्कभायद्) थामा है, (पर्यपश्यत्) और इन सबका निरीक्षण करता है। तथा (गायत्रस्य) स्तुति गायक के त्राणकर्त्ता [परमेश्वर] की (तिस्रः) तीन (समिधः) समिधाएँ अर्थात् प्रदीप्त पदार्थ—अग्नि, विद्युत्, सूर्य सहित चमकते तारावर्ग हैं, (आहुः) यह कहते हैं, परन्तु परमेश्वर (ततः) उस सब से (प्ररिरिचे) अतिरिक्त है (मह्ना, महित्वा) बड़प्पन और महिमा द्वारा, यह भी कहते हैं। (ऋ० १.१६४.२५)।

[रथन्तरे=अन्तरिक्षे, रथों अर्थात् रमणीय विमानों द्वारा जिसमें मानो तैरते हुए वैमानिक गति करते हैं। गायत्रस्य=गायतः त्रातुः (देखो "गायत्रे" मन्त्र १)]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

उप ह्वये सुदुघां धेनुमेतां सुहस्तो गोधुगुत दोहदेनाम्।
श्रेष्ठं सवं सविता साविषन्नोऽभीद्धो घर्मस्तदु षु प्र वोचत्॥ ४॥

---

१. मन्त्रपठित 'जगत्याहितम्' के द्विविध पदच्छेद सम्भव हैं। जगति आहितम्, तथा जगती आहितम्।
२. सूक्त १० के मन्त्रों के अर्थ, ऋ० १.१६४ में व्याख्यात मन्त्रों के आधार पर प्रायः किये हैं (देखो महर्षि दयानन्द भाष्य)।
३. निरुक्त (७.३.८-११)।

अर्थ—(एताम्) इस (सुदुघाम्) सुगमता से दोही जाने वाली (धेनुम्) दुधारु वेदवाणी रूपी गौ को (उपह्वये) मैं आदर पूर्वक स्वीकार करता हूँ, (सुहस्तः) स्वच्छ हाथों वाला (गोधुग्) वेदवाणी रूपी गौ का दोहने वाला (एनाम्) इसे (दोहत्) दोहता है। (सविता) प्रेरणाप्रद परमेश्वर (नः) हमें (श्रेष्ठम्, सवम्) श्रेष्ठ प्रेरणा (साविषत्) देवे, तथा (घर्मः) दिन के सदृश (अभीद्धः) प्रकाशमान परमेश्वर (तद्) उस वैदिक ज्ञान का (सु) उत्तमतया (प्रवोचत्) प्रवचन करे।

[उपह्वये=वेदस्वाध्यायी वेद का स्वयं स्वाध्याय करता है, परन्तु परमेश्वर से श्रेष्ठ प्रेरणाओं और ज्ञान की प्राप्ति सबके लिए हो, ऐसी प्रार्थना करता है। कितना उत्तम आदर्श है। सुहस्तः=चतुष्पाद् गौ को दोहने के लिए दोग्धा के हाथ स्वच्छ होने चाहिएँ। वेदवाणी को दोहने के लिए भी हाथ शुभ कर्मों के करने वाले चाहिएँ। धेनु=**धेट् पाने,** दूध पिला सकने वाली दुधारू चतुष्पाद् गौः। तथा "**धेनुः वाङ्नाम**" (निघं० १.११)। गोधुक्, गौः चतुष्पाद् गौः। तथा "**गौः वाङ्नाम**" (निघं० १.११)। वेदवाणी भी चार वेदों द्वारा चतुष्पाद् है, चतुर्विध पदों वाली है "**घर्मः अहर्नाम**" (निघं० १.९)।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

हिङ्कृण्वती वसुपत्नी वसूनां वत्समिच्छन्ती मनसाभ्यागात्।
दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्येयं सा वर्धतां महते सौभगाय॥ ५॥

अर्थ—(अघ्न्या) न हनन के योग्य गौ जैसे (हिङ् कृण्वती) हिङ्कारती हुई, और (मनसा) मन से (वत्सम्) बछड़े को (इच्छन्ती) चाहती हुई, (अभ्यागात्) बछड़े के अभिमुख आती है, वैसे (वसूनां वसुपत्नी) सम्पत्तियों की स्वामिनी वेदमाता, निज स्वाध्यायी पुत्र को, मानो स्वेच्छया चाहती हुई, प्राप्त हो जाती है। (इयम्) यह (अघ्न्या) नित्या वेदमाता, (अश्विभ्याम्) स्वाध्यायी स्त्री-पुरुषों के लिए, (पयः) ज्ञान दुग्ध (दुहाम्) देती है, (सा) वह (महते सौभगाय) हमारे महासौभाग्य के लिए (वर्धताम्) बढ़े, सर्वत्र उसका विस्तार हो।

[हिङ् कृण्वती=इस पद द्वारा ऋचाओं पर सामगान को सूचित किया है "**ऋच्यध्यूढं साम गीयते**"। सामगान के ५अवयव होते हैं, (१) प्रस्ताव, (२) उद्गीथ, (३) प्रतिहार, (४) उपद्रव, (५) निधन। हिङ् कृण्वती द्वारा पंचविध सामगान का निर्देश किया है जो कि गेयरूपी वैदिक ऋचाओं पर गाया जाता है। वसुपत्नी=वेद में नाना विध सम्पत्तियों का वर्णन है, तथा वसुरूप सदुपदेशों का वर्णन है अतः वह वसुपत्नी है। वेद का नित्य स्वाध्याय होने पर वेद का रहस्य स्वयमेव प्रकट होने लगता है "**उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे**" (ऋ० १०.७१.४)। अघ्न्या=न हनन योग्या चतुष्पाद् गौ (निघं० २.११); तथा पदनाम (निघं० ५.५)। गौ के सम्बन्ध में हिङ् कृण्वती=हम्भारती हुई।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

गौरमीमेदभि वत्सं मिषन्तं मूर्धानं हिङ्ङकृणोन्मातवा उ।
सृक्वाणं घर्ममभि वावशाना मिमाति मायुं पयते पयोभिः॥ ६॥

अर्थ—(गौः) चतुष्पाद् गौ (मिषन्तम्, वत्सम् अभि) आँखे झपकते हुए बछड़े को लक्ष्य करके (अमीमेत्) शब्द करती है, और (मातवै उ) उसके परिज्ञान के लिए (मूर्धानम्) उसके सिर पर (हिङ् अकृणोत्) हिंकारती है, हम्भारती है। (सृक्वाणम्) सरण करने वाले (घर्मम् अभि) धारोष्ण दूध को

लक्ष्य करके (मायुम्) शब्द (मिमाति) करती है, (वावशाना) बार-बार शब्द करती है, (पयोभिः) और स्तनों में दूध के साथ (पयते) विचरती है।

मिषन्तं वत्सम्=इस द्वारा बछड़े की शैशवावस्था को सूचित किया है। मातवै=उसे जताने के लिए कि मैं आ गई हूँ, उसके सिर पर हम्भारती है। मा=ज्ञान, यथा प्रमा। **सृक्वाणम्=सरणम्** (निरुक्त ११.४.४२), अथवा "**सृज विसर्गे**"+क्वनिप्=उत्पन्नं घर्मम्। वावशाना=**वाशृ शब्दे+कानच्।** पयते=**पय गतौ** (भ्वादिः)। हिङ् अकृणोत्=इस द्वारा सामगान को भी सूचित किया है। जिसमें ज्ञान चक्षु का उन्मेष हुआ है ऐसे स्वाध्यायी के प्रति वेदवाणी निजस्वरूप को प्रकट करती है, और उसके परिज्ञान के लिए "हिङ्" आदि अवयवों वाले सामगान को प्रकट करती है। उसका दूध है ज्ञानदूध। यथा "**उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुः**" (ऋक्० १०.७१.५) में वेदवाणी रूपी गौ के ज्ञानदुग्ध को "पीतम्" शब्द द्वारा निर्दिष्ट किया है। "पयोभिः" द्वारा भी ज्ञानदुग्ध अभिप्रेत है। चतुष्पाद् गौ के चार स्तनों द्वारा दुग्ध प्रस्रवित होता है, वेदवाणी के भी ४ वेदरूपी स्तनों द्वारा ज्ञान दुग्ध प्रस्रवित होता है]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**जगती**॥

अयं स शिङ्क्ते येन गौरभीवृता मिमाति मायुं ध्वसनावधि श्रिता।
सा चित्तिभिर्नि हि चकार मर्त्यान्विद्युद्भवन्ती प्रति वव्रिमौहत॥ ७॥

अर्थ—(अयम्, सः) यह वह दृश्यमान मेघ (शिङ्क्ते) अव्यक्त गर्जना करता है, (येन) जिस मेघ द्वारा (अभीवृता) घिरी हुई, और (ध्वसनौ अधि) अवस्रंसन करने वाले अर्थात् बरसने वाले मेघ में (श्रिता) आश्रय पाई हुई (गौः) अन्तरिक्षस्था वाणी (मिमाति) शब्द करती है। (सा) वह वाणी (विद्युत् भवन्ती) विद्युत् रूप होती हुई (वव्रिम्, प्रति औहत) रूप का वहन करती अर्थात् धारण करती है, और (चित्तिभिः) चेतावने वाले शब्दों के द्वारा (मर्त्यान्) मनुष्यों को (नि चकार) शक्ति की दृष्टि से नीचा करती है।

[ध्वसनौ=**ध्वंसु अवस्रंसने** (भ्वादिः)। शिङ्क्ते=**शिजि अव्यक्ते शब्द** (अदादिः)। नि चकार=निकृतान् करोति, अपमानित करती है। **वव्रिः रूपनाम** (निघं० ३.७)।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अनच्छये तुरगातु जीवमेजद् ध्रुवं मध्य आ पस्त्यानाम्।
जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः॥ ८॥

अर्थ—(तुरगातु) शीघ्रगति वाला ब्रह्म, (ध्रुवम्) निश्चल (जीवम्, अनत्) जीवात्मा को प्राणित करता हुआ, (एजत्) और उसे गतिमान् करता हुआ, (पस्त्यानाम्, मध्ये) शरीर-गृहों के मध्य में (आशये) सोता है। (मृतस्य) मरे व्यक्ति का (अमर्त्यः जीवः) नित्य जीवात्मा (स्वधाभिः) स्वनिहित संस्कारों सहित, (मर्त्येन) मर्त्य सूक्ष्म शरीर के साथ, (सयोनिः) समान योनि हुआ (चरति) मातृगर्भों में जाता है।

[ब्रह्म तुरगातु है। यथा "**मनसो जवीयः**" (यजुः० ४०.४) अनत्, एजत्=णिजर्थ अन्तर्भावित है। **पस्त्यं गृहनाम** (निघं० ३.४) जीवः=**जीव प्राणधारणे** (भ्वादिः) प्राण सहित आत्मा, जीवात्मा। "स्वधा" द्वारा सूक्ष्मशरीरनिष्ठ संस्कारों का निर्देश किया है। शये=शेते, "**लोपस्त आत्मनेपदेषु**" (अष्टाध्यायी

७.१.४९) द्वारा "त्" का लोप हुआ। "शये" के लिए देखो (अथर्व० १०.८.२६)]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

विधुं दद्राणं सलिलस्य पृष्ठे युवानं सन्तं पलितो जगार।

देवस्य पश्य काव्यं महित्वाद्या ममार स ह्यः समान॥ ९॥

अर्थ—(सलिलस्य) समुद्र की (पृष्ठे) पीठ पर (दद्राणम्) दौड़ते हुए, (युवानं सन्तम्) युवा होते (विधुम्) चन्द्रमा को (पलितः) बुढ़ापा (जगार) निगल जाता है, खा जाता है, (देवस्य) परमेश्वरदेव के (महित्वा) महिमा युक्त (काव्यम्) वेदकाव्य को देख, देख कि (सः) वह चन्द्रमा (अद्य) आज (ममार) मर गया है, जो कि (ह्यः) गुजरे कल (समान) प्राण सहित था, जीवित था।

[सलिलस्य=इसका अर्थ है जल। मन्त्र में जल वाले अन्तरिक्ष का निर्देश हुआ है। अन्तरिक्ष भी समुद्र है। यथा "**स उत्तरस्मादधरं समुद्रमपो दिव्या असृजद् वर्ष्या अभि**" (ऋ० १०.९८.५) में "उत्तरस्मात्" द्वारा ऊपर अर्थात् अन्तरिक्ष के समुद्र का कथन किया है। चन्द्रमा इस समुद्र की पीठ पर दौड़ रहा है। इतने सामर्थ्यवान् चन्द्रमा को भी बुढ़ापा निगल जाता है। पलितः का अर्थ है "सिर के पके बाल" अर्थात् बुढ़ापा। यथा "**न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः**" (मनु०)। मन्त्र ८ में मृत्यु और पुनर्जन्म का वर्णन हुआ है, इसे ही चन्द्रमा के जन्म और मरण द्वारा पुनः निर्दिष्ट किया है, और मन्त्र में कहा है कि दिव्यगुणी परमेश्वर के वेदकाव्य को देखा कर, पढ़ा कर, यह काव्य बड़े महत्त्व का है, यदि तू जन्म-मृत्यु की शृङ्खला से छूटना चाहता है। काव्यम्—देखो अथर्व० १०.८.३२; ५.१.५; ५.११.२-३]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात्।

स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिरा विवेश॥ १०॥

अर्थ—(यः) जो व्यक्ति (ईम्) इस गर्भाधान को (चकार) करता है (सः) वह (अस्य) इसके परिणाम को (न वेद) नहीं जानता, (सः) वह (मातुः योना) माता की योनि में (अन्तः परिवीतः) अन्दर घिरा हुआ, या जरायु से घिरा हुआ, (बहुप्रजाः) बहुत बार पैदा होता हुआ, या बहुत सन्तानों वाला हुआ, (निर्ऋतिः) मूर्तिमान् कष्टरूप हुआ (आ विवेश) संसार में प्रवेश पाता रहता है। और (यः) जो व्यक्ति (ईम्) इस गर्भाधान के परिणाम को (ददर्श) प्रत्यक्ष कर लेता है (तस्मात्) उस कर्म से वह (हिरुक्) अपने आप को अन्तर्हित कर लेता है, पृथक् कर लेता है।

[मन्त्र ८, ९, १० की भावनाएँ समान हैं। **हिरुक् निर्णीतान्तर्हितनाम** (निघं० ३.२५); तथा **हिरुक् वर्जने** (अव्ययार्थ वेदाङ्गप्रकाश (महर्षि दयानन्द)। निर्ऋतिः, कृच्छ्रापत्तिः, तथा पृथिवी (निरुक्त २.२.८)]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम्।

स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः॥ ११॥

अर्थ—(अनिपद्यमानम्) न नष्ट होते हुए अविनाशी, (गोपाम्) इन्द्रिय आदि के रक्षक, (आ च परा

च) समीप के तथा दूर के (पथिभिः) मार्गों द्वारा (चरन्तम्) विचरते हुए जीवात्मा को (अपश्यम्) मैंने साक्षात् कर लिया है, देख लिया है। (सः) वह (सध्रीचीः) साथ-साथ चलने वाली, (सः) वह (विषूचीः) तथा विविध मार्गों में अर्थात् आड़े चलने वाली नस-नाड़ियों द्वारा (वसानः) आच्छादित होता रहता है, और (भुवनेषु अन्तः) भुवनों के भीतर (आ वरीवर्ति) बार-बार आता है।

[प्रकरणानुसार मन्त्र में जीवात्मा का वर्णन है, न सूर्य का, और न परमेश्वर का। जीवात्मा के साक्षात् का अभिप्राय है समाधि द्वारा आत्मा और अनात्मा का विवेकज्ञान]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

द्यौर्नः पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्नो माता पृथिवी महीयम्।
उत्तानयोश्चम्वोर्३र्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात्॥ १२॥

अर्थ—(द्यौः) द्युलोक या द्युतिमान् सूर्य (नः) हमारा (पिता, जनिता) जन्मदाता पिता है, (अत्र) इस एक जन्मदाता के होते (नाभिः) हम सबका परस्पर सम्बन्ध है। (इयम्) यह (मही) महनीया (पृथिवी) पृथिवी (माता) माता भी (नः बन्धुः) हमें परस्पर में बाँधने वाली है।

(उत्तानयोः) ऊपर की ओर तने हुए, उभरे हुए (चम्वोः) द्यौः अर्थात् द्युलोक और पृथिवी के (अन्तः) अन्तराल अन्तरिक्ष में (योनिः) योनि है। (अत्र) इस योनि में (पिता) पिता अर्थात् द्युलोक या द्युतिमान् सूर्य (दुहितुः) निज दुहिता सम्बन्धी (गर्भम्[१]) गर्भकारी मेघ को (आ अधात्) अन्तरिक्ष में सब ओर फैला कर स्थापित करता है।

[मन्त्र में दो भावनाओं का युगपत् समावेश किया है। इसलिए इन दो भावनाओं को दो सन्दर्भों में पृथक्-पृथक् दर्शाया है। प्रथम सन्दर्भ में हम सबका पिता, द्यौः कहा है, और माता पृथिवी कही है। इस प्रकार इनसे उत्पन्न हुए हम सब में परस्पर भाइयों तथा बहियों का सम्बन्ध द्योतित किया है। दूसरे सन्दर्भ में पिता और दुहिता का कथन हुआ है। सूर्य पिता है और पृथिवी दुहिता। पृथिवी सूर्य के शरीर से विभक्त हुई है, अतः दुहिता है। पिता का कर्त्तव्य है कि निज दुहिता के सम्बन्ध में उचित पति का प्रबन्ध करे। वह उचित पति है अन्तरालस्थ, वर्षा ऋतु का चारों ओर फैला हुआ मेघ[१]। मेघ निज वर्षारूपी वीर्य द्वारा इस दुहिता में गर्भ स्थापन करता है, जिससे प्राणी और अन्नादि पैदा होते हैं। मन्त्र में यह वर्णन नहीं कि पिता ने दुहिता में गर्भ स्थापन किया। इस अर्थ में दुहितुः के स्थान में दुहितरि पाठ चाहिए।

''उत्तानयोः'' द्वारा पृथिवी और द्युलोक को ऊपर की ओर उभरे हुए दर्शाया है। इस द्वारा इन दोनों की आकृति गोलाकार सूचित की है। गोल वस्तु सब ओर उभरी हुई होती है। **''चम्वौ द्यावापृथिवीनाम''** (निघं० ३.३०)। नाभिः=**णह बन्धने**। बन्धु का भी यौगिक अर्थ बन्धन ही है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः पृच्छामि वृष्णो अश्वस्य रेतः।
पृच्छामि विश्वस्य भुवनस्य नाभिं पृच्छामि वाचः परमं व्योम॥ १३॥

---

१. गर्भः=The offspring of the sky, the vapours and fogs drawn upwards by the rays of the sun during 8 months and sent down again in the rainy season आप्टे। इस प्रकार ''गर्भ'' का अर्थ ''मेघ'' भी है।

अर्थ—(त्वा) तुझ से (पृथिव्याः) पृथिवी के (परम् अन्तम्) परम अन्त को (पृच्छामि) मैं पूछता हूँ, (पृच्छामि) मैं पूछता हूँ (वृष्णः अश्वस्य) वर्षा करने वाले अश्व का (रेतस्) वीर्य कौन सा है? (पृच्छामि) मैं पूछता हूँ कि (विश्वस्य भुवनस्य) समग्र भूमि का (नाभिम्) केन्द्र कहाँ है? (पृच्छामि) मैं पूछता हूँ (वाचः) वाणी का (परमं व्योम) परम रक्षक कौन है?

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**जगती**॥

इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतः।
अयं यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिर्ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम॥ १४॥

अर्थ—(इयम्, वेदिः) यह वेदि (पृथिव्याः) पृथिवी का (परः अन्तः) परला अन्त है, (अयम्) यह (सोमः) चन्द्रमा (वृष्णः) वर्षा करने वाले तथा किरणों से व्याप्त (अश्वस्य) सूर्य का (रेतस्) वीर्य है। (अयम्, यज्ञः) यह यज्ञ (विश्वस्य भुवनस्य) समग्र भूमण्डल की (नाभिः) नाभि है, (अयम्, ब्रह्म) यह ब्रह्मा है (वाचः) वाणी का (परमम् व्योम) आकाशवत् परम रक्षा स्थान है।

[पृथिवी गोल है। गोल वस्तु का प्रारम्भिक बिन्दु और अन्त का बिन्दु कोई निश्चित नहीं होता। उसका प्रत्येक बिन्दु प्रारम्भिक बिन्दु है और अन्तिम बिन्दु भी। वैदिक धर्म यतः यज्ञप्रधान है, इस दृष्टि से यज्ञ के स्थान वेदि को पृथिवी का परम अन्त कह दिया है।

सोम है चन्द्रमा। उसकी पूर्णता तथा कलाक्षय सूर्य पर निर्भर है। सूर्य की एक रश्मि "सुषुम्णः[१]" चन्द्रमा को प्रकाशित कर उसके स्वरूप का निर्माण करती है। यह रश्मि है सूर्य का रेतस्, इससे मानो चन्द्रमा का जन्म होता है। इसलिए सोम को सूर्य का रेतस् कहा है। यह सूर्य वर्षा का कारण है, इसलिए इसे "वृष्णः" कहा है, यह रश्मियों से व्याप्त है, इसलिए इसे अश्व कहा है "**अशूङ् व्याप्तौ**"। वृष्णः का अर्थ रेतस्-वर्षक भी अभिप्रेत है, मानो सूर्यरूपी अश्व, चन्द्रमा पर रश्मिरेतस् की वर्षा करता है।

भुवन की नाभि है यज्ञ। गर्भस्थ शिशु नाभि द्वारा माता से पुष्टि पाता है, भुवन की पुष्टि यज्ञरूपी नाभि द्वारा होती है—यह अभिप्राय है।

वाणियों का सम्बन्ध आकाश के साथ है "आकाशगुणः शब्दः"। वेदवाणियों का आश्रय या रक्षक ब्रह्मा है, जगत्कर्तृत्वरूप में ब्रह्म है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

न वि जानामि यदिवेदमस्मि निण्यः संनद्धो मनसा चरामि।
यदा मागन्प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः॥ १५॥

अर्थ—(यद् इव) जिस प्रकार का (इदम्) यह (अस्मि) मैं हूँ (न विजानामि) इस को मैं ठीक प्रकार से नहीं जानता। (निण्यः) निज स्वरूप से अन्तरित हुआ मैं (मनसा सन्नद्धः) मन द्वारा बन्धा हुआ (चरामि) विचरता हूँ। (यदा) जब (ऋतस्य) सत्यज्ञान का (प्रथमजाः) प्रथम जनयिता परमेश्वर (मा) मुझे (आगन्) प्राप्त होता है (आत् इत्) इसके पश्चात् ही, (अस्याः वाचः) इस वेदवाणी के (भागम्) फल को (अश्नुवे) मैं प्राप्त करता हूँ, या इस वाणी का मैं भागी बनता हूँ। [निण्यम् अन्तर्हितनाम

१. "**सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः**" (यजुः० १८.४०)। गन्धर्वः=गां सूर्यरश्मिं धरतीति। सुषुम्णः=**सु+सुम्नम्** (**सुखनाम** निघं० ३.६)। सूर्य की रश्मि चन्द्रमा पर पड़ कर सुखदायी हो जाती है। गर्मी नहीं देती।

(निघं० ३.२५)]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतो मर्त्यो मर्त्येना सयोनिः।

ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्य१न्यं चिक्युर्न नि चिक्युरन्यम्॥ १६॥

अर्थ—(अमर्त्यः) न मरने वाला जीवात्मा, (मर्त्येन) मरणधर्मा मन के साथ, (सयोनिः) समान मातृयोनि में जाने वाला, (स्वधया) निजनिहित संस्कारों द्वारा (गृभीतः) जकड़ा हुआ, (अपाङ् प्राङ्) अपकृष्ट प्रकृष्ट योनियों में (एति) आता जाता है। (ता) वे दोनों अर्थात् मन और जीवात्मा (शाश्वन्ता) शाश्वत काल से परस्पर बन्धे हुए हैं, (विषूचीना) सर्वत्र विचरते हैं, (वियन्ता) विविध योनियों में जाते हैं। लोग (अन्यम्) एक को अर्थात् मन को तो (नि चिक्युः) जानते हैं, (अन्यम्) अन्य अर्थात् जीवात्मा को (न निचिक्युः) नहीं जानते है।

[अपाङ् प्राङ् नीचे योनि और प्रकृष्ट योनि]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**जगती**॥

सप्तार्धगर्भा भुवनस्य रेतो विष्णोस्तिष्ठन्ति प्रदिशा विधर्मणि।

ते धीतिभिर्मनसा ते विपश्चितः परिभुवः परि भवन्ति विश्वतः॥ १७॥

अर्थ—(सप्त अर्धगर्भाः) आधे-गर्भरूप सात—अर्थात् महत्तत्त्व, अहंकार, तथा पञ्चतन्मात्राएँ—(भुवनस्य रेतः) सत्ता वाले संसार के उपादान कारण हैं, वे (विधर्मणि) विविध संसार के धारण में (विष्णोः) सर्वव्यापक परमेश्वर के (प्रदिशा) प्रदिष्ट मार्ग द्वारा या आज्ञा द्वारा (तिष्ठन्ति) स्थित हो रहे हैं। (ते) वे सात (विपश्चितः) मेधावी परमेश्वर के (धीतिभिः) कर्मों के द्वारा, (ते) वे सात (मनसा) मेधावी परमेश्वर के मनन या संकल्प के द्वारा (परिभुवः) सौर पृथिवी के सब ओर, तथा (विश्वतः) विश्व के (परिभवन्ति) सब ओर विद्यमान हैं।

[सप्त अर्धगर्भाः=वे सात, प्रकृति से पैदा हुए हैं अतः कार्यरूप हैं, और भूत भौतिक संसार के उपादान हैं अतः कारणरूप भी हैं। अतः इन सात में कार्यरूपता और कारणरूपता अर्ध-अर्ध रूप में स्थित है[१]। धीतिभिः=कर्मों अर्थात् क्रियाशक्तियों के अनुसार, अनुकूल। यथा "**स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च**" (श्वेता० उप० ६.८), परमेश्वर में "ज्ञान बल क्रिया" स्वाभाविकी है, अर्थात् उसमें अनन्त ज्ञान, अनन्त बल और अनन्त क्रिया है, जो कि स्वाभाविक है। जो परमेश्वर निष्क्रिय होता तो जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय न कर सकता। इसलिए वह विभु तथापि चेतन होने से उसमें क्रिया भी है (सत्यार्थप्रकाश, सप्तम समुल्लास)। मन्त्र में धीतिभिः द्वारा परमेश्वर की क्रियाओं का वर्णन हुआ है। मनसा=परमेश्वर "सत्यसंकल्प" है। मनुष्य का मन संकल्प-विकल्पी है। **धीतिभिः=कर्मभिः** (निरुक्त ११.२.१६)]

---

१. यथा "**मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदादयः प्रकृतिविकृतयः सप्त**" (सांख्यकारिका)। जैसे कि माता के पेट में ५, ६ मासों का शिशु, वीर्य का कार्य और भावी बच्चे का कारण होता है, इस प्रकार वह विकृति और प्रकृति—इन दोनों रूपों में होता है। यही अवस्था महदादि की है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

ऋचो अक्षरे परमे व्योमिन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः।

यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्ते अमी समासते॥ १८॥

अर्थ—(ऋचः) ऋग्वेदादि के प्रतिपाद्य (यस्मिन्) जिस (अक्षरे) अविनाशी (परमे) सर्वोत्तम (व्योमन्) आकाशवत् व्यापक परमेश्वर में (विश्वे देवाः) समस्त सूर्य आदि दिव्य पदार्थ (अधि निषेदुः) आधेयरूप से स्थित हैं, (यः) जो (तत्) उस परब्रह्म को (न, वेद) नहीं जानता वह (ऋचा) ऋग्वेदादि द्वारा (किम्) क्या (करिष्यति) करेगा, (ये इत्) जो ही (तत्) उस परब्रह्म को (विदुः) जानते हैं (ते, अमी) वे ही ये (समासते) सम्यक् स्थिति वाले होते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ऋचः पदं मात्रया कल्पयन्तोऽर्धर्चेन चाक्लृपुर्विश्वमेजत्।

त्रिपाद् ब्रह्म पुरुरूपं वि तष्ठे तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः॥ १९॥

अर्थ—(ऋचः) ऋग्वेदादि के प्रतिपाद्य (पदम्) पद [ओ३म्] को, (मात्रया) मात्रा [अ, उ, म्] में (कल्पयन्तः) कल्पित करते हुए वेदों ने, (एजत्) गतिमान् (विश्वम्) विश्व को (अर्धर्चेन) आधी-आधी ऋचा द्वारा (चाक्लृपुः) कल्पित या समर्थित किया है। (त्रिपाद्) तीन मात्राओं द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म (पुरुरूपम्) नानारूपों वाले विश्व पर (वि तष्ठे) अधिष्ठातृरूप में स्थित है, (तेन) उस ब्रह्म द्वारा (चतस्रः) चारों (प्रदिशः) दिशाएँ (जीवन्ति) सजीव हो रही हैं।

[''पदम्'' का अभिप्राय है ''ओ३म्'' अर्थात् तद् द्वारा प्रतिपाद्य ब्रह्म। यथा ''**सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योऽमित्येतत्**'' (कठ उपनिषद् २.१५)। इस उपनिषद् मन्त्र में ''पदम् और ओ३म्'' का वर्णन हुआ है जिसका निर्देश व्याख्येय मन्त्र १९ में, ''पदम्-तथा-मात्रयः'' द्वारा किया प्रतीत होता है।

यजुर्वेद ने आधी-आधी ऋचा द्वारा विश्व और त्रिपाद्-ब्रह्म का पूर्णतया कथन कर दिया है। यथा— ''**पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि**'' (३१.३); तथा ''**त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः**'' (३१.४)। ये दो आधी-आधी ऋचाएँ हैं, प्रत्येक आधी ऋचा द्वारा ''पाद और त्रिपाद्'' का कथन हुआ है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सूयवसाद्भगवती हि भूया अधा वयं भगवन्तः स्याम।

अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती॥ २०॥

अर्थ—(अघ्न्ये) हे अगम्ये विद्युत् (भगवती) ऐश्वर्यसम्पन्न तू हो, (अधा) तदनन्तर (वयम्) हम (भगवन्तः) ऐश्वर्यों वाले (स्याम) हों। (सूयवसाद्) तू उत्तम-यवस का भक्षण करती है, (तृणम्) तू निःसार तृणों को (अद्धि) खाया कर, (आ चरन्ती) मेघों में गति करती हुई तू (विश्वदानीम्) सदा (शुद्धम्, उदकम्, पिब) मेघस्थ शुद्ध उदक का पान किया कर। [विद्युत् अगम्या है, मेघीय विद्युत् प्राप्त नहीं की जा सकती। अघ्न्या=अ+हन् (गतौ)+यक् (उणा० ४.११२)। विद्युत् वर्षा द्वारा ऐश्वर्योत्पादिका है। इसके ऐश्वर्यवती होते हम भी ऐश्वर्यवान् होते हैं। यह जब वज्रपात करती है जब उत्तम-यवसों को

भी खा जाती है, भस्मीभूत कर देती है। उत्तम यवस हैं फलदार घने वृक्ष आदि। कवित्व भाषा में इसे कहा है कि तू निःसार तृणों को ही खाया कर, उन्हीं पर ही तेरा वज्रपात हुआ करे।

महर्षि दयानन्द कृत अर्थ—हे (अघ्न्ये) न हनन योग्य गौ के समान वर्तमान विदुषी! तू (सूयवसात्) सुन्दर सुखों को भोगने वाली, (भगवती) बहुत ऐश्वर्य वाली (भूयाः) हो, कि (हि) जिस कारण (वयम्) हम लोग (भगवन्तः) बहुत ऐश्वर्ययुक्त (स्याम) हों। जैसे कि (तृणम्) तृण को खा (शुद्धम्) शुद्ध (उदकम्) जल को पी, और दुग्ध देकर बछड़े आदि को सुखी करती है वैसे (विश्वदानीम्) समस्त जिसमें दान—उस क्रिया का (आचरन्ती) सत्य-आचरण करती हुई, (अथो) इसके अनन्तर सुख को (अद्धि) भोग, और विद्यारस को (पिब) पी। [मन्त्र में वाचक लुप्तोपमालंकार है] (ऋ० १.१६४.४०)।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**पञ्चपदाऽतिशक्वरी**॥

गौरिन्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी। अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा भुवनस्य पङ्क्तिस्तस्याः समुद्रा अधि वि क्षरन्ति॥ २१॥

अर्थ—(सलिलानि) जलों का (तक्षती) निर्माण करती हुई (गौः) माध्यमिका अर्थात् अन्तरिक्षस्था वाक् [विद्युत्] (मिमाय) शब्द करती है। वह (एकपदी....नवपदी) एक पदी आदि (बभूवुषी) होती हुई (सहस्राक्षरा) हजारों जल धाराओं को क्षरित करती हुई, (भुवनस्य) जल का (पंक्तिः) विस्तार करती है। (तस्याः अधि) उससे (समुद्राः) समुद्र (विक्षरन्ति) अलग-अलग क्षरित होते हैं। [पार्थिव समुद्र वर्षाजनित ही हैं]।

[**गौः वाङ्नाम** (निघं० १.११)। मिमाय=**माङ् माने शब्दे च** (जुहोत्यादिः) **तक्षती=कुर्वती** (निरुक्त ११.४.४०)। **सहस्राक्षरा=बहूदका** (निरुक्त ११.४.४०)। तथा अक्षरः, अक्षरम्, अक्षराः=उदकम् (निघं० १.१२)। भुवनस्यः, **भुवनम्, उदकनाम** (निघं० १.१२)। पंक्तिः=**पचि विस्तारवचने** (चुरादिः)।

एकपदी सम्भवतः एकपाद, द्विपाद आदि वाले मन्त्रों में वर्णित वाक् [विद्युत्]। निरुक्त में कहा है कि "**एकपदी मध्यमेन, द्विपदी मध्यमेन च आदित्येन च, चतुष्पदी दिग्भिः, अष्टापदी दिग्भिश्चावान्तरदिग्भिश्च, नवपदी दिग्भिश्चावान्तरदिग्भिचादित्येन च**"। अर्थात् इन ९ स्थानों में वाक् [विद्युत्] के होने के कारण वाक् [विद्युत्] एकपदी आदि है।

तथा गौः=वेद वाक् (**गौः वाङ्नाम**, निघं० १.११)। यह "एकपाद" आदि मन्त्रों में विभक्त है। यह सहस्राक्षरा अर्थात् हजारों अक्षरों [अर्थात् वर्णमाला के अक्षरों] द्वारा निर्मित है। शतपथ ब्राह्मण में तीन वेदों में १०८००×८० अक्षर कहे हैं (का० १०.४.२.२५)।

सलिलानि=बहुनाम (निघं० ३.१)। "बहु" शब्द विशेषण है, इसका उपयुक्त विशेष्य 'ज्ञान' प्रतीत होता है। अतः मन्त्र २१ में सलिलानि=बहूनि ज्ञानानि। वेदवाक् नानाविध ज्ञानों का निर्माण अर्थात् प्रकाश करती है। वेदवाक् से समुद्र क्षरित हुए हैं ४ वेद, जो कि ज्ञानसागर हैं]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति।
त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवीं व्यू दुः॥ २२॥

अर्थ—(हरयः) जल का हरण करने वाली, (सुपर्णाः) शीघ्रता से, पक्षियों के सदृश, उड़ने वाली

सूर्यरश्मियाँ, (कृष्णम्) काले (नियानम्) निचले मार्ग को प्राप्त हो कर, (अपो वसाना:) जल की ओढ़नी ओढे हुईं, (दिवम्) द्युलोक की ओर (उत्पतन्ति) उड़ जाती हैं। (ते) वे रश्मियाँ—जो कि जल से भरी होती हैं—(ऋतस्य) जल के (सदनात्) घर से (आववृत्रन्) लौटती हैं, (आत् इत्) तदनन्तर ही (पृथिवीम्) पृथिवी को (घृतेन) घृत द्वारा (व्यूदु:) गीली करती हैं, सींचती हैं। घृतेन=घी द्वारा तथा उदक द्वारा।

[कृष्णं नियानम्=कृष्ण वर्ण निचला-मार्ग है, अन्तरिक्ष। सूर्यरश्मियाँ प्रकाशमान सूर्य से, अन्तरिक्ष को प्राप्त होकर, पृथिवी से जलाहरण कर, द्युलोक की ओर उड़ जाती है। ग्रीष्मकाल में जलाहरण करती रहती हैं, और वर्षा ऋतु में पृथिवी पर जल बरसाती हैं। कविता में वर्णन हुआ है। **सुपर्णाः आदित्यरश्मयः। "सुपर्णा रश्मयः"** (निघं० १.५)। ऋतस्य, **"ऋतम् उदकनाम"** (निघं० १.१२)। घृतेन, **"घृतम् उदकनाम"** (निघं० १.१२)। व्यूदु:=वि+**उन्दी क्लेदने** (रुधादि:)। घृतेन का अभिप्राय घी भी है। रश्मियाँ जल सींचती हुईं मानो घृत सींचती हैं। जल द्वारा घास, ओषधियाँ वनस्पतियाँ प्रभूत मात्रा में उत्पन्न होती हैं, और इनका भक्षण कर गौएँ दुग्ध और घृत प्रदान करती हैं]।

ऋषि:—**ब्रह्मा**॥ देवता—**मित्रावरुणौ**॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्**॥

अपादेति प्रथमा पद्वतीनां कस्तद्वां मित्रावरुणा चिकेत।
गर्भो भारं भरत्या चिदस्या ऋतं पिपर्त्यनृतं नि पाति॥ २३॥

अर्थ—(अपाद्) पादरहित उषा (पद्वतीनाम्) पादवाली प्रजाओं से (प्रथमा) पहले (एति) आती है, (मित्रावरुणा) हे सूर्य-और-चन्द्रमा! (वाम्) तुम दोनों में से (क:) कौन (तद्) उस घटना को (आ चिकेत) जानता है। (चित्) चिद्-ब्रह्म (गर्भ:) गर्भीभूत हुआ, (अस्या:) इस उषा के (भारम्) भार को (भरति) धारण करता है, या (भरति=हरति) ढो रहा है। वह गर्भ (ऋतम्) ऋत को (पिपर्ति) पालित करता है, और (अनृतम्) अनृत को (निपाति) पूर्णतया पी जाता है, निगल जाता है।

["अपाद्" उषा पाद वाली प्रजाओं से पहले आती है, अर्थात् उषा तो निज कार्य में व्याप्त हो जाती है जब कि पादों वाले मनुष्य अभी अपने अपने निज कार्यों मे व्याप्त नहीं होने पाते। इस तथ्य को न तो सूर्य जानता है, और न चन्द्रमा। क्योंकि जब उषा आती है उस समय द्युलोक में न सूर्य की स्थिति होती है, न चन्द्रमा की। सूर्य उषा के पश्चात् उदित होता है, और चन्द्रमा रात को।

परन्तु प्रश्न यह है कि उषा का संचालन कौन करता है? वेद ने उत्तर दिया कि "चिद्", चिद्-ब्रह्म उषा में गर्भरूप में स्थित है। जैसे सारथि रथ में स्थित हुआ रथ का संचालन करता है,या ड्राईवर मोटर या इञ्जन में स्थित हुआ मोटर और इञ्जन का संचालन करता है इसी प्रकार चिद्-ब्रह्म उषा के गर्भ में स्थित हुआ उषा का संचालन करता है। पिपर्ति=**पॄ पालनपूरणयो:** (जुहोत्यादि:)। निपाति=पा को पिब आदेश नहीं हुआ। अत: निपाति[१]=नितरां पिबति, निगिरति]।

ऋषि:—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौ:, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्द:—**चतुष्पदा पुरस्कृतिर्भुरिगति जगती**॥

विराड्वाग्विराट् पृथिवी विराडन्तरिक्षं विराट् प्रजापतिः। विराण्मृत्युः
साध्यानामधिराजो बभूव तस्य भूतं भव्यं वशे स मे भूतं भव्यं वशे कृणोतु॥ २४॥

---

१. अथवा निपाति=नि+पै (शोषणे, भ्वादि:) नितरां सुखा देता है। वैदिक प्रयोग।

अर्थ—(विराट्) "विविध जगत् का राजा" परमेश्वर (वाक्) वाक् (बभूव) हुआ है, (विराट् पृथिवी) विराट् पृथिवी हुआ है, (विराट् अन्तरिक्षम्) विराट् अन्तरिक्ष हुआ है, (विराट् प्रजापतिः) विराट् प्रजाओं का अधिपति सूर्य हुआ है। (विराट् मृत्युः) विराट् मृत्युरूप होकर संहार करता है, वह (साध्यानाम्) साधना करने वालों का (अधिराजः बभूव) अधिराज हुआ है, (भूतम्, भव्यम्) भूत और भविष्यत् (तस्य वशे) उसके वश में हैं, (सः) वह (भूतम्, भव्यम्) भूत और भविष्यत् को (मे वशे) मेरे वश में (कृणोतु) करे।

[मन्त्र में "विराट्" पद पुंल्लिङ्ग में है। इसलिए "तस्य" पद पुंलिङ्ग पठित है। मन्त्र में रूपकालंकार है, अतः तादात्म्य का वर्णन हुआ है। "मे वशे"—प्रार्थी प्रार्थना करता है कि विराट् उसे ऐसी शक्ति दे कि वह निज भूत और भविष्य का स्वयं यथेच्छ निर्माण करने वाला हो सके]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

शकमयं धूममारादपश्यं विषूवता पर एनावरेण।
उक्षाणं पृश्निमपचन्त वीरास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्॥ २५॥

अर्थ—(शकमयम्) प्रचुरशक्ति वाले (धूमम्) धूम को (आरात्) अपने समीप (अपश्यम्) मैंने देखा है, जो कि (विषूवता) अन्तरिक्ष में फैलने वाले (एना) इस प्रत्यक्ष (अवरेण) अवर धूम से (परः) उत्कृष्ट है। (उक्षाणम्) मुझ में शक्ति सींचने वाले, (पृश्निम्) संसार को स्पर्श किये हुए परमेश्वर को (वीराः) ध्यानवीर योगी (अपचन्त) परिपक्व करते हैं, अभिव्यक्त करते रहे हैं, या अभिव्यक्त करते हैं, (तानि) वे और उस प्रकार के (धर्माणि) धर्म कर्म (प्रथमानि) मुख्य या सर्वश्रेष्ठ (आसन्) रहे हैं, या हैं।

[मन्त्र में दो प्रकार के धूम का वर्णन हुआ है, अवर धूम का और "परः" धूम का। अवर धूम विषूवत् है, अन्तरिक्ष में फैलने वाला है। "**विष्लृ व्याप्तौ**"। और "परः धूम" समीपवर्ती है। **आरात् दूरसामीप्ययोः।** मन्त्र में "आरात्" का अर्थ है समीप। द्रष्टा ने इस समीप के धूम को देखा है। यह आध्यात्मिक धूम है, काष्ठ और शकृत्‌जन्य नहीं। आध्यात्मिक धूम का वर्णन श्वेताश्वतर उपनिषद् में हुआ है। यथा—

नीहारधूमार्कानलानिलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम्।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे॥ अध्याय २, खण्ड ११॥

कोहरा, धूम, सूर्य, अग्नि, वायु, जुगनू या आकाश में द्युतिमान् तारागण, स्फटिक, चाँद—ये रूप योगाभ्यास में प्रथम दृष्टिगोचर होते हैं, जो कि ब्रह्म की अभिव्यक्ति के सूचक होते हैं। मन्त्र २५ में इस आध्यात्मिक धूम का वर्णन हुआ है जिसे कि "परः" कहा है, श्रेष्ठ कहा है।

मन्त्र में "अपचन्त" पद पठित है, जिसका अर्थ "पकाना" प्रतीत होता है, साथ ही "उक्षा" पद भी पठित है जिसका प्रसिद्ध अर्थ है बैल। इन दो शब्दों को देखकर अथर्ववेद के आङ्गलभाषा में अनुवाद के कर्त्ता "ह्विटनी" ने अर्थ किया है "The heroes coocked a spotted ox", अर्थात् "वीरों ने चितकबरे बैल को पकाया"। अपचन्त में पच धातु है। भ्वादिगण में "**पचि व्यक्तीकरणे**" भी पठित हैं, जिसका अर्थ है "अभिव्यक्त करना"। श्वेताश्वतर उपनिषद् के प्रमाण में भी "अभिव्यक्तिकराणि"

ही पाठ है। इस प्रकार मन्त्र और श्वेताश्वतर में शब्दों और अर्थ में साम्य हो जाता है। "पचि" धातु यद्यपि आत्मनेपदी है, और "नुम्" की अपेक्षा करती है। परन्तु वैदिक प्रयोगों और लौकिक संस्कृत के प्रयोगों में प्राय: वैषम्य पाया जाता है। इसलिए अष्टाध्यायी में "**बहुलं छन्दसि**" कहा है। साथ ही पाकार्थक "पच्" धातु का अर्थ मन्त्र में संगत नहीं होता। "उक्षाणं पृश्निमपचन्त वीरा:" में यदि यह भावना हो कि "वीर" परमेश्वर का परिपाक करते हैं, उसे ध्यानाभ्यास में परिपक्व करते हैं तब "अपचन्त" में "पच्" धातु परिपाक अर्थ में भी संगत प्रतीत होती है]।

ऋषि:—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौ:, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्द:—**भुरिक् त्रिष्टुप्**॥

त्रय॑: के॒शिन॑ ऋतु॒था वि च॑क्षते संवत्स॒रे व॑पत॒ एक॑ एषाम्।
विश्व॑म॒न्यो अ॑भि॒चष्टे॒ शची॑भि॒र्ध्राजि॒रेक॑स्य ददृ॒शे न रू॒पम्॥ २६॥

अर्थ—(त्रय:) तीन (केशिन:) रश्मियों वाले, (ऋतुथा) अपने-अपने काल के अनुसार (वि चक्षते) निज ख्यातियाँ प्रकट करते हैं। (एषाम्) इनमें से (एक:) एक (संवत्सरे) वर्ष में (वपते) बीजावाप में सहायक होता है। (अन्य:) दूसरा (शचीभि:) निज शक्तियों या कर्मों द्वारा (विश्वम्, अभिचष्टे) विश्व को देखता है। (एकस्य) एक की (ध्राजि:) गति तो (ददृशे) देखी जाती है, अनुभूत होती है (न रूपम्) परन्तु रूप नहीं।

[केशिन:="**केशा रश्मय: तै: तद्वन्त:। काशनाद्वा प्रकाशनाद्वा**" (निरुक्त १२.३.२५)। त्रय:=तीन (१) **आदित्य:**; (२) **धूमेनाग्नि:**; (३) **रजसा च मध्यम:** (निरुक्त १२.३.२५-२६)। बीजावाप में सहायक होती है मेघीय विद्युत्। विश्व को देखता है आदित्य। रूपरहित है वायु। **शची कर्मनाम** (निघं० २.१)। "वपते" में "वप्" के दो अर्थ होते हैं, बीजसन्तान और छेदन। प्रथमार्थ में मेघीय विद्युत् अभिप्रेत है। द्वितीयार्थ में पार्थिवाग्नि। ग्रीष्म ऋतु में पार्थिवाग्नि वनों को जला देती है, उन्हें उच्छिन्न कर देती है]।

ऋषि:—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौ:, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्द:—**भुरिक् त्रिष्टुप्**॥

च॒त्वारि॒ वाक्परि॑मिता प॒दानि॒ तानि॑ विदुर्ब्राह्म॒णा ये म॑नी॒षिण॑:।
गुहा॒ त्रीणि॒ निहि॑ता॒ नेङ्ग॑यन्ति तु॒रीय॑ वा॒चो म॑नु॒ष्या॑ वदन्ति॥ २७॥

अर्थ—(वाक्) वाणी है (चत्वारि) चार (परिमिता) मापे हुए (पदानि) पद या वाणी के हैं चार स्थान (तानि) उन्हें (मनीषिण:) मन का संयम करने वाले (ब्राह्मणा:) वेदज्ञ (विदु:) जानते हैं। (त्रीणि) तीन पद (गुहा निहिता) गुहा [बुद्धि] में रखे हुए (न इङ्गयन्ति) गति नहीं करते अर्थात् अज्ञात रहते हैं, (वाच:) वाणी के (तुरीयम्) चतुर्थांश को (मनुष्या:) मनुष्य (वदन्ति) बोलते हैं।

[चत्वारि=नाम, आख्यात, उपसर्ग, (महर्षि दयानन्द)। परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी—ये ४ पद अर्थात् शब्द [सुबन्त, तिङन्त पद] हैं, या चार इनके स्थान हैं। चारों वेदों के स्वरूपों और स्थानों को वेदज्ञ मनीषी जानते हैं। तीन पद तो बुद्धि में या गुफा में मानो छिपे रहते हैं। सब मनुष्य केवल वाणी के चतुर्थांश [वैखरी] को बोलते हैं। परा=बुद्धि के अन्त:स्थल में अज्ञायमान संस्कार रूप में वर्तमान वाणी। पश्यन्ती=बुद्धि में विभक्त पदों में निष्ठ वाणी। मध्यमा=मन में अशब्दरूप में निष्ठ विचाररूपा वाक्यवाणी। वैखरी=कण्ठ तथा मुखावयवों द्वारा खर अर्थात् कठोर स्वरूपा बोली जाने वाली वाणी]।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—गौः, विराट्, अध्यात्मम्॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

इन्द्रं मि॒त्रं वरु॑णम॒ग्निमा॑हु॒रथो॑ दि॒व्यः स सु॑प॒र्णो ग॒रुत्मा॑न्।

एकं॒ सद्विप्रा॑ बहु॒धा व॑द॒न्त्य॒ग्निं य॒मं मा॑त॒रिश्वा॑नमाहुः॥ २८॥

अर्थ—(विप्राः) मेधावीजन (एकम् सत्) एक परमेश्वर को (इन्द्रम्, मित्रम्, वरुणम्, अग्निम्) इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि (आहुः) कहते हैं, (अथो) तथा (सः) वह (दिव्यः) दिव्य गुणों वाला (सुपर्णः) सुपालक तथा (गरुत्मान्[१]) महान्-आत्मा है। विप्र लोग (एकम् सद्) एक होते हुए को (बहुधा) बहुत प्रकार से अर्थात् बहुत नामों से (वदन्ति) कहते हैं, उसे (अग्निम्, यमम्, मातरिश्वानम्) अग्नि, यम और मातरिश्वा (आहुः) कहते हैं।

[मन्त्र में "अग्निम्" पद दो बार पठित है। अतः एक अग्नि पद द्वारा निरुक्तानुसार "अग्रणी" अर्थ उपयुक्त प्रतीत होता है। महर्षि दयानन्द ने दो बार पठित अग्नि की दृष्टि से मन्त्र के भावार्थ में दो प्रकार की अग्नियाँ कही हैं। यथा "जैसे अग्न्यादि पदार्थों के इन्द्रादि नाम हैं, वैसे एक परमात्मा के अग्नि आदि सहस्रों नाम वर्तमान हैं। जितने परमेश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव हैं, उतने ही इस परमात्मा के नाम हैं"।

(ऋ० १.१६४.४३)। सुपर्णः=सुपालकः [**पॄ पालनपूरणयोः**]। गरुत्मान्=महान् आत्मा। गरु (गुरु, महान्)+त्मान् (आत्मा)। यथा त्मना=आत्मना (अथर्व० ५.१७.११; ७.५०.१; २०.१६.७ आदि)। गरुत्मान्="**गुर्वात्मा, महात्मेति वा**" (निरुक्त ७.५.१८)।

पञ्चम अनुवाक समाप्त॥

इत्येकविंशः प्रपाठकः॥

नवम काण्ड का भाष्य सम्पूर्ण हुआ॥

१. "गरुत्मान्" का अर्थ "गरुड़" पक्षी भी होता है (अथर्व० ४.६.३)। सुपर्णः=उत्तम पंखों वाले गरुड़ के समान शक्तिशाली। पक्षियों में सर्वाधिक शक्तिवाला गरुड़ माना गया है।

अथवा "**अथापि ब्राह्मणं भवति 'अग्निः सर्वा देवताः'** (ऐ० ब्रा० २, ३)। **तस्य इदं भूयसे निर्वचनाय। इन्द्रादींश्च अग्निम् आहुः। अथो दिव्यः स सुपतनः गरण तामादित्यश्च। एकमेव सन्तमग्निं बहुशरीरपरिग्रहात् बहुधा वदन्ति। अग्निम् एव यमम् मातरिश्वानम् च आहुः**" (ऋ० १.१६४.४३, वेङ्कट माधव)। आदित्य गरणवान् है, आदित्य उदित होते सितारों, चन्द्रमा और रात्री को निगीर्ण कर लेता है।

दशम काण्ड

अथ द्वाविंशः प्रपाठकः ॥

अनुवाक १

सूक्त १

विषय-प्रवेश

(१)

सूक्त में कृत्या और उसके निवारण का वर्णन है। कृत्या का अर्थ है "छेदन" अर्थात् विनाश करने के साधन, "**कृती छेदने**" (तुदादिः, रुधादिः) कृत्या ४ प्रकार की है।

(१) विषकन्या, जोकि सर्वाङ्ग सुन्दर हो, वधू की तरह सजाई गई हो, जिसका निर्माण विषविद्या के जानने वाले चिकित्सकों, अर्थात् विष वैद्यों द्वारा हुआ हो (मन्त्र १)। विषकन्या उपहाररूप में विद्विष्ट राजा के लिए, शत्रुराष्ट्र के राजा द्वारा भेजी जाती है, ताकि उसके आलिङ्गन आदि से विद्विष्ट राजा विषाक्त हो जाए। राजा के विषवैद्य इसके स्वरूप को पहिचान कर इसे प्रेषक राजा के प्रति वापिस कर देते हैं (नुदामः)।

(२) दूसरी कृत्या है सेनारूप (मन्त्र २, ३, १५)।

(३) तीसरी कृत्या में कृष्यन्न, गौ आदि पशुओं, पुरुषों के खाद्य पदार्थों को विषाक्त कर देना।

जिसके निराकरण का वर्णन मन्त्र (४) में हुआ है। (४) चौथी कृत्या है विद्विष्ट राजा की भूमि में विस्फोटक पदार्थ गाड़ देने। इन्हें "निखातम्" तथा "निचख्नुः" द्वारा निर्दिष्ट किया है (मन्त्र १८, १९)। "वलग" आग्नेय-विस्फोटक है जो वलयाकार में घूमता हुआ अग्नि लगाता है (मन्त्र १९)।

(२)

वैदिक राजा शान्तिप्रिय है, वह सौम्य प्रकृति का है (२२), युद्धप्रिय नहीं। वह इस सम्बन्ध में "पाक" अर्थात् पवित्र विचारों वाला तथा अनागस है, अर्थात् आक्रमण करने वाला नहीं (११)। शत्रुसेना यदि आक्रमण भी करे तो सौम्यप्रकृति का राजा, शान्तिपूर्वक उसे वापिस चले जाने में प्रेरणा करता है; यथा "प्रत्यक् प्रतिप्रहिण्मः" त्वा प्रति प्रहिण्मः" (५, १५), अभिनिवर्तस्व (७), अथेहि यत एयथ (२८) आदि।

(३)

यदि शत्रुसेना हठीली ही हो और वापिस जाने को तैयार न हो तो, स्वरक्षार्थ युद्ध के लिए, राजा निज सेनाध्यक्ष को युद्धार्थ आज्ञा देवे (६)। सेनाध्यक्ष शत्रुसेना का भञ्जन करे (१५), उसका पूर्ण विनाश करे "मा उच्छिष एषाम्" (१७), योद्धाओं की ग्रीवाओं और पैरों तक को काट दे (२१)।

(४)

वैदिक शस्त्रास्त्र सूक्त में वर्णित—

(१) शम्भु; यह वारुणास्त्र प्रतीत होता है, जिस द्वारा वर्षा करा कर शत्रुओं को भिगो दिया जाए "स्नपयामसि" (९), इस द्वारा शत्रु सेना सर्वथा गीली हो जाती है, और उसके युद्धोपकरण गीले होकर आक्रमण करने में सहायक नहीं रहते, और खाद्य सामग्री भी खराब हो जाती है। शम्भु=**"शम् भावयतीति"**, जो युद्ध को शान्त कर देता है।

(२) ब्रह्माण्ड। यह बड़ा-घातक अस्त्र है "ब्रह्मनुत्तमपायति", ब्रह्मणा वीर्यावता (१३, १४)।

(३) उत्तम लोहे की बनी तलवारें "स्वायसा असयः" (२०)।

(४) इन्द्र (विद्युत्) तथा अग्नि के अस्त्र (२१)।

(५) वैद्युतास्त्र "विद्युतं देवहेतिम्, अस्यताम्" (२३)।

(६) तामसास्त्र, जिस द्वारा शत्रुओं में अन्धकार या धुआं फैलाया जाता है (३०)।

(७) जाल द्वारा शत्रुसेना को घेर लेना (३०)।

(५)

वैदिकदृष्टि में युद्ध पापकर्म है, "पापकृते" (२३), तथा "पापम्" (१०)। वैदिक राजा युद्धों के दुष्परिणामों की दृष्टि से युद्धों के सर्वथा परित्याग का संकल्प करता है (३२)।

(६)

युद्ध पर विजय पाकर वैदिक सेनाध्यक्ष, विजितराष्ट्र में, युद्ध में मृतपुत्रों वाली माताओं को आश्वासन देने और सहानुभूति प्रकट करने के लिए जाये (१०)।

ऋषिः—**प्रत्यङ्गिरसः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**महाबृहती** ॥

यां कल्पयन्ति वहतौ वधूमिव विश्वरूपां हस्तकृतां चिकित्सवः।
सारादेत्वप नुदाम एनाम्॥ १ ॥

अर्थ—(चिकित्सवः) चिकित्सक, (वहतौ) विवाह में (वधूम् इव) वधू के सदृश, (याम्) जिसे (विश्वरूपाम्) सब ओर से सजी-सजाई या विश्व में रूपवती, (हस्तकृताम्) अपने हाथों द्वारा रची गई (कल्पयन्ति) निर्मित करते हैं, (सा) वह (आरात्) यदि समीप (एतु) आए तो (एनाम्) इसे (अप नुदामः) हम परे धकेल देते हैं।

[मन्त्र में विषकन्या का वर्णन हुआ प्रतीत होता है, और चिकित्सवः द्वारा विषवैद्यों का। परराष्ट्र के राजा के मारने हेतु, शत्रुराज्याधिकारी, निज विषवैद्यों द्वारा निर्मित की गई विषकन्या को प्रेषित करते हैं, ताकि विश्वरूपा कन्या के सम्पर्क द्वारा परराष्ट्र के राजा की मृत्यु हो जाए। आरात् का अर्थ है समीप। **आरात् दूरसमीपयोः।**

ऋषिः—**प्रत्यङ्गिरसः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**विराण्णाम गायत्री** ॥

शीर्षण्वती नस्वती कर्णिनी कृत्याकृता संभृता विश्वरूपा।
सारादेत्वप नुदाम एनाम्॥ २ ॥

अर्थ—(शीर्षण्वती) समझदार, (नस्वती, कर्णिनी) नाक, कान आदि अङ्गों वाली, (कृत्याकृता) हिंसा तथा मारने-काटने में कुशल, (संभृता) सैनिकसंभारों अर्थात् शस्त्रास्त्रों द्वारा सम्पुष्ट, (विश्वरूपा)

पदाति, अश्वारोही रथी, हस्ती आदि सैनिकाङ्गों के सब रूपों द्वारा सुसज्जित (आ) वह शत्रुसेना (आरात्) यदि हमारे समीप (एतु) आए तो (एनाम्) इसे (अप नुदामः) हम परे धकेल देते हैं।

[सेना का प्रत्येक सैनिक समझदार होना चाहिए, युद्धविद्या का ज्ञाता होना चाहिए। कोई भी सैनिक विकलाङ्ग तथा विकृताङ्ग न होना चाहिए]।

ऋषिः—**प्रत्यङ्गिरसः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

शूद्रकृता राजकृता स्त्रीकृता ब्रह्मभिः कृता। जाया पत्या नुत्तेव कर्तारं बन्ध्वृच्छतु॥ ३॥

अर्थ—(शूद्रकृता) शूद्रों द्वारा रची गई, (राजकृता) राजाओं द्वारा रची गई, (स्त्रीकृता) स्त्रियों द्वारा रची गई, (ब्रह्मभिः कृता) ब्राह्मणों द्वारा रची गई कृत्या अर्थात् शत्रुसेना (कर्तारम्) रचने वाले राष्ट्र को (ऋच्छतु) वापिस पहुँचे, (इव) जैसे कि (पत्या) पति द्वारा (नुत्ता) धकेली गई (जाया) पत्नी (कर्तारम्, बन्धु) उत्पादक बन्धु के प्रति लौट आती है।

[सेना में शूद्र भी होते हैं जो कि सड़कें बनाते, भार ढोते हैं। स्त्रियाँ खानपान को तैयार करतीं, विजय के लिए ब्राह्मण पूजा पाठ करते, राजा लोग सैनिक व्यय करते और सैनिकों की भर्ती कराते हैं]।

ऋषिः—**प्रत्यङ्गिरसः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अनयाहमोषध्या सर्वाः कृत्या अदूदुषम्।
यां क्षेत्रे चक्रुर्यां गोषु यां वा ते पुरुषेषु॥ ४॥

अर्थ—(अनया ओषध्या) इस ओषधि द्वारा (अहम्) मैंने (सर्वाः) सब प्रकार की (कृत्याः) कृत्याओं हिंस्रक्रियाओं को (अदूदुषम्) दूषित कर दिया है, (याम्) जिस कृत्या को (क्षेत्रे) खेत में (चक्रुः) उन्होंने किया है, (याम्) जिसे (गोषु) गौओं में, (याम् वा) या जिसे (ते) तेरे (पुरुषेषु) पुरुषों में किया है।

[ओषधि का प्रयोग करने वाला विषवैद्य है। मन्त्र में विष प्रयोग रूपी कृत्या का वर्णन है]।

ऋषिः—**प्रत्यङ्गिरसः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अघमस्त्वघकृते शपथः शपथीयते। प्रत्यक्प्रतिप्रहिण्मो यथा कृत्याकृतं हनत्॥ ५॥

अर्थ—(अघकृते) पापकर्म करने वाले के प्रति (अघम्) पाप (अस्तु) हो, जैसे कि (शपथः शपथीयते) शपथ, शपथ करने वाले के प्रति होती है। कृत्या अर्थात् हिंस्रोपकरण को, (प्रत्यक्) उसके प्रेषित करने वाले के प्रति (प्रतिहिण्मः) हम वापिस भेजते हैं (यथा) ताकि वह (कृत्याकृतम्) कृत्या करने वाले का (हनत्) हनन करे।

[दूसरे के लिए पापकर्म का विचार, विचारकर्त्ता के चित्त को दूषित कर उसके लिए ही परिणामरूप में दुःखदायक होती है। शपथ सदा झूठी होती है, जैसे कि निरुक्त में उदाहरण दिया है कि "**अद्या मुरीय यदि यातुधानोऽस्मि**" (७.१.३) कि "मैं आज ही मर जाऊं यदि मैं किसी को यातना अर्थात् कष्ट देने वाला हूँ"। परन्तु देखा जाता है कि शपथ लेने वाला उसी दिन मरता नहीं। यह झूठी शपथ उसके चित्त में बुरे परिणाम को ही पैदा करती है। जैसे अघ और शपथ, कर्त्ता को ही प्राप्त होते हैं, वैसे शत्रु द्वारा प्रेषित किये गये कृत्योपकरण उसके ही प्रति उसके हननार्थ भेज देने चाहिएँ, ताकि वह दोबारा वैसे प्रयत्न न कर पाए]।

ऋषिः—**प्रत्यङ्गिरसः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रतीचीन आङ्गिरसोध्यक्षो नः पुरोहितः। प्रतीचीः कृत्या आकृत्यामून्कृत्याकृतो जहि ॥ ६ ॥

अर्थ—(नः) हमारा (अध्यक्षः) सेनाध्यक्ष (पुरोहितः) सेना के अग्रभाग में निहित है, स्थापित किया हुआ है, (प्रतीचीनः) वह शत्रुसेना को पराङ्मुख कर देता है, (आङ्गिरसः) सेनाङ्गों का ज्ञाता है। (कृत्याः) शत्रु की हिंस्र सेनाओं को (प्रतीचीः) पराङ्मुख (आकृत्य) करके (अमून् कृत्याकृतः) उन सेनाध्यक्षों[१] और नायकों को (जहि) हे हमारे सेनाध्यक्ष! तू मार डाल।

ऋषिः—**प्रत्यङ्गिरसः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यस्त्वोवाच परेहीति प्रतिकूलमुदाय्यम्। तं कृत्येभिनिवर्तस्व मास्मानिच्छो अनागसः ॥ ७ ॥

अर्थ—(प्रतिकूलम्) शत्रुसेना के प्रतिकूल (उदाय्यम्) उत्थित हुए (त्वा) तुझ को हे हमारे सेनाध्यक्ष! (यः) जो परकीय सेनाध्यक्ष (उवाच) कहता है कि (परेहि इति) परे हट जा, हे (कृत्ये) हमारी सेना! (तम् अभि) उसके संमुख (निवर्तस्व) तू नितरां प्रवृत्त हो, और शत्रु के सेनाध्यक्ष को कह कि (अनागसः अस्मान्) हम निरपराधियों के [हनन की] (मा इच्छ) इच्छा न कर।

[उदाय्यम्=उद्+अय (गतौ), उद्गत हुए, उत्थित हुए। निरपराधियों के राष्ट्र पर आक्रमण करने का निषेध मन्त्र ने किया है]।

ऋषिः—**प्रत्यङ्गिरसः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यस्ते परूंषि सन्दधौ रथस्येवर्भुर्धिया। तं गच्छ तत्र तेयनमज्ञातस्तेयं जनः ॥ ८ ॥

अर्थ—(यः) जिसने [हे परकीय सेना] (ते) तेरे (परूंषि) जोड़ों को (संदधौ) जोड़ा है, (इव) जैसे कि (ऋभुः) तरवीन (धिया) बुद्धिपूर्वक (रथस्य) रथ के जोड़ों को जोड़ता है, (तम्) उसके प्रति (गच्छ) तू चली जा, (तत्र) वहाँ (ते) तेरा (अयनम्) आश्रय है, घर है, (अयम्) यह (जनः) जनसमुदाय अर्थात् जनपद (ते) तेरे लिए (अज्ञातः) अज्ञात सा हो जाए।

[सेना की कई टुकड़ियाँ होती हैं, उन को इकट्ठा करके सेना तैयार होती है; तथा सेना चतुरंगिणी होती है। प्रत्येक अङ्ग, सेना का एक जोड़ है। इन्हें परस्पर संग्रह करके मुख्य सेना बनती है। सर्वोपरि सेनापति निज बुद्ध्यनुसार इन्हें परस्पर जोड़ता है]।

ऋषिः—**प्रत्यङ्गिरसः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

ये त्वा कृत्वालेभिरे विद्वला अभिचारिणः।
शंभ्वी३दं कृत्यादूषणं प्रतिवर्त्म पुनःसरं तेन त्वा स्नपयामसि ॥ ९ ॥

अर्थ—हे [कृत्ये!] (ये) जो (विद्वलाः) सत्ताधारी (त्वा कृत्वा) तेरी रचना करके (आलेभिरे)

---

१. सैनिक तो आज्ञा से बन्धे हुए युद्धस्थली पर आते हैं। असल में युद्ध के लिए सेनापति आदि अधिकारी ही अपराधी होते हैं, इसलिए उन्हीं को मारने का कथन हुआ है। जैसे कि अथर्ववेद में अन्यत्र भी आदेश मिलता है। यथा—"**जयामित्रान् प्रपद्यस्व जह्येषां वरं वरं मामीषां मोचि कश्चन**"॥ (३.१९.८) "अमित्रों पर विजय पा, और अमित्र सेना में प्रवेश पा, इनमें से प्रत्येक श्रेष्ठ अधिकारी को मार डाल, इनमें से कोई भी श्रेष्ठ अधिकारी बच न पाए"। इस प्रकार वेदाज्ञानुसार, विजयानन्तर, सैनिकों का यथा सम्भव हनन न करते हुए, सेना के मुख्य-मुख्य अधिकारियों का हनन करना चाहिए।

स्वार्थलाभ वाले हुए हैं, वे (अभिचारिणः) अभिचारकर्म करने वाले हैं, अत्याचारी हैं। (शम्भु इदम्) यह शान्ति पैदा करने वाला [वारुणास्त्र] है, (कृत्यादूषणम्) हिंस्रसेना को दूषित कर देता है, और उसे (प्रतिवर्त्म) वापिसी के मार्ग पर (पुनः सरम्) फिर चला देता है, (तेन) उस द्वारा हे हिंस्रसेना! (त्वा) तुझे (स्नपयामसि) हम जलस्नान कराते हैं।

[विद्वलाः=विद् (सत्तायाम्)+वलच्। मन्त्र में वारुणास्त्र का वर्णन है, जोकि युद्ध सम्बन्धी शान्ति पैदा कर देता है। सेना को मारुशस्त्रास्त्रों द्वारा न मार कर, उन पर वारुणास्त्र द्वारा जल वर्षा करने का निर्देश हुआ है, जिसके प्रभाव से सेना वापिस चली जाती है]।

ऋषिः—**प्रत्यङ्गिरसः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यद्दुर्भगां प्रस्नपितां मृतवत्सामुपेयिम। अपैतु सर्वं मत्पापं द्रविणं मोप तिष्ठतु॥ १०॥

अर्थ—(मृतवत्साम्) मृतपुत्रा, (दुर्भगाम्) दुर्भागिनी, (प्रस्नपिताम्) शुद्धिस्नान कराई गई स्त्री को (यद्) जो (उपेयिम) हम प्राप्त हुए हैं, [तो वह कहती है कि] (सर्वम् पापम्) सब पापकर्म (मत्) मुझ से (अपैतु) हटा रहे, [ताकि] (द्रविणम्) धन और बल (मा) मुझे [पुनः] (उपतिष्ठतु) उपस्थित हो जाए।

[युद्ध में जिसका पुत्र मारा गया है वह मानो दुर्भागिनी हुई है। पुत्र के मृत होने पर शुद्धि-स्नान उसे करा दिया है। तदनन्तर विजयी सेनाधिकारी उसे मिले हैं। वह कहती है कि युद्ध कर्म पापकर्म है। ऐसे सब कर्म अर्थात् पुत्र को सेना में भर्ती कराना, उसे युद्धविद्या सिखा कर युद्ध के लिए भेजना आदि पापकर्म हैं, इनसे मैं भविष्य में पृथक् रहूँ। पुत्र के अभाव में मैं धनहीन भी हो गई हूँ, और अकेली होकर मैं अपने आप को निर्बल हुई भी पाती हूँ। पत्र के होते मुझे धन भी प्राप्त होता और शक्ति भी। अन्य किसी अपने पुत्र को मैं सैनिक न बनाऊंगी, ताकि उनकी सत्ता में धन और बल मुझे उपस्थित होते रहें। विजयी, सान्त्वनार्थ, जिस भी मृतपुत्रा माता को मिले हैं, उसके उद्गारों का वर्णन मन्त्र में हुआ है। पुत्रादि के मृत हो जाने पर शुद्धिस्नान का विधान मन्त्र में हुआ है। "**धनं द्रविणम् उच्यते....बलं वा**" (निरुक्त ८.१.१.)]।

ऋषिः—**प्रत्यङ्गिरसः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यत्ते पितृभ्यो ददतो यज्ञे वा नाम जगृहुः।
सन्देश्या३त्सर्वस्मात्पापादिमा मुञ्चन्तु त्वौषधीः॥ ११॥

अर्थ—(पितृभ्यः) पितरों के प्रति (यद्) जो (ददतः) दान देते हुए, (वा) या (यज्ञे) राष्ट्ररक्षायज्ञ में दान देते हुए, पितरों ने (ते) तेरा (नाम जगृहुः) नाम ग्रहण किया है, (सर्वस्मात्) सब प्रकार के (संदेश्यात्) सामूहिक-देशरहित से हुए (पापात्) दुःखमय या शोकमय पाप से (इमाः ओषधीः) ये ओषधियाँ (त्वा) तुझे (मुञ्चन्तु) मुक्त कर दें, छुड़ा दें।

[प्रकरण युद्ध का है। पितर हैं रक्षा करने वाले राज्याधिकारी। इन अधिकारियों का युद्ध निमित्त दान देना, या निज पुत्र देना, अथवा युद्ध को "राष्ट्ररक्षायज्ञ" समझ कर आहुतिरूप में धन और सन्तान अर्पित करना "पापकर्म" है। क्योंकि जीवन मिला है कर्मफल भोग कर मोक्ष प्राप्त करने के लिए, न कि युद्ध में जीवन की बलि प्रदान करने के लिए। इस प्रदान में अधिकारी पितृवर्ग तेरे नाम को तो उद्घोषित करेंगे ही, ताकि तू यशस्वी हो सके। धनक्षय तथा पुत्रक्षय से तुझे शोक और सन्ताप तो होगा, परन्तु राज्याधिकारी

नानाविध ओषधियों द्वारा तेरे शोकसन्ताप को कम करने में यत्नवान् भी होंगे। भारतीय तत्त्ववेत्ताओं का कथन है कि देवता के निमित्त पशु को मार कर तन्निमित्त यज्ञ में मांसाहुति देना भी पापकर्म है। इसके लिए भी प्रायश्चित्त का विधान होता है, चाहे दैवत-कृपा से पशुयज्ञ करने वाले को फल मिला भी जाए। इसलिए राष्ट्रनिमित्त किये गये युद्ध में हिंसा भी पापकर्म ही है]।

ऋषिः—**प्रत्यङ्गिरसः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥

देवैनसात्पित्र्यान्नामग्राहात्संदेश्यादभिनिष्कृतात्।
मुञ्चन्तु त्वा वीरुधो वीर्येण ब्रह्मण ऋग्भिः पयस ऋषीणाम्॥ १२॥

अर्थ—(देवैनसात्) देवों अर्थात् इन्द्रियों द्वारा किये पाप से, (पित्र्यात्) माता-पिता द्वारा प्राप्त शारीरिक रोग से, (नामग्राहात्) निरपराधी का नाम लेकर उस पर दोषारोपणजन्य पाप से, (संदेश्यात्) देशहित की दृष्टि से किये गये सामूहिक पाप से, (अभिनिष्कृतात्) निष्कृति अर्थात् वैरनिर्यातन के रूप में किये गये पाप से (त्वा) तुझे (वीरुधः) ओषधियाँ (वीर्येण) निज शक्ति द्वारा (मुञ्चन्तु) मुक्त करें। तथा (ब्रह्मण) ब्रह्मोपासना द्वारा (ऋग्भिः) ऋचाओं के स्वाध्याय द्वारा, (ऋषीणाम्) ऋषियों के (पयस) दुग्ध सदृश सदुपदेशों द्वारा [विद्वज्जन] तुझे पापों से मुक्त करें।

[ब्रह्मण=ब्रह्मणा [पदपाठे], पयस=पयसा [पदपाठे]। देव=इन्द्रियाँ।

ऋषिः—**प्रत्यङ्गिरसः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**उरोबृहती** ॥

यथा वातश्च्यावयति भूम्या रेणुमन्तरिक्षाच्चाभ्रम्।
एवा मत्सर्वं दुर्भूतं ब्रह्मनुत्तमपायति॥ १३॥

अर्थ—(यथा) जैसे (वातः) झंझा वायु (भूम्याः रेणुम्) भूमि से धूल को, (च) और (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष से (अभ्रम्) मेघ को (च्यावयति) च्युत कर देती है, (एवा) इसी प्रकार (ब्रह्मनुत्तम्) ब्रह्मोपासना द्वारा धकेला गया (सर्वम् दुर्भूतम्) सब दुरित (यत्) मुझ से (अपायति) पृथक् हो जाता है। [दुरितम्=दुष्फल पाप]।

ऋषिः—**प्रत्यङ्गिरसः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अप क्राम नानदती विनद्धा गर्दभीव। कर्तॄन्नक्षस्वेतो नुत्ता ब्रह्मणा वीर्यावता॥ १४॥

अर्थ—[हे शत्रु सेना!] (विनद्धा) बन्धन से छुटी हुई (नानदती) रेंकती हुई (गर्दभी इव) गदही की तरह (नानदती) बार-बार चिल्लाती हुई तू (अप क्राम) हट जा, और (वीर्यावता) शक्ति वाले (ब्रह्मणा) वेदवेत्ता हमारे प्रधानमन्त्री[1] द्वारा (नुत्ता) धकेली गई तू (इतः) यहाँ से (कर्तॄन्) निज रचयिताओं के प्रति (नक्षस्व) गति कर चली जा।

[ब्राह्मण=अथवा शक्तिशाली ब्रह्मास्त्र द्वारा धकेली गई]।

ऋषिः—**प्रत्यङ्गिरसः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**चतुष्पदा विराड् जगती** ॥

अयं पन्थाः कृत्येति त्वा नयामोऽभिप्रहितां प्रति त्वा प्र हिण्मः।
तेनाभि याहि भञ्जत्यनस्वतीव वाहिनी विश्वरूपा कुरूटिनी॥ १५॥

१. वैदिक शासन व्यवस्थानुसार राजा तो क्षत्रिय होना चाहिए, परन्तु प्रधानमन्त्री ब्राह्मण।

अर्थ—(कृत्ये) हे परकीय हिंस्रसेना! (अयम् पन्थाः) यह मार्ग है, (इति) इस द्वारा (त्वा) तुझे (नयामः[1]) हम ले चलते हैं, (अभि प्रहिताम्) हमारी ओर भेजी हुई (त्वा) तुझे (प्रति) वापिस (प्रहिण्मः) हम भेज देते हैं। (तेन) उस मार्ग द्वारा (अभि याहि) निज देश की ओर चली जा (भञ्जती) हमारी सेना द्वारा भग्न हुई; (अनस्वती) रथों वाली, तथा (विश्वरूपा) युद्ध सम्बन्धी समग्ररूपों अर्थात् सामग्री आदि वाली, और (कुरूटिनी) बुरी तरह से लूट ली गई (वाहिनी[2] इव) बड़ी सेना की तरह।

[वाहिनी=सेना जिसमें कि ८१ हाथी हों, ८१ रथ, २४३ अश्व, तथा ४०५ पदाति हों (आप्टे)। कुरूटिनी=कु+**रुटि लुटि स्तेये** (भ्वादिः)। स्तेय का अभिप्राय यहाँ लूटना है। प्रबल सेना, परकीय सेना का माल चुराती नहीं, अपितु लूट लिया करती है]।

ऋषिः—**प्रत्यङ्गिरसः**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

परा॑क्ते॒ ज्योति॒रप॑थं ते अ॒र्वाग॒न्यत्रा॒स्मद॑य॑ना कृणुष्व।

परे॑णेहि नव॒तिं ना॒व्या॒३॒॑ अति॑ दु॒र्गाः स्रो॒त्या मा क्षणिष्ठा॒ः परे॑हि॥ १६॥

अर्थ—[हे परकीय सेना!] (पराक्) परे चले जाना (ते) तेरे लिए (ज्योतिः) ज्योति है, जीवन है, (अर्वाक्) इधर अर्थात् हमारी ओर आना (ते) तेरे लिए (अपथम्) कोई मार्ग नहीं, (अस्मद्) हमसे (अन्यत्र) अन्य स्थान में (अयना) निज आना-जाना (कृणुष्व) कर। (नाव्याः) नौकाओं द्वारा पार करने योग्य, (दुर्गाः) दुर्गम अर्थात् दुःस्तर, (नवतिम्) ९० (स्रोत्याः) प्रवहणशील नदियों को (अति) अतिक्रान्त करके (परेण इहि) परे चली जा, (मा क्षणिष्ठाः) ताकि तू हिंसित न हो, (परेहि) परे चली जा।

[अयना=अयनानि, **अय गतौ**। क्षणिष्ठाः=अक्षणिष्ठाः, **क्षणु हिंसायाम्** (तनादिः)। अथवा "मा क्षणिष्ठाः" क्षण भर भी यहाँ न ठहर। नवतिम्=अथवा "स्तुत्याः" अर्थात् बड़ी; नु (**णु स्तुतौ**)]।

ऋषिः—**प्रत्यङ्गिरसः**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**प्रस्तारपङ्क्तिः**॥

वात॑ इव वृ॒क्षान्नि मृ॑णीहि पा॒दय॒ मा गामश्वं॒ पुरु॑ष॒मुच्छि॑ष एषाम्।

क॒र्तॄन्नि॒वृत्ये॒तः कृत्येप्रजा॒स्त्वाय॑ बोधय॥ १७॥

अर्थ—(कृत्ये) छेदन-भेदन में कुशल हे हमारी सेना! (वातः इव) प्रचण्ड वायु जैसे (वृक्षान्) वृक्षों को वैसे तू परकीय सेना को (निमृणीहि) तोड़फोड़ और (पादय) गिरा दे, भूशायी कर दे; (एषाम्) इनकी (गाम्, अश्वम्, पुरुषम्) किसी भी गौ, अश्व और पुरुष को (मा उच्छिषः) शेष बचा न रख। (इतः निवृत्य) यहाँ से निवृत्त होकर (कर्तॄन्) शत्रुसेना के रचयिताओं को (अप्रजास्त्वाय) प्रजाहीन हो जाने की (बोधय) सूचना दे।

[कृत्या=**कृती छेदने**, छेदन-भेदन में कुशल सेना। मृणीहि=**मृण हिंसायाम्**। बोधय अप्रजास्त्वाय= शत्रुपक्ष को हे हमारी सेना! सूचित कर दे कि उनके अधिकारी शासक प्रजा से रहित कर दिये जाएँगे, अर्थात् उन से राज्य छीन लिया जाएगा। मन्त्र १६ में शत्रुसेना को युद्धस्थल से चले जाने का आदेश दिया है। परन्तु उसके न जाने पर, निज सेना को आदेश दिया है, उसके सर्वोच्छेद का]।

---

१. स्वकीय सेना, परकीय सेना को धकेलती हुई, उसे निज राष्ट्र तक पहुँचा दे, उसका विनाश न करे।

२. वाहिनी यद्यपि महाकाया और शक्तिमती होती है, तो भी उसे निज नीति तथा प्रबल शस्त्रास्त्रों के बल पर वापिस लौटा देना चाहिए, और परास्त करना चाहिए। और उसे लूट भी लेना चाहिए।

ऋषिः—प्रत्यङ्गिरसः ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

यां ते बर्हिषि यां श्मशाने क्षेत्रे कृत्यां वलगं वा निचख्नुः।
अग्नौ वा त्वा गार्हपत्येभिचेरुः पाकं सन्तं धीरतरा अनागसम्॥ १८॥

अर्थ—(ते) तेरे (बर्हिषि) जलों में (याम्) जिस (कृत्याम्) हिंस्रकर्म को (श्मशाने) तेरी श्मशान भूमि में, तथा (क्षेत्रे) तेरे खेतों में (याम्) जिस हिंस्रकर्म को [शत्रुजनों ने किया है], (वा) अथवा (वलगम्) वलय में गति करने वाले विस्फोटकों को (नि चख्नुः) तेरी भूमि में नीचे गाड़ा है, (वा) या (गार्हपत्ये अग्नौ) तेरी गार्हपत्य अग्नि के स्थल में [गाड़ा है], या (धीरतराः) तुझ से अधिक बुद्धिमानों अर्थात् शत्रु के अधिक चालाक जनों ने, (पाकम्, अनागसम्) आचार-विचार में पवित्र तथा पापरहित (त्वा) तुझ को (अभि चेरुः) लक्ष्य करके हिंस्रकर्म किया है, उस सब को [कर्तॄन् बोधय (मन्त्र १७)] इन हिंस्रकर्मों के करने वाले शत्रु अधिकारियों को बोधित करा।

[बर्हिषि; **बर्हिः उदकनाम** (निघं० १.१२)। मन्त्र में शान्तिप्रिय राजा या प्रधानमन्त्री के सम्बन्ध में शत्रुप्रयुक्त हिंस्रकर्मों का वर्णन हुआ है]।

ऋषिः—प्रत्यङ्गिरसः ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—चतुष्पदा जगती ॥

उपाहृतमनुबुद्धं निखातं वैरं त्सार्यन्वविदाम कर्त्रम्।
तदेतु यत आभृतं तत्राश्व इव वि वर्ततां हन्तु कृत्याकृतः प्रजाम्॥ १९॥

अर्थ—(उपाहृतम्) उपहार रूप में दिया गया, (अनुबुद्धम्[1]) तत्पश्चात् जान लिया गया; या (वैरम्) वैर भावना से (त्सारि[2]) गुप्तरूप में (निखातम्) गाड़ा गया (कर्त्रम्) काट-छांट करने वाला विस्फोटक (अनु अविदाम[1]) जिसे कि हम ने जान-पहचान लिया है, (तत्) वह (एतु) चला जाए, अर्थात् भेज दिया जाए (यतः) जहाँ से (आभृतम्=आहृतम्) लाया गया था, (तत्र) वहाँ (अश्वः इव) अश्व की तरह वह (निवर्तताम्) करवटें बदले, और (कृत्या कृतः) हिंस्र विस्फोटक के निर्माता की (प्रजाम्) प्रजा का (हन्तु) हनन करे।

[यह निखात विस्फोटक "वलग" है (मन्त्र १८), जो कि वलय गति में चक्कर काटता हुआ घूमता है, जैसे कि अश्व करवटें बदलता है]।

ऋषिः—प्रत्यङ्गिरसः ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—विराट् प्रस्तारपङ्क्तिः ॥

स्वायसा असयः सन्ति नो गृहे विद्मा ते कृत्ये यतिधा परूंषि।
उत्तिष्ठैव परेहीतोऽज्ञाते किमिहेच्छसि॥ २०॥

अर्थ—(स्वायसाः) उत्तम लोहे से बनी (असयः) तलवारें (नः) हम में से प्रत्येक के (गृहे) घर में (सन्ति) हैं, (कृत्ये) हे हिंस्र सेना! (विद्म) हम जानते हैं (यतिधा) जितने कि (ते) तेरे (परूंषि) जोड़ हैं। (उतिष्ठ एव इतः) तू यहाँ से उत्थान ही कर, (परा इहि) परे चली जा, (अज्ञाते) तेरी शक्ति को हम तृण समान भी नहीं जानते, ऐसी हे परकीय सेना! (इह) यहाँ (किम्) क्या (इच्छसि) तू चाहती है।

---

१. उपहार के, तथा निरवात के, स्वरूपों को हम ने जान लिया है।
२. त्सारि=**त्सर छद्मगतौ** (भ्वादिः); प्रच्छन्नरूप, गुप्तरूप।

[परूंषि=जोड़। सेना के चार जोड़ होते हैं, जिनके मेल से चतुरङ्गिणी सेना बनती है, हाथी, घोड़े, रथ और पदाति। मन्त्र में कहा है कि तेरे जोड़ों को हम जानते हैं कि वे जितने हैं, उनके लिए तो हमारी तलवारें ही पर्याप्त हैं। तू यहाँ छावनी डाले हुए है, यहाँ से उठ जा, यही तेरे लिए उचित है। तेरी शक्ति इतनी अल्प है कि हम तृण समान भी नहीं जानते। तेरी इच्छा पूरी नहीं हो सकती, तू यहाँ से चली ही जा]।

ऋषिः—**प्रत्यङ्गिरसः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ग्रीवास्ते कृत्ये पादौ चापि कर्त्स्यामि निर्द्रव।

इन्द्राग्नी अस्मान्रक्षतां यौ प्रजानां प्रजावती॥ २१ ॥

अर्थ—(कृत्ये) हे हिंस्र सेना! (ते) तेरी (ग्रीवाः) गर्दनों को, (च) और (पादौ अपि) प्रत्येक सैनिक के दो-दो पैरों को भी (कर्त्स्यामि) मैं सेनाध्यक्ष काट दूँगा, (निर्द्रव) तू निकल भाग। (इन्द्राग्नी) हमारा सम्राट् और प्रधानमन्त्री (अस्मान्) हमारी (रक्षताम्) रक्षा करते हैं, (यौ) जो दो कि (प्रजानाम्) हमारी विविध प्रजाओं के (प्रजावती=प्रजापति) प्रजापति हैं।

[इन्द्राग्नी; इन्द्र=सम्राट्। "**इन्द्रश्च सम्राट्**" (यजुः० ८.३७); इन्द्र के सहयोग से अग्नि है "ज्ञान प्रकाश" से प्रकाशित अग्रणी, अर्थात् प्रधानमन्त्री। "इन्द्राग्नी" पद द्वारा वैद्युतास्त्रों (मन्त्र २३) तथा आग्नेयास्त्रों की सत्ता को भी सूचित किया है। प्रजावती=प्रजापति (पैपलाद शाखा)]।

ऋषिः—**प्रत्यङ्गिरसः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**द्विपदाऽऽर्च्युष्णिक् (एकावसाना)** ॥

सोमो राजाधिपा मृडिता च भूतस्य नः पतयो मृडयन्तु॥ २२ ॥

अर्थ—(सोमः) चन्द्रमा की तरह शीतल अर्थात् सौम्य स्वभाव वाला (नः राजा) हमारा राजा है, जोकि (अधिपाः) हमारा रक्षक है, (च मृडिता) और सुख प्रदाता है, तथा (भूतस्य) पंचभूतों [पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश] के (पतयः) पति, अर्थात् जिन्होंने वैज्ञानिक ढंग द्वारा इन्हें अपने वश में कर लिया है वे (नः) हमें (मृडयन्तु) सुखी करें।

[अभिप्राय यह है कि हमारा राजा शान्तिप्रिय है, और हम उसके राज्य में सुखी हैं। यदि कोई परकीय शक्ति हम पर आक्रमण करेगी तो हमारे वैज्ञानिक, हमारी रक्षा करके हमें सुखी करेंगे। न हम युद्धप्रिय हैं, न किसी राष्ट्र पर आक्रमण करने के अभिलाषी हैं]।

ऋषिः—**प्रत्यङ्गिरसः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिपदा भुरिक् विषमा गायत्री** ॥

भवाशर्वावस्यतां पापकृते कृत्याकृते। दुष्कृते विद्युतं देवहेतिम्॥ २३ ॥

अर्थ—(भवाशर्वौ) भव और शर्व (पापकृते) पापकर्म करने वाले, (दुष्कृते) दुष्कर्मी, (कृत्याकृते) हिंस्रसेना के रचयिता के लिए (देवहेतिम्) देवों के अस्त्र (विद्युतम्) विद्युत् को (अस्यताम्) फैंके।

[भव=नागरिक प्रजा का अध्यक्ष। शर्वः=सैनिक प्रजा का अध्यक्ष; शृणातीति शर्वः; शॄ हिंसायाम् (क्र्यादिः)। जब आक्रमण करने वाली सेना के साथ युद्ध उपस्थित हो जाए तब भव और शर्व परस्पर सहमति से उस पर वैद्युतास्त्र प्रहार करें। सेना की रचना युद्धार्थ, पापकर्म है और दुष्कर्म है। देवहेतिः=देवाः विजिगीषवः सैनिकाः [**दिवु क्रीडाविजिगीषा....**"दिवादिः", भूतस्य पतयो वा (मन्त्र २२)] तेषां हेतिः, अस्त्रम्। विद्युत्=वैद्युतास्त्र (मन्त्र २१)। निज प्रजा में विप्लव-विद्रोह की सम्भावना में या स्वरक्षा

में सेना का निर्माण न पापकर्म है, न दुष्कर्म]।

ऋषिः—**प्रत्यङ्गिरसः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**प्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

यद्येयथ द्विपदी चतुष्पदी कृत्याकृता संभृता विश्वरूपा।

सेतो३ष्टापदी भूत्वा पुनः परेहि दुच्छुने॥ २४॥

अर्थ—[हे परकीय सेना] (यदि एयथ) यदि तू आई है (द्विपदी) दो अङ्गों वाली, (कृत्याकृता) हिंस्रसेना के रचयिता द्वारा (संभृता) युद्ध के संभारों द्वारा सम्यक् परिपुष्ट हुई या (विश्वरूपा) समग्ररूपों वाली अर्थात् (चतुष्पदी) चार अङ्गों वाली चतुरङ्गिणी सेना के रूप में आई है, (सा) वह तू (इतः) यहाँ से (अष्टापदी भूत्वा) आठ अङ्गों वाली होकर (पुनः) तू फिर (परा इहि) परे चली जा, (दुच्छुने) हे सुख को दुःख बनाने वाली या दुष्ट-कुतियारूप सेना!।

[मन्त्र में सेना के दो स्वरूप निर्दिष्ट किये हैं, द्विपदी अर्थात् पदाति और अश्वारोहियों वाली, तथा चतुष्पदी अर्थात् चार अङ्गों वाली चतुरङ्गिणी सेना। चार अङ्ग हैं पदाति, रथी, अश्वारोही तथा हाथी। यह ही चतुरङ्गिणी सेना का विश्वरूप है। स्वराष्ट्र रक्षक सेनाध्यक्ष, परकीय चतुरङ्गिणी सेना के प्रति कहता है कि तू जो हमारी राष्ट्र में आई है, यहाँ से परे चली जा, और स्वराष्ट्र रक्षक सेनाध्यक्ष निज प्रबल चतुरङ्गिणी सेना द्वारा परकीय सेना को खदेड़ कर उसका पीछा करता हुआ निज राष्ट्र से उसे निकाल देता है। इस निकालने में दोनों सेनाओं के रूप में यह अष्टापदी सेना हो जाती है। दुच्छुने! ''दु+शुनी'' (सम्बुद्धौ), अथवा ''दुः+शुनम्'' (सुखनाम, निघं० ३.६)। द्विपदी, चतुष्पदी में, पाद का अभिप्राय है अंग]।

ऋषिः—**प्रत्यङ्गिरसः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अभ्य१क्ताक्ता स्वरंकृता सर्वं भरन्ती दुरितं परेहि।

जानीहि कृत्ये कर्तारं दुहितेव पितरं स्वम्॥ २५॥

अर्थ—(स्वरंकृता) उत्तम प्रकार से अलंकृत हुई भी [हे परकीया चतुरङ्गिणी सेना] तू (अभ्यक्त) [रक्त से] लिपी हुई, और (अक्ता) जल द्वारा सिंचित हुई, (सर्वम्, दुरितम्) तथा युद्ध के सब दुष्परिणामों को (भरन्ती) धारण करती हुई (परा इहि) हमारे राष्ट्र से परे चली जा। (कृत्ये) हे हिंस्रसेना! (कर्तारं जानीहि) तू निजकर्त्ता को आश्रय जान, (इव) जैसे कि (दुहिता) पुत्री (स्वम् पितरम्) अपने पिता को आश्रयरूप में जानती है।

[परकीय चतुरङ्गिणी सेना के दो तरीके हैं, लौट जाने में। एक यह कि निज राष्ट्र रक्षक-सेनाध्यक्ष द्वारा खदेड़ी गई, बिना युद्ध किये, वह वापिस लौटा जाए। दूसरा यह कि वह युद्ध में घायल होकर पराजित हुई अपने राष्ट्र में चली जाए। पहिले तरीके का वर्णन मन्त्र २४ में हुआ है, और दूसरे का मन्त्र २५ में अक्ता (मन्त्र ९)]।

ऋषिः—**प्रत्यङ्गिरसः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

परेहि कृत्ये मा तिष्ठो विद्धस्येव पदं नय। मृगः स मृगयुस्त्वं न त्वा निकर्तुमर्हति॥ २६॥

अर्थ—(कृत्ये) हे हिंस्रसेना! (परा इहि) परे चली जा, (मा तिष्ठः) यहाँ न ठहर, (विद्धस्य) विद्ध हुए [मृग] के (इव) सदृश (पदम्) मार्ग को (नय) पकड़। (सः) वह परकीय सेनापति (मृगः) मृग

है, (त्वम्) और तू हमारा सेनापति (मृगयुः) मृग का शिकारी है। वह परकीय सेनापति (त्वा) तुझे (निकर्तुम्) नीचा करने की (न अर्हति) योग्यता नहीं रखता।

[निकर्तुम्; निकारः=Killing, Humiliation (आप्टे), अर्थात् हनन करना, अपमान करना]।

ऋषिः—**प्रत्यङ्गिरसः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

उत हन्ति पूर्वासिनं प्रत्यादायापर इष्वा।

उत पूर्वस्य निघ्नतो नि हन्त्यपरः प्रति॥ २७॥

अर्थ—(उत) तथा (पूर्वासिनम्) प्रथम-प्रहार करने वाले को (प्रति आदाय) प्रतीकाररूप में पकड़ कर, (अपरः) दूसरा [स्वराष्ट्र रक्षक सेनापति] (इष्वा) इषु द्वारा (हन्ति) मार डालता है। (उत) तथा (पूर्वस्य निघ्नतः) अर्थात् पहिले हत्या करने वाले को, (प्रति) प्रतिकार रूप में, (अपरः) स्वराष्ट्र रक्षक सेनापति (नि हन्ति) नितरां मार डालता है।

[मन्त्र में शत्रु के हनन में दो स्थितियों का वर्णन किया है। (१) यदि वह पूर्व प्रहार करे; (२) तथा यदि वह पूर्व हनन करे। प्रथम स्थिति में शत्रु द्वारा प्रथम प्रहार करना ही उसका अपराध है, दूसरी स्थिति में उस द्वारा किया जाने वाला वास्तविक हनन, महा-अपराध है। दोनों स्थितियों में वह मृत्यु-दण्ड के योग्य है। पूर्व प्रहार में यद्यपि कोई व्यक्ति मारा नहीं गया, तो भी प्रहारकर्त्ता की भावना में तो किये जाने वाला प्रहार, मारने के लिए ही तो है। पूर्वासिनम्=पूर्व+असु (प्रक्षेपे), प्रथम अस्त्र फैंकने वाले को]।

ऋषिः—**प्रत्यङ्गिरसः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिपदा गायत्री** ॥

एतद्धि शृणु मे वचोथेहि यत एयथ। यस्त्वा चकार तं प्रति॥ २८॥

अर्थ—[हे शत्रुसेना!] (एतद्) इस (मे) मेरे (वचः) वचन को (हि) निश्चय से (शृणु) तू सुन, (अथ) और (इहि) चली जा (यतः) जहाँ से (एयथ) तू आई है, (तम् प्रति) उसकी ओर [चली जा] (यः) जिसने (त्वा) तेरी (चकार) रचना की है।

ऋषिः—**प्रत्यङ्गिरसः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**मध्ये ज्योतिष्मती जगती** ॥

अनागोहत्या वै भीमा कृत्ये मा नो गामश्वं पुरुषं वधीः।

यत्रयत्रासि निहिता ततस्त्वोत्थापयामसि पर्णाल्लघीयसी भव॥ २९॥

अर्थ—(अनागोहत्या) निरपराधी की हत्या (वै) निश्चय से (भीमा) भयप्रद है, (कृत्ये) हे हिंस्रसेना! (नः) हमारी (गाम्, अश्वम्, पुरुषम्) गौओं, अश्वों और पुरुषों का (वधीः मा) वध न कर। (यत्र यत्र) हमारे राष्ट्र में जहां-जहाँ (निहिता असि) तू स्थित है (ततः) वहाँ-वहाँ से (त्वा) तुझे (उत्त्थापयामसि) हम उठा देते हैं, (पर्णात्) पत्ते से भी (लघीयसी) लघु (भव) तू हो जा।

[अनागोहत्या=अन् (नञ् नुट्)+आगः (अपराध, पाप, हत्या)। अभिप्राय यह कि हम ने, हे परकीय सेना! तेरे राष्ट्र के प्रति कोई अपराध नहीं किया, तो भी तू निरपराधियों की हिंसा के लिए हमारे राष्ट्र में आ बैठी है, तू यहाँ से उठ जा, नहीं तो हम बल प्रयोग द्वारा यहाँ से तुझे उठा देंगे। हमारी शक्ति के मुकाबले में तू पत्ते से भी हल्की है, तुच्छ है। इसलिए तू शनैः-शनैः वापिस होती जा और तेरी छावनियाँ हमारे राष्ट्र में हल्की होती जाएँ। ''पर्णाल्लघीयसी भव'' का अभिप्राय ''न त्वाऽहं तृणं मन्ये'' की उक्ति के सदृश भी है]।

ऋषिः—**प्रत्यङ्गिरसः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यदि स्थ तमसावृता जालेनाभिहिता इव।

सर्वाः संलुप्येतः कृत्याः पुनः कर्त्रे प्र हिण्मसि॥ ३०॥

अर्थ—(यदि स्थ) यदि तुम हो (तमसा) तामसिक मनोवृत्तियों से (आवृताः) घिरे हुए, या (जालेन) जाल द्वारा (अभिहिताः इव) बन्धे हुए के सदृश, तो (कृत्याः) हे हिंस्र सेनाओ! (सर्वाः) तो तुम सबका (संलुप्य) सम्यक् विलोप करके या तुम सब को लूट करके, (पुनः) फिर (कर्त्रे) तुम्हारे रचयिता के प्रति (प्रहिण्मसि) हम प्रेषित करते हैं, भेज देते हैं।

[संलुप्य; लुप्=विलोप, विनाश; तथा लूट लेना। संलुप्=To loot, Booty (आप्टे)। देखो "कुरूटिनी" (मन्त्र १५)। तमसा=तामसिक मनोवृत्तियों के कारण कर्त्तव्याकर्त्तव्य विवेक से शून्य हो। इसलिए निश्चय करने में अशक्त हो कि इन स्थानों से हटें या न हटें। जालेन=अथवा निज राष्ट्राधिकारियों के आज्ञारूपी जाल में बन्धे से होकर तुम हस्तगत स्थानों को छोड़ना नहीं चाहते। "तमसा" का यह भी अभिप्राय सम्भव है कि तुम "तामसास्त्र" द्वारा तमस से घिरे हुए हो (अथर्व० मन्त्र ३.२.५), यथा

अमीषां चित्तानि प्रतिमोहयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि।

अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैर्ग्राह्यामित्रांस्तमसा विध्य शत्रून्॥

मन्त्र में "अप्वा" अस्त्र का वर्णन है जो कि शत्रुओं को "तमसा" तमस् द्वारा घेर लेता है। अप्वा=अप+वा (गतौ) या वी (गतौ)।

ऋषिः—**प्रत्यङ्गिरसः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

कृत्याकृतो वलगिनोऽभिनिष्कारिणः प्रजाम्।

मृणीहि कृत्ये मोच्छिषोऽमून्कृत्याकृतो जहि॥ ३१॥

अर्थ—(कृत्ये) हे हमारी हिंस्र सेना! (कृत्याकृतः) परकीय हिंस्र सेनाओं के रचयिता की, (वलगिनः) वलय में गति करने वाले विस्फोटकों के स्वामी की, (अभिनिष्कारिणः) हमें नष्ट करने वाले या अपमानित करने वाले की (प्रजाम्) प्रजा को (मृणीहि) मार डाल, और (अमून्) उन (कृत्याकृतः) हिंस्रसेनाओं-के-रचयिताओं का (जहि) हनन कर (मा उच्छिषः) उनमें से किसी को शेष न रहने दे।

[शत्रु सेनाओं को बार-बार हट जाने को प्रेरित करने पर भी जब वे हस्तगत स्थानों को छोड़ जाने में सहमत नहीं हुईं, तब निज सेनाओं को आज्ञा दी कि शत्रु सेनाओं के रचयिताओं के राष्ट्र में प्रवेश कर उनकी प्रजा का, और रचयिताओं का वह हनन करे]।

ऋषिः—**प्रत्यङ्गिरसः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**द्व्यनुष्टुब्गर्भा पञ्चपदातिजगती** ॥

यथा सूर्यो मुच्यते तमसस्परि रात्रिं जहात्युषसश्च केतून्।

एवाहं सर्वं दुर्भूतं कर्त्रं कृत्याकृता कृतं हस्तीव रजो दुरितं जहामि॥ ३२॥

अर्थ—(यथा) जैसे (सूर्यः) सूर्य (तमसः परि मुच्यते) तमस् अर्थात् अन्धकार से मुक्त हो जाता है, छूट जाता है, और (रात्रिम्, च उषसः) रात्री को, तथा उषा के (केतून्) लाल झण्डों का (जहाति) परित्याग करता है, तथा (इव) जैसे (हस्ती) हाथी (रजः) देहलग्न मृत्कणों को (जहाति) झाड़ देता है (एवाहम्) ऐसे मैं (कृत्याकृता कृतम्) हिंस्र सेना के रचयिता द्वारा रचे गये, (दुर्भूतम्) दुःस्थितिकारक

तथा (दुरितम्) दुष्परिणामी (सर्वम्) सब (कर्त्रम्) काटने अर्थात् विनाश के साधनभूत युद्ध का (जहामि) परित्याग कर देता हूँ।

[केतून्=झण्डों को। उषा लालिमा लिए होती है। यह लालिमा उसके विजय सूचक लाल झण्डे हैं। कर्त्रम्=**कृती छेदने,** यथा "कर्तरी" अर्थात् कैंची। कैंची वस्त्र काटने के लिए होती है। अत: युद्ध को "कर्त्रम्" कहा है, क्योंकि युद्ध में मनुष्यादि प्राणी काटे जाते हैं। दुर्भूतम्=दुष्कृतम्, तथा **दुष्टत्वम् आपन्नम्** (अथर्व० ३.७.७; ८.१.१२ सायण)।

मन्त्र में सुला देने वाली दीर्घकालीन कालीरात्रि द्वारा युद्ध को, तथा अल्पकालस्थायी उषा के विजय सूचक लाल झण्डों से प्राप्त सम्मान द्वारा अल्पकालस्थायी विजय लाभ को रूपित किया है। तथा जैसे सूर्य रात्रि पर विजय पाकर, रात्रि के अन्धकार से छूट कर, अल्पकालस्थायी उषा का भी परित्याग कर, दिन के निर्मल प्रकाश में प्रकाशित हो जाता है, जैसे विजयी राजा भी प्राप्त हुए युद्ध पर विजय पा कर, युद्ध से मुक्त हो कर, जब अल्पकालिक युद्ध के लोभ का भी परित्याग कर देता है,तो वह फिर निज शुभ्र कीर्ति से कीर्तिमान् हो जाता है। तथा भविष्यत् में सैन्य रचना से होने वाले दुष्परिणामों तथा दु:स्थितिसम्पादक युद्धों को इस प्रकार त्याग देता है, जैसे कि हाथी निजदेहलग्न मृत्कणों को झाड़ फैंकता है, ये भावनाएँ मन्त्रान्तर्निहित प्रतीत होती हैं]।

सूक्त २

विषय-प्रवेश

"**अस्मिन् सूक्ते पुरुषस्य अर्थात् मनुष्यस्य माहात्म्यं वर्ण्यते। तच्च तद्भिन्नभिन्नावयवान् को देवोऽकरोद् इत्यादिप्रश्नरूपेण तत्प्रश्नानाम् उत्तररूपेण च**" (सायण)। अर्थात् पुरुष के भिन्न-भिन्न अवयवों को किस देव ने रचा है, इत्यादि प्रश्नों और उनके उत्तरों के रूप में मनुष्य का माहात्म्य इस सूक्त में दर्शाया है।

याज्ञिक सांप्रदायिक इस सूक्त का विनियोग पुरुषमेध में करते हैं, और स्नात तथा अलंकृत पुरुषपशु का अनुमन्त्रण इस सूत्र द्वारा करते हैं। इस कारण सायणाचार्य ने इन्हें "यज्ञलम्पटा:" कहा है। लम्पट का अर्थ है लोभी तथा कुकर्मी। इससे ज्ञात होता है कि यज्ञकर्मों के विषयों में याज्ञिय सम्प्रदायियों के विनियोगों के सम्बन्ध में सायणाचार्य भिन्न विचार भी रखते हैं।

(१) मन्त्र १-८ में पुरुष अर्थात् मनुष्य के भिन्न-भिन्न अवयवों के रचयिता के सम्बन्ध में प्रश्न तथा अवान्तर रूप में उत्तर भी दिये हैं।

(२) मन्त्र ९, १० में उग्र-पुरुष के असामर्थ्य का वर्णन दर्शाया है।

(३) मन्त्र ११ में "आप:" पद द्वारा शरीरस्थ "रक्त" का वर्णन हुआ है।

(४) मन्त्र १२-१५, १७ में पुरुष में रूप, प्रज्ञा, चरित्र; प्राणादि वायु; यज्ञ भावना, सत्य, अमृत, मृत्यु, अमृतत्व:, शरीररूपी वस्त्र; तथा रेतस् किस ने दिये, ये प्रश्न हैं।

(५) जल के विस्तार, दिन, उषा तथा सायंकाल सम्बन्धी; भूमि के आच्छादन, दिव्, पर्वतों सम्बन्धी; पर्जन्य, सोम, यज्ञ, श्रद्धा सम्बन्धी प्रश्न हैं (मन्त्र १६, १८, १९)।

(६) मन्त्र २०-२३ में श्रोत्रिय, परमेष्ठी, अग्नि, संवत्सर; देवा:, दैवजनी: विश:, नक्षत्र तथा क्षत्र का

वर्णन है।

(७) मन्त्र २५ में भूमि, द्यौः, अन्तरिक्ष के व्यवस्थापक ब्रह्म का वर्णन है।

(८) मन्त्र २६-२७ में अथर्वा; मूर्धा और हृदय के संसीवन; मस्तिष्क तथा देव कोश का वर्णन है।

(९) मन्त्र २८-३० में "ब्रह्मपुरुष का वर्णन" और ब्रह्म को पुरुष कहने की उपपत्ति दर्शाई है।

(१०) मन्त्र २९, ३० में ब्रह्म की पुरी के ज्ञान के परिणाम दर्शाए हैं।

(११) मन्त्र ३१ में "अष्टाचक्रा-नव द्वारा अयोध्या" तथा "स्वर्गरूपकोश" का वर्णन हुआ है।

(१२) मन्त्र ३२ में तीन अरों वाले तथा तीन बन्धनों वाले हृदय कोश का, तथा उसमें स्थित "आत्मन्वत् यक्ष" का वर्णन हुआ है।

(१३) मन्त्र ३३ में ब्रह्मपुरी में ब्रह्म के प्रवेश का वर्णन है।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

केन पार्ष्णी आभृते पूरुषस्य केन मांसं संभृतं केन गुल्फौ।
केनाङ्गुलीः पेशनीः केन खानि केनोच्छ्लङ्खौ मध्यतः कः प्रतिष्ठाम्॥ १ ॥

अर्थ—(केन) किस ने (पूरुषस्य) पुरुष की (पार्ष्णी) दो एड़ियाँ (आभृते) पुष्ट की हैं, या जोड़ी हैं; (केन) किस ने (मांसम्, संभृतम्) मांस मढ़ा है, या संगृहीत किया है; (केन) किस ने (गुल्फौ) दो गिट्टे या पैरों और टांगों के मध्यवर्ती जोड़ [Ankles] जोड़े हैं। (केन) किस ने (पेशनीः) सुन्दर अवयवों वाली (अङ्गुलीः) अङ्गुलियाँ; (केन) किस ने (खानि) इन्द्रियों के गढ़े; (केन) किस ने (उच्छ्लङ्खौ) उछलने के लिए दो तलुवे, (कः) किस ने (मध्यतः) शरीर का मध्यवर्ती (प्रतिष्ठाम्) आधारभूत धड़? जोड़ा है।[1]

[आभृते=आ+भृ (**डुभृञ् धारणपोषणयोः**)+क्त; अथवा आहृते (**हृग्रहोर्भः छन्दसि**)। पेशनीः= "**पेशः रूपनाम**" (निघं० ३.७), तथा **पिश अवयवे** (तुदादिः)। खानि=**खनु अवदारणे** (भ्वादिः), तथा "**पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः** (कठ० उप० ४.१)। खानि में "खनु" तथा व्यतृणत् में "तृद" लगभग समानार्थक हैं। उच्छ्लङ्खौ=उत्+शल (गतौ, भ्वादिः)+खम् (अवकाश), प्रपदों और पार्ष्णियों के मध्यवर्ती अवकाश, जो कि उछलने में सहायक होता है। प्रतिष्ठा=गर्दन, दो बाहुमूलों तथा कटिभागों की स्थिति का आधार, धड़।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

कस्मान्नु गुल्फावधरावकृण्वन्नष्ठीवन्तावुत्तरौ पूरुषस्य।
जङ्घे निर्ऋत्य न्यदधुः क्वं स्विज्जानुनोः सन्धी क उ तच्चिकेत॥ २ ॥

अर्थ—(कस्मात्) किस लिए (पूरुषस्य) पुरुष के (गुल्फौ) गिट्टों या पैरों और टांगों के जोड़ों को (अकृण्वन्) उन्होंने (अधरौ) नीचे की ओर किया है, और (अष्ठीवन्तौ) हड्डियों वाले घुटनों को (उत्तरौ) ऊपर की ओर किया है। (जङ्घे) जङ्घाओं को (निर्ऋत्य) अलग-अलग करके (न्यदधुः) नीचे की ओर [किस लिए] स्थापित किया है। (क्वस्वित्) कहाँ (जानुनोः) दो घुटनों के (सन्धी) दो जोड़

१. काण्ड १०.२ अथर्ववेद का केन सूक्त है, जैसे कि "केन० उपनिषद्"।

स्थापित किये हैं, (कः उ) कौन वस्तुतः (तत् चिकेत) उसे सम्यक् रूप में जानता है? तथा (तत् कः चिकेत) उसे प्रजापति ही सम्यक् रूप में जानता है। यह उत्तर भी सूचित कर दिया है।

[कः="प्रजापतिः", तथा "कौन"। "अकृण्वन्" में बहुवचन द्वारा कर्त्ताओं का बहुत्व दर्शाया है। इस द्वारा जीवात्माएँ, उनके कर्मयोग, प्रजापति, तथा अन्य दिव्य शक्तियों को सूचित किया है]।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

चतुष्टयं युज्यते संहितान्तं जानुभ्यामूर्ध्वं शिथिरं कबन्धम्।
श्रोणी यदूरू क उ तज्जजान याभ्यां कुसिन्धं सुदृढं बभूव॥ ३॥

अर्थ—(जानुभ्याम्, ऊर्ध्वम्) दो घुटनों से ऊपर की ओर (चतुष्टयम्) चार अवयवों वाला, तथा (संहितान्तम्) प्रान्तों में सन्धियों वाला (शिथिरम्) शिथिल अर्थात् लचकीला और नर्म (कबन्धम्) सिर के साथ बन्धन वाला शरीर (युज्यते) जोड़ों द्वारा जड़ा हुआ है। (श्रोणी) दो कटियाँ और (यद्) जो (ऊरू) दो जङ्घाएँ आदि हैं उन्हें (क, उ) किस ने (जजान) पैदा किया है (याभ्याम्)जिन द्वारा कि (कुसिन्धम्) शरीर (सुदृढम्) सुदृढ़ (बभूव) हुआ है।

[चतुष्टयम्=चार मुख्य अवयव हैं, (१) फेफड़े, (२) हृदय, (३) पेट, (४) आन्तें। संहितान्तम्=शरीर के चार प्रान्त भाग हैं, दो वे जहाँ बाहुओं के दो मूल जुड़ें हुए हैं, और दो वे जहाँ दो श्रोणियाँ जुड़ी हुई हैं। कबन्धम्=इस शब्द का प्रसिद्ध अर्थ है "सिर से रहित धड़"। परन्तु मन्त्र में इसका अर्थ है "सिर सहित धड़"। क="सिर" के साथ बन्धा हुआ, लगा हुआ, धड़। यथा "कन्धरा" है ग्रीवा, कं शिरः धारयतीति। इसी प्रकार कुसिन्ध का प्रसिद्ध अर्थ है, धड़, अर्थात् "कुत्सित-गति वाला, बुरी हालत वाला[1]। कु (कुत्सित)+षिधु (गत्याम्)। परन्तु मन्त्र में इसका अर्थ है "पृथिवी पर गति करने वाला, चलने वाला शरीर"। कु=कुत्सित, तथा पृथिवी। "ऊरू" शब्द का अर्थ है धड़ के नीचले भाग में लगे पादों और जङ्घाओं समेत दो पट्ट [Thighs], इस प्रकार मन्त्र में समग्र अवयवों सहित शरीर का वर्णन हुआ है।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

कति देवाः कतमे त आसन्य उरो ग्रीवाश्चिक्युः पूरुषस्य।
कति स्तनौ व्यदधुः कः कफोडौ कति स्कन्धान्कति पृष्टीरचिन्वन्॥ ४॥

अर्थ—(कति) कितने और (कतमे) कौन से (ते) वे (देवाः आसन्) देव थे (ये) जिन्होंने (पूरुषस्य) पुरुष की (उरः) छाती को (ग्रीवाः) और गर्दन के अवयवों को (चिक्युः) चिना था। (कति) कितनों ने (स्तनौ व्यदधुः) दो स्तनों का विधान या निर्माण किया, (कः) किस ने (कफोडौ) दो कपोलों को, (कति) कितनों ने (स्कन्धान्) कन्धों की अस्थियों को, (पृष्टीः) पीठ की अस्थियों तथा पसलियों को (अचिन्वन्) चिना था।

[कति और कतमे, में बहुवचन है। सम्भवतः मन्त्र में "देवाः" पद द्वारा या तो दिव्य शक्तियाँ अभिप्रेत हैं, या रचना में भाग लेने वाली अस्थियाँ आदि। कः=यह पद एक वचन में है, जो कि अकेले परमेश्वर का बोधक है। कः=कौन, तथा कः=जगत् का कर्त्ता परमेश्वर। करोतीति कः; कृ+डः (औणादिकः

१. सिर के बिना धड़ किसी काम का नहीं।

"ड:" प्रत्यय:, बाहुलकात्)। चिक्युः, अचिन्वन्—द्वारा, मकान को चिनने वालों के सदृश, परमेश्वर को कारीगर दर्शाया है]।

ऋषि:—**नारायण:** ॥ देवता—**पुरुष:, ब्रह्मप्रकाशनम्** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्** ॥

को अस्य बाहू समभरद्वीर्यं करवादिति।
अंसौ को अस्य तद्देवः कुसिन्धे अध्या दधौ ॥ ५ ॥

अर्थ—(कः) किस ने (अस्य) इस पुरुष की (बाहू) बाहुओं को (समभरत्) बनाया या उनके लिए संभारों को एकत्रित किया, (वीर्यम्, करवात्, इति) ताकि वीरता के कर्म किये जाएँ। (कः) किस (तत् देवः) प्रसिद्ध देव ने (अस्य) इस पुरुष के (कुसिन्धे अधि) शरीर पर (अंसौ) दो कन्धों का (आदधौ) आधान किया।

["कः" को देव कहा है, और उसे "तत्" द्वारा जगत् का कर्त्ता निर्दिष्ट किया है अतः यह परमेश्वर है। गीता के अनुसार "ओ३म् तत्, सत्" परमेश्वर के निर्देशक हैं। "**ओ३म् तत् सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः**" (१७.२३) तथा "**तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः**" (यजुः० ३२.१) में "तत्, ताः, सः" द्वारा ब्रह्म का ही निर्देश हुआ है। कुसिन्धे (मन्त्र ३)]।

ऋषि:—**नारायण:** ॥ देवता—**पुरुष:, ब्रह्मप्रकाशनम्** ॥ छन्द:—**जगती** ॥

कः सप्त खानि वि ततर्द शीर्षणि कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्।
येषां पुरुत्रा विजयस्य मह्मनि चतुष्पादो द्विपदो यन्ति यामम् ॥ ६ ॥

अर्थ—(कः) किस ने (शीर्षणि) सिर में (सप्त) सात (खानि) गढ़े [इन्द्रियां] (विततर्द) काटे हैं, (कर्णौ इमौ) ये दो कान, (नासिके) दो नाक-छिद्र, (चक्षणी) दो आँखें, (मुखम्) और मुख। (येषाम्) जिन इन्द्रियों की (विजयस्य मह्मनि) विजय[१] की महिमा पर (चतुष्पादः द्विपदः) चौपाए और दोपाए (पुरुत्रा) विविध स्थानों में (यामम् यन्ति) मार्गों पर जाते हैं।

ऋषि:—**नारायण:** ॥ देवता—**पुरुष:, ब्रह्मप्रकाशनम्** ॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्** ॥

हन्वोर्हि जिह्वामदधात्पुरूचीमधा महीमधि शिश्राय वाचम्।
स आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तरपो वसानः क उ तच्चिकेत ॥ ७ ॥

अर्थ—(हन्वोः) किस ने दो जबाड़ों में (पुरूचीम्) लम्बी या बहुगतिका (जिह्वाम्, अदधात्) जिह्वा को स्थापित किया है, (अधा) तत्पश्चात् (महीम्, वाचम्) महती वाणी को (अधि शिश्राय) उस पर आश्रित किया है। (सः) वह (अपः वसानः) प्रकृति की ओढ़नी ओढ़े हुआ (भुवनेषु अन्तः) भुवनों के भीतर (आ वरीवर्ति) बार-बार आता है, (कः उ तत् चिकेत) कौन उसे सम्यक्तया जानता है।

[मन्त्र में परमेश्वर का वर्णन है जोकि प्रलयों के पश्चात् भुवनों के भीतर, प्रत्येक सृष्टि में बार-बार आता है। "अपः" का अर्थ है "व्यापक प्रकृति", **आप्लृ व्याप्तौ**। यह प्रकृति, परमेश्वर का वस्त्र है,

---

१. इन्द्रियों द्वारा दर्शाये मार्गों पर चौपाए तथा दोपाए चलते हैं, जैसे कि राजा द्वारा दर्शाये मार्गों पर प्रजाएँ चलती हैं। इसलिए इन्द्रियों ने मानो इन प्राणियों पर विजय पाया हुआ है।

जिससे ढका हुआ वह भुवनों में विचरता है। ''अप:'' का अर्थ ''कर्म'' भी होता है। परमेश्वर में कर्म हैं—रचना, स्थिति, कर्मफल प्रदान, प्रलय आदि। इनकी ओढ़नी ओढ़े हुए परमेश्वर भुवनों में विचरता है]।

ऋषि:—**नारायण:** ॥ देवता—**पुरुष:, ब्रह्मप्रकाशनम्**॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्**॥

मस्तिष्कमस्य यतमो ललाटं ककाटिकां प्रथमो य: कपालम्।

चित्वा चित्यं हन्वो: पूरुषस्य दिवं रुरोह कतम: स देव:॥ ८॥

अर्थ—(यतम:) जिन देवों में (य: प्रथम: देव:) जो प्रथम देव, (अस्य पूरुषस्य) इस पुरुष के (मस्तिष्कम्) मस्तिष्क को (ललाटम्) माथे को, (ककाटिकाम्) सिर के पश्चाद् भाग को, (कपालम्) खोपड़ी को, तथा (हन्वो:) दो जबाड़ों के (चित्यम्) चयन को (चित्वा) चिन कर, (दिवम् रुरोह) द्युलोक पर आरोहण किये हुए है (स:) वह (कतम:) कौन है?

[यतम:, कतम: में ''तमप्'' प्रत्यय है, जोकि ''बहुतों में से एक'' का सूचक है। जीव, प्रकृति, तथा अन्य नाना दिव्यशक्तियाँ, पुरुष के अवयवों के निर्माण में सहायक होती हैं, उनमें सर्वप्रथम अर्थात् सब से पहिली या सर्वश्रेष्ठ शक्ति है, परमेश्वर-देव। ''**अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता**'' आदि मन्त्र (यजु:० १४.२०) में १२ देवताओं का कथन हुआ है। इन सब देवताओं में प्रथम देव परमेश्वर है। यह उत्तर ''कतम: स देव:'' में भी समझा जा सकता है। अर्थात् ''वह अत्यन्त सुखस्वरूप देव'' **कम् सुखनाम** (निघं० ३.६)।

ऋषि:—**नारायण:** ॥ देवता—**पुरुष:, ब्रह्मप्रकाशनम्**॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

प्रियाप्रियाणि बहुला स्वप्नं संबाधतन्द्र्य:।

आनन्दानुग्रो नन्दांश्च कस्माद्वहति पूरुष:॥ ९॥

अर्थ—(बहुला=बहुलानि) बहुत अर्थात् नानाविध (प्रियाप्रियाणि) प्रिय और अप्रिय वस्तुओं को, (स्वप्नम्) बुरे-भले स्वप्नों को, (संबाधतन्द्र्य:) बाधाओं और आलस्य को, (आनन्दान्, नन्दान् च,) आध्यात्मिक सुखों और सांसारिक सुखों को, (उग्र: पूरुष:) शक्तिशाली पुरुष (कस्मात्) किस हेतु से (वहति) प्राप्त करता या ढोता है।

[वहति=ढोना, जैसे कि पशु भार को ढोता है। प्रापणे, प्राप्त करता है। प्रश्न यह है कि पुरुष है उग्र अर्थात् शक्तिसम्पन्न, तो भी वह अवाञ्छित तथा अनभीष्ट वस्तुओं को किस हेतु से प्राप्त करता है? उत्तर है ''कस्मात्'' अर्थात् प्रजापति से। **क: वै प्रजापति:** (ऐत० ३.२१)। यद्यपि ''स्मात्'' के योग में ''क:'' किम्-सर्वनाम प्रतीत होता है, तो भी वैदिक प्रथानुसार ''क:'' असर्वनाम भी समझा जा सकता है। यथा ''**कस्मै देवाय हविषा विधेम**'' (यजु:० २५.१२) में ''कस्मै'' का अर्थ प्रजापतये किया जाता है। (यजु:० २५.१२, महीधर) अभिप्राय यह है कि पुरुष उग्र होता हुआ भी, निजकर्म फल के कारण, कर्मफल दाता परमेश्वर से इन्हें भोग रहा है] सूक्त २ में प्राय: ''क:, केन, कस्मात्'' आदि प्रयोगों द्वारा प्रश्न और उत्तर दोनों जानने चाहिए। इसी भाव को दर्शाने के लिए मन्त्र (२०-२५) में प्रश्नों के उत्तर में ब्रह्म का कथन हुआ है]।

ऋषि:—**नारायण:** ॥ देवता—**पुरुष:, ब्रह्मप्रकाशनम्**॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

आर्तिरवर्तिर्निर्ऋतिः कुतो नु पुरुषेऽमति:। राद्धि: समृद्धिरव्यृद्धिर्मतिरुदितय: कुत:॥ १०॥

अर्थ—(आर्तिः) शारीरिक और मानसिक पीड़ा, (अवर्तिः) वृत्ति अर्थात् आजीविका का अभाव, (निर्ऋतिः) कृच्छ्रापत्ति, (अमतिः) अज्ञान तथा मूढ़ता (पुरुषे) पुरुष में (कुतः नु) कहाँ से होते हैं। (राद्धिः) सिद्धि, (समृद्धिः) सफलता, (अव्यृद्धिः) कभी ऋद्धि, कभी ऋद्धि का विगत हो जाना, कभी इसका भी अभाव हो जाना, (मतिः) ज्ञान, मनन, (उदितयः) उन्नतियाँ (कुतः) कहाँ से तथा किस कारण से होती हैं।

[अभिप्राय मन्त्र ९ के सदृश। "कस्मात्" (९) और "कुतः" लगभग समानार्थक हैं]।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम्** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

को अ॒स्मिन्नापो॒ व्य॑दिधाद्विषू॒वृतः॑ पुरू॒वृतः॑ सिन्धुसृत्या॑य जा॒ताः।
ती॒व्रा अ॑रु॒णा लोहि॑नीस्ताम्रधू॒म्रा ऊ॒र्ध्वा अवा॑ची॒ः पुरु॑षे ति॒रश्ची॑ः ॥ ११ ॥

अर्थ—(कः) किस ने (अस्मिन् पुरुषे) इस पुरुष में (आपः) जल या द्रव तत्त्व (व्यदधात्) विधि पूर्वक स्थापित किये हैं, जो कि (विषूवृतः पुरूवृतः) शरीर में व्याप्त हैं, तथा परिमाण में बहुत हैं, जो (सिन्धुसृत्याय) हृदयरूपी समुद्र से तथा उसमें सरण करने के लिए (जाताः) उत्पन्न हुए हैं। जो (तीव्राः) स्वाद में तीव्र, (अरुणाः) फीके लाल अर्थात् अल्पलाल, (लोहिनीः) लाल, (ताम्रधूम्राः) ताम्बे के धूम अर्थात् वाष्पसदृश नीले हैं (ऊर्ध्वाः) जो ऊर्ध्व की ओर गति करते (अवाचीः) नीचे की ओर गति करते, (तिरश्चीः) पार्श्वों की ओर गति करते हैं।

[आपः=रक्तरूपी जल जो शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग में व्याप्त है, **आप्लृ व्याप्तौ**। विषूवृतः=**विष्लृ व्याप्तौ+वृतु वर्तने**। सिन्धुसृत्याय=सिन्धु का अभिप्राय है हृदय-समुद्र, जिससे रक्त स्यन्दन करता है, तथा जिसकी ओर रक्त स्यन्दन करता है। मलिन रक्त हृदय के वाम कोष्ठ में स्यन्दन करता है, और शुद्ध रक्त हृदय से शरीर की और स्यन्दन करता है। अरुणाः=अनीमिक अवस्था में रक्त कम लाल होता है, कम आभा वाला होता है, **अरुण आरोचनः** (निरुक्त ५.४.२१) लोहिनीः अधिक लाल जिसमें कि लोहे की मात्रा पर्याप्त होती है। ताम्रधूम्राः=ताम्बा लाल होता है, परन्तु आग पर रखने से इससे जो धूम्र निकलता है वह नीला होता है। Veins अर्थात् सिराओं का खून नीला होता है, और Arteries अर्थात् धमनियों का खून लाला होता है। रक्त "ऊर्ध्व" अर्थात् सिर की ओर, "अवाचीः" नीचे शरीर की ओर, तथा "तिरश्चीः" पार्श्वों की ओर गति करता है। कः=प्रश्नार्थक तथा प्रजापत्यर्थक। प्रश्न—"कः" किस ने आपः स्थापित किये हैं, उत्तर—"कः" प्रजापति ने स्थापित किये हैं]।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

को अ॒स्मिन्रू॒पम॑दधा॒त्को म॒ह्मानं॑ च॒ नाम॑ च।
गा॒तुं को अ॒स्मिन्कः के॒तुं कश्च॒रित्रा॑णि॒ पूरु॑षे ॥ १२ ॥

अर्थ—(कः) किस ने (अस्मिन् पुरुषे) इस पुरुष में (रूपम्) रूप को (अदधात्) स्थापित किया, (कः) किस ने (मह्यानम् च) महत्त्व को, (नाम च) और नाम को। (कः) किसने (अस्मिन्) इसमें (गातुम्) गति को या गान को, (कः) किस ने (केतुम्) प्रज्ञा को तथा (कः) किसने (चरित्राणि) अच्छे और बुरे चरित्रों को (पूरुषे) इस पुरुष में स्थापित किया है।

[नाम="पुरुष" यह संज्ञा; या प्रसिद्धि। कः=द्व्यर्थक (मन्त्र ११)]।

ऋषि:—**नारायण:** ॥ देवता—**पुरुष:, ब्रह्मप्रकाशनम्** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्** ॥

को अस्मिन्प्राणमवयत्को अपानं व्यानमु। समानमस्मिन्को देवोधि शिश्राय पूरुषे ॥ १३ ॥

अर्थ—(क:) किसने (अस्मिन् पूरुषे) इस पुरुष में (प्राणम्, अपानम्, व्यानम् उ) प्राण, अपान, व्यान का (अवयत्) तान्ता ताना है। (क: देव:) किस देव ने (अस्मिन्) इसमें (समानम्) समान को (अधि शिश्राय) आश्रित किया है।

[मन्त्र में ४ प्राणों का वर्णन हुआ है, उदान का वर्णन नहीं हुआ। आवयत्=**वेञ् तन्तुसंताने**]।

ऋषि:—**नारायण:** ॥ देवता—**पुरुष:, ब्रह्मप्रकाशनम्** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्** ॥

को अस्मिन्यज्ञमदधादेको देवोधि पूरुषे।

को अस्मिन्त्सत्यं कोनृतं कुतो मृत्युः कुतोमृतम् ॥ १४ ॥

अर्थ—(क: एक: देव:) किस एक देव ने (अस्मिन् अधि पूरुषे) इस पुरुष में (यज्ञम्) यज्ञ भावना (अदधात्) स्थापित की है। (क:) किस ने (अस्मिन्) इसमें (सत्यम्) सत्य को और (अनृतम्) असत्य को [स्थापित किया है] (कुत:) किस से (मृत्यु:) मृत्यु और (कुत:) किस से (अमृतम्) जन्म-मरण से राहित्य अर्थात् मोक्ष [प्राप्त होता है] क:=द्व्यर्थक (मन्त्र ११)]।

["एक: देव:" से स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्रश्नकर्त्ता को एकदेव का परिज्ञान है। वही एक देव यज्ञ आदि को पुरुष में, उसके कर्मानुसार, स्थापित करता है। यज्ञ=देवपूजा, संगतिकरण तथा दान की भावना। सत्य और असत्य की, तथा मृत्यु और मोक्ष की स्थिति भी, पुरुष के कर्मों तथा संस्कारों के अनुसार उसे एकदेव के न्याय नियमों तथा कर्मव्यवस्था के अनुसार प्राप्त हो रही है। क:=द्व्यर्थक, (मन्त्र ११)]।

ऋषि:—**नारायण:** ॥ देवता—**पुरुष:, ब्रह्मप्रकाशनम्** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्** ॥

को अस्मै वास: पर्यदधात्को अस्यायुरकल्पयत्।

बलं को अस्मै प्रायच्छत्को अस्याकल्पयज्जवम् ॥ १५ ॥

अर्थ—(क:) किसने (अस्मै) इस जीवात्मा के लिए, (वास:) शरीररूपी वस्त्र (परि अदधात्) इसके चारों ओर स्थापित किया है, (क:) किस ने (अस्य) इसकी (आयु:) आयु (अकल्पयत्) रची है। (क:) किस ने (अस्मै) इसे (बलम्) बल (प्रायच्छत्) प्रदान किया है, (क:) किसने (अस्य) इसके (जवम्) वेग को (अकल्पयत्) निर्धारित या समर्थित किया है।

[क:=प्रश्नार्थक तथा उत्तरार्थक है। मनुष्य के शरीर का वेग भी निर्धारित है। मनुष्य अश्व के, मोटर के, या रेलगाड़ी के वेग वाला नहीं हो सकता]।

ऋषि:—**नारायण:** ॥ देवता—**पुरुष:, ब्रह्मप्रकाशनम्** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्** ॥

केनापो अन्वतनुत केनाहरकरोद्रुचे। उषसं केनान्वैन्द्ध केन सायंभवं ददे ॥ १६ ॥

अर्थ—(केन) किस कारण (आप:) सामुद्रिक जलों को (अनु अतनुत) लगातार फैलाया है, (केन) किस कारण (रुचे) दीप्ति के लिए (अह:) दिन को (अकरोत्) रचा है। (केन) किस कारण (उषसम्) उषा को (अनु ऐन्द्ध) लगातार प्रदीप्त किया है, (केन) किस कारण (सायंभवम्) सायंकाल का होना (ददे) प्रदान किया है।

[मन्त्र के द्वितीय पाद में दिन की रचना का कारण कह दिया है कि "रुचे" दीप्ति के लिए। इसी प्रकार अवशिष्ट रचनाओं के प्रयोजनों का ऊहापोह स्वयं करना चाहिए। सम्भवतः सामुद्रिक जलों को फैलाया है सामुद्रिक जीवों के जीवनार्थ तथा वर्षा के लिए। उषा तथा सायंकाल हैं, दोनों कालों में ध्यान या सन्ध्या के लिए केन=केन हेतुना, कारणेन। अथवा "दीप्ति के लिए दिन को रचा है" ताकि प्राणी काम कर सकें]।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

को अ॒स्मिन्रेतो॒ न्य॑दधा॒त्तन्तु॒रा ता॑यता॒मिति॑।

मे॒धां को अ॒स्मिन्नध्यौ॑हत्को बा॒णं को नृतो॑ दधौ॥ १७॥

अर्थ—(कः अस्मिन्) किस ने इस पुरुष में (रेतः) वीर्य (न्यदधात्) स्थापित किया है (तन्तुः) ताकि सन्तान-तन्तु का (आ तायताम् इति) विस्तार किया जाए। (कः अस्मिन्) किस ने इस पुरुष में (मेधाम् अधि औहत्) मेधा प्राप्त कराई है, (कः) किसने (बाणम्) वाणी प्राप्त कराई है, (कः) किस ने (नृतः) नाचना (दधौ) धारण कराया है।

[कः प्रश्नार्थक तथा उत्तरार्थक] बाणम्="नृतः" के सन्निधान के कारण "बाणम्" गाने की वाणी अर्थात् गाना भी किया जाता है। नृतः=नृत+क्विप्+द्वितीया बहुवचन]।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

केने॒मां भूमि॒मौर्णो॒त्केन॒ पर्य॑भव॒द्दिव॑म्।

केना॒भि म॒ह्ना पर्व॑ता॒न्केन॒ कर्मा॑णि॒ पूरु॑षः॥ १८॥

अर्थ—(केन मह्ना) किस महिमा द्वारा (भूमिम्) भूमि को (और्णोत्) आच्छादित किया है, (केन) किस महिमा द्वारा (दिवम्) द्युलोक को (परि अभवत्) सब ओर से घेरे हुए हैं। (केन) किस महिमा द्वारा (पूरुषः) उस पुरुष ने (पर्वतान्) पर्वतों, मेघों पर (अभि-अभवत्) प्रभुत्व प्राप्त किया है, (केन) किस महिमा द्वारा (कर्माणि) जगत् के नानाविध कर्मों तथा सर्जन धारण और प्रलय रूपी कर्मों पर (परि अभवत्) विजय पाई हुई है।

[मन्त्र में "पूरुषः" द्वारा परमेश्वर-पुरुष प्रतीत होता है। प्रकरण की दृष्टि से भी परमेश्वर-पुरुष का ही ग्रहण उचित है। यजुर्वेद अध्याय ३१ को "पुरुष सूक्त" कहते हैं। इसमें पुरुष पद द्वारा परमेश्वर पुरुष का ही वर्णन है। योग में भी परमेश्वर को "पुरुषविशेषः" कहा है (योग १.२४)। तथा (अथर्व० १०.२.२८) में भी "पुरुष" द्वारा ब्रह्म पुरुष का ही कथन हुआ है। "पुरुष" शब्द का अर्थ है "पुरि शेते"। जीवात्मा शरीर-पुर् में शयन करता है इसलिए वह पुरुष है। ब्रह्म जगत्-पुर् में शयन करता है इसलिए वह भी पुरुष[१] है। मन्त्र में परमेश्वर पुरुष की महिमा अर्थात् बढ़प्पन का वर्णन हुआ है "**महि वृद्धौ**" (भ्वादिः)। ब्रह्म ने ही भूमि को वायु द्वारा आच्छादित किया है, उसने ही निज व्याप्ति द्वारा द्युलोक को घेरा हुआ है, उसने ही निज सर्वशक्तिमत्ता से मेघों, पर्वतों पर प्रभुत्व पाया हुआ है, और वही जीवात्माओं पर कृपा दृष्टि के कारण सृष्टि की रचना आदि कर्मों, तथा जगत् के कर्मों पर विजय पाए हुए है। **पर्वतान्=मेघनाम** (निघं० १.१०)]।

१. गीता में भी ईश्वर को उत्तमपुरुष तथा पुरुषोत्तम कहा है।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

केन॑ प॒र्जन्य॒मन्वे॑ति॒ केन॒ सोमं॑ विचक्ष॒णम्।

केन॑ य॒ज्ञं च॑ श्र॒द्धां च॒ केना॑स्मि॒न्निहि॑तं॒ मनः॑ ॥ १९ ॥

अर्थ—(केन) किस महिमा द्वारा (पर्जन्यम्) मेघ में (अन्वेति) वह अन्वित है, (केन) किस महिमा द्वारा (विचक्षणम् सोमम्) वह द्रष्टा-चन्द्रमा में अन्वित है। (केन) किस महिमा द्वारा (यज्ञम् च श्रद्धाम् च) उपासक के ध्यान-यज्ञ और श्रद्धा में वह अन्वित होता है, (केन) किस महिमा द्वारा उसने (अस्मिन्) इस पुरुष में (मनः) मन (निहितम्) रखा है, स्थापित किया है।

[पर्यन्य में वह अन्वित है ताकि वर्षा द्वारा पेयजल प्रदान करे, और कृषिकार्य हो सके। चन्द्रमा में वह इसलिए अन्वित है ताकि उसे भासित कर सके, रात्रिकाल को प्रकाशित करने के लिए। उपासना यज्ञ तथा उपासक की श्रद्धा में अन्वित है, उसके आध्यात्मिक जीवन में सहायता दे सके। जैसे कि कहा है कि—

"प्रणिधानात् भक्तिविशेषात् आवर्जित ईश्वरस्तमनुगृह्णाति अभिध्यानमात्रेण, तदभिध्यानादपि योगिन आसन्नतमः समाधिलाभः फलं च भवति।" (योग० १.२३)।

प्रणिधान नामक भक्तिविशेष द्वारा अभिमुखी किया गया ईश्वर उपासक पर अनुग्रह करता है, केवल स्वीय इच्छामात्र से ही। इस इच्छा से भी योगी को शीघ्र समाधिलाभ तथा उसका फल प्राप्त हो जाता है।

पुरुष में मन इसलिए स्थापित किया है कि वह निज कार्य मनन पूर्वक करे, पशुवत् विना सोचे-विचारे काम न करे, तथा श्रवण मनन, निदिध्यासन-द्वारा परमेश्वरोपासना कर मोक्ष प्राप्त कर सके]।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

केन॒ श्रोत्रि॑यमाप्नोति॒ केने॒मं प॑रमे॒ष्ठिन॑म्। केने॒मम॒ग्निं पूरु॑षः॒ केन॑ संवत्स॒रं म॑मे ॥ २० ॥

अर्थ—(केन) किस कारण [ब्रह्म] (श्रोत्रियम्) वेदाध्ययन करने वाले को, (केन) और किस कारण (परमेष्ठिनम्) परब्रह्म में स्थित हुए को (आप्नोति) प्राप्त होता है। (केन) किस कारण (पूरुषः) ब्रह्म पुरुष (इमम्, अग्निम्) इस ज्ञानाग्निमय व्यक्ति को प्राप्त होता है। (केन) किस कारण वह (संवत्सरम्) संवत्सर को (ममे) मापता या उसका निर्माण करता है।

[श्रोत्रिय आदि शब्दों के अर्थों में ही प्राप्ति के कारण दर्शा दिये हैं। श्रोत्रिय वेदाध्ययन करता है, इसलिए वह पवित्राचरण वाला है, और वेदज्ञ है। श्रोत्रियः=श्रोत्रं वेदः, तदध्येता; तथा "**श्रोत्रियंश्छन्दोधीते**" (अष्टा० ५.२.८४)। परमेष्ठिनम्=यतः वह परमेश्वर में निष्ठावान्, उसमें स्थिति पाया हुआ, तथा उसके प्रति समर्पित है। अग्निम्=ज्ञानाग्नि सम्पन्न को इसलिए प्राप्त होता है, यतः ज्ञानाग्नि द्वारा उसके कर्म, तथा कर्मवासनाएँ दग्धबीज हो गई हैं, "**ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन**" (गीता)।

संवत्सरम्—संवत्सर का वह इसलिए निर्माण करता है, यतः संवत्सर की ऋतुएँ मनुष्य जीवन के वास में हेतु हैं, तथा संवत्सर द्वारा मनुष्यों के व्यवहारों का सम्पादन होता है, अतः उपकार भावना से परमेश्वर संवत्सर का निर्माण करता है। संवत्सरः="**सम्यक् वसन्त्यत्र सः संवत्सरः**" (उणा० ३.७२; म० दयानन्द)]।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ब्रह्म श्रोत्रियमाप्नोति ब्रह्मेमं परमेष्ठिनम्। ब्रह्मेममग्निं पूरुषो ब्रह्म संवत्सरं ममे ॥ २१ ॥

अर्थ—(ब्रह्म श्रोत्रियमाप्नोति) ब्रह्म श्रोत्रिय को प्राप्त होता है, (ब्रह्म इमम् परमेष्ठिनम्) ब्रह्म इस परमेष्ठी को प्राप्त होता है। (ब्रह्म पूरुषः) ब्रह्म पुरुष (इमम् अग्निम्) इस ज्ञानाग्निमय व्यक्ति को प्राप्त होता है, (ब्रह्म) ब्रह्म ने (संवत्सरम् ममे) संवत्सर को मापा या उसका निर्माण किया है।

[मन्त्र में, मन्त्र २० के विचारों को परिपुष्ट किया है]।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

केन देवाँ अनु क्षियति केन दैवजनीर्विशः। केनेदमन्यन्नक्षत्रं केन सत्क्षत्रमुच्यते ॥ २२ ॥

अर्थ—(केन) किस कारण [ब्रह्म] (देवान् अनु क्षियति) देवों में निरन्तर अर्थात् सदा निवास करता है, (केन) किस कारण (दैवजनीः) देवों द्वारा उत्पादित (विशः) प्रजाओं अर्थात् सन्तानों में निरन्तर निवास करता है। (केन) किस कारण (अन्यत्) देवों और दैवजनी प्रजाओं से भिन्न (इदम्) इस (नक्षत्रम्=नक्ष+त्रम्) अभ्यागतों के पालक में वह सदा निवास करता है, (केन) किस कारण [ब्रह्म] (सत्) वास्तविक (क्षत्रम्=क्षत्+त्रम्) क्षतों से त्राता (उच्यते) कहा जाता है।

[मन्त्र में देव आदि पद हेतुगर्भित हैं, अर्थात् इनके यौगिक अर्थों में हेतु निहित है। परमेश्वर देवों में निरन्तर निवास करता है, चूंकि वे देव हैं, दिव्य गुण कर्मों वाले हैं, वे सदा प्रत्येक कार्य में "**ओ३म् क्रतो स्मर**" (यजुः० ४०.१५) के अनुसार परमेश्वर का सदा स्मरण करते हैं, इसलिए परमेश्वर उनके हृदयों में सदा निवास करता है।

वह "दैवजनीः" प्रजाओं अर्थात् देवरूप माता-पिता द्वारा जनित सन्तानों में भी सदा निवास करता है। दिव्य गुणकर्मों वाले माता-पिता की सन्तानें भी देवकोटि की होंगी, यह सम्भावना है। नक्षत्रम्=**नक्ष** (**गतौ**) तथा **नक्षति गतिकर्मा,** (निघं० २.१४)+**त्रैङ्** (**पालने**); अर्थात् अभ्यागतों, अतिथियों आदि की पालना करने वाला सद्गृहस्थी इन्हें ब्रह्मरूप जान कर इनकी सेवा तथा पालना करता है (अथर्व० ९.६ (१)।१), अतः इसे सदा ब्रह्म का ध्यान रहता है, मानो ब्रह्म ऐसे सद्गृहस्थ के हृदय में सदा निवास करता है।

सत् क्षत्रम्=ब्रह्म ही एक वास्तविक, क्षतों से त्राण करने वाला है, अतः वह सच्चा[1] क्षत्र है।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ब्रह्म देवाँ अनु क्षियति ब्रह्म दैवजनीर्विशः।
ब्रह्मेदमन्यन्नक्षत्रं ब्रह्म सत्क्षत्रमुच्यते ॥ २३ ॥

---

१. अथवा देवान्=ब्राह्मण। दैवजनीः विशः=दिव्यजन्मों वाले वैश्य। नक्षत्रम्=जो कि क्षत्रिय नहीं, अर्थात् शूद्र। सत् क्षत्रम्=सच्चे क्षत्रिय। चार वर्णों के व्यक्ति भी यदि अपने-अपने नियत कर्त्तव्यों का पालन धर्मानुसार करते हैं तो परमेश्वर उन्हें प्राप्त हो जाता है। अर्थात् देव वस्तुतः दिव्यगुणी हों,सच्चे ब्राह्मण हों, ब्रह्मोपासक तथा वेदज्ञ हों। वैश्य देश-देशान्तरों में प्रवेश कर व्यापार द्वारा प्रजा का पालन करें। शूद्र सेवा कर्म में शीघ्रकारी हों, निरालस हों। क्षत्रिय क्षतों से त्राण में व्यापृत होकर "सत्" क्षत्र कहलाने योग्य हों। शूद्र=आशु, शु वा द्रवति=शीघ्रगतिक, शीघ्रकारी। "**आशु इति च शु इति च क्षिप्रनामनी भवतः**" (निरुक्त ६.१.१)।

अर्थ—(ब्रह्म देवान् अनुक्षियति) ब्रह्म देवकोटि के मनुष्यों में निरन्तर निवास करता है, (ब्रह्म दैवजनी: विश:) ब्रह्म "देवों से जनित सन्तानों में" निरन्तर निवास करता है। (ब्रह्म इदम् अन्यत्) देवों और दैवजनी विशों से भिन्न (इदम्) इस (नक्षत्रम्=नक्ष+त्रम्) अभ्यागतों तथा अतिथियों के पालक में ब्रह्म निरन्तर निवास करता है, (ब्रह्म सत् क्षत्रम् उच्यते) ब्रह्म वास्तविक "क्षत्र" अर्थात् क्षतों से त्राण करने वाला कहा जाता है।

[मन्त्र २२ में देव आदि में ब्रह्म के निरन्तर निवास करने के कारणों अर्थात् हेतुओं का कथन किया है और मन्त्र २३ में निरन्तर निवास को ही सम्पुष्ट किया है]।

ऋषि:—**नारायण:** ॥ देवता—**पुरुष:, ब्रह्मप्रकाशनम्** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्** ॥

केनेयं भूमिर्विहिता केन द्यौरुत्तरा हिता। केनेदमूर्ध्वं तिर्यक्चान्तरिक्षं व्यचो हितम्॥ २४॥

अर्थ—(केन) किस ने (इयम् भूमि:) इस भूमि को (विहिता) अलग कर नीचे की ओर रखा है, (केन) किस ने (द्यौ:) द्युलोक को (उत्तरा हिता) ऊपर की ओर रखा है। (केन) किस ने (इदम्) इस (व्यच:) विस्तृत (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को (ऊर्ध्वम्) ऊर्ध्व में और (तिर्यक्) पार्श्वों में (हितम्) स्थापित किया है।

[विहिता=विहृत्य, पृथक् कृत्वा, हिता स्थापिता। अथवा "विधिपूर्वक स्थापिता"]।

ऋषि:—**नारायण:** ॥ देवता—**पुरुष:, ब्रह्मप्रकाशनम्** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्** ॥

ब्रह्मणा भूमिर्विहिता ब्रह्म द्यौरुत्तरा हिता। ब्रह्मेदमूर्ध्वं तिर्यक्चान्तरिक्षं व्यचो हितम्॥ २५॥

अर्थ—(ब्रह्मणा) ब्रह्म ने (भूमि:) भूमि (विहिता) विहित की है; [ब्रह्म ने] (ब्रह्म द्यौ:) बृहत् द्युलोक को (उत्तरा हिता) ऊपर की ओर रखा है। [ब्रह्म ने] (इदम्) इस (व्यच:) विस्तृत (ब्रह्म अन्तरिक्षम्) बृहद् अन्तरिक्ष को (ऊर्ध्वम्) ऊर्ध्व में, और (तिर्यक्) पार्श्वों में (हितम्) स्थापित किया है।

[विहिता=अर्थ (मन्त्र २४) के अनुसार। ब्रह्म=यह नियत नपुंसक लिङ्ग में विशेषणरूप पद है। भूमि की अपेक्षा द्युलोक तथा अन्तरिक्ष ब्रह्म हैं, परिमाणों में बृहत् हैं। "**बृहंति वर्धंते तद् ब्रह्म, ईश्वरो वेद: तत्त्वं तपो वा**" (उणा० ४.१४७, म० दयानन्द)। इसी प्रकार "**मम योनिर्महद् ब्रह्म**[१]" (गीता १४.३) में ब्रह्म द्वारा महती-प्रकृति का ग्रहण किया है। तथा निघण्टु में "**ब्रह्म=उदक**" (१.१२); **अन्न** (२.७); **धन** (२.१०)। इस प्रकार ब्रह्म के अर्थ नाना हैं। इसलिए मन्त्र में ब्रह्म पद विशेषणरूप में प्रयुक्त हुआ है। अथवा ब्रह्म=ब्रह्मणा, विभक्ति विपरिणाम द्वारा]।

ऋषि:—**नारायण:** ॥ देवता—**पुरुष:, ब्रह्मप्रकाशनम्** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्** ॥

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्। मस्तिष्कादूर्ध्व: प्रैरयत्पवमानोधि शीर्षत:॥ २६॥

अर्थ—(अस्य) इस मानुष पुरुष के (मूर्धानम्) मूर्धा को, (च) और (यत्) जो (हृदयम्) हृदय है उसे (संसीव्य) परस्पर में सीकर, जोड़ कर, (पवमान:) पवित्र करने वाले, (ऊर्ध्व:) सांसारिक लेपों से उपर उठे हुए, (अथर्वा) अचल, कूटस्थ परमेश्वर[२] ने (शीर्षत: अधि) सिर में स्थित (मस्तिष्कात्)

---

१. यथा "**मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्। संभव: सर्वभूतानां ततो भवति भारत**"॥ गीता १४.३॥

२. मन्त्र में "अथर्वा" पद परमेश्वरार्थक प्रतीत होता है। अथर्ववेद में जितना विस्तृत और स्पष्ट वर्णन परमेश्वर का है, उतना अन्य किसी वेद में नहीं मिलता। सम्भवत: अथर्वा के वर्णन के कारण इस वेद का नाम "अथर्ववेद" हो।

मस्तिष्क से (प्रैरयत्) शरीर में प्रेरणाएँ दी हैं।

[परमेश्वर ने मूर्धा और हृदय को परस्पर जोड़ा है। इसका अभिप्राय यह है कि विचारों और भावनाओं में परस्पर समन्वय और सामञ्जस्य होना चाहिए। परमेश्वर "ऊर्ध्वः" है। यथा "**त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः**" (यजुः० ३१.४)। शीर्षतः=सप्तम्यर्थे तसिल्, तसिल् सार्वविभक्तिकः।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

तद्वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः।

तत्प्राणो अभि रक्षति शिरो अन्नमथो मनः॥ २७॥

अर्थ—(वै) निश्चय से (तत्) वह (शिरः) सिर अर्थात् मस्तिष्क (अथर्वणः) अचल, कूटस्थ परमेश्वर का है, (देवकोशः) इन्द्रियों का खजाना है, (समुब्जितः) सिर की खोपड़ी में रखा हुआ है। (तत्) उस (शिरः) सिर अर्थात् मस्तिष्क की (अभि रक्षति) रक्षा करता है (प्राणः) प्राण, (अन्नम्) अन्न (अथो) और (मनः) मन।

[मस्तिष्क में स्थित सहस्रारचक्र में, परमेश्वर का स्पष्ट साक्षात्कार होता है, अतः मस्तिष्क को अथर्वा कहा है। मस्तिष्क में ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के घर हैं, अतः यह देवकोश है। खोपड़ी रूपी कोश के भीतर यह देवकोश रहता है, इसीलिए इसे समुब्जितः कहा है, यथा "**कोशे कोशः समुब्जितः**" (अथर्व० ९.३.२०)। मस्तिष्क बहुमूल्यवान् रत्न है, रत्नों को कोश अर्थात् पेटी में रख कर, पेटी को कमरे रूपी कोश में रखा जाता है। मस्तिष्क की रक्षा होती है प्राणायाम द्वारा, सात्विक अन्न द्वारा, तथा मनन अर्थात् विचार द्वारा, अथवा प्राणमयकोश द्वारा, अन्नमयकोश द्वारा, तथा मनोमयकोश द्वारा]।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम्** ॥ छन्दः—**भुरिग्बृहती** ॥

ऊर्ध्वो नु सृष्टा३स्तिर्यङ् नु सृष्टा३ः सर्वा दिशः पुरुष आ बभूवाँ३।

पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते॥ २८॥

अर्थ—(ऊर्ध्वः) ऊर्ध्व की ओर (सृष्टा३ः) सृष्ट[1] हुआ, (तिर्यङ्=तिर्यक्) पार्श्वों तथा नीचे की ओर भी (सृष्टा३ः) सृष्ट हुआ (पुरुषः) ब्रह्म-पुरुष (सर्वाः दिशः) शरीर की सब दिशाओं में (आबभूवाँ३) सर्वत्र सत्तावान् हुआ है, स्थित हुआ है। (यः) जो (ब्रह्मणः पुरम्[2]) ब्रह्म की इस पुरी को (वेद) जानता है, (यस्याः) जिसके सम्बन्ध से [ब्रह्म] (पुरुषः उच्यते) "पुरुष" नाम से कहा जाता है।

[शरीर के ऊर्ध्व, पार्श्वों, तथा नीचे की सब दिशाओं में ब्रह्म व्याप्त है। शरीर, ब्रह्म की पुरी है, इस पुरी में शयन या वास करने से ब्रह्म को पुरुष कहते हैं, "पुरि शेते इति पुरुषः" अथवा "पुरिवसति" (वस्=उस्, उष्) इति पुरुषः"। मन्त्र में जीवात्मा का वर्णन नहीं, जीवात्मा शरीर के परिमाण वाला नहीं होता। मन्त्र का सम्बन्ध अगले मन्त्रों के साथ है, यथा—

---

१. जब पुरुष अर्थात् जीवात्मा यह जान लेता है कि "ब्रह्म-पुरुष" उसके ऊर्ध्व अर्थात् मस्तिष्क में, नीचे के भागों तथा पार्श्वों में व्याप्त है तब मानो इन भागों में उसके लिए ब्रह्म "सृष्ट" हो गया है, उसके ये भाग या अवयव ब्राह्मी सत्ता सम्पन्न हो गये हैं। इसलिए वह तदनुरूप सोचने तथा कार्य करने लगता है, और उसे मन्त्र २९ में कथित फलों की प्राप्ति होने लगती है।

२. ब्रह्माण्ड को भी ब्रह्म की पुरी समझा जा सकता है। इस पुरी में निवास करने से भी ब्रह्म "पुरुष" कहलाता है।

ऋषिः—नारायणः॥ देवता—पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम्॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम्।

तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः॥ २९॥

अर्थ—(अमृतेन) अमृत द्वारा (आवृताम्) आवृत हुई, घिरी हुई, (ब्रह्मणः) ब्रह्म की (ताम्, पुरम्) उस पुरी को (यः) जो (वेद) जानता है, (तस्मै) उसके लिए (ब्रह्म च ब्राह्माः च) ब्रह्म और ब्रह्मोत्पादित शक्तियाँ, (चक्षुः) चक्षु आदि इन्द्रियाँ (प्राणम्) प्राण आदि पांच वायु, (प्रजाम्) तथा उत्तम जन्म (ददुः) देती हैं।

[मन्त्र में शरीर को ब्रह्मपुरी कहा है। यह अमृत ब्रह्म द्वारा आवृत है, सर्वव्यापक अमृत-ब्रह्म द्वारा सब ओर घिरी हुई है। "ब्राह्म" हैं ब्रह्मोत्पादित शारीरिक अङ्ग-प्रत्यङ्ग और शारीरिक विविध शक्तियाँ। जो व्यक्ति अपने आप को अन्दर बाहिर अमृत ब्रह्म द्वारा आवृत हुआ जान लेता है वह पापकर्म में प्रवृत्त नहीं होता और स्वयं भी अमृत होने की ओर पग बढ़ाता है। परिणाम में उसकी इन्द्रियाँ, अन्तर्मुखी होकर उसकी प्राण शक्तियों को बढ़ातीं, और उसे नई प्रजाति प्रदान करती हैं, द्विजन्मा रूप में उसे नया आध्यात्मिक जीवन प्रदान करती हैं]।

ऋषिः—नारायणः॥ देवता—पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम्॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा।

पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते॥ ३०॥

अर्थ—(वै) निश्चय से (तम्) उसे, (जरसः पुरा) जरावस्था से पूर्व, (न चक्षुः न प्राणः) न दृष्टि और न प्राण (जहाति) त्यागता है (यः) जोकि [शरीर को] (ब्रह्मणः पुरम्) ब्रह्म की पुरी रूप में जान लेता है, (यस्याः) जिसके सम्बन्ध से ब्रह्म (पुरुषः उच्यते) पुरुष कहा जाता है।

[जो निज शरीर को ब्रह्म-की-पुरी जानता है अर्थात् यह जानता है कि इस पुरी का राजा ब्रह्म है, वह निज राजा द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चलने लगता है, जिससे कि उसकी शारीरिक आदि शक्तियों का अपव्यय नियत काल से पूर्व, नहीं होने पाता। पुरुषः=पुरि शेते वसति वा इति, जोकि शरीर पुरी में शयन करता या वसता है]।

ऋषिः—नारायणः॥ देवता—पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम्॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।

तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥ ३१॥

अर्थ—(अष्टाचक्रा) आठ चक्रों वाली, (नवद्वारा) नौ द्वारों वाली, (देवानाम्, पूः) इन्द्रिय-देवों की पुरी (अयोध्या) अयोध्या है। (तस्याम्) उस पुरी में (हिरण्ययः) सुवर्ण सदृश चमकीला (कोशः) कोश है, (स्वर्गः) जिसे कि स्वर्ग कहते हैं, (ज्योतिषा आवृतः) जो कि ब्राह्मीज्योति द्वारा घिरा हुआ है।

[अष्टाचक्रा=सुषुम्णा नाडी और मस्तिष्क में आठ चक्र हैं, यथा "मूलाधारचक्र, स्वाधिष्ठानचक्र, मणिपूरचक्र, अनाहतचक्र, विशुद्ध चक्र, आज्ञाचक्र, सहस्रारचक्र। आठवां चक्र सम्भवतः ब्रह्मरन्ध्र है, जोकि आज्ञाचक्र और सहस्रारचक्र के मध्यवर्ती है। अथवा आठवां चक्र सम्भवतः "कुण्डलिनी" है। इनका विस्तृत विवरण "पातञ्जल योग प्रदीप" (आर्य साहित्य मण्डल, अजमेर) में द्रष्टव्य है।

नवद्वारा=दो आँखों के छिद्र, दो नासिकारन्ध्र, दो कर्णछिद्र, १ लिंग का, और १ गुदा का छिद्र— ये ९ द्वारा हैं। अयोध्या=परमेश्वर प्रदर्शित मार्गों पर चलने से रोग, तथा काम, क्रोध आदि शत्रुओं द्वारा शरीर पुरी पराजित नहीं होती, और न रोग आदि इस पुरी के साथ युद्ध करने की शक्ति ही रखते हैं। हृदय को हिरण्यय कोश कहा है जोकि ब्राह्मीज्योति द्वारा आवृत है, यह हृदय स्वर्ग है, जहाँ कि ब्रह्म के सन्निधान द्वारा सुखविशेष की प्राप्ति होती है]।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**साक्षाद् ब्रह्मप्रकाशिन्यौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

तस्मिन्हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।

तस्मिन्यद्यक्षमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदुः॥ ३२॥

अर्थ—(तस्मिन् हिरण्यये) उस सुवर्ण सदृश चमकीले, (त्र्यरे) तीन अरों वाले, (त्रिप्रतिष्ठिते) तथा तीन बन्धनों द्वारा स्थित कोश में अर्थात् (तस्मिन्) ऐसे उस (कोशे) कोश में (यक्षम्)[1] पूज्य ब्रह्म (आत्मन्वत्) जोकि जीवात्मा वाला है, जीवात्मा का साथी है (तद्) उसे (वै) निश्चय से (ब्रह्मविदः) ब्रह्मवेत्ता (विदुः) जानते हैं।

[हिरण्ययकोश है हृदय (मन्त्र ३१)। त्र्यरे=अरे [Spokes] चक्र के घटकावयव होते हैं जो कि चक्र की नाभि तथा परिधि के बीच लगे रहते हैं। इसी प्रकार हृदय के घटक तीन गुण, अर्थात् सत्त्वगुण, रजोगुण, तथा तमोगुण, तीन अरों द्वारा अभिप्रेत प्रतीत होते हैं। हृदय भावनाओं का स्थान माना जाता है (मन्त्र २६)। भावनाएँ भी तीन प्रकार की होती हैं, सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक। सुप्रतिष्ठिते=हृदय, शरीर में सुदृढ़रूप में प्रतिष्ठित है, स्थित है। यह तीन प्रकार के बन्धनों द्वारा सुदृढ़रूप में स्थित है। इसके तीन प्रकार के बन्धन हैं। एक प्रकार का बन्धन हृदय को फेफड़ों के साथ जोड़ता है, फैफड़ों में गन्दा-रक्त शुद्ध होता है। दूसरे प्रकार के बन्धन में वे नाड़ियाँ हैं, जो कि शरीर के गन्दे रक्त को हृदय में लाती हैं। तथा तीसरे प्रकार के बन्धन में वे नाड़ियाँ हैं, जिन द्वारा शुद्ध-रक्त शरीर में प्रवाहित होता है। गन्दा-रक्त[2] नील वर्ण का या काला होता है, और शुद्ध-रक्त[2] लाल वर्ण का होता है। इस प्रकार त्रिविध बन्धनों द्वारा हृदय बन्धा हुआ है। यक्षम्=**यक्ष पूजायाम्** (चुरादिः) ब्रह्म पूजनीय है, तभी इन्हें "सयुजा सखाया" कहा है (अथर्व० ९.९.२०)। अर्थात् साथ रहने वाले दो सखा, मित्र। हृदय सुवर्णसदृश चमकीला है [हिरण्यये कोशे, मन्त्र ३२], सम्भवतः लालरक्त के कारण या ब्राह्मप्रकाश के कारण, अथवा "**विशोका वा ज्योतिष्मती**" (योग १.३६ के कारण)]।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम्।

पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम्॥ ३३॥

अर्थ—(प्रभ्राजमानाम्) प्रदीप्यमान, (हरिणीम्) मनोहारिणी[3] या क्लेश[4]हारिणी, (यशसा) यशस्वी

---

१. केनोपनिषद् में "यक्ष" द्वारा ब्रह्म का वर्णन हुआ है (३.२)।

२. गन्दा-रक्त दाएँ ओर के दो प्रकोष्ठकों में होता है, और शुद्ध-रक्त बाएँ ओर के दो प्रकोष्ठकों में। हृदय के चार प्रकोष्ठक होते हैं।

३. हिरण्ययी होने से मनोहारिणी।

४. इसमें ब्रह्म के दर्शन हो जाने पर क्लेशहारिणी।

ब्रह्म द्वारा (संपरीवृताम्) सम्यक् प्रकार से सब ओर आवृत अर्थात् घिरी हुई (मन्त्र ३१), (हिरण्ययीम्) सुवर्ण सदृश चमकीली, (अपराजिताम्) रोग, काम-क्रोधादि द्वारा अजेया (पुरम्) पुरी में, (ब्रह्म) ब्रह्म (आ विवेश) प्रविष्ट हो गया है।

प्रथम अनुवाक समाप्त॥

अनुवाक २

सूक्त ३

विषय-प्रवेश

(१) सूक्त में "वरण" का वर्णन हुआ है। इनके दो अर्थ सूक्त में सङ्गत होते हैं। (१) शत्रुनिवारक सेनाध्यक्ष, (२) रोगनिवाकर वरणवनस्पति (८)। मन्त्रों में "अवारयन्त (३), "अवीवरन् (५), "वारयिष्यते" (४, ६, ८) द्वारा "वरण" का अर्थ "निवारक" ही प्रतीत होता है।

(२) सूक्त ३ में "मणि" द्वारा सेनाध्यक्षरूपी राज्यरत्न का निर्देश हुआ है (१, २, ३ , ६)। "**जातौ जातौ यदुत्कृष्टं तद् रत्नमभिधीयते**" (मल्लिनाथ) द्वारा सेना में उत्कृष्ट सेनाध्यक्ष को मणि अर्थात् रत्न कहा है। मणि और रत्न समानार्थक हैं। "वरण" औषध भी वनस्पतियों में श्रेष्ठ है, अतः मणि है, रत्न है।

(३) मन्त्र १-७ में "वरण" द्वारा सेनाध्यक्ष तथा वरण-औषध का युगपत् वर्णन हुआ है। शेष मन्त्रों में किन्हीं में मुख्यरूप में वरण-औषध का, तथा किहीं में मुख्यरूप में सेनाध्यक्ष का वर्णन हुआ है।

(४) मन्त्र ९ से २५ तक में, प्रायः वरण द्वारा सेनाध्यक्ष का वर्णन सङ्गत होता है।

(५) प्रजापति और परमेष्ठी में स्वरूप भेद (२४)।

(६) वरण-राजा का उरस् [छाती] में निवेश (११)।

(७) कृत्या द्वारा परकीय सेना का वर्णन (४)। सूक्त ३ में "कृत्या" के वर्णन द्वारा, सूक्त ३ का सम्बन्ध कृत्या-सूक्त १ के साथ दर्शाया है।

—::—

सूक्त में "वरण" मणि का वर्णन है। वरण का अर्थ है "निवारण करने वाला"। अतः रोगनिवारक, "वरण औषध", तथा "शत्रुनिवारक" सेनाध्यक्ष। इन दोनों का कई मन्त्रों में पृथक्-पृथक् तथा कईयों में दोनों का मिश्रित वर्णन भी हुआ है। अर्थात् सूक्त में "राष्ट्र के शत्रुओं" तथा "रोगरूपी शत्रुओं" के निवारण का वर्णन हुआ है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वरणमणिः, वनस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अयं मे वरणो मणिः सपत्नक्षयणो वृषा।

तेना रभस्व त्वं शत्रून्प्र मृणीहि दुरस्यतः॥ १॥

अर्थ—(मे) मेरा (अयम्, वरणः) यह शत्रुनिवारक [सेनाध्यक्ष] (मणिः) श्रेष्ठमणिरूप है, (सपत्नक्षयणः) शत्रुओं का क्षय करने वाला, (वृषा) और सुखों की वर्षा करने वाला है। (तेन) उस द्वारा (त्वम्) तू (शत्रून्, आरभस्व) शत्रुओं को पकड़ और (दुरस्यतः) दुःखदायी अस्त्रों के फैंकने वालों

को (प्र मृणीहि) पूर्णतया मार।

[राजा, युद्ध की उपस्थिति में सेना के सर्वोच्चाधिकारी को आदेश देता है। तथा वैद्य रुग्णावस्था में रोगी के प्रति कहता है कि यह मुझ द्वारा प्रदत्त "वरण" नामक ओषधि श्रेष्ठमणिरूप है, इस द्वारा तू रोग-शत्रु का क्षय कर, यह तेरे लिए सुखप्रद है, इस द्वारा रोग या रोगोत्पादक कारणों का तू हनन कर, जो रोग या रोग-कारण तुझ पर प्रहार करते हैं। दुरस्यतः=दुर्+**असु (क्षेपणे)**, (दिवादिः)+शतृ+द्वितीया बहुवचन]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वरणमणिः, वनस्पतिः**॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्**॥

प्रैणाञ्छृणीहि प्र मृणा रभस्व मणिस्ते अस्तु पुरएता पुरस्तात्।
अवारयन्त वरणेन देवा अभ्याचारमसुराणां श्वःश्वः॥ २॥

अर्थ—(एनान्) इन शत्रुओं की (प्र शृणीहि) तू पूर्णतया हिंसा कर, (प्र मृण) पूर्णतया इन्हें मार डाल, (आ रभस्व) इन्हें पकड़ ले, (ते) तेरा (मणिः) श्रेष्ठमणिरूप सेनाध्यक्ष (पुरस्तात्) शत्रु के सामने (पुरः एता) सेना से आगे-आगे (अस्तु) चले। (देवाः) विजिगीषु-सैनिक (वरणेन) शत्रुनिवारक इस सेनाध्यक्ष द्वारा (श्वः श्वः) आए दिन या प्रतिदिन होने वाले (असुराणाम्) असुरों के (अभ्याचारम्) अत्याचार को (अवारयन्त) निवारित करते रहे हैं।

[राजा की उक्ति सेना के सर्वोच्चाधिकारी के प्रति है, तथा वैद्य की उक्ति रोगी के प्रति है। छृणीहि= शृणीहि, **शॄ हिंसायाम्** (क्र्यादिः) मणिशब्द=यथा चन्द्रमणिः, राज्यरत्न, चरणकमल, पद्मभूषण आदि की तरह वस्तु की श्रेष्ठता का सूचक है। अवारयन्त तथा वरणः में एक ही धातु है, जिसका अर्थ है निवारण करना। देवाः=**दिवु क्रीडा, विजिगीषा** आदि (दिवादिः), तथा दिव्यगुणी वैद्यगण। असुराणम्=प्राणवान् शक्तिमान् शत्रुसैनिक, तथा प्रबल रोग या रोगोत्पादक कारण। श्वः श्वः=इस द्वारा यह दर्शाया है कि सेनाध्यक्ष शत्रुनिवारण में परीक्षित है, तथा वरण-औषध रोग निवारण में परीक्षित है। श्वः श्वः=ह्यः ह्यः=गतेषु दिवसेषु। श्वः=**टुओश्वि गतिवृद्ध्योः** (भ्वादिः) गत्यर्थ में "गतेषु दिवसेषु" अर्थ उपपन्न हो सकता है। अवारयन्त में भूतकाल प्रतीत होता है, और श्वः श्वः में भविष्यत् काल। अतः श्वः श्वः=ह्यः ह्यः= हीनः कालः]।

अथवा "अवारयन्त", भूतकाल में निवारित करते रहे हैं, तथा "श्वः श्वः" भविष्यत् काल में भी निवारित करते रहेंगे]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वरणमणिः, वनस्पतिः**॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्**॥

अयं मणिर्वरणो विश्वभेषजः सहस्राक्षो हरितो हिरण्ययः।
स ते शत्रूनधरान्पादयाति पूर्वस्तान्दभ्नुहि ये त्वा द्विषन्ति॥ ३॥

अर्थ—(अयम्) यह (वरणः) (मणिः) श्रेष्ठ औषध, तथा श्रेष्ठ सेनापति है, (विश्वभेषजः) सब रोगों के लिए औषधरूप है, तथा सब शत्रुओं के बिगड़े मस्तिष्कों की औषध है, (सहस्राक्षः) हजारों रोगों का क्षय करने वाली है, तथा हजारों योद्धाओं का क्षय करने वाला है, (हरितः) रोगहारी है, तथा शत्रुसंहारी है, (हिरण्ययः) हितकर और रमणीय है, तथा राष्ट्र के लिए हितकर अतः रमणीय है। (सः) वह (ते) हे रोगी! तेरे (शत्रून्) शत्रुरूप रोगों को (अधरान् पादयाति) नीचे गिरा देगा, तथा राष्ट्र के शत्रुओं

को नीचे गिरा देगा, (पूर्वः) हे रोगी! तू प्रथम ही (तान्) उन रोगों का (दभ्नुहि) विनाश कर दे (ये) जोकि (त्वा) तेरे साथ (द्विषन्ति) द्वेष करते हैं, तुझे हानि पहुँचाते हैं, तथा हे सेनाध्यक्ष! तू प्रथम हो कर, उन्हें दबा दे या विनष्ट कर दे, जोकि तेरे अर्थात् तेरे राष्ट्र के साथ (द्विषन्ति) द्वेषभावना रखते हैं।

[मन्त्र में रोगरूपी शत्रु का मुख्यरूप में वर्णन है, और द्वेषी-राज्य का गौणरूप में। मन्त्र में उक्ति राजा की, तथा वैद्य की है। सहस्राक्षः=सहस्रा+क्षः (क्षय करने वाला)। **हिरण्ययः=हिरण्यम् हितरमणं भवतीति वा हृदयरमणं भवतीति वा** (निरुक्त २.३.१०)। रोग और शत्रु को, उसके उग्ररूप होने से पहिले ही कुचल देना चाहिए]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वरणमणिः, वनस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अयं ते कृत्यां विततां पौरुषेयादयं भयात्।
अयं त्वा सर्वस्मात्पापाद्वरणो वारयिष्यते॥ ४॥

अर्थ—(अयम्) यह (वरणः) शत्रुनिवारक-सेनाध्यक्ष (ते) तेरे [विरोध में] (विततम्) विस्तृत (कृत्याम्) विनाशिनी सेना को (वारयिष्यते) निवारित करेगा, (अयम्) यह (पौरुषेयात्, भयात्) सैनिक पुरुषों से होने वाले भय से [तेरी रक्षा करेगा]। (अयम्) यह (सर्वस्मात् पापात्) शत्रु द्वारा किये जाने वाले सब पापकृत्यों से (त्वा) तुझे (वारयिष्यते) निवारित करेगा, तुझे सुरक्षित करेगा।

[मुख्यरूप में सेनाध्यक्ष के कर्त्तव्यों का वर्णन हुआ है। राजा की उक्ति सैनिक सर्वोच्चाधिकारी के प्रति है। मन्त्र में कृत्या का वर्णन हुआ है। इस द्वारा सूक्त का समन्वय पूर्व सूक्त १ के साथ दर्शाया है। सूक्त ३ गौणरूप में रोगरूपी कृत्या का भी वर्णन अभिप्रेत है। रोगरूपी कृत्या का वर्णन पूर्व सूक्त १ में नहीं हुआ। जनपद-ध्वंसी रोगों को "विततम् कृत्याम्" द्वारा निर्दिष्ट किया है। और "पौरुषेयाद् वधात्" द्वारा माता-पिता से प्राप्त होने वाले रोगों को निर्दिष्ट किया है (८)। "पापात्" द्वारा दर्शाया है कि रोग पापजन्य हैं। इस प्रकार "वरण-ओषधि" का भी सम्बन्ध मन्त्र में है। मन्त्र में युद्ध को भी पापकर्म कहा है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वरणमणिः, वनस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

वरणो वारयाता अयं देवो वनस्पतिः।
यक्ष्मो यो अस्मिन्नाविष्टस्तमु देवा अवीवरन्॥ ५॥

अर्थ—(अयम्) यह (देवः) दिव्यगुणों वाला (वरणः वनस्पतिः) वरणनामक वनस्पति (वारयातै) तुझे [यक्ष्म रोग से] निवारित करे। (यः) जो (यक्ष्मः) यक्ष्म रोग (अस्मिन्) इस रोगी में (आविष्टः) प्रविष्ट हो गया था (तम्) उसे (देवाः) दिव्यगुणी वैद्यों ने (अवीवरन्) निवारित कर दिया है। इस प्रकार मन्त्र में औषध और वैद्य दोनों का वर्णन है।

[मन्त्र में मुख्यरूप से यक्ष्मरोग तथा वरण-ओषधि का वर्णन है। वरण नामक सेनाध्यक्ष का भी वर्णन गौणरूप में हुआ है। सेनाध्यक्ष पक्ष में यक्ष्म रोग है पराधीनता। और वनस्पति है वनों का भी स्वामी सेनाध्यक्ष, ताकि वह राष्ट्र के वनों में छिपे शत्रुओं को पकड़ सके। "अस्मिन्" का अभिप्राय है इस स्वकीय-राष्ट्र में। देवः=विजिगीषु सेनाध्यक्ष। देवाः=विजिगीषु निज सैनिक। [वनस्पतिः=वनानां पाता पालयिता वा]।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वरणमणिः, वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्** ॥

स्वप्नं सुप्त्वा यदि पश्यासि पापं मृगः सृतिं यति धावादजुष्टाम्।

परिक्षवाच्छकुनेः पापवादादयं मणिर्वरणो वारयिष्यते॥ ६॥

अर्थ—(स्वप्नम् सुप्त्वा) सोने से उठ कर (यदि) यदि (पापम्, पश्यासि) पाप अर्थात् बुरा दृश्य तू देखे कि (यति=यदि) यदि (मृगः) छिद्रान्वेषी शत्रुगुप्तचर (अजुष्टाम्) अप्रिय या उस द्वारा असेवित (सृतिम्) मार्ग में (धावात्) दौड़-धूप कर रहा है, या मृगरूपी शत्रु दौड़-धूप कर रहा है, तो उस दृश्य से; (परिक्षवात्) यदि सब ओर शोर-शराबा हो रहा है, उससे (शकुनेः) या शक्तिशाली शत्रु के (पापवादात्) पापमय कथनों से (अयं, वरणः, मणिः) यह शत्रुनिवारक श्रेष्ठ सेनाध्यक्ष (वारयिष्यते) उस सबका निवारण कर देगा।

[मन्त्र में वरणनामक सेनाध्यक्ष का मुख्यरूप में वर्णन है। "स्वप्नं सुप्त्वा" में "क्त्वा" प्रत्यय द्वारा यह अर्थ होता है कि "सोकर उठने पर" अर्थात् जागने पर, न कि स्वप्नावस्था में। राजा या सेना का सर्वोच्चाधिकारी जागने पर यदि मन्त्रोक्त दृश्यों को देखता है तो उनके निवारण के लिए वह यत्नवान् होता है। "मृग" का अभिप्राय है "छिद्रान्वेषी गुप्तचर" "**मृग अन्वेषणे**" (चुरादिः), अथवा "**मृगः स मृगयुस्त्वम्**" (अथर्व० १०.१.२६) अर्थात् शत्रु का सेनाध्यक्ष "मृग" है, और तू निज सेनाध्यक्ष "मृगयु" है, मृग का शिकारी है। पापमय दृश्य निम्नलिखित मन्त्र में दर्शाए हैं, (१) शत्रुपक्ष के गुप्तचरों का राष्ट्र में घुस कर राष्ट्र के मार्गों में दौड़-धूप करना, (२) उन द्वारा राष्ट्र या राजधानी में सब ओर शोर मचाना। परिक्षव=परि (सब ओर)+क्षव (**टुक्षु शब्दे**, अदादिः)। (३) पापवादात्=पापकथन, अर्थात् राजा या सेनाधिकारी की निन्दा और अपमानजनक शब्दों का कथन करना। मन्त्र में यत्किंचित् वरण-औषध का भी निर्देश किया है। "परिक्षव" का अर्थ है "सब ओर हो रही "छींकें", तथा "पापवादात्" का अर्थ है कण्ठ की बुरी आवाज, खांसना। ये अवस्थाएँ जुकाम में हो जाती हैं। वरण-औषधि के सेवन से ये अवस्थाएँ निवारित हो सकती हैं। पैप्पलाद शाखा में "यति" के स्थान में "यदि" पाठ है]।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वरणमणिः, वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अरात्यास्त्वा निर्ऋत्या अभिचारादथो भयात्।

मृत्योरोजीयसो वधाद्वरणो वारयिष्यते॥ ७॥

अर्थ—(अरात्याः) अदानभावना अर्थात् कञ्जूसी से, (निर्ऋत्याः) कृच्छ्रापत्ति से, (अभिचारात्) शत्रु द्वारा किये गये घातक तथा दुःखप्रद कर्मों के प्रभाव से, (अथो) तथा (भयात्) अन्य प्रकार के भयों से, और (मृत्योः) मृत्यु सम्बन्धी (ओजीयसः) प्रबल (वधात्) वध के साधनों से (वरणः) वरण ओषधि (वारयिष्यते) तुझे सुरक्षित करेगी।

[मानसिक रोगों, मानसिक तथा शारीरिक कष्टों, भयावेश, तथा मृत्युकारी यक्ष्म, रक्ताल्पता, शरीर का पीलापन आदि रोगों से मुक्ति, वरण ओषधि द्वारा सम्भव है]।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वरणमणिः, वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

यन्मे माता यन्मे पिता भ्रातरो यच्च मे स्वा यदेनश्चकृमा वयम्।

ततो नो वारयिष्यतेयं देवो वनस्पतिः॥ ८॥

अर्थ—(यत् एनः) जो पाप (मे माता) मेरी माता ने, (यत् मे पिता) जो मेरे पिता ने, (यत् च) और जो (मे) मेरे (स्वाः भ्रातरः) अपने भाइयों ने, (यद्) जो (वयम्) हम सब ने मिल कर पाप (चकृम) किये हैं, (ततः) उन से (नः) हमें (अयम्) यह (देवः) दिव्यगुणों वाली (वनस्पतिः) वरण-वनस्पति (वारयिष्यते) निवारित कर देगी।

[वरण-ओषधि पापकर्मों के दुष्परिणामों अर्थात् शारीरिक, ऐन्द्रियिक और मानसिक हमारे रोगों को निवारित करे। वनस्पति का अर्थ "वनों का अधिपति" वरण-सेनाध्यक्ष करने पर अभिप्राय यह होगा कि वह हमें राष्ट्रिय-पापकर्मों के करने से भविष्य में, निवारित करता रहे]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वरणमणिः, वनस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

वरणेन प्रव्यथिता भ्रातृव्या मे सबन्धवः। असूर्तं रजो अप्यगुस्ते यन्त्वधमं तमः॥ ९॥

अर्थ—(वरणेन) शत्रुनिवारक सेनाध्यक्ष द्वारा (प्रव्यथिताः) उग्र व्यथा को प्राप्त हुए (मे) मेरे (भ्रातृव्याः) शत्रु, (सबन्धवः) बन्धुओं सहित, (असूर्तम्) हम द्वारा अप्रेरित, अशासित (रजः) प्रदेशों में (अपि अगुः) चले गये हैं, छिप गये हैं। (ते) वे (अधमम् तमः) अधम तम अर्थात् अन्धकार को (यन्तु) प्राप्त हों।

[मन्त्र में सेनाध्यक्ष का वर्णन है। असुर और देव दोनों भाई हैं। "**द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च**" (बृहदा० उप० १.३.१)। असुर निज भोग प्रवृत्ति के कारण दूषित हो गये। परिणामतः उनकी सन्तानें भी दुष्प्रवृत्तियों वाली हो गईं। ये सन्तानें शत्रु हैं, भ्रातृव्य हैं। इनके अन्य सम्बन्धी भी, अर्थात् इनके साथ जिन अन्यों ने वैवाहिक सम्बन्ध किये हैं वे हैं "सबन्धवः"। वे भी दूषितप्रकृति के सम्भावित हैं, यतः "**समानशीलव्यसनेषु सख्यम्**"। ऐसे व्यक्तियों को सेनाध्यक्ष उग्र व्यथाओं में डाले, ऐसा वैदिकविधान मन्त्र द्वारा द्योतित होता है। तथा उन्हें तमःप्रधान स्थानों में बन्द कर दे, यह वेदोक्त दण्ड[१] है। असूर्तम्=अ+सृ (**प्रेरणे,** तुदादिः)+क्त; रेफस्यागमः, अर्थात् हम शासकों द्वारा अप्रेरित, अशासित प्रदेश। रजः="**लोका रजांस्युच्यन्ते**" (निरुक्त ४.३.१९)। अप्यगुः=अपि+अगुः]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वरणमणिः, वनस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अरिष्टोहमरिष्टगुरायुष्मान्त्सर्वपूरुषः। तं मायं वरणो मणिः परि पातु दिशोदिशः॥ १०॥

अर्थ—(अहम्) मैं [राजा] (अरिष्टः) हिंसा से बच गया हूँ, (अरिष्टगुः) मेरी राष्ट्रभूमि हिंसारहित हो गई है, (सर्वपूरुषः) मैं सब पुरुषों समेत (आयुष्मान्) सुरक्षित हो गया हूँ। (अयम्, वरणः, मणिः) यह श्रेष्ठ, शत्रुनिवारक सेनाध्यक्ष (तम्, मा) उस मुझ को (दिशः दिशः) प्रत्येक दिशा से (परिपातु) सब प्रकार से सुरक्षित करे।

[अरिष्टगुः="**गौः पृथिवीनाम**" (निघं० १.१), अथवा युद्ध के न होने से मेरे राष्ट्र की गोसम्पत् बच गई है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वरणमणिः, वनस्पतिः**॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**॥

अयं मे वरण उरसि राजा देवो वनस्पतिः।
स मे शत्रून्वि बाधतामिन्द्रो दस्यूनिवासुरान्॥ ११॥

---

१. अपराधियों की अनुपस्थिति में भी यह दण्ड है।

अर्थ—(अयम्) यह (वरणः) शत्रुनिवारक सेनाध्यक्ष (मे) मेरे (उरसि) हृदय में [बस गया है], (वनस्पतिः देवः) वनों की रक्षा करने वाला यह देव (राजा) वस्तुतः राष्ट्र का राजा है। (सः) वह (मे शत्रून्) मेरे शत्रुओं को (वि बाधताम्) विशेषरूप में विलोडित करे (इव) जैसे कि (इन्द्रः) सम्राट् (दस्यून् असुरान्) दस्युओं और असुरों को विलोडत करता है।

[बाधताम्=**बाधृ विलोडने** (भ्वादिः)। विलोडन=कम्पाना। इन्द्रः=सम्राट् (यजुः० ८.३७)। दस्यून्=**दसु उपक्षये** (दिवादिः), क्षय करने वाले अत्याचारी डाकू आदि। असुरान् (मन्त्र १०)]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वरणमणिः, वनस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

इमं बिभर्मि वरणमायुष्माञ्छतशारदः।

स मे राष्ट्रं च क्षत्रं च पशूनोजश्च मे दधत्॥ १२॥

अर्थ—(इमम्) इस (वरणम्) शत्रुनिवारक सेनाध्यक्ष का (दधत्) धारणपोषण करता हुआ मैं राजा (आयुष्मान्) दीर्घ आयु वाला, (शतशारदः) सौ वर्षों का (बिभर्मि) हो गया हूँ। (सः) वह सेनाध्यक्ष (मे) मेरे (राष्ट्रम् च) राष्ट्र का, (क्षत्रम् च) और क्षात्रशक्ति तथा धन सम्पत् का, (मे पशून्, ओजः च) मेरे पशुओं और ओज का (दधत्) धारण-पोषण करता है।

[**क्षत्रं धननाम** (निघं० २.१०)]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वरणमणिः, वनस्पतिः**॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः**॥

यथा वातो वनस्पतीन्वृक्षान्भनक्त्योजसा।

एवा सपत्नान्मे भङ्ग्धि पूर्वाञ्जाताँ उतापरान्वरणस्त्वाभि रक्षतु॥ १३॥

अर्थ—(यथा) जैसे (वातः) प्रबल वायु (ओजसा) ओज द्वारा (वनस्पतीन्) वन के बड़े-बड़े (वृक्षान्) वृक्षों को (भनक्ति) भग्न करती है, तोड़ देती है, (एवा) इसी प्रकार [हे सेना के सर्वोच्चाधिकारी!] तू (पूर्वान् जातान्) पूर्व काल के, (उत) और (अपरान्) उन से भिन्न अवर काल के, (मे) मेरे (सपत्नान्) शत्रुओं को (भङ्ग्धि) तोड़-फोड़ दे। हे राजन्! (त्वा) तुझे (वरणः) शत्रुनिवारक सेनाध्यक्ष (अभिरक्षतु) सब ओर से सुरक्षित करे।

[राष्ट्र के शत्रु जब बहुसंख्या में हो जाएँ। तब उनके पूर्ण संहार के लिए राजा, सेना के सर्वोच्चाधिकारी को आज्ञा दे। यह अधिकारी तब स्वयं अग्रसर हो कर, शत्रु सेनाओं के साथ युद्ध करने में व्यापृत हो जाता है। ऐसी अवस्था में, जब कि समग्रसेना युद्ध में व्यापृत हो, कहीं प्रजा बलवा न कर दे, इसलिए सर्वोच्चाधिकारी सुपरीक्षित वरण को राजा और राजधानी की सुरक्षा के लिए नियुक्त करता है, और राजा को आश्वासन देता है कि वरण तुम्हारी रक्षा सब ओर से करेगा।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वरणमणिः, वनस्पतिः**॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः**॥

यथा वातश्चाग्निश्च वृक्षान्प्सातो वनस्पतीन्।

एवा सपत्नान्मे प्साहि पूर्वाञ्जाताँ उतापरान्वरणस्त्वाभि रक्षतु॥ १४॥

अर्थ—(यथा) जिस प्रकार (वातः च अग्निः च) प्रबल वायु और अग्नि (वनस्पतीन् वृक्षान्) वन के पति अर्थात् बड़े-बड़े वृक्षों का (प्सातः) भक्षण करते हैं, उन्हें विनष्ट करते हैं, (एवा) इसी प्रकार [हे

सेना के सर्वोच्चाधिकारी!] तू (पूर्वान् जातान्) पूर्वकाल के, (उत) और (अपरान्) उन से भिन्न अवरकाल के (मे) मेरे (सपत्नान्) शत्रुओं को (भङ्ग्धि) तोड़-फोड़ दे। हे राजन्! (त्वा) तुझे (वरणः) शत्रुनिवारक-सेनाध्यक्ष (अभि रक्षतु) सब ओर से सुरक्षित करे।

[वायु के प्रबल प्रवाह में वनाग्नि के अधिक प्रचण्ड हो जाने से मानो वायु और अग्नि दोनों वनों का भक्षण करते हैं। अभिप्राय पूर्ववत् (१३)। प्सातः=**प्सा भक्षणे** (अदादिः)]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वरणमणिः, वनस्पतिः**॥ छन्दः—**षट्पदा जगती**॥

यथा वातेन प्रक्षीणा वृक्षाः शेरे न्यर्पिताः। एवा सपत्नांस्त्वं मम

प्र क्षिणीहि न्यर्पय पूर्वाञ्जाताँ उतापरान्वरणस्त्वाभि रक्षतु॥ १५॥

अर्थ—(यथा) जिस प्रकार (वातेन) प्रबल वायु द्वारा (प्रक्षीणाः) अत्यन्त निर्बल हुए (वृक्षाः) वृक्ष (शेरे=शेरते) भूशायी हो जाते हैं, और [भूमि के प्रति] (न्यर्पिताः) नितरां समर्पित हो जाते हैं, (एवा) इसी प्रकार [हे सेना के सर्वोच्चाधिकारी!] (त्वम्) तू (पूर्वान् जातान्) पूर्वकाल के (उत) और (अपरान्) उन से भिन्न अवर काल के (मम सपत्नान्) मेरे शत्रुओं को (प्रक्षिणीहि) अत्यन्त निर्बल कर, (न्यर्पय) और [मेरे प्रति] उन्हें नितरां अर्पित कर। हे राजन्! (त्वा) तुझे (वरणः) शत्रुनिवारक सेनाध्यक्ष (अभि रक्षतु) सब ओर से सुरक्षित करे। [अभिप्राय पूर्ववत् (१३)। प्रबल वायु के चलने पर वृक्ष क्षीण होकर भूशायी हो जाते हैं]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वरणमणिः, वनस्पतिः**॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**॥

तांस्त्वं प्र च्छिन्द्धि वरण पुरा दिष्टात्पुरायुषः।

य एनं पशुषु दिप्सन्ति ये चास्य राष्ट्रदिप्सवः॥ १६॥

अर्थ—(वरण) हे शत्रुनिवारक-सेनाध्यक्ष! (त्वम्) तू (तान्) उन्हें (दिष्टात् पुरा) राजा द्वारा निर्देश पाने से पहिले ही (प्रच्छिन्द्धि) छिन्न-भिन्न कर दे (पुरा आयुषः) चाहे वे अल्प आयु के ही हों, (ये) जोकि (एनम्) इस राजा को (पशुषु) पशुओं की प्राप्ति के निमित्त (दिप्सन्ति) मारना चाहते हैं, या इसके साथ दम्भ अर्थात् छल-कपट करना चाहते हैं, (ये च) और जो (अस्य) इस राजा के (राष्ट्रदिप्सवः) राष्ट्रच्युति के निमित्त उसे मारना चाहते हैं या उसके साथ दम्भ अर्थात् छल-कपट करना चाहते हैं।

[दिप्सवः "**दभ्नोति वधकर्मा**" (निघं० २.१९); तथा **दम्भु दम्भने** (स्वादिः), दम्भनम्=छल-कपट। सेना का सर्वोच्चाधिकारी, युद्धनिमित्त प्रस्थान करते समय, राजा और राष्ट्र की रक्षा के लिए निर्देश देता है। पुरायुषः="छोटी आयु का शत्रु है, इसका विचार न करते हुए, दिप्सु के वध करने का निर्देश हुआ है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वरणमणिः, वनस्पतिः**॥ छन्दः—**षट्पदा जगती**॥

यथा सूर्यो अतिभाति यथास्मिन्तेज आहितम्। एवा मे वरणो मणिः

कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा॥ १७॥

अर्थ—(यथा) जैसे (सूर्यः अतिभाति) सूर्य खूब चमकता तथा दूर-दूर तक चमकता है, (यथा) जैसे (अस्मिन्) इस सूर्य में (तेजः) तेज (आहितम्) स्थित है। (एवा) इसी प्रकार (वरणः मणिः) श्रेष्ठ

तथा शत्रुनिवारक सेनाध्यक्षरूपी राज्यरत्न (मे) मुझ [राजा] में (कीर्त्तिम्) कीर्ति को और (भूतिम्) वैभव को (नियच्छतु) नियत करे, स्थापित करे, (तेजसा) तेज से (मा) मुझे (समुक्षतु) सम्यक्-सींचे, (यशसा) यश से (मा) मुझे (समनक्तु) सम्यक्-कान्तिमान् करे।

[समुक्षतु=सम्+उक्ष (सेचने, भ्वादिः)। समनक्तु=सम्+**अञ्जू कान्तौ** (रुधादिः)]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वरणमणिः, वनस्पतिः**॥ छन्दः—**षट्पदा जगती**॥

यथा यशश्चन्द्रमस्यादित्ये च नृचक्षसि। एवा मे वरणो मणिः
कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा॥ १८॥

अर्थ—(यथा) जैसे (यशः) यश (चन्द्रमसि, आदित्ये च नृचक्षसि) मनुष्यों पर दृष्टि रखने वाले चन्द्रमा और आदित्य में है। (एवा) इसी प्रकार (वरणः मणिः) श्रेष्ठ तथा शत्रुनिवारक सेनाध्यक्षरूपी राज्यरत्न (मे) मुझ राजा में (कीर्त्तिम्) कीर्त्ति को, और (भूतिम्) वैभव को (नियच्छतु) नियत करे, स्थापित करे, (तेजसा) तेज से (मा) मुझे (समुक्षतु) सम्यक् सींचे, (यशसा) यश से (मा) मुझे (समनक्तु) सम्यक्-कान्तिमान् करे।

["नृचक्षसि" का अन्वय चन्द्रमा और आदित्य दोनों के साथ है। आदित्य दिन के समय, और चन्द्रमा रात्रि के समय "नृचक्षाः" है। मन्त्र में राजा भी यश की प्राप्ति का इच्छुक है। राजा भी चन्द्रमा[1] और आदित्य[1] के दृष्टान्त द्वारा "नृचक्षाः" होने के यश का अभिलाषी है। वह भी चाहता है कि प्रजाजनों पर उसकी सदा दृष्टि रहे, प्रजाजनों के सुख-दुःख तथा समुन्नति उसकी दृष्टि में सदा रहें]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वरणमणिः, वनस्पतिः**॥ छन्दः—**षट्पदा जगती**॥

यथा यशः पृथिव्यां यथास्मिञ्जातवेदसि। एवा मे वरणो मणिः
कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा॥ १९॥

अर्थ—(यथा) जिस प्रकार (पृथिव्यां यशः) पृथिवी में यश है, (यथा) जिस प्रकार (अस्मिन् जातवेदसि) इस यज्ञिय-जातवेदा-अग्नि में यश है। (एवा) इसी प्रकार (वरणः मणिः) श्रेष्ठ शत्रुनिवारक-सेनाध्यक्षरूपी राज्यरत्न (मे) मुझ में (कीर्तिम् भूतिम्) कीर्ति और वैभव को (नियच्छतु) नियत करे, स्थापित करे, (तेजसा) तेज से (मा) मुझे (समुक्षतु) सम्यक् सींचे, (यशसा) यश से (मा) (समनक्तु) सम्यक्-कीर्तिमान् करे।

[राजा "पृथिवी" के और "जातवेदाः" के यश के सदृश, यश प्राप्त करना चाहता है। "**पृथिवी धेनुस्तस्या अग्निर्वत्सः। सा मेऽग्निना वत्सेनेषमूर्जं कामं दुहाम्**" (अथर्व० ४.३९.२) में "पृथिवी और अग्नि" से इष् अर्थात् अभीष्ट अन्न, ऊर्ज अर्थात् बल-प्राण, तथा रसीले दुग्ध तथा अन्नरस, और अन्य काम अर्थात् काम्यपदार्थों की प्राप्ति का वर्णन हुआ है। व्याख्येय मन्त्र १९ में राजा, प्रजाओं के लिए, इन वस्तुओं की प्राप्ति का यश चाहता है। ये वस्तुएँ तभी प्राप्त हो सकती हैं, जब कि राज्य में शान्ति हो, तदर्थ राजा सेनाध्यक्ष की सहायता का आकांक्षी है। अन्नादि की प्राप्ति पृथिवी से होती है, परन्तु इस निमित्त जातवेदाः अग्नि का भी सहयोग चाहिए। यथा "**अग्नौ प्रास्ताहुतिस्तावदादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिः**

१. चन्द्रमा शीतल है, और आदित्य तीक्ष्ण। राजा भी इन दोनों दृष्टियों द्वारा शासन करना चाहता है।

"वृष्टेरन्नम्" ततः प्रजाः"। अग्नि अर्थात् जातवेदाः भी अन्नोत्पादन में सहायक होती है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वरणमणिः, वनस्पतिः**॥ छन्दः—**षट्पदा जगती**॥

यथा यशः कन्यायां यथास्मिन्त्संभृते रथे। एवा मे वरणो मणिः

कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा॥ २०॥

अर्थ—(यथा) जैसा (यशः) यश (कन्यायाम्) कन्या में है, (यथा) जैसा यश (संभृते अस्मिन् रथे) हार आदि संभारों से युक्त इस रथ में है, (एवा) इसी प्रकार (मे) मुझे में (वरणः मणिः) श्रेष्ठरत्नरूप शत्रुनिवारक-सेनाध्यक्ष (कीर्तिम्, भूतिम्) कीर्ति और वैभव (नियच्छतु) नियत करे, स्थापित करे, (तेजसा) तेज द्वारा (मा) मुझे (समुक्षतु) सम्यक् सींचे, (यशसा) यश से (मा) मुझे (समनक्तु) सम्यक्-कान्तिमान् करे।

[मन्त्र में विवाह-योग्य कन्या का, तथा विवाह के पश्चात् कन्या ने जिस रथ द्वारा पति की ओर जाना है, उसकी सजावट का वर्णन हुआ है। कन्या के सम्बन्ध में कहा है कि **"कन्या कमनीया भवति, "कनतेर्वा स्यात् कान्तिकर्मणः"** (निरुक्त ४.२.१५)। अर्थात् कन्या को लोग चाहते हैं, या कन्या विवाह काल में कान्ति से सम्पन्न होती है। राजा भी इस यश को प्राप्त करना चाहता है। वह चाहता है कि सब प्रजाएँ मुझे चाहें, यथा **"विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु"** (अथर्व० ४.८.४) अर्थात् सब प्रजाएँ तुझे चाहें। तथा राजा ऐसे रथ[1] के सदृश राज्यश्री द्वारा सुशोभित भी होना चाहता है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वरणमणिः, वनस्पतिः**॥ छन्दः—**षट्पदा जगती**॥

यथा यशः सोमपीथे मधुपर्के यथा यशः। एवा मे वरणो मणिः

कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा॥ २१॥

अर्थ—(यथा) जैसा (यशः) यश (सोमपीथे) सोम के पान में है, (यथा) जैसा (यशः) यश (मधुपर्के) मधुपर्क में है। (एवा) इसी प्रकार (मे) मुझ में (वरणः मणिः) श्रेष्ठरत्नरूप शत्रुनिवारक-सेनाध्यक्ष (कीर्तिम्, भूतिम्) कीर्ति और वैभव (नियच्छतु) नियत करे, स्थापित करे। (तेजसा) तेज द्वारा (मा) मुझे (समुक्षतु) सम्यक् सींचे, (यशसा) यश से (मा) मुझे (समनक्तु) सम्यक्-कान्तिमान् करे।

[सोम ओषधि के रस के पान के आश्चर्ययुक्त गुणों का वर्णन वेदों में हुआ है, संक्षेप में यह शरीर में बल प्रदान करता, इन्द्रियों में स्फूर्ति, तथा मन की मननशक्ति को बढ़ाता है। मधुपर्क में ३ पदार्थ होते हैं मधु, दधि और घृत। ये आयुष्कर और स्वास्थ्यवर्धक तथा मीठे होते हैं। राजा इन्हें प्रजा के लिए प्राप्त कर प्रजा में यशस्वी होने का अभिलाषी है। सेनाध्यक्ष द्वारा राज्य में शान्तवातावरण होने से ये वस्तुएँ प्राप्त हो सकती हैं। मधुपर्क विवाह के समय वर को दिया जाता है। मन्त्र २० में कन्या और उसके संभृत-रथ का वर्णन हुआ है, और मन्त्र २१ में मधुपर्क का। अतः इन दो मन्त्रों में पारस्परिक समन्वय दर्शाया है। मधुपर्क द्वारा विवाह की सूचना दे कर, भविष्य में होने वाली सन्तानों की सात्त्विक पुष्टि के लिए, "सोमपीथे" द्वारा एक निर्देश भी किया है। "सोमपीथे" द्वारा मातृदुग्ध को सोम सदृश पुष्टिकारक सूचित किया है। वैदिक साहित्य में सोम[2] पद दुग्ध के लिए भी प्रयुक्त होता है]।

---

१. कन्या का रथ, (अथर्व० १४.१.६१; २.१०, १२, ३०)।

२. **"अनूपे गोमान् गोभिरक्षाः सोमो दुग्धाभिरक्षाः"** (ऋ० ९.१०७.९)।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वरणमणिः, वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**षट्पदा जगती** ॥

यथा यशोऽग्निहोत्रे वषट्कारे यथा यशः। एवा मे वरणो मणिः
कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा॥ २२॥

अर्थ—(यथा) जैसा (यशः) यश (अग्निहोत्रे) अग्निहोत्र में है, (यथा) जैसा (यशः) यश (वषट्कारे) वषट् के उच्चारण में है। (एवा) इसी प्रकार (मे) मुझ में (वरणः, मणिः) श्रेष्ठ तथा रत्नरूप शत्रुनिवारक-सेनाध्यक्ष (कीर्तिम्) कीर्ति को (भूतिम्) वैभव को (नियच्छतु) नियत करे, स्थापित करे, (तेजसा) तेज द्वारा (मा) मुझे (समुक्षतु) सम्यक् सींचे, (यशसा) यश द्वारा (मा) मुझे (समनक्तु) सम्यक्-कान्तिमान् करे।

[मन्त्र में अग्निहोत्र तथा याज्यामन्त्रों द्वारा सम्पाद्य यज्ञ का वर्णन हुआ है। ''वषट्'' शब्द के उच्चारण पूर्वक आहुति प्रदान, याज्यामन्त्र की समाप्ति पर किया जाता है। अग्निहोत्र में आहुति-प्रदान, ''स्वाहा'' शब्द के उच्चारण पूर्वक होता है। स्वाहा+सु (उत्तम पूर्वक)+आ (पूर्णतया)+हा (त्याग); **''ओहाक् त्यागे''** (जुहोत्यादिः)। ''वषट्'' शब्द भी त्यागार्थक है। वह (प्रापणे)+अस् (भुवि)+शतृ= व+स्+अत्=वसत्=वषट्। ''ह-और-अ'' का लोप, तथा स्-को-ष्, वर्ण विकार द्वारा। अतः वषट् का अर्थ ''वह'' (प्रापणे) के सदृश ही है।

[राजा भी राष्ट्रयज्ञ रचाता हुआ, त्यागभावना का अभिलाषी होकर, यश का भागी होना चाहता है। तथा राज्य में अग्निहोत्र तथा यज्ञों का प्रचार-विस्तार चाहता हुआ, इस यश का भी भागी होना चाहता है]।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वरणमणिः, वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**षट्पदा जगती** ॥

यथा यशो यजमाने यथास्मिन्यज्ञ आहितम्। एवा मे वरणो मणिः
कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा॥ २३॥

अर्थ—(यथा) जैसा (यशः) यश (यजमाने) यजमान में तथा (यथा) जैसा (अस्मिन् यज्ञे) इस यज्ञ में (आहितम्) निहित है, स्थापित है। (एवा) इसी प्रकार (मे) मुझ में (वरणः मणिः) श्रेष्ठ तथा रत्नरूप शत्रुनिवारक-सेनाध्यक्ष (कीर्तिम्) कीर्ति को, (भूतिम्) वैभव को (नियच्छतु) नियत करे, स्थापित करे, (तेजसा) तेज से (मा) मुझे (समुक्षतु) सम्यक् सींचे, (यशसा) यश द्वारा (मा) मुझे (समनक्तु) सम्यक्-कान्तिमान् करे।

[यजमान का अर्थ है यज्ञ करने वाला, अर्थात् देवपूजा, सत्संगति, तथा दान करने वाला। यज्ञ का भी अर्थ है वह कर्म, जिसमें कि देवों की पूजा हो, सत्संगति हो, तथा दान दिया जाए। राजा भी यजमान बन कर, राष्ट्र यज्ञ को रचाने का संकल्प करके, राष्ट्र के देवों की पूजा, उनके सत्संग, तथा उन्हें दान देने का अभिलाषी है]।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वरणमणिः, वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**षट्पदा जगती** ॥

यथा यशः प्रजापतौ यथास्मिन्परमेष्ठिनि। एवा मे वरणो मणिः
कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा॥ २४॥

अर्थ—(यथा) जैसा (यशः) यश (प्रजापतौ) प्रजापति में, तथा (यथा) जैसा (अस्मिन्) इस (परमेष्ठिनि) परमेष्ठी में है। (एवा) इसी प्रकार (मे) मुझ में (वरणः मणिः) श्रेष्ठ रत्नरूपी शत्रुनिवारक-

सेनाध्यक्ष (कीर्तिम्) कीर्ति को और (भूतिम्) वैभव को (नियच्छतु) नियत करे, स्थापित करे, (तेजसा) तेज से (मा) मुझे (समुक्षतु) सम्यक् सींचे, (यशसा) यश द्वारा (मा) मुझे (समनक्तु) सम्यक्-कान्तिमान् करे।

[मन्त्र में प्रजापति और परमेष्ठी इन दो स्वरूपों का कथन किया है। "प्रजापति" द्वारा ब्रह्मरूप का, तथा "परमेष्ठी" द्वारा जगत्स्रष्टृत्वरूप परमेश्वर का। इसीलिए "परमेष्ठिनि" का निर्देश "अस्मिन्" पद द्वारा किया है, जो कि सम्मुख तथा समीपस्थ है। परमेष्ठी के स्वरूप के सम्बन्ध में कहा है कि **"ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम्"** (अथर्व० १०.७.१७), अर्थात् जो तत्त्ववेत्ता, पुरुष अर्थात् शरीर-पुरी में शयन करने वाले या वसने वाले जीवात्मा में ब्रह्म को स्थित हुआ जानते हैं, वे ब्रह्म के परमेष्ठी स्वरूप को जानते हैं। परमेष्ठी का अर्थ है "परम-स्थान में स्थित। परमेश्वर की स्थिति के दो स्थान हैं "प्रकृति और प्राकृतिक पदार्थ" तथा जीवात्मा। प्रकृति और प्राकृतिक पदार्थ "अवर" हैं, और जीवात्मा "परम" है। इस "परम" में स्थित को समीपस्थ जान कर इसे "अस्मिन्" पद द्वारा निर्दिष्ट किया है। तथा "परमेष्ठी" के लिए देखो (अथर्व० १०.२.२०,२१)। वहाँ प्रकरणानुरूप "परमेष्ठी[१]" का अर्थ जीवात्मा किया है। (अथर्व० १०.२.२०, २१) के २१ वें मन्त्र में "ब्रह्म-और-परमेष्ठी" इन दो का वर्णन हुआ है। अतः व्याख्येय मन्त्र में प्रजापति द्वारा ब्रह्म का ग्रहण सुसंगत प्रतीत होता है]।

"प्रजापति" का यश है कि वह सब प्रजाओं का पति होता हुआ, प्रलयकाल में निर्लिप्त हुआ, शयन सा कर रहा होता है, और वही सर्जन काल में प्रबुद्ध सा हुआ परमेठीरूप हो जाता है। जैसे कि शयन कर रहा धनपति, शयनावस्था में भी निजधन का पति होता है, और प्रबुद्ध हो जाने पर निजधन द्वारा व्यापारादि कर्म करता है। राजा भी शासन होने में दो स्वरूपों का यश चाहता है। अप्रबुद्धावस्था[२] में भी वह शासक होने का यश चाहता है, और प्रबुद्धावस्था में भी। इन दोनों अवस्थाओं में उसके शासकत्व की सुरक्षा "वरणमणि" करता है]।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वरणमणिः, वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**षट्पदा जगती** ॥

यथा॑ दे॒वेष्व॒मृतं॒ यथै॑षु स॒त्यमाहि॑तम्। ए॒वा मे॑ वर॒णो म॒णिः
की॒र्तिं भूतिं॒ नि य॑च्छतु॒ तेज॑सा मा॒ सम॑ुक्षतु॒ यश॑सा॒ सम॑नक्तु मा ॥ २५ ॥

अर्थ—(यथा) जैसे (देवेषु) दिव्यगुणी व्यक्तियों में (अमृतम्) अमर-परमेश्वर या अमृतत्व अर्थात् मोक्ष, और (यथा) जैसे (एषु) इनमें (सत्यम्) सत्यभाषण आदि व्यवहार (आहितम्) निहित होता है। (एवा) इसी प्रकार (मे) मुझे में (वरणः मणिः) श्रेष्ठरत्नरूपी शत्रुनिवारक-सेनाध्यक्ष (कीर्तिम्) कीर्ति को, और (भूतिम्) वैभव को (नि यच्छतु) नियत करे, स्थापित करे (तेजसा) तेज से (मा) मुझे (समुक्षतु) सम्यक् सींचे, (यशसा) यश द्वारा (मा) मुझे (समनक्तु) सम्यक्-कान्तिमान् करे।

[अमृतम्=न मरने वाला अमर-परमेश्वर, अ+मृ (मरणे)+क्तः (कर्तरि)। अथवा अ+मृ+क्तः (भावे), अर्थात् अमृतत्त्व, मोक्ष। मन्त्र में देवों में "यशः" का वर्णन नहीं किया, जैसे कि पूर्व के मन्त्रों में हुआ है। सम्भवतः मन्त्र में यह दर्शाया है कि "देवों" में अमृत और सत्य की स्थिति ही उनका "यशः" है।

१. वैदिक पदों के यौगिकार्थ की दृष्टि से, प्रकरणानुरूप भिन्न-भिन्न अर्थ भी उपादेय हैं।
२. देखो मन्त्र (६)।

सूक्त ४

विषय-प्रवेश

(१) **"अस्मिन् सूक्ते नाना सर्पाः, तेषां च विषाणि, तत्प्रतीकाराश्च कवितावाग्विषयः। सर्पविषभैषज्ये च मन्त्राः। सर्पविषहारिकाश्च काश्चिदोषधयः"** (सायण)। अर्थात् इस सूक्त में नाना सर्पों, उनके विषों, और उनके प्रतीकार का वर्णन कविता में किया है। सर्पविषचिकित्सा तथा सर्पविष का हरण करने वाली कतिपय ओषधियों का भी वर्णन हुआ है।

(२) विद्युत्, मिट्टी आदि दिव्य पदार्थों, जल चिकित्सा, तथा विष का विष द्वारा विनाश का प्रयोग (मन्त्र १); दर्भ और तरूणक का प्रयोग (मन्त्र २), श्वेत पुनर्नवा की तथा श्वेत सर्षप की जड़ों का प्रयोग (मन्त्र ३)।

(३) सर्प के नाश के लिए "न्योले" का प्रयोग (मन्त्र ४); पैद्व [न्योले] का उपयोग और उसकी पहिचान (मन्त्र ६, ७, १०, ११)। सांप को दण्ड द्वारा तथा बिच्छु को हथौड़े द्वारा मारना (मन्त्र ९)।

(४) कैरातिका कुमारिका सर्पिणी द्वारा खोदी गई भेषज सम्भवतः सर्पविषनाशक है (मन्त्र १४)।

(५) युवा भिषक्=सम्भवतः युवावस्था[१] का न्योला (मन्त्र १५), कविता में।

(६) वर्षर्तु में सर्पाभिव्यक्ति (मन्त्र १६, १७)।

(७) नदी के बहते-प्रवाह में जा कर, जल चिकित्सा द्वारा, सर्पविष का निराकरण, (मन्त्र १९,२०)।

(८) ओषधियाँ दो प्रकार की, (१) विषनाशक; (२) तथा स्वास्थ्यवर्धक (मन्त्र २१)।

(९) विष के नाना प्रकार (मन्त्र २२)।

(१०) अग्निप्रधान प्रदेशों, ओषधियों तथा जलों में उत्पन्न सर्प (मन्त्र २३)।

(११) घृतकुमारी की जड़ विषनाशक, तथा सर्प को व्यथादायिनी (मन्त्र २४)।

(१२) तौदी या घृतकुमारी की जड़, तथा अग्नि और सोम, शरीरप्रविष्ट सर्पविष के प्रतिबन्धक, तथा निवारक हैं (मन्त्र २४, २५)। विष द्वारा सर्पविष का विनाश (२५)।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषापाकरणम्**॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः**॥

इन्द्रस्य प्रथमो रथो देवानामपरो रथो वरुणस्य तृतीय इत्।
अहीनामपमा रथ स्थाणुमारदथार्षत्॥ १॥

अर्थ—(इन्द्रस्य) विद्युत् की (रथः) गति [सर्पविष चिकित्सा में] (प्रथमः) प्रथम कोटि की है और (देवानाम्) अन्य दिव्यपदार्थों [मिट्टी का लेप, दष्टस्थान का जलाना आदि] की (रथः) गति (अपरः) द्वितीय कोटि की है, (वरुणस्य) जल की [रथः] गति (तृतीयः इत्) तीसरी कोटि की है, (अहीनाम्) सांपों की (रथः) गति (अपमा) अपमानित[२] सी है। विष (स्थाणुम्) एक नियत स्थान में (आरत्) आ गया है, (अथ) और (अर्षत्=अरिषत्) विनष्ट हो गया है।

[निरुक्त में वायु या इन्द्र को अन्तरिक्ष स्थानी देवता माना है (अध्या० १०। पाद १), "इन्द्र" है

१. बूढ़ा न्योला सर्पयुद्ध में असमर्थ हो जाता है।
२. प्रथम वर्णित ३ उपायों की अपेक्षया कम लाभप्रद है।

विद्युत् जो कि मेघ में चमकता है। सर्प के विष के प्रभाव को नष्ट करने में विद्युत्-धारा का प्रयोग करना सर्वोत्तम उपाय है। "वरुण" है जल का देवता। यथा "**वरुणोऽपामधिपतिः**" (अथर्व० ५.२४.४) इस द्वारा जलचिकित्सा सूचित की है। "देवानाम्" द्वारा मिट्टी का प्रलेप आदि दैवी चिकित्सा निर्दिष्ट की है। "अहीनाम्" द्वारा "विषस्य विषमौषधम्" के सिद्धान्त को सूचित किया है, अर्थात् विष के प्रयोग द्वारा विष का विनाश। यह सिद्धान्त होम्योपेथिक के सिद्धान्त सदृश है।

"रथः" का अर्थ रथ अभिप्रेत नहीं, अपितु रथ की गति अभिप्रेत है। यथा "**रथः रंहतेर्वा स्यात्, रंहतेः गतिकर्मणः**" में रथ शब्द गत्यर्थप्रधान है। (निरु० ९.२.११), तथा "**रथर्यति गतिकर्मा**" (निघं० २.१४) में भी रथ पद सर्वाधिक गतिमान् है, इत्यादि]।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषापाकरणम्**॥ छन्दः—**त्रिपदा यवमध्या गायत्री**॥

दुर्भः शोचिस्तरूणकमश्वस्य वारः परुषस्य वारः। रथस्य बन्धुरम्॥ २॥

अर्थ—(दर्भः) दर्भ नामक ओषधि, (शोचिः) धधकता अङ्गारा, (तरूणकम्) और तरूणक ओषधि (अश्वस्य[1]) अघाश्वनामक सर्प के विष को (वारः) निवारित करती है, (परुषस्य) उग्र सर्प के उग्र विष (मन्त्र ३) को (वारः) निवारित करती है। (रथस्य) विष की गति को (बन्धुरम्) बांध देती है, फैलाने नहीं देती।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषापाकरणम्**॥ छन्दः—**पथ्या बृहती**॥

अव श्वेत पदा जहि पूर्वेण चापरेण च। उदप्लुतमिव दार्वहीनामरसं विषं वारुग्रम्॥ ३॥

अर्थ—(श्वेत) हे श्वेत! (पूर्वेण च) पूर्व के (अपरेण च) और अपर के (पदा) पैर द्वारा (अव जहि) विष को मार डाल। (उदप्लुतम्) जल प्लुतियाँ करती हुई, तैरती हुई (दारु इव) लकड़ी की तरह (अहीनाम्) सांपों का (विषम्) विष (अरसम्) रस रहित हो गया है, (उग्रम्) उग्र विष (वाः) साधारण उदक हो गया है।

["श्वेत" पद द्वारा श्वेत पुनर्नवा" तथा "श्वेत सर्षप" का ग्रहण सम्भाव्य है। मन्त्र में इन दो ओषधियों में समान पद "श्वेत" द्वारा इन दो को सूचित किया है। (देखो विषाधिकार में तथा सर्पदष्ट चिकित्सा में श्वेत पुनर्नवा का योग, चक्रदत्त)। पुनर्नवा योग में "श्वेत पुनर्नवा" की जड़ के चूर्ण को तण्डुल जल के साथ पीने का विधान चक्रदत्त में हुआ है; तथा शिरीष अर्थात् सिरसा के फूलों के रस के साथ श्वेत सर्षप (श्वेत सरसों) के चूर्ण के पान, नस्य, तथा अञ्जन का भी विधान हुआ है।

व्याख्येय मन्त्र में "पदा" द्वारा "श्वेत" की जड़ सूचित की है। वृक्षों और ओषधियों को "पादप" कहते हैं। पादप का अर्थ है पादों अर्थात् जड़ों द्वारा जल को पीने वाले। अतः मन्त्रस्थ "पदा" द्वारा जड़ का ही ग्रहण सम्भावित है। "पदा" के विशेषण हैं "पूर्वेण च, अपरेण च"। अतः "श्वेत" ओषधियों की पूर्व दिशोन्मुख तथा पश्चिम दिशोन्मुख जड़ों का ग्रहण करना चाहिए, उत्तर दिशास्थ तथा दक्षिणदिशास्थ

१. "अघाश्व" नामक सर्प का निर्देश आधे नाम द्वारा किया है, जैसे देवदत्त को देव या दत्त द्वारा भी पुकारा जाता है। अघाश्व (मन्त्र १०)। यह अतिविष वाला सर्प है जो कि अश्व का भी घातक है "आहन्ति अश्वमिति, अघाश्वः"। तथा "**अघं हन्तेर्निर्ह्रसितोपसर्ग आहन्तीति**" (निरुक्त ६.३.११; अनवायम् ४३, तथा किमीदिने ४४ पदों की व्याख्या में)।

जड़ों का ग्रहण नहीं करना चाहिए। सूर्य पूर्व में उदय होता और पश्चिम में अस्त होता है। दोनों अवस्थाओं में सूर्य की लाल किरणों का प्रभाव, पूर्व दिशास्थ तथा पश्चिम दिशास्थ जड़ों पर विशेष रूप से पड़ कर इनमें विशिष्ट गुणों का आधान करता है। उदयकालीन तथा अस्तंगामी सूर्य की किरणों में रोगनाशादि की विशेष शक्ति होती है, देखो (अथर्व० २.३२.१)।

"श्वेत" का सम्बोधन कविता की दृष्टि से है। इस सूक्त में विषयों का वर्णन बहुधा कवितारूप में हुआ है। इसलिए सायणाचार्य ने भी इस सूक्त को "कविवाग्विषयः" कहा है (अथर्व० १०.४.१-२६) सम्बन्धी विनियोग]।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषापाकरणम्**॥ छन्दः—**पथ्या बृहती**॥

अरंघुषो निमज्योन्मज्य पुनरब्रवीत्। उदप्लुतमिव दार्वहीनामरसं विषं वारुग्रम्॥ ४॥

अर्थ—(अरंघुषः) बहुत-घोष करने वाला [न्योला?] (निमज्य) डुबकी लगा कर, तथा (उन्मज्य) ऊपर उठ कर, (पुनः) बार-बार मानो (अब्रवीत्) कहता है कि [मेरे होते] "(उदप्लुतम्) उदक पर प्लुतियाँ लगाते हुए, तैरते हुए (दारु इव) काष्ठ के सदृश, (अहीनाम् विषम्) सांपों का विष (अरसम्) रसरहित है, (उग्रम्) उग्रविष (वाः) साधारण जलरूप है।"

[रसयुक्त हरा-काष्ठ भारी होता है, वह जल पर तैर नहीं सकता। "अरस" अर्थात् रसरहित सूखा-काष्ठ जल पर तैरता है। न्योले के सामने सांपों का विष भी मानो रसरहित हो गया है, सूख गया है, साधारण जल हो गया है। न्योले के सम्बन्ध में "अब्रवीत्" का प्रयोग कविता में है]।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषापाकरणम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

पैद्वो हन्ति कसर्णीलं पैद्वः श्वित्रमुतासितम्।
पैद्वो रथर्व्याः शिरः सं बिभेद पृदाक्वाः॥ ५॥

अर्थ—(पैद्वः) पैद्व (कसर्णीलम्) कसर्णील सांप का (हन्ति) हनन करता है, (पैद्वः) पैद्व (श्वित्रम्) श्वेतकुष्ठ सदृशवर्ण वाले सांप का, तथा (उत-असितम्) अश्वेत अर्थात् कृष्णवर्ण वाले सांप का [हनन] करता है। (पैद्वः) पैद्व (रथर्व्याः शिरः) रथर्वी सांपिन के सिर को, तथा (पृदाक्वाः) पृदाकुनी के सिर को (सं बिभेद) सम्यक् तोड़ता है, कुचलता है।

[पैद्व सम्भवतः न्योला है (मन्त्र ४)। रथर्वी=रथ की तरह शीघ्र गतिवाली, हिंसा शीला (रथ+**अर्व हिंसायाम्**)। पृदाकूः=महासर्पिणी]।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषापाकरणम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

पैद्व प्रेहि प्रथमोनु त्वा वयमेमसि। अहीन्व्यस्यतात्पथो येन स्मा वयमेमसि॥ ६॥

अर्थ—(पैद्व) हे पैद्व! तू (प्रथमः) पहिले (प्रेहि) आगे-आगे चल, (त्वा अनु) तेरे पीछे (वयम्) हम (एमसि) आते हैं। तू (अहीन्) सांपों को (पथः) मार्ग से (व्यस्यतात्) पृथक् हटाता जा (येन) जिस मार्ग द्वारा (वयम्) हम (एमसि स्म) आते हैं।

[जिन स्थानों में सांपों का बाहुल्य हो वहाँ जाना पड़े तो न्योले को अपने साथ ले जाने का विधान हुआ है। वहाँ न्योले को छोड़ देने पर सांप भाग जाते हैं, और मार्ग भय रहित हो जाता है। स्म=वाक्यालंकारे]।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषापाकरणम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

इ॒दं पै॒द्वो अ॑जायते॒दम॑स्य प॒राय॑णम्। इ॒मान्यर्व॑तः प॒दाहि॒घ्न्यो वा॒जिनी॑वतः॥ ७॥

अर्थ—(इदम्) इस भूस्थल में (पैद्वः अजायत्) पैद्व पैदा होता है, (इदम्) यह [जलाशय], (अस्य) इसका (परायणम्) दूसरा आने जाने का स्थान है। (इमानि) ये (पदा=पदानि) पैर हैं (अर्वतः) शीघ्रगामी, (वाजिनीवतः) शक्तिशाली, (अहिघ्न्यः) सांप के हनन कर्त्ता पैद्व के।

[इदम्=यह; तथा उदक (**इदम् उदकनाम,** निघं० १.१२)। मन्त्र में पैद्व की पहचान के लक्षण दर्शाए हैं, (१) वह भूस्थल पर भी रहता है, (२) जलाशय विहारी भी है, (३) शीघ्रगामी है, (४) शक्तिशाली है, (५) सांपों को मार सकता है। ''सायणाचार्य ने विनियोग में कहा है कि केशवाचार्य के अनुसार पैद्व कीट है, जिसे कि पीस कर नस्यरूप में नासिका में दिया जाता है, सर्प के विष की चिकित्सा में। यह अर्थ मन्त्रोक्त लक्षणों के प्रतिकूल है]।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषापाकरणम्**॥ छन्दः—**उष्णिग्गर्भा परा त्रिष्टुप्**॥

संय॑तं॒ न वि ष्प॑र॒द् व्यात्तं॒ न सं य॑मत्।

अ॒स्मिन्क्षेत्रे॒ द्वाव॒ही स्त्री च॒ पुमां॑श्च॒ तावु॒भाव॑र॒सा॥ ८॥

अर्थ—सांप (संयतम्) बन्द मुख को (न विष्परत्) न खोले, (व्यात्तम्) खुले मुख को (न संयतम्) न बन्द करे। (अस्मिन्) इस (क्षेत्रे) खेत में (द्वौ अही) दो सांप हैं (स्त्री च पुमान् च) मादा और नर। (तौ उभौ) वे दोनों (अरसा=अरसौ) रसरहित हैं, विषरहित हैं।

[स्परत्=**स्पृ प्रीतिचलनयोरित्यन्ये** (स्वादिः), ''चलन'' अर्थ में मुख के खुलने की भावना है। ''**स्फर स्फुरणे इत्येके**'' (तुदादिः)। स्फरत्=स्फरत्, वर्णविकारः। (१) सांप मुख खोल कर जब बन्द करता है तब विष का संचार करता है, तथा बन्द मुख को जब खोलता है वह भी विष का संचार करने के लिए होता है। दोनों अवस्थाओं को न होने देना चाहिए। यह सावधानी मन्त्र में दर्शाई है। (२) खेतों में प्रायः नर और मादा दोनों सांप होते हैं। (३) खेतों के सांप प्रायः अरस होते हैं, विषैले नहीं होते]।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषापाकरणम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अ॒र॒सास॑ इ॒हाह॑यो॒ ये अ॒न्ति ये च॑ दू॒रके॑।

घ॒नेन॑ ह॒न्मि वृश्चि॑क॒महिं॑ द॒ण्डेनाग॑तम्॥ ९॥

अर्थ—(इह) इस निवास स्थान में (ये) जो (अहयः) सांप (अन्ति) समीप में हैं (ये च) और जो (दूरके) दूर में हैं (अरसासः) वे विषरस से रहित हैं। तो भी (आगतम्, अहिम्) आए हुए सांप को (दण्डेन) दण्ड द्वारा, (वृश्चिकम्) और बिच्छु को (घनेन) हथौड़े द्वारा, (हन्मि) मैं मार डालता हूँ।

[सांप चाहे हमारे निवास स्थान के समीप में हों, या दूर में, चाहे विषरहित भी हों तो भी उन्हें मार डालना चाहिए, तथा बिच्छुओं को भी मार डालना चाहिए]।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषापाकरणम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अ॒घा॒श्वस्ये॒दं भे॑ष॒जमु॒भयोः॑ स्व॒जस्य॑ च। इन्द्रो॒ मेहि॑मघा॒यन्त॒महिं॑ पै॒द्वो अ॑रन्धयत्॥ १०॥

अर्थ—(अघाश्वस्य) अश्वघाती सांप की, (च) और (स्वजस्य) स्वज सांप की, (उभयोः) इन

दोनों की, (इदम्) यह (भेषजम्) औषध है, चिकित्सा है। यथा—(इन्द्रः) विद्युत् ने [मन्त्र १] (मे) मेरे निवास स्थान के [मन्त्र ९, इह] या मेरी रक्षा के लिए, (अघायन्तम्) मारना चाहते हुए (अहिम्) सांप को (अरन्धयत्) रोंध डाला है, (पैद्वः) पैद्व [न्योले] ने (अहिम्) सांप को (अरन्धयत्) रोंध डाला है।

[अघाश्व और स्वज, इन दोनों की दो औषध हैं—(१) विद्युत् अर्थात् विद्युत् का प्रयोग, तथा (२) पैद्व]।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषापाकरणम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

पैद्वस्य मन्महे वयं स्थिरस्य स्थिरधाम्नः।

इमे पश्चा पृदाकवः प्रदीध्यत आसते॥ ११॥

अर्थ—(स्थिरस्य) स्थिरता से लड़ने वाले, (स्थिरधाम्नः) तथा स्थिर तेज वाले (पैद्वस्य) पैद्व के [बल को] (वयम् मन्महे) हम मानते हैं। (इमे पृदाकवः) ये पृदाकु-सांप (प्रदीध्यतः) विष के कारण प्रदीप्त हुए (पश्चा) पीछे (आसते) बैठे रहते हैं।

[पैद्व, पृदाकुओं के साथ युद्ध में स्थिरता पूर्वक लड़ता है, और इसका युद्ध सम्बन्धी तेज अर्थात् शौर्य निर्बल नहीं पड़ता। इसकी सत्ता में पृदाकु, विषैले होते हुए भी, पीछे हट कर बैठे रहते हैं। पदीध्यतः=प्र+**दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः** (अदादिः), अर्थात् विषाग्नि से प्रदीप्त। आसते=**आस उपवेशने** (अदादिः)]।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषापाकरणम्**॥ छन्दः—**भुरिग्गायत्री**॥

नष्टासवो नष्टविषा हता इन्द्रेण वज्रिणा। जघानेन्द्रो जघ्निमा वयम्॥ १२॥

अर्थ—(वज्रिणा) वज्रधारी (इन्द्रेण) इन्द्र द्वारा (हताः) मारे गये सांप (नष्टासवः) नष्ट प्राण और (नष्टविषाः) नष्ट विष वाले हो गये हैं। (इन्द्रः) इन्द्र ने (जघान) [सांप] मार डाले हैं, (वयम्) हम ने भी (जघ्निमा) मार डाले हैं। [इन्द्र का अर्थ यद्यपि विद्युत् है। परन्तु लक्षणया विद्युत् के प्रयोक्ता को इन्द्र कहा है, और विद्युत् को वज्र कहा है]।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषापाकरणम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

हतास्तिरश्चिराजयो निपिष्टासः पृदाकवः।

दर्विं करिक्रतं श्वित्रं दर्भेष्वसितं जहि॥ १३॥

अर्थ—(तिरश्चिराजयः) टेढ़ी धारियों वाले सर्प (हताः) मार दिये हैं (पृदाकवः) पृदाकु-सर्प (निपिष्टासः) पीस दिये हैं। (दर्विम्) कड़छीसदृश फण (करिक्रतम्) फैलाने वाले को, (श्वित्रम्) सफेदकुष्ठ सदृश वर्ण वाले को, (दर्भेषु) दर्भ-घासों में रहने वाले (असितम्) काले सांप को (जहि) तू मार डाल।

[जहि=वज्री इन्द्र को या पैद्व को कहा है कि तू मार डाल]।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषापाकरणम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

कैरातिका कुमारिका सका खनति भेषजम्।

हिरण्ययीभिरभ्रिभिर्गिरीणामुप सानुषु॥ १४॥

अर्थ—(सका कुमारिका) वह कुमारावस्था की (कैरातिका) कैरात जाति की सर्पिणी (भेषजम्) निज औषध को (खनति) खोदती है, (हिरण्ययीभिः) हिरण्यसदृश दान्तरूपी (अभ्रिभिः) कुद्दालियों द्वारा (गिरीणाम्) पर्वतों की (सानुषु) चोटियों में।

[अभिप्राय यह है कि कैरात नामक सर्पिणी पर्वतों की चोटियों में पैदा होने वाली ओषधियों को अपने छोटे-छोटे दान्तों द्वारा खोद निकालती है। वह औषध सम्भवतः सर्पविष के विनाश के लिए उपयुक्त हो। कैरात=सर्प (अथर्व० ५.१३.५)। सका=सा+अकच् (स्वार्थे)। हिरण्ययीभिः=''**हिरण्यं हितरमणं भवतीति वा**'' (निरुक्त २.३.१०)। कैरातिका के दान्त उसके लिए हितकर हैं, और दीखने में रमणीय हैं। पशु-पक्षी निज स्वाभाविक बुद्धि द्वारा निज ओषधियों को जानते और प्राप्त कर लेते हैं—इसके लिए देखो (अथर्व० २.२७.२; ५.१४.१; ८.७.२३, २५)]।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषापाकरणम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

आयमगन्युवा भिषक्पृश्निहापराजितः।

स वै स्वजस्य जम्भन उभयोर्वृश्चिकस्य च॥ १५॥

अर्थ—(अयम्) यह (आ अगन्) आ गया है (युवा भिषक्) नौजवान वैद्य, चिकित्सक, (पृश्निहा) पृश्नि सांप का हनन करने वाला, (अपराजितः) जो कि सर्प युद्ध में पराजित नहीं होता। (सः वै) वह निश्चय से (स्वजस्य) स्वज नामक सर्प का (च) और (वृश्चिकस्य) बिच्छु का, (उभयोः) इन दोनों का (जम्भनः) दबाने वाला है, विनाशक तथा भक्षक है।

[मन्त्र में पैद्व [न्योले] को कविता में ''युवा भिषक्'' कहा है। जम्भनः=**जमु अदने, जभी गात्रविनामे** (भ्वादिः), **जभि नाशने** (चुरादिः)। पृश्निः=धब्बेदार, चित्रित सांप। ''**पृश्निः.....प्राश्नुत एनं वर्णः**'' (निरुक्त० २.४.१४)।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषापाकरणम्**॥ छन्दः—**त्रिपदा प्रतिष्ठा गायत्री**॥

इन्द्रो मेऽहिमरन्धयन्मित्रश्च वरुणश्च। वातापर्जन्योऽभा॥ १६॥

अर्थ—(इन्द्रः) विद्युत् ने (मित्रः च) और सूर्य ने (वरुणः च) और जल ने, (वातापर्जन्या) वात और मेघ (उभा) इन दोनों ने, (मे) मेरे निवासस्थान से या मेरी सुरक्षा के लिए (अहिम्) सांप को (अरन्धयत्) रोंध डाला है।

[इन्द्रः=विद्युत् (मन्त्र १)। मित्राः=सूर्य; **ञिमिदा स्नेहने** (भ्वादिः, दिवादिः) **मिदि स्नेहने** (चुरादिः) अर्थात् वर्षाकारी श्रावण-भाद्रपद का सूर्य। वरुणः=जल ''**वरुणोऽपामधिपतिः**'' (अथर्व० ५.२४.४)। तथा ''**मित्रावरुणा वृष्ट्याधिपती**'' (५.२४.५)। वातापर्जन्यौ=मानसून वायु और मेघ। मन्त्र में इन्द्रादि के सहयोग द्वारा वर्षाकाल को सूचित किया है। वर्षाकाल में सांपों का अधिक संचार होता है। अतः इस काल में प्रकट हुए सांपों को दण्ड आदि द्वारा मार देना सुलभ होता है। वातापर्जन्य=पर्जन्य सहयोगी वात, मानसून ही सम्भव है।

विशेष वक्तव्य=वातापर्जन्या, मित्रावरुणा, अग्नीषोमा आदि वैदिक प्रयोगों में पूर्वपद तथा उत्तरपद दोनों द्विवचनान्त प्रतीत होते हैं—यह वैदिक प्रथा है। अष्टाध्यायी में लौकिकसंस्कृत की प्रथानुसार ''आनङ्'' और ''ईत्'' का विधान किया है (अष्टा० ६.३.२५; ६.३.२६)]।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषापाकरणम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

इन्द्रो मेहिमरन्धयत्पृदाकुं च पृदाक्वम्।

स्वजं तिरश्चिराजिं कसर्णीलं दशोनसिम्॥ १७॥

अर्थ—(इन्द्रः) इन्द्र ने (मे)मेरे [निवास स्थान से या मेरी सुरक्षा के लिए] (अहिम्) सांप को (अरन्धयत्) रोंध डाला है, (पृदाकुम् च) और पृदाकु नर को (च पृदाक्वम्) और पृदाकू-मादा को, (स्वजम्) स्वज को, (तिरश्चिराजिम्) तिरश्चिराजि को, (कसर्णीलम्) बुरे मार्ग में छिपे हुए (दशोनसिम्) तथा दशोनसि को रोंध डाला है।

[इन्द्रः=सम्भवतः विद्युत्-प्रयोक्ता। अरन्धयत्=**राध हिंसासंराध्योः** (दिवादिः); **रध्यतिर्वशगमने** (निरुक्त ६.६.३२)। दशोनसिम्=दशन अर्थात् दन्त के सदृश+नसिम्। नासिका वाले सांप को, अर्थात् जिसकी नाक पर दशन अर्थात् दान्त के सदृश कठोर बिन्दु सा हो, उसे। पैप्पलादशाखा में ''इन्द्रः'' के स्थान में ''पैद्वः'' [न्योला] पाठ है]।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषापाकरणम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

इन्द्रो जघान प्रथमं जनितारमहे तव।

तेषामु तृह्यमाणानां कः स्वित्तेषामसद्रसः॥ १८॥

अर्थ—(अहे) हे सांप! (तव जनितारम्) तेरे जन्मदाता माता-पिता को (इन्द्रः) इन्द्र ने (प्रथमम्) पहिले ही (जघान) मार दिया है, (तेषाम् उ तृह्यमाणानाम्) उनके हिंसित अर्थात् मृत हो जाने पर, (तेषाम्) उनका (रसः) विषरस (कः स्विद्) कौन सा (असत्) विद्यमान रह सकता है।

[''अहे'' में एकवचन जाति की दृष्टि से है, जात्येकवचन है, क्योंकि मन्त्र के उत्तरार्ध में ''तेषाम्'' तथा ''तृह्यमाणानाम्'' में बहुवचन है। अभिप्राय यह कि सर्पों के उत्पादकों को पूर्णरूप से मार देने पर सांपों का सर्वथा अभाव किया जा सकता है। जब सांप न रहें तो उनका विषरस कहाँ रह सकता है। वेद की आज्ञा या निर्देश सर्पजाति के सर्वथा विनाश के लिए है। ''जघान'' में लिट् लकार वर्तमानार्थक है। यथा ''**छन्दसि लुङ्लङ्लिटः**'' (अष्टा० ३.४.६) द्वारा छन्द (वेद) में लुङ्, लुङ् और लिट् विकल्पेन सब कालों में प्रयुक्त होते हैं]।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषापाकरणम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सं हि शीर्षाण्यग्रभं पौञ्जिष्ठ इव कर्वरम्।

सिन्धोर्मध्यं परेत्य व्यनिजमहेर्विषम्॥ १९॥

अर्थ—(शीर्षाणि) सांपों के सिरों को (हि) निश्चय से (सम् अग्रभम्) सम्यक्तया अर्थात् दृढ़तापूर्वक मैंने पकड़ लिया है, (इव) जैसे कि (पौञ्जिष्ठः) पौञ्जिष्ठ (कर्वरम्) कर्वर को दृढ़तापूर्वक ग्रहण करता है। और (सिन्धोः) स्यन्दन करने वाली नदी के (मध्यम्) मध्य में (परेत्य) जाकर (अहेः) सांप के (विषम्) विष को (व्यनिजम्) मैंने धो डाला है।

[सांप को पकड़ना हो तो उसके सिर को दृढ़तापूर्वक पकड़ना चाहिए, पूँछ से पकड़ने पर वह पीछे की ओर उछल कर काट सकता है। सांप के काटने पर नदी के प्रवाह में जा कर जलचिकित्सा विधि द्वारा विष को दूर करना चाहिए। प्रवाह में इसलिए कि जल में जो विष मिल गया है वह नदी के प्रवाह

में बह जाए, ताकि उसका शरीर के साथ पुनः सम्पर्क न हो।

कर्वरम्=कर् (कर्म)+वरम् (श्रेष्ठ) अर्थात् श्रेष्ठकर्म। "**कर्वरम् कर्मनाम**" (निघं० २.१)। "**कर्वराणि यज्ञादिकर्माणि**" (सायण, अथर्व० ७.३.१)। पौञ्जिष्ठः=पुञ्जिष्ठ एव पौञ्जिष्ठः, स्वार्थे अण्। पुञ्जिष्ठः=पुञ्ज में रहेन वाला। आश्रमवासियों के समूह में रहने वाला वानप्रस्थी। वह जैसे श्रेष्ठकर्मों यज्ञादि का दृढ़तापूर्वक ग्रहण करता है, वैसे दृढ़तापूर्वक सर्प के सिर को पकड़ रहना चाहिए। व्यनिजम्=वि+अट्+**णिजिर् शौचपोषणयोः** (जुहोत्यादिः), तथा **णिजि शुद्धौ** (अदादिः)]।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषापाकरणम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अहीनां सर्वेषां विषं परा वहन्तु सिन्धवः।

हतास्तिरश्चिराजयो निपिष्टासः पृदाकवः॥ २०॥

अर्थ—(सर्वेषाम् अहीनाम्, विषम्) सब सांपों के विष को (सिन्धवः) स्यन्दनशील अर्थात् बहती हुई नदियाँ (परा वहन्तु) परे बहा ले जाएँ। (तिरश्चिराजयः) टेढ़ी धारियों वाले सर्प (हताः) मार दिये हैं, (पृदाकवः) महाकाय सर्प (निपिष्टासः) पीस दिये हैं।

[सिन्धु की प्रवाहित धारा में जल चिकित्सा (१९) की भावना, को "परा वहन्तु" द्वारा स्पष्ट किया है]।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषापाकरणम्**॥ छन्दः—**ककुम्मत्यनुष्टुप्**॥

ओषधीनामहं वृण उर्वरीरिव साधुया।

नयाम्यर्वतीरिवाहे निरैतु ते विषम्॥ २१॥

अर्थ—(अहम्) मैं (साधुया) ठीक ढंग से (ओषधीनाम्) ओषधियों में से (उर्वरीः) उर्वरा ओषधियों का (वृणे) चुनाव करता हूँ, और (अर्वतीः) विषनाशक ओषधियों को (नयामि) प्राप्त करता हूँ, (अहे) हे सांप! (ते) तेरा (विषम्) विष (निरैतु) निकल जाए।

[मन्त्र में "इव" पद पादपूरणार्थक है। यथा "**इवोऽपि दृश्यते, सुविदुरिव, सुविज्ञायेते इव**" (निरुक्त १.३.१०)। ओषधियाँ दो प्रकार की होती हैं, (१) "उर्वरीः" अर्थात् उत्पादिका संवर्धनशीला; (२) तथा रोगनाशिका। संवर्धनशीला का अभिप्राय है। स्वास्थ्य का संवर्धन करने वाली, बढ़ाने वाली। तथा "अर्वतीः" का अभिप्राय है रोगनाशिका, प्रकरणानुसार विषनाशिका। अर्वतीः=**अर्व हिंसायाम्** (भ्वादिः)। अर्वतीः ओषधियों द्वारा विष का नाश कर, उर्वरीः ओषधियों द्वारा स्वास्थ्य संवर्धन का निर्देश मन्त्र में हुआ है। नयामि (**णीञ् प्रापणे**, भ्वादिः)]।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषापाकरणम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यदग्नौ सूर्ये विषं पृथिव्यामोषधीषु यत्।

कान्दाविषं कनक्नकं निरैत्वैतु ते विषम्॥ २२॥

अर्थ—(यत्) जो (अग्नौ सूर्ये) अग्नि और सूर्य में (विषम्) विष है, (यत्) जो (पृथिव्याम् ओषधीषु) पृथिवी में और [विषैली] ओषधियों में है। (कान्दाविषम्) जो कन्दों में विष, (कनक्नकम्) तथा जो अतितीक्ष्ण (ते) तेरा (विषम्) विष है, वह (निर् ऐतु) [तेरे शरीर से] बाहर निकल आए, (आ एतु) अवश्य बाहर आ जाए।

[अग्नि में विष है "जलाना"। सूर्य में विष है "sun stroke" आदि। पृथिवी में विष है संखिया, पारद आदि। इसी प्रकार कई ओषधियाँ और कई कन्द भी विषैले होते हैं। विषाक्त मनुष्य के प्रति कहा है कि तेरे शरीर में जो भी विष प्रविष्ट हुआ है वह बाहर निकल आएगा, अवश्य निकल आएगा। कनक्नकम्=**कनी** (दीप्तौ, भ्वादिः)+यङ्लुक्+कम् (कृ, करोति)=अति दीप्ति अर्थात् जलन पैदा करने वाला विष। "कनिक्नकम्" पाठ भी मिलता है]।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषापाकरणम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

ये अ॒ग्निजा ओष॑धि॒जा अही॑नां॒ ये अ॑प्सु॒जा वि॒द्युत॑ आबभू॒वुः।

येषां॑ जा॒तानि॑ बहु॒धा म॒हान्ति॒ तेभ्यः॑ स॒र्पेभ्यो॒ नम॑सा विधेम॥ २३॥

अर्थ—(अहीनाम्) सांपों में (ये) जो (अग्निजाः) अग्निप्रधान प्रदेशों में उत्पन्न हैं, (ओषधिजाः) ओषधिप्रधान प्रदेशों [वृक्षों, ओषधियों, वनों] में उत्पन्न हैं, (ये) जो (अप्सुजा विद्युतः) जलों में पैदा हुई बिजुलियों के सदृश अतितीक्ष्ण स्वभाव वाले (आ बभूवुः) हुए हैं। (येषाम्) जिनकी (जातानि) जातियाँ (बहुधा) बहुत प्रकार की (महान्ति) और बड़ी हैं, (तेभ्यः सर्पेभ्यः) उन सर्पों के लिए (नमसा विधेम) हम दूरतः नमस्कार करते हैं, अथवा वज्र द्वारा सत्कार करते हैं। अप्सुजाः=अथवा जलोत्पन्न, तथा विद्युतः अर्थात् विद्युत् के सदृश विषवज्र का प्रहार करने वाले सांप। नमसा="**नमः वज्रनाम**" (निघं० २.२०)]।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषापाकरणम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

तौदी॒ नामा॑सि क॒न्या॒ घृ॒ताची॒ नाम॒ वा अ॑सि।

अ॒ध॒स्प॒देन॑ ते प॒दमा द॑दे विष॒दूष॑णम्॥ २४॥

अर्थ—(तौदी) तू व्यथाकारिणी (नाम असि) प्रसिद्ध है, (कन्या, घृताची) कन्या या घृतकुमारी (नाम वै असि) नाम से तू प्रसिद्ध है। (अधस्पदेन) भूमि के नीचे पहुँचे हुए पद अर्थात् जड़ से (ते) तेरी (पदम्) जड़ को (आ ददे) मैं लेता हूँ, जो कि (विषदूषणम्) विष को दूषित करती है, दूर करती है।

[तौदी=**तुद व्यथने** (तुदादिः), सर्प को व्यथा देने वाली घीकुँवार (घृतकुमारी)। पदम्=जड़ (मन्त्र ३)।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषापाकरणम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अङ्गा॑दङ्गा॒त्प्र च्या॑वय॒ हृद॑यं॒ परि॑ वर्जय।

अधा॑ वि॒षस्य॒ यत्तेजो॑ऽवा॒चीनं॒ तदे॑तु ते॥ २५॥

अर्थ—हे तौदी! तू (अङ्गात् अङ्गात्) प्रत्येक अङ्ग से (प्र च्यावय) विष को च्युत कर दे, (हृदयम्) हृदय को (परिवर्जय) विष के प्रभाव से सर्वथा वर्जित कर दे। (अधा) तत्पश्चात् (विषस्य) विष का (यत्) जो (तेजः) उग्रपन है (ते) हे विषाक्त! तेरा (तत्) वह विष (अवाचीनम्, एतु) अधोगत हो जाए, तेरे पैरों द्वारा निकल जाए।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषापाकरणम्**॥ छन्दः—**षट्पदाबृहतीगर्भा ककुम्मती भुरिक् त्रिष्टुप्**॥

आ॒रे अ॑भूद्वि॒षम॑रौद्वि॒षे वि॒षम॑प्रा॒गपि॑। अ॒ग्निर्वि॒षमहे॒र्निर॑धा॒त्सोमो॒ निर॑णयीत्।

दं॒ष्टार॒मन्व॑गाद्वि॒षमहि॑रमृत॥ २६॥

अर्थ—(आरे) दूर (अभूत्) हो गया है (विषम्) विष; (अरौत्) और रुक गया है, (अपि) तथा (विषे) विष में (विषम्) विष (अप्राक्) सम्पृक्त हो गया है (अग्निः) अग्नि ने (अहेः विषम्) सांप के विष को (निर् अधात्) [शरीर से] निकाल दिया है, (सोमः) सोम (निर् अनयीत्) इसे निकाल लाया है। (विषम्) विष ने (दंष्टारम्) काटने वाले का (अनु अगात्) अनुगमन किया है, (अहिः) सांप (अमृत) मर गया है।

[अरौत्=अट्+**रुधिर् (आवरणे,** रुधादिः)। अप्राक्=अद्+**पृची (सम्पर्के,** अदादिः)। "विष में विष सम्पृक्त हो गया है"=सर्प के विष में उसका विनाशक विष मिला दिया है। विनाशक=Antidote= counterpoison. होम्योपेथिक-चिकित्सा में विष के विनाशक नाना विषों का वर्णन हुआ है। लोकोक्ति भी है "**विषस्य विषमौषधम्**"।

अग्निः=सर्पकटे स्थान को अग्नि द्वारा या धधकते अङ्गारे द्वारा सेक देना चाहिए, परन्तु तत्काल, जब तक कि विष अभी त्वचा पर ही हो "**त्वक्-स्थे प्रदेहसेकादि**" (विषाधिकारः, श्लोक १२, चक्रदत्त)। सोमः=सोमरस का पान, तथा सोम अर्थात् जल चिकित्सा, यथा "**अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा। अग्निं च विश्वशम्भुवम्॥** (अथर्व० १.६.२), अर्थात् जलों में सब भेषज हैं, और जलों में अग्नि है जो कि सब रोगों को शान्त करती है।

अन्वगात्=अर्थात् जैसे सांप मार दिया है वैसे उसका विष भी समाप्त कर दिया है, मानो सांप का अनुमगमन, उसके विष ने किया है]।

द्वितीय अनुवाक समाप्त॥

अनुवाक ३

सूक्त ५

विषय-प्रवेश

(मन्त्र १-५०)। यह महासूक्त है। विषय है "सार्वभौम शासन" अर्थात् समग्र पृथिवी का शासन। इस शासन में कई तत्सम्बन्धी अवान्तर विषय हैं। इन अवान्तर विषयों का वर्णन अवान्तर सूक्तों द्वारा हुआ है। अवान्तर सूक्तों को "पर्यायसूक्त" कहते हैं। इन्हें ५ (१), ५ (२), ५.३, तथा ५.४ द्वारा दर्शाया है। अवान्तर विषय निम्नलिखित हैं। यथा—

(१)

(१) ५ (१) पर्याय में मन्त्र १-२४ हैं। इसमें इन्द्र सम्राट् का वर्णन (मन्त्र १-८); आपः द्वारा प्रजा का वर्णन है (मन्त्र ६, ७); प्रजाशासन तथा शत्रु पर विजय के लिए इन्द्र के सहयोगी ब्राह्मणों (१), क्षत्रियों (२) वैश्यों (३), का जल तथा ओषधि विभाग के अधिकारी सोम (५, ४) का तथा सब भूत-भौतिकशक्तियों की उपस्थिति (६) का वर्णन हुआ है।

(२) मन्त्र ८ से १४ में प्रजाजनों को सम्बोधित कर उन्हें कहा है कि तुम शासन कार्य में—इन्द्र अर्थात् सम्राट् के, सोम अर्थात् जल विभाग तथा ओषधि विभाग के अधिकारी के, वरुण अर्थात् माण्डलिक राजा के, मित्र अर्थात् मित्रवर्धक विदेशनीति के अधिकारी के, वरुण अर्थात् राष्ट्रीय गुप्तचर विभाग के अधिकारी के, यम अर्थात् नियन्ता न्यायाधिकारी के, पितरों अर्थात् सभा-और-समिति के सदस्यों के, तथा

सविता अर्थात् सर्वोत्पादक परमेश्वर और समग्र पृथिवी के प्रेरक सार्वभौम शासक के भागरूप हो, अङ्गरूप हो। इस प्रकार शासन में प्रजाओं के पूर्ण सहयोग का निर्देश किया है।

(३) मन्त्र १५-२१, में राज्य के द्वेषी को, अथवा द्विष्ट आसुरीभाव को शासक-अधिकारी परमेश्वर के प्रति समर्पित करें। अथवा राज्याधिकारी उस द्वेषी का विनाश करें, तथा राज्याधिकारी निज द्विष्ट आसुरी भावों और विचारों, तथा कर्मों का विनाश करें—ये भावनाएँ प्रतीत होती है।

(४) प्रत्येक राज्याधिकारी जब निज आसुरी भावों, विचारों तथा कर्मों का विनाश करता हुआ शासन करता है, तो वह अनुभव करने लगता है कि मैंने लगातार कई वर्षों तक कोई अनृतभाषण नहीं किया। मन्त्र २२ में इसे "त्रैहायण" व्रत के रूप में वर्णित किया है। वेदानुसार संख्या तीन का महत्त्व है। यथा जीव-ब्रह्म-प्रकृति; जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय; ओ३म् के अ-उ-म् अक्षर तीन, शान्तिशब्द का उच्चारण तीन बार; लोक तीन; काल तीन; इत्यादि।

(५) अनृत-त्याग के "त्रैहायण-व्रत" का परिणाम होता है परमेश्वर की सहायता द्वारा शारीरिक रस-रक्त आदि जलों का पवित्र हो जाना और जीवनों से "रिप्र" अर्थात् पाप का अपगत हो जाना (मन्त्र २४), तथा नीरोगता और स्वास्थ्य (मन्त्र २३)। यह "त्रैहायणव्रत" राष्ट्र के सभी अधिकारी करते हैं।

(२)

(३) मृत्युदण्डरूप में। त्रिलोकी तथा दिशाओं और आशाओं से शत्रु का [सम्भवतः शत्रु सेनाधिपति का] बहिष्कार (मन्त्र २५-२९)।

(७) वैदिक-संस्कृति से शत्रु का सामाजिक बहिष्कार (मन्त्र ३०, ३१)।

(८) शत्रु को ओषधिग्रहण, जल सेवन, तथा कृषिकर्म से वञ्चित कर देना (मन्त्र ३२-३५)।

(९) शत्रुसेनाओं पर विजय पाकर शत्रु राजा को राज्यच्युत कर देना (मन्त्र ३६)।

(३)

(१०) सार्वभौमशासक का ब्राह्मणवर्चस को प्राप्त करना, और तदनुरूप प्रजा का शासन करना (मन्त्र ३७-४१)।

(११) ब्राह्मणवर्चस=(१) शान्ति (मन्त्र ३७); (२) ज्ञान ज्योतिः (३८); (३) पंचज्ञानेन्द्रियों, मन और विद्या को ऋषिकोटि का बनाना (३९); (४) ब्रह्म की ओर आवर्तन (४०); (५) तदर्थ ब्राह्मणों की शरण में आना (४१)।

(४)

(१२) जो शासक ब्राह्मणवर्चस को प्राप्त नहीं, और ब्राह्मणवर्चस के अनुसार प्रजाशासन नहीं करते, उनकी खोज कर, उन्हें सार्वभौमशासक के समक्ष उपस्थित कर, उचित दण्ड दिलाने का वर्णन (मन्त्र ४२-५०)।

सूक्त ५, पर्याय १

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः ॥ देवता—आपः ॥ छन्दः—त्रिपदा पुरोभिकृतिः ककुम्मतीगर्भा पङ्क्तिः ॥

इन्द्रस्यौज स्थेन्द्रस्य सह स्थेन्द्रस्य बलं स्थेन्द्रस्य वीर्यं स्थेन्द्रस्य नृम्णं स्थ।
जिष्णवे योगाय ब्रह्मयोगैर्वो युनज्मि॥ १॥

अर्थ—हे आपः! (मन्त्र ६) हे प्राप्त तथा राष्ट्र में व्याप्त प्रजाओ! तुम (इन्द्रस्य) सम्राट् के (ओजः) ओज (स्थ) हो, (इन्द्रस्य) सम्राट् की (सहः) सहनशक्ति तथा शत्रुपराभव करने वाली शक्ति (स्थ) हो, (इन्द्रस्य) सम्राट् के (बलम्) सैनिक बलरूप (स्थ) हो, (इन्द्रस्य) सम्राट् के (नृम्णम्) धनरूप हो। (जिष्णवे) विजय सम्बन्धी (योगाय) पारस्परिक सहयोग के लिए (वः) हे प्रजाओ! तुम्हें (ब्रह्मयोगैः) ब्राह्मणों के सहयोगों के साथ (युनज्मि) मैं युक्त करता हूँ, सम्बद्ध करता हूँ।

[इन्द्रस्य="**इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा**" (यजुः० ८.३७), द्वारा इन्द्र है सम्राट् अर्थात् संयुक्त राष्ट्रों का अधिपति शासक, और वरुण है माण्डलिक राजा, निज-निज राष्ट्र के राजा, शासक]।

ओजः=**उब्ज आर्जवे** (तुदादिः), "**उब्जति कोमलो भवति, इति ओजः**" (उणा० ४.१९३, म० दयानन्द)। ओजः=राष्ट्रिय-ओज; जिसके होते शत्रु-राष्ट्र को आक्रमण करने का साहस नहीं होता। ओजः का प्रतिनिधि सिंह है। बलम्="**बलं भरं भवति, बिभर्तेः**" (निरुक्त ३.२.९), जोकि शरीर का भरण-पोषण करता है। बल का प्रतिनिधि है हाथी। तथा बलम्=सैनिकबल, यथा "**अपर्याप्तं तदस्माकं बलं, भीष्माभिरक्षितम्**" (गीता १.१०)।

नृम्णम्=**नृम्णं धननाम**" (निघं० २.१०), जिसके लिए नरों का मन झुका[१] रहता है। वीर्यम्=वीरता ब्रह्मयोगैः=नागरिक जीवन के कष्टों पर विजय पाने के लिए, और जीवन को सुखमय बनाने के लिए ब्राह्मण-वृत्ति के शासकों का सहयोग प्रजा के साथ चाहिए। ब्राह्मण=ब्रह्मोपासक, आस्तिक, ब्रह्मविद्याविज्ञ, विद्वान्, परोपकारी और त्यागी शासक। आपः=आप्ताः, राष्ट्र में व्याप्त प्रजाएँ, **आप्लृ व्याप्तौ**। मन्त्र १-२४ में सम्राट् की उक्ति प्रजाओं के प्रति]।

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**त्रिपदा पुरोभिकृतिः ककुम्मतीगर्भा पङ्क्तिः** ॥

इन्द्र॒स्यौज॒ स्थेन्द्र॑स्य॒ सह॒ स्थेन्द्र॑स्य॒ बलं॒ स्थेन्द्र॑स्य वी॒र्यं॑ स्थेन्द्र॑स्य नृ॒म्णं स्थ॑।
जि॒ष्णवे॒ योगा॑य क्षत्रयो॒गैर्वो॑ युनज्मि॥ २॥

अर्थ—(इन्द्रस्य....) पूर्ववत् (मन्त्र १)। (जिष्णवे) विजय सम्बन्धी (योगाय) पारस्परिक सहयोग के लिए (वः) हे प्रजाओ! तुम्हें (क्षत्रयोगैः) क्षतों-से-त्राण करने वाले-क्षात्रबल अर्थात् सेना के सहयोगों के साथ (युनज्मि) मैं युक्त करता हूँ, सम्बद्ध करता हूँ।

[नागरिक सुखी जीवन के लिए, और नागरिक कष्टों पर विजय के लिए, प्रजा के साथ ब्राह्मणों का सहयोग चाहिए, और शत्रुराष्ट्र द्वारा या अन्तरीय-कलह द्वारा सम्भाव्य क्षत-विक्षतों पर विजय पाने के लिए, क्षात्रबल का सहयोग, प्रजा के साथ चाहिए। क्षत्र=क्षत्+त्र (**त्रैङ् पालने**, भ्वादिः)]।

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**त्रिपदा पुरोभिकृतिः ककुम्मतीगर्भा पङ्क्तिः** ॥

इन्द्र॒स्यौज॒ स्थेन्द्र॑स्य॒ सह॒ स्थेन्द्र॑स्य॒ बलं॒ स्थेन्द्र॑स्य वी॒र्यं॑ स्थेन्द्र॑स्य नृ॒म्णं स्थ॑।
जि॒ष्णवे॒ योगा॒येन्द्रयो॒गैर्वो॑ युनज्मि॥ ३॥

अर्थ—(इन्द्रस्य.........) मन्त्र १। (जिष्णवे) आर्थिक विजय सम्बन्धी (योगाय) पारस्परिक सहयोग के लिए (इन्द्रयोगैः) वणिक् अर्थात् वाणिज्य में दक्ष वैश्यों के सहयोगों के साथ (वः) हे प्रजाओ! तुम्हें (युनज्मि) मैं युक्त करता हूँ, सम्बद्ध करता हूँ।

---

१. नृ+मा (णम्=नम=नमन होना, झुक जाना।

[इन्द्रयोगैः=इन्द्र अर्थात् वणिक्; यथा "**इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि**" अथर्व० ३.१५.१)]।

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**त्रिपदा पुरोभिकृतिः ककुम्मतीगर्भा पङ्क्तिः** ॥

इन्द्रस्यौज स्थेन्द्रस्य सह स्थेन्द्रस्य बलं स्थेन्द्रस्य वीर्यं स्थेन्द्रस्य नृम्णं स्थ।

जिष्णवे योगाय सोमयोगैर्वो युनज्मि॥ ४॥

अर्थ—(इन्द्रस्य......) मन्त्र १। (जिष्णवे) ओषधिविजय-सम्बन्धी (योगाय) पारस्परिक सहयोग के लिए, (सोमयोगैः) ओषधियों (मन्त्र ३२), और वीरुधों ("**सोमो वीरुधामधिपतिः**" अथर्व० ५.२४.७) के नियन्ता सोमाधिकारी के सहयोगों के साथ (वः) हे प्रजाओ! तुम्हें (युनज्मि) मैं युक्त करता हूँ, सम्बद्ध करता हूँ।

[ओषधियों में मुख्य ओषधि सोम है। राष्ट्र में सोमादि ओषधियों के अधिष्ठाता अधिकारी को मन्त्र में "सोम" कहा है]।

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**त्रिपदा पुरोभिकृतिः ककुम्मतीगर्भा पङ्क्तिः** ॥

इन्द्रस्यौज स्थेन्द्रस्य सह स्थेन्द्रस्य बलं स्थेन्द्रस्य वीर्यं स्थेन्द्रस्य नृम्णं स्थ।

जिष्णवे योगायाप्सुयोगैर्वो युनज्मि॥ ५॥

अर्थ—(इन्द्रस्य.....) मन्त्र १। (जिष्णवे) ओषधिविजय सम्बन्धी (योगाय) पारस्परिक सहयोग के लिए (मन्त्र ४ का अन्वय), (अप्सु) जलों सम्बन्धी नियन्ता के अधिकारी के सहयोगों के साथ (वः) हे प्रजाओ! तुम्हें (युनज्मि) मैं युक्त करता हूँ, सम्बद्ध करता हूँ।

[ओषधियों अर्थात् ओषधियों, वीरुधों, वृक्ष-वनस्पतियों, तथा कृष्यन्न व्रीहि-यव का, और जल का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः सोमनामक अधिकारी ही [मन्त्र ४] राष्ट्रिय-जलविभाग का अधिकारी प्रतीत होता है। इसलिए पूर्वोक्त चार मन्त्रों में जैसे ब्रह्म, क्षत्र, इन्द्र, सोम के नाम दिये हैं, मन्त्र ५ में ऐसा कोई नाम नहीं दिया। अतः मन्त्र वर्णनानुसार मन्त्र ५ में सोमाधिकारी का ही कथन हुआ है]।

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**चतुष्पदा जगतीगर्भा जगती** ॥

इन्द्रस्यौज स्थेन्द्रस्य सह स्थेन्द्रस्य बलं स्थेन्द्रस्य वीर्यं स्थेन्द्रस्य नृम्णं स्थ।

जिष्णवे योगाय विश्वानि मा भूतान्युप तिष्ठन्तु युक्ता म आप स्थ॥ ६॥

अर्थ—(इन्द्रस्य.......) मन्त्र १। (जिष्णवे) शत्रुविजय सम्बन्धी (योगाय) पारस्परिक सहयोग के लिए, (विश्वानि) सब (भूतानि) भूत-और भौतिक शक्तियाँ (मा) मुझे (उपतिष्ठन्तु) उपस्थित हो जाएँ, (मे) मेरे लिए (आपः) हे साम्राज्यव्यापी प्रजाओ! तुम (युक्ता) परस्पर जुते हुए से, अर्थात् एकमत हुए (स्थ) हो जाओ।

[इन्द्र अर्थात् सम्राट्, साम्राज्य की सुरक्षा के निमित्त आह्वान पर, साम्राज्य की सभी भूत-भौतिक शक्तियों पर निजाधिकार चाहता है, और प्रजाओं का ऐकमत्य चाहता है]।

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदा विपरीतपादलक्ष्मा बृहती** ॥

अग्नेर्भाग स्थ। अपां शुक्रमापो देवीर्वर्चो अस्मासु धत्त।

प्रजापतेर्वो धाम्नास्मै लोकाय सादये॥ ७॥

अर्थ—(आपः देवीः) हे दिव्य प्रजाओ! तुम (अग्नेः) अग्नि के (भागः) भागरूप, अङ्गरूप (स्थ) हो, (अपाम् शुक्रम्) प्रजाओं की शक्ति और सामर्थ्य, (वर्चः) तथा दीप्ति (अस्मासु) हम अधिकारियों में (धत्त) स्थापित करो, हमें प्रदान करो। (प्रजापतेः धाम्ना) प्रजापति के नाम तथा स्थान द्वारा (वः) हे प्रजाओ! तुम्हें (अस्मै लोकाय) इस पृथिवी लोक के लिए (सादये) मैं इन्द्र अर्थात् सम्राट् दृढ़-स्थापित करता हूँ।

[अग्नेः=अग्नि पद द्वारा, आधिभौतिक दृष्टि में, ब्राह्मण का भी निर्देश वैदिक साहित्य में होता है। यह अग्नि अग्रणी है, राज्य का अग्रगामी नेता है, प्रधानमन्त्रीरूप है। कठोपनिषद् में कहा है कि "**वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान्**" (अ० १, वल्ली १, खण्ड ७), अर्थात् ब्राह्मण वैश्वानरः अग्निरूप में घरों में प्रवेश करता है। ब्राह्मण वैश्वानर है, सब नर नारियों का हितचिन्तक है, और वह ज्ञानाग्निमय है।

सम्राट् कहता है कि हे प्रजाओ! तुम अग्नि के शासन में भागरूप हो, तुम्हारे सहयोग द्वारा अग्नि, शासन में सफल होगा, अन्यथा नहीं। "अस्मासु" द्वारा राज्य के सभी शासक, प्रजाओं का सहयोग चाहते हैं। सम्राट् कहता है कि प्रजाओं का पालक परमेश्वर जैसे प्रजापति नाम वाला है, और प्रजापति के स्थान अर्थात् पद को प्राप्त करता है, उस नाम वाला तथा उस स्थान अर्थात् पद को प्राप्त मैं, तुम सबका पालन करता हुआ, इस पृथिवी लोक में तुम्हें सुदृढ़रूप में स्थापित करता हूँ। इसी प्रकार की भावनाएँ आगामी मन्त्रों में भी जाननी चाहिएँ। धाम्ना="**धामानि त्रयाणि भवन्ति नामानि स्थानानि जन्मानि**" (निरुक्त० ९.३.२८)]।

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदा विपरीतपादलक्ष्मा बृहती** ॥

इन्द्रस्य भाग स्थ। अपां शुक्रमापो देवीर्वर्चो अस्मासु धत्त।
प्रजापतेर्वो धाम्नास्मै लोकाय सादये॥ ८ ॥

अर्थ—(आपः देवीः) हे दिव्य प्रजाओ! तुम (इन्द्रस्य) वाणिज्य विभाग के अधिकारी के (भागः) भागरूप, अङ्गरूप (स्थ) हो, (अपाम् शुक्रम्) प्रजाओं की शक्ति और सामर्थ्य, (वर्चः) तथा दीप्ति (अस्मासु) हम अधिकारियों में (धत्त) स्थापित करो, हमें प्रदान करो। (प्रजापतेः धाम्ना) प्रजापति के नाम तथा स्थान द्वारा (वः) हे प्रजाओ! तुम्हें (अस्मै लोकाय) इस पृथिवीलोक के लिए (सादये) मैं इन्द्र अर्थात् सम्राट् दृढ़-स्थापित करता हूँ।

[इन्द्रस्य=वणिजः (मन्त्र ३)। मन्त्र भावना के लिए देखो मन्त्र (७)]।

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदा विपरीतपादलक्ष्मा बृहती** ॥

सोमस्य भाग स्थ। अपां शुक्रमापो देवीर्वर्चो अस्मासु धत्त।
प्रजापतेर्वो धाम्नास्मै लोकाय सादये॥ ९ ॥

अर्थ—(आपः देवीः) हे दिव्य प्रजाओ! तुम (सोमस्य) ओषधि विभाग के अधिकारी के (भागः) भागरूप, अङ्गरूप (स्थ) हो, (अपाम् शुक्रम्) प्रजाओं की शक्ति और सामर्थ्य, (वर्चः) तथा दीप्ति (अस्मासु) हम अधिकारियों में (धत्त) स्थापित करो, हमें प्रदान करो। (प्रजापतेः धाम्ना) प्रजापति के नाम तथा स्थान द्वारा (वः) हे प्रजाओ! तुम्हें (अस्मै लोकाय) इस पृथिवी लोक के लिए (सादये) मैं इन्द्र अर्थात् सम्राट् दृढ़-स्थापित करता हूँ। [सोम (मन्त्र ४)]।

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदा विपरीतपादलक्ष्मा बृहती** ॥

वरुणस्य भाग स्थ। अपां शुक्रमापो देवीर्वर्चो अस्मासु धत्त।
प्रजापतेर्वो धाम्नास्मै लोकाय सादये॥ १०॥

अर्थ—(आपः देवीः) हे दिव्य प्रजाओ! तुम (वरुणस्य) माण्डलिक राजा के (भागः) भागरूप, अङ्गरूप (स्थ) हो। (अपां शुक्रम्) प्रजाओं की शक्ति और सामर्थ्य, (वर्चः) तथा दीप्ति (अस्मासु) हम अधिकारियों में (धत्त) स्थापित करो, हमें प्रदान करो। (प्रजापतेः धाम्ना) प्रजापति के नाम तथा स्थान द्वारा (वः) हे प्रजाओ! तुम्हें (अस्मै लोकाय) इस पृथिवी लोक के लिए (सादये) मैं इन्द्र अर्थात् सम्राट् दृढ़-स्थापित करता हूँ।

[वरुणस्य=वरुण है माण्डलिक राजा यथा "**इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा**" (यजुः० ८.३७)। यह वरुण, निज माण्डलिक प्रजा द्वारा "वरा" हुआ, स्वीकृत किया हुआ, चुना हुआ होता है, और इन्द्र अर्थात् सम्राट् के साम्राज्य का अङ्गरूप होता है। इसलिए सम्राट् प्रजाओं को कहता है कि तुम वरुण के शासन के भी भागरूप हो, अङ्गरूप हो। मन्त्र भावना के लिए देखो मन्त्र (७)]।

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदा विपरीतपादलक्ष्मा बृहती (पथ्यापङ्क्तिः)** ॥

मित्रावरुणयोर्भाग स्थ। अपां शुक्रमापो देवीर्वर्चो अस्मासु धत्त।
प्रजापतेर्वो धाम्नास्मै लोकाय सादये॥ ११॥

अर्थ—(आपः देवीः) हे दिव्य प्रजाओ! तुम (मित्रावरुणयोः) मित्र और वरुण के (भागः) भागरूप, अङ्गरूप (स्थ) हो। (अपाम् शुक्रम्) प्रजाओं की शक्ति और सामर्थ्य, (वर्चः) तथा दीप्ति (अस्मासु) हम अधिकारियों में (धत्त) स्थापित करो, हमें प्रदान करो। (प्रजापतेः धाम्ना) प्रजापति के नाम तथा स्थान द्वारा (वः) हे प्रजाओ! तुम्हें (अस्मै लोकाय) इस पृथिवीलोक के लिए (सादये) मैं इन्द्र अर्थात् सम्राट् दृढ़ स्थापित करता हूँ।

[मित्रावरुणयोः=मित्र है वह अधिकारी जो कि विदेशनीति के साथ सम्बन्ध रखता है, और भिन्न-भिन्न राष्ट्रों के साथ मैत्री स्थापित करता है। यथा "**मित्रेणाग्ने मित्रधा यतस्व**" (अथर्व० २.६.४), अर्थात् हे अग्नि! [मन्त्र ७] "मित्र अधिकारी" द्वारा मित्रों का धारण करने वाला तू, एतदर्थ यत्न करता रह। इसी प्रकार एतदर्थ राजा को भी कहा है "मित्रवर्धन"! (अथर्व० ४.८.२) तथा "मित्रवर्धनः" (अथर्व० ४.८.६)। इससे प्रतीत होता है कि "मित्रराष्ट्रों" को बढ़ाते रहना, यह वैदिक विदेशनीति है, जिसका कि अधिकारी विदेशमन्त्री "मित्र" नामक है। वरुणः—मित्र कार्य सम्बन्धी दूसरा अधिकारी वरुण है, जिसका काम है प्रजा को अवाञ्छित कार्यों से रोके रखना, निवारित करते रहना। इसके अधिकार में राष्ट्रिय गुप्तचर [स्पशाः] रहते हैं (अथर्व० ४.१६.४)। यद्यपि सूक्त ४.१६.४ में वरुण द्वारा परमेश्वर का, और उसके नियमों का, "स्पशः" द्वारा वर्णन हुआ है, तो भी सूक्त में राष्ट्रियप्रबन्ध की भी सूचना वरुण और स्पशः द्वारा अभिप्रेत है। इस दृष्टि से मित्र-वरुण का सहचार (मन्त्र ११) में दर्शाया है। मन्त्रभावना के लिए देखो (मन्त्र ७)]।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः ॥ देवता—आपः ॥ छन्दः—पञ्चपदा विपरीतपादलक्ष्मा बृहती ॥

यमस्य भाग स्थ। अपां शुक्रमापो देवीर्वर्चो अस्मासु धत्त।
प्रजापतेर्वो धाम्नास्मै लोकाय सादये॥ १२॥

अर्थ—(आपः देवीः) हे दिव्य प्रजाओ! तुम (यमस्य) नियन्ता न्यायाधिकारी के (भागः) भागरूप अङ्गरूप (स्थ) हो। (अपाम् शुक्रम्) प्रजाओं की शक्ति और सामर्थ्य (वर्चः) तथा दीप्ति (अस्मासु) हम अधिकारियों में (धत्त) स्थापित करो, हमें प्रदान करो। (प्रजापतेः धाम्ना) प्रजापति के नाम, स्थान द्वारा (वः) हे प्रजाओ! तुम्हें (अस्मै लोकाय) इस पृथिवी लोक के लिए (सादये) मैं इन्द्र अर्थात् सम्राट् दृढ़ स्थापित करता हूँ।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः ॥ देवता—आपः ॥ छन्दः—पञ्चपदा विपरीतपादलक्ष्मा बृहती ॥

पितृणां भाग स्थ। अपां शुक्रमापो देवीर्वर्चो अस्मासु धत्त।
प्रजापतेर्वो धाम्नास्मै लोकाय सादये॥ १३॥

अर्थ—(आपः देवीः) हे दिव्य प्रजाओ! तुम (पितृणाम्) सभा और समिति के सदस्यों के (भागः) भागरूप, अङ्गरूप (स्थ) हो। (अपाम् शुक्रम्) प्रजाओं की शक्ति और सामर्थ्य, (वर्चः) तथा दीप्ति (अस्मासु) हम अधिकारियों में (धत्त) स्थापित करो। (प्रजापतेः धाम्ना) प्रजापति के नाम तथा स्थान द्वारा (वः) हे प्रजाओ! तुम्हें (अस्मै लोकाय) इस पृथिवीलोक के लिए (सादये) मैं इन्द्र अर्थात् सम्राट् दृढ़ स्थापित करता हूँ।

[**पितृणाम्= सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने।**
येना संगच्छा उप मा स शिक्षाच्चारुवदानि पितरः संगतेषु॥
(अथर्व० ७.१२.१) में सभा और समिति के सदस्यों को "पितरः" कहा है]।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः ॥ देवता—आपः ॥ छन्दः—पञ्चपदा विपरीतपादलक्ष्मा बृहती
(पथ्यापङ्क्तिः)॥

देवस्य सवितुर्भाग स्थ। अपां शुक्रमापो देवीर्वर्चो अस्मासु धत्त।
प्रजापतेर्वो धाम्नास्मै लोकाय सादये॥ १४॥

अर्थ—(आपः देवीः) हे दिव्य प्रजाओ! तुम (देवस्य सवितुः) सर्वोत्पादक परमेश्वर देव के (भागः) भागरूप, अङ्गरूप (स्थ) हो। (अपां शुक्रम्) प्रजाओं की शक्ति सामार्थ्य, (वर्चः) तथा दीप्ति (अस्मासु) हम अधिकारियों में (धत्त) स्थापित करो, हमें प्रदान करो। (प्रजापतेः धाम्ना) प्रजापति के नाम तथा स्थान द्वारा (अस्मै लोकाय) इस पृथिवीलोक के लिए (सादये) मैं इन्द्र अर्थात् सम्राट् (वः) हे प्रजाओ! तुम्हें दृढ़ स्थापित करता हूँ।

[परमेश्वर ब्रह्माण्ड का शासक होता हुआ पृथिवी का भी शासक है। परन्तु पृथिवीस्थ मनुष्यवर्ग में व्यवस्था के लिए मानुषराजवर्ग भी आवश्यक है। प्रजातन्त्रराज्य में वस्तुतः शासक प्रजाएँ होती हैं। अतः ये प्रजाएँ ही निजशासन में पारमेश्वरीय शासन के भागरूप या अङ्गरूप होती हैं। प्रजाएँ राज्याधिकारियों को चुन कर राज्यव्यवस्था कायम करती हैं, और राज्याधिकारियों को पारमेश्वरीय शासन में अङ्गरूप

बनाती हैं। राज्याधिकारियों में मुख्याधिकारी राजा होता है। समग्र पृथिवी के शासन में यह ''इन्द्रेन्द्र'' होता है, इन्द्रों का भी इन्द्र होता है, सम्राटों का भी सम्राट् होता है। इसके सम्बन्ध में वेद में निम्नलिखित मन्त्र द्वारा निम्नलिखित भावनाएँ प्रकट की हैं। यथा ''**इन्द्रेन्द्र मनुष्या३ः परेहि सं ह्यज्ञास्थाः वरुणैः संविदानः। स त्वायमह्वत् स्वे सधस्थे स देवान् यक्षत् स उ कल्पयाद् विशः॥**'' (अथर्व० ३.४.६)। अर्थात् हे इन्द्रेन्द्र! हे मनुष्य! तू भूमण्डल के परे तक के प्रदेशों तक भी जाया-आया कर। वरुणों अर्थात् प्रजा निर्वाचित माण्डलिक राजाओं द्वारा सम्यक्तया जानकारी को प्राप्त हुआ तू उनके साथ शासन में ऐकमत्य को प्राप्त हो। उस परमेश्वर ने ''सधस्थ'' अर्थात् निजगद्दी में साथ बैठने के लिए आह्वान किया है, तू परमेश्वर के साथ राजगद्दी पर बैठ कर, परमेश्वर का प्रतिनिधि बन कर पृथिवी का शासन कर, और विश्वास कर कि ऐसे तेरे शासन में परमेश्वर, राज्यशासन में तेरे सहायक दिव्य राजवर्ग को शासन-यज्ञ के योग्य बना देगा, और तेरी प्रजाओं को सामर्थ्य सम्पन्न कर देगा।

राजा लोग यदि यह समझ लें कि शासन की गद्दी पर परमेश्वर भी स्थित है, और हम उसके प्रतिनिधि होकर शासन-व्यवस्था के लिए उसके साथ बैठे हुए हैं तो पृथिवी का शासन स्वर्गीयशासन हो जाए। मन्त्र में ''वरुणैः'' में बहुवचन है, अतः ये मनुष्य हैं, माना गया वरुण-देवता नहीं। मनुष्या३ः में आह्वान में ''टि'' को प्लुत है। यक्षत्=यज्+सिप्+लेट् लकार]।

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः**॥ देवता—**आपः**॥ छन्दः—**दशपदा त्रैष्टुब्गर्भाऽतिधृतिः**॥

यो व आपोपां भागो३ऽप्स्व१न्तर्यजुष्यो देवयजनः।
इदं तमति सृजामि तं माभ्यवनिक्षि।
तेन तमभ्यतिसृजामो यो३ऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।
तं वधेयं तं स्तृषीयानेन ब्रह्मणानेन कर्मणानया मेन्या॥ १५॥

अर्थ—(आपः) हे आप्त प्रजाओ! (वः) तुम्हारा (यः) जो (अपाम्) प्रजाओं सम्बन्धी (भागः) सेवनीय या भजनीय है, जो कि (अप्सु अन्तः) जो तुम्हारे हृदयान्तर्वर्ती जलों में विद्यमान है, (यजुष्यः) यजनीय तथा (देवयजनः) देवों अर्थात् साध्यों और ऋषियों द्वारा यजनीय है, (तम्) उसके प्रति (इदम्) इस शरीर या मन को (अतिसृजामि) मैं सम्राट् भेंट करता हूँ, समर्पित करता हूँ, [हे परमेश्वर!] (तम्, मा) उस मुझ सम्राट् को, (अभि अवनिक्षि) अभिमुख होकर, शुचि पवित्र कर। (तेन) उस शुचि, पवित्र सम्राट् की आज्ञा द्वारा (तम्) उस शत्रु-राजा को, (अभि) अभिमुख होकर, (अतिसृजामः) हम सैनिक विनष्ट करते हैं (यः) जो कि (अस्मान् द्वेष्टि) हमारे साथ द्वेष करता है, और (यम्) जिसके साथ प्रतिक्रिया में, (वयम्, द्विष्मः) हम द्वेष करते हैं। अथवा (तम्) उस शत्रु-राजा का (वधेयम्) मैं सम्राट् स्वयं वध करूँ, (तम्) उसका (स्तृषीय) विनाश करूँ, (अनेन ब्रह्मणा) इस मन्त्रोक्त विधि द्वारा, (अनेन कर्मणा) इस [द्वन्द्वयुद्धरूपी] कर्म द्वारा, या (अनया मेन्या) इस वज्र द्वारा।

[सम्राट्, निज, शरीर या मन को सेवनीय या भजनीय परमेश्वर के प्रति समर्पित कर, मन की पवित्रता की याचना करता है। ऐसे सम्राट् की आज्ञा द्वारा सैनिक, शत्रुराजा का विनाश करते हैं। अथवा सम्राट् स्वयं उसका विनाश करता है। भागः=''भगः=+स्वार्थेऽण्''=भगरूप, परमेश्वर]।

देवयजनः=**देवाऽअजयन्त साध्या ऋषयश्च ये** (यजुः० ३१.९)। अतिसृजामि=अतिसर्जन (Giving,

Granting) (आप्टे)। अभि=आभिमुख्ये (निरुक्त० १.१.३)। अतिसृजामः=अतिसर्जन (Kiling, आप्टे)। स्तृषीय=**स्तृणाति वधकर्मा** (निघं० २.१९)। मेन्या=**मेनिः वज्रनाम** (निघं० २.२०)।

अप्सु अन्तः; आपः=हृदयसमुद्र और नाड़ियों में प्रवाहित रक्त (अथर्व० १०.२.११)। यजनः (औणादिकः युच् कर्मणि)। अवनिक्षि=अव+**णिजिर् शौचपोषणयोः**]।

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**दशपदा त्रैष्टुब्गर्भाऽतिधृतिः** ॥

यो व आपोपामूर्मिर॒प्स्व॑१न्तर्य॑जुष्यो॑ देव॒यज॑नः।
इ॒दं तमति॑ सृजामि॒ तं माभ्यव॑निक्षि।
ते॒न तम॒भ्यति॑सृजामो॒ यो॒३॑स्मान्द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः।
तं व॑धेय॒ं तं स्तृ॑षीया॒नेन॒ ब्रह्म॑णा॒नेन॒ कर्म॑णा॒नया॑ मे॒न्या ॥ १६ ॥

अर्थ—(आपः) हे आप्त प्रजाओ! (वः) तुम्हारा (यः) जो (अपाम्) प्रजाओं सम्बन्धी (ऊर्मिः) लहर है, जोकि (अप्सु अन्तः) तुम्हारे हृदयान्तर्वर्ती जलों में विद्यमान है, (यजुष्यः) यजनीय तथा (देवयजनः) देवों अर्थात् साध्यों और ऋषियों द्वारा यजनीय है, (तम्) उसके प्रति (इदम्) इस शरीर या मन को (अति सृजामि) मैं सम्राट् भेंट करता हूँ, समर्पित करता हूँ, [हे परमेश्वर] (तम् मा) उस मुझ को, (अभि अवनिक्षि) अभिमुख होकर, शुचि कर, पवित्र कर। (तेन) उस शुचि, पवित्र सम्राट् की आज्ञा द्वारा (तम्) उस शत्रुराजा का, (अभि) अभिमुख होकर, (अतिसृजामः) हम सैनिक विनाश करते हैं, वध करते हैं, (यः) जो कि (अस्मान् द्वेष्टि) हमारे साथ द्वेष करता है, और (यम्) जिसके साथ प्रतिक्रिया में, (वयम्, द्विष्मः) हम द्वेष करते हैं। अथवा (तम्) उस शत्रुराजा का (वधेयम्) मैं सम्राट् स्वयं वध करूँ, (तम्) उसका (स्तृषीय) विनाश करूँ, (अनेन ब्रह्मणा) इस मन्त्रोक्त विधि द्वारा, (अनेन कर्मणा) इस [द्वन्द्वयुद्धरूपी], कर्म द्वारा, या (अनया मेन्या) इस वज्र द्वारा।

[मन्त्र में "ऊर्मि" द्वारा लहर के रूप में परमेश्वर का वर्णन हुआ है। लहरें समुद्र में उठा करती हैं। इससे हृदय को समुद्र कहा है। इस हृदय-समुद्र में परमेश्वर की स्तुतिरूप में स्तुति-लहरें उठती हैं। इन लहरों में परमेश्वर स्तवनीयरूप में प्रकट हो रहा होता है। अतः वह "ऊर्मि" है। इस सम्बन्ध में यजुर्वेद का मन्त्र विशेष महत्त्व का है। यथा—

ए॒ताऽअ॑र्षन्ति॒ हृद्या॑त्समु॒द्राच्छ॒तव्र॑जा रि॒पुणा॒ नाव॒चक्षे॑।
घृ॒तस्य॒ धारा॑ऽअ॒भिचा॑कशीमि हिर॒ण्ययो॑ वेत॒सो मध्य॑ऽआसाम् ॥ यजुः० १७.९३॥

अर्थ—(एताः) ये स्तुतिवाणियाँ (शतव्रजाः) सैकड़ों वेगों वाली हुईं, (हृद्यात् समुद्रात्) हृदयरूपी समुद्र से (अर्षन्ति) उठती हैं, (रिपुणा) जो कि स्तुतियों के रिपु द्वारा (न अवचक्षे) अवख्याति को प्राप्त नहीं होतीं। (घृतस्य) प्रकाश की (धाराः) धाराओं को (अभिचाकशीमि) मैं सम्मुख देख रहा हूँ, (आसाम्) इन धाराओं के (मध्ये) बीच में (हिरण्ययः) हिरण्यवर्णी, (वेतसः) संसारपट का बुनने वाला परमेश्वर प्रकट हो रहा है, घृतस्य=**घृ क्षरणदीप्त्योः** (जुहोत्यादिः) मन्त्र में "दीप्ति" अर्थ अभिप्रेत है। वेतसः=**वेञ् तन्तुसन्ताने, वयति तन्तून् संतनोतीति** (उणा० ३.११८)। ये प्रकाशमयी धाराएँ भी ऊर्मिरूप हैं, जो कि स्तुति मन्त्रों के जप में प्रकट हो रही होती हैं]।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः ॥ देवता—आपः ॥ छन्दः—दशपदा त्रैष्टुब्गर्भाऽति धृतिः ॥

यो व आपोपां वत्सो३ऽप्स्व१न्तर्यजुष्यो॑ देवयजनः।
इदं तमति सृजामि तं माभ्यवनिक्षि।
तेन तमभ्यतिसृजामो यो३ऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।
तं वधेयं तं स्तृषीयानेन ब्रह्मणानेन कर्मणानया मेन्या॥ १७॥

अर्थ—(आपः) हे आप्त प्रजाओ! (वः) तुम्हारा (यः) जो (अपाम्) प्रजाओं सम्बन्धी (वत्सः) पुत्ररूप है, पुत्रसदृश स्नेहपात्र है, जोकि तुम्हारे (अप्सु अन्तः) हृदयान्तर्वर्ती जलों में विद्यमान है, (यजुष्यः) यजनीय तथा (देवयजनः) देवों अर्थात् साध्यों और ऋषियों द्वारा यजनीय है, (तम्) उसके प्रति (इदम्) इस शरीर या मन को (अतिसृजामि) मैं सम्राट् भेंट करता हूँ, समर्पित करता हूँ, [हे परमेश्वर!] (तम्, मा) उस मुझ को, (अभि) अभिमुख होकर, (अवनिक्षि) शुचि, पवित्र कर। (तेन) उस शुचि, पवित्र सम्राट् की आज्ञा द्वारा (तम्) उस शत्रु-राजा को, (अभि) अभिमुख हो कर, (अतिसृजामः) हम सैनिक विनष्ट करते हैं, (यः) जोकि (अस्मान् द्वेष्टि) हमारे साथ द्वेष करता है, और (यम्) जिसके साथ प्रतिक्रिया में, (वयम्, द्विष्मः) हम द्वेष करते हैं। अथवा (तम्) उस शत्रु-राजा का (वधेयम्) मैं सम्राट् स्वयं वध करूँ, (तम्) उसका (स्तृषीय) विनाश करूँ (अनेन ब्रह्मणा) इस मन्त्रोक्त विधि द्वारा, (अनेन कर्मणा) इस [द्वन्द्वयुद्धरूपी] कर्म द्वारा या (अनया मेन्या) इस वज्र द्वारा।

[मन्त्र में परमेश्वर को वत्स कहा है। अथर्ववेद में परमेश्वर को "ऋषीणां पुत्रः" कहा है। यथा "**अग्नावग्निश्चरति प्रविष्ट ऋषीणां पुत्रो अभिशस्तिपा उ**" (अथर्व० ४.३९.९), अर्थात् अग्नि में प्रविष्ट हुआ अग्नि विचरता है, वह ऋषियों का पुत्र है, और हिंसा करने वाले पाप से रक्षा करता है। परमेश्वर ऋषियों का पुत्र है, ऋषि लोग योगसमाधि द्वारा इसे पैदा करते हैं, प्रकट करते हैं, तथा इससे पुत्रवत् स्नेह करते हैं, जैसे माता-पिता उत्पन्न पुत्र से स्नेह करते हैं]।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः ॥ देवता—आपः ॥ छन्दः—दशपदा त्रैष्टुब्गर्भाऽतिधृतिः ॥

यो व आपोपां वृषभो३ऽप्स्व१न्तर्यजुष्यो॑ देवयजनः।
इदं तमति सृजामि तं माभ्यवनिक्षि।
तेन तमभ्यतिसृजामो यो३ऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।
तं वधेयं तं स्तृषीयानेन ब्रह्मणानेन कर्मणानया मेन्या॥ १८॥

अर्थ—(आपः) हे आप्त प्रजाओ! (वः) तुम्हारा (यः) जो (अपाम्) प्रजाओं सम्बन्धी (वृषभः) सुखवर्षी या आनन्दरसवर्षी है, जो कि तुम्हारे (अप्सु अन्तः) हृदयान्तर्वर्ती जलों में विद्यमान है, (यजुष्यः) यजनीय तथा (देवयजनः) देवों अर्थात् साध्यों और ऋषियों द्वारा यजनीय है, (तम्) उसके प्रति (इदम्) इस शरीर या मन को (अतिसृजामि) मैं सम्राट् भेंट करता हूँ, समर्पित करता हूँ, [हे परमेश्वर!] (तम्, मा) उस मुझ को, (अभि) अभिमुख होकर, (अवनिक्षि) शुचि, पवित्र कर। (तेन) उस शुचि, पवित्र सम्राट् की आज्ञा द्वारा (तम्) उस शत्रु-राजा को, (अभि) अभिमुख होकर, (अतिसृजामः) हम सैनिक विनष्ट करते हैं (यः) जो कि (अस्मान् द्वेष्टि) हमारे साथ द्वेष करता है, और (यम्) जिसके साथ

प्रतिक्रिया में, (वयम्, द्विष्मः) हम द्वेष करते हैं। अथवा (तम्) उस शत्रु-राजा का (वधेयम्) मैं सम्राट् वध करूँ, (तम्, स्तृषीय) उसका विनाश करूँ (अनेन ब्रह्मणा) इस मन्त्रोक्त विधि द्वारा, (अनेन कर्मणा) इस [द्वन्द्वयुद्धरूपी कर्म द्वारा, या (अनया मेन्या) इस वज्र द्वारा]।

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**दशपदा त्रैष्टुब्गर्भाऽतिधृतिः (कृतिः)**॥

यो व॑ आपोऽपां हिर॑ण्यगर्भो॒३॒॑प्स्व॑१॒॑न्तर्य॑जु॒ष्यो॑ दे॒व॒यज॑नः।

इ॒दं तमति॑ सृजामि॒ तं माभ्य॑व॑निक्षि।

ते॒न तम॒भ्यति॑सृजामो॒ यो॒३॒॑स्मान्द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः।

तं व॑धेयं॒ तं स्तृ॑षीया॒नेन॒ ब्रह्म॑णा॒नेन॒ कर्म॑णा॒नया॑ मे॒न्या॥ १९॥

अर्थ—(आपः) हे आप्त प्रजाओ! (वः) तुम्हारा (यः) जो (अपाम्) प्रजाओं सम्बन्धी (हिरण्यगर्भः) हिरण्यगर्भ नामक परमेश्वर है, जो कि तुम्हारे (अप्सु अन्तः) हृदयान्तर्वर्ती जलों में विद्यमान है, (यजुष्यः) यजनीय तथा (देवयजनः) देवों अर्थात् साध्यों और ऋषियों द्वारा यजनीय है, (तम्) उसके प्रति (इदम्) इस शरीर या मन को (अभि) अभिमुख होकर, (अवनिक्षि) शुचि, पवित्र कर। (तेन) उस शुचि, पवित्र सम्राट् की आज्ञा द्वारा (तम्) उस शत्रुराजा को, (अभि) अभिमुख होकर, (अतिसृजामः) हम सैनिक विनष्ट करते हैं (यः) जो कि (अस्मान् द्वेष्टि) हमारे साथ द्वेष करता है, और (यम्) जिसके साथ, प्रतिक्रिया में, (वयम् द्विष्मः) हम द्वेष करते हैं। अथवा (तम्) उस शत्रु-राजा का (वधेयम्) मैं सम्राट् स्वयं वध करूँ, (तम्, स्तृषीय) उसका विनाश करूँ, (अनेन ब्रह्मणा) इस मन्त्रोक्तविधि द्वारा, (अनेन कर्मणा) इस [द्वन्द्वयुद्धरूपी] कर्म द्वारा या (अनया मेन्या) इस वज्र द्वारा।

[मन्त्र में "हिरण्यगर्भ" को यजनीय कहा है, जो कि प्रजापति परमेश्वर है यथा "**हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे**" (यजुः० १३.४)। अतः प्रतीत होता है कि मन्त्र १५-१८ में जो भजनीय तथा यजनीय नाम "भागः, ऊर्मिः, वत्सः, वृषभः" पठित हैं वे भी परमेश्वर के ही गुणकर्मों के सूचक हैं]।

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**दशपदा त्रैष्टुब्गर्भाऽतिधृतिः (कृतिः)**॥

यो व॑ आपोऽपामश्मा॒ पृश्नि॑र्दि॒व्यो॒३॒॑प्स्व॑१॒॑न्तर्य॑जु॒ष्यो॑ दे॒व॒यज॑नः।

इ॒दं तमति॑ सृजामि॒ तं माभ्य॑व॑निक्षि।

ते॒न तम॒भ्यति॑सृजामो॒ यो॒३॒॑स्मान्द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः।

तं व॑धेयं॒ तं स्तृ॑षीया॒नेन॒ ब्रह्म॑णा॒नेन॒ कर्म॑णा॒नया॑ मे॒न्या॥ २०॥

अर्थ—(आपः) हे आप्त प्रजाओ! (वः) तुम्हारा (यः) जो (अपाम्) प्रजाओं सम्बन्धी (अश्मा) व्यापक या मेघवत् सुखवर्षी, (पृश्निः) आदित्यवर्णी, (दिव्यः) दिव्य परमेश्वर है, जो कि तुम्हारे (अप्सु अन्तः) हृदयान्तर्वर्ती जलों में विद्यमान है, (यजुष्यः) यजनीय तथा (देवयजनः) देवों अर्थात् साध्यों और ऋषियों द्वारा यजनीय है, (तम्) उस परमेश्वर के प्रति (इदम्) इस शरीर या मन को (अतिसृजामि) मैं सम्राट् भेंट करता हूँ, समर्पित करता हूँ। [हे परमेश्वर!] (तम् मा) उस मुझ को, (अभि) अभिमुख होकर (अवनिक्षि) शुचि, पवित्र कर। (तेन) उस शुचि, पवित्र सम्राट् की आज्ञा द्वारा (तम्) उस शत्रु-राजा को (अभि) अभिमुख होकर (अतिसृजामः) हम सैनिक विनष्ट करते हैं (यः) जो कि (अस्मान्

द्वेष्टि) हमारे साथ द्वेष करता है। और (यम्) जिसके साथ, प्रतिक्रिया में, (वयम्, द्विष्मः) हम द्वेष करते हैं। अथवा (तम्) उस शत्रु-राजा का (वधेयम्) मैं सम्राट् स्वयं वध करूँ, (तम्, स्तृषीय) उसका विनाश करूँ (अनेन ब्रह्मणा) इस मन्त्रोक्त विधि द्वारा, (अनेन कर्मणा) इस [द्वन्द्वयुद्धरूपी] कर्म द्वारा या (अनया मेन्या) इस वज्र द्वारा।

[अश्मा=**अशूङ् व्याप्तौ तथा अश्मा मेघनाम** (निघं० १.१०)। **पृश्निः="आदित्यो भवति, प्राश्नुत एनं वर्णः"** (निरुक्त २.४.१४) आपः (जल) तथा अश्मा (मेघ) के वर्णन द्वारा वज्र वैद्युतास्त्र प्रतीत होता है]।

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**दशपदा त्रैष्टुब्गर्भाऽतिधृतिः** ॥

ये व आपोपामग्नयोऽप्स्वन्तर्यजुष्या देवयजनाः।
इदं तानति सृजामि तान्माभ्यवनिक्षि।
तैस्तमभ्यतिसृजामो योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।
तं वधेयं तं स्तृषीयानेन ब्रह्मणानेन कर्मणानया मेन्या॥ २१ ॥

अर्थ—(आपः) हे आप्त प्रजाओ! (वः) तुम्हारी (ये) जो (अपाम्) प्रजाओं सम्बन्धी (अग्नयः) अग्नियाँ हैं, जोकि (अप्सु अन्तः) तुम प्रजाओं के हृदयान्तर्वर्ती जलों में विद्यमान हैं, (यजुष्याः) जोकि यजन अर्थात् संगम योग्य हैं, प्रापणीय हैं, (देवयजनाः) देवों के संगम द्वारा प्रापणीय हैं, (तान्) उन्हें और (इदम्) इस शरीर या मन को [हे परमेश्वर!] (अतिसृजामि) मैं सम्राट् तेरे प्रति भेंट करता हूं, समर्पित करता हूँ, (तान्) उन्हें, (मा) और मुझे, (अभि) अभिमुख होकर (अवनिक्षि) शुचि, पवित्र कर। (तैः) सम्राट्निष्ठ उन अग्नियों द्वारा (तम् अभि) उस शत्रु को, उसके अभिमुख होकर (अति सृजामः) हम प्रजाएँ विनष्ट करती हैं (यः) जो कि (अस्मान् द्वेष्टि) हम प्रजाओं के साथ द्वेष करता है, और (यम्) जिसके साथ (वयम् द्विष्मः) हम प्रजाएँ द्वेष करती हैं। तथा (तम्) उस शत्रु का (वधेयम्) मैं सम्राट् भी वध करूँ, (तम् स्तृषीय) उसका विनाश करूँ (अनेन ब्रह्मणा) इस ब्रह्म की सहायता या कृपा द्वारा, (अनेन कर्मणा) इस स्तुति-उपासनारूप कर्म द्वारा, (अनया मेन्या) इस ज्ञानरूपी वज्र द्वारा। मन्त्रोक्त शत्रु है राजसिक-और-तामसिक मन।

[मन्त्र में अग्नियों का वर्णन है। ये अग्नियाँ मानसिक हैं, और दो प्रकार की हैं, अशिव (घोर), तथा शिव [अथर्व० १६.१.१-१३]। उन शिव अग्नियों को तथा शरीर या मन को परमेश्वर के प्रति समर्पित कर, परमेश्वर से इन्हें सशक्त बनाने के लिए शक्ति की प्रार्थना करनी चाहिए, ताकि हम अशिव [घोर] अग्नि वाले द्वेषी मन का वध कर सकें। काम, क्रोध, लोभ परहिंस्रभावनाएँ आदि अशिव [घोर] अग्नियाँ हैं। परोपकार भावना, त्याग, तपस्या, देशभक्ति के उग्र विचार आदि शिव अग्नियाँ हैं। "सृजामि तथा सृजामः" में एक वचन के प्रयोग द्वारा प्रकरणप्राप्त इन्द्र अर्थात् सम्राट् को उक्ति जाननी चाहिए, और बहुवचन के प्रयोग द्वारा प्रजाओं की। अभ्यवनिक्षि=मेरी अग्नियों और मुझ को शुचि करदे, हमारे मलों को धो डाल। घोरता मल है। निक्षिः=**णिजिर् शौचपोषणयोः**]।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः ॥ देवता—आपः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

यदर्वाचीनं त्रैहायणादनृतं किं चोदिम।

आपो मा तस्मात्सर्वस्माद्दुरितात्पान्त्वंहसः॥ २२॥

अर्थ—[त्रैहायणात्[1]] तीन वर्षों से (अर्वाचीनम्) अब तक, (यत् किंच) जो कोई (अनृतम्, ऊदिम) अनृत भाषण हम ने किया है, (तस्मात्, दुरितात्) उस दुष्परिणामी, तथा (सर्वस्मात्) सब दुष्परिणामी (अंहसः) पापों से (मा) मुझे (आपः) व्यापक-परमेश्वर (पान्तु) सुरक्षित करें।

[मन्त्र में कितनी सर्वोच्च आध्यात्मिक तथा सदाचार की भावना प्रकट हुई है। वैदिक आदर्शों वाले इन्द्र अर्थात् सम्राट् तथा उसके साम्राज्य की प्रजाएँ यह कहती हैं कि तीन वर्षों के समय में हम में से किसी ने अनृतभाषण नहीं किया। यदि कोई अनृतभाषण हो गया हो, जिसका कि हम में से किसी को स्मरण नहीं, तो उस दुष्परिणामी सब प्रकार के अनृतभाषणरूपी पाप से सर्वव्यापक परमेश्वर हमें सुरक्षित करे। मन्त्र में "आपः" पद न तो प्रजाओं का वाचक है, न जल का, न शारीरिक रस-रक्त-वीर्य का, और न प्राणों का। अपितु सर्वव्यापक और हृदयान्तर्वर्ती परमेश्वर का वाचक है। आपः शब्द परमेश्वरार्थ वाचक भी है। यथा—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।

तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ताऽआपः स प्रजापतिः॥ यजुः० ३२.१॥

वैदिक इन्द्र अर्थात् सम्राट् कितना आस्तिक, धार्मिक और परमेश्वर-परायण है इसके साक्षी (मन्त्र १५-२१) हैं। राजा के अनुसार ही तो प्रजा होती है। इसीलिए मन्त्र २२ के अनुसार प्रजा भी सत्यपरायण है]।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः ॥ देवता—आपः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

समुद्रं वः प्र हिणोमि स्वां योनिमपीतन।

अरिष्टाः सर्वहायसो मा च नः किं चनाममत्॥ २३॥

अर्थ—हे आपः (वः) तुम्हें मैं (समुद्रम्) हृदय-समुद्र की ओर (प्रहिणोमि) प्रेरित करता हूँ, (स्वाम्) निज (योनिम्) गृह में (अपीतन) विलीन हो जाओ, (सर्वहायसः) सब प्रकार के गतियों वाले सप्तप्राण (अरिष्टाः) हिंसित न हों, (च) और (नः) हमें (किं चन) कोई भी [रोग] (मा) न (आममत्) रुग्ण करे।

[त्रैहायण-अनृतभाषण त्याग के मन्त्र (२२) के पश्चात् मन्त्र (२३) पठित है। इन दोनों मन्त्रों के भावों में कार्यकारण भाव है। त्रैहायणव्रत कारण है और मन्त्र में कथित भावनाएँ कार्यरूप हैं। मन्त्र (२३) में "आपः" द्वारा ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, मन और विद्या—ये सात प्राण अभिप्रेत हैं। "**सप्तापः स्वपतो लोकमीयुः**" (यजुः० ३४.५५) में "सप्त-आपः" की व्याख्या में निरुक्त में कहा है कि "**षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तमी**" (१२.४.३७)। इन सात प्राणों को "योगाभ्यास" से हृदय में विलीन करना होता है। यथा "**हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिरुध्य। ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्त्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि**" (श्वेताश्व०

---

१. हायन (ह+अयन)=सायन (स+अयन) सकार की विकृति हकार में, अतः सायन अर्थात् उत्तरायण और दक्षिणायन से निर्मित हायन=वर्ष।

उप० अध्याय २, खण्ड ८), अर्थात् "मन सहित इन्द्रियों को हृदय में रोक कर, ब्रह्मरूपी नौका द्वारा, विद्वान्, भयप्रद सब स्रोतों को तैर जाए। ये स्रोत हैं विषयप्रवाही इन्द्रियाँ और मन"।

ये सात प्राण "सर्वहायस:" हैं, शारीरिक तथा मानसिक सब प्रकार की गतियों के कारण हैं। इनकी गतियों के निरोध से मनुष्य हिंसित नहीं होते, और न रोगग्रस्त होते हैं। प्रहिणोमि=प्र+**हि गतौ** (स्वादि:)। **योनि: गृहनाम** (निघं० ३.४)। सर्वहायस:=सर्व+हा (**ओहाङ् गतौ**)+युगागम+असुन्। सर्वहाया:=सर्वगति: (सायण, अथर्व० ८.२.७)। आममत्=**अम रोगे** (चुरादि:)]।

ऋषि:—**सिन्धुद्वीप:** ॥ देवता—**आप:** ॥ छन्द:—**त्रिपदा विराड् गायत्री** ॥

अरिप्रा आपो अप रिप्रमस्मत्।
प्रास्मदेनो दुरितं सुप्रतीकाः प्र दुःष्वप्न्यं प्र मलं वहन्तु॥ २४॥

अर्थ—(आप:) शारीरिक जल (अथर्व० १०.२.११) "रस-रक्त" आदि, तथा सप्त प्राण (मन्त्र २३) (अरिप्रा:) पापरहित हो गये हैं, अत: (अस्मत्) हमसे (रिप्रम्) पाप (अप) अपगत हो गया है। (सुप्रतीका:) मुख को उत्तम बना देने वाले वे निष्पाप "आप:" (अस्मत्) हमसे (दुरितम्) दुष्परिणामी (एन:) पाप को (प्र वहन्तु) प्रवाहित कर दें, और (दुःष्वप्न्यम्) बुरे स्वप्नों के परिणामरूप (मलम्) चैत्त मल को (प्र प्र वहन्तु) प्रवाहित कर दें।

[रिप्र का अर्थ है पाप। "**रपो रिप्रमिति पापनामनी**" (निरुक्त ४.३.२१)। शारीरिक रस-रक्त, और पाँच ज्ञानेन्द्रियों, मन और विद्या के निष्पाप और पवित्र हो जाने पर मनुष्य पवित्र हो जाता है, और उसका चेहरा चमक जाता है, तथा स्वप्न सात्त्विक होकर बुरे चैत्त मल से विहीन हो जाते हैं।

विशेष वक्तव्य—(१) मन्त्र १-२४ में स्थान-स्थान पर "आप:" शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका प्रसिद्ध अर्थ जल है। मन्त्रों में "जल अर्थ" द्वारा मन्त्रों के अर्थ युक्तियुक्त तथा बुद्धिग्राह्य नहीं रहते। वैदिक साहित्य में "आप:" शब्द नाना अर्थों में प्रयुक्त होता है। (१) आप: अर्थात् व्यापक ब्रह्म, [**आप्लृ व्याप्तौ**] (यजु:० ३१.१)। (२) आप:=पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन और विद्या (यजु:० ३४.५५)। (३) आप:=रक्त, रुधिर (अथर्व० १०.२.११)। (४) **आप: अन्तरिक्षनाम** (निघं० १.३)। (५) **आप: पदनाम** (निघं० ५.३), इत्यादि। अत: इन मन्त्रों की व्याख्या में "आप:" का अर्थ मन्त्राभिप्रायानुसार किया गया है, जोकि बुद्धिग्राह्य है।

मन्त्र १५-२१ में आध्यात्मिक तत्त्वों का वर्णन भी अभिप्रेत है। "यजुष्य:, देवयजन:" द्वारा परमेश्वर का, "अवनिक्षि" द्वारा शरीर या मन की शुचिता, पवित्रता का, "द्वेष्टि" द्वारा राजसिक और तामसिक मनरूपी शत्रुराजा का (मन्त्र २९); "ब्रह्मणा" द्वारा परब्रह्म का (मन्त्र २१), "कर्मणा" द्वारा स्तुति-उपासना रूप कर्म का (मन्त्र २१); "मेन्या" द्वारा ज्ञान-वज्र का (मन्त्र २१), वर्णन भी अभिप्रेत है। इसी प्रकार "भाग:" [सेवनीय, भजनीय], ऊर्मि:, वत्स:, वृषभ:, हिरण्यगर्भ:, पृश्नि: तथा दिव्य अश्मा, तथा पापों को भस्म करने वाली यजुष्या: अग्नियाँ, त्रैहायण-अनृत भाषण न करना, दुरित अंहस् रिप्र का अपगमन"—आदि का वर्णन भी आध्यात्मिक भावनाओं का सूचक है। राजसिक-तामसिक-मन भी शारीरिक जीवन में राजा है, परन्तु है शत्रुरूप राजा। इसका विनाश करना चाहिए, और सात्त्विक मन का उपार्जन करना चाहिए। तभी प्रजाएं "अरिप्रा:" हो सकती हैं। यथा—"**मन एव मनुष्याणां कारणं**

बन्धमोक्षयोः"। राजसिक-तामसिक-मन बन्ध का कारण है अतः शत्रु है, और सात्त्विकमन मोक्ष का कारण है, अतः मित्र है।

सूक्त ५, पर्याय २

ऋषिः—**कौशिकः**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**षट्पदा यथाक्षरं शक्वर्यतिशक्वरी**॥

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा पृथिवीसंशितोऽग्नितेजाः।
पृथिवीमनु वि क्रमेऽहं पृथिव्यास्तं निर्भजामो योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।
स मा जीवीत्तं प्राणो जहातु॥ २५॥

अर्थ—(विष्णोः) विष्णु के (क्रमः)[१] पराक्रम वाला (असि) तू है, (सपत्नहा) सपत्न का हनन करने वाला है, (पृथिवीसंशितः) पृथिवी में तेज अर्थात् उग्र, (अग्नितेजाः) तथा अग्निसदृश तेजस्वी तू है। (अहम्) मैं (पृथिवीम् अनु) पृथिवी में (विक्रमे) विक्रम अर्थात् पराक्रम करता हूँ, (पृथिव्याः) पृथिवी से (तम्) उसे (निर्भजामः) हम भागरहित करते हैं (यः) जोकि (अस्मान् द्वेष्टि) हमारे साथ द्वेष करता है, (यम्) जिसके साथ (वयम् द्विष्मः) हम द्वेष करते हैं। (सः) वह (मा) न (जीवीत्) जीवित रहे, (तम्) उसे (प्राणः) प्राण (जहातु) छोड़ जाए।

[विष्णु द्वारा व्यापक-परमेश्वर का ग्रहण है, सूर्य का नहीं। क्योंकि सूर्य का वर्णन मन्त्र (३७) में हुआ है। मन्त्र में सार्वभौम-शासक स्वयं अपने आप को सम्बोधित करता हुआ कहता है कि तू विष्णु के पराक्रम वाला है, अर्थात् जैसे परमेश्वर का पराक्रम पृथिवी पर है, वह निज पराक्रम द्वारा समग्र पृथिवी का शासन न्यायपूर्वक करता है, वैसे तू भी समग्र पृथिवी के प्रजाजनों पर न्यायपूर्वक शासन कर और जो सार्वभौम नियमों के प्रतिकूल चलते हैं उन्हें सपत्न अर्थात् शत्रु जानकर उनकी हत्या कर। पृथिवी में उग्ररूप होकर कठोरता पूर्वक उन्हें अग्नि के समान दग्ध कर, जोकि पृथिवी पर मलिनाचरण वाले हैं।

इस "आत्मसंबोधन" के पश्चात् सार्वभौमशासक कहता है कि मैं समग्र पृथिवी में निजपराक्रम किये हुआ हूँ। मैं और सार्वभौमप्रजा के अन्य शासक मिलकर, पृथिवी के भोगों से उसे भाग रहित कर देते हैं जोकि प्रजा और हम शासकों के साथ द्वेष करता है, और परिणामरूप में जिसके प्रति हम सबका भी द्वेष हो जाता है। उसे हम जीवित नहीं रहने देते, और उसे प्राण-दण्ड देते हैं। इस प्रकार जो व्यक्ति, राज्य के नियमों के विरुद्ध चलता है, जिन नियमों का निर्माण, प्रजा और शासकों की बहुसम्मति या सर्वसम्मति द्वारा हुआ है, उनका पालन, उग्ररूप में, करवाने का निर्देश मन्त्र में हुआ है। संशित=तेज या उग्र। यथा "**सत्यं बृहदृतमुग्रम्**" (अथर्व० १२.१) में, ऋतम् उग्रम्=उग्र नियम]।

ऋषिः—**कौशिकः**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**षट्पदा यथाक्षरं शक्वर्यतिशक्वरी**॥

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहान्तरिक्षसंशितो वायुतेजाः।
अन्तरिक्षमनु वि क्रमेऽहमन्तरिक्षात्तं निर्भजामो योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।
स मा जीवीत्तं प्राणो जहातु॥ २६॥

---

१. क्रमः=क्रम+अच् (**अर्शआदिभ्योऽच्**, अष्टा० ५.२.१२७)। अतः क्रमः=पराक्रम वाला। अथवा हे मेरे पराक्रम! तू विष्णु के पराक्रम के सदृश या तद्रूप है।

अर्थ—(विष्णोः) विष्णु के (क्रमः) पराक्रम वाला (असि) तू है, (सपत्नहा) सपत्न का हनन करने वाला है, (अन्तरिक्षसंशितः) अन्तरिक्ष में तेज अर्थात् उग्र (वायुतेजाः) तथा वायुसदृश तेजस्वी तू है। (अहम्) मैं (अन्तरिक्षम् अनु) अन्तरिक्ष में (विक्रमे) विक्रम अर्थात् पराक्रम करता हूँ, (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष से (तम्) उसे (निर्भजामः) हम भाग रहित करते हैं। (यः) जोकि (अस्मान् द्वेष्टि) हमारे साथ द्वेष करता है (यम्) और प्रतीकाररूप में जिसके साथ (वयम् द्विष्मः) हम द्वेष करते हैं। (सः) वह (मा) न (जीवीत्) जीवित रहे, (तम्) उसे (प्राणः) प्राण (जहातु) छोड़ जाए।

[अन्तरिक्ष की देवता वायु है। सार्वभौम शासक, जोकि अन्तरिक्ष में भी उग्र होकर शासन करता है अपने-आप को वायु के सदृश तेजस्वी कहता है। वायु के दो काम हैं, गति और गन्धन (हिंसा)। **वा गतिगन्धनयोः** (अदादिः)। सार्वभौमशासक की गति अन्तरिक्ष में भी है, अन्तरिक्षगामी शत्रुओं की वह हिंसा करता, और उन्हें अन्तरिक्ष में संचार करने से भागरहित करता है। शत्रु विमानों द्वारा अन्तरिक्ष में संचार कर सकते हैं। शेष अभिप्रायः (मन्त्र २५) के सदृश।]

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**षट्पदा यथाक्षरं शक्वर्यतिशक्वरी** ॥

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा द्यौसंशितः सूर्यतेजाः।

दिवमनु वि क्रमेऽहं दिवस्तं निर्भजामो योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।

स मा जीवीत्तं प्राणो जहातु॥ २७॥

अर्थ—(विष्णोः) विष्णु के (क्रमः) पराक्रम वाला (असि) तू है, (सपत्नहा) सपत्न का हनन करने वाला है, (द्यौसंशितः) द्युलोक में तेज अर्थात् उग्र रूप (सूर्यतेजाः) तथा सूर्य के सदृश तेजस्वी तू है। (अहम्) मैं (दिवम् अनु) द्युलोक में (विक्रमे) विक्रम अर्थात् पराक्रम वाला हूँ (दिवः) द्युलोक से (तम्) उसे (निर्भजामः) हम भागरहित करते हैं (यः) जोकि (अस्मान् द्वेष्टि) हमारे साथ द्वेष करता है, (यम्) जिसके साथ प्रतीकाररूप में (वयम् द्विष्मः) हम द्वेष करते हैं। (सः) वह (मा) न (जीवीत्) जीवित रहे, (तम्) उसे (प्राणः) प्राण (जहातु) छोड़ जाए।

[सार्वभौम शासक अपने-आप को सूर्य सदृश तेजस्वी कहता है। सूर्य जैसे शत्रुरूप अन्धकार का विनाश करता, और शत्रुरूप मेघ को छिन्न-भिन्न करता है, वैसे सार्वभौम शासक भी द्युलोकस्थ शत्रुओं को विनष्ट करता है। द्युलोक में भी भिन्न-भिन्न नक्षत्रों और ताराओं के ग्रहों में मनुष्य आदि सदृश प्राणी रहते हैं—यह वैदिक मान्यता है। जैसे वर्तमान वैज्ञानिक युग में उत्क्षेपक-विमान, सूर्यलोक का भी अतिक्रमण करके, उससे भी परे तक पहुँचे हैं, वैसे सार्वभौमशासक भी वहाँ पहुँच कर शत्रुओं का विनाश कर सकता है। शेष अभिप्राय (मन्त्र २५) के सदृश]।

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**षट्पदा यथाक्षरं शक्वर्यतिशक्वरी** ॥

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा दिक्संशितो मनस्तेजाः।

दिशोऽनु वि क्रमेऽहं दिग्भ्यस्तं निर्भजामो योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।

स मा जीवीत्तं प्राणो जहातु॥ २८॥

अर्थ—(विष्णोः) विष्णु के (क्रमः) पराक्रम वाला (असि) तू है, (सपत्नहा) सपत्न का हनन

करने वाला है, (दिक्संशितः) दिशाओं में तेज अर्थात् उग्र रूप (मनस्तेजाः) तथा मन के सदृश तेजस्वी तू है। (अहम्) मैं (दिशः अनु) दिशाओं में (विक्रमे) विक्रम तथा पराक्रम वाला हूँ, (दिग्भ्यः) दिशाओं से (तम्) उसे (निर्भजामः) हम भाग रहित करते हैं (यः) जोकि (अस्मान् द्वेष्टि) हमारे साथ द्वेष करता है, (यम्) और जिसके साथ प्रतीकाररूप में (वयम् द्विष्मः) हम द्वेष करते हैं। (सः) वह (मा) न (जीवीत्) जीवित रहे, (तम्) उसे (प्राणः) प्राण (जहातु) छोड़ जाए।

[दिग्भ्यः, जब सूर्य, भूमध्यरेखा पर मार्च और सितम्बर में होता है तब की पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण दिशाओं को दिग्भ्यः कहा है। इन दो कालों में न अधिक सर्दी होती है और न अधिक गर्मी। अतः कार्यों के निमित्त मन अधिक स्फूर्ति वाला हो जाता है। मन के सदृश स्फूर्ति या वेग वाला और कोई पदार्थ नहीं। क्षण में यह द्युलोक तथा उससे परे पहुँच जाता है। मन्त्र (२७) में द्युलोक तक विक्रम करने का निर्देश हुआ है। वहाँ तक पहुँचने के लिए अतिशीघ्र गति चाहिए। इस अतिशीघ्र गति में मन को दृष्टान्त रूप में मन्त्र में कहा है। इस प्रकार मन्त्र २७, २८ में परस्पर सम्बन्ध है। शेष अभिप्राय (मन्त्र २५) के सदृश]।

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**षट्पदा यथाक्षरं शक्वर्यतिशक्वरी** ॥

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहाशासंशितो वाततेजाः।
आशा अनु वि क्रमेहमाशाभ्यस्तं निर्भजामो यो३ऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।
स मा जीवीत्तं प्राणो जहातु॥ २९ ॥

अर्थ—(विष्णोः) विष्णु के (क्रमः) पराक्रम वाला (असि) तू है, (सपत्नहा) सपत्न का हनन करने वाला है, (आशासंशितः) अवान्तर दिशाओं अर्थात् दिगन्तरों में तेज अर्थात् उग्ररूप, (वाततेजाः) तथा वात के सदृश तेजस्वी तू है। (अहम्) मैं (आशाः अनु) अवान्तर दिशाओं अर्थात् दिगन्तरों में (विक्रमे) विक्रम अर्थात् पराक्रम करता हूँ, (आशाभ्यः) अवान्तर दिशाओं अर्थात् दिगन्तरों से (तम्) उसे (निर्भजामः) हम भागरहित करते हैं (यः) जोकि (अस्मान् द्वेष्टि) हमारे साथ द्वेष करता है, और (यम्) प्रतीकार रूप में जिसके साथ (वयय् द्विष्मः) हम द्वेष करते हैं। (सः) वह (मा) न (जीवीत्) जीवित रहे, (तम्) उसे (प्राणः) प्राण (जहातु) छोड़ जाए।

[मन्त्र (२८) में दिग्भ्यः द्वारा भूमध्यरेखा पर के सूर्य के होते जो पूर्वादि दिशाएँ होती हैं उनका वर्णन हुआ है। और मन्त्र (२९) में अवान्तर दिशाओं का। भूमध्यरेखा से सूर्य, जब उत्तरायण की ओर गति करता है, तब भूमध्यरेखा और उत्तरायण की अन्तिम सीमा के मध्य में जो दिशाएँ बनती हैं वे अवान्तर[1] दिशाएँ हैं। इसी प्रकार भूमध्यरेखा से दक्षिणायन की अन्तिम सीमा की मध्यवर्ती दिशाएँ भी अवान्तर दिशाएँ हैं। मार्च मास से अगले मासों में गर्मी बढ़ती जाती है, और वायु झंझारूप में तीव्र गति वाली होती है। इसे वात कहते हैं। इस वात के कारण कई वृक्ष भी धराशायी हो जाते हैं (अथर्व० १२.१.५१)। सार्वभौम शासन में तीव्रता या उग्रता का वर्णन वात द्वारा हुआ है। शेष अभिप्राय मन्त्र (२५) के सदृश]।

विशेष—२८-२९ मन्त्रों में सार्वभौमशासन के सपत्न का आर्थिक निर्भजन अर्थात् बहिष्कार वर्णित हुआ है।

---

१. अवान्तर दिशाएँ सूर्य की दैनिक गति के साथ-साथ प्रतिदिन बदलती रहती हैं।

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**षट्पदा यथाक्षरं शक्वर्यतिशक्वरी** ॥

विष्णोः क्रमोसि सपत्नह ऋक्संशितः सामतेजाः।
ऋचोनु वि क्रमेहमृग्भ्यस्तं निर्भजामो यो३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।
स मा जीवीत्तं प्राणो जहातु॥ ३०॥

अर्थ—(विष्णोः) विष्णु के (क्रमः) पराक्रम वाला (असि) तू है, (सपत्नहा) सपत्न का हनन करने वाला है, (ऋक्संशितः) ऋचाओं द्वारा उग्र हुआ है, (सामतेजाः) तथा साम के तेज वाला तू है। (अहम्) मैं (ऋचः अनु) ऋचाओं में (विक्रमे) पराक्रम वाला हूँ, (ऋग्भ्यः) ऋचाओं से (तम्) उसे (निर्भजामः) हम भाग रहित करते हैं (यः) जोकि (अस्मान् द्वेष्टि) हमारे साथ द्वेष करता है, और (यम्) जिसके साथ (वयम् द्विष्मः) हम द्वेष करते हैं। (सः) वह (मा) न (जीवीत्) जीवित रहे, (तम्) उसे (प्राणः) प्राण (जहातु) छोड़ जाए।

[सार्वभौम शासक कहता है कि मैं ऋचाओं के राजनैतिक उपदेशों द्वारा उग्र हुआ हूँ, और साम के उपदेशों द्वारा साम अर्थात् शान्त स्वभाव वाला भी हूँ। शासन के समयानुसार उग्रता तथा शान्ति का प्रयोग करना होता है। यथा "साम, दान, दण्ड, भेद" इन चार उपायों का अवलम्बन शासकों को करना होता है। इन उपायों में साम और दण्ड का भी कथन हुआ है। साम है शान्ति, और दण्ड है उग्रता।

ऋचाओं[1] से सपत्न के निर्भजन अर्थात् बहिष्कार का वर्णन हुआ है। अभिप्राय यह सपत्न को वैदिक-संस्कृति से वञ्चित कर देना चाहिए, वैदिक संस्कृति में निर्दिष्ट साम उपाय का अवलम्बन सपत्न के लिए न होकर ऋग्वेदीय उग्रता-उपाय का अवलम्बन करना चाहिए, जबकि सपत्न सार्वभौमशासन के प्रतिकूल आचरण करे। मन्त्र में "ऋक्" द्वारा ऋग्वेद को, और "साम" द्वारा सामवेद को भी सूचित किया है। शेष अभिप्राय (मन्त्र २५) के सदृश]।

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**षट्पदा यथाक्षरं शक्वर्यतिशक्वरी** ॥

विष्णोः क्रमोसि सपत्नहा यज्ञसंशितो ब्रह्मतेजाः।
यज्ञमनु वि क्रमेहं यज्ञात्तं निर्भजामो यो३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।
स मा जीवीत्तं प्राणो जहातु॥ ३१॥

अर्थ—(विष्णोः) विष्णु के (क्रमः) पराक्रम वाला (असि) तू है, (सपत्नहा) सपत्न का हनन करने वाला है, (यज्ञसंशितः) यज्ञ द्वारा उग्र हुआ है, (ब्रह्मतेजाः) तथा ब्रह्म के तेज वाला तू है। (अहम्) मैं (यज्ञम् अनु) यज्ञ में (विक्रमे) पराक्रम वाला हूँ, (यज्ञात्) यज्ञ[2] से (तम्) उसे (निर्भजामः) हम भागरहित करते हैं (यः) जोकि (अस्मान् द्वेष्टि) हमारे साथ द्वेष करता है, और (यम्) जिसके साथ (वयम् द्विष्मः) हम द्वेष करते हैं। (सः) वह (मा) न (जीवीत्) जीवित रहे, (तम्) उसे (प्राणः) प्राण (जहातु) छोड़ जाए।

---

१. ऋचाओं से सपत्न के निर्भजन का यह अभिप्राय भी सम्भव है कि उसे वहाँ शामिल होने से वंचित कर देना चाहिए जहाँ ऋचाओं के आधार पर सामगान हो रहा हो। यह सपत्न का सामाजिक बहिष्कार है।

२. इस द्वारा यज्ञों में सपत्न को शामिल होने से भी वंचित करना सूचित होता है।

[मन्त्र में यज्ञ और ब्रह्म दो का वर्णन हुआ है। वैदिक दृष्टि में या ब्रह्मोद्देश्यक किया जाता है। यथा—**"स यज्ञस्तस्य यज्ञः स यज्ञस्य शिरस्कृतम्॥"** (अथर्व० १३.४(४).४०), अर्थात् वह परमेश्वर यज्ञ है, यज्ञ उसका है, वह यज्ञ का सिर है। सिर के कट जाने पर शरीर निःसार हो जाता है, सिररूप परमेश्वर की भावना के बिना यज्ञ भी निःसार है। यज्ञ द्वारा रोग और रोगोत्पादक जीवाणुओं का विनाश होता है, यह उग्रता है, और ब्रह्मोपासना द्वारा शान्ति प्राप्त होती है। इस द्वारा शान्तभावना को सूचित किया है, सार्वभौमशासक में ये दोनों गुण चाहिएँ। साथ ही यज्ञपद द्वारा यजुर्वेद को सूचित किया है, और ब्रह्मपद द्वारा अथर्ववेद को। अथर्ववेद को ब्रह्मवेद भी कहते हैं। शेष अभिप्राय (मन्त्र २५) के सदृश है।]

विशेष—३०,३१ मन्त्रों द्वारा, वैदिक-संस्कृति से सपत्न के निर्भजन अर्थात् बहिष्कार का कथन हुआ है।

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**षट्पदा यथाक्षरं शक्वर्यतिशक्वरी** ॥

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहौषधीसंशितः सोमतेजाः।
ओषधीरनु वि क्रमेहमोषधीभ्यस्तं निर्भजामो योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।
स मा जीवीत्तं प्राणो जहातु॥ ३२॥

अर्थ—(विष्णोः) विष्णु के (क्रमः) पराक्रम वाला (असि) तू है, (सपत्नहा) सपत्न का हनन करने वाला है, (ओषधीसंशितः) उग्र स्वभाव वाली ओषधियों में उग्र, (सोमतेजाः) और सोमसदृश तेज वाला तू है। (अहम्) मैं (ओषधीः अनु) ओषधियों में (विक्रमे) विक्रम अर्थात् पराक्रम वाला हूँ, (ओषधीभ्यः) ओषधियों से (तम्) उसे (निर्भजामः) हम भाग रहित करते हैं (यः) जोकि (अस्मान् द्वेष्टि) हमारे साथ द्वेष करता है, और (यम्) जिसके साथ (वयम् द्विष्मः) हम द्वेष करते हैं। (सः) वह (मा) न (जीवीत्) जीवित रहे, और (तम्) उसे (प्राणः) प्राण (जहातु) छोड़ जाए।

[ओषधियाँ सौम्यस्वभाव वाली भी होती हैं, और उग्र स्वभाव वाली भी। मन्त्र में उग्रस्वभाव वाली ओषधियाँ अभिप्रेत हैं। सोम भी ओषधि है, जोकि ओषधियों में मुख्य ओषधि है। अतः सोम को ओषधियों का अधिपति अर्थात् स्वामी कहा है, यथा **"सोमो वीरुधामधिपतिः"** (अथर्व० ५.२४.७)। वीरुध् ओषधि है। सार्वभौमशासक सोमसदृश तेज वाला है, अतः वह अपने-आप को वीरुधों अर्थात् ओषधियों का स्वामी कहता है। स्वामी होने से वह सपत्न को ओषधि के ग्रहण से वञ्चित कर सकता है, भागरहित कर सकता है। सपत्न के रोगी हो जाने पर, ओषधि के न मिलने से, वह प्राणविहीन हो जाता है। शेष अभिप्राय (मन्त्र २५) के सदृश]।

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**षट्पदा यथाक्षरं शक्वर्यतिशक्वरी** ॥

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहाप्सुसंशितो वरुणतेजाः।
अपोनु वि क्रमेहमद्भ्यस्तं निर्भजामो योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।
स मा जीवीत्तं प्राणो जहातु॥ ३३॥

अर्थ—(विष्णोः) विष्णु के (क्रमः) पराक्रम वाला (असि) तू है, (सपत्नहा) सपत्न का हनन करने वाला है, (अप्सुसंशितः) जलों में उग्र विद्युत् के सदृश उग्र है, (वरुणतेजाः) और जलों के अधिपति वरुण के तेज वाला तू है। (अहम्) मैं (अपः अनु) जलों में (विक्रमे) विक्रम अर्थात् पराक्रम

वाला हूं, (अद्भ्यः) जलों से (तम्) उसे (निर्भजामः) हम भाग रहित करते हैं, वञ्चित करते हैं (यः) जो कि (अस्मान् द्वेष्टि) हमारे साथ द्वेष करता है, और (यम्) जिसके साथ (वयं द्विष्मः) हम द्वेष करते हैं। (सः) वह (मा) न (जीवीत्) जीवित रहे, (तम्) उसे (प्राणः) प्राण (जहातु) छोड़ जाए।

[वरुण को जलों का अधिपति कहा है। यथा **"वरुणोऽपामधिपतिः"** (अथर्व० ५.२४.४)। वरुण है मेघ, जोकि सूर्य पर आवरण डालता है। यह जलों का अधिपति है, स्वामी है। यह ही पृथिवी पर जलों की वर्षा करता है। सार्वभौमशासक अपने-आप को वरुणसदृश तेज वाला कह कर जलों का अधिपति कहता है, और पृथिवीस्थ जलों से सपत्न को भागरहित करता है, वञ्चित करता है, और सपत्न जलविहीन होकर प्राणों से विहीन हो जाता है। शेष अभिप्राय मन्त्र (२५) के सदृश]।

ऋषिः—**कौशिकः**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**षट्पदा यथाक्षरं शक्वर्यतिशक्वरी**॥

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा कृषिसंशितोऽन्नतेजाः।
कृषिमनु वि क्रमेऽहं कृष्यास्तं निर्भजामो योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।
स मा जीवीत्तं प्राणो जहातु॥ ३४॥

अर्थ—(विष्णोः) विष्णु के (क्रमः) पराक्रम वाला (असि) तू है, (सपत्नहा) सपत्न का हनन करने वाला है, (कृषिसंशितः) कृषिकर्म कराने में तेज अर्थात् उग्र है, (अन्नतेजाः) और अन्न के कारण तू तेजस्वी है। (अहम्) मैं (कृषिम् अनु) कृषिकर्म में (विक्रमे) विक्रम अर्थात् पराक्रम करता हूँ, (कृष्याः) कृषिकर्म से (तम्) उसे (निर्भजामः) हम भागरहित करते हैं (यः) जो (अस्मान् द्वेष्टि) हमारे साथ द्वेष करता है, और (यम्) जिसके साथ (वयम्) हम (द्विष्मः) द्वेष करते हैं, (सः) वह (मा) न (जीवीत्) जीवित रहे (तम्) उसे (प्राणः) प्राण (जहातु) छोड़ जाए।

[सार्वभौमशासक पृथिवी में कृषिकर्म कराने में उग्रभावना वाला है। फलतः पृथिवी में अन्न का बाहुल्य हो जाता है। अन्न के बाहुल्य होने के कारण उसका तेज बढ़ता है, वह तेजस्वी हो जाता है। जिस राष्ट्र के पास अन्न नहीं, और उसे अन्य राष्ट्रों से अन्न मांगना पड़ता है वह भिखमंगा राष्ट्र निस्तेज होता है। इसलिए सार्वभौमशासक कृषिकर्म में अपने पराक्रम को दर्शाता है। वह सपत्न को कृषिकर्म करने से वञ्चित कर देता है, और उसके पास अन्नाभाव हो जाने पर क्षुधा से तड़पता हुआ वह मृत्यु का ग्रास बन जाता है। शेष अभिप्राय मन्त्र (२५) के सदृश]।

विशेष—३२-३४ मन्त्रों में ओषधि, जल, और अन्न का अभाव वर्णित हुआ है। इनमें से, प्रत्येक तथा सब से वञ्चित हो जाने के कारण सपत्न की मृत्यु हो जाती है। यह उसके लिए मृत्यु दण्ड है, अतः वह सार्वभौमशासन का सपत्न है, शत्रु है।

ऋषिः—**कौशिकः**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**षट्पदा यथाक्षरं शक्वर्यतिशक्वरी**॥

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा प्राणसंशितः पुरुषतेजाः।
प्राणमनु वि क्रमेऽहं प्राणात्तं निर्भजामो योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।
स मा जीवीत्तं प्राणो जहातु॥ ३५॥

अर्थ—(विष्णोः) विष्णु के (क्रमः) पराक्रम वाला (असि) तू है, (सपत्नहा) सपत्न का हनन

करने वाला है, (प्राणसंशितः) प्राणप्रद वस्तुओं के संग्रह में उग्रभावना वाला है, (पुरुषतेजाः[१]) सार्वभौम के पुरुषों के तेज वाला तू है। (अहम्) मैं (प्राणम् अनु) प्राणप्रद वस्तुओं के संग्रह में (विक्रमे) विक्रम अर्थात् पराक्रम करता हूँ, (प्राणात्) प्राणप्रदवस्तुओं से (तम्) उसे (निर्भजामः) हम भाग रहित करते हैं, वञ्चित करते हैं, (यः) जो कि (अस्मान् द्वेष्टि) हमारे साथ द्वेष करता है, और (यम्) जिसके साथ (वयम् द्विष्मः) हम द्वेष करते हैं। (सः) वह (मा) न (जीवीत्) जीवित रहे, (तम्) उसे (प्राणः) प्राण (जहातु) छोड़ जाए।

[मन्त्र के प्रथम और द्वितीय पाद में प्राण का अर्थ है प्राणप्रद वस्तुएँ अर्थात् ओषधियाँ, जल, और अन्न (मन्त्र ३२-३४)। अन्न को तो प्राण कहते ही हैं, यथा "**अन्नं वै प्राणिनां प्राणः**", अर्थात् अन्न वास्तव में प्राणियों का प्राण है। मन्त्र में ओषधियाँ तथा जल भी प्राण अर्थात् प्राणप्रद अभिप्रेत हैं।

पुरुषतेजाः—सार्वभौमशासक निज प्रशस्तशासन के आधार पर कहता है कि शासन में सब पुरुष मेरे साथ हैं, इसलिए मैं पुरुषतेज वाला हूँ, समग्र पुरुषों के साहाय्य के कारण तेजस्वी हूँ। शेष अभिप्राय मन्त्र (२५) के सदृश]।

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदाऽतिशाक्वरीतिजागतगर्भाऽष्टि** ॥

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमभ्यष्ठां विश्वाः पृतना अरातीः।
इदमहमामुष्यायणस्यामुष्याः पुत्रस्य वर्चस्तेजः
प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥ ३६ ॥

अर्थ—(अस्माकम्) हमारी (जितम्)[२] विजय हुई है, (उद्भिन्नम्[३]) तोड़े-फोड़े किले आदि (अस्माकम्) हमारे हो गये हैं, (विश्वाः) सब (अरातीः) शत्रुरूप (पृतनाः) सेनाओं के (अभि) अभिमुख, सम्मुख (अस्थाम्) मैं खड़ा हूँ, (इदम् अहम्) यह मैं (आमुष्यायणस्य[४]) उस गोत्र के और (अमुष्याः) उस माता[४] के (पुत्रस्य) पुत्र की (वर्चः) दीप्ति को (तेजः) तेज को, (प्राणम्) प्राण को, (आयुः) आयु को (निवेष्टयामि[५]) घेरता हूँ, लपेटता हूँ, (इदम् एनम्) इस को (अधराञ्चम् पादयामि[६]) नीचे गिरा देता हूँ।

[जितम्.....अर्थात् "जो हम ने जीता है वह हमारा हो गया है, जो दुर्ग आदि तोड़ा है हमारा हो गया है"। विश्वाः पृतनाः=सब सेनाएँ। सार्वभौमशासक की विरोधिनी सब सेनाएँ। वेदों के अनुसार माण्डलिक[७] राजाओं का चुनाव प्रजाएँ करती हैं, माण्डलिक राजा सम्राटों[८] का चुनाव[९] करते हैं, और सम्राट् मिलकर

---

१. अथवा शासन की "पुरुष-सेनाओं" के तेज वाला है।
२. जितम्=भावे क्तः।
३. भिन्नम्=कर्मणि क्तः।
४. पुत्र का परिचय माता के नाम द्वारा भी वेदाभिमत है। आमुष्यायण द्वारा पुत्र के गोत्रनाम का कथन हुआ है।
५. **वेष्ट वेष्टने** (भ्वादिः)।
६. गमयामि।
७. माण्डलिकराजा को वरुण कहते हैं (यजुः० ८.३७), व्रियते इति वरुणः, प्रजाओं द्वारा उसका वरण (Election चुनाव) होता है इसलिए माण्डलिक राजा वरुण है।
८. वृणोति इति वरुणः, माण्डलिक राजा सम्राट् का चुनाव करते हैं। इसलिए भी इन्हें वरुण कहा जाता है।
९. सम्राट् अर्थात् संयुक्त माण्डलिक राज्यों का प्रतिनिधि। सम्+राट्। साम्राज्य=संयुक्त राष्ट्रशासन, (Federal government)।

सार्वभौमशासक का, जिसे कि एकराट्[१] कहते हैं, चुनाव करते हैं, यदि किसी कारण माण्डलिक राजाओं या सम्राटों की सेनाएँ विद्रोह में, सार्वभौमशासक के साथ युद्ध के लिए तत्पर हो जाएँ तब सार्वभौमशासक उन्हें परास्त कर उनकी सम्पत्तियों को स्वाधीन कर लेता है, और विजेतारूप में परास्त सेनाओं के अभिमुख बिना किसी भय के खड़ा होकर अपनी विजय प्रदर्शित करता है। २५-३५ मन्त्रों में "सपत्न" व्यक्तिरूप है, जो कि "तम्, यः, यम्, द्वेष्टि" शब्दों द्वारा निर्दिष्ट हुआ है। मन्त्र ३६ में "सपत्न" सेनाओं के रूप में निर्दिष्ट किये हैं]।

पर्याय ३

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**विराट् पुरस्ताद् बृहती**॥

सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते दक्षिणामन्वावृतम्।

सा मे द्रविणं यच्छतु सा मे ब्राह्मणवर्चसम्॥ ३७॥

अर्थ—(सूर्यस्य) सूर्य की (आवृतम्, अनु) गति के अनुरूप (आवर्ते) मैं सार्वभौमशासक गति करता हूँ, चलता हूँ। (दक्षिणाम्, अनु) अर्थात् दक्षिण दिशा की ओर (आवृतम्, अनु, आवर्ते) सूर्य की गति के अनुरूप गति करता हूँ, चलता हूँ। (सा) वह आवृत् (मे) मुझे (द्रविणम्) ब्रल या धन (यच्छतु) देवे, (सा) वह आवृत् (मे) मुझे (ब्राह्मणवर्चसम्) ब्राह्मणों की दीप्ति देवे।

[सूर्य दक्षिणायन की ओर जाता हुआ दक्षिण दिशा की ओर गति करता है। इस गति में वह उत्तरायण की तीक्ष्णगर्मी का परित्याग कर, शान्तप्रकृतिक हो जाता है। सार्वभौमशासक भी शासन में शान्ति चाहता है। इस भावना को वह ब्राह्मणवर्चस की प्राप्ति द्वारा भी सूचित करता है। ब्राह्मण शान्त प्रकृति के होते हैं, और क्षत्रिय उग्र प्रकृति के। शान्ति को ही मन्त्र में द्रविण कहा है, वास्तविक बल या धन कहा है। शासन का उद्देश्य भी यही होता है कि प्रजा में शान्ति का स्थापन। शान्तिसम्पन्न प्रजा ही उन्नति कर सकती है। दक्षिण दिशा की ओर जाता हुआ सूर्य मकरराशि तक शान्त होता रहता है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**पुरउष्णिक्**॥

दिशो ज्योतिष्मतीरभ्यावर्ते। ता मे द्रविणं यच्छन्तु ता मे ब्राह्मणवर्चसम्॥ ३८॥

अर्थ—(ज्योतिष्मतीः) ज्योति वाली (दिशः अभि) दिशाओं की ओर (आवर्ते) मैं सार्वभौमशासक आवर्तन करता हूँ, आता हूँ। (ताः) वे (मे) मुझे (द्रविणम्) बल या धन (यच्छन्तु) देवें, (ताः) वे (मे) मुझे (ब्राह्मणवर्चसम्) ब्राह्मणों की दीप्ति देवें।

[सूर्य मकरराशि के पश्चात् उत्तर की ओर प्रयाण आरम्भ करता है। इस प्रयाण में उत्तर की ओर उसकी ज्योति बढ़ती जाती है। दक्षिण की ओर जाते हुए उसकी ज्योति, उत्तर की ओर, दिन प्रतिदिन घटती जाती है। सार्वभौम शासक भी शासन कार्य में ज्योति का अभिलाषी है। यह ज्योति है ज्ञान ज्योति। यह ज्ञान ज्योति शासक के लिए वास्तविक बल या धन है। इसके निमित्त वह ब्राह्मणों की ज्योति चाहता है। ब्राह्मण ज्ञानज्योति वाले होते हैं, यह ब्राह्मणों की ज्योति है, ब्राह्मणवर्चस है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**आर्षी गायत्री**॥

सप्तऋषीनभ्यावर्ते। ते मे द्रविणं यच्छन्तु ते मे ब्राह्मणवर्चसम्॥ ३९॥

---

१. अथर्व० (३.४.१), इसे जनराट् भी कहते हैं, (अथर्व० २०.२१.९)।

अर्थ—(सप्त ऋषीन् अभि) सात ऋषियों की ओर (आवर्ते) मैं सार्वभौमशासक आवर्तन करता हूँ, आता हूँ। (ते) वे (मे) मुझे (द्रविणम्) बल या धन (यच्छन्तु) देवें, (ते) वे (मे) मुझे (ब्राह्मणवर्चसम्) ब्राह्मणों की ज्योति देवें।

[मन्त्र में सप्तऋषि के दो अभिप्राय हैं। एक सप्तर्षिमण्डल द्युलोक में उत्तर दिशा में स्थित है, और दूसरा सप्तर्षि मनुष्य के शरीर में स्थित है। यथा **"सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे"** (यजुः० ३४.५५)। ये सप्त ऋषि हैं **"षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तमी"** (निरुक्त १२.४.३७)।

सार्वभौमशासक शरीरस्थ ५ ज्ञानेन्द्रियों, मन तथा विद्या (ज्ञान) को चाहता है, जोकि ऋषि रूप होकर उसे सन्मार्ग का दर्शन करा सकें। सर्वसाधारण मानुष शरीर में ये सात ऋषिरूप न हो कर, असुररूप में रहते हैं, जिससे मनुष्य प्रायः सन्मार्गदर्शी नहीं होते। इन सात ऋषियों से सार्वभौमशासक सात्त्विकद्रविण चाहता है, और ब्राह्मणवर्चस चाहता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**विराड् विषमा गायत्री** ॥

ब्रह्माभ्यावर्ते। तन्मे द्रविणं यच्छतु तन्मे ब्राह्मणवर्चसम्॥ ४०॥

अर्थ—(ब्रह्म अभि) ब्रह्म की ओर (आवर्ते) आता हूँ। (तत्) वह ब्रह्म (मे) मुझे (द्रविणम्) आध्यात्मिक बल और धन (यच्छतु) दे, (तत्) वह (मे) मुझे (ब्राह्मणवर्चसम्) ब्राह्मण की दीप्ति दे।

[सार्वभौमशासक, निज सात को ऋषिकोटि का बनाने के लिए, ब्रह्म की ओर आवर्तन करता है, उसकी ओर आता है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**आर्षी गायत्री** ॥

ब्राह्मणाँ अभ्यावर्ते। ते मे द्रविणं यच्छन्तु ते मे ब्राह्मणवर्चसम्॥ ४१॥

अर्थ—(ब्राह्मणान् अभि) ब्राह्मणों की ओर (आवर्ते) मैं आवर्तन करता हूँ, उनकी शरण में आता हूँ। (ते) वे (मे) मुझे (द्रविणम्) ब्रह्मज्ञानरूपी बल और धन (यच्छन्तु) देवें, (ते) वे (मे) मुझे (ब्राह्मणवर्चसम्) ब्राह्मणों की दीप्ति दें।

[सार्वभौमशासक ब्रह्म के ज्ञान और उसकी प्राप्ति के लिए ब्राह्मणों की शरण में जाना चाहता है। ब्राह्मण हैं वेदज्ञ तथा ब्रह्मज्ञ व्यक्ति, न कि जन्मतः। ब्रह्म के दो अर्थ होते हैं, (१) वेद और विशेषतया ब्रह्मवेद (अथर्ववेद), तथा जगत् का स्वामी परमेश्वर। ३७-४१ के मन्त्रों में शासकों के लिए आदर्श उपस्थित किया है]।

सूक्त ५, पर्याय ४

ऋषिः—**विहव्यः** ॥ देवता—**प्रजापतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यं वयं मृगयामहे तं वधै स्तृणवामहै। व्यात्ते परमेष्ठिनो ब्रह्मणापीपदाम तम्॥ ४२॥

अर्थ—(वयम्) हम (यम् मृगयामहे) जिसके अन्वेषण अर्थात् जिसकी खोज में हैं (तम्) उसे (वधैः) वधकारी आयुधों द्वारा (स्तृणवामहै) हम नष्ट करते हैं। (परमेष्ठिनः) परमोच्चस्थान में स्थित सार्वभौमशासक के (व्यात्ते) खुले मुख में, (ब्रह्मणा) ब्रह्म-अर्थात् परमेश्वर या वेद की आज्ञा द्वारा (तम्) उसे (अपीपदाम) हमने भेज दिया है, समर्पित कर दिया है।

[जो शासक ब्राह्मणवर्चस[1] को प्राप्त नहीं, उसकी खोज करके, उसे विनष्ट करने की भावना मन्त्र में प्रतीत होती है। उसे सार्वभौमशासक के खुले मुख अर्थात् सर्वसाधारण में प्रसिद्ध किये नियमों के अनुसार दण्डित करना चाहिए। "**वधः वज्रनाम**" (निघं० २.२०) स्तृणवामहै; "**स्तृणाति**" **वधकर्मा** (निघं० २.१९)]।

ऋषिः—**विहव्यः** ॥ देवता—**प्रजापतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

वैश्वानरस्य दंष्ट्राभ्यां हेतिस्तं समधादभि।

इयं तं प्सात्वाहुतिः समिद्देवी सहीयसी॥ ४३ ॥

अर्थ—(हेतिः) वज्ररूपी कठोर नियमव्यवस्था ने, (वैश्वानरस्य) सब नर-नारियों के हितकारी सार्वभौमशासक के। (दंष्ट्राभ्याम्) दो दाढ़रूपी द्विविध नियमों के साथ, (तम्) उस शासक को (अभि) साक्षात् (समधात्) सम्बद्ध कर दिया है। (इयम्) यह (सहीयसी) बलशालिनी (देवी) दिव्य (समिद् आहुतिः) समिदाधानरूपी आहुति (तम्) उस शासक को (प्सातु) खा ले।

[**हेतिः वज्रनाम** (निघं० २.२०)। यह हेति दण्डसंविधान है। दंष्ट्राभ्याम्=दो दंष्ट्रा हैं कारागार और मृत्युदण्ड। मन्त्र में "हेति" को अग्नि भी कहा है, जिसके प्रति समिदाधान रूपी आहुति देनी है। यह आहुति देवी है, दिव्यरूपा है। सामान्य काष्ठरूपी नहीं। यह शासकरूपी आहुति है। तथा सहीयसी है, काष्ठरूपी आहुति की अपेक्षया बलशालिनी है। यह अन्य शासकों को भी सचेत करने वाली है। **सहः बलनाम** (निघं० २.९)। मन्त्र में प्रतीयमान अग्नि है सार्वभौम शासन में दण्डव्यवस्था को चलाने वाला "अग्रणी" प्रधानमन्त्री। प्सातु=**प्सा भक्षणे** (अदादिः)। प्राकृतिक अग्नि की दृष्टि से खाना है भस्मीभूत करना, और अग्नि अर्थात् अग्रणी प्रधानमन्त्री की दृष्टि से अर्थ होगा मृत्युदण्ड या यथोचित दण्ड देना]।

ऋषिः—**विहव्यः** ॥ देवता—**प्रजापतिः** ॥ छन्दः—**त्रिपदा गायत्रीगर्भाऽनुष्टुप्**॥

राज्ञो वरुणस्य बन्धोऽसि।

सोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमन्ने प्राणे बधान॥ ४४॥

अर्थ—(राज्ञः वरुणस्य) वरुण राजा का (बन्धः) बन्धन (असि) तू है। (सः) वह तू (आमुष्यायणम्) उस गोत्र के, (अमुष्याः) उस माता के, (अमुम् पुत्रम्) उस पुत्र को (अन्ने) अन्न में, (प्राणे[2]) और प्राण में (बधान) बाँध, बन्दीकृत कर।

[वरुण राजा माण्डलिक राजा है, यथा "**इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा**" (यजुः० ८.३७)। जो शासक सार्वभौमशासन या सम्राट् शासन के प्रति अपराधी हो, उसे माण्डलिक राजा के कारागार में बन्द करना चाहिए। मन्त्र में "बन्धोऽसि" द्वारा बन्धन को सम्बोधित किया है। बन्धन या बन्ध का अभिप्राय है "दण्डसंविधान"। परमेश्वररूपी वरुण-राजा और उसके पाशों अर्थात् बन्धनों का वर्णन (अथर्व० ४.१६.१-९) में हुआ है। परन्तु प्रकरणानुसार व्याख्येय मन्त्र में माण्डलिक राजा का वर्णन ही अभिप्रेत है]।

---

१. मन्त्र ३७-४१; ब्राह्मणवर्चस=शासन में सत्यव्यवहार, प्रजारक्षा की भावना धनसंग्रह में निर्लोभवृत्ति, तथा वेदज्ञता और आस्तिकता।

२. अन्ने प्राणे (विद्यमाने सति), इन दो के विद्यमान रहते। इनका अभाव न होते हुए।

ऋषिः—**विहव्यः** ॥ देवता—**प्रजापतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यत्ते अन्नं भुवस्पत आक्षियति पृथिवीमनु।

तस्य नस्त्वं भुवस्पते संप्रयच्छ प्रजापते॥ ४५॥

अर्थ—(भुवस्पते) हे भूपति! भूमि के पति! (ते) तेरा (यत् अन्नम्) जो अन्न (पृथिवीम् अनु) पृथिवी में (आ क्षियति) सब ओर निवास करता है, (तस्य) उसका [यथोचित विभाग] (त्वम्) तू (भुवस्पते, प्रजापते) हे भूमि के पति! हे प्रजाओं के पति! (नः) हम प्रजाओं को (संप्रयच्छ) सम्यक्तया प्रदान कर।

[मन्त्र में सार्वभौमशासक के प्रति कथन हुआ है। वह सम्राट् भूमि या समग्र पृथिवी का शासक है। समग्र पृथिवी में जो अन्न पैदा होता है उसका स्वामी सार्वभौमशासक है—यह वैदिक भावना प्रतीत होती है। यह शासक ही प्रजाजनों में "विभक्ता" के द्वारा (यजुः० ३०.४) अन्न का यथोचित विभाग करता है]।

ऋषिः—**विहव्यः** ॥ देवता—**प्रजापतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अपो दिव्या अचायिषं रसेन समपृक्ष्महि।

पयस्वानग्न आगमं तं मा सं सृज वर्चसा॥ ४६॥

अर्थ—(दिव्या अपः) द्युलोक सम्बन्धी जल की (अयाचिषम्) मैंने याचना की थी, (रसेन) रस से (समपृक्ष्महि) हम संपृक्त हुए हैं। (अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्री! (पयस्वान्) प्रभूत दुग्धवाला (आगमम्) मैं तेरे पास आया हूँ, (तम् मा) उस मुझ को (वर्चसा) दीप्ति अर्थात् ख्याति से (संसृज) संसर्ग कर, मेरी प्रसिद्धि कर।

[दिव्य जल वर्षा द्वारा प्राप्त होते हैं। ये मीठे होते हैं, खारे नहीं होते। अतः कृषि के लिए उत्तम होते हैं। प्रधानमन्त्री से यह प्रार्थना की गई है। यज्ञ[1] विधि द्वारा प्रधानमन्त्री वर्षा कराकर प्रजा को यह जल प्रदान करता है। इससे ओषधियाँ रसवती होती हैं। गौएँ इन्हें खाकर प्रभूत दुग्ध देती हैं—कृषक या भूमिपति प्रधानमन्त्री से कहता है कि मैं प्रभूत दुग्ध से सम्पन्न हुआ आया हूँ, मुझे इस निमित्त तू यशस्वी कर। पयस्वान्=भूमार्थे मतुप् प्रत्यय। सात्त्विक जीवन के लिए दुग्ध और रसों की प्रशंसा वेद में हुई है। यथा "**पयः पशूनां रसमोषधीनां बृहस्पतिः सविता मे नियच्छात्** (अथर्व० १९.३१.५)। दिव्याः=दिवि भवाः (अथवा दिव्याः=दिव्य गुण वाले, पार्थिव जल, नदी कुल्या[2] कूप आदि के जल) **अग्निरग्रणीर्भवति** (निरुक्त० ७.४.१४)]।

ऋषिः—**विहव्यः** ॥ देवता—**प्रजापतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सं माग्ने वर्चसा सृज सं प्रजया समायुषा।

विद्युर्मे अस्य देवा इन्द्रो विद्यात्सह ऋषिभिः॥ ४७॥

अर्थ—(अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्री! (मा) मेरा (वर्चसा) वर्चस् के साथ (सं सृज) संसर्ग कर,

१. देखो देवापि और शन्तनु के आख्यानसम्बन्धी ऋचा (ऋ० १०.९८.५), तथा निरुक्त २.३.११; समुद्र पद की व्याख्या में निरुक्त (२.३.१०)।

२. अथर्व० २०.१७.७; ११.३.१३)। कुल्या=नहर। कुल्या का निर्माण पृथिवी में कृषिकर्म के लिए होता है, इसका जल पृथिवी में ही विलीन हो जाता है, समुद्र तक नहीं पहुँचता। "कौ पृथिव्यां लीयते इति कुल्या"।

(प्रजया) सन्तान के साथ (सम्) संसर्ग कर, (आयुषा) स्वस्थ और दीर्घ आयु के साथ (सम्) संसर्ग कर। (मे) मेरे (अस्य) इस काम को (देवाः) सार्वभौम विद्वान् (विद्युः) जानें, (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् सम्राट् या सार्वभौमशासक, (ऋषिभिः सह) ऋषियों या ऋषिकोटि के अमात्यों सहित, [मेरे इस काम को] (विद्यात्) जाने।

[मन्त्र ४६, ४७ का परस्पर सम्बन्ध है। वर्चसा (४६)। अस्य मे=मेरे काम अर्थात् प्रभूत दुग्ध से सम्पन्न होना, और कृषि कर्म में समृद्धि। दूध और कृषिकर्म की समृद्धि होने पर सन्तानों का पालन-पोषण होता है, तथा इनके सेवन से आयु भी बढ़ती है]।

ऋषिः—**विहव्यः** ॥ देवता—**प्रजापतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यदग्ने अद्य मिथुना शपातो यद्वाचस्तृष्टं जनयन्त रेभाः।
मन्योर्मनसः शरव्या३ जायते या तया विध्य हृदये यातुधानान्॥ ४८ ॥

अर्थ—(अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्री! (अद्य) आज (मिथुना) विवाहित पति-पत्नी (यद्) जो (शपातः) एक-दूसरे को शाप देते हैं, तथा (रेभाः) परमेश्वर की स्तुति करने वाले (यत्) जो (वाचः) वाणी की (तृष्टम्) कटुता (जनयन्त) प्रकट करते हैं। (मन्योः) मन्यु के कारण (मनसः) मन से (या) जो (शरव्या) शरवत् तीक्ष्ण बींधने वाली वाणी (जायते) पैदा होती है (तया) उस द्वारा (यातुधानान्) यातनाओं अर्थात् पीड़ाओं के निधानों, प्रजापीड़कों को (हृदये) उनके हृदयों में (विध्य) बींध।

[अद्य=किसी भी दिन। शपातः=**शप आक्रोशे** (भ्वादिः, दिवादिः)। आक्रोशे=**क्रुश आह्वाने रोदने च** (भ्वादिः) परस्पर निन्दा, अपवदन, तिरस्कार, दोषारोपण आदि। अभिप्राय यह कि पति-पत्नी के पारस्परिक निन्दा आदि करने पर उन्हें परमेश्वर के स्तावक होते हुए भी कटु वाणी बोलने पर उन्हें तथा प्रजापीड़कों को, अर्थात् इन सबके हृदयों को तीखी वाणी द्वारा बींध, इन्हें उग्रवाणी द्वारा फटकार।

ऋषिः—**विहव्यः** ॥ देवता—**प्रजापतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

परा शृणीहि तपसा यातुधानान्पराग्ने रक्षो हरसा शृणीहि।
परार्चिषा मूरदेवाञ्छृणीहि परासुतृपः शोशुचतः शृणीहि॥ ४९ ॥

अर्थ—(अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्री! (तपसा) निज तापक शक्ति द्वारा (परा) पराङ्मुख हुए (यातुधानान्) यातनाओं के निधानों अर्थात् प्रजा को पीड़ित करने वालों को (शृणीहि) तू विशीर्ण कर, विनष्ट कर, (परा) पराङ्मुख हुए (रक्षः) राक्षस-स्वभाव वाले को (हरसा) प्राणापहारक तेज द्वारा (शृणीहि) तू विशीर्ण कर, विनष्ट कर। (परा) पराङ्मुख हुए (मूरदेवान्) मूढ़ अर्थात् अज्ञानी, देवान् अर्थात् मदमस्तों को (अर्चिषा) निज दीप्ति द्वारा (शृणीहि) तू विशीर्ण कर, विनष्ट कर, (परा) पराङ्मुख हुए (शोशुचतः) अति उद्दीप्त उद्दण्ड हुओं, (असुतृपः) प्रजा के प्राणों द्वारा अपने को तृप्त करने वालों को (शृणीहि) विशीर्ण कर, विनष्ट कर।

[मन्त्र ४८ के अनुसार यदि फटकार द्वारा सफलता नहीं मिलती तो यातुधान आदि का विनाश करना ही राज्य व्यवस्था के लिए श्रेयस्कर है। परा=राज्यव्यवस्था से पराङ्मुख हुए, उसकी परवाह न कर, यथेच्छाचारी लोग]।

ऋषिः—विहव्यः ॥ देवता—प्रजापतिः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

अ॒पाम॑स्मै॒ वज्रं॒ प्र ह॑रामि॒ चतु॑र्भृष्टिं शीर्ष॒भिद्या॑य वि॒द्वान्।
सो अ॒स्याङ्गा॑नि॒ प्र शृ॑णातु॒ सर्वा॒ तन्मे॑ दे॒वा अनु॑ जानन्तु॒ विश्वे॑ ॥ ५० ॥

अर्थ—(अस्मै) इस [रक्षः, मन्त्र ४९] के लिए, (चतुर्भृष्टिम्) चार धाराओं या चार कोनों वाले (अपाम् वज्रम्) जल सम्बन्धी वैद्युत वज्र का, (शीर्षभिद्याय) इसके सिर का भेदन करने के लिए (विद्वान्) मैं [अग्रणी प्रधानमन्त्री] दण्ड विधान के सार्वभौम नियमों को जानता हुआ (प्रहरामि) प्रहार करता हूँ। (सः) वह वज्र (अस्य) इस [रक्षः] के (सर्वा=सर्वाणि, अङ्गानि) सब अङ्गों को (प्रशृणातु) पूर्णतया नष्ट कर दे, (विश्वे देवाः) पृथिवी के सब दिव्य-सज्जन (मे) मेरे (तत्) उस शिरोभेदन आदि कार्य की (अनु जानन्तु) अनुज्ञा दें, स्वीकृति दें।

[ऐसे उग्र दण्ड के लिए पृथिवी के सब दिव्यजनों की अनुज्ञा अर्थात् स्वीकृति चाहिए। "अस्मै" सर्वनाम पद एक वचन में है जो कि पूर्व कथित की अपेक्षा करता है। अतः मन्त्र ४९ में कथित "रक्षः" अभिप्रेत प्रतीत होता है]।

विशेष निर्देश—मन्त्र ४९ में अग्नि द्वारा शवाग्नि जान कर और मन्त्र ५० में शिरोभेदन की व्यवस्था समझ कर, हिन्दुओं ने सम्भवतः जलते शव के शिरोभेदन की प्रथा चलाई हो।

अथ त्रयोविंशः प्रपाठकः

सूक्त ६

विषय-प्रवेश

(१) राष्ट्र के शत्रुभूत भाई के पुत्र को भी शिरः छेद का दण्ड (१)।

(२) फाल से उत्पन्न मणिः=कृष्यन्न; मठा तथा ओषधिरस—यह पूर्ण अन्न है (२)।

(३) फाल "खदिर" काष्ठ का होता है जिसे कि तर्खान घड़ता है (६, ३), अतिथि सेवा (४, ५)।

(४) बृहस्पतिः=सैन्याधिपतिः; अग्निः=प्रधानमन्त्री। दोनों फालमणि को बाँधें (६)। इस मणि को बाँध कर बृहस्पति सब शत्रुराज्यों पर विजय प्राप्त करता है (१६)।

(५) इस मणि को "अग्निः" प्रधानमन्त्री (६); "इन्द्र" सम्राट् (७); "सोम" सेना का मार्ग दर्शक (८) भी धारण करता है।

(६) मन्त्र ६-८ तक बृहस्पति द्वारा मानुष बृहस्पति का वर्णन हुआ है। मन्त्र ९ से बृहस्पति द्वारा परमेश्वर का वर्णन अभिप्रेत है।

(७) मन्त्र १२ में कृषि है, शरीर-क्षेत्र में कर्म-बीजों का बोना। यह आध्यात्मिक कृषि है। इस कृषि के रक्षक हैं अश्विनौ अर्थात् नासत्यौ, नासिका से उत्पन्न श्वास-प्रश्वास, प्राण और अपान (१२)।

(८) मणि को सूर्य (९), चन्द्रमा (१०), राजा वरुण अर्थात् परमेश्वर (१५), देवताः (१६), ऋतुएँ, मास, माससमूह, संवत्सर (१८), आपः (१४) भी धारण करते हैं। इससे ज्ञात होता है कि यह मणि खदिर या खदिर फाल से उत्पन्न स्थूल मणि नहीं, जिसे कि सूर्य आदि भी धारण करते हैं। सूर्य आदि सम्बन्धी मणियाँ क्या हैं इसे मन्त्रव्याख्या में देखो।

(९) परमेश्वर भी सृष्ट्युत्पादन के लिए मणि को बाँधता है, अतः यह मणि सृष्ट्युत्पादन में

परमेश्वरीय कामनारूप है, न कि कोई प्राकृतिक मणि (९-१७)।

(१०) मणि को धाता अर्थात् सबका धारण-पोषण करने वाला परमेश्वर भी भूत-भौतिक विविध पदार्थों की रचना के लिए बाँधता है (२१)। क्या परमेश्वर का कोई शरीर है जिसके अवयव पर स्थूल मणि बाँधी जा सके।

(११) यह मणि असुरों का क्षय करती है (२२-२८)।

(१२) परमेश्वर रूपी मणि, जब सिर पर आरूढ़ हो जाती है, तब मनुष्य सिर से पैरों तक श्रेष्ठ बन जाता है (३१, ३२)।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

अरातीयोर्भ्रातृव्यस्य दुर्हार्दो द्विषतः शिरः। अपि वृश्चाम्योजसा॥ १ ॥

अर्थ—(अरातीयोः) अराति अर्थात् दान न देने वाले, (दुर्हार्दः) बुरी हार्दिक भावनाओं वाले, (द्विषतः) द्वेष करते हुए, (भ्रातृव्यस्य) शत्रु के (शिरः) सिर को (अपि) भी (ओजसा) बल के साथ (वृश्चामि) मैं [राज्याधिकारी] काटता हूँ।

[अरातीयतः=अ+रा (दाने, अदादिः)+ति+क्यच् (आचारे)+शतृ। जो कि मनुष्य समाज की उन्नति आदि के लिए दान नहीं देता, तथा यथोचित राज-कर नहीं देता वह वेद की दृष्टि से शत्रु है। भ्रातृव्यस्य=भ्रातुः, "**व्यन् सपत्ने**" (अष्टा० ४.१.१४५), भ्रातृशब्द से "व्यन्" प्रत्यय होता है "सपत्न=शत्रु" अर्थ में।

अष्टाध्यायी के अनुसार "भ्रातृव्य" के दो अर्थ होते हैं। (१) भाई का पुत्र, जो कि शत्रुरूप नहीं (**भ्रातुर्व्यच्च** ४.१.१४४)। (२) शत्रु, जो न्यायव्यवस्था के प्रतिकूल चलता है। स्वरभेद, अर्थभेद का परिचायक है। मन्त्र में कहा है कि राजा शत्रु को, शिरःछेद द्वारा मृत्युदण्ड दे। वैदिक न्यायव्यवस्था उग्ररूप है। यह राष्ट्र के लिए श्रेयस्करी है। जैसे कि "**सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति**" (अथर्व० १२.१.१) में उग्र-ऋत अर्थात् उग्र-नियम को पृथिवी के धारण-पोषण में सहायक कहा है]।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वर्म मह्यमयं मणिः फालाज्जातः करिष्यति।
पूर्णो मन्थेन मागमद्रसेन सह वर्चसा॥ २ ॥

अर्थ—(फालात्) हल की धार अर्थात् फाल से (जातः) उत्पन्न हुआ (अयम् मणिः) यह श्रेष्ठ कृष्यन्न[1], (मह्यम्) मेरे लिए (वर्म) कवच का निर्माण (करिष्यति) करेगा। (मन्थेन) मठे द्वारा और (रसेन) रस द्वारा (पूर्णः) परिपूर्ण हुआ यह कृष्यन्न, (वर्चसा सह) वर्चस् अर्थात् शारीरिक कान्ति के साथ (मा) मुझे (अगमत्) प्राप्त हुआ है।

[कृष्यन्न मणि है, श्रेष्ठ रत्नरूप है। "**जातौ जातौ यदुष्कृष्टं तद्रत्नमभिधीयते**" (मल्लिनाथ)। वन्यान्न की अपेक्षया कृष्यन्न शक्तिप्रदान में श्रेष्ठ है, अतः मणिरूप है। यह अन्न मनुष्यों की रक्षा करता है, अतः कवच है। अन्न के विना मृत्यु हो जाती है। परन्तु कृष्यन्न तब पूर्ण अन्न होता है जब कि मठे और दुग्धरस तथा ओषधिरसों का इसके साथ सहयोग हो, अन्यथा केवल कृष्यन्न अपूर्ण अन्न है। इन

१. मन्त्र में कृष्यन्न का वर्णन है। देखो "कृषिमभिरक्षतः" (मन्त्र १२)।

मिश्रित अन्नों के सेवन द्वारा वर्चस् प्राप्त होता है। "कृष्यन्न द्वारा गौ पशुओं का चारा तैयार होता है, गौओं से दूध और दूध से दधि और मठा (मन्थ) मिलता है। यथा "**पयः पशूनां रसमोषधीनां बृहस्पतिः सविता मे नियच्छात्**" (अथर्व० १९.३१.५)]।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यत्त्वा शिक्वः परावधीत्तक्षा हस्तेन वास्या।

आपस्त्वा तस्माज्जीवलाः पुनन्तु शुचयः शुचिम्॥ ३ ॥

अर्थ—हे फाल! (शिक्वः) शिक्षित अर्थात् बढ़ई की विद्या के जानने वाले (तक्षा) तर्खान ने (हस्तेन) हाथ द्वारा तथा (वास्या) वासी द्वारा (यत्) जो (त्वा) तुझे (परा अवधीत्) छेदा है, छील कर तैयार किया है, (तस्मात्) उससे (जीवलाः) जीवनप्रद (शुचयः) शुचि (आपः) जल (त्वा) तुझे (पुनन्तु) पवित्र करें, और (शुचिम्) शुचि करें।

[हल के फाल का सम्बोधन कविता में है। यथा "**अथापि पौरुषविधिकैः कर्मभिः स्तूयन्ते**"। यथा "**होतुश्चित्पूर्वे हविरद्यमाशत**" (ऋ० १०.९४.२) इति '**ग्रावस्तुतिरेव**' (निरुक्त ७.२.७)। अर्थात् अचेतन पदार्थों की स्तुतियाँ पुरुषविधकर्मों द्वारा होती हैं, कि पत्थरों को कहा है कि तुम भक्षणीय हवि का प्राशन करो। पत्थरों पर सोम ओषधि को पीस कर, पेय सोमरस तैयार किया जाता है। शिक्वः; शिक्ष्=शिकृष्+वः=शिक्वः। षकारस्य लोपः। यथा पक्वः=पच्+वः। वास्या; वासी=Adze (आप्टे), वसूला, कुल्हाड़ी; Chisel (आप्टे), छैनी। काष्ठनिर्मित फाल तैयार हो जाने पर उसे जल द्वारा धोकर साफ करने का विधान मन्त्र में हुआ है]।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

हिरण्यस्रगयं मणिः श्रद्धां यज्ञं महो दधत्। गृहे वसतु नोतिथिः॥ ४॥

अर्थ—(अयम्) यह (मणिः) कृष्यन्न [मन्त्र २] रूपी रत्न, (हिरण्यस्रक्) जो कि हिरण्य का सर्जन करता है, और हम में (श्रद्धाम्, यज्ञम्, महः) अतिथिसेवा रूपी यज्ञ को, उनके प्रति श्रद्धा को, तथा उत्सवों को (दधत्) स्थापित करता है वह (नः गृहे) हमारे घर में (वसतु) सदा वास करे, जैसे कि (अतिथिः) अतिथि (हिरण्यस्रक्) हिरण्य की माला द्वारा सत्कृत हुआ, और हम में निज उपदेशों द्वारा (श्रद्धाम्.......) श्रद्धा, अतिथि, यज्ञ, तथा महत्त्व को (दधत्) स्थापित करता हुआ (नः गृहे वसतु) हमारे घर में वसे, निवास करे।

[कृष्यन्न के होने पर उसके विक्रम द्वारा हिरण्य का सर्जन होता है। कृष्यन्न यदि घर में हो तभी अतिथियों के प्रति श्रद्धा, अतिथि यज्ञ करना, तथा उत्सवों का होना सम्भव हो सकता है]।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः** ॥ छन्दः—**षट्पदा जगती** ॥

तस्मै घृतं सुरां मध्वन्नमन्नं क्षदामहे। स नः पितेव पुत्रेभ्यः

श्रेयः श्रेयश्चिकित्सतु भूयोभूयः श्वःश्वो देवेभ्यो मणिरेत्य॥ ५॥

अर्थ—(देवेभ्यः) देवों से (मणिः) कृष्यन्न (एत्य) आकर, प्राप्त कर, तदनन्तर (तस्मै) उस [घर में बसे] अतिथि के लिए [मन्त्र ४] (घृतम्) घी, (सुराम्) शुद्ध जल, (मधु) शहद, (अन्नमन्नम्) तथा नानाविध अन्न (क्षदामहे) हम प्रदान करते हैं। (सः) वह [घर में बसा अतिथि], (श्वः श्वः) प्रत्येक

आने वाले दिन में (भूयो भूयः) बार-बार (नः) हमें (श्रेयः श्रेयः) उत्तमोत्तम शिक्षा देकर (चिकित्सतु) हमारे आध्यात्मिक रोगों की चिकित्सा करे, (पिता इव पुत्रेभ्यः) जैसे कि पिता पुत्रों के लिए शिक्षा देता है।

[चिकित्सतु=**कित निवासे रोगापनयने च** (भ्वादिः)। क्षदामहे, क्षद वैदिक धातु है। देवेभ्यः=देवयज्ञों के करने से वायु, सूर्य, जल आदि देवों से कृष्यन्न प्राप्त होता रहता है। "**सुरा उदकनाम**" (निघं० १.१२)। यह Distilled water वाष्पीकृत जल है, जोकि भारी नहीं होता]।

ऋषिः—**बृहस्पतिः**॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः**॥ छन्दः—**सप्तपदा विराट् शक्वरी**॥

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्मणिं फालं घृतश्चुतमुग्रं खदिरमोजसे।
तमग्निः प्रत्यमुञ्चत सो अस्मै दुह आज्यं
भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि॥ ६॥

अर्थ—(खदिरम्) खैरवृक्ष के काष्ठरूप या उस से[1] निर्मित (फालम्[2]) हल के फाल से उत्पन्न, (घृतश्चुतम्) घृतस्त्रावी, (उग्रम्) उग्ररूप (यम्) जिस (मणिम्) कृष्यन्न रूप रत्न को, (बृहस्पतिः) बृहत्सैन्य के अधिपति ने (ओजसे) ओज की प्राप्ति के लिए (अबध्नात्) बाँधा है, (तम्) उसे (अग्निः) अग्रणी प्रधानमन्त्री ने भी (प्रत्यमुञ्चत) धारण किया है। (सः) वह अग्रणी अर्थात् प्रधानमन्त्री (अस्मै) इस बृहस्पति के लिए, (भूयोभूयः) बार-बार या अधिकाधिक रूप में, (श्वः श्वः) आए दिन-प्रतिदिन (आज्यम्) घृत (दुहे) दोहता है, प्रदान करता है। (तेन) उस द्वारा हे बृहस्पति! (त्वम्) तू (द्विषतः) द्वेषी शत्रुओं का (जहि) हनन कर।

[खदिरम्=हल के फाल को तक्षा ने घड़ा है (मन्त्र ३)। सम्भवतः यह फाल खैर के काष्ठ से निर्मित किया गया है। खैर कारण है, और फाल कार्य। कार्य में कारण का उपचार हुआ है, यथा "**अन्नं वै प्राणिनां प्राणः**"। प्राण कार्य है, और अन्न कारण है। अतः प्राण को अन्न कहा है। इसी प्रकार फाल को खदिर कहा है।

फालम् मणिम्=फाल से उत्पन्न कृष्यन्न को मणि अर्थात् रत्न कहा है। कृष्यन्न को "फालाज्जातः" द्वारा निर्दिष्ट किया है (मन्त्र २)। फाल और कृष्यन्न में भी कारण और कार्य भाव है। अथवा साधन और साध्य भाव है। मणि=anything best of its kind (आप्टे), अर्थात् एक-जाति के पदार्थों में सर्वश्रेष्ठ पदार्थ मणि कहाता है। अन्नों में कृष्यन्न श्रेष्ठ है अतः कृष्यन्न मणि है, रत्न है। कृष्यन्न से गौओं का चारा मिलता है, और गौओं से दूध और दूध से घृत मिलता है, अतः कृष्यन्न को "घृतश्चुत" कहा है। कृष्यन्न के सेवन द्वारा शरीर और मन में बल और उग्रता पैदा होते हैं। बृहस्पति जब कृष्यन्न के परिणाम "वीर्य" को निज शरीर में बाँधे रखता है, और विषयलम्पट होकर उसका विनाश नहीं करता तो वह ओज को प्राप्त करता है (ओजसे)। "अबध्नात्" द्वारा "मणि" का बाँधना सूत्र या धागे द्वारा अभिप्रेत नहीं। अपितु इसे शरीर में स्थिर रखना ही अभिप्रेत है। जैसे कि "**देशबन्धः चित्तस्य धारणा**" (योग ३.१) में चित्त को ध्येय में बाँधने का वर्णन हुआ है। ध्येय के साथ चित्त को सूत्र द्वारा नहीं बांधा जाता है। "ध्येय में चित्त को स्थिर करना" यह अभिप्राय है बाँधने का।

१. मन्त्र ३ के अनुसार तक्षा द्वारा निर्मित।
२. "फालाज्जातः" (मन्त्र २) के अनुसार।

[बृहस्पति के स्वरूपज्ञान में निम्नलिखित मन्त्र सहायक है। यथा—

बृहस्पते परिदीया रथेन रक्षोहामित्राँ२ऽअपबाधमानः।

प्रभञ्जन्त्सेनाः प्रमृणो युधा जयन्नस्माकमेद्ध्यविता रथानाम्[१] ॥ यजुः० १७.३६॥

अग्निः="**अग्रणीर्भवति**" (निरुक्त ७.४.१४)। प्रधानमन्त्री समग्र राष्ट्र का अग्रणी होता है। प्रधानमन्त्री भी कृष्यन्न के परिणाम "वीर्य" को निज शरीर में धारण किये रहता है। सर्वोच्च दो अधिकारियों के लिए ब्रह्मचर्य व्रत के पालन का निर्देश मन्त्र में हुआ है। ऐसी ही व्याख्या अगले मन्त्रों में भी जाननी चाहिए। मन्त्रोक्त मणिबन्धन जादू-टोना रूप नहीं]।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः** ॥ छन्दः—**अष्टपदाऽष्टिः** ॥

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्मणिं फालं घृतश्चुतमुग्रं खदिरमोजसे।

तमिन्द्रः प्रत्यमुञ्चतौजसे वीर्याय कम्।

सो अस्मै बलमिद्दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि॥ ७॥

अर्थ—(यम् अबध्नात्.......ओजसे), अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र ६)। (तम्) उसे (इन्द्रः) सम्राट् ने भी (प्रत्यमुञ्चत) धारण किया है (कम्) सुखपूर्वक; (ओजसे) ओज़ की प्राप्ति के लिए, (वीर्याय) वीर्य की प्राप्ति के लिए या वीरता के कर्म के लिए। (सः) वह सम्राट् (अस्मै) इस बृहस्पति के लिए (भूयोभूयः) वार-वार या अधिकाधिक रूप में, (श्वः श्वः) आए दिन-प्रति-दिन (बलमिद्) सैन्यबल ही (दुहे) दोहता है, प्रदान करता है। (तेन) उस सैन्यबल द्वारा (त्वम्) हे बृहस्पति! तू (द्विषतः) द्वेषी शत्रुओं का (जहि) हनन कर।

[इन्द्रः=सम्राट्। यथा "**इन्द्रश्च सम्राट्**" (यजुः० ८.३७)। सम्राट्=सम् (संयुक्त राज्यों का)+राट् (राजा)। मन्त्र ६ में बृहस्पति और अग्रणी का सहयोग दर्शाया है। मन्त्र ७ में बृहस्पति और सम्राट् के सहयोग का वर्णन हुआ है। बलम्=सैन्य (गीता अध्याय १, श्लोक ४)]।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः** ॥ छन्दः—**अष्टपदाऽष्टिः** ॥

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्मणिं फालं घृतश्चुतमुग्रं खदिरमोजसे।

तं सोमः प्रत्यमुञ्चत महे श्रोत्राय चक्षसे।

सो अस्मै वर्च इद्दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि॥ ८॥

अर्थ—(यम् अबध्नात्.......ओजसे) अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र ६)। (तम्) उसे (सोमः) सेनानायक ने भी (प्रत्यमुञ्चत) धारण किया है (महे श्रोत्राय चक्षसे) महती श्रवणशक्ति के लिए, तथा महती दृष्टि के लिए। (सः) वह (सोमः) सेनानायक (अस्मै) इस बृहस्पति के लिए (वर्चः) दीप्ति या कान्ति (इद्) ही (दुहे) दोहता है, प्रदान करता है, (भूयोभूयः) वार-वार या अधिकाधिक रूप में, (श्वः श्वः) आए दिन-प्रति-दिन (तेन) उस वर्चस् या सोम द्वारा (त्वम्) हे बृहस्पति! तू (द्विषतः) द्वेषी शत्रुओं का (जहि) हनन कर।

१. मन्त्र में "प्रभञ्जन् सेनाः" द्वारा शत्रु सेनाओं को भग्न करता हुआ, "अमित्रान् अपबाधमानः" द्वारा अमित्रों को पीड़ित करता हुआ, "युधा जयन्" युद्ध द्वारा विजय प्राप्त करता हुआ, इत्यादि वर्णनों द्वारा बृहस्पति राष्ट्र के सैन्य विभाग का अधिपति प्रतीत होता है।

[सोमः=सेना का प्रेरक, सेनानायक, जो कि सेना अग्रभाग में हो कर, सेना को, मार्ग दर्शाता है। सोमः=**षू प्रेरणे** (तुदादिः)। यह महती श्रवणशक्ति से सम्पन्न होना चाहिए, ताकि शत्रुसेना के शोर को दूर होते हुए भी सुन सके, तथा महती दृष्टि से भी सम्पन्न होना चाहिए, ताकि शत्रुसेना की स्थिति को दूर से ही देख सके। सोम और बृहस्पति सम्बन्धी मन्त्र, यथा—

इन्द्रऽआसां नेता बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञः पुरऽएतु सोमः।
देवसेनानामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम्॥ यजुः० १७.४०॥

इन सेनाओं का नेता इन्द्र अर्थात् सम्राट् (यजुः० ८.३७) है; बृहस्पति इन सेनाओं के दक्षिण पार्श्व में चलता है। "यज्ञ" अर्थात् शत्रुसेना के साथ संगम कराने वाला, भिड़ाने वाला सोम इनके पुरः आगे-आगे हो। देवों अर्थात् विजिगीषु सैनिकों की सेनाएँ, जोकि शत्रु सेनाओं का भग्न करें, उनके आगे मारने में कुशल सैनिक हों।

यज्ञः=यज देवपूजा, संगतिकरण, और दान। मन्त्र में संगति अर्थात् संगम अर्थ अभिप्रेत है। देव=विजिगीषु, यथा "**दिवु क्रीडाविजिगीषा**" आदि (दिवादिः)। मरुतः="**म्रियते मारयति वा सः मरुत् मनुष्यजातिः**" (उणा० १.९४, महर्षि दयानन्द)। अभिप्राय यह कि (१) सम्राट् नागरिक प्रजा और सैन्य प्रजा का नेता है, मुखिया है। (२) इसकी आज्ञा द्वारा बृहस्पति युद्ध के लिए प्रयाण करे, (३) सैनिक विजिगीषु होने चाहिएँ, (४) सेना के मुखभाग में, मारने में सिद्ध, सैनिक होने चाहिएँ, (५) इन सबके आगे-आगे सोम अर्थात् सेना का प्रेरक, सेनानायक चले, जो कि शत्रु सेना की स्थिति को ठीक तरह देख सके। सोम सहायक है, बृहस्पति का]।

मन्त्र ६-८ तक "बृहस्पति" द्वारा मानुष बृहस्पति का वर्णन हुआ है। मन्त्र ९ से बृहस्पति द्वारा परमेश्वर का वर्णन अभिप्रेत है। परमेश्वर "बृहत्" ब्रह्माण्ड का पति है, अतः बृहस्पति है। बृहस्पतिः=बृहतः [ब्रह्माण्डस्य] पतिः। इसी दृष्टि से सूर्य, चन्द्रमा आदि को, अन्नोत्पादन में बृहस्पति के सहायक रूप में वर्णित किया है (मन्त्र ९, १० आदि)। परमेश्वर जैसे समग्र ब्रह्माण्ड का उत्पादक है वैसे वह तेजः, आपः, और "अन्न" का भी उत्पादक है। (छान्दोग्य उप० अध्याय ६, खण्ड २)।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः** ॥ छन्दः—**अष्टपदाऽष्टिः** ॥

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्मणिं फालं घृतश्चुतमुग्रं खदिरमोजसे।
तं सूर्यः प्रत्यमुञ्चत तेनेमा अजयद्दिशः।
सो अस्मै भूतिमिद्दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि॥ ९॥

अर्थ—(खदिरम्) खैर वृक्ष के काष्ठरूप, या उस काष्ठ से निर्मित (फालम्) हल के फाल द्वारा उत्पन्न, (घृतश्चुतम्) घृतस्रावी, (उग्रम्) ऊग्ररूप (यम्) जिस (मणिम्) कृष्यन्नरूप रत्न को (बृहस्पतिः) परमेश्वर ने (अबध्नात्) बाँधा है, उसके उत्पादन रूपी व्रत को धारण किया है, (ओजसे) ताकि प्रजाओं को ओज प्राप्त हो। (तम्) मणि=उस कृष्यन्न के उत्पन्न व्रत को (सूर्यः) सूर्य ने भी (प्रत्यमुञ्चत) धारण किया है, बाँधा है। (तेन) उस सूर्य ने (इमाः दिशः) इन दिशाओं पर (अजयत्) विजय पाई है। (सः) उस सूर्य ने (अस्मै) इस परमेश्वर के लिए (भूतिम्, इत्) विभूति को (दुहे) दोहा है, (भूयोभूयः) बार-बार या अधिकाधिक रूप में, (श्वः श्वः) आए दिन-प्रति-दिन। (तेन) उस सूर्य द्वारा (त्वम्) हे

परमेश्वर! तू (द्विषतः) हमारे रोग-शत्रुओं का (जहि) हनन कर।

["तेन" द्वारा भूति का निर्देश नहीं। "तेन" पद पुंल्लिङ्ग है, और भूति स्त्रीलिङ्ग है। अतः "तेन" द्वारा सूर्य का निर्देश हुआ है। "ओजसे" द्वारा कृष्यन्न के सेवन से प्राप्त ओज प्रजाओं के लिए है, न कि परमेश्वर के लिए। फालम्=फालात्-जात कृष्यन्न (मन्त्र २)। दिशः=दिशाओं का ज्ञान सूर्य के उदय तथा अस्तंगत होने द्वारा होता है, अतः मानो सूर्य ने दिशाओं पर विजय पाई हुई है। भूतिम्=सूर्य विभूति=सम्पन्न है। परमेश्वर द्वारा सूर्य उत्पन्न हुआ। अतः कार्यरूपी सूर्य, निज कर्त्ता की विभूति का परिचायक है।

सूर्य रोगनिवारक है। यथा "**सं ते शीर्ष्णः कपालानि हृदयस्य च यो विधुः। उद्यन्नादित्य रश्मिभिः शीर्ष्णो रोगमनीनशोङ्गभेदमशीशमः**"॥ (अथर्व० ९.८.२२)। तथा "**अनु सूर्यमुदयतां हृद्द्योतो हरिमा च ते**" (अथर्व० १.२२.१)। मन्त्र में हृदय की जलन और शरीर के हरेपन के विनाश में सूर्य को कारण कहा है। तथा "**उद्यन्नादित्यः क्रिमीन् हन्तु निम्रोचन् हन्तु रश्मिभिः। ये अन्तः क्रिमयो गवि**" (अथर्व० २.३२.१)। उदित तथा अस्त होते हुए आदित्य की रश्मियाँ लाल होती हैं, इन लाल रश्मियों में रोगविनाश करने की अधिक शक्ति सम्भव प्रतीत होती है। क्रिमयः=विविध प्रकार के germs (रोग कीटाणु)। गवि=पृथिवी तथा रश्मियाँ। "**गावः रश्मिनाम**" (निघं० १.५)।

वक्तव्य—याज्ञिक सम्प्रदायानुसार खदिर काष्ठ के फाल के विकाररूपी मणि को बाँधने का वर्णन है। यथा "**खदिरकाष्ठफालविकारं मणिं शत्रुनाशाय सर्वकामावाप्तये च बध्नाति**" (अथर्व० १०.६ के विनियोग में सायण)। पाश्चात्य आदि वैदिक विद्वान् इस मणि को "Amulet" अर्थात् जादू टोना रूप मानते हैं। क्या चन्द्रमा (मन्त्र १०), सविता (१३) आपः (१४), ऋतु आर्तव, संवत्सर (१८), अन्तर्देश, प्रदिशः (१९) आदि जड़ पदार्थ भी इस मणि को बाँधते हैं। अतः मणिबन्धन का अर्थ जो इस सूक्त के भाष्य में किया गया है, वही समुचित्त प्रतीत होता है]।

ऋषिः—**बृहस्पतिः**॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः**॥ छन्दः—**नवपदा धृतिः**॥

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्मणिं फालं घृतश्चुतमुग्रं खदिरमोजसे।
तं बिभ्रच्चन्द्रमा मणिमसुराणां पुरोजयद्दानवानां हिरण्ययीः।
सो अस्मै श्रियमिद्दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि॥ १०॥

अर्थ—(खदिरम्) खैर-वृक्ष के काष्ठरूप, या उस काष्ठ से निर्मित (फालम्) हल-के-फाल द्वारा उत्पन्न, (घृतश्चुतम्) घृतस्रावी (उग्रम्) उग्र रूप (यम् मणिम्) जिस कृष्यन्न रूप मणि को (बृहस्पतिः) बृहद् ब्रह्माण्ड के पति परमेश्वर ने (अबध्नात्) बाँधा है, उसके उत्पादन व्रत को धारण किया है (ओजसे) प्रजाओं के ओज के लिए, (तम् मणिम्) उस कृष्यन्न के उत्पादन ब्रह्म को (चन्द्रमाः) चन्द्रमा ने भी (बिभ्रत्) धारण किया है, और उसने (असुराणाम्, दानवानाम्) असुरों और दानवों की (हिरण्ययीः पुरः) हिरण्ययी पुरियों को (अजयत्) जीता है। (सः) उस चन्द्रमा ने (अस्मै) इस बृहस्पति के लिए (श्रियम्, इत्) शोभा को ही (दुहे) दोहा है, (भूयोभूयः) बार-बार या अधिकाधिक रूप में, (श्वः श्वः) आए दिन-प्रति-दिन, (तेन) उस चन्द्रमा द्वारा (त्वम्) हे परमेश्वर! तू (द्विषतः) हमारे रोगरूपी शत्रुओं का (जहि) हनन कर।

[चन्द्रमा द्वारा ओषधियों में रसों का संचार होता है, अतः चन्द्रमा ओषधि रूपी अन्नों का उत्पादक

है। असुरों और दानवों की हिरण्ययी पुरियों द्वारा नक्षत्र अभिप्रेत हैं। नक्षत्र-असुर हैं, प्राण शक्तिवाले हैं, ये हमें प्राण देते हैं। **असुरत्वम्=प्राणवत्वम्** (निरुक्त० १०.३.३४; ऋ० ३.५५.१९)। तथा नक्षत्र दानव हैं, हमें प्रकाश देते हैं। **दानवम्, दानकर्माणम्** (निरुक्त० १०.१.९; ऋ० ५.३२.१)। नक्षत्र हिरण्ययी-पुरः हैं, ये हिरण्यवत् चमकते हैं। चन्द्रमा नक्षत्रों का अधिपति है। यथा "**चन्द्रमा नक्षत्राणामधिपतिः**" (अथर्व० ५.२४.१०)। चन्द्रमा के प्रकाश में नक्षत्र प्रकाशविहीन से हो जाते हैं। मानो चन्द्रमा ने असुरों और दानवों की हिरयण्यी पुरियों पर विजय पा ली है। चन्द्रमा निज श्री अर्थात् शोभा द्वारा, निजकर्त्ता बृहस्पति में निष्ठ शोभा का परिचायक है। रात्रिकाल में चन्द्रमा की शोभा का भान होता है। बृहस्पति ने शोभायमान चन्द्रमा की रचना की है, अतः बृहस्पति भी शोभासम्पन्न है। जिस मनुष्य के मस्तिष्क में शोभा का निवास है वह ही शोभायमान चित्र चित्रित कर सकता है। "तेन" द्वारा चन्द्रमा का परामर्श हुआ है, श्री का नहीं। "श्री" स्त्रीलिङ्गी पद है, और "तेन" पुंल्लिङ्ग पद है। "जहि"=बृहस्पति परमेश्वर, चन्द्रमा द्वारा रोगशत्रुओं का हनन करता है। यथा—

अपचितः प्र पतत सुपर्णो वसतेरिव। सूर्यः कृणोतु भेषजं चन्द्रमा वोपोच्छतु॥

—अथर्व० ६.८३.१; तथा ६.८३.२, ३॥

अपचितः का अर्थ है गण्डमालाएँ। गण्डमाला की गिल्टियाँ एक-दूसरे से "अप" अर्थात् अलग-अलग हुईं, गले में माला के फूलों की तरह चुनी हुई होती हैं। सूर्य तथा चन्द्रमा इनकी भेषज है, औषध है। अपोच्छतु=अप+उछी विवासे, अपवासयतु, अपवर्जयतु।

अपचितः=**अपाक् चीयमाना गलादारभ्य अधस्तात् प्रसृता गण्डमालाः** (सायण)। इस प्रकार बृहस्पति-परमेश्वर की कृपा तथा अनुग्रह द्वारा चन्द्रमा भी रोग-शत्रुओं का हनन करता है।

ऋषिः—**बृहस्पतिः**॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः**॥ छन्दः—**पथ्या पङ्क्तिः**॥

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे।
सो अस्मै वाजिनं दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि॥ ११॥

अर्थ—(बृहस्पतिः) बृहद्-ब्राह्माण्ड-के पति परमेश्वर ने (आशवे, वाताय) शीघ्रगति वाली वायु के निर्माण के लिए, (यम्, मणिम्) जिस मणि को (अबध्नात्) बाँधा। (सः) उस वायु ने (अस्मै) इस बृहस्पति के लिए (वाजिनम्) बल को (दुहे) दोहा, (भूयोभूयः) बार-बार या अधिकाधिक रूप में, (श्वः श्वः) आए दिन-प्रति-दिन, (तेन) उस वात द्वारा (त्वम्) हे परमेश्वर! तू (द्विषतः) रोग-शत्रुओं का (जहि) हनन कर[१]।

[वाताय[२]=वातं निर्मातुम्; तुमुन्नर्थे चतुर्थी (अथर्व० २.३.१४)। अबध्नात्=बाँधा, वायु के निर्माण का

१. मन्त्र ११ से ३५ में खदिरम् और फालम् शब्दों का प्रयोग नहीं हुआ, केवल मन्त्र ३३ में "फालेन कृष्टे" शब्दों का प्रयोग हुआ है। इससे प्रतीत होता है कि इन मन्त्रों में "मणि" द्वारा कृष्यन्त्र अभिप्रेत नहीं, अपितु "मणि" द्वारा "उत्कृष्ट-तत्त्व" अर्थ ही अभिप्रेत है। अतः एतदनुसार ही इन मन्त्रों के अर्थ किये हैं।

२. भूत-भौतिक जगत् के निर्माण में मन्त्र ११ से १७ तक वात का वर्णन है। कारण यह कि "**तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः, सम्भूतः, आकाशाद् वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधिभ्योऽन्नम्, अन्नाद् रेतः, रेतसः पुरुष**" (तै० उप० २.१) के अनुसार सूक्ष्मतत्त्व से उत्तरोत्तर स्थूलतत्त्व की उत्पत्ति दर्शाई गई है। आकाश अति सूक्ष्म है, और कईयों के मत में नित्य है। इसलिए भूत-भौतिक जगत् में मूल

निश्चय किया, ईक्षण किया। वात अर्थात् वायु आशु है, शीघ्रगति वाली है। इसने निज शीघ्रता द्वारा बृहस्पति में शीघ्रगति का बल प्रदान किया, कार्यरूपी वायु ने निज कर्त्ता-परमेश्वर के शीघ्रकार्यकर्तृत्व को सूचित किया। इस शीघ्रता को यजुर्वेद में "**मनसो जवीयः**" (३१.४) द्वारा प्रदर्शित किया है। वाजिनम्=बलानि (सायण)। परमेश्वर, वात द्वारा, रोगरूप शत्रुओं का हनन करता है। यथा—

आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद्रपः।
त्वं हि विश्वभेषज देवानां दूत ईयसे॥ अथर्व० ४.१३.३॥

वात को भेषज और विश्वभेषज कहा है। यह "रपः" पापरूपी रोगों को दूर करता, और इन्द्रिय-देवों के रोग-शत्रुओं का दूत है, उपतापी है। दूतः=**टुदु उपतापे** (स्वादिः)। अथवा **दूङ् परितापे** (दिवादिः)। प्राणापान की गति द्वारा इन्द्रियों और शरीर के मल दूर होते हैं, और ये पुष्ट होते हैं।

ऋषिः—**बृहस्पतिः**॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः**॥ छन्दः—**षट्पदा शक्वरी**॥

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे। तेनेमां मणिना कृषिमश्विनावभि रक्षतः।
स भिषग्भ्यां महो दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि॥ १२॥

अर्थ—(बृहस्पतिः) परमेश्वर ने (आशवे, वाताय) शीघ्रगति वाली वायु के निर्माण के लिए, (यम्, मणिम्) जिस मणि को (अबध्नात्) बाँधा, (तेन मणिना) उस मणि द्वारा (अश्विनौ) दो अश्वी अर्थात् प्राण और अपान (इमाम्, कृषिम्) इस कृषि की (अभिरक्षतः) रक्षा करते हैं। (सः) उस वात अर्थात् वायु ने (भिषग्भ्याम्) वैद्यरूप दो अश्वियों के लिए (महः) महत्त्व (दुहे) दोहा है, (भूयोभूयः) बार-बार या अधिकाधिक रूप में, (श्वः श्वः) आए दिन-प्रतिदिन, (तेन) उस वात द्वारा (त्वम्) हे परमेश्वर! तू (द्विषतः) रोग-शत्रुओं का (जहि) हनन कर।

[मन्त्र ११, १२ का विषय एक है। कृषि द्वारा, शरीररूपी क्षेत्र में, कर्मरूपी कृषि का वर्णन हुआ है, जिसका परिपाक है सुख और दुःख। गीता में शरीर को क्षेत्र कहा है, और जीवात्मा को क्षेत्रज्ञ अर्थात् क्षेत्र का स्वामी। शरीर क्षेत्र में कर्म बीज बोए जाते हैं, बोने वाला क्षेत्रज्ञ जीवात्मा है। इस कृषि की रक्षा प्राणापान करते हैं। जिन्हें अश्विनौ कहा है। शरीर में व्याप्त होकर शरीर की रक्षा करते हैं, अश्विनौ=**अशूङ् व्याप्तौ**। ये दोनों वातरूप हैं, वायुरूप हैं। यह वायु ही प्राण और अपानरूप में परिणत हो रही है, नासिका द्वारा शरीर में प्रविष्ट होकर। इसलिए अश्वियों को "**नासत्यौ**" भी कहते हैं। "**नासत्सौ=नासाप्रभवौ**" (निरुक्त ६.३.१३; "पुरन्धिः" ५१)। ये दो अश्विनौ भिषग् हैं, वैद्यवत् चिकित्सा करते हैं, "अश्विनौ देवानां भिषजौ"। प्राण और अपान शरीरशुद्धि द्वारा और शरीरपुष्टि द्वारा, वैद्यवत् चिकित्सक हैं। मन्त्र में कृषि द्वारा प्रकरणगत प्राकृतिक कृषि भी अभिप्रेत हो सकती है, जिसकी रक्षा पृथिवी-द्यौः, तथा सूर्य-चन्द्रमा करते हैं। **अश्विनौ=द्यावापृथिव्यावित्येके। सूर्याचन्द्रमसावित्येके।** द्यौः वर्षा द्वारा रक्षा करती है, और पृथिवी भोज्योत्पादन द्वारा तथा सूर्य ज्योति द्वारा और चन्द्रमा रसप्रदान द्वारा कृषि की रक्षा करते हैं (निरुक्त १२.१.१)]।

कारण वायु या वात है। इसलिए वायु या वात की उत्पति दर्शाई गई है। आकाश=आ+काशृ (दीप्तौ)। अतः प्रतीत होता है कि आकाश है प्रकाश का माध्यम। पश्चात् काल में आकाश को शब्द का माध्यम माना गया प्रतीत होता है। सम्भवतः आकाश पाश्चात्य वैज्ञानिकों का Ether है। ETHER=A subtle medium supposed to fill all space. Ether=Aithein (ग्रीक)=To shine, To light up, ञिइन्धी दीप्तौ।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः** ॥ छन्दः—**षट्पदाशक्वरी** ॥

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे। तं बिभ्रत्सविता मणिं तेनेदमजयत्स्वः।

सो अस्मै सूनृतां दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि॥ १३॥

अर्थ—(बृहस्पतिः) बृहत्-ब्रह्माण्ड के पति परमेश्वर ने (आशवे, वाताय) शीघ्रगति वाली वायु के निर्माण के लिए (यम्, मणिम्) जिस मणि को (अबध्नात्) बाँधा, (तम्, मणिम्) उस मणि को (सविता बिभ्रत्) प्रभातकालीन सूर्य ने भी बाँधा, (तेन) उस मणि द्वारा (इदम्, स्वः) इस "स्वः" को उसने (अजयत्) जीता, (सः) उस सविता अर्थात् प्रभातकालीन सूर्य ने (अस्मै) इस बृहस्पति-परमेश्वर के लिए (सूनृताम्) मधुर तथा सत्यस्तुति वाणी का (दुहे) दोहन किया, बृहस्पति को प्रदान किया, (भूयोभूयः) बार-बार या अधिकाधिकरूप में, (श्वः श्वः) आए दिन-प्रतिदिन, (तेन) उस स्तुति-वाणी के समूह द्वारा (त्वम्) हे बृहस्पति-परमेश्वर! तू (द्विषतः) शारीरिक-मानसिक-आध्यात्मिक रोगरूपी शत्रुओं का (जहि) हनन कर।

(मणिम्) यह मणि[१] है परमेश्वरीय-कामना, वात के निर्माणार्थ। इस निर्माण कार्यरूपी मणि को मानो सविता ने भी बाँधा, धारण किया, जिस द्वारा सविता दिन का निर्माण करता है[२]। सवितृ-काल के पश्चात् ही दिन का आविर्भाव होता है। निरुक्त में सविता के सम्बन्ध में कहा है कि "**अधोरामः सावित्रः इति पशुसमाम्नाये विज्ञायते कस्मात्सामान्यादिति, अधस्तात्तद् वेलायां तमो भवति, एतस्मात् सामान्यात्; अधस्ताद् रामः, अधस्तात् कृष्णः**" (१२.२.१४)। सविता के काल में भूमि पर तो अन्धकार होता है, परन्तु "स्वः" अर्थात् द्युलोक पर सविता के द्वारा प्रकाश होता है, मानो सविता ने "स्वः" पर निजसत्ता से विजय पा ली है। यह सन्ध्या काल है जब कि "सूनृता" अर्थात् मधुर-और-सत्यवाणी रूप वेदमन्त्रों द्वारा परमेश्वर की स्तुतियाँ उपासक करते हैं, मानो सविता ने इन स्तुतिवाणियों का दोहन बृहस्पति-परमेश्वर के लिए किया है। ये स्तुतियाँ बार-बार बहुमात्रा में प्रतिदिन होती हैं। परमेश्वर सच्चे उपासकों के शारीरिक आदि रोगों, मलों (इन रोगों, शत्रुओं) का, इन स्तुतियों के द्वारा हनन करता है।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः** ॥ छन्दः—**षट्पदाशक्वरी** ॥

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे। तमापो बिभ्रतीर्मणिं सदा धावन्त्यक्षिताः।

स आभ्योमृतमिद्दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि॥ १४॥

अर्थ—(बृहस्पतिः) बृहत् ब्रह्माण्ड के पति परमेश्वर ने (आशवे, वाताय) शीघ्रगतिवाली वायु के निर्माण के लिए, (यम्, मणिम्) जिस कामना, रूपी-मणी को (अबध्नात्) बाँधा, (तम् मणिम्) उस कामनारूपी मणि को (आपः) जल भी (बिभ्रतीः) मानो धारण करते हुए और (अक्षिताः) न क्षीण होते

१. मणि पद "**मण शब्दे**" द्वारा व्युत्पन्न है (उणा० ४.११९; महर्षि दयानन्द)। परमेश्वर के सम्बन्ध में यह "शब्द" वाक् रूप नहीं, अपितु मानसिक या आध्यात्मिक है, जिसे कि उपनिषदों में "अकामयत" द्वारा कामना कहा है। कामना है इच्छा, संकल्प, निश्चय।

२. "सविता" प्रातःकाल का सूर्य है, जबकि द्युलोक में तो प्रकाश होता है, और भूमि पर अन्धकार। यह प्रातःकालीन सन्ध्याकाल है, जब कि मन्त्रों द्वारा परमेश्वर की स्तुति की जाती है। यह स्तुति शब्दमयी है, अतः मणि है। सवितृकाल में इस स्तुति के होने से सविता को "मणि बिभ्रत्" कहा है। सविता के सम्बन्ध में मणि शब्द उपचरित हुआ है।

हुए (सदा) सदा (धावन्ति) गति करते हैं, दौड़ से रहे हैं। (सः) उस बृहस्पति ने (आभ्यः) इन जलों के लिए या इन जलों से (अमृतम् इत्) अमृतत्व को (दुहे) दोहा, (भूयोभूयः) बार-बार या अधिकाधिक रूप में (श्वः श्वः) आए दिन-प्रतिदिन, (तेन) उस जलतत्त्व या अमृतत्व द्वारा हे बृहस्पति-परमेश्वर! (त्वम्) तू (द्विषतः) हमारे द्वेषी-शत्रुओं का (जहि) हनन कर।

[इन मन्त्रों में वायु के निर्माण का बार-बार वर्णन आता है। कारण यह है कि वैदिक वर्णनों में परमेश्वर द्वारा आकाश, आकाश से वायु, और वायु से अग्नि, आपः आदि तत्त्वों की उत्पत्ति पूर्वक, सृष्टि की रचना हुई है (तैत्तिरीय उपनिषद्)। आपः ने भी मानो पृथिवी, ओषधि, अन्न और प्राणियों के उत्पादन रूपी कामना का व्रत धारण किया, जैसे कि बृहस्पति ने वात के उत्पादन में कामनारूपी व्रत का धारण किया। परमेश्वर ने (आभ्यः) इन "जलों के लिए" अमृतत्त्व को दोहा। तभी मानों जल "सदा" गति कर रहे हैं। विना क्षीण हुए। नदियों से समुद्र की ओर, और समुद्र से अन्तरिक्ष की ओर, तथा अन्तरिक्ष से वर्षा द्वारा पुनः नदियों की ओर गति कर रहे हैं। अतः मानो जल अमृत हैं। या "आभ्यः=इन जलों से" परमेश्वर ने हमारे लिए अमृतत्व दोहा। जलचिकित्सा द्वारा हमारी आयु बढ़ती, हम स्वस्थ और नीरोग होकर पूर्ण आयु भोग सकते हैं। यह ही मन्त्रोक्त "अमृतम्" का अभिप्राय है। आपः अमृत हैं, इसीलिए आपः को "अमृत" भी कहते हैं। यथा "**अमृतम् उदकनाम**" (निघं० १.१२)। जलों में भैषज्यगुण है जिनके सेवन से मनुष्य भी अमृत हो जाते हैं, पूर्ण आयु से पूर्व मरते नहीं। यथा "**अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजम्**" (अथर्व० १.४.४), अर्थात् जलों में अमृत है, जलों में भेषज है। "**अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा**" (१.६.२), अर्थात् जलों में सब भेषजों का निवास है। "**आपः पृणोत भेषजं वरुथं तन्वे मम**" (अथर्व० १.६.३), अर्थात् हे जलो! तुम मेरी तनु के लिए रोगनिवारक औषध प्रदान करो; इत्यादि]।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**वनस्पतिः**, **फालमणिः** ॥ छन्दः—**षट्पदा शक्वरी** ॥

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे। तं राजा वरुणो मणिं प्रत्यमुञ्चत शंभुवम्।
सो अस्मै सत्यमिद्दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि॥ १५॥

अर्थ—(बृहस्पतिः) बृहत् ब्रह्माण्ड के पति परमेश्वर ने (आशवे, वाताय) शीघ्रगतिवाली वायु के निर्माण के लिए (यम्, मणिम्) जिस मणि को (अबध्नात्) बाँधा, (तम् मणिम्) उस मणि को (राजा वरुणः) राजावरुण ने भी (प्रत्यमुञ्चत) धारण किया, (शंभुवम्) जो मणि कि शान्ति को पैदा करती है। (सः) उस राजा वरुण ने (अस्मै) इस बृहस्पति के लिए (सत्यमिद्) सत्य को (दुहे) दोहा, (भूयोभूयः) बार-बार या अधिकाधिक रूप में, (श्वः श्वः) आए दिन-प्रतिदिन, (तेन) उस सत्य द्वारा (त्वम्) हे बृहस्पति! तू (द्विषतः) हमारे द्वेषी शत्रुओं का (जहि) हनन कर।

[मणिम्=मणि है बृहस्पति में जगदुत्पति की कामना, इच्छा, संकल्प, निश्चय। राजा-वरुण भी परमेश्वर है। बृहस्पति है ब्रह्माण्ड का पति, अधिपति, शासक। राजा-वरुण है प्रजाओं का राजा, शासक। परमेश्वर के दोनों स्वरूप शासक हैं। गुण-कर्म के भेद से एक ही परमेश्वर के दो नाम हैं। पहिले जड़ जगत् पैदा हुआ, इसका शासक बृहस्पति हुआ। तत्पश्चात् प्राणिजगत् पैदा हुआ। परमेश्वर, राजा वरुण के रूप में, तत्पश्चात् प्राणियों का शासक भी बना। राजा वरुण का काम है प्राणियों पर राज्य करना, उनका शासन करना, तथा उन्हें अनृतमार्ग से सत्यमार्ग की ओर प्रेरित करना। यथा "**ये ते पाशा वरुण**

सप्तसप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विषिता रुशन्तः। छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं यः सत्यवाद्यति तं सृजन्तु'' (अथर्व० ४.१६.६) मन्त्र में वरुण अर्थात् पापकर्मों से निवारित करने वाले परमेश्वर के पाशों अर्थात् फन्दों का वर्णन हुआ है जो कि अनृतवादी को छिन्न-भिन्न करते और सत्यवादी को उन पाशों से विमुक्त करते हैं। इस उद्देश्य के निमित्त वरुण राजा के स्पशों अर्थात् गुप्तचरों (४.१६.४) तथा ''**आस्तां जाल्म उदरं श्रंसयित्वा कोश इवाबन्धः परिकृत्यमानः**'' (अथर्व० ४.१६.७) द्वारा अनृतवादी के उदर को फाड़ देने के दण्ड का भी विधान हुआ है। इस प्रकार राजा वरुण प्रजाओं के नैतिक जीवनों का अधिपति होकर बृहस्पति के शासन में सहायक होता है। इस सम्बन्ध में शत्रु हैं अनृतभाषण, काम, क्रोध, लोभ आदि।

आधिदैविकार्थ में ''वरुण राजा'' है मेघ। यह अन्तरिक्ष पर आवरण डाल देता है, अतः वरुण है, अथवा ''अन्तरिक्षस्थ वायु'' वरुण है, जो कि अन्तरिक्ष को घेरे हुए है। ''सत्यम्'' है उदक, यथा ''**सत्यम् उदकनाम**'' (निघं० १.१२)। उदक द्वारा बृहस्पति शत्रुओं का हनन करता है। शत्रु हैं पिपासा, क्षुधा, सूखापन आदि। बृहस्पति ने मणि को बाँधा। इसका परिणाम हुआ ''वात का निर्माण''। राजा वरुण ने मणि को बाँधा। इसका परिणाम हुआ ''सत्य का दोहन''। और सत्य का परिणाम हुआ ''शत्रुओं का हनन'']।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः** ॥ छन्दः—**षट्पदा शक्वरी** ॥

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे। तं देवा बिभ्रतो मणिं सर्वांल्लोकान्युधाजयन्।
स एभ्यो जितिमिद्दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि॥ १६ ॥

अर्थ—(बृहस्पतिः) बृहत् ब्रह्माण्ड के पति परमेश्वर ने (आशवे वाताय) शीघ्रगति वाली वायु के निर्माण के लिए (यम् मणिम्) जिस कामनारूपी मणि को (अबध्नात्) बाँधा, (तम् मणिम्) उस कामनारूपी मणि को (देवाः) विजिगीषुओं ने (बिभ्रतः) धारण करते हुए (युधा) युद्ध द्वारा (सर्वान् लोकान्) सब लोकों को (अजयन्) जीत लिया। (सः) उस बृहस्पति ने (एभ्यः) इन विजिगीषुओं के लिए या इन विजिगीषुओं से, (जितिम् इत्) विजय को (दुहे) दोहा, (भूयोभूयः) बार-बार या अधिकाधिक रूप में (श्वः श्वः), आए दिन-प्रतिदिन (तेन) उस युद्ध द्वारा हे बृहस्पति! (त्वम्) तू (द्विषतः) हमारे द्वेषी शत्रुओं का (जहि) हनन कर।

[देवाः=विजिगीषु सेनाधिकारी वर्ग। ''**दिवु क्रीडाविजिगीषा**'' आदि (दिवादिः)। ''देव'' द्वारा विजिगीषु भी अभिप्रेत होते हैं, यथा ''देवसेनानामभिभञ्जतीनाम्'' में देव का अर्थ विजिगीषु है। उनकी सेनाओं को देवसेनाः कहा है। देखो मन्त्र ८ की व्याख्या। ''सब लोक'' का अभिप्राय है ''सब पार्थिव देश''। द्विषतः=का अभिप्राय यह है कि परमेश्वर हमारे ऐहिक तथा पुराकृत कर्मों के अनुसार हमें जय या पराजय प्रदान करता है। परमेश्वर ही कर्मफलप्रदाता है। जय या पराजय भी कर्मफल ही है। अतः इनकी प्राप्ति भी परमेश्वराधीन ही है। मन्त्र में आधिदैविक दृष्टि में प्रकाश (देव) और अन्धकार (असुर), या सूर्य देव और मेघ असुर भी अभिप्रेत हैं। तथा आध्यात्मिक दृष्टि में देवासुर संग्राम भी अभिप्रेत है]।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः** ॥ छन्दः—**षट्पदाशक्वरी** ॥

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे। तमिमं देवता मणिं प्रत्यमुञ्चन्त शंभुवम्।
स आभ्यो विश्वमिद्दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि॥ १७॥

अर्थ—(बृहस्पतिः) बृहत् ब्रह्माण्ड के पति परमेश्वर ने (आशवे वाताय) शीघ्रगतिवाली वायु के

निर्माण के लिए (यम्, मणिम्) जिस कामनारूपी मणि को (अबध्नात्) बाँधा, (तम्, मणिम्) उस कामनारूपी मणि को (शंभुवम्) जो कि शान्ति पैदा करने वाली है, (देवताः) विजिगीषु सेनाओं ने भी (प्रत्यमुञ्चन्त) धारण किया। (सः) उस बृहस्पति ने (आभ्यः) इन सेनाओं के लिए, या इन सेनाओं से (विश्वम् इत्) विश्व को (दुहे) दोहा, (भूयोभूयः) बार-बार या अधिकाधिक रूप में (तेन) उस दोहन द्वारा हे बृहस्पति! (त्वम्) तू (द्विषतः) हमारे द्वेषी शत्रुओं का (जहि) हनन कर।

[मन्त्र १६ में "देवाः" द्वारा विजिगीषु सेनाधिकारियों का वर्णन हुआ है। मन्त्र १७ में "देवताः" द्वारा सेनाएँ अभिप्रेत हैं, यथा "देवसेनाः अर्थात् देवों की सेनाएँ"। सेनाधिकारी तथा सेनाएँ, इन दोनों में जब विजिगीषा की उग्रभावना होती है, तभी युद्ध में विजय पाई जा सकती है। "शंभुवम्" द्वारा युद्ध का उद्देश्य दर्शाया है "शान्ति", न कि परराष्ट्रलिप्सा। विश्वम्=सकल भूमण्डल, या सब अभीष्ट पदार्थ]।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ऋतवस्तमबध्नतार्तवास्तमबध्नत। संवत्सरस्तं बद्ध्वा सर्वं भूतं वि रक्षति॥ १८॥

अर्थ—(ऋतवः) ऋतुओं ने (तम्) उस कामनारूपी मणि को मानो (अबध्नत) बाँधा, (आर्तवाः) ऋतुओं के अवयवों मासों या ऋतुओं के समूहों अयनकालों ने (तम्) उस कामनारूपी मणि को मानो (अबध्नत) बाँधा। (संवत्सरः) संवत्सर (तम्) उस कामनारूपी मणि को मानो (बद्ध्वा) बाँध कर (सर्वम्) सब (भूतम्) उत्पन्न सौर-जगत् की (वि रक्षति) विशेष रक्षा करता है।

[ऋतु आदि जड़-तत्त्वों में कामना कवितारूप में कथित है। ये मानो कामनापूर्वक विविध उत्पत्तियां[1] कर रहे हैं। प्रत्येक मास, प्रतिऋतु तथा द्विविध अयनकालों में विविध उत्पत्तियाँ हो रही हैं। जड़तत्त्वों के सम्बन्ध में भी चेतनकार्यों का वर्णन वैदिक साहित्य में होता है। यथा "**तत् तेज ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति**" (छान्दोग्य ६.३); "**ता आप ऐक्षन्त बह्व्यः स्याम प्रजायेमहि**" (छान्दोग्य ६.४)। तथा "**ध्यायतीव पृथिवी, ध्यायतीवान्तरिक्षं, ध्यायतीव द्यौः, ध्यायन्तीवापः, ध्यायन्तीव पर्वताः**" (छान्दोग्य उप० अध्याय ७, खण्ड ६) में पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौः, आपः, पर्वताः के सम्बन्ध में "ध्यान" का वर्णन हुआ है। ईक्षण और ध्यान चेतन-धर्म हैं।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अन्तर्देशा अबध्नत प्रदिशस्तमबध्नत।
प्रजापतिसृष्टो मणिर्द्विषतो मेऽधराँ अकः॥ १९॥

अर्थ—(अन्तर्देशाः[2]) देशों के भीतर निवास करने वाले प्रजाजनों ने (अबध्नत) बाँधा, (प्रदिशः[2]) अवान्तर दिशाओं या भिन्न-भिन्न प्रदेशों में निवास करने वाले प्रजाजनों ने (तम्) उस मणि को (अबध्नत) बाँधा। (प्रजापतिसृष्टः) प्रजाओं के पति परमेश्वर द्वारा रची गई (मणिः) मणि ने (मे) मेरे (द्विषतः) द्वेषी शत्रुओं को मेरे (अधरान्) नीचे अर्थात् अधीन (अकः) कर दिया है।

---

१. ऋतुएँ, आर्तव, संवत्सर न तो ये स्थूल तत्त्व हैं जिनके साथ कोई स्थूल मणि बाँधी जा सके, और न ये चेतन ही हैं कि ये स्वयं स्थूल मणि को अपने साथ बाँध सकें। इसलिए इस मन्त्र के जो अभिप्राय अर्थों में दर्शाए हैं वे ही उचित प्रतीत होते हैं।

२. अन्तर्देशाः तथा प्रदिशः का अभिप्राय है अन्तर् देशों के निवासी, तथा दिशाओं या प्रदेशों में निवास करने वाली प्रजाएँ।

[प्रदिशः=मुख्य चार दिशाओं की मध्यवर्ती दिशाएँ, ऐशानी, आग्नेयी, नैर्ऋती, वायवी; अथवा भिन्न-भिन्न प्रदेशों के अर्थात् तन्निवासी प्रजाजन। प्रजापतिसृष्ट मणि है कामना, संकल्प, दृढ़निश्चय। प्रजापति ने मानुषी प्रजाओं में इस मणि की रचना की हुई है। इस मणि द्वारा मनुष्य निज आधिभौतिक तथा अध्यात्मद्वेषी शत्रुओं को अपने अधीन करते हैं। अधरान्=अधोरः, अधर्+रः (मत्वर्थीयः), (निरुक्त २.३.११)]।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः** ॥ छन्दः—**पथ्या पङ्क्तिः** ॥

अथर्वाणो अबध्नताथर्वणा अबध्नत।
तैर्मेदिनो अङ्गिरसो दस्यूनां बिभिदुः पुरस्तेन त्वं द्विषतो जहि॥ २०॥

अर्थ—(अथर्वाणः) स्थिरचित्तवृत्तियों वाले योगियों ने (अबध्नत) बाँधा, (आथर्वणाः) अथर्वा-योगियों के शिष्यों ने बाँधा। (तैः) उनके साथ (मेदिनः) स्नेह करने वाले (अङ्गिरसः[1]) प्राणायाम के अभ्यासियों ने [बाँधा], [उन सबने] (दस्यूनाम्) उपक्षयकारी चित्तविक्षेपरूप अन्तरायों के (पुरः) गढ़ों को (बिभिदुः) तोड़-फोड़ दिया। (तेन) उस स्थिरचित्तवृत्तिरूप मणि द्वारा (त्वम्) हे ध्यानी! तू (द्विषतः) अन्तरायरूपी शत्रुओं का (जहि) हनन कर।

[अथर्वाणः="**थर्वतिश्चरतिकर्मा तन्निषेधः**" (निरुक्त ११.२.१९)। अङ्गिरसः="**अङ्गानां हि रसः, प्राणो वा अङ्गानाᳬ रसः**" (बृहदा० १.३.१९)। मन्त्र में अङ्गिरसः द्वारा प्राणायामाभ्यासी शिष्य प्रतीत होते हैं। वे निज गुरुओं "अथर्वा योगियों के साथ स्नेहपूर्वक उनसे योगविद्या को प्राप्त करते हैं। दस्यु=**दसु उपक्षये**। योगाभ्यास में उपक्षयकारियों अर्थात् बाधकों को "अन्तराय" कहते हैं। वे हैं "व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व, अनवस्थितत्त्व-रूपी चित्तविक्षेप, ये अन्तराय हैं (योग १.३०)। इस प्रकार इन योगियों और योगाभ्यासियों ने जिस मणि को बाँधा वह दृढ़कामना, दृढ़संकल्प, दृढ़निश्चयरूप ही सम्भव है। मेदिनः=**ञिमिदा स्नेहने** (भ्वादिः)]।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

तं धाता प्रत्यमुञ्चत स भूतं व्यकल्पयत्। तेन त्वं द्विषतो जहि॥ २१॥

अर्थ—(तम्) उस मणि को (धाता[2]) धारण-पोषण करने वाले परमेश्वर[2] ने (प्रत्यमुञ्चत) धारण किया, (सः) उसने (भूतम्) भूत-भौतिक जगत् की (व्यकल्पयत्) विविधरूपों में रचना की। (तेन) उस मणि द्वारा (त्वम्) हे ध्यानी! तू (द्विषतः) निज द्वेषी-शत्रुओं का (जहि) हनन कर।

[मणि, प्रजापति द्वारा सृष्ट हुई है (मन्त्र १९)। यह प्रजापति, धाता है, सबका धारण-पोषण करता है। इस मणि को धारण करके धाता ने सृष्टि को रचा। यह मणि है सृष्टिरचना में धाता की कामना, इच्छा। यथा "**सोऽकामयत**" (बृहदा० १.२.४-७)। धाता की कामना मात्र से ही भूत-भौतिक सृष्टि पैदा होती है। यह कामना ही संकल्प और दृढ़ निश्चय रूप है। धाता खादिर काष्ठ के फाल के विकाररूप मणि को धारण नहीं करता। याज्ञिक सम्प्रदाय मणि के सम्बन्ध में कहते हैं कि "**खदिरकाष्ठफालविकारं मणिं शत्रुनाशाय सर्वकामाप्तये च बध्नाति**" (सायण, सूक्त के विनियोग में)। ध्यानी के शत्रु हैं, अन्तराय

---

१. "**सोऽयास्य आङ्गिरसोऽङ्गानां हि रसः, प्राणो वा अङ्गानां रसः, प्राणो हि वा अङ्गानां रसः**" (बृहदा० १.३.१९)।
२. **स धाता स विधर्ता स वायुर्नभ उच्छ्रितम्** (३)। **सोऽर्यमा वरुणः स रुद्रः स महादेवः** (४) **सो अग्निः स उ सूर्यः स उ एव महायमः** (५) [अथर्व० १३.४.३-५]।

(मन्त्र २०)]।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम्। स मायं मणिरागमद्रसेन सह वर्चसा॥ २२॥

अर्थ—(बृहस्पतिः) बृहत् ब्रह्माण्ड के पति परमेश्वर ने, (देवेभ्यः) देवों के उत्पादन के लिए, (असुरक्षितिम्) आसुरकर्मों का क्षय करने वाली (यम् मणिम्) जिस मणि को (अबध्नात्) बाँधा, (सः) वह (अयम्) यह (मणिः) मणि (मा) मुझे (आगमत्) प्राप्त हुई है, (रसेन वर्चसा सह) रस और कान्ति के साथ।

[बृहस्पति ने सृष्ट्युत्पादनार्थ कामनारूपी मणि को अपने साथ बाँधा, निजस्वरूप में कामना को जागरित किया। कामना यह कि मैं देवों को उत्पन्न करूँ, ताकि असुरों का क्षय हो। "देवेभ्यः" का अर्थ है "देवान् उत्पादयितुम्, मणिमबध्नात्", तुमुन्नर्थ में चतुर्थी है। सृष्ट्युत्पादन के दो प्रयोजन हैं, भोग और अपवर्ग। "**भोगापवर्गार्थं दृश्यम्**" (योग २.१८)। कर्मानुसारी भोग, साधन है अपवर्ग का, मोक्ष का। भोग द्वारा बुरे कर्मों का फल, दुःख और कष्ट भोग लेने पर शनैः-शनैः बुरे कर्मों का विनाश होता रहता है, और व्यक्ति सत्कर्मों का चयन करता हुआ अपवर्ग का अधिकारी बनता जाता है। सृष्टि, परमेश्वर का अनुग्रहरूप है। यथा "**अनुग्रहः सर्गः**" (तत्त्वसमास, सांख्यसूत्र २७)। परमेश्वर का यह महान् अनुग्रह है कि वह सृष्टि में शनैः शनैः देवों को उत्पन्न करता हुआ मनुष्यों को अपवर्ग का पथिक बना कर उन्हें अपवर्ग प्रदान करे। मन्त्र में "रसेन" द्वारा भोग्य पदार्थ का वर्णन हुआ है। रस ओषधि रस है। यथा "**पयः पशूनां रसमोषधीनां बृहस्पतिः सविता मे नियच्छात्**" (अथर्व० १९.३१.५)]।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः** ॥ छन्दः—**पथ्या पङ्क्तिः** ॥

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम्।
स मायं मणिरागमत्सह गोभिरजाविभिरन्नेन प्रजया सह॥ २३॥

अर्थ—(बृहस्पतिः) बृहत्-ब्रह्माण्ड के पति परमेश्वर ने (देवेभ्यः) देवों के उत्पादन के लिए (असुरक्षितिम्) आसुरकर्मों का क्षय करने वाली (यम्, मणिम्) जिन कामनामयी मणि को (अबध्नात्) बाँधा, (सः) वह (अयम् मणिः) यह मणि (मा आगमत्) मुझे प्राप्त हुई है (गोभिः, अजाविभिः, अन्नेन, प्रजया सह) गौओं, बकरियों, भेड़ों, अन्न और प्रजा के साथ।

[भाव, मन्त्र २२ के सदृश। गौ आदि भोग्य हैं। "मा आगमत्" द्वारा अपवर्गोन्मुखी पथिक अनुभव करता है कि उन्नति के लिए बृहस्पति ने मुझे भी कामनामयी मणि प्रदान की है। (व्याख्या मन्त्र २२)]।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः** ॥ छन्दः—**पथ्या पङ्क्तिः** ॥

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम्।
स मायं मणिरागमत्सह व्रीहियवाभ्यां महसा भूत्या सह॥ २४॥

अर्थ—(बृहस्पतिः) बृहत्-ब्रह्माण्ड के पति परमेश्वर ने (देवेभ्यः) देवों के उत्पादन[1] के लिए (असुरक्षितिम्) आसुरकर्मों का क्षय करने वाली (यम् मणिम्) जिस कामनामयी मणि को (अबध्नात्)

---

१. मन्त्र का यह अभिप्राय नहीं कि "बृहस्पति ने देवों को मणि बाँधी।"

बाँधा, (सः) वह (अयम् मणिः) यह मणि (मा आगमत्) मुझे प्राप्त हुई है, (व्रीहियवाभ्यां सह) धान और जौ के साथ, (महसा भूत्या सह) महत्ता और सम्पत्ति या विभूति के साथ। [व्याख्या मन्त्र २२,२३]।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः** ॥ छन्दः—**पथ्या पङ्क्तिः** ॥

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम्।

स मायं मणिरागमन्मधोर्घृतस्य धारया कीलालेन मणिः सह॥ २५॥

अर्थ—(बृहस्पतिः) बृहत्-ब्रह्माण्ड के पति परमेश्वर ने (देवेभ्यः) देवों के उत्पादन के लिए (असुरक्षितिम्) आसुरकर्मों का क्षय करने वाली (यम् मणिम्) जिस कामनामयी मणि को (अबध्नात्) बाँधा, (सः) वह (अयम् मणिः) यह कामनामयी मणि को (मा) मुझे (आगमत्) प्राप्त हुई है, (मधोः घृतस्य धारया) शहद और घृत की धारा के साथ, (मणिः) वह मणि (कीलालेन सह) अन्न तथा अन्न के सारभूत अंश के साथ।

[कीलालेन=अन्नेन (अथर्व० ६.६९.१, सायण। कीलालम्=**अन्नस्य सारभूतोंशः** (अथर्व० ७.६५.५, सायण)। (व्याख्या मन्त्र २२, २३)]।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः** ॥ छन्दः—**पथ्या पङ्क्ति**॥

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम्।

स मायं मणिरागमदूर्जया पयसा सह द्रविणेन श्रिया सह॥ २६॥

अर्थ—(बृहस्पतिः) बृहत्-ब्रह्माण्ड के पति परमेश्वर ने, (देवेभ्यः) देवों के उत्पादन के लिए, (असुरक्षितिम्) आसुरकर्मों का क्षय करने वाली (यम्) जिस कामनामयी मणि को (अबध्नात्) बाँधा, (सः) वह (अयम्, मणिः) यह कामनामयी मणि (मा) मुझे (आगमत्) प्राप्त हुई है, (ऊर्जया) बल और प्राण शक्ति, (पयसा) और दूध के (सह) साथ, तथा (द्रविणेन) धन और (श्रिया) शोभा के (सह) साथ।

[ऊर्जा=**ऊर्ज बलप्राणनयोः** (चुरादिः)। ऊर्जा और पयसा द्वारा यह अभिप्राय द्योतित किया है कि बल और प्राणशक्ति के लिए दूध उत्तम वस्तु है। इसी प्रकार धन साधन है शोभा का। (व्याख्या मन्त्र २२-२३ के अनुसार)]।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः** ॥ छन्दः—**पथ्या पङ्क्ति**॥

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम्।

स मायं मणिरागमत्तेजसा त्विष्या सह यशसा कीर्त्या सह॥ २७॥

अर्थ—(बृहस्पतिः) बृहत्-ब्रह्माण्ड के पति परमेश्वर ने, (देवेभ्यः) देवों के उत्पादन के लिए, (असुरक्षितिम्) आसुरकर्मों का क्षय करने वाली (यम्) जिस कामनामयी मणि को (अबध्नात्) बाँधा, (सः) वह (अयम्, मणिः) यह मणि (मा) मुझे (आगमत्) प्राप्त हुई है (तेजसा त्विष्या) तेज और दीप्ति के (सह) साथ, तथा (यशसा कीर्त्या) यश और कीर्ति के (सह) साथ।

[तेज और त्विषि का परस्पर सम्बन्ध है, तथा यश और कीर्त्ति का भी परस्पर सम्बन्ध है। त्विषि=**त्विष् दीप्तौ** (भ्वादिः)। कीर्तिः=**कीर्त्यते संशब्द्यते सा** (उणा० ४.१२०)। महापुरुषों के सत्कार्यों का कथन या गान करना कीर्ति है। (व्याख्या मन्त्र २२, २३ के अनुसार)]।

ऋषिः—बृहस्पतिः ॥ देवता—वनस्पतिः, फालमणिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम्।
स मायं मणिरागमत्सर्वाभिर्भूतिभिः सह ॥ २८ ॥

अर्थ—(बृहस्पतिः) बृहत्-ब्रह्माण्ड के पति परमेश्वर ने, (देवेभ्यः) देवों की उत्पत्ति के लिए, (असुरक्षितिम्) आसुर-कर्मों का क्षय करने वाली (यम्) जिस कामनामयी मणि को (अबध्नात्) बाँधा, (सः) वह (अयम्, मणिः) यह मणि (मा) मुझे (आगमत्) प्राप्त हुई है, (सर्वाभिः) सब (भूतिभिः) सम्पत्तियों या विभूतियों के (सह) साथ।

[व्याख्या मन्त्र २२-२३ के अनुसार]।

ऋषिः—बृहस्पतिः ॥ देवता—वनस्पतिः, फालमणिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

तमिमं देवता मणिं मह्यं ददतु पुष्टये। अभिभुं क्षत्रवर्धनं सपत्नदम्भनं मणिम् ॥ २९ ॥

अर्थ—(देवताः) देव (तम् इमम्) पूर्ववर्णित इस (मणिम्) मणि को (पुष्टये) पुष्टि के लिए (मह्यम्) मुझे (ददतु) देवें, जो कि (मणिम्) मणि (अभिभुम्) पराभव करने वाली है, (क्षत्रवर्धनम्) क्षतियों से त्राण करने की शक्ति की वृद्धि करती है, (सपत्नदम्भनम्) शत्रुओं को दबाने वाली या उनका विनाश करने वाली है।

[देवताः=प्रकरणानुसार, पूर्व के मन्त्रों में वर्णित "देवेभ्यः" का निर्देश "देवताः" द्वारा हुआ है, या इस का अभिप्राय है दिव्यगुणी महात्मा आदि। मन्त्र में "मणि" का अभिप्राय है, शुभकामना, तथा शुभ संकल्प। इस द्वारा आसुर विचार और कर्मरूपी शत्रुओं का पराभव तथा दमन होता; तथा क्षत्रशक्ति प्राप्त होती है। क्षत्रम्=क्षतात् त्राणम्]।

ऋषिः—बृहस्पतिः ॥ देवता—वनस्पतिः, फालमणिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

ब्रह्मणा तेजसा सह प्रति मुञ्चामि मे शिवम्।
असपत्नः सपत्नहा सपत्नान्मेधराँ अकः ॥ ३० ॥

अर्थ—(ब्रह्मणा तेजसा) ब्रह्म और उसके तेज के (सह) साथ-साथ (मे) मेरे लिए (शिवम्) शिवरूप, कल्याणरूप [शिव कामना तथा शिवसंकल्परूपी] मणि को (प्रति मुञ्चामि) मैं धारण करता हूँ, । [यह मणि] (असपत्नः) सपत्नों से रहित करती है, (सपत्नहा) सपत्नों का हनन करती है, इसने (सपत्नान्) सपत्नों को (मे) मेरे (अधरान्) नीचे (अकः) कर दिया है।

[मन्त्र में शिवकामना या शिसंकल्परूपी मणि का फल दर्शाया है। (१) आसुर विचारों और आसुर कर्मों के क्षय के कारण मुझे ब्रह्म और उसका तेज प्राप्त हुआ है। (२) इसके साथ ही मेरे जीवन में मेरा कोई सपत्न [काम, क्रोध आदि] नहीं रहा। (३) यदि कोई सपत्न अवशिष्ट है तो यह मणि उसका हनन कर देगी। (४) वस्तुतः इस मणि ने मेरे सब सपत्नों को मेरे वश में कर दिया है]।

ऋषिः—बृहस्पतिः ॥ देवता—वनस्पतिः, फालमणिः ॥ छन्दः—षट्पदा जगती ॥

उत्तरं द्विषतो मामयं मणिः कृणोतु देवजाः। यस्य लोका इमे त्रयः पयो दुग्धमुपासते।
स मायमधि रोहतु मणिः श्रैष्ठ्याय मूर्धतः ॥ ३१ ॥

अर्थ—(देवजाः) देवों द्वारा प्रकटीकृत (अयम्, मणिः) यह परमेश्वररूप मणि (माम्) मुझ को (द्विषतः) द्वेषियों की अपेक्षया (उत्तरम्) अधिक उत्कृष्ट (कृणोतु) कर दे। (यस्य) जिस परमेश्वर के (पयः दुग्धम्) जल और दूध का, या दोहे दूध आदि का (इमे त्रयः लोकाः) ये तीनों लोक (उपासते) सेवन करते हैं। (सः अयम्) वह यह परमेश्वर-मणि (मा) मेरे (मूर्धतः) सिर पर (अधि रोहतु) आरोहण करे, (श्रैष्ठ्याय) मेरी श्रेष्ठता के लिए, ताकि मैं श्रेष्ठ बन जाऊं।

[देवजाः (मन्त्र २९); देवकोटि के सद्-गुरुओं की कृपा द्वारा परमेश्वर-देव प्रकट होता है। परमेश्वर प्रकट होकर व्यक्ति को, काम, क्रोध आदि द्विष्ट-कृत्यों पर विजयार्थ, उत्कृष्ट शक्ति प्रदान करता है। परमेश्वर द्वारा उत्पादित [दोहे दूध] आदि का सेवन तीनों लोकों के निवासी करते हैं। व्यक्ति चाहता है कि परमेश्वर-मणि मेरे सिर पर आरोहण करे। मणि आदि आभूषण सिर की शोभा को बढ़ाते हैं। सिर से ही बस विचार उठ कर नाना कर्म कराते हैं। परमेश्वर जब सिर पर आरोहण करता है तो विचार और कर्म सात्त्विक हो जाते हैं, और व्यक्ति श्रेष्ठ बन जाता है। मूर्धतः=सप्तम्यां तसिः]।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यं देवाः पितरो मनुष्या उपजीवन्ति सर्वदा।

स मायमधि रोहतु मणिः श्रैष्ठ्याय मूर्धतः॥ ३२॥

अर्थ—(यम्) जिस परमेश्वरमणि के आश्रय (देवाः, पितर, मनुष्याः) देव, पितर और मनुष्य (सर्वदा) सब कालों में (उपजीवन्ति) आजीविका प्राप्त करते हैं या जीवित होते हैं, (सः मणिः) वह परमेश्वरमणि (मा) मेरे (मूर्धतः) सिर पर (अधि रोहतु) आरोहण करे, (श्रैष्ठ्याय) मेरी श्रेष्ठता के लिए, ताकि मैं श्रेष्ठ बन जाऊं।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यथा बीजमुर्वरायां कृष्टे फालेन रोहति। एवा मयि प्रजा पशवोऽन्नमन्नं वि रोहतु॥ ३३॥

अर्थ—(फालेन) हल के फाल द्वारा (कृष्टे) जुते जाने पर, (उर्वरायाम्) उपजाऊ भूमि में, (बीजम्) बीज (यथा) जैसे (रोहति) प्ररोह करता है, प्रादुर्भूत होता है, (एवा) इसी प्रकार (मयि) मेरे निमित्त (प्रजाः, पशवः) प्रजाएँ और पशु, (अन्नम्, अन्नम्) तथा नाना अन्न (वि रोहतु) विशेषतया प्रादुर्भूत हों।

[रोहतिः=**रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे च** (भ्वादिः)]।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यस्मै त्वा यज्ञवर्धन मणे प्रत्यमुचं शिवम्।

तं त्वं शतदक्षिण मणे श्रैष्ठ्याय जिन्वतात्॥ ३४॥

अर्थ—(यज्ञवर्धन मणे) यज्ञ वर्धक हे मणि! (यस्मै) जिसे मैंने, (शिवम्, त्वा) शिवस्वरूप तुझ को, (प्रत्यमुचम्) पहनाया है, (शतदक्षिण) हे सैकड़ों दक्षिणाओं वाली (मणे) मणि! (तम्) उसे (त्वम्) तू (श्रैष्ठ्याय) श्रेष्ठ हो जाने के लिए (जिन्वतात्) प्रीणित कर, उत्साहित कर।

[जिन्वतात्=**जिवि प्रीणनार्थः** (भ्वादिः), तृप्त करना, प्रसन्न करना। मन्त्र में अर्थ संगत होता है, "उत्साहित करना"। तृप्त मनुष्य नए कर्म करने में उत्साहित होता है, अतृप्त उत्साहविहीन रहता है। मन्त्र में मणि द्वारा सर्वश्रेष्ठ मणि, परमेश्वर प्रतीत होता है। मन्त्र ३१, ३२ और ३४ में "श्रैष्ठ्याय" पद समानरूप

में पठित है। अतः इन तीन मन्त्रों में परमेश्वर को ही मणि कहा है। सद्गुरु, जिस अभ्यासी को यह शिवमणि पहनाता है उसकी प्रसन्नता और प्रोत्साहन के लिए, सद्गुरु परमेश्वर से प्रार्थना करता है। परमेश्वर "यज्ञवर्धन" है, संसाररूपी यज्ञ की वृद्धि में लगा हुआ है, ताकि देवों के उत्पादन और असुरों के क्षय द्वारा योग्य व्यक्ति अपवर्ग पा सकें। परमेश्वर के इस उद्देश्य में जो महानुभाव सहायता प्रदान करते हैं वे दक्षिणा के पात्र होते हैं। इसलिए परमेश्वर को "शतदक्षिण" कहा है। परमेश्वर है यज्ञ का कर्त्ता "यजमान", और सहायता प्रदान करने वाले हैं इस यज्ञ में पुरोहित, ऋत्विक्। ये दक्षिणाओं के अधिकारी हैं, दक्षिणाएँ हैं मन्त्र २२ से ३४ तक कथित रस आदि पदार्थ, तथा मन्त्र २८ में कथित "सब भूतियां"[१]।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदाऽनु(त्र्यनु)ष्टुब्गर्भा जगती** ॥

एतमिध्मं समाहितं जुषाणो अग्ने प्रति हर्य होमैः। तस्मिन्विदेम
सुमतिं स्वस्ति प्रजां चक्षुः पशून्त्समिद्धे जातवेदसि ब्रह्मणा॥ ३५॥

अर्थ—(अग्ने) हे अग्नि! (समाहितम्) सम्यक्-आधान किये (एतम्, इध्मम्) इस इध्म का (जुषाणः) सेवन करती हुई तू (होमैः) आहुतियों द्वारा (प्रतिहर्य) कान्ति सम्पन्न हो, प्रदीप्त हो। (ब्रह्मणा) परमेश्वर की कृपा या वेदमन्त्र द्वारा (तस्मिन् जातवेदसि) उस जातवेदाः के (समिद्धे "सति") सम्यक्-प्रदीप्त हो जाने पर, (सुमतिम्, स्वस्ति, प्रजाम्, चक्षुः, पशून्) सुमति, कल्याण, प्रजा, स्वस्थ चक्षु आदि इन्द्रियों और पशुओं को (विदेम) हम प्राप्त करें।

[पूर्व के मन्त्रों में कथित कामनाओं के सफल हो जाने पर परमेश्वर के प्रसादनार्थ यज्ञ का विधान मन्त्र में हुआ है। यज्ञाग्नि की उद्दीप्ति द्वारा सुमति आदि पदार्थ प्राप्त होते हैं। यज्ञिय धूम द्वारा अन्तरिक्ष में स्थित जल, मेघरूप होकर, जब बरसते हैं, तब अन्न की उत्पत्ति पूर्वक, वर्णित अभिलाषाएँ पूर्ण होती हैं। जातवेदाः अग्नि है, जो कि "जात" अर्थात् उत्पन्न प्रत्येक पदार्थ में विद्यमान है। "**जातवेदाः=जातानि वेद। जातानि वैनं विदुः। जाते जाते विद्यते वा। जातवित्तो वा जातधनः। जातविद्यो वा जातप्रज्ञः**" (निरुक्त ७.५.१९)। तथा "**जातवेदस इति जातमिदं सर्वं सचराचरं स्थित्युत्पत्तिप्रलयन्यायेनाच्छाय यो विद्यते सः**" (निरुक्त १३ (१४)। ३(२)। ३४(४७)।

अग्नि द्वारा अग्निष्ठ परमेश्वराग्नि भी अभिप्रेत है। यथा "**अग्नावग्निश्चरति प्रविष्टः**" (अथर्व० ४.३९.९)। यज्ञियाग्नि की स्तुति और परिचर्या द्वारा, परमेश्वराग्नि की भी स्तुति और परिचर्या जाननी चाहिए। परमेश्वराग्नि के सम्बन्ध में इध्म है जीवात्मा "**अयं त इध्म आत्मा जातवेदः**" (आश्वलायन गृह्यसूत्र १.१०.१२) जीवात्मा[२] में परमेश्वराग्नि प्रज्वलित होती है, चमकती है। जातवेदाः की निरुक्तयाँ परमेश्वराग्नि में अधिक सुसंगत होती हैं, उसके समिद्ध हो जाने पर, प्रकट हो जाने पर, सुमति, स्वस्ति आदि सुलभ हो जाते हैं]।

तृतीय अनुवाक समाप्त॥

---

१. अथवा "यज्ञवर्धन" हमारे यज्ञिय कर्मों को बढ़ाने वाले परमेश्वररूपी ऋत्विक्; "शतदक्षिण" तदर्थ हमारी सैकड़ों स्तुतिरूप दक्षिणाओं के अधिकारी परमेश्वर!

२. आध्यात्मिक अर्थ में अन्वय="अयम् आत्मा ते इध्मः", हे परमेश्वर! यह मेरी आत्मा तेरे लिए इध्म है, इसमें तू प्रज्वलित हो, प्रदीप्त हो, प्रकट हो।

अनुवाक ४

सूक्त ७

विषय-प्रवेश

स्कम्भ[१] का वर्णन (मन्त्र १-४३)। स्कम्भ के अङ्गों की कल्पना, अङ्गों के विशिष्ट गुण (१)। स्कम्भ के अङ्गों द्वारा प्राकृतिक पदार्थों का संचालन (२, ३)। अग्नि, वायु, भंवर, काल, अहोरात्र, आपः, मन, स्कम्भ प्राप्ति के लिए सचेष्ट (४-६, ३७)। प्रजापति का आधार, स्कम्भ (७)। स्कम्भ का मुख्य अङ्ग प्रकृति; पुराण (९, २५, २६)। ३३ देवताः (१३, २३, २७)। एकर्षिः, प्रथमजाः ऋषयः, ऋक्, साम, यजुः, मही [अथर्व-वाणी] (१४)। समुद्र संस्थान तथा दिशाएं=रक्तनाड़ी-संस्थान, तथा ज्ञाननाड़ी-संस्थान (१५, १६, ३४)। स्कम्भ का वास्तविक स्वरूप (१७)। ब्रह्म के शिरः, चक्षुः, मुख, जिह्वा, ऊधस् के वास्तविक अभिप्राय (१८, १९, ३३, ३४)। वेदोत्पत्ति स्कम्भ से (२०)। असच्छाखा, सच्छाखा प्रकृति (२१)। स्कम्भ=इन्द्र; और इन्द्र=स्कम्भ (२९, ३०)। सूर्य और उषा से पूर्व स्कम्भोपासना (३१)। सर्वाधार स्कम्भ (३५)। देवों द्वारा स्कम्भ के प्रति निज शक्तियों की भेंट (३९)। तमोगुण के निराकरण द्वारा पापों की निवृत्ति (४०)। हिरण्यय वेतस (४१)। संसार-पट का निर्माण (४२, ४३, ४४)।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**विराड् जगती**॥

कस्मिन्नङ्गे तपो अस्याधि तिष्ठति कस्मिन्नङ्ग ऋतमस्याध्याहितम्।
क्व व्रतं क्व श्रद्धास्य तिष्ठति कस्मिन्नङ्गे सत्यमस्य प्रतिष्ठितम्॥ १॥

अर्थ—(अस्य) इसके (कस्मिन् अङ्गे) किस अङ्ग में (तपः) तप (अधि तिष्ठति) अधिष्ठित है, (अस्य) इसके (कस्मिन् अङ्गे) किस अङ्ग में (ऋतम्) यथार्थ नियम (अध्याहितम्) स्थापित है। (अस्य) इसके (क्व) किस अङ्ग में (व्रतम्) व्रत, (क्व) किस अङ्ग में (श्रद्धा) सत्यधारण की भावना (तिष्ठति) स्थित है, (अस्य) इसके (कस्मिन् अङ्गे) किस अङ्ग में (सत्यम्) सत्य (प्रतिष्ठितम्) स्थित है।

[यह स्कम्भ सूक्त है। स्कम्भ का अभिप्राय है सर्वाधार। **स्कभि प्रतिबन्धे** (भ्वादिः)। प्रतिबन्ध का अभिप्राय है "प्रत्येक को अपने-अपने नियत स्थान तथा नियत व्यवस्था में बाँधे रखना"। अतः बाँधने वाला परमेश्वर स्कम्भ है, सर्वाधार है।

परमेश्वर "अकाय" है (यजुः० ४०.८), काया से रहित है। अतः इसके अङ्ग नहीं हैं। परन्तु वेदों और वैदिक साहित्य में परमेश्वर को पुरुष कहा है। यथा "पुरुषसूक्त" में (यजुः० ३१)। तथा "**पुरं यो ब्राह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते**" (अथर्व० १०.२.१८)। "**पुरुषविशेष ईश्वरः**" (योग० १.२४)। तथा "**पुरुषोत्तमः**" (गीता)। मानुष-पुरुष और परमेश्वर-पुरुष दोनों पुरुषपद वाच्य हैं। इस साधर्म्य के कारण मानुष-पुरुष के अङ्गों का आरोप परमेश्वर-पुरुष में हुआ है। मानुष-पुरुष के भिन्न-भिन्न अङ्गों का सम्बन्ध भिन्न-भिन्न कार्यों के साथ है। नासिका द्वारा प्राणवायु प्रवाहित होती है। चक्षु से चक्षु की किरणें या ज्योति, हृदय से रक्त, गुर्दों तथा मूत्राशय से मूत्र, लिङ्ग से वीर्य प्रवाहित होता है। इसी प्रकार मस्तिष्क में ऋत, श्रद्धा, व्रतनिष्ठता, सत्य-विचार आदि की स्थिति है। अतः परमेश्वर पुरुष में अङ्गों का

---

१. सबको अपने-अपने नियत स्थान में तथा व्यवस्था में बाँधनेवाला सर्वाधार ब्रह्म।

आरोप कर, उसके किस-किस अङ्ग से क्या क्या कार्य हो रहा है, इस प्रकार के प्रश्न मन्त्रों में किये गये हैं। परन्तु उन अङ्गों का कथन इन मन्त्रों में नहीं हुआ जिनसे कि ये कार्य हो रहे हैं। परमेश्वर के अङ्ग हैं नहीं, अतः उनका कथन भी नहीं हुआ। अथवा अङ्ग का अभिप्राय है भिन्न-भिन्न सामर्थ्य। यजुर्वेद (४०.१०-१३) में परमेश्वर पुरुष के मुखादि अङ्गों का कथन हुआ है परन्तु "व्यकल्पयन्" और "अकल्पयन्" (१०, १३) द्वारा यह केवल कल्पना मात्र ही है। अथवा ये अङ्ग हैं भिन्न-भिन्न सामर्थ्य, **कृपू सामर्थ्ये** (भ्वादिः)]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्**॥

कस्मा॒दङ्गा॒द्दीप्यते अ॒ग्निर॑स्य॒ कस्मा॒दङ्गा॒त्पवते मा॒त॒रिश्वा॑।

कस्मा॒दङ्गा॒द्वि मि॑मी॒तेधि॒ च॒न्द्रमा॑ म॒ह स्क॒म्भस्य॒ मिमा॑नो॒ अङ्ग॑म्॥ २॥

अर्थ—(अस्य) इसके (कस्मात् अङ्गात्) किस अङ्ग या सामर्थ्य से (अग्निः दीप्यते) अग्नि प्रदीप्त होती है, (कस्मात् अङ्गात्) किस अङ्ग या सामर्थ्य से (मातरिश्वा) अन्तरिक्षस्थ वायु (पवते) गति करती है। (कस्मात् अङ्गात्) किस अङ्ग या सामर्थ्य से (चन्द्रमाः) चन्द्रमा (अधि विमिमीते) मापता है, (महः स्कम्भस्य) महा-स्कम्भ के (मिमानः अङ्गम्) अङ्ग या सामर्थ्य को मापता हुआ।

[चन्द्रमा पश्चिम दिशा से उदित होता है, और प्रतिरात्रि पूर्वदिशा की ओर क्रमशः बढ़ता जाता है, मानो वह क्रमशः आगे-आगे बढ़ता हुआ स्कम्भ की महत्ता को मापता है। "**मातरिश्वा=मातरि अन्तरिक्षे श्वसिति, मातरि आश्वनितीति वा, वायुः**" (निरुक्त ७.७.२६), मातरिश्वा वायु है, जो कि मातृरूप अन्तरिक्ष में श्वास-प्रश्वास की क्रिया कर रही है, या श्वास-प्रश्वास कराती है, अथवा मातृरूप अन्तरिक्ष में "आशु" शीघ्र, "अनिति" प्राणप्रदा हो रही है "**अन् प्राणने**" (अदादिः)। अथवा मातरिश्वा=मातरि+श्वा (श्वि=**टुओश्वि गतिवृद्ध्योः**, भ्वादिः), जो अन्तरिक्ष में गति करती है, और प्रवृद्ध होती है वह, वायु। अन्तरिक्ष को माता कहा है, क्योंकि अन्तरिक्ष में मेघ आदि का निर्माण होता है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

क॒स्मि॒न्नङ्गे॑ तिष्ठति॒ भूमि॑रस्य॒ क॒स्मि॒न्नङ्गे॑ तिष्ठत्य॒न्तरि॑क्षम्।

क॒स्मि॒न्नङ्गे॑ तिष्ठ॒त्याहि॑ता॒ द्यौः क॒स्मि॒न्नङ्गे॑ तिष्ठ॒त्युत्त॑रं दि॒वः॥ ३॥

अर्थ—(अस्य) इसके (कस्मिन् अङ्गे) किस अङ्ग या सामर्थ्य में (भूमिः तिष्ठति) भूमि स्थित है, (कस्मिन् अङ्गे) किस अङ्ग या सामर्थ्य में (अन्तरिक्षम् तिष्ठति) अन्तरिक्ष स्थित है। (कस्मिन् अङ्गे) किस अङ्ग या सामर्थ्य में (आहिता द्यौः) जड़ा हुआ द्युलोक (तिष्ठति) स्थित है, (कस्मिन् अङ्गे) किस अङ्ग या सामर्थ्य में (दिवः) द्युलोक से (उत्तरम्) ऊपर का भाग (तिष्ठति) स्थित है[1]।

[उत्तरम्="**येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा, येन स्वः स्तभितं येन नाकः। यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः, कस्मै देवाय हविषा विधेम**" (यजुः० ३२.६) में द्यौः, पृथिवी, स्वः, नाकः, अन्तरिक्षम्—ये ५ लोक कहे हैं। "दिवः उत्तरम्" में "उत्तरम्" द्वारा "स्वः और नाकः" प्रतीत होते हैं। नाकः में "साध्यदेव" वास करते हैं (यजुः० ३१.१६)]।

---

१. भूमि आदि आकाश में निराधार कैसे स्थित हैं—अतः आश्चर्य में प्रश्नकर्त्ता, निज मन में प्रश्न करता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

क्व प्रेप्सन्दीप्यत ऊर्ध्वो अग्निः क्व प्रेप्सन्पवते मातरिश्वा।

यत्र प्रेप्सन्तीरभियन्त्यावृतः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥ ४॥

अर्थ—(क्व) कहाँ (प्रेप्सन्) जाना चाहती हुई (अग्निः) अग्नि (ऊर्ध्वः) ऊपर उठी ज्वाला में (दीप्यते) प्रदीप्त होती है, जलती है, (क्व) कहाँ (प्रेप्सन्) जाना चाहती हुई (मातरिश्वा) वायु (पवते) बहती है। (यत्र) जहाँ (प्रेप्सन्तीः) जाना चाहते हुए (आवृतः) जलभंवर (अभि यन्ति) घूमते हुए जाते हैं, (तम्) उस (स्कम्भम् ब्रूहि) [हे प्रश्न करने वाले!] तू स्कम्भ कह। (सः) वह (कतमः स्विद् एव) अतिशय सुखस्वरूप ही है, [उसमें दुःख का लेश भी नहीं] वह आनन्दरूप है।

[मातरिश्वा, देखा मन्त्र (२)। कतमः स्विद्=अथवा "वह कौन सा ही है? उसे स्कम्भ कह"]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

क्वार्धमासाः क्व यन्ति मासाः संवत्सरेण सह संविदानाः।

यत्र यन्त्यृतवो यत्रार्तवाः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥ ५॥

अर्थ—(संवत्सरेण सह) संवत्सर के साथ (सं विदानाः) ऐकमत्य को प्राप्त हुए (अर्धमासाः) आधेमास (क्व) कहां, (मासाः) और मास (क्व) कहाँ (यन्ति) जा रहे हैं। (यत्र) जहाँ (ऋतवः) ऋतुएँ, (यत्र) जहाँ (आर्तवाः) ऋतुसमूह (यन्ति) जा रहे हैं (स्कम्भम् तम् ब्रूहि, कतमः स्विद् एव सः) अर्थ देखो (मन्त्र ४)।

[आर्तवाः=ऋतु समूह अर्थात् उत्तरायण तथा दक्षिणायन के दो "मासषट्क"। मासों का वर्णन मन्त्र के पूर्वार्ध में हो चुका है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

क्व प्रेप्सन्ती युवती विरूपे अहोरात्रे द्रवतः संविदाने।

यत्र प्रेप्सन्तीरभियन्त्यापः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥ ६॥

अर्थ—(युवती) युवा (विरूपे) भिन्न-भिन्न रूपों वाले (अहोरात्रे) दिन-रात (सं विदाने) ऐकमत्य को प्राप्त हुए अर्थात् परस्पर मिले हुए (क्व) कहाँ (प्रेप्सन्तीः) जाने की इच्छा वाले (द्रवतः) गति कर रहे हैं, दौड़ रहे हैं। (यत्र) जहाँ (प्रेप्सन्तीः) जाना चाहते हुए (आपः) जल (अभियन्ति) जा रहे हैं (स्कम्भम् तम् ब्रूहि कतमः स्विद् एव सः) अर्थ देखो (मन्त्र ४)।

[दिन-रात सदा युवा हैं, सृष्टि के आरम्भ से गति कर रहे हैं, थकावट अनुभव नहीं करते, अतः सदा युवा हैं। इनमें दिन तो शुक्ल है और रात्रि कृष्णवर्णा है, अतः ये विरूप हैं। आपः=नदियों, स्रोतों के जल, सामुद्रिक लहरों के जल, वाष्पीभूत और मेघीय तथा वर्षा के जल]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**परोष्णिक्**॥

यस्मिन्त्स्तब्ध्वा प्रजापतिर्लोकान्त्सर्वाँ अधारयत्।

स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥ ७॥

अर्थ—(यस्मिन्) जिसमें (स्तब्ध्वा) टिक कर (प्रजापतिः) प्रजाओं का पति, (सर्वान् लोकान्)

सब लोकों को (अधारयत्) धारण कर रहा है (स्कम्भम्, तम्, ब्रूहि, कतमः स्विद्, एव, सः) अर्थ देखो (मन्त्र ४)।

[स्कम्भः, प्रजापतिः=स्कम्भ महाशक्ति है, सर्वोपरि शक्ति है (मन्त्र २)। यह समग्रजगत्, प्रकृति, और जीवात्माओं को अपने-अपने कार्यों में वृद्ध किये हुए है, (**स्कभि प्रतिबन्धे,** भ्वादिः)। प्रजापति है वही स्कम्भ, जबकि वह सर्जन काल में प्रजोत्पन्न करता और उसका धारण करता है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्**॥

यत्प॑र॒मम॑व॒मं यच्च॑ मध्य॒मं प्र॒जाप॑तिः ससृ॒जे वि॒श्वरू॑पम्।

किय॑ता स्क॒म्भः प्र वि॑वेश॒ तत्र॒ यन्न प्रावि॑श॒त्किय॒त्तद्ब॑भूव॥ ८॥

अर्थ—(यत्) जो (परमम्) अति दूर, (अवमम्) नीचे, (यत् च) और जो (मध्यमम्) मध्यस्थान में (विश्वरूपम्) नानारूप [जगत्] (प्रजापतिः ससृजे) प्रजाओं के पति ने सृष्ट किया है, रचा है, (तत्र) उसमें (कियता) कितने परिमाण से (स्कम्भः प्रविवेश) स्कम्भ प्रविष्ट हुआ है, (यत् न) जितने में नहीं (प्राविशत्) प्रविष्ट हुआ (तद्) वह (कियत् बभूव) कितना है।

[यजुर्वेद में कहा है कि "**पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि**" (३१.३), अर्थात् सब भूत-भौतिक जगत्, उस चतुष्पात् पुरुष का एकपाद मात्र है, त्रिपाद् रूप में वह निज द्योतमानरूप में विद्यमान रहता है, जिसका कि मरणधर्मा जगत् के साथ सम्बन्ध नहीं होता। यह अमृतरूप है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

किय॑ता स्क॒म्भः प्र वि॑वेश भू॒तं किय॑द्भवि॒ष्यद॒न्वाशये॑स्य।

एकं॒ यदङ्ग॒मकृ॑णोत्सहस्र॒धा किय॑ता स्क॒म्भः प्र वि॑वेश॒ तत्र॑॥ ९॥

अर्थ—(कियता) कितने अंश से (स्कम्भः, भूतम्, प्रविवेश) स्कम्भ ने "पूर्वभूत" जगत् में प्रवेश किया, (अस्य) इस स्कम्भ का (कियत्) कितना अंश (भविष्यत्) भावी जगत् के लिए (अन्वाशये) शयन किये रहता है। (यद् एकम्, अङ्गम्) जिस एक अङ्ग [प्रकृति] को (सहस्रधा) हजारों प्रकार में [स्कम्भ ने] (अकृणोत्) विभक्त किया, (तत्र) उसमें (स्कम्भः) स्कम्भ (कियता) कितने अंश से (प्र विवेश) प्रविष्ट हुआ।

[मन्त्र में पूर्वभूत जगत् तथा भावी जगत् का, तथा प्रलय में प्रकृति का वर्णन हुआ है। भावी जगत् के उत्पादन में स्कम्भ में भावी जगत् का वर्णन शयनावस्था में किया है। शयन किये व्यक्ति में जाग्रत्-अवस्था के निमित्त शक्ति, शयन किये रहती है, वह अभावरूप नहीं होती। इसी प्रकार भावी जगत् की उत्पत्ति के लिए स्कम्भ में शक्ति शयन किये होती है, अभावरूप नहीं होती। इस द्वारा जगत् की उत्पत्ति, निरन्तर अर्थात् एक के पश्चात् दूसरी (अनु), सदा चलती रहती है। यह सूचित किया है।

प्रत्येक सृष्टि "**यथापूर्वमकल्पयत्**" (ऋ० १०.१९०.३) के सिद्धान्त के अनुसार होती रहती है। तथा जितने काल तक एक-सृष्टि रहती है, उतने ही काल तक उसका प्रलय भी रहता है। सृष्टिकाल को "ब्राह्मदिन" और उसके प्रयलकाल को "ब्राह्मीरात्री" कहते हैं। इस दिन और रात्री का काल समान होता है।

"**पादोऽस्य विश्वा भूतानि**" (यजुः० ३१.३) के अनुसार, प्रत्येक पूर्वभूत या भूतपूर्व जगत् में,

तथा प्रत्येक भावी जगत् में, और प्रलयावस्था की प्रकृति में, परमेश्वर अर्थात् स्कम्भ, एकपाद् रूप में ही प्रविष्ट रहता है, यह अभिप्राय मन्त्र में प्रतीत होता है। प्रकृति को मन्त्र में "अङ्ग" कहा है। शयनावस्था में, तथा जाग्रत् अवस्था में, अङ्गों का संचालन जीवात्मा की स्थिति के कारण होता है, इसी प्रकार "अङ्गरूप प्रकृति" का संचालन भी स्कम्भात्मा के अनुसार होता है, यह अङ्गपद द्वारा प्रतिपादित किया है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**उपरिष्टाद् बृहती**॥

यत्र लोकांश्च कोशांश्चापो ब्रह्म जना विदुः।
असच्च यत्र सच्चान्त स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥ १०॥

अर्थ—(आपः जनाः) आप्त जन (यत्र) जिसमें (लोकान् च) लोकों को और (कोशान् च) कोशों को, (ब्रह्म) तथा अन्न को (विदुः) जानते हैं, (यत्र अन्तः) जिसके भीतर (असत् च) अनभिव्यक्तावस्था की प्रकृति को या सूक्ष्म जगत् को, (सत् च) और अभिव्यक्त स्थूल जगत् को [जानते हैं] (तम्) उसे तू (स्कम्भम्) स्कम्भ (ब्रूहि) कह, (कतमः स्विद् एव सः) अर्थ देखो (मन्त्र ४)।

["आपः" प्रथमा विभक्ति में है, अतः "जनाः" का विशेषण है। "**ब्रह्म अन्ननाम**" (निघं० २.७)। लोकान्=पृथिव्यादि लोक। कोशान्=इन लोकों के आवरक, जैसे कि पृथिवी का आवरक है वायुमण्डल। ब्रह्म अथवा वेद, ब्रह्मदेव (अथर्ववेद), या ब्रह्माण्ड]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**उपरिष्टाज्ज्योतिर्जगती**॥

यत्र तपः पराक्रम्य व्रतं धारयत्युत्तरम्। ऋतं च यत्र श्रद्धा चापो ब्रह्म समाहिताः
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेवः सः॥ ११॥

अर्थ—(यत्र) जिसमें (तपः) तप (पराक्रम्य) पराक्रम करके (उत्तरम्) उत्कृष्ट (व्रतम्) व्रत को (धारयति) धारण करता है, (यत्र) जिसमें (ऋतम् च) नियम और (श्रद्धा) सत्य धारण करने की प्रवृत्ति, (आपः) जल [आप्त जन (मन्त्र १०) या व्याप्त प्रकृति] तथा (ब्रह्म) अन्न (समाहिताः) इकट्ठे होकर स्थिर हैं (तम्) उसे (स्कम्भम्) स्कम्भ (ब्रूहि) तू कह (कतमः, स्विद्, एव सः) अर्थ देखो मन्त्र (४)।

[अभिप्राय यह है कि "तपोमय जीवन के बिना उत्कृष्ट व्रतों का पालन नहीं हो सकता"]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**उपरिष्टाज्ज्योतिर्जगती**॥

यस्मिन्भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता।
यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्यो वातस्तिष्ठन्त्यार्पिताः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥ १२॥

अर्थ—(यस्मिन्) जिसमें (भूमिः, अन्तरिक्षम्) भूमि, अन्तरिक्ष (यस्मिन्-अधि) जिसमें (द्यौः) द्युलोक (आहिता) स्थित है (यत्र) जिसमें (अग्निः चन्द्रमाः, सूर्यः, वातः) अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, वायु (आर्पिताः) समर्पित हुए (तिष्ठन्ति) स्थित हैं (तम् स्कम्भम् ब्रूहि) उसे तू स्कम्भ कह (कतमः, स्वित्, एव, सः) अर्थ देखो मन्त्र (४)।

[मानो भूमि आदि ने स्कम्भ के प्रति अपने-आप को समर्पित किया हुआ है, इसलिए उसके निर्देश में ये सब चल रहे हैं]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**परोष्णिक्**॥

यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अङ्गे सर्वे समाहिताः। स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥ १३॥

अर्थ—(यस्य अङ्गे) जिसके अङ्ग में (सर्वे) सब (त्रयस्त्रिंशत् देवाः) ३३ देव (समाहिताः) इकट्ठे होकर स्थित हैं (तम्) उसे (स्कम्भम्, ब्रूहि) तू स्कम्भ कह (कतमः, स्वित् एव सः) अर्थ देखो मन्त्र (४)।

[३३ देवताओं के सम्बन्ध में कहा है कि इन्हें "एके" कोई ही ब्रह्मवेत्ता जानते हैं (अथर्व० १०.७.२७)। यजुर्वेद ७.१९ में कहा है कि "**देवा दिवि एकादश स्थ, पृथिव्याम् एकादश स्थ, अप्सुक्षितः एकादश स्थ**"। इससे ज्ञात होता है कि ३३ देवताओं में ११ तो द्युलोकस्थ हैं, ११ पृथिवीस्थ हैं, और ११ अप्सु अर्थात् अन्तरिक्ष में स्थित हैं। "**आपः अन्तरिक्षनाम**" (निघं० १.३)। बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा है कि "**कतमे ते त्रयस्त्रिंशदिति, अष्टौ वसवः, एकादश रूद्राः, द्वादशादित्याः, ते एकत्रिंशत्, इन्द्रश्च प्राजापतिश्च त्रयस्त्रिंशद् इति**" (अध्याय ३, ब्राह्मण ९, काण्डिका २)। अर्थात् ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, १ इन्द्र, १ प्रजापति—ये ३३ देव हैं। सम्भवतः रुद्र से विद्युत्, और प्रजापति से मेघ अभिप्रेत हो। क्योंकि ३३ देवों को प्रकृतिजन्य कहा है (अङ्गे गात्रा) (अथर्व० १०.७.२७)]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**उपरिष्टाद् बृहती**॥

यत्र ऋषयः प्रथमजा ऋचः साम यजुर्मही।
एकर्षिर्यस्मिन्नार्पितः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥ १४॥

अर्थ—(यत्र) जिसमें (प्रथमजाः ऋषयः) प्रथमोत्पन्न ऋषि, तथा (ऋचः, साम यजुः, मही) ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, और मही अर्थात् महती अथर्ववेद वाणी [समाहिताः] (मन्त्र १३) समाहित हैं, सम्यक्रूप में स्थित रहते हैं, तथा (यस्मिन्) जिसमें (एकर्षिः) प्रधान[१]-ऋषि अथर्वा (आर्पितः) समर्पित है, (तम्) उसे (स्कम्भम्) स्कम्भ (ब्रूहि) तू कह, (कतमः, स्वित्, एव, सः) अर्थ देखो (मन्त्र ४)।

[ऋषयः=सम्भवतः चार ऋषि, जिनके द्वारा चार वेद प्रकट हुए। समग्र ७ वें सूक्त का द्रष्टा ऋषि है "अथर्वा", अतः सम्भवतः एकर्षि द्वारा "अथर्वा" ऋषि ही अभिप्रेत हो। अथर्ववेद "अथर्वा" द्वारा प्रकट हुआ हो, अतः अथर्वा[२] को एकर्षि कहा है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**उपरिष्टाज्ज्योतिर्जगती**॥

यत्रामृतं च मृत्युश्च पुरुषेधि समाहिते।
समुद्रो यस्य नाड्यः पुरुषेधि समाहिताः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥ १५॥

अर्थ—(यत्र पुरुषे, अधि) जिस परमेश्वर-पुरुष में (अमृतम्, च) मोक्ष और (मृत्युः च) जन्म-मरण की व्यवस्था (समाहिते) स्थित है, (समुद्रः) [नदियों समेत] समुद्र (यस्य) जिसका (नाड्यः)

---

१. **एकोऽन्यार्थे प्रधाने च प्रथमे केवले तथा। साधारणे समानेऽल्पे संख्यायां च प्रयुज्यते।** अथर्वा को 'प्रधान' इसलिए कहा है कि एतत्सम्बन्धी अथर्ववेद में जितनी विद्याओं का वर्णन है उतनी विद्याओं का वर्णन अन्य तीन वेदों में नहीं है।

२. मन्त्रों में अथर्वा-ऋषि के कथन से वेद में ऐतिहासिक वर्णन नहीं जानना चाहिए। वेदाविर्भाव के साथ जिन "प्रथमजाः ऋषयः" का वर्णन हुआ है, प्रत्येक सृष्टि में इन्हीं नामवाले चार ऋषियों द्वारा वेदाविर्भाव होता रहता है। अतः ये ऋषि-नाम नित्य हैं।

नाड़ी-संस्थान है, जो कि (पुरुषे अधि) परमेश्वर पुरुष में (समाहिताः) स्थित है, (तम्) उसे (स्कम्भम्) स्कम्भ (ब्रूहि) तू कह। (कतमः स्वित् एव, सः) अर्थ देखो (मन्त्र ४)।

[पुरुषे=परमेश्वर-पुरुष, जो कि ब्रह्मपुर में निवास करता है, (अथर्व० १०.२.२८)। परमेश्वर-पुरुष अमृतत्व अर्थात् मोक्ष का भी ईशान है, यथा "**उतामृतत्वस्येशानः**" (यजुः० ३१.२)। नाड्यः=नाड़ी-संस्थान अर्थात् मानुष-शरीरस्थ रक्त-वाहिनी नाड़ियाँ। वेद में हृदय को "समुद्र" भी कहते हैं। अतः "समुद्रः" में एक वचन, और "नाड्यः" में बहुवचन के प्रयोगों द्वारा हृदय-और रक्तवाहिनी-नाड़ियाँ अभिप्रेत हैं। पृथिवीस्थ समुद्र-और-नदियाँ, मानुष-शरीरस्थ हृदय-और-नाड़ियाँ रूप कही हैं। स्कम्भ को पुरुष कहा है। अतः पृथिवीस्थ समुद्र-और नदियों को, मानुष-पुरुष स्थित समुद्र-और नाड़ियाँ रूप कहा है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**उपरिष्टाद् बृहती**॥

यस्य चतस्रः प्रदिशो नाड्य१स्तिष्ठन्ति प्रथमाः।

यज्ञो यत्र पराक्रान्तः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥ १६॥

अर्थ—(यस्य) जिसकी (चतस्रः प्रदिशः) चार दिशाएँ (प्रथमाः) [चार] मुख्य (नाड्यः) नाड़ी रूप में (तिष्ठन्ति) स्थित हैं। (यत्र) जिसमें (यज्ञः) यज्ञ ने (पराक्रान्तः) निज पराक्रम किया है, (तम्, स्कम्भम्, ब्रूहि) उसे स्कम्भ तू कह (कतमः, स्वित्, एव, सः) अर्थ देखो (मन्त्र ४)।

[मानुष शरीरस्थ चार मुख्य नाड़ियाँ, मानुष-हृदय सम्बन्धी हैं। हृदय के चार कोष्ठक होते हैं, (१) Right auricle, (२) Right ventricle, (३) Left auricle, (४) Left ventricl. Right auricles में शरीर की सिराओं का गन्दा रक्त आता है। यह दो सिराओं द्वारा आता है, जिन्हें कि Superior vena cava तथा Inferior vena cava कहते हैं। शरीर के अधोभाग से गन्दा रक्त, Inferior vena cava में इकट्ठा होकर Right auricle में आ गिरता है। शरीर के ऊपर के भाग से भी गन्दा रक्त, Superior vena cava में इकट्ठा होकर Right auricle में आ गिरता है। Right auricle जब गन्दे रक्त से भर जाता है तब यहां से गन्दा रक्त Right ventricle में जाता है। इसके भर जाने पर नाड़ी द्वारा गन्दारक्त फेफड़ों में जाता है। फेफड़ों में शुद्ध होकर शुद्धरक्त अन्य एक नाड़ी द्वारा Left auricle में आता है। यहाँ से शुद्धरक्त Left Ventricle में जाता है। यहाँ से शुद्धरक्त Aort मुख्य नाडी द्वारा समग्र शरीर में जाता है। इस प्रकार हृदय में चार मुख्य नाडियाँ होती हैं, (१) Superior vena cava, (२) Inferior vena cava; (३) गन्दे रक्त को फेफड़ों में भेजने वाली नाड़ी Pulmonary Artery, (४) शुद्ध रक्त को हृदय में लाने वाली नाड़ी Pulmonory vein ये चार नाड़ियाँ मुख्य नाडियाँ हैं जोकि "चतस्रः प्रदिशः" की प्रतिरूपिणी हैं]।

हृदय के चार कोष्ठकों का कृत्रिम चित्र—

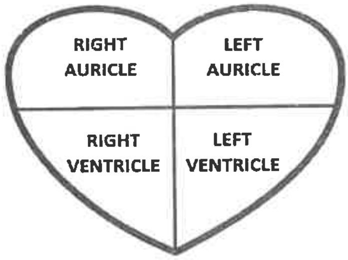

ऋषि:—**अथर्वा** ॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**षट्पदा जगती** ॥

ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम्। यो वेद परमेष्ठिनं यश्च वेद प्रजापतिम्।
ज्येष्ठं ये ब्राह्मणं विदुस्ते स्कम्भमनुसंविदुः॥ १७॥

अर्थ—(ये) जो (पुरुषे) पुरी में शयन करने वाले जीवात्मा में (ब्रह्म विदुः) ब्रह्म को जानते हैं, (ते) वे (परमेष्ठिनम्, विदुः) परमेश्वर के परमेष्ठीस्वरूप को जानते हैं। (यः) जो (परमेष्ठिनम्, वेद) उसके परमेष्ठी स्वरूप को जानता है (यः च) और जो (प्रजापतिम् वेद) उसके प्रजापति स्वरूप को जानता है, तथा (ये) जो (ब्राह्मणम्) ब्रह्मवेद [अथर्ववेद] द्वारा प्रतिपादित उसके (ज्येष्ठम्) सर्वज्येष्ठ स्वरूप को (विदुः) जानते हैं, (ते) वे (अनु) तत्पश्चात् (स्कम्भम्) स्कम्भ को (संविदुः) सम्यक् रूप में जानते हैं।

[प्रकृति-और-पुरुष-[जीवात्मा] में, परम है पुरुष [जीवात्मा], इस परम-पुरुष में स्थित परमेश्वर परमेष्ठी नाम वाला है। तथा प्रकृति में स्थित हुआ परमेश्वर जब प्रकृतिजन्य प्रजा का स्रष्टा होता है, तब वह प्रजापति-स्वरूप है। परमेष्ठी, प्रजापति तथा साथ ही उसको सबसे ज्येष्ठ जानना—इन तीन स्वरूपों से विशिष्ट परमेश्वर स्कम्भ है, स्कम्भपदवाच्य है। ब्राह्मणम्=अथवा "ब्रह्म" स्वार्थे "अण् प्रत्ययः"]।

ऋषि:—**अथर्वा** ॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाद् बृहती** ॥

यस्य शिरो वैश्वानरश्चक्षुरङ्गिरसोऽभवन्।
अङ्गानि यस्य यातवः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥ १८॥

अर्थ—(वैश्वानरः) सूर्य (यस्य) जिसका (शिरः) सिर है, (अङ्गिरसः) तथा सूर्य की रश्मियाँ (चक्षुः) आँख की रश्मियाँ (अभवन्) हुई हैं। (यातवः) द्युलोक के गतिमान् चन्द्र, तारा आदि (यस्य) जिसके (अङ्गानि) अंग हैं, (तम्) उसे (स्कम्भम्) स्कम्भ (ब्रूहि) तू कह, (कतमः, स्वित्, एव, सः) अर्थ देखो (मन्त्र ४)।

[यातवः (अथर्व० १३। सूक्त ४। पर्याय ३। मन्त्र ६)। परमेश्वर को पुरुष कल्पित करके उसके अङ्गों की कल्पना की गई है, यह जताने के लिए कि जैसे मानुष-पुरुष के अङ्गों में प्रेरणा जीवात्मा द्वारा होती है, वैसे ब्रह्माण्ड में भी प्रेरणा महानात्मा द्वारा हो रही है]।

ऋषि:—**अथर्वा** ॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाद् बृहती** ॥

यस्य ब्रह्म मुखमाहुर्जिह्वां मधुकशामुत।
विराजमूधो यस्याहुः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥ १९॥

अर्थ—(यस्य मुखम्) जिसका मुख (ब्रह्म) ब्रह्मवेद है, अथर्ववेद है, (आहुः) ऐसा कहते हैं, (उत) और (मधुकशाम्) वेदत्रयीरूप मधुर वेदवाणी (जिह्वाम्) जिह्वा है, ऐसा कहते हैं। (विराजम्) प्रकृति को (यस्य) जिसका (ऊधः) ऊधः अर्थात् दुग्धाधार अङ्ग (आहुः) कहते हैं, (तम्) उसे (स्कम्भम्) स्कम्भ (ब्रूहि) तू कह, (कतमः, स्वित्, एव, सः) अर्थ देखो (मन्त्र ४)।

[मधुकशा=मधु+कशा ("**कशा वाङ्नाम**" निघं० १.११)। ऊधः=udder। "**वहति यत् इति ऊधः, गवादेर्दुग्धस्थानं वा**" (उणा० ४.१९४, महर्षि दयानन्द), यह ऊधः दुग्ध का वहन करता है। शब्दोच्चारण में मुखस्थ तालु आदि अवयवों और जिह्वा का परस्पर सम्बन्ध अविनाभावेन होता है, इसी

प्रकार यज्ञनिष्पत्ति आदि में ब्रह्मवेद और शेष तीन वेदों का भी परस्पर सम्बन्ध अविनाभावेन है, यह मन्त्र द्वारा दर्शाया गया है। इसी भाव के द्योतन के लिए (मन्त्र १४) में, ऋचः, साम, यजुः, और मही (महती वाणी अथर्ववेद) इन चारों का इकट्ठा वर्णन हुआ है। मन्त्र (१४) में "यत्र ऋषयः प्रमथजाः" इस बहुवचन द्वारा तीन ऋषियों का, और चौथे ऋषि का वर्णन "एकर्षि" पद द्वारा हुआ है, और इन चार ऋषियों के साथ ही इन द्वारा आविर्भूत चार वेदों का भी कथन हुआ है। प्रकृति है विराज्-रूपी-गौः। इससे परमेश्वर ने जगत् रूपी दूध दोहा है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**उपरिष्टाज्ज्योतिर्जगती**॥

यस्मादृचो अपातक्षन्यजुर्यस्मादपाकषन्।
सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखं स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥ २०॥

अर्थ—(यस्मात्) जिस परमेश्वर से [ऋषियों ने] (ऋचः) ऋचाओं [ऋग्वेद] को (अपातक्षन्) प्राप्त किया, (यस्मात्) जिस परमेश्वर से (यजुः) यजुर्वेद को (अपाकषन्) प्राप्त किया। (सामानि) सामवेद के मन्त्र (यस्य) जिस परमेश्वर के (लोमानि) लोम सदृश हैं। (अथर्वाङ्गिरसः) अङ्गों के तथा ओषधियों के रसों का वर्णन करने वाला अथर्ववेद (मुखम्) जिसका मुखवत् मुख्य है (तम्) उसे (स्कम्भम्) स्कम्भ (ब्रूहि) तू कह, (कतमः स्वित्, एव सः) अर्थ देखो (मन्त्र ४)।

[अपातक्षन्=इस क्रियापद में तक्षण का कथन हुआ है। तक्षा अर्थात् तर्खान तक्षण द्वारा काष्ठ से अभीष्ट वस्तु को प्राप्त करता है इसी प्रकार ऋषि या तपस्वी तपश्चर्या आदि द्वारा, परमेश्वर से ऋग्वेद को प्राप्त करते हैं।

अपाकषन्=इस क्रियापद में "कष" धातु है जिसका अर्थ है "हिंसा" (भ्वादिः)। ऋषि या तपस्वी, निज एषणाओं का क्षय करके, यजुर्वेद को परमेश्वर से प्राप्त करते हैं। यजुर्वेद काम्य कर्मकाण्ड का वर्णन कर, ४० वें अध्याय में अध्यात्म तत्त्वों का वर्णन करता है। ऋषि या तपस्वी, अध्यात्म जीवन में, निज एषणाओं का क्षय (कष् हिंसायाम्) कर यजुर्वेद को प्राप्त करते हैं। सामवेद भक्तिगानों का वर्णन करता है, जिन गानों द्वारा प्रायः लोमहर्षण हो जाता है। अतः सामों को लोमानि कहा है। अथर्ववेद में नाना ऐहिक तथा पारलौकिक विषयों का अधिक वर्णन है इसलिए इसे मुख अर्थात् मुख्यवेद कहा है। अङ्गिराः—**अङ्गानां रसः** (बृहद्० उप० १.३.९)]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**बृहतीगर्भाऽनुष्टुप्**॥

असच्छाखां प्रतिष्ठन्तीं परममिव जना विदुः।
उतो सन्मन्यन्तेवरे ये ते शाखामुपासते॥ २१॥

अर्थ—(असत्-शाखाम्) शाखाविहीन अर्थात् उत्पत्तिरहित, (प्रतिष्ठन्तीम्) तथा कार्योत्पादनमुखी होकर प्रस्थान अर्थात् क्रिया करने वाली प्रकृति को (जनाः) कई लोग (परमम्, इव) परम-तत्त्व के सदृश (विदुः) जानते हैं। (उतो) और (ये) जो (अवरे) अवरकोटि के जन हैं, (ते) वे (सत्) अभिव्यक्त-जगत् को परम-तत्त्व (मन्यन्ते) मानते हैं, और (शाखाम्) प्रकृति की शाखाओं की (उपासते) उपासना करते हैं।

[प्रकृति की दो अवस्थाएँ हैं, (१) प्रकृत्यवस्था, अर्थात् साम्यावस्था। (२) और विकृत्यवस्था

अर्थात् विषमावस्था। प्रकृत्यवस्था में प्रकृतिरूपबीज न अंकुरित होता, और शाखाओं वाला होता है। वैज्ञानिक इस प्रकृति को ही "स्वतः परिणामशीला" मानते हैं, और कहते हैं कि प्रकृति, किसी ज्ञानी-प्रेरक के विना ही स्वयमेव विविध-जगत् के रूप में, अर्थात् विषमावस्था में परिणत हुई है। वे प्रकृति को ही परम-तत्त्व के सदृश मानते हैं। परन्तु उन वैज्ञानिकों की अपेक्षा जो अवरकोटि के लोग हैं वे अभिव्यक्त जगत् को परम-तत्त्व मान कर, प्रकृति की शाखाओं की ही उपासना करते रहते हैं। चाँद, सूर्य, मूर्ति आदि अभिव्यक्त पदार्थ शाखारूप हैं, वे इन शाखाओं की उपासना में मस्त रहते हैं]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**उपरिष्टाज्ज्योतिर्जगती**॥

यत्रादित्याश्च रुद्राश्च वसवश्च समाहिताः। भूतं च यत्र भव्यं च
सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिताः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥ २२॥

अर्थ—(यत्र) जिसमें (आदित्याः च, रुद्राः च, वसवः च) आदित्य, रुद्र, और वसु, (समाहिताः) स्थित हैं, (भूतम् च, भव्यं च) भूत और भावी जगत् (सर्वे लोकाः) तथा सब लोक (प्रतिष्ठिताः) स्थित हैं, (तम्) उसे (स्कम्भम्) स्कम्भ (ब्रूहि) तू कह, (कतमः, स्वित्, एव सः) देखो अर्थ (मन्त्र ४)।

[व्याख्या के लिए देखा (मन्त्र १३)]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा निधिं रक्षन्ति सर्वदा।
निधिं तमद्य को वेद यं देवा अभिरक्षथ॥ २३॥

अर्थ—(त्रयस्त्रिंशद् देवाः) ३३ देव (यस्य निधिम्) जिसकी निधि की (सर्वदा) सदा (रक्षन्ति) रक्षा करते हैं, (तम् निधिम्) उस निधि को, (अद्य) आज तक, (कः वेद) कौन जानता है (यम्) जिस निधि की (देवाः) हे देवो! (अभिरक्षथ) तुम रक्षा करते हो।

[निधि=जगत्। इसके रहस्य को कोई नहीं जानता है। अथवा निधि=वेद। इसके भी रहस्य को आज तक किसी ने नहीं जाना। यथा "निधिपाः"=वेदविद्या का रक्षक ब्रह्मचारी (निरुक्त २.२.३, ४)]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यत्र देवा ब्रह्मविदो ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते।
यो वै तान्विद्यात्प्रत्यक्षं स ब्रह्मा वेदिता स्यात्॥ २४॥

अर्थ—(यत्र) जहां, जिस स्थान में (ब्रह्मविदः देवाः) ब्रह्मज्ञानी या वेदज्ञानी देव (ज्येष्ठम्, ब्रह्म) ज्येष्ठ ब्रह्म की (उपासते) उपासना करते हैं, (यः) जो कोई (तान्) उन ब्रह्मज्ञानियों या वेदज्ञों को (प्रत्यक्षम्) साक्षात् (विद्यात्) प्राप्त होता है, (सः) वह (वै) वस्तुतः (ब्रह्मा) ब्रह्मा (स्यात्) हो जाता है, और (वेदिता) ब्रह्मवेत्ता हो जाता है।

[उपासते=उपासना ब्रह्म की करनी चाहिए, अन्य की नहीं (मन्त्र २१)। सम्भवतः मन्त्र २३ में कथित निधि ब्रह्मरूप निधि हो। ब्रह्मा=वैदिक साहित्य में चतुर्वेदवेत्ता को ब्रह्मा कहते हैं, इसलिए "ब्रह्मविदः" का अर्थ प्रतीत होता है "वेदविदः", जिन्हें प्राप्त कर व्यक्ति चतुर्वेदविद् होकर ब्रह्मा बनता है। वेदों में ब्रह्म की ही उपासना विहित है, यथा "**यस्तं न वेद किमृचा करिष्यति**" (ऋ० १.१६४.३९)

अतः ब्रह्मविदः अर्थात् वेदविदः—ज्येष्ठब्रह्म के उपासक कहे हैं]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

बृहन्तो नाम ते देवा येसतः परि जज्ञिरे।

एकं तदङ्गं स्कम्भस्यासदाहुः परो जनाः॥ २५॥

अर्थ—(ते देवाः) वे देव (बृहन्तः) परिमाण में बड़े होते हैं (ये) जो कि (असतः परि) अनभिव्यक्त प्रकृति से (जज्ञिरे) पैदा होते हैं। (जनाः) विद्वज्जन (स्कम्भस्य) स्कम्भ के (परः) परे के (तत् एकम् अङ्गम्) उस एक अङ्ग को (असत्) अनभिव्यक्त रूप (आहुः) कहते हैं।

[प्रकृति से जो दिव्यपदार्थ पैदा होते हैं वे परिमाणों में बड़े होते हैं। पश्चात् उनके विभाजन से अल्पाल्प परिमाणों वाले अन्य दिव्यपदार्थ पैदा होते हैं, जैसे कि प्रकृति से महत्-तत्त्व पैदा हुआ, पश्चात् विराट्-अवस्था पैदा हुई फिर द्युलोक, तत्पश्चात् सूर्य और सूर्य से ग्रह, और ग्रहों से चन्द्रमा—ये उत्तरोत्तर अल्पाल्प परिमाणों वाले होते जाते हैं। असत् है प्रकृति, अनभिव्यक्ता प्रकृति। यह स्कम्भ का एक मुख्य अङ्ग है, उस प्रकृति से चन्द्रमा, सूर्य, अन्तरिक्ष, भूमि आदि भी अङ्गरूप प्रकट होते हैं (यजुः० ३१.१०-१३, २२)। परः=प्रकृतिरूपी अङ्ग—चन्द्रमा आदि अङ्गों से उत्पत्तिकाल की अपेक्षया परस्तात् काल का है; अतिदूर काल का है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यत्र स्कम्भः प्रजनयन्पुराणं व्यवर्तयत्। एकं तदङ्गं स्कम्भस्य पुराणमनुसंविदुः॥ २६॥

अर्थ—(यत्र) जिस सृष्टिकाल में (प्रजनयन्) जगत् को पैदा करता हुआ (स्कम्भः) स्कम्भ (पुराणम्) पुराण को (व्यवर्तयत्) विविध रूपों में वर्तमान करता है (तत् पुराणम्) उस पुराण को [जनाः, मन्त्र २५] वेदवेत्ता जन (स्कम्भस्य) स्कम्भ का (एकम् अङ्गम्) एक अङ्ग (अनु सं विदुः) आनुकूल्येन परस्पर सहमत होकर जानते हैं।

[पुराण=पुराकाल से वर्तमान प्रकृति। मन्त्र २५ में प्रकृति को "असत्" अनभिव्यक्तावस्था में वर्तमान कहा है, और मन्त्र २६ में उसे पुराण कहा है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अङ्गे गात्रा विभेजिरे।

तान्वै त्रयस्त्रिंशद्देवानेके ब्रह्मविदो विदुः॥ २७॥

अर्थ—(त्रयस्त्रिंशद् देवाः) ३३ देवों ने (यस्य अङ्गे) जिसके अङ्ग में से (गात्रा=गात्राणि) निज गात्रों अर्थात् स्वरूपों को (विभेजिरे) विभक्त किया है, (तान्) उन (त्रयस्त्रिंशद् देवान्) ३३ देवों को (एके) केवल या कई (ब्रह्मविदः) वेदवेत्ता या ब्रह्मवेत्ता (वै) ही (विदुः) जानते हैं।

[३३ देवों के लिए देखो मन्त्र (१३)]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

हिरण्यगर्भं परममनत्युद्यं जना विदुः।

स्कम्भस्तदग्रे प्रासिञ्चद्धिरण्यं लोके अन्तरा॥ २८॥

अर्थ—(जनाः) विद्वज्जन (परमम्) सर्वोच्च (हिरण्यगर्भम्) हिरण्यगर्भ को (अनत्युद्यम्) अनतिकथनीय (विदुः) जानते हैं। (स्कम्भः) स्कम्भ ने (अग्रे) पुराकाल में (लोके अन्तरा) लोक में (तत् हिरण्यम्) उस हिरण्य को (प्रासिञ्चत्) प्रकर्ष रूप में सींचा था।

[हिरण्य का अर्थ है सुवर्ण, सोना—धातु। ब्रह्माण्ड में सूर्यादि ज्योतिर्मय पदार्थ हिरण्यरूप हैं। स्कम्भ अर्थात् सर्वाधार परमेश्वर हिरण्यगर्भ है। क्योंकि ये सब ज्योतिर्मय सूर्यादि उसके गर्भ में विद्यमान हैं। स्कम्भ अनत्युद्य है, अनतिवदनीय है, इसके सम्बन्ध में अधिक कहा नहीं जा सकता। अनन्त गुणकर्मों के कारण अल्पज्ञ मनुष्य इसके स्वरूप को पूर्णतया कह नहीं सकते। सृष्टि की सर्जनावस्था में, किसी समय ये हिरण्यमम् अर्थात् ज्योतिर्मय सूर्यादि चमकते वायवीय रूपों में थे। शनैः शनैः ये चमकते वायवीय रूप चमकते "आपः" रूप में परिणत हुए। यह आपः रूप सर्वत्र फैला हुआ था। इसे "हिरण्यं प्रासिञ्चत्" द्वारा कथित किया है। मानो इसे स्कम्भ ने लोक में सींचा है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

स्कम्भे लोकाः स्कम्भे तपः स्कम्भेध्यृतमाहितम्।
स्कम्भं त्वा वेद प्रत्यक्षमिन्द्रे सर्वं समाहितम्॥ २९॥

अर्थ—(स्कम्भे) स्कम्भ में (लोकाः) लोक, (स्कम्भे तपः) स्कम्भ में तप, (स्कम्भे अधि) स्कम्भ में (ऋतम्) ऋत (आहितम्) स्थित है। (स्कम्भ) हे स्कम्भ! (त्वा) तुझे (प्रत्यक्षम् वेद) प्रत्यक्षरूप में मैं जानता हूँ, (इन्द्रे) तुझ इन्द्र में (सर्वम्) सब (समाहितम्) समाया हुआ है, स्थित है।

[लोकाः=तीनों लोक। तपः=ऐश्वर्य (**तप ऐश्वर्ये,** दिवादिः)। ऋतम्=सांसारिक नियम। मन्त्र में स्कम्भ को इन्द्र कहा है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

इन्द्रे लोका इन्द्रे तप इन्द्रेध्यृतमाहितम्।
इन्द्रं त्वा वेद प्रत्यक्षं स्कम्भे सर्वं प्रतिष्ठितम्॥ ३०॥

अर्थ—(इन्द्रे लोकाः) इन्द्र में लोक, (इन्द्रे तपः) इन्द्र में तप, (इन्द्रे अधि) इन्द्र में (ऋतम्) ऋत (आहितम्) स्थित है। (इन्द्रम्) हे इन्द्र! (त्वा) तुझे (प्रत्यक्षम् वेद) प्रत्यक्षरूप में मैं जानता हूँ, (स्कम्भे) स्कम्भ में (सर्वम्) सब (प्रतिष्ठितम्) प्रतिष्ठित है।

[इन्द्र को स्कम्भ कहा है। अभिप्राय यह कि इन्द्र और स्कम्भ पर्यायवाची हैं। इन्द्र है परमेश्वर, सर्वैश्वर्यवान्। स्कम्भ है परमेश्वर, सर्वाधार]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**मध्येज्योतिर्जगती**॥

नाम नाम्ना जोहवीति पुरा सूर्यात्पुरोषसः। यदजः प्रथमं संबभूव
स ह तत्स्वराज्यमियाय यस्मान्नान्यत्परमस्ति भूतम्॥ ३१॥

अर्थ—उपासक (नाम नाम्ना) भिन्न-भिन्न नाम द्वारा, (पुरा सूर्यात्) सूर्योदय से पहिले, (पुरा उषसः) तथा उषा के काल से पहिले, (जोहवीति) स्कम्भ का बार-बार आह्वान करता है। (यदजः) जो "अज" अर्थात् जनन-रहित-आत्मा (प्रथमम्) प्रथम अर्थात् सूर्योदय और उषा से पूर्व (सम्बभूव) उपासना में उपस्थित होता है (सः) वह, (ह) निश्चय से (तत्) उस (स्वराज्यम्) स्वराज्य को (इयाय)

प्राप्त हो जाता है, (यस्मात्) जिससे (अन्यत्) भिन्न (परम्) श्रेष्ठ (भूतम्) सद्वस्तु (न अस्ति) नहीं है।

[नाम नाम्ना=इन नामों में स्कम्भ और इन्द्र, इन दो नामों का कथन मन्त्र २९, ३० में हुआ है। स्वराज्यम्=जीवन पर इन्द्रियों और मन का राज्य न होकर, आत्मा का अपना-राज्य होना। जोहवीति=**ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च,** यङ्लुकि रूपम्]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**उपरिष्टाद् विराड् बृहती**॥

यस्य॒ भूमि॑: प्र॒मान्तरि॑क्षमु॒तोदर॑म्।

दिवं॒ यश्च॒क्रे मू॒र्धानं॒ तस्मै॒ ज्ये॒ष्ठाय॒ ब्रह्म॑णे॒ नम॑:॥ ३२॥

अर्थ—(भूमिः) भूमि (यस्य) जिसका (प्रमा) यथार्थज्ञान का साधन पादस्थानी है [यजुः० ३१.१३], (उत) और (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष (उदरम्) उदरस्थानी है। (यः) जिसने (मूर्धानम्) मूर्धा को (दिवम्) द्युलोक (चक्रे) किया है, (तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे) उस सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म के लिए (नमः) नमस्कार हो।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**पराविराडनुष्टुप्**॥

यस्य॒ सूर्य॒श्चक्षु॒श्चन्द्र॒मा॑श्च॒ पुन॑र्णवः।

अ॒ग्निं यश्च॒क्र आ॒स्यं१॒ तस्मै॒ ज्ये॒ष्ठाय॒ ब्रह्म॑णे॒ नम॑:॥ ३३॥

अर्थ—(सूर्यः) सूर्य (च) और (पुनर्णवः) [प्रतिमास] बार-बार नया होने वाला (चन्द्रमाः) चन्द्रमा (यस्य) जिसकी (चक्षुः) आँखें हैं। (अग्निम्) अग्नि को (यः) जिसने (आस्यम्) मुखस्थानी (चक्रे) किया है, रचा है (तस्मै) उस (ज्येष्ठाय) सर्वज्येष्ठ या सर्वोत्कृष्ट (ब्रह्मणे) ब्रह्म के लिए (नमः) नमस्कार हो।

[अग्निम्, आस्यम्=अग्नि पदार्थ को सूक्ष्मरूप में कर देती है। मुख भी भोज्य पदार्थ को चर्वित करके उसे सूक्ष्मरूप कर देता है।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**उपरिष्टाद् विराड् बृहती**॥

यस्य॒ वात॑: प्राणापा॒नौ चक्षु॒रङ्गि॑र॒सोऽभ॑वन्।

दिशो॒ यश्च॒क्रे प्र॒ज्ञानी॒स्तस्मै॒ ज्ये॒ष्ठाय॒ ब्रह्म॑णे॒ नम॑:॥ ३४॥

अर्थ—(वातः) वायु (यस्य) जिसके (प्राणापानौ) प्राण और अपान हैं, (अङ्गिरसः) और किरणें (चक्षुः) चक्षु की किरणें (अभवन्) हुई हैं। (दिशः) दिशाओं को (यः) जिसने (प्रज्ञानीः) ज्ञान की सूक्ष्म नाड़ी रूप (चक्रे) किया है, (तस्मै) उस (ज्येष्ठाय) सर्वोकृष्ट (ब्रह्मणे) ब्रह्म के लिए (नमः) नमस्कार हो।

[प्रज्ञानीः=नर्वस-सिस्टम की ज्ञानवाहिनी सूक्ष्म नाड़ियाँ, सूक्ष्म तन्तु। ये नाड़ियाँ शरीर में सर्वत्र फैली हुई हैं, जैसे कि दिशाएँ सर्वत्र फैली हुई हैं]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**चतुष्पदा जगती**॥

स्क॒म्भो दा॑धार॒ द्यावा॑पृथि॒वी उ॒भे इ॒मे स्क॒म्भो दा॑धारो॒र्व१॒न्तरि॑क्षम्।

स्क॒म्भो दा॑धार प्र॒दिश॒: षडु॒र्वीः स्क॒म्भ इ॒दं विश्वं॒ भुव॑न॒मा वि॑वेश॥ ३५॥

अर्थ—(स्कम्भः) स्कम्भ ने (इमे) ये (उभे) दोनों (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवीलोक (दाधार) धारित किये हुए हैं, (स्कम्भः) स्कम्भ ने (उरु) विस्तृत (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष (दाधार) धारित किया हुआ है। (स्कम्भः) स्कम्भ ने (उर्वीः) फैली हुई (षट्) ६ (प्रदिशः) विस्तृत दिशाएँ (दाधार) धारित की हुई हैं, (स्कम्भः) स्कम्भ (इदम्) इस (विश्वम्) सब (भुवनम्) ब्रह्माण्ड में (आ विवेश) प्रविष्ट है, व्याप्त है।

[स्कम्भः=सर्वाधार ब्रह्म। या "स्कम्भे" (चतुर्थपाद)=स्कम्भ में, यह सब भुवन प्रविष्ट हुआ-हुआ है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**उपरिष्टाद् विराड् बृहती**॥

यः श्रमात्तपसो जातो लोकान्त्सर्वान्त्समानशे।

सोमं यश्चक्रे केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥ ३६॥

अर्थ—(यः) जो (श्रमात्) परिश्रम से, (तपसः) और तपोमय जीवन से (जातः) प्रकट होता है, [जो] (सर्वान् लोकान्) सब लोकों में (समानशे) सम्यक्-व्याप्त है। (यः) जिसने (सोमम्) चन्द्रमा को (केवलम्) सेवनीय (चक्रे) किया है, रचा है (तस्मै) उस (ज्येष्ठाय ब्रह्मणे) सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म के लिए (नमः) नमस्कार हो।

[केवलम्=**केवृ सेवने** (भ्वादिः)]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

कथं वातो नेलयति कथं न रमते मनः।

किमापः सत्यं प्रेप्सन्तीर्नेलयन्ति कदा चन॥ ३७॥

अर्थ—(कथम्) क्यों (वातः) वायु (न इलयति) नहीं निद्रित होती, (कथम्) क्यों (मनः) मन (न रमते) आराम नहीं करता, सदा चञ्चल रहता है। (आपः) जल (किम्) किस (सत्यम्) सत्य को (प्रेप्सन्तीः) चाहते हुए (कदाचन) कभी भी (न इलयन्ति) नहीं निद्रित होते।

[इलयति=**इल स्वप्ने** (तुदादिः), स्वप्न=निद्रा। आपः के सम्बन्ध में "सत्यम्" के प्रयोग द्वारा यह दर्शाया है कि यह "सत्यब्रह्म" या सत्यस्कम्भ को चाहते हुए, उसकी खोज में, सदा सक्रिय रहते हैं। यह उद्देश्य वात के उन्निद्रित होने और मन के आराम न करने का भी है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

महद्यक्षं भुवनस्य मध्ये तपसि क्रान्तं सलिलस्य पृष्ठे।

तस्मिञ्छ्रयन्ते य उ के च देवा वृक्षस्य स्कन्धः परित इव शाखाः॥ ३८॥

अर्थ—(भुवनस्य) ब्रह्माण्ड के (मध्ये) मध्य में (महत् यक्षम्) महा-यक्ष्मा विद्यमान है, (तपसि) जो कि तप में (क्रान्तम्) सब को अतिक्रान्त किये हुए है, (सलिलस्य)[1] गतिशील ब्रह्माण्ड की (पृष्ठे) पीठ पर [सवार] है। (ये उ के च देवाः) जो कोई देव अर्थात् दिव्य पदार्थ हैं वे (तस्मिन्) उसमें (श्रयन्ते) आश्रय पाये हुए हैं, (इव) जैसे कि (वृक्षस्य शाखाः) वृक्ष की शाखाएँ (स्कन्धः परितः) वृक्ष

१. सलिलस्य=सरिरस्य, रलयोरभेदः। सरिराः।

की धड़ के चारों ओर [आश्रय पाई हुई होती हैं]।

[यक्षम्=**यक्ष पूजायाम्** (चुरादि:), पूजनीय। तपसि=**तप ऐश्वर्ये** (दिवादि:), तथा "**यस्य ज्ञानमयं तप:**" (उपनिषद्)। सलिलस्य[1]=**सृ गतौ।** अभिप्राय यह है कि (१) स्कम्भ महापूजनीय है, (२) वह ब्रह्माण्ड के मध्य में है, ब्रह्माण्ड की केन्द्रीय शक्तिरूप है, (३) गतिशील ब्रह्माण्ड की पीठ पर सवार होकर उसे स्वशासन में चला रहा है, (४) ब्रह्माण्ड के घटक सब सूर्यादि देव उसमें आश्रय पाये हुए हैं]।

ऋषि:—**अथर्वा**॥ देवता—**स्कम्भ:, अध्यात्मम्**॥ छन्द:—**उपरिष्टाज्ज्योतिर्जगती**॥

यस्मै हस्ताभ्यां पादाभ्यां वाचा श्रोत्रेण चक्षुषा। यस्मै देवा: सदा
बलिं प्रयच्छन्ति विमितेमितं स्कम्भं तं ब्रूहि कतम: स्विदेव स:॥ ३९॥

अर्थ—(यस्मै) जिसके प्रति (हस्ताभ्याम्) हाथों द्वारा (पादाभ्याम्) पैरों द्वारा (वाचा, श्रोत्रेण, चक्षुषा) वाणी, श्रोत्र और चक्षु द्वारा (यस्मै) जिसके प्रति (देवा:) दिव्य कोटि के लोग (सदा बलिम्) सदा भेंट (प्रयच्छन्ति) देते हैं, (विमिते अमितम्) परिमित जगत् में अपरिमित (तम्) उसको (स्कम्भम् ब्रूहि) तू स्कम्भ कह (कतम: स्वित्, एव, स:) अर्थ देखो मन्त्र (४)।

["यस्मै" दो बार पठित है, इसका अभिप्राय है कि केवल जिस स्कम्भ के लिए भेंट करते हैं अन्य किसी के लिए नहीं। देवकोटि के महान् आत्मा, निज कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों द्वारा जो कर्म करते हैं, उसे स्कम्भ के प्रति समर्पित कर, उसके फल की आकाङ्क्षा नहीं करते]।

ऋषि:—**अथर्वा**॥ देवता—**स्कम्भ:, अध्यात्मम्**॥ छन्द:—**४० अनुष्टुप्, ४१ आर्षी त्रिपदा गायत्री**॥

अप तस्य हतं तमो व्यावृत्त: स पाप्मना।
सर्वाणि तस्मिञ्ज्योतींषि यानि त्रीणि प्रजापतौ॥ ४०॥

अर्थ—(तस्य) उस स्कम्भ का (तम:) अज्ञानान्धकार (अपहतम्) अपगत या विनष्ट हुआ है (स:) इसलिए वह (पाप्मना) पाप से (व्यावृत्त:) वियुक्त है, निवृत्त है (तस्मिन्) उस स्कम्भ में (सर्वाणि) सब (ज्योतींषि) ज्योतियाँ हैं (यानि त्रीणि) जो तीन कि (प्रजापतौ) प्रजाओं के अधिपति में हैं।

यो वेतसं हिरण्ययं तिष्ठन्तं सलिले वेद। स वै गुह्य: प्रजापति:॥ ४१॥

अर्थ—(य:) जो स्कम्भ (वेतसम्) [पट के सदृश] बुने हुए, (हिरण्ययम्) ज्योतिर्मय जगत् को (सलिले) गति वाले ब्रह्माण्ड में (तिष्ठन्तम्) स्थित हुआ (वेद) जानता है (स:) वह (गुह्य:[1]) गुप्तस्वरूप स्कम्भ (वै) वास्तव में (प्रजापति:) प्रजापति है।

[तम:=अज्ञानान्धकार। स्कम्भ इससे वियुक्त है। अत: वह पाप से भी विमुक्त है। इसलिए यजुर्वेद में उसे अपापविद्धम् कहा है (४०.८)। उस स्कम्भ के आश्रय तीन ज्योतियाँ हैं (१) पार्थिव ज्योति: अग्नि: (२) अन्तरिक्षस्थ ज्योति: विद्युत् (३) तथा द्युलोकस्थ ज्योतियाँ समूहरूप में। मन्त्र में स्कम्भ को ही प्रजापति अर्थात् सृष्टिकर्त्ता कहा है। सर्वाधार रूप में वह स्कम्भ है और जगत्कर्तृत्वरूप में वह प्रजापति है। वेतसम्=बुना हुआ, "**वेञ् तन्तुसन्ताने**" (भ्वादि:; तथा उणा० ३.११८)। सलिले देखो (मन्त्र ३८)। मन्त्र द्वारा यह भी ध्वनित होता है कि जो व्यक्ति अज्ञानान्धकार से रहित हो जाता है वह पापकर्मों के

१. स्कम्भ रूप में परमेश्वर गुह्य है और प्रजापतिरूप में वह ज्ञान स्वरूप है।

करने से भी निवृत हो जाता है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

तन्त्रमेके युवती विरूपे अभ्याक्रामं वयतः षण्मयूखम्।

प्रान्या तन्तूंस्तिरते धत्ते अन्या नाप वृञ्जाते न गमातो अन्तम्॥ ४२॥

अर्थ—(एके) दो कोई (विरूपे) विरुद्धरूपों वाली (युवती) युवतियाँ (अभ्याक्रामम्) एक-दूसरे की ओर पादविक्षेप करती हुईं, आती हुईं (षण्मयूखम्) ६ मयूखों वाले (तन्त्रम्) पट को (वयतः) बनुती हैं। (अन्या) एक (तन्तून्) तन्तुओं को (प्रतिरते) फैलाती हैं, (अन्या) दूसरी (धत्ते) निज में उसे धारण कर लेती है, (न अपवृञ्जाते) न तो इस कर्म से वे अलग होती हैं (न अन्तम् गमातः) और न इस कर्म की समाप्ति को प्राप्त होती हैं। षण्मयूखम्=६ खूंटे। खूंटों पर ताना तान कर पट बुना जाता है। संसारपट के बुनने में ६ दिशाएँ, ६ खूंटे हैं। ६ दिशाएं=पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ध्रुवा और ऊर्ध्वा।

[ये दो युवतियाँ हैं सृष्टि-सर्जन शक्ति तथा सृष्टि-प्रलयन शक्ति। सर्जन-शक्ति तो संसार के सर्जन के लिए प्रकृतिरूपी तन्तुओं को फैलाती है, और प्रलयन-शक्ति इन तन्तुओं को निज स्वरूप में धारण करती रहती है। ये दोनों अर्थात् उत्पादन और विनाश जगत् में सदा चलते रहते हैं, एक-दूसरे के अभिमुख होकर आक्रमण करते हैं। पट हैं संसार-पट। तैत्तिरीय ब्राह्मण (२.५.५१) में दो युवतियों को "स्वसारौ" कहा है, और "तन्त्रम्" को "सनातनम्", कहा है। इस द्वारा "तन्त्रम्" जगत् अर्थात् संसार प्रतीत होता है। संसार पैदा भी होता रहता है, और इसका प्रलय भी होता रहता है—यह सनातन नियम है। उत्पत्ति और प्रलय—ये दोनों विरूप हैं। ये दोनों "स्वसारौ" हैं, परमेश्वरीय नियम द्वारा स्वयमेव सरण करती रहती हैं, और सर्जन-प्रलय स्वभावतः सदा होते रहते हैं]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

तयोरहं परिनृत्यन्त्योरिव न वि जानामि यतरा परस्तात्।

पुमानेनद्वयत्युद् गृणत्ति पुमानेनद्वि जभाराधि नाके॥ ४३॥

अर्थ—(परिनृत्यन्त्योः) सब ओर नृत्य करती हुईं दो स्त्रियों के (इव) सदृश [नाचती हुईं] (तयोः) उन दोनों अर्थात् सर्जन और प्रलयन शक्तियों में (न विजानामि) मैं यथार्थरूप में नहीं जानता कि (यतरा) उन दोनों में से कौन सी शक्ति (परस्तात्) पहिले की है। (पुमान्) वस्तुतः परमेश्वर-पुरुष (एनत्) इस संसार-पट को (वयति) बनुता है, (उद् गृणत्ति) और वह ही इस संसार पट को निगल जाता है। (पुमान्) परमेश्वर-पुरुष ने ही (एनत्) इस बुनने और निगलने के कर्म को (नाके अधि) मोक्षस्थान में (विजभार) वर्जित कर दिया है।

[सर्जन और प्रलयन शक्तियों को जगत् के सर्जन और प्रलयन में नाचती हुई कहा है। ऋग्वेद १०.७२.६ में जगत् के सर्जन में दिव्य-शक्तियों के नाचने का वर्णन हुआ है। यथा—

अत्रा वो नृत्यतामिव तीव्रो रेणुरपायत। [ऋ० १०.७२.६]

यद् देवा यतयो यथा भुवनान्यपिन्वत। [ऋ० १०.७२.७]

इस मन्त्र में "नृत्यतामिव" द्वारा जगत् के सर्जन में दिव्य शक्तियों के नाच का वर्णन साभिप्राय है।

न विजानामि—सर्जन और प्रलयन में कौन पूर्व का है और कौन पश्चात् का है, इसका विज्ञान

अर्थात् यथार्थ ज्ञान किसी को नहीं हो सकता। सर्जन के लिए आवश्यक है कि इससे पूर्व प्रलयन विद्यमान हो और प्रलयन के लिए आवश्यक है कि इससे पूर्व कोई सर्जन हुआ हो।

पुमान् एनत्—मन्त्र (४२) के वर्णन से यह भ्रम हो सकता है कि सर्जन और प्रलयन, बिना किसी नियामक चेतन-तत्त्व के, स्वतः हो रहे हैं। इसलिए मन्त्र (४३) में परमेश्वर पुरुष को स्रष्टा तथा प्रलयन कर्त्ता कहा है।

उद् गृणत्ति—गृणत्ति में "गृ" का अर्थ है निगलना।

विजभार—द्वारा यह सूचित किया है कि "नाके अर्थात् मोक्षस्थान" में सर्जन और प्रलयन क्रियाएँ नहीं होतीं। मोक्ष स्थान है परमेश्वर जिसमें मुक्तात्मा विचरते हैं। यथा—

"**यत्र देवाऽअमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त**" (यजुः० ३२.१०) अर्थात् "अमृत परमेश्वर को प्राप्त हुए देव, जिस तीसरे धाम में विचरते हैं"। तृतीय धाम है परमेश्वर। पहला धाम है प्राकृतिक जगत्। द्वितीय धाम है निज-आत्मस्वरूप। तृतीय धाम है परमेश्वर। अथवा प्रथम धाम है निज-आत्मस्वरूप। द्वितीय धाम है स्वर्ग। तृतीय धाम है नाक अर्थात् मोक्षस्थान, जिसके सम्बन्ध में कहा है कि "**ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः**"। (यजुः० ३१.१६)। अर्थात् "वे परमेश्वरयाजी, महिमा सम्पन्न हुए, "नाक" को प्राप्त होते हैं, जिस नाक में पूर्व के "साध्यदेव" विद्यमान हैं।" विजभार=विजहार "**हृग्रहोर्भश्छन्दसि**"। विहरणम्=Kemoving, taking away (आप्टे)]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**द्विपदाऽऽर्च्यनुष्टुप्, पञ्चपदा निचृत्पदपङ्क्तिर्वा (एकावसाना)**॥

इमे मयूखा उप तस्तभुर्दिवं सामानि चक्रुस्तसराणि वातवे॥ ४४॥

अर्थ—(इमे) इन (मयूखाः) ज्ञानश्मियों ने (दिवम्) ज्योतिर्मय नाक को (उपतस्तभुः) थामा हुआ है, इन ज्ञानरश्मियों ने (वातवे) बाना बुनने के लिए (सामानि) सामगानों को (तसराणि) वेमा (चक्रुः) किया है।

[नाक अर्थात् मोक्ष पट के लिए "ज्ञान" है ताना और उपासना है बाना और सामगान हैं तसर अर्थात् वेमा। तसर या वेमा को हिन्दी में "ढरकी" और "सर" कहते हैं। यह बुनने का उपकरण है जिस द्वारा ताना में बाना बुना जाता है, पिरोया जाता है। ज्ञान के सम्बन्ध में कहा है कि "**ऋते ज्ञानात् न मुक्तिः**" अर्थात् "ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती"। उपासना है "ध्येय के समीप बैठना" उप+आसना, "समीप उपविष्ट" होना। जब तक ज्ञानी ध्येय परमेश्वर के समीप बैठकर उसका साक्षात् नहीं कर लेता तब तक उसकी मुक्ति नहीं हो सकती। इस उपासना का साधन है "सामवेद के भक्तिगान"]।

सूक्त ८

विषय-प्रवेश

स्कम्भ का वर्णन (मन्त्र १-४४)। तीन गतिशील प्रजाएँ और अर्क (३)। संवत्सर-चक्र के ३६० अरे spokes (४)। पञ्चवाहीपरमेश्वर (८)। तिर्यग्बिल, ऊर्ध्वबुध्न चमस, सप्तऋषयः (९)। विश्वरूप का एकरूप होना (११)। महद् यक्ष (१५)। आदित्य, अग्नि, हंस नामों वाला परमेश्वर (१७)। हंस की उड़ान १००० दिनों तक (१८)। आध्यात्मिक दो अरणियाँ (२०)। अपाद् और चतुष्पाद् परमेश्वर (२१)। परमेश्वर के रुचिकर होने का कारण (२४)। परमेश्वर की सूक्ष्मता (२५)। विश्वतोमुख

जीवात्मा (२७, २८)। संसारवृक्ष का सिञ्चन (२९)। अविनामक देवता=सूर्य (३१)। देव का काव्य (३२)। वेदवाणियों का उद्गम और विलयन (३३)। सूत्र और सूत्र का सूत्र (३७, ३८)। विश्वदाहक अग्नि और प्रलय (३९)। गायत्री और परमेश्वर का परस्पर सम्बन्ध (४१)। यक्षब्रह्म का पुण्डरीक में प्रत्यक्षदर्शन (४३)। परमेश्वर का स्वरूप और मृत्युभय से छुटकारा (४४)।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाद् विराड् बृहती** ॥

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।
स्व१र्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥ १ ॥

अर्थ—(यः) जो (भूतम् च) भूतकाल के (भव्यम् च) भविष्यत् काल के जगत् का (यः च) और जो (सर्वम्) सबका (अधि तिष्ठति) अधिष्ठाता है। (यस्य, च, केवलम्, स्वः) और जो केवल सुखस्वरूप है [जिसमें दुःख का लेश भी नहीं] (तस्मै) उस (ज्येष्ठाय ब्रह्मणे) सबसे बड़े तथा सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म के लिए (नमः) नमस्कार हो।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**बृहतीगर्भाऽनुष्टुप्** ॥

स्कम्भेनेमे विष्टभिते द्यौश्च भूमिश्च तिष्ठतः।
स्कम्भ इदं सर्वमात्मन्वद्यत्प्राणन्निमिषच्च यत्॥ २ ॥

अर्थ—(इमे) ये (द्यौः च, भूमिः च) द्युलोक और भूमि (स्कम्भेन) स्कम्भ द्वारा (विष्टभिते) अलग-अलग थामे हुए (तिष्ठतः) स्थित हैं। (स्कम्भे) स्कम्भ में (इदं सर्वम्) यह सब जगत् है जो कि (आत्मन्वत्) आत्मा वाला है, (यत्) अर्थात् जो कि (प्राणत्) प्राणधारी है (यत् च) और जो (निमिषत्) निमेषोन्मेष क्रिया कर रहा है।

[जड़ जगत् और प्राणधारी तथा निमेषोन्मेष करने वाले उच्चप्राणी स्कम्भ के आश्रय में हैं]।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

तिस्रो ह प्रजा अत्यायमायन्न्य१न्या अर्कमभितोऽविशन्त।
बृहन्ह तस्थौ रजसो विमानो हरितो हरिणीरा विवेश॥ ३ ॥

अर्थ—(तिस्रः प्रजाः) तीन प्रजाएँ (अत्यायमायन्) अतिगति को प्राप्त हुई हैं (अन्याः) सूर्य से भिन्न ये (अर्कम् अभितः) सूर्य के सम्मुख हुईं (नि अविशन्त) निविष्ट हुई हैं, अपने-अपने स्थानों में निवेश पाई हुई हैं। (बृहन्) बड़ा अर्थात् महाकाय सूर्य, (रजसः) जो कि ज्योति का (विमानः) निर्माण करता है (तस्थौ[१]) स्थित है (हरितः) वह इन तीनों का हरण करता हुआ (हरिणीः) दिशाओं में (आ विवेश) आविष्ट अर्थात् प्रविष्ट हुआ है।

[तीन प्रजाएँ हैं, ग्रह, उपग्रह, धूम्रकेतु। ये तीनों सूर्य की प्रजाएँ हैं, सूर्य से पैदा हुई हैं। ये अतिशीघ्रगति वाले हैं। अत्यायम्=अति+आयम् (**अय गतौ**) अतिगति को "आयन" प्राप्त हुए हैं। ये "अन्याः" हैं सूर्य से भिन्न हैं। ये सूर्य के अभिमुख हुए निज स्थानों में निविष्ट हैं। सूर्य इन सब से बड़ा है परिमाण में महाकाय है, और "तस्थौ" स्थित है अर्थात् इनकी अपेक्षा से गतिरहित है। यह निजस्थान

१. सूर्य पूर्व से पश्चिम की ओर गति करता हुआ दीखता है, परन्तु है यह स्थित।

में स्थित हुआ तीन प्रजाओं का हरण किये हुए है, इन्हें अपने से अलग नहीं करता अपने स्वायत्त में किये हुए है, मानो इनका अपहरण किये हुए है। हरिणीः=दिशाएँ (ऋ० ८.१०१.१४, वेंकटमाधव)। ऋग्वेद में ''हरित आविवेश'' पाठ है। हरितः का अर्थ वेङ्कटमाधव ने ''दिशः'' किया है। अथर्ववेद में ''हरितः'' के स्थान में ''हरिणीः'' पाठ है, अतः वेङ्कटमाधव के अर्थ के अनुरूप हरिणीः का अर्थ दिशाएँ किया है। तथा **हरितः ''दिङ्नाम''** (निघं० १.६)। **रजः ज्योतिः** (निरुक्त ४.३.३९)]।

ऋषिः—**कुत्सः**॥ देवता—**अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

द्वा॒द॒श प्र॒धय॑श्च॒क्रमेकं॒ त्रीणि॒ नभ्या॑नि॒ क उ॒ तच्चि॑केत।

तत्राह॑ता॒स्त्रीणि॑ श॒तानि॑ श॒ङ्कवः॑ ष॒ष्टिश्च॒ खीला॒ अवि॑चाचला॒ ये॥ ४॥

अर्थ—(द्वादश) १२ (प्रधयः) पुट्ठियाँ (चक्रम् एकम्) एक चक्र (त्रीणि) तीन (नभ्यानि) नाभि के हिस्से (क, उ तत्, चिकेत) कौन उसे जानता है। (तत्र) उस चक्र में (त्रीणी शतानि) तीन सौ (शङ्कवः) शङ्कु (आहताः) हैं, (षष्टिः, च) और साठ (खीलाः) कील हैं (ये) जो कि (अविचाचलाः) विचलित नहीं होते [स्थिर रहते हैं]।

[मन्त्र में वर्ष का वर्णन हुआ है। वर्ष के १२ मास हैं १२ प्रधियाँ पुट्ठियाँ (Fellies)। वर्ष एक चक्र है, पहिया है, जिसकी परिधि १२ प्रधियों से निर्मित हुई। तीन नभ्य हैं ग्रीष्म, वर्षा, शरद्। ये तीन एक वर्ष के नभ्य हैं। पहिए के [1]तीन नभ्य विचाराधीन हैं। तीन सौ और साठ शङ्कु और खील हैं=वर्ष के ३६० दिन। प्रत्येकमास तीस दिनों के हिसाब से। पहिले के दण्डे जो नाभि और परिधि में लगे रहते हैं उन्हें भी सम्भवतः ३६० कहा है। ये ३६० दिन विचलित नहीं होते, यह संख्या वर्ष के निर्माण में स्थिर रहती है। राशिचक्र (Zodiac) को भी ३६० अंशों में बाँटा जाता है। ३०० को शङ्कु, और ६० को खील कहा है। एक ऋतु दो मासों की होती है, और प्रत्येक मास ३० दिनों का। सम्भवतः ऋतु के निर्माण सम्बन्ध में ६० खीलों का वर्णन पृथक् रूप में किया हो, प्रत्येक ऋतु ६० दिनों की होती है। मन्त्र में ''क उ तच्चिकेत'' में ''कः'' पद द्व्यर्थक है। कः=कौन, तथा कः=प्रजापति परमेश्वर। अतः यह भी सूचित कर दिया है कि ''प्रजापति परमेश्वर'' उसे जानता है। यथा ''कस्मै देवाय हविषा विधेम'' में दो अर्थ किये जाते हैं, (१) किस देव के लिए, (२) प्रजापति देव के लिए हवि द्वारा हम परिचर्या करें]।

ऋषिः—**कुत्सः**॥ देवता—**अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**॥

इ॒दं स॑वित॒र्वि जा॑नीहि॒ षड्य॒मा एक॑ एक॒जः।

तस्मि॑न्हापि॒त्वमि॑च्छन्ते॒ य ए॑षा॒मेक॑ एक॒जः॥ ५॥

अर्थ—(सवितः) हे सविता! (इदम्) इसे (विजानीहि) तू जान कि (षड्यमाः) ६ हैं जगत् के नियामक नियन्ता (एकः) इनमें से एक है (एकजः) एक से पैदा हुआ। (तस्मिन्) उस एकज में [शेष ३] (ह) ही (अपित्वम्) लय होना (इच्छन्ते) चाहते हैं (यः) जो कि (एषाम्) इनमें से (एकः) एक (एकजः) एकज है।

[''सवितः'' से कोई जिज्ञासु व्यक्ति प्रतीत होता है। यमाः=नियामक। ५ भूत और ''महान् आत्मा''

---

१. सम्भवतः पहिये की नाभि का भी निर्माण तीन प्रधियों द्वारा अभिप्रेत हो जिन्हें कि ''त्रीणि नभ्यानि=नाभौ भवानि, नाभौ हितानि वा''।

अर्थात् परमेश्वर, भौतिक जगत् के नियामक हैं। इन्हीं ६ द्वारा भौतिक जगत् उत्पन्न होता है। अतः ये ६ भौतिक जगत् के यम हैं, नियामक हैं। ५ भूत हैं—आकाश, वायु, अग्नि, आपः और पृथिवी। इनके परस्पर मेल से भौतिक जगत् पैदा हुआ है। परमेश्वर इनका नियामक है। विना चेतन नियामक के व्यवस्थित उत्पत्ति नहीं हो सकती। "**तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः, आकाशाद् वायुः, वायोरग्निरग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी**" (तैतिरीय उप० २.१) के अनुसार ये ६ यम हैं, नियामक हैं १ आत्मा और ५ भूत। कार्य अपने उपादान कारण में "अपित्व" अर्थात् लीन होना चाहते हैं। वायु आदि ४ तत्त्व एकज नहीं। आकाश एकज है। यह एक परमेश्वर (निमित्तकारण) से पैदा हुआ है, "**तस्माद्वा एतस्मादात्मनः**" से पैदा हुआ है। वायु दो से पैदा हुई है, मूल कारण (निमित्तकारण) आत्मा से, और आकाश (उपादानकारण)। इसी प्रकार अग्नि तीन से पैदा हुई है, मूलकारण आत्मा से, आकाश तथा वायु से इत्यादि। इसलिए पृथिवी का लय होता है आपः में, आपः का लय होता है अग्नि में, अग्नि का लय होता है वायु में, वायु का लय होता है आकाश में। इस प्रकार ४ भूतों का लय होता एकज अर्थात् आकाश में। आकाश एकज है। एक आत्मा से पैदा हुआ है। सांख्य सिद्धान्तानुसार प्रकृति से महत् तत्त्व पैदा हुआ है। यह है व्यापी तत्त्व। इससे मनुष्य में वैयक्तिक बुद्धि पैदा हुई। यह वैयक्तिक बुद्धि, अहंकार, मन और चित्तरूप में विकृत होकर चार रूपवाली हुई, जिसे कि "अन्तःकरण चतुष्टय" कहते हैं। "व्यापी महत्-तत्त्व" और अन्तःकरण चतुष्टय, तथा मूलप्रकृति ये ६ यम हैं, जिनसे जगत् पैदा हुआ, अतः जगत् के ये ६ यम हैं, नियामक हैं। इन ६ में महत्-तत्त्व एकज है, एक प्रकृति से पैदा हुआ है। शेष ५ स्व-स्व उपादान में परम्परया विलीन होते हुए "एकज महत्-तत्त्व" में विलीन होते हैं। और महत्-तत्त्व प्रकृति में विलीन होता है। इस सम्बन्ध में एक व्याख्याकार का विचार निम्न प्रकार का है—

इस व्याख्याकार के अनुसार यम का अर्थ है जोड़ा, "युगल न कि नियामक। अतः षड्यमाः=६ ऋतुएँ। प्रत्येक ऋतु एक यम है, जोड़ा है, दो-दो मासों का। "एकज" है मलमास, intercalary month "एकः जायते इत्येकजः"। यह मलमास अकेला पैदा होता है, ऋतु के सदृश जोड़ारूप में नहीं]।

ऋषिः—**कुत्सः**॥ देवता—**अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

आविः सन्निहितं गुहा जरन्नाम महत्पदम्। तत्रेदं सर्वमार्पितमेजत्प्राणत्प्रतिष्ठितम्॥ ६॥

अर्थ—(सत्) सत् परमेश्वर (जरत्) पुराण (नाम) नामी (महत्) महान् (पदम्) तथा प्रापणीय है, वह (गुहा) हृदयगुहा में (निहितम्) स्थित हुआ (आविः) प्रकट होता है। (तत्र) उसमें (इदम् सर्वम्) यह सब (एजत् प्राणत्) गति करता हुआ और प्राणधारी जगत् (आर्पितम्) समर्पित हुआ (प्रतिष्ठितम्) स्थित है।

[सत्=परमेश्वर सत् चित् आनन्द स्वरूप है। जरत्=सब से पुराण है, पुराकाल का है, अनादि है। एजत्=गति करता हुआ जड़ जगत्]।

ऋषिः—**कुत्सः**॥ देवता—**अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**पराबृहती**॥

एकचक्रं वर्तत एकनेमि सहस्राक्षरं प्र पुरो नि पश्चा।
अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं क्वं१ तद् बभूव॥ ७॥

अर्थ—ब्रह्माण्ड (एकचक्रम्) एक चक्राकार (वर्तते) है (एकनेमि) इस चक्र पर एक नेमि है,

(सहस्राक्षरम्) हजारों अक्षों वाला है, (प्र पुरः) सामने की ओर असीम व्याप्त है (नि पश्चा) पीछे की ओर नितरां व्याप्त है। (अर्धेन) परमेश्वर ने अर्ध शक्ति द्वारा (विश्वम् भुवनम्) सब जगत् को (जजान) पैदा किया है (अस्य) इस परमेश्वर का (यत्) जो (अर्धम्) शेष आधा भाग है (तद्) वह (क्व) कहाँ (बभूव) है।

[यह समग्र जगत् चक्राकार है, गोल है। जगत् को ब्रह्माण्ड कहते हैं। यह एक बृहत् अण्डे के आकार का है, अण्डे के सदृश आकृति वाला है। इस चक्र पर एक नेमि है जो कि चक्र की रक्षा करती है, वह नेमि है स्वयम् परमेश्वर। इस चक्र में हजारों अक्ष हैं, धुराएँ हैं, जिन पर कि सूर्यादि घूम रहे हैं। सहस्राक्षरम्=सहस्र+अक्ष+रम् (वाला)। यह ब्रह्माण्ड सामने और पीछे की ओर असीम मात्रा में फैला हुआ है। जिधर भी मुख करें उस मुख के सामने और पीछे की ओर निःसीम मात्रा में ब्रह्माण्ड फैला हुआ है। परमेश्वर ने निज अर्ध अर्थात् एक ऋद्धांश से ब्रह्माण्ड रचा है, शेष ऋद्धांश इसके निज प्रकाशस्वरूप में स्थित है, जगत् के निर्माण आदि के साथ सम्बन्ध से रहित हैं (देखो यजुर्वेद पुरुषसूक्त अध्याय ३१। मन्त्र ३, ४)। मन्त्र में "अर्ध" शब्द आधे का वाचक नहीं, अपितु ऋद्ध-अंश का वाचक है। अर्ध शब्द "ऋधु" धातु से निष्पन्न है जिसका अर्थ है "वृद्धि"। अतः मन्त्र में अर्ध का अर्थ है एक "ऋद्ध[१]-अंश", तथा "शेष-ऋद्ध अंश"। अथवा मन्त्र में "अस्य" द्वारा स्वामित्व का भी बोध होता है, परमेश्वर प्रकृति का स्वामी है। इसकी स्वभूत प्रकृति के कितने अंश से ब्रह्माण्ड पैदा हुआ है, और प्रकृति का कितना अंश अवशिष्ट है जो कि उत्पादन से रहित है, यह प्रश्न भी मन्त्र में अभिप्रेत हो सकता है]।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

पञ्चवाही वहत्यग्रमेषां प्रष्टयो युक्ता अनुसंवहन्ति।
अयातमस्य ददृशे न यातं परं नेदीयोवरं दवीयः॥ ८॥

अर्थ—(पञ्चवाही) पांचभूतों का वहन करने वाला स्कम्भ अर्थात् सर्वाधार परमेश्वर (एषाम् अग्रम्) इन पांच भूतों के अग्रभाग में जुता हुआ [इन का] (वहति) वहन कर रहा है। (प्रष्टयः=पृष्टयः) पीछे लगे पञ्चभूत (युक्ताः) परस्पर मिल कर (अनु) परमेश्वर के पीछे-पीछे (संवहन्ति) सम्यक् प्रकार से चल रहे हैं। (अस्य) इस परमेश्वर का (अयातम्) न चलना (ददृशे) दृष्टिगोचर होता है (यातम्) चलना दृष्टिगोचर (न) नहीं होता। (परम् नेदीयः) परमेश्वर परम निकट है (अवरम्) और परम (दवीयः) दूर है।

[मन्त्र ने यह प्रतिपादित किया है कि जगत् का संचालक परमेश्वर है, जगत् स्वयमेव नियमों में बन्धा हुआ गति नहीं कर रहा है। पांच भूत या पांचभौतिक जगत् परमेश्वर के निर्देशों के पीछे-पीछे गति कर रहा है। परमेश्वर का गति करना वास्तविक नहीं क्योंकि यह समीप से समीप और दूर से दूर है, यह व्यापक है, व्यापक में गति नहीं हो सकती (देखो यजुर्वेद ४०.४, ५)। ददृशे=मानसिक दृष्टि अर्थात् विचार। अवरम्="न वरं यस्मात् तत्" अर्थात् दूरी में जिससे श्रेष्ठ अर्थात् बढ़कर कोई नहीं]।

---

१. यदि "अर्ध" का अर्थ ऋद्धांश न किया जाए तो अथर्ववेद और यजुर्वेद के वर्णन परस्पर विरुद्ध हो जाएँगे। अथर्व० में "अर्ध" का अर्थ हो "आधा", और यजुर्वेद के अनुसार जगत् हो "एकपाद्" अर्थात् १/४, और शेष हो "त्रिपाद्" ३/४, तो परस्पर विरोध होना निश्चित ही है।

ऋषिः—कुत्सः॥ देवता—अध्यात्मम्॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम्।

तदासत ऋषयः सप्त साकं ये अस्य गोपा महतो बभूवुः॥ ९॥

अर्थ—(चमसः) मस्तिष्क और सुषुम्णादण्ड चमचे के सदृश है जोकि उल्टे-चमचे के सदृश (तिर्यग्बिलः) नीचे के ओर बिल वाला और (ऊर्ध्वबुध्नः) ऊपर की ओर पेंदी वाला है। (तस्मिन्) उसमें (विश्वरूपम्) नानारूप (यशः) ज्ञान (निहितम्) रखा रहता है। (तद्) उसमें (सप्त ऋषयः) सात ऋषि (साकम्) साथ-साथ (आसत) उपविष्ट हैं (ये) जो कि (अस्य) इस (महतः) महाशरीर के (गोपाः) रक्षक (बभूवुः) हुए हैं।

[यशः=ज्ञान या कीर्ति। सप्त ऋषयः=५ ज्ञानेन्द्रियाँ, मनः और विद्या (बुद्धि)। ये सात महाशरीर के रक्षक हैं। ऊर्ध्वबुध्नः का अर्थ निरुक्त में "ऊर्ध्वबोधनो वा" भी किया है, अर्थात् पैंदे[1] के ऊपर के भाग में बोध अर्थात् ज्ञान वाला चमस (१२.४। खण्ड ३८ अथवा (पद) २५)। निरुक्त में अधिदैवत पक्ष में मन्त्र द्वारा आदित्य का भी वर्णन माना है। इस पक्ष में सात ऋषि हैं, सप्तविध रश्मियाँ और ऊर्ध्वबुध्नः=ऊर्ध्वबन्धनः, जो कि ऊपर की ओर बन्धा हुआ है]।

ऋषिः—कुत्सः॥ देवता—अध्यात्मम्॥ छन्दः—अनुष्टुब्गर्भा त्रिष्टुप्॥

या पुरस्ताद्युज्यते या च पश्चाद्या विश्वतो युज्यते या च सर्वतः।

यया यज्ञः प्राङ् तायते तां त्वा पृच्छामि कतमा सर्चाम्॥ १०॥

अर्थ—(या) जो (पुरस्तात्) सामने (युज्यते) जुती हुई है (या च) और जो (पश्चात्) पीछे की ओर (या) जो (विश्वतः) विश्व में (युज्यते) जुती हुई है (या च) और जो (सर्वतः) सब ओर। (यया) जिस द्वारा (प्राङ्) वृद्धिशील (यज्ञः) यज्ञ (तायते) विस्तृत होता है (ताम्) उसके सम्बन्ध में (त्वा) तुझे (पृच्छामि) मैं पूछता हूँ कि (सा) वह (ऋचाम्) वेदवाणियों में [प्रतिपादित] (कतमा) कौन सी है?।

["सा" पद स्त्रीलिङ्गी हैं, पारमेश्वरी शक्ति या पारमेश्वरी माता का वर्णन मन्त्र में हुआ है। "युज्यते" द्वारा उसका संसार-शकट में "जुता" होना कथित किया है। मन्त्र (८) में इस अभिप्राय को "पञ्चवाही" पद द्वारा प्रकट किया है। "विश्वतः" में "तसिल्" प्रत्यय सप्तम्यर्थ में है अर्थात् "विश्व में"। "यज्ञः" का अभिप्राय है "संसार-यज्ञ"। यह यज्ञ वृद्धिशील है, कर्मभोग पूर्वक अपवर्ग की ओर ले जाने वाला है। जैसा कि माता भी गृहकार्यों में, गृह में मानो जुती रहती है, और गृहस्थयज्ञ का विस्तार करती है]।

ऋषिः—कुत्सः॥ देवता—अध्यात्मम्॥ छन्दः—जगती॥

यदेजति पतति यच्च तिष्ठति प्राणदप्राणन्निमिषच्च यद्भुवत्।

तद्दाधार पृथिवीं विश्वरूपं तत्संभूय भवत्येकमेव॥ ११॥

अर्थ—(यत्) जो (एजति) गति करता है (पतति) जो उड़ता है (यत् च) और जो (तिष्ठति)

१. अभिप्राय यह कि मस्तिष्क के ऊर्ध्व भाग में बोध का स्थान है, नीचे की ओर नहीं।

स्थित है (यद्) जो (प्राणत्) प्राण धारण किये हुए है (अप्राणत्) और जो प्राण रहित है (निमिषत् च) और जो निमेषोन्मेष करता हुआ (भुवत्) विद्यमान है (तत्) उस (विश्वरूपम्) नानारूपी जगत् को (पृथिवीम्) और पृथिवी को (दाधार) स्कम्भ परमेश्वर धारण किये हुए है। (तत्) वह सब (संभूय) इकट्ठा होकर (भवति) हो जाता है (एकम्, एव) एक ही।

[यह विषमरूपी जगत्, प्रलयकाल में जब इकट्ठा हो जाता है, तब वह एक प्रकृतिरूप ही हो जाता है, विषमरूपी नहीं रहता]।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**पुरोबृहती त्रिष्टुब्गर्भाऽऽर्षी पङ्क्तिः** ॥

अनन्तं विततं पुरुत्रानन्तमन्तवच्चा समन्ते।

ते नाकपालश्चरति विचिन्वन्विद्वान्भूतमुत भव्यमस्य॥ १२ ॥

अर्थ—(अनन्तम्) [तारा संख्या द्वारा] अनन्त द्युलोक, और (पुरुत्रा) बहुत प्रदेशों में (विततम्) फैला हुआ पृथिवी लोक, [ये दोनों] अर्थात् (अनन्तम्) अनन्त द्युलोक (अन्तवत् च) और परिमित पृथिवीलोक (समन्ते) अन्त के साथ संगत हैं। (ते) उन दोनों का, (नाकपालः) नाक-पालक स्कम्भ परमेश्वर, (विचिन्वन्) अलग-अलग चयन करता हुआ (चरति) उनमें विचरता है। वह (अस्य) इस ब्रह्माण्ड के (भूतम्) भूत को (उत) और (भव्यम्) भविष्यत् को (विद्वान्) जानता है।

[तारा-संख्या की दृष्टि से अनन्त द्युलोक, और पर्वत, समतल तथा सामुद्रिक भिन्न-भिन्न प्रदेशों में फैला हुआ परिमित पृथिवी लोक—ये दोनों जो कि अनन्त और अन्तवाले हैं, अन्त के साथ संगत हैं। द्युलोक तथा पृथिवीलोक परिमाण की दृष्टि से सीमित हैं, और काल की दृष्टि से विनाशी हैं, अन्त वाले हैं। नाकपाल अर्थात् मोक्ष-का-रक्षक-स्कम्भ-परमेश्वर परिमाण तथा काल की दृष्टि से अनन्त है। इसने द्युलोक और पृथिवीलोक को अलग-अलग समय में चिना है, रचा है। वह ही इस समग्र ब्रह्माण्ड के भूत और भविष्यत् को जानता है, और कोई नहीं जानता]।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरदृश्यमानो बहुधा वि जायते।

अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं कतमः स केतुः ॥ १३ ॥

अर्थ—(प्रजापतिः) प्रजाओं का पति (गर्भे अन्तः) ब्रह्माण्ड के गर्भ के अन्दर (चरति) विचर रहा है, (अदृश्यमानः) न दीखता हुआ वह (बहुधा) बहुत प्रकार से (वि जायते) विविध रूपों में प्रकट होता है। (अर्धेन) निज एक समृद्ध-अंश से (विश्वम्) समग्र (भुवनम्) ब्रह्माण्ड को (जजान) उसने पैदा किया है, (यद्) जो (अस्य) इसका (अर्धम्) अवशिष्ट समृद्ध अंश है (सः) वह (कतमः[१]) अत्यन्त सुखस्वरूप है, (केतुः) ज्ञानस्वरूप है।

[प्रजापतिः, देखो १०.७.४०, ४१। वि जायते=प्रजापतिरूप, पितृरूप, मातृरूप, बन्धुरूप आदि रूपों में वह प्रकट हो रहा है। अर्धेन, देखो (मन्त्र ७)। परमेश्वर के अङ्ग, कल्पनामात्र हैं, यथा "एकपाद्, त्रिपाद्, चतुष्पाद्" आदि। कतमः="कम् सुखनाम" (निघं० ३.६)+तमप्। केतुः=**कित् संज्ञाने** यथा

१. अथवा "प्रकृति, जीव, ब्रह्म" में से वह कौन सा है? इसका उत्तर है "सः केतुः" अर्थात् वह है प्रज्ञास्वरूप, प्रज्ञानस्वरूप। प्रकृति और जीव क्रमशः अज्ञ व अल्पज्ञ हैं। केवल प्रजापति प्रज्ञास्वरूप, प्रज्ञानस्वरूप है।

"चिकेत"। तथा "**केतुः प्रज्ञानाम**" (निघं० ३.९)। अथवा कतमः=कौन सा वह है? वह प्रज्ञामय है, प्रज्ञानस्वरूप है]।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ऊर्ध्वं भरन्तमुदकं कुम्भेनेवोदहार्यम्।
पश्यन्ति सर्वे चक्षुषा न सर्वे मनसा विदुः ॥ १४ ॥

अर्थ—(इव) जैसे (कुम्भेन) घट द्वारा (उदकम्) जल को (ऊर्ध्वम्) सिर पर (भरन्तम्) ले जाते हुए को, (सर्वे) सब (चक्षुषा) आँख द्वारा (उदहार्यम्) जल भरने वाले रूप में (पश्यन्ति) देखते हैं, परन्तु (सर्वे) सब [उसके यथार्थ स्वरूप को] (मनसा) मनन पूर्वक (न विदुः) नहीं जानते, वैसे दृश्य-जगत् को आँख से देख कर, स्कम्भ-परमेश्वर के जगत्कर्तृत्व आदि रूप को तो सब जानते हैं, परन्तु सब (मनसा) मनन-पूर्वक उसके यथार्थ स्वरूप को (न विदुः) नहीं जानते।

[अध्यात्म प्रकरण में उदहार्य का वर्ण दृष्टान्तरूप में है। इस द्वारा दार्ष्टान्त रूप में स्कम्भ का वर्णन अभिप्रेत है। जैसे सिर पर कुम्भ द्वारा जल ले जाते हुए को आँख द्वारा उसके तात्कालिक उदहार्यरूप को लोग जानते हैं, और मनन या विचार पूर्वक उसके यथार्थ स्वरूप को नहीं देखते, उसके यथार्थ रूप को केवल उसके सम्बन्धी ही जानते हैं वैसे जगत् की स्थिति को आँख से देखकर लोग स्कम्भ के उसी रूप को तो जानते हैं जिसका कि जगत् के साथ सम्बन्ध है, परन्तु जगत् के उठे[१] हुए यथार्थ स्वरूप को वे नहीं जानते, केवल (मनसा) मनन-निदिध्यासन वाले कतिपय ध्यानी ही उस स्वरूप को जानते हैं।

मन्त्र में "भरन्तम्" पद पुंल्लिङ्ग है, अतः "उदहार्यम्" पद भी पुंल्लिङ्ग ही होना चाहिए। व्याख्याकारों ने "उदहार्यम्" को "उदहारी[२]" स्त्रीलिङ्ग जानकर द्वितीया विभक्ति रूप में व्याख्यात किया है। वस्तुतः "उदहार्यम्"=उद (उदक)+हृ (हरणे)+ण्यत् (कर्तरि) "**ऋहलोर्ण्यत्**" (अष्टा० ३.१.१२४)]।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**भुरिग्बृहती** ॥

दूरे पूर्णेन वसति दूर ऊनेन हीयते।
महद्यक्षं भुवनस्य मध्ये तस्मै बलिं राष्ट्रभृतो भरन्ति ॥ १५ ॥

अर्थ—(पूर्णेन) धन-धान्य से भरे व्यक्ति से यह स्कम्भ (दूरे) दूर (वसति) वसता है, (ऊनेन) निर्धन अर्थात् गरीब द्वारा तो वह (दूरे) दूर (हीयते) परित्यक्त रहता है। (महत्) महान् (यक्षम्) पूजनीय स्कम्भ (भुवनस्य) उत्पन्न ब्रह्माण्ड के (मध्ये) मध्य में वर्तमान है, (तस्मै) उसके प्रति (राष्टभृतः) राष्ट्रधारी या राष्ट्र का भरण-पोषण करने वाले राजा लोग (बलिम्) भेंटें (भरन्ति) लाते हैं, समर्पित करते हैं।

[धन-धान्य से भरे व्यक्ति, धन-धान्य में मस्त रहकर, स्कम्भ को भूले रहते हैं और धन-धान्य से वञ्चित व्यक्ति इसके उपार्जन में ही कालयापन कर, इसकी ओर ध्यान नहीं दे सकते। स्कम्भ तो भुवन के मध्य में सदा वर्तमान है, परन्तु लोग इस पूजनीय महान्-तत्त्व के दर्शन नहीं पा सकते। आस्तिक

१. यथा "**त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः**" (यजुः० ३१.४)।
२. उदहारी+अम् (द्वितीया विभक्ति, "**इको यणचि**")=उदहार्यम्। यथा "कुमारी+अम्=कुमार्यम्" (अथर्व० १४.१.६३)। वास्तविक रूप चाहिए उदहारीम्, कुमारीम्।

राष्ट्रधारी राजा लोग भी महान् आत्मा के प्रति नतमस्तक होकर, निज श्रद्धाओं की बलियाँ भेंट करते हैं। यक्षम्=**यक्ष पूजायाम्** (चुरादिः)]।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

यतः सूर्य॑ उदेत्यस्तं यत्र॑ च गच्छ॑ति। तदे॒व म॑न्येऽहं ज्येष्ठं तदु नात्ये॑ति किं च॒न॥ १६॥

अर्थ—(यतः) जहाँ से (सूर्यः) सूर्य (उदेति) उदित होता है (च) और (यत्र) जिसमें (अस्तम्, गच्छति) अस्त होता है (तद् एव) उसे ही (अहम्) मैं (ज्येष्ठम्) सर्वज्येष्ठ (मन्ये) मानता हूँ, (तद् उ) उसे (किं चन) कोई पदार्थ (न अत्येति) ज्येष्ठता में अतिक्रान्त नहीं करता, अर्थात् ज्येष्ठता में उससे बढ़कर कोई पदार्थ नहीं।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

ये अ॒र्वाङ् मध्य॑ उ॒त वा॑ पु॒रा॒णं वेदं॑ वि॒द्वांस॑म॒भितो॑ वद॑न्ति।
आ॒दि॒त्यमे॒व ते परि॑ वद॒न्ति सर्वे॑ अ॒ग्निं द्वि॒तीयं॑ त्रि॒वृतं॑ च हं॒सम्॥ १७॥

अर्थ—(अर्वाङ्) अर्वाक् काल में, (मध्ये) मध्यवर्ती काल में, (उत वा) अथवा (पुराणम्) पुराकाल में (ये) जो [वेदवेत्ता विद्वान्] (वेदं विद्वांसम्) वेदवेत्ता-परमेश्वर का (अभितः) सब ओर (वदन्ति) कथन करते हैं, (ते) वे (सर्वे) सब (आदित्यम् एव) आदित्य नाम वाले परमेश्वर का ही (द्वितीयम्, अग्निम्) और द्वितीय अग्नि नाम वाले परमेश्वर का (च) तथा (त्रिवृतम्) तीसरे (हंसम्) हंस नाम वाले परमेश्वर का (परिवदन्ति) सब ओर कथन करते हैं।

[स्कम्भ नामवाले परमेश्वर को ''वेदं विद्वांसम्'' द्वारा वेदवेत्ता कहा है ''आदित्य और अग्नि'' परमेश्वर के नाम हैं (यजुः० ३२.१)। हंस भी परमेश्वर का नाम है। यथा ''**हंसः शुचिषद् वसुः**'' (यजुः० १०.२४; १२.१४)। हंसः=हन्ति अविद्यान्धकारम्; हन्ति क्लेशान् सः]।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

स॒ह॒स्रा॒ह्ण्यं वि॒यता॑वस्य प॒क्षौ हरे॑र्ह॒ंसस्य॒ पत॑तः स्व॒र्गम्।
स दे॒वान्त्सर्वा॒नुर॑स्युप॒दद्य॑ सं॒पश्य॑न्याति॒ भुव॑नानि॒ विश्वा॑॥ १८॥

अर्थ—(स्वर्गम्) स्वर्ग की ओर (पततः) उड़ते हुए, (हरेः) अपने साथ सौर-परिवार को हरते हुए, (अस्य) इस (हंसस्य) हंस [सूर्य] के (पक्षौ) मानो दो पंख (सहस्राह्ण्यम्) हजारों दिनों की व्याप्ति में (वियतौ) खुले रहते हैं, फैले रहते हैं। (सः) वह हंस (सर्वान्) सब (देवान्) देवों को (उरसि) छाती में (उपदद्य) धारण करके (विश्वा भुवनानि संपश्यन्) सब भुवनों को देखता हुआ (याति) जाता है। तथा देखो (अथर्व० १३.२.३८; ३.१४)।

[मन्त्र १७ में ''हंस'' नाम से परमेश्वर का वर्णन हुआ है, जिसकी व्याख्या मन्त्र (१८) में हुई है। स्कम्भ के अध्यात्म-प्रकरण में, सूर्य के वर्णन द्वारा सूर्य को स्कम्भ-परमेश्वर के, रथरूप में जानना चाहिए। यजुर्वेद (४०.१७) के अनुसार आदित्य में ब्रह्म-पुरुष की स्थिति कही है। यथा—

"**यो॒ऽसावा॑दि॒त्ये पुरु॑षः सो॒ऽसाव॒हम्। ओ३म् खं ब्रह्म**"॥ ४०.१७॥

अतः सूर्यरथ जिधर गति कर रहा है, उसमें स्थित हुए ब्रह्म-पुरुष की गति उधर हो रही है। या यह जानो कि सूर्यरथ में अधिष्ठित हुआ ब्रह्म-पुरुष, इस रथ का उड़ान स्वर्ग की ओर कर रहा है। मन्त्र में

"पततः" द्वारा और "पक्षौ" द्वारा पक्षी रूप में सूर्यरथ का वर्णन हुआ है, जो कि आकाश में उड़ रहा है। मन्त्र के इस अभिप्राय में "संपश्यन्" पद कविता में नहीं, अपितु "सम्यक् देखने, या निरीक्षण करने, अर्थ में है। सूर्याधिष्ठित ब्रह्म-पुरुष वास्तविक द्रष्टा है]।"

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सत्येनोर्ध्वस्तपति ब्रह्मणार्वाङ् वि पश्यति।
प्राणेन तिर्यङ् प्राणति यस्मिञ्ज्येष्ठमधि श्रितम्॥ १९ ॥

अर्थ—(यस्मिन्) जिस व्यक्ति में (ज्येष्ठम्) ज्येष्ठ ब्रह्म (अधिश्रितम्) अधिष्ठित हो जाता है, या जिसे वह अपना आश्रय कर लेता है, वह (ब्रह्मणा) ब्रह्म की प्रेरणा द्वारा (सत्येन) सत्य से (ऊर्ध्वः) ऊंचा हुआ (तपति) चमकता है और (अर्वाङ्) नीचे के भूमिष्ठ लोगों का (वि पश्यति) विशेष ध्यान करता है। और वह (प्राणेन) प्राण द्वारा (तिर्यङ्) टेढ़ी गति वाले मनुष्यों को (प्राणति) सजीव करता रहता है।

[तिग्रङ्=तिरः+अञ्च् (गतौ)। अभिप्राय यह कि जो मनुष्य टेढ़ी चाल चलते हैं उन्हें भी वह सदुपदेशों द्वारा प्राणशक्ति देकर सजीव करता रहता है। मन्त्र में सूर्य का वर्णन भी प्रतीत होता है जो कि अधिष्ठित ब्रह्म द्वारा ऊर्ध्वदिशा में तप रहा है और निज रश्मियों द्वारा मानो नीचे भूमि को देखता है और प्राणशक्ति प्रदान द्वारा सभी दिशाओं को अनुप्राणित करता है। इस वर्णन द्वारा यह भी द्योतित किया है कि सूर्य में ब्रह्म अधिष्ठित है। इस प्रकार मन्त्र १८, १९ में आर्थिक समन्वय हो जाता है]।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यो वै ते विद्यादरणी याभ्यां निर्मथ्यते वसु।
स विद्वाञ्ज्येष्ठं मन्येत स विद्याद् ब्राह्मणं महत्॥ २० ॥

अर्थ—(यः) जो (वै) वास्तव में (ते अरणी) उन दो अरणियों को (विद्यात्) जानता है (याभ्याम्) जिन दो द्वारा (वसु) इनमें बसा हुआ [स्कम्भ-परमेश्वर] (निर्मथ्यते) अग्नि की तरह मथ कर निकाला जाता है, प्रकट किया जाता है, (स विद्वान्) वह विद्वान् अर्थात् मन्थनविधि को जानने वाला व्यक्ति (ज्येष्ठम्) ज्येष्ठ ब्रह्म को (मन्येत) जान सकता है, (सः) वह (महत्) महान् (ब्राह्मणम्) ब्रह्म को (विद्यात्) जान सकता है।

[ब्राह्मणम्=ब्रह्म+अण् (स्वार्थे) अथवा वेदप्रतिपादित स्कम्भ-परमेश्वर। दो अरणि-काष्ठों में परस्पर मन्थन द्वारा यज्ञिय अग्नि को प्रकट किया जाता है। अध्यात्म ब्रह्माग्नि को मथ निकालने के सम्बन्ध में कहा है कि—

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्। ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवत्॥

(श्वेताश्व० उपनिषद् अध्याय १, खण्ड १४)

निज देह को अरणि काष्ठ करके, और प्रणव अर्थात् ओ३म् को उत्तरारणि करके, ध्यानरूपी निर्मथन के अभ्यास से, निगूढ़ अर्थात् छिपी अग्नि की तरह, परमेश्वर-देव का दर्शन करे]।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अपादग्रे सम॑भव॒त्सो अग्रे॒ स्व॑१राभ॑रत्।

चतु॑ष्पाद्भूत्वा भोग्यः॒ सर्व॒मादत्त॒ भोज॑नम्॥ २१ ॥

अर्थ—[स्कम्भ-परमेश्वर] (अग्रे) सृष्ट्युत्पादन से पहिले (अपाद्) पादरहित (अभवत्) था, (सः) वह (अग्रे) पहिले (स्वः) सुखस्वरूप को (सम् आभरत्) धारण किये हुए था। (चतुष्पाद् भूत्वा) चतुष्पाद् होकर (भोग्यः) वह भोग्य बना। तदनन्तर (सर्वम्) सब (भोजनम्) निज सृष्टिरूपी भोजन का (आदत्त=आ+अदत्त) उसने आदान कर लिया।

[समग्र सृष्टि स्कम्भ-पुरुष का एकपाद् रूप है "**पादोऽस्य विश्वा भूतानि**" (यजुः० ३१.३)। शेष त्रिपाद् अमृत रूप हैं, उनका सृष्टि की उत्पत्ति-और-मृत्यु के साथ सम्बन्ध नहीं, वे उसके द्योतनात्मक स्वरूप में स्थित रहते हैं, "**त्रिपादस्यामृतं दिवि**" (यजुः० ३१.३)। इस प्रकार सृष्टि की रचना की दृष्टि से स्कम्भ-पुरुष चतुष्पाद् हो जाता है। परन्तु सृष्टिरचना से पूर्व चूंकि उसका सृष्टिरूपी एकपाद् भी नहीं होता अतः सृष्टिरचना से पूर्व वह अपाद् होता है, पादरहित होता है। उस समय वह निज सुखस्वरूप में वर्तमान रहता है। चतुष्पाद् होकर अर्थात् सृष्टि रचना कर वे वह "भोग्य" होता है। उपासक उसके आनन्दस्वरूप का भोग करते हैं। सृष्टिकाल की समाप्ति के समय वह सृष्टिरूपी भोजन का पुनः आदान कर लेता है। जैसे कहा है—

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः।

मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः॥ (कठोप० २.२५)

ब्रह्म और क्षत्र जिसके ओदन हैं, भात हैं; और मृत्यु उपसेचन है दालरूप है, इस प्रकार प्रलय हो जाने पर, यथार्थ रूप में कौन जानता है कि वह कहाँ? ब्रह्म अन्न भी है, और अन्नाद भी "**अहमन्नम्, अहमन्नादः**" (तैत्तिरीय उप० भृगवल्ली ३, खं ६)। अन्नरूप में वह "भोग्य" होता है, और "अन्नादरूप में" "भोजनमादत्त" अर्थात् अन्नाद होता है]।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**पुरउष्णिक्** ॥

भोग्यो॑ भव॒दथो॒ अन्न॑मदद् ब॒हु। यो दे॒वमु॑त्त॒राव॑न्तमु॒पासा॑तै सना॒तन॑म्॥ २२ ॥

अर्थ—(यः) जो व्यक्ति, (उत्तरावन्तम्) सर्वोपरि वर्तमान, (सनातनं देवम्) सनातन अर्थात् सदा वर्तमान देव [स्कम्भ-परमेश्वर] की (उपासातै) उपासना करे, [वह] (भोग्यः) भक्तों द्वारा सेवनीय (भवत्) हो जाए, (अथो) तथा (बहु) बहुत (अन्नम्) अन्नरूप परमेश्वर के आनन्द रस का (अदत्) भक्षण करे, पान करे।

[उत्तरावन्तम्="**अतिशयितोत्कर्षवन्तम्**" (सायण अथर्व० ४.२२.५)। अन्नम्=परमेश्वर, (मन्त्र २१)। जो परमेश्वर की बहुत उपासना करेगा वह उसके आनन्दरस का बहु-पान या भोग करेगा ही। "**अन्नं बहु[1] अदत्**" प्राकृतिक अन्न का बहुभक्षण उपासना में उपकारी "लघुत्व" (श्वेता० उप० अध्याय २। खण्ड १३) का विरोधी है, अतः उपासना में अनुपकारी है]।

---

१. अथवा इसका अभिप्राय यह है कि ऐसे उपासक को, भक्तजन बहुत अन्न प्रदान करते हैं, उसके पास खान-पान की सामग्री का अतिशय हो जाता है (देखो अथर्व० २०.१३१.४, ५)।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सनातनमेनमाहुरुताद्य स्यात्पुनर्णवः। अहोरात्रे प्र जायेते अन्यो अन्यस्य रूपयोः॥ २३॥

अर्थ—(एनम्) इस [स्कम्भ-परमेश्वर] को (सनातनम्) सदावर्ती (आहुः) कहते हैं, (उत) तथा (अद्य) वर्तमान काल में वह (पुनर्णवः) पुनः-पुनः नया भी (स्यात्) होता रहता है। जैसे कि (अहोरात्रे) दिन और रात [अनादिकाल से वर्तमान होते हुए भी] (अन्यो अन्यस्य) अपने-अपने भिन्न भिन्न (रूपयोः) रूपों में या एक-दूसरे के रूप में (प्रजायेते) पुनः-पुनः प्रकट होते रहते हैं।

[भूतकाल की सृष्टियों में तथा वर्तमान काल की सृष्टि में (अद्य), और भविष्यत् काल की सृष्टियों में दिन-रात की सत्ता सदा रहती है। परन्तु फिर भी दिन के पश्चात् रात, और रात के पश्चात् दिन, दृष्टिगोचर होते हैं। ये अनादि होते हुए पुनः-पुनः नए-नए प्रकट होते हैं, इसी प्रकार परमेश्वर के सनातन होते हुए भी वह प्रतिसृष्टि नए-नए रूपों में प्रकट होता रहता है। अहोरात्रे यथा—

"**अहोरात्राणि विदधद् विश्वस्य मिषतो वशी। सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्**" (ऋ० १०.१९०.२, ३) में "यथापूर्वम्" द्वारा "अहोरात्र" आदि की सनातन सत्ता कही है, और ये पुनः पुनः नए-नए रूपों में भी प्रकट होते रहते हैं]।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

शतं सहस्रमयुतं न्यर्बुदमसंख्येयं स्वमस्मिन्निविष्टम्।
तदस्य घ्नन्त्यभिपश्यत एव तस्माद्देवो रोचत एष एतत्॥ २४॥

अर्थ—(शतम्) सौ (सहस्रम्) हजार (अयुतम्) दस हजार (न्यर्बुदम्) दस क्रोड़ (असंख्येयम्) तथा असंख्यात (स्वम्) धन (अस्मिन्) इस [स्कम्भ-परमेश्वर] में (निविष्टम्) स्थित है। (अभिपश्यतः) साक्षात् देखते हुए (अस्य) इसके (तत्) उस धन को (घ्नन्ति एव) लोग प्राप्त करते ही रहते हैं, (तस्मात्) इससे (एषः) यह (देवः[1]) देव अर्थात् दाता (एतत् रोचते) इस रूप में रुचिकर होता है, प्रिय होता है।

[परमेश्वर असंख्यात धन का स्वामी है। इस स्वामी से पूछे बिना, लोग इसके देखते-देखते इसके धन को लेते रहते हैं, अतः इस रूप में परमेश्वर सब को प्रिय लगता है। वह है देव अर्थात् सबका दाता। घ्नन्ति=हन् गतौ, प्राप्तौ। न्यर्बुदम्=दस क्रोड़ (यजुः० १७.७)]।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

बालादेकमणीयस्कमुतैकं नेव दृश्यते।
ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया॥ २५॥

अर्थ—(एकम्) एक वस्तु जो कि (बालात्) बाल से (अणीयस्कम्) सूक्ष्म है, (उत) तथा (एकम्) एक वस्तु जो कि (न इव) न के सदृश (दृश्यते) दीखती है [वैसी वह] (देवता) देवता है। वह देवता (परिष्वजीयसी) सबको आलिङ्गन किये हुए है, (ततः) इसलिए (सा) वह (मम प्रिया) मेरी प्यारी है।

[पारमेश्वरी दिव्या माता बाल से भी सूक्ष्म है, तथा वह "न" के सदृश दीखती है, अनुभूत तो होती

---

१. "**देवो दानाद् वा**" (निरुक्त ७.४.१५)।

है परन्तु दृष्टिगोचर नहीं होती है। परन्तु उसने माता की तरह सबका आलिङ्गन किया हुआ है, अतः सर्वप्रिया वह माता, मुझे प्रिय है]।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**द्व्युष्णिग्गर्भाऽनुष्टुप्** ॥

इयं कल्याण्य१जरा मर्त्यस्यामृता गृहे। यस्मै कृता शये स यश्चकार जजार सः ॥ २६ ॥

अर्थ—(इयम्) यह (कल्याणी) कल्याण करने वाली [देवता, मन्त्र २५] (अजरा) जरारहित है, जीर्ण नहीं होती। (अमृता) यह अमृता देवता, (मर्त्यस्य) मरणधर्मा मनुष्य के (गृहे) शरीर या हृदयगृह में विद्यमान है। (कृता) वह कृतिशक्तिरूपिणी (यस्मै) जिसके लिए (शये) मर्त्य शरीर या हृदय में शयन किये हुए है (सः सः) वह है वह (यः) जो कि (चकार) कर्म करता है और (जजार) जीर्ण होता रहता है।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**भुरिग्बृहती** ॥

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ॥ २७ ॥

अर्थ—(त्वम्) तू (स्त्री) स्त्री (त्वम्) तू (पुमान्) पुरुष (असि) हो जाता है (त्वम्) तू (कुमारः) कुमार (उत वा) तथा (कुमारी) कुमारी हो जाता है। (त्वम्) तू (जीर्णः) बूढ़ा हो जाता है (दण्डेन) तो दण्डे के साथ (वञ्चसि) चलता है (त्वम्) तू (विश्वतोमुखः) नाना अर्थात् भिन्न-भिन्न मुखों वाला (जातः भवसि) जन्म लेता है।

[मन्त्र में प्रसङ्गवश जीवात्मा का वर्णन है। मन्त्र २६ में जीवात्मा का प्रासङ्गिक वर्णन हुआ है, और "जजार" द्वारा उसकी जीर्णता का कथन किया है। मन्त्र २७ में भी "जीर्णः" द्वारा जीवात्मा के देह की जरावस्था को सूचित किया है। वही जीवात्मा स्त्री-पुमान् आदि रूप में जन्म लेता हुआ विश्वतोमुख होता रहता है। यह सब उसके कर्मों का फल है। (चकार)]।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

उतैषां पितोत वा पुत्र एषामुतैषां ज्येष्ठ उत वा कनिष्ठः।
एको ह देवो मनसि प्रविष्टः प्रथमो जातः स उ गर्भे अन्तः ॥ २८ ॥

अर्थ—(उत) तथा (एषाम्) इनका (पिता) पिता (उत वा) तथा (एषाम्) इनका (पुत्रः) पुत्र (उत) तथा (एषाम्) इनमें (ज्येष्ठः) बड़ा (उत वा) तथा (कनिष्ठः) छोटा होता रहता है। (एकः देवः ह) एक ही देव [जीवात्मा] (मनसि) मन में (प्रविष्टः) प्रविष्ट हुआ (प्रथमः जातः) पहिले पैदा होता है, (सः उ) वह ही [मरकर, शरीर त्याग कर पुनः] (गर्भे अन्तः) गर्भ के भीतर आता है।

[देवः=जीवात्मा स्वरूपतः देव है। परन्तु मन द्वारा जकड़ा होकर, "अदेव" हो कर, नानारूपों में जन्म लेता रहता है]।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पूर्णात्पूर्णमुदचति पूर्णं पूर्णेन सिच्यते। उतो तदद्य विद्याम यतस्तत्परिषिच्यते ॥ २९ ॥

अर्थ—(पूर्णात्) पूर्ण से (पूर्णम्) पूर्ण [जगत्-वृक्ष] (उदचति) उद्गत होता है, प्रकट होता है;

(पूर्णम्) पूर्ण [जगत्-वृक्ष] (पूर्णेन) पूर्ण द्वारा (सिच्यते) सींचा जाता है। (उतो) तथा (तत्) उसे (अद्य) आज (विद्याम) हम जानें (यतः) जिससे (तत्) वह [जगत्-वृक्ष] (परिषिच्यते) सब ओर सींचा जा रहा है।

[स्कम्भ पूर्ण है, और जगत्-वृक्ष भी पूर्ण है। प्राणियों के सामूहिक कर्मानुसार जो जगत्-वृक्ष उत्पन्न किया गया है वह कर्मानुसार पूर्णरूप है। इसमें इस दृष्टि से कोई न्यूनता नहीं। परन्तु हम यह जानना चाहते हैं कि जगत्-वृक्ष को सींचने वाला कौन है? परिषिच्यते में "परि" का अर्थ है "सब ओर"। जिज्ञासुओं को सब ओर जगत्-वृक्ष हरा-भरा दीख रहा है, कहीं भी मुरझाया हुआ या रूखा दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है, इसलिए "परि" का प्रयोग "सिच्यते" के साथ हुआ है।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्** ॥

एषा सनत्नी सनमेव जातैषा पुराणी परि सर्वं बभूव।
मही देव्यु१षसो विभाती सैकेनैकेन मिषता वि चष्टे॥ ३०॥

अर्थ—(एषा) यह (सनत्नी) सनातनी (सनम् एव) सदा ही (जाता) सृष्टि में प्रकट होती है (एषा) यह (पुराणी) पुराकाल से विद्यमान है, अनादि है (सर्वम्) सब को (परिबभूव) इसने सब ओर से घेरा हुआ है। (मही देवी) यह महती देवी (उषसः) उषाओं को (विभाती) दीप्त करती है, चमकाती है। (सा) वह (एकेन-एकेन) एक-एक (मिषता) उन्मेष द्वारा (विचष्टे) विविध जगत् को देख लेती है।

[मिषता=आँख के उन्मेष द्वारा। परिषिच्यते (२९) और परिबभूव (३०) में "परि" का भाव है सब ओर]।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अविर्वै नाम देवतर्तेनास्ते परीवृता। तस्या रूपेणेमे वृक्षा हरिता हरितस्रजः॥ ३१॥

अर्थ—(अविः) रक्षा करने वाली (नाम देवता) प्रसिद्ध देवता (ऋतेन) सत्य-ब्रह्म द्वारा (परीवृता) सब ओर से आवृत अर्थात् घिरी हुई (आस्ते) स्थित है। (तस्याः) उसके (रूपेण) रूप अर्थात् प्रकाश द्वारा (इमे) ये (वृक्षाः) वृक्ष (हरिताः) हरे हैं (हरितस्रजः) और हरी मालाओं वाले हैं।

[अविः[१]=अव रक्षणे (भ्वादिः) रक्षा करने वाला सूर्य। अविः=The sun (आप्टे)। ऋतेन="**ऋतम् सत्यनाम**" (निघं० ३.१०)। अभिप्राय है "**सत्यब्रह्म**" (यजुः० ४०.१७)। सूर्य के प्रकाश द्वारा वृक्ष हरे हैं और लतारूपी हरी मालाओं वाले हैं। "**ऋतम् उदकनाम**" (निघं० १.१२)। वृक्ष हरे होते हैं सूर्य के प्रकाश द्वारा, तथा जलसेचन (२९) द्वारा। इसलिए मन्त्र में "ऋत" शब्द दो अर्थों वाला प्रयुक्त हुआ है। आस्ते=**आस उपवेशने** (अदादिः) सूर्य "आस्ते" अर्थात् एक स्थान में उपविष्ट है, स्थित है, स्थिर

१. अवि का यौगिक अर्थ है रक्षक (**अव रक्षणे,** अदादिः)। सूर्य वस्तुतः पार्थिव वनस्पति-जगत् का तथा प्राणिजगत् का रक्षक है। परन्तु रूढ्यर्थ में अवि का अर्थ है भेड़। भेड़ जाति की मादा को तो अवि कहते हैं, और नर को मेष। मन्त्र में अवि द्वारा मेषराशि भी विशेषतया सूचित की है। वसन्त ऋतु में सूर्य मेषराशि पर होता है, जबकि वनस्पतियों में नवप्राण का संचार होता है और वृक्ष तथा लताएँ हरी-भरी होने लगती हैं, जिनका कि मन्त्र में "हरिताः हरितस्रजः" द्वारा वर्णन हुआ है। वसन्त से पूर्व शिशिर ऋतु होती है जब कि वनस्पतियों के पत्ते जीर्ण-शीर्ण हो जाते हैं, तभी शिशिर ऋतु को "पतझड़" भी कहते हैं, पत्ते झड़ने की ऋतु। अवि अर्थात् मेषराशि में स्थित सूर्य को लक्षणया अवि कहा है।

है, वह चलता नहीं]।

ऋषि:—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अन्ति सन्तं न जहात्यन्ति सन्तं न पश्यति।
देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति॥ ३२॥

अर्थ—(अन्ति=अन्तिकम्) समीप (सन्तम्) होते हुए को (न जहाति) [यह जीवात्मा] नहीं त्यागता, (अन्ति सन्तम्) समीप होते हुए को (न पश्यति) देखता भी नहीं। (देवस्य) देव के (काव्यम्) वेदकाव्य को (पश्य) देख, (न ममार) देखने वाला न मरता है, (न जीर्यति) और न जीर्ण होता है।

[परमेश्वर सर्वव्यापक होने से समीपस्थ है और हृदयनिष्ठ और आत्मनिष्ठ होने से अति समीप है, तो भी जीवात्मा उसका दर्शन नहीं कर पाता। अतः उसके वेदकाव्य को देखना चाहिए, जिससे ज्ञात होगा कि इसके दर्शन के उपाय क्या हैं। दर्शन पाकर व्यक्ति मुक्त हो जाता है और बार-बार जन्म ले कर, बार-बार मरने और जीर्ण होने से उसे छुटकारा मिल जाता है]।

ऋषि:—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अपूर्वेणेषिता वाचस्ता वदन्ति यथायथम्।
वदन्तीर्यत्र गच्छन्ति तदाहुर्ब्राह्मणं महत्॥ ३३॥

अर्थ—(अपूर्वेण) अनादि परमेश्वर द्वारा (इषिताः) भेजी हुईं (वाचः) वेदवाणियाँ हैं। (ताः) वे वेदवाणियाँ (यथायथम्) तत्त्वों को यथार्थ रूप में (वदन्ति) प्रकट करती हैं। (वदन्तीः) प्रकट करती हुईं (यत्र) जहाँ (गच्छन्ति) चली जाती हैं। (तत्) उसे (आहुः) कहते हैं (महत् ब्राह्मणम्) महत्-ब्रह्म या महत्-ब्रह्मवेत्ता, वेदवेत्ता।

[मन्त्र ३२ में "काव्यम्" कहा है। उसे ही मन्त्र ३३ में "वाचः" कहा है। परमेश्वर इन्हें मनुष्योपकारार्थ भेजता है। ये वस्तुओं का यथार्थ वर्णन करती हैं, और प्रलय में महत्-ब्रह्म में प्रविष्ट हो जाती हैं। ब्राह्मणम्=ब्रह्म+अण् (स्वार्थे)। अथवा ब्रह्म=वेद। अतः वेदवेत्ता]।

ऋषि:—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यत्र देवाश्च मनुष्याश्चारा नाभाविव श्रिताः।
अपां त्वा पुष्पं पृच्छामि यत्र तन्मायया हितम्॥ ३४॥

अर्थ—(यत्र) जिसमें (देवाः च) देव और (मनुष्याः च) मनुष्य (श्रिताः) आश्रय पाये हुए हैं (इव) जैसे कि (अराः) अरा [Spokes] (नाभौ) रथ की नाभि में आश्रय पाते हैं। (अपाम् पुष्पम्) जलों के उस पुष्प को (त्वा) तुझ से (पृच्छामि) मैं पूछता हूँ (यत्र) जिसमें कि (तत्) वह ब्रह्म (मायया) प्रज्ञा सहित (हितम्) निहित है, स्थित है।

[देवाः=सूर्यादि देवा (यजुः० १४.२०)। अपां पुष्पम्=कमल। यह जलों में पैदा होता है और जलों का पुष्प है। इसे मन्त्र ४३ में पुण्डरीक कहा है। मन्त्र ४३ में पुण्डरीक द्वारा हृदय-कमल[१] का वर्णन हुआ

१. आपः का अर्थ "रक्त" भी होता है। यथा (अथर्व० १०.२.११)। अतः "अपां पुष्पम्"=रक्त सम्बन्धी पुष्प=हृदय। अथवा आपः=प्रकृति, इसका पुष्प=विकसित जगत्। "**पुष्प विकसने**" (दिवादिः)।

है। इसमें ब्रह्म निज प्रज्ञा सहित स्थित है। शरीर में कई क्रियाएँ अनिच्छापूर्वक हो रही हैं, यथा श्वास-प्रश्वास, रक्त का संचार, भुक्तान्न का परिपाक आदि। ब्रह्म निजप्रज्ञा द्वारा इन क्रियाओं को करता रहता है। अतः हृदय में ब्रह्म मायासहित स्थित है। **माया प्रज्ञानाम** (निघं० ३.९)]।

ऋषिः—**कुत्सः**॥ देवता—**अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

येभिर्वात इषितः प्रवाति ये ददन्ते पञ्च दिशः सध्रीचीः।

य आहुतिमत्यमन्यन्त देवा अपां नेतारः कतमे त आसन्॥ ३५॥

अर्थ—(येभिः) जिन द्वारा (इषितः) प्रेरित हुई (वातः) वायु (प्रवाति) बहती है, (ये) जो (सध्रीचीः) साथ-साथ मिली हुईं (पञ्च) विस्तृत (दिशः) दिशाएँ (ददन्ते) प्रदान करते हैं। (ये देवाः) जो देव (आहुतिम्) आहुति को (अति अमन्यन्त) अत्युपयोगी मानते हैं (अपां नेतारः ते) जलों के नेता वे देव (कतमे) कौन से (आसन्) हैं।

[पञ्च=**पचि विस्तारवचने** (चुरादिः), यथा "पञ्चास्यः", अर्थात् विस्तृत मुख वाला शेर तथा **पचि व्यक्तीकरणे** (भ्वादिः)। अथवा पञ्च=पांच। ददन्ते=जो देव दिशाओं का निर्माण करते, या इनका ज्ञान देते हैं। देवों द्वारा दिशाओं का ज्ञान होता है। जहाँ से सूर्योदय होता है वह पूर्व दिशा है, जहाँ वह अस्त होता है वह पश्चिम दिशा है। जिधर सप्तर्षि मण्डल है वह उत्तर दिशा है, उसके सामने की दिशा दक्षिणा दिशा है। इसी प्रकार चन्द्र आदि द्वारा भी दिशाओं का परिज्ञान होता है। आहुतिम्=पार्थिव-यज्ञाग्नि, वायु तथा सूर्य—ये तीन देव यज्ञिय-आहुतियों को फलदायी करते हैं, वायु को शुद्ध करते, रोगनाश करते, वर्षा करते, तथा स्वास्थ्य प्रदान करते हैं। मानो ये ३ देव यज्ञियाहुतियों को अतिमान प्रदान करते हैं]।

ऋषिः—**कुत्सः**॥ देवता—**अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

इमामेषां पृथिवीं वस्त एकोन्तरिक्षं पर्येको बभूव।

दिवमेषां ददते यो विधर्ता विश्वा आशाः प्रति रक्षन्त्येके॥ ३६॥

अर्थ—(एषाम्) इन [देवों] में (एकः) एक [पार्थिवाग्नि] (इमाम्, पृथिवीम्) इस पृथिवी को (वस्ते) आच्छादित करती या ओढ़ती है, (एकः) एक [वायु] (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को (परिबभूव) घेरे हुए है। (एषाम्) इनमें (यः) जो (विधर्ता) विविध सौरमण्डल को धारण करता है वह सूर्य (दिवम्) प्रकाश या दिन (ददते) प्रदान करता है, (एके) ये तीनों (विश्वाः आशाः) सब दिशाओं की (प्रति रक्षन्ति) रक्षा करते हैं।

[मन्त्र ३५ में "कतमे" द्वारा प्रश्न किया है, और मन्त्र ३६ में उत्तर दिया है। वस्ते=**वस आच्छादने** (अदादिः)। पृथिवीस्थ काष्ठादि में अग्नि विद्यमान होकर, पृथिवी को आच्छादित करती है; और अग्नि, पृथिवी के गर्भ में भी है, अतः पृथिवी इसकी ओढ़नी है। वह ज्वालामुखी पर्वतों, तथा दावाग्नि रूप में प्रकट होती रहती है]।

ऋषिः—**कुत्सः**॥ देवता—**अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यो विद्यात्सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः।

सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात्स विद्याद् ब्राह्मणं महत्॥ ३७॥

अर्थ—(यः) जो (विततम्) विविध रूपों में फैले हुए (सूत्रम्) सूत्र को (विद्यात्) जाने, (यस्मिन्) जिसमें (इमाः प्रजाः) ये प्रजाएँ (ओताः) बुनी हुई हैं। तथा (यः) जो (सूत्रस्य सूत्रम्) सूत्र के सूत्र को (विद्यात्) जाने (सः) वह (ब्राह्मणम्, महत्) महत्-ब्रह्म को, या महावेदवेत्ता को (विद्यात्) जाने।

[मन्त्र में सूत्र है प्रकृति, और सूत्र का सूत्र है महत्-ब्रह्म। सूत्र का काम है बाँधना। प्रकृति द्वारा सूर्यादि पदार्थ बन्धे हुए हैं। ब्रह्म, सूत्र को भी बाँधे हुए है। अतः वह सूत्र का भी सूत्र है। प्रकृति तानारूप में है, और ये उत्पन्न पदार्थ उस ताना में बानारूप हैं। इस प्रकार समग्र जगत् परस्पर ओत-प्रोत है। ब्राह्मणम्=ब्रह्म; स्वार्थे अण्। अथवा ब्रह्म=वेद, उसका महावेत्ता, ब्रह्म]।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वेदाहं सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः।

सूत्रं सूत्रस्याहं वेदाथो यद् ब्राह्मणं महत्॥ ३८॥

अर्थ—(अहम्) मैं (वेद) जानता हूँ (विततम्) विविध रूपों में फैले हुए (सूत्रम्) सूत्र को, (यस्मिन्) जिसमें (इमाः प्रजाः) ये प्रजाएँ (ओताः) बुनी हुई हैं। तथा (सूत्रस्य) सूत्र के (सूत्रम्) सूत्र को (अहम्, वेद) मैं जानता हूँ, (अथो) और (ब्राह्मणं महत्) महत्-ब्रह्म को या महावेदवेत्ता ब्रह्म को जानता हूँ।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**बृहतीगर्भा त्रिष्टुप्** ॥

यदन्तरा द्यावापृथिवी अग्निरैत्प्रदहन्विश्वदाव्यः।

यत्रातिष्ठन्नेकपत्नीः परस्तात्क्वेवासीन्मातरिश्वा तदानीम्॥ ३९॥

अर्थ—(विश्वदाव्यः) सबका दहन करने वाली, (प्रदहन्) प्रकर्षरूप में दग्ध करती हुई (अग्निः) अग्नि (यद्) जब (द्यावापृथिवी अन्तरा) द्युलोक और पृथिवी लोक के भीतर (ऐत्) आई, प्रकट हुई, तब (यत्र) जिसमें (परस्तात्) पुराकाल में (एकपत्नीः) एक [ब्रह्म] पति वाली [आपः] (अतिष्ठन्) स्थित थीं, (तदानीम्) तब (मातरिश्वा) वायु (क्व इव) कहाँ सम्भवतः (आसीत्) थी।

[विश्वदाव्यः=विश्व+**टुदु उपतापे** (भ्वादिः)+ण्यत् ?); यह प्रलयाग्नि प्रतीत होती है, जो कि विश्व को भस्मसात् कर देती है। एकपत्नी द्वारा "आपः" प्रतीत होते हैं। परन्तु यह आपः स्थूल जल नहीं। आपः का अर्थ अन्तरिक्ष अर्थात् आकाश प्रतीत होता है। यथा "**आपः अन्तरिक्षनाम**" (निघं० १.३), तथा "**आकाशम् अन्तरिक्षनाम**" (निघं० १.३)।

"आपः" का अर्थ जल मानने पर, प्रलय का वर्णन मन्त्र में अनुपपन्न हो जाएगा। आपः कार्य है, प्रलय में कार्य की स्थिति असम्भव है। अतः निघण्टु के अनुसार अर्थ ठीक प्रतीत होता है। प्रलयकाल में मातरिश्वा अर्थात् "अन्तरिक्ष में फैली हुई" वायु कहाँ थीं, यह प्रश्न मन्त्र में किया है। इसका उत्तर मन्त्र ४० में दिया है]।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अप्स्वासीन्मातरिश्वा प्रविष्टः प्रविष्टा देवाः सलिलान्यासन्।

बृहन्ह तस्थौ रजसो विमानः पवमानो हरित आ विवेश॥ ४०॥

अर्थ—(मातरिश्वा) "अन्तरिक्ष में फैली हुई" वायु (अप्सु) "आपः" में (प्रविष्टः आसीत्) प्रविष्ट थी, (देवाः) देव (सलिलानि) सलिलों में (प्रविष्टाः आसन्) प्रविष्ट थे। (ह) निश्चय से (बृहन्) महान् परमेश्वर (तस्थौ) स्थित था, (रजसो विमानः) जो कि लोकों का निर्माण करता है (पवमानः) पवित्र करने वाला वह परमेश्वर (हरितः) हरी-भरी दिशाओं में (आ विवेश) प्रविष्ट हुआ।

[मन्त्र में, मन्त्र ३९ के अनुसार "अप्सु" का अर्थ "आकाश" प्रतीत होता है। प्रलय में मातरिश्वा आकाश में प्रविष्ट थी। इसी प्रकार सूर्यादि देव भी "सलिलानि" अर्थात् "अप्सु" में प्रविष्ट थे। "अप्सु" में बहुवचन के अनुसार "सलिलानि" में बहुवचन का प्रयोग हुआ है। प्रलयावस्था में महान्-परमेश्वर स्थित था जो कि लोकों का निर्माण करता है वह पुनः सृष्टिरचना करता हुआ हरी भरी दिशाओं में प्रकट होता है। इस प्रकार मन्त्र ३९ और ४० में आर्थिक समन्वय हो जाता है]।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

उत्त॑रेणेव गाय॒त्रीम॒मृतेऽधि॒ वि च॑क्रमे।

साम्ना॒ ये साम॑ संवि॒दुर॒जस्तद्द॑दृशे॒ क्व॑॥ ४१ ॥

अर्थ—(गायत्रीम्) गायत्री से (इव) मानो (उत्तरेण) उत्कृष्ट [परमेश्वर] (अमृते अधि) निज अमृत स्वरूप में (वि [1]चक्रमे) विशेष रूप में पादविक्षेप किये हुए था। (साम्ना) गायत्रसामगान द्वारा (ये) जो उपासक (साम) शान्तिसम्पन्न परमेश्वर को (संविदुः) सम्यक् जानते हैं [उन द्वारा] (अजः) जन्मरहित (तत्) वह ब्रह्म (क्व) कहाँ (ददृशे) देखा गया या प्रत्यक्ष किया गया था?]।

[परमेश्वर गायत्री का अधिपति है। यथा "**यो गायत्र्या अधिपतिर्बभूव**" (अथर्व० ४.३५.६)। परमेश्वर गायत्री का अधिपति है अतः गायत्री से श्रेष्ठ है। परमेश्वर प्रलयकाल में तो निज अमृतस्वरूप में स्थित रहता ही है, सर्जनकाल में भी त्रिपाद् रूप से वह अमृत स्वरूप में ही स्थित रहता है। "**त्रिपादस्यामृतं दिवि**" (यजुः० ३१.३)। सामगानों द्वारा, विशेषतया गायत्र सामगान द्वारा, शान्ति सम्पन्न परमेश्वर को सम्यक् रूप में जान लिया जाता है, परन्तु वह अजन्मा केवल सामगानों द्वारा प्रत्यक्षदृष्ट नहीं होता। अतः कहा है "तत् ददृशे क्व"। इसका उत्तर मन्त्र ४३ में है; अर्थात् हृदयपुण्डरीक में ध्यान द्वारा वह प्रत्यक्षदृष्ट होता है]।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**(त्रिपदा) विराड् गायत्री** ॥

नि॒वेश॑नः सं॒गम॑नो॒ वसू॑नां दे॒व इ॑व सवि॒ता स॒त्यध॑र्मा।

इन्द्रो॒ न त॑स्थौ सम॒रे धना॑नाम्॥ ४२ ॥

अर्थ—परमेश्वर (निवेशनः) प्रत्येक वसु को अपने-अपने स्थान में निविष्ट करता है, (वसूनाम्) आठ वसुओं में (संगमनः) परस्पर संगति या समन्वय करता है, (देवः) वह देव (सविता इव) सूर्य की तरह (सत्यधर्मा) सत्य नियमों का धारण करता है। तथा (धनानाम्) धन-सम्बन्धी (समरे) युद्ध में (इन्द्रः न) सेनापति के सदृश (तस्थौ) जगत् में दृढ़ स्थित है।

[वसूनाम्=वसु आठ हैं। अग्नि और पृथिवी, वायु और अन्तरिक्ष, चन्द्रमा और नक्षत्र, सूर्य और

---

१. वि+**क्रमु पादविक्षेपे** (भ्वादिः)।

द्युलोक। सविता अर्थात् सूर्य के नियम सत्य हैं। वह समय पर उदयास्त होता, यथासमय ऋतुओं का निर्माण करता, नियमानुसार उत्तरायण तथा दक्षिणायन स्थितियाँ करता है। परमेश्वर के नियम भी सत्य हैं, सुदृढ़ हैं। तथा वह, युद्ध में सेनापति के सदृश जगत् में दृढ़ स्थित है]।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्।
तस्मिन्यद्यक्षमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥ ४३ ॥

अर्थ—(नवद्वारम्) नौं द्वारों वाले शरीर में स्थित (पुण्डरीकम्) हृदय-कमल (त्रिभिः गुणेभिः) ३ गुणों द्वारा (आवृतम्) ढका हुआ है। (तस्मिन्) उस [हृदय-कमल] में (यद्) जो (यक्षम्) पूजनीय है, (आत्मन्वत्) जो कि जीवात्म-रूप सखा वाला है (तत्) उसे (वै) निश्चय से (ब्रह्मविदः) ब्रह्मज्ञानी (विदुः) जानते हैं।

[नव द्वारम्=२ आँखों के, २ नासि का के, २ कानों के, १ मुख का, १ लिङ्ग का, १ गुदा का=९द्वार।

त्रिभिः गुणेभिः=तीन गुण सत्त्व, रजस्, तमस्। परन्तु पुण्डरीक होता है श्वेत कमल। यथा "A lotus flower, especially a white lotus" (आप्टे)। हृदय तीन गुणों द्वारा निर्मित है। परन्तु हृदयनिष्ठ ब्रह्म के साक्षात् के लिए हृदय में सत्त्वगुण प्रधानरूपेण चाहिए। सत्त्वगुण शुक्ल अर्थात् श्वेत होता है। यथा प्रकृति के सम्बन्ध में कहा है कि "**अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्**" (श्वेताश्व० ४.५)। रजस् है लोहित, सत्त्व है शुक्ल, तमस् है कृष्ण। यक्षम्="**यक्ष पूजायाम्**" (चुरादिः)। आत्मन्वत्=जीवात्मा वाला, जीवात्मा का सखा परमेश्वर]।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।
तमेव विद्वान्न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम् ॥ ४४ ॥

अर्थ—परमेश्वर (अकामः) कामना रहित है, (धीरः) प्रज्ञावान् (अमृतः) मृत्युरहित, (स्वयंभूः) स्वयं सत्तावान् अर्थात् स्वाश्रित, (रसेन) आनन्दरस द्वारा (तृप्तः) तृप्त, (कुतश्चन) किसी दृष्टि से (न ऊनः) न्यून नहीं। (आत्मानम्) आत्मारूप, (धीरम्) प्रज्ञावान् या धैर्यवान् (अजरम्) जरारहित, (युवानम्) सदा युवा (तम् एव) उस परमेश्वर को ही (विद्वान्) जानता हुआ व्यक्ति, (मृत्योः) मृत्यु से (न बिभाय) भयभीत नहीं होता।

[धीरः="**धीः प्रज्ञानाम**" (निघं० ३.९)+र (मत्वर्थीयः), तथा धैर्यवान्। धैर्यवान् इसलिए कि वह पापी को तत्काल उग्र दण्ड नहीं देता अपितु संस्कार रूप में दण्ड देता है। आत्मानम्=वह सदा आत्मस्वरूप में रहता है,काय को धारण नहीं करता है। परमेश्वरज्ञ व्यक्ति मृत्यु से भयभीत नहीं होता, क्योंकि शरीर त्याग के पश्चात् उसने परमेश्वर के आनन्दरस का पान करना है]।

अनुवाक चतुर्थ समाप्त ॥

अनवाक ५

सूक्त ९

विषय-प्रवेश

(शतौदना=अन्नदात्री पारमेश्वरी माता)

(१) राष्ट्र में पापकर्मों के प्रचार-प्रसार पर प्रतिबन्ध (१)।

(२) पारमेश्वरी-माता के "अधियज्ञ" स्वरूप के वर्णन-प्रसङ्ग में, उसके यज्ञिय अङ्गों का वर्णन (२, ३)।

(३) अध्यात्मगुरुओं और अध्यात्म शिष्य का वर्णन तथा "स्वर्ग और दिवः त्रिदिवम्"। (४-६)।

(४) शतौदना माता के "शमितारः तथा पक्तारः" तथा गोप्तारः [गोप्स्यन्ति] (७-९)।

(५) सब लोक-लोकान्तरों में जाने की क्षमता (६, १०)।

(६) शतौदना अर्थात् सैकड़ों प्रकार के ओदन आदि भोज्य पदार्थों को प्रदान करने वाली पारमेश्वरी माता द्युलोक, अन्तरिक्ष, तथा भूमि के देवों को क्षीर, सर्पिः, मधु प्रदान करती है (१२)।

(७) सर्वाङ्गसम्पूर्णा और अविकृताङ्गी चतुष्पाद् गौ से आमिक्षा, क्षीर, तथा सर्पिः, मधु का ग्रहण करना (१३-२४)। चतुष्पाद् गौ के अङ्गों के अभिप्राय यथामन्त्र स्थान-स्थान पर दर्शा दिये हैं। इनकी विशेष व्याख्या अथर्व० (९.१२(७), १-२५) में देखिये (१३-२४)।

(८) पारमेश्वरी माता का, पक्षिरूप में, उपासक को हृदय-चक्र से मानो उड़ा कर, सहस्रार चक्र में पहुँचाना (२५)।

(९) आध्यात्मिक सफलता पर, शिष्य द्वारा, यज्ञाहुतियाँ, तथा अध्यात्मगुरुओं का सहभोज; भोजनानन्तर जलपान तथा हस्तप्रक्षालनार्थ जल प्रदान तथा आशीर्वाद की प्रार्थना। (२६, २७)।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**शतौदना**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अघायतामपि नह्या मुखानि सपत्नेषु वज्रमर्पयैतम्।
इन्द्रेण दत्ता प्रथमा शतौदना भ्रातृव्यघ्नी यजमानस्य गातुः॥ १ ॥

अर्थ—(अघायताम्) पापकर्म चाहने वालों के (मुखानि) मुखों को (अपि नह्य) बाँध दे, (सपत्नेषु) शत्रुओं पर (एतम् वज्रम्) इस वज्र को (अर्पय) अर्पित कर, प्रेरित कर। (इन्द्रेण) इन्द्र द्वारा (दत्ता) दी गई (प्रथमा) श्रेष्ठ या अनादि (शतौदना) सैकड़ों ओदनों वाली, (भ्रातृव्यघ्नी) तथा शत्रुरूप भावों, विचारों, कर्मों का हनन करने वाली हे पारमेश्वरी मातः! तू हो, तथा (यजमानस्य) यजमान के लिए (गातुः) मार्गरूप हो।[1]

[यजमानस्य=तेरा जो पूजन, सत्संग करता, और तेरे प्रति आत्म-समर्पण करता है, उसे तू हे पारमेश्वरी मातः! मार्ग प्रदर्श करती है। अघायताम्=अघम् (पाम्)+क्यच् (**छन्दसि परेच्छायामपि**)+शतृ=

१. सायणाचार्य के शब्दों में सूक्त का याज्ञिक विनियोग। यथा—
"अघायतामिति सूक्तम् आहुत्यर्थगोवधे विनियुज्यते। सा च वन्ध्या गौः शतौदनेत्युच्यते। तस्या वधेन, तस्या मांसाहुत्या च यद् यजनं, तत् अग्निष्टोमादपि, अतिरात्रादपि च श्रेष्ठम् इत्यादिरूपा प्रशंसा। या इयं हन्यते तां प्रति "हन्तृभ्यो मा भैषीः, त्वं देवी भविष्यसि, त्वां स्वर्गे देवा गोप्स्यन्तीत्यादि प्रोत्साहनम्"।

दूसरों के प्रति पापकर्म चाहने वालों के मुखो को बाँधने का अभिप्राय है उन पर प्रतिबन्ध लगा देना ताकि वे पापों का प्रचार न कर सकें।

सपत्नेषु=पापकर्म, शत्रु हैं। इन पर तू हे मातः! वज्र प्रहार कर, ताकि ये पनपने न पाएँ। इन्द्रेण=**इदि परमैश्वर्ये।** अध्यात्म सम्पत्ति से सम्पन्न आत्मा द्वारा पारमेश्वरी माता के दर्शन कराए जा सकते हैं। यह है उसका दान।

शतौदना है पारमेश्वरी माता। वह सैकड़ों प्रकार के ओदन भोज्य पदार्थ दे रही है। भ्रातृव्यघ्नी=पारमेश्वरी माता भातृव्यों अर्थात् सपत्नरूप पाप विचारों तथा पापकर्मों का हनन करती है। "**व्यन्तसपत्ने**" (अष्टा० ४.१.१४५) द्वारा भ्रातृव्य का अर्थ है सपत्न अर्थात् शत्रु। यथा "**पाप्मा भ्रातृव्येण**" (अथर्व० ५.२२.१२) में पाप को भ्रातृव्य अर्थात् शत्रु कहा है। इस प्रकार सूक्त ९ में पारमेश्वरी माता का वर्णन शतौदना [गौ] के रूप में हुआ है।

गौ भी सैकड़ों प्रकार के ओदन आदि भोज्य पदार्थ देती है। यथा—दूध, दधि, घृत; तथा बैलों द्वारा कृष्यन्न। समग्र सूक्त में गौ नाम पठित नहीं। यद्यपि गौ के अङ्गों का वर्णन हुआ है। इन अङ्गों के वास्तविक अर्थ भी दर्शा दिये हैं। मन्त्र १२-२४ में आमिक्षा, क्षीर, सर्पिः के साथ मधु का भी वर्णन हुआ है। मधु गौ द्वारा प्राप्त नहीं होता, न मधु पद क्षीरम् का विशेषण है। क्योंकि "अथो" द्वारा इसका वर्णन पृथक् रूप में हुआ है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**शतौदना**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

वेदिष्टे चर्म भवतु बर्हिर्लोमानि यानि ते।
एषा त्वा रशनाग्रभीद् ग्रावा त्वैषोधि नृत्यतु॥ २॥

अर्थ—हे पारमेश्वरी मातः! (वेदिः) यज्ञ की वेदि (ते) तेरा (चर्म) चमड़ा (भवतु) हो, और (बर्हिः) यज्ञिय घास हो (ते यानि लोमानि) तेरे जो लोम हैं। (एषा) यह (रशना) जिह्वा, रस्सी हो जिसने (त्वा) तुझे (अग्रभीद्) बाँधा है, और (एषः) यह (ग्रावा) बट्टा (त्वा) तुझे लक्ष्य करके (अधि) शिला पर (नृत्यतु) नाचे।

[मन्त्र में यज्ञिय उपकरणों का वर्णन हुआ है जिन द्वारा यज्ञिया पारमेश्वरी-माता का स्तवन होता है। इसलिए वेदि, बर्हिः, रशना और ग्रावा का वर्णन मन्त्र में हुआ है। रशना का अर्थ जिह्वा भी है और रस्सी भी। जिह्वा द्वारा स्तुति करके पारमेश्वरी माता को बाँधा जाता है, स्वानुकूल किया जाता है, और रस्सी द्वारा गौ को बाँधा जाता है। यज्ञ में सोम ओषधि को पीसने के लिए सिल-बट्टे की आवश्यकता होती है। पीसने में बट्टे को शिला पर आगे-पीछे किया जाता है और इस रगड़ में आवाज होती है, मानो बट्टा स्तुति करता हुआ नाचता है। रशना=Fongue (आप्टे) तथा "**जिह्वा वाङ्नाम** (निघं० १.११)। अतः स्तुति वाक्रूपी रस्सी से तुझे बाँधा है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**शतौदना**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

बालास्ते प्रोक्षणीः सन्तु जिह्वा सं माष्ट्वघ्न्ये।
शुद्धा त्वं यज्ञिया भूत्वा दिवं प्रेहि शतौदने॥ ३॥

अर्थ—(प्रोक्षणीः) यज्ञ में जल सींचने वाला पात्र (ते) तेरे लिए (बालाः) [पूंछ के] बाल (सन्तु)

हों, (अघ्न्ये) हे अहन्तव्ये! अत्याज्ये (जिह्वा) वेदवाणी [मार्जनी होकर] (संमार्ष्टु) सम्यक्रूप में तेरे स्वरूप का संमार्जन करे। इस प्रकार (शतौदने) सैकड़ों ओदन आदि भोज्य पदार्थों वाली हे पारमेश्वरी मातः! तू (शुद्धा) शुद्ध स्वरूप और (यज्ञिया) पूजित तथा संगत (भूत्वा) होकर, (दिवं प्रेहि) हमारे मूर्धा अर्थात् मस्तिष्क में प्राप्त हो।

[जिह्वा=**जिह्वा वाङ्नाम** (निघं० १.११)। दिवम्="**दिवं यश्चक्रे मूर्धानम्**" (अथर्व० १०.७.३२), तथा "**शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत**" (यजुः० ३१.१३)। अभिप्राय है मस्तिष्कस्थ सहस्रार चक्र में तू प्राप्त हो। संमार्ष्टु=मार्जनी अर्थात् झाड़ू जैसे यज्ञ स्थल का संमार्जन कर उसे शुद्ध रूप में प्रकट करती है ऐसे वेदवाक् तेरे शुद्ध स्वरूप का प्रकट करे]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**शतौदना**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यः शतौदनां पचति कामप्रेण स कल्पते। प्रीता ह्यस्यर्त्विजः सर्वे यन्ति यथायथम्॥ ४॥

अर्थ—(यः) जो [ध्यान यज्ञ करने वाला] (शतौदनाम्) शतौदना [पारमेश्वरी माता] को (पचति) परिपक्व करता है, (सः) वह (कामप्रेण[१]) कामना को पूर्ण करने वाले [ध्यान यज्ञ] द्वारा (कल्पते) सामर्थ्य वाला हो जाता है, और (अस्य) इसके [ध्यानयज्ञ के] (ऋत्विक्) अर्थात् अध्यात्म गुरु (प्रीताः) प्रसन्न होकर (यथायथम्) जहां-जहाँ जाना चाहिए (यन्ति) चले जाते हैं।

[पचति=ध्यान द्वारा परिपक्व करता है। मन्त्र का अभिप्राय यह कि अध्यात्म गुरुओं को योग्य-शिष्य के निवास स्थान में भी यदि जाना पड़े तो वे कृपा करके जाते हैं, और शिष्य की कामना को पूर्ण करके यथास्थान वापिस चले जाते हैं]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**शतौदना**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

स स्वर्गमा रोहति यत्रादस्त्रिदिवं दिवः। अपूपनाभिं कृत्वा यो ददाति शतौदनाम्॥ ५॥

अर्थ—(यः) जो अध्यात्म गुरु, (अपूपनाभिम्) अपूप का बन्धन (कृत्वा) करके, (शतौदनाम्) सैकड़ों ओदनादि पदार्थ देने वाली पारमेश्वरी माता का (ददाति) दान करता है, (सः) वह (स्वर्गम्) सुख प्राप्ति के स्थान पर (आरोहति) आरोहण करता है (यत्र) जहाँ कि (दिवः) दिव् का (अदः) वह (त्रिदिवम्) त्रिदिव रूप है।

[मन्त्र में मस्तिष्क को स्वर्ग कहा है। मस्तिष्कनिष्ठ सहस्रार चक्र स्वर्गरूप है, जहाँ परमेश्वर का पूर्ण साक्षात् कर अध्यात्म गुरु, सुख विशेष पाता है। परमेश्वर के आनन्द रस का पान कर आनन्दी हो जाता है। मस्तिष्क दिव् है। (देखो मन्त्र ३)। मस्तिष्क तीन विभागों में विभक्त है। इसे त्रिदिव कहा है। यथा, बृहत् मस्तिष्क और लघु मस्तिष्क। बृहत् मस्तिष्क के दो भाग हैं, दाहिना गोलार्ध और बायाँ गोलार्ध। लघु मस्तिष्क बृहत्-मस्तिक के नीचे की ओर लगा रहता है। इस प्रकार मस्तिष्क तीन भागों में विभक्त होता है, जिन्हें कि त्रिदिव कहा है।

अपूपनाभिम्=अपूप का अर्थ है पूड़ा। यह मीठा और स्वादु होता है। अध्यात्म गुरु, शिष्य के भोजनार्थ अपूप आदि को नाभि अर्थात् बन्धन बना कर, शिष्य को अपने साथ बाँधे रखता है। नाभि=**णह बन्धने**। अन्नव्यवस्था के विना, शिष्य का बन्धन, गुरु के साथ नहीं हो सकता। क्योंकि अन्न के लिए गुरु का आश्रम त्याग कर उसे अन्यत्र भी जाना पड़ता है। अतः गुरु निज आश्रम में ही शिष्य के लिए अन्न

१. कामप्र-यज्ञ (अथर्व० ११.९.८)।

व्यवस्था कर, उसे अपने साथ बाँधे रखता है, और उसे शतौदना प्रदान करता है, पारमेश्वरी माता का ज्ञान प्रदान करता है, उसके स्वरूप का दर्शन कराता है, ऐसा योग्य गुरु निज आध्यात्मिक शक्तियों में समुन्नत हुआ, स्वर्गारोहण का अधिकारी होता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**शतौदना**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

स तांल्लोकान्त्समाप्नोति ये दिव्या ये च पार्थिवाः।

हिरण्यज्योतिषं कृत्वा यो ददाति शतौदनाम्॥ ६॥

अर्थ—(सः) वह अध्यात्म गुरु (तान् लोकान्) उन लोकों को (समाप्नोति) प्राप्त कर लेता है, (ये) जो (दिव्याः) दिव्य अर्थात् द्युलोक सम्बन्धी हैं। (ये च) और जो (पार्थिवाः) पृथिवी सम्बन्धी हैं, (यः) जो अध्यात्म गुरु (शतौदनाम्) पारमेश्वरी-माता को (हिरण्यज्योतिषम्) हृदयरमणीय ज्योति वाली (कृत्वा) करके (ददाति) शिष्य को प्रदान करता है।

[हिरण्यम्=**"हृदयरमणं भवतीति वा"** (निरुक्त २.३.१०)। ऐसा अध्यात्म गुरु जो कि शिष्य को उसके हृदय में रमण करने वाली ज्योतिर्मयी पारमेश्वरी माता का दर्शन करा देता है, वह उच्च योग विभूतियों से सम्पन्न होने के कारण, अव्याहत गति से, द्युलोक के लोक-लोकान्तरों में, तथा पृथिवी के विविध प्रदेशों में, सशरीर आ-जा सकता है, (देखो यजुः० १७.६७)]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**शतौदना**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ये ते देवि शमितारः पक्तारो ये च ते जनाः।

ते त्वा सर्वे गोप्स्यन्ति मैभ्यो भैषीः शतौदने॥ ७॥

अर्थ—(देवि) हे पारमेश्वरी मातृदेवते! (ये जनाः) जो जन (ते शमितारः) तुझे शान्त करते हैं, (ये च) और जो (ते पक्तारः) तुझे परिपक्व करते हैं (ते सर्वे) वे सब (त्वा) तेरी (गोप्स्यन्ति) रक्षा करेंगे (एभ्यः) इनसे (मा भैषीः) तू न भयभीत हो (शतौदने) हे सैकड़ों ओदन आदि भोज्य पदार्थों को देने वाली पारमेश्वरी मातः!

[शमितारः=शान्त करने वाले; तुझे क्रुद्ध हुई को स्तुति-प्रार्थनाओं द्वारा शान्त करनेवाले जन। शमनम्= Appeasing, soothing, calmness (आप्टे)। परमेश्वर क्रुद्ध भी हो जाता है। यथा **क्रुद्धस्य** (अथर्व० १३.३.१-२५)। उग्रभूचाल, अग्निकाण्ड, अतिवर्षा, वर्षाभाव अर्थात् सूखापन, महामारियाँ आदि परिणाम हैं उसके क्रोध के। पक्तारः=पकाने वाले जन, ध्यानाभ्यास द्वारा तुझे परिपक्व स्वरूप करते हैं। परिपाकः यथा "परिपक्वबुद्धिः"। सर्वे गोप्स्यन्ति=जब सब जन शतौदना की रक्षा करेंगे तब जनों द्वारा इसकी हत्या तथा अग्नि पर उसे पकाना कैसे युक्तिसंगत है। मा भैषीः=तुझे उपासक, अपात्रों तथा कुपात्रों में प्रदान करेंगे इसका भय मत कर। ऐसे व्यक्तियों को, शतौदना का परिज्ञान, उपासक नहीं देते। ऐसा ही भय, कविता में विद्या के सम्बन्ध में भी प्रकट किया है। यथा **"विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि। असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्"** (निरुक्त २.१.३)]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**शतौदना**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

वसवस्त्वा दक्षिणत उत्तरान्मरुतस्त्वा।

आदित्याः पश्चाद्गोप्स्यन्ति साग्निष्टोममति द्रव॥ ८॥

अर्थ—(वसवः) वसु (त्वा) तुझे (दक्षिणतः) दक्षिण से, (मरुतः) मरुत् (त्वा) तुझे (उत्तरतः) उत्तर से, (आदित्याः) आदित्य (पश्चात्) पश्चिम से (गोप्स्यन्ति) सुरक्षित करेंगे, (सा) वह तू (अग्निष्टोमम्) अग्निष्टोम को (अतिद्रव) अतिक्रान्त कर जा।

[प्रचलित प्रथानुसार वसु हैं ८; मरुत् हैं ४९; आदित्य हैं १२। इनका दक्षिण आदि दिशाओं के साथ किस प्रकार सम्बन्ध है, यह अनुसन्धेय है। मन्त्र में "वसु" द्वारा वसुकोटि के विद्वान्, "मरुतः" द्वारा ऋत्विक् तथा आदित्यों द्वारा आदित्य कोटि के विद्वान् भी सम्भावित हैं, परन्तु इनका भी दक्षिण आदि दिशाओं के साथ किस प्रकार सम्बन्ध है—यह भी अनुसन्धेय है। पारमेश्वरी-माता [सा] का वर्णन प्रकरणानुसार प्रतीत होता है। इसकी रक्षा का अभिप्राय यह है कि "वसु" आदि विद्वान् तेरा प्रचार करके, तेरे नाम को सुरक्षित कर, जगत् से नास्तिकता का उच्छेद करेंगे। अग्निष्टोम के अतिक्रमण करने का अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि अग्निष्टोम यज्ञ द्वारा जो फल प्राप्त होता है उससे अधिक फलदायिनी पारमेश्वरी माता है। इस द्वारा अग्निष्टोम की हेयता प्रतीत होती है और पारमेश्वरी-माता की स्तुति, प्रार्थना, उपासना के लिए प्रेरित किया है। "मरुत् ऋत्विङ्नाम" (निघं० ३.१८)]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**शतौदना**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च ये।
ते त्वा सर्वे गोप्स्यन्ति सातिरात्रमति द्रव॥ ९॥

अर्थ—(देवाः) विद्वान् (पितरः) गृहस्थी (मनुष्याः) तथा सर्वसाधारण अन्य मनुष्य (ये गन्धर्वाः) जो पृथिवी का धारण करने वाले राजा लोग, (अप्सरसः च) और जो उनकी रूपवती पत्नियाँ हैं (ते सर्वे) वे सब (त्वा गोप्स्यन्ति) तुझे सुरक्षित करेंगे (सा) वह तू (अतिरात्रम्) अतिरात्र को (अतिद्रव) अतिक्रान्त कर जा।

[अतिरात्र भी यज्ञ है जैसे कि अग्निष्टोम। शेष अभिप्राय मन्त्र ८ के सदृश]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**शतौदना**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अन्तरिक्षं दिवं भूमिमादित्यान्मरुतो दिशः।
लोकान्त्स सर्वानाप्नोति यो ददाति शतौदनाम्॥ १०॥

अर्थ—अन्तरिक्ष, द्यौः, भूमि, आदित्यों, मरुतों, दिशाओं, और सब लोकों को वह प्राप्त करता है, जो कि शतौदना पारमेश्वरी माता के स्वरूप का दर्शन करा देता है।

[अन्तरिक्ष आदि को प्राप्त करने का अभिप्राय है दाता इन सब में जाने-आने में सामर्थ्यवान् हो जाता है। देखो मन्त्र ६]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**शतौदना**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

घृतं प्रोक्षन्ती सुभगा देवी देवान्गमिष्यति।
पक्तारमघ्न्ये मा हिंसीर्दिवं प्रेहि शतौदने॥ ११॥

अर्थ—(घृतम्) घृत आदि पदार्थों का सिञ्चन अर्थात् प्रदान करती हुई (सुभगा) उत्तम भोगों वाली (देवी) पारमेश्वरी मातारूपी देवता (देवान्) दिव्यगुणों वाले व्यक्तियों को (गमिष्यति) प्राप्त होगी। (अघ्न्ये) हे अहन्तव्ये अत्याज्ये मातः! (पक्तारम्) ध्यानाभ्यास द्वारा तेरा परिपाक करने वाले को (मा

हिंसीः) तू निज आश्रय से वञ्चित न कर। (शतौदने) हे नानाविध अन्नों को देने वाली! (दिवम् प्रेहि) उपासक के मस्तिष्क में तू प्राप्त हो।

[पारमेश्वरी माता शतौदना है, सैकड़ों प्रकार के ओदन आदि भोज्य पदार्थ देती है, और घृतादि सात्विक पदार्थ भी देती है। वह सुभगा है, श्रेष्ठ भगों वाली है। भग ६ होते हैं, यथा "**ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा**"॥ ये ६ भग पारमेश्वरी माता के हैं। वह देवों अर्थात् दिव्यगुणियों को ही प्राप्त होती है, अपात्रों और कुपात्रों को नहीं, अर्थात् उन्हें ही प्राप्त होती है जो कि ध्यानाभ्यास द्वारा उसका परिपाक[1] करते हैं। परमेश्वर की छाया ही अमृत है "**यस्यच्छायामृतम्**", तथा उसकी छाया से वञ्चित रहना यह मृत्यु है "**यस्य मृत्युः**" (यजुः० २५.१३)। यह मृत्यु है "हिंसा"। यथा "**मा हिंसी**" (मन्त्र ११)। दिवम्=मूर्धा या शिरः अर्थात् मस्तिष्क तथा मस्तिष्कस्थ-सहस्रारचक्र]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**शतौदना**॥ छन्दः—**पथ्या पङ्क्तिः**॥

ये देवा दिविषदो अन्तरिक्षसदश्च ये ये चेमे भूम्यामधि।
तेभ्यस्त्वं धुक्ष्व सर्वदा क्षीरं सर्पिरथो मधु॥ १२॥

अर्थ—(ये) जो (देवाः) देव (दिविषदः) द्युलोक में स्थित हैं (ये च) और जो (अन्तरिक्षसदः) अन्तरिक्ष में स्थित हैं (ये च) और जो (इमे) ये (भूम्याम् अधि) भूमि में हैं, (तेभ्यः) उन [सब] के लिए (त्वम्) तू [हे परमेश्वरी मातः!] (सर्वदा) सदा (क्षीरम्) दूध (सर्पिः) घृत, (अथो) और (मधु) मधु (धुक्ष्व) दोहन कर, प्रदान कर।

[याज्ञिक पद्धति के अनुसार शतौदना-गौ का शमन अर्थात् हनन और पकाना हो जाने पर (मन्त्र ७), जब वह शरीर से न रही, तो वह त्रिलोकस्थ देवों के लिए क्षीर आदि कैसे दोहन कर सकती है। मधु के दो अर्थ हैं, (१) जल यथा "**मधु उदकनाम**" (निघं० १.१२) तथा (२) प्रसिद्ध शहद। मधु, क्षीरम् का विशेषण नहीं, क्योंकि "अथो" द्वारा मधु का स्वतन्त्र वर्णन हुआ है। अतः मन्त्र में चतुष्पाद् प्राणी गौ का वर्णन नहीं। यह न जल देती है, न शहद। अतः मन्त्र में पारमेश्वरी माता का वर्णन है। पारमेश्वरी माता सर्वशक्तिमती है। उसने तो समग्र सृष्टि को प्रदान किया हुआ है। जल भी वही प्रदान करती है और शहद भी]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**शतौदना**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यत्ते शिरो यत्ते मुखं यौ कर्णौ ये च ते हनू।
आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु॥ १३॥

अर्थ—(यत् ते शिरः) जो तेरा शिर (यत् ते मुखम्) जो तेरा मुख, (यौ कर्णौ) जो दो कान, (ये च) और जो (ते) तेरे (हनू) दो जबाड़े हैं [वे सब] (आमिक्षाम्, क्षीरम्, सर्पिः अथ उ मधु) आमिक्षा, दूध, घृत और मधु (दात्रे) दाता के लिए (दुह्रताम्) दोहन करें, प्रदान करें।

[आमिक्षा=प्रतप्त दूध में दधि सींचने पर जो स्थूल भाग अर्थात् पनीर पृथक् होता है वह आमिक्षा है। आमिक्षा=आ+**मिषु (सेचने,** भ्वादिः)। मन्त्र १३ से २४ तक, शतौदना के भिन्न-भिन्न अवयवों से

१. जैसे कि "परिपक्व बुद्धिः" पद में परिपाक का अर्थ "अग्नि-पर-पकाना" नहीं।

आमिक्षा आदि की प्राप्ति वर्णित हुई है, इसका यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि सब अङ्गों वाली शतौदना का दूध उपयोगी होता है, असम्पूर्णाङ्गी तथा विकृताङ्गी का अनुपादेय है। शतौदना द्वारा परमेश्वरी माता का ग्रहण करने पर शिर, मुख आदि का क्या अभिप्राय सम्भव है, इसका वर्णन यथामन्त्र साथ-साथ दर्शाया जाएगा। अर्थ दर्शाने से पूर्व दो बातों को ध्यान में रखना चाहिए।

(१) मारी गई, काटी गई, और अग्नि पर भूनी गई और दिव् में पहुँची हुई शतौदना के जब अङ्ग ही न रहे (देखो मन्त्र ७, ४, ११) तब वह दिविषद्, अन्तरिक्षसद् तथा भूमिष्ठ देवों को आमिक्षा आदि कैसे दे सकती है। वैदिक दर्शनानुसार वेद में मन्त्ररचना बुद्धि पूर्वक हुई है, यथा "**बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे**" तब मन्त्रार्थ बुद्धिसंगत ही होने चाहिएँ, बुद्धि विपरीत नहीं। विशेषतया तब जब कि वेदों को परमेश्वरीय रचना माना जाता है।

(२) मन्त्र १३-१४ में प्रतीयमान गोप्राणी तथा उसके शिरः आदि अवयव, ब्रह्माण्ड और ब्रह्माण्ड के अवयवों के रूप में भी कथित हुए हैं। अथर्व० काण्ड ९, सूक्त १२, (७) मन्त्र २५ में "**एतद्वै विश्वरूपं सर्वरूपं गोरूपम्**" द्वारा ब्रह्माण्ड को गोरूप कहा है, तथा इस सूक्त में गौ के कतिपय अवयवों को भी ब्रह्माण्ड के अवयवों के रूप में वर्णित किया है। जहाँ-जहाँ सूक्त में इस प्रकार का वर्णन हुआ है, उन-उनका निर्देश, मन्त्रार्थों के साथ दर्शा दिया जाएगा। तथा यह भी स्मरण रखना चाहिए कि १३-२४ मन्त्रों में जो "मधु" का वर्णन हुआ है। वह शतौदना-गोप्राणी द्वारा अप्राप्य है। उसकी प्राप्ति भी परमेश्वर के नियमानुसार पारमेश्वरी माता द्वारा ही होती है।

मन्त्र १३; शिरः=इन्द्रः। हनूः=**द्यौरुत्तरहनुः, पृथिव्यधरहनुः** (अथर्व० ९.१२.१,२)। मुखम्=अग्नि (यजुः० ३१.१२)। कर्णौ=दिशः, "**दिशः श्रोत्रात्**" (यजुः० ३१.१३)।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**शतौदना**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यौ त ओष्ठौ ये नासिके ये शृङ्गे ये च तेऽक्षिणी।
आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु॥ १४॥

अर्थ—(यौ) जो (ते) तेरे (ओष्ठौ) दो होठ हैं, (ये नासिके) जो दो नासिका छिद्र हैं, (ये शृङ्गे) जो दो सींग हैं, (च) और (ये) जो (ते) तेरी (अक्षिणी) दो आँखें हैं वे (दात्रे) दाता के लिए (आमिक्षाम् क्षीरम् सर्पिः अथ उ मधु) आमिक्षा, क्षीर, सर्पिः और मधु (दुह्रताम्) दोहन करें, प्रदान करें।

[नासिके=श्वास-प्रश्वास, यथा "**नसोः प्राणः**" (अथर्व० १९.६०.१)। शृङ्गे=प्रजापति और परमेष्ठी (अथर्व० ९.१२.१)। अक्षिणी=सूर्य और चन्द्र (अथर्व० १०.७.३३)।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**शतौदना**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यत्ते क्लोमा यद्धृदयं पुरीतत्सहकण्ठिका।
आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु॥ १५॥

अर्थ—(यत् ते) जो तेरे (क्लोमा) फेफड़े, (यत् हृदयम्) जो हृदय, तथा (सहकण्ठिका, पुरीतत्) कण्ठ के साथ आन्तें हैं, वे (दात्रे) दाता के लिए (आमिक्षाम् क्षीरम् सर्पिः अथ उ मधु) आमिक्षा, क्षीर, सर्पिः और मधु (दुह्रताम्) प्रदान करें।

[हृदयम्=चेतः। पुरीतत्=व्रतम् (अथर्व० ९.७.११)। व्रत का अभिप्राय है व्रतानुकूल भोज्यपदार्थ]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**शतौदना**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यत्ते यकृद्ये मतस्ने यदान्त्रं याश्च ते गुदाः।

आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु॥ १६॥

अर्थ—(यत् ते) जो तेरा (यकृत्) जिगर, (ये) जो (मतस्ने) दो गुर्दे (यद् आन्त्रम्) जो स्थूल आन्त, (याः च) और जो (ते गुदाः) तेरी गुदा के अवयव हैं, वे (दात्रे) दाता के लिए (आमिक्षाम् क्षीरम् सर्पिः अथ उ मधु) आमिक्षा, क्षीर, सर्पिः और मधु प्रदान करें।

[यकृत्=Liver। [1]मतस्ने=दो गुर्दे, जो कि मदकारी मूत्र को स्रावित कर शुद्धि करते रहते हैं, मत (मद्)+स्ने (**ष्णा शौचे,** अदादिः) आन्त्रम्=Colon स्थूलान्त्र।

तथा यकृत्=मेधा (अथर्व० ९.७.११)। गुदाः=देवजनाः (अथर्व० ९.७.१६)। ये ब्रह्माण्ड गौ के अवयव हैं]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**शतौदना**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यस्ते प्लाशिर्यो वनिष्ठुर्यौ कुक्षी यच्च चर्म ते।

आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु॥ १७॥

अर्थ—(यः) जो (ते) तेरा (प्लाशिः) मांस (Flesh) है, (यः) जो (वनिष्ठुः) बड़ी आन्त का अन्तिम किनारा है, (यौ) जो (कुक्षी) दो कोखें, (यत् च) और जो (ते) तेरा (चर्म) चमड़ा है, वे (दात्रे) दाता के लिए (आमिक्षाम् क्षीरम् सर्पिः अथ उ मधु) आमिक्षा, क्षीर, सर्पिः, तथा मधु (दुह्रताम्) प्रदान करें।

[प्लाशयः=पर्वताः; वनिष्ठुः=इरा (अन्न) **इरा अन्ननाम** (निघं० २.७); कुक्षिः=**क्षुत्** [भूख] (अथर्व० ९.७.१२)। चर्म=**विश्वव्यचाः** (अथर्व० ९.७.१५। ये ब्रह्माण्ड गौ के अवयव हैं]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**शतौदना**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यत्ते मज्जा यदस्थि यन्मांसं यच्च लोहितम्।

आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु॥ १८॥

अर्थ—(यत्) जो (ते) तेरी (मज्जा)मज्जा, (यत् अस्थि) जो अस्थि, (यत् मांसम्) जो मांस, (च) और (यत् लोहितम्) जो लोहित [रक्त] है, (दात्रे) वे दाता के लिए (आमिक्षाम् क्षीरम् सर्पिः अथ उ मधु) आमिक्षा, क्षीर, सर्पिः और मधु (दुह्रताम्) दोहन करें, प्रदान करें।

[मज्जा=Marrow, नालिकावाली हड्डियों में का गुद्दा। दाता=पारमेश्वरी माता का दर्शन करा देने वाला]।

मज्जा=**निधनम्** (अथर्व० ९.७.१८)। लोहितम्=**रक्षांसि** (अथर्व० ९.७.१७)। ये ब्रह्माण्ड-गौ के अवयव या अङ्ग हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**शतौदना**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यौ ते बाहू ये दोषणी यावंसौ या च ते ककुत्।

आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु॥ १९॥

अर्थ—(ते) तेरी (यौ) जो (बाहू) दो बाहु हैं, (ये) जो (दोषणी) बाहुओं के अग्रभाग हैं, (यौ)

---

१. मतस्नाभ्याम्=वृक्कयाभ्याम् (सायण, अथर्व० २.३३.३)। वृक्कौ=क्रोधः (अथर्व० ९.७.१३)।

जो (अंसौ) दो हंसलियाँ हैं, (या च) और जो (ते ककुत्) तेरा ककुत् है, वे (दात्रे) दाता के लिए (आमिक्षाम् क्षीरम् सर्पिः अथ मधु) आमिक्षा, क्षीर, सर्पिः और मधु (दुह्रताम्) दोहें, प्रदान करें।

[अंसौ=Collar bones. । ककुत्=Hump.] बाहू=महादेवः, दोषणी=त्वष्टा और अर्यमा; अंसौ=मित्र और वरुण (अथर्व० ९.७.७)। ककुत्=बृहस्पतिः (अथर्व० ९.७.५)। ये ब्रह्माण्ड-गौ के अङ्ग हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**शतौदना**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यास्ते ग्रीवा ये स्कन्धा याः पृष्टीर्याश्च पर्शवः।
आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु॥ २०॥

अर्थ—(ते) तेरी (याः ग्रीवाः) जो गर्दन की अस्थियाँ या अवयव हैं, (ये स्कन्धाः) जो कन्धे की अस्थियाँ या अवयव हैं, (याः पृष्टीः) जो पार्श्व के अवयव हैं, (याः च पर्शवः) और जो छाती की अस्थियाँ हैं वे (दात्रे) दाता के लिए (आमिक्षाम् क्षीरम् सर्पिः अथ उ मधु) आमिक्षा, क्षीर, सर्पिः और मधु (दुह्रताम्) दोहें, प्रदान करें।

ग्रीवाः=रेवतीः, रेवती नक्षत्र के तारे; स्कन्धाः=कृत्तिका नक्षत्र के तारे (अथर्व० ९.७.३)। पर्शवः=अपसदः; पृष्टयः=देवानां पत्नीः (अथर्व० ९.७.६)। ये ब्रह्माण्ड=गौ के अङ्ग हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**शतौदना**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यौ त ऊरू अष्ठीवन्तौ ये श्रोणी या च ते भसत्।
आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु॥ २१॥

अर्थ—(ते) तेरे (यौ ऊरू) जो दो पट्ट [Thighs] हैं, (अष्ठीवन्तौ) दो घुटने हैं, (ये श्रोणी) जो दो नितम्ब अर्थात् कूल्हे [Hips] हैं, (या च) और जो (ते) तेरा (भसत्) जघन अर्थात् जननेन्द्रिय है वे (दात्रे) दाता के लिए (आमिक्षाम् क्षीरम् सर्पिः अथ उ मधु) आमिक्षा, क्षीर, सर्पिः और मधु (दुह्रताम्) दोहें, प्रदान करें।

[ऊरू=बलम्; श्रोणी=**ब्रह्म च क्षत्रम् च**; (अथर्व० ९.७.९)। भसत्=इन्द्राणी (अथर्व० ९.७.८)]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**शतौदना**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यत्ते पुच्छं ये ते बाला यदूधो ये च ते स्तनाः।
आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु॥ २२॥

अर्थ—(ते) तेरी (यत् पुच्छम्) जो पूंछ है, (ते) तेरे (ये वालाः) पूँछ के बाल हैं, (यत् ऊधः) जो दुग्धाशय है, (ते) तेरे (ये च स्तनाः) जो स्तन हैं, वे (दात्रे) दाता के लिए (आमिक्षाम् क्षीरम् सर्पिः अथ उ मधु) आमिक्षा, क्षीर, सर्पिः, और मधु (दुह्रताम्) दोहें, प्रदान करें।

[पुच्छम्=वायुः; वालाः=पवमानः; ऊधः=स्तनयित्नुः; स्तनाः=वर्षस्य पतयः (अथर्व० ९.७.८, १४)। ये ब्रह्माण्ड-गौ के अङ्ग हैं। दाता है पारमेश्वरी-माता का दर्शन कराने वाला अध्यात्म गुरु]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**शतौदना**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यास्ते जङ्घा याः कुष्ठिका ऋच्छरा ये च ते शफाः॥
आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु॥ २३॥

अर्थ—(ते) तेरी (याः) जो (जङ्घाः) जङ्घाएँ हैं, (याः) जो (कुष्ठिकाः) कुष्ठिकाएँ हैं, (ऋच्छराः) जो ऋच्छराएँ हैं, (ये च) और जो (ते) तेरे (शफाः) खुर हैं, वे (दात्रे) दाता के लिए (आमिक्षाम्...) आमिक्षा, क्षीर, सर्पिः, और मधु (दुह्रताम्) दोहें, प्रदान करें।

[जङ्घाः=चार टांगों की, घुटनों से नीचे की, चार अधः शाखाएँ। कुष्ठिकाः=सम्भवतः चार Tibia अस्थियाँ, सम्मुख की चार अस्थियाँ। ऋच्छराः=सम्भवतः चार fibula अस्थियाँ, पश्चात् जङ्घास्थियाँ]। ये गोपशु की अस्थियाँ हैं।

तथा जङ्घाः=गन्धर्वाः। कुष्ठिकाः=अप्सरसः। शफाः=अदितिः (अथर्व० ९.७.१०)। ये ब्रह्माण्ड-गौ के सम्बन्ध की अस्थियाँ या अवयव हैं जिनका कि सम्बन्ध शतौदना पारमेश्वरी माता के साथ है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**शतौदना**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यत्ते चर्म शतौदने यानि लोमान्यघ्न्ये। आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु॥ २४॥

अर्थ—(शतौदने) हे शतौदने! (ते) तेरा (यत् चर्म) चमड़ा है, (अघ्न्ये) हे अहन्तव्ये! (यानि लोमानि) जो लोम हैं, वे (दात्रे) दाता के लिए (आमिक्षाम् क्षीरम् सर्पिः अथ उ मधु) आमिक्षा, क्षीर, सर्पिः, और मधु (दुह्रताम्) दोहें, प्रदान करें।

[शतौदना=सैकड़ों प्रकार के ओदन आदि भोज्य पदार्थ देने वाली पारमेश्वरी माता, अघ्न्ये=अ+हन्+यक् (उणा० ४.१३)]।

चर्म=विश्वव्यचाः, विश्व में फैला हुआ आकाश या अन्तरिक्ष। लोमानि=ओषधयः (अथर्व० ९.७.१५), ब्रह्माण्ड-गौ पक्ष में जिसकी अधिष्ठात्री पारमेश्वरी माता है। दाता=पारमेश्वरी माता का दर्शन करा देने वाला अध्यात्म गुरु।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**शतौदना**॥ छन्दः—**द्व्युष्णिग्गर्भाऽनुष्टुप्**॥

क्रोडौ ते स्तां पुरोडाशावाज्येनाभिघारितौ।
तौ पक्षौ देवि कृत्वा सा पक्तारं दिवं वह॥ २५॥

अर्थ—(ते) तेरे (क्रोडौ) दो क्रोड़, (आज्येन) घृत द्वारा (अभिघारितौ) सींचे गये (पुरोडाशौ) दो पुरोडाश (स्ताम्) हों। (देवि) हे देवि! (तौ) उन दो [पुरोडाशों] को (पक्षौ) दो पंख (कृत्वा) करके (सा) वह तू (पक्तारम्) पकाने वाले को (दिवम्) दिव् में (वह) ले जा या पहुँचा।

[क्रोडौ=छाती के वाम-दक्षिणपार्श्व। पुरोडाशौ=जौ या तण्डुल की पीठी द्वारा, आग पर पकाए, दो भटूरे। पुरोडाशों की यज्ञाहुतियाँ दी जाती हैं। यज्ञ द्वारा यजमान स्वर्ग पहुँचने का अधिकार प्राप्त करता है। पुरोडाश चूंकि गौ [बैल] द्वारा कृषिजन्य जौ तण्डुलों द्वारा बनाया जाता है, अतः परम्परया पुरोडाश का सम्बन्ध गौ के साथ है। अतः कल्पनारूप में कहा है कि हे गौ! तू दो पंखों वाले पक्षीरूप होकर तू, यजमान को स्वर्ग पहुँचा] पारमेश्वरी माता के पक्ष में दो पुरोडाश हैं मस्तिष्क के दाएं-बाएँ के दो खण्ड। इन्हें ही माता की छाती के वाम-दक्षिण के दो पार्श्व और इनमें लगे दो पंख कहा है। माता पक्षीरूप होकर उपासक को उसके दिव्रूपी मस्तिष्क में स्थित सहस्रारचक्र में मानो शीघ्र उड़ाकर, पहुँचा देती है। उपासक हृदयचक्र में विराजमान था। किसी अध्यात्मक गुरु की शक्ति न थी कि वह उपासक को हृदय-चक्र से उठाकर शीघ्र सहस्रारचक्र में पहुँचा दे। इसलिए अध्यात्मगुरु, माता से प्रार्थना करता है कि वह

इस उपासक को शीघ्र सहस्रारचक्र में पहुँचा दे।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**शतौदना**॥ छन्दः—**पञ्चपदा बृहत्यनुष्टुबुष्णिग्गर्भा जगती**॥

उलूखले मुसले यश्च चर्मणि यो वा शूर्पे तण्डुलः कणः।

यं वा वातो मातरिश्वा पवमानो ममाथाग्निष्टद्धोता सुहुतं कृणोतु॥ २६॥

अर्थ—(उलूखले) ओखली में, (मुसले) मुसल में, (यः च) और जो (चर्मणि) मृगछाल पर (वा) या (यः) जो (शूर्पे) छाज में, (तण्डुलः कणः) तण्डुल और तण्डुल के कण अर्थात् टूटे-तण्डुल हैं, (वा) या (यम्) जिसे कि (पवमानः) बहती हुई (मातरिश्वा वातः) अन्तरिक्ष में गति करती हुई तथा फैली हुई वायु ने (ममाथ) मथ डाला है, (तत्) उस सब को (होता अग्निः) दाता अग्नि (सुहुतम्) उत्तम-आहुत (कृणोतु) करे।

[मृगछाल पर ओखली को रखकर, मुसल द्वारा धान्य को कूटकर, तण्डुल प्राप्त किया जाता है। इस कूटे धान्य को छाज द्वारा, बहती वायु में छान कर, तुष पृथक् करके तण्डुल और तण्डुल कण प्राप्त किये जाते हैं। ये यज्ञार्थ होते हैं। इन्हें अग्नि पर पका कर, पके चावलों की आहुतियाँ यज्ञियाग्नि में तथा अध्यात्मगुरुओं की जाठराग्नि में दी जाती हैं। इधर-उधर बिखरे तण्डुलों और कणों को एकत्र कर इन्हें पकाया जाना चाहिए। यज्ञार्थ-गृहीत धान्यों का कोई तण्डुल या कण व्यर्थ नहीं होना चाहिए। इन सबको अग्नि पकाकर सुहुत करती है। मानो यह भात अग्नि ने होता अर्थात् दाता बनकर प्रदान किया है। होता=**हु दानादनयोः। आदाने चेत्येके** (जुहोत्यादिः)। इस परिपक्व भात में से यज्ञियाग्नि में आहुतियाँ दे कर, शेष द्वारा अध्यात्मगुरुओं, का अन्न प्रदान द्वारा सत्कार करने का निर्देश मन्त्र में हुआ है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**शतौदना**॥ छन्दः—**पञ्चपदाऽतिजागताऽनुष्टुब्गर्भा शक्वरी**॥

अपो देवीर्मधुमतीर्घृतश्चुतो ब्रह्मणां हस्तेषु प्रपृथक्सादयामि।

यत्काम इदमभिषिञ्चामि वोहं तन्मे सर्वं सं पद्यतां वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥ २७॥

अर्थ—(देवीः) दिव्यगुणों वाले (मधुमतीः) मधुर, (घृतश्चुतः) घृतस्रावी (अपः) जलों को (ब्रह्मणाम्) ब्रह्मवेत्ताओं के (हस्तेषु) हाथों में (प्रपृथक्) प्रत्येक में पृथक्-पृथक् (सादयामि) मैं स्थापित करता हूँ। (यत्कामः) जिस कामना वाला, (इदम्) इस जल को, यह (अहम्) मैं (वः) तुम ब्रह्मज्ञों के लिए (अभिषिञ्चामि) अभिषिक्त करता हूँ, सींचता हूँ (तत् सर्वम्) वह सब काम्य वस्तु (मे) मेरी (संपद्यताम्) सम्पन्न हो, पूर्ण हो जाए (वयम्) और हम (रयीणाम्) योग विभूतियों के (पतयः स्याम) स्वामी हो जाएँ।

[मन्त्र के प्रथमार्ध में अन्न द्वारा सत्कार पाने के समय, जलपान तथा हस्त-प्रक्षालन के लिए जल, प्रत्येक को देने का निर्देश है। पेयजल स्वच्छ, मधुर होना चाहिए, जो कि मानो घृतस्रावी होता है, घृतवत् पौष्टिक तथा आयुवर्धक होता है। मन्त्र के द्वितीयार्ध में ब्रह्मज्ञों के मुख तथा हस्तप्रक्षालन के लिए जल सींचा जाता है। इस द्वारा अन्नसत्कार पूर्ण हो जाता है। यह अतिथियज्ञ जैसा सत्कर्म है। योगाभ्यासी निज कामना की सम्पन्नता इन योग-गुरुओं द्वारा चाहता है, और यह भी चाहता है कि आश्रमवासी सभी योगाभ्यासी योग की सम्पत्तियों अर्थात् विभूतियों के स्वामी बन जाएँ। प्रकरणानुसार, कामना वाला व्यक्ति, सहस्रार-चक्र में निज स्थिति चाहता है। घृतश्चुतः=**घृतं क्षरणशीलं दीप्यमानं वा अमृतं श्चोतन्ति**

क्षरन्तीति (सायण, अथर्व० १.३३.४)]।

सूक्त १०

विषय-प्रवेश

(वशा=जगत् को वश में करने वाली पारमेश्वरी माता)

(१) मन्त्र १-३४। वशा का वर्णन। सायणाचार्य तथा विनियोगकारों के मत में वशा है चतुष्पाद् वन्ध्या गौ।

(२) गौ के निर्देशक:—वशा के दोहने तथा दूध का वर्णन (५, ३१); क्षीर का वर्णन (८); पय: का वर्णन (१०, ३१); ऊधस् का वर्णन (७); स्तनों का वर्णन (२०); गर्भ का वर्णन (२३); आन्त्र, सक्थियों का वर्णन (२१); इत्यादि चतुष्पाद् गौ के सूचक हैं। परन्तु यह और इसी प्रकार अन्य वर्णन औपचारिक हैं, गौण हैं।

(३) परन्तु इनसे अतिरिक्त वशा का वर्णन, प्राय: जगद्वशयित्री कमनीया तथा कान्तिमयी पारमेश्वरी माता परक है। वशा के साथ समुद्र का वर्णन (१३); ऋच: और सामानि का वर्णन (१४); द्यौ:, पृथिवी, जलों की रक्षा का वर्णन (४); वशा को अमृत और मृत्यु कहना (२६); इसके रेतस् का चतुर्धा विभाजन (१९); वशा को द्यौ:, पृथिवी, विष्णु, प्रजापति कहना (३०); वशा को सर्वरूप कहना (३४); तथा इस प्रकार के अन्य वर्णन, मुख्यरूप में, पारमेश्वरी वशा-माता के सम्बन्ध में चरितार्थ होते हैं।

ऋषि:—**कश्यप:** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्द:—**ककुम्मत्यनुष्टुप्** ॥

नम॑स्ते जाय॑मानायै जा॒ताया॑ उ॒त ते॒ नम॑:।
बाले॑भ्य: श॒फेभ्यो॑ रू॒पाया॑घ्न्ये ते॒ नम॑: ॥ १ ॥

अर्थ—हे पारमेश्वरी मात: ! (जायमानायै) प्रकट होती हुई (ते) तेरे प्रति (नम:) नमस्कार हो (उत जातायै) तथा प्रकट हो गई (ते) तेरे लिए (नम:) नमस्कार हो। (बालेभ्य:) बालों के प्रति, (शफेभ्य:) शफों के प्रति, (ते) तथा तेरे (रूपाय) रूप के प्रति (अघ्न्ये) हे अहन्तव्ये, अत्याज्ये! (नम:) नमस्कार हो।

[ध्यानाभ्यास द्वारा जब पारमेश्वरी माता प्रकट हो रही होती है, अर्थात् उसके प्रकट होने के पूर्व-चिह्न जब प्रकट हो रहे होते हैं तब उसे नमस्कार किया है। पूर्व चिह्न हैं यथा—

नीहारधूमार्कानलानिलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम्।
एतानि रूपाणि पुर:सराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे॥ (श्वेता० उप० २.११)

नीहार अर्थात् कोहरा, धुआँ, सूर्य, आग, वायु, चमकते तारे, विद्युत्, स्फटिक और चन्द्रमा—जब ध्यान में ये भासित होने लगते हैं, तब इन्हें ब्रह्माभिव्यक्ति के पूर्व-चिह्न जानने चाहिएँ। इस अवस्था में ध्यानी परमेश्वर को नमस्कार कर उसकी अधिक कृपा चाहता है।

तथा वह जब साक्षात्-प्रकट हो जाता है तब भी उसके प्रति ध्यानी नमस्कार करता है। बालेभ्य:-मन्त्रों में सामगानों को ब्रह्म के लोम कहा है। यथा "**सामानि यस्य लोमानि**" (अथर्व० १०.७.२०)। यह इसलिए कि भक्ति पूर्ण गान गाने पर प्राय: लोमहर्षण हो जाता है। सामगानों का आधार सामवेद है, जो कि परमेश्वरीय ज्ञानरूप है, अत: लोमों अर्थात् सामों [परमेश्वरीय ज्ञान] के प्रति नमस्कार

किया है।

शफेभ्यः=मन्त्र में शफेभ्यः का प्रयोग औपचारिक है। यह परमेश्वर की संहारक शक्ति का प्रदर्शक है। यथा "**शफेन इव ओहते**" (अथर्व० २०.१३१.७) में कहा है कि परमेश्वर तो जिसका संहार चाहता है उसे अनायास उखेड़ देता है, जैसे कि गौ शफ अर्थात् खुर द्वारा खुम्भ को आसानी से उखेड़ फैंकती है। तथा देखो मन्त्र (अथर्व० २०.६३.५); अथर्ववेद-भाष्य २० वां काण्ड, ग्रन्थकार का भाष्य।

रूपाय—जब ब्रह्म साक्षात्—प्रकट हो जाता है तब, उसके रूप के प्रति नमस्कार कहा है]।

विशेष—तथा यह भी जानना चाहिए कि वेदों में गोमाता को विशेष महत्त्व दिया गया है। इसलिए वैदिक सूक्तों में वर्णनीय देवता को गोरूप में वर्णित कर, उसके शफ आदि अङ्गों का भी वर्णनीय देवता के सम्बन्ध में औपचारिक वर्णन होता है। देखो (अथर्व० ९.१२.२५) जिसमें कि "विश्व" को "गोरूप" कहा है]

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यो विद्यात्सप्त प्रवतः सप्त विद्यात्परावतः।
शिरो यज्ञस्य यो विद्यात्स वशां प्रति गृह्णीयात्॥ २॥

अर्थ—(यः) जो (सप्त) सात (प्रवतः) समीप के लोकों को (विद्यात्) जाने, और (सप्त) सात (परावतः) दूर के लोकों को (विद्यात्) जाने, तथा (यः) जो (यज्ञस्य) संसार-यज्ञ के (शिरः) सिर को (विद्यात्) जाने, (सः) वह (वशाम्) वशा का (प्रति गृह्णीयात्) प्रतिग्रह करे, उसका ग्रहण करे।

[वशा का अर्थ है "जगत् को वश में रखने वाली, काम्या, कान्तिमती पारमेश्वरी माता। "सप्त परावतः" हैं, भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्य लोक। और "सप्त प्रवतः" हैं अतल, वितल, सतल, रसातल, तलातल, महातल, और पाताल। ये सात पृथिवी के ही सात विभाग हैं। यज्ञ का सिर है—परमेश्वर। यथा "**स यज्ञः तस्य यज्ञः स यज्ञस्य शिरस्कृतम्**" (अथर्व० १३.४(४).४०। "प्रवतः" और "परावतः" मिल कर चतुर्दश भुवन होते हैं। जो व्यक्ति इन भुवनों की संख्या को ठीक प्रकार जान कर, यह जानता है कि इन्हें वश में करने वाली केवल पारमेश्वरी माता है और वह ही इनका शिरोरूप है, वह आस्तिक प्रकृति वाला व्यक्ति वशा के स्वरूपग्रहण का अधिकारी होता है, नास्तिक अधिकारी नहीं होता, नास्तिक श्रद्धावान् नहीं होता और बिना श्रद्धा के कोई व्यक्ति पारमेश्वरी माता के दर्शन का अधिकारी नहीं बनता]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वेदाहं सप्त प्रवतः सप्त वेद परावतः।
शिरो यज्ञस्याहं वेद सोमं चास्यां विचक्षणम्॥ ३॥

अर्थ—(अहम्) मैं (सप्त प्रवतः) सात समीपस्थ लोकों को (वेद) जानता हूँ, (सप्त परावतः) सात दूर के लोकों को (वेद) जानता हूँ, (अहम्) मैं (यज्ञस्य) संसार यज्ञ के (शिरः) सिर को (वेद) जानता हूँ, (च) और (अस्याम्) इस वशा में स्थित (विचक्षणम्) दर्शनीय (सोमम्) चन्द्रमा को जानता हूँ।

[अभिप्राय यह कि १४ भुवन और चन्द्रमा, वशा नाम वाली पारमेश्वरी माता की गोद में खेल से रहे हैं, और वह ही इन सब में शिरोमणि है, यह मैं, प्रतिग्रह करने वाला, जानता हूँ]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यया द्यौर्यया पृथिवी ययापो गुपिता इमाः।

वशां सहस्त्रधारां ब्रह्मणाच्छावदामसि ॥ ४ ॥

अर्थ—(यया) जिस वशा द्वारा (द्यौः) द्युलोक (यया) और जिस द्वारा (पृथिवी) पृथिवी, (यया) जिस वशा द्वारा (इमाः) ये (आपः) समग्र जल (गुपिताः) सुरक्षित हैं, उस (वशाम्) वशा का, (सहस्त्रधाराम्) जोकि हजारों लोक-लोकान्तरों का धारण कर रही है, (ब्रह्मणा) वेद द्वारा या ब्रह्मवेद [अथर्ववेद] द्वारा (अच्छा) अच्छे प्रकार या साक्षात् रूप में (वदामसि) हम कथन करते हैं।

[वशा=पारमेश्वरी माता]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**पञ्चपदाऽतिजागतानुष्टुभं स्कन्धोग्रीवी बृहती** ॥

शतं कंसाः शतं दोग्धारः शतं गोप्तारो अधि पृष्ठे अस्याः।

ये देवास्तस्यां प्राणन्ति ते वशां विदुरेकधा ॥ ५ ॥

अर्थ—(शतम्) सैकड़ों (कंसाः) कंस के बने कमनीयपात्र (शतं दोग्धारः) सैकड़ों वशा माता के दुग्ध को दोहने वाले, (शतं गोप्तारः) सैकड़ों इसकी रक्षा करने वाले ग्वाले, (अस्याः पृष्ठे अधि) इस पृथिवी की पीठ पर हैं। इस माता के आश्रय में हैं। परन्तु (ये) जो (देवाः) दिव्यगुणी जन (तस्याम्) उस वशा के आश्रय में रहकर (प्राणन्ति) प्राण धारण करते हैं, जीवनचर्या करते हैं। (ते) वे (वशाम्) वशा माता को (एकधा) एक प्रकार से ही (विदुः) जानते हैं।

[वशा का वर्णन गौ के रूप में मन्त्र में हुआ है। इसके दूध के दोहने के लिए कमनीय कंसपात्रों के सदृश सैकड़ों कमनीय हृदय हैं। सैकड़ों इसके दूध के दोहने वाले हैं। सैकड़ों इसके रक्षक ग्वाले हैं, जो कि इस पृथिवी की पीठ पर निवास करते हैं, परन्तु जो दिव्यगुणी जन इसके ही आश्रय में रहकर निज जीवनचर्या करते हैं वे पारमेश्वरी माता के स्वरूप का कथन एक प्रकार का ही करते हैं, अर्थात् इसके स्वरूप के सम्बन्ध में मतभेद नहीं रखते। तथा पृथिवीवासी अन्य जन भिन्न-भिन्न प्रकार से पारमेश्वरी माता के स्वरूप का कथन करते हैं, क्योंकि उन्होंने पारमेश्वरी माता का साक्षात् दर्शन नहीं किया होता]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥

यज्ञपदीराक्षीरा स्वधाप्राणा महीलुका।

वशा पर्जन्यपत्नी देवाँ अप्येति ब्रह्मणा ॥ ६ ॥

अर्थ—(यज्ञपदी) पारमेश्वरी माता यज्ञरूपी पैरों[१] वाली है, (इरा) अर्थात् आनन्दरसरूपी (क्षीरा) दूध वाली है, (स्वधाप्राणा) शरीर धारण करने योग्य सात्त्विकान्न द्वारा प्राण प्रदान करती है, (महीलुका) पृथिवी इसका विशिष्ट लोक है। (पर्जन्यपत्नी) धर्ममेघ समाधि की रक्षा करने वाली (वशा) वशा माता (ब्रह्मणा) मन्त्रोक्त विधि द्वारा या ब्रह्मवेद [अथर्ववेद] द्वारा प्रदर्शित विधि द्वारा (देवान्) दिव्यगुणों को (अप्येति) प्राप्त होती है।

---

१. अथवा यज्ञ सम्बन्धी मन्त्रपदों वाली।

[पारमेश्वरी माता उपासना तथा ध्यानयोगरूपी कर्मों के कारण मानो स्वयं पैरों द्वारा, यज्ञ करने वाले को पहुँच जाती है। इरा है जल, यथा "इरा=water" (आप्टे)। अत: "**इरावत्यः नदीनाम**" (निघं० १.१३)। परमेश्वरीय माता का आनन्दरस है इरा, जिसे कि क्षीर अर्थात् दूध कहा है। परमेश्वरीय माता, सात्त्विक अन्न; जिस द्वारा "स्व" का "धा" (धारण) हो सके, प्राणप्रदा है। महीलुका=महिलोकाः (पैप्पलादशाखा)। "महीलुका" में "वर्णविकार" द्वारा "ओ" के स्थान में "उ" हुआ है। मही अर्थात् पृथिवी, परमेश्वरीय माता का "विशिष्ट-लोक" है, यहीं के निवासी ध्यानी जन, ध्यानाभ्यास में, उसके आनन्दरस के पान के इच्छुक होते हैं। पर्जन्य पत्नी पद के प्रकरणानुसार "धर्ममेघसमाधि" प्रतीत होती है (योग ४.२९) "मेघ और पर्जन्य" पर्यायवाची हैं। पत्नी का अर्थ है "रक्षा करने वाली", पा (रक्षणे) पारमेश्वरी माता ध्यानी की धर्म-मेघसमाधि की रक्षा करती है। पत्नी शब्द का प्रयोग रक्षा अर्थ में भी होता है। यथा "**गृहपत्नी यथासः**" (अथर्व० १४.२.७५) अर्थात् हे पत्नि! तू गृह की रक्षा करने वाली हो न कि गृहवासियों की सांझी पत्नी।

ऋषिः—**कश्यपः**॥ देवता—**वशा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अनु त्वाग्निः प्राविशदनु सोमो वशे त्वा।
ऊधस्ते भद्रे पर्जन्यो विद्युतस्ते स्तना वशे॥ ७॥

अर्थ—(वशे) सब जगत् को वश में करने वाली कमनीया हे पारमेश्वरी माता! जगद्रचना काल में (त्वा) तुझ में (अनु) पश्चात् (अग्निः प्राविशत्) अग्नि प्रविष्ट हुई, (अनु) पश्चात् ही (त्वा) तुझ में (सोमः प्राविशत्) चन्द्रमा प्रविष्ट हुआ। (भद्रे) हे कल्याणीमातः! (पर्जन्यः) मेघ है (ते ऊधः) तेरा दुग्धाशय, (वशे) हे वशे! (विद्युतः) मेघस्थ विद्युतें हैं (ते स्तनाः) तेरे स्तन।

[मन्त्र ६ में "पर्जन्य शब्द" आध्यात्मिक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और मन्त्र ७ में आधिदैविक अर्थ में। सृष्टिरचना से पूर्व न अग्नि की सत्ता थी, न चन्द्रमा की। वशा माता ने जगत् जैसे-जैसे रचा वैसे-वैसे अग्नि आदि ने उसमें प्रवेश पाया, वह अग्नि आदि का आश्रय बनी। पर्जन्य उसका ऊधस् बना और जलरूपी दुग्ध प्राप्त हुआ, जल-दुग्ध के प्रदान में विद्युतें हुईं स्तन। स्तन यतः गोमाता के ४ होते हैं, इसलिए "विद्युतः" में बहुवचन है। विद्युत् के कारण मेघ से वर्षा होती है। मन्त्र में वशामाता को गोरूप में वर्णित कर उसके ऊधस् और स्तनों का कथन किया है]।

ऋषिः—**कश्यपः**॥ देवता—**वशा**॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्**॥

अपस्त्वं धुक्षे प्रथमा उर्वरा अपरा वशे। तृतीयं राष्ट्रं धुक्षेऽन्नं क्षीरं वशे त्वम्॥ ८॥

अर्थ—(वशे) हे वशामातः! (त्वम्) तू (प्रथमाः अपः) पहिले जलों का (धुक्षे) दोहन अर्थात् प्रदान करती है, (अपराः उर्वराः) तत्पश्चात् भूमियों को उपजाऊ करती है। (तृतीयम्) तीसरे (राष्ट्रम्) राष्ट्रत्व का (धुक्षे) दोहन करती है, फिर (वशे) हे वशामातः! (त्वम्) तू (अन्नम् क्षीरम्) अन्न और दुग्ध दोहन करती है।

[मन्त्र में उत्पत्ति क्रम दर्शाया है। (१) जलों का प्रदान। (२) जलों द्वारा भूमियों को उपजाऊ बनाना। (३) राष्ट्र भावना का ज्ञान दे कर राष्ट्र स्थापित करना। (४) राष्ट्रव्यवस्था हो जाने पर सब प्रजाजनों को अन्न और दूध मिल सकना। सात्त्विक अन्न-दूध सर्वश्रेष्ठ अन्न है]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यदादित्यैर्हूयमानोपातिष्ठ ऋतावरि। इन्द्रः सहस्रं पात्रान्त्सोमं त्वापाययद्वशे॥ ९ ॥

अर्थ—(ऋतावरि) हे उग्रनियमों वाली वशा मातः। (आदित्यैः) आदित्य ब्रह्मचारियों सदृश, अथवा आदित्य समान तेजस्वी राष्ट्राधिकारियों द्वारा (हूयमाना) आहूत हुई तू (उपातिष्ठ) जब राष्ट्र में उपस्थित हुई, तब (इन्द्रः) राजा या सम्राट् ने (वशे) हे वशा मातः! (त्वा) तुझे (सहस्रम् पात्रान् सोमम्) सोम से भरे हजारों पात्र [प्याले] (अपाययत्) पिलाये।

[ऋतावरि=ऋतम् (नियम)+वनिप् (मत्वर्थीयः)+ङीप्+र। ऋत से अभिप्राय है ऋतमुग्रम् (अथर्व० १२.१.१)। मन्त्र ८ में "राष्ट्र" का वर्णन है, और राष्ट्र के नियम उग्र होने चाहिएँ। आदित्य के समान राष्ट्राधिकारी जब निज राष्ट्र में "ऋतावरी-वशामाता" का आह्वान करते हैं, राष्ट्र को आस्तिक और वशामातृभक्त बनाना चाहते हैं, तब इन्द्र अर्थात् राष्ट्र शासक राजा या सम्राट् मानो वशामाता को, भक्तों के भक्तिरसरूपी सोम के हजारों पात्र पिलाता है, अर्थात् राष्ट्र या साम्राज्य, परमेश्वरीय उग्रनियमों द्वारा शासित होने पर, जब हजारों प्रजाजन भक्तिरस से आविष्ट हो जाते हैं, तब भक्त, उपासना में, भक्तिरस भरे निज हृदयों को वशा माता के प्रति भेंट करते हैं। इन्द्र से अभिप्राय सम्राट् का है। यथा "**इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा**" (यजुः० ८.३७)। राष्ट्र का शासक राजा होता है, जो कि प्रजा द्वारा वरण किया जाता है, चुना जाता है। अतः उसे वरुण कहते हैं। परन्तु सम्राट्[१] साम्राज्य का शासक होता है, जो कि वरुण राजाओं द्वारा चुना जाता है। साम्राज्य, नाना राष्ट्रों का समुदाय रूप होता है। मन्त्र में साम्राज्य को भी राष्ट्र कहा है, जब कि यह राजशक्ति द्वारा सम्यक्-पालित होता है। राष्ट्र=राज्+त्रैङ् (पालने)। इन्द्र अर्थात् सम्राट् पद द्वारा, साम्राज्य के सभी प्रजाजनों को आस्तिक बनाने की भावना प्रतीत होती है]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**१० विराडनुष्टुपु, ११ अनुष्टुप्** ॥

यदनूचीन्द्रमैरात्त्व ऋषभोह्वयत्। तस्मात्ते वृत्रहा पयः क्षीरं क्रुद्धोहरद्वशे॥ १० ॥

यत्ते क्रुद्धो धनपतिरा क्षीरमहरद्वशे। इदं तदद्य नाकस्त्रिषु पात्रेषु रक्षति॥ ११ ॥

अर्थ—(ऋषभः) श्रेष्ठ इन्द्र अर्थात् सम्राट् ने (यत्) जो (त्व=त्वा) तुझे (अह्वयत्) बुलाया, तेरा आह्वान किया, तो तू (आत्) तदनन्तर (अनूची) उसके आह्वान के अनुसार गतिशील हुई, (इन्द्रम्) सम्राट् को (ऐः) प्राप्त हुई। (वृत्रहा) पापों का हनन करने वाला सम्राट् (क्रुद्धः) तुझ से जब क्रुद्ध हो गया तो उसने (तस्मात्) उस क्रोध के कारण (ते) तेरे (पयः क्षीरम्) पेय-दुग्ध को (वशे) हे वशा मातः! (अहरत्) अपहृत कर दिया, साम्राज्य से हटा दिया॥ १० ॥

(वशे) हे वशा मातः! (धनपतिः) धनों के स्वामी इन्द्र सम्राट् ने (यत्) जो (क्रुद्धः) क्रुद्ध होकर (ते) तेरे (क्षीरम्) दूध को (आ अहरत्) पूर्णतया, अपहृत कर दिया, साम्राज्य से हटा दिया, (इदं तत्) उस क्षीर को, (अद्य) आज भी, (नाकः) मोक्ष स्थान या मोक्षाभिलाषी उपासक (त्रिषु पात्रेषु) तीन पात्रों में (रक्षति) सुरक्षित किये हुआ है॥ ११ ॥

[श्रेष्ठ सम्राट् निज साम्राज्य में, जगत् को वश में करने वाली कान्तिमती पारमेश्वरी माता का जब

---

१. सम्राट् मिल कर एकराट् को चुनते हैं (अथर्व० ३.४.१)। इसे जनराट् भी कहते हैं (अथर्व० २०.२१.९)। इसे एकवृष भी कहा है (अथर्व० ४.२२.६, ७) यह समग्र पृथिवी का राजा होता है।

आह्वान करता है, तब वशा का राज्य उस साम्राज्य में हो जाता है, और सम्राट् पापवृत्रों का हनन कर देता है, समग्र साम्राज्य पापकर्मों से रहित हो जाता है। परन्तु कारणवश, सम्भवत: अन्ताराष्ट्रिय कारणवश, जब वह सम्राट् धनपति (११) बनता है, और साम्राज्य में प्रजा को धनार्जन करने में प्रवृत्त करता है, तब शासन में परमेश्वरीय शासन विलुप्त हो जाता है, क्योंकि धनार्जनरूपी प्रेयमार्ग श्रेयमार्ग का विरोधी है। क्रुद्ध इसलिए कहा कि अन्ताराष्ट्रिय परिस्थितियों पर, जब धार्मिक और सदाचार सम्बन्धी कर्त्तव्य सफल नहीं होते, तब सम्राट् इन कर्त्तव्यों का परित्याग कर, दण्डव्यवस्था का अवलम्बन करता है। इन कर्त्तव्यों से विमुख हो जाना ही क्रोधरूप है। मन्त्र में पेय-क्षीर शब्द धर्म, सदाचार और मोक्षभावना का द्योतक है। इन भावनाओं का परित्याग, क्षीरापहरण है।

"नाक:" के दो अभिप्राय प्रतीत होते हैं—(१) वह स्थानविशेष जहाँ कि सिद्धयोगी मुक्त होकर विचरते हैं। यथा "**ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः**" (यजु:० ३१.१६) अर्थात् वे देव उस नाक को प्राप्त होते हैं जहाँ कि पुराकाल के या पूर्ण सिद्धात्मा देव विद्यमान हैं। "नाक" के तीन पात्र हैं "**ब्राह्मस्त्रिभूमिको लोकः**" देखो (योगसूत्र ४.२६, व्यास भाष्य)।

अथवा "नाक:"=नाकाभिलाषी "अथर्वा" (मन्त्र १२)। इस अर्थ में तीन पात्र हैं हृदय, मस्तिष्क, तथा शरीर। मन्त्र १२ में सोम का अभिप्राय है "भक्तिरस"। हृदय की भावनाओं को, मस्तिष्क के विचारों को, तथा शरीर के कर्मों को भक्तिरस द्वारा रसीले बनाना, यह है तीन पात्रों में सोम की रक्षा। अथवा सोम का अभिप्राय है "सौम्यप्रकृतिक-नाक" अर्थात् मोक्ष। जीवन्मुक्त अथर्वा, हृदयादि तीन पात्रों में निज मोक्षावस्था को सुरक्षित रखता है, जब तक कि उसका शरीर छूटता नहीं]।

ऋषि:—**कश्यपः**॥ देवता—**वशा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

त्रिषु पात्रेषु तं सोममा देव्यहरद्वशा। अथर्वा यत्र दीक्षितो बर्हिष्यास्त हिरण्यये॥ १२॥

अर्थ—(देवी वशा) दिव्या वशामाता [पारमेश्वरी माता] (त्रिषु पात्रेषु) तीन पात्रों में के (तम्, सोमम्) उस भक्ति रस को (अहरत्) प्राप्त करती है, (यत्र) जिस समय में कि (दीक्षित: अथर्वा) अर्थात् दीक्षा प्राप्त निश्चल चित्त-वृत्तियों वाला जीवन्मुक्त-योगी (हिरण्यये) हिरण्यमय (बर्हिषी) आसन में (आस्त) उपविष्ट हो जाता है। [हिरण्यय आसन=हृदय, जिसमें कि हिरण्यय=पुरुष अर्थात् आदित्यवर्णी परमेश्वर की ज्योति प्रदीप्त हो रही होती है, देखो (अथर्व १०.२.३१-३३)]।

ऋषि:—**कश्यपः**॥ देवता—**वशा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सं हि सोमेनागत समु सर्वेण पद्वता। वशा समुद्रमध्यष्ठाद्गन्धर्वैः कलिभिः सह॥ १३॥

अर्थ—(वशा) जगत् को वश में करने वाली कान्तिमती पारमेश्वरी माता जब (कलिभि:) संगीत कला की विज्ञ (गन्धर्वैः) गानकुशलों के (सह) साथ, (समुद्रम् अधि प्रस्थात्) हृदयसमुद्र में अधिष्ठित होती है, तब वह (हि) निश्चय से (सोमेन) भक्तिरस से (सम् अगत) संगत हो जाती है (उ) तथा (सर्वेण) सब (पद्वता) गेय-वैदिक पदों वाले गायकों के साथ (सम्) सङ्गत हो जाती है।

[हृदय में पारमेश्वरी माता जब अधिष्ठित हो जाती है, और हृदय में जब भक्तिगान करने वाले भक्त "निष्ठ" हो जाते हैं, तब वशामाता भक्तिरस के साथ भी संगत हो जाती है, और वैदिक पदों के गाने वालों के साथ भी संगत हो जाती है, अर्थात् भक्तों और उपास्य देवता का परस्पर संगम हो जाता है। "पद्वता" देखो "**ऋचः सामानि बिभ्रती**" (मन्त्र १४)]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सं हि वातेनागत समु सर्वैः पतत्रिभिः ।

वशा समुद्रे प्रानृत्यदृचः सामानि बिभ्रती ॥ १४ ॥

अर्थ—(हि) निश्चय से वशा (वातेन) वायु के साथ (सम् अगत) संगत हुई हुई है, (उ) तथा (सर्वैः) सब (पतत्रिभिः) उड़ने वाले पक्षियों के साथ (सम्) संगत हुई-हुई है। (वशा) वशा माता (समुद्रे) हृदय-समुद्र में (ऋचः सामानि) ऋच्यधिरूढसामगानों को (बिभ्रती) प्राप्त कर (प्र अनृत्यत्) प्रकर्षरूप में नाचती है।

[मन्त्र कवितापूर्ण है। जो वशा माता वायु और पक्षियों के साथ संगत हुई उनकी रक्षा कर रही है, वह हृदय-समुद्र में भक्तिगानों में मस्त हुई मानो प्रसन्नता में नाचती है। प्रसन्नता इसलिए कि मेरे पुत्र तुझे, निज भक्ति, भेंट में दे रहे हैं]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सं हि सूर्येणागत समु सर्वेण चक्षुषा। वशा समुद्रमत्यख्यद्भद्रा ज्योतींषि बिभ्रती ॥ १५ ॥

अर्थ—वशा माता (हि) निश्चय से (सूर्येण) सूर्य के साथ (सम् अगत) संगत हुई-हुई है, (उ) तथा (सर्वेण) सब (चक्षुषा) चक्षुःसमूह के साथ (सम्) संगत हुई-हुई है। (वशा) वशा माता (समुद्रम् अति अख्यत्) हृदयसमुद्र में स्थित हुई (मन्त्र १३), उसे अतिक्रान्त कर के (भद्रा ज्योतींषि) सुखदायी ज्योतियों पर दृष्टिपात करती है, और (बिभ्रती) उनका भरण-पोषण करती है।

[जैसे मन्त्र १४ में वायु और पतत्रियों के परस्पर सम्बन्ध का वर्णन हुआ है, इसी प्रकार सूर्य और सब चक्षुओं का परस्पर सम्बन्ध मन्त्र १५ में अभीष्ट प्रतीत होता है। ये चक्षुः, द्युलोक के तारासमूह प्रतीत होते हैं, जो कि "चक्षुःगोलकों" के सदृश गोल और चमकदार हैं। अथवा मन्त्र में प्राणियों के चक्षु अभिप्रेत हैं। यथा "**यश्चक्षुषि तिष्ठंश्चक्षुषोऽन्तरो, यं चक्षुर्न वेद, यस्य चक्षुः शरीरं, यश्चक्षुरन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः** (बृहदा० उप० ३.७.१८)। इस प्रकार सब प्राणियों के चक्षुओं के साथ अन्तर्यामी परमेश्वर का संगम दर्शाया है। सूर्य और प्राणियों की चक्षुओं का भी परस्पर सम्बन्ध है। सूर्य के विना प्राणियों की चक्षुएँ देखने में असमर्थ हैं। वशा स्थित तो है हृदय-समुद्र में, परन्तु हृदय को अतिक्रान्त करके वह द्युलोक की भद्र ज्योतियों को देखती और उनका भरण पोषण करती है। भद्रा का सम्बन्ध वशा के साथ भी सम्भव है। इस दृष्टि से भद्रा का अर्थ सुखस्वरूपा तथा कल्याणस्वरूपा वशा। "**भदि-कल्याणे सुखे च**" (भ्वादिः)]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अभीवृता हिरण्येन यदतिष्ठ ऋतावरि। अश्वः समुद्रो भूत्वाध्यस्कन्दद्वशे त्वा ॥ १६ ॥

अर्थ—(ऋतावरि वशे) हे उग्रनियमों वाली वशा मातः! (मन्त्र ९), (यद्) जो (हिरण्येन) हिरण्यय-हृदय द्वारा (अभीवृता) घिरी हुई तू (अतिष्ठ) हृदय-समुद्र में स्थित हुई है, तो (समुद्रः) हृदय-समुद्र (अश्वः भूत्वा) अश्व होकर (त्वा) तेरे प्रति (अधि अस्कन्दत्) उछला है, उमड़ा है।

[हिरण्येन=देखो मन्त्र ३१-३३। अश्वारोही योद्धा का अश्व, युद्धभूमि में, जैसे शत्रु की ओर उछलता हुआ जाता है, वैसे श्रद्धावान् उपासक का हृदय-समुद्र, उपास्यदेवता की ओर, उछलता और उमड़ता है।

हिरण्येन अभीवृता=अथवा निज हिरण्य सदृश ज्योति द्वारा घिरी हुई वशा माता]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

तद्भद्राः समगच्छन्त वशा देष्ट्र्यथो स्वधा।

अथर्वा यत्र दीक्षितो बर्हिष्यास्त हिरण्यये॥ १७॥

अर्थ—(तद्) वहाँ अर्थात् हृदय में (भद्राः) भद्र तत्व (सम् अगच्छन्त) परस्पर संगत हो जाते हैं, मिल जाते हैं, अर्थात् (वशा) वशामाता (देष्ट्री) संगीतनिर्देशिका, (अथो) तथा (स्वधा) आनन्दरसरूपी अन्न तथा भक्ति रसरूपी अन्न (यत्र) जिस हृदयरूपी (हिरण्यये बर्हिषि) हिरण्य-आसन में (दीक्षितः) दीक्षा प्राप्त (अथर्वा) निश्चल चित्तवृत्ति वाला उपासक (आस्त) स्थित हो जाता है।

[उपासना में जब भक्ति भरे सामगान गाए जाते हैं, तब हृदय में तीन का संगम हो रहा होता है। (१) उपास्या वशा माता का, (२) संगीत निर्देशिका अथर्वा की आत्मचेतना का और (३) स्वधा का। संगीत गायक होता है मन। जैसे सामूहिक संगीत में संगीतज्ञ व्यक्ति हाथों द्वारा संगीत का निर्देश करता है, वैसे अथर्वा की आत्मचेतना मन के लिए संगीत में निर्देशिका होती है। इस समय वशा माता तो भक्तिरसरूपी अन्न का पान कर रही होती है, और आत्मा आनन्दरसरूपी अन्न का पान कर रहा होता है। "**स्वधा अन्ननाम**" (निघं० २.७)]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वशा माता राजन्यस्य वशा माता स्वधे तव।

वशाया यज्ञ आयुधं ततश्चित्तमजायत॥ १८॥

अर्थ—(वशा) वशा (राजन्यस्य) राजन्य की (माता) माता है, (स्वधे!) हे स्वधा! (वशा) वशा (तव) तेरी (माता) माता है। (वशायाः) वशा का (आयुधम्) अस्त्र-शस्त्र (यज्ञः) ध्यानयज्ञ या योगयज्ञ है, (ततः) उससे (चित्तम्) चित्त (अजायत) पैदा हुआ है।

[वशा=सब को वश में रखने वाली कान्तिमयी पारमेश्वरी माता। राजन्यस्य=राजन्य है "प्रजारञ्जक राजवर्ग"। यथा "**सोऽरज्यत ततो राजन्योऽजायत॥** (अथर्व० १५.८.१)। सः अरज्यत=सः अरञ्जयत् उसने प्रजारञ्जन किया (**रञ्ज रागे,** भ्वादिः) तब वह राजन्य हुआ न कि अपने-आप को रञ्जित किया है। जैसे वशा, ब्राह्मण आदि वर्ग की माता है। वैसे चारों वर्ण वशा माता द्वारा सृष्ट हैं।

वशा माता है स्वधा की। "**स्वधा अन्ननाम**" (निघं० २.७)। यह अन्न है आनन्दरस तथा भक्तिरस। आनन्द रस और भक्ति रस वशा माता की परम कृपा द्वारा पैदा होते हैं। उपासक आनन्दरस का आस्वादन करता है, और वशा माता भक्ति रस का। अतः ये दोनों "रस" अन्नरूप हैं।

आयुधम्=योग साधना में कई "अन्तराय" होते हैं (योग १.३०)। ये अन्तराय चित्त को विक्षिप्त करते रहते हैं। "**ईश्वरप्रणिधान**" (योग १.३०) द्वारा इन अन्तरायों का अभाव हो जाता है (योग १.२९)। पारमेश्वरी माता इन अन्तराय-रूपी शत्रुओं का विनाश करती है, "योगयज्ञरूपी आयुध" द्वारा। ध्यान के परिपाक में "सात्त्विक चित्त" प्रकट होता है, पैदा होता है। सात्त्विक चित्त से प्रज्ञा-तथा-प्रसंख्यान पैदा होते हैं (योग १.४८; ४.२९)। चित्तम्=**चिती संज्ञाने** (भ्वादिः)। प्रज्ञा-और प्रसंख्यान दोनों

"संज्ञानरूप" हैं]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ऊर्ध्वो बिन्दुरुदचरद् ब्रह्मणः ककुदादधि।

ततस्त्वं जज्ञिषे वशे ततो होताजायत॥ १९ ॥

अर्थ—(ब्रह्मणः) ब्रह्मरन्ध्र की (ककुदात् अधि) चोटी से (बिन्दुः) वीर्य-बिन्दु (ऊर्ध्वः) ऊर्ध्व होकर (उदचरत्) ऊपर की ओर गति करता है। (वशे) हे वशा मातः! (ततः) तत्पश्चात् (त्वम्) तू (जज्ञिषे) प्रकट होती है, (ततः) तत्पश्चात् (होता) उपासक भक्तिरस का दाता (अजायत) बनता है।

[ब्रह्मरन्ध्र=यह भ्रूमध्यस्थित आज्ञाचक्र से ऊर्ध्व की ओर, और सहस्रार-चक्र से नीचे की ओर मस्तिष्क में स्थित है। इस स्थान पर मन के स्थिर हो जाने पर असम्प्रज्ञात समाधि अर्थात् सर्ववृत्तिनिरोध होता है।

बिन्दुः उद् अचरत्=वीर्य बिन्दु यद्यपि ब्रह्मरन्ध्र की चोटी से ऊर्ध्व की ओर गति नहीं कर सकता, तथापि इसका अभिप्राय है "ऊर्ध्वरेतस्" होना, वीर्य का रक्त में ही विलीन रहना, उसका अधःपतन न होने देना। वीर्यशक्ति योगाभ्यास में एक विशिष्ट शक्ति है।]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आस्नस्ते गाथा अभवन्नुष्णिहाभ्यो बलं वशे।

पाजस्याज्जिज्ञे यज्ञ स्तनेभ्यो रश्मयस्तव॥ २० ॥

अर्थ—(वशे) हे सब को वश में रखने वाली कान्तिमती पारमेश्वरी मातः! (ते) तेरे (आस्नः) मुख से (गाथाः) वैदिक सामगान (अभवन्) प्रकट हुए, (उष्णिहाभ्यः) उष्णिक् आदि छन्दों से (बलम्) आध्यात्मिक और मानसिक बल पैदा हुआ। (पाजस्यात्) और बल के लिए हितकर अन्न से (यज्ञः) ध्यानयज्ञ या योगयज्ञ (जज्ञे) पैदा हुआ, (तव) तेरे (स्तनेभ्यः) स्तनों से (रश्मयः) ज्ञानरश्मियाँ पैदा हुईं।

[आस्नः=शतपथ ब्राह्मण काण्ड ६। अध्याय १। ब्राह्मण १। खण्ड १० में ब्रह्म अर्थात् वेद को प्रजापति का मुख कहा है। यथा "**ततो ब्रह्मैव प्रथममसृज्यत, त्रय्यैव, विद्या। अपि हि तस्मात् पुरुषात् ब्रह्मैव पूर्वमसृज्यत, तदस्य तन्मुखमेवासृज्यत**"। इस खण्ड में वेद या ब्रह्म अर्थात् त्रयीविद्या को प्रजापति का मुख कहा है, इस मुख का कथन मन्त्र २० में "आस्नः" द्वारा हुआ है। इसी मुख अर्थात् त्रयीविद्या के अङ्गरूप, सामवेद के सामगानों को "गाथा" कहा है।

उष्णिहाभ्यः=उद्+स्निह्+टाप्=उष्णिहा अर्थात् वैदिक उष्णिक् छन्द आदि। उष्णिहा="**स्निह्यतेर्वा स्यात् कान्तिकर्मणः**" (निरुक्त ७.३.१२)। छन्दों में निर्दिष्ट उपायों द्वारा आत्मिक और मानसिक बल पैदा होता है।

पाजस्यात्="**पाजः बलनाम**" (निघं० २.९)। पाजस्यम्="पाजसे हितम्", अर्थात् बल के लिए हितकर "अन्न"। बलकारी अन्न से ध्यानयज्ञ या योगयज्ञ पैदा हुआ। शारीरिक और मानसिक बल के विना, यह यज्ञ नहीं किया जा सकता। शारीरिक और मानसिक निर्बलता से, ध्यान के लिए, स्थिर-आसन भी सम्भव नहीं हो सकता।

स्तनेभ्यः=बहुवचन द्वारा चार वेदरूपी चार स्तन प्रतीत होते हैं। इन चार वेदों से ज्ञान रश्मियाँ प्रकट होती हैं। चतुष्पात्पशुरूपी-गौ के स्तनों से दूध पैदा होता है रश्मियाँ नहीं। ऋ० १०.७१.५ में वेदवाणी को धेनु द्वारा रूपित किया है, अतः वेदवाणी के स्तनों की भी कल्पना की गई है। इसलिए कहा है कि "**अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्**"। इस पर निरुक्तकार कहते हैं कि "**याज्ञदैवते पुष्पफले दैवताध्यात्मे वा**" (१.६.२०)]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ईर्माभ्यामयनं जातं सक्थिभ्यां च वशे तव।
आन्त्रेभ्यो जज्ञिरे अत्रा उदरादधि वीरुधः॥ २१ ॥

अर्थ—(वशे) हे वशा! (तव) तेरी (ईर्माभ्याम्) अगली दो जङ्घाओं से, (च) और (सक्थिभ्याम्) अगले दो ऊरुओं से (अयनम्) गति (जातम्) पैदा हुई, चलना हुआ। (आन्त्रेभ्यः) आन्तों से (अत्राः) खाने वाले, (उदरात् अधि) तथा पेट से (वीरुधः) विरोहण करने वाली लताएँ तथा वनस्पतियाँ (जज्ञिरे) पैदा हुईं।

[मन्त्र में वशा अर्थात् गोपशु की अगली दो टांगों की दो जङ्घाओं को "ईर्म" कहा है। ईर्म का अर्थ है गति का साधन। **ईर गतौ** (चुरादिः)+मक् (उणा० १.१४५)। घुटनों से निचली ओर पैरों तक के दो भागों को "ईर्माभ्याम्" द्वारा निर्दिष्ट किया है। जिन्हें कि जङ्घाएँ कहते हैं। घुटनों से ऊपर की ओर कटिभागों तक के दो भागों को "सक्थिभ्याम्" द्वारा निर्दिष्ट किया है जिन्हें कि "ऊरू" कहते हैं। इन दो जङ्घाओं और दो सक्थियों द्वारा "अयन" अर्थात् चलना पैदा होता। गौ के चलने में पहिले दो अगली टांगें ही उठती हैं, तत्पश्चात् पीछे की दो टांगें आगे को बढ़ती हैं। आन्तों से "अत्रा" अर्थात् खाने वाले बछड़ियाँ-बछड़े पैदा होते हैं। और उदर के गोबर से अर्थात् खादरूप से, लताएं-वनस्पतियाँ पैदा होती हैं—यह अभिप्राय मन्त्र के उत्तरार्ध द्वारा प्रतीत होता है। अत्राः=अद् भक्षणे+राः।

"पारमेश्वरी माता" के पक्ष में "अयन" का अभिप्राय है उत्तरायण [Summer solstice] तथा दक्षिणायन [winter solstice]। इस अर्थ में "अयन" का प्रयोग अथर्ववेद में हुआ है। यथा "**पुनर्वसू सूनृता चारु पुष्यो भानुराश्लेषा अयनं मघा मे**" (१९.७.२) मन्त्र के इस उत्तरार्ध में, मघा नक्षत्र में "अयन" अर्थात् उत्तरायण का वर्णन हुआ है। उत्तरायण=उत्तरायण की अन्तिम सीमा [Summer solstice]। इसी प्रकार मकर राशि में दक्षिणायन होता है। दक्षिणायन=दक्षिणायन की अन्तिम सीमा [winter solstice]।

विश्व अर्थात् ब्रह्माण्ड है पारमेश्वरी माता का शरीर। सूर्य इस शरीर का अङ्ग है। सूर्य जब भूमध्यरेखा से उत्तर की ओर गति करता है तब इसकी इस गति को अगली दो जङ्घाएँ कहा है, और सूर्य जब उत्तरायण की अन्तिम सीमा से भूमध्यरेखा की ओर वापिस लौट रहा होता है तब इसकी लौटती गति को दो अगली सक्थियाँ कहा है। इसी प्रकार सूर्य जब भूमध्यरेखा से दक्षिण की ओर गति करता है तब इसकी इस गति को पिछली दो जङ्घाएँ कहा है, और सूर्य जब दक्षिणायन की अन्तिम सीमा से भूमध्यरेखा की ओर वापिस लौट रहा होता है तब इसकी लौटती गति को पिछली दो सक्थियाँ कहा है। "सक्थि" शब्द "**षच समवाये**" (भ्वादिः) के अनुसार "सच्" धातु से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ है "संसक्त-अङ्ग। ये सक्थियाँ जङ्घाओं के साथ संसक्त हैं, अतः सक्थियाँ हैं। सूर्य के सम्बन्ध में "ईर्माभ्याम्" द्वारा

दो अगली गतियों का निर्देश किया है। "ईर्म"=**ईर गतौ**+मक् (उणा० १.१४५)। ऋग्वेद में "ईर्म" शब्द टांगों के लिए प्रयुक्त नहीं हुआ (ऋ० १.१८३.१०)। इसी प्रकार आदित्यरश्मियों के वर्णन के प्रसङ्ग में "ईर्मान्तासः" का अर्थ है "**समीरितान्ताः प्रथ्वन्ता वा**" (निरुक्त ४.२.१३)।

आन्त्रेभ्यः अत्राः="**मनुष्या आन्त्राणि**" (अथर्व० ९.७.१६)। "अत्राः" का अर्थ है "खाने वाले अङ्ग"। अद् भक्षणे+राः (मत्वर्थीयः)+ प्रथमा बहुवचन। अतः आन्तों से अत्राः पैदा हुए, इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्यों से मानुष-अङ्ग पैदा हुए, जो कि अन्न का भक्षण करते हैं।

उदरादधि वीरुधः=उदर से विरोहण करने वाली लताएँ और वनस्पतियाँ पैदा हुईं। पारमेश्वरी माता का उदर है अन्तरिक्ष। यथा "**अन्तरिक्षमुतोदरम्**" (अथर्व० १०.७.३२)। अन्तरिक्ष से वर्षा द्वारा उदक प्राप्त होता है, और उदक से विरोहण करने वाली लताएँ और वनस्पतियाँ पैदा होती हैं। इस अभिप्राय से "उदरदधि वीरुधः" कहा है।

ऋषिः—**कश्यपः**॥ देवता—**वशा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यदुदरं वरुणस्यानुप्राविशथा वशे। ततस्त्वा ब्रह्मोदह्वयत्स हि नेत्रमवेत्तव॥ २२॥

अर्थ—(वशे) हे पारमेश्वरीमातः! (यद्) जो तू (वरुणस्य) मेघ के (उदरम्) पेट में (अनु) ऋत्वनुसार (प्राविशथाः) प्रविष्ट हुई थी, (ततः) वहाँ से (त्वा) तुझे (ब्रह्मा) ब्रह्म ने (उद् अह्वयत्) उच्चस्वर से आहूत किया, बुलाया, क्योंकि (सः) वह ब्रह्मा (हि) निश्चय से (तव) तेरे (नेत्रम्) नेतृत्व को (अवेत्) जानता है।

["वरुणस्य", वरुण है जलों का अधिपतिः। यथा "**वरुणोपामधिपतिः**" (अथर्व० ५.२४.४)। निरुक्त के अनुसार वरुण है **मेघाधिपतिः** (१०.१.३, ४) वर्षर्तु में मेघादि के नियन्त्रण के लिए पारमेश्वरी माता मानो, वरुण के उदर में प्रविष्ट होती है। ब्रह्मा है चतुर्वेदविद् वेदाध्यापक। वह वेदाध्यापन के लिए, "वैदिकी माता" पारमेश्वरी माता का उच्चस्वर में वेदोच्चारण करता हुआ मानो आह्वान करता है, उसकी सहायता चाहता है। "**यस्तं न वेद किमृचा करिष्यति**" (ऋ० १.१६४.३९)। तथा "**सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति....तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि ओमित्येतत्** (कठोप० २.१५) द्वारा वेदों की मुख्य-प्रतिपाद्या है पारमेश्वरी माता अर्थात् ओ३म्-ब्रह्म। इसलिए ब्रह्मा उसका आह्वान निज हृदय में करता है, ताकि उसके नेतृत्व में वह वेदाध्यापन कर सके, उससे निर्देश पाकर वह वेदाध्यापन में समर्थ हो सके। मन्त्र में वर्षा-ऋतु को वेदाध्यापन-काल सूचित किया है]।

ऋषिः—**कश्यपः**॥ देवता—**वशा**॥ छन्दः—**बृहती**॥

सर्वे गर्भादवेपन्त जायमानादसूस्वः।
ससूव हि तामाहुर्वशेति ब्रह्मभिः क्लृप्तः स ह्यस्या बन्धुः॥ २३॥

अर्थ—(असूस्वः[१]) अप्रसूता के प्रसवसम्बन्धी (गर्भात्[२]) गर्भ से (जायमानात्) उत्पन्न होते हुए [शिशु] से (सर्वे) सब (अवेपन्त) काम्प गये। क्योंकि (ताम्) उसे (आहुः) कहते हैं कि (वशा इति)

१. मन्त्र में "असू" शब्द को देख कर सायणाचार्य तथा मन्त्रविनियोगकारों ने वशा को बन्ध्या कहा प्रतीत होता है।
२. "**हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे**" (यजुः० १३.४; २३.१; २५.१०) द्वारा वशा अर्थात् पारमेश्वरी माता का गर्भ के साथ भी सम्बन्ध है।

यह तो वशा है, जो कि (ससूव हि) प्रसूता हो ही गई है। [प्रजातशिशु] (ब्रह्मभिः) चतुर्वेदवेत्ता आचार्यों द्वारा (क्लृप्तः) सामर्थ्यवान् किया गया है। (सः हि) वह ब्रह्मा (मन्त्र २२) ही (अस्याः) इस [वशा] का (बन्धुः) बन्धु है।

[शिशु के पैदा होते सब काम्प गये—यह काम्पना गोशिशु के सम्बन्ध में अनुपपन्न प्रतीत होता है। पारमेश्वरी माता कभी-कभी ही भू-मण्डल पर किसी महापुरुष को पैदा करती है जो कि परम्परा से प्राप्त सामाजिक रूढियों में आमूलचूल परिवर्तन करने का सामर्थ्य रखता हो। मन्त्रोक्त शिशु के तत्सामयिक लक्षणों को देख कर, उसे एक भावी महापुरुष समझ कर तत्सामयिक जनता घबरा जाती है कि "यह कहीं हमारी निरूढ प्रथाओं का मूलोच्छेदन न कर दे। इस दृष्टि से मन्त्र में "अवेपन्त" कहा है।

शिशु, बालक होकर, जब गुरुकुल में प्रविष्ट होता है तो उस भावी महापुरुष को, गुरुकुल के चतुर्वेविद् नाना आचार्य, सच्छिक्षा देकर, बलशाली महापुरुष बना देते हैं। क्लृप्तः=सामर्थ्यशाली या बलशाली। **कृपू सामर्थ्ये** (भ्वादिः), "**रलयोरभेदः**" द्वारा "कृपू=क्लृपू+क्तः। बड़े गुरुकुलों में नाना आचार्यों के ऊपर सर्वोपरि आचार्य भी होना चाहिए, जिसे मन्त्र में "सः" द्वारा निर्दिष्ट किया है। यह सर्वोपरि ब्रह्मा (मन्त्र २२) है जो कि वशा माता के साथ बन्धुत्व को प्राप्त हुआ है, उसे साक्षात् किये होता है] "**स नो बन्धुर्जनिता स विधाता**" (यजुः० ३२.१०)]।

ऋषिः—**कश्यपः**॥ देवता—**वशा**॥ छन्दः—**उपरिष्टाद् बृहती**॥

युध एकः सं सृजति यो अस्या एक इद्वशी।
तरांसि यज्ञा अभवन्तरसां चक्षुरभवद्वशा॥ २४॥

अर्थ—(एकः) वह एक महापुरुष (मन्त्र २३) (युधः) राजस और तामस योद्धाओं के साथ (सं सृजति) संसर्ग करता है, भिड़ता है, (यः एकः) जो एक कि (अस्याः) इस पारमेश्वरी वशा माता को (वशी) निज वश में किये होता है। [इस देवासुर संग्राम में अर्थात् इस संग्राम-समुद्र में] (तरांसि) तैराने वाली नौकाएँ (यज्ञाः) नानाविध यज्ञकर्म (अभवन्) होते हैं, और (तरसाम्) तैराने वाली नौकाओं की (चक्षुः) आँख अर्थात् संचालिका (वशा) पारमेश्वरी वशा माता (अभवत्) होती है।

[मन्त्र २३ में "भय के कारण काम्पने" का हेतु, मन्त्र २४ में स्पष्ट हुआ है। वह "जायमान" (२३) शिशु ही, जिसने कि बलशाली बन कर वशा माता को निज वश में किया होता है, प्रजाजन के राजस-तामस विचारों और कर्मों के साथ युद्ध करता है, और पारमेश्वरी वशा माता उसकी सहायता करती है। यह शक्तिशाली महापुरुष यज्ञकर्मों का प्रचार कर, प्रजाजन के अयज्ञकर्मों का उच्छेद करता है। यज्ञाः=यज्ञकर्म नाना प्रकार के हैं, यथा उपासनायज्ञ, भक्तियज्ञ, कर्मयज्ञ, ज्ञानयज्ञ, ध्यानयज्ञ, योगयज्ञ आदि]।

ऋषिः—**कश्यपः**॥ देवता—**वशा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

वशा यज्ञं प्रत्यगृह्णाद्वशा सूर्यमधारयत्। वशायामन्तरविशदोदनो ब्रह्मणा सह॥ २५॥

अर्थ—(वशा) पारमेश्वरी वशा माता (यज्ञम्) यज्ञकर्म का (प्रत्यगृह्णात्) प्रतिग्रह करती है, उसे स्वीकार करती है, (वशा) वशा माता (सूर्यम्) सूर्य का (अधारयत्) धारण-पोषण करती है। (वशायाम् अन्तः) वशा के भीतर (ओदनः) भक्तिरसरूपी ओदन, (ब्रह्मणा सह) चतुर्वेदवेत्ता ब्रह्मा के साथ

(अविशत्) प्रवेश पाता है। अथवा ओदनरूप समग्र जगत् वेदविद्या के साथ प्रविष्ट हुआ-हुआ है।

[वशा का वर्णन जो मन्त्र में हुआ है वह चतुष्पाद् गोपशु के सम्बन्ध में सर्वथा अनुपपन्न है]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**आस्तारपङ्क्तिः** ॥

वशामेवामृतमाहुर्वशां मृत्युमुपासते।

वशेदं सर्वमभवद्देवा मनुष्या३ असुराः पितर ऋषयः॥ २६॥

अर्थ—(वशाम्) पारमेश्वरी वशा माता को (एव) ही (अमृतम्, आहुः) अमृत कहते हैं, (वशाम्) वशा की (मृत्युम्, उपासते) उपासना मृत्यु नाम से भी करते हैं। (इदम्, सर्वम्) यह सब (वशा अभवत्) वशारूप हुआ है, (देवा......) देव, मनुष्य, असुर, पितर और ऋषि।

[पारमेश्वरी वशा माता ही अमृतरूपा है जिसके आश्रय को प्राप्त कर मुक्तात्माएँ अमृत होती हैं, चिरकाल तक अमृत-सुख का भोग करती है। यह वशा ही मृत्यु है। मृत्यु कोई पृथक् देवता नहीं। वशा माता ही मुमुक्षुओं के लिए अमृतरूपा और संसारियों के लिए मृत्युरूपा है। देव, मनुष्य, असुर, पितर, और ऋषि स्व-स्व कर्मानुसार, वशा माता की ही कृतिरूप[1] हैं। क्या यह वर्णन चतुष्पाद् गोपशु के सम्बन्ध में उपपन्न हो सकता है?]

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**शङ्कुमत्यनुष्टुप्**॥

य एवं विद्यात्स वशां प्रति गृह्णीयात्। तथा हि यज्ञः सर्वपाद्दुहे दात्रेनपस्फुरन्॥ २७॥

अर्थ—(यः) जो (एवम्) इस प्रकार (विद्यात्) जाने (सः) वह (वशाम्) पारमेश्वरी वशामाता का (प्रतिगृह्णीयात्) ग्रहण करे, (तथा हि) तब ही (यज्ञः) योगयज्ञ (सर्वपाद्) सर्वाङ्ग सम्पूर्ण होकर, (अनपस्फुरन्) विना रुकावट, (दात्रे) दाता के लिए (दुहे) फलप्रद होता है।

[मन्त्र में वशा के ग्रहीता और दाता के लिए निर्देश दिया है कि जो मन्त्र २६ में कथित वशा के स्वरूप को जाने वह ही वशा सम्बन्धी उपदेश के ग्रहण के योग्य है; और वह ही वशा सम्बन्धी उपदेश देने का अधिकार प्राप्त करता है, और योगयज्ञ के फल को प्राप्त करता है। योगयज्ञ ४ अङ्गों से सम्पन्न हुआ ''सर्वपाद्'' होता है। ४ अङ्ग हैं, ध्याता, ध्यान, ध्येय [पारमेश्वरी वशा माता] तथा कैवल्य या मोक्ष]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

तिस्रो जिह्वा वरुणस्यान्तर्दीद्यत्यासनि।

तासां या मध्ये राजति सा वशा दुष्प्रतिग्रहा॥ २८॥

अर्थ—(वरुणस्य) वरुण सम्बन्धी (तिस्रः) तीन (जिह्वाः) वाणियाँ (आसनि अन्तः) उपासक के मुख में (दीद्यति=दीद्यन्ति) दीप्त होती हैं, प्रकट होती हैं। (तासाम्) उन तीन में (या) जो वाणी (मध्य) मध्य में (राजति) विराजमान होती है (सा) वह (वशा) पारमेश्वरी वशा माता है, (दुष्प्रतिग्रहा) जिसका

१. मन्त्र में कर्त्ता और उसकी कृति में अभेद दर्शाया है, जैसे कि कहा है ''**आत्मा वै पुत्रनामासि त्वं जीव शरदः शतम्**''। इस श्लोकार्थ में पुत्र को पिता निजरूप ही कहता है, भेद केवल नामों का है। पिता कर्त्ता है और पुत्र कृति है।

अथवा अभवत्=**भू प्राप्तावात्मनेपदी** (चुरादिः), ''णिच् के सन्नियोग में ही आत्मनेपद होता है'' इस पक्ष के अनुसार अर्थ होगा कि ''वशा इस सब को प्राप्त हुई है, इस सब में व्याप्त है, अर्थात् देव आदि में''।

ग्रहण दुष्कर है, कठिन है।

[जिह्वा:="**जिह्वा वाङ्नाम**" (निघं० १.११)। उपासक के मुख में वरुण-सम्बन्धी तीन वाणियाँ होती हैं। (१) स्तुतिवाणी (२) उपासना सम्बन्धी वाणी, (३) प्रार्थना सम्बन्धी वाणी। स्तुति होती है ऋक्-वाणी द्वारा, उपासना होती है सामगानवाणी द्वारा, और प्रार्थना होती है यज्ञविधि से यजुर्वेद की वाणी द्वारा। इन तीन वाणियों में मध्यवर्ती वाणी है उपासना की वाणी या सामगान की वाणी। ऋक् और साम का परस्पर सम्बन्ध है, क्योंकि ऋक्-वाणी के आधार पर सामगान किया जाता है। यथा "**ऋच्यधिरूढं साम गीयते**" ऋक् है आधार, और साम आधेय। ऋक् है आश्रय और साम है आश्रित। इसी प्रकार अथर्ववेद के विवाह-मन्त्रों में पति, वधू को ऋक्, और अपने-आप को साम कहकर (१४.२.७१), पति और पत्नी के पारस्परिक सम्बन्धों का निर्देश करता है। इस प्रकार ऋक् और साम का परस्पर सम्बन्ध होने से उपासक की वाणियों का क्रम है, स्तुतिवाणी, उपासनावाणी, तथा प्रार्थनावाणी या सामवाणी, इस प्रकार मध्य में विराजमान होती है। तीनों वाणियाँ वशा का वर्णन करती हैं। परन्तु मध्यवर्ती उपासनावाणी, वशा को प्रत्यक्ष करा देने का सामर्थ्य रखती है। उपासना का अर्थ है "समीप बैठना"। वशा के प्रत्यक्ष न होते हुए उसके "समीप बैठना" सम्भव नहीं हो सकता। इसलिए मध्यवर्तीवाणी को वशा कहा है, यत: यह वाणी वशा को प्रत्यक्ष करा देती है। इसलिए मध्यवर्ती वाणी या तद् द्वारा प्रत्यक्ष होने वाली वशा को "दुष्प्रतिग्रहा" भी कहा है। क्योंकि उप+आसना, और वशा का प्रत्यक्षीकरण दोनों कार्य अतिकठिन हैं। वरुणस्य; वरुण:=परमेश्वर (अथर्व० ४.१६.१-९)। वरुण:=**वृणोति व्रियते वाऽसौ वरुण:** (उणा० ३.५३, महर्षि दयानन्द), जो भक्तों का वरण करता है, या भक्तों द्वारा जिसका वरण किया जाता है, वह वरुण है]।

ऋषि:—**कश्यप:**॥ देवता—**वशा**॥ छन्द:—**त्रिपदा गायत्री**॥

चतुर्धा रेतो अभवद्वशाया:। आपस्तुरीयममृतं तुरीयं यज्ञस्तुरीयं पशवस्तुरीयम्॥ २९॥

अर्थ—(वशाया:) पारमेश्वरी वशा माता की (रेत:) उत्पादक शक्ति (चतुर्धा) चार प्रकार से (अभवत्) विभक्त हुई। (आप:) अप्-तत्त्व (तुरीयम्) चतुर्थ भाग, (अमृतम्) अमृतत्व (तुरीयम्) चतुर्थ भाग, (यज्ञ:) यज्ञकाण्ड (तुरीयम्) चतुर्थ भाग, और (पशव:) प्राणिजगत् (तुरीयम्) चतुर्थभाग।

[आप:=जड़ जगत् की कारणीभूत द्रवावस्था, तथा उससे उत्पन्न समग्र जड़-जगत्। अमृतम्=अमृतत्व अर्थात् मुक्तात्माएँ। यज्ञ:=कर्मकाण्ड; वैयक्तिक, गार्हस्थ्य, सामाजिक, राष्ट्रिय तथा सार्वभौम जीवन सम्बन्धी कर्त्तव्यकर्म आदि। पशव:="**तवेमे पञ्च पशवो विभक्ता गाव, अश्वा:, पुरुषा, अजावय:**" (अथर्व० ११.२.९)। यजुर्वेद (३१.२) में "**इदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्**" द्वारा आप: और अब्जन्य जड़ जगत् का, तथा "अमृतत्वस्येशान:" द्वारा अमृत-जगत् का, तथा "यदन्नेनाति रोहति" द्वारा प्राणि-जगत् का वर्णन हुआ है। तथा यजु:० (३१.१४, १५, १६) में यज्ञकर्म का वर्णन हुआ है। इस प्रकार यजुर्वेद द्वारा भी चतुर्धा विभाग परिपुष्ट होता है]।

ऋषि:—**कश्यप:**॥ देवता—**वशा**॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

वशा द्यौर्वशा पृथिवी वशा विष्णु: प्रजापति:।
वशाया दुग्धमपिबन्त्साध्या वसवश्च ये॥ ३०॥

अर्थ—(वशा) पारमेश्वरी वशा माता (द्यौ:) द्युलोक है, (वशा) वशा माता (पृथिवी) पृथिवी है,

(वशा) वशा माता (विष्णुः) किरणों से व्याप्त सूर्य है, और प्रजापति है। (वशायाः) वशा माता के (दुग्धम्) दूध को (अपिबन्) पिया है (साध्याः) साध्यों ने, (वसवः) वसु ब्रह्मचारियों ने, (च) और (ये) जो रुद्र और आदित्य ब्रह्मचारी हैं उन्होंने।

["प्रजापति" है "सब उत्पत्तियों की स्वामिनी पारमेश्वरी माता" ही, जबकि यह प्रजाओं को उत्पन्न कर उनका पालन तथा रक्षा करती है। वशा का दुग्ध है आनन्दरस या मोक्षामृतरस। "साध्याः" हैं सिद्धात्माएँ जो कि नाक अर्थात् मोक्षामृतरस का पान करती हैं (यजुः० ३१.१६)। "वसवः" द्वारा जड़ ८ वसुओं का ग्रहण नहीं, जो कि अग्नि-पृथिवी, वायु-अन्तरिक्ष, सूर्य-द्युलोक, और चन्द्रमा नक्षत्र हैं। ये न आनन्दरस का पान कर सकते हैं, न मोक्षामृतरस का। अतः "वसवः" द्वारा वसुब्रह्मचारियों और "च" द्वारा रुद्रों और आदित्य ब्रह्मचारियों का ग्रहण अभीष्ट है। मन्त्र में कर्ता और उसकी कृतियों में अभेद दर्शाया है। एतदर्थ देखो मन्त्र २६ की टिप्पणी]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**उष्णिग्गर्भाऽनुष्टुप्** ॥

वशायां दुग्धं पीत्वा साध्या वसवश्च ये।
ते वै ब्रध्नस्य विष्टपि पयो अस्या उपासते॥ ३१ ॥

अर्थ—(साध्याः) सिद्धात्माएँ (वसवः) वसु ब्रह्मचारी (च) और (ये) जो रुद्र और आदित्य ब्रह्मचारी हैं, (ते) वे (वै) निश्चय से (वशायाः) पारमेश्वरी वशा माता के (दुग्धम्) दुग्ध को (पीत्वा) पी कर (ब्रध्नस्य) महाब्रह्म के (विष्टपि) सन्तापरहित स्थान में (अस्याः) इस पारमेश्वरी वशा माता के (पयः) दुग्ध के (उप) समीप (आसते) उपविष्ट रहते हैं। उपासते=उप (समीप)+आसते (**आस उपवेशने,** अदादिः)।

[वशा का अभिप्राय है पारमेश्वरी माता। दुग्ध है आनन्द रस। साध्य आदि जिन्होंने कि सशरीरावस्था में आनन्दरस का पान किया है, वे ही अशरीरावस्था अर्थात् मोक्षावस्था में आनन्दरस के समीप उपविष्ट होने के अधिकारी होते हैं। महाब्रह्म का सन्तापरहित स्थान है मोक्षावस्था का स्थान। वह है "**यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धमान्नध्यैरयन्त**" (यजुः० ३२.१०)। धाम तीन हैं—(१) प्राकृतिक जगत् (२) जीवात्माओं के निज स्वरूप, (३) ब्रह्म। मुक्तात्मा इस तृतीय धाम में विचरते हैं। आनन्दरस, ब्रह्म का स्वरूप ही है, तद्भिन्न कोई वस्तु नहीं ब्रह्म, रसरूप ही है। यथा—"**रसो वै सः, रसं ह्येष लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति**" (तैत्तिरीय उपनिषद्)]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**विराट् पथ्या बृहती** ॥

सोममेनामेके दुह्रे घृतमेक उपासते।
य एवं विदुषे वशां ददुस्ते गतास्त्रिदिवं दिवः॥ ३२ ॥

अर्थ—(एके) कई (एनाम्) इस पारमेश्वरी वशा माता से (सोमम्) सोम का (दुह्रे) दोहन करते हैं, (एके) कई (घृतम्) घृतरूप में इस वशा माता की उपासना करते हैं। (ये) जो योगिजन (एवं विदुषे) इस प्रकार जानने वाले शिष्य को (वशाम्, ददुः) वशा का दान करते हैं, उसका साक्षात् दर्शन करा देते हैं, (ते) वे (दिवः) दिव् के (त्रिदिवम्) त्रिदिव विभाग को (गताः) पहुँचे हुए होते हैं।

[सोम=सोमौषध का रस। कई योगियों को वशा का दूध अर्थात् आनन्दरस, सोमरस के सदृश

हर्षोत्पादक अनुभूत होता है, और कईयों को आनन्दरस, घृत के सदृश पुष्टिप्रद अनुभूत होता है। वे पारमेश्वरी वशा माता की समीपता से आध्यात्मिक पुष्टि पाकर, पारमेश्वरी-आज्ञानुसार उसकी इच्छा को पूर्ण करते रहते हैं और इस मार्ग से विचलित नहीं होते। यह उनकी आध्यात्मिक पुष्टि का परिणाम होता है। ऐसे योगी निज शिष्य को पारमेश्वरी वशा माता का दर्शन करा सकते हैं। वे योगी "दिव्" अर्थात् मूर्धा में स्थित मस्तिष्क के सहस्रारचक्र में पहुँचे हुए होते हैं। 'दिव्' का अभिप्राय है मूर्धा। यथा "**दिवं यश्चक्रे मूर्धानम्**" (अथर्व० १०.७.३२)। मूर्धा को दिव् इसलिए कहते हैं कि "मस्तिष्क या मूर्धा" ज्ञान-ज्योति द्वारा द्योतमान होता है। मस्तिष्करूपी दिव् के तीन विभाग होते हैं, (१) बृहद्-मस्तिष्क। इसे Cerebrum कहते हैं। यह दो भागों में बँटा होता है। इन भागों को मस्तिष्क-गोलार्ध कहते हैं (Cerebral Hemispheres)। ये दोनों दाएँ और बाएँ ओर रहते हैं। दाएँ गोलार्ध को Right hemisphere, और बाएँ गोलार्ध को Left hemisphere कहते हैं। इन दो से पृथक् एक लघुमस्तिष्क होता है जिसे Carebellum कहते हैं। यह बृहत् मस्तिष्क के नीचे की ओर बृहत् मस्तिष्क से जुड़ा रहता है। लघुमस्तिष्क से सुषुम्ना नाड़ी निकलती है। इस प्रकार मस्तिष्क के इन तीन भागों को "त्रिदिवम्" कहा है। तीनों भाग ज्ञान-ज्योति द्वारा द्योतित होते हैं। इस मस्तिष्क के भ्रूमध्यस्थित आज्ञाचक्र के ऊर्ध्व की ओर ब्रह्मरन्ध्र[1] होता है, और ब्रह्मरन्ध्र के ऊर्ध्व में सहस्रारचक्र होता है। यहाँ पारमेश्वरी वशा माता का पूर्ण प्रकाश होता है। पहुँचे हुए महायोगी इस प्रकाश में स्थित होकर आनन्दरस में लीन हो जाते हैं]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ब्राह्मणेभ्यो वशां दत्त्वा सर्वांल्लोकान्त्समश्नुते।
ऋतं ह्यस्यामार्पितमपि ब्रह्माथो तपः॥ ३३॥

अर्थ—(ब्राह्मणेभ्यः) ब्रह्मज्ञान के अधिकारियों को (वशाम् दत्त्वा) पारमेश्वरी वशा माता का दर्शन करा कर, [योगी] (सर्वान् लोकान्) सब लोकों को (समश्नुते) प्राप्त करता है, अर्थात् सब लोकलोकान्तरों में जाने-आने का सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है। (हि) क्योंकि (अस्याम्) इस पारमेश्वरी वशा माता में (ऋतम्) सत्य, (अपि) और (ब्रह्म[2]) वेद अर्थात् त्रयी विद्या (अथो) तथा (तपः) सर्वज्ञता (आर्पितम्) अर्पित है।

[तपः="**यस्य ज्ञानमयं तपः**" (उपनिषद्)। अभिप्राय यह कि पारमेश्वरी वशा माता सर्वज्ञा और सर्वशक्तिमती है। वह योगी को ज्ञान और शक्ति प्रदान करती है जिस द्वारा योगी सब लोकों में जा सकता है। देखो यजुः० (१७.६७)]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वशां देवा उप जीवन्ति वशां मनुष्या उत।
वशेदं सर्वमभवद्यावत्सूर्यो विपश्यति॥ ३४॥

अर्थ—(वशाम्) वशा के आश्रय (देवाः) सूर्य, चन्द्र, तारागण आदि दिव्य पदार्थ (उप जीवन्ति)

१. रन्ध्र का अर्थ है छिद्र। ब्रह्मरन्ध्र का अर्थ है "ब्रह्मसम्बन्धी रन्ध्र"। योगी का चित्त इस रन्ध्र में से गुजर कर सहस्रार चक्र में पहुँच कर ब्रह्म के दर्शन करता है।

२. ब्रह्म=अथवा ब्रह्माण्ड। यथा "देवदत्तः"=देवः या दत्तः। इसी प्रकार ब्रह्माण्ड=ब्रह्म।

जीवित हैं, (वशाम्) वशा के आश्रय (मनुष्याः उत) तथा मनुष्य जीवित हैं। (इदम् सर्वम्) यह सब (वशा अभवत्) वशारूप हुआ है, (यावत्) जितने पर (सूर्यः) सूर्य (वि पश्यति) दृष्टिपात करता है, चमकता है।

[वशा अभवत्=इन सब की उत्पत्ति तथा धारण पारमेश्वरी माता कर रही है, अतः "वशा" और "इदम् सर्वम्" में तादात्म्य दर्शाया है]।

अथवा

(देवाः) सूर्य, चन्द्र, आदि दिव्यपदार्थ (वशाम्, उप) पारमेश्वरी वशा माता के आश्रय (जीवन्ति) जीवित हैं, (उत) तथा (मनुष्याः) मनुष्य (वशाम्) पारमेश्वरी वशा माता के आश्रय जीवित हैं। (वशा) पारमेश्वरी वशा माता (इदम्, सर्वम्) इस सब को (अभवत्) प्राप्त हुई-हुई है (यावत्) जहाँ तक (सूर्यः विपश्यति) सूर्य देखता है, चमकता है।

[अभवत्=**भू प्राप्तौ** (चुरादि) देखो मन्त्र २६ की व्याख्या]।

पञ्चम अनुवाक समाप्त॥

॥ इति त्रयोविंशः प्रपाठकः ॥

दशम काण्ड का भाष्य सम्पूर्ण हुआ॥

एकादश काण्ड

अथ चतुर्विंशः प्रपाठकः

सूक्त १

विषय-प्रवेश

(१) काण्ड ११। सूक्त १ में ३७ मन्त्र हैं। निर्वाचित अग्रणी को यज्ञद्वारा सम्राट् रूप में स्थिर करना, उसके राष्ट्रिय कर्त्तव्यों का निर्देश, तथा तद्द्वारा और सम्राट्-पत्नी द्वारा, समय-समय पर राष्ट्र के देवों अर्थात् विद्वानों, देवियों, ऋषियों, ऋषिसन्तानों, तथा ब्रह्मज्ञों और वेदज्ञों को आमन्त्रित कर उन्हें "ब्रह्मौदन" समर्पित करना—आदि विषयों की चर्चा ११.१ सूक्त में विस्तार पूर्वक हुई है।

(२) प्रजा सहित 'सप्तऋषि'—जो कि परम्परा प्राप्त सचिव हैं—राजसूय यज्ञ द्वारा, निर्वाचित अग्रणी को, 'सम्राट्' पद के लिए निर्धारित करते हैं (मन्त्र १-३)।

(३) सम्राट् "सजातैः" अर्थात् समान पद वाले तथा सजातीय राजाओं के साथ मिलकर प्रजोन्नति करता है (मन्त्र ७)। सम्राट् का अर्थ है—"संयुक्त राज्यों का मुखिया", और साम्राज्य का अर्थ "संयुक्त-राज्य"। तथा देखो "सजातान्", (६)।

(४) "अग्नि" पद द्वारा प्रधान मन्त्री का, 'इमम्' द्वारा राष्ट्र का, तथा "समिधा" द्वारा राजकर का वर्णन (४)।

(५) उपज के तीन विभाग करने, अर्थात् देवभाग, पितृभाग, तथा मर्त्यभाग (५)।

(६) "राजकर" का, प्रतिवर्ष माप कर, निश्चित करना (६)।

(७) धान्य का अवहनन स्वयं राजपत्नी करे (८-१०)।

(८) सम्राट् के लिए ३ वर (१०-११)।

(९) अभ्यागत अतिथियों के बैठने के लिए काष्ठनिर्मित-बुना हुआ कौच, "द्रुवम्" (१२)।

(१०) अभ्यागतों में राष्ट्र के देव अर्थात् विद्वान्, शोभायमान महिलाएँ, ऋषि, ऋषिसन्तानें तथा तपस्वीगण (१०,१४,१६)।

(११) ओदन का भोजन हितकर है (१५)।

(१२) ओदन पकाने की विधि (१६-१९)।

(१३) वंश परम्परा में प्रचलित १५वें पुरुष द्वारा लगातार किये गये अतिथि-यज्ञ सामाजिक महा सुकर्म है (१९)।

(१४) ब्रह्मौदन यज्ञ करना "देवयान" मार्ग है, और स्वर्गरूप है (२७)।

(१५) सम्राट् के कर्त्तव्य (२१,२२)।

(१६) वेदि का विधिपूर्वक निर्माण, तथा योषा के धड़ की आकृति वाली वेदि (२३)।

(१७) स्रुच अर्थात् जुहू, और दर्वि अर्थात् कड़छी, भूमिरूपी राजमाता का दूसरा हाथ है (२४)।

(१८) बलिवैश्वदेव के परिपक्व-ओदन का वेदि में संचय (२४)।

(१९) सम्राट् द्वारा, अभ्यागत ब्रह्मज्ञों को "ऐकमत्य" में होने की प्रार्थना (२६)।

(२०) ब्रह्मौदनयज्ञ अर्थात् आतिथ्य में राजपत्नी द्वारा ब्रह्मज्ञों को, अन्नदान (२६)।

(२१) प्रत्येक यज्ञिया महिला का प्रत्येक ब्रह्मज्ञ के साथ "एकपति पत्नीव्रत" में रहकर विवाह की सूचना (२७)।

(२२) कृषि द्वारा प्राप्त अन्न-ज्योति, अमृत, हिरण्य, कामधेनु गौ, सच्चा धन और सच्ची निधि है। जिस गृह में यह अन्न है वह "स्वर्ग" रूप है (२८)।

(२३) दो प्रकार के पितर (२९)।

(२४) स्वर्ग (३०, ३१), और नाक (३०)।

(२५) स्वर्गीय गृहजीवन में घृत का महत्त्व (३१)।

(२६) अभ्यागतों में आ गये अब्रह्मज्ञों को भी अन्न प्रदान, परन्तु आमन्त्रितों की पंक्ति से पृथक् बैठा कर, अन्न प्रदान (३२, ३३)।

(२७) कृषिपक्व, अन्न की रक्षा करना, राष्ट्रवासी प्रत्येक जन का कर्त्तव्य है (३३)।

(२८) "पुमान् धेनु" अर्थात् बैल की प्राप्ति, तथा इसका महत्त्व। और वृषभ का प्रदान ऋषियों और ऋषि सन्तानों को—यह वैदिक संस्कृति है (३४, ३५)।

(२९) सप्तरश्मि-आदित्य में स्थित "यज्ञनामक" परमेश्वर की प्राप्ति (३६)।

(३०) ब्रह्मौदन रूपी अतिथियज्ञ द्वारा "सुकृतस्य लोक" में और "उत्तमनाक" में आरोहण (३७)।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मौदनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुब्गर्भा भुरिक् पङ्क्तिः** ॥

अग्ने जायस्वादितिर्नाथितेयं ब्रह्मौदनं पचति पुत्रकामा।
सप्तऋषयो भूतकृतस्ते त्वा मन्थन्तु प्रजया सहेह॥ १॥

अर्थ—(अग्ने) अग्निवत् तेजस्वी हे अग्रणी! (जायस्व) तू प्रकट हो, (इयम् अदितिः) यह पृथिवी (नाथिता) नाथवती होना चाहती है, अपना स्वामी चाहती है, (पुत्रकामा) तुझ जैसे पुत्र की कामना वाली हो कर, (ब्रह्मौदनम्) ब्रह्मज्ञों[१] तथा वेदज्ञों के निमित्त, (ओदनं पचति) खेतों में ओदन को परिपक्व करती है। (ते भूतकृतः) वे सत्यानुष्ठानी (सप्तऋषयः) सात ऋषि, (प्रजया सह) प्रजा के साथ मिलकर, (इह) इस राष्ट्र या साम्राज्य में (त्वा मन्थन्तु) मन्थन करके तुझे उत्पन्न करें, अर्थात् प्रकट करें, जैसे कि वे मन्थन करके अग्नि को प्रकट करते हैं।

[मन्त्र द्व्यर्थक है। यज्ञियाग्नि का तथा राष्ट्राग्रणीरूप राजाग्नि का वर्णन हुआ है। यज्ञियाग्नि को यज्ञर्षि लोग दो अरणियों से मथ कर प्रकट करते हैं, राजाग्नि को सप्तर्षि-तथा-प्रजा दो अरणियाँ बन कर, परस्पर

१. इसका वास्तविक अभिप्राय है कि "ब्रह्म के प्रसादनार्थ, ब्रह्मज्ञों तथा वेदज्ञों का परिपक्व ओदन द्वारा सत्कार करना"। मन्त्र ३७ वें की व्याख्या में इस अभिप्राय को स्पष्ट किया गया है। सूक्त ११.१ में जहाँ ब्रह्मौदन शब्द पठित है, वहाँ इसकी यही व्याख्या जाननी चाहिए।

सहमति से मन्थन अर्थात् छानबीन करके जन्म देते या प्रकट करते हैं। पृथिवी जो खेतों में अन्न पकाती है उसे ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर के प्रसादन के निमित्त, यज्ञियाग्नि में आहुत करना होता है। इसी प्रकार ब्रह्मज्ञों और देवज्ञों के उपभोग के निमित्त, कृष्युत्पन्न ओदन को राजाग्नि के प्रति अर्पित करना होता है। यज्ञियाग्नि आहुतान्न को सर्वत्र प्रसारित कर सर्वोपकार करती है, इसी प्रकार राजाग्नि प्राप्त अन्न का विभागपूर्वक सर्वत्र अर्थात् सब प्रजा में बांट देती है। पृथिवी बिना स्वामी के नहीं रह सकती, इसलिए वह राजा के रूप में पुत्र की कामना करती है। **अदितिः पृथिवीनाम** (निघं० १.१)।

सप्तऋषयः=राज्य के सुचारुरूप में संचालन के लिए न्यून-से-न्यून सात ऋषिकोटि के अमात्य चाहिएँ। यथा "**सचिवान् सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान्**" (मनु० तथा सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ६)। मनु ने भी प्रथम सात सचिवों को नियुक्त करने का निर्देश किया है। आधिदैविक जगत् में भी सप्तर्षि मण्डल हैं, जिसमें कि सात ऋषि विराजते हैं। आध्यात्मिक जगत् में भी सात ऋषि हैं जो कि शरीर का संचालन करते हैं। इसी प्रकार आधिभौतिक अर्थात् राष्ट्रीय जीवन में भी मनु ने ७ सचिवों की विधि लिखी है। आध्यात्मिक जगत् में सात ऋषि यथा "**सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे**" (यजुः० ३४.५५)। ये सात ऋषि हैं, ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, १ मन और सातवीं विद्या। ये सातों ऋषि हैं। परन्तु इन द्वारा प्राप्त ज्ञान को, स्वार्थ भावना तथा लोभ, काम, क्रोध आदि वृत्तियाँ विकृत कर देती हैं। परन्तु सात्विक व्यक्ति को इन सात ऋषियों द्वारा प्राप्त ज्ञान मूलतः यथार्थ होता है।

ब्रह्मौदनम्=ब्रह्म के नाम पर ब्रह्मज्ञों और वेदज्ञों की अन्नादि द्वारा सेवा। मन्त्र के अनुसार ऋषियों, जो कि ब्रह्मज्ञ और वेदज्ञ होते हुए, अमात्यरूप से प्रजा के शासन में, राजा की सहायता करते हैं, उनकी, तथा तत्सदृश राष्ट्र के अन्य ब्रह्मज्ञों और वेदज्ञों की अन्नादि द्वारा सत्कार पूर्वक सेवा "ब्रह्मौदन" है। ऐसे व्यक्ति आधिभौतिक दृष्टि से राष्ट्र के देव हैं। इसीलिए ऐसों को संस्कृत में "भूदेव" कहते हैं। ऐसे व्यक्तियों की सेवा से पृथिवी तैर जाती है, पृथिवीस्थ प्रजा दुःखों के नद से पार हो जाती है। मन्त्र ५ में "**यो देवानां स इमां पारयाति**" से "इमाम्" में अभिप्राय पृथिवी की प्रजा है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ब्रह्मौदनः**॥ छन्दः—**बृहतीगर्भा विराट् त्रिष्टुप्**॥

कृणुत धूमं वृषणः सखायोद्रोघाविता वाचमच्छ।
अयमग्निः पृतनाषाट् सुवीरो येन देवा असहन्त दस्यून्॥ २॥

अर्थ—(वृषणः) हे सुखों की वर्षा करने वालो! (सखायः) हे सबके मित्रो! (अद्रोघाविताः) हे द्रोह विहीन प्रजा द्वारा रक्षा को प्राप्त सप्त ऋषियो! (वाचम्, अच्छ) वेदवाणी को स्वाभिमुख करके, उसका उच्चारण करते हुए (धूमम्) यज्ञियधूम को (कृणुत) करो, यज्ञानुष्ठान करो (अयम् अग्निः) अग्निसमान तेजस्वी यह पुरुष अर्थात् राजसूययज्ञ द्वारा किया जाने वाला सम्राट् (पृतनाषाट्) शत्रुसेनाओं को पराभव करने वाला है, (सुवीरः) उत्तम वीर है, (येन) जिसकी सहायता द्वारा (देवाः) सप्तर्षि देव या सैनिक [दिवु विजिगीषा, अर्थात् विजिगीषु सैनिक] (दस्यून्) उपक्षयकारी शत्रुओं का (असहन्त) पराभव करते रहे हैं। इसके साथ ही [असहन्त=इस द्वारा यह दर्शाया गया है कि राजा के निमित्त चुना गया तेजस्वी, हमारी सेनाओं का नायक बन कर पहिले भी युद्धों में विजय प्राप्त करता रहा है। इसलिए यह राजा होने का अधिकारी है। राजसूययज्ञ द्वारा राजा बनाने का वर्णन अथर्व (४.८.१-७) के मन्त्रों में

देखो। अथर्व ४.८.१ में कहा है कि "**तस्य मृत्युश्चरति राजसूयं स राजा राज्यमनुमन्यतामिदम्**[१]"]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मौदनः** ॥ छन्दः—**चतुष्पदा शाक्वरगर्भा जगती** ॥

अग्नेर्जनिष्ठा महते वीर्या॒य ब्रह्मौ॒दनाय॒ पक्तवे जातवेदः।

स॒प्त॒ऋ॒षयो भूतकृ॒त॒स्ते त्वा॑जीजनन्न॒स्यै र॒यिं सर्ववीरं॒ नि यच्छ ॥ ३ ॥

अर्थ—(जातवेदः) राष्ट्रोत्पन्न वस्तुओं के जानने वाले हे विद्वान्! (अग्ने) हे राष्ट्र के अग्रणी राजन्! (महते वीर्याय) महान् वीरता के कर्मों को करने के लिए, तथा (ब्रह्मौदनाय पक्तवे) ब्रह्मौदन के कृषिपाक के लिए, (अजनिष्ठाः) तू पैदा हुआ है। (ते) उन (भूतकृतः सप्तऋषयः) सत्यानुष्ठानी सात ऋषियों ने (त्वा) तुझे (अजीजनन्) राजरूप में जन्म दिया है, (अस्यै) इस पृथिवी अर्थात् प्रजा के लिए (रयिम्) सम्पत्ति तथा (सर्ववीरम्) सब वीर (नियच्छ) नितरां प्रदान कर।

[जातवेदसे="**जातानि वेद, जातविद्यो वा जातप्रज्ञानः**" (निरुक्त ७.५.१९)। पक्तवे=कृष्योदन के पकने के लिए। एतदर्थ कृषि की रक्षा तथा कृषि के लिए जल का प्रबन्ध करना राजा का कर्त्तव्य दर्शाया है। साथ ही राष्ट्ररक्षार्थ वीरता के कर्म, सम्पत्ति की वृद्धि, तथा युद्ध शिक्षा दे कर प्रजा को वीर बनाना ये भी राजा के कर्त्तव्य कर्म हैं]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मौदनः** ॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्** ॥

समिद्धो अग्ने स॒मिधा॒ समिध्यस्व वि॒द्वान्दे॒वान्य॒ज्ञियाँ॒ एह वक्षः।

तेभ्यो ह॒विः श्रपयं जातवेद उत्त॒मं नाक॒मधि रोहये॒मम् ॥ ४ ॥

अर्थ—(अग्ने) हे तेजस्वी प्रधानमन्त्री! (समिद्धः) सम्यक् प्रसिद्ध तू (समिधा) राष्ट्रयज्ञ में भेंट की गई ऐच्छिक "कर" रूपी समिधा द्वारा (समिध्यस्व) सम्यक् रूप से प्रदीप्त हो, प्रसिद्ध हो। (विद्वान्) विद्वान् तू (इह) इस राष्ट्र में (यज्ञियान्) राष्ट्रयज्ञ के योग्य (देवान्) दिव्यजनों को (आ वक्षः) प्राप्त कर, या ला। (जातवेदः) राष्ट्रोत्पन्न वस्तुओं को जानने वाले हे विद्वान्! (तेभ्यः) उन दिव्यजनों के लिए (हविः) ब्रह्मौदनरूपी हवि को (श्रपयन्) परिपक्व करता हुआ तू, (इमम्) इस राजा को (उत्तमम् नाकम्) सर्वोत्तम सुखातिशय तक (अधिरोहय) चढ़ा।

[मन्त्र में "अग्ने" और "इमम्"—इन दो शब्दों द्वारा दो अधिकारियों का वर्णन हुआ है। "इमम्" द्वारा राजा का, तथा "अग्ने" द्वारा तद्भिन्न अधिकारी का। अतः "अग्ने" पद द्वारा प्रधान मन्त्री ही प्रतीत होता है, जो कि "सप्त ऋषयः" में से एक ऋषि है।

समिधा=वैदिक दृष्टि में राज्य प्रबन्ध एक महायज्ञ है, जिसमें स्वेच्छापूर्वक "कर प्रदान" समिधारूप है।

यज्ञियान् देवान्=राष्ट्र के भिन्न-भिन्न विभागों के प्रबन्ध के लिए राष्ट्रयज्ञ में निज सेवाओं को आहुतिरूप में देने वाले अधिकारियों का संग्रह प्रधान मन्त्री करे, और इनके जीवन निर्वाह के लिए हविरूप में इनके भोजनाच्छादन की व्यवस्था करे। अधिकारिवर्ग वेतनभोगी नहीं। सप्त ऋषियों के मन्त्रित्व में वेतनभोगियों

---

१. अर्थात् उस राजा के राजोत्पादक यज्ञ में मृत्यु भी उपस्थित हो कर, उसे राजा रूप में मानती है, अतः वह निर्वाचित अग्रणी राजा होना स्वीकृत करे, अनुमति दे। इससे यह भाव भी सूचित होता है कि स्वयं चुने राजा के राज्य में मृत्यु भी, उसके अधीन हो कर, उसके राज्य में विचरेगी। स्वेच्छाचारिता से नहीं।

के लिए स्थान नहीं। मन्त्र में राज्य व्यवस्था का सर्वोत्तम रूप दर्शाया है। नाकम्=कम्=सुखम्; अकम्=सुखाभाव; न+अकम्=सुखाभाव का अभाव; अर्थात् सुखस्वरूप तथा सुखाभाव का अभावरूप अतिशय सुख, अर्थात् जो निरन्तर सुखरूप है और जिसमें सुख का अभाव कभी न हो, ऐसा सुख पारम्पर्य]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ब्रह्मौदनः**॥ छन्दः—**बृहतीगर्भा विराट् त्रिष्टुप्**॥

त्रेधा भागो निहितो यः पुरा वो देवानां पितॄणां मर्त्यानाम्।
अंशाञ्जानीध्वं वि भजामि तान्वो यो देवानां स इमां पारयाति॥ ५॥

अर्थ—हे प्रजाजनो! (वः) तुम्हारे लिए, (पुरा) अनादिकाल से, (यः) जो (त्रेधा, भागः, निहितः) त्रिविध भाग निश्चित किया है, (देवानाम्) एक भाग देवों का, (पितॄणाम्) एक भाग पितरों का, (मर्त्यानाम्) एक भाग अन्य मनुष्यों का, (अंशान् जानीध्वम्) उन अंशों अर्थात् भागों को जानो, (तान्) उन भागों को (वः) तुम्हें (विभजामि) विभागानुसार मैं देता हूँ, (यः) जो (देवानाम्) देवों का भाग है (सः) वह भाग (इमाम्) इस पृथिवी को अर्थात् पृथिवीस्थ प्रजा को (पारयाति) दुःखों और कष्टों के नद से पार करता है।

[जो अन्न आदि, राष्ट्र में उत्पन्न हो, राजनियम से उसके तीन भाग करके उसे प्रजा के निमित्त निश्चित कर देना चाहिए। यह विभाग राज प्रबन्ध द्वारा होना चाहिए, जैसे कि यजुर्वेद में कहा है कि "**विभक्तारं हवामहे वसोश्चित्रस्य राधसः**" (३०.४), अर्थात् "अभीष्ट साधक, राष्ट्रिय अद्भुत सम्पत्ति के विभाग-कर्त्ता का हम प्रजाजन आह्वान करते हैं"। इससे ज्ञात होता है कि राष्ट्र की उत्पत्तियों और सम्पतियों पर उत्पादकों का कोई एकाधिकार नहीं, अपितु वे सम्पत्तियाँ और उत्पत्तियाँ राष्ट्र की हैं, उनका यथोचित विभाग, राष्ट्रनियत "विभक्ता" करे। राष्ट्र की सम्पत्तियों और उत्पत्तियों के तीन विभाग होने चाहिएँ, उन-उन विभागों की जनसंख्या और आवश्यकतानुसार। देव हैं—विद्वान्, त्यागी, तपस्वी ऋषिमुनि आदि। पितर हैं गृहस्थी। मनुष्य हैं, इन दोनों विभागों से अतिरिक्त सामान्य प्रजा, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी आदि। सायणाचार्य के मत में देव हैं, यज्ञ पद्धति में जिनके निमित्त, आहुतियाँ दी जाती हैं अग्नि आदि। पितर हैं पिता, पितामह, प्रपितामह मृत व्यक्ति। मनुष्य हैं ब्राह्मण लोग]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ब्रह्मौदनः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥

अग्ने सहस्वानभिभूरभीदसि नीचो न्युब्ज द्विषतः सपत्नान्।
इयं मात्रा मीयमाना मिता च सजातांस्ते बलिहृतः कृणोतु॥ ६॥

अर्थ—(अग्ने) हे अग्नि समान तेजस्वी अग्रणी सम्राट्! (सहस्वान्) तू शत्रुओं के पराभव क्षम बल वाला है, (अभिभूः) तू पराभव कर्त्ता है, (इत्) निश्चय से (अभि असि) तू पराभवकर्त्ता है, (द्विषतः, सपत्नान्) द्वेष करने वाले सपत्नों को (नीचः) अधोमुख करके (न्युब्ज) उन्हें नितरां ऋजु व्यवहार वाले कर। (इयम्) यह (मात्रा) बलि की मात्रा अर्थात् राशि, (मीयमाना) जो कि मापी जा रही है, (मिता च) और जो पूर्व समयों में भी मापी जाती रही है, (ते) तेरे (सजातान्) सजातीय राजाओं को तेरे प्रति (बलिहृतः) बलि प्रदाता (कृणोतु) करे। बलि=राजकर[१], Tax यथा "**प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो**

१. "राजकर" को बलि कहना, राजकर को धार्मिक कार्य जान कर स्वेच्छापूर्वक देय दर्शाया है। जैसे कि बलिवैश्वदेव-यज्ञ में बलि को धार्मिक कार्य समझ कर दिया जाता है।

बलिमग्रहीत्''।

[**सहः**=बलनाम (निघं० २.९)। न्युब्ज=नि+उब्ज आर्जवे। नीचः=अधोमुख अर्थात् शर्मिन्दा होकर जिन्होंने अपने मुख नीचे कर लिए हैं। सपत्नान्=राष्ट्र के पति के विद्रोही निज राष्ट्रजन। इयं मात्रा=सजात राजाओं द्वारा देय मात्रा, जिसे कि समय-समय पर परिस्थितियों के अनुसार प्रतिवर्ष मापा जाता है, निश्चित किया जाता है, और जिसकी प्रथा पूर्वकाल से चली आ रही है। सजातान् ''**सजातानां मध्यमेष्ठा राज्ञामग्ने विहव्यो दीदिहीह**'' (अथर्व० २.६.४); ''**सजातानां श्रैष्ठ्य आ धेह्येनम्**'' (अथर्व० १.९.३); ''**सजातानां मध्यमेष्ठा यथासानि**'' (अथर्व० ३.८.२); ''**सजातानामसद् वशी**'' (अथर्व० ६.५.२)। सजातान्=समान जाति के राजा यह संगठन संयुक्त-राज्य का सा प्रतीत होता है, जो कि एक ही जाति के लोगों का है, सम्भवतः जैसे कि भारत में एक केन्द्रिय सरकार है, और साथ ही प्रान्तीय सरकारें हैं। प्रान्तीय सरकारें केन्द्रिय सरकार को भेंट दिया करें, यह भावना यहाँ प्रतीत होती है। तथा जब प्रान्तीय सरकारें परस्पर किसी विचार के लिए मिलें, तब केन्द्रिय सरकार का राजा अर्थात् सम्राट् इनमें मध्यस्थ होकर इनकी सभा का संचालन करे। ऐसे ही अफ्रीका के लोग एक जाति के हैं, इनका भी संयुक्त-राज्य संगठन हो। इसी प्रकार अन्य समान-जाति वालों के भी संयुक्त राज्य हों, यह विचार यहाँ प्रस्तुत किया है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ब्रह्मौदनः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

साकं सजातैः पयसा सहैध्युदुब्जैनां महते वीर्याय।
ऊर्ध्वो नाकस्याधि रोह विष्टपं स्वर्गो लोक इति यं वदन्ति॥ ७॥

अर्थ—(सजातैः) सजातीय राजाओं के (साकम्) साथ मिल कर, (पयसा सह) जल तथा दुग्धादि पदार्थों के साथ हे सम्राट् (एधि=भव) तू विद्यमान हो। (उद् एनाम् उब्ज) इस प्रजा को उन्नत करके इसे ऋजुगामिनी बना, (महते वीर्याय) ताकि यह प्रजा महावीरता के कार्य करे। (ऊर्ध्वः) सर्वोपरि वर्तमान तू (नाकस्य) अतिशय सुख के (विष्टपम्) ताप-संतापरहित शिखर पर (अधिरोह) अधिरूढ़ हो, (यम्) जिस नाक के शिखर को (वदन्ति) कहते हैं (इति) कि यह (स्वर्गः लोकः) स्वर्ग लोक है।

[संयुक्त-राज्य के राजाओं के साथ मिल कर, केन्द्रिय-राज्य के सम्राट् को, प्रजा की वृद्धि के लिए कृष्यर्थ जल, और दुग्धादि पेय, और खाद्य पदार्थों की समुन्नति करनी चाहिए। प्रजा के समृद्ध होने पर प्रजा ऋजुमार्गगामिनी हो जाती है। ऋजुमार्ग है, सत्यमय जीवन का मार्ग। ऐसा साम्राज्य स्वर्ग रूप है, जिसमें कि प्रजा ताप-संताप तथा दुःखों से विगत हो जाती है। ऐसी सुखी गृहस्थ जीवन को, तथा दिव्य भावनाओं से भावित अष्टचक्रा और नवद्वारा देह पुरी को, तथा दान देने के उदार भावनाओं वाले जीवन को अथर्ववेद में ''स्वर्ग'' कहा है (४.३४.५; १०.२.३१; ६.१२२.२)। (उद्+उब्ज=आर्जवे)। विष्टपम्=विगत+तपम्। नाकस्य=देखो मन्त्र ४ की व्याख्या]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ब्रह्मौदनः**॥ छन्दः—**त्रिपदा विराड् गायत्री**॥

इयं मही प्रति गृह्णातु चर्म पृथिवी देवी सुमनस्यमाना।
अथ गच्छेम सुकृतस्य लोकम्॥ ८॥

अर्थ—(इयम्) यह (मही) महनीया, (देवी) दिव्यगुणों वाली, (सुमनस्यमाना) सुप्रसन्न मनों

वाली प्रजा के कारण प्रसन्नचित्ता (पृथिवी) पृथिवी (चर्म) मृगचर्म को (प्रतिगृह्णातु) स्वीकार करे। (अथ) तदनन्तर (सुकृतस्य) सुकर्मियों के (लोकम्) लोके में (गच्छेम) जाने के अधिकारी हम बनें।

[धान के कूटने के निमित्त, जमीन पर मृगचर्म बिछा कर, उस पर ऊखल-मुसल को रख कर तण्डुल तैयार किये जाते हैं। इसका वर्णन मन्त्र में हुआ है। उत्तम शासन तथा दिव्यगुणी मनुष्यों और प्रसन्न चित्त प्रजा के कारण पृथिवी को मही, देवी, तथा सुमनस्यमाना कहा है। राजपत्नी तथा राजा मिल कर, भोजन योग्य तण्डुलों को स्वयं तैयार करें—यह आगे के मन्त्रों में प्रतिपादित किया है। राजा के मन्त्री सप्त ऋषि हैं, जिनका जीवन त्याग-तपस्या वाला है। इनके संपर्क के कारण राजपत्नी और राजा का जीवन भी त्याग-तपस्यामय हो जाता है। इसलिए अपने निर्वाह के लिए अपनी भोज्य सामग्री को यथासम्भव वे स्वयं तैयार करते हैं। इसका प्रभाव प्रजा पर भी पड़ता है, और प्रजा का जीवन भी त्याग-तपस्यामय हो जाता है। यथा **"तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः"** (ईशा० उप० १.१)। त्याग, तपस्या और स्वावलम्बिता—यह सुकर्मियों के जीवनों का लक्ष्य है, और जहाँ इन आदर्शों का पालन होता है वह सुकर्मियों का लोक है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ब्रह्मौदनः**॥ छन्दः—**शाक्वरातिजागतगर्भा जगती**॥

एतौ ग्रावाणौ सयुजा युङ्ग्धि चर्मणि निर्भिन्ध्यंशून्यजमानाय साधु।
अवघ्नती नि जहि य इमां पृतन्यव ऊर्ध्वं प्रजामुद्भरन्त्युदूह॥ ९॥

अर्थ—हे राजपत्नि! (एतौ) इन दोनों (ग्रावाणौ) पत्थरों अर्थात् सिलबट्टे के सदृश दृढ ऊखल-मुसल को, (सयुजा) जो कि अवहनन कार्य में साथ-साथ प्रयुक्त होते हैं, (चर्मणि) चर्म पर (युङ्ग्धि) स्थापित कर, और (यजमानाय) राष्ट्रयज्ञ के रचयिता राजा या सम्राट् के लिए (साधु) ठीक तरह से (अंशून्) धान के सिट्टों[१] को (निर्भिन्धि) तोड़। (अवघ्नती) और अवहनन करती हुई, अर्थात् मुसल को उलूखल में मारती हुई उनका (निजहि) तू हनन कर (ये) जो कि (इमाम्) इस प्रजा को (पृतन्यवः) सेना द्वारा मारना चाहते हैं, और (उद्भरन्ती) मुसल को ऊपर उठाती हुई (प्रजाम्) प्रजा को (उद् ऊह) ऊपर उठा, अर्थात् उन्नति की ओर ले जा।

[अवघ्नती और उद्भरन्ती—इन स्त्रीलिङ्ग पदों द्वारा पत्नी की अवहनन क्रिया मन्त्र में निर्दिष्ट हुई है। इमां पृतन्यवः=इस द्वारा "इमाम्" से अभिप्राय राष्ट्रिय प्रजा का है, किसी वैयक्तिक प्रजा अर्थात् सन्तानों का नहीं। शत्रु, सेना द्वारा आक्रमण, राष्ट्र और राष्ट्रिय-प्रजा पर करेंगे, किसी व्यक्ति की सन्तान पर नहीं। अवघ्नती द्वारा मुसल को ऊखल में, धान्य के अवहननार्थ फैंकती हुई को कहा है कि इस द्वारा मानो कि तू शत्रुसेना का हनन कर रही है, और मुसल को ऊपर उठाती हुई को कहा है कि इस द्वारा तू प्रजा को ऊपर उठा अर्थात् उसे उन्नति की ओर ले जा। यह वर्णन राजपत्नी के सम्बन्ध में सार्थक हो सकता है, सामान्य यज्ञकर्त्ता की पत्नी के सम्बन्ध में नहीं। ग्रावाणौ को चर्म पर इसलिए स्थापित किया है कि कूटते समय धान्यांश इधर-उधर न बिखरें]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ब्रह्मौदनः**॥ छन्दः—**पुरोऽतिजगति विराड् जगती**॥

गृहाण ग्रावाणौ सकृतौ वीर हस्त आ ते देवा यज्ञिया यज्ञमगुः।
त्रयो वरा यतमांस्त्वं वृणीषे तास्ते समृद्धीरिह राधयामि॥ १०॥

---

१. मञ्जरी।

अर्थ—(वीर) हे वीर! (हस्ते) हाथ में, (ग्रावाणौ) सिल-वट्टा के समान सुदृढ़ ऊखल-मुसल को, (सकृतौ) जिन्होंने कि परस्पर मिल कर अवहनन कार्य करना है, (गृहाण) पकड़, (यज्ञियाः) पूज्य तथा सत्संग के योग्य तथा जिनका सत्कार ओदन भोग द्वारा करना है ऐसे (देवाः) देवकोटि के विद्वान् (ते) तेरे (यज्ञम्) इस राष्ट्र यज्ञ में (आ अगुः) आ गये हैं। (त्रयः वराः) तीन वर (यतमान्) जिन्हें कि (त्वं वृणीषे) तू वरना चाहता है (ताः समृद्धीः) उन तीनों (ते) तेरे समृद्धिरूप वरों को (इह) इस यज्ञ में (राधयामि) मैं सिद्ध करता हूँ।

["राधयामि" द्वारा सप्तऋषियों में से कोई ऋषि, या कोई अन्य वरिष्ठ याज्ञिक विद्वान् अभिप्रेत है, जो कि राजा या सम्राट् के इस सत्कार यज्ञ का सम्पादन करेगा। वीर पद द्वारा राजा का या सम्राट् का सम्बोधन हुआ है। राजा केवल ग्रावाणौ को हाथ लगाता है, अवहनन क्रिया नहीं करता। अवहनन तो राजपत्नी करती है (मन्त्र ९)। इस सत्कार-यज्ञ में देवकोटि के विद्वान् आए हैं, इसलिए यज्ञ के लिए वरा गया वरिष्ठ विद्वान् राजा से कहता है कि तीन वर, जो कि तेरे लिए समृद्धिकारक हैं, उनका कथन कर, ताकि मैं उनके सम्पादन का यत्न करूँ। सकृतौ=सह+कृतौ, कर्तरि क्तः]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ब्रह्मौदनः**॥ छन्दः—**जगती**॥

इयं ते धीतिरिदमु ते जनित्रं गृह्णातु त्वामदितिः शूरपुत्रा।
परा पुनीहि य इमां पृतन्यवोऽस्यै रयिं सर्ववीरं नि यच्छ॥ ११॥

अर्थ—(इयम्) यह (अदितिः) राष्ट्रभूमि (ते) तेरी (धीतिः) खाने-पीने का साधन है, (इदम् उ) और यह (ते) तेरा राष्ट्र (जनित्रम्) उत्पत्तियों का साधन है, (शूर पुत्रा) शूरपुत्रों वाली (अदितिः) राष्ट्रभूमि (त्वाम्) तुझे (गृह्णातु) स्वीकार करे। (ये) जो (इमाम्) इस राष्ट्रभूमि या इस तेरी प्रजा के सम्बन्ध में (पृतन्यवः) सेना चाह कर आक्रमण करते हैं उन्हें (परा पुनीहि) दूर कर जैसे कि छाज द्वारा तण्डुलों से तुषों को पृथक् किया जाता है, और (अस्यै) इस राष्ट्रभूमि या इस प्रजा को (रयिं सर्ववीरम्) सब वीरों उपेत सम्पत्ति (नि यच्छ) नितरां प्रदान कर।

[मन्त्र भावना राजा के प्रति है। **अदितिः पृथिवीनाम** (निघं० १.१)। धीतिः=**धेट् पाने** (सायण) मन्त्र में ३ वस्तुओं का वर्णन हुआ है, १. खाने-पीने के लिए साधन भूत राष्ट्रभूमि का होना, २. समग्र राष्ट्र का उत्पत्तियों का साधन होना, ३. तथा राष्ट्रभूमि का शूर-प्रजा वाली होना जिस द्वारा कि शत्रुओं को दूर किया जाए। सम्भवतः मन्त्र १० के ३ वरों की पूर्ति का निर्देश मन्त्र ११ में हुआ है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ब्रह्मौदनः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

उपश्वसे द्रुवये सीदता यूयं वि विच्यध्वं यज्ञियासस्तुषैः।
श्रिया समानानति सर्वान्त्स्यामाधस्पदं द्विषतस्पादयामि॥ १२॥

अर्थ—(उपश्वसे=उप+श्वसितुम्) कुछ समय श्वास के लिए, विश्राम के लिए, (द्रुवये) काष्ठ के बने, और बुने हुए पीठ पर, (यूयम्) हे अभ्यागत (यज्ञियासः) पूज्यो! तुम (सीदत) बैठो, और (तुषैः) तण्डुलों के छिलकों से जैसे तण्डुलों को पृथक् कर दिया जाता है वैसे (विविच्यध्वम्) विवेक पूर्वक असत्य से सत्य की व्याकृति करो, असत्य से सत्य को पृथक् करो, ताकि सत्य का अवलम्ब कर (श्रिया) शोभा तथा राष्ट्रिय-सम्पत्ति द्वारा, (सर्वान् समानान्) सब स्वसमान राष्ट्रों को (अति स्याम) अतिक्रान्त

करने वाले हम हो जाएँ। (द्विषतः) द्वेषियों को (अधस्पदम्) तुम्हारे पदों के नीचे (पादयामि) मैं गिरा देता हूँ, तुम्हारे अधीन कर देता हूँ।

[उप+श्वसे=उपश्वसितुम्; (यथा दृशे=द्रष्टुम्)। द्रुवये=द्रु+(काष्ठ)+वये (बुने हुए)। विविच्यध्वम्=विवेक करो, पृथक् करो। **विचिर् पृथग्भावे**। अभ्यागत अतिथियों के स्वागत में किये गये यज्ञ के कर्त्ता ऋत्विक् का वचन है "पादयामि"]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ब्रह्मौदनः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

परेहि नारि पुनरेहि क्षिप्रमपां त्वा गोष्ठोध्यरुक्षद्भराय।

तासां गृह्णीताद्यतमा यज्ञिया असन्विभाज्य धीरीतरा जहीतात्॥ १३॥

अर्थ—(नारि) हे जलाहरण करने वाली नारि! (परेहि) दूर जा और (पुनः क्षिप्रम्) फिर शीघ्र (एहि) लौट कर आ, (अपां गोष्ठः) जल का घड़ा, (भराय) जल भरने या लाने के लिए (त्वा अध्यरुक्षद्) तुझ पर आरूढ़ हुआ है। (तासाम्) उन जलों में (यतमाः) जो जल (यज्ञियाः) शुद्ध पवित्र (असन्) हों (गृह्णीतात्) उनका ग्रहण कर, (धीरी) बुद्धिमती तू (इतराः विभाज्य) अन्य अर्थात् अपवित्र जलों को पृथक् करके (जहीतात्) छोड़ दे।

[ताजा और शुद्धपवित्र जल लाने के लिए नारी को प्रेरित किया है, चाहे ऐसा जल दूर से भी लाना पड़े। **गोष्ठः** गो=जल (उणा० २.६८, महर्षि दयानन्द)+स्थः जलाधार घड़ा]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ब्रह्मौदनः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

एमा अगुर्योषितः शुम्भमाना उत्तिष्ठ नारि तवसं रभस्व।

सुपत्नी पत्या प्रजया प्रजावत्या त्वागन्यज्ञः प्रति कुम्भं गृभाय॥ १४॥

अर्थ—(इमाः) ये (शुम्भमानाः) शोभायमान (योषितः) स्त्रियाँ (आ अगुः) आ गई हैं, (नारि) हे राजपत्नि! (उत्तिष्ठ) उठ (तवसं रभस्व) शीघ्रता कर उनके स्वागत के लिए। (प्रजया) प्रजा के कारण (प्रजावती) श्रेष्ठ प्रजा वाली, (सुपत्नी) तथा उत्तमपति वाली तू (पत्या) पति के साथ मिल कर शीघ्रता कर, (त्वा) तुझे (यज्ञः) अतिथि-यज्ञ (आ अगन्) प्राप्त हुआ है, (कुम्भम्) जलकुम्भ (प्रति गृभाय) पकड़।

[तवसम्=तव, सम् रभस्व (सायण)। **तवस् बलनाम** (निघं० २.९) **तवसः महन्नाम** (निघं० ३.३)। परन्तु मन्त्र में "शीघ्रता" अर्थ प्रतीत होता है। प्रजया प्रजावती=प्रजापद द्वारा राष्ट्रिय प्रजा अभिप्रेत है। पति, सम्राट् या राजा है, अतः राजपत्नी राज्ञी होने के कारण प्रजा वाली है। शोभायमान स्त्रियाँ राजपत्नी द्वारा आमन्त्रित हैं। अतः उनके स्वागत के लिए राजपत्नी के सम्बन्ध में उत्तिष्ठ शब्द का प्रयोग हुआ है। राजपत्नी के साथ राजा भी स्वागत करता है। यह यज्ञ अतिथियज्ञ है जिसमें कि अतिथियों को भोजनार्थ आमन्त्रित किया है। "कुम्भं गृभाय" द्वारा यह निर्देश किया है कि जल लेकर भात बनवाने की तय्यारी करो; जैसे कि अगले मन्त्रों में निर्देश हुआ है। तवसम्=**तु गतौ**, शीघ्रगति]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ब्रह्मौदनः**॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्**॥

ऊर्जो भागो निहितो यः पुरा व ऋषिप्रशिष्टाप आ भरैताः।

अयं यज्ञो गातुविन्नाथवित्प्रजाविदुग्रः पशुविद्वीरविद्वो अस्तु॥ १५॥

अर्थ—(पुरा) पूर्वकाल से (यः) जो, (वः) तुम्हारे लिए, (ऊर्जः) अन्न का (भागः) भाग (निहितः) नितरां हितकर जाना गया है [उसके लिए], (ऋषिप्रशिष्टाः) मन्त्र द्वारा निर्दिष्ट या कथित (एताः) इन (अपः) जलों को (आभर=आहर) ला। (अयं यज्ञः) यह अतिथि यज्ञ [अर्थात् राष्ट्र के विशिष्ट प्रजाजनों को आमन्त्रित कर उनका भोजन द्वारा सत्कार करना] (गातुविद्) पृथिवी [का राज्य] प्राप्त कराता है, (नाथविद्) ऐश्वर्य या उत्तम शासक प्राप्त कराता है (प्रजाविद्) प्रजा प्राप्त कराता है, (उग्रः) राष्ट्र को उग्र अर्थात् प्रभावशाली करता है, (पशुविद्) राष्ट्र में पशुओं की वृद्धि करता है, (वीरविद्) वीरों को प्राप्त कराता है—(वः) हे राजपुरुषो! तुम्हारे लिए यह अतिथि यज्ञ (अस्तु) सुफल हो।

[अतिथियज्ञ के लिए भात तैयार करना है। व्रीहि अर्थात् धान, जिससे तण्डुल प्राप्त होते हैं। जीवन के लिए अति हितकर है। यथा "**शिवौ ते स्तां व्रीहियवाबलासावदो मधौ। एतौ यक्ष्मं वि बाधेते एतौ मुञ्चतो अंहसः**" (अथर्व० ८.२.१८) अर्थात् व्रीहि और यव कल्याणकारी हैं, बलक्षय को रोकते हैं, अदन करने में मधुर हैं, यक्ष्म रोग के प्रति बाधा डालते हैं, सात्विक होने से, राजस-तामस पापकर्मों से मुक्त करते हैं। तथा "**प्राणापानौ व्रीहियवौ**" (अथर्व० ११.४.१३), अर्थात् व्रीहि और यव प्राणापान रूप हैं "**व्रीहिर्यवश्च भेषजौ**" (अथर्व० ८.७.२०), अर्थात् व्रीहि और यव भेषज हैं, औषध हैं। इसलिए व्रीहि "निहित" है, नितरां हितकर है।

ऋषिः, ऋषिणा मन्त्रेण (सायण)। मन्त्र १३ उत्तरार्ध में यज्ञिय जलों के उपादान का निर्देश हुआ है, जो कि अतिथि यज्ञ के भात के निर्माण में उपयुक्त होंगे। गातुविद्; **गातुः पृथिवीनाम** (निघं० १.१)। नाथ=राष्ट्र वा उत्तम शासक, या ऐश्वर्य **नाथृ याच्ञोपतापैश्वर्याशीःषु**" (भ्वादि)। यदि राजवर्ग समय-समय पर प्रजावर्ग के साथ सम्पर्क बनाए रखे; और उन्हें आमन्त्रित करता रहे तो उन्हें पृथिवी (राष्ट्र) का शासन प्राप्त होता रहता है, वे राष्ट्र के प्रशासक बने रहते हैं, राष्ट्र प्रभावशाली बना रहता है राजवर्ग-और-प्रजावर्ग में सामञ्जस्य के कारण, पशुओं की वृद्धि दुग्धादि तथा कृषि कर्म के लिए होती रहती है, और वीर योद्धाओं की परिपुष्टि होती रहती है]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ब्रह्मौदनः**॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्**॥

अग्ने॑ च॒रुर्य॒ज्ञिय॒स्त्वाध्य॑रुक्ष॒च्छुचि॒स्तपि॑ष्ठ॒स्तप॑सा तपैनम्।
आ॒र्षे॒या दै॒वा अ॑भिसं॒गत्य॑ भा॒गमि॒मं तपि॑ष्ठा ऋ॒तुभि॑स्तपन्तु॥ १६॥

अर्थ—(अग्ने) हे अग्नि! (यज्ञियः) अतिथि यज्ञकर्म साधक (चरुः) तण्डुल पकाने का भाण्ड (त्वा अध्यरुक्षत्) तुझ पर चढ़ा है, (तपसा) ताप के द्वारा (एनम्) इसे (तप) तपा, (तपिष्ठः) ताकि यह खूब तप कर (शुचिः) शुद्ध पवित्र हो जाए। (आर्षेयाः) ऋषि कोटि के, तथा (दैवाः) देव कोटि के, और (तपिष्ठाः) तपस्वी, (ऋतुभिः) ऋतु-ऋतु में (अभिसंगत्य) मिल कर, (इमम्) इस (भागम्) अन्नभाग को (मन्त्र १५), (तपन्तु) तपाएँ, अर्थात् यथेष्ट पक्वान्न के लिए निर्देश दें।

[अग्ने=यह सम्बुद्ध्यन्त पद पार्थिव-अग्नि का वाचक है। वेदकाव्य में अचेतनों का भी वर्णन चेतनों के सदृश होता है, यह सर्वसाधारण कवियों की वर्णन शैली है। जिस भाण्ड में ऋषियों, ऋषि सन्तानों विद्वानों तथा तपस्वियों के लिए तण्डुल पकाते हों, उसे प्रथम अग्नि के द्वारा खूब तपाना चाहिए, ताकि उसकी मलिनता तथा सम्भाव्य कीटाणु समाप्त हो जाएँ, और ऋषि आदि को, कीटाणु आदि जन्य

दुष्टपरिणाम भुगतने न पड़ें। इन ऋषि आदि को ऋतु-ऋतु या मास-मास में आमन्त्रित कर इनकी सेवा करनी चाहिए। ये यतः सात्त्विक प्रकृति के होते हैं, अतः इन्हें सात्त्विक अन्न चाहिए। इसलिए इनके निर्देशानुसार इनके भोजन को तैयार करवाना चाहिए। वेद में ऋतुशब्द का प्रयोग मासों के युगल के लिए होता है। परन्तु मास के लिए भी वेद में ऋतुशब्द का प्रयोग हुआ है। यथा "**मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतू**" (यजुः० १३.२५)। "ऋतू" में द्विवचन है, इसलिए मधु अर्थात् चैत्र और माधव अर्थात् वैशाख प्रत्येक मास को ऋतु कहा है। मन्त्र १० में सर्वसाधारण दिव्यपुरुषों, यथा **मातृदेवो भव, पितृदेवो भव** आदि को आमन्त्रित किया है, और मन्त्र १४ में शोभायमान देवियों को आमन्त्रित किया है, और मन्त्र १६ में ऋषियों, ऋषिसन्तानों, विशिष्ट विद्वानों, तथा तपस्वियों को आमन्त्रित किया है। इसी प्रकार समय-समय पर राजा को चाहिए कि वह प्रजावर्ग को आमन्त्रित करता रहे, ताकि पारस्परिक विचार परामर्श होता रहे, और सद्भावनाएँ बनी रहें]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ब्रह्मौदनः**॥ छन्दः— **विराड्जगती**॥

शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमा आपश्चरुमव सर्पन्तु शुभ्राः।
अदुः प्रजां बहुलान्पशून्नः पक्तौदनस्य सुकृतामेतु लोकम्॥ १७॥

अर्थ—(योषितः) महिलाओं के सदृश (शुद्धाः पूताः) शुद्ध और पवित्र, (यज्ञियाः) अतिथि यज्ञकर्म योग्य, (शुभ्राः) चमकीले (इमाः आपः) ये जल, (चरुम्) भाण्ड में (अव सर्पन्तु) शनैः शनैः डलें, या डाले जाएँ। [ऋष्यादि ने] (नः) हम राजवर्ग को (प्रजाम्) प्रजा तथा (बहुलान् पशून्) बहुत पशु (अदुः) दे दिये हैं। (ओदनस्य पक्ता) ओदन का पकाने वाला (सुकृताम् लोकम्) सुकर्मियों के लोक को (एतु) जाए।

[मन्त्र १६ द्वारा शुद्ध पवित्र तथा गर्म भाण्ड में, शुद्ध जल को शनैः शनैः डालने का वर्णन मन्त्र १७ में हुआ है, ताकि भाण्ड शनैःशनैः ठण्डा होता रहे, और तदनन्तर समुचित जलमात्रा का संचय भाण्ड में हो जाए। आमन्त्रित ऋषि मुनि आदि भोजन से पूर्व राजपरिवार तथा राजवर्ग को राज्यशासन सम्बन्धी परामर्श देंगे। उनके परामर्शों को ग्रहण कर राजपरिवार आदि व्यक्ति कहते हैं कि इन परामर्शों द्वारा हमें मानो सत्प्रजा और नाना पशुओं की सम्पत्ति, ऋषि आदि ने दे दी है। ऋषि लोग कहते हैं कि अन्नादि द्वारा हमें सत्कृत करने वाला राजपरिवार आदि, उन लोगों के समाज के अधिकारी हो जाएँ जो कि प्रजा के पालनरूपी सत्कर्मों के करने वाले हैं[१]]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ब्रह्मौदनः**॥ छन्दः—**अतिजागतगर्भा परातिजागता विराडति जगती**॥

ब्रह्मणा शुद्धा उत पूता घृतेन सोमस्यांशवस्तण्डुला यज्ञिया इमे।
अपः प्र विशत प्रति गृह्णातु वश्चरुरिमं पक्त्वा सुकृतामेत लोकम्॥ १८॥

अर्थ—(ब्रह्मणा) जल द्वारा (शुद्धाः) शुद्ध किये गये, (उत) और (घृतेन) घृत द्वारा (पूताः) पवित्र किये गये, (सोमस्य अंशवः) मानो सोम-ओषधि के अंशरूप (इमे) ये (यज्ञियाः) अतिथि यज्ञ

---

१. अथवा सुकर्मी लोग मृत्यु के पश्चात् जिस लोक में जाते हैं, उस लोक में तुम भी मृत्यु के पश्चात् जाओ। इस असीम संसार में लोक-लोकान्तरों की कोई सीमा या निश्चित संख्या नहीं की जा सकती। सम्भव है कि मृत्यु के पश्चात् सुकर्मियों और दुष्कर्मियों के पृथक्-पृथक् लोक भी हों, और मिश्रित कर्मियों के लिए मृत्यु के पश्चात् पुनः भूलोक हो।

योग्य (तण्डुलाः) तुम तण्डुल हो (अपः प्र विशत) तुम भाण्डनिष्ठ जल में प्रविष्ट होओ, (चरुः) भाण्ड (वः) तुम्हें (प्रति गृह्णातु) ग्रहण करे, (इमम् पक्त्वा) इस तण्डुल को पका कर (सुकृतां, लोकम् एत) हे राजपरिवार के लोगो तुम सुकर्मियों के समाज के अधिकारी बनो।

[ब्रह्मणा=**ब्रह्म उदकनाम** (निघं० १.१२)। मन्त्र द्वारा प्रतीत होता है कि तण्डुलों को जल द्वारा धोकर, और उनमें घृत डाल कर, भाण्डस्थ जल में उन्हें डालना चाहिए]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ब्रह्मौदनः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

उरुः प्रथस्व महता महिम्ना सहस्रपृष्ठः सुकृतस्य लोके।
पितामहाः पितरः प्रजोपजाहं पक्ता पञ्चदशस्ते अस्मि॥ १९॥

अर्थ—हे ओदन! (उरुः) मात्रा में महान् तू (प्रथस्व) फैल, (सुकृतस्य लोके) मुझ सुकर्मी के गृह में (महता महिम्ना) निज महामहिमा के कारण तू (सहस्रपृष्ठः) हजारों अतिथियों का पृष्ठवत् आश्रय हुआ है। (पितरः) पितृवर्ग (पितामहाः) पितामहवर्ग [तथा इनके पूर्वज ५], और [पितृवर्ग की] प्रजा अर्थात् पुत्र और (उपजा) पौत्र [तथा पौत्र के ५ अनुज वंशज], तथा (अहम्) मैं (पञ्चदशः) १५ वां, (ते पक्ता अस्मि) तेरा पाक करने वाला हुआ हूँ।

[वेद की भाषा कवितामय है। इसलिए ओदन का वर्णन भी कविता की भाषा में हुआ है। अतिथियज्ञ में बहुत से अतिथियों की सम्भावना से ओदन की मात्रा भी बड़ी होगी, इसे "उरु" शब्द द्वारा निर्दिष्ट किया है। पके गर्म-ओदन को ठण्डा करने के लिए तथा ओदन के दानों को पृथक्-पृथक् करने के लिए उन्हें फैलाया जाता है। इस विधि की सूचना "प्रथस्व" शब्द द्वारा दी है "सुकृतस्य लोके[१]" पदों द्वारा मन्त्र में परलोक का वर्णन नहीं, अपितु अतिथियज्ञ के करने वाले यजमान का गृह अभिप्रेत है। ओदन की यज निज महिमा है कि इसे जो व्यक्ति खाता है उसके जीवन का यह आश्रय बन जाता है। जैसे प्राणियों की पीठ प्राणियों का आश्रय होती है, क्योंकि पृष्ठ के पृष्ठवंश और तद्गत सुषुम्णा-नाड़ी पर जीवन आश्रित होता है, इसी प्रकार अन्न, जीवन का आश्रय होता है। इस भावना को "सहस्रपृष्ठः" द्वारा सूचित किया है। मन्त्र में यह भी दर्शाया है कि जिस कुल की वांशिक १५ संख्या तक कुल परम्परा द्वारा, अतिथि सेवा अक्षुण्ण रूप में होती है, वे बड़े सुकर्मी होते हैं। अतिथि सेवा, सामाजिक महासुकर्म है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ब्रह्मौदनः**॥ छन्दः—**अतिजागतगर्भा पराशक्वरा चतुष्पदा भुरिग् जगती**॥

सहस्रपृष्ठः शतधारो अक्षितो ब्रह्मौदनो देवयानः स्वर्गः।
अमूंस्त आ दधामि प्रजया रेषयैनान्बलिहाराय मृडतान्मह्यमेव॥ २०॥

अर्थ—(ब्रह्मौदनः) ब्रह्म के प्रसादन के निमित्त ब्राह्मणों और वेदज्ञों को दिया गया ओदन, (सहस्रपृष्ठः) हजारों अतिथियों का पृष्ठवत् आश्रय होता है, (शतधारः) असंख्यातों का धारण-पोषण करता है, (अक्षितः देवयानः) अक्षुण्ण रूप में दिया गया, अर्थात् वंशपरम्परा द्वारा दिया गया (मन्त्र १९), (देवयानः) यह

---

१. **सुकृतस्य लोके तथा पत्युर्लोके**—इन शब्दों से परलोक की भावना, सर्वथा उचित नहीं। विवाह के पश्चात् पत्नी जब पति के घर जाती है, तब वह पतिलोक में विराजमान होती है। यथा "**शिवा स्योना पतिलोके विराज**" (अथर्व० १४.१.६४), तथा "**पतिलोकमाविश**" (अथर्व० १४.२.४०)। इन उद्धरणों में पतिलोक का अभिप्राय परलोक नहीं, अपितु विवाहित और जीवित पति के गृह का है।

देवमार्ग कहलाता है, (स्वर्गः) और सुख विशेष प्राप्त कराता है। (ते) हे ब्रह्मन्! तेरे लिए (बलिहाराय) बलि भेंट के निमित्त (अमून्) उन व्यक्तियों का (आ दधामि) [मैं सम्राट्] पूर्णतया धारण-पोषण करता हूँ [जो कि ब्रह्मौदन यज्ञ करते हैं]; [और जो अतिथियों के निमित्त तुझे ब्रह्मौदन भेंट नहीं करते] (एनान्) इन्हें (प्रजया) सन्तान से (रेषय) अल्पसंख्यक कर, और (मह्यम्) मुझ अतिथि यज्ञ के करने वाले सम्राट् के लिए (एव) अवश्य (मृडतात्) सुख प्रदान कर।

[ब्रह्मौदनः=अतिथियज्ञ में दिया गया अन्न, ब्रह्म को प्रसन्न करता है, क्यों कि इस द्वारा उसके पुत्रों की सेवा होती है। देवयानः=अतिथियज्ञ देवकोटि के गृहस्थों का मार्ग है, इसलिए इस यज्ञ को अवश्य करते रहना चाहिए। गृहस्थी के पञ्चमहायज्ञों में अतिथियज्ञ भी है। मन्त्र की भावना के अनुसार जो केवल स्वार्थ के लिए अन्न पकाते हैं वे केवल पाप का भोजन करते हैं, अन्न का नहीं, "**भुञ्जते ते त्वघं पापाः ये पचन्त्यात्मकारणात्**" (गीता ३.१३), तथा "**केवलाघो भवति केवलादी**" (ऋ० १०.११७.६)। इसलिए ऐसे व्यक्तियों की संख्या कम हो जानी चाहिए, क्योंकि ये स्वार्थी हैं। और मुझ जैसे अतिथि यज्ञ करने वालों को हे ब्रह्मन्! तू सुखी कर।]

[शतधारः; **शतम् बहुनाम** (निघं० ३.१)। "रेषय=रेशय (सायण)=लेशय, अल्पी कुरु, **लिश अल्पीभावे, रलयोरेकत्वस्मरणात् रेफः**" (सायण)। अथवा "रेषय" विनष्ट कर, **रिष हिंसायाम्**। बलिः=अन्न प्रदान, जैसे कि "बलि वैश्वदेव" में बलि का अर्थ हैं—अन्न प्रदान]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ब्रह्मौदनः**॥ छन्दः—**विराड् जगती**॥

उदेहि वेदिं प्रजया वर्धयैनां नुदस्व रक्षः प्रतरं धेह्येनाम्।
श्रिया समानानति सर्वान्त्स्यामाधस्पदं द्विषतस्पादयामि॥ २१॥

अर्थ—प्रधानमन्त्री कहता है कि हे सम्राट्! (वेदिम्, उदेहि) तू वेदि पर चढ़। (एनाम्) इस प्रजा को (प्रजया) सन्तानों द्वारा (वर्धय) बढ़ा। (रक्षः) राक्षसी स्वभाव वाले को (नुदस्व) राष्ट्र से धकेल। (एनाम्) इस प्रजा का (प्रतरम्) प्रकर्षरूप में (धेहि) धारण-पोषण कर। (श्रिया) राष्ट्रिय शोभा तथा सम्पत्ति से (सर्वान् समानान्) सब समकक्ष राष्ट्रों का (अति स्याम) अतिक्रमण करने वाले हम हों। (द्विषतः) द्वेषियों को (पादयामि) मैं प्रधानमन्त्री, तेरे पाद तले करता हूँ, (अधस्पदम्) तेरे अधीन करता हूँ।

[सम्राट् के कर्त्तव्यों का कथन प्रधान मन्त्री करता है, (१) प्रतिदिन के यज्ञ के लिए वेदि पर चढ़ा कर। (२) राष्ट्रिय प्रजा की, सन्तानोत्पत्तियों द्वारा, जनसंख्या बढ़ा कर। (३) राक्षसी स्वभाव वालों को राष्ट्र से बहिष्कृत किया कर, वे सामान्य प्रजा के साथ न रहें, उन्हें पृथक् जेल में या आबादी से रहित स्थान में रखा कर। (४) निजप्रजा का अतिशय पालन-पोषण किया कर। (५) ऐसा यत्न किया कर कि हम समकक्ष राष्ट्रों से राष्ट्रिय शोभा तथा सम्पत्ति से बढ़ कर रहें। (६) यह मैं प्रधानमन्त्री तुम्हें आश्वस्त करता हूँ कि द्वेषियों को मैं तेरे पदसेवी कर दूँगा। यदि प्रजा धार्मिक कृत्यों वाली, संख्या में प्रवृद्ध, परिपुष्ट तथा सम्पत्ति में सर्वातिशायिनी हो, तो शत्रुओं पर विजय पाई जा सकती है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ब्रह्मौदनः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अभ्यावर्तस्व पशुभिः सहैनां प्रत्यङेनां देवताभिः सहैधि।
मा त्वा प्रापच्छपथो माभिचारः स्वे क्षेत्रे अनमीवा वि राज॥ २२॥

अर्थ—(पशुभिः, सह, एनाम् अभि) पशु सम्पत्ति के साथ वर्तमान हे राजन् तू इस प्रजा के अभिमुख (आवर्तस्व) आया कर, (प्रत्यङ् एनाम्) इसके प्रति आता हुआ तू (देवताभिः सह) देवताओं के साथ (एधि) हुआ कर। हे राष्ट्रिय प्रजा! (त्वा) तुझे (शपथः) निन्दा, दोष, कलङ्क (मा प्रापत्) न प्राप्त हो, (मा) न (अभिचारः) शत्रुकृत मारणकर्म प्राप्त हो। (स्वेक्षेत्रे) अपने निवास स्थान में (अनमीवा) रोग रहित हुई (विराज) तू विराजमान हो।

[क्षेत्रे=**क्षि निवासे**; अपनी निवास भूमि अर्थात् राष्ट्र में। राष्ट्र को क्षेत्र कहा है, पशुओं के सहचार के कारण। राजा के प्रति कहा है कि (१) तू प्रजा के प्रति आया कर। (२) साथ देवकोटि के व्यक्तियों को भी लाया कर, जिससे देवों का सङ्ग पाकर प्रजा भी दिव्य विचारों तथा दिव्याचारों वाली हो जाए, इस प्रकार प्रजा निन्दा दोष तथा कलङ्क का पात्र न बने। राजा जब यज्ञक्रिया करने वाला होगा (मन्त्र २१) तो प्रजा भी यज्ञोन्मुखी हो जाएगी। इससे राष्ट्र रोग रहित होगा, और प्रजा अपने राष्ट्र में सुखपूर्वक निवास करेगी। शपथः=**शप आक्रोशे**। आक्रोशः=Censure, blame, reviling (आप्टे)]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ब्रह्मौदनः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

ऋतेन तष्टा मनसा हितैषा ब्रह्मौदनस्य विहिता वेदिरग्रे।
अंसद्रीं शुद्धामुप धेहि नारि तत्रौदनं सादय दैवानाम्॥ २३॥

अर्थ—(ऋतेन) विधि से (मनसा) और विचार पूर्वक (तष्टा) निर्मित हुई (वेदिः) वेदि (हिता) हितकारिणी होती है, (ब्रह्मौदनस्य) ब्रह्म के प्रसादन के निमित्त दिये गये ओदन के सम्बन्ध की (एषा) यह वेदि (अग्रे) पुराकाल से (विहिता) विहित है, वैदिक विधि द्वारा निर्दिष्ट है। (नारि) हे नारि! (अंसद्रीम्=अंसध्रीम्) अंस अर्थात् कन्धों को धारण करने वाली (शुद्धाम्) साफ और पवित्र वेदि को (उपधेहि) अपने समीप स्थापित कर, और (तत्र) उस पर (दैवानाम्) देवसमूह सम्बन्धी (ओदनम्) ओदन को (सादय) स्थातिप कर।

[अंसद्रीम्=अंसध्रीम्=शतपथ ब्राह्मण में दर्शपौर्णमास के लिए वेदि की योषा[१] अर्थात् योषाकृतिक कहा है। वेदि के पूर्वदिशावर्ती भाग में दो अंस अर्थात् दो कन्धे (Shoulders) किये जाते हैं जैसे कि योषा के दो अंस अर्थात् कन्धे होते हैं, इसी प्रकार पश्चिम दिशावर्ती भाग में दो श्रोणियाँ होती हैं]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ब्रह्मौदनः**॥ छन्दः—**विराड् जगती**॥

अदितेर्हस्तां स्रुचमेतां द्वितीयां सप्तऋषयो भूतकृतो यामकृण्वन्।
सा गात्राणि विदुष्योदनस्य दर्विर्वेद्यामध्येनं चिनोतु॥ २४॥

अर्थ—(भूतकृतः) सत्यानुष्ठानी (सप्त ऋषयः) सात ऋषियों ने (याम् एताम् स्रुचम्) जिस इस स्रुच् अर्थात् जुहू को, जो कि हस्ताकृति की है, (अदितेः) भूमिमाता रूपी राजपत्नी का (द्वितीयां हस्ताम्)

१. अभिप्राय यह कि योषा के धड़ के सदृश यह वेदि बनाई जाती है। वेदि की पूर्व की सीमा रेखा के उत्तर और दक्षिण के दो कोनों को उत्तरांस और दक्षिणांस कहते हैं, इसी प्रकार पश्चिम की सीमा रेखा के उत्तर और दक्षिण के दो कोनों को उत्तर-श्रोणी तथा दक्षिण-श्रोणी कहते हैं। उत्तर और दक्षिण की दो सीमा रेखाओं के अंसों और श्रोणियों को मिलाने वाली पर्वों की दो रेखाएँ मध्य भाग में एक-दूसरे की ओर कुछ-कुछ झुकी रहती हैं, जिससे वेदि तनुमध्या हो जाती है।

दूसरा हाथ (अकृण्वन्) निश्चित किया है, (सा) वह स्रुच् अर्थात् जुहू (दर्विः) कड़छी रूप हो कर, (ओदनस्य) ब्रह्मौदन के (गात्राणि) अवयवों को (विदुषी) जानती हुई सी, (एनम्) इस ब्रह्मौदन को (वेद्याम्, अधि) वेदि में (चिनोतु) संचित करे।

[भूतकृतः=सत्यानुष्ठानी, भूत=True, सत्य (आप्टे)। सप्त ऋषयः=राजा या सम्राट् के सचिव (मन्त्र १, ३)। स्रुचम्, हस्ताम्=हस्त की आकृति वाली "जुहू", जिस द्वारा कि आहुतियाँ दी जाती हैं। जुहूः=जुहोति यया सा। दर्विः=दॄ विदारणे अर्थात् कड़छी, जिस द्वारा कि पके ओदन के अवयवों को विदारित किया जाता है, अलग-अलग किया जाता है। अदितेः=**अदितिः पृथिवीनाम** (निघं० १.१) मन्त्र १)। अभिप्राय यह कि ब्रह्मौदन को तैयार करना है राजपत्नी ने। ब्रह्मौदन जब तैयार हुआ, पक गया, तब यह अत्युष्ण है। इस पके ओदन के प्रत्येक ओदन को पृथक्-पृथक् करने में कोई साधन चाहिए। राजपत्नी का हाथ इस अत्युष्ण ओदन को पृथक्-पृथक् नहीं कर सकता। इसलिए स्रुच् अर्थात् जुहू को ही दर्वि रूप मानकर ओदन के अवयवों को पृथक्-पृथक् करने का विधान सात ऋषियों ने किया। परिपक्व ओदन अभ्यागत अतिथियों को खिलाना है (मन्त्र २५), अतः गृहस्थी के लिए निश्चित पञ्चमहायज्ञों के अनुसार पक्वान्न द्वारा बलिवैश्वयज्ञ भी करना है। तदर्थ स्रुच् अर्थात् जुहू को राजपत्नी का हस्तरूप कहा है। जुहू द्वारा अग्नि में दी गई ओदनाहुतियाँ मानो राजपत्नी के हाथ द्वारा दी गई हैं। गृहपत्नी हाथ द्वारा ही वैश्वदेवाहुतियाँ अग्नि में देती और हाथ द्वारा ही प्राणियों के निमित्त पक्वान्न का विभाग करती है। ब्रह्मौदन को वेदी में संचित इसलिए किया गया है। ताकि इसकी आहुतियाँ, वेदि की अग्नि में दी जा सकें। हस्ताम् में स्त्रीलिङ्ग स्रुचम् और जुहू की अपेक्षा से है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मौदनः** ॥ छन्दः—**विराड् जगती** ॥

शृतं त्वा हव्यमुप सीदन्तु दैवा निःसृप्याग्नेः पुनरेनान्प्र सीद।
सोमेन पूतो जठरे सीद ब्रह्मणामार्षेयास्ते मा रिषन्प्राशितारः॥ २५ ॥

अर्थ—हे ओदन! (शृतम्) पके हुए, (हव्यम्) आहुतियोग्य तथा अदनीय (त्वा उप) तेरे समीप (दैवाः) अतिथिदेव (सीदन्तु) बैठें, (अग्नेः) अग्नि से (निःसृप्य) हट कर (पुनः) तदनन्तर (एनान्) इन अतिथि देवों को (प्रसीद) प्रसन्न कर। (सोमेन) दुग्ध-दधि द्वारा (पूतः) पवित्र किया गया तू (ब्रह्मणाम्) ब्रह्मवेत्ताओं के (जठरे) पेट में (सीद) स्थित हो, (प्राशितारः) प्राशन करने वाली (ते आर्षेयाः) वे ऋषि सन्तानें (मा रिषन्) ताकि दुःख-कष्ट अनुभव न करें।

[मन्त्र २४ में पक्व ब्रह्मौदन को, बलिवैश्वदेव के लिए, वेदि पर संचित करने का विधान हुआ है। मन्त्र २५ में ब्रह्मौदन को वेदि की अग्नि से पृथक् करने का विधान किया है, ताकि ब्रह्मज्ञ अतिथि देव उसका प्राशन कर सकें। सोमेन=सोम का अर्थ दूध भी होता है। यथा "**सोमो दुग्धाभिरक्षाः**" (ऋ० ९.१०७.९), तथा "**सोमो दुग्धाभ्यः क्षरति**" (निरुक्त ५.१.३), अर्थात् दुही गई गौओं से सोम अर्थात् दूध क्षरित होता है तथा "**सोमः खलु वै सांनाय्यम्**" (तैत्ति० ब्राह्मण ३.२.३.११), अर्थात् सोम है सांनाय्य, क्षीरदधिरूप। अतः ब्रह्मवेत्ता अतिथियों को दूध-दधि के साथ ओदन देना चाहिए। ओदन के प्राशन से अतिथियों की भूख शान्त हो जाती है, अतः भूख के कारण हुए दुःख-कष्ट का अनुभव वे नहीं करते]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मौदनः** ॥ छन्दः—**विराड् जगती** ॥

सोम राजन्त्संज्ञानमा वपैभ्यः सुब्राह्मणा यतमे त्वोपसीदान्।

ऋषीनार्षेयांस्तपसोधि जातान्ब्रह्मौदने सुहवा जोहवीमि॥ २६॥

अर्थ—(सोम राजान्) हे राजमान सोम! या प्रेरक राजन्! (यतमे) जो भी (सुब्राह्मणाः) श्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता अतिथि (त्वा उप सीदान्) तेरे समीप बैठें (एभ्यः) इनके लिए (संज्ञानम्) यथार्थज्ञान या ऐकमत्य के बीज (आवप) बो। (ब्रह्मौदने) ब्रह्मौदन यज्ञ में (सुहवा) उत्तमाहुतियाँ देने वाली मैं, (तपसोधि जातान्) तपःप्रभाव से नवजन्म धारण किये हुए द्विजन्मा रूप (ऋषीन्, आर्षेयान्) ऋषियों और ऋषिसन्तानों के प्रति (जोहवीमि) मैं ओदनाहुतियाँ देती हूँ।

[मन्त्र २५ के अनुसार सोम है दुग्ध+दधि। दुग्ध=दधि तथा ओदन, सात्विक भोजन है। इससे बुद्धि सात्विक होकर सम्यक् अर्थात् यथार्थज्ञान के ग्रहण में सशक्त हो जाती है। प्रेरक राज-पक्ष में कहा है कि जो श्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता राजा के समीप आते और बैठते हैं, उन्हें राजा ऐकमत्य में रहने की प्रार्थना करता रहे। यही बीजावाप है। ब्रह्मवेत्ताओं, ऋषियों तथा ऋषिसन्तान रूपी द्विजन्माओं के प्रति, अन्न का आहुतिरूप में देना, राजपत्नी का कर्त्तव्य है। वह ब्रह्मौदन को यज्ञरूप अर्थात् अतिथियज्ञरूप जान कर, श्रद्धापूर्वक, अन्न द्वारा इनकी सेवा बार-बार किया करे। सुहवा=सु+हव (Oblation, आप्टे) अर्थात् आहुति]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मौदनः** ॥ छन्दः—**अतिजागतगर्भा भुरिग् जगती** ॥

शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमा ब्रह्मणां हस्तेषु प्रपृथक्सादयामि।

यत्काम इदमभिषिञ्चामि वोहमिन्द्रो मरुत्वान्त्स ददादिदं मे॥ २७॥[1]

अर्थ—(यज्ञियाः) यज्ञयोग्य, (योषितः शुद्धाः पूताः) स्त्रियों के सदृश शुद्ध और पवित्र (इमाः) इन जलों को (ब्रह्मणाम् हस्तेषु) ब्रह्मवेत्ताओं के हाथों में (प्र पृथक्) पृथक्-पृथक् करके (सादयामि) मैं स्थापित करता हूँ। (यत्कामः) जिस कामना वाला (अहम्) मैं (इदम्) इस सयम (वः) तुम्हें (अभिषिञ्चामि) सींचता हूँ, (सः मरुत्वान् इन्द्रः) वह मरुतों का स्वामी इन्द्र अर्थात् परमेश्वर (इदम्) यह काम्यफल (मे) मुझे (ददात्) देवे।

[मन्त्र २५, २६ में ब्राह्मभोज हो चुकने का निर्देश हुआ है। मन्त्र २७ में शुद्ध जल द्वारा ब्रह्मवेत्ताओं के हाथ धोने के लिए जल डाला गया है, और मनुष्यजाति के स्वामी ऐश्वर्यवान् परमेश्वर से, अतिथियज्ञ करने के फलरूप में, काम्याभिलाषा की पूर्ति के लिए, प्रार्थना की गई है। मरुत्वान्=**म्रियते मारयति वा स मरुत्, मनुष्यजातिः** (उणा० १.९४) महर्षि दयानन्द। इन्द्रः=**इदि परमैश्वर्ये**]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मौदनः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

इदं मे ज्योतिरमृतं हिरण्यं पक्वं क्षेत्रात्कामदुघा म एषा।

इदं धनं नि दधे ब्राह्मणेषु कृण्वे पन्थां पितृषु यः स्वर्गः॥ २८॥

१. मन्त्र द्वारा यह भी सूचित होता है कि शुद्ध, पूत और यज्ञिय अर्थात् पूजा योग्य स्त्रियों का ब्रह्मज्ञ तथा वेदज्ञ पुरुषों के साथ, विवाह होना चाहिए। ''प्र पृथक्'' द्वारा यह सूचित किया है कि प्रत्येक ब्रह्मज्ञ की एक पत्नी, तथा प्रत्येक पत्नी का एक पति होना चाहिए। ''हस्तेषु'' पद ''पाणिग्रहण'' विधि का सूचक है। ''मरुत्वान्, इन्द्रः'' का अभिप्राय, इस अर्थ में ''मनुष्यों का स्वामी राजा'' है।

अर्थ—(क्षेत्रात् पक्वम्) कृषिकर्म द्वारा खेत से पका हुआ (इदम्) यह ओदनान्न (मे) मेरी (ज्योतिः) ज्योति रूप है, (अमृतम्) मरने से बचाने वाला है, (हिरण्यम्) सुवर्णरूप है, (मे) मेरी (एषा) यह (कामदुघा) कामनाओं का दोहन करने वाली गौ है। (इदम् धनम्) इस पक्वौदन रूपी धन को (ब्राह्मणेषु) ब्रह्मवेत्ताओं में (निदधे) निधिरूप में मैं स्थापित करता हूँ, इसे (पितृषु) पितरों में जाने का (पन्थाम्) मार्ग (कृण्वे) मैं बनाता हूँ, (यः) जो यह मार्ग (स्वर्गः) विशिष्ट सुख प्राप्त कराता है, स्वर्गरूप है।

[मन्त्र २७, २८ में अतिथियज्ञ के कर्त्ता राजा की उक्तियाँ हैं। राजा अन्न को, निज तथा सब प्राणियों के लिए जीवनीय ज्योति, क्षुधाजन्यमृत्यु से बचाने वाला, तथा बहुमूल्य हिरण्य और कामदुघा गौ मानता है। अन्न वस्तुतः एतद्रूप है। कागजी तथा धातवीय सिक्के अन्न के लिए ही हैं। ब्राह्मण हैं ब्रह्म अर्थात् वेदों के वक्ता तथा ब्रह्मज्ञ अर्थात् परमेश्वर के ज्ञाता। ऐसे व्यक्ति मनुष्य-समाज के लिए आदर्शरूप हैं। इन्हें अन्न द्वारा सत्कृत करना मानो इनमें निधि स्थापित करना है, जो कि वस्तुतः राष्ट्र के या पृथिवीमात्र के लिए बहु उत्पादिका है। पितृषु पन्थाम्=इन राष्ट्रिय भावनाओं के प्रसङ्ग में "पितृषु" के दो अभिप्राय हैं। (१) वैदिक-समाज के गृहस्थ माता-पिता जो कि पञ्चमहायज्ञों के करने वाले हैं, इन महायज्ञों में अतिथि यज्ञ भी महायज्ञ है। राजा इस महायज्ञ द्वारा इन जीवित पितरों में जाने-आने का निज मार्ग बनाता है। (२) "पितरः" पद द्वारा राष्ट्रिय सभा, समिति और संसद के सभासद्, सामित्य तथा सांसद्य भी पितरः हैं। यथा "**सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने। येना संगच्छा उप मा स शिक्षाच्चारु वदानि पितरः सङ्गतेषु**" (अथर्व० ७.१२.१) में "**पितरः संगतेषु**" द्वारा राष्ट्र के नेतृरूप अधिकारियों को पितरः कहा है। राजा अतिथियज्ञ करके इन पितरों में जाने का निजमार्ग बनाता है, क्योंकि वैदिकाज्ञानुसार ये पितर भी पञ्चमहायज्ञों के करने वाले हैं। यह मार्ग स्वर्गरूप है, स्वः (विशिष्ट सुख) का (मार्ग) है, विशिष्ट सुख प्राप्त कराने वाला है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मौदनः** ॥ छन्दः—**भुरिग् जगती** ॥

अ॒ग्नौ तु॒षाना॒ वप॑ जा॒तवे॑दसि प॒रः क॒म्बूकाँ॒ अप॑ मृड्ढि दू॒रम्।
ए॒तं शु॑श्रुम गृहरा॒जस्य॑ भा॒गमथो॑ विद्म॒ निर्ऋ॑तेर्भाग॒धेय॑म्॥ २९ ॥

अर्थ—(तुषान्) [अवहनन अर्थात् धान को ऊखल-मुसल में कूटने, और तत्पश्चात् उन्हें छाज द्वारा छांटने पर धान-बीज के जो छिलके भूमि पर गिरते हैं उन्हें तुष कहते हैं] तुषों को (जातवेदसि) यज्ञ की अग्नि में (आ वप) डाल; (कम्बूकान्) शेष तिनकों और डण्डियों को (परः) यज्ञकुण्ड से परे (दूरम्) दूर (अपमृड्ढि[1]) फैंक। (एतम्) इन तिनकों और डण्डियों के समूह को (गृहराजस्य) गृह के स्वामी का (भागम्) भाग हम (शुश्रुम) सुनते रहे हैं [अर्थात् यह भाग गृहराज की पाचकाग्नि के लिए है] (अथो) अथवा इसे (निर्ऋतेः भागम्) पृथिवी का भाग (विद्म) हम जानते हैं [अर्थात् पृथिवी पर गल-सड़ कर यह पृथिवी के लिए खाद बन कर उसे उपजाऊ बनाएगा]। **निर्ऋतिः पृथिवीनाम** (निघं० १.१)।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मौदनः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

श्राम्य॑तः पच॑तो वि॒द्धि सु॒न्व॒तः पन्थां॑ स्व॒र्गमधि॑ रोहयैनम्।
येन॒ रोहा॒त्पर॑मा॒पद्य॒ यद्वय॑ उ॒त्त॒मं नाकं॑ पर॒मं व्यो॑म॥ ३० ॥

---

१. अप मृड्ढि=अप+**मृजूष् शुद्धौ**, अर्थात् उन्हें अपगत करके स्थान की शुद्धि कर।

अर्थ—(श्राम्यतः) परिश्रम करने वाले, (पचतः) अतिथि सेवा के लिए ओदन पकाने वाले, (सुन्वतः) दूध का स्रावण करने वाले को—हे परमेश्वर (विद्धि) तू जान, (एनम्) इसे (स्वर्गम्) सुख विशेष प्राप्त कराने वाले (पन्थाम्) मार्ग पर (रोहय) अधिरूढ़ कर, (येन) जिस मार्ग से कि (यत् परम्) जो उत्कृष्ट (वयः) जीवन है उसको (आ पद्य) प्राप्त कर, (उत्तमम्) सर्वोत्तम, (परमम्) परसम्पत्ति रूप (नाकम्) तथा दुःख के स्पर्श से रहित (व्योम) विशेषतया रक्षक परमेश्वर तक (रोहात्) यह रोहण करे।

[सुन्वतः=यद्यपि यह पद सोम-ओषधि के रस को निकाल कर उसकी आहुति और उसके पीने के निमित्त किये गये यज्ञ का सूचक है, परन्तु प्रकरणानुसार यहाँ "सुन्वतः" का अभिप्राय है अतिथियों के लिए गौ से सोम अर्थात् दूध का स्रावण करना (मन्त्र २५, २६)। रोहात्=परमेश्वर की प्राप्ति के लिए यद्यपि रोहण की आवश्यता नहीं, परमेश्वर सर्वत्र व्यापक है, परन्तु यह दर्शाने के लिए कि यज्ञकर्त्ता उस परमेश्वर को प्राप्त हो, जोकि आदित्य में स्थित हुआ सौरमण्डल का नियन्त्रण, आदित्यरूप केन्द्रिय-शक्ति द्वारा कर रहा है—"रोहात्" शब्द पठित है। यथा "**योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म**" (यजुः० ४०.१७)। परमम्=पर+मा (लक्ष्मी)।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ब्रह्मौदनः**॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्**॥

बभ्रेरध्वर्यो मुखमेतद्वि मृड्ढ्याज्याय लोकं कृणुहि प्रविद्वान्।
घृतेन गात्रानु सर्वा वि मृड्ढि कृण्वे पन्थां पितृषु यः स्वर्गः॥ ३१॥

अर्थ—(अध्वर्यो) हे अध्वर्यु! (बभ्रेः) धारण-पोषण करने वाले के (एतत् मुखम्) इस मुख को (विमृड्ढि) तू विशेषरूप से समुज्ज्वल कर; तथा (प्र विद्वान्) गार्हस्थ्य जीवन को प्रकर्षरूप में जानता हुआ तू (आज्याय) आज्य के लिए (लोकम्) स्थान अर्थात् कुम्भ को (कृणुहि) स्थापित कर। (घृतेन) घृत द्वारा (सर्वा गात्रा) सब गात्रों और शरीरों को (वि मृड्ढि) विशेषतया समुज्ज्वल कर, इस प्रकार (पितृषु) पितरों में (पन्थाम्) निज मार्ग (कृण्वे) तैयार करता हूँ, (यः) जो कि (स्वर्गः) सुख विशेष का प्रापक है, या स्वर्गरूप है। [आज्याय लोकम्=घृत रखने का स्थान, अर्थात् कुम्भ; न कि त्रिलोकी में से कोई लोक।]

[गृहस्थी अध्वर्यु के प्रति कहता है कि (१) तू अतिथियज्ञ के कर्त्ता की कीर्त्ति करके उसके मुख को कीर्ति सम्पन्न कर। (२) उसे यह भी उपदेश दे कि वह गृहस्थ व्यवहार के लिए घर में आज्य भरा कुम्भ भी रखा करे। (३) ताकि गृहनिवासियों के शरीर घृतसेवन द्वारा समुज्ज्वल हों। (४) और इस विधि से गृहस्थ जीवन को स्वर्गीय बनाया जा सके। (अथर्व० ४.३४.२, ५, ७, ८) मन्त्रों में गृहस्थ जीवन को स्वर्ग कहा है। (अथर्व० ४.३४.३, ८) मन्त्रों में ब्राह्मणों की सेवा के लिए ओदन का भी कथन हुआ है। तथा घृत भरे कुम्भों को "घृतह्रदाः" (मन्त्र ६); तथा (मन्त्र ७) में चार कुम्भों में से घृतकुम्भ का भी वर्णन अभिप्रेत है। (मन्त्र ७) में चार कुम्भों का वर्णन हुआ है, जिनमें से दुग्ध, उदक और दधि से पूर्ण कुम्भों का तो नामतः वर्णन हुआ है, और चौथा कुम्भ "घृतह्रदाः" प्रतीत होता है। ऐसे गृहस्थ को इन मन्त्रों में स्वर्ग कहा है। इस प्रकार वर्ण्य ३१ वें मन्त्र के तथा अथर्व० ४.३४.१-८ के विषयों में परस्पर एकवाक्यता सी प्रतीत होती है। गृह्य यज्ञों के कराने वाले अध्वर्यु का यह कर्त्तव्य है कि वह गृहस्थों को मन्त्रोक्त वस्तुओं के संग्रह करने का उपदेश दे। गात्राणि=गात्रम् The body, शरीर (आप्टे), तथा शरीर के अङ्ग]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मौदनः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

बभ्रे रक्षः समदमा वपैभ्योब्राह्मणा यतमे त्वोपसीदान्।

पुरीषिणः प्रथमानाः पुरस्तादार्षेयास्ते मा रिषन्प्राशितारः॥ ३२॥

अर्थ—(बभ्रे) हे भरण-पोषण करने वाले! (रक्षः) हे सब की रक्षा करने वाले राजन्! (एभ्यः) इनके लिए भी (समदम्) सम्यक् अदनीय अन्न (आ वप) दे, (यतमे) जो कि (अब्राह्मणाः) ब्रह्मवेत्ताओं और वेदवेत्ताओं से भिन्न व्यक्ति (त्वा) तेरे (उप सीदान्) समीप आ बैठे, प्राशनार्थ उपस्थित हो जाएँ। तथा (ये) जो (पुरीषिणः) प्रजापालक, और (पुरस्तात्) आगे की ओर (प्रथमानाः) फैले हुए, अर्थात् आगे की पंक्ति में फैल कर बैठे हैं, (ते प्राशितारः आर्षेयाः) वे प्राशन कर्त्ता ऋषि तथा ऋषि सन्तानें (मा रिषन्) कष्टभागी न हों।

[रक्षः=रक्षा करने वाला, न कि राक्षस। अथर्व० (१३.४(३).२५) में परमेश्वर को ''रक्षः'' कहा है, जिसका ''रक्षक'' ही अर्थ उपपन्न होता है। मन्त्र का अभिप्राय यह है कि अन्नग्रहणार्थ यदि अब्राह्मण भी, ऋषि लोगों के साथ आ जाएँ, तो उन्हें भी सम्यक्-अदनीय अन्न देना चाहिए। जैसे कि कहा है कि— ''**अथ यस्याव्रात्यो व्रात्यब्रुवो नाम बिभ्रत्यतिथिर्गृहानागच्छेत्॥ ११॥ कर्षेदेनं न चैनं कर्षेत्॥ १२॥ अस्यै देवताया उदकं याचामीमां देवतां वासय इमामिमां देवतां परि वेवेष्मीत्येनं परि वेविष्यात्**''॥ १३॥ **तस्यामेवास्य तद् देवतायां हुतं भवति य एवं वेद॥ १४॥** (अथर्व० १५.१३.११-१४) इनकी व्याख्या के लिए देखो अथर्ववेद भाष्य का यह प्रकरण। इन मन्त्रों द्वारा यह स्पष्ट है कि यदि अव्रात्य अतिथि भी अन्न ग्रहणार्थ आ उपस्थित हो, तो गृहस्थी इसे कष्ट न पहुँचाए। अपितु अतिथि सम्बन्धी दैवत्यभाव'' के अनुसार गृहस्थी, इसके साथ भी अतिथि का सा व्यवहार करे, परन्तु ऐसे की सेवा गृहस्थी स्वयं न करे, भृत्यों द्वारा उसकी सेवा कराए। गृहस्थी के लिए वैदिक पञ्चमहायज्ञों में नानाविध प्राणियों को अन्नांश देने का विधान है, अतः वैदिक सद्-गृहस्थी अन्न के प्राशन में मनुष्य की उपेक्षा कैसे कर सकता है। प्राणियों को अन्नांश देने के सम्बन्ध में कहा है कि ''**शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम्। वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद् भुवि**'' (मनु० ३.९२)। तस्यां देवतायाम्=अतिथि में ''दैवत्य'' विद्यमान है, चाहे वह श्रोत्रिय (अथर्व० ९.६(३).७) हो, या न हो, उस ''दैवत्य'' के लिए अश्रोत्रिय की भी सेवा करनी चाहिए। यथा ''**मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, अतिथि-देवो भव**'' के अनुसार माता-पिता के श्रोत्रिय न होते हुए भी वे देव हैं, वैसे प्रत्येक अतिथि भी देव हैं। समदम्=सम्+अद् (भक्षणे)। अन्नम्=अद्+क्त। पुरीषिणः=''**पुरीषं पृणातेः पूरयतेर्वा**'' (निरुक्त २.६.२२)]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मौदनः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

आर्षेयेषु नि दध ओदन त्वा नानार्षेयाणामप्यस्त्यत्र।

अग्निर्मे गोप्ता मरुतश्च सर्वे विश्वे देवा अभि रक्षन्तु पक्वम्॥ ३३॥

अर्थ—(अपि=अपि च) तथा (ओदन) हे ओदन (त्वा) तुझे (आर्षेयेषु) ऋषिसन्तानों में (निदधे) मैं निधिरूप में स्थापित करता हूँ, (अत्र) आगे की ओर फैल कर बैठे हुओं की आर्ष पंक्ति में [मन्त्र ३२] (अनार्षेयाणाम्) अनार्ष सन्तानों का (न अस्ति) बैठना या प्रवेश नहीं है। (अग्निः) राष्ट्र का अग्रणी

प्रधानमन्त्री (मे) मेरे राष्ट्र में (पक्वम्) खेती-पके अन्न का (गोप्ता) रक्षक है, (मरुतः च सर्वे) और राष्ट्र के सब मनुष्य तथा (विश्वे देवाः) सब विद्वान् इस खेती-पके अन्न की (अभिरक्षन्तु) रक्षा करें।

[मन्त्र ३२ के अनुसार अब्रह्मवेताओं को भी अन्न दान का विधान है। मन्त्र ३३ में यह कहा है कि इन्हें आर्षेयों की पंक्ति में बैठ कर अन्न ग्रहण करने का निषेध है। साथ ही यह कहा है कि अन्न, राष्ट्र की निधि है, इसलिए कृषिपक्व अन्न की रक्षा करना प्रत्येक राष्ट्रवासी का कर्त्तव्य है। मरुत्=मनुष्यजातिः (उणा० १.९४, महर्षि दयानन्द)]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ब्रह्मौदनः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

यज्ञं दुहानं सदमित्प्रपीनं पुमांसं धेनुं सदनं रयीणाम्।
प्रजामृतत्वमुत दीर्घमायू रायश्च पोषैरुप त्वा सदेम॥ ३४॥

अर्थ—(यज्ञम्) यज्ञसाधन दुग्ध के (दुहानम्) दोहन के (सदम्) सदा साधनरूप (इत्) तथा (प्रपीनम्) परिपुष्ट (रयीणाम्, सदनम्) सम्पत्तियों के आगार, (प्रजामृतत्वम्) प्रजाओं के अमृतत्व अर्थात् शीघ्र न मरने का साधन भूत, (दीर्घम् आयुः) आयु को दीर्घ करने वाले, (रायः च पोषैः) सम्पत्तियों की परिपुष्टि के साथ वर्तमान हम, (त्वा पुमांसम् धेनुम्) तुझ पुमान् दुधार-गौ को (उप सदेम) हम प्राप्त हों।

[उप सदेम="**उपगम्यास्म, सदेः आशीर्लिङि, लिङ्याशिष्यङ्**" (सायण)। मन्त्र में वृषभ अर्थात् बैल का वर्णन है (देखो मन्त्र ३५), इसे "पुमान्-धेनु कहा है। यह पुमान् होता हुआ धेनुरूप है प्रपीन वृषभ अनेक गौओं के पैदा करने का हेतु होता है। कारण वृषभ में, कार्य धेनु शब्द का उपचार हुआ है, जैसे कि "आयुर्वै घृतम्" इस वाक्य में घृत को आयु कहा है। घृत कारण है आयु का, आयु कार्य है। मन्त्र ३३ में खेती-पके अन्न का वर्णन हुआ है। कृषि और कृष्यन्न के उत्पादन में पुमान् धेनु" अर्थात् बैल सहायक है। इसलिए बैल का वर्णन हुआ है। यह दुग्ध का साधन है। विना बैल के धेनु की उत्पत्ति नहीं हो सकती और धेनु दुग्ध प्रदात्री है। वृषभ जो कि प्रपीन हो, वह नाना धेनुओं और बैलों को पैदा कर सकता है। धेनु सम्पत्तियों, बैल सम्पत्तियों और दूध, दधि, घृत, तथा कृषि सम्पत्तियों का यह आगार है। दूध तथा घृत आयु के वर्धक है, अतः इनके सेवन से प्रजा शीघ्र नहीं मरती, इस द्वारा सदा सम्पत्तियों की परिपुष्टि होती रहती है। ऐसे "पुमान् धेनु" को हम प्राप्त हों]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ब्रह्मौदनः**॥ छन्दः—**चतुष्पदा ककुम्मत्युष्णिक्**॥

वृषभोऽसि स्वर्ग ऋषीनार्षेयान्गच्छ। सुकृतां लोके सीद तत्र नौ संस्कृतम्॥ ३५॥

अर्थ—(वृषभः) धेनुओं, बैलों तथा कृष्यन्नों की वर्षा करने वाला, प्रभूत मात्रा में देने वाला हे बैल! (असि) तू है, (स्वर्गः) तू सुख विशेष पहुँचाता है, (ऋषीन् आर्षेयान्) ऋषियों और ऋषि सन्तानों को (गच्छ) प्राप्त हो। (सुकृताम्) इन सुकर्मियों के (लोके) स्थान में (सीद) विद्यमान रह। (तत्र) उन ऋषियों और आर्षेयों में (नौ) हम दोनों का (संस्कृतम्) यह संस्कृति का कार्य हो, या हम दोनों का मिल कर यह सेवा कार्य हो।

[मेरी ओर से ऋषियों को तेरा समर्पण, तथा ऋषियों में रह कर उनकी धेनुओं आदि को बढ़ाना], यह दो कार्य हम दोनों के सम्मिलित कर्म हैं। मन्त्र ३४ और ३५ के समन्वित अर्थों की दृष्टि से वृषभ का अर्थ बैल प्रतीत है। ऋषियों की सेवार्थ उन्हें "पुमान् धेनु" भी देनी चाहिए, यह मन्त्राभिप्राय है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मौदनः** ॥ छन्दः—**पुरोविराट् त्रिष्टुप्** ॥

समाचिनुष्वानुसंप्रयाह्यग्ने पथः कल्पय देवयानान्।

एतैः सुकृतैरनु गच्छेम यज्ञं नाके तिष्ठन्तमधि सप्तरश्मौ ॥ ३६ ॥

अर्थ—(अग्ने) हे अग्रणीराजन्! (समाचिनुष्व) सत्कर्मों का संग्रह तू किया कर, (अनु सं प्रयाहि) और इन कर्मों के अनुकूल सम्यक्तया चला कर, (देवयानान्) देवकोटि के लोग जिन मार्गों पर चलते हैं (पथः) उन मार्गों को [प्रजा के लिए] (कल्पय) विधिपूर्वक निश्चित कर। (एतैः सुकृतैः) इन सुकर्मों द्वारा (नाके तिष्ठन्तम्) दुःख के स्पर्श से रहित आनन्दमय स्वरूप में सदास्थित, और (सप्तरश्मौ अधि) सात रश्मियों वाले सूर्य में अधिष्ठातृरूप में स्थित, (यज्ञम्[१]) यजनीय-संगतियोग्य तथा आत्मसमर्पण योग्य परमेश्वर को (अनुगच्छेम) तदनन्तर हम प्राप्त हों।

[राजा जब सत्कर्मों का संचय करेगा और सत्कर्मों के अनुकूल चल कर देवयान-पथों का अवलम्ब करेगा, तो प्रजाजन भी तदनुरूप सत्कर्मी हो जाएँगे, "**यथा राजा तथा प्रजा**"। इन सत्कर्मों के द्वारा परमेश्वर को पा सकेंगे। यज्ञम्=यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु। नाके; कम्=सुखम्; अकम्=सुखाभाव=दुःख; नाकम्=न+अकम्=सुखाभाव अर्थात् दुःख के स्पर्श से रहित। सप्तरश्मौ=वर्षाकाल में इन्द्रधनुष् में सूर्य की सात रश्मियाँ प्रकट होती हैं। इस सूर्य में परमेश्वर अधिष्ठातृरूप में स्थित है—"**योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म**" (यजुः० ४०.१७)]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मौदनः** ॥ छन्दः—**विराड् जगती** ॥

येन देवा ज्योतिषा द्यामुदायन्ब्रह्मौदनं पक्त्वा सुकृतस्य लोकम्।

तेन गेष्म सुकृतस्य लोकं स्वरारोहन्तो अभि नाकमुत्तमम् ॥ ३७ ॥

अर्थ—(देवाः) दिव्यगुणी लोग (येन ज्योतिषा) जिस ज्योति के द्वारा, (द्याम्) द्युलोक या शिरःस्थ सहस्रारचक्र पर (उदायन्) चढ़े हैं, और (ब्रह्मौदनम्) ब्रह्म के प्रसादन के लिए वेदवेत्ताओं और ब्रह्मज्ञों को देय ओदन को अथवा ब्रह्मरूपी-ओदन (अथर्व० ११.३) को (पक्त्वा) अग्नि परिपाक करके, तथा जीवन में परिपक्व करके (सुकृतस्य लोकम्) सुकर्मियों द्वारा प्रापणीय सहस्रार चक्र रूप लोक को या ब्राह्मी-आलोक को प्राप्त हुए हैं, (तेन) उस ज्योति द्वारा (सुकृतस्य लोकम्) सुकर्मियों के इस लोक को (गेष्म) हम प्राप्त हों, अर्थात् (स्वः आरोहन्तः) "स्वः" पर आरोहण करके, अर्थात् हृदय में परमेश्वर का दर्शन करके (उत्तमम् नाकम् अभि) उत्तम नाक की ओर हम जाएँ, या उसको प्राप्त करें। नाकम्=गेष्म दुःख के संस्पर्श से रहित आनन्दमय परमेश्वर को हम प्राप्त करें।

[ज्योतिषा=सम्भवतः"**ऋतम्भरा प्रज्ञा**", अथवा "**विवेकजज्ञान**" (योग १.४६; ३.४९, ५४)। द्याम्="**शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत**" (यजुः० ३१.१३); "**दिवं यश्चक्रे मूर्धानम्**" (अथर्व० १०.७.३२), अर्थात् आध्यात्मिकार्थ में "द्यौः या दिव्" हैं शिरः या मूर्धा। ब्रह्मौदनम्=इसके यथा लिखित दो अर्थ हैं—यह काण्ड ११। सूक्त ३ में स्पष्टतया वर्णित है। "ब्रह्मरूपी ओदन" इस अर्थ में ब्रह्म को "**सुकृतस्य लोकम्**" कहना यथार्थ प्रतीत होता है। मन्त्र के उत्तरार्ध में "**सुकृतस्य लोकम्**" "उत्तम-नाकम्"

१. यजुर्वेद (३१.९) में "यज्ञ पुरुष" द्वारा परमेश्वर-पुरुष को "यज्ञम्" कहा है। महर्षि दयानन्द इसका अर्थ करते हैं, "सम्यक् पूजने योग्य परमात्मा को"। इस प्रकार परमेश्वर को "यज्ञ कहते हैं।"

एकाभिप्रायक प्रतीत होते हैं। आध्यात्मिक दृष्टि में "स्वः" शब्द हृदयस्थ कोश का भी वाचक है। यथा— "**अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या। तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः**" (अथर्व० १०.२.३१)। हृदयस्थ "हिरण्यय कोश" पारमेश्वरी-ज्योति से आवृत रहता है। हिरण्यय-कोश में परमेश्वर का प्रथम दर्शन होता है। इसके पश्चात् शिरःस्थ सहस्रार चक्र में स्थित "नाक" अर्थात् आनन्दमय ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। हृदय से सहस्रारचक्र में आरोहण करना, "स्वः" से "उत्तमनाक" तक आरोहण करना है। ब्रह्मौदनम्=मन्त्र ३७ के अनुसार "ब्रह्मौदन को पका कर" नाक अर्थात् मोक्ष या ब्रह्म को प्राप्त करने का कथन हुआ है। ब्रह्मयज्ञों तथा वेदज्ञों को पकाया-ओदन देने मात्र से मोक्ष या ब्रह्म की प्राप्ति हो जाए, यह तो बुद्धिग्राह्य नहीं। इसलिए "**ब्रह्मौदन**" पद में "ब्रह्मप्रसादनार्थ" या ब्रह्मार्पण करके यह भावना अन्तर्निहित है। इस भावनानुसार ब्रह्मज्ञों और वेदज्ञों को दिया ओदन-योगशास्त्रोक्त "क्रियायोग" का अङ्ग हो जाता है, अर्थात् "ईश्वर प्रणिधान" हो जाता है। यथा "**तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः**" (योग २.१)। इसकी व्याख्या में व्यासमुनि लिखते हैं कि "**ईश्वरप्रणिधानं सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणं, तत्फलसन्न्यासो वा**", अर्थात् सब क्रियाओं का परमगुरु परमेश्वर के प्रति अर्पण, अथवा उन कर्मों के फल की अभिलाषा न करते हुए उन्हें करना"। इससे समाधि की प्राप्ति होती तथा पञ्चक्लेश (योग० २.३) सूक्ष्म पड़ जाते हैं। तथा "**समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्**" (योग २.४५) पर व्यासमुनि पुनः कहते हैं कि "**ईश्वरार्पितसर्वभावस्य समाधिसिद्धिः**" अर्थात् ईश्वर के प्रति जिसने अपने सब भावों को अर्पित कर दिया है, उसे समाधि सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार "**ब्रह्मौदनं पक्त्वा**" (३७) में, तथा इससे पूर्व के मन्त्रों में यदि "ब्रह्म के प्रसादनार्थ" इस भावना को अन्तर्हित माना जाए तो "**यज्ञनामक ब्रह्म**" की प्राप्ति भी सम्भव हो जाती है (३६), तथा नाक अर्थात् मोक्ष की सिद्धि भी हो जाती है (३७)। या मन्त्र ३६, ३७ में "ब्रह्मौदनम्" का अर्थ "ब्रह्म-रूपी-ओदन" जानना चाहिए। "ब्रह्मौदन" की विस्तृत व्याख्या काण्ड ११। सूक्त ३ में की गई है।

सूक्त २

विषय-प्रवेश

(१) ११.२ में ३१ मन्त्र हैं। इनमें "भव, शर्व, रुद्र" द्वारा परमेश्वर का वर्णन हुआ है। भव[1] का अर्थ है "उत्पादक परमेश्वर, शर्व[2] का अर्थ है संहारक परमेश्वर, और रुद्र[3] का अर्थ है पापियों को रुला कर उनके पापों का संहार करने वाला परमेश्वर।"

मन्त्र १ में "भवाशर्वौ" समस्तपद है। अतः भव और शर्व परस्पर सम्बन्धी पद हैं, अतः इनमें आर्थिक सम्बन्ध भी है। जैसे कि अहोरात्रे, द्यावापृथिव्यौ, श्वासप्रश्वासौ, मित्रावरुणौ, प्राणापानौ आदि समस्तपदों के घटकपदों में परस्पर आर्थिक सम्बन्ध है।

किसी भी वस्तु के निर्माण में प्रथम उसके पूर्वरूप का संहार करना होता है, तदनन्तर उस वस्तु में नए रूप का उत्पादन होता है। प्रथम बीज के बीजत्वरूप का संहार होगा, तदनन्तर उसके अङ्कुरत्वरूप

---

१. भवः=भावयति उत्पादयति पदार्थानिति भवः।

२. शर्वः=शृणाति हिनस्ति पदार्थानिति शर्वः।

३. यो रोदयति अन्यायकारिणो जनान् स रुद्रः, जो दुष्टकर्म करने हारों को रुलाता है इससे उस परमेश्वर का नाम रुद्र है (सत्यार्थप्रकाश, प्रथम समुल्लास)।

का उत्पादन होगा। प्रथम साम्यावस्थापन्न प्रकृति की साम्यावस्था का संहार होगा, तदनन्तर उसकी वैषम्यावस्था के "महत्" आदि तत्त्वों का उत्पादन होगा। इसी प्रकार वैषम्यावस्थापन्न कार्य जगत् का जब संहार होगा, तदनन्तर प्रकृति में पुनः साम्यावस्था का उत्पादन होगा। इस प्रकार भव और शर्व में परस्पर आर्थिक सम्बन्ध है। इसी प्रकार "भवारुद्रौ" समस्तपद में पदों और उनके अर्थों में परस्पर सम्बन्ध है। "भावरुद्रौ" (मन्त्र १४) में भवपद तो भवाशर्वौ के भवपद सदृश अर्थवान् है। रुद्र पद का सम्बन्ध सदाचार के साथ है। रुद्र, पापियों के पाप का संहार करता है। उत्पादन और संहार की भावनाएँ, भव और रुद्र में भी, भव और शर्व के सदृश विद्यमान हैं। "भवारुद्रौ" को सयुजौ, अर्थात् परस्पर सम्बन्धी कहा है (मन्त्र १४)।

(२) "भव" परमेश्वर है, देखो (मन्त्र १०), इसमें कहा है कि भव चारों दिशाओं, तथा तीनों लोकों का स्वामी है, और इसी के कारण समग्र जगत् सात्मक हो रहा है। मन्त्र २७ में भी यही भावना है।

(३) मन्त्र ५, ६ में पशुपति पद द्वारा परमेश्वर को सूचित कर उसके मुख, चक्षूँषि, त्वचा, रूप, प्रत्यक्-स्वरूप, उदर, जिह्वा, आस्य, दान्त और गन्ध का वर्णन हुआ है। इन पर विशेष प्रकाश डाला है।

(४) रुद्र के नीलशिखण्ड, सहस्राक्ष, अर्धकघाती स्वरूपों की व्याख्या (मन्त्र ७)।

(५) मन्त्र ९ में पशुपति परमेश्वर को ४ वार, ८ वार और १० वार प्रतिदिन नमस्कार करने का निर्देश है।

(६) मन्त्र १७ में कहा है कि परमेश्वर के गुणस्तवनों में जिह्वा को उपरत न करना चाहिए, अर्थात् प्रत्येक कार्य में उसका स्तवन करना चाहिए।

(७) मन्त्र २३ में हाथ जोड़ कर परमेश्वर को नमस्कार करने का निर्देश किया है।

(८) मन्त्र १६ में सायं प्रातः, रात्रि के होते और दिन चढ़ते परमेश्वर को नमस्कार करने के विधान दिये हैं। अग्नि, विद्युत्, सूर्य (१२.३.२५, २६)। तथा सैनिकों को वेद में "अग्निरूपाः" कहा भी है। यथा "**तिग्मेषव आयुधा संशिशाना अभि प्र यन्तु नरो अग्निरूपा**" (ऋ० १०.८४.१), इस मन्त्रार्थ में "नरः" द्वारा नेतृरूप सैनिक अभिप्रेत हैं जिन्हें कि अग्निरूप अर्थात् अग्नि के सदृश तेजस्वी कहा है, तथा जिन्हें तीक्ष्ण बाणों वाले तथा आयुधों वाले कहा है। भाष्यकारों ने "केशिनः" का अर्थ केशधारी किया है। अथवा अग्नि, विद्युत्, सूर्य की किरणों को केश जान कर सम्भवतः ऐसा अर्थ भाष्यकारों न किया हो।

संभुञ्जतीभ्यः=सम्+भुज् (पालन), तथा (अभ्यवहार अर्थात् खाना प्रकरणानुसार संहार करना)। स्वकीय राष्ट्र का पालन तथा आक्रमणकारी राष्ट्र का संहार। रुद्र की सेनाओं के सम्बन्ध में यजुर्वेद अध्याय १६ द्रष्टव्य है। नरः=अथवा सैनिक जवान सं भुञ्जतीभ्यः=अथवा इकट्ठे होकर भोजन करने वाली सेनाओं के लिए]।

(९) मन्त्र १५ में परमेश्वर के आयते, परायते, तिष्ठते और आसीनाय स्वरूपों की व्याख्या की गई है।

(१०) मन्त्र २५ में शिशुमार, अजगण:*जषः, मत्स्याः—इनके आधिदैविक स्वरूपों को दर्शाया है।

(११) मन्त्र ३१ में रुद्र की सेनाओं और उनके प्रति नमस्कारों का वर्णन हुआ है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**परातिजागता विराड् जगती** ॥

भवाशर्वौ मृडतं माभि यातं भूतपती पशुपती नमो वाम्।

प्रतिहितामायतां मा वि स्राष्टं मा नो हिंसिष्टं द्विपदो मा चतुष्पदः॥ १ ॥

अर्थ—(भूतपती) हे भूत भौतिक जगत् के अधिपतियो! (पशुपती) हे पञ्चविध पशुओं के अधिपतियो! (भवाशर्वौ) हे सृष्ट्युत्पादक तथा सृष्टि संहारको! (मृडतम्) हमें सुखी करो, (मा अभियातम्) हम पर आक्रमण न करो, या मेरे प्रति रक्षार्थ आओ, (वाम्) तुम दोनों को (नमः) नमस्कार हो। (प्रतिहिताम्) धनुष पर चढ़ाई गई, (आयताम्) तथा धनुष् की डोरी के साथ खींची गई इषु को (मा विस्राष्टम्) हमारी ओर न छोड़ो। (नः) हमारे (द्विपदः) दो पैरों वाले सम्बन्धियों, तथा (चतुष्पदः) चौपायों की (हिंसिष्टम्, मा) हिंसा न करो।

[भवाशर्वौ=भव अर्थात् सृष्टि का उत्पादक; शर्व अर्थात् सृष्टि का संहारक। ये दोनों नाम एक ही परमेश्वर-देव के हैं। गुण-कर्म भेद के कारण परमेश्वर भव भी है, और शर्व भी। (अभियातम्=अभियान= युद्धार्थ प्रस्थान या अभिमुख आगमन। पशुपती="**तवेमे पञ्च पशवो विभक्ता गाव अश्वाः पुरुषा अजावयः**" (अथर्व० १०.२.९)। सूक्त २ के देवता को ३ नामों द्वारा सम्बोधित किया है, भव, शर्व और रुद्र। भव और शर्व तो सृष्ट्युत्पादक तथा सृष्टि संहारक परमेश्वर है, तथा रुद्रनामक परमेश्वर, प्राणियों की, उनके बुरे कर्मों द्वारा, दण्डित कर रुलाने वाला है, ताकि वे दुःख भोग कर सन्मार्ग गामी हो सकें]।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुब्गर्भा पञ्चपदा पथ्या जगती** ॥

शुने क्रोष्ट्रे मा शरीराणि कर्तमलिक्लवेभ्यो गृध्रेभ्यो ये च कृष्णा अविष्यवः।

मक्षिकास्ते पशुपते वयांसि ते विघसे मा विदन्त॥ २ ॥

अर्थ—(शुने) कुत्तों के लिए, (क्रोष्ट्रे) गीदड़ों के लिए, (अलिक्लवेभ्यः) क्षुधा से क्लान्त हुए बिच्छु आदि के लिए, (गृध्रेभ्यः) गीधों के लिए, (च) और (ये) जो (अविष्यवः) मांसप्रिय (कृष्णाः) काले कौए हैं, उनके लिए, (पशुपते) हे पशुओं के अधिपति! (ते) तेरी जो (मक्षिकाः) मक्खियाँ हैं, (ते) तेर जो (वयांसि) अन्य पक्षी हैं उनके लिए, (शरीराणि) हमारे मृत शरीरों को (मा कर्तम्) न कीजिए, वे (विघसे) खाद्य अन्न के निमित्त (मा विदन्त) हमारे शरीरों को न प्राप्त करें।

[शुने, क्रोष्ट्रे=जात्येकवचनम्। कर्तम्=कुरुतम् [भव और शर्व के प्रति कथन हुआ है]। अलिक्लवेभ्यः=अलि=बिच्छु (आप्टे)+क्लम् ग्लानौ। शरीराणि=अभिप्राय यह कि राष्ट्रों में परस्पर युद्ध न हों, ताकि हमारे मृत शरीरों को युद्ध भूमि में पशुपक्षी न खाएँ। वेद दृष्टि में तो शरीरों का अन्त्येष्टि संस्कार ही होना चाहिए। विघसे=वि+अद् (घस्लृ; **घञपोश्च**, अष्टा० २.४.३८)। अविष्यवः=**आमिषम् इच्छन्तः** (सायण)। अव=हिंसा (भ्वादि)]।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**चतुष्पदा स्वराडुष्णिक्** ॥

क्रन्दाय ते प्राणाय याश्च ते भव रोपयः। नमस्ते रुद्र कृण्मः सहस्राक्षायामर्त्य॥ ३ ॥

अर्थ—(अमर्त्य भव) हे अमर सृष्ट्युत्पादक! (ते प्राणाय) तुझ प्राणस्वरूप के लिए, (याः च) और जो (ते) तेरी (रोपयः) विमोहक शक्तियाँ हैं उनके लिए; (अमर्त्य रुद्र) तथा हे अमर रुद्र! (क्रन्दाय) पापियों को रुलाने वाले, (सहस्राक्षाय) हजारों पापियों का क्षय करने वाले (ते) तेरे प्रति (नमः)

नमस्कार (कृण्मः) हम करते हैं।

[क्रन्दाय=**क्रदि आह्वाने रोदने च**। रोपयः=**रुप विमोहने; "रोपयः रोपयित्र्यो विमोहयित्र्यः"** (सायण)। रुद्र=रोदयतीति (सायण) **रोदयतेर्णिलुक् च"** (उणा० २.२२)। **"यद्वा रुद् दुःखहेतुर्वा, तस्य द्रावकः देवः परमेश्वरः"** (सायण)। रोपयः=परमेश्वर की विमोहक शक्तियाँ नाना हैं। प्राणदातृत्व, जीवनदातृत्व, अन्नदातृत्व, पितृरूपत्व, मातृरूपत्व, इन्द्रियदातृत्व आदि—परमेश्वर की शक्तियाँ तथा विभूतियाँ नाना हैं, जोकि हमें विमुग्ध करती हैं। इन सबके लिए हम परमेश्वर को नमस्कार करते हैं। सहस्राक्षाय= सहस्र+आ+क्ष, क्षि क्षये; अर्थात् हजारों पापियों का क्षय करने वाले (ते) तेरे लिए (नमः) नमस्कार (कृण्मः) हम करते हैं]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

पुरस्तात्ते नमः कृण्म उत्तरादधरादुत। अभीवर्गाद्दिवस्पर्यन्तरिक्षाय ते नमः॥ ४॥

अर्थ—(पुरस्तात्) पूर्वदिशा में वर्तमान (ते) तेरे लिए (नमः कृण्मः) नमस्कार हम करते हैं, (उत्तरात्) उत्तर दिशा में (उत) तथा (अधरात्) दक्षिण दिशा में वर्तमान तेरे लिए नमस्कार करते हैं। (अभीवर्गात्) सब ओर अन्धकार से वर्जित (दिवः) द्युलोक से (परि) ऊपर वर्तमान तथा (अन्तरिक्षाय) अन्तराल में वर्तमान (ते) तेरे लिए (नमः) नमस्कार हम करते हैं।

[उत्तरात् आदि=सप्तम्यर्थे "आतिः" प्रत्ययः (**"उत्तराधरदक्षिणाद् आतिः"** अष्टा० ५.३.३४)। अभीवर्गात्=अभि (अभितः) वर्गात्, वर्जनात् (वृजी वर्जने)। दिवः परि=**"पञ्चम्याः परावध्यर्थे"** (अष्टा० ८.३.५१)। अन्तरिक्षाय=**"अन्तरा क्षान्ताय नियन्तृत्वेन अवस्थिताय"** (सायण)। अथवा अन्तरिक्षस्वामिने, अर्श आद्यच् (अष्टा० ५.२.१-२७)।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**५ अनुष्टुप्, ६ आर्षी गायत्री**॥

मुखाय ते पशुपते यानि चक्षूंषि ते भव। त्वचे रूपाय सन्दृशे प्रतीचीनाय ते नमः॥ ५॥

अङ्गेभ्यस्त उदराय जिह्वाया आस्याय ते। दद्भ्यो गन्धाय ते नमः॥ ६॥

अर्थ—(पशुपते, भव) हे पशुओं के अधिपति! हे सृष्ट्युत्पादक! (मुखाय) मुख के लिए (ते) तुझे नमस्कार हो, (यानि चक्षूँषि) जो चक्षुएँ हैं तदर्थ (ते) तुझे नमस्कार हो। (त्वचे) त्वचा के लिए, (रूपाय) रूप के लिए, (संदृशे) सम्यक् दर्शन के लिए (प्रतीचीनाय) तेरे प्रत्यक्स्वरूप के लिए (ते नमः) तुझे नमस्कार हो॥ ५॥

(अङ्गेभ्यः) अङ्गों के लिए, (उदराय) उदर के लिए, (जिह्वायै) जिह्वा के लिए, (आस्याय) आस्य के लिए (ते) तुझे नमस्कार हो। (दद्भ्यः) दान्तों के लिए, (गन्धाय) गन्ध के लिए (ते नमः) तुझे नमस्कार हो॥ ६॥

[के लिए=तेरी इन वस्तुओं के परिज्ञान के निमित्त। "मुखाय" आदि चतुर्थ्यन्तपदों में "ज्ञातुम्" पद का सम्बन्ध अभीष्ट प्रतीत होता है। यथा "पुष्पेभ्यो गच्छति" में "पुष्पाणि आहर्तुं गच्छति" इस अर्थ के निमित्त तुमुन्नन्त "आहर्तुम्" पद का सम्बन्ध होता है। इसके लिए देखो **"क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः"** (अष्टा० २.३.१४)। तथा उदाहरणार्थ **"फलेभ्यो याति" फलान्याहर्तुं यातीत्यर्थः। तथा "नमस्कुर्मो नृसिंहाय", नृसिंहमनुकूलयितुमित्यर्थः। एवं स्वयम्भुवे नमस्कृत्येत्यादावपि"** (व्याकरण

सिद्धान्त कौमुदी, भट्टोजी दीक्षित)। मुखादि के स्वरूपों के परिज्ञान के लिए, परमेश्वर की कृपा के निमित्त, परमेश्वर को नमस्कार किये गये हैं। मुखादि के स्वरूप निम्नलिखित हैं—

"मुखाय"="**यस्य ब्रह्म मुखमाहुः**" (अथर्व० १०.७.१९), जिस स्कम्भ का मुख है ब्रह्म अर्थात् वेद या ब्रह्मवेद, अथर्ववेद। "चक्षूँषि"="**चक्षुरङ्गिरसोभवन्**" (अथर्व० १०.७.१८, ३४) जिसकी चक्षुएँ हैं सूर्य की रश्मियाँ तथा सूर्य और चाँद (अथर्व० १०.७.३३)। "त्वचे"=**त्वच संवरणे**। समग्र जगत् की त्वक् परमेश्वर, जिसने समग्र जगत् को निज व्याप्त स्वरूप से घेरा हुआ है, जैसे कि अस्मदादि के शरीरों को त्वक् ने घेरा हुआ है, तथा वृक्षादि को उनकी त्वचाएँ घेरती हैं। त्वचाएँ शरीर की रक्षार्थ होती हैं। परमेश्वर जगत् की त्वचा बन कर जगत् को सुरक्षित कर रहा है। रूपाय=रूपयतीति रूपम्। परमेश्वर जगत् को रूप प्रदान करता है, अतः वह "रूप" है तथा "**नक्षत्राणि रूपम्**" (यजुः० ३१.२२) अर्थात् नक्षत्र परमेश्वर के रूप हैं। "संदृशे"=परमेश्वर के सम्यक्-दर्शन के निमित्त तथा "प्रतीचीनाय" उसके प्रत्यगात्म-स्वरूप के परिज्ञान के लिए परमेश्वर को नमस्कार है॥ ५॥

"अङ्गेभ्यः"="**अङ्गानि यस्य यातवः**" (अथर्व० १०.७.१८), यातवः अर्थात् गतिशील सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र तथा तारागण जिस विराट्-शरीर के अङ्ग हैं। तथा "**एकं तदङ्गं स्कम्भस्यासदाहुः परो जनाः**" (अथर्व० १०.७.२५), असद् अर्थात् अव्याकृत प्रकृति को, पहुँचे हुए जन, स्कम्भ का अंग कहते हैं। प्रकृति, सत्त्व-रजस्-तथा-तमस् स्वरूपा है। त्रिविधा की दृष्टि से प्रकृति को अङ्गानि भी कह सकते हैं। अंगों के सम्बन्ध में देखो, (अथर्व० १०.७.२६, २७)। "उदराय"="**यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्**" (अथर्व० १०.७.३२) में अन्तरिक्ष को स्कम्भ का उदर कहा है। "जिह्वायै="**जिह्वां मधुकशामुत**" (अथर्व० १०.७.१९) में मधुकशा अर्थात् मधुर वेदवाणी को परमेश्वर की जिह्वा कहा है। **कशा वाङ्नाम** (निघं० १.११) वाणी को कशा इसलिए कहते हैं कि यह अर्थ को प्रकाशित करती है। तथा **जिह्वा वाङ्नाम** (निघं० १.११)="आस्याय"="**अग्निं यश्चक्र आस्यम्**" (अथर्व० १०.७.३३), स्कम्भ का आस्य है अग्नि। जैसे अग्नि हवि को खाती है वैसे आस्य अन्न को खाता है। "दद्भ्यः, गन्धाय"=इन पदों द्वारा परमेश्वर की संहारक शक्तियों का वर्णन हुआ है। "दद्भ्यः" वे प्राणी हैं, जोकि अपने दान्तों द्वारा प्रजा का संहार करते हैं, जैसे कि मच्छर, सांप, सिंह आदि हिंस्र प्राणी। दद्भ्य; पद दान्त वाले हिंस्र प्राणियों का उपलक्षक है। गन्धाय पद भी परमेश्वर की संहारक शक्ति का सूचक है। गन्धाय पद "**गन्ध अर्दने**", अर्थात् अर्दनार्थक "गन्ध" धातु से व्युत्पन्न है। अर्दन का अर्थ है हिंसन। यथा "**अर्द हिंसायाम्**" (चुरादि)। दन्तुल हिंसक प्राणियों के अतिरिक्त, अदन्तुल हिंसक संख्या में अत्यधिक हैं। ये हैं रोगकीटाणु। ये रोग कीटाणु प्रतिवर्ष लाखों की संख्या में प्रजा का संहार करते रहते हैं।

विशेषध्येय=इन दो मन्त्रों की व्याख्या में यह निर्देश ध्यान में रखना चाहिए कि मन्त्रों में (ते) पद परमेश्वर के अङ्गों का वर्णन नहीं करते, जिन द्वारा कि परमेश्वर को शरीरधारी मानने का भ्रम हो सके, और न इन अङ्गों के लिए नमस्कार का ही वर्णन हुआ है, अपितु इनके स्वरूपों के परिज्ञान के लिए परमेश्वर की कृपा के निमित्त परमेश्वर के प्रति नमस्कारों का वर्णन हुआ है। "ते" पद चतुर्थी विभक्ति का है, षष्ठी का नहीं]।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अस्त्रा नीलशिखण्डेन सहस्राक्षेण वाजिना।

रुद्रेणार्धकघातिना तेन मा समरामहि ॥ ७ ॥

अर्थ—(अस्त्रा) वज्र फैंकने वाले, (नीलशिखण्डेन)नीलमेघरूपी केशसंनिवेश वाले, (सहस्राक्षेण) हजारों का क्षय करने वाले, (वाजिना) शक्तिशाली विद्युद्देव के सदृश विद्यमान, (अर्धकघातिना) धन की वृद्धि करने वाले का हनन करने वाले, (रुद्रेण) रुलाने वाले (तेन) उस परमेश्वर के साथ (मा समरामहि) हम समर-भावना वाले न हों, उसके नियमों का उल्लंघन[१] करने वाले न हों।

[मन्त्र में लुप्तोपमा है। विद्युद् देव वर्षाकाल में वज्र फैंकता है। नीले अर्थात् घने मेघ मानो उसके केश संनिवेश हैं, वह हजारों का क्षय करने वाला है। वाजिना=**वाजः बलनाम** (निघं० २.९) तद्युक्तेन। परमेश्वर भी विद्युद्-देव के सदृश महाबली है। वह उसका घात करता है जोकि सूद द्वारा निजधन की वृद्धि करता, और निजधन को परोपकार आदि धार्मिक कार्यों में व्यय नहीं करता। "कीकट" शब्द की व्याख्या में, निरुक्तकार यास्क ने निम्नलिखित मन्त्र, इस भावना को प्रकट करने के लिए उपस्थित किया (निरुक्त ६.६.३२); यथा—

किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावो नाशिरं दुह्रे न तपन्ति घर्मम्।

आ नो भर प्रमगन्दस्य वेदो नैचाशाखं मघवन् रन्धया नः॥ (ऋ० ३.५३.१४)

इस मन्त्र की व्याख्या में निरुक्त में कहा है कि "**मगन्दः कुसीदी, माङ्गदो मामागमिष्यतीति च ददाति, तदपत्यं प्रमगन्दः, अत्यन्तकुसीदिकुलीनः**। ऐसे व्यक्ति को "नैचाशाख" कहा है, अर्थात् नीचकुल वाला। ऐसे व्यक्ति को धन से च्युत करने के लिए प्रार्थना की गई है "**आ नो भर वेद** (धनम्)। आभर=आहर। अर्धक=अर्ध, धनस्य वृद्धिं, करोतीति; **ऋधु वृद्धौ**] अर्धम्, **अर्द्धम्**="**ऋध्नोतेर्वा स्यात् ऋद्धतमो विभागः**" (निरुक्त ३.४.२०)।

मा समरामहि="मा संगच्छामहै, आर्ता मा भूमेत्यर्थः। **ऋ गतौ**, अस्मात् माङि लुङि "**समो गम्यृच्छि** इति आत्मनेपदम्। "**सर्तिशास्त्यर्तिभ्यश्च**" इति च्लेः अङ् (सायण)]।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**महाबृहती** ॥

स नो भवः परि वृणक्तु विश्वत आप इवाग्निः परि वृणक्तु नो भवः।

मा नोभि मांस्त नमो अस्त्वस्मै ॥ ८ ॥

अर्थ—(सः भवः) वह सृष्ट्युत्पादक परमेश्वर (विश्वतः) सब प्रकार के [दुःखों में] (नः) हमें (परि वृणक्तु) छुड़ाए, (आपः इव अग्निः) जैसे जल और अग्नि परस्पर को त्याग देते हैं वैसे (भवः) सृष्ट्युत्पादक परमेश्वर (नः) हमें (परिवृणक्तु) दुःखों से छुड़ाए। (नः, मा, अभिमांस्त)[२] भव हमारी हिंसा न करे। (अस्मै नमः अस्तु) इसे हमारा नमस्कार हो।

[आपः=जैसे अग्नि जल को त्याग देती है—इस अर्थ में आपः के स्थान में "अपः" पाठ चाहिए]।

---

१. राजा द्वारा निर्दिष्ट नियमों का उल्लंघन करना मानो उसके साथ समर अर्थात् युद्ध करना है।

२. **अभिपूर्वो मन्यतिः हिंसने वर्तते। माङि लुङि रूपम्** (सायण)।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**आर्षी त्रिष्टुप्** ॥

चतुर्नमो अष्टकृत्वो भवाय दश कृत्वः पशुपते नमस्ते।

तवेमे पञ्च पशवो विभक्ता गावो अश्वाः पुरुषा अजावयः॥ ९॥

अर्थ—(पशुपते) हे पशुओं के पति! (इमे) ये (गावः अश्वा पुरुषाः अजावयः) गौएँ, अश्व, पुरुष, बकरियाँ, भेड़ें (पशवः) पशु, (पञ्च विभक्ताः) जो कि पांच विभागों में विभक्त हैं, (तव) तेरे हैं, (ते भवाय) सृष्ट्युत्पादक तेरे लिए (चतुः नमः) चार वार नमस्कार हो, (अष्टकृत्वः) आठ वार तथा (दशकृत्वः) दस वार (नमः) नमस्कार हो।

[चतुः=चार वार, चार मुख्य दिशाओं में वर्तमान तेरे लिए चारों दिशाओं में नमस्कार हो। अष्टकृत्वः=चार मुख्यदिशाओं तथा चार उपदिशाओं की अपेक्षा से। दश कृत्वा=पूर्वोक्त आठ तथा ऊर्ध्वा और ध्रुवा दिग् की अपेक्षा से। सन्ध्या के मन्त्रों में मनसा परिक्रमा के सदृश मनसा परिक्रमा करते हुए परमेश्वर को नमस्कार करने का विधान हुआ है। चतुः, अष्ट और दश—ये वैकल्पिक हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पुरःकृतिः त्रिपदा विराट् त्रिष्टुप्** ॥

तव चतस्रः प्रदिशस्तव द्यौस्तव पृथिवी तवेदमुग्रोर्वन्तरिक्षम्।

तवेदं सर्वमात्मन्वद्यत्प्राणत्पृथिवीमनु॥ १०॥

अर्थ—(उग्र) हे उग्र[१] अर्थात् तेजस्वी! (चतस्रः प्रदिशः) चारों फैली हुई दिशाएँ (तव) तेरी हैं, (द्यौः) द्युलोक (तव) तेरा है, (पृथिवी तव) पृथिवी तेरी है, (इदम्, उरु, अन्तरिक्षम्, तव) यह विस्तृत अन्तरिक्ष तेरा है, अर्थात् इन सबका तू स्वामी है। (इदम्, सर्वम्, आत्मन्वत्) यह सब जगत् तेरी सत्ता के कारण सात्मक हो रहा है, और जो (पृथिवीम्, अनु) पृथिवी पर रहने वाला प्राणी (प्राणत्) प्राणव्यापार कर रहा है वह भी (तव) तेरा है।

[यह सब जोकि दृश्यमान और अदृष्ट जगत् है, उसमें तू आत्मरूप में विद्यमान है, इसलिए वह सात्मक हुआ-हुआ है]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदा जगतीगर्भा विराट् शक्वरी** ॥

उरुः कोशो वसुधानस्तवायं यस्मिन्निमा विश्वा भुवनान्यन्तः। स नो मृड

पशुपते नमस्ते परः क्रोष्टारो अभिभाः श्वानः परो यन्त्वघरुदो विकेश्यः॥ ११॥

अर्थ—(पशुपते) हे पशुओं के स्वामी! (अयम्) यह (वसुधानः) सम्पत्तियों का निधिभूत (उरुः कोशः) विस्तृत खजाना (तव) तेरा है, (यस्मिन् अन्तः) जिसके अन्दर (विश्वा भुवनानि) समग्र भुवन हैं। (सः) वह तू (नः) हमें (मृड) उस कोश द्वारा सुखी कर, (ते) तुझे (नमः) नमस्कार हो, (अभिभाः) पराभव करने वाले (क्रोष्टारः श्वानः) आक्रोश करने वाले गीदड़ तथा कुत्ते (परः) दूर हों; (परः) परे (यन्तु) हो जाएँ (अघरुदः) पापों के कारण रोने वाली (विकेश्यः) विकीर्ण केशों वाली सेनाएँ या शत्रु की स्त्रियाँ।

[यह ब्रह्माण्ड परमेश्वर का विस्तीर्ण कोश है, सम्पत्तियों का बड़ा खजाना है। इस खजाने द्वारा सुखी

१. नियमों के पालन कराने में उग्ररूप। परमेश्वर ने जो नियम संसार के चालन के लिए, तथा हमारे जीवनों के लिए, निश्चित किये हुए हैं, उनके विपरीत चलने पर परमेश्वर हमें दण्डित करता है, अतः वह उग्र है।

होने की प्रार्थना की गई है, और प्रत्युपकार में परमेश्वर को नमस्कार भेंट किये हैं। पराभवकारी और आक्रमणकारी शत्रुओं को गीदड़ तथा कुत्ते कहा है। ''गीदड़'' पद द्वारा उन्हें केवल आक्रोश करने वाले तथा डरपोक कहा है, जैसे कि ''गीदड़भभकी'' इस मुहावरे में प्रसिद्ध है; तथा ''श्वानः'' पद द्वारा उन्हें मांसलोलुप कहा है। परराष्ट्र पर, लोभ के वश, आक्रमण करने को ''अघ'' कहा है। परिणाम रूप में शत्रु सेनाओं तथा शत्रुस्त्रियों का रोना-चिल्लाना वर्णित किया है]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्**॥

धनुर्बिभर्षि हरितं हिरण्ययं सहस्रघ्नि शतवधं शिखण्डिनम्।
रुद्रस्येषुश्चरति देवहेतिस्तस्यै नमो यतमस्यां दिशी३तः॥ १२॥

अर्थ—(शिखण्डिन्=नीलशिखण्डिन्) हे नीलेमेघरूपी केशसंनिवेश वाले विद्युद्-देव के सदृश परमेश्वर! (मन्त्र ७), (हरितम्) संहार करने वाले, (सहस्रघ्नि) हजारों का हनन करने वाले, (शतवधम्) सैकड़ों प्रकार की विधियों से वध करने वाले (हिरण्ययम्) परन्तु परिणाम में हितकर और रमणीय (धनुः) धनुष् को (बिभर्षि) तू धारण करता है। (रुद्रस्य) तुझ रुलाने वाले की, (देवहेतिः) दिव्यास्त्र रूपी (इषुः) इषु, (इतः) इस जगत् में, (यतमस्याम् दिशि) जिस दिशा में भी (चरति) किसी लक्ष्य पर चलती है (तस्यै) उसके निराकरणार्थ (नमः) तुझे नमस्कार है।

[शिखण्डिन्=नीलशिखण्डिन् (देखो मन्त्र ७ की व्याख्या) नीले अर्थात् काले मेघरूपी केशसंनिवेश वाला विद्युद्-देव। विद्युद्-देव का धनुष् वर्षाकाल में इन्द्रधनुष के रूप में प्रकट होता है, जोकि रमणीय प्रतीत होता है, और जो महासंहारी वज्ररूपी-इषु का प्रहार करता है। इस दृष्टि से परमेश्वर और विद्युद्-देव परस्पर सदृश हैं, और दोनों ही रुद्ररूप हैं, दोनों के धनुष् और इषु हैं। धनुष् तो लक्ष्य पर फैंका नहीं जाता, वह तो धानुष्क के हाथ में ही रहता है। चलाई जाती है इषु। अतः इसी इषु के वर्जनार्थ, निराकरणार्थ रुद्र को नमस्कार किया है, ताकि वह अनुकूल होकर हम पर इषु न चलाए। ''तस्यै'' में चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग **''क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः''** (अष्टा० २.३.१४) द्वारा उपपन्न हो सकता है। तस्यै नमः=तां निवारयितुं नमः कुर्मः। प्रत्येक व्यक्ति इषु के निवारण को ही चाहता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यो३भियातो निलयते त्वां रुद्र निचिकीर्षति।
पश्चादनुप्रयुङ्क्षे तं विद्धस्य पदनीरिव॥ १३॥

अर्थ—(यः अभियातः) जिसके प्रति रुद्र ने अभियान अर्थात् आक्रमण किया है, (निलयते) और यदि वह छिप जाता है, (रुद्र) हे रुलाने वाले परमेश्वर! जो इस प्रकार (त्वां निचिकीर्षति) तेरा अपमान करना चाहता है, (तम्) उसका (पश्चाद् अनुप्रयुङ्क्षे) तू पीछा करता है, (इव) जैसे (पदनीः) पद खोजी शिकारी, (विद्धस्य) बींधे गये शिकार का पीछा करता है।

[अभिप्राय यह कि रुद्र-परमेश्वर जिसे दण्डित करता है वह उसके दण्ड से बच नहीं सकता]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिपदा विराड् गायत्री**॥

भवारुद्रौ सयुजा संविदानावुभावुग्रौ चरतो वीर्याय।
ताभ्यां नमो यतमस्यां दिशी३तः॥ १४॥

अर्थ—(सयुजा=सयुजौ) साथ-साथ रहने वाले, (सं विदानौ) सम्यग्-ज्ञानी या ऐकमत्य को प्राप्त, (उभौ उग्रौ) दोनों उग्रबली (भवारुद्रौ) संसारोत्पादक तथा पापियों को रुलाने वाले परमेश्वर के दोनों स्वरूप, (वीर्याय) अपनी-अपनी शक्ति के प्रदर्शन के लिए (चरतः) विचरते हैं। (इतः) इस संसार में (यतमस्याम् दिशि) जिस भी दिशा में वे हों (ताभ्याम्) उन दोनों स्वरूपों के लिए (नमः) नमस्कार हो।

[इतः=सार्वविभक्तिकः तसिः। परमेश्वर के दोनों स्वरूपों के गुण-कर्म परस्पर में एक समान मन्त्र में दर्शाएँ हैं, अतः इन दोनों स्वरूपों में एकत्व दर्शाया है। परमेश्वर सर्वव्यापक है, परन्तु जिस किसी दिशा में परमेश्वर का उग्रकर्म, वर्षाधिक्य, सूखापन, अतिगर्मी, भूचाल आदि प्रतीयमान हों, उस दिशा में मुख कर, उसके प्रति नमस्कार करने चाहिएँ। परमेश्वर है संविदान अर्थात् सम्यग्-ज्ञानी। अतः उसका उग्रकर्म जिधर भी हो रहा हो, उसे निजकर्मों का फल ही समझना चाहिए। इस निमित्त परमेश्वर की अवहेलना न करते हुए उसे नमस्कार ही करने चाहिएँ]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

नमस्तेस्त्वायते नमो अस्तु परायते। नमस्ते रुद्र तिष्ठत आसीनायोत ते नमः॥ १५॥

अर्थ—(रुद्र) हे रुद्र! (आयते) समाधि अवस्था में आते हुए, दर्शन देते हुए (ते) तुझे (नमः अस्तु) नमस्कार हो, (परायते) समाधि से उत्थान काल में परे जाते हुए, अदृष्ट होते हुए (नमः अस्तु) नमस्कार हो। समाधि काल में (तिष्ठते) कुछ काल तक स्थिर रूप में दर्शन देते हुए (ते नमः) तेरे प्रति नमस्कार हो, (उत) तथा (आसीनाय) समाधि काल में चिरकाल तक मानो आसन लगा कर उपविष्ट हुए (ते) तेरे प्रति (नमः) नमस्कार हो।

[मन्त्र में परमेश्वर के आने, जाने, स्थिर होने, तथा उपविष्ट होने का वर्णन कविता मिश्रित है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

नमः सायं नमः प्रातर्नमो रात्र्या नमो दिवा। भवाय च शर्वाय चोभाभ्यामकरं नमः॥ १६॥

अर्थ—(सायम्) सायं काल की सन्ध्या में (नमः) नमस्कार हो, (प्रातः) प्रातःकाल की सन्ध्या में (नमः) नमस्कार हो, (रात्र्या) रात्रि के समय (नमः) नमस्कार हो, (दिवा) दिन के समय (नमः) नमस्कार हो। (भवाय च शर्वाय च) परमेश्वर के भव अर्थात् उत्पादक तथा शर्व अर्थात् संहारक (उभाभ्याम्) दोनों स्वरूपों के प्रति (नमः अकरम्) नमस्कार मैंने किया है।

[दोनों सन्ध्या कालों में, रात्रि में सोते समय, प्रातः जागरण के समय, परमेश्वर को नमस्कार करना चाहिए। संहारावस्था में, तथा उत्पादकतावस्था में, परमेश्वर को नमस्कार करना चाहिए]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिपदा विराड् गायत्री**॥

सहस्राक्षमतिपश्यं पुरस्ताद्रुद्रमस्यन्तं बहुधा विपश्चितम्।
मोपाराम जिह्वयेयमानम्॥ १७॥

अर्थ—(सहस्राक्षम्) हजारों आँखों वाले अर्थात् सर्वद्रष्टा, (अतिपश्यम्) बहुत दूर तक देखने वाले, (पुरस्तात्) पूर्व दिशा में (अस्यन्तम्) अन्धकार का निरसन करने वाले, (विपश्चितम्) मेधावी, (बहुधा ईयमानम्) प्रायः आते हुए (रुद्रम्) रुद्र के प्रति (जिह्वया) जिह्वा द्वारा [नमस्कार करने में] (मा उपाराम) हम उपरत न हों, विश्राम न पाएँ, अर्थात् जिह्वा द्वारा उसकी सदा स्तुतियाँ करें।

[बहुधा ईयमानम्=इन पदों द्वारा यह दर्शाया है कि समाधि का अभ्यास करने वाले को प्रायः रुद्र-परमेश्वर के दर्शन होते हैं, वह समाधि अवस्था में चित्त में आता है, प्रकट होता है। "प्रायः" पद द्वारा यह प्रकट किया है कि समाधि के ठीक प्रकार न लगने पर वह रुद्र-परमेश्वर दर्शन नहीं भी देता। सहस्राक्षम्, अतिपश्यम्=अति पश्यम् में दूर तक देखने में रुद्र को सहस्राक्ष अर्थात् हजारों आँखों वाला कहा है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिपदा विराड्गायत्री**॥

श्यावाश्वं कृष्णमसितं मृणन्तं भीमं रथं केशिनः पादयन्तम्।
पूर्वे प्रतीमो नमो अस्त्वस्मै॥ १८॥

अर्थ— (श्यावाश्वम्) सदागति वाले अश्वों अर्थात् रश्मियों या श्यामवर्णों अश्वों अर्थात् रश्मियों से युक्त, (कृष्णम्) काले या आकर्षक रूप वाले, या ग्रह आदि का आकर्षण करने वाले, (असितम्) बन्धन से रहित, (मृणन्तम्) हिंसा करने वाले, (भीमम्) भयप्रद, (केशिनः रथम्) किरणों वाले सूर्य के रथ को (पादयन्तम्) नीचे गिराने वाले रुद्र को (पूर्वे) प्रथम भावी हम उपासक, या पूर्व प्रदेश में [प्रातर्ध्यान में] (प्रतीमः) जान लेते हैं, साक्षात् करते हैं, (अस्मै) इसके प्रति (नमः अस्तु) हमारा नमस्कार हो।

[मन्त्र में "केशिनः रथम्" में विकल्प में षष्ठी विभक्ति है। क्योंकि केशी और रथ एक ही वस्तु हैं। केशी का अर्थ है रश्मियों वाला सूर्य; यथा "**केशी केशा रश्मयः तद्वान्**" (निरुक्त १२.३.२५)। रथ अर्थात् सूर्य पिण्ड और रश्मियों वाला सूर्य भिन्न-भिन्न नहीं हैं। "**शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः**" (योग १.८)। यथा पुरुषस्य चैतन्यम्। पुरुष अर्थात् जीवात्मा तक परमात्मा "चित्" हैं, चैतन्यमात्र हैं, तब भी "पुरुषस्य चैतन्यम्" यह प्रयोग होता है। इसमें भी विकल्प में षष्ठी है।

श्यावाश्वम्=श्याव पद "**श्यैङ् गतौ**" का रूप है। यौगिक दृष्टि में श्याव[1] का अर्थ है गतिवाला। सूर्य के अश्व अर्थात् रश्मियाँ सदागति में रहती हैं इन रश्मियों से युक्त सूर्य है। अथवा "श्याव" शब्द, "काले-नीले रक्त रंगों वाली" सौर-रश्मियों का बोधक हैं। सूर्य अभी उदय न हुआ हो, तथा उससे पूर्व काले अथवा नीले नभस पर जब सूर्य की रश्मियाँ उत्क्षिप्त होती हैं तब इस मिश्रितवर्ण को श्याव कहा है। यह समय उपासना का है।

कृष्णम्=सूर्य में काले धब्बे हैं, अतः सूर्य कृष्ण है। उदीयमान होते यह आकर्षकरूप वाला होता है, तथा ग्रह आदि का आकर्षण करता है, इसलिए भी यह कृष्ण है।

असितम्=अ+**षिञ् बन्धने**+क्त। सूर्य सदा विचरता है, दिन में भी और रात में भी। जो बद्ध हो वह स्वतन्त्रतापूर्वक सदा विचर नहीं सकता।

मृणन्तम्=अतिवर्षा, अतिगर्मी आदि के द्वारा यह संहार भी करता रहता है।

पादयन्तम्=केशी-सूर्य के रथ अर्थात् पिण्ड को रुद्र, सायंकाल में, पश्चिम में पटक देता है, अतः सूर्य दिखाई नहीं देता।

पूर्वे=प्रथमा के बहुवचन तथा सप्तमी के एकवचन में "पूर्वे" रूप प्रयुक्त होता है। जो उपासक पूर्व-

१. **श्यैङ् गतौ** (भ्वादि)।

पूर्व काल में परमेश्वर का ध्यान करते हैं वे प्रथम भावी होकर प्रथम दर्शन परमात्मा का करते हैं, यथा "**पूर्वः पूर्वः यजमानः वनीयान्**" (ऋ० ५.७७.२), अर्थात् पूर्व-पूर्व काल में ध्यान यज्ञ में भजन करने वाला अपेक्षया श्रेष्ठ है। सप्तम्येकवचन में "पूर्वे" का अर्थ है पूर्व प्रदेश में। अर्थात् पूर्व की ओर मुख कर ध्यान करने वाला उपासक परमेश्वर का साक्षात् करता है। साक्षात्कार होने पर परमेश्वर को नमस्कार करने का विधान मन्त्र में हुआ है। जो दीखता नहीं उसे नमस्कार कैसा? पूज्य व्यक्ति दृष्टिगोचर न हो तो उसे नमस्कार कैसा?

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिपदा विराड् गायत्री**॥

मा नोऽभि स्रा मत्यं देवहेतिं मा नः क्रुधः पशुपते नमस्ते।

अन्यत्रास्मद्दिव्यां शाखां वि धूनु॥ १९॥

अर्थ—(मत्यम्) अभिमत (देवहेतिम्) दिव्यास्त्र (नः) हमारे प्रति (मा) न (अभिस्राः) फैंक, (नः) हमारे प्रति (मा क्रुधः) क्रोध न कर, (पशुपते) हे पशुओं अर्थात् प्राणियों के स्वामी! (ते नमः) तुझे नमस्कार हो। (अस्मत्) हम प्राणियों से (अन्यत्र) अन्य स्थान में [अर्थात् अप्राणि-स्थानों में (दिव्याम्, शाखाम्) दिव्य शाखा अर्थात् विद्युत् को (वि धूनु) फैंक।

[**स्राः=सृज; सृजतेः "माङि लुङ्" मध्यमैकवचने** (सायण)। मत्यम् (अथर्व० ८.८.११) में भी "मत्यम्" पद पठित है। सम्भवतः इसका अर्थ हो "अभिमत अस्त्र। विद्युत् की चमक को दिव्या-शाखा कहा है। जब विद्युत् चमकती है तो काम्पती हुई शाखा सी प्रतीत होती है (मन्त्र २६)।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**भुरिक् गायत्री**॥

मा नो हिंसीरधि नो ब्रूहि परि णो वृङ्ग्धि मा क्रुधः। मा त्वया समरामहि॥ २०॥

अर्थ—(नः) हमारी (मा हिंसीः) हिंसा न कर, अपितु (नः) हमें (अधि ब्रूहि) स्वाधिकार पूर्वक सदुपदेश दे। (नः) हमें (परि वृङ्ग्धि) हिंसाकर्म से छोड़ दे, (मा क्रुधः) हम पर क्रोध न कर। (त्वया) तेरे साथ (मा समरामहि) हम समर भावना में न हों, अर्थात् तेरे नियमों तथा सदुपदेशों के विपरीत हम न चलें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

मा नो गोषु पुरुषेषु मा गृधो नो अजाविषु।

अन्यत्रोग्र वि वर्तय पियारूणां प्रजां जहि॥ २१॥

अर्थ—(नः) हमारी (गोषु) गौओं तथा (पुरुषेषु) पुरुषों के सम्बन्ध में (मा गृधः) अभिकाङ्क्षा न कर, (मा) न (नः) हमारी (अजाविषु) बकरियों और भेड़ों के सम्बन्ध में अभिकाङ्क्षा कर। (उग्र) हे तेजस्वी! (अन्यत्र) हम से अन्य स्थानों में (विवर्तय) विरोध का बर्ताव कर, अर्थात् (पियारूणाम्) हिंस्र व्यक्तियों की (प्रजाम् जहि) प्रजा का हनन कर।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**विषमपादलक्ष्मा त्रिपदा महाबृहती**॥

यस्य तक्मा कासिका हेतिरेकमश्वस्येव वृषणः क्रन्द एति।

अभिपूर्वं निर्णयते नमो अस्त्वस्मै॥ २२॥

अर्थ—(यस्य) जिस परमेश्वर का (तक्मा) ज्वर, तथा (कासिका) कुत्सित शब्द करने वाली

खांसी (हेतिः) अस्त्र है, जो खांसी (एकम्) किसी एक पुरुष को, (वृषणः) शक्तिशाली (अश्वस्य) अश्व के (क्रन्दः) ह्रेषा शब्द की (इव) तरह (एति) प्राप्त होती है, वह हेति (निर्णयते) मानो स्वयं निर्णय करती है कि (अभिपूर्वम्) किसे पहिले प्राप्त होना है (अस्मै) उस परमेश्वर को (नमः अस्तु) नमस्कार हो।

[ज्वर और कासिका=कासिका "कुक्कर-खांसी" प्रतीत होती है, जिसे कि "Fertussis, तथा whooping-cough" कहते हैं। यह ह्रेषा की तरह खांसते समय, ऊंचा शब्द करती है। यह पहिले किसी एक व्यक्ति को प्राप्त होती है, तदनन्तर सम्पर्क द्वारा अन्यत्र फैल जाती है। यह कमजोर व्यक्ति को मानो स्वयं चुनने का निर्णय करती है। ह्रेषा=अश्व के नथनों का शब्द, हिनहिनाना]।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिपदा विराड् गायत्री** ॥

योऽ३न्तरिक्षे तिष्ठति विष्टभितोऽयज्वनः प्रमृणन्देवपीयून्।
तस्मै नमो दशभिः शक्वरीभिः ॥ २३ ॥

अर्थ—(यः) जो परमेश्वर (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में (विष्टभितः) थमा हुआ, (अयज्वनः) यज्ञविहीन (देवपीयून्) और देवहिंसकों की (प्रमृणन्) हिंसा करता हुआ (तिष्ठति) स्थित है, (तस्मै) उसके प्रति (दशभिः शक्वरीभिः) १० अङ्गुलियों अर्थात् बद्धाञ्जलि द्वारा (नमः) नमस्कार हो।

[शक्वरीभिः=शक्वरी शब्द यद्यपि बाहु वाचक है, "**शक्वरी बाहुनाम**" (निघं० २.४), परन्तु यहाँ १० शक्वरियों द्वारा, १० अंगुलियाँ अभिप्रेत हैं, जो कि शक्वरी अर्थात् कर्म करने में सशक्त हैं। मन्त्र में यह आश्चर्य प्रकट किया गया है कि निराधार अन्तरिक्ष में रुद्र-परमेश्वर स्थिर रूप में स्थित किस प्रकार हो रहा है रुद्र विद्युत् इन्द्रदेवता भी है, जो कि अन्तरिक्ष में स्थित रहता है और वर्षा काल में प्रकट हो जाता है]।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

तुभ्यमारण्याः पशवो मृगा वने हिता हंसाः सुपर्णाः शकुना वयांसि।
तव यक्षं पशुपते अप्स्व१न्तस्तुभ्यं क्षरन्ति दिव्या आपो वृधे ॥ २४ ॥

अर्थ—(आरण्याः पशवः) जंगली पशु, तथा (वने) वनोपवन में (हिताः) स्थित (मृगाः) मृग, (हंसाः, सुपर्णाः) हंस और श्येन, (शकुनाः) शक्तिशाली चीलें गृध्र आदि, (वयांसि) तथा कौए (तुभ्यम्) तेरे प्रति अपने आप को समर्पित किये हुए हैं, तेरे आश्रय पर जीवित हैं। (पशुपते) हे सब प्राणियों के स्वामी! (तव यक्षम्) तेरा पूजनीय स्वरूप (अप्सु अन्तः) समुद्रों तथा अन्य जलों में भी विद्यमान है, तथा (वृधे) प्राणी आदि की वृद्धि के लिए (दिव्याः आपः) अन्तरिक्षीय-मेघीय-जल (तुभ्यम्) तेरी प्रसन्नता के लिए (क्षरन्ति) प्रवाहित होते हैं।

[अरण्यवासी पशु, तथा वनोपवनों में रहने वाले मृग, तथा आकाश विहारी पक्षिगण तेरे आश्रय पर जीवित हैं। तेरा स्वरूप सामुद्रिक जलों में भी प्रतीत हो रहा है, जिस तेरी सत्ता के कारण जलीय प्राणी जीवित हैं। दिव्य जल अर्थात् पर्वतों से प्रवाहित होने वाले और अन्तरिक्ष से बरसने वाले मधुर जल तेरी प्रसन्नता के निमित्त प्रवाहित हो रहे हैं, और प्राणियों की वृद्धि कर रहे हैं। जलप्रवाह परमेश्वर के निमित्त हो रहा है, देखो (अथर्व० १०.७.४)]।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदातिशक्वरी** ॥

शिंशुमारा अजगराः पुरीकया जषा मत्स्या रजसा येभ्यो अस्यसि। न ते दूरं न परिष्ठास्ति ते भव सद्यः सर्वान्परि पश्यसि भूमिं पूर्वस्माद्धंस्युत्तरस्मिन्त्समुद्रे॥ २५ ॥

अर्थ—(शिंशुमाराः) तारा मण्डल, (अजगराः) बड़े सांप, (पुरीकयाः) पुरीकय, (जषाः=झषाः) बड़ी मछलियाँ, (मत्स्याः) छोटी मछलियाँ, (येभ्यः) जिनके लिए, (रजसा) निज ज्योतिर्मय स्वरूप द्वारा, (अस्यसि) तू ज्योति फैंक रहा है, प्रदान कर रहा है। (भव) हे सृष्ट्युत्पादक! (ते) तेरे लिए, (न दूरम्) कोई दूर नहीं, (ते) तेरे लिए (न परिष्ठा अस्ति) कोई ऐसे वस्तु नहीं जिसे तू वर्जित करके स्थित है, अर्थात् जो तेरी व्याप्ति से वर्जित[१] है। (सर्वान्) सब वस्तुओं को (सद्यः) शीघ्र अर्थात् एक-उन्मेष में (परि पश्यसि) पूर्णतया तू देखता है, (भूमिम्) और समग्र भूमि को एक-उन्मेष में देखता है। (पूर्वस्मात्) पूर्व के समुद्र से (उत्तरस्मिन्) उत्तर के (समुद्रे) समुद्र में (सद्यः) शीघ्र अर्थात् तत्काल (हंसि) तू पहुँच जाता है।

[शिंशुमाराः=शिंशुमार आदि पार्थिव प्राणी प्रतीत नहीं होते, अपितु ये द्युलोकस्थ तारामण्डल हैं। जैसे कि मेष, वृष, कर्क, सिंह, वृश्चिक, मकर, मीन, ये राशियाँ पशुनाम वाली हैं, इसी प्रकार शिंशुमार आदि मन्त्र पठित नाम भी दिविष्ठ तारा मण्डल प्रतीत होते हैं। शिंशुमार[२] तारा मण्डल हैं। शिंशुमार यद्यपि एक मण्डल है। परन्तु इस मण्डल में नाना तारा हैं। ताराओं की बहुत्व संख्या के कारण मन्त्र में "शिंशुमाराः" बहुवचन हैं। शिंशुमारमण्डल=Ursa minar अर्थात् लघु सप्तर्षि या लघु ऋक्षः तथा ध्रुवमध्य कहते हैं। इसमें ७ चमकते तारे हैं। देखो पृ० १८९ Popular Hindu Astronomy (कालिनाथ मुकर जी) तथा नक्शा नं० १ के केन्द्रियवृत्त में]।

अजगराः[३]=महाकाय सर्प। ये द्युलोक में नाना हैं। ये स्वाकृतियों में भी नाना हैं, और निज ताराओं की भी दृष्टि से नाना हैं। यथा (१) तक्षक-तारामण्डल (Draco) जो कि शिंशुमार-मण्डल के समीप कुण्डली में स्थित है, और जो सप्तर्षिमण्डल के समीप है। (२) सर्पधारिमण्डल, यह तुला राशि के पूर्व में तथा आकाश गङ्गा के पश्चिम में है (Ophinchees) (३) ह्रद सर्पमण्डल जो कि २४० डिग्री से २२० डिग्री तक फैला हुआ है, और जिसकी पूंछ तुलाराशि को छूती है (The water make, या Hydra)। इसका मुख मिथुनराशि के समीप है, और पूँछ तुलाराशि के समीप तक गई है।

---

१. परिष्ठा=परि (**अपपरी वजने**)+ष्ठा (स्था) "परिवर्ज्य स्थितिः"। "न दूरं न परिष्ठा" अथवा तेरे सम्बन्ध में दूर और समीप का प्रश्न नहीं, क्योंकि तू सर्वव्यापक है। अथवा तेरे मार्ग में कोई बाधारूप में स्थित नहीं।

२. संलग्न चित्र नं० १ में "शिंशुमार" तारा मण्डल मध्यवर्ती केन्द्रित-वृत्त में है, इसे चित्र नं० १ में शिशुमार शब्द द्वारा दर्शाया है। डिगरी १९० से डिगरी २७० की रेखाएँ उत्तर की ओर जाती हुईं जहाँ केन्द्रिय-वृत्त को स्पर्श करती हैं वहाँ शिशुमार तारामण्डल की स्थिति है।

३. एक महाकाय सर्प "तक्षक" है, जो कि शिंशुमार तारामण्डल के दक्षिण में, कुण्डलि मारे लेटा पड़ा है, और २१० डिग्री और ३०० डिगरी तक की रेखाओं में फैला हुआ है।

दूसरा महाकाय सर्प है "ह्रदसर्प मण्डल" जो कि चित्र नं० २ में १४० डिगरी से २२० डिगरी के मध्य में तुलाराशि तक फैला हुआ है।

तीसरा महाकाय सर्प है "सर्पधारिमण्डल" जोकि चित्र नं० २ में २४० से २७५ डिगरी के लगभग तक फैला हुआ है।

पुरीकया:[१]=इस तारामण्डल का स्वरूप अनुसन्धेय है।

जषा:[२]=झषा:। ये बृहदाकार मछली है जिसे मीन राशि कहते हैं, इसमें रेवती-नक्षत्र है।

मत्स्या:[३]=(अ) दक्षिण मत्स्य Fishes Australin)। यह कुम्भ राशि के दक्षिण में और मकर-राशि की आग्नेयी दिशा में है; आग्नेयी=दक्षिण-पूर्व की अवान्तर दिशा। (इ) पतत्रि-मत्स्य (Fisces volans or Flying fish)। इन सबके चित्र "Popular Hindu Astronomy"[4] में दिये हैं। इनका चित्रपट संलग्न है।

रजसा="**ज्योती रज उच्यते**" (निरुक्त ४.३.१९)। अर्थात् रजस् का अर्थ है "ज्योति:"। मन्त्र में "रजसा" का अभिप्राय है कि हे भव! तू निज ज्योतिर्मय स्वरूप द्वारा, निज ज्योति को इन द्युलोकस्थ तारा-मण्डलों में फैंक रहा है, प्रक्षिप्त कर रहा है। यथा "**तस्य भासा सर्वमिदं विभाति**" (मुण्ड० उप० २.२.१०)। वैदिक सिद्धान्तानुसार इन सबकी ज्योतियों में परमेश्वरीय-ज्योति ही चमक रही है।

हंसि=**हन् हिंसागत्यो:**। हंसि में हन् धातु गत्यर्थक है।

पूर्वस्मात् उत्तरस्मिन् समुद्रे=पूर्व समुद्र का सम्बन्धी पश्चिम समुद्र है, न कि उत्तर दिशावर्ती समुद्र। इस वर्णन पर अनुसंधान अपेक्षित है]।

ऋषि:—**अथर्वा**॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ता:**॥ छन्द:—**त्रिपदा विराड्गायत्री**॥

मा नो॑ रुद्र त॒क्मना॒ मा वि॒षेण॒ मा न॒: सं स्रा॑ दि॒व्येना॒ग्निना॑।
अ॒न्यत्रा॒स्मद्वि॒द्युतं॑ पातयै॒ताम्॥ २६॥

अर्थ—(रुद्र) हे पापियों को रुलाने वाले! (न:) हम सुकर्मियों को, (तक्मना) जीवन को कष्टमय करने वाले ज्वर के साथ (मा संस्रा:) न संबद्ध कर, (मा विषेण[५]) न विष के साथ (मा) न (न:) हमें (दिव्येन अग्निना) दिव्य अग्नि के साथ सम्बद्ध कर। (अस्मत्) हम से (अन्यत्र) भिन्न स्थान में (एताम् विद्युतम्) इस विद्युत् को (पातय) गिरा।

[संस्रा:=संसृज (लुङ् लकार)। तक्मना=**तकि कृच्छ्रजीवने**। दिव्य अग्नि=विद्युत्]।

ऋषि:—**अथर्वा**॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ता:**॥ छन्द:—**त्रिपदा विराड् गायत्री**॥

भ॒वो दि॒वो भ॒व ई॑शे पृथि॒व्या भ॒व आ प॑प्र उ॒र्व॒१॒न्तरि॑क्षम्।
तस्मै॒ नमो॑ यत॒मस्यां॑ दि॒शी॒३॒त:॥ २७॥

---

१. पुरीकया:=पुलीकया: (सायण)। सम्भवत: पुलिरिकया=Snaks (आप्टे), लघुकायसर्पा:।

२. यह मीन-राशि है। मीन=मच्छली । तथा "तिमि" तारामण्डल। तिमि=मछली। लेटिन भाषा में इसे cetus, तथा अंग्रेजी में इसे Seamonster कहते हैं। ये दो बृहदाकार मछलियाँ हैं। मीन राशि तो प्रसिद्ध राशि है, जो कि कुम्भ राशि के पूर्व में और मेष राशि के समीप है। "तिमि" को चित्र नं० २ में शून्य डिगरी से ३५ डिगरी के भीतर दर्शाया है।

३. मत्स्या:, यह छोटी मछली है, यथा "Gisces Australin" (दक्षिण मीन मण्डल) चित्र नं० २ में डिगरी ३३० और डिगरी ३४० के मध्य में, कुम्भ राशि के नीचे है। Gisces vdans=flying fish. चित्र में नहीं है।

४. "कालीनाथ मुकरजी"।

५. विष=ज्वरादि का उत्पादक विष, अर्थात् Tox in।

अर्थ—(भवः) सृष्ट्युत्पादक परमेश्वर (दिवः) द्युलोक का (ईशे) अधीश्वर है, (भवः) सृष्ट्युत्पादक परमेश्वर (पृथिव्याः) पृथिवी का अधीश्वर है, (भवः) सृष्ट्युत्पादक परमेश्वर ने (उरु) विस्तृत (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को (आ पप्रे) निज व्याप्ति से आपूरित किया हुआ है। (यतमस्याम्) जिस किसी भी (दिशि) दिशा में वह है, (इतः) यहाँ से (तस्मै) उसे (नमः) नमस्कार हो।

[परमेश्वर तीनों लोकों में और सब दिशाओं में व्याप्त है। जिस किसी दिशा की ओर भी तुम मुख करके उसे नमस्कार कर सकते हो, वह तो निज व्याप्ति द्वारा सभी दिशाओं में विद्यमान है ही। आ पप्रे (लिङ् लकार)]।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

भव राजन्यजमानाय मृड पशूनां हि पशुपतिर्बभूथ।

यः श्रद्दधाति सन्ति देवा इति चतुष्पदे द्विपदेऽस्य मृड ॥ २८ ॥

अर्थ—(भव राजन्) हे सृष्ट्युत्पादक जगत् के राजा! (यजमानाय) यज्ञ कर्म करने वाले को (मृड) सुखी कर, (हि) यतः (पशूनाम्) प्राणियों का (पशुपतिः) अधिपति और रक्षक तू (बभूथ) हुआ है। (यः) जो (श्रद् दधाति) श्रद्धा रखता है (सन्ति देवाः इति) कि देव हैं (अस्य) इस श्रद्धालु के (चतुष्पदे) चौपायों को (द्विपदे) और दुपायों को (मृड) सुखी कर।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

मा नो महान्तमुत मा नो अर्भकं मा नो वहन्तमुत मा नो वक्ष्यतः।

मा नो हिंसीः पितरं मातरं च स्वां तन्वं रुद्र मा रीरिषो नः ॥ २९ ॥

अर्थ—(मा) न (नः) हमारे (महान्तम्) वृद्ध पुरुष की, (उत) और (मा नः अर्भकम्) न हमारे शिशु की, (मा नः वहन्तम्) न हमारे गृह-भार का वहन करने वाली की, (उत मा नः वक्ष्यतः) और न जो कि हमारे गृह-भार का वहन करेगा उसकी, (मा नः पितरम् मातरम् च) न हमारे पिता और माता की (हिंसीः) हिंसा कर, (रुद्र) हे पापियों को रुलाने वाले! (नः स्वाम् तन्वम्) हमें दी हुई अपनी ही तनू की (मा रीरिषः) न हिंसा कर।

[वहन्तम्, वक्ष्यतः=अथवा शकट का वहन करने वाले और जो भविष्य में शकट का वहन करेगा उस बैल की हिंसा न कर। स्वाम् तन्वम्=हे रुद्र! मुझे जो तनू तूने दी है वह तो तेरी ही तनू है, उस अपनी तन की हिंसा न कर]।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**चतुष्पदा उष्णिक्** ॥

रुद्रस्यैलबकारेभ्योऽसंसूक्तगिलेभ्यः। इदं महास्येभ्यः श्वभ्यो अकरं नमः ॥ ३० ॥

अर्थ—(ऐलबकारेभ्यः=ऐलवकारेभ्यः) विलासी-कर्मों के करने वालों के लिए, (असंसूक्तगिलेभ्यः) न सम्यक्-विधि से और न उत्तम वचनों का भाषण करने वालों के लिए, तथा (महास्येभ्यः श्वभ्यः) महा-खाऊ कुत्तों के लिए, (रुद्रस्य) पापियों को रुलाने वाले परमेश्वर का (नमः) वज्रपात हो, ऐसों के लिए (अकरम्, नमः) मैंने भी दूरतः नमस्कार किया है, यथा "**दूरतो दुर्जना वन्द्याः**"।

[ऐलवकारेभ्यः=**एला विलासे**+स्वार्थे अण्+मतुबर्थक "वः"+कारेभ्यः, अर्थात् जो विलासी कर्मों

के करने वाले हैं उनके लिए। असंसूक्त गिलेभ्यः=अ+सम् (सम्यक् विधि से)+सु (उत्तम) उक्त (वचन)+गिलेभ्यः (**गॄ शब्दे**), अर्थात् जो न सम्यक्-विधि से और न उत्तम वचनों का भाषण करते हैं, उनके लिए। महास्येभ्यः श्वभ्यः=श्वभ्यः द्वारा उन व्यक्तियों का निर्देश किया है, जोकि कुपथ द्वारा, या लूट-मार कर, दूसरों की सम्पत्ति का अपहरण कर, भोग करते हैं। इन्हें "महास्येभ्यः" द्वारा महामुखी या महाखाऊ कुत्ते कहा है। ये व्यक्ति पापी हैं, इसलिए ये रुद्र के शिकार हैं। परमेश्वर से प्रार्थना की है कि वह इन पर निज वज्र प्रहार करे, "**नमः वज्रनाम**" (निघं० २.२०); तथा प्रत्येक सामाजिक व्यक्ति भी इन्हें दूरतः नमस्कार करदे, इनका सामाजिक बायकाट करे, क्योंकि ऐसे व्यक्ति समाजद्रोही हैं। सम्यक्-विधि का अभिप्राय है कि सुवचनों का भाषण भी मीठे और प्रेम संसिक्त विधि से करना चाहिए, जैसे कि मनु ने कहा है कि "**न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्**", अर्थात् सत्यवचनों को भी अप्रियविधि से न कहे, उन्हें भी प्रिय वचनों में कहे]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**विपरीतपादलक्ष्मा षट्पदा त्रिष्टुप्**॥

नम॑स्ते घो॒षिणी॑भ्यो॒ नम॑स्ते के॒शिनी॑भ्यः। नमो॒ नम॑स्कृताभ्यो॒ नमः॑ संभु॒ञ्ज॒तीभ्यः॑।
नम॑स्ते देव॒ सेना॑भ्यः स्व॒स्ति नो॒ अभ॑यं च नः॥ ३१॥

अर्थ—हे रुद्र! (ते) तेरी (घोषिणीभ्यः[1]) नगारे तथा दुन्दुभि का घोष करने वाली सेनाओं को (नमः) हमारा नमस्कार हो, (ते) तेरी (केशिनीभ्यः) केशधारी अथवा अग्नि-विद्युत् सूर्य सम प्रतापी सेनाओं को (नमः) हमारा नमस्कार हो। (नमस्कृताभ्यः) पूर्वकाल से चलती आईं जो कि हमारे नमस्कारों को प्राप्त करती आई हैं, उन्हें (नमः) हमारा नमस्कार हो, (संभुञ्जतीभ्यः) एकत्रित होकर सहभोजन करने वाली अथवा स्वराष्ट्र का सम्यक् पालन और द्वेषी राष्ट्र का सम्यक् संहार करने वाली सेनाओं को (नमः) हमारा नमस्कार हो, (देव) हे देव! (ते) तेरी (सेनाभ्यः) उक्त सब प्रकार की सेनाओं को (नमः) हमारा नमस्कार हो, जिससे (नः) हमारी (स्वस्ति) सु-स्थिति तथा कल्याण (च) और (अभयम्) भय राहित्य हो।

[राष्ट्रिय-सेनाओं को रुद्ररूप-सेनापति के प्रबन्ध में रखना चाहिए और इन्हें समझना चाहिए कि ये रुद्र परमेश्वर की सेनाएँ हैं, और इनका प्रयोग रुद्र-परमेश्वर की इच्छा पूर्ति के लिए, अर्थात् पापियों के संहार और धर्मात्माओं के पालन के लिए करना है।

केशिनीभ्यः=सूक्त की ऐकवाक्यता के लिए इसका अर्थ अग्नि-विद्युत्-सूर्य सम प्रतापी सेनाएँ किया है। मन्त्र १८ में "केशिनः" का अर्थ सूर्य हुआ है। निरुक्त में भी "केशिना" के तीन अर्थ दिये हैं, आदित्य, पार्थिवाग्नि तथा विद्युत् (१२.३.२५, २६)। नमस्कार इन सेनाओं के प्रति हुआ है।

प्रथम अनुवाक समाप्त॥

---

१. अथवा विजय के घोषों को करने वाली सेनाओं के लिए।

अनुवाक २

सूक्त ३

विषय-प्रवेश

काण्ड ११। सूक्त ३ में ३ पर्याय अर्थात् विभाग हैं। तीनों पर्यायों में ५६ मन्त्र हैं। प्रथम पर्याय में १ से ३१ मन्त्र हैं। इन ३१ मन्त्रों में, (१) ओदन के स्वरूप का कथन हुआ है, और ओदन द्वारा ब्रह्म का निर्देश हुआ है (मन्त्र १९-२१)। (२) ब्रह्मरूपी ओदन तथा कृष्योदन अर्थात् कृषि द्वारा उत्पन्न ओदन में परस्पर प्रतिरूपता अर्थात् सादृश्य दर्शाया है (मन्त्र १-१८)। (३) ओदन की महिमा सम्बन्धी प्रश्न पूर्वक (मन्त्र २२-२५), ओदन के प्राशन के सम्बन्ध में ब्रह्मवादियों के कथन का वर्णन हुआ है (मन्त्र २६-३१)।

(क) मन्त्र १९-२१ में कहा है कि "ओदन द्वारा यज्ञप्रोक्त सब लोक सम्यक् प्राप्त हो सकते हैं। जिस ओदन में कि समुद्र[१], द्यौः भूमि। ये तीनों नीचे-ऊपर करके आश्रित हैं। तथा जिस उच्छिष्ट अर्थात् महाप्रलय में शेष बचे ओदन में ६×८० देव निज सामर्थ्यों वाले होते हैं।

यह वर्णन कृष्योदन के सम्बन्ध में उत्पन्न नहीं हो सकता है। अतः इस वर्णन में ब्रह्म का ही निर्देश किया गया है। अथर्व० ४.३५.१-७ में भी ओदन पद द्वारा ब्रह्म का वर्णन हुआ है। यथा "**यो लोकानां विधृतिर्नाभिरेषात् तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम्**" (मन्त्र १) अर्थात् जो लोकों का धारण करता है, विनष्ट नहीं होता, उस ओदन द्वारा मैं मृत्यु-नद से तैर जाऊँ। "**येनातरन् भूतकृतोति मृत्यं यमन्वविन्दम् तपसा श्रमेण**" (मन्त्र २), जिस ओदन द्वारा, सत्यानुष्ठानी, मृत्यु से तरे, जिसे कि तप और परिश्रम द्वारा उन्होनें प्राप्त किया। "**यस्मात् पक्वादमृतं सम्बभूव यो गायत्र्या अधिपतिर्बभूव। यस्मिन् वेदा निहिता विश्वरूपास्तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम्**" (मन्त्र ६) जिसके परिपक्व होने से अमृत अर्थात् मोक्ष मिलता है, जो गायत्री का अधिपति हुआ है, जिसमें विश्व का निरूपण करने वाले वेद निहित हैं, उस ओदन द्वारा मैं मृत्यु को तैर जाऊँ। तथा इस ओदन को ब्रह्मौदन भी कहा है, अर्थात् ब्रह्मरूपी ओदन। यथा "**ब्रह्मौदनं विश्वजितं पचामि**" (मन्त्र ७), मैं विश्वविजयी ओदन (ब्रह्म) का परिपाक करता हूँ, निज जीवन में उसकी स्थिति परिपक्व करता हूँ। इस प्रकार सूक्त ३३ वें के प्रथम पर्याय में वर्णित ओदन की ब्रह्मरूपता अथर्ववेदानुमोदित है।

(ख) ओदन (ब्रह्म) और ओदन (कृष्यन्न) में प्रतिरूपता अर्थात् सादृश्य—

१ बृहस्पतिः	शिरः	मन्त्र १
२ ब्रह्म	मुखम्	"
३ द्यावापृथिवी	श्रोत्रे	मन्त्र २
४ सूर्याचन्द्रमसौ	अक्षिणी	"
५ ऋषयः	प्राणापानाः	"
६ चक्षुः	मुसलम्	मन्त्र ३

१. समुद्र पद द्वारा अन्तरिक्ष अभिप्रेत है। **समुद्रः अन्तरिक्षनाम** (निघं० १.३); तथा "**स उत्तरस्मादधरं समुद्रम्**" (ऋ० १०.९८.५) में उत्तर-समुद्र अन्तरिक्ष है। देखो निरुक्त (२.३.१०, ११)।

७ कामः	उलूखलम्	''
८ दितिः	शूर्पम्	मन्त्र ४
९ अदितिः	शूर्पग्राही	''
१० वातः	अपाविनक्	''
११ अश्वाः	कणाः	मन्त्र ५
१२ गावः	तण्डुलाः	''
१३ मशकाः	तुषाः	''
१४ कब्रु	फलीकरणाः	मन्त्र ६
१५ अभ्रम्	शरः	''
१६ श्यामम् अयः (काला लोहा)	मांसानि	मन्त्र ७
१७ लोहितम् अयः(ताम्बा)	लोहितम्	''
१८ त्रपु (सीसा)	भक्ष्य	मन्त्र ८
१९ हरितम् (हिरण्य)	वर्णः (पीत)	''
२० पुष्करम्	गन्धः	''
२१ खलः (खलिहान, Terashing Floor)	पात्रम्	मन्त्र ९
२२ अंसौ	स्फयौ	''
२३ अनूक्ये	ईषे	''
ओदन (ब्रह्म)	**ओदन (कृष्यन्न)**	
२४ आन्त्राणि	जत्रवः	मन्त्र १०
२५ गुदाः	वरत्रा	''
२६ पृथिवी	कुम्भी	मन्त्र ११
२७ द्यौः	अपिधानम्	''
२८ पर्शवः	सीताः	मन्त्र १२
२९ सिकताः	ऊबध्यम्	''
३० ऋतम्	हस्तावनेजनम्	मन्त्र १३
३१ कुल्या	उपसेचनम्	''
३२ ऋचा कुम्भी अधिहिता		मन्त्र १४
३३ आर्त्विज्येन '' प्रेषिता		''
३४ ब्रह्मणा '' परिगृहीता		मन्त्र १५
३५ साम्ना '' पर्यूढा		''
३६ बृहत् (साम)	आयवनम्	मन्त्र १६

३७ रथन्तरम् (साम)	दर्विः	''
३८ ऋतवः	पक्तारः	मन्त्र १७
३९ आर्तवः	समिन्धते	''
४० चरुं पञ्चबिलमुखम धर्मः अभीन्धे		मन्त्र १८

(ग) उपरि लिखित प्रतिरूपों के अभिप्राय तथा अर्थ—

(१) बृहस्पतिः=बृहती वाक् तस्याः पतिः, वेदवाणीज्ञः। बृहती छन्दोभेदः (उणा० २.८५, महर्षि दयानन्द), तथा "**बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रम्**" (ऋ० १०.७१.१), में बृहस्पति का सम्बन्ध "वाचो अग्रम्" वाणियों में अग्रभूत वेदवाणी के साथ दर्शाया है।

शिरः=सिर भी वाणी का पति है। कण्ठ, तालु, ओष्ठ आदि स्थान जो कि वाक् के साधन हैं, सिर में ही हैं।

(२) ब्रह्म=वेद या ब्रह्मवेद=अथर्ववेद। यथा "**यस्य ब्रह्म मुखमाहुः**" (अथर्व० १०.७.१९)। ओदन (ब्रह्म) पक्ष में।

तथा ब्रह्म=ब्राह्मण। यथा "**ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्**" (यजुः० ३१.११)। ओदन (कृष्योदन) पक्ष में।

अभिप्राय यह कि मन्त्र २६ से ३१ में ओदन के प्राशन के सम्बन्ध में ब्रह्मवादियों द्वारा प्राशन कर्त्ताओं के सम्बन्ध में कथन हुआ है। ब्रह्म को ओदन कहा है, अतः ब्रह्म प्राश्य है, कृष्योदन भी ओदन है, अतः यह भी प्राश्य है। ब्रह्मरूपी ओदन अन्नरूप भी है। यथा "**अहमन्नम् अहमन्नादः**" (तैत्ति० उप० ३.१०.६)। इन दोनों प्रकार के ओदनों के प्राशन कर्त्ताओं को "बृहस्पतिः" तथा शिरः" कहा है। वेदों का पति वैदिक विद्वान् तो ओदन (ब्रह्म) का प्राशन करता है, ओदन (ब्रह्म) उसके लिए आध्यात्मिक-अन्न है, शारीरिक नहीं। उसका मुख है वेद या ब्रह्मवेद अर्थात् अथर्ववेद। अर्थात् यह वेदोक्त विधिरूपी मुख द्वारा ओदन (ब्रह्म) का प्राशन करता है। परन्तु ब्राह्मण-पुरुष ओदन (कृष्यन्न) का प्राशन करता है शिरः द्वारा, शिरःस्थ मुख द्वारा। यह ब्राह्मण-पुरुष के लिए शारीरिक भोजन है आध्यात्मिक नहीं।

इसी प्रकार अन्य प्रतिरूपों के अभिप्रायों के सम्बन्ध में भी यथा तथा ऊहा कर लेनी चाहिए। शेष प्रतिरूपों के यथासम्भव अभिप्राय मन्त्रार्थों में प्रकट किये जाएँगे।

(घ) सप्त ऋषयः=द्युलोकस्थ सप्तर्षि मण्डल (ursa major)।

दितिः=**दो अवखण्डने** या **दीङ् क्षये,** क्षीण होने वाला कार्यजगत्।

अदितिः=न क्षीण होने वाली प्रकृति।

अपाविनक्=कुटे व्रीहि से तण्डुओं को पृथक् करने वाला। **अप+विचिर् पृथग्भावे।**

फलीकरणाः=खलिहान में, खेत कटे व्रीहि पौधों के अवहनन से प्रकट हुए, व्रीहि सम्बन्धी तुष, तिनके डण्डियाँ आदि।

शरः=तण्डुओं को उबालते समय उठी हुई सफेद झाग।

मांसानि=सट्ठी या साठी ("षष्टिका" चावल) तण्डुओं के पकने पर उनका पिण्ड गुच्छा बन जाना, अलग-अलग दानों का न होना।

लोहितम्=सट्ठी या साठी[1] के चावलों पर का लाल अंश।

पात्रम्=शकट, जिसमें कि खेत कटे व्रीहि पौधे डाल कर खलिहान में लाए जाते हैं।

स्फ्यौ=ये दो यज्ञिय उपकरण नहीं। अपितु शकट के अग्रभाग के दो प्रवृद्ध कोने हैं। **स्फायी वृद्धौ** (सायण)। इन दो कोनों को अंसौ कहा है (Shoulders)।

अनूक्ये=दो कन्धों को परस्पर में जोड़ने वाली दो हड्डियाँ (हंसलियाँ, Clavicles)।

ईषे=शकट के अग्रभाग में दोनों ओर आगे की ओर लगे दो दण्डे जिनके दो किनारों पर जुआ-दण्ड (Yoke) लगा रहता है, जिसे कि बैल की गर्दन पर रखा जाता है।

पर्शव:=पसलियाँ।

सीता:=हल जोतने पर खेत में पड़ीं हल की पद्धतियाँ, मार्ग।

ऊबध्यम्=आधा पका, बल के उदरस्थ शकृत्।

ऋतम्=**ऋतम् उदकनाम** (निघं० १.१२)।

कुल्या=**अल्पा सरित्** (सायण), या सेंचने के लिए खेत की जलनालियाँ।

आयवनम्=उदक में डाले तण्डुओं के मिश्रण का साधन भूत उपकरण।

दर्वि:=पके ओदनों को कुम्भी से निकालने की कड़छी।

पञ्चबिलम्, उखम् (उखाम्)=भूतपञ्चकरूपी पांच बिलों पृथिवी[2] को,

घर्म: अभीन्धे=गर्म आदित्य तपाता है।

पञ्च बिलम् उखम् (उखाम्)=पाँच बिलों वाली कुम्भी, अर्थात् बटलोई को,

अग्नि: अभीन्धे=पार्थिव-अग्नि तपाती है।

विशेष—

"बृहस्पति"—शीर्षक के नीचे दिये पदार्थों द्वारा तो ओदन (ब्रह्म) के स्वरूप का ज्ञान होता है।

और "शिर:"—शीर्षक के नीचे दिये पदार्थों द्वारा ओदन (कृष्यन्न) के स्वरूप का ज्ञान होता है।

मन्त्रों की व्याख्या में "विषय-परिचय" पदार्थों का स्पष्टीकरण किया जाएगा।

सूक्त ३, पर्याय (१)

ऋषि:—**अथर्वा**॥ देवता—**बार्हस्पत्यौदन:**॥ छन्द:—**आसुरी गायत्री**॥

तस्यौदनस्य बृहस्पति: शिरो ब्रह्म मुखम्॥ १॥

अर्थ—(तस्य ओदनस्य) उस ओदन के सम्बन्ध में, (बृहस्पति:) बृहस्पति (शिर:) सिर स्थानी है, और (ब्रह्म) ब्रह्म (मुखम्) मुख स्थानी है।

[काण्ड ११। सूक्त ३ में ओदन (ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर) तथा ओदन (पाकसाध्य ओदन) का

---

१. सट्ठी या साठी के तण्डुल=षष्टिका: तण्डुल। यथा "**षष्टिका: षष्टिरात्रेण पच्यन्ते**" (अष्टा० ५.१.८९)। षष्टिका तण्डुल, खेत में, ६० रातों में परिपक्व होते हैं। षष्टिका का अपभ्रंश है। सट्ठी और साठी।

२. पृथिवीरूपी बटलोई के, खेती के तण्डुलों को, आदित्य पकाता है, और खाद्य तण्डुल की बटलोई को, पार्थिव-अग्नि पकाती है।

संमिश्रित वर्णन हुआ है। परन्तु ओदन-परमेश्वर का वर्णन मुख्य अभीष्ट है, और पाकसाध्य-ओदन का गौण। (अथर्ववेद ४.३५.१-७) में ओदनरूप-परमेश्वर का विस्तृत वर्णन हुआ है। एतत्सम्बन्धी मन्त्रों तथा मन्त्रांशों के उद्धरण "विषय-प्रवेश" में दे दिये हैं। उनका अनुवाद निम्नलिखित हैं—

(१) जो लोकों का धारण करता है, विनष्ट नहीं होता, उस ओदन द्वारा मैं मृत्यु-नद से तैर जाऊँ, पार हो जाऊँ (मन्त्र १)।

(२) जिस ओदन द्वारा, सत्यानुष्ठानी, मृत्यु से तरे हैं, और जिसे कि तप और परिश्रम द्वारा उन्होंने प्राप्त किया (मन्त्र २)

(३) जिसके परिपक्व होने से अमृत अर्थात् मोक्ष मिलता है, जो गायत्री का अधिपति है, जिसमें विश्व का निरूपण करने वाले वेद निहित हैं, उस ओदन द्वारा मैं मृत्यु को तैर जाऊँ (मन्त्र ६)। तथा इस ओदन को "ब्रह्मौदन" भी कहा है। ब्रह्मौदन=ब्रह्मरूपी ओदन। यथा "**ब्रह्मौदनं विश्वजितं पचामि**" (मन्त्र ७) मैं विश्वविजयी ब्रह्मरूपी ओदन का परिपाक करता हूँ, निज जीवन में उसकी स्थिति परिपक्व करता हूँ।

इस निमित्त काण्ड ११। सूक्त ३। पर्याय १ के मन्त्र (१९-२१) भी विशेषतया द्रष्टव्य हैं।

"बृहस्पतिः"=बृहती वेदवाक् तस्याः पतिः=वेदज्ञ विद्वान्। वह ब्रह्म अर्थात् ब्रह्मवेद (अथर्ववेद) रूपी मुख द्वारा, जैसा कि ब्रह्मवेद में प्रतिपादित विधि है तदनुसार, ओदन-ब्रह्म का, परमेश्वर का आत्मिक प्राशन करता है (देखो मन्त्र २६-३१)। इस प्राशन की दृष्टि से परमेश्वर को "अन्न" भी कहा है। यथा "**अहमन्नम्**" (तैत्ति० उप० भृगुवल्ली, अनुवाक १०)। परमेश्वर को 'ओदन' कहने का अभिप्राय भी यही है कि अध्यात्म-व्यक्ति इसका आत्मिक प्राशन करते हैं।

"शिरः" भी बृहस्पति है, बृहती लौकिकी वाक् तस्याः पतिः। पशुओं और मनुष्यों में एक भारी भेद है "लौकिकी वाक्" का। इस लौकिकी-वाक् का स्थान है "शिरः"। शिरःस्थ कण्ठ, तालु, ओष्ठ, मूर्धा आदि स्थान लौकिकी-वाक् के स्थान हैं। "शिरः" की दृष्टि से पाकसाध्य ओदन का प्राशन करने वाला ब्राह्मणरूपी-मुख है। "**ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्**" (यजुः० ३१.११)। ब्राह्मण[१] निज मुख द्वारा, ओदन का शारीरिक भोजन या प्राशन करता है, इस प्रकार ओदन-परमेश्वर का प्राशन तो ब्रह्मज्ञ व्यक्ति आध्यात्मिक दृष्टि से करता है, और ब्रह्मज्ञ व्यक्ति ही पाकसाध्य ओदन का शारीरिक प्राशन भी करता है। ब्रह्मज्ञ व्यक्ति के लिए दोनों प्राशन आवश्यक हैं, आध्यात्मिक और शारीरिक।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**बार्हस्पत्यौदनः**॥ छन्दः—**त्रिपदा समविषमा गायत्री**॥

द्यावा॑पृथि॒वी श्रोत्रे॑ सूर्या॑चन्द्र॒मसा॒वक्षि॑णी सप्तऋ॒षय॑ः प्राणापा॒नाः॥ २॥

अर्थ—उस ओदन के (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवीलोक (श्रोत्रे) दो श्रोत्रस्थानी हैं, (सूर्याचन्द्रमसौ) सूर्य और चन्द्रमा (अक्षिणी) दो आँखों स्थानी हैं, (सप्त ऋषयः) द्युलोकस्थ सप्तऋषि [ursa major] अथवा शरीरस्थ सात ऋषि (प्राणापानाः) प्राण और अपान स्थानी हैं।

[द्यावापृथिवी को क्रन्दसी भी कहते हैं, यथा "**यं क्रन्दसीऽअवसा तस्तभाने**" (यजुः० ३२.७)।

---

१. यद्यपि ब्राह्मणेतर भी ओदन का प्राशन करते हैं। परन्तु वैदिक समाज व्यवस्था में चूंकि ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मज्ञ और वेदज्ञ का प्राधान्य हैं, इसलिए वाक् तथा ओदन-प्राशन के सम्बन्ध में प्राधान्यदृष्टि से ब्राह्मण का कथन किया है।

इसकी व्याख्या में, **क्रन्दसी=द्यावापृथिव्यौ** (महीधर)। क्रन्दसी इसलिए कि द्युलोक और पृथिवीलोक आक्रन्दन आदि शब्दों के आश्रय हैं। दो श्रोत्र भी आक्रन्दन आदि के आश्रय हैं।

सूर्याचन्द्रसौ=सूर्य और चन्द्रमा के कारण प्राणियों की आँखें देखती हैं। अतः ये दो आँखें हैं। यथा "**यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः**" (अथर्व० १०.७.३३), अर्थात् सूर्य और चन्द्रमा को परमेश्वर ने चक्षु के रूप में रचा है।

सप्त ऋषयः=शरीरस्थ[1] सात ऋषि हैं, ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, १ मन और विद्या (निरुक्त १२.४.३५)। जब तक ये सात ऋषि शरीर में विद्यमान रहते हैं, तब तक प्राण-अपान क्रियाएँ होती हैं। द्युलोकस्थ सप्तर्षि मण्डल का प्राणापान के साथ सम्बन्ध विचारणीय है]।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**बार्हस्पत्यौदनः** ॥ छन्दः—**आसुरी पङ्क्तिः** ॥

चक्षुर्मुसलं काम उलूखलम् ॥ ३ ॥

अर्थ—(चक्षुः) आँख अर्थात् परमेश्वर की ईक्षण-शक्ति (मुसलम्) मुसलस्थानी है, (कामः) और कामना (उलूखलम्) ओखली स्थानी है।

[सृष्टिरचना में परमेश्वर में प्रथम, ईक्षण होता है। यथा "तद् ऐक्षत"[2] (छान्दो० उप० ६.२.३), तत्पश्चात् सृष्टि रचने की कामना होती है। यथा "**सोऽकामयत**" (बृ० उप० १.४-७)। कृष्योदन के लिए व्रीहि अर्थात् धान के अवहनन में प्रथम मुसल को उठाते और उसका प्रहार ओखली में करते हैं, तत्पश्चात् ओखली में तण्डुल तैयार होता है। अतः परमेश्वर ईक्षण और कामना, मुसल और उलूखन स्थानी हैं]।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**बार्हस्पत्यौदनः** ॥ छन्दः—**साम्न्यनुष्टुप्** ॥

दितिः शूर्पमदितिः शूर्पग्राही वातोपाविनक् ॥ ४ ॥

अर्थ—(दितिः) अवखण्डित और क्षीण होने वाला कार्यजगत् (शूर्पम्) छाजस्थानी है, (अदितिः) न अवखण्डित और न क्षीण होने वाली प्रकृति (शूर्पग्राही) छाज को पकड़ने वाले व्यक्ति का स्थानी है, (वातः) वायु (अपाविनक्) तुषों से तण्डुलों के विवेचयिता अर्थात् पृथक् करने वाले व्यक्ति का स्थानी है।

[दिति=**दो अखण्डने, या दीङ् क्षये** (कार्यजगत्), जो कार्य जगत् में लीन रहते हैं वे दिति के पुत्र दैत्य हैं। अदिति=न अवखण्डित या क्षीण होने वाली प्रकृति। जो कारणरूपा प्रकृति में योगाभ्यास द्वारा लीन होते हैं, उन्हें प्रकृतिलय कहते हैं। यथा "**भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्**" (योग १.१९)। ये कार्यजगत् से विरक्त होते हैं, अतः दैत्य नहीं होते।

दिति, अदिति और वायु—परमेश्वर सम्बन्धी तत्त्व हैं, और शूर्प, शूर्पग्राही तथा अपाविनक् कृष्योदन सम्बन्धी हैं। अपावनिक्=अप+अट्+**विचिर् पृथग्भावे**। लिङ् श्नम् "ति" इत्यस्य इकारलोपे, "**हल्ङ्याब्भ्यः**" इति तकारलोपे, "**चोः कुः**" इति कुत्वम्]।

---

१. "**सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे**" (यजुः० ३४.५५)।
२. तथा "**स ईक्षांचक्रे**" (बृहदा० उप० अ० १। ब्रा० ४। ख० २.४)।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**बार्हस्पत्यौदनः** ॥ छन्दः—**साम्न्युष्णिक्** ॥

अश्वाः कणा गावस्तण्डुला मशकास्तुषाः ॥ ५ ॥

अर्थ—(अश्वाः कणाः) अश्व कण स्थानी हैं, (गावः तण्डुलाः) गौएँ तण्डुल स्थानी हैं, (मशकाः तुषाः) मच्छर तुष स्थानी हैं।

[टूटे तण्डुल जो कि कणरूप होते हैं उन्हें अश्व कहा है। वायु के कारण कण ऐसे उड़ते है जैसे कि अश्व वेग से भागते हैं। अनटूटे तण्डुलों को गावः कहा है। तण्डुल सात्विक भोजन है, गौएँ अर्थात् गोदुग्ध भी सात्विक है। गावः=गोदुग्ध। यथा "**गोभिः श्रृणीत मत्सरम्**" (ऋ० ९.४६.४) की व्याख्या में कहा है कि "**इति पयसः**" (निरुक्त २.२.५)। तुष हैं व्रीहि के छिलके। तुष हाथ में चुबते हैं, मच्छर भी काटते हैं। अतः तुष मच्छर हैं। कण, तण्डुल, तुष—ये व्रीहि के अवयव हैं, अश्व, गौ, मच्छर इनका सम्बन्ध परमेश्वरौदन के साथ है। अतः इनमें प्रतिरूपता है]।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**बार्हस्पत्यौदनः** ॥ छन्दः—**आसुरी पङ्क्तिः** ॥

कब्रु फलीकरणाः शरोऽभ्रम् ॥ ६ ॥

अर्थ—(कब्रु) हैं (फलीकरणाः) तण्डुल सम्बन्धी तिनके आदि के स्थानी, (अभ्रम्) मेघ है (शरः) उबलते तण्डुलों की झाग के स्थानी।

[कब्रु के स्थानमें सायण ने "कभ्रु" पाठ मान कर, "**कं शिर एव भ्रुवौ यस्य प्राणिजातस्य तत् कभ्रु**", इस विग्रह द्वारा, आँखों के ऊपर के भौएँ अर्थ किया है (Eye brows)। "कब्रु" पद का रूपातर "कंबर" तथा "कंबु" शब्द प्रतीत होते हैं, जिनके अर्थ हैं—"Variegted color; तथा spotted (आप्टे), अर्थात् विविधरंगी, तथा बिन्दुओं वाला, धब्बों वाला पदार्थ, सम्भवतः प्रकृतिरूप पदार्थ। "**अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्**" (श्वेता० उप० ४.५) द्वारा प्रकृति-पदार्थ को विविधरंगी दर्शाया है। अवहत व्रीहि भी, समूहरूप में, विविधरंगी होते हैं, तण्डुल तुष, जिनके—इनका मिश्रित रूप विविधरंगी ही होता है, इसे फलीकरणावस्था कह सकते हैं। "शरः" का अर्थ मलाई भी होता है जोकि उबलते तण्डुलों की झाग की तरह सुफैद होती है। इस सादृश्य से झाग को "शर" कहा हो। कब्रु, अभ्र का सम्बन्ध परमेश्वरौदन के साथ है, और फलीकरणों और झाग (शर) का कृष्योदन के साथ। इस प्रकार परस्पर प्रतिरूपता है। "अदिति" भी प्रकृति है, अवखण्डन-रहित होने से, और कब्रु भी प्रकृति है विविधरंगी होने से। गुणभेद के कारण प्रकृति का वर्णन भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा हुआ है। "कब्रु" के अर्थ पर अनुसन्धान अपेक्षित है]।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**बार्हस्पत्यौदनः** ॥ छन्दः—**प्राजापत्यानुष्टुप्** ॥

श्यामम॒यो॑ऽस्य मांसानि॒ लोहि॑तमस्य लोहि॑तम् ॥ ७ ॥

अर्थ—(श्यामम्, अयः) काला लोहा, (अस्य) इस [ओदन-ब्रह्म] का, (मांसानि) कृष्योदन सम्बन्धी मांस स्थानी है, (लोहितम्) लाल लोहा अर्थात् ताम्बा, (अस्य) इस [ओदन-ब्रह्म] का (लोहितम्) साठी नामक लाल ओदन सम्बन्धी लालिमा स्थानी है।

[साठी के धान का कौन सा भाग मांसस्थानी है, और उसकी प्रतिरूपता, काले-लोहे के साथ किस प्रकार सम्भव है—यह विचारणीय है। मांस शब्द, केवल प्राणिमांस के लिए ही प्रयुक्त नहीं होता। इसका प्रयोग फलों के गुच्छे आदि के लिए भी होता है। यथा "**यथा वृक्षो वनस्पतिस्तथैव पुरुषोऽमृषा। तस्य**

लोमानि पर्णानि त्वगस्योत्पाटिका बहिः ॥ त्वच एवास्य रुधिरं प्रस्यन्दि त्वच उत्पटः । तस्मात्तदातृणात्प्रैति रसो वृक्षादिवाहतात् ॥ मांसान्यस्य शर्कराणि किनाटं स्नावतत्स्थिरम् । अस्थीन्यन्तरतो दारूणि मज्जा मज्जोपमा कृता ॥'' (बृहदा० उप० ३.९.२८) में, पुरुष के सदृश, वृक्ष में भी, मांस, त्वचा, रुधिर, अस्थि आदि सत्ता प्रतिपादित की है। तथा मांसम्=The fleshy part of a fruit (आप्टे)]।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**बार्हस्पत्यौदनः** ॥ छन्दः—**साम्न्यनुष्टुप्** ॥

त्रपु भस्म हरितं वर्णः पुष्करमस्य गन्धः ॥ ८ ॥

अर्थ—(त्रपु) सीसा (भस्म) भस्मस्थानी हैं, (हरितम्) हेम अर्थात् सुवर्ण (वर्णः) पीत वर्ण स्थानी है, (पुष्करम्) कमल (अस्य) इसका (गन्धः) गन्ध स्थानी।

[त्रपु काला सा होता है, ओदन पाकानन्तर बची भस्म भी काली सी होती है। केसर का पुट ओदन का निखरा पीत वर्णन सुवर्ण के पीतवर्ण के सदृश होता है। तथा इसे इस प्रकार पकाना चाहिए कि कमल के गन्ध के सदृश ओदन का गन्ध हो जाए। हरितम्=हेम (सायण)। हरित्=yellow (आप्टे)।

त्रपु, हरित और पुष्कर का सम्बन्ध ओदन-ब्रह्म के साथ है और वर्ण तथा गन्ध का सम्बन्ध कृष्योदन के साथ है। यह परस्पर प्रतिरूपता ओदन-ब्रह्म तथा ओदन कृषि में दर्शाई है]।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**बार्हस्पत्यौदनः** ॥ छन्दः—**आसुर्यनुष्टुप्** ॥

खलः पात्रं स्फ्यावंसावीषे अनूक्ये ॥ ९ ॥

अर्थ—(खलः) खलिहान (पात्रम्) पात्र स्थानी है, (अंसौ) दो कन्धे (स्फ्यौ) शकट के प्रवृद्ध अगले भाग के किनारे स्थानी हैं, (अनूक्ये) कन्धों के साथ सम्बद्ध दो बाहुएँ (ईषे) शकट के अगले भाग में लगे दो दण्ड स्थानी हैं।

[खलः=व्रीहि के कटे-पौधों के पीड़न का स्थान। पात्रम्=शकट का वह भाग जिसमें कटे-व्रीहि-पौधों को डालकर खलिहान तक लाया जाता है। इसे शकट का धड़ या उपस्थ भी कह सकते हैं, उपस्थ अर्थात् जहाँ बैठा जाता है। जैसे कि रथोपस्थ "**रथोपस्थ उपाविशत्**" (गीता)। तथा उपस्थः The middle part in general (आप्टे)। स्फ्यौ=**स्फायी वृद्धौ, धान्याधारस्य शकटस्यावयवौ** (सायण)। **अनु उच्यते समवेयते संधीयत इति अनूक्या** (सायण), **उच समवाये**। ईषे=शकट के दो पार्श्वों से आगे बढ़े हुए दो दण्डे, जिनके मध्य में जोतने के लिए बैल खड़ा किया जाता है। "अनूक्या" के अर्थ भाष्यकारों ने अथर्ववेद में भिन्न-भिन्न किये हैं। परन्तु मन्त्र ९ में अनूक्ये का अर्थ दो बाहुएँ अधिक उपपन्न होता है। "स्फ्य" यद्यपि याज्ञिक उपकरण होता है जो कि खड्गाकृति का होता है, परन्तु ओदन प्रकरण में स्फ्य का याज्ञिक अर्थ उपपन्न नहीं प्रतीत होता। खल, अंसौ, अनूक्ये—ये परमेश्वरीय पदार्थ हैं। स्फ्यौ, पात्रम्, ईषे—ये मनुष्यरचित हैं। इनमें भी प्रतिरूपता दर्शाई है। कन्धों से ऊर्ध्वीकृति दो बाहुएँ, शकट के दो ईषारूप दण्ड हैं, और दो बाहुओं में स्थित सिर, दो ईषाओं के मध्य स्थित बैलरूप है। इस प्रकार अनूक्ये का अर्थ, ईषा के अर्थों के साथ समन्वित प्रतीत होता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**बार्हस्पत्यौदनः** ॥ छन्दः—**आसुरी पङ्क्तिः** ॥

आन्त्राणि जत्रवो गुदा वरत्राः ॥ १० ॥

अर्थ—(आन्त्राणि) शरीर की, आन्तें (जत्रवः) बैल की ग्रीवा की रस्सियों के स्थानी हैं, जिन द्वारा

कि बैल को शकट के साथ जुआ के साथ जोता जाता है, (गुदाः) गुदा की नाड़ियाँ (वरत्राः) चर्म की पेटीरूप रज्जु स्थानी हैं।

[आन्तों और गुदा की नाडियों का सम्बन्ध ओदन-ब्रह्म के साथ है, ये परमेश्वर की रचनाएँ हैं। और जत्रुओं तथा वरत्रा का सम्बन्ध ओदन (कृषि) के साथ है, ये मानुष रचनाएँ हैं। इन दोनों प्रकार के घटकों में प्रतिरूपता दर्शाई है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**बार्हस्पत्यौदनः**॥ छन्दः—**भुरिगार्च्यनुष्टुप्**॥

इयमेव पृथिवी कुम्भी भवति राध्यमानस्यौदनस्य द्यौरपिधानम्॥ ११॥

अर्थ—(इयम्, एव, पृथिवी) यह ही पृथिवी (राध्यमानस्य, ओदनस्य) रान्धे जाते हुए ओदन की (कुम्भी) देगचीस्थानी (भवति) होती है और (द्यौः) द्युलोक (अपिधानम्) ढकना स्थानी होता है।

[रीन्धे अर्थात् पकाए जाते हुए कृष्योदन की एक तो होती है कुम्भी अर्थात् देगची और दूसरा होता है उस पर ढकना। इसी प्रकार रीन्धे जाते हुए अर्थात् आराध्यमान ओदन ब्रह्म की कुम्भी है पृथिवी, और ढकना है द्युलोक। इन दोनों के मध्य में व्याप्त ओदन ब्रह्म पकाया जाता है, अर्थात् पृथिवी और द्युलोक की रचनाओं को दृष्टिगोचर करके, रचयिता का भान या ध्यान किया जाता है, यह है इसकी आराधना। तथा पृथिवी है पार्थिव शरीर, और द्यौः है सिर। इन दोनों के मध्य में स्थित सुषुम्णा नाडी के चक्रों में ओदन ब्रह्म का परिपाक करना होता है; उसकी, ध्यान द्वारा, आराधना करनी होती है। मन्त्र में पृथिवी और द्यौः को, कुम्भी और ढकना स्थानी कहा है। यह परस्पर प्रतिरूपता है, सादृश्य है। पृथिवी यथा "**पृथिव्याः शरीरम्**" (अथर्व० ५.१०.८); तथा "**पृथिवी शरीरम्**" (अथर्व० ५.९.७)। द्यौः=सिर। यथा "**शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत**" (यजुः० ३१.१३) "**दिवं यश्चक्रे मूर्धानम्**" (अथर्व० १०.७.३२)]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**बार्हस्पत्यौदनः**॥ छन्दः—**याजुषी जगती**॥

सीताः पर्शवः सिकता ऊबध्यम्॥ १२॥

अर्थ—(पर्शवः) छाती की पसलियाँ (सीताः) हल चलाने की रेखाओं अर्थात् हल-पद्धतियों के स्थानी हैं, (सिकताः) रेता (ऊबध्यम्) उदरस्थ अर्धपक्व अन्न हैं। सीताः=furrows।

[खेत में हल चलाने पर जो गहरी खाईयाँ पड़ जाती हैं, और खाईयों के दो ओर उन्नत ढेर हो जाते हैं, वे पसलियों की आकृति के सदृश हैं। पसलियों के मध्य खाली स्थान खाईयाँ सी होती हैं, उनके दोनों ओर पसलियाँ उभरी हुई होती है। पर्शवः और सिकताः परमेश्वरीय रचनाएँ हैं। और सीताः तथा ऊबध्य प्राणियों की रचनाएँ हैं। इन दोनों रचनाओं में प्रतिरूपता है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**बार्हस्पत्यौदनः**॥ छन्दः—**साम्न्युष्णिक्**॥

ऋतं हस्तावनेजनं कुल्योपसेचनम्॥ १३॥

अर्थ—(ऋतम्) पृथिवीस्थ जल (हस्तावनेजनम्) हाथ धोने के जल स्थानी है, (कुल्या) अल्पा सरित् अर्थात् छोटी नदियाँ (उपसेचनम्) खेत में सींचने की नालियों के स्थानी हैं।

[**ऋतम् उदकनाम** (निघं० १.१२) अवनेजनम्=अव+**णिजिर् शुद्धौ**। हाथों को शुद्ध अर्थात् धोने का जल। व्याप्त जल और कुल्या ओदन-ब्रह्म की कृतियाँ हैं, हस्तावनेजन और उपसेचन मानुष कृतियाँ हैं। इस प्रकार परमेश्वरीय और मानुष कृतियों में प्रतिरूपता है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**बार्हस्पत्यौदनः**॥ छन्दः—**१४ आसुरी गायत्री, १५ साम्न्युष्णिक्**॥॥

ऋचा कुम्भ्यधिहितार्त्विज्येन प्रेषिता॥ १४॥

ब्रह्मणा परिगृहीता साम्ना पर्यूढा॥ १५॥

अर्थ—(कुम्भी) ओदन के पाक के लिए हण्डिया (ऋचा) ऋग्वेद द्वारा (अधिहिता) अग्नि पर स्थापित की है, (आर्त्विज्येन), अध्वर्यु-ऋत्विक् सम्बन्धी कर्म के प्रतिपादक यजुर्वेद द्वारा (प्रेषिता) अग्नि के प्रति प्रेषित की गई है, भेजी गई है॥ १४॥ (ब्रह्मणा) ब्रह्मवेद अर्थात् अथर्ववेद द्वारा (परिगृहीता) अग्नि से उतार कर ग्रहण कर ली गई है, (साम्ना) सामवेद द्वारा (पर्यूढा) अङ्गारों द्वारा परिवेष्टित की गई है॥ १५॥

[मन्त्र में ओदन-परिपाक के ४ प्रक्रमों का वर्णन हुआ है, और इन प्रक्रमों को चतुर्वेदों में प्रोक्त विधि द्वारा, या चतुर्वेदों के तत्सम्बन्धी मन्त्रों का उच्चारण कर परिपाक करने का विधान मन्त्र १४, १५ में हुआ है। प्रत्येक शुभकर्म, मन्त्रोच्चारण पूर्वक, तथा वेदोक्त-विधि द्वारा करने की प्रेरणा, इन दो मन्त्रों द्वारा हुई है। यह वर्णन पाकशाला सम्बन्धी ओदन के सम्बन्ध में हुआ है।

परमेश्वरौदन के सम्बन्ध में, ज्ञानाग्नि पर परमेश्वरीय भावनाओं का परिपाक करना चाहिए, और वह परिपाक वेदों के प्रतिपादन के अनुसार होना चाहिए। या चारों वेदों के विषयों अर्थात् ज्ञान, कर्म, उपासना, तथा विज्ञान पूर्वक होना चाहिए। परमेश्वरौदन के परिपक्व करने के लिए कुम्भी है शरीर, तथा शरीरगत इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और आत्मा]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**बार्हस्पत्यौदनः**॥ छन्दः—**आसुरी बृहती**॥

बृहदायवनं रथन्तरं दर्विः॥ १६॥

अर्थ—(बृहत्) बृहत् नामक सामगान है (आयवनम्) उदक में डाले गये तण्डुलों को मिश्रित करने का उपकरण (रथन्तरम्) रथन्तर नामक सामगान है (दर्विः) ओदन के उद्धरण का उपकरण।

[परमेश्वर रूपी ओदन को बृहत् सामगान द्वारा निज जीवनीय रसरक्त में मिश्रित कर, उपासना पूर्वक उसे अपने रस-रक्त आदि अङ्गों, तथा इन्द्रियादि में भावित कर, रथन्तर सामगानपूर्वक उपासना से उत्थान करने का आदेश मन्त्र द्वारा हुआ है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**बार्हस्पत्यौदनः**॥ छन्दः—**आसुर्यनुष्टुप्**॥

ऋतवः पक्तार आर्तवाः समिन्धते॥ १७॥

अर्थ—(ऋतवः) ऋतुएँ हैं (पक्तारः) ओदन के उपादान भूत व्रीहि को पकाने वाली (आर्तवाः) तथा ऋतु-ऋतु में प्राप्त भिन्न-भिन्न वृक्षों के भिन्न-भिन्न काष्ठ (समिन्धते) अग्नि को प्रदीप्त करते हैं।

[परमेश्वर पक्ष में भिन्न-भिन्न ऋतु काल तथा ऋतु कालों में प्रतीयमान परमेश्वरीय भिन्न-भिन्न कृतियाँ परमेश्वर सम्बन्धी भावनाओं को प्रदीप्त करती हैं, और खेतों में व्रीहि को ऋतु काल पकाते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**बार्हस्पत्यौदनः**॥ छन्दः—**आसुर्यनुष्टुप्**॥

चरुं पञ्चबिलमुखं घर्मो३ऽभीन्धे॥ १८॥

अर्थ—(पञ्चबिलम्) पाँच बिलों अर्थात् छिद्रों वाली (चरुम् उखम्) ओदन परिपाकार्थ कुम्भी रूपी उखा को (घर्मः) काष्ठों की गर्मी (अभीन्धे) अभितप्त करती है। तथा भूतपञ्चकरूपी पाँच बिलों

वाली पृथिवी को (घर्मः) सूर्य की गर्मी (अभीन्धे) अभितप्त करती है।

[पृथिवी=कुम्भी (मन्त्र ११)। कृष्योदन के परिपाक के लिए कुम्भी अर्थात् देगची पर के ढकने में ५ छिद्र होने चाहिएँ, ऐसी विधि प्रतीत होती है। इस विधि द्वारा कुम्भी की भाप का नियन्त्रण होता रहता है।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**बार्हस्पत्यौदनः**॥ छन्दः—**प्राजापत्यानुष्टुप्**॥

ओदनेन यज्ञवचः सर्वे लोकाः समाप्याः॥ १९॥

अर्थ—(ओदनेन) ओदन द्वारा (यज्ञवचः) पञ्चमहायज्ञ आदि में प्रोक्त सब लोक प्राप्त हो जाते हैं।

[ओदन-ब्रह्म जब जीवन में परिपक्व हो जाता है, और उस द्वारा आत्मिक उन्नति हो जाती है, तो मानो उसे सब लोक प्राप्त हो गये हैं। देखो अर्थव० (९.६। पर्याय ४), इसमें केवल अतिथि यज्ञ द्वारा सब प्रकार के यज्ञों के फलों की प्राप्ति कही है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**बार्हस्पत्यौदनः**॥ छन्दः—**प्राजापत्यानुष्टुप्**॥

यस्मिन्त्समुद्रो द्यौर्भूमिस्त्रयोऽवरपरं श्रिताः॥ २०॥

अर्थ—(यस्मिन्) जिस ओदन में (समुद्रः) अन्तरिक्ष, (द्यौः) द्युलोक (भूमिः) और भूमि (त्रयः) ये तीन लोक (अवरपरम्) अधरोत्तरभाव में अर्थात् परस्पर नीचे-ऊपर रूप में (श्रिताः) आश्रित हैं।

[**समुद्रः अन्तरिक्षनाम्** (निघं० १.३)। जलमय पार्थिव-समुद्र तो भूमि के ही अन्तर्गत है। यह ओदन स्पष्टतया परमेश्वर है जिसके आश्रय में तीन लोक आश्रित हैं। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन मन्त्रों में ओदन द्वारा परमेश्वर का ही मुख्य वर्णन अभिप्रेत है जो कि आध्यात्मिक भोजन है, और प्रासङ्गिकतया पाकशालीय ओदन का वर्णन भी हुआ है जो कि शारीरिक भोजन है। अभिप्राय यह पाकशालीय ओदन द्वारा शारीरिक पुष्टि के साथ-साथ आध्यात्मिक ओदन द्वारा आत्मा का भी पोषण करते रहना चाहिए]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**बार्हस्पत्यौदनः**॥ छन्दः—**प्राजापत्यानुष्टुप्**॥

यस्य देवा अकल्पन्तोच्छिष्टे षडशीतयः॥ २१॥

अर्थ—(यस्य उच्छिष्टे) जिस ओदन रूपी उच्छिष्ट में (षडशीतयः देवाः) ६×८०, अर्थात् ४८० देव (अकल्पन्त) समर्थ अर्थात् शक्ति सम्पन्न होते हैं।

[यस्य उच्छिष्टे=विकल्पे षष्ठी। अथर्व० ११.७ सूक्त में "उच्छिष्ट" का वर्णन हुआ है। उसमें "उच्छिष्ट" का अर्थ है प्रलयावस्था में रहने वाला परमेश्वर। अतः मन्त्र २१ में ओदन-ब्रह्म को ही उच्छिष्ट कहा है कृष्योदन को नहीं। षडशीतयः ६×८० देवताओं पर सम्भवतः निम्नलिखित मन्त्र कुछ प्रकाश डाल सके। यथा—

अशीतिभिस्तिसृभिः सामगेभिरादित्येभिर्वसुभिरङ्गिरोभिः।
इष्टापूर्तमवतु नः पितॄणामामुं ददे हरसा दैव्येन॥ अथर्व० २.१२.४॥

इस मन्त्र में सामगायकों की संख्या तीन अशीतियाँ (३ गुणा ८०) कही है। इसके द्वितीय पाद में "आदित्येभिः[1], वसुभिः, तथा अङ्गिरोभिः" इन तीन प्रकार के देवों का वर्णन हुआ है। यदि इनके साथ

१. ये सामग और "आदित्य-वसु तथा अङ्गिरा" आधिभौतिक देव अर्थात् दिव्य जन, जब उच्छिष्ट ब्रह्म की उपासना में रत रहते हैं तो ये सामर्थ्य युक्त हो जाते हैं, शक्तियों से सम्पन्न हो जाते हैं (अकल्पन्त, मन्त्र २१)। ब्रह्म की

''तिसृभिः अशीतिभिः'' का अन्वय किया जाए तो इनकी समुदित संख्या भी तीन अशीतियाँ (३ गुणा ८०) हो जाती हैं। ३ गुणा ८० सामग, तथा आदित्येभिः आदि तीन वर्गों में प्रत्येक वर्ग की एक-एक अशीति, इस प्रकार सामग आदि सब मिल कर ''षडशीतयः[२]'' संख्या उपपन्न हो सकती है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**बार्हस्पत्यौदनः**॥ छन्दः—**प्राजापत्यानुष्टुप्**॥

तं त्वौदनस्य पृच्छामि यो अस्य महिमा महान्॥ २२॥

अर्थ—(त्वा) तुझ से (ओदनस्य) ओदन की (तम्) उस महिमा को (पृच्छामि) पूछता हूँ (यः) जो कि (अस्य) इस ओदन की (महान् महिमा) महामहिमा है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**बार्हस्पत्यौदनः**॥ छन्दः—**२३ आसुरी बृहती; २४ त्रिपदा प्राजापत्या बृहती**॥

स य ओदनस्य महिमानं विद्यात्॥ २३॥

नाल्प इति ब्रूयान्नानुपसेचन इति नेदं च किं चेति॥ २४॥

अर्थ—(यः) जो (ओदनस्य) ओदन की (महिमानम्) महिमा को (विद्यात्) जान ले॥ २३॥

(सः) वह (अल्पः इति न ब्रूयात्) न कहे कि यह अल्प है, (न अनुपसेचनः इति) न कहे कि यह उपसेचन से रहित है, (न इदम् च किं च इति) न कहे कि यह ही, न कहे कि क्या नहीं॥ २४॥

[मन्त्र १९-२१ से ज्ञात हुआ कि इस ओदन प्रकरण में ओदन से मुख्य अभिप्रेत है परमेश्वर। जो परमेश्वर की महिमा को जानता है कि वह सर्वव्यापक तथा सर्वाधार (मन्त्र २०) है, उसके सम्बन्ध में उपदेष्टा जितना उपदेश दे उसके बारे में श्रोता यह न कहे कि यह उपदेश अल्प है, और दीजिए, न कहे कि ओदन का स्वरूप केवल इतना ही है? न कहे कि कुछ और ओदन के स्वरूप पर प्रकाश डालिये। उपसेचन=यजुर्वेद ३१.९ ''**तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः**'' में ''प्रौक्षन्'' शब्द द्वारा यज्ञपुरुष परमात्मा के सेचन का वर्णन हुआ है (प्रौक्षन्=प्र+**उक्ष् सेचने**), अर्थात् भक्तिरस द्वारा परमात्मा के सेचन का वर्णन हुआ है। श्रोता उपदेश से चाहता है कि इस ''उपसेचन'' की विधि का भी उपदेश दिया जाए। परन्तु श्रोता को ऐसी मांग न करनी चाहिए। अध्यात्मविद्या में प्रथम, उपदेश का श्रवणमात्र ही होता है, इससे अधिक का नहीं। अधिक उपदेश के लिए उपदेष्टा जब श्रोता को अधिकारी जान लेगा तो वह निज कृपा से स्वयमेव और उपदेश कर देगा। यह अध्यात्म विद्या की पद्धति है। इस सम्बन्ध में अगला मन्त्र २५ है। यथा—

उपासना दो प्रकार से की जा सकती है। सृष्टि की रचना को देख कर ''सृष्टिकर्त्ता'' आदि के रूप में, तथा प्रलयावस्था (उच्छिष्टावस्था) में सृष्टि कर्तृत्व आदि गुणों से रहित रूप में। दूसरे प्रकार की उपासना में सृष्टिकर्तृत्व आदि गुणों का ध्यान नहीं करना होता, अपितु सविकल्पक समाधि में ''केवल'' ब्रह्म का ही ध्यान कर उसे साक्षात् करना होता है। यह उपासना ''**उच्छिष्ट ब्रह्मोपासना**'' है। ६×८० संख्या का अभिप्राय अनुसन्धेय है।

२. ''षडशीतयः'' की उपपत्ति के लिए मन्त्र का अन्वय निम्न प्रकार जानना चाहिए ''**अशीतिभिस्तिसृभिः सामगेभिः, अशीतिभिस्तिसृभिरादित्येभिर्वसुभिरङ्गिरोभिः**''। आदित्येभिः, वसुभिः द्वारा ४८ वर्षों और २४ वर्षों के ब्रह्मचारियों का ग्रहण है, आधिदैविक तत्त्वों का नहीं। ''अङ्गिरोभिः'' तथा ''सामगेभिः'' के साहचर्य से भी आदित्य और वसु आधिभौतिक ही प्रतीत होते हैं। जड़ आदित्य और वसु सामगान नहीं कर सकते। गौण अर्थ में सामगान की कल्पना व्यर्थ है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**बार्हस्पत्यौदनः** ॥ छन्दः—**साम्न्युष्णिक्** ॥

यावद्दाताभिमनस्येत तन्नाति वदेत्॥ २५ ॥

अर्थ—(दाता) दाता (यावत्) जितना (अभिमनस्येत) देने का मन करे, (तत् न अति वदेत्) उससे अधिक के लिए न कहे।

[मन्त्र २४, २५ में खाद्य ओदन के सम्बन्ध में यह भी उपदेश दिया है कि दाता जितना देना चाहे उससे अधिक न मांगे। यदि ओदन, विना दाल-सब्जी के, दाता के दिये हैं, तो उससे इन उपसेचनों की मांग न करे। यह उपदेश धनादि के दान के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए]।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**बार्हस्पत्यौदनः** ॥ छन्दः—**आर्च्युष्णिक्** ॥

ब्रह्मवादिनो वदन्ति पराञ्चमोदनं प्राशी३ः प्रत्यञ्चा३मिति ॥ २६ ॥

अर्थ—(ब्रह्मवादिनः वदन्ति) ब्रह्म का प्रवचन करने वाले कहते अर्थात् पूछते हैं कि (पराञ्चम्, ओदनम्) पराक्-ओदन का (प्राशीः) तूने प्राशन किया है, या (प्रत्यञ्चम् इति) प्रत्यक्-ओदन का?

[पराक् और प्रत्यक्—ये दो स्वरूप ब्रह्म के हैं। वेदों में ब्रह्माण्ड को परमेश्वरी के शरीररूप में वर्णित किया है, और ब्रह्माण्ड के अवयवों को परमेश्वर के शरीरावयव या अङ्गरूप में। परन्तु ब्रह्माण्ड और तदवयव ब्रह्म के कर्मफल भोग निमित्तक नहीं। अपितु यह दर्शाने के लिए हैं कि जैसे अस्मदादि शरीर और शरीरावयव जीवात्मा के ज्ञान, इच्छा तथा प्रयत्न द्वारा प्रेरित होते हैं, वैसे ही ब्रह्माण्ड और ब्रह्माण्ड के घटक अवयव, ब्रह्म के ज्ञान, इच्छा तथा प्रयत्न द्वारा प्रेरित हो रहे हैं, जगत् निरात्मक नहीं है। पराञ्च् अर्थात् पराक्-ब्रह्म है प्राकृतिक जगत्, और प्रत्यञ्च् अर्थात् प्रत्यक्-ब्रह्म है ब्रह्म का निज आत्मिक स्वरूप, सत्, चित्, आनन्द स्वरूप। इस भावना को उपनिषद् में "**द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे**" (बृहदा० उप० २.३.१) द्वारा प्रकट किया है।

प्रश्न द्वारा यह पूछा है कि क्या तू प्राकृतिक जगत् का ही केवल भोग करता है, या केवल चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म में ही लीन रहता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**बार्हस्पत्यौदनः** ॥ छन्दः—**साम्नी बृहती** ॥

त्वमोदनं प्राशी३स्त्वामोदना३ इति॥ २७॥

अर्थ—(त्वम्) तूने (ओदनम् प्राशीः) ओदन का प्राशन किया है, या (त्वाम्) तेरा (ओदनः इति) ओदन ने प्राशन किया है।

[जगत् का भोग करने वाला जगत् का भोग नहीं करता, अपितु जगत् ही उस भोक्ता का भोग कर रहा होता है। "**भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः**" की उक्ति का समर्थन मन्त्र २७ द्वारा हुआ है]।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**बार्हस्पत्यौदनः** ॥ छन्दः—**साम्नी बृहती** ॥

पराञ्चं चैनं प्राशीः प्राणास्त्वा हास्यन्तीत्येनमाह॥ २८॥

अर्थ—(पराञ्चम्[१], च, एनम्) इस पराक्-ओदन का (प्राशीः) तूने प्राशन किया है, तो (त्वा प्राणाः हास्यन्ति) तुझे प्राण छोड़ जाएँगे (इति, एनम्, आह) इस प्रकार इस जगद् भोक्ता को कहे।

---

१. "पराञ्चम् और प्रत्यञ्चम्" शब्दों के अर्थों पर औपनिषद श्लोक अधिक प्रकाश डालता है यथा "पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥ (कठ०

[मन्त्र में प्राणशक्ति के ह्रास का वर्णन हुआ है। भोग प्रधान जीवन में जीवनीय शक्ति का ह्रास होता है। जीवनीयशक्ति है, प्राण। "**भोगे रोगभयम्**", भोगों द्वारा रोगों का भय होता है, और रोगों के कारण प्राणशक्ति कम होती जाती है। इसलिए मन्त्र में अधिक भोग से विरत रहने का निर्देश किया है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**बार्हस्पत्यौदनः**॥ छन्दः—**भुरिक् साम्नी बृहती**॥

प्रत्यञ्चं चैनं प्राशीरपानास्त्वा हास्यन्तीत्यैनमाह॥ २९॥

अर्थ—(प्रत्यञ्चम्, च, एनम्) यदि इस प्रत्यक्-ओदन का (प्राशीः) तूने प्राशन किया है तो (अपानाः, त्वा, हास्यन्ति) अपान तुझे छोड़ जाएँगे, (इति, एनम्, आह) इस प्रकार इस आध्यात्मिक-भोक्ता को कहे।

[प्रत्यञ्च=प्रत्यक्-ओदन, परमेश्वर रूपी ओदन, जोकि आध्यात्मिक जीवन के लिए ओदन रूप है। कहा भी है "**अहमन्नम् अहमन्नादः**"। परमेश्वर सम्बन्धी कथन है, परमेश्वर कहता है कि "मैं अन्न हूँ" और "अन्नाद भी हूं"। आध्यात्मिक जीवन के लिए परमेश्वर अन्न [ओदन] है, और भोगियों तथा प्रलयकाल में सृष्टि के लिए वह अन्नाद है। यथा "**यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः। मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः**"॥ इस उद्धरण में ब्रह्म और क्षत्र को परमेश्वर का ओदन तथा मृत्यु को उपसेचन अर्थात् ओदन का व्यञ्जन कहा है। अतः परमेश्वर अन्नाद भी है। परमेश्वर के भजन और उपासना में अधिक लीन रहने, और खान-पान तथा शारीरिक स्वास्थ्य से लापरवाह हो जाने पर अपान वायु विकृत हो जाती है, अपान वायु का यथोचितरूप में अपसरण नहीं होता। यह अपान का त्यागा जाना है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**बार्हस्पत्यौदनः**॥ छन्दः—**याजुषी त्रिष्टुप्**॥

नैवाहमोदनं न मामोदनः॥ ३०॥

अर्थ—(न एव) न ही (अहम्) मैंने (ओदनम्) ओदन का प्राशन किया, (न) और न (माम्) मेरा (ओदनः) ओदन ने प्राशन किया।

[मन्त्र २६ में "ब्रह्मवादिनः" पद द्वारा प्रश्न किये गये हैं, सामान्य व्यक्तियों द्वारा नहीं। इसलिए प्रश्नों में आध्यात्मिकता की भावना प्रतीत होती है। इस प्रश्नों के उत्तर भी आध्यात्मिक भावनाओं का पुट लिए हुए हैं। उत्तरदाता अपने स्वरूप को अनध्यात्म और अध्यात्म—दोनों रूपों में देखता है। अनध्यात्म रूप है शरीर, और अध्यात्म रूप है जीवात्मा का आत्मरूप। उत्तरदाता का अभिप्राय है कि "मैं आत्मा" ने प्राकृतिक ओदन का प्राशन नहीं किया, न प्राकृतिक-ओदन ने मेरे स्वरूप का प्राशन किया है। तो किस ने किस का प्राशन किया, इसका उत्तर ३१ में है]। यथा—

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**बार्हस्पत्यौदनः**॥ छन्दः—**अल्पशः पङ्क्तिरुत याजुषी**॥

ओदन एवौदनं प्राशीत्॥ ३१॥

अर्थ—(ओदनः एव) ओदन ने ही (ओदनम्) ओदन का (प्राशीत्) प्राशन किया है।

[प्राशीत्=प्र+अश (भोजने)+लुङ्। अभिप्राय यह है कि शरीर ओदन है, क्योंकि यह ओदन का ही विकृतरूप है। यथा "**अन्नाद् रेतः, रेतसः पुरुषः, स वा एष पुरुषः अन्नरसमयः**" (तैत्तिरीयोपनिषद्)।

२.४.१)। मन्त्र २८, २९ में पठित पराञ्चम् और प्रत्यञ्चम् और श्लोक पठित पराञ्चि खानि, पराङ् पश्यति; तथा प्रत्यगात्मानम्, शब्दों में परस्पर साम्य देखना चाहिए।

ओदन है अन्न, अन्न से उत्पन्न होता है रेतस् [वीर्य], रेतस् से उत्पन्न होता है पुरुष [शरीर], इसलिए पुरुष [शरीर] अन्नरसमय है। इस अन्न या ओदन रूपी शरीर ने [निज आवश्यकतानुसार, न कि भोग भावना से] ओदन अर्थात् प्राकृतिक-ओदन का प्राशन किया है। इसलिए ओदन ने ही ओदन का प्राशन किया है, अतः इस प्राशन में कोई दोष नहीं। और आत्मस्वरूप मैं ने तो आध्यात्मिक "ब्रह्मौदन" का ही प्राशन किया **है; "ब्रह्मौदनः"** (अथर्व० ११.१.२०)। यथा **"ब्रह्मौदनं विश्वजितं पचामि शृण्वन्तु मे श्रद्दधानस्य देवाः"** (अथर्व० ४.३५.७); प्राकृतिक ओदन का नहीं]।

सूक्त ३, पर्याय २

विषय-प्रवेश

(१) पर्याय २ में २८ मन्त्र हैं। ओदन-ब्रह्म और कृष्योदन का संमिश्रित वर्णन हुआ है। मन्त्र ३२ से ३५ तक में, तथा ४९ वें मन्त्र में मुख्यरूप से ओदन ब्रह्म का तथा शेष मन्त्रों में मुख्यरूप से कृष्योदन का वर्णन है।

(२) कृष्योदन का प्राशन किस विधि से करना चाहिए, और इस विधि की उपेक्षा कर अन्य विधि से कृष्योदन के प्राशन के दुष्परिणाम क्या-क्या भोगने होते हैं—इनका वर्णन विस्तार पूर्वक हुआ है। इसके प्रदर्शन के लिए निम्नाङ्कित चार्ट है। यथा—

(क) बृहस्पतिना	शीर्ष्णा,	**[अन्येन शीर्ष्णा ज्येष्ठतः प्रजा मरिष्यति]**	मन्त्र ३२
(ख) द्यावापृथिवीभ्याम्	श्रोत्राभ्याम्,	**[अन्याभ्यां श्रोत्राभ्याम् बधिरो भविष्यसि]**	मन्त्र ३३
(ग) सूर्याचन्द्रमसाभ्याम्	अक्षीभ्याम्,	**[अन्याभ्याम् अक्षीभ्याम् अन्धो भविष्यसि]**	मन्त्र ३४
(घ) ब्रह्मणा	मुखेन,	**[अन्येन मुखेन मुखतः प्रजा मरिष्यति]**	मन्त्र ३५
(ङ) अग्नेः	जिह्वया,	**[अन्यया जिह्वया जिह्वा मरिष्यति]**	मन्त्र ३६
(च) ऋतुभिः	दन्तैः,	**[अन्यैः दन्तैः दन्ताः शत्स्यन्ति]**	मन्त्र ३७
(छ) सप्तर्षिभिः	प्राणापानैः,	**[अन्यैः प्राणापानैः प्राणापानाः हास्यन्ति]**	मन्त्र ३८
(ज) अन्तरिक्षेण	व्यचसा,	**[अन्येन व्यचसा राजयक्ष्मः हनिष्यति]**	मन्त्र ३९
(झ) दिवा	पृष्ठेन,	**[अन्येन पृष्ठेन विद्युत् हनिष्यति]**	मन्त्र ४०
(ञ) पृथिव्या	उरसा,	**[अन्येन उरसा कृष्या न रात्स्यसि]**	मन्त्र ४१
(ट) सत्येन	उदरेण,	**[अन्येन उदरेण उदरदारः हनिष्यति]**	मन्त्र ४२
(ठ) समुद्रेण	वस्तिना,	**[अन्येन वस्तिना अप्सु मरिष्यसि]**	मन्त्र ४३
(ड) मित्रावरुणयोः	ऊरुभ्याम्,	**[अन्याभ्याम् ऊरभ्याम् ऊरू मरिष्यतः]**	मन्त्र ४४
(ढ) त्वष्टुः	अष्ठीवद्भ्याम्,	**[अन्याभ्याम् अष्ठीवद्भ्याम् स्रामः भविष्यसि]**	मन्त्र ४५
(ण) अश्विनोः	पादाभ्याम्,	**[अन्याभ्याम् पादाभ्याम् बहुचारी भविष्यसि]**	मन्त्र ४६
(त) सवितुः	प्रपदाभ्याम्,	**[अन्याभ्याम्, प्रपदाभ्याम् सर्पः हनिष्यति]**	मन्त्र ४७
(थ) ऋतस्य	हस्ताभ्याम्,	**[अन्याभ्याम्, हस्ताभ्याम् ब्राह्मणम् हनिष्यसि]**	मन्त्र ४८
(द) सत्ये	प्रतिष्ठया,	**[अन्यया प्रतिष्ठया अप्रतिष्ठानोऽनायतनः मरिष्यसि]**	मन्त्र ४९

उक्त चार्ट में ३ स्तम्भ हैं (१) बृहस्पतिना स्तम्भ; (२) शीर्ष्णा स्तम्भ; (३) कोष्ठक स्तम्भ। मन्त्रों

में यह दर्शाया है कि ओदन का प्राशनकर्त्ता यदि ओदन को स्तम्भ (२) के अवयवों द्वारा प्राशन करेगा तो उसे कोष्ठक गत रोग हो जाएँगे। अतः उसे स्तम्भ (१) के दैवी तत्त्वों की दृष्टि से ओदन प्राशन करना चाहिए तो वह कोष्ठकगत दुष्परिणामों से बच सकेगा। अभिप्राय यह कि प्राशनकर्त्ता निज देहावयवों को दैवी रूप देकर ओदन प्राशन करेगा तो ओदन प्राशन उसके लिए सुफल होगा, अर्थात् वह लोभ-लालच में न आकर, यदि सात्त्विक ओदन का प्राशन मित तथा पथ्याहार की दृष्टि से करेगा तो वह ब्रह्मौदन के प्राशन का भी अधिकारी बन जाता है, सत्य ब्रह्म में उसकी स्थिति हो जाती है (मन्त्र ४९)। मन्त्रों के अभिप्राय अस्पष्ट हैं।

३२-४९ मन्त्रों को अनुक्रमणी में "दण्डक" कहा है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**साम्नी त्रिष्टुप्, एकपदाऽऽसुरी गायत्री, दैवी जगती, एकपदासुर्यनुष्टुप्, साम्न्यनुष्टुप्, आर्च्यनुष्टप्**॥

ततश्चैनमन्येन शीर्ष्णा प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।
ज्येष्ठतस्ते प्रजा मरिष्यतीत्येनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्।
बृहस्पतिना शीर्ष्णा। तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम्।
एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद॥ ३२॥

अर्थ—(पूर्वे ऋषयः) पूर्व काल के या सद्गुणों से पूरित ऋषियों ने (येन शीर्ष्णा) जिस सिर से (एतम्) इस ओदन का (प्राश्नन्) प्राशन किया है (ततः) उससे (च) यदि (अन्येन शीर्ष्णा) भिन्न सिर से (एनम्) इस ओदन का (प्राशीः) तूने प्राशन किया है, तो (ते प्रजा) तेरी प्रजा (ज्येष्ठतः) ज्येष्ठ अंग से प्रारम्भ करके (मरिष्यति) मर जाएगी (इति) यह (एनम्) इस प्राशन करने वाले को कहे। (तम्) उस ओदन को (वै) निश्चय से, (न अर्वाञ्चम्[1]) न इधर गति करते हुए को (न पराञ्चम्[2]) न दूर के लोकों में गति करते हुए को, (न प्रत्यञ्चम्[3]) न प्रतीक अर्थात् प्रतिकूल भाव से रहते हुए को (अहम्) मैंने प्राशित किया है। (बृहस्पतिना शीर्ष्णा) बृहस्पति रूप से मैंने उस ओदन का प्राशन किया है। (तेन) उस सिर से (एनम्) इस ओदन का (प्राशिषम्) मैं ने प्राशन किया है, (तेन) उस सिर से (एनम्) इस ओदन को (अजीगमम्) मैंने प्राप्त किया है। (एषः) यह ओदन (वै) निश्चय से (सर्वाङ्गः) सर्वाङ्ग सम्पूर्ण है, (सर्वपरुः) सब सन्धियों से युक्त है, (सर्वतनूः) सम्पूर्ण शरीर अर्थात् स्वरूप वाला है। (एषः) यह प्राशन कर्त्ता भी (सर्वाङ्गः, सर्वपरुः, सर्वतनूः) सर्वाङ्ग सम्पूर्ण, सब सन्धियों से युक्त, सम्पूर्ण शरीर वाला (सं भवति) हो जाता है। (यः) जो कि (एवम्) इस प्रकार [ओदन के प्राशन के तत्त्व को] (वेद) जानता है।

[पूर्वे ऋषयः=**पुर्व पूरणे,** सद्गुणों से सम्पूर्ण। प्रजा ज्येष्ठतः=ब्रह्मौदन का प्राशन यदि बृहस्पतिरूप

१-३. कृष्योदन पक्ष में, भोजन के नियत काल से अर्वाक्-काल में [अर्वाञ्चम्] तथा पराक्-काल में (पराञ्चम्) और क्षुधा के अभाव में प्रतिकूलरूप हुए (प्रत्यञ्चम्) ओदन के प्राशन का निषेध किया है। इस प्राशन को विचार पूर्वक करना चाहिए (शीर्ष्णा)। साथ ही मन्त्र में यह भी कहा है कि [कृष्योदन के सात्त्विक, नीरोग और रोगनाशक होने से, भोजन की दृष्टि से] कृष्योदन सर्वाङ्ग सम्पूर्ण है। कृष्योदन के सम्बन्ध में यही भावना अगले मन्त्रों में भी जाननी चाहिए। देखो मन्त्र ३५ की व्याख्या।

सिर द्वारा नहीं किया तो प्राशन कर्त्ता को अभिज्ञ व्यक्ति कहा है कि तेरी प्रजा जो कि तेरे शरीर के भिन्न-भिन्न अवयव और अङ्ग हैं, उनमें से ज्येष्ठ-अङ्ग जोकि ''सिर'' है, वहाँ से प्रारम्भ कर, अवयव और अङ्ग-प्रत्यङ्गरूपी तेरी प्रजा सदा पुनर्जन्मों द्वारा मृत्यु का ग्रास बनी रहेगी। शरीर है जीवात्मा की पुरी और इस पुरी में रहने वाले अङ्ग-प्रत्यङ्ग तथा अन्य शक्तियाँ जीवात्मा की प्रजाएँ हैं। सिर के विकृत हो जाने पर सब अङ्ग-प्रत्यङ्ग आदि विकृत होकर विनाशोन्मुख हो जाते हैं। इससे विधि पूर्वक ब्रह्मौदन के आध्यात्मिक प्राशन के लिए प्राशनकर्त्ता को प्रेरित किया गया है। इसलिए ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन किया है कि ब्रह्म न केवल इधर अर्थात् पृथिवी पर सक्रिय हो रहा है, न केवल दूर के लोकों में ही सक्रिय हो रहा है, अपितु वह सर्वव्यापक होकर सक्रिय हो रहा है। यथा ''**तद् दूरे तद्वन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः**'' (यजुः० ४०.५)। प्राशनकर्त्ता यह कहता है कि मैंने प्रत्यङ् भाव अर्थात् प्रतिकूल भाव में रहते हुए ब्रह्मौदन का प्राशन नहीं किया, अपितु उसे सर्वानुग्रहकारीरूप में जान कर उसका मैंने प्राशन किया है।

बृहस्पतिना शीर्ष्णा=बृहस्पति और ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर का पारस्परिक सम्बन्ध है। (अथर्व० १५.१०.४, ५) के अनुसार बृहस्पति में ब्रह्म का प्रवेश कहा है। प्राशनकर्त्ता कहता है कि मैंने सिर को बृहस्पति जान कर ब्रह्मौदन का प्राशन किया है, अर्थात् मेरा सिर सामान्य सिर नहीं, अपितु यह बृहस्पतिरूप है, जिसमें कि ब्रह्म प्रविष्ट है। इसी प्रविष्ट ब्रह्म का प्राशन मैंने सिर द्वारा किया है। सिर में आज्ञाचक्र तथा सहस्रारचक्र हैं। इन चक्रों में परमेश्वर अर्थात् ब्रह्मौदन का प्राशन योगिजन करते हैं। यदि सिर द्वारा ब्रह्मौदन का प्राशन अर्थात् साक्षात् कर, सिर में ब्रह्मप्रधान विचार और संकल्प स्थित हो जाये, तो समग्र शरीर और शरीरावयव ब्राह्मी शक्ति से आप्लुत हो जाएँ और खाना-पीना आदि सब व्यवहार ब्राह्म शक्ति से आविष्ट हो जाएँ।

ब्रह्मौदन को सर्वाङ्ग सम्पूर्ण कहा है, इसका प्राशनकर्त्ता भी सर्वाङ्ग सम्पूर्ण हो जाता है। यह फल निर्देश किया है। अथर्व० ११.३.१ में ''शिरः'' से अभिप्राय कृष्योदन के प्राशिता का है। क्योंकि वहाँ ओदन-ब्रह्म और कृष्योदन में प्रतिरूपता दर्शाई है।

जीवन में दो प्रकार के ओदनों की आवश्यकता है। एक की तो शारीरिक जीवन के लिए आवश्यकता है, और दूसरे की आत्मिक जीवन के लिए। प्राकृतिक-ओदन शरीरोपयोगी है, और ब्रह्मौदन आत्मोपयोगी है। इसलिए इस ओदन-सूक्त में द्विविध ओदन का संमिश्रित वर्णन किया गया है। सात्विक और ब्रह्मप्रधान जीवन के लिए उभयविध ओदन का सेवन प्रतिदिन आवश्यक है। जीवन भी तो प्रकृति और जीवात्मा का संमिश्रित रूप है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**साम्नी त्रिष्टुप्, एकपदाऽऽसुरी गायत्री, आर्च्यनुष्टुप्, आसुरी बृहती, आसुरी जगती**॥

ततश्चैनमन्याभ्यां श्रोत्राभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।
बधिरो भविष्यसीत्येनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्।
द्यावापृथिवीभ्यां श्रोत्राभ्याम्। ताभ्यामेनं प्राशिषं ताभ्यामेनमजीगमम्।
एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद॥ ३३॥

अर्थ—(पूर्वे ऋषयः) पूर्व काल के या सद्‌गुणों से पूरित ऋषियों ने (याभ्याम्, श्रोत्राभ्याम्) जिन श्रोत्रों द्वारा (एतम्) इस ओदन का (प्राश्नन्) प्राशन किया है, (ततः) उससे (च) यदि (अन्याभ्याम्) अन्य अर्थात् भिन्न प्रकार के श्रोत्रों द्वारा (एनम्) इस ओदन का (प्राशीः) तूने प्राशन किया है तो (बधिरो भविष्यसि) तू बहरा हो जाएगा (इति) यह (एनम्) इस श्रोता को (आह) ज्ञानी कहे। (तम्) उस ओदन को (वै) निश्चय से (न अर्वाञ्चम्) न इधर गति करते हुए को, (न पराञ्चम्) न दूर के लोकों में गति करते हुए को, (न प्रत्यञ्चम्) न प्रतीक अर्थात् प्रतिकूलभाव में रहते हुए को (अहम्) मैंने प्राशित किया है, अपितु (ताभ्याम् द्यावापृथिवीभ्याम् श्रोत्राभ्याम्) उन द्युलोक तथा पृथिवीरूपी श्रोत्रों द्वारा (एनम्) इस ओदन का (प्राशिषम्) मैंने प्राशन किया है, (ताभ्याम्) उन द्वारा (एनम्) इसको (अजीगमम्) मैंने प्राप्त किया है। (वै) निश्चय से (एषः ओदनः) यह ओदन ब्रह्मौदन (सर्वाङ्गः) सर्वाङ्ग सम्पूर्ण है, (सर्वपरुः) सब सन्धियों अर्थात् जोड़ों से युक्त है, (सर्वतनूः) सम्पूर्ण शरीर वाला है। (यः) जो श्रोता (एवम्) इस प्रकार से (वेद) ब्रह्मौदन को जानता है, वह भी (सर्वाङ्गः) सर्वाङ्ग सम्पूर्ण, (सर्वपरुः) सब सन्धियों अर्थात् जोड़ों से युक्त, (सर्वतनूः) सम्पूर्ण शरीर वाला (सं भवति) हो जाता है।

[मन्त्र का अभिप्राय, मन्त्र ३२ के सदृश है। मन्त्र ३३ में श्रोत्रों द्वारा ब्रह्मौदन के प्राशन का वर्णन है। श्रोत्रों द्वारा प्राकृतिक-ओदन का प्राशन असम्भव है, प्राकृतिक-ओदन का प्राशन मुख द्वारा होता है। ब्रह्मौदन का प्राशन श्रोत्रों द्वारा होना है। श्रोत्रों द्वारा ब्रह्म के गुणों के श्रवण से ब्रह्मौदन का प्राशन करना है। इसके लिए श्रोत्रों को द्युलोक और पृथिवी का रूप देना होगा। द्युलोक और पृथिवी के भीतर नानाविध ध्वनियाँ, शब्द और शोर हो रहे हैं, परन्तु ये दोनों इनसे प्रभावित न होते हुए, निर्विकार रूप में वर्तमान रहते हैं। इसी प्रकार निज श्रोत्रों को सांसारिक ध्वनियों तथा शब्दों से निर्विकार रूप कर, ब्राह्मी श्रुतियों के श्रवण के उन्मुख करना होगा। बधिरो भविष्यसि=यदि तूने द्यावापृथिवी रूप निर्विकार श्रोत्रों द्वारा ब्राह्मी श्रुतियों का श्रवण न किया तो समझना कि श्रोत्रों के होते हुए भी तू आध्यात्मिक श्रोत्रों की दृष्टि से बधिर है, बहरा है, और ऐसा ही रहेगा। जैसे कि वेदवाणी के सम्बन्ध में कहा है कि "**उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्**" (ऋ० १०.७१.४)]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**साम्नी त्रिष्टुप्, एकपदाऽऽसुरी गायत्री, आर्च्यनुष्टुप्, आसुरी पङ्क्तिः, आसुरी त्रिष्टुप्**॥

ततश्चैनमन्याभ्यामक्षीभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।
अन्धो भविष्यसीत्येनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्।
सूर्याचन्द्रमसाभ्यामक्षीभ्याम्। ताभ्यामेनं प्राशिषं ताभ्यामेनमजीगमम्।
एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद॥ ३४॥

अर्थ—(पूर्वे ऋषयः) पूर्वकाल के या सद्‌गुणों से पूरित ऋषियों ने (याभ्याम् अक्षीभ्याम्) जिन आँखों से (एतम्) इस ओदन का (प्राश्नन्) प्राशन किया है, (ततः) उससे (च) यदि (अन्याभ्याम्) भिन्न प्रकार की (अक्षीभ्याम्) आँखों से (एनम्) इस ओदन का (प्राशीः) तूने प्राशन किया है, तो (अन्धः भविष्यसि) तू अन्धा हो जाएगा, (इति) यह (एनम्) इसे (आह) ज्ञानी कहे। (तम्) उस

ओदन को (वै) निश्चय से, (न अर्वाञ्चम्) न इधर गति करते हुए को, (न पराञ्चम्) न दूर के लोकों में गति करते हुए को, (न प्रत्यञ्चम्) न प्रतीक अर्थात् प्रतिकूल भाव में रहते हुए को (अहम्) मैंने (प्राशिषम्) प्राशित किया है, अपितु (ताभ्याम्) उन (सूर्याचन्द्रमसाभ्याम्, अक्षीभ्याम्) सूर्य और चन्द्रमारूपी आँखों द्वारा (एनम्) इस ओदन का (प्राशिषम्) मैंने प्राशन किया है, (ताभ्याम्) उन आँखों द्वारा (एनम्) इसको (अजीगमम्) मैंने प्राप्त किया है। (एषः ओदनः) यह ओदन अर्थात् ब्रह्मौदन (सर्वाङ्गः) सर्वाङ्ग सम्पूर्ण है, (सर्वपरुः) सब सन्धियों अर्थात् जोड़ों से युक्त है, (सर्वतनूः) सम्पूर्ण शरीर वाला है। (यः) जो द्रष्टा (एवम्) इस प्रकार से (वेद) ब्रह्मौदन को जानता है वह भी (सर्वाङ्गः) सर्वाङ्ग सम्पूर्ण, (सर्वपरुः) सब सन्धियों अर्थात् जोड़ों से युक्त, (सर्वतनूः) सम्पूर्ण शरीर वाला (सं भवति) हो जाता है।

[मन्त्र का भाव, पूर्व के ३२ और ३३ मन्त्रों के सदृश है। इस मन्त्र में आँखों द्वारा ओदन के प्राशन का वर्णन है। प्राकृतिक-ओदन का प्राशन मुख द्वारा होता है, आँखों द्वारा नहीं, और ये आँखें हैं सूर्य और चन्द्रमारूप। सूर्य और चन्द्ररूपी आँखें सबको समरूप से देखती हैं। इसी भाव को गीता में (१२.१८) कहा है "**समः शत्रौ च मित्रे च**"। तथा "**समः सर्वेषु भूतेषु**" (गीता १८.५४)। तथा "**मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे**" (यजुः० ३६.१८)। प्राशन कर्त्ता कहता है कि मैंने अपनी आँखों को, सूर्य और चन्द्रमा के समान, समदृष्टिरूप में ढाल कर ब्रह्मौदन का प्राशन किया है, क्योंकि पक्षपात दृष्टि के रहते ब्रह्मौदन का प्राशन अर्थात् साक्षात्कार या दर्शन हो नहीं सकता। अन्धो भविष्यसि=अन्धापन शारीरिक दृष्टि से नहीं, अपितु आध्यात्मिक दृष्टि से अभिप्रेत है। परमेश्वर का दर्शन न होना, आध्यात्मिक अन्धापन है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**साम्नी त्रिष्टुप्, एकपदाऽऽसुरी गायत्री, एकपदाऽऽसुर्यनुष्टुप्, साम्न्यनुष्टुप्, आर्च्यनुष्टुप्, याजुषी गायत्री**॥

ततश्चैनमन्येन मुखेन प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।
मुखतस्ते प्रजा मरिष्यतीत्येनमाह।
तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्।
ब्रह्मणा मुखेन। तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम्।
एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद॥ ३५॥

अर्थ—(पूर्वे ऋषयः) पूर्व काल के या सद्गुणों से पूरित ऋषियों ने (येन मुखेन) जिस मुख से (एतम्) इस ओदन का (प्राश्नन्) प्राशन किया है, (ततः) उससे (च=चेत्) यदि (अन्येन) भिन्न प्रकार के (मुखेन) मुख से (एनम्) इस ओदन का (प्राशीः) तू प्राशन करता है, तो (मुखतः[१]) मुख से प्रारम्भ करके (ते प्रजा) तेरा प्रत्येक उत्पन्न हुआ अङ्ग-प्रत्यङ्ग (मरिष्यति) प्राण हीन हो जाएगा। (इति) यह (एनम्) इस प्राशन कर्त्ता को विज्ञ (आह) कहे। (तम्) उसको (न अर्वाञ्चम्) न कुत्सित[२] होकर

१. मन्त्र ३२ में "ज्येष्ठतः" और मन्त्र ३५ में "मुखतः"। इन भिन्न पदों द्वारा दो स्थानों में प्राश्यों में भेद दर्शाया है।
२. अर्वः=कुत्सितः (उणा० ५.५४)। अथवा अर्वाञ्चम्=अवर+अञ्चम्। नीचा होकर याचित।

याचित किये, (न पराञ्चम्) न दूसरे के लिए याचित किये, (न प्रत्यञ्चम्) न प्रतिकूल व्यक्ति से याचित किये ओदन को, (वै) निश्चय से, (अहम्) मैंने (प्राशिषम्) प्राशित किया है। (तेन ब्रह्मणा मुखेन) उस ब्रह्मरूपी मुख से (एनम्) इस ओदन को (प्राशिषम्) मैंने प्राशित किया है, (तेन) उस ब्रह्ममुखी मुख से (एनम्) इस ओदन को (अजीगमम्[1]) मैंने उदरादि अङ्गों में पहुँचाया है। (एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः) यह ओदन [पुष्टि के लिए] सर्वथा सम्पूर्ण है। (यः एवम् वेद) जो प्राशनकर्त्ता इस प्रकार ओदन को जानता है वह (सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति) सर्वाङ्ग सम्पुष्ट हो जाता है।

[मन्त्र ३५ में मुख्यरूप से प्राकृतिक-ओदन के प्राशन का वर्णन हुआ है, ब्रह्मौदन का नहीं। प्राशनकर्त्ता ब्रह्मरूपीमुख द्वारा प्राकृतिक-ओदन का प्राशन करता है। ब्रह्म अन्नाद है, जगत् रूपी अन्न का वह भक्षण करता है, नियम से बद्ध होकर भक्षण करता है, स्वाद, लोभ और लालच से नहीं। इसी प्रकार व्यक्ति को ओदन का प्राशन करना चाहिए, स्वाद, लोभ और लालच से नहीं, और नियत समय में प्राशन करना चाहिए। यतः ३५ वें मन्त्र में प्राकृतिक-ओदन का वर्णन हुआ है, अतः तदनुसार "अर्वाञ्चम्, पराञ्चम् और प्रत्यञ्चम्", के अर्थ भी तदनुरूप ही किये गये हैं। अर्वाञ्चम्=अर्वः[2] (कुत्सित होकर, दाता द्वारा अपमानित होकर)+अञ्चम् (याचितः "अचि" याचने, भ्वादि)। पराञ्चम्=पर (दूसरे व्यक्ति के लिए)+अञ्चम् (याचित)। प्रत्यञ्चम्=प्रति (प्रतिकूल व्यक्ति से)+अञ्चम् (याचित)। अभिप्राय यह है कि अपने आप को हीनावस्था में दर्शा कर माँगे ओदन को, दूसरे के निमित्त माँगे ओदन को, प्रतिकूल अर्थात् जो विरोधी व्यक्ति है उससे माँगें ओदन को प्राशन कर्त्ता प्राशित न करे, अपितु उदारता पूर्वक धर्म भावना से दिये गये, या स्वोपार्जित ओदन का प्राशन ही सर्वश्रेष्ठ प्राशन है। तथा यह भी जानना चाहिए कि ओदन का प्राशन सात्विक प्राशन है। आध्यात्मिक व्यक्ति को इस सात्विक-ओदन का सेवन करना चाहिए, और इसे सर्वाङ्ग सम्पूर्ण भोजन जानना चाहिए। यह भोजन प्राणापान को व्यवस्थित करता है **"प्राणापानौ व्रीहियवौ"** (अथर्व० ११.४.१३)। तथा **"शिवौ ते स्तां व्रीहियवावबलासावदो मधौ। एतौ यक्ष्मं वि बाधेते एतौ मुञ्चतो अंहसः"** (अथर्व० ८.२.१८), अर्थात् व्रीहि और यव कल्याणकारी, अबलास अर्थात् बलक्षय को दूर करते, खाने में मधुर, यक्ष्म-विनाशक तथा अंहम् की प्रवृत्ति के विरोधी हैं। **"व्रीहिर्यवश्च भेषजौ"** (अथर्व० ८.७.२०), अर्थात् व्रीहि और यव भेषज हैं। **"व्रीहिमत्तं यवमत्तमथो माषमथो तिलम्। एष वां भागो निहितो रत्नधेयाय दन्तौ...."** (अथर्व० ६.१४०.२), अर्थात् व्रीहि और यव का भोजन दान्तों के लिए हितकर है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**साम्नी त्रिष्टुप्, एकपदाऽऽसुरी गायत्री, एकपदाऽऽसुर्यनुष्टुप्, साम्न्यनुष्टुप्, आर्च्यनुष्टुप्, आसुरी बृहती, दैवी पङ्क्तिः**॥

ततश्चैनमन्यया जिह्वया प्राशीर्यया चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।

जिह्वा ते मरिष्यतीत्येनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्।

अग्नेर्जिह्वया। तयैनं प्राशिषं तयैनमजीगमम्।

एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः।

---

१. गमेर्ण्यन्तात् लुङि चङि रूपम् (सायण)।

२. अर्वः=कुत्सितः (उणा० ५.५४)। अथवा अर्वाञ्चम्=अवर+अञ्चम्। नीचा होकर याचित।

सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद॥ ३६॥

अर्थ—(पूर्वे ऋषयः) पूर्वकाल के या सद्गुणों से पूरित ऋषियों ने (यया जिह्वया) जिस जिह्वा से (एतम्) इस ओदन का (प्राश्नन्) प्राशन किया है, (ततः) उससे (च=चेत्) यदि (अन्यया जिह्वया) भिन्न प्रकार की जिह्वा से (एनम्) इस ओदन का (प्राशीः) तूने प्राशन किया है, तो (ते जिह्वा) तेरी जिह्वा (मरिष्यति) प्राणविहीन हो जाएगी, विकृत हो जाएगी, (इति) यह (एनम्) इस प्राशन कर्त्ता को विज्ञ (आह) कहे। (तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्) पूर्ववत् मन्त्र ३५। (तया अग्नेः जिह्वया) उस अग्नि की जिह्वा से (एनम्) इस ओदन का (प्राशिषम्) मैंने प्राशन किया है, (तया) उस जिह्वा से (एनम्) इस ओदन को (अजीगमम्) मैंने उदरादि में पहुँचाया है। (एष वा ओदनः......वेद) अर्थ पूर्ववत् मन्त्र ३५।

[ओदन का प्राशन करने वाला कहता है कि मैंने निज जिह्वा द्वारा ओदन का प्राशन नहीं किया अपितु अग्नि[1] की जिह्वा से ओदन का प्राशन किया है। मानुषी-जिह्वा तो चटपटी, राजसिक, तामसिक, तथा अवैध मांस आदि का भी प्राशन चाहती है, परन्तु अग्निदेव की जिह्वा तो सात्त्विक प्राशन करती है। इसलिए सात्विक अन्न के प्राशन से मेरी जिह्वा प्राणवती है, अविकृत रूपा है। अग्निदेव के प्रति मांसाहुति वेदविरुद्ध है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**साम्नी त्रिष्टुप्, एकपदाऽऽसुरी गायत्री, एकपदाऽऽसुर्यनुष्टुप्, साम्न्यनुष्टुप्, आर्च्यनुष्टुप्, साम्नी पङ्क्तिः, आसुरी पङ्क्तिः, दैवी पङ्क्तिः**॥

ततश्चैनमन्यैर्दन्तैः प्राशीर्यैश्चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।
दन्तास्ते शत्स्यन्तीत्येनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्।
ऋतुभिर्दन्तैः। तैरेनं प्राशिषं तैरेनमजीगमम्।
एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद॥ ३७॥

अर्थ—(पूर्वे ऋषयः) पूर्वकाल के या सद्गुणों से पूरित ऋषियों ने (यैः दन्तैः) जिन दान्तों से (एतम्) इस ओदन का (प्राश्नन्) प्राशन किया है, (ततः) उनसे (च=चेत्) यदि (अन्यैः दन्तैः) भिन्न प्रकार के दान्तों से (एनम्) इस ओदन का (प्राशीः) तूने प्राशन किया है तो (ते दन्ताः) तेरे दान्त (शत्स्यन्ति) विशीर्ण हो जाएँगे, टूट जाएँगे, (इति) यह (एनम्) इस प्राशनकर्त्ता को विज्ञ (आह) कहे। (तं वा अहं नार्वाञ्चं न प्रत्यञ्चम्) अर्थ पूर्ववत् मन्त्र ३५। (तैः ऋतुभिः दन्तैः) उन ऋतुरूप दान्तों से (एनम्) इस ओदन का (प्राशिषम्) मैंने प्राशन किया है, (तैः) उन दान्तों से (एनम्) इस ओदन को (अजीगमम्) मैंने उदरादि में पहुँचाया है। एष वा ओदनः....वेद) अर्थ पूर्ववत्, मन्त्र ३५।

[ऋतु-ऋतु के अनुसार व्यञ्जनों में यथोचित परिवर्तन के साथ, तथा ऋतु-ऋतु के अनुसार ओदन के परिपाकों को तैयार कर, ओदन के प्राशन से दान्त विशीर्ण नहीं होते, ऐसा अभिप्राय मन्त्र का प्रतीत

---

१. तथा अग्निहोत्र पूर्वक ओदन का प्राशन मैंने किया है या यज्ञशिष्टान्न का मैंने प्राशन किया है। यथा "**यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः**" (गीता ३.१३)।

होता है। मन्त्र में ऋतुचर्या का विचार दिया है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**साम्नी त्रिष्टुप्, एकपदाऽऽसुरी गायत्री, एकपदाऽऽसुर्यनुष्टुप्, साम्न्यनुष्टुप्, आर्च्यनुष्टुप्, प्राजापत्या गायत्री**॥

ततश्चैनमन्यैः प्राणापानैः प्राशीर्येश्चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।

प्राणापानास्त्वा हास्यन्तीत्येनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्।

सप्तर्षिभिः प्राणापानैः। तैरेनं प्राशिषं तैरेनमजीगमम्।

एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः।

सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद॥ ३८॥

अर्थ—(पूर्वे ऋषयः) पूर्व काल के या सद्‌गुणों से पूरित ऋषियों ने (यैः) जिन (प्राणापानैः) प्राणों और अपानों से (एतम्) इस ओदन को (प्राश्नन्) खाया है, (ततः) उससे (च=चेत्) यदि (अन्यैः) भिन्न प्रकार के (प्राणापानैः) प्राणों और अपानों से (एनम्) इस ओदन का (प्राशीः) तूने प्राशन किया है, तो (प्राणापानाः) प्राण और अपान (त्वा) तुझे (हास्यन्ति) त्याग जाएँगे, (इति) यह (एनम्) इस प्राशन कर्त्ता को विज्ञ (आह) कहे। (तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्) अर्थ पूर्ववत् मन्त्र ३५। (तैः सप्तर्र्षिभिः प्राणापानैः) उन सप्तर्षिरूप प्राणों और अपानों से (एनम्) इस ओदन का (प्राशिषम्) मैंने प्राशन किया है, (तैः) उनसे (एनम्) इस ओदन को (अजीगमम्) मैंने उदरादि अङ्गों में पहुँचाया है। (एष वा ओदनः......वेद) पूर्ववत् मन्त्र ३५।

[सप्तर्षि दो प्रकार के है—(१) द्युलोकस्थ, (२) शरीरस्थ। मन्त्र में शरीरस्थ सप्तर्षियों का कथन किया है। यथा "**सप्त ऋषयाः प्रतिहिताः शरीरे**" (यजुः० ३४.५५), अर्थात् सात ऋषि शरीर में प्रतिष्ठित हैं। यथा "**तदासत ऋषयः सप्त साकम्**" (अथर्व० १०.८.९), अर्थात् इस मस्तिष्क में सात ऋषि साथ-साथ उपविष्ट हैं। इस पर निरुक्त में कहा है कि "**षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तमी, आत्मनि**" (१२.४.३७), अर्थात् ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, १ मन, १ विद्या अर्थात् बुद्धि। ये सात ऋषि प्राण और अपान हैं। इन्द्रियों द्वारा परीक्षा कर, मन द्वारा विचार कर, बुद्धिपूर्वक ओदन के प्राशन से शरीरस्थ प्राण और अपान स्वस्थ बने रहते हैं, अन्यथा प्रकार से ओदन के सेवन से प्राण और अपान शरीर को त्याग जाते हैं, अर्थात् मृत्यु हो जाती है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**साम्नी त्रिष्टुप्, एकपदाऽऽसुरी गायत्री, एकपदाऽऽसुर्यनुष्टुप्, साम्न्यनुष्टुप्, आर्च्यनुष्टुप्, प्राजापत्या गायत्री, आसुर्युष्णिक्**॥

ततश्चैनमन्येन व्यचसा प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।

राजयक्ष्मस्त्वा हनिष्यतीत्येनमाह।

तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्।

अन्तरिक्षेण व्यचसा। तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम्।

एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः।

सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद॥ ३९॥

अर्थ—(पूर्वे ऋषयः) पूर्वकाल के या सद्गुणों से पूरित ऋषियों ने (येन व्यचसा) जिस विस्तार द्वारा (एतम्) इस ओदन का (प्राश्नन्) प्राशन किया है, (ततः) उससे (च=चेत्) यदि (अन्येन) अन्य प्रकार के (व्यचसा) विस्तार द्वारा (एनम्) इस ओदन का (प्राशीः) तूने प्राशन किया है, तो (राजयक्ष्मः) यक्ष्मों का राजा तपेदिक (T.B; थाइसिस) (त्वा हनिष्यति) तेरी हत्या करेगा, (इति) यह (एनम्) इस प्राशनकर्त्ता को विज्ञ (आह) कहे। (तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्) अर्थ पूर्ववत् मन्त्र ३५। (तेन अन्तरिक्षेण व्यचसा) उस अन्तरिक्षरूपी विस्तार द्वारा (एनम्) इस ओदन का (प्राशिषम्) मैंने प्राशन किया है, (तेन) उस द्वारा (एनम्) इस ओदन को (अजीगमम्) मैंने अन्य अङ्गों में पहुँचाया है। (एष वा ओदनः....वेद) अर्थ पूर्ववत् मन्त्र ३५।

[अन्तरिक्षेण व्यचसा=अन्तरिक्ष में वायु और मेघ होते हैं। इस दृष्टि से वक्षोगत फेफड़ें तथा हृदय "अन्तरिक्ष व्यचस्" द्वारा अभिप्रेत प्रतीत होते हैं। राजयक्ष्म रोग भी वक्षोगत रोग है, फेफड़ों का रोग है। अन्तरिक्ष के सम्बन्ध में निरुक्त में कहा है कि "**शरीरेष्वन्तरक्षयमिति**[1] **वा**" (२.३.१०) अर्थात् शरीरों के भीतर यह अक्षय है, क्षीण नहीं होता "अन्तः+अक्षयम्=अन्तरिक्षम्"। "अक्षय" पद श्लिष्टपद है। इसके दो अर्थ सम्भव हैं, जो स्वयं क्षीण नहीं होता, तथा जो क्षयरोग नहीं होने देता। विस्तृत तथा स्वच्छ अन्तरिक्ष में निवास तथा रहने-सहने से यक्ष्म तथा क्षय रोग नहीं होने पाता। गन्दी हवा यक्ष्म और क्षय को उत्पन्न करती है। इसीलिए मन्त्र में "अन्तरिक्षेण व्यचसा" पद द्वारा "विस्तृत अन्तरिक्ष" को राजयक्ष्म नाशक दर्शाया है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**साम्नी त्रिष्टुप्, एकपदाऽऽसुरी गायत्री, एकपदाऽऽसुर्यनुष्टुप्, साम्न्यनुष्टुप्, आर्च्यनुष्टुप्, आसुरी बृहती, दैवी पङ्क्तिः**॥

ततश्चैनमन्येन पृष्ठेन प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।
विद्युत्त्वा हनिष्यतीत्येनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्।
दिवा पृष्ठेन। तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम्।
एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद॥ ४०॥

अर्थ—(पूर्वे ऋषयः) पूर्व काल के या सद्गुणों से पूरित ऋषियों ने (येन पृष्ठेन) जिस पीठ से (एतम्) इस ओदन का (प्राश्नन्) प्राशन किया है, (ततः) उससे (च=चेत्) यदि (अन्येन) अन्य प्रकार की (पृष्ठेन) पीठ से (एनम्) इस ओदन का (प्राशीः) तूने प्राशन किया है, तो (विद्युत्) बिजली (त्वा) तेरी (हनिष्यति) हत्या करेगी—(इति) यह (एनम्) इस प्राशनकर्त्ता को विज्ञ (आह) कहे। (तं वा अहं न अर्वाञ्चं, न पराञ्चं, न प्रत्यञ्चम्) अर्थ पूर्ववत् मन्त्र ३५। (तेन दिवा पृष्ठेन) उस द्युलोक रूपी पीठ से (एनम्) इस ओदन का (प्राशिषम्) मैंने प्राशन किया है, (तेन) उससे (एनम्) इस ओदन को (अजीगमम्) अन्य अङ्गों में मैंने पहुँचाया है। (एष वा ओदनः....वेद) अर्थ पूर्ववत् मन्त्र ३५।

---

१. शरीर तथा शरीरावयवों के अन्तर अर्थात् अभ्यन्तर अन्तरिक्षीय शुद्ध वायु, क्षयरोग होने नहीं देती। यह शुद्ध वायु फेफड़ों में जा कर, रक्त को शुद्ध करके, समग्र शरीर तथा शरीरावयवों को स्वस्थ करती है।

[शरीर के पृष्ठ भाग में मस्तिष्क (Brain), सुषुम्णा नाड़ी (Nervous cord), तथा सुषुम्णा नाड़ी के तन्तुओं-प्रतन्तुओं का समग्र शरीर में प्रसार है। इस समग्र नाड़ी-संस्थान को द्युलोकात्मक जान कर ओदन प्राशन करने का विधान मन्त्र द्वारा हुआ है। अर्थात् ओदन का सेवन इस प्रकार करने का विधान किया है जिससे कि द्युलोकात्मक[१] नाड़ी संस्थान स्वस्थ बना रहे, विकृत न हो। द्युलोक विद्युत् का स्रोतस्थान है। इसी प्रकार सुषुम्णा नाड़ी-संस्थान शारीरिक-विद्युत् का स्रोतस्थान है। विकृत अन्नों के प्राशन और अयथाविधि द्वारा प्राशन से विद्युत् का यथोचित प्रवाह शरीर में न होने पर विकृतावस्था की विद्युत् हत्या कर देती है। महात्माओं के सिरों के चारों ओर जो प्रभामण्डल होते हैं वे शारीरिक विद्युत् के कारण ही होते हैं। इस शारीरिक विद्युत् के सम्बन्ध में "Your guide to health" (ग्रन्थकार Clifford R. Anderson. M.D.)के निम्नलिखित उद्धरण विशेष प्रकाश डालते हैं यथा—

(1) Thought is an electrical process that depends on many different parts of the brain. (2) They (Thoughts) are more permanent, probably because of actual changes within the electrical circuits of the brain itself. (3) All living tissues produce some kind of electrical waves. These waves can now be measured by delicate instruments, that measure the electrical currents produced by the heart muscle itself (Nervous disorders)। शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग की विद्युत् का मूलस्रोत पृष्ठगत सुषुम्णा ही है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**साम्नी त्रिष्टुप्, एकपदाऽऽसुरी गायत्री, दैवी जगती, एकपदाऽऽसुर्यनुष्टुप्, साम्न्यनुष्टुप्, आसुरी पङ्क्तिः**॥

ततश्चैनमन्येनोरसा प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।
कृष्या न रात्स्यसीत्येनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्।
पृथिव्योरसा। तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम्।
एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद॥ ४१॥

अर्थ—(पूर्वे ऋषयः) पूर्वकाल के या सद्‌गुणों से पूरित ऋषियों ने (येन उरसा) जिस वक्षःस्थल से (एतम्) इस ओदन का (प्राश्नन्) प्राशन किया है, (ततः) उससे (अन्येन उरसा) भिन्न प्रकार के वक्षःस्थल से (च=चेत्) यदि (एनम्) इस ओदन का (प्राशीः) तूने प्राशन किया है, तो (कृष्या) कृषिकर्म द्वारा (न रात्स्यसि) तू समृद्ध नहीं होगा—(इति) यह (एनम्) इस प्राशनकर्त्ता को विज्ञ (आह) कहे। (तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं प्रत्यञ्चम्) अर्थ पूर्ववत् मन्त्र ३५। (तेन) उस (पृथिव्या उरसा) पृथिवीरूपी वक्षःस्थल से (एनम्) इस ओदन को (अजीगमम्) मैंने उदरादि अङ्गों में पहुँचाया है। (एष वा ओदनः.....वेद) पूर्ववत् मन्त्र ३५।

[पृथिव्या उरसा=जिस प्रकार पृथिवी, बीज का एक दाना खा कर, उसे रूपान्तरित कर, उससे कई गुना बीज=दानों को उत्पन्न कर, प्राणियों की रक्षा करती है, इसी प्रकार मैंने वक्षः स्थल रूपी पृथिवी में

१. सुषुम्णानाड़ी के चक्र तथा तन्तुओं का तान-प्रतान, शरीर में प्रकाश (विद्युत्) का हेतु है। तथा "दिवं यश्चक्रे मूर्धानम्" (अथर्व० १०.७.३२) द्वारा मूर्धा को द्युलोक भी कहा है।

वीरता और बल का बीज बो कर, उससे उत्पन्न नानाविध कर्मों द्वारा प्राणिमात्र की रक्षा का व्रतग्रहण किया है—यह अभिप्राय मन्त्र का प्रतीत होता है]।

ऋषि:—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**साम्नी त्रिष्टुप्, एकपदाऽऽसुरी गायत्री, एकपदाऽऽसुर्यनुष्टुप्, साम्न्यनुष्टुप्, आर्च्यनुष्टुप्, दैवी त्रिष्टुप्**॥

ततश्चैनमन्येनोदरेण प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।
उदरदारस्त्वा हनिष्यतीत्येनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्।
सत्येनोदरेण। तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम्।
एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद॥ ४२॥

अर्थ—(पूर्वे ऋषयः) पूर्व काल के या सद्गुणों से पूरित ऋषियों ने (येन उदरेण) जिस उदर से (एतम्) इस ओदन का (प्राश्नन्) प्राशन किया है, (ततः) उससे (अन्येन उदरेण) भिन्न प्रकार के उदर से (च=चेत्) यदि (एनम्) इस ओदन का (प्राशीः) तूने प्राशन किया है, तो (उदरदारः) पेट का फटना अर्थात् उदर-शूल या उदर-व्यथा (त्वा) तुझे (हनिष्यति) मार डालेगी या तुझे प्राप्त होगी—(इति) यह (एनम्) इस प्राश्नकर्त्ता को विज्ञ (आह) कहे। (तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्) अर्थ पूर्ववत् मन्त्र ३५। (तेन सत्येन उदरेण) उस सत्यात्मक उदर से (एनम्) इस ओदन का (प्राशिषम्) मैंने प्राशन किया है, (तेन) उस द्वारा (एनम्) इस ओदन को (अजीगमम्) मैंने अन्य अङ्गों में पहुँचाया है (एष वा ओदनः......वेद) अर्थ पूर्ववत् मन्त्र ३५।

[सत्येन उदरेण="सत्यात्मक उदर" का अभिप्राय अनुसंधेय है। आयुर्वेद खान-पान के जिन तथ्यों का कथन करता है तदनुसार भोजन करना चाहिए, अन्यथा प्रकार से उदरदार हो जाएगा—सम्भवतः "उदरेण सत्येन" का यह अभिप्राय हो। वे तथ्य हैं, बिना भूख के न खाना, मित, पथ्य तथा ऋत्वनुकूल भोजन करना आदि। सायणाचार्य ने "उदरदारः" का अर्थ "अतिसार" किया है। सत्य का अर्थ "उदक[1]" भी होता है। कब्ज उदरदार अर्थात् उदर व्यथा को उत्पन्न करती है। **सत्यम् उदकनाम** (निघं० १.१२)। उदक के उचित मात्रा में सेवन करने से आन्तों की खुश्की दूर हो कर, शौचक्रिया के हो जाने से, उदर व्यथा नहीं होने पाती—यह डाक्टरी सिद्धान्त है। यथा "The person who does not drink six to eight glasses of fluid daily may soon have trouble with his internal organs. He may suffer from constipation and other digestive complaints. Stones may form in his kidneys and bladder etc. (Your guide to health).

अथर्व० ४.१६.६७ में अनृतभाषण का सम्बन्ध उदर के संस्राव के साथ दर्शाया है। यथा "**मा ते मोच्यनृतवाङ्[2] नृचक्षः। आस्तां जाल्म उदरं श्रंशयित्वा कोष्ठ इवाबन्धः परिकृत्यमानः**"]।

---

१. अभिप्राय यह है कि भोजन के साथ-साथ तथा तत्पश्चात् उदक का पान भी उचित मात्रा में होना चाहिए।

२. इस मन्त्र में "अनृत-भाषण" को उदर-संस्राव का हेतु दर्शाया है। उदर-संस्राव=उदरदार (उदर+**दॄ विदारणे**)। संश्रयित्वा=संस्रयित्वा।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**साम्नी त्रिष्टुप्, एकपदाऽऽसुरी गायत्री, दैवी जगती, एकपदाऽऽसुर्यनुष्टुप्, साम्न्यनुष्टुप्, आर्च्यनुष्टुप्, आसुरी पङ्क्तिः** ॥

ततश्चैनमन्येन वस्तिना प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।

अप्सु मरिष्यसीत्येनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्।

समुद्रेण वस्तिना। तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम्।

एष वा ओदनः सवाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः।

सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद॥ ४३॥

अर्थ—(पूर्वे ऋषयः) पूर्वकाल के या सद्गुणों से पूरित ऋषियों ने (येन वस्तिना) जिस मूत्राशय से (एतम्) इस ओदन का (प्राश्नन्) प्राशन किया है, (ततः) उससे (अन्येन) भिन्न प्रकार के (वस्तिना) मूत्राशय से (च=चेत्) यदि (एनम्) इस ओदन का (प्राशीः) तूने प्राशन किया है, तो (अप्सु) जलों में (मरिष्यसि) तू मरेगा, (इति) यह (एनम्) इस प्राशन कर्त्ता को विज्ञ (आह) कहे। (तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्) अर्थ पूर्ववत् मन्त्र ३५। (तेन) उस (समुद्रेण वस्तिना) समुद्ररूपी मूत्राशय की दृष्टि से (एनम्) इस ओदन का (प्राशिषम्) मैंने प्राशन किया है, (तेन) उस द्वारा (एनम्) इस को (अजीगमम्) मैंने अन्य अङ्गों तक पहुँचाया है। (एष वा ओदनः.....वेद) अर्थ पूर्ववत् मन्त्र ३५।

[समुद्र खारा होता है, अम्ल नहीं। भोजन में भोज्य पदार्थ ऐसा होना चाहिए जो कि मूत्र में अम्ल पैदा न करे, तथा जलपान भी इसी प्रकार होना चाहिए। मूत्र यदि अम्ल होगा तो मूत्र जलन करता हुआ मूत्रेन्द्रिय द्वारा प्रस्रवित होगा। मिष्टान्न का अधिक प्रयोग मूत्र को अम्ल बना देता है, और मधुमेह जैसे रोगों को उत्पन्न कर देता है। तथा समुद्रवत्[1] जलपान प्रभूत मात्रा में होना चाहिए, इससे वस्तिरोग नहीं होता]।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**साम्नी त्रिष्टुप्, एकपदाऽऽसुरी गायत्री, एकपदाऽऽसुर्यनुष्टुप्, साम्न्यनुष्टुप्, आर्च्यनुष्टुप्, आसुरी जगती** ॥

ततश्चैनमन्याभ्यामूरुभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।

ऊरू ते मरिष्यत इत्येनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्।

मित्रावरुणयोरूरुभ्याम्। ताभ्यामेनं प्राशिषं ताभ्यामेनमजीगमम्।

एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः।

सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद॥ ४४॥

अर्थ—(पूर्वे ऋषयः) पूर्व काल के या सद्गुणों से पूरित ऋषियों ने (याभ्याम्, ऊरुभ्याम्) जिन दो ऊरुओं से (एतम्) इस ओदन को (प्राश्नन्) प्राशन किया है, (ततः) उससे (अन्याभ्याम्) भिन्न प्रकार के (ऊरुभ्याम्) ऊरुओं से (च=चेत्) यदि (एनम्) इस ओदन का (प्राशीः) तूने प्राशन किया है, तो (ते) तेरे (ऊरू) दोनों ऊरु (मरिष्यतः) प्राणहीन हो जाएँगे, निःशक्त हो जाएँगे, (इति) यह (एनम्)

---

१. "यत् पिबामि सं पिबामि समुद्र इव संपिबः" (अथर्व० ६.१३५.२)।

इस प्राशनकर्त्ता को विज्ञ (आह) कहता है। (तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्) अर्थ पूर्ववत् मन्त्र ३५। (ताभ्याम् मित्रावरुणयोः, ऊरुभ्याम्) मित्र और वरुण के उन दो ऊरुओं से (एनम्) इस ओदन का (प्राशिषम्) मैंने प्राशन किया है, (ताभ्याम्) उन द्वारा (एनम्) इस ओदन को (अजीगमम्) मैंने अन्य अङ्गों में पहुँचाया है, अर्थात् इस ओदन के परिपक्व रस को अन्य अङ्गों में पहुँचाया है। (एष वा ओदनः.......वेद) अर्थ पूर्ववत्, मन्त्र ३५।

[ऊरु=यह, thighs "**ऊर्वोरोजः**" (अथर्व० १९.६०.२) ऊरुओं में ओज होता है, जिससे ऊरु समग्र शरीर के भार को उठाए रखते हैं। भोजन इस प्रकार का और इस दृष्टि से करना चाहिए जिससे ऊरुओं में ओजस् की प्राप्ति हो। इसके लिए मित्र और वरुण के ऊरुओं को लक्ष्य बनाना चाहिए। मित्र है सूर्य, और वरुण है चन्द्रमा। मित्र पूर्व दिशा से उदित होता है, और चन्द्रमा पश्चिम दिशा से। वरुण, पश्चिम दिशा का अधिपति है। यथा "**प्रतीची दिग् वरुणोऽधिपतिः**" (अथर्व० ३.२७.३)। सूर्य और चन्द्रमा की किरणें इन दोनों के ऊरु हैं। ये बड़े ओज वाले हैं। मानो इनकी किरण रूपी ऊरुओं ने इन भारी सूर्य और चाँद के बोझ को उठाया हुआ है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**साम्नी त्रिष्टुप्, एकपदाऽऽसुरी गायत्री, आर्च्यनुष्टुप्, आसुरी पङ्क्तिः, दैवी त्रिष्टुप्**॥

ततश्चैनमन्याभ्यामष्ठीवद्भ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।
स्रामो भविष्यसीत्येनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्।
त्वष्टुरष्ठीवद्भ्याम्। ताभ्यामेनं प्राशिषं ताभ्यामेनमजीगमम्।
एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद॥ ४५॥

अर्थ—(पूर्वे ऋषयः) पूर्वकाल के या सद्गुणों से पूरित ऋषियों ने (याभ्याम्, अष्ठीवद्भ्याम्) हड्डियों वाले जिन दो घुटनों से (एतम्) इस ओदन का (प्राश्नन्) प्राशन किया है, (ततः) उन घुटनों से (अन्याभ्याम्, अष्ठीवद्भ्याम्) भिन्न प्रकार के घुटनों से (च=चेत्) यदि (एनम्) इस ओदन का (प्राशीः) तूने प्राशन किया है तो (स्रामः) स्रामरोग वाला (भविष्यसि) तू हो जाएगा, (इति) यह (एनम्) इस प्राशनकर्त्ता को विज्ञ (आह) कहे। (तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्) अर्थ पूर्ववत् मन्त्र ३५। (ताभ्याम् त्वष्टुः अष्ठीवद्भ्याम्) त्वष्टा के उन हड्डियों वाले घुटनों से (एनम्) इस ओदन का (प्राशिषम्) मैंने प्राशन किया है, (ताभ्याम्) उन द्वारा (एनम्) इस ओदन [के परिपक्व रस] को (अजीगमम्) अन्य अङ्गों में मैंने पहुँचाया है। (एष वा ओदनः....वेद) अर्थ पूर्ववत्, मन्त्र ३५।

[त्वष्टुः=त्वष्टा के तीन अर्थ हैं, (१) सूर्य, (२) विद्युत् (३) अग्नि (शाकपूणि के मतानुसार)। मन्त्र में त्वष्टा द्वारा विद्युत् अभीष्ट है। इसकी अस्थियाँ हैं करकाः, ओले। ये ओले जब पृथिवी पर गिरते हैं तो कठिनावस्था में, दृढ़ावस्था में होते हैं। इसी प्रकार घुटनों की दृढ़ावस्था होनी चाहिए। घुटनों की अस्थियों के ढीला पड़ जाने से घुटनों में पीड़ा हो जाती है। घुटनों की दृढ़ता में मेघीय विद्युत् (त्वष्टा) के करकों का दृष्टान्त दिया है। स्रामः=शुष्कजङ्घः (सायण)]।

ऋषि:—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ता:** ॥ छन्द:—**साम्नी त्रिष्टुप्, एकपदाऽऽसुरी गायत्री, एकपदाऽऽसुर्यनुष्टुप्, साम्न्यनुष्टुप्, आर्च्यनुष्टुप्, याजुषी गायत्री** ॥

ततश्चैनमन्याभ्यां पादाभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।
बहुचारी भविष्यसीत्येनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्।
अश्विनोः पादाभ्याम्। ताभ्यामेनं प्राशिषं ताभ्यामेनमजीगमम्।
एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद॥ ४६ ॥

अर्थ—(पूर्वे ऋषय:) पूर्वकाल के या सद्‌गुणों से पूरित ऋषियों ने (याभ्यां पादाभ्याम्) जिन दो पादों से (एतम्) इस ओदन का (प्राश्नन्) प्राशन किया है, (तत:) उससे (अन्याभ्याम् पादाभ्याम्) भिन्न प्रकार के पादों से (च=चेत्) यदि (एनम्) इस ओदन का (प्राशी:) तूने प्राशन किया है, तो (बहुचारी भविष्यसि) बहुत विचरने वाला तू होगा, (इति) यह (एनम्) इस ओदन के प्राशनकर्त्ता को विज्ञ कहे। (तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्) अर्थ पूर्ववत् मन्त्र ३५। (ताभ्याम् आश्विनो: पादाभ्याम्) अश्वियों के उन दो पादों से (एनम्) इस ओदन का (प्राशिषम्) मैंने अन्य प्राशन किया है, (ताभ्याम्) उन दो पादों से (एनम्) इस प्राशित ओदन के रस को (अजीगमम्) मैंने अन्य अङ्गों में [पैरों की अंगुली आदि में] पहुँचाया है। (एष वा ओदन:.......वेद) अर्थ पूर्ववत्, मन्त्र ३५।

[बहुचारी=प्रवासी, "प्रवासशील" (सायण)। सम्भवत: पादरोगों के उपचार के लिए भिन्न-भिन्न स्थानों में घूमना निर्दिष्ट किया है। पैरों और जङ्घाओं के अतिसूजन रोग को "हस्तिपद रोग कहते हैं, और आङ्गल भाषा में "Elephantiasis"। "अश्विनो: पादाभ्याम्" द्वारा सूर्य और चन्द्रमा की रश्मियों को सूचित किया है। "**अश्विनौ सूर्याचन्द्रमसौ**" (निरुक्त १२.१.१)। मन्त्र ११.३। पर्याय २, मन्त्र ३ में सूर्य और चन्द्रमा का वर्णन "अक्षीभ्याम्" द्वारा किया है। वर्तमान मन्त्र में अश्वियों के पादों का वर्णन हुआ है। संस्कृत साहित्य में सूर्य की रश्मियों को "पाद" कहा है। यथा "**बालस्यापि रवे: पादा: पतन्ति शिरसि भूभृताम्**" (शिशुपालवध ९.३४)। पादरोग का शमन सम्भवत: सूर्य की शुभ्र रश्मियों या इसकी सप्तरश्मियों में से किसी रश्मि द्वारा हो सकता है। सूर्य की शुभ्र रश्मियों को spectrum द्वारा ७ रश्मियों में विभक्त किया जा सकता है। वैदिक साहित्य में अश्वियों को "**देवानां भिषजौ**" द्वारा वर्णित भी किया जाता है। "**अश्विनो: पादाभ्यां प्राशिषम्**" का यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि अश्वियों की रश्मियों द्वारा अन्न को पवित्र करके, Disinfect करके मैंने इसका प्राशन किया है। यथा— "**उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभि:**" (यजु:० १.३१)। सूर्य की रश्मियों को इस मन्त्रपाद में "अच्छिद्र पवित्र" कहा है। अभिप्राय अस्पष्ट है। सम्भवत: बहुचारी का अभिप्राय यह हो कि तेरी टांगों तथा पैरों में अस्थिरता तथा लड़खड़ाना रोग हो जाएगा, जिसका कि उपचार "अश्विनो: पादाभ्याम्" द्वारा हो सकेगा। "बहुचारी" पद में "चर" का अर्थ "गतिमात्र" अभिप्रेत होने पर पैरों की अस्थिरता तथा लड़खड़ाना भी गति ही है। शारीरिक रोगों का मुख्य कारण, उदर तथा खानपान में असंयम है]।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**साम्नी त्रिष्टुप्, एकपदाऽऽसुरी गायत्री, दैवी जगती, एकपदाऽऽसुर्यनुष्टुप्, साम्न्यनुष्टुप्, आर्च्यनुष्टुप्, आसुरी बृहती** ॥

ततश्चैनमन्याभ्यां प्रपदाभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।
सर्पस्त्वा हनिष्यतीत्येनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्।
सवितुः प्रपदाभ्याम्। ताभ्यामेनं प्राशिषं ताभ्यामेनमजीगमम्।
एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद॥ ४७॥

अर्थ—(पूर्वे ऋषयः) पूर्वकाल के या सद्‌गुणों से पूरित ऋषियों ने (याभ्याम्, प्रपदाभ्याम्) जिन पादाग्रभागों से (एतम्) इस ओदन का (प्राश्नन्) प्राशन किया है, (ततः) उनसे (अन्याभ्याम्, प्रपदाभ्याम्) भिन्न प्रकार के पादाग्रों से (च=चेत्) यदि (एनम्) इस ओदन का (प्राशीः) तूने प्राशन किया है तो (त्वा) तुझे (सर्पः) सर्प (हनिष्यति) मार डालेगा, या प्राप्त हो जाएगा, (इति) यह (एनम्) इस प्राशनकर्त्ता को विज्ञ (आह) कहे। (तं वा अहं न अर्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्) अर्थ पूर्ववत् मन्त्र ३५। (ताभ्यां सवितुः प्रपदाभ्याम्) सविता के उन प्रपदों अर्थात् पादाग्रों द्वारा (एनम्) इस ओदन का (प्राशिषम्) मैंने प्राशन किया है, (ताभ्याम्) उन प्रपदों द्वारा (एनम्) इस ओदन [के रस] को (अजीगमम्) मैंने अन्य अङ्गों में पहुँचाया है। (एष वा ओदनः.......वेद) अर्थ पूर्ववत् मन्त्र ३५।

[सवितुः प्रपदाभ्याम्=यास्काचार्य के अनुसार "**तस्य [सवितुः] कालो यदा द्यौरपहततमस्काकीर्णरश्मिर्भवति; अधस्तात् तद्वेलायां तमो भवति**" (निरुक्त १२.२.१२), अर्थात् जब द्युलोक का तमस् अन्धकार अपहत हो जाए और द्युलोक रश्मियों से आकीर्ण हो जाए, और नीचे पृथिवी पर अभी तमस् अन्धकार हो तो सविता का काल है। इस समय मानो सविता के प्रपदों पादाग्रों का प्रवेश हुआ है, पूर्णपदों का नहीं। इस काल में ओदन आदि का प्राशन अर्थात् प्रातराश करना चाहिए, न कि इससे पूर्व। इस समय से पूर्वकाल में अन्धेरा अधिक होता है, अतः सर्प आदि के काटने का भय रहता है। हनिष्यति=सर्प मार डालेगा, या प्राप्त होगा, इन दोनों की सम्भावना अन्धेरे में रहती है। **हन् हिंसागत्योः**, हन्=हिंसा और गति (प्राप्त[१]) होना]।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**साम्नी त्रिष्टुप्, एकपदाऽऽसुरी गायत्री, आर्च्यनुष्टुप्, आसुरी बृहती, याजुषी गायत्री** ॥

ततश्चैनमन्याभ्यां हस्ताभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।
ब्राह्मणं हनिष्यसीत्येनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्।
ऋतस्य हस्ताभ्याम्। ताभ्यामेनं प्राशिषं ताभ्यामेनमजीगमम्।
एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद॥ ४८॥

अर्थ—(पूर्वे ऋषयः) पूर्व काल के या सद्‌गुणों से पूरित ऋषियों ने (याभ्याम्, हस्ताभ्याम्) जिन

१. गतेस्त्रयोऽर्थाः, ज्ञानं, गतिः, प्राप्तिश्चति। सर्पः=सर्पण करने वाले सांप, बिच्छु आदि।

हाथों से (एतम्) इस ओदन का (प्राश्नन्) प्राशन किया है, (ततः) उनसे (अन्याभ्याम् हस्ताभ्याम्) भिन्न प्रकार के हाथों से (च=चेत्) यदि (एनम्) इस ओदन का (प्राशीः) तूने प्राशन किया है, तो (ब्राह्मणम्) अपने ब्राह्मणत्व-धर्म का (हनिष्यसि) तू हनन करेगा, (इति) यह (एनम्) इस प्राशनकर्त्ता को (आह) विज्ञ कहे। (तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्) अर्थ पूर्ववत् मन्त्र ३५। (ताभ्याम् ऋतस्य, हस्ताभ्याम्) सत्य के उन हाथों द्वारा (एनम्) इस ओदन का (प्राशिषम्) मैंने प्राशन किया है। (ताभ्याम्) उनके द्वारा (एनम्) इस ओदन [के रस] को (अजीगमम्) मैंने अन्य अङ्गों में पहुँचाया है। (एष वा ओदनः....वेद) अर्थ पूर्ववत् मन्त्र ३५।

[ब्राह्मणम्=ब्राह्मणत्वम्, ब्राह्मणधर्म, ब्राह्मणपन। ऋतस्य हस्ताभ्याम्=सत्य के हाथों द्वारा प्राशन मैंने किया है, अर्थात् सत्य के हाथों द्वारा मैंने ओदन का अर्जन किया है, और सत्य के हाथों द्वारा ही मैंने ओदन का प्राशन किया है—यह ब्राह्मण धर्म है, ब्राह्मणत्व है। "सत्यानृत" है व्यापार, जो कि वैश्य का कर्म है (मनु० ४.४, ६)। परन्तु ब्राह्मण का कर्म है सदा सत्यानुष्ठान। ऋषि लोग सत्य के हाथों द्वारा ओदन का प्राशन करते हैं—ऐसी मन्त्रभावना है, इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को इसी भावना से अन्नग्रहण करना चाहिए]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**साम्नी त्रिष्टुप्, एकपदाऽऽसुरी गायत्री, एकपदाऽऽसुर्यनुष्टुप्, साम्न्यनुष्टुप्, आर्च्यनुष्टुप्, दैवी त्रिष्टुप्, एकपदा भुरिक्साम्नी बृहती**॥

ततश्चैनमन्यया प्रतिष्ठया प्राशीर्यया चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।
अप्रतिष्ठानोऽनायतनो मरिष्यसीत्येनमाह।
तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्।
सत्ये प्रतिष्ठाय। तयैनं प्राशिषं तयैनमजीगमम्।
एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद॥ ४९॥

अर्थ—(पूर्वे ऋषयः) पूर्वकाल के या सद्गुणों से पूरित ऋषियों ने (यथा प्रतिष्ठया) जिस दृढ़ स्थिति द्वारा (एतम्) इस ओदन का (प्राश्नन्) प्राशन किया है, (ततः) उससे (अन्यया प्रतिष्ठया) भिन्न प्रकार की दृढ़-स्थिति द्वारा (च=चेत्) यदि (एनम्) इस ओदन का (प्राशीः) तूने प्राशन किया है, तो (अप्रतिष्ठानः) प्रतिष्ठा अर्थात् दृढ़स्थिति से रहित तथा (अनायतनः) आश्रय-रहित (मरिष्यसि) मर जाएगा, (इति) यह (एनम्) इस प्राशनकर्त्ता को विज्ञ कहे। (तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्) अर्थ पूर्ववत् मन्त्र ३५। (सत्ये प्रतिष्ठाय) अपितु सत्यब्रह्म में दृढ़-स्थित होकर (तया) उस दृढ़-स्थिति द्वारा (एनम्) इस ओदन का (प्राशिषम्) मैंने प्राशन किया है, (तया) उस दृढ़ स्थिति द्वारा (एनम्) इस ओदन [के रस] को (अजीगमम्) मैंने अन्य अङ्गों में पहुँचाया है। (एष वा ओदनः......वेद) अर्थ पूर्ववत् मन्त्र ३५।

[मन्त्र में सत्यब्रह्म में दृढ़-स्थित होकर ओदन के प्राशन का वर्णन हुआ है। ऐसा न होने पर प्राशनकर्त्ता वस्तुतः आश्रय-रहित होकर, मृत्यु का ग्रास बनता रहेगा। मन्त्र ४८ में "**ऋतस्य हस्ताभ्याम्**" द्वारा जीवन को सत्यमय बना कर ओदन के प्राशन का वर्णन हुआ है, और मन्त्र ४९ में सत्यस्वरूप ब्रह्म

में दृढ़-स्थित होकर ओदन के प्राशन का वर्णन हुआ है, और इस विधि द्वारा जन्म-मरण की शृङ्खला से उन्मुक्त हो जाने का निर्देश हुआ है]।

सूक्त ३, पर्याय ३

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**आसुर्यनुष्टुप्** ॥

एतद्वै ब्रध्नस्य विष्टपं यदोदनः ॥ ५० ॥

अर्थ—(यद्) जो कि (ओदनः) ओदन अर्थात् ब्रह्मौदन है, (एतद्) यह (वै) निश्चय से (ब्रध्नस्य) महान् सूर्य का (विष्टपम्) प्रवेश स्थान है।

[ब्रध्नस्य=**ब्रध्नो महान् सूर्यः** (उणा० ३.५, महर्षि दयानन्द)। ब्रध्न शब्द "**बन्ध बन्धने**" का रूप है। महान् सूर्य ने ग्रह-उपग्रह आदि को अपने साथ आकर्षण द्वारा बाँधा हुआ है। विष्टपम्=**विशन्ति यत्रेति** (उणा० ३.१४५, महर्षि दयानन्द)। सूर्य तथा लोकलोकान्तर ब्रह्म में प्रविष्ट हैं, अतः ब्रह्म विष्टप है]।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**आर्च्युष्णिक्** ॥

ब्रध्नलोको भवति ब्रध्नस्य विष्टपि श्रयते य एवं वेद ॥ ५१ ॥

अर्थ—(यः) जो उपासक (एवम्) इस प्रकार ब्रह्मौदन के स्वरूप को (वेद) जान लेता है उसे (ब्रध्नलोकः) महान् सूर्यलोक (भवति) प्राप्त हो जाता है, और (ब्रध्नस्य) महान् सूर्यलोक के (विष्टपि) प्रवेशस्थान परमेश्वर में (श्रयते) वह आश्रय पाता है।

[ब्रध्नः=महान् सूर्यः (उणा० ३.५, महर्षि दयानन्द); तथा sun (आप्टे)। विष्टपि=विशन्ति यत्रेति (उणा० ३.१४५; महर्षि दयानन्द)। ब्रध्नलोकः="**अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरुर्ध्वमाक्रमते, स ओमिति वा आह, उद् वा मीयते, स यावत्क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छत्येतद् वै खलु लोकद्वारं, विदुषां प्रपदनम्**" (छान्दोग्य० उप० ८.६.५), अर्थात् जब इस शरीर से उत्क्रमण करता है, तब इन ही रश्मियों द्वारा ऊर्ध्व की ओर आक्रमण करता है, वह "ओ३म्" ऐसा कहता है, ऊर्ध्व गति करता है, जितनी देर मन को सूर्य तक उत्क्षेपण में लगती उतने काल में वह आत्मा आदित्य को पहुँच जाता है। यह आदित्य ब्रह्मलोक का द्वार है, जिसे कि ब्रह्मवेत्ता लोग पाते हैं। यजुर्वेद में ब्रह्म को आदित्यनिष्ठ कहा है। यथा—"**योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म**" (४०.१७) ब्रह्म है तो सर्वव्यापक, परन्तु वह सौरमण्डल के नियन्त्रण में केन्द्रिय शक्तिरूप आदित्य में स्थित होकर सौरमण्डल का नियन्त्रण करता है। मन्त्र ५१ में सूर्य की स्थिति ब्रह्म में कही है। ब्रह्म, सूर्य में प्रविष्ट भी है, और सूर्य का आश्रय भी]।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिपदा भुरिक् साम्नी त्रिष्टुप्** ॥

एतस्माद्वा ओदनात्त्रयस्त्रिंशतं लोकान्निरमिमीत प्रजापतिः ॥ ५२ ॥

अर्थ—(वै) निश्चय से (एतस्मात्, ओदनात्) इस निज-ब्रह्मौदन स्वरूप से, (प्रजापतिः[१]) प्रजापतिरूप

---

१. प्रलयावशिष्ट ब्रह्म ने सृष्ट्युत्पादनार्थ प्रजापतिरूप होकर ३३ लोकों का निर्माण किया। प्रलयावस्था में ब्रह्मा प्रजापति नहीं होता। प्रजाओं के होने पर ही ब्रह्म का प्रजापतिरूप आविर्भूत होता है। प्रलयावस्था में प्रजाएँ प्रकृतिलीन होती हैं। प्रजा=उत्पन्न पदार्थ। मन्त्र में ३३ लोक कहे हैं। वेदों में अन्यत्र ३३ देवों का वर्णन होता है, लोकों का नहीं। सम्भवतः "**लोकृ दर्शने**" अर्थ की दृष्टि से "लोकान्" का अभिप्राय हो—दर्शनीय ३३ देव, अर्थात् ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य और प्रजापति, तथा इन्द्र (विद्युत्)।

में (त्रयस्त्रिंशतं लोकान्) ३३ लोकों को (निरमिमीत) उसने निर्मित किया, अर्थात् ३३ देवों के ३३ स्थानों को नियत किया।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**आसुरी बृहती**॥

तेषां प्रज्ञानाय यज्ञमसृजत॥ ५३॥

अर्थ—(तेषाम्) उन ३३ लोकों के (प्रज्ञानाय) ज्ञान के लिए प्रजापति ने (यज्ञम्) यज्ञ की (असृजत) सृष्टि की।

[प्रजापति ने संसार-यज्ञ को रचा, ताकि इस यज्ञ के घटक ३३ लोकों का यथार्थ स्वरूप जाना जा सके[१]]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**द्विपदा भुरिक् साम्नी बृहती**॥

स य एवं विदुष उपद्रष्टा भवति प्राणं रुणद्धि॥ ५४॥

अर्थ—(सः) वह (यः) जो पुरुष (एवं विदुषः) इस प्रकार के ब्रह्मज्ञ का, (उपद्रष्टा भवति) उसके समीप रह कर, उसका दर्शन ही करता रहता है [उसके द्वारा उपदिष्ट, मार्ग के अनुसार जीवन-चर्या नहीं करता] वह (प्राणम्) निज प्राण अर्थात् जीवन में (रुणद्धि) रुकावट डालता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**साम्न्युष्णिक्**॥

न च प्राणं रुणद्धि सर्वज्यानिं जीयते॥ ५५॥

अर्थ—(च) और (न) न केवल (प्राणम्, रुणद्धि) जीवन में रुकावट ही डालता है, अपितु (सर्वज्यानिं जीयते) समग्र जीवन को हानि पहुँचाता है।

[ज्यानिम्=**ज्या वयोहानौ**। जीयते=ज्या कर्मणि लट् "**ग्रहिज्या**" (अष्टा० ६.१.१६) द्वारा सम्प्रसारण]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**प्राजापत्या बृहती**॥

न च सर्वज्यानिं जीयते पुरैनं जरसः प्राणो जहाति॥ ५६॥

अर्थ—(न च) और न केवल (सर्वज्यानिं जीयते) समग्र जीवन को हानि ही पहुँचाता है, अपितु (जरसः पुरा) जरावस्था से पहिले (एनम्) इसे (प्राणः जहाति) प्राण त्याग देता है।

सूक्त ४, [प्राण-सूक्त]

विषय-प्रवेश

(१) काण्ड ११, सूक्त ४ प्राण सूक्त है। मन्त्र २६ हैं। प्राण के नाना स्वरूपों का वर्णन हुआ है। मुख्यरूप में प्राण परमेश्वर है, जोकि प्राणों का भी प्राण है (१)।

(२) मेघ भी प्राण है, क्योंकि ये वर्षा द्वारा, तथा अन्नोत्पत्ति में कारण होने से प्राणियों को प्राण देते हैं (२-५; १७)।

(३) प्राण वायु तथा परमेश्वर, दोनों की प्राणरूपता (७, ८)।

(४) प्राणस्वरूप परमेश्वर की प्रिया तथा प्रेयसी [श्रेयसी] तनू (९)।

---

१. सृष्टि-यज्ञ को यहाँ यज्ञ कहा है। सृष्टि के होते ही सृष्टि के घटक अवयवों का प्रज्ञान हो सकता है। ज्ञेय वस्तु के अभाव में ज्ञेय का ज्ञान नहीं हो सकता।

(५) प्राण की उपासना, तथा तद् द्वारा सत्यवादी की उत्तमलोक में स्थिति (११)।

(६) प्राण है—देष्ट्री जगन्माता सूर्य, चन्द्रमा तथा प्रजापति (१२)।

(७) प्राण है—व्रीहि [धान्य], यव [जौ], तथा अनड्वान् [बैल] (१३)।

(८) प्राण द्वारा पुष्टि पाकर गर्भ से पुनर्जन्म (१४)।

(९) प्राण है—मातरिश्वा और वात (१५)।

(१०) प्राण द्वारा पोषित ४ प्रकार की ओषधियाँ, आथर्वणीः, आङ्गिरसीः, दैवीः, मनुष्यजाः (१६)।

(११) प्राणयज्ञ की महिमा, तथा उसके प्रति उपहार (१९)।

(१२) प्राण-परमेश्वर की आज्ञा या कथन का श्रवण (१९)।

(१३) देवताओं में गर्भरूप में प्रविष्ट प्राण-परमेश्वर (२०)।

(१४) हंसनामक प्राण (२१)।

(१५) प्राण के दो बराबर-बराबर के अर्धभाग (२२)।

(१६) प्राण के प्रति नमः (२३)।

(१७) प्राण और ब्रह्म की युगपत् स्थिति शरीर में (२४)।

(१८) प्राण का सदा जागरण (२५)।

(१९) जीवन के लिए प्राण को बाँधे रखना (२६)।

ऋषिः—**भार्गवो वैदर्भिः** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**शङ्कुमत्यनुष्टुप्** ॥

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे। यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम्॥ १ ॥

अर्थ—(प्राणाय नमः) प्राण को नमस्कार हो, (यस्य) जिसके (वशे) वश में (इदं सर्वम्) यह सब जगत् है। (भूतः) अनादिकाल से वर्तमान सत्स्वरूप (यः) जो प्राण (सर्वस्य) समग्र जगत् का (ईश्वरः) अधीश्वर है, (यस्मिन्) और जिसमें (सर्वम्) समग्र जगत् (प्रतिष्ठितम्) स्थित है।

[समग्र जगत् का मुख्य-प्राण परमेश्वर है। जड़-चेतन जगत् के प्रत्येक पदार्थ में अपना अपना प्राण है, जिसके कारण उस-उस पदार्थ की सत्ता बनी रहती है। यह प्रातिस्विक प्राण परमेश्वररूपी प्राण द्वारा पदार्थ-मात्र को प्राप्त है, क्योंकि प्रत्येक की स्थिति परमेश्वराश्रित है। परमेश्वर के नियमानुसार, जब परमेश्वर, इन पदार्थों में प्राणशक्ति, अर्थात् इनकी स्थिति को कायम रखने की शक्ति को हर लेता है तो उस महाप्रलय में सब पदार्थ प्रकृतिरूपी उपादान कारण में विलीन हो जाते हैं, और प्राणशक्ति को पुनः प्राप्त कर सृष्टिकाल में पुनः सत्तावान् हो जाते हैं]।

ऋषिः—**भार्गवो वैदर्भिः** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

नमस्ते प्राण क्रन्दाय नमस्ते स्तनयित्नवे।
नमस्ते प्राण विद्युते नमस्ते प्राण वर्षते॥ २ ॥

अर्थ—(प्राण) हे प्राण! (क्रन्दाय) नाद या ध्वनि करते हुए (ते नमः) तुझे नमस्कार हो, (स्तनयित्नवे) गरजते हुए (ते) तुझे (नमः) नमस्कार हो। (प्राण) हे प्राण! (विद्युते) चमकते हुए (ते नमः) तुझे नमस्कार हो, (प्राण) हे प्राण! (वर्षते) बरसते हुए (ते नमः) तुझे नमस्कार हो।

[मन्त्र में मेघ के वर्णन के व्याज से परमेश्वर को नमस्कार किये हैं। मेघ निज स्थिति और कार्यों के लिए प्राणदाता परमेश्वर से प्राण प्राप्त करता है। इसकी गरजना, नाद, चमकना और बरसना परमेश्वराधीन है। जैसे शरीर जड़ है, और शरीरस्थ जीवात्मा चेतन है। इस चेतन के कारण शरीर की स्थिति तथा चेष्टाएँ होती हैं, जीवात्मा के निकल जाने पर शरीर अग्नि के अर्पित हो जाता है, इसी प्रकार मेघ और परमेश्वरीय प्राण की पारस्परिक स्थिति है। आकाश के मेघाच्छन्न होने पर भी, परमेश्वरीयेच्छा के अभाव में, मेघ बरसता नहीं। मेघ तो परमेश्वरीय कृति है, और पत्थर की मूर्ति मानुषकृति है। पत्थर की मूर्ति से मनुष्य के कौशल की तो प्रशंसा हो सकती है, परमेश्वर की नहीं]।

ऋषिः—**भार्गवो वैदर्भिः** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यत्प्राण स्तनयित्नुनाभिक्रन्दत्योषधीः। प्र वीयन्ते गर्भान्दधतेथो बह्वीर्वि जायन्ते॥ ३॥

अर्थ—(यत्) जब (प्राणः) प्राण (स्तनयित्नुना) गर्जन द्वारा (ओषधीः) ओषधियों को (अभि) लक्ष्य करके (क्रन्दति) नाद या ध्वनि करता है, तब ओषधियाँ (प्रवीयन्ते) उत्पत्ति के अभिमुख होती हैं, (गर्भान् दधते) गर्भ धारण करती हैं, (अथो) तत्पश्चात् (बह्वीः) बहुत या बहुविधरूप में (विजायन्ते) पैदा होती हैं।

[मन्त्र दो में प्राण को ही स्तनयित्नु कहा है। परन्तु मन्त्र तीन में स्तनयित्नु को प्राण का साधन कहा है, प्राणरूप नहीं। अतः प्राण और स्तनयित्नु भिन्न-भिन्न हैं]।

ऋषिः—**भार्गवो वैदर्भिः** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यत्प्राण ऋतावागतेभिक्रन्दत्योषधीः।
सर्वं तदा प्र मोदते यत्किं च भूम्यामधि॥ ४॥

अर्थ—(ऋतौ आगते) वर्षा ऋतु के आने पर (यत्) जब (प्राणः) प्राण [मेघरूप में] (ओषधीः अभि) ओषधियों को लक्ष्य करके (क्रन्दति) नाद या ध्वनि करता है, (तदा) तब (सर्वम्) सब प्राणी और अप्राणी वस्तु (प्रमोदते) प्रमुदित अर्थात् प्रसन्न होती हैं (यत् किं च) जो कुछ भी कि (भूम्याम् अधि) पृथिवी पर है।

[वर्षा जल द्वारा अप्राणी वस्तुओं के धुल जाने पर उनका स्वच्छ रूप हो जाना उनकी प्रसन्नता है]।

ऋषिः—**भार्गवो वैदर्भिः** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यदा प्राणो अभ्यवर्षीद्वर्षेण पृथिवीं महीम्।
पशवस्तत्प्र मोदन्ते महो वै नो भविष्यति॥ ५॥

अर्थ—(यदा) जब (प्राणः) प्राण (महीम्, पृथिवीम्, अभि) बड़ी तथा विस्तीर्ण भूमि को लक्ष्य करके (वर्षेण) वर्षा द्वारा (अवर्षीत्) सींचता है, (तत्) तब (पशवः प्रमोदन्ते) पशु प्रमुदित अर्थात् प्रसन्न होते हैं कि (वै) निश्चय से (नः) हमारे लिए (महः) महान् अन्न (भविष्यति) होगा।

ऋषिः—**भार्गवो वैदर्भिः** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अभिवृष्टा ओषधयः प्राणेन समवादिरन्।
आयुर्वै नः प्रातीतरः सर्वा नः सुरभीरकः॥ ६॥

अर्थ—(अभिवृष्टाः ओषधयः) वर्षा द्वारा सींची गई ओषधियों ने (प्राणेन) प्राण के साथ (समवादिरन्) संवाद किया कि (वै) निश्चय से (नः आयुः) हमारी आयु को (प्रातीतरः) तूने बढ़ा दिया है, और (नः सर्वाः) हम सब को (सुरभीः) सुगन्धित (अकः) तूने कर दिया है।

[प्राण के साथ ओषधियों का संवाद कवितारूप में है। समग्र सूक्त का वर्णन भी कवितामय है]।

ऋषिः—**भार्गवो वैदर्भिः** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

नम॑स्ते अस्त्वा॒य॒ते नमो॑ अस्तु परा॒य॒ते।
नम॑स्ते प्राण॒ तिष्ठ॑त॒ आसी॑नायो॒त ते॒ नम॑ः॥ ७॥

अर्थ—(प्राण) हे प्राण! (आयते) आते हुए (ते) तुझे (नमः अस्तु) नमस्कार हो, (परायते) परे जाते हुए (नमः, अस्तु) नमस्कार हो। (तिष्ठते) स्थिर होते हुए (ते) तुझे (नमः) नमस्कार हो, (उत) तथा (आसीनाय) बैठे हुए (ते नमः) तुझे नमस्कार हो।

[मन्त्र में प्राणापान अर्थात् श्वासोच्छ्वास की प्रक्रिया द्वारा, ब्रह्माण्ड के प्राण को नमस्कार किया गया है। श्वासोच्छ्वास में नासिका द्वारा प्राण फेफड़ों के भीतर आता, तथा भीतर से बाहिर जाता है। प्राणायाम की विधि द्वारा शनैः-शनैः वह स्थिरता लाभ करता, अर्थात् श्वासोच्छ्वास की गति में विच्छेद अर्थात् कालिक अभाव होने लगता है, और कालान्तर के अभ्यास द्वारा पूर्ण गति-विच्छेद हो जाता है। इन दो गतिविच्छेदों को अल्पकालिक तथा दीर्घकालिक कुम्भक कह सकते हैं। विशेष परिज्ञान के लिए देखो योग २.४९-५१ पर व्यास भाष्य। आयते=पूरक; परायते=रेचक; तिष्ठते=आभ्यन्तर कुम्भक; आसीनाय= सम्भवतः बाह्य कुम्भक[१] अल्पकाल और क्रमशः अधिकाधिक काल तक चित्त की स्थिरता के अनुसार परमेश्वर का दर्शन भी अल्पाधिक काल तक होने लगता है। पहिले परमेश्वर का अत्यल्प काल के लिए दर्शन होता (आयते); और पुनः दर्शन का अभाव हो जाता, विलोप हो जाता (परायते)। कालान्तर में दर्शन अधिक काल के लिए स्थिर हो जाता (तिष्ठते); और अभ्यास के पूर्णतः परिपक्व हो जाने पर परमेश्वर मानो चित्त में आसीन हो जाता (आसीनाय)। चित्त में दृष्ट परमेश्वर के प्रतियोगी के नमस्कारों का वर्णन मन्त्र में हुआ है। आयते=चित्त में परमेश्वर का आना अर्थात् दर्शन देना। परायते=चित्त से परे-चला जाना, अर्थात् दर्शन का विलोप हो जाना। इस प्रकार का अभिप्राय "तिष्ठते" और "आसीनाय" का है। मन्त्र में प्राण-अपान या श्वास-उच्छ्वास रूप वायु के प्रति नमस्कार अभिप्रेत नहीं। इस सम्बन्ध में मन्त्र ७ और मन्त्र ११.२.१५ में समता और विषमता द्रष्टव्य है। मन्त्र ११.२.१५ निम्नलिखित है। यथा "**नमस्तेस्त्वायते नमो अस्तु परायते। नमस्ते रुद्र तिष्ठते आसीनायोत ते नमः**"। इन दोनों मन्त्रों में "रुद्र और प्राण" पदों के अतिरिक्त पूरी शब्दिक समता है। "रुद्र" पद चेतन-देवता को सूचित करता है। इसलिए वर्ण्य मन्त्र में भी "प्राण" से अभिप्राय, ब्रह्माण्ड का प्राणभूत परमेश्वर ही प्रतीत होता है]

ऋषिः—**भार्गवो वैदर्भिः** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**पथ्या पङ्क्तिः** ॥

नम॑स्ते प्राण प्राण॒ते नमो॑ अस्त्वपान॒ते।
परा॒चीना॑य ते॒ नम॑ः प्रती॒ची॒ना॑य ते॒ नम॒ः सर्व॑स्मै त इ॒दं नम॑ः॥ ८॥

अर्थ—(प्राण) हे प्राण! (प्राणते) प्राण क्रिया करने वाले (ते नमः) तुझे नमस्कार हो, (अपानते)

१. प्राणायाम के ४ भाग। अथवा चतुर्थ भाग="**बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः**" (योग २.५१)।

अपान क्रिया करने वाले के लिए (नमः अस्तु) नमस्कार हो। (पराचीनाय) पराङ्मुख अर्थात् शरीर से बाहिर की ओर गति करने वाले (ते नमः) तुझे नमस्कार हो, (प्रतीचीनाय) शरीर के प्रति अर्थात् शरीर के भीतर की ओर गति करने वाले (ते नमः) तुझे नमस्कार हो, (सर्वस्मै) जगत् की सब प्रकार की क्रियाओं को करने वाले (ते) तुझे (इदं नमः) यह नमस्कार हो।

[प्राणते=श्वासक्रिया। अपानते=उच्छ्‌वासक्रिया तथा गुदा सम्बन्धी अपान वायु की क्रिया। पराचीनाय=परा (परे)+अञ्च् (गतौ), पराञ्चनाय, परागमनकर्त्रे। मन्त्र ७ में **परायते** और मन्त्र ८ में **पराचीनाय** एकार्थक हैं। प्राणापान क्रिया तथा समग्र जगत् की क्रियाओं के कर्त्ता महाप्राण रूप परमेश्वर के प्रति नमस्कार है]।

ऋषिः—**भार्गवो वैदर्भिः** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

या ते॑ प्राण प्रि॒या त॒नूर्यो ते॑ प्राण॒ प्रेय॑सी।

अथो॒ यद्भे॑ष॒जं तव॒ तस्य॑ नो धेहि जी॒वसे॑॥ ९ ॥

अर्थ—(प्राण) हे प्राण! (या, ते, प्रिया, तनूः) जो तेरी प्रियरूपा तनू है, (या, उ, ते, प्राण, प्रेयसी) और जो, हे प्राण! तेरी अधिक प्रियरूपा तनू है, (अथो) तथा (तव) तेरा (यद्) जो (भेषजम्) भेषज अर्थात् जीवात्मा के रागद्वेष, अविद्या और विविध जन्मरूपी रोगों की चिकित्सा करने वाला स्वरूप है, (तस्य नः धेहि) उसे हमें प्रदान कर (जीवसे) जीवन के लिए।

[मन्त्र में प्राण की दो तनुओं का वर्णन हुआ है, एक है प्रियरूपा औद दूसरी है उससे अधिक प्रियरूपा। मन्त्रों में ब्रह्माण्ड और उसके घटक अवयवों को, परमेश्वर की तनू तथा तनू के अङ्गों के रूप में वर्णित किया है। यथा "**यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्। दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः**" "**यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः। अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः**"॥ "**यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरङ्गिरसोभवन्। दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः**"॥ (अथर्व० १०.७.३२-३४), इत्यादि।

इस प्रकार मन्त्रों में वर्णित पारमेश्वरी-तनू, अस्मदादि के लिए प्रियरूपा है, हम इसी तनू में लिप्त रहते हैं। परन्तु इससे भिन्न पारमेश्वरी-तनू, परमेश्वर का निज अलौकिक स्वरूप है जिसे कि प्रेयसी-तनू कहा है। यह तनू श्रेयसी है। संसार के विरक्त महात्मा, प्रियरूपा-तनू की अपेक्षा प्रेयसी-तनू के दर्शन के अभिलाषी होकर ध्यानावस्थित होते हैं। परमेश्वर भेषजरूप भी है, औषध रूपी भी है (**भिषज् चिकित्सायाम्**)। यथा "**भेषजमसि भेषजं गवेऽश्वाय पुरुषाय भेषजम्। सुखं मेषाय मेष्यै॥**" (यजुः० ३.५९)। इस मन्त्र में रुद्रनामक परमेश्वर को सम्बोधित करके, "भेषजम्" का अर्थ महीधराचार्य करते हैं "औषधवत्सर्वोपद्रवनिवारकः अर्थात् औषध के सदृश सब उपद्रवों का विनाश करने वाला"। इस प्रकार व्याख्यात मन्त्र में परमेश्वर की ही दो तनुओं अर्थात् स्वरूपों का वर्णन प्रतीत होता है। इन दो स्वरूपों को उपनिषदों में प्रेय और श्रेय कहा है। प्राणि-जीवन में भी दो स्वरूप होते हैं, शरीर और जीवात्मा। इसी प्रकार परमेश्वर के दो स्वरूपों का वर्णन मन्त्रों में होता है। प्राणि-जीवन में शरीर में और शरीरावयवों में प्रेरणा चेतन-जीवात्मा द्वारा होती है। इसी प्रकार ब्रह्माण्ड और ब्रह्माण्ड के घटक अवयवों में भी प्रेरणायें, चेतन द्वारा हो रही हैं, इस तथ्य के प्रदर्शन के लिए ब्रह्माण्ड को पारमेश्वरी-तनू कहा है]।

ऋषिः—**भार्गवो वैदर्भिः** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्राणः प्रजा अनु वस्ते पिता पुत्रमिव प्रियम्।

प्राणो ह सर्वस्येश्वरो यच्च प्राणति यच्च न॥ १०॥

अर्थ—(प्राणः) प्राण (प्रजाः) प्रजाओं को (अनु वस्ते) सातत्येन आच्छादित कर रहा है, (इव) जैसे कि (पिता प्रियम् पुत्रम्) पिता प्रिय पुत्र को वस्त्रों द्वारा आच्छादित करता है। (प्राणः) प्राण (ह) निश्चय से (सर्वस्य) सबका (ईश्वरः) अधीश्वर है, (यत् च प्राणति, यत् च न) जो कि प्राणधारी है, और जो प्राणधारी नहीं।

[प्रजाः=उत्पन्न सब पदार्थ। वस्ते=**वस आच्छादने**। ''प्राण'' द्वारा अन्तरिक्षस्थ वायु, तथा सर्वेश्वर का ग्रहण है। वायु और सर्वेश्वर निज स्वरूपों द्वारा, सबका आच्छादन करते हैं, और पिता वस्त्रों द्वारा पुत्र का आच्छादन करता है। वायु तो फिर भी अल्पस्थान व्यापी है, उसका स्थान अन्तरिक्ष है, परन्तु सर्वेश्वर समग्र ब्रह्माण्ड व्यापी है। जहाँ वायु नहीं वहाँ भी वह व्यापी है। अतः मन्त्र में वायु का वर्णन गौणरूप में, तथा सर्वेश्वर का वर्णन मुख्यरूप में अभिप्रेत है]।

ऋषिः—**भार्गवो वैदर्भिः** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्राणो मृत्युः प्राणस्तक्मा प्राणं देवा उपासते।

प्राणो ह सत्यवादिनमुत्तमे लोक आ दधत्॥ ११॥

अर्थ—(प्राणः) प्राण (मृत्युः) मृत्यु है, (प्राणः) (तक्मा) जीवन को कष्टमय करने वाला ज्वर आदि का उत्पादक है, (देवाः) दिव्यकोटि के लोग (प्राणम्, उपासते) प्राण की उपासना करते हैं। (प्राणः ह) प्राण निश्चय से (सत्यवादिनम्) सत्यवादी को (उत्तमे लोके) उत्तम लोक में (आ दधत्) स्थापित करता है।

[मृत्युः= परमेश्वर को मृत्यु कहा है। परमेश्वर से अतिरिक्त कोई मृत्यु-देवता नहीं। यथा ''**स एव मृत्युः सोऽमृतं सोऽभ्वं स रक्षः**'' (अथर्व० १३.४(३).२५)। परमेश्वर ही प्राणियों के कर्मफलरूप में मृत्यु, ज्वर आदि का प्रदाता, और सत्यवादी को उत्कृष्ट स्थान तथा उत्कृष्ट जन्म देता है]।

ऋषिः—**भार्गवो वैदर्भिः** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्राणो विराट् प्राणो देष्ट्री प्राणं सर्व उपासते॥

प्राणो ह सूर्यश्चन्द्रमाः प्राणमाहुः प्रजापतिम्॥ १२॥

अर्थ—(विराट्) विविध प्रकार के जगत् में प्रदीप्त हो रहा परमेश्वर (प्राणः) सबका प्राण है, (देष्ट्री) जीवन सम्बन्धी निर्देश देने वाली पारमेश्वरी जगन्माता (प्राणः) सबका प्राण है, (प्राणम्) इस प्राण की (सर्वे) सब (उपासते) उपासना करते हैं। (सूर्यः) सूर्य (ह) निश्चय से (प्राणः) प्राण है, (चन्द्रमाः) चन्द्रमा निश्चय से प्राण है, (प्रजापतिम्) प्रजाओं के पालक परमेश्वर को (प्राणम्, आहुः) विज्ञलोग प्राण कहते हैं।

ऋषिः—**भार्गवो वैदर्भिः** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्राणापानौ व्रीहियवावनड्वान्प्राण उच्यते। यवे ह प्राण आहितोपानो व्रीहिरुच्यते॥ १३॥

अर्थ—(व्रीहियवौ) व्रीहि अर्थात् धान, और जौ (प्राणापानौ) प्राण और अपान हैं, (अनड्वान्) गाड़ी का वहन करने में समर्थ बैल (प्राणः उच्यते) प्राण कहा जाता है। (यवे ह) जौ में (प्राणः आहितः) प्राण की स्थिति है, (व्रीहिः) धान (अपानः उच्यते) अपान कहा जाता है।

[व्रीहि=धान, जिसके भीतर तण्डुल होता है। शकट या गाड़ी के वहन में समर्थ बैल कृष्युत्पादक होने के कारण प्राण कहा जाता है, क्योंकि बैल की सहायता से खेत के जुत जाने के पश्चात् बीजावाप से व्रीहि और यव पैदा होते हैं। व्रीहि और यव के सेवन से प्राण और अपान की क्रियाएँ ठीक होने लगती हैं। व्रीहि और यव सुपाच्य हैं, अतः स्वास्थ्यकारी हैं]।

ऋषिः—**भार्गवो वैदर्भिः** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥

अपा॑नति प्राण॑ति पुरु॑षो गर्भे॑ अन्तरा।
यदा त्वं प्रा॑ण जिन्व॒स्यथ॒ स जा॑यते पुनः॑ ॥ १४ ॥

अर्थ—(पुरुषः) पुरुष (गर्भे) मातृगर्भ के (अन्तरा) भीतर (अपानति, प्राणति) अपान और प्राण की क्रियाएँ करता है। (प्राण) हे प्राण! (यदा) जब (त्वम्) तू (जिन्वसि) उसे परिपुष्ट कर देता है (अथ) तब (सः) वह (पुनः जायते) पुनर्जन्म लेता है।

[पुरुषः=शरीर-पुरी में शयन करने वाला या वास करने वाला जीवात्मा। जीवात्मा का शरीर धारण करना ही उसका जन्म है। इसलिए जीवात्मरूप से, मन्त्र में, स्त्री-पुरुष दोनों का वर्णन है]।

ऋषिः—**भार्गवो वैदर्भिः** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥

प्राणमा॑हुर्मा॑तरिश्वा॑नं वातो॑ ह प्राण उच्यते।
प्राणे ह॑ भूतं भव्यं॑ च प्राणे सर्वं॑ प्रति॑ष्ठितम् ॥ १५ ॥

अर्थ—(मातरिश्वानम्) अन्तरिक्ष में व्यापी वायु को (प्राणम्, आहुः) प्राण कहते हैं, (वातः ह) संचारी तथा रोगनाशक[1] वायु भी (प्राणः उच्यते) प्राण कहा जाता है। (भूतम्, भव्यम्, च) भूतकाल का और भविष्यत् काल का जगत् (प्राणे ह) प्राण में, तथा (सर्वम्) सब जगत् (प्राणे) प्राण में (प्रतिष्ठितम्) स्थित है।

[मन्त्र के पूर्वार्ध में प्राण द्वारा वायु, तथा उत्तरार्ध में परमेश्वर अभिप्रेत है। मातरिश्वा द्वारा, मातृगर्भस्थ शिशु की प्राणन क्रिया का उत्पादक प्राण भी सम्भव है। वातः=**वा गतिगन्धनयोः**, गन्धनम्=हिंसनम्, नाशनम् अर्दनम्]।

ऋषिः—**भार्गवो वैदर्भिः** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आथर्वणीरा॑ङ्गिरसीर्दैवीर्म॑नुष्य॒जा उ॒त।
ओष॑धयः॒ प्र जा॑यन्ते य॒दा त्वं प्रा॑ण जिन्व॑सि ॥ १६ ॥

अर्थ—आथर्वणी, आङ्गिरसी, दैवी और मनुष्यज ओषधियाँ पैदा होती हैं जबकि हे प्राण! तू उन्हें प्रीणित करता है।

---

१. वात, रोगनाशक भेषज तथा विश्वभेषज है। यथा "**आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद् रपः। त्वं हि विश्वभेषज देवानां दूत ईयसे**" (अथर्व० ४.१३.३)।

(आथर्वणी:[१]=मनोनिरोध द्वारा उत्पन्न मानसिक शक्ति आथर्वणी ओषधि है। अथर्वा=**थर्वतिः चरतिकर्मा, तत्प्रतिषेधः** (निरुक्त ११.२.१९), अर्थात् मन की चञ्चलता का प्रतिषेध, अर्थात् मन की स्थिरता, निरोध। यथा "**आ त्वागमं शन्तातिभिरथो अरिष्टतातिभिः। दक्षं त उग्रमाभारिषं परा यक्ष्मं सुवामि ते**" (अथर्व० ४.१३.५), मनोबल चिकित्सक कहता है कि "मैं तुझे शान्ति देने वाली और तुझे स्वस्थ करने वाली ओषधियों के साथ आया हूँ। उग्रबल तेरे लिए मैं लाया हूँ, तेरे यक्ष्मरोग को मैं प्रेरित करता हूँ"।

अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः। अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः॥ (अथर्व० ४.१३.६), "यह मेरा हाथ भाग्यशाली है, यह मेरा अधिक भाग्यशाली है। यह मेरा सब रोगों का औषधरूप है, यह छूने अर्थात् स्पर्शमात्र से कल्याण करता है"।

हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां जिह्वा वाचः पुरोगवी। अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां ताभ्यां त्वाभि-मृशामसि॥ (अथर्व० ४.१३.७), "दस शाखाओं अर्थात् अङ्गुलियों वाले दो हाथों से पहिले वाणी सम्बन्धी जिह्वा चलती है। आमय अर्थात् रोगों को हराने वाले उन दो हाथों द्वारा तेरा मैं स्पर्श करता हूँ, या हम करते हैं। इस प्रकार मन्त्रों में हस्त-स्पर्श चिकित्सा, तथा वाणी द्वारा, रोगी के रोग को दूर करने का आश्वासन दिया है। इस प्रकार की मनोबल चिकित्सा आथर्वणी-ओषधि चिकित्सा है।

आङ्गिरसी:—वेदों में अग्नि को अङ्गिरा कहा है। यथा "**तं त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्द्धयामसि**" यजुर्वेद (३.३) मन्त्रोक्त अङ्गिरा अग्नि यज्ञियाग्नि है। अग्निहोत्र तथा यज्ञशालाओं की अग्नियों से उत्थित यज्ञधूम स्वास्थ्य कर तथा रोग विनाशक होता है। तभी अग्नि को "रक्षोहा" अर्थात् रोगजनक कीटाणुओं का हनन करने वाला तथा "**अमीवचातनः**" अर्थात् रोगनाशक कहा है, (अथर्व० १.२८.१)। इसलिए अग्नियाँ ओषधि रूप हैं। ओषधि=जलन तथा दोषों का धयन करने वाली। गृह्याग्निहोत्र की अग्नियाँ, तथा यज्ञशालीयाग्नियाँ नाना हैं। इसलिए "आङ्गिरसी: ओषधयः" में बहुवचन भी उपपन्न हो जाता है।

तथा "अयास्य[२] प्राण को "आङ्गिरस" अर्थात् अङ्गिरा-सम्बन्धी कहा है। यथा—"**अथ हेममासन्यं प्राणमूचुस्त्वं वै न उद्गायेति.....। ते होचुः क्व नु सोऽभूद्यो न इत्थमसक्तेति, अयमास्येऽन्तरेति। सोऽयास्य आङ्गिरसोऽङ्गानां हि रसः**"॥ (बृहदा० उप० १.३.७, ८)। तथा "**सोऽयास्य आङ्गिरसोऽङ्गानां हि रसः, प्राणो वा अङ्गानां रसः.....। तस्माद् यस्मात्कस्माच्चाङ्गात्प्राण उत्क्रामति तदेव तत् शुष्यत्येष हि वा अङ्गानां रसः**" (बृहदा०उप० १.३.१९)। अर्थात् वे इस आस्य-प्राण को बोले कि हमारे लिए तू गा। उन्होंने कहा कि वह कहाँ है कि जिसने हमें इस प्रकार विजय दिलाई है, उत्तर मिला कि वह यह है जो कि आस्य अर्थात् मुख के अन्दर है। वह है "अयास्य आङ्गिरस", अर्थात् "अङ्गों का रस"। वह अयास "आङ्गिरस" निश्चय से अङ्गों का रस है, प्राण ही अङ्गों का रस है, इसलिए जिस किसी अङ्ग से प्राण निकल जाता है वह-वह सूख जाता है।

---

१. अथर्वा तथा अङ्गिरा पदों के "औषध अर्थ" की दृष्टि से वेद को "**अथर्वाङ्गिरसः**" कहा प्रतीत होता है। यथा "**अथर्वाङ्गिरसो मुखम्**"। (अथर्व० १०.७.२०)।

२. अयास्यः="अयम्+"आस्ये", अथवा "अयते (एति) आस्ये"। (क) "**यस्य कृण्मो हविर्गृहे तमग्ने वर्धया त्वम्**" (यजुः० १७.५२) अर्थात् जिसके गृह में हम हविर्यज्ञ करते हैं उसे हे अग्नि! तू बढ़ा। इस प्रकार स्वास्थ्य तथा आयु की वृद्धि अग्निहोत्र द्वारा होने के कारण अङ्गिरा-अग्नि औषध रूप है। अथवा "मन को स्थिरता प्रदान करने वाली, तथा अङ्गों में रसोत्पादिका ओषियाँ=आथर्वणी तथा आङ्गिरसी ओषधियाँ।

इस सन्दर्भ या खण्ड में आसन्य अर्थात् मुखस्थ प्राण के गान का वर्णन हुआ है। नासिका, मुख और उरुः स्थल में संचार करने वाली वायु द्वारा गाना सम्पन्न होता है। इसे आङ्गिरस कहा है, अर्थात् शरीर और तदङ्गों का रस। इस प्रकार आङ्गिरस-प्राण जीवनीय, स्वास्थ्यप्रद तथा रोगनिवारक होने से महौषध रूप है। यही मुख्य प्राण, अपान, व्यान, समान, और उदान रूप में विभक्त होकर जीवनचर्या का कारण बन रहा है, अत: "आङ्गिरसीः ओषधयः" रूप हैं।

दैवीः—पृथिवी, अप्, तेज और वायु दैवी ओषधियाँ हैं। पृथिवी अर्थात् मिट्टी के प्रलेप द्वारा त्वचा के विकारों, और अङ्गों की पीड़ाओं का शमन होता है। अप् अर्थात् जल-चिकित्सा द्वारा विविध रोगों की निवृत्ति होती है (अथर्व० १.४.४.; १.५.१-४)। तेज अर्थात् आग्नेय, सौर, तथा विद्युत् सम्बन्धी तेज भी रोगशामक हैं। वायु अर्थात् वात के लिए देखो (मन्त्र १५ की टिप्पणी)। मनुष्यजाः=मनुष्यज ओषधियों के लिए आयुर्वेद के ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं।

ऋषिः—**भार्गवो वैदर्भिः** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यदा प्राणो अभ्यवर्षीद्वर्षेण पृथिवीं महीम्।
ओषधयः प्र जायन्तेथो याः काश्च वीरुधः॥ १७॥

अर्थ—(यदा) जब (प्राणः) प्राण (वर्षेण) वर्षा द्वारा (पृथिवीम्, महीम्) विस्तृत भूमि को (अभ्यवर्षीत्) सींचता है (अथो) तब (ओषधयः) ओषधियाँ (याः काः च वीरुधः) और जो कोई विरोहणशील लताएँ आदि हैं वे (प्रजायन्ते) प्रकर्षरूप में पैदा होती हैं। [मन्त्र में मेघ का वर्णन हुआ है]।

ऋषिः—**भार्गवो वैदर्भिः** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यस्ते प्राणेदं वेद यस्मिंश्चासि प्रतिष्ठितः।
सर्वे तस्मै बलिं हरानमुष्मिँल्लोक उत्तमे॥ १८॥

अर्थ—(प्राण) हे प्राण! (यः) जो (ते) तेरे (इदम्) इस स्वरूप को (वेद) जानता है, (च) और (यस्मिन्) जिसमें तू (प्रतिष्ठितः असि) स्थित हो जाता है, (तस्मै) उसके लिए (सर्वे) सब (अमुष्मिन्, उत्तमे, लोके) उस उत्तम लोक में (बलिम् हरान्) भेंटें प्रदान करते हैं।

[हरान्=हरन्ति; लेट् लकार, "**इतश्च लोपः परस्मैपदेषु**" (अष्टा० ३.४.९७) तथा **संयोगान्तलोपश्च**। अमुष्मिन् लोके=उस उत्तम प्रदेश या स्थान में रहने वाले के लिए, या भावी उत्तम जन्म में भी भेंटें प्रदान करते हैं। मन्त्र में प्राण द्वारा परमेश्वर का वर्णन हुआ है, वह प्राणों का प्राण। प्रतिष्ठितः=जिस व्यक्ति में हे प्राण परमेश्वर! तू अपनी स्थिति कर लेता है, और जो अपने में तुझे स्थित हुआ अनुभव कर तेरी प्रेरणा के अनुसार जीवनचर्या करता है, वह सबके लिए पूज्य देवतारूप हो जाता है, और सब लोग उपहारों द्वारा उसका सत्कार करते रहते हैं]।

ऋषिः—**भार्गवो वैदर्भिः** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यथा प्राण बलिहृतस्तुभ्यं सर्वाः प्रजा इमाः।
एवा तस्मै बलिं हरान्यस्त्वा शृणवत्सुश्रवः॥ १९॥

अर्थ—(प्राण) हे प्राण! परमेश्वर! (यथा) जैसे (इमाः सर्वाः प्रजाः) ये सब प्रजाएँ, (तुभ्यम्) तेरे

लिए, (बलिहृतः) उपहार लाती हैं, (एवा) इसी प्रकार (तस्मै) उसके लिए (बलिम्) उपहार (हरान्) लाएँ (यः सुश्रवः) जो उत्तम श्रवण शक्ति वाला (त्वा शृणवत्) तुझे सुने, तेरे श्रद्धेय वचनों को सुने।

[मन्त्र में "प्राण" द्वारा परमेश्वर का वर्णन हुआ है। शृणवत् सुश्रवः=यथा "**मया सोन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणति य ईं शृणोत्युक्तम्॥ अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धेयं ते ब्रवीमि**" (अथर्व० ४.३०.४) अर्थात् मेरे द्वारा दिये अन्न को वह खाता है जोकि जगत् को देखता है, जोकि प्राण लेता है, जो शब्द सुनता है। मुझे न मानने वाले या अमननशील वे मनुष्य मेरे आश्रय पर निवास करते हैं, हे श्रवण करने वाले! सुन, तुझे श्रद्धायोग्य कथन कहता हूँ]।

ऋषिः—**भार्गवो वैदर्भिः** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुब्गर्भा त्रिष्टुप्**॥

अ॒न्तर्गर्भ॑श्चरति दे॒वता॒स्वाभू॑तो भू॒तः स उ॑ जायते॒ पुनः॑।

स भू॒तो भव्यं॑ भवि॒ष्यत्पि॒ता पु॒त्रं प्र वि॑वेशा॒ शची॑भिः॥ २०॥

अर्थ—(आभूतः) सर्वत्र विद्यमान, (भूतः) अनादि परमेश्वर, (देवतासु अन्तः) सूर्यादि दिव्य पदार्थों के भीतर (गर्भः) गर्भीभूत हुआ (चरति) विचरता है, (सः उ) वह ही (पुनः) बार-बार (जायते) सृष्टियों में प्रकट होता है। (सः) वह (भूतः) अनादि (भव्यम्) विद्यमान (भविष्यत्) अनन्त (पिता) परमेश्वर-पिता (शचीभिः) अपने कर्त्तव्यों और प्रज्ञाओं के साथ (पुत्रम्) पुत्रभूत सब प्राणियों तथा अप्राणियों में (प्रविवेश) प्रविष्ट हुआ है।

[शचीभिः=कर्म (निघं० २.१); प्रजा (निघं० ३.९)। गर्भः=जैसे माता में स्थित गर्भ अज्ञायमान स्वरूप होता है, परमेश्वर दिव्यपदार्थों में विद्यमान भी अज्ञायमान स्वरूप होता है, वह केवल अनुमेय ही होता है। परन्तु गर्भ जैसे उत्पत्ति पर प्रत्यक्ष हो जाता है, इसी प्रकार परमेश्वर हृदय में प्रत्यक्ष होकर प्रकट होता है]।

ऋषिः—**भार्गवो वैदर्भिः** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**मध्येज्योतिर्जगती** ॥

एकं॒ पादं॒ नोत्खि॑दति सलि॒लाद्धं॒स उ॒च्चर॑न्। यद॒ङ्ग स

तमु॑त्खि॒देन्नै॒वाद्य न श्वः स्या॒न्न रात्री॒ नाहः॑ स्या॒न्न व्यु॑च्छेत्क॒दा च॒न॥ २१॥

अर्थ—(हंसः) प्राणवायु (सलिलात्) जल के समीप से (उच्चरन्) उत्त्थान करता हुआ, उड़ता हुआ, (एकं पादम्) एक पैर को (न उत्खिदति) नहीं उखाड़ता, (अङ्ग) हे प्रिय! (यत्) यदि (सः) वह (तम्) उसे (उत्खिदेत्) उखाड़ दे तो [व्यक्ति के लिए] (न एव अद्य) न ही आज हो, (न श्वः) न कल (स्यात्) हो, (न रात्री) न रात, (न अहः) न दिन हो, (न कदाचन व्युच्छेत्) न कभी उषा चमके।

[हंस पद द्वारा प्राणवायु का वर्णन हुआ है। हंस जल के वासी हैं, इसलिए सलिल का प्रयोग हुआ है। प्राणवायुरूपी हंस, रक्तरूपी जल के आशयभूत हृदय के समीपस्थ फेफड़ों से उत्त्थान कर उड़ता है, नासिका द्वारा शरीर से बाहर जाता है। बाहर उड़ कर जाता हुआ भी वह मानो अपना एक पाद शरीर के साथ जमाए रखता है। जैसे कि सूत द्वारा बद्धपाद-पक्षी कुछ दूर तक उड़ कर जाता हुआ भी अपने बन्धन के साथ बन्धा रहता है। यदि प्राण बन्धन छोड़ जाए, तो व्यक्ति की मृत्यु हो जाने से, उसके लिए आज-कल, रात्री-दिन तथा उषा आदि का व्यवहार नहीं रहता।

हंसः=हन्+सः (षणु दाने)+डः। प्राण वायु के कारण शरीरगत दुर्गन्ध का हनन और नवीन वायु का प्रदान होता रहता है। शरीरगत दुर्गन्ध गन्दी वायु है, जो कि नासिका द्वारा बहिर्गत होती रहती है। सूर्य पक्ष में भी मन्त्रार्थ सुसङ्गत होता है]।

ऋषिः—**भार्गवो वैदर्भिः** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अष्टाचक्रं वर्तत एकनेमि सहस्राक्षरं प्र पुरो नि पश्चा।

अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं कतमः स केतुः ॥ २२ ॥

अर्थ—ब्रह्म (अष्टाचक्रम्) आठ चक्रों वाले ब्रह्माण्ड-रथ का (वर्तते) स्वामी है, (एकनेमि) वह इस ब्रह्माण्ड-रथ के चक्रों की नेमि है, (सहस्राक्षरम्) इन आठ चक्रों में हजारों अक्षों के रूप में रम रहा है, (प्र पुरः) दुर तक आगे की ओर (नि पश्चा) और नितरां पीछे की ओर (वर्तते) विद्यमान है। (अर्धेन) निज अर्ध अर्थात् समृद्ध "एकपाद" द्वारा (विश्वं भुवनं जजान) समग्र ब्रह्माण्ड को उसने उत्पन्न किया है, (अस्य) इस ब्रह्म का (यत्) जो (अर्धम्) शेष समृद्ध "त्रिपाद्" है (सः कतमः) वह अतिसुखरूप हैं, (सः केतुः) वह ज्ञानमय है, विज्ञानधन है।

[ब्रह्माण्ड-रथ के आठ चक्र हैं—प्रकृति, महत्तत्त्व, अहङ्कार तथा पञ्चतन्मात्राएँ। प्रकृति तो प्रकृतिरूप है, विकृतिरूप नहीं। शेष प्रकृतिरूप और विकृतिरूप हैं। ये आठ चक्र हैं। इन्हीं के आधार पर समग्र ब्रह्माण्ड आश्रित तथा चलायमान हो रहा है। रथ में चक्र तो अल्पपरिमाण होते हैं, परन्तु रथ उनकी अपेक्षा महापरिमाणी होता है। इसी प्रकार आठ-चक्रों और ब्रह्माण्ड के परिमाणों में अनुपात है।

एकनेमिः=नेमि लोहे का चक्र होता है जोकि रथ के पहियों पर चढ़ाया जाता है, जोकि रथ की रक्षा करता है, इस प्रकार ब्रह्माण्ड के आठ चक्रों पर ब्रह्म नेमिरूप हैं, उनकी रक्षा करता है। चक्रों को परस्पर मिलाए रखने के लिए उनके बीच में दण्डा लगा रहता है जिसे कि अक्ष कहते हैं, ब्रह्माण्ड के चक्रों में ब्रह्मरूपी अक्ष लगा हुआ है। ब्रह्माण्ड में हजारों सौर मण्डलों के चक्र चल रहे हैं, उन सब चक्रों में ब्रह्म ही अक्षरूप है। अर्धम्=यह शब्द "**ऋधु वृद्धौ**" द्वारा व्युत्पन्न है। यजुर्वेद में एकपाद् और त्रिपाद् ब्रह्म का वर्णन है (अध्याय ३१ मन्त्र ३, ४)। ब्रह्म का एक पाद भी महावृद्ध है, जिसमें कि समग्र ब्रह्माण्ड समाया हुआ है, अतः यह एकपाद भी अर्ध है, समृद्ध है। कतमः=कः (सुखम्)+तमप् (अतिशायने)। **केतुः प्रज्ञानाम** (निघं० ३.९)। प्रपुरः, नि पश्चा=अर्थात् व्यापक है।

मन्त्र में "अष्टाचक्रम्" द्वारा शरीर का भी वर्णन प्रतीत होता है। यथा "**अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या**" (अथर्व० १०.२.३१)। तथा सौर मण्डल का भी वर्णन प्रतीत होता है। सौर चक्रों को भी आदित्य-मण्डलस्थ ब्रह्म ही नेमि तथा अक्षरूप में गतिसम्पन्न कर रहा है (यजुः० ४०.१७)] सौर मण्डल=बुध, शुक्र, पृथिवी, बृहस्पति, शनि, चन्द्रमा तथा सूर्य]।

ऋषिः—**भार्गवो वैदर्भिः** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यो अस्य विश्वजन्मन ईशे विश्वस्य चेष्टतः।

अन्येषु क्षिप्रधन्वने तस्मै प्राण नमोऽस्तु ते ॥ २३ ॥

अर्थ—(यः प्राणः) जो प्राण (विश्वजन्मनः) नानाविध जन्मों वाले, (चेष्टतः) और चेष्टा वाले, (अस्य विश्वस्य) इस विश्व का (ईशे) अधीश्वर है, तथा (अन्येषु) अन्य पदार्थों की अपेक्षा (क्षिप्रधन्वने)

शीघ्र गति वाला है, (तस्मै ते) उस तेरे प्रति (प्राण) हे प्राण! (नमः अस्तु) हमारा नम्र भाव हो।

[जन्मधारी तथा चेष्टावान्, प्राणी होते हैं। उन सब प्राणियों पर प्राणवायु का प्रभुत्व है, क्योंकि विना प्राणवायु के उनका जीवन समाप्त हो जाता है। शरीर में किसी भी अन्य अवयव की गति इतनी शीघ्र नहीं होती जितनी गति कि प्राणापान की होती है। प्राणवायु के प्रतिपादित गुणों की अपेक्षा परमेश्वर में इन गुणों का अतिशय है। परमेश्वर की शीघ्र गति के सम्बन्ध में कहा है कि "**तद् धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्**" (यजुः० ४०.४), अर्थात् परमेश्वर स्थित रहता हुआ ही, दौड़ते हुए अन्यों से आगे निकल जाता है। व्यापक होने से वह तो सदा सर्वत्र पहुँचा हुआ ही है। इस प्रकार प्राणवायु के वर्णन के साथ-साथ परमेश्वर का भी वर्णन मन्त्र में हुआ है। वस्तुतः "नमः" पद परमेश्वर को लक्ष्य करके ही पठित है। क्षिप्रधन्वने=क्षिप्र **धवि गतौ**]।

ऋषिः—**भार्गवो वैदर्भिः** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यो अस्य सर्वजन्मन ईशे सर्वस्य चेष्टतः।
अतन्द्रो ब्रह्मणा धीरः प्राणो मानु तिष्ठतु॥ २४॥

अर्थ—(यः प्राणः) जो प्राण (सर्वजन्मनः) नानाविध जन्मों वाले, (चेष्टतः) और चेष्टा वाले (अस्य विश्वस्य) इस विश्व का (ईशे) अधीश्वर है, (अतन्द्रः) आलस्यरहित (धीरः) तथा कर्मशील है वह प्राण (ब्रह्मणा) ब्रह्म के साथ (मा अनु) मुझे लक्ष्य करके (तिष्ठतु) स्थित हो, अर्थात् मुझ में स्थित हो।

[धीरः=इस पद के दो अर्थ हैं बुद्धिवाला अर्थात् बुद्धिमान्, तथा कर्मशील। **धीः=कर्म** (निघं० २.२), **प्रज्ञानाम** (निघं० ३.९)+र (वाला)। प्राण कर्मशील है, प्रज्ञावाला नहीं। "अनु" शब्द लक्षणार्थक[1] है। मन्त्र का अभिप्राय यह है कि प्राण, ब्रह्म के साथ, मुझ में स्थिर रहे। प्राण की स्थिति द्वारा जीवन की अभिलाषा तभी फलवती हो सकती है यदि जीवन काल में ब्रह्म के साथ भी संसर्ग बना रहे, अन्यथा केवल प्राणमय जीवन निष्फल है]।

ऋषिः—**भार्गवो वैदर्भिः** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ऊर्ध्वः सुप्तेषु जागार ननु तिर्यङ् नि पद्यते।
न सुप्तमस्य सुप्तेष्वनु शुश्राव कश्चन॥ २५॥

अर्थ—(सुप्तेषु ऊर्ध्वः) सोए हुए प्राणियों में, प्राण या परमेश्वर (जागार) जागता है। प्राण या परमेश्वर (तिर्यक्) टेढ़ा होकर (न, नु) नहीं कभी (निपद्यते) लेटता, नहीं सोता। (सुप्तेषु) सोए हुओं में (अस्य) इस प्राण या परमेश्वर के (सुप्तम्) सोने को (अनु) वंशपरम्परा से (कश्चन) किसी ने (न, शुश्राव) नहीं सुना।

[मन्त्र २४ में प्राण और ब्रह्म दोनों का वर्णन हुआ है। तदनुसार मन्त्र २५ में भी दोनों का वर्णन अभिप्रेत है]।

---

१. **अनुर्लक्षणे** (अष्टा० १.४.८४)।

ऋषिः—भार्गवो वैदर्भिः ॥ देवता—प्राणः ॥ छन्दः—बृहतीगर्भाऽनुष्टुप् ॥

प्राण मा मत्पर्यावृतो न मदन्यो भविष्यसि।

अपां गर्भमिव जीवसे प्राण बध्नामि त्वा मयि॥ २६ ॥

अर्थ—(प्राण) हे प्राण! (मत्) मुझ से (मा, पर्यावृतः) न पराङ्मुख हो, (मत्) मुझ से (अन्यः) पराया अर्थात् अपरिचित (न भविष्यसि) तू न होगा (जीवसे) जीने के लिए, (अपां[1] गर्भम् इव) जैसे माता गर्भाशय के जल सम्बन्धी गर्भ को सुरक्षितरूप में बाँधे रखती है, वैसे जीने के लिए, (प्राण) हे प्राण! (त्वा) तुझे (मयि) अपने में (बध्नामि) सुरक्षित रूप में मैं बाँधता हूँ।

[मा पर्यावृतः=मा पराङ्मुखः भूः। पर्यावृतः=**वृतु वर्तने, माङि लुङ्,** च्लेः अङ्,। न मदन्यः=व्यक्ति प्राण के प्रति कहता है कि "तू मुझसे अन्य अर्थात् अपरिचित न होगा"—अतः मुझे अपना परिचित जान कर मेरे साथ बन्धा रह। मन्त्र में परमेश्वर के प्रति भी व्यक्ति इसी भावना को प्रकट करता है। परमेश्वर को भी धारणा-ध्यान आदि उपायों द्वारा उपासक अपने साथ बाँधे रखने का संकल्प करता है। "बध्नामि" यथा "**सप्तास्यासन् परिधयः त्रिःसप्त समिधः कृताः। देवा यद् यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम्**" (यजुः० ३१.१५) में "अबध्नन्" पद बाँधने अर्थ का सूचक है। धारणारूपी योगाङ्ग भी बाँधने अर्थ को सूचित करता है। यथा "**देशबन्धः चित्तस्य धारणा**" (योग ३.१)]।

दूसरा अनुवाक समाप्त॥

अनुवाक ३

सूक्त-५ [ब्रह्मचर्य-सूक्त]

विषय-प्रवेश

(१) इस सूक्त का नाम ब्रह्मचर्य-सूक्त है। मन्त्र २६ हैं। सूक्त में मुख्यरूप से मनुष्य ब्रह्मचारी का वर्णन, अभिप्रेत है। कहीं-कहीं "ब्रह्म के आश्रय में विचरने वाले" सूर्य का भी निर्देश हुआ है, और सूक्तसमाप्ति के मन्त्रों में पशु पक्षी, तथा काल को भी ब्रह्मचारी के रूपी में निर्दिष्ट किया है।

(२) ६३३३ गन्धर्वों की संख्या के स्वरूप पर यथासम्भव प्रकाश डाला है (२)।

(३) ब्रह्मचर्य जीवन में विद्याप्राप्ति के साथ-साथ "तप" का विशेष महत्त्व है (१, २, ४, ८, १०)।

(४) ब्रह्मचारी का उपनयन और उसका तीन रात तक गर्भ-निवास (७, ८)।

(५) ब्रह्मचारी की १, २ तथा अधिक समिधाएँ (४, ९, १३)।

(६) पूर्व समुद्र से उत्तर समुद्र तक ब्रह्मचारी का गमन, लोक-संग्रह, तथा प्रचार (६)।

(७) ब्रह्मचारी के ज्ञानार्थ पृथिवी और द्युलोक के नमूनों (models) का निर्माण आचार्य द्वारा (८)।

(८) ब्रह्मचारी की ज्ञान-प्राप्ति भिक्षारूप में (९)।

(९) ब्रह्मचारी की ज्ञान-निधियाँ (१०)।

---

१. अथवा जलनिष्ठ अग्नि को जैसे जल अपने में बाँधे रखते हैं, वैसे मैं तुझे अपने में, हे प्राण! बाँधता हूँ। यथा "**अप्स्वग्ने सधिष्टव**", "**अग्ने गर्भो अपामसि**" (यजुः० १२.३६, ३७)।

(१०) दो अग्नियों का संगम, और उनकी दृढ़रश्मियों पर ब्रह्मचारी का आ-स्थित होना (११)।
(११) आचार्य के नानारूप (१४)।
(१२) ब्रह्मचर्यकाल में ब्रह्मचारी को प्राजापत्य अर्थात् गृहस्थ सम्बन्धी कर्त्तव्यों का उपदेश (१५)।
(१३) आचार्य का ब्रह्मचारी होना, तदनन्तर ब्रह्मचारी को शिक्षणार्थ स्वीकार करना (१७)।
(१४) चातुर्वर्ण्य का निर्देश और ''इन्द्र'' का स्वरूप (१६)।
(१५) कन्याओं का ब्रह्मचर्यवास (१८)।
(१६) जगद्-व्यापी ब्रह्मचर्य (१८, २२)।
(१७) ब्रह्मचारी-स्नातक द्वारा उपदेष्टव्य तत्त्व या विषय (२४, २५)।
(१८) ब्रह्मचारी का सलिलपृष्ठ तथा समुद्र पर स्थित हो सकना, और स्नातक बनना (२६)।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मचारी** ॥ छन्दः—**पुरोऽतिजागता विराड्गर्भा त्रिष्टुप्** ॥

ब्र॒ह्म॒चा॒रीष्णंश्च॑रति॒ रोद॑सी उ॒भे तस्मि॑न्दे॒वाः संम॑नसो भवन्ति।
स दा॑धार पृथि॒वीं दिवं॑ च॒ स आ॑चा॒र्यं॑१ तप॑सा पिपर्ति ॥ १ ॥

अर्थ—(ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (इष्णन्) [विद्या] चाहता हुआ (उभे) दोनों (रोदसी) द्युलोक और भूलोक में (चरति) विचरता है; (तस्मिन्) उस ब्रह्मचारी में (देवाः) देव (संमनसः) एक मन वाले (भवन्ति) हो जाते हैं। (सः) वह (पृथिवीं, दिवं च) पृथिवी और द्युलोक [के ज्ञान] को (दाधार) निज चित्त में धारण करता है, (सः) वह (आचार्यम्) निज आचार्य को (तपसा) तपश्चर्या द्वारा (पिपर्त्ति) प्रसन्नता से भरपूर करता है।

[ब्रह्मचारी को भूलोक की तथा द्युलोक सम्बन्धी विद्याओं की प्राप्ति के लिए यत्नशील होना चाहिए। तथा तपश्चर्या का जीवन व्यतीत करना चाहिए। ब्रह्मचारी की विद्याग्रहण में प्रयत्नशीलता, तथा तन्निमित्त तपश्चर्यामय जीवन को देख कर आचार्य प्रसन्नता से भरपूर हो जाता है।

प्रत्येक मनुष्य में देवों का निवास है। यथा **''सर्वं संसिच्य मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन्''** (अथर्व० ११.८.१३), अर्थात् मनुष्य को रसों से सींच कर देव, मनुष्य में प्रविष्ट हो गये। **''गृहं कृत्वा मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन्''** (अथर्व० ११.८.१८), अर्थात् मनुष्य को अपना घर करके देव मनुष्य में प्रविष्ट हो गये। **''रेतः कृत्वाज्यं देवाः पुरुषमाविशन्''** (अथर्व० ११.८.२९), अर्थात् मनुष्य में रेतस् को आज्य जान करके देव, मनुष्य में प्रविष्ट हो गये। **''सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते''** (अथर्व० ११.८.३२) अर्थात् इस मनुष्य में सभी देवता रहते हैं जैसे कि गोशाला में गौएँ रहती हैं। अभिप्राय यह कि मनुष्य में सभी दिव्यशक्तियों का निवास है, ब्रह्मचर्य, विद्याग्रहण, तथा तपश्चर्यामय जीवन द्वारा उन दिव्यशक्तियों का जागरण और विकास किया जा सकता है। ब्रह्मचारी के जीवन में इन शक्तियों के विकास में संमनस्कता हो जाती है। उसके जीवन में देवासुर-संग्राम नहीं होता, क्योंकि उसके जीवन में निवास देवों का ही होता है, आसुरी भावनाओं का अभाव होता है, और इन दिव्यशक्तियों में भी परस्पर समतुलन रहता है, सांमनस्य रहता है पिपर्ति=**पॄ पालनपूरणयोः**]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ब्रह्मचारी**॥ छन्दः—**पञ्चपदा बृहतीगर्भा विराट् शक्वरी**॥

ब्रह्मचारिणं पितरो देवजनाः पृथग्देवा अनुसंयन्ति सर्वे। गन्धर्वा एनमन्वायन्त्रयस्त्रिंशत्त्रिशताः षट्सहस्राः सर्वान्त्स देवांस्तपसा पिपर्ति॥ २॥

अर्थ—(पितरः) पितृवर्ग, (देवजनाः) विद्वान् तथा दिव्यकोटि के लोग, (सर्वे देवाः) ये सब देव मिलकर तथा (पृथक्) पृथक्-पृथक् रूप में (ब्रह्मचारिणम्, अनुसंयन्ति) ब्रह्मचारी के अनुगामी हो जाते हैं। (गन्धर्वाः) तथा पृथिवी का धारण करने वाले (त्रयस्त्रिंशत् त्रिशताः षट्सहस्राः) ६३३३ देव (एनम्, अनु आयन्) इसकी अनुकूलता में आ जाते हैं। (सः) वह ब्रह्मचारी (सर्वान् देवान्) सब देवों को (तपसा) निज तपश्चर्यामय जीवन द्वारा (पिपर्त्ति) प्रसन्नता से भरपूर कर देता है।

[गन्धर्वाः=**गौः पृथिवी** (निघं० १.१)+धर्वाः (**धृञ् धारणे**)। "गन्धर्वाः" का अर्थ पृथिवी का धारण करने वाले शासक-अधिकारी यदि अभिप्रेत हों, तब ६३३३ संख्या इन शासक-अधिकारियों की वेद ने नियत की है, जोकि सार्वभौम शासनार्थ होनी चाहिए। इस संख्या की उपपत्ति निम्न प्रकार है—

(१) शासन के लिए वेद ने "त्रीणि सदांसि" अर्थात् तीन सभाएँ कही हैं। यथा "**त्रीणि राजाना विदथे पुरूणि परि विश्वानि भूषथः सदांसि**" (ऋ० ३.३८.६)। तीन सभाएँ हैं—"विद्यार्यसभा, धर्मार्यसभा और राजार्यसभा" (सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ६)। विद्यार्यसभा शिक्षा के लिए, धर्मार्यसभा नियमनिर्माण तथा तदनुसार न्याय के लिए, तथा राजार्यसभा राज्य-शासन के लिए। सत्यार्थप्रकाश में इन सभाओं के साथ "आर्य" शब्द का प्रयोग है। आर्य का अभिप्राय है श्रेष्ठ, धर्मात्मा, सदाचारी, सत्यानुष्ठानी।

(२) "सार्वभौमशासक" सर्वोपरि शक्ति है, जोकि समग्र पृथिवी की प्रजाओं द्वारा वरण किया गया है। इसके निरीक्षण में तीन सभाएँ कार्य करती हैं।

(३) प्रत्येक सभा में १ सभापति होता है और न्यून से न्यून १० पारिषद्य या पारिषद। इसे मनु में "**दशावरा वा परिषद्**" कहा है। १ सभापति और १० पारिषद्यों को "**देवा एकादश**" कहा है (यजुः० २०.११); ये "एकादश देवाः" ३ भागों या सभाओं में विभक्त हैं "**त्रया देवा एकादश**" (यजुः० २०.११)। इन तीन सभाओं के ग्यारह देवों अर्थात् दिव्य सभासदों में एक-एक पुरोहित होता है, मुखिया होता है जिसे कि बृहस्पति कहा है "**बृहस्पतिपुरोहिताः**" (यजुः० २०.११)। ये तीन सभाएँ सार्वभौम राजा की रक्षा करती हैं "**देवा देवैरवन्तु मा**" (यजुः० २०.११)। यजुः० २०.११ की विस्तृत व्याख्या के लिए देखो मत्कृत "यजुर्वेद स्वाध्याय तथा पशुयज्ञ समीक्षा" (प्रकाशक रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, सोनीपत, हरयाणा)।

(४) प्रत्येक सभा का सभापति तो सभा का प्रबन्धक है, और शेष १० अधिकारी अपने-अपने विभागों, महकमों के शासक होते हैं। प्रबन्धकों और शासकों को मिलाकर तीन सभाओं में ११×३=३३ होते हैं। ये ३३ देव हैं, दिव्यकोटि के शासक हैं, सार्वभौम शासक हैं।

(५) दशावरा परिषदों के दस-दस शासकों में प्रत्येक के अधीन दस-दस उपशासक हों। इस प्रकार प्रत्येक परिषद् के अधीन दस-दस उपशासकों की संख्या होती है १००। अतः तीन परिषदों के उपशासक ३०० होते हैं। संख्या (४) के ३३ देव तथा संख्या (४) के ३०० देव मिलकर ३३३ देव हुए।

(६) ३०० उपशासकों में से प्रत्येक के अधीन बीस-बीस और उपोपशासक हों। इस प्रकार

उपोपशासक होते हैं ३००×२०=६०००। अत: कुल योग=३३+३००+६०००=६३३३।

(७) काण्ड ११। सूक्त ५ में ब्रह्मचारी का वर्णन होने से सूक्त में आधिभौतिक वर्णन है। इसलिए ६३३३ देव भी आधिभौतिक ही प्रतीत होते हैं।

(८) आधिदैविक दृष्टि से, विना दूरबीन के तीव्र दृष्टि देखने से दृष्टिगोचर सम्भव: ६३३३ तारा हों।

(९) तथा "**यथा ब्रह्माण्डे तथा पिण्डे**" के अनुसार सम्भव: शरीरस्थ ६३३३ अङ्ग-प्रत्यङ्ग तथा नाड़ियाँ अभिप्रेत हों।

बृहदारण्यकोपनिषद् में केवल हृदय की नाड़ियों की संख्या निम्न प्रकार दर्शाई है—

"**हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिसहस्त्राणि हृदयात्पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते**" (अध्याय २, ब्राह्मण १), अर्थात् हितानामक नाड़ियाँ ७२ हजार हैं, जोकि हृदय से पुरीतत् की ओर जाती हैं। सुषुम्णा की नाड़ियाँ इनसे अतिरिक्त हैं। सम्भवत: ६३३३ संख्या मुख्य-मुख्य अंग-प्रत्यंगों, तथा मुख्य नाड़ियों की अभिप्रेत हो। नाड़ियों के सम्बन्ध में देखो बृहदा० उप० अध्या० ४, ब्राह्मण ३, खण्ड २०।

आध्यात्मिक दृष्टि में—

१. तीन शरीर	=स्थूल शरीर,	सूक्ष्म शरीर,	कारण शरीर	= ३
२. प्रत्येक शरीर में ऐन्द्रियिक शक्तियां	=१०	१०	१०	= ३०
३. सौ वर्ष काल में शारीरिक परिवर्तन	=१००	१००	१००	= ३०० प्रतिवर्ष दृष्टि से
४. सौ वर्ष काल में ऐन्द्रियिक दैवी परिवर्तन	=१००×१०	१००×१०	१००×१०	= ३००० दैवी भेद
५. सौ वर्ष में आसुरी "	= "	"	"	= ३००० आसुरी "
	ऐन्द्रियिक परिवर्तनों के दो भाग कुल			= ६३३३

६३३३ संख्या के सम्बन्ध में उपरि लिखित व्याख्याएँ केवल सुझाव रूप हैं। इस संख्या के सम्बन्ध में निश्चितरूप में कुछ कहा नहीं जा सकता। सायणाचार्य ने लिखा है कि "**वैश्वदेवनिविदि देवानां संख्या उत्तरोत्तरं भूयसी, तन्माहात्म्यप्रतिपादनाय समाम्नायते। यथा "ये स्थ त्रय एकादशाः, त्रयश्च त्रिंशच्च, त्रयश्च त्री च शता, त्रयश्च त्री च सहस्त्रा "इति प्रक्रम्य" अतो वा देवा भूयांसः स्थ**" इति (निविदि १.७)।" अर्थात् इस प्रकार प्रदर्शित ६३३३ दैवी संख्या, केवल देवों के माहात्म्य का प्रदर्शन करती है। संख्या अनुसन्धान योग्य है]।

ऋषि:—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ब्रह्मचारी**॥ छन्द:—**उरोबृहती**॥

आचार्य॑ उप॒नय॑मानो ब्रह्मचा॒रिणं॑ कृणुते॒ गर्भ॑म॒न्तः।
तं रात्री॑स्ति॒स्र उ॒दरे॑ बिभर्ति॒ तं जा॒तं द्रष्टु॑म॒भि॒संय॑न्ति दे॒वाः॥ ३॥

अर्थ—(ब्रह्मचारिणम्) ब्रह्मचारी को (उपनयमानः) अपने समीप प्राप्त करता हुआ (आचार्य:) आचार्य, (अन्त:) विद्या या गायत्री या निज स्वरूप में (गर्भम् कृणुते) गर्भरूप में [पालित] करता है, (तम्) उस गर्भीभूत को (तिस्र: रात्री:) तीन रात्री पर्यन्त (उदरे) उदर में (बिभर्ति) धारित तथा परिपुष्ट करता है। (जातम्, तम्) पैदा हुए उसको (द्रष्टुम्) देखने के लिए (अभि) उसके संमुख (देवा:) देवकोटि के लोग (संयन्ति) मिल कर जाते हैं।

[उपनयमान:=उपनयन संस्कार द्वारा निज सामीप्य में लाता हुआ। वर्तमान काल में पुरोहित बच्चों

का उपनयन तो करा देते हैं, परन्तु उनके साथ समीपता में नहीं रहते। ब्रह्मचारिणम्=उपनयन के पश्चात् ब्रह्मचारी ब्रह्म में तथा वेद-विद्या में विचरता है। गर्भमन्तः=आचार्य ब्रह्मचारी को निज सामीप्य में लेकर उसकी रक्षा तथा पालन-पोषण इस प्रकार करे जैसे कि माता गर्भस्थ बच्चे की रक्षा तथा पालन-पोषण करती है। तिस्रः रात्रीः=ब्रह्मचर्य के तीन काल हैं, वसु काल २४ वर्षों की आयु तक, रुद्रकाल ३६ वर्षों की आयु तक, आदित्य काल ४८ वर्षों की आयु तक। ४८ वर्षों की आयु के काल को ''तिस्रः रात्रीः'' कहा है। ब्रह्मचारी के लिए यह काल रात्रीरूप है। इस काल को ब्रह्मचारी निज के लिए अन्धकाररूप जाने, और आचार्य द्वारा प्रदर्शित जीवन मार्ग के प्रकाश द्वारा जीवनचर्या करे। जातम्=शारीरिक जन्म तो माता पिता देते हैं, परन्तु द्वितीय-जन्म आचार्य देकर, ब्रह्मचारी को द्विजन्मा बनाता है। यह द्वितीयजन्म, श्रेष्ठजन्म है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ब्रह्मचारी**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

इयं समित्पृथिवी द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति।

ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति॥ ४॥

अर्थ—(इयं पृथिवी) यह पृथिवी (समित्) पहली समिधा है, (द्यौः) द्युलोक (द्वितीया) दूसरी है, (उत) और (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष [तीसरी] है, (समिधा) इस प्रत्येक समिधा द्वारा ब्रह्मचारी (पृणाति) [निज मानसिक, और आध्यात्मिक अग्नि को] पालित करता है। (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (समिधा) प्रत्येक समिधा द्वारा, (मेखलया) मेखला अर्थात् कटिबन्ध द्वारा (श्रमेण) परिश्रम द्वारा, (तपसा) तथा तपश्चर्या द्वारा (लोकान्) पृथिवीस्थ लोकों को (पिपर्ति) परिपालित तथा सुखों से परिपूरित करता है।

[पृणाति, पिपर्ति=**पॄ पालनपूरणयोः**। अभिप्राय यह कि ब्रह्मचारी को प्रथम पार्थिव तत्त्वों-तथा-विषयों का परिज्ञान देना चाहिए, तदनन्तर अन्तरिक्ष लोक, तथा द्युलोक का। मन्त्र में छन्दः पूर्ति के लिए द्यौः और अन्तरिक्षम्—यह क्रम रखा है। मन्त्र में यह भी अभिप्रेत है कि ब्रह्मचारी कटिबद्ध होकर, त्रिलोकी रूपी तीन समीधाओं को, मन तथा आत्मरूपी, अग्नि में, धारण करता हुआ, अर्थात् त्रिलोकी का ज्ञान प्राप्त करता हुआ, और परिश्रम तथा तपोमय जीवन व्यतीत करता हुआ, पृथिवीस्थ लोगों को ज्ञानप्रदान द्वारा परिपालित तथा सुखों से पूरित करता है। लोकाः=लोग। यथा ''**यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तद् एवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते**'' (गीता ३.२१)। श्लोकस्थ लोकः=लोग]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ब्रह्मचारी**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

पूर्वो जातो ब्रह्मणो ब्रह्मचारी घर्मं वसानस्तपसोदतिष्ठत्।

तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम्॥ ५॥

अर्थ—(पूर्वः) पूर्वाश्रमस्थ (ब्रह्मचारी) वेद विद्या तथा ब्रह्म में विचरने वाला ब्रह्मचारी, (ब्रह्मणः) वेद माता के गर्भ से (जातः) द्विजन्मा रूप में पैदा होता है, जन्म लेता है, (घर्मम्) शरीर पर उष्णता का (वसानः) वस्त्र धारण करता हुआ (तपसा) तपोमय जीवन द्वारा (उदतिष्ठत्) उत्थान अर्थात् उन्नति करता है। (तस्मात्) उस ब्रह्मचारी से (ज्येष्ठं ब्राह्मणम्) सबसे ज्येष्ठ परमेश्वर, और (ब्रह्म) वेदज्ञान (जातम्) प्रकट होता है, तथा (सर्वे देवाः) ब्रह्मचारी की सब दिव्यशक्तियाँ (अमृतेन साकम्) अमृत अर्थात् अमर परमेश्वर के साथ मिल जाती हैं, परमेश्वरीय कार्यों के अनुरूप हो जाती हैं (मन्त्र २३)।

[घर्मं वसानः=ब्रह्मचारी का शरीर, बिना वस्त्र धारण किये, गर्म रहता है। ब्राह्मणम्=ब्रह्मैव ब्राह्मणम्, स्वार्थेऽण्। "**ज्येष्ठं ये ब्राह्मणं विदुः**" (अथर्व० १०.७.१७) में ब्राह्मणम् से अभिप्राय "ब्रह्म" का है, और इसका विशेषण है "ज्येष्ठम्"। तदनुसार व्याख्येय मन्त्र में "ज्येष्ठम्" विशेषण "ब्राह्मणम्" का प्रतीत होता है। सच्चे ब्रह्मचारी की शक्तियाँ, दिव्य बन कर, अमर ब्रह्म सदृश पवित्र तथा स्वार्थ-हीन और परोपकार करने वाली हो जाती हैं]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ब्रह्मचारी**॥ छन्दः—**शाक्वरगर्भा चतुष्पदा जगती**॥

ब्रह्मचार्येति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः।
स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान्त्संगृभ्य मुहुराचरिक्रत्॥ ६॥

अर्थ—(समिधा समिद्धः) त्रिलोकी के ज्ञानरूपी तीन समिधाओं से प्रदीप्त (मन्त्र ४), (कार्ष्णम्) आकर्षकरूप का (वसानः) वस्त्र ओढ़ा हुआ, (दीक्षितः) ब्रह्मचर्य के व्रतों वाला, (दीर्घश्मश्रुः) लम्बी दाढ़ी और मूँछों वाला (एति) ब्रह्मचर्याश्रम से आता है। (सः) वह (सद्यः) शीघ्र (पूर्वस्मात्) पूर्व समुद्र से (उत्तरं समुद्रम्) उत्तर के समुद्र तक (एति) पहुँचता है, और (लोकान् संगृभ्य) लोक-संग्रह करता हुआ, (मुहुः) बारम्बार या अत्यर्थरूप में (आचरिक्रत्) सदाचार को सदुपदेश करता है।

[पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रम्=अथर्ववेद के आङ्ग्ल भाषा में भाष्यकार "विलियम ड्विटह्विटनी" अथर्व० ११.१.५५ की टिप्पणी में लिखते हैं कि "We are surprised to find a "Northern" ocean spoken of, and set over against the "Eastern" one, But "Uttar" can not well mean anything else." अर्थात् मन्त्र में उत्तर समुद्र और पूर्व समुद्र के वर्णन से हम आश्चर्यान्वित हैं। परन्तु "उत्तर" का अर्थ और कुछ नहीं हो सकता। महर्षि दयानन्द "उत्तर समुद्र का अर्थ" गृहस्थाश्रम करते हैं, और पूर्व समुद्र का अर्थ ब्रह्मचर्याश्रम (ऋग्वेद० भूमिका, वर्णाश्रमधर्म) "दीर्घश्मश्रुः" पद द्वारा ब्रह्मचारी की पूर्ण यौवनावस्था को सूचित किया है। इस अवस्था को "बृहच्छेपः" पद (अर्थात् बृहल्लिङ्गी) भी सूचित करता है (मन्त्र १२)। कार्ष्णं वसानः="कृष्णमृग सम्बन्धित अजिन (चर्म, मृगछाल) वसानः धारयन्" (सायणाचार्य)]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ब्रह्मचारी**॥ छन्दः—**विराड्गर्भा त्रिष्टुप्**॥

ब्रह्मचारी जनयन्ब्रह्मापो लोकं प्रजापतिं परमेष्ठिनं विराजम्।
गर्भो भूत्वामृतस्य योनाविन्द्रो ह भूत्वासुरांस्ततर्ह॥ ७॥

अर्थ—(ब्रह्म) वेदविद्या को, (अपः) कर्त्तव्य कर्म को, (लोकम्) लोकज्ञान को (प्रजापतिम्) प्रजाओं के पति गृहस्थी तथा राजा के कर्त्तव्यों को (विराजं परमेष्ठिनम्) तथा देदीप्यमान परमोच्च स्थिति वाले परमेश्वर को (जनयन्) प्रकट करता हुआ, इनके यथार्थ स्वरूपों को कथन करता हुआ, [मुहुराचरिक्रत् मन्त्र ६], और (अमृतस्य) अमृत होने की (योनौ) योनि अर्थात् वेदमाता की योनि में (गर्भः भूत्वा) गर्भीभूत होकर, (इन्द्रः भूत्वा) और इन्द्र पदवी को पाकर (असुरान्) आसुर विचारों तथा आसुर कर्मों का (ततर्ह) विनाश करता है।

[ब्रह्म=वेद, यथा "**त्रयं ब्रह्म सनातनम्, ऋग्यजुःसामलक्षणम्**" (मनु०)। **अपः=कर्म** (निघं० २.१) गीता में कहा है कि "**किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः**" (४.१६)। अतः पूर्ण

ब्रह्मचारी कर्म विद्या को भी प्रकट करता है। लोकम्=लोक-ज्ञान तथा लोक-संग्रह (मन्त्र ६) तथा (मन्त्र ८)। योनौ=उदरे (मन्त्र ३)। वेदमाता के गर्भ अर्थात् उदर में। वेद को माता भी कहा है। यथा "**स्तुता मया वरदा वेदमाता**" (अथर्व० १९.७१.१)। वेदमाता के गर्भ में वास कर और उसके ज्ञान दुग्ध का पानकर व्यक्ति अमृत हो जाता है, जन्म-मरण की परम्परा से दीर्घकाल के लिए मुक्ति पा लेता है। इन्द्रः[१]=चतुर्थाश्रमी (देखो मन्त्र १६ की व्याख्या) असुरान्=यथा "देवासुरसंग्राम"। इस संग्राम में चतुर्थाश्रमी-ब्रह्मचारी देव है, और असुर और आसुर कर्म असुर हैं]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ब्रह्मचारी**॥ छन्दः—**पुरोऽतिजागता विराड् जगती**॥

आचार्यस्ततक्ष नभसी उभे इमे उर्वी गम्भीरे पृथिवीं दिवं च।
ते रक्षति तपसा ब्रह्मचारी तस्मिन्देवाः संमनसो भवन्ति॥ ८॥

अर्थ—(उर्वी) विस्तृत और (गम्भीर) गहरे (इमे उभे) इन दो (नभसी—पृथिवीं दिवं च) नभों अर्थात् पृथिवी और द्युलोक को, (आचार्यः) आचार्य (ततक्ष) घड़ता है [इनके models, प्रतिरूप, नमूने बनाता है] (ते) उन दो प्रतिरूपों को (ब्रह्मचारी तपसा रक्षति) ब्रह्मचारी तपोमय जीवन व्यतीत करता हुआ सुरक्षित करता है, (तस्मिन्) उस ब्रह्मचारी में (देवाः) पृथिवी और द्युलोक के देव (संमनसः) सांमनस्यरूप में (भवन्ति) हो जाते हैं।

[पृथिवीलोक और द्युलोक अति विस्तृत हैं, और गम्भीर हैं। पृथिवी के गहरे भागों में क्या क्या विद्यमान है, तथा द्युलोक के प्रति विस्तृत और गहरे अर्थात् दूर तक भीतर के भागों में कौन कौन से और किस-किस प्रकार के तारे हैं—इनका ज्ञान ब्रह्मचारी को देने के लिए आचार्य, इनके models बनाता है, प्रतिरूप, नमूने तथा चित्रपट बनाता है। ब्रह्मचारी इनको सुरक्षित रखता है। इन प्रतिरूपों द्वारा पार्थिव तथा द्युलोक के देवों अर्थात् घटक-तत्त्वों का परिज्ञान ब्रह्मचारी में सामञ्जस्य रूप में, परस्पर अविरोधरूप में रहता है, इसका कारण ब्रह्मचारी का तपोमय जीवन है, वह भोग विलास में न पड़ता हुआ सदा प्राप्त ज्ञान के अभ्यास में रत रहता है। ततक्ष=**तक्षू तनूकरणे,** अर्थात् सूक्ष्म, छोटे प्रतिरूप घड़ना]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ब्रह्मचारी**॥ छन्दः—**बृहतीगर्भा त्रिष्टुप्**॥

इमां भूमिं पृथिवीं ब्रह्मचारी भिक्षामा जभार प्रथमो दिवं च।
ते कृत्वा समिधावुपास्ते तयोरार्पिता भुवनानि विश्वा॥ ९॥

अर्थ—(प्रथमः ब्रह्मचारी) प्रथमाश्रमी ब्रह्मचारी, (इमाम् पृथिवीम्) इस प्रथित अर्थात् विस्तृत (भूमिम्) भूमि [के ज्ञान] को, (च दिवम्) और विस्तृत द्युलोक [के ज्ञान] को (भिक्षाम्) भिक्षारूप में (आ जभार) आहृत करता है, प्राप्त करता है। (ते) उन दो लोकों को (समिधौ कृत्वा) दो समिधाएँ करके (उपास्ते) निज ज्ञानाग्नि की उपासना अर्थात् परिचर्या करता है। (तयोः) उन दो में (विश्वा भुवनानि) सब सत्पदार्थ सब (आर्पिता) अर्पित हैं, आश्रित हैं। भुवनानि=**भू सत्तायाम्,** सत्पदार्थ।

[प्रथमाश्रम का ब्रह्मचारी भूमि और द्युलोक के ज्ञान को, भिक्षारूप में, आचार्य से ग्रहण करता है। इस निमित्त, आर्थिक व्यय उसे नहीं करना पड़ता। प्रथमाश्रम के पश्चात् गृहस्थाश्रम में उसकी भिक्षावृत्ति

१. इन्द्र का अर्थ "जीवात्मा" भी होता है, जो इन्द्रियों का स्वामी है। इन्द्र शब्द द्वारा चतुर्थाश्रमी को आत्मशक्ति-सम्पन्न सूचित किया है। ऐसा व्यक्ति देवासुर संग्राम में असुरों और आसुरी वृत्तियों पर विजय पा सकता है।

नहीं रहती। गृहस्थाश्रम के निर्वाह के लिए उसे स्वयं धनोपार्जन करना होता है। वह भूलोक और द्युलोक को समिधा बना कर, निज ज्ञानाग्नि को, प्रदीप्त करता है। इन्हीं दो लोकों के अन्तर्गत सब सत्पदार्थ विद्यमान् रहते हैं। इसलिए इन दो लोकों के परिज्ञान के अन्तर्गत सभी सत्पदार्थों का परिज्ञान उसे हो जाता है। "पृथिवीम्" पद भूमिम् और दिवम् दोनों का विशेषण है, जोकि इन दोनों के विस्तार का द्योतक है। "पृथिवीम्" पद मन्त्र ८ में पठित "उर्वी" पद का, समानार्थक है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ब्रह्मचारी**॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्**॥

अर्वाग्न्यः परो अन्यो दिवस्पृष्ठाद् गुहा निधी निहितौ ब्राह्मणस्य।
तौ रक्षति तपसा ब्रह्मचारी तत्केवलं कृणुते ब्रह्म विद्वान्॥ १०॥

अर्थ—(अर्वाक्) इधर (अन्यः) भिन्न प्रकार की निधि है,(दिवस्पृष्ठात्) और द्युलोक की पीठ से (परः) परे (अन्यः) उससे भिन्न प्रकार की निधि है—ये (निधी) दोनों निधियाँ (ब्राह्मणस्य) वेदज्ञ ब्रह्मचारी की (गुहा) हृदय या मस्तिष्क की गुफा में (निहितौ) स्थित रहती हैं। (ब्रह्मचारी) ब्रह्म अर्थात् वेद में विचरने वाला (तपसा) तपोमय जीवन द्वारा (तौ) उन दोनों ज्ञाननिधियों को (रक्षति) निज हृदय या मस्तिष्क में सुरक्षित करता है, (ब्रह्म विद्वान्) वेद का जानने वाला (तत्) उस वेदज्ञान को (केवलम्) केवल अर्थात् एकमात्र लक्ष्य (कृणुते) करता है।

[इधर निधि है पृथिवी, और द्यलोक की पीठ से परे निधि है द्युलोक। द्युलोक की पीठ भूलोक की ओर है, और मुख ऊपर अर्थात् ऊर्ध्व की ओर है। इन दोनों का परिज्ञान दो निधियाँ हैं, जिन्हें कि ब्रह्मचारी निज गुहा में सुरक्षित रखता है। "**ब्राह्मणस्य=अधीतवेदस्य। निधिर्वेदात्मकः। गुहा हृदयरूपा। विद्वान् वेदार्थरहस्याभिज्ञः**" (सायणाचार्य)। सायणाचार्य की दृष्टि में मन्त्रपठित ब्राह्मणपद जातिपरक नहीं, अपितु यौगिकार्थपरक है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ब्रह्मचारी**॥ छन्दः—**जगती**॥

अर्वाग्न्य इतो अन्यः पृथिव्या अग्नी समेतो नभसी अन्तरेमे।
तयोः श्रयन्ते रश्मयोधि दृढास्ताना तिष्ठति तपसा ब्रह्मचारी॥ ११॥

अर्थ—(अन्यः) एक अग्नि (अर्वाक्) इधर अर्थात् पृथिवी[१] की ओर है, (इतः पृथिव्याः) इस पृथिवी से परे (अन्यः) उससे भिन्न अग्नि है, (इमे अग्नी) ये दोनों अग्नियाँ (नभसी अन्तरा) पृथिवी और द्यौ के[२] मध्य भाग में (समेतः[३]) परस्पर मिलती हैं। (तयोः) उन दो अग्नियों में (दृढाः[४] रश्मयः) दृढ़ रश्मियाँ (अधि श्रयन्ते) आश्रित हैं, (ब्रह्मचारी तपसा) ब्रह्मचारी तप के प्रभाव से (तान्) उन रश्मियों पर (आ तिष्ठति) आ-स्थित होता है।

---

१. चन्द्रमा का सम्बन्ध अर्वाक् अर्थात् पृथिवी से है। यह पृथिवी से पैदा हुआ और पृथिवी की परिक्रमा करता है।
२. अर्थात् अन्तरिक्ष में।
३. अन्तरिक्ष में इन दो अग्नियों, चान्द्राग्नि और सौराग्नि का अपनी-अपनी रश्मियों द्वारा संगम होता है। और संगम के कारण योगी निचली और ऊपर की रश्मियों में जा-आ सकता है। विना संगम, आश्रय न मिलने के कारण, जाना-आना नहीं हो सकता।
४. रश्मियों के दृढ़ होने से ही, दृढ़ सीढ़ी के सदृश, नीचे-ऊपर जाना-आना सम्भव होता है।

[मन्त्र १० से "परः" पद का अन्वय मन्त्र ११ में हुआ है। दो अग्नियों में से एक अग्नि है चान्द्राग्नि, और दूसरी है सौराग्नि। इन में की रश्मियाँ परस्पर पृथिवी और द्यौ के अन्तराल में मिलती हैं। दोनों की रश्मियाँ दृढ़ हैं, मजबूत हैं। ब्रह्मचारी अपने तप के प्रभाव से इन रश्मियों पर आरूढ़ हुआ दोनों लोकों में जाता-आता और आकाश गमन कर सकता है। "**कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम्**" (योग ३.४२), अर्थात् शरीर और आकाश के परस्पर सम्बन्ध में संयम से, और हलकी कपास में चित्त को तल्लीन करने से, योगी आकाशगमन करता है। इस सूत्र के भाष्य में व्यासमुनि ने कहा है कि "योगी के शरीर के लघु हो जाने पर, योगी पैरों द्वारा जल के पृष्ठ पर, तथा रश्मियों में विहार करता, और आकाश में यथेष्ट गमन करता है"। व्यास भाष्य में आकाश गमन के लिए निम्नलिखित क्रम हैं, (१) जलपृष्ठ पर चलने का अभ्यास, (२) तदनन्तर मकड़ी के जाले के सदृश सूक्ष्म प्रत्येक वस्तु पर विहार का अभ्यास, (३) पश्चात् आकाशगमन की सिद्धि[१]। वर्तमान में बड़े-बड़े भारी विमान आकाशविहारी हो रहे हैं, पक्षी तो विना विमानों के आकाशविहारी हैं। योगी का योगाभ्यास भी एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है, जिसके द्वारा वह आकाशगमन करता है। इस सम्बन्ध में ऋग्वेद मं० १०, सू० १३६ द्रष्टव्य है। सूक्तगत मन्त्रों के कतिपय भागों का आङ्गल भाषा में अनुवाद दिया जाता है ताकि खींचातानी का शक न रहे। "**वातस्यानु ध्राजिं यन्ति**" (मन्त्र २), The munis following the winds swift course go। "**वातां आ तस्थिमा वयम्**" (मन्त्र ३), "we have pressed on into the wind"। "**अन्तरिक्षेण पतति विश्वा रूपावचाकशत्**" (मन्त्र ४,) The muni looking upon all varied forms flies through the regoin of the air"। "**उभौ समुद्रावा क्षेति यश्च पूर्व उतावरः**" (मन्त्र ५) "The muni in both the oceans half his home, in eastern and in western sea" Everywhere in the firmament from its eastern to its western extremity".

यद्यपि यह अनुवाद मन्त्रांशों के अभिप्रायों को ठीक प्रकट नहीं करता, तो भी अनुवाद से यह प्रकट हो जाता है कि वायु में विहरण और आकाशगमन वेदों के अनुकूल है। अर्वाक्=अवर+अञ्च् (गतौ)]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ब्रह्मचारी**॥ छन्दः—**शाक्वरगर्भा चतुष्पदा विराडतिजगती**॥

अभिक्रन्दन् स्तनयन्नरुणः शितिङ्गो बृहच्छेपोनु भूमौ जभार।
ब्रह्मचारी सिञ्चति सानौ रेतः पृथिव्यां तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः॥ १२॥

अर्थ—(अभिक्रन्दन्) शब्द करता हुआ, (स्तनयन्) गरजता हुआ, (अरुणः) आरोचमान हुआ, (शितिङ्गः) शुभ्र वायुमण्डल को प्राप्त हुआ मेघ—(बृहच्छेपः) प्रवृद्ध-लिङ्गेन्द्रिय (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी

---

१. सूक्ष्माति सूक्ष्म वस्तुओं पर विहार करने की इसलिए आवश्यकता होती है चूंकि लोक लोकान्तरों में गमन और वहाँ से आगमन करने में—स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम आदि स्तरों में से योगी को गुजरना पड़ेगा, अतिदूर जा कर आई-ओनिक स्तर भी आते हैं, जो कि सूक्ष्मतमातिसूक्ष्म हैं। बिना अभ्यास के ऐसे स्तरों में सफलता प्राप्त नहीं हो सकती। यजुर्वेद १७.६७ मन्त्र इस सम्बन्ध में विशेष प्रकाश डालता है। यथा—

पृथिव्या अहमुदन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद् दिवमारुहम्। दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम्॥

योगी कहता है कि मैं पृथिवी से अन्तरिक्ष पर आरूढ़ हुआ हूँ, अन्तरिक्ष से द्युलोक पर, तथा वहाँ से स्वर्ज्योति पर मैं आ गया हूं। इस मन्त्र की व्याख्या में महर्षि दयानन्द का लेख अतिमहत्व का है। यथा—"जब मनुष्य अपनी आत्मा के साथ परमात्मा के योग को प्राप्त होता है तब अणिमादि सिद्धि उत्पन्न होती है। उसके पीछे कहीं से न रुकने वाली गति से अभीष्ट स्थानों पर जा सकता है, अन्यथा नहीं"।

का (अनुजभार) अनुहरण अर्थात् अनुकरण करता है, और (भूमौ) भूमि पर तथा (सानौ) पर्वतों पर (रेतः) जल (सिञ्चति) सींचता है, (तेन) उस द्वारा (पृथिव्याम्) पृथिवी में (चतस्रः प्रदिशः) चहुंदिग्-निवासी प्रजाजन (जीवन्ति) जीते हैं, वैसे (अभिक्रन्दन्) ललकारता हुआ, (स्तनयन्) मेघसदृश गरजता हुआ, (अरुणः) देदीप्यमान, (शितिङ्गः) शुभ्रकर्मों को प्राप्त हुआ (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी, (भूमौ) भूमि में (सानौ) और पर्वतों में (रेतः) निज सदुपदेशों का जल (सिञ्चति) सींचता है, (तेन) और उस द्वारा (पृथिव्याम्) पृथिवी में (चतस्रः प्रदिशः) चहुंदिग्-निवासी प्रजाजन (जीवन्ति) नव जीवन प्राप्त कर जीते हैं।

[अभिक्रन्दन्=मेघ; यथा "**अभिक्रन्दत्योषधीः**" (अथर्व० ११.४.४)। ब्रह्मचारी पक्ष में ललकारना, आह्वान करना, "**क्रदि आह्वाने**", यथा "**मल्लोमल्लमाह्वयते**"। अनुजभार=अनुहरणम्, अनुकरणम्। यथा "**बालः मातरमनुहरति**"। बृहच्छेपः=इस द्वारा ब्रह्मचारी के पूर्ण यौवन को सूचित किया है। पूर्णयुवा को उपदेश देने का अधिकार है। "बृहच्छेपः" शब्द गृहस्थ प्रवृति का द्योतक नहीं। क्योंकि वह बृहच्छेप होता हुआ भी ब्रह्मचारी है। **रेतः उदकनाम** (निघं० १.१२)। अरुणः=आरोचमानः (निरुक्त ५.४.२१)। शितिङ्गः=**शितिः शुक्लो वा** (उणा० ४.१२३; महर्षि दयानन्द)+गः (गमनम्)। गतेस्त्रयोऽर्थाः, ज्ञानम्, गतिः, प्राप्तिश्च। प्राप्त्यर्थ अभिप्रेत है। मन्त्र वर्णन में मेघ और ब्रह्मचारी में परस्पर उपमानोपमेय-भाव है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मचारी** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

अ॒ग्नौ सूर्ये॑ च॒न्द्रम॑सि मात॒रिश्व॑न्ब्रह्मचा॒र्य॑१प्सु स॒मिध॒मा द॑धाति।
तासा॑म॒र्चींषि॒ पृथ॑ग॒भ्रे चर॑न्ति॒ तासा॒माज्यं॒ पुरु॑षो व॒र्षमापः॑ ॥ १३ ॥

अर्थ—(ब्रह्मचारी) ब्रह्म और वेद विद्या में विचरने वाला, (सूर्य) सूर्य के निमित्त, (चन्द्रमसि) चन्द्रमा के निमित्त, (मातरिश्वन्) अन्तरिक्ष में फैली हुई वायु के निमित्त, (अप्सु) जलों के निमित्त, (अग्नौ) अग्नि में (समिधम्) समिधा का (आ दधाति) आधान करता है। (तासाम्) उन समिधाओं की (अर्चींषि) ज्वालाएँ (पृथक्) पृथक्-पृथक् (अभ्रे) मेघ के निमित्त या मेघ में (चरन्ति) गति करती हैं, (तासाम्) उन ज्वालाओं का परिणाम है;—(आज्यम्) घृतादि पदार्थ, (पुरुषः) पुरुषादि प्राणी, (वर्षम्) वर्षा, (आपः) तथा नदी आदि के जल।

[मन्त्र में "अग्नौ" में अधिकरण सप्तमी है, और शेष पदों में निमित्त सप्तमी। "समिधम्" में जात्येकवचन है, समिधम्=समिधाएँ। इसीलिए "तासाम्" में बहुवचन है। सूर्यादि साधन हैं वर्षा के। यज्ञोत्थ धूम इन साधनों में मिल कर वर्षा का कारण बनता है[1]। वेदानुसार सब बालकों और बालिकाओं के लिए ब्रह्मचर्याश्रम की विधि से शिक्षा प्राप्त करना आवश्यक है। पृथिवी के सब बालक-बालिकाएँ करोड़ों की संख्या में हैं। प्रत्येक बालक और बालिका अग्निहोत्र यदि प्रात-सायं करे तो यज्ञोत्थ धूम की कितनी मात्रा प्रतिदिन अन्तरिक्ष में जाएगी—इसकी कल्पना की जा सकती है[2]। यह धूम वर्षा का कारण बनता है। वर्षा से आज्यादि अन्न की उत्पत्ति, अन्न, अन्नरस और वीर्य, और वीर्य से पुरुषादि की उत्पत्ति होती है]।

१. धूम्र ज्योतिः (सूर्य, चाँद, विद्युत्), सलिल (पानी) और मरुत् (वायु) इनका सन्निपात अर्थात् मेल ही तो मेघ है। इन्हीं का वर्णन मन्त्र १३ में हुआ है।

२. गृहस्थियों और वानप्रस्थियों के अग्निहोत्र भी यज्ञोत्थ धूम के अतिरिक्त कारण हैं।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—ब्रह्मचारी ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोम ओषधयः पयः ।
जीमूता आसन्त्सत्वानस्तैरिदं स्व१राभृतम् ॥ १४ ॥

अर्थ—(आचार्यः मृत्युः) आचार्य मृत्यु रूप है, (वरुणः) वरुणरूप है, (सोमः ओषधयः पयः) सोम, ओषधि तथा जल अथवा दुग्धरूप है। (सत्वानः) आचार्य में विद्यमान ये शक्तियाँ (जीमूताः) मेघरूप (आसन्) होती हैं, (तैः) उन शक्तियों द्वारा (इदं स्वः) यह सुख (आभृतम्) प्राप्त होता है।

[ब्रह्मचारी के जीवन को स्वर्गीय अर्थात् सुखमय बनाने के लिए आचार्य के भिन्न-भिन्न स्वरूपों का वर्णन मन्त्र में हुआ है। आचार्य मृत्यु है, उत्पत्ति काल से बालक पशु समान तथा शूद्रवृत्तिक[1] होते हैं, आचार्य उसके पशुत्व और शूद्रत्व का विनाश कर उन्हें विद्वान् तथा द्विजन्मा बनाता है, अतः आचार्य मृत्युरूप है। वह उन्हें पापकर्म से निवारित करता है, अतः वरुणरूप है। सत्कर्मों में प्रेरित करता, अतः सोमरूप है, "षू प्रेरणे"। रोगोपचार करता है, अतः ओषधिरूप है। सुखों तथा सदुपदेशों की वर्षा करता है, अतः मेघरूप है। स्वभाव से जलसमान शीतल, तथा दुग्धादि अन्न प्रदान द्वारा मातृरूप[2] है]।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—ब्रह्मचारी ॥ छन्दः—पुरस्ताज्ज्योतिस्त्रिष्टुप् ॥

अमा घृतं कृणुते केवलमाचार्यो भूत्वा वरुणो यद्यदैच्छत् प्रजापतौ ।
तद् ब्रह्मचारी प्रायच्छत्स्वान्मित्रो अध्यात्मनः ॥ १५ ॥

अर्थ—(आचार्यः) आचार्य (प्रजापतौ) प्रजाओं के पति अर्थात् रक्षक होने के निमित्त [ब्रह्मचारी के लिए] (यत् यत्) जो-जो उपदेश देना (ऐच्छत्) चाहता है, (वरुणो भूत्वा) पापनिवारकरूप धारण कर आचार्य उस-उस उपदेश का (केवलम्) सिर्फ (घृतम्) प्रकाशमात्र, ज्ञानमात्र (अमा) उसके आश्रमनिवास में (कृणुते) कर देता है। तदनन्तर (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी [गृहस्थ धारण कर] (मित्रः) मित्ररूप में अर्थात् स्नेहरूप में, (तद्) उस सदुपदेश को, (आत्मनः अधि) निज अनुभव से, (स्वान्) निजसन्तानों को (प्रायच्छत्) देता है।

[**अमा=गृहनाम** (निघं० ३.४) घृतम्=**घृ दीप्तौ**। वरुणः (मन्त्र १४)=निवारकः। अभिप्राय यह कि सद्गृहस्थी होने के लिए, ब्रह्मचारी को ब्रह्मचार्य काल में ही आचार्य, गृहस्थ कर्त्तव्यों तथा गृहस्थ धर्मों का ज्ञान दे देता है]।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—ब्रह्मचारी ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः ।
प्रजापतिर्वि राजति विराडिन्द्रोऽभवद्वशी ॥ १६ ॥

अर्थ—(आचार्यः) आचार्य पहिले (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचर्याश्रम ग्रहण कर ब्रह्मचारी बनता है, (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी होकर (प्रजापतिः) गृहस्थ धारण कर सन्तानों का रक्षक होता है। (प्रजापतिः) प्रजापति होकर (विराट्) विशेष दीप्ती वाला वानप्रस्थी बनता है, (विराट्) वानप्रस्थी होकर (वशी) और इन्द्रियों और मन को वश में करके (इन्द्रः) इन्द्रपदवी को पाता है, परम ऐश्वर्यवान् संन्यासी या चतुर्थाश्रमी होता है।

---

१. जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते। २. तं तिस्रः रात्रीरुदरे बिभर्ति (मन्त्र ३)।

[इन्द्रः=**इदि परमैश्वर्ये**। इन्द्र से अभिप्राय स्वर्गाधिष्ठाता, कल्पित, इन्द्र-देवता नहीं। मन्त्र में यह दर्शाया है कि वर्तमान में जो आचार्य था, वह भी प्रथम ब्रह्मचारी बना था। अतः आचार्यत्व के लिए योग्य था]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ब्रह्मचारी**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते॥ १७॥

अर्थ—(ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य के कारण, तथा (तपसा) तपोमय जीवन के कारण (राजा, राष्ट्रं, विरक्षति) राजा राष्ट्र की विशेष रक्षा करता है। (आचार्यः) आचार्य (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य धारण कर (ब्रह्मचारिणम् इच्छते) शिष्य की अभिलाषा करता है।

[राजा—मन्त्र का यह अभिप्राय नहीं कि राष्ट्ररक्षा के लिए राजा का अखण्ड वीर्य (ऊर्ध्वरेतस्) होना चाहिए। मनु के कथनानुसार ऋतुगामी व्यक्ति भी ब्रह्मचारी होता है। अभिप्राय केवल इतना है कि भोगी और विषयी राजा राष्ट्ररक्षा के योग्य नहीं। इस अभिप्राय को सूचित करने के लिए तपसा शब्द का प्रयोग हुआ है। तपस्वी, न भोगरत होता है, न विषयी।

आचार्य भी ब्रह्मचारी हो—इसका भी अभिप्राय यही है कि वह गृहस्थ जीवन व्यतीत कर, वानप्रस्थी-ब्रह्मचारी होना चाहिए, तभी तो वह मन्त्र १५ में उक्त प्रजापति सम्बन्धी सदुपदेश ब्रह्मचारी को दे सकता है। साथ ही अनुभवी होने के कारण ब्रह्मचारियों का पालन मातृवत् कर सकता है (मन्त्र ३, १४)। इस भाव को सूचित करने के लिए मन्त्र १६ में "आचार्यो ब्रह्मचारी" आदि द्वारा चातुर्वर्ण्य का कथन किया है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ब्रह्मचारी**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ब्रह्मचर्येण कन्या३ युवानं विन्दते पतिम्।
अनड्वान्ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीर्षति॥ १८॥

अर्थ—(कन्या) कन्या (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य धारण करने के पश्चात् (युवानम्) युवा-ब्रह्मचारी को (पतिम्) पतिरूप में (विन्दते) प्राप्त करती है। (अनड्वान्) बैल तथा (अश्वः) घोड़ा (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य के प्रभाव से (घासम्) घास को (जिगीर्षति) निगलना चाहता है।

[अनड्वान् अश्वः=पशु भी अपना खाना तभी चाहते हैं जब उनकी पाचनशक्ति ठीक हो, और पाचनशक्ति बिना ब्रह्मचर्य के ठीक नहीं रह सकती। पाचनशक्ति के बिना पशु खाना भी नहीं चाहता]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ब्रह्मचारी**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्व१राभरत्॥ १९॥

अर्थ—(ब्रह्मचर्येण तपसा) ब्रह्मचर्य और तपश्चर्या के द्वारा (देवाः) दिव्यकोटि के विद्वान् (मृत्युम्) मृत्यु को (अपाघ्नत) समाप्त करते हैं, उस पर विजय पाते हैं, जन्ममरण से चिरकाल तक मुक्ति पाते हैं। (इन्द्रः) इन्द्रपदवी वाला व्यक्ति भी (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य के कारण (देवेभ्यः) इन कथित देवों के लिए (स्वः आभरत्) मुक्ति के सुख का मार्ग दर्शाता है।

[इन्द्रः=देखो मन्त्र १६ में कथित इन्द्र।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ब्रह्मचारी**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ओषधयो भूतभव्यमहोरात्रे वनस्पतिः।

संवत्सरः सहर्तुभिस्ते जाता ब्रह्मचारिणः॥ २०॥

अर्थ—(ओषधयः) ओषधियाँ, (वनस्पतिः) वनों तथा उपवनों अर्थात् उद्यानों के वृक्ष, (अहोरात्रे) दिन और रात, (ऋतुभिः सह संवत्सरः) तथा ऋतुओं सहित वर्ष, (ते) वे सब (ब्रह्मचारिणः) ब्रह्मचारी (जाताः) हुए हैं।

[अभिप्राय यह कि रोगनाशक ओषधियाँ, तथा अन्नोत्पादक व्रीहि, यव आदि पौधे, और बड़े-बड़े वृक्ष भी पूर्ण यौवन पर पहुँच कर बीज तथा फलरूपी सन्तान पैदा करते हैं, अपरिपक्व अवस्था में नहीं। तथा भूतकाल और भव्य अर्थात् भविष्यत्काल, यथा एकयुग के पश्चात् अगला युग, और एक मन्वन्तर के पश्चात् अगला मन्वन्तर, अपना-अपना पूरा यौवन-काल बिता कर ही अगले काल के मानो उत्पादक होते हैं। अतः मानो ये भी निज ब्रह्मचर्य काल के नियम को पूर्ण करते हैं। दिन के नियत काल के पूर्ण हो जाने के पश्चात् रात्रि का जन्म होता, तथा रात्रि के नियत काल के पश्चात् ही दिन का जन्म होता है। इनका अपना अपना नियतकाल ही इनका कालिक-ब्रह्मचर्य है। इसी प्रकार प्रत्येक ऋतु नियत काल के पश्चात् ही अगली ऋतु को जन्म देती, और नियतकाल के पश्चात् ही ऋतुएँ वर्ष को जन्म देती हैं। इस प्रकार वैदिक दृष्टि में स्थावर-जङ्गम-जगत्, तथा काल, सभी अपने नियतकालों के ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ब्रह्मचारी**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

पार्थिवा दिव्याः पशव आरण्या ग्राम्याश्च ये।

अपक्षाः पक्षिणश्च ये ते जाता ब्रह्मचारिणः॥ २१॥

अर्थ—(पार्थिवाः) पृथिवीवासी, (आरण्याः) अरण्यवासी, (ये ग्राम्याः च) और जो ग्रामवासी (अपक्षाः पशवः) पंखों से रहित पशु हैं, तथा (ये) जो (दिव्याः पक्षिणः) आकाश में विचरने वाले पक्षी हैं, (ते) वे भी (ब्रह्मचारिणः जाताः) ब्रह्मचारी हुए हैं।

[पशु तथा पक्षी भी परिपक्व आयु के पश्चात् ही निज सन्तानों को पैदा करते हैं। अतः वे भी नियत कालों के ब्रह्मचारी हुए हैं]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ब्रह्मचारी**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

पृथक्सर्वे प्राजापत्याः प्राणानात्मसु बिभ्रति।

तान्त्सर्वान्ब्रह्म रक्षति ब्रह्मचारिण्याभृतम्॥ २२॥

अर्थ—(प्राजापत्याः सर्वे) प्रजापति से उत्पन्न हुए सब प्राणी, (आत्मसु) निज शरीरों में, (पृथक्) पृथक्-पृथक् रूप में, (प्राणान्) प्राणों को (बिभ्रति) धारण करते हैं, (तान् सर्वान्) उन सब प्राणों या प्राणियों की, (ब्रह्मचारिणि) ब्रह्मचारी में (आभृतम्) पूर्णतया धारित और परिपोषित हुआ (ब्रह्म) वेदज्ञान—(रक्षति) रक्षा करता है।

[ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्यकाल में जो वेदज्ञान प्राप्त करता है, उसके आधार पर ब्रह्मचारी प्राणिमात्र की रक्षा

कर सकता है। वेद में विविध प्राणियों के पालन की विधियों का भी ज्ञान विद्यमान है। उस ज्ञान के आधार पर वह ब्रह्मचारी पशुपालन की विधियों का उपदेश देकर पशुओं और प्राणियों की रक्षा करता है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ब्रह्मचारी**॥ छन्दः—**पुरोबार्हतातिजागतगर्भा त्रिष्टुप्**॥

देवानामेतत्परिषूतमनभ्यारूढं चरति रोचमानम्।
तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम्॥ २३॥

अर्थ—(अनभ्यारूढम्) विरोधी शक्तियों द्वारा अनाक्रान्त, (देवानाम्) दिव्य शक्तियों का (एतत् परिषूतम्) यह निचोड़ अर्थात् सार, (रोचमानम्) प्रदीप्यमान ब्रह्मचारी (चरति) विचरता है। (तस्मात्) उस ब्रह्मचारी से (ज्येष्ठं ब्राह्मणम्) सब से ज्येष्ठ ब्रह्म, तथा (ब्रह्म) वेदज्ञान (जातम्) प्रकट होता है, (सर्वे देवाश्च) और ब्रह्मचारी की सब दिव्य शक्तियाँ (अमृतेन साकम्) अजर-अमर परमेश्वर के साथ मिल जाती हैं, परमेश्वरीय कार्यों के अनुरूप हो जाती हैं।

[ब्राह्मणम्=ब्रह्म (परमेश्वर), स्वार्थे "अण्", देखो (मन्त्र ५)। ब्रह्म, निःस्वार्थ तथा परोपकार भावना से और प्राणियों पर अनुग्रह करता हुआ जगत् का निरीक्षण तथा नियन्त्रण करता है, सच्चे ब्रह्मचारी के कार्य भी एतदनुरूप हो जाते हैं (मन्त्र ५)]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ब्रह्मचारी**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद्बिभर्ति तस्मिन्देवा अधि विश्वे समोताः।
प्राणापानौ जनयन्नाद् व्यानं वाचं मनो हृदयं ब्रह्म मेधाम्॥ २४॥

अर्थ—(ब्रह्मचारी, भ्राजत्, ब्रह्म, बिभर्ति) ब्रह्मचारी देदीप्यमान ब्रह्म अर्थात् वेद का धारण तथा पोषण करता है, (तस्मिन् अधि) उस वेद[१] में (विश्वे देवाः) सब देव (समोताः) सम्यक्तया ओत-प्रोत हैं। ब्रह्मचारी (प्राणापानौ) प्राण और अपान, (आत्)[२] तत्पश्चात् (व्यानम्) व्यान, (वाचम्, मनः, हृदयम्, ब्रह्म, मेधाम्) वेदवाणी या मानुषवाणी, मन, हृदय, परमेश्वर और मेधा अर्थात् आशु विद्याग्रहण करने की शक्ति को (जनयन्) प्रकट करता रहता है।

[देवाः समोताः=वेद में सब दिव्य तत्त्व समवेत हैं, ओत-प्रोत हैं। जैसे वस्त्र में तन्तु ओत-प्रोत होते हैं, और वस्त्र के किसी भाग में तन्तुओं का अभाव नहीं होता, वस्त्र तन्तुमय ही होता है, इसी प्रकार वेदमन्त्रों में देव अर्थात् सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादि, तथा वैयक्तिक, सामाजिक तथा राष्ट्रिय देव समवेत हैं, सर्वत्र वर्णित हैं, ऐसे ओत-प्रोत हैं मानों इन देवों के वर्णन के अतिरिक्त वेद की सत्ता नहीं, वेद देवतामय ही है। इसलिए जिस ब्रह्मचारी में वेद धारित है, और परिपुष्टमात्रा में विद्यमान है, वह ब्रह्मचारी वेदवर्णित प्राणापानादि के यथार्थ स्वरूपों पर प्रकाश डालने या उनके सम्बन्ध में यथार्थ ज्ञान देने का अधिकारी है। मन्त्र के प्रथमार्ध में पठित "ब्रह्म" का अर्थ है वेद, और मन्त्र के उत्तरार्ध में पठित "ब्रह्म" का अर्थ है परमेश्वर]।

---

१. यथा "**प्र नूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रं वदत्युक्थ्यम्। यस्मिन्निन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा देवा ओकाꣳसि चक्रिरे**" (यजुः० ३४.५७)। अर्थात् ब्रह्म (वेद) का पति परमेश्वर, निश्चय से, प्रशंसनीय मन्त्र समूह का कथन करता है, जिस मन्त्र समुदाय में इन्द्र, वरुण, मित्र, अर्यमा आदि देवों ने निवासगृह रचे हैं।

२. अस्मात्।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मचारी** ॥ छन्दः—**आर्च्युष्णिक् (एकावसाना)** ॥

चक्षुः श्रोत्रं यशो अस्मासु धेह्यन्नं रेतो लोहितमुदरम्॥ २५ ॥

अर्थ—तथा हे ब्रह्मचारी! (अस्मासु) हम में, (चक्षुः....) चक्षु, श्रोत्र, यश, अन्न, रेतस्, लोहित और उदर—इनके यथार्थ स्वरूपों का ज्ञान भी (धेहि) स्थापित कर।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मचारी** ॥ छन्दः—**मध्येज्योतिरुष्णिग्गर्भा त्रिष्टुप्** ॥

तानि कल्पद् ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठे तपोऽतिष्ठत्तप्यमानः समुद्रे।
स स्नातो बभ्रुः पिङ्गलः पृथिव्यां बहु रोचते॥ २६ ॥

अर्थ—(तपः, तप्यमानः, ब्रह्मचारी) तपश्चर्या करता हुआ ब्रह्मचारी (सलिलस्य पृष्ठे) जल की पीठ पर, (समुद्रे) समुद्र [की पीठ या लहर] पर (अतिष्ठत्) जब स्थित होने में समर्थ हो जाता है, तब (तानि) उन [मन्त्र २४, २५ में कथित तत्त्वों तथा शरीराङ्गों] को (कल्पत्) सामर्थ्यवान् कर देता है। (सः) वह (स्नातः) स्नातक होकर, (बभ्रुः) सबका भरण-पोषण करता हुआ, (पिङ्गलः) रक्तमुखवाला (पृथिव्याम्) पृथिवी में (बहु रोचते) बहुत रुचिकर अर्थात् प्रिय होता या चमकता है।

[कल्पत्=**क्लृप् सामर्थ्ये** बभ्रुः=**भृञ् धारणपोषणयोः**। पिङ्गलः=Reddish-Broun (आप्टे)। सलिलस्य पृष्ठे, समुद्रे, अतिष्ठत्=इन पदों द्वारा ब्रह्मचारी की योगसिद्धि का वर्णन हुआ है। योग की अणिमादि सिद्धि के कारण योगी जल पर स्थित हो सकता है। मन्त्र में "सलिलस्य" पद द्वारा तालाब आदि के स्थिर और अचञ्चल जलों पर स्थित होना सूचित किया है, और "समुद्रे"[१] पद द्वारा समुद्र की चञ्चल लहर पर स्थित होना सूचित किया है। मन्त्र ११ की व्याख्या के सम्बन्ध में, (योग ३.४२) की व्याख्या में व्यासमुनि द्वारा "जल की पृष्ठ पर योगी का पैरों द्वारा विहरण करने का कथन किया है। तथा "**उदानजयाज्जलपंक-कण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च**" (योग ३.३८) की व्याख्या में वाचस्पति लिखते है कि "**उदाने कृतसंयमस्तज्जयात् जलादिभिर्न प्रतिहन्यते,**" अर्थात् उदान में संयम द्वारा जल आदि में योगी का प्रतिरोध नहीं होता। उदान वायु का नियन्त्रण, कण्ठस्थ विशुद्ध चक्र करता है]।

सूक्त ६

विषय-प्रवेश

(१) सूक्त ६ में २३ मन्त्र हैं। इनमें "अंहस्" अर्थात् हनन से मुक्त होने की प्रार्थनाएँ परमेश्वर से की गई हैं। अंहस् का प्रसिद्ध अर्थ "पाप" है। परन्तु यह अर्थ मन्त्र वर्णनों के अनुकूल नहीं प्रतीत होता, इसलिए "अंहस्" की धातु "हन" के अर्थ के अनुसार मन्त्र व्याख्या की गई है। निरुक्त में "**अंहुः, अंहतिः, अंहस्, अंहुरः, अंहुरणम्**"—पदों की व्याख्या में इनके अर्थ "पाप" नहीं किये। अतः पाप से भिन्न अर्थ भी अंहस् के अभिमत हैं। अतः मन्त्र व्याख्या में "अंहस्" का अर्थ "हनन" किया गया है जो कि मन्त्र भावना के अनुकूल प्रतीत होता है।

(२) मन्त्रों में "ब्रूमः" शब्द पठित है। इसका अर्थ "हम कथन करते हैं"—ऐसा किया है।

---

१. तथा "**उभौ समुद्रावाक्षेति यश्चपूर्व उतापरः**" (ऋक् १०.१३६.५) तथा अथर्व ११.५.११ की व्याख्या देखो। "आक्षेति" के दो अर्थ हैं, (१) आ-निवास करता है, (२) तथा वहाँ तक गति करता है। "**क्षि निवासगत्योः**"। "निवास" करने का अभिप्राय क्या "समुद्र की पृष्ठ पर" है, या उसके "किनारों पर"—यह विचारणीय है।

सायणाचार्य ने इन मन्त्रों में पठित "ब्रूमः" के दो अर्थ दिये हैं, "**स्तुमः यद्वा इष्टफलं याचामहे**"। मन्त्र में ओषधियों, जड़ वस्तुओं, तथा सर्प, राक्षस आदि से इष्टफल की याचना बुद्धिग्राह्य नहीं।

(३) मन्त्रों में वनस्पति, ओषधि, वीरुध्, दर्भ, भङ्ग, यव (जौं), दिशाएँ, उपदिशाएँ, अहोरात्र, हायन, संवत्सर, ऋतु, मास, पार्थिव-आरण्य पशु, पक्षी, पर्वत, समुद्र, नदी, वात, पर्जन्य, अन्तरिक्ष आदि जड़ वस्तुओं, तथा आधिदैविक वरुण, विष्णु, सविता , धाता, आदि जड़ देवताओं से प्रार्थनाएँ उपपन्न नहीं हो सकतीं। इसलिए मन्त्रों में "हे परमेश्वर"! ऐसा अध्याहार कर प्रार्थनाओं की यथार्थता दर्शाई है।

(४) मन्त्रों में प्रभुस्थ देवताओं का भी वर्णन हुआ है। यथा "सत्यसन्धान्, ऋतावृधः, तथा पत्नीभिः सह (१९, २०)। इनसे की गई प्रार्थनाएँ तो उचित ही हैं, परन्तु इन मन्त्रों में भी "हे परमेश्वर" इस अध्याहार का समन्वय होता है।

(५) **दिवि देवा, अथर्वाणः**, तथा **अङ्गिरसो मनीषिणः** (१३) पर विचार।

(६) मन्त्र (१४) में "**ऋचः, सामानि, भेषजा यजूंषि**" में "भेषजा" पद औषध प्रधान अथर्ववेद का निर्देशक है। ऋचः और सामानि का प्रायः इकट्ठा वर्णन वेदों में हुआ है। क्योंकि इन दोनों का परस्पर आधाराधेय का सम्बन्ध है। ऋचाओं के आधार पर साम गाया जाता है, जैसे कि गेय रचना पर राग या गान। इन दोनों और यजूंषि के मध्य में "भेषजा" पद पठित हैं, यह दर्शाने के लिए कि "भेषजा" पद भी वेद को सूचित करता है, केवल औषधों को नहीं।

(७) सूक्त ६ के २३ मन्त्रों में "अंहस्" अर्थात् हनन से मुक्त होने की प्रार्थनाएँ की गई हैं— "अंहसः मुञ्चन्तु"। पर हनन से मोचन या मुक्ति अर्थात् छुटकारा तो तभी मिल सकता है, जब कि मोक्ष की प्राप्ति हो जाए, अन्यथा जीवात्मा जन्म-मरण की शृङ्खला से छूट नहीं सकता। मोक्ष की प्राप्ति किस प्रकार सम्भव है—इसका वर्णन मन्त्र (२३) में हुआ है।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अग्निं ब्रूमो वनस्पतीनोषधीरुत वीरुधः। इन्द्रं बृहस्पतिं सूर्यं ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १ ॥

अर्थ—(अग्निम्, वनस्पतीन्, ओषधीः) अग्नि, वनस्पतियों (उत) तथा (वीरुधः) लताओं, (इन्द्रं बृहस्पतिम्) इन्द्र बृहस्पति का (ब्रूमः) हम कथन करते हैं, वर्णन करते हैं, (ते) वे [हे परमेश्वर!] (नः) हमें (अंहसः) हनन से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें, हमारा हनन न करें।

[मन्त्र में जिन कारणों से हनन की सम्भावना है, उनका कथन किया है। तथा उनके द्वारा हनन न होने की याचना की गई है। यह याचना परमेश्वर से की गई है—यह भाव मन्त्र का प्रतीत होता है। अग्नि आदि को, हनन के कारण रूप में, वर्णित किया है। यदि प्रार्थना इनसे की होती तो यह कहा जाता कि "**ते यूयं अंहसः नो मुञ्चत,**" न कि "**मुञ्चन्तु**"। देखो (मन्त्र १८) में सायणाचार्य का अर्थ। अग्नि जलाने से, वनस्पतियों, ओषधियों और लताओं के सूख जाने से, इन्द्र अर्थात् विद्युत् तथा बृहस्पति अर्थात् वायु द्वारा अवर्षा या अतिवर्षा से, सूर्य द्वारा अतिताप और अतिसर्दी से मृत्यु की सम्भावना होती है। अग्नि आदि पदार्थ परमेश्वराधीन हैं। वह इनका नियन्ता है। अतः नियन्ता से प्रार्थना उचित प्रतीत होती है]।

बृहस्पति मध्यस्थानी देवता है। सम्भवतः वायु। यथा "**निष्टज्जभार चमसं न वृक्षाद् बृहस्पतिर्विरवेणाविकृत्य**" (ऋ० १०.६८.८), अर्थात् बृहस्पति, गर्जनाओं द्वारा मेघ को काट कर, वर्षा प्रदान करता है। जैसे कि बढ़ई वृक्ष से चमस को काट निकालता है। तथा "**बृहस्पतिर्विरवेण शब्देन**

विकृत्य" (निरुक्त १०.१.१२)। अंहसः="[1]**हन्तेर्निरूढोपधात्, विपरीतात्**" (निरुक्त ४.४.२५)।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ब्रूमो राजानं वरुणं मित्रं विष्णुमथो भगम्।
अंशं विवस्वन्तं ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ २ ॥

अर्थ—(राजानं वरुणम्) वरुण राजा, (मित्रं विष्णुम्) मित्र, विष्णु (अथो) तथा (भगम्) भग का (ब्रूमः) हम कथन करते हैं; (अंशम्) अंश, (विवस्वन्तम्) विवस्वान् का (ब्रूमः) हम कथन करते हैं—(ते) कि वे [हे परमेश्वर!] (नः) हमें (अंहसः) हनन से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें, हमारा हनन न करें।

[वरुण आदि सूर्य के नाम हैं, जोकि सूर्य की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के सूचक हैं। वरुण=सूर्य जोकि रश्मियों द्वारा मेघ पैदा कर, उस द्वारा अन्तरिक्ष को आवृत करता है, ढक देता है। मित्र=सूर्य जो कि स्निग्ध करने वाले उदक का अधिष्ठाता है "**मिद् स्नेहने**"। विष्णु=किरणों से व्याप्त सूर्य। भग=सूर्य जो कि क्षितिज से ऊपर आने वाला है, परन्तु अभी आया नहीं। यथा "**अन्धो भग इत्याहुः, अनुत्सृप्तो न दृश्यते**" (निरुक्त १२.२.१३)। अंश=किरण अर्थात् अंशु, अर्थात् किरणों द्वारा उत्सृप्त सूर्य। विवस्वान्=रात्री के अन्धकार का विवासन अर्थात् निरसन करने वाला सूर्य। "**रात्रिरादित्यस्योदयेऽतर्धीयते**" (निरुक्त १२.१.११)]।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ब्रूमो देवं सवितारं धातारमुत पूषणम्। त्वष्टारमग्रियं ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ३ ॥

अर्थ—(देवम्) स्तुत्य या द्योतमान (सवितारम्) प्रेरक, (धातारम्) धारण-पोषण करने वाले, (उत) तथा (पूषणम्) रश्मियों द्वारा परिपुष्ट का (ब्रूमः) हम कथन करते हैं। (अग्रियम्) अगुए अर्थात् श्रेष्ठ (त्वष्टारम्) त्वष्टा का (ब्रूमः) हम कथन करते हैं—(ते) वे [हे परमेश्वर!] (नः) हमें (अंहसः) हनन से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें, हमारा हनन न करें।

[देवम्=**दिव् स्तुतौ, देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा** (निरु० ७.४.१५)। सविता=सूर्य, जब कि उदित होने वाले सूर्य की रश्मियाँ द्युलोक की ओर प्रक्षिप्त होती हैं, और नीचे भूमि पर अभी अन्धकार होता है। यथा "**तस्य कालो यदा द्यौरपहततमस्काकीर्णरश्मिर्भवति, अधस्तात् तद्वेलायां तमो भवति**" (निरुक्त १२.२.१२)। यह काल उषा के प्रयाण करने के पश्चात् का है। यथा "**सविता वरेण्योऽनु प्रयाणमुषसो विभाति**" (ऋ० ५.८१.२)। धाता=मध्यस्थानी देवता। सम्भवतः धारक वायु। पूषा=रश्मियों द्वारा परिपुष्ट सूर्य। त्वष्टा=पार्थिव पदार्थों में रूप भरने वाला सूर्य। यथा "**य इमे द्यावापृथिवी जनित्री रूपैरपिंशद् भुवनानि विश्वा। तमद्य होतरिषितो यजीयान् देवं त्वष्टारमिह यक्षि विद्वान्॥**" (ऋ १०.११०.९)]।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

गन्धर्वाप्सरसो ब्रूमो अश्विना ब्रह्मणस्पतिम्।
अर्यमा नाम यो देवस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ४ ॥

---

१. हन्=ह्+अ+न्, अ+न्+ह्=अंह्। अंह्+असुन्=अंहस्।

अर्थ—(गन्धर्वाप्सरसः) अग्नि गन्धर्व है,ओषधियाँ अप्सराएँ हैं; सूर्य गन्धर्व है, मरीचियाँ अप्सराएँ हैं, चन्द्रमा गन्धर्व है, नक्षत्र अप्सराएँ हैं; वात गन्धर्व है, आपः (जल) अप्सराएँ हैं; यज्ञ गन्धर्व है, दक्षिणाएँ अप्सराएँ हैं; मन गन्धर्व है, ऋक् और साम अप्सराएँ हैं (यजुः० १८.३८-४३); (अश्विना) द्युलोक और पृथिवी लोक; (बृहस्पतिम्) जल स्वामी, तथा (यः अर्यमा नाम देवः) जो अर्यमा नाम देव है, (ब्रूमः) इनका हम कथन करते हैं, (ते) वे [हे परमेश्वर!] (नः) हमें (अंहसः) हनन से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें, हमारा हनन न करें।

[अश्विना=**द्यावापृथिव्यौ** (निरुक्त १२.१.१)। ब्रह्मणस्पतिः=**ब्रह्म उदकम्, अन्नम्, धनम्** (निघं० १.१२; २.७; २.१०)। अर्यमा=**आदित्योऽरीन् नियच्छति** (निरुक्त ११.३.२३)]।

अथवा—गन्धर्वाप्सरसः=गो (पृथिवी निघं० १.१)+धर्व (धञ् धारणे)=राजवर्ग। अप्सराएं=राजवर्ग की रूपवती स्त्रियाँ। **अप्स इति रूपनाम, तद्रा भवति, रूपवती** (निरुक्त ५.३.१३)। अश्विना[१]=सैनिक, नागरिकविभागों के दो अधिपति, ब्रह्मणस्पतिः=वैदिक महाविद्वान्। अर्यमा[२]=राष्ट्र के अरियों, शत्रुओं का नियमन करने वाला आदित्य सम तेजस्वी न्यायाधीश। राष्ट्र के ये शासक भी अज्ञान वश, धन के लोभ, तथा पक्षपात द्वारा हमारा हनन न करें—यह प्रार्थना परमेश्वर से की है]।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अहोरात्रे इदं ब्रूमः सूर्याचन्द्रमसावुभा। विश्वानादित्यान्ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ ५ ॥

अर्थ—(अहोरात्रे) दिन और रात, (उभा सूर्याचन्द्रमसौ) तथा सूर्य और चन्द्र दोनों का (इदं ब्रूमः) हम यह कथन करते हैं, तथा (विश्वान्) सभी (आदित्यान्) अदिति अर्थात् अनश्वर प्रकृति से उत्पन्न सबका (ब्रूमः) हम कथन करते हैं कि (ते) वे (हे परमेश्वर!) (नः) हमें (अंहसः) हनन से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें, हमारा हनन न करें।

[प्राकृतिक पदार्थों, भिन्न-भिन्न कालों तथा प्राणियों द्वारा सम्भाव्यमान कष्टों तथा मृत्युओं से बचे रहने की प्रार्थनाएँ परमेश्वर से इन मन्त्रों में की गई हैं। इन प्रार्थनाओं द्वारा प्रार्थियों की आस्तिक भावनाओं को प्रदर्शित किया है। अदिति=अ+दो (अखण्डने)=न खण्डित अर्थात् विनष्ट न होने वाली प्रकृति]।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

वातं ब्रूमः पर्जन्यमन्तरिक्षमथो दिशः।
आशाश्च सर्वा ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ ६ ॥

अर्थ—(वातम्) वायु, (पर्जन्यम्) मेघ, (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष, (अथो) तदनन्तर (दिशः) दिशाओं का (ब्रूमः) हम कथन करते हैं; (च सर्वाः आशाः) और सब अवान्तर दिशाओं का (ब्रूमः) हम कथन करते हैं, (ते) वे [हे परमेश्वर!] (नः) हमें (अंहसः) हनन से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें, हमारा हनन न करें।

[दिशः=पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर दिशाएँ। इन द्वारा सामान्य रूप से वस्तुओं की सापेक्ष स्थितियों

---

१. **अश्विना=राजानौ पुण्यकृतौ** (निरुक्त १२.१.१)।

२. "**अर्यमाऽऽदित्योऽरीन्नियच्छति**" (निरुक्त ११.३.२३); मन्त्र में "अरीन् नियच्छति" के आधार पर न्यायाधीश अर्थ किया है।

का निर्देश किया जाता है। आशा:=दो दो दिशाओं के मध्य में स्थित अवान्तर दिशाएँ। पर्जन्य=जनहितकारी तृप्तिदायक मेघ। तृप् (तृप्तौ)+जन्य: (जनहितकारी)। दिश:=निर्देश के साधन]।

ऋषि:—**शन्ताति:** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ता:** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

मुञ्चन्तु मा शपथ्यादहोरात्रे अथो उषा:।
सोमो मा देवो मुञ्चतु यमाहुश्चन्द्रमा इति॥ ७॥

अर्थ—(अहोरात्रे) दिन और रात, (अथो) तथा (उषा:) उष: काल, (शपथ्यात्) शपथजन्य दुष्परिणामों से (मा) मुझे (मुञ्चन्तु) मुक्त करें। तथा (देव:) प्रकाशमान (सोम:) सोम, (यम्) जिसे कि (चन्द्रमा: इति) चन्द्रमा इस नाम से (आहु:) कहते हैं वह भी (मा) मुझे (मुञ्चतु) उन दुष्परिणामों से मुक्त करे।

[शपथ्यात्=मनुष्य प्राय: अपने आप को निरपराधी साबित करने के लिए शपथें खाते हैं, जो कि झूठी होती हैं, सत्यरूप नहीं होतीं। इन शपथों के कारण चित्तवृत्तियाँ दूषित हो जाती हैं—यह दुष्परिणाम है। व्यक्ति इस बात को समझ कर शपथों और उनके दुष्परिणामों से अपने आप को मुक्त करना चाहता है। दिन-रात तथा उष: काल में मनुष्य झूठी शपथें खाता रहता है। वह इन्हें त्यागने का अभिलाषी है। अत: इन्हें त्यागने का वह संकल्प करता है, और इस निमित्त परमेश्वर से शक्ति की याचना करता है। चन्द्रमा शब्द द्वारा रात्रि का काल सूचित किया है, और उषा: शब्द द्वारा दिन का काल। ''शपथ्य'' परिणाम है, और ''शपथ'' उसका कारण है। परिणाम से छुटकारा चाहने वाला व्यक्ति, सुतरां कारण से भी छुटकारे का अभिलाषी है]।

ऋषि:—**शन्ताति:** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ता:** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

पार्थिवा दिव्या: पशव आरण्या उत ये मृगा:।
शकुन्तान्पक्षिणो ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहस:॥ ८॥

अर्थ—(पार्थिवा:) पृथिवी के (दिव्या:) तथा द्युलोक के (पशव:) पशु, (उत) तथा (ये) जो (आरण्या:) वनों के (मृगा:) मृग हैं, तथा (शकुन्तान्) शक्तिशाली (पक्षिण:) पक्षी हैं उनका (ब्रूम:) हम कथन करते हैं, (ते) वे [हे परमेश्वर!] (न:) हमें (अंहस:) हनन से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें, हमारा हनन न करें, हमें कष्ट न पहुँचाएँ।

[दिव्या: पशव:=मेष, सिंह, वृश्चिक, मकर आदि नक्षत्रगण]।

ऋषि:—**शन्ताति:** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ता:** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

भवाशर्वाविदं ब्रूमो रुद्रं पशुपतिश्च य:।
इषूर्या एषां संविद्म ता न: सन्तु सदा शिवा:॥ ९॥

अर्थ—(भवाशर्वौ) भव अर्थात् राष्ट्रिय उत्पत्तियों का उत्पादक और शर्व अर्थात् शत्रुओं को शीर्ण करने वाला, उनका विनाश करने वाला अर्थात् (य:) जो (पशुपति:) राष्ट्रिय पशुओं का स्वामी भव, तथा (रुद्रम्) रौद्ररूप शर्व सेनापति है—इन दोनों का (ब्रूम:) हम कथन करते हैं, (एषां या इषू:) इनके जो बाण हैं उन्हें (संविद्म) सम्यक्तया हम जानते हैं, (ता:) वे इषु अर्थात् बाण, [हे परमेश्वर!] (न:) हमारे लिए (सदा शिवा:) कल्याणकारी (सन्तु) हों।

[भवः=**भावयति, उत्पादयति अन्नादीन् इति भवः ण्यर्थः अन्तर्भूतः**। शर्वः=श्रृणाति। रुद्रम्=रौद्ररूपम्, शर्वम्। पशुपतिः=राष्ट्रिय प्राणि वर्ग का पालक, रक्षक अधिकारी भव। पशुः="**तवेमे पञ्च पशवो विभक्ता गाव अश्वाः पुरुषा अजावयः**" (अथर्व० ११.२.९), पशुओं के ५ विभाग हैं गावः आदि]।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

दिवं ब्रूमो नक्षत्राणि भूमिं यक्षाणि पर्वतान्।
समुद्रा नद्यो वेशन्तास्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १० ॥

अर्थ—(दिवम्) द्युलोक, (नक्षत्राणि) नक्षत्रों, (भूमिम्) भूमि, (यक्षाणि) पुण्य क्षेत्रों, (पर्वतान्) तथा पर्वतों का (ब्रूमः) हम कथन करते हैं, (समुद्राः) समुद्र, (नद्यः) नदियाँ, (वेशन्ताः) अल्प जलाशय (ते) वे [हे परमेश्वर!] (नः) हमें (अंहसः) हनन से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें, हमारा हनन न करें, हमें कष्ट न पहुँचाएँ।

[अभिप्राय यह कि हम इन स्थानों में कहीं भी जाएँ, या विमानों द्वारा द्युलोक तथा नक्षत्रों की ओर जाएँ, तो हमारा न हनन हो, और न इन स्थानों से हमें कष्ट प्राप्त हो। सर्वव्यापक तथा सर्वशक्तिमान् परमेश्वर जोकि इन सब स्थानों का शासक है, उससे स्वरक्षा की प्रार्थना की है। **यक्षाणि=पुण्यक्षेत्राणि** (सायण), "**यक्ष पूजायाम्**"]।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सप्तर्षीन्वा इदं ब्रूमोपो देवीः प्रजापतिम्।
पितॄन्यमश्रेष्ठान्ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ११ ॥

अर्थ—(वै) निश्चय से (सप्तर्षीन्) सात ऋषियों, (अपः देवीः) जलवत् शान्त प्रकृति वाली देवियों, (प्रजापतिम्) प्रजारक्षक राजा का (इदम् ब्रूमः) यह कथन हम करते हैं, तथा (यमश्रेष्ठान्) यम-नियमों के पालन द्वाना श्रेष्ठ (पितॄन्) पितरों का (ब्रूमः) हम कथन करते हैं, (ते) वे [हे परमेश्वर!] (नः) हमें (अंहसः) हनन से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें, हमें हनन से बचाएँ।

[सप्तर्षीन्=सप्ताङ्ग राज्य के प्रत्येक विभाग के ऋषि कोटि के ७ अध्यक्ष। सप्ताङ्गराज्य=स्वामी, अमात्य, सुहृत्, कोश, राष्ट्र, दुर्ग, तथा सेना[1]। इन तथा समग्र विभागों के अध्यक्ष ऋषिकोटि के व्यक्ति होने चाहिएँ—ऐसा वैदिक विधान है। यथा "**अयं सहस्रमृषिभिः सहस्कृतः समुद्रऽइव पप्रथे**। (यजुः० ३३.८३) अर्थात् "यह सम्राट् हजारों ऋषियों द्वारा बलशाली किया गया, समुद्रवत् फैलता है। वेदानुसार ब्रह्माण्डशरीर पिण्डशरीर, तथा राष्ट्रशरीर में ऋषियों की स्थिति दर्शाई है। ब्रह्माण्ड शरीर में सप्तर्षि हैं सप्तर्षितारामण्ड। इन्हें वेद में ऋक्षाः भी कहा है। यथा "**अमी य ऋक्षा निहितास उच्चा नक्तं ददृशे कुहचिद् दिवेयुः**" (ऋ० १.२४.१०), अर्थात् ये ऋक्ष जोकि ऊँचे द्युलोक में निहित हैं वे रात्रि में तो दीखते हैं, दिन में कहाँ चले जाते हैं।"**ऋक्षा नक्षत्राणाम्**" (निरुक्त ३.४.२०)। इसी प्रकार पिण्ड शरीर में भी ऋषियों की सत्ता दर्शाई है। यथा "**सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे**" (यजुः० ३४.५५)। "सप्त

१. स्वामी है राजा, और अमात्य है प्रधानमन्त्री। ये समग्र राष्ट्र के निरीक्षक तथा प्रबन्धक हैं शेष विभागों के अध्यक्ष अपने-अपने विभाग के प्रबन्धक हैं। प्रजापति यद्यपि राजा ही है। इस शब्द द्वारा राजा के मुख्य कर्त्तव्य को सूचित किया है—सब प्रजाओं की रक्षा करना। अतः प्रजापति शब्द द्वारा राजा का पुनः वर्णन हुआ है।

ऋषयः="**षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तमी, आत्मनि**" (निरुक्त १२.४.३७)। तथा "**सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे, रश्मय आदित्ये**[१]" (निरुक्त १२.४.३७)। इसी प्रकार राष्ट्र शरीर में भी प्रबन्ध तथा शासन के लिए ऋषिकोटि के व्यक्तियों की सत्ता वेदाभिमत है]।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ये देवा दिविषदो अन्तरिक्षसदश्च ये।

पृथिव्यां शक्रा ये श्रितास्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ १२ ॥

अर्थ—(ये) जो (देवाः) देव (दिविषदः) द्युलोक में स्थित हैं, (च ये अन्तरिक्षसदः) और जो अन्तरिक्ष में स्थित हैं। (ये) जो (शक्राः) शक्तिशाली देव (पृथिव्याम्) पृथिवी में (श्रिताः) आश्रय पाए हुए हैं, (ते) वे सब [हे परमेश्वर!] (नः) हमें (अंहसः) मरण या कष्टों से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें, हमारा हनन न करें।

[द्युलोक और अन्तरिक्षलोक के देव अर्थात् दिव्य पदार्थ, निरुक्त में प्रदर्शित हैं। पृथिवी के देव हैं शासक तथा प्रबन्धक राज्याधिकारी, तथा विद्वान् आदि]।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

आदित्या रुद्रा वसवो दिवि देवा अथर्वाणः।

अङ्गिरसो मनीषिणस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ १३ ॥

अर्थ—(आदित्याः रुद्राः, वसवः) आदित्य, रुद्र और वसु कोटि के ब्रह्मचारी तथा (दिवि) द्युलोक में विद्यमान (अथर्वाणः) निश्चल (देवाः) द्योतमान नक्षत्र, तारागण, तथा (मनीषिणः) मननशील मेधावी (अङ्गिरसः)[२] राष्ट्र-अङ्गी अर्थात् शरीर के रसरूप शासक—(ते) वे सब [हे परमेश्वर!] (नः) हमें (अंहसः) मरण से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें।

[प्राकृतिक तथा चेतन देवों द्वारा रक्षा की प्रार्थना परमेश्वर से की गई है। सायणाचार्य ने अथर्वाणः तथा अङ्गिरसः पदों द्वारा अथर्वाङ्गिरस [अथर्ववेद] वेद के ऋषियों का ग्रहण किया है। "अथर्वाणः" को दिविष्ट माना है, अतः ये मनुष्य नहीं अपितु नक्षत्र आदि हैं, जोकि निश्चल रूप से अपने-अपने स्थानों में स्थित हैं]।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यज्ञं ब्रूमो यजमानमृचः सामानि भेषजा। यजूंषि होत्रा ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ १४॥

अर्थ—(यज्ञम्) यज्ञ, (यजमानम्) यजमान, (ऋचः) ऋचाओं, (सामानि) सामदेव के गानों, (भेषजा) विविध ओषधियों का वर्णन करने वाले अथर्ववेद का (ब्रूमः) हम कथन करते रहते हैं। (यजूंषि) यजुर्वेद के मन्त्रों तथा (होत्राः) ऋत्विजों की क्रियाओं का (ब्रूमः) हम कथन करते हैं—(ते) वे सब [हे परमेश्वर!] (नः) हमें (अंहसः) मरण से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें। भेषजा=अथवा "भेषज" रूपी सामग्री की ओषधियाँ।

---

१. आदित्य की ७ रश्मियों को निरुक्त में ७ ऋषि कहा है। वर्षाकाल में बादलों में कभी-कभी सप्तरंगी इन्द्रधनुष दृष्टिगोचर होता है। इन सप्तरंगी ७ पटलों में आदित्य की ७ रश्मियों का ही प्रक्षेप हो रहा होता है।

२. अङ्गिरसः=अङ्गानां रसरूपाः, प्राणरूपाः, राष्ट्रशासकाः। राष्ट्र सप्ताङ्गी होता है, देखो (मन्त्र ११)।

[यज्ञादि मृत्यु से रक्षा करते हैं। परन्तु यज्ञ आदि में क्षति या प्रत्यवाय के हो जाने पर आशंकित मृत्यु से बचाव के लिए परमेश्वर से प्रार्थना की गई है। ऐसी प्रार्थनाएँ भी मनुष्य स्वभाव के अनुरूप तथा अनुकूल हैं। "भेषजा" पद द्वारा अथर्ववेद अभिमत है। नानाविध ओषधियों का वर्णन अथर्ववेद में है, अतः अथर्ववेद को "भेषजा" कहा है। इस प्रकार मन्त्र में चारों वेदों के नाम पठित हैं]।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

पञ्च राज्यानि वीरुधां सोमश्रेष्ठानि ब्रूमः।
दर्भो भङ्गो यवः सहस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ १५॥

अर्थ—(सोमश्रेष्ठानि) सोम जिनमें श्रेष्ठ है ऐसी (वीरुधाम्) विविध रोग रोधक ओषधियों के (पञ्च) पांच (राज्यानि) राज्यों का (ब्रूमः) हम कथन करते हैं—(दर्भः, भङ्गः, यवः, सहः) दर्भ अर्थात् कुशा, भांग, जौं तथा सह, (ते) वे (नः) हमें (अंहसः) मृत्युकारक रोगों से [हे परमेश्वर!] (मुञ्चन्तु) मुक्त करें।

[दर्भः=कुशा, जिसे कि पटुआ कहते हैं, जिससे रस्सियाँ बनाई जाती हैं। सह=सहदेवी औषध?। "राज्यानि" द्वारा दो अभिप्राय प्रतीत होते हैं। (१) इनमें से प्रत्येक की उत्पत्ति के भूभाग पृथक्-पृथक् हैं। (२) ये ५ वर्गरूप हैं, जिनमें प्रत्येक की अङ्गोपाङ्गरूप ओषधियाँ भी अन्तर्गत है। अभिप्राय यह है कि कोई भी ओषधि फल प्रदात्री नहीं होती यदि परमेश्वरीय कृपा न हो। पञ्च राज्यानि=सोम तथा दर्भ आदि चार]।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अरायान्ब्रूमो रक्षांसि सर्पान्पुण्यजनान्पितॄन्।
मृत्यूनेकशतं ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ १६॥

अर्थ—(अरायन्) अदानियों, (रक्षांसि) राक्षस स्वभाव वाले क्रूरों, (सर्पान्) छिप कर घुस जाने वाले विषप्रयोक्ताओं, (पुण्यजनान्) अपने को पुण्यात्मा जताने वाले दुरात्माओं, (पितॄन्) तथा पितरों का (ब्रूमः) हम कथन करते हैं, तथा (एकशतं मृत्यून्) एक सौ एक मृत्युओं का (ब्रूमः) हम कथन करते हैं—(ते) वे [हे परमेश्वर!] (नः) हमें (अंहसः) मरण से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें, हमारा हनन न करें।

[अरायान्=अ+रा (दाने), अदानी, स्वार्थी, कञ्जूस। सर्पान्=सर्पों के से व्यवहार वाले विष द्वारा मार देने वाले। पितॄन्=**जननी जनकश्चैव यश्च विद्यां प्रयच्छति। अन्नदाता भयत्राता पञ्चैते पितरः स्मृताः॥** ये पितृनामधारी, जब पितरों के समान व्यवहार न करते हुए, अपितर रूप से बर्ताव करते हैं, city-fathers आदि। एकशतं मृत्यून्=१०० वर्षों की आयु और १ वर्ष मातृगर्भवास। इन १०१ वर्षों में सम्भाव्यमान मृत्युएँ। सर्पान्=(देखो अथर्व० ८.१०। पर्याय ५। मन्त्र १३)]।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ऋतून्ब्रूम ऋतुपतीनार्तवानुत हायनान्।
समाः संवत्सरान्मासांस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ १७॥

अर्थ—(ऋतून्) ऋतुओं, (ऋतुपतीन्) ऋतुओं के पतियों, (आर्तवान्) ऋतु समूहों अर्थात् अयनों,

(हायनान्) अयनों से बने (संवत्सरान्) सौर वर्षों, (समाः) चान्द्र वर्षों, (मासान्) सौर तथा चान्द्रमासों का (ब्रूमः) हम कथन करते हैं—(ते) वे सब [हे परमेश्वर!] (नः) हमें (अंहसः) हनन से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें, हमारा हनन न करें।

[ऋतून्=वसन्त आदि। [1]ऋतुपतीन्=ऋतुओं का निर्माण करने वाले चन्द्र तथा सूर्य। आर्तवान्=ऋतुओं से बने छह-छह मासों के अयन, उत्तरायण तथा दक्षिणायन। हायनान्=सायनान्=अयनों वाले सौर वर्ष, संवत्सर। समाः="मा" अर्थात् चन्द्रमा की गतियों द्वारा निर्मित चान्द्र वर्ष। मासान्=सौर तथा चान्द्रमास। ऋतु आदि के रोगों से आशंकित हनन से मुक्ति की प्रार्थना मन्त्र में अभिप्रेत है]।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

एत देवा दक्षिणतः पश्चात्प्राञ्च उदेत।

पुरस्तादुत्तराच्छक्रा विश्वे देवाः समेत्य ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ १८॥

अर्थ—(प्राञ्चः, शक्राः, देवाः,) प्रगतिशील, शक्तिशाली देवो! अर्थात् द्योतमान सूर्य रश्मियो! तुम (दक्षिणतः) दक्षिण से, (पश्चात्) पश्चिम से, (उत्तरात्) उत्तर से, (पुरस्तात्) पूर्व से (एत) आओ, (उदेत) अर्थात् उदित होओ। (ते विश्वे देवाः) वे तुम सब देव (समेत्य) मिल कर (नः) हमें (अंहसः) हनन से (मुञ्चन्तु) मुक्त करो।

[देवाः=द्योतमान सूर्यरश्मियाँ। प्राञ्चः=प्रकर्षेण अञ्चन्ति गतिं कुर्वन्तीति, जो सदा गतिवाली हैं। सूर्यरश्मियाँ सदा गतिशील हैं। ये रश्मियाँ दक्षिण से पश्चिम और उत्तर की ओर घूम कर, पूर्व दिशा में आतीं, और पुनः पूर्व से दक्षिण की ओर जाती हैं। यह चक्कर सूर्य रश्मियों का विना विश्राम किये सदा चलता रहता है। शक्राः=सूर्य रश्मियाँ शक्तिशाली हैं। अन्धकार मानो इनसे भयभीत हुआ, इनके आगे आगे भागता रहता है, और सूर्यरश्मियाँ इसका पीछा करती रहती हैं। सूर्य रश्मियाँ रोगों का विनाश करतीं, भूमण्डल को शुद्ध करतीं, जल, अन्न आदि प्रदान करतीं तथा नाना प्रकार से शक्ति प्रदान करती हैं। सूर्य रश्मियों के सेवन से आयु बढ़ती है। इस प्रकार से हमें हनन से मुक्त करती हैं। सायणाचार्य ने "यूयम्" का अध्याहार कर "मुञ्चन्तु" का अर्थ किया है "मुञ्चत"। यथा "**सर्वे देवाः समेत्य समागत्य ते यूयम् अस्मान् अंहसः पापात् मुञ्चतेति शेषः**। समेत्य=सूर्य रश्मियाँ सदा परस्पर मिली हुई आती जाती हैं, और कार्य करती हैं]।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

विश्वान्देवानिदं ब्रूमः सत्यसन्धानृतावृधः।

विश्वाभिः पत्नीभिः सह ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ १९॥

अर्थ—(विश्वान् देवान्) सब दिव्यगुणी, (सत्यसन्धान्) सत्य के साथ सन्धि वाले, सत्यप्रतिज्ञ, तथा (ऋतावृधः) सत्य की या यज्ञियकर्मों[2] की वृद्धि करने वाले पुरुषों का (ब्रूमः) हम कथन करते हैं

---

१. **स विश्वा प्रति चाक्लृप ऋतूंरुत्सृजते वशी। यज्ञस्य वय उत्तिरन्**॥ (अथर्व० ६.३६.२) में चन्द्रमा को भी ऋतुस्रष्टा कहा है। तथा "**ऋतूँरन्यो विदधज्जायसे नवः**" (अथर्व० १४.१.२३) में चन्द्रमा को भी ऋतुस्रष्टा कहा है। सूर्य और चन्द्र दोनों ऋतुपति हैं।

२. **ऋतमिति सत्यस्य यज्ञस्य वा नामधेयम्** (सायण)।

कि (विश्वाभिः पत्नीभिः सह) अपनी-अपनी पत्नियों सहित (ते) वे [हे परमेश्वर!] (नः) हमें (अंहसः) हनन से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें, हमें हनन से बचाएँ।

[**ऋतम्=सत्यनाम** (निघं० ३.१०)। सत्यप्रेमी तथा सत्यवर्धक दिव्यगुणी पुरुष तथा उनकी पत्नियाँ, कृपापूर्वक, सदुपदेशों द्वारा हमें हनन से बचाने की क्षमता रखते हैं। परमेश्वर से यह प्रार्थना की गई है कि आप इन्हें इस निमित्त प्रेरणा प्रदान करते रहिए। वेद में पत्नियों का भी मान है, यह भी मन्त्र द्वारा प्रकट होता है]।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सर्वान्देवानिदं ब्रूमः सत्यसन्धानृतावृधः।
सर्वाभिः पत्नीभिः सह ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ २०॥

अर्थ—मन्त्रार्थ पूर्ववत् (मन्त्र १९) है। भाव पर जोर देने के लिए, विश्व शब्द की व्याख्या, सर्व शब्द द्वारा की गई है।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

भूतं ब्रूमो भूतपतिं भूतानामुत यो वशी। भूतानि सर्वा संगत्य ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ २१॥

अर्थ—(भूतम्) सद्य सत्ता वाले, (भूतपतिम्) सत्तावाले, पञ्चभूतों का स्वामी, (उत) तथा (यः) जो (भूतानाम्) सत्ता वाले पञ्चभूतों का (वशी) वशयिता है, उसे (ब्रूमः) हम प्रार्थना करते हैं, कि आप की कृपा से (सर्वा भूतानि) सब पञ्चभूत (संगत्य) मिल कर, एकमत से होकर, (नः) हमें (अंहसः) हनन से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें, हमारा हनन न करें।

[भूतम्=भवतीति, त्रैकालिक सत्ता वाला, सदा सद्रूप से वर्तमान, सद्रूप परमेश्वर। कर्तरि क्तः। परमेश्वर सत्, चित्, आनन्दस्वरूप है। मन्त्र में परमेश्वर के सद्रूप का कथन किया है। मन्त्र में "ब्रूमः" का अभिप्राय है "प्रार्थना करते हैं।" पञ्चभूत=पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश। ये प्रायः अपने उग्ररूप में हमारा हनन भी करते रहते हैं; पृथिवी भूचाल द्वारा, अप् जल-विप्लव, अति वर्षा और अवर्षा द्वारा; तेज जलाने द्वारा; वायु प्रबल प्रवाह द्वारा; और आकाश कर्कश, कठोर ध्वनियों तथा शब्दों द्वारा। परमेश्वर से प्रार्थना की गई है कि आप इनके पति हैं,स्वामी हैं, ये आप के वश में हैं, अतः इनमें प्रेरणाएँ दीजिए कि ये इस ढंग से वर्तें, जिससे हमारा हनन न हो। वे परस्पर मिल कर हमें हनन से मुक्त करते रहें, इनमें से एक भी अपने में उग्ररूप न हो]।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

या देवीः पञ्च प्रदिशो ये देवा द्वादशर्तवः।
संवत्सरस्य ये दंष्ट्रास्ते नः सन्तु सदा शिवाः॥ २२॥

अर्थ—(याः) जो (देवीः) दिव्य (पञ्चप्रदिशः) विस्तृत दिशाएँ हैं, (ये च) और जो (देवाः) दिव्य (द्वादशर्तवः) १२ मास हैं, तथा (संवत्सरस्य) सौरवर्ष की (ये) जो (दंष्ट्राः) दाढ़ें हैं, (ते) वे [हे परमेश्वर!] (नः) हमें (सदा शिवाः सन्तु) सदा कल्याणकारी हों।

[पञ्च=**पचि विस्तारे**। यथा **प्रपञ्च, पञ्चास्य** अर्थात् विस्तृत मुखवाला शेर। दिशाएँ और १२ मास तो देवीः और देव हैं, अतः कल्याणकारी हैं। परमेश्वर से प्रार्थना की गई है कि ये सदा दिव्य रूप

रहकर हमारे लिए कल्याणकारी हों। तथा संवत्सरकाल में जो दशनकारी सर्प, वृश्चिक, मच्छर आदि हों वे हमारे लिए कष्टप्रद न हों। ऋतवः=मासाः, यथा "**मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतू**" (यजुः० १३.२५) में ऋतुपद मासवाचक है]।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**बृहतीगर्भाऽनुष्टुप्** ॥

यन्मा॑त॒ली र॑थक्री॒तम॒मृतं॒ वेद॑ भेष॒जम्।

तदिन्द्रो॑ अ॒प्सु प्रावे॑शय॒त्तदा॑पो दत्त भेष॒जम्॥ २३ ॥

अर्थ—(मातली[१]) निर्माणकार्य की आधारभूत पारमेश्वरी माता, (रथक्रीतम्) शरीररथ द्वारा खरीदी गई (यत्) जिस (अमृतं भेषजम्) मोक्षरूपी औषध को (वेद) जानती है, (तत्) उस औषध को (इन्द्रः) जीवात्मा ने (अप्सु) निज रस-रक्त में (प्रावेशयत्) प्रविष्ट किया है, (आपः) हे रसरक्तो! (तद्) वह (भेषजम्) औषध (दत्त) देओ।

(मातली) मा (निर्माणे)+तल (प्रतिष्ठायां, चुरादि०)+स्त्री प्रत्यय। जगत् के निर्माण में पारमेश्वरी माता आधाररूप नींवरूप है, जैसे कि मानुषी माता शिशु के निर्माण में आधाररूप होती है], वह पारमेश्वरी माता जानती है कि हनन अर्थात् मृत्यु से मुक्त होने की एकमात्र औषध है "अमृत" हो जाना, जन्म-मरण की शृङ्खला से छूटना। परन्तु उस औषध को खरीदना होगा। उसका मूल्य है "शरीररथ"। इसे मोक्ष-प्राप्ति के साधनों तथा पारमेश्वरी माता के प्रति समर्पित करना होगा। जब वस्तु खरीदी जाती है, तो उसके निमित्त दिया धन वस्तु के स्वामी को दे देना होता है, उस धन पर फिर खरीद करने वाले का स्वत्व नहीं रहता। यही अवस्था शरीर की हो जाती "अमृत-औषध" के खरीदने पर। रथक्रीतम् "**आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु**" (कठ उप० ३.३)। परन्तु जो अभी तक शरीर रथ का स्वामी बना हुआ है (कठोप० १.३.३), उसे भी इस निमित्त परिश्रम करना होगा। वह परिश्रम है निज शरीर के रसरक्तों में अमृत-भेषज के प्रवेश करने में। इसके लिए अष्टाङ्ग योग साधनों को अपनाना होगा। तदनन्तर शरीरस्थ आपः अर्थात् रस-रक्त, अमृत-भेषज दे सकेंगे। इन रस-रक्तों का मूल स्रोत है हृदय। इस हृदय में परमेश्वर के प्रवेश पूर्वक, योगाङ्गों का सेवन करना होगा। आपः=शारीरिक रस-रक्त (अथर्व० १०.२.११)।

मन्त्र में "अमृतत्व" अर्थात् नियत १०० वर्षों के काल से पूर्व न मरने (अमृत=न मृत होने) की भेषज=आपः जल। यथा "**अपो याचामि भेषजम्**" (अथर्व० १.५.४), "मैं जलों से भेषज की याचना करता हूँ"। "**अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा**" (अथर्व० १.६.२) "सोम ने मुझे कहा है कि जलों के भीतर सब भेषजें हैं"। "**अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजम्**" (अथर्व० १.४.४), "जलों में अमृत हैं, जलों में भेषज है"। इस प्रकार दीर्घ जीवन के लिए, गौणरूप में, जल चिकित्सा का भी वर्णन मन्त्र में हुआ है।

तीसरा अनुवाक समाप्त॥

---

१. कथानक के अनुसार मातलि (मातली) इन्द्र का रथवाहक है। मन्त्र में "इन्द्र" का भी वर्णन है। इन्द्र पद मन्त्र में जीवात्मा का वाचक है, जिसके कि उपकरणों को "इन्द्रिय" कहते हैं। जो इन्द्र अर्थात् आत्मा "अमृतभागी" हो जाता है, उस "ईश्वरप्रणिधानी" के शरीर रथ का वहन अर्थात् संचालन पारमेश्वरी माता (मातली) करने लगती है—यह योग शास्त्र का सिद्धान्त है, तथा गीता द्वारा अनुमोदित है।

अनुवाक ४

सूक्त-७

विषय-प्रवेश

(१) ७वां सूक्त "उच्छिष्ट सूक्त" है। सूक्त का देवता अर्थात् प्रतिपाद्य विषय "उच्छिष्ट" है, जो कि अध्यात्म है। उच्छिष्ट का अर्थ है—उत् अर्थात् "उत्कृष्ट," तथा विश्व के संहार के पश्चात् भी "शिष्ट" अर्थात् अवशिष्ट, रहने वाला। यह ब्रह्म ही हो सकता है। प्रलय में प्रकृति भी अवशिष्ट रहती है, परन्तु वह कार्योन्मुखी नहीं होती, निश्चेष्ट सी रहती है। अतः वह "उत् अर्थात् उत्कृष्ट नहीं। जीवात्मा भी अवशिष्ट रहते हैं, परन्तु वे भी निश्चेष्ट। साथ ही जीवात्मा नाना होते हैं, और "उच्छिष्ट" एकवचनान्त है, अतः इस पद के द्वारा कोई "एक" अवशिष्ट ही अभिप्रेत है। ब्रह्म प्रलयावस्था में भी प्रकृति और जीवात्माओं का नियन्त्रण कर रहा है। अतः प्रलय में ब्रह्म ही "उत्कृष्ट तथा अवशिष्ट" शक्ति रूप होता है।

(२) सूक्त के मन्त्रों में भी केवल ब्रह्म ही "उच्छिष्ट रूप में वर्णित हुआ प्रतीत होता है।"

(३) नामरूप, विश्व, द्यावापृथिवी, समुद्र, चन्द्रमा, वात, ऋक्, साम, यजुः, छन्दांसि, उच्छिष्ट के आश्रय में रहते हैं—यह कथन उच्छिष्ट ब्रह्म में ही उपपन्न हो सकता है (१-६, २४)।

(४) मन्त्र ७ से १९ तक में नानाविध यज्ञों के नाम दिये हैं, जिनके स्वरूपों की व्याख्या अथर्ववेद में नहीं हुई। इनकी विशिष्ट व्याख्याएँ केवल पश्चाद्भावी ब्राह्मणग्रन्थों में और विशेषतया शतपथ ब्राह्मण में हुई है। इन ब्राह्मणग्रन्थों की व्याख्याएँ, मन्त्राभिप्रेत हैं या नहीं—यह विचारणीय है।

(५) ये यज्ञ मुख्य रूप में निम्नलिखित हैं—राजसूय, वाजपेय, अग्निष्टोम, अर्क, अश्वमेध, जीवबर्हिः, अग्न्याधेय, कामप्र, सत्त्राणि, अग्निहोत्र, एकरात्र, द्विरात्र, चतूरात्र, पञ्चरात्र, षड्रात्र, सप्तरात्र, अतिरात्र, द्वादशरात्र, साह्न, विषुवन्त, सद्यस्क्रीः, प्रक्रीः, उक्थ्य, षोडशी, विश्वजित्, अभिजित्, चतुर्होतारः, आप्रियः, चातुर्मास्यानि, आदि। (६-१९)। इन यज्ञों के मन्त्राभिमत क्या आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक विशिष्ट अभिप्राय है, ? या ब्राह्मण ग्रन्थोक्त इनकी इतिकर्त्तव्यताएँ और कर्मकलाप ही वेदाभिमत समझे जाने चाहिएँ—यह प्रश्न अति गम्भीर[१] है।

(६) मन्त्र १० में "यज्ञस्याणूनि विद्यया" इन यज्ञों के सूक्ष्म अर्थात् विस्तृत व्याख्या का निर्देश हुआ है, साथ ही "विद्या" शब्द द्वारा इनके रहस्यार्थों का भी निर्देश प्रतीत होता है। परन्तु अथर्ववेद में न तो इन यज्ञों के स्वरूपों का, न सूक्ष्मांशों का, न रहस्यार्थों का वर्णन है। ये सब मुख्यरूप में शतपथ ब्राह्मण में ही वर्णित हुए हैं।

(७) मन्त्र ११ और १५ के अनुसार सब यज्ञों और "गुहा हिताः" यज्ञों को उच्छिष्ट ही पैदा करता, तथा उन को धारण करता है। **"गुहाहिता यज्ञाः"=गुहायां निगूढा अज्ञायमानाः वर्तन्ते** (सायणाचार्य)। यह अर्थ भी विचारणीय है।

(८) मन्त्र ८ में "उत्सन्ना यज्ञाः" का कथन हुआ है। सायणाचार्य ने इसका अर्थ किया है "विलुप्त-

---

१. इन यज्ञों के अभिप्राय याज्ञिक प्रसिद्ध अर्थों के अनुकूल प्रायः कर दिये हैं। वास्तविक अभिप्राय अनुसंधेय है। वास्तविक अभिप्रायों के लिए, ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रदर्शित, आध्यात्मिक आदि अर्थ द्रष्टव्य हैं।

प्राया यज्ञाः'' अर्थात् वे यज्ञ जिनका कि विलोप हो गया है। क्या उत्सन्न-यज्ञों का प्रचार अथर्ववेद के आविर्भाव से पूर्व विद्यमान था, जोकि अथर्ववेद के आविर्भाव से पूर्व ही विलुप्त भी हो गया था। इस अर्थ में क्या अथर्ववेद की नित्यता उपपन्न हो सकती है? ''गुहाहिता यज्ञाः'' तथा ''उत्सन्ना यज्ञाः'' के सम्भावित अर्थों पर विचार किया गया है।

(९) मन्त्र १४ में, ''नव भूमीः'' द्वारा ९ भूमियों का कथन हुआ है, और मन्त्र १८ में ''षडुर्व्यः'' द्वारा ६ उर्वियों का कथन हुआ है। **उर्वी=पृथिवी** (निघं० १.१)। इनके अभिप्रायों पर प्रकाश डाला है।

(१०) मन्त्र २४ में ऋक्, साम, यजुः, छन्दांसि, तथा पुराणम् का कथन हुआ है। पुराण का अर्थ विचारणीय है।

(११) मन्त्र २० में ''श्रुतिर्मही'' द्वारा वेदरूपश्रुति का वर्णन प्रतीत होता है, घोषरूपश्रुति का नहीं। श्रुतिः=वेद। यथा ''**श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः**'' (मनुस्मृति)। वेद यतः गुरुमुख से श्रवण किये जाते हैं, इसलिए वेद को श्रुति कहते हैं। गुरुमुख से श्रवण किये विना, मन्त्रों के शुद्धोच्चारण का ज्ञान नहीं हो सकता।

(१२) मन्त्र २७ में ''गन्धर्वाप्सरसः'' का कथन हुआ है। यजुर्वेदाभिमत इनके यथार्थ स्वरूपों का निर्देश किया है।

(१३) मन्त्र ७ में अग्निष्टोम को ''अध्वर'' कहा है। परन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों में अग्निष्टोम में हिंसा का विधान है। इसलिए वेदविरुद्ध होने से ब्राह्मण ग्रन्थों की पशुहिंसा विधि त्याज्य है। अध्वर का अर्थ है ''हिंसारहित'', यथा ''ध्वरतिः'' **हिंसाकर्मा, तत्प्रतिषेधः** (निरुक्त १.३.८)।

(१४) संख्या ५ में निर्दिष्ट यज्ञों के रहस्यार्थ भी हैं, जिन्हें कि मत्र १० में पठित ''विद्यया'' शब्द द्वारा सूचित किया है। सम्भवतः अथर्ववेद द्वारा प्रतिपादित इन यज्ञों के याज्ञिक अर्थों से अतिरिक्त या भिन्न रहस्यार्थ भी हैं, जो कि इन मन्त्रों में अभिप्रेत हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**उच्छिष्टः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

उच्छिष्टे नाम रूपं चोच्छिष्टे लोक आहितः।
उच्छिष्ट इन्द्रश्चाग्निश्च विश्वमन्तः समाहितम्॥ १॥

अर्थ—(उच्छिष्टे) प्रलय में उत्कृष्ट शक्तिरूप में अवशिष्ट अर्थात् बचे हुए परमेश्वर में (नाम रूपम्) सृष्ट जगत् के नाम और रूप स्थित हैं, (च) और (उच्छिष्टे) उच्छिष्ट में (लोकः) लोक लोकान्तर (आहितः) स्थित हैं। (उच्छिष्टे) उच्छिष्ट में (इन्द्रः च, अग्निः च) विद्युत् और अग्नि स्थित हैं, तथा उच्छिष्ट के (अन्तः) भीतर (विश्वम्) समग्र वस्तु जात (समाहितम्) सम्यक्तया स्थित है।

[उच्छिष्टे=उत् (उत्कृष्ट)+शिष्ट (अवशिष्ट, बचा हुआ)। प्रलय में परमेश्वर, जीव और प्रकृति शेष रहते हैं। प्रकृति निज उत्पादकत्वरूप में नहीं होती, जीवात्मा भी निश्चेष्ट रहते हैं। परमेश्वर उस समय भी प्रकृति और जीवात्माओं का निरीक्षण तथा नियन्त्रण कर रहा होता है। अतः परमेश्वर प्रकृति और जीवात्माओं से ''उत्'' अर्थात् उत्कृष्ट है, जोकि प्रलय में अवशिष्ट रहता है। प्रलय में भी परमेश्वर सत्, चित् और आनन्द स्वरूप में स्थित रहता है।

नाम रूपम्=चारों वेद नामात्मक हैं, और प्राकृतिक जगत् रूपात्मक है। ये दोनों नाम और रूप

परमेश्वर द्वारा उत्पन्न हुए और परमेश्वराश्रय में आश्रित हैं, स्थित हैं। इन्द्रः=निरुक्त में इन्द्र को मध्यस्थानी देवता माना है। इसलिए इन्द्र का अर्थ "विद्युत्" किया है]।

ऋषिः— **अथर्वा**॥ देवता—**उच्छिष्टः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

उच्छिष्टे द्यावापृथिवी विश्वं भूतं समाहितम्।
आपः समुद्र उच्छिष्टे चन्द्रमा वात आहितः॥ २॥

अर्थ—(उच्छिष्टे) उत्कृष्टे शक्तिरूप में प्रलय में अवशिष्ट परमेश्वर में (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवी स्थित हैं, (विश्वम्) समग्र (भूतम्) भूत-भौतिक पदार्थ उच्छिष्ट में (समाहितम्) सम्यक्तया स्थित हैं। (उच्छिष्टे) उच्छिष्ट में (आपः, समुद्रः, चन्द्रमाः, वातः) जल, समुद्र, चन्द्रमा और वायु (आहितः) स्थित हैं।

ऋषिः— **अथर्वा**॥ देवता—**उच्छिष्टः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सन्नुच्छिष्टे असंश्चोभौ मृत्युर्वाजः प्रजापतिः।
लौक्या उच्छिष्ट आयत्ता व्रश्च द्रश्चापि श्रीर्मयि॥ ३॥

अर्थ—(सन्) अभिव्यक्त (च) और (असन्) अनभिव्यक्त (उभौ) ये दोनों, (मृत्युः) मृत्यु, (वाजः) अन्न और बल, (प्रजापतिः) मेघ (उच्छिष्टे) उच्छिष्ट परमेश्वर में आश्रित हैं। (लौक्याः) लौकिक सब पदार्थ (व्रः च) वरण करने योग्य, (द्रश्च) तथा "द्र" अर्थात् कुत्सित त्यागने योग्य पदार्थ, (अपि) तथा (मयि) मुझ में वर्तमान (श्रीः) शोभा सम्पत् (उच्छिष्टे) उच्छिष्ट परमेश्वर में (आयत्ताः) आश्रित हैं।

[प्रजापति=यह मध्यस्थानी देवता है। वर्षाप्रदान तथा अन्नोत्पादन द्वारा प्रजाओं का पालन तथा रक्षा करता है। अतः मेघ है। व्रः=व्री वरणे। द्रः=द्रा कुत्सने]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**उच्छिष्टः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

दृढो दृंहस्थिरो न्यो ब्रह्म विश्वसृजो दश।
नाभिमिव सर्वतश्चक्रमुच्छिष्टे देवताः श्रिताः॥ ४॥

अर्थ—(दृढः) दृढ़ पार्थिव लोक, (दृंहस्थिरः) दृढ़ रूप से स्थिर नक्षत्र आदि (न्यः) नेतृवर्ग तथा नेयवर्ग, (ब्रह्म) महत्-प्रकृति जन्य तत्त्व, (विश्वसृजः दश) विश्व का सर्जन करने वाले दस अर्थात् पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश और ये ५ भूत, और पञ्च तन्मात्राएँ—ये दस (देवताः) दिव्य पदार्थ, (उच्छिष्टे) उत्कृष्ट=अवशिष्ट-परमेश्वर में (श्रिताः)आश्रय पाए हुए हैं, (इव) जैसे कि (चक्रम्) रथ का चक्र (नाभिम् सर्वतः) रथ की नाभि के सब ओर आश्रय पाता है।

[दृढः=पृथिवी लोक। यथा "**येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा**" (यजुः० ३२.६) दृंहस्थिरः=नक्षत्रादि, जोकि दृढतया अपने-अपने सापेक्ष स्थानों में स्थिर हैं। न्यः=प्रत्येक सौरमण्डल में सूर्य नेता होता है। और उसके ग्रह-उपग्रह नेय होते हैं। ब्रह्म=बृहत-प्रकृति तत्त्व। यथा "**मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्**" (गीता १४.३)]।

ऋषिः— **अथर्वा**॥ देवता—**उच्छिष्टः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ऋक्साम यजुरुच्छिष्ट उद्गीथः प्रस्तुतं स्तुतम्।

हिङ्कार उच्छिष्टे स्वरः साम्नो मेडिश्च तन्मयि॥ ५॥

अर्थ—(ऋक्) ऋग्वेद, (साम) सामवेद, (यजुः) यजुर्वेद, (उद्गीथः) उद्गाता द्वारा गेय सामभाग, (प्रस्तुतम्) प्रस्तोता द्वारा गीयमान प्रस्तावाख्य सामभाग, (स्तुतम्) स्तवन कर्म, (हिङ्कारः) सामगान के आदि में किया गया "हिं" शब्द (उच्छिष्टे) उच्छिष्ट परमेश्वर में आश्रित है। (साम्नः स्वरः) सामगान सम्बन्धी स्वर, (मेडिः च) और सामगान में मस्ती (तत्) जो कि (मयि) मुझ में होती है वह (उच्छिष्टे) उच्छिष्ट परमेश्वर में आश्रित है।

[सामगान के ५ भाग होते हैं—उपद्रव, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार तथा निधन। गान के प्रारम्भ में उद्गाता आदि सब मिल कर "हिं" शब्द का उच्चार करते हैं, यह हिङ्कार है। हिंकार="हिं" शब्द करना। सामगान का प्रारम्भ है प्रस्ताव। स्तुतम् है सामगान द्वारा परमेश्वर की स्तुति। उद्गीथ है उच्च स्वर में सामगान। प्रतिहार है गान की समाप्ति सम्बन्धी उपसंहार स्वर। निधन है गान की वास्तविक समाप्ति सम्बन्धी स्वर। मेडिः=**मेड्ड उन्मादे,** अर्थात् सामगान करते समय चित्त का उल्लास, अर्थात् मस्ती। अभिप्राय यह कि जगत् का प्रत्येक पदार्थ और उसकी प्रत्येक क्रिया का आश्रय परमेश्वर है। इसी प्रकार सामगान सम्बन्धी सब क्रियाओं का आधार भी परमेश्वर है। ऋक् आदि वेद भी परमेश्वर में आश्रित हैं]।

ऋषिः— **अथर्वा**॥ देवता—**उच्छिष्टः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**पुरउष्णिक् बार्हतपराऽनुष्टुप्**॥

ऐन्द्राग्नं पावमानं महानाम्नीर्महाव्रतम्।

उच्छिष्टे यज्ञस्याङ्गान्यन्तर्गर्भ इव मातरि॥ ६॥

अर्थ—(ऐन्द्राग्नम्) इन्द्र और अग्नि की स्तुति में गाया जाने वाला सामगान, (पावमानम्) सोमदेवता सम्बन्धी पवित्र करने वाला सामगान, (महानाम्नीः) सामवेद सम्बन्धी "महानाम" परमेश्वर की स्तुति सम्बन्धी ऋचाएँ, (महाव्रतम्) पांच सामों द्वारा की गई स्तुति—(यज्ञस्य) यज्ञ के (अङ्गानि) ये अङ्ग (उच्छिष्टे) उच्छिष्ट परमेश्वर के आश्रय में हैं, (इव) जैसे कि (गर्भः) (मातरि अन्तः) माता के आश्रय में होता है।

ऋषिः— **अथर्वा**॥ देवता—**उच्छिष्टः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

राजसूयं वाजपेयमग्निष्टोमस्तदध्वरः। अर्काश्वमेधावुच्छिष्टे जीवबर्हिर्मदिन्तमः॥ ७॥

अर्थ—(राजसूयम्) राजा को राज्यारूढ करने सम्बन्धी यज्ञ, (वाजपेयम्) द्रवीकृत अन्न के पान सम्बन्धी यज्ञ, (अग्निष्टोमः) अग्नि की स्तुति में किया गया यज्ञ, (तत्) वह यज्ञकर्म (अध्वरः) हिंसा रहित होता है। (अर्कः) अग्नि चयन में व्यापक अग्निस्वरूप परमेश्वर की उपासनारूपी यज्ञ, (अश्वमेधः) राष्ट्र शासनरूपी यज्ञ, (जीवबर्हिः) जीवन वृद्धिकारक [१]यज्ञ, तथा (मदिन्तमः) मोद तथा हर्ष प्रदायक जीवनयज्ञ (उच्छिष्टे) उत्कृष्ट तथा प्रलयावस्था में भी स्वस्वरूप में अवस्थित रहने वाले परमेश्वर में आश्रित हैं।

---

१. यथा "**आयुर्यज्ञेन कल्पताम्**" (यजुः० १८.२९)।

[जीवबर्हिः=जीव+बृह (वृद्धौ)। अध्वरः=अ+ध्वरति हिंसाकर्मा, अर्थात् हिंसारहित[१]। अर्कः=अर्चनीयः "**अर्को देवो भवति, यदेनमर्चन्ति**" (निरुक्त ५.१.४)। अश्वमेधः="**राष्ट्रं वा अश्वमेधः**" (शत० ब्रा० १३.१.६.३)]।

ऋषिः— **अथर्वा**॥ देवता—**उच्छिष्टः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अग्न्याधेयमथो दीक्षा कामप्रश्छन्दसा सह।
उत्सन्ना यज्ञाः सत्राण्युच्छिष्टेऽधि समाहिताः॥ ८॥

अर्थ—(अग्न्याधेयम्) अग्नियों के आधान, (अथो) तथा (दीक्षा) व्रतों का ग्रहण, (छन्दसा सह) मन्त्रों की सहायतानुसार (कामप्रः) कामनाओं का पूर्तिकारी यज्ञ, (उत्सन्नाः यज्ञाः) उन्नति कारक विविधयज्ञ, (सत्राणि) तथा नानाविध सत्र वे सब (उच्छिष्टे अधि) उत्कृष्ट तथा प्रलय में भी वर्तमान परमेश्वर में, उसकी अध्यक्षता में, (समाहिताः) सम्यक्तया आश्रित हैं।

[अग्न्याधेयम्=आधेय अग्नियों का आधान, (१) यज्ञार्थ याज्ञिक अग्नियाँ अर्थात् गार्हपत्य, आहवनीय तथा दक्षिणाग्नि का आधान यज्ञशाला में। इन द्वारा रोगनिवृत्ति तथा गृहस्वास्थ्य बना रहता है। (२) तथा "**योतिथिनां स आहवनीयो, यो वेश्मनि स गार्हपत्यो, यस्मिन् पचन्ति स दक्षिणाग्निः**" (अथर्व० ९.६। पर्याय २। मन्त्र १२)। इसमें अतिथिनिष्ठ जाठराग्नि को "आहवनीय" कहा है, और अन्न पकाने के लिए चुल्ले की अग्नि को दक्षिणाग्नि कहा है। ये समाजसेवार्थ अग्नियाँ हैं।

कामप्रः=काम+प्रा (पूरणे)। कामनाओं को पूर्ण करने वाला यज्ञ। कामनाएँ वेदानुकूल भी होती हैं, प्रतिकूल भी। "कामप्रद-यज्ञ" छन्दों अर्थात् मन्त्रों के उच्चारण के साथ होने चाहिएँ। इससे ज्ञात हो जाएगा कि की गई कामना वेदानुकूल है या नहीं। सुरापान, मांसभक्षण, पशुहिंसा, द्यूतकर्म आदि वेद-विरुद्ध हैं। परन्तु याज्ञिक सम्प्रदायानुसार यज्ञों में ये कर्म किये जाते हैं। इनके निषेध के लिए "छन्दसा सह"=यह कथन हुआ है। उत्सन्नाः यज्ञाः="**लुप्तप्राया यज्ञा उत्सन्नयज्ञा इत्युच्यन्ते**" (सायण), अर्थात् जो यज्ञ लुप्त प्राय हो गये हैं वे उत्सन्न यज्ञ हैं। इस अर्थ में नित्यवेद की दृष्टि में वेदाविर्भाव से पूर्व उन यज्ञों की सत्ता माननी पड़ेगी, जो कि वेदाविर्भाव काल से भी पूर्व विद्यमान तो थे, परन्तु वेदाविर्भाव से पूर्व ही लुप्त हो चुके थे। वेदों को नित्य मानने वाले सायणाचार्य की दृष्टि से यह व्याख्या उसके मन्तव्य की विरोधिनी है।

"उत्सन्न" का अर्थ केवल उच्छिन्न ही नहीं होता। उत्सन्नः=उद्+सद्+क्त; "उत्कर्षत्वेन स्थिताः; उद्गतिका वा", ये अर्थ भी "उत्सन्न" के सम्भव हैं। "सत्राणि" बहुकाल साध्य हैं, ये काल की दृष्टि से उत्कर्ष अर्थात् बहुत काल की अपेक्षा करते हैं; तथा ये "उद्गति" वाले हैं, सत्र यज्ञों द्वारा ऊंची-गति प्राप्त होती है। सत्र यज्ञ १३ दिनों से १०० दिनों में साध्य हैं (आप्टे)। याज्ञिक दृष्टि में "सत्र", १७ से २४ यजमानों वाले होते हैं]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**उच्छिष्टः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अग्निहोत्रं च श्रद्धा च वषट्कारो व्रतं तपः। दक्षिणेष्टं पूर्तं चोच्छिष्टेऽधि समाहिताः॥ ९॥

अर्थ—(अग्निहोत्रं च श्रद्धा च) अग्निहोत्र तथा श्रद्धा, (वषट्कारः) याज्यामन्त्रों के अन्त में, हवि

१. अग्निष्टोम को अध्वर अर्थात् हिंसारहित कहा है, परन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों में अग्निष्टोम में हिंसा का विधान है।

के प्रदान के लिए, उच्चार्यमाण "वौषट्" शब्द, (व्रतं तपः) व्रतग्रहण तथा तप, (दक्षिणा) ऋत्विजों को देय धन, (इष्टम्) याग होम आदि, (पूर्तं च) समाजोपकार के लिए धर्मशाला, कूप आदि का निर्माण (उच्छिष्टे अधि) उच्छिष्ट परमेश्वर में (समाहिताः) समाश्रित हैं। अर्थात् ये सब कृत्य परमेश्वरार्पित कर, करने चाहिएँ।

ऋषिः— **अथर्वा**॥ देवता—**उच्छिष्टः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

एकरात्रो द्विरात्रः सद्यःक्रीः प्रक्रीरुक्थ्यः।

ओतं निहितमुच्छिष्टे यज्ञस्याणूनि विद्यया॥ १०॥

अर्थ—(एकरात्रः) एक रात्रिसाध्य यज्ञ (द्विरात्रः) दो रात्रियों में साध्य यज्ञ, (सद्यःक्रीः) उसी दिन खरीदे गये सोम द्वारा साध्य यज्ञ, (प्रक्रीः) पहिले खरीदे हुए सोम द्वारा साध्य यज्ञ, (उक्थ्यः) उक्थनामक तीन स्तोत्र-शस्त्रों द्वारा साध्य यज्ञ, (विद्यया) तथा रहस्यार्थों सहित (यज्ञस्य अणूनि) यज्ञ के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंगोपाङ्ग (उच्छिष्टे) सर्वोत्कृष्ट तथा प्रलय में अवशिष्ट परमेश्वर में (ओतम्) ओत-प्रोत हैं, (निहितम्) तथा स्थित हैं।

ऋषिः— **अथर्वा**॥ देवता—**उच्छिष्टः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

चतूरात्रः पञ्चरात्रः षड्रात्रश्चोभयः सह।

षोडशी सप्तरात्रश्चोच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे ये यज्ञा अमृते हिताः॥ ११॥

अर्थ—(चतूरात्रः) चार रात्रियों द्वारा साध्य सोमयाग, (पञ्चरात्रः) पांच रात्रियों द्वारा साध्य सोमयाग, (षड्रात्रः) ६ रात्रियों द्वारा साध्य सोमयाग, (उभयः सह) चतूरात्र आदि की द्विगुणित रात्रियों द्वारा साध्य याग, अर्थात् ८,१०,१२ रात्रियों में साध्य सोमयाग ये दो प्रकार के याग साथ-साथ किये गये, तथा (षोडशी) षोडशी-संज्ञक स्तोत्र और शस्त्र द्वारा साध्य सोमयाग, (सप्तरात्रः च) और ७ रात्रियों में साध्य सोमयाग, (सर्वे) ये सब (उच्छिष्टात्) उच्छिष्ट परमेश्वर से (जज्ञिरे) प्रादुर्भूत हुए हैं, (ये) जो (यज्ञः) यज्ञ कि (अमृते) अमृत परमेश्वर में (हिताः) निहित हैं, या जो अमृत फल प्रदाता हैं।

[द्विरात्र से ११ रात्रियों में सम्पाद्य सोमयज्ञों को 'अहीन' कहते हैं। और १३ तथा इनसे अधिक दिनों में सम्पाद्य यज्ञों को "सत्र" कहते हैं। अहीन का अर्थ है दिनों के समूह द्वारा सम्पाद्य यज्ञ। द्वादश दिनों द्वारा सम्पाद्य यज्ञ मन्त्र (१२) में वर्णित है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**उच्छिष्टः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

प्रतीहारो निधनं विश्वजिच्चाभिजिच्च यः।

साह्नातिरात्रावुच्छिष्टे द्वादशाहोपि तन्मयि॥ १२॥

अर्थ—(प्रतीहारः) सामगान का चतुर्थभाग जोकि प्रतिहर्ता द्वारा गाया जाता है, (निधनम्) सामगान का पंचम भाग जिसमें सामगान समाप्त होता है और जिसे सब उद्गाता मिलकर गाते हैं, (विश्वजित्, अभिजित् च) इन नामों वाले दो सोमयाग, (साह्नातिरात्रौ) एक दिन में समाप्य तीन सवनों वाला सोमयाग, तथा अतिरात्र सोमयाग—ये (उच्छिष्टे) उच्छिष्ट ब्रह्म में निहित हैं, (द्वादशाहः अपि) तथा १२ दिनों में समाप्त होने वाला सोमयाग भी उस परमेश्वर में आश्रित है। (तत्) वह सब (मयि) मुझे में हो, अर्थात् सबका मैं सम्पादन कर सकूँ।

[(द्वादशाहः) १२ दिनों में समाप्त होने वाला सोमयाग अहीनात्मक भी है और सत्रात्मक भी अर्थात् यह उभयात्मक है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**उच्छिष्टः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सूनृता संनतिः क्षेमः स्वधोर्जामृतं सहः।

उच्छिष्टे सर्वे प्रत्यञ्चः कामाः कामेन तातृपुः॥ १३॥

अर्थ—(सूनृता) सत्यप्रियवाणी, (संनतिः) नम्रता तथा फल-प्राप्ति, (क्षेम) कल्याण, (स्वधा) अन्न तथा स्वधारण सामर्थ्य, (ऊर्जा) बल और प्राणन, (अमृतम्) मोक्ष, (सहः) सहनशक्ति, सहिष्णुता—(सर्वे) ये सब (उच्छिष्टे) उच्छिष्ट परमेश्वर (प्रत्यञ्चः) के प्रति समर्पित हैं। (कामाः) यतः सब कामनाएँ (कामेन) परमेश्वर की कामना अर्थात् इच्छा द्वारा (तातृपुः) तृप्त होती हैं।

ऋषिः— **अथर्वा**॥ देवता—**उच्छिष्टः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

नव भूमीः समुद्रा उच्छिष्टेधि श्रिता दिवः।

आ सूर्यो भात्युच्छिष्टेहोरात्रे अपि तन्मयि॥ १४॥

अर्थ—(नव भूमीः) ९ भूमियाँ, (समुद्राः) सब समुद्र, (दिवः) तीन द्युलोक या द्युलोक के ३ खण्ड, (उच्छिष्टे अधि) प्रलय में अवशिष्ट ब्रह्म में (श्रिताः) आश्रित हैं। (सूर्यः) सूर्य (उच्छिष्टे) प्रलय में अवशिष्ट रहने वाले ब्रह्म में (आ भाति) प्रदीप्त होता है, (अहोरात्रे अपि) दिन और रात भी उच्छिष्ट में भासित होते हैं, परन्तु (तत्) वह ब्रह्म (मयि) मुझमें भासित होता है।

[नव भूमीः=इसके दो अभिप्राय हैं। एक यह कि पृथिवी एक अविभाज्य इकाई नहीं। यह ९ खण्डों में विभक्त है। ये खण्ड चलायमान हैं, और अपने स्थान बदलते रहते हैं, ऐसा वर्तमान वैज्ञानिक मानते हैं। सायण ने भी नवभूमीः का अर्थ किया है। "**नवखण्डात्मिकाः पृथिव्यः**, ९ खण्डरूप पृथिवियाँ, अर्थात् पृथिवी के ९ खण्ड। अथवा सौरमण्डल की ९ भूमियां; बुध, शुक्र, पृथिवी, मङ्गल, बृहस्पति, शनैश्चर, युरेनस (वरुण), नेपचून, चन्द्रमा। दिवः=तीन द्यौः, अथवा द्यौः के तीन भाग (देखो मत्कृत-अथर्ववेद-भाष्य १९.१.१०; १३.३.२१; १९.२७.३)।

"नव भूमीः" के सम्बन्ध में, "हिन्दुस्तान टाईम्ज" अक्तूबर ४, १९८२ में प्रकाशित एक लेख में से निम्नलिखित उद्धरण विशेष प्रकाश डालते हैं—

North-east India is gently moving eastward and is dipping under Burma, according to an analysis of the data of earthquakes that had taken place in the region during the last 75 years.

Scientists claim to have found a belt where the Indian plate is dipping to 200 K.M. gently beneath the Burmese plate at an angle of 35 to 69 degree. Acadamy of sciences carried out the investigations on the background of tectonic condition of the region. According to tectonic Theory, the crustal plates of the continents are broken and quakes are produced along plate boundrie rubbing each other.

अर्थात् भारत का उत्तर-पूर्व भाग, शनैः-शनैः पूर्व की ओर सरक रहा है, और बर्मा के नीचे घुस रहा है। गत ७५ वर्षों में जो इस भाग में भूचाल आए हैं, उनके आधार पर यह परिणाम निकलता है। वैज्ञानिकों

ने इस भू-भाग में ऐसा भाग पाया है जहाँ कि भारत भू-भाग, ३५ से ६९ डिग्री पर, २०० किलो मीटर, शनैः-शनैः, बर्मा के भूभाग में घुसता जा रहा है। पृथिवी के स्तरों की रचनानुसार, पृथिवी के भिन्न भिन्न महाखण्ड परस्पर विभक्त हैं, और जब ये खण्ड परस्पर रगड़ खाते हैं, तो भूचाल पैदा होते हैं।

वैज्ञानिकों की इस खोज के अनुसार मन्त्रगत "नव भूमीः" का अर्थ नवखण्डात्मिकाः पृथिव्यः" ठीक प्रतीत होता है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**उच्छिष्टः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

उपहव्यं विषूवन्तं ये च यज्ञा गुहा हिताः।

बिभर्ति भर्ता विश्वस्योच्छिष्टो जनितुः पिता॥ १५॥

अर्थ—(उपहव्यम्) उपहव्य [सोमयाग?], (विषूवन्तम्) संवत्सर के उत्तरायण और दक्षिणायन के मध्यवर्ती दिन में किया जाने वाल सोमयाग, (ये च) और जो (यज्ञाः) यज्ञ (गुहाः हिताः) हृद्गुहा में (हिताः) निहित हैं—(विश्वस्य भर्ता) विश्व का भरण-पोषण करने वाला (जनितुः पिता) पिता का भी पिता, (उच्छिष्टः) प्रलय में भी अवशिष्ट रहने वाला परमेश्वर—उन सबका (बिभर्त्ति) भरण-पोषण करता है।

["गुहा यज्ञाः"=**गुहायां निगूढा अविज्ञायमानाः** (सायणाचार्य)। यज्ञा गुहा=स्तुति, प्रार्थना, उपासना योग, परमेश्वर का ध्यान आदि भी यज्ञकर्म हैं, जिन्हें कि हृदय की यज्ञशाला में किया जाता है। गुहा शब्द का प्रयोग हृदय गुहा के लिए भी होता है। शरीर भी यज्ञशाला है, देखो (अथर्व० ११.८.२९)]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**उच्छिष्टः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

पिता जनितुरुच्छिष्टोसोः पौत्रः पितामहः।

स क्षियति विश्वस्येशानो वृषा भूम्यामतिघ्न्यः॥ १६॥

अर्थ—(उच्छिष्टः) प्रलय में भी अवशिष्ट रहने वाला परमेश्वर (जनितुः) उत्पादक पिता का (पिता) पिता है, (असोः) प्राण का (पौत्रः) पौत्र है, तो भी (पितामहः) हमारा पितामह है, हमारे पिताओं का भी पिता है। (विश्वस्य) विश्व का (ईशानः) अधीश्वर, (अतिघ्न्यः) हननातीत, अघ्न्य, अहन्तव्य, अविनाश्य, (वृषा) सुखवर्षी (सः) वह परमेश्वर (भूम्याम्) भूमि में (क्षियति) निवास करता है।

[असोः पौत्रः= प्राणायाम से संयम का परिपोषण होता है। संयम पूर्वक समाप्ति में परमेश्वर का प्रत्यक्ष होता है। अतः परमेश्वर प्राण अर्थात् प्राणायाम का पौत्र है। आठ योगाङ्गों में प्राणायाम के अनन्तर तीन अङ्ग होते हैं—धारणा, ध्यान और समाधि। ये तीनों जब एक ध्येय में एकत्र होते हैं तो इनका नाम हो जाता है "संयम"। यथा "**त्रयमेकत्र संयमः**" (योग ३.४)। इस प्रकार "प्राणायाम, संयम, और परमेश्वर का साक्षात्कार", इस क्रम से परमेश्वर है "असु अर्थात् प्राण का पौत्र"]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**उच्छिष्टः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ऋतं सत्यं तपो राष्ट्रं श्रमो धर्मश्च कर्म च।

भूतं भविष्यदुच्छिष्टे वीर्यं लक्ष्मीर्बलं बले॥ १७॥

अर्थ—(ऋतम्) मन द्वारा यथार्थ संकल्प करना, (सत्यम्) यथार्थ भाषण (तपः) द्वन्द्व-सहिष्णुता

तथा संयम आदि, (राष्ट्रम्) राज्य, (श्रमः) धर्मकार्य के परिश्रम, (धर्मः) धर्म, (कर्म च) और धर्मानुरूप कर्म, (भूतम्) उत्पन्न जगत्, (भविष्यत्) उत्पन्न होने वाला जगत्, (वीर्यम्) वीरता, (लक्ष्मीः) सम्पत्ति, तथा (बले) बलवान् में (बलम्) शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक बल (उच्छिष्टे) उच्छिष्ट परमेश्वर में आश्रित हैं।

ऋषिः— **अथर्वा**॥ देवता—**उच्छिष्टः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

समृद्धिरोज आकूतिः क्षत्रं राष्ट्रं षडुर्व्यः।

संवत्सरोध्युच्छिष्ट इडा प्रैषा ग्रहा हविः॥ १८॥

अर्थ—(समृद्धिः) सफलता, (ओजः) शारीरिक बल, (आकूतिः) संकल्प (क्षत्रम्) क्षात्रतेज, (राष्ट्रम्) राज्य, (षड् उर्व्यः) ६ विस्तार वाली पृथिवियाँ, (संवत्सरः) अर्थात् पृथिवी द्वारा सूर्य की प्रदक्षिणा, (इडा) वेदवाणी, (प्रैषाः) प्रेरणाएँ, (ग्रहाः) विषयों का ग्रहण करने वाली इन्द्रियाँ, (हविः) तथा दानादान के व्यवहार (उच्छिष्टे अधि) प्रलय में भी अवशिष्ट रहने वाले परमेश्वर में आश्रित हैं।

[षड् उर्व्यः=पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ध्रुवा तथा ऊर्ध्वा दिशाएँ या पृथिवी से लेकर नेपच्यून तक के ६ ग्रह। ये ६ अतिविस्तृत हैं, बुध, शुक्र परिमाण में अत्यल्प हैं, चन्द्रमा ग्रह नहीं, और परिमाण में भी अत्यल्प है। पृथिवी यह यह नाम दर्शा रहा है कि बुध, शुक्र की अपेक्षा यह अधिक विस्तृत है। पृथिवी=**प्रथ विस्तारे।**

संवत्सरः=सूर्य के चारों ओर पृथिवी की एक प्रदक्षिणा का काल। **इडा=वाङ्नाम** (निघं० १.७)। प्रैषः=गुरु द्वारा शिष्य को, स्वामी द्वारा भृत्य को, माता पिता द्वारा सन्तानों को, राजा द्वारा प्रजा को प्रेरणाएँ। ग्रहाः=इन्द्रियाणि (organs) (आप्टे)। हविः=हु दाने, आदाने, अदने।

याज्ञिक पक्ष में—इडा=देवता के लिए यज्ञशेष में से भाग दिया जाता है। प्रैषाः=ऋत्विजों को प्रेरित करने वाले मन्त्र भाग। ग्रहाः=सोम को ग्रहण करने के ऊर्ध्वाकार पात्र]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**उच्छिष्टः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

चतुर्होतार आप्रियश्चातुर्मास्यानि नीविदः।

उच्छिष्टे यज्ञा होत्राः पशुबन्धास्तदिष्टयः॥ १९॥

अर्थ—(चतुर्होतारः) चतुर्होतृसंज्ञक मन्त्र, (आप्रियः) इध्म आदि १२ पदार्थ तथा एतत्सम्बन्धी १२ आप्री मन्त्र (अथर्व० काण्ड ५, सूक्त १२, २७), निरुक्त ८.२.४-१५; तथा ८.३.१६-२३ । आप्री मन्त्रों द्वारा देवताओं को प्रीणित अर्थात् प्रसन्न किया जाता है, (चातुर्मास्यानि) चार मासों में किये जाने वाले ४ यज्ञ, (नीविदः) स्तोतव्य देवों के गुणप्रकर्षों का निवेदन करने वाले मन्त्र, तथा (यज्ञाः) याग, (होत्राः) होता के समेत ७ ऋत्विक् जो कि "वषट्" शब्द का उच्चारण करते हैं और तत्पश्चात् आहुति देते हैं। (पशुबन्धाः) यज्ञ में पशुओं का बाँधना, सम्भवतः प्रदर्शनी के लिए (इष्टयः) अङ्गभूत तथा स्वतन्त्र इष्टियां—(तत्) यह सब (उच्छिष्टे) उच्छिष्ट परमेश्वर में आश्रित हैं। मन्त्र की व्याख्या सायण भाष्यानुसार की गई है।

[चातुर्मास्यानि=कार्तिक से आरम्भ करके प्रत्येक चतुर्थमास में किये जाने वाले यज्ञ, अर्थात् वैश्वदेव, वरुणप्रघास, साकमेध, शुनासीरीय]।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**उच्छिष्टः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अर्धमासाश्च मासाश्चार्तवा ऋतुभिः सह।

उच्छिष्टे घोषिणीरापः स्तनयित्नुः श्रुतिर्मही ॥ २० ॥

अर्थ—(अर्धमासाः च) चान्द्र अर्धमास, (मासाः च) और मास, (ऋतुभिः सह, आर्तवाः) ऋतुओं के साथ ऋतुसमूह, (घोषिणीः आपः) शब्द करने वाले जल [सम्भवतः नदियों में बहने वाले वर्षा के जल], (स्तनयित्नुः) गर्जते मेघ, (मही) महती (श्रुतिः) वेदवाणी (उच्छिष्टे) उच्छिष्ट परमेश्वर में आश्रित हैं।

[श्रुतिः=वेदवाणी गुरुमुख से सुनी जाती है, अतः घोषमयी है। इसलिए श्रुति का वर्णन घोषिणीः आपः, तथा स्तनयित्नु के साथ हुआ है]।

ऋषिः— **अथर्वा** ॥ देवता—**उच्छिष्टः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**स्वराडनुष्टुप्** ॥

शर्कराः सिकता अश्मान ओषधयो वीरुधस्तृणा।

अभ्राणि विद्युतो वर्षमुच्छिष्टे संश्रिता श्रिता ॥ २१ ॥

अर्थ—(शर्कराः) पथरीली रेता अर्थात् बजरी, (सिकताः) रेता, (अश्मानः) पत्थर, (ओषधयः वीरुधः, तृणा तृणानि) ओषधियाँ, लताएँ तथा घास, (अभ्राणि) मेघ, (विद्युतः) बिजलियाँ, (वर्षम्) तथा वर्षा (उच्छिष्टे) प्रलय में अवशिष्ट परमेश्वर में (श्रिता) आश्रय पाए हुए (संश्रिता) सम्यक् आश्रयवान् हुए-हुए हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**उच्छिष्टः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**विराट् पथ्या बृहती** ॥

राद्धिः प्राप्तिः समाप्तिर्व्याप्तिर्मह एधतुः।

अत्याप्तिरुच्छिष्टे भूतिश्चाहिता निहिता हिता ॥ २२ ॥

अर्थ—(राद्धिः) सिद्धि, (प्राप्तिः) अभीष्ट की प्राप्ति, (समाप्तिः) क्रियमाण कर्म का पूरा होना, (व्याप्तिः) विविध कर्मों में व्यापृत रहना, (महः) महत्त्व, (एधतुः) वृद्धि, (अत्याप्तिः) आशातीत की प्राप्ति, (भूतिः) तथा सम्पत्ति, (उच्छिष्टे) प्रलय में भी अवशिष्ट परमेश्वर में (आहिता) स्थित हैं, (निहिता) निधिवत् सुरक्षित हैं, (हिता) स्थिरतया स्थित हैं।

["आहिता, निहिता, हिता" इन सब में विसर्ग लोप छान्दस है। हिता=हिताः=अथवा ये सब हमारे हितकर हैं]।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**उच्छिष्टः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यच्च प्राणति प्राणेन यच्च पश्यति चक्षुषा।

उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥ २३ ॥

अर्थ—(यत् च) जो प्राणिवर्ग (प्राणेन) प्राणवायु द्वारा (प्राणति) प्राण धारण करता है, (यत् च) और जो (चक्षुषा) आँख द्वारा (पश्यति) देखता है, तथा (सर्वे देवाः) सब देव (दिवि) जो कि द्युलोक में हैं, (दिविश्रितः) और द्युलोक जिनका आश्रय है—(उच्छिष्टात्) वे प्रलय में भी अवशिष्ट परमेश्वर से (जज्ञिरे) पैदा हुए हैं।

[दिविश्रितः=दिवि+श्रि+क्विप्+तुक्]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**उच्छिष्टः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ऋचः सामानि च्छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।

उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः॥ २४॥

अर्थ—(ऋचः) ऋचाएँ अर्थात् ऋग्वेद, (सामानि) साममन्त्र अर्थात् सामवेद, (छन्दांसि) आह्लादप्रद अथर्वमन्त्र अथर्ववेद, (यजुषा सह) यजुर्वेद के साथ (पुराणम्) पुराण अर्थात् भूमि की प्रागवस्था की विद्या या प्रकृति, तथा (सर्वे देवाः) सब देव (दिवि) जोकि द्युलोक में हैं, (दिविश्रितः) और द्युलोक में जिनका आश्रय है—(उच्छिष्टात्) वे प्रलय में भी अवशिष्ट परमेश्वर से (जज्ञिरे) पैदा हुए हैं।

[छन्दांसि="**चन्देरादेश्च छः**" (उणा० ४.२१०), **चदि आह्लादने,** आह्लादे=अथर्ववेद, पुराणम्=भूमि की प्रागवस्था की विद्या (अथर्व० ११.८.७)। तथा पुराण=प्रकृति (अथर्व० १०.७.२३)। देवाः=द्योतमानाः सूर्यतारानक्षत्रादयः]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**उच्छिष्टः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या।

उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः॥ २५॥

अर्थ—(प्राणापानौ) प्राण और अपान, (चक्षुः श्रोत्रम्) आँख, कान, (अक्षितिः) न क्षीण होने वाला मन, (क्षितिः) और क्षय होने वाला शरीर, तथा (सर्वे देवाः) सब देव (दिवि) जोकि द्युलोक में हैं, (दिविश्रितः) और द्युलोक में जिनका आश्रय है—(उच्छिष्टात्) प्रलय में भी अवशिष्ट परमेश्वर से (जज्ञिरे) पैदा हुए हैं।

[उत्पन्न-मन तब तक स्थिर रहता है, विनष्ट नहीं होता, जब तक कि जीवात्मा का मोक्ष नहीं होता। अतः मन को अक्षिति कहा है, और इसे वेदों में अमृत भी कहा है। मन्त्र में प्राणापान आदि की उत्पत्ति कही है, इसलिए ११.८.४ के मन्त्र में, और इस मन्त्र में प्रतिपादित, अक्षिति और क्षिति के अर्थों में कुछ भेद हुआ है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**उच्छिष्टः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

आनन्दा मोदाः प्रमुदोभीमोदमुदश्च ये।

उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः॥ २६॥

अर्थ—(आनन्दाः) समृद्धि के द्वारा उत्पन्न सुख विशेष या ब्रह्मोपासना द्वारा उत्पन्न आनन्दमयी चित्तवृत्तियाँ, (मोदाः प्रमुदः) मानसिक मोद प्रमोद अर्थात् हर्ष, (ये) जो (अभीमोदमुदः च) और संमुखप्राप्तविषयजन्य हर्षातिरेक, (सर्वे देवाः) तथा सब देव (दिवि) जो कि द्युलोक में हैं, (दिविश्रितः) और द्युलोक में जिनका आश्रय है—(उच्छिष्टात्) प्रलय में अवशिष्ट परमेश्वर से (जज्ञिरे) पैदा हुए हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**उच्छिष्टः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च ये।

उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः॥ २७॥

अर्थ—(देवाः) विद्वान् लोग, (पितरः) गृहस्थी, (मनुष्याः) साधारण मुनष्य (ये गन्धर्वाः) जो गो अर्थात् पृथिवी का धारण करने वाले राजा आदि, (अप्सरसः च) और विस्तृत प्रजा में [उनकी देख-भाल के लिए] सरण करने वाली उनकी स्त्रियाँ, (सर्वे देवाः) तथा सब देव अर्थात् ज्योतियाँ (दिवि) जोकि द्युलोक में हैं, (दिविश्रितः) और द्युलोक में जिनका आश्रय है—(उच्छिष्टात्) प्रलय में भी अवशिष्ट परमेश्वर से (जज्ञिरे) पैदा हुए हैं।

[देवाः=विद्वांसः। अप्सरसः=आपः (विस्तृत प्रजाः)+सर सः (सरण करने वाली)। अथवा गन्धर्वाप्सरसः=**अग्निर्गन्धर्वः,ओषधयोऽप्सरसः। सूर्यो गन्धर्वः, मरीचयोऽप्सरसः। चन्द्रमाः गन्धर्वः, नक्षत्राण्यप्सरसः। वातो गन्धर्वः, आपः अप्सरसः। यज्ञो गन्धर्वः, दक्षिणा अप्सरसः। मनो गन्धर्वः, ऋक्सामान्यप्सरसः** (यजुः० १८.३८-४३)]।

सूक्त ८

विषय-प्रवेश

(१) मननशील ब्रह्म का विवाह प्रकृति के साथ (१)।
(२) विवाह में वरपक्ष के बराती, और कन्यापक्ष के घराती=तपः और कर्म (२)।
(३) दस देव (३)।
(४) कर्म से तपः की उत्पत्ति (६)।
(५) पुराणवित् का स्वरूप (७)।
(६) समष्टिदेवों से व्यष्टि देवों की उत्पत्ति (९)।
(७) संसिचः देवाः, उन द्वारा शरीर का सेचन (१३।
(८) "कः" ऋषि द्वारा शरीर सन्धान (१४)।
(९) सन्धान का स्परूप (१५)।
(१०) ईशा द्वारा शरीर में वर्णाभरण (१७)।
(११) देवों का घर, मर्त्यदेह (१८)।
(१२) पापमय देवता (१६)।
(१३) शरीर में ब्रह्म तथा ऋक्, साम यजुः का प्रवेश (२३)।
(१४) शरीरस्थ आठ प्रकार के जल (२८)।
(१५) शरीररूपी यज्ञशाला (२९)।
(१६) शरीर का अधिपति=प्रजापति जीव (३०)।
(१७) मृतशरीर का दाहकर्म (३१)।
(१८) इदं ब्रह्मेति मन्यते (३२)।
(१९) कर्मों द्वारा त्रिविध गति (३३)।
(२०) शरीर की उत्पत्ति और उसका अधिष्ठाता बलस्वरूप जीवात्मा (३४)।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यन्मन्युर्जायामावहत्संकल्पस्य गृहादधि।

क आसं जन्याः के वराः क उ ज्येष्ठवरोऽभवत्॥ १ ॥

अर्थ—(यत्) जब (मन्युः) मननशील परमेश्वर ने (संकल्पस्य गृहात् अधि) संकल्परूपी घर से (जायाम्) जाया को (आवहत्) प्राप्त किया, तब, (जन्याः) जायापक्ष के लोग (के आसन्) कौन थे, (के वराः) वर पक्ष के कौन थे, (क उ) और कौन (ज्येष्ठवर;) मुखिया वर, अर्थात् जिसने वरण करना हैं (अभवत्) हुआ था।

[प्रथम मनन, तदनन्तर वस्तु को प्राप्त करने का संकल्प, और तत्पश्चात् वस्तु को प्राप्त करने का कर्म अर्थात् प्रयत्न होता है—यह नियम सर्वत्र लागू होता है। "मन्यु" शब्द द्वारा—जाया प्राप्त करने से पूर्व—परमेश्वरीय मनन का निर्देश किया है। यह मनन आलोचनारूप है कि सृष्टि को पैदा करूँ तो किस प्रकार, किस काल और किस क्रम से करूँ। इस मानुष स्वभाव का आरोप, परमेश्वर के सृष्ट्युत्पादन में, परमेश्वर में किया गया है। "संकल्पस्य गृहात्" में षष्ठी विकल्प रूप है, संकल्प-और-गृह भिन्न-भिन्न नहीं। यद्यपि अस्मदादि में संकल्प का घर "मन" होता है। तभी कहा है "**तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु**" (यजुः० ३४.१-६)। मन्युः=**मन्यते सर्वं जानातीति, ईश्वरः** (सायण)।

संकल्पस्य="**सोऽकामयत**[१]" (बृहदा० उप० १.२.४-७) द्वारा परमेश्वर में भी कामना की सत्ता का कथन हुआ है। यही कामना जब फलोन्मुखी हो जाती है तो इसे संकल्प कहते हैं। परमेश्वरनिष्ठ कामना सदा संकल्परूपी होती है, वह सदा फलोन्मुखी होती है अस्मदादि की कामना सदा फलोन्मुखी नहीं होती। इसलिए अस्मदादि की कामना और संकल्प में भेद पाया जाता है।

विवाह में कई लोग तो जनी-पक्ष के होते हैं, और कई वर-पक्ष के। वर-पक्ष के लोग कन्या का वरण करते हैं, चुनाव करते हैं, अतः, मन्त्र में उन सबको "वरा" कहा है। परन्तु अन्तिम चुनाव जिसने करना है। उसे "ज्येष्ठवरः" कहा है, और वह है जिसने कि कन्या को विवाहित कर प्राप्त करना है। आवहत्=आ+वह (प्रापणे)]।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

तपश्चैवास्तां कर्म चान्तर्महत्यर्णवे।

त आसं जन्यास्ते वरा ब्रह्म ज्येष्ठवरोऽभवत्॥ २ ॥

अर्थ—(महति अर्णवे अन्तः) प्रलयरूपी महासमुद्र के भीतर, (तपः च, कर्म च एव) तप और कर्म ही (आस्ताम्) विद्यमान थे। (ते) वे दो (जन्याः) जनीपक्ष के घराती[२] (आसन्) थे, (ते) वे दो (वराः) वरपक्ष के बराती थे (ब्रह्म) ब्रह्म (ज्येष्ठवरः) मुखिया वर (अभवत्) हुआ था।

[तपः-कर्म=जनीपक्ष के तपः और कर्म, और वरपक्ष के तपः और कर्म भिन्न-भिन्न हैं, जैसे कि जनीपक्ष के लोग और वर पक्ष के लोग भिन्न-भिन्न होते हैं, चाहे वे मनुष्यरूप में समान ही हैं। परमेश्वर के सम्बन्ध में तपः है, ज्ञानमय। यथा "**यस्य ज्ञानमयं तपः**" [मुण्डक १.१.९], अर्थात् "प्राणियों के

---

१. "**सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय**" (तै० आ० ८.६.१)।

२. कन्यापक्ष के घर के लोग।

कर्मों और तदनुरूप सृष्टि की रचना का पर्यालोचनरूपी तपः। परमेश्वर के सम्बन्ध में कर्म वह कर्म नहीं, जिसमें कि स्थान परिवर्तन करना होता है। व्यापक के लिए स्थान परिवर्तन असम्भव है। परमेश्वर में कर्म या क्रिया स्वाभाविक है। यथा **"परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च"** (श्वेताश्वर, ६.८)। इसकी व्याख्या में महर्षि दयानन्द, सप्तम समुल्लास, सत्यार्थप्रकाश में लिखते हैं कि 'जो परमेश्वर निष्क्रिय होता तो जगत् की उत्पत्ति, स्थिति न कर सकता। इसलिए वह विभू तथापि चेतन होने से उसमें क्रिया भी है। **"तदेजति तन्नैजति"** (यजुः० ४०.५) में भी, परमेश्वर में स्थान परिवर्तन रूप क्रिया का निषेधपूर्वक क्रियाविशेष का समर्थन हुआ है। कर्म मानसिक भी कहे हैं, चाहे उन कर्मों के करने में मन, शरीर से बाहिर गति नहीं करता। और परमेश्वर के कर्म राग-द्वेष से प्रेरित भी नहीं होते।

सृष्टि की रचना भोग और अपवर्ग के लिए होती है, **"भोगापवर्गार्थं दृश्यम्"** (योग २.१८), मनुष्येतर प्राणियों के लिए भोगार्थ, और मनुष्यों के लिए भोगार्थ और अपवर्गार्थ। अतः मनुष्यों के कर्म इस प्रकार के होने चाहिए जोकि मनुष्यों को अपवर्ग की ओर बढ़ाने वाले हों। दुरित कर्मों का त्याग और भद्रकर्मों का उपादान करते हुए मनुष्य अपवर्ग अर्थात् मोक्ष के अधिकारी बनते हैं। भद्रकर्म यद्यपि सकाम हैं, क्योंकि भ्रदकर्मों में भी अपवर्ग की कामना बनी रहती है। भद्रकर्म परिणाम में सुखदायक और कल्याणकारी होते हैं **(भदि कल्याणे सुखे च)**। परन्तु भद्रकर्म अपवर्ग की प्राप्ति में सहायक होते हैं, बाधक नहीं। ऐसे भद्रकर्मों के सम्बन्ध में कहा है कि—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ यजुः० ४०.२॥

अभिप्राय यह है कि मनुष्य जीवन भर भद्रकर्मों को करता रहे। भद्र कर्म मनुष्य को संसार में लिप्त नहीं करते।

तपः अर्थात् तपोमय जीवन भी अपवर्ग में सहायक होता है। "तपः" तो, यम-नियमों आदि में एक अंग है, जो कि योगाङ्ग है। तपः द्वारा शरीर और इन्द्रियों की शुद्धि होती है, इनके तमोगुण और रजोगुण का ह्रास होता है **"कायेन्द्रियसिद्धिशुद्धिक्षयात्तपसः"** (योग २.४३)। परमेश्वर के तपः और कर्म द्वारा परमेश्वर और प्रकृति का सम्बन्ध पति-पत्नी रूप में होकर प्रकृति में पत्नीत्व धर्म प्रकट करता है, जायात्वरूप नहीं। प्रकृति में जायात्वरूप तब प्रकट होगा जबकि प्रकृति में परमेश्वर की शक्ति के आधान द्वारा सृष्टि पैदा होगी। जैसे कहा है कि **"जायायास्तद्धि जायात्वं[1] यदस्यां जायते पुनः"**। अतः जनिक्रिया के सम्बन्ध से प्रकृति में जायात्वधर्म प्रकट होता है। सृष्टि दो प्रकार की होती है, जड़ और चेतन। जड़-जगत् चेतन-जगत् के भोग और अपवर्ग के लिए ही है। अतः चेतन-जगत् के तप और कर्म, प्रकृति में, जायात्व के उत्पादक हैं। अतः सृष्टि रचना के लिए, परमेश्वर और प्रकृति के सम्बन्ध के लिए, परमेश्वर के तप और कर्म हेतुभूत होकर, वरपक्ष के "वराः" अर्थात् बरात का निर्माण करते हैं, और प्राणियों और मनुष्यों के तप और कर्म प्रकृति में जायात्वोत्पादन द्वारा "जन्या" अर्थात् कन्यापक्ष के घरातियों अर्थात् घर वालों का निर्माण करते हैं। मन्त्र में ब्रह्म और प्रकृति के परस्पर विवाह का वर्णन

१. मन्त्र १ में विवाह काल में जो प्रकृति को जाया कहा है वह भावी जायात्व की दृष्टि से है।

हुआ है। इसके द्वारा गृहस्थ जीवन की उपादेयता प्रतीत होती है[१]]।

ऋषिः—**कौरुपथिः**॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

दश साकमजायन्त देवा देवेभ्यः पुरा।

यो वै तान्विद्यात्प्रत्यक्षं स वा अद्य महद्वदेत्॥ ३॥

अर्थ—(पुरा) पहिले अर्थात् सृष्ट्यारम्भकाल में, (देवेभ्यः) व्यापक दिव्य तत्त्वों से, (दश देवाः) दस व्यष्टि दिव्य शक्तियाँ (साकम्) साथ-साथ (अजायन्त) पैदा हुईं। (यः) जो कोई (वै) निश्चयपूर्वक (तान् विद्यात्) उन्हें जाने, (सः) वह (वै) निश्चयपूर्वक (अद्य) आज (महद् वदेत्) बड़ी बात कहेगा।

[इन व्यष्टिरूप दस देवों का वर्णन मन्त्र ४ में हुआ प्रतीत होता है सायणाचार्य ने १० व्यष्टि देवों का वर्णन इस प्रकार किया है—

(१) **दीव्यन्ति स्वस्वविषयं प्रकाशयन्तीति देवा ज्ञानकर्मेन्द्रियाणि।** (२) **यद्वा सप्त शीर्षण्याः**[२] **प्राणाः, द्वौ अवाञ्चौ, मुख्यः प्राण एकः।** (३) अथवा "**प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रम्**" **इत्युत्तरत्र वक्ष्यमाणा दशसंख्याका देवाः।** तथा "महत्" का अर्थ सायणाचार्य ने "ब्रह्म" किया है, जो कि महत् अर्थात् देशकालकृत परिच्छेद रहित तथा सर्वगत है]।

ऋषिः—**कौरुपथिः**॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या।

व्यानोदानौ वाङ् मनस्ते वा आकूतिमावहन्॥ ४॥

अर्थ—(प्राणापानौ) प्राण और अपान, (चक्षुः) दृष्टि शक्ति, (श्रोत्रम्) श्रवणशक्ति, (च प्रक्षितिः) और न क्षीण होने वाली आत्मनिष्ठ ज्ञानशक्ति, (च क्षितिः) तथा क्षीण होने वाली कर्मशक्ति, (व्यानोदानौ) व्यान और उदान, (वाक्) वाणी (मनः) मन (ते) वे (वै) निश्चय से (आकूतिम्) जीवित मनुष्य को संकल्प शक्ति (आवहन्) प्राप्त कराते हैं।

[प्राणापानौ=नासिकागत दो वायु वृत्तियाँ। अक्षिति=मोक्ष मिलने पर लिङ्ग शरीर के न होते भी आत्मा में ज्ञान विद्यमान रहता है। ज्ञान आत्मा का नित्यधर्म है, वह क्षीण नहीं होता, कर्मशक्ति क्षीण शक्ति है। व्यान द्वारा अन्नरस विविध नाड़ियों में पहुचता है। "**अन्नरसं सर्वासु नाडीषु विविधम् अनिति प्रेरयतीति व्यानः**"। उदान द्वारा उद्गार आदि व्यापार होते हैं। "**उत् ऊर्ध्वम् अनिति उद्गारादिव्यापारं करोतीति, उदानः।**" मनः सब इन्द्रियों को प्रेरित करने वाला सुखादि ज्ञान का साधन। दस देव (मन्त्र ३)=प्राण, अपान, चक्षु, श्रोत्र, अक्षिति, क्षिति, व्यान, उदान, वाक्, मन। अजायन्त (मन्त्र ३) द्वारा इन दस की उत्पत्ति कही है अक्षिति पद यद्यपि आत्मनिष्ठ स्वाभाविक ज्ञान, अर्थात् चैतन्य को नित्य कहता है, तथापि आत्मा को जो इन्द्रियों द्वारा ज्ञान होता है, वह अनित्य है, उसकी उत्पत्ति होती है। इस दृष्टि से आत्मा

१. सारांश मन्त्र २; तपः, कर्म=बराती और घराती। ब्रह्म के सम्बन्ध में तपः=ज्ञानमय, पर्यालोचन, स्वाभाविक ज्ञान। कर्म=स्वाभाविक क्रिया, सृष्टिरचना में। प्राणियों के सम्बन्ध में तपः=इन्द्रियसंयम। कर्म=सात्त्विक, राजस, तामस—शारीरिक तथा मानसिक कर्म।

२. "**कः सप्त खानि वि ततर्द शीर्षणि कर्णाविमौ नासिके चक्षुषी मुखम्**" (अथर्व० १०.२.६)। अवाञ्चौ=गुदायां लिङ्गे च। मुख्यः=मुखस्थ प्राण, जिस द्वारा भोजन खाया जाता है।

के ऐन्द्रियिक ज्ञान का, जनन के साथ, सम्बन्ध जानना चाहिए। इस प्रकार एकांश में आत्मा का ज्ञान अनित्य है, और एकांश में नित्य। मन यद्यपि महत्तत्त्व का परिणाम है, इसलिए उत्पत्तिधर्मा है, परन्तु जब तक, मोक्ष नहीं होता तब तक, जन्म जन्मान्तरों में भी मन की स्थिति कायम रहती है, इस दृष्टि से **"अमृतेन[1] सर्वम्"** (यजुः० ३४.४) द्वारा मन को नित्य कहा है। आकूतिः=मानुष संकल्प]।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अजा॑ता आसन्नृ॒तवो॒ऽथो॑ धा॒ता बृह॒स्पतिः॑।

इ॒न्द्रा॒ग्नी अ॒श्विना॒ तर्हि॒ कं ते ज्ये॒ष्ठमुपा॑सत ॥ ५ ॥

अर्थ—जब (ऋतवः) ऋतुएँ, (अथो) तथा (धाता, बृहस्पतिः, इन्द्राग्नी, अश्विना) धारण पोषण-करने वाला मेघ, वायु, विद्युत्-और-अग्नि, सूर्य-चाँद (अजाताः आसन्) प्रादुर्भूत नहीं हुए थे, (तर्हि) उस समय (ते) वे (कम्) किस (ज्येष्ठम्) बड़ी शक्ति की (उपासत) उपासना करते थे। [उत्पत्ति के लिए प्रतीक्षा करते थे]।

[निरुक्त में धाता और बृहस्पति को मध्यमस्थानी देवता कहा है, और यथाक्रम इनका सम्बन्ध अन्न की उत्पत्ति तथा प्रजापालन के साथ वर्णित किया है। धाता (**धाञ् धारणपोषणयोः**) अर्थात् मेघ। बृहस्पतिः=**बृहतः स्थावरजङ्गमात्मकस्य प्राणिजातस्य पतिः रक्षकः पालकः=वायुः**[2]। इन्द्र और अग्नि यथाक्रम विद्युत्-और-उसकी चमक, या विद्युत् और उसके प्रपात द्वारा वृक्षों में लगी अग्नि। अश्विना= **द्यावापृथिव्यौ, सूर्याचन्द्रमसौ, अहोरात्रे**। ऋतवः=प्रसिद्ध ६ ऋतुएँ। उपासत=वेद सत्कार्यवाद का समर्थक है (अथर्व० १७.१.१९)। वैदिक दृष्टि में वस्तु का प्रादुर्भाव अर्थात् अपने कारण में सूक्ष्मरूप में स्थित का प्रकाशमात्र होता है, कोई नई उत्पत्ति नहीं होती। इसलिए अपने-अपने कारणों में स्थित और अनभिव्यक्त ऋतु आदि के सम्बन्ध में उपासना का वर्णन हुआ है। ऋतु आदि जड़ हैं, परन्तु कविता में इन्हें चेतनरूप देकर इनकी उपासना क्रिया का वर्णन हुआ है। सारांश यह है कि अपनी-अपनी अभिव्यक्ति के लिए किसी शक्ति की प्रतिक्षा में ये थे। अजाताः=अ+जनीप्रादुर्भावे+क्त]।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

तप॑श्चै॒वास्तां॒ कर्म॑ चा॒न्तर्म॑ह॒त्यर्ण॒वे। तपो॑ ह ज॒ज्ञे कर्म॑ण॒स्तत्ते ज्ये॒ष्ठमुपा॑सत ॥ ६ ॥

अर्थ—(महति अर्णवे अन्तः) प्रलयरूपी महासमुद्र के भीतर (तपः च, कर्म च एव, आस्ताम्) तप और कर्म ही विद्यमान थे। (तपः) तप (ह) निश्चय से (कर्मणः) कर्म से (जज्ञे) उत्पन्न हुआ, (ते) वे ऋतु आदि (तत्) उस कर्मरूपी (ज्येष्ठम्) बड़ी शक्ति की (उपासत) उपासना करते थे, प्रार्थना या प्रतीक्षा करते थे [स्वोत्पत्ति के लिए]। अथवा उपासना=समीप स्थित होना। ऋतु आदि मानुष और अन्य प्राणियों के कर्मों के सान्निध्य में थे, स्वोत्पत्ति के लिए।

[ब्रह्म, सृष्ट्युत्पादन में पूर्वसृष्टि में किये जीवों के कर्मों के परिपाक की प्रतीक्षा करता है। ब्रह्म का, स्रष्टव्य जगत् सम्बन्धी जो पर्यालोचन रूपी तप अर्थात् ज्ञान है, उसका प्रादुर्भाव भी जीवात्माओं के कर्मों के परिपाक के कारण ही है। इसलिए जीवात्माओं के सामूहिक कर्म, सृष्ट्युत्पादन में, ज्येष्ठशक्तिरूप हैं।

---

१. तथा **"ज्योतिरन्तरमृतम्"** (यजुः० ३४.३)।

२. वायु प्राणाधार है। विना वायु के जीवन कतिपय क्षणों में समाप्त हो जाता है, अतः वायु महापालक है, बृहस्पति है।

अर्थात् ब्रह्म के तप और कर्म में, जीवात्माओं के कर्मों का प्राधान्य है। "**कर्मप्रधान विश्व करि राखा। जो जस करे सो तस फल चाखा**"]।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

येत आसीद्भूमिः पूर्वा यामद्धातय इद्विदुः।
यो वै तां विद्यान्नामथा स मन्येत पुराणवित्॥ ७॥

अर्थ—(या भूमिः) जो भूमि (इतः) इस प्रत्यक्ष दृष्ट भूमि से (पूर्वा) पूर्वावस्था की (आसीत्) थी, (याम्) जिसे कि (अद्धातयः) सत्यान्वेषी या सत्यज्ञानी (इत्) ही (विदुः) जानते हैं। (यः) जो (वै) निश्चय से अर्थात् यथार्थरूप में (ताम्) उस पूर्वावस्था की भूमि को (नामथा) नाम प्रकार से (विद्यात्) जाने (सः) वह अपने को (पुराणवित्) पुरातत्त्ववित् या प्रकृतितत्त्ववित् (मन्येत) माने या जाने।

[भूमिः=जिसमें कि प्राणी आदि पैदा होते हैं "**भवन्ति पदार्था अस्यामिति**" (उणा० ४.४६, महर्षि दयानन्द)। भूमि की पूर्वावस्था उत्पादिकावस्था में न थी, वह अपने कारणों में केवल प्रथितावस्था में थी, अतः उसका नाम उस अवस्था में "पृथिवी" था, भूमि नहीं। अद्धातयः, **अद्धा सत्यनाम** (निघं० ३.७)+अत (गमने) गतेस्त्रयोऽर्थाः ज्ञानं गतिः प्राप्तिश्च। अतः अद्धातयः में "अत्" का अर्थ ज्ञान। भूमि की पूर्वावस्था में उसका नाम था "पृथिवी"। इसी नाम से प्रत्यक्ष में फैली अर्थात् प्रथित हुई, भूमि को पृथिवी भी कहते हैं[1]]।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

कुत इन्द्रः कुतः सोमः कुतो अग्निरजायत।
कुतस्त्वष्टा समभवत्कुतो धाताजायत॥ ८॥

अर्थ—(कुतः) कहाँ से (इन्द्रः) इन्द्र, (कुतः) कहाँ से (सोमः) सोम, (कुतः) कहाँ से (अग्निः) अग्नि (अजायत) प्रादुर्भूत हुई थी। (कुतः) कहाँ से (त्वष्टा) त्वष्टा (समभवत्) सम्भूत हुआ, (कुतः) कहाँ से (धाता) धाता (अजायत) प्रादुर्भूत हुआ था।

[मन्त्र में शरीरनिष्ठ शक्तियों के उत्पत्ति कारणों के सम्बन्ध में प्रश्न किये गये हैं। ये व्यष्टि शक्तियाँ निम्नलिखित हैं:—इन्द्र=शरीरस्थ[2] विद्युत्। सोम=जल। अग्नि=कौष्ठ्य अग्नि या शरीर का तापमान।

---

१. अभिप्राय यह कि भूमि की वर्तमानावस्था में इस पर प्राणिजात तथा वृक्षवनस्पतियाँ पैदा हो रही हैं, इसलिए इसका नाम है "भूमि"। परन्तु इस अवस्था से पूर्व की अवस्थाओं में भूमि उत्पादिकावस्था में न थी। सूर्य से जब यह पृथक् हुई तो यह आग्नेयावस्था में थी। शनैः शनैः यह ठण्डी हुई तो वायव्यावस्था में, तदनन्तर जलीयावस्था में, और बहुकाल पश्चात् दृढावस्था में आई। "**पृथिवी च दृढा**" (यजुः० ३२.६)। इस दृढावस्था से पूर्व की अवस्थाओं में भूमि अपनी पूर्व-पूर्व की अवस्थाओं में परिमाणों में अधिकाधिक विस्तृत थी, फैली हुई थी, प्रथितावस्था में थी। इसलिए इन प्रथितावस्थाओं में इसे, नाम द्वारा, पृथिवी कह सकते हैं। पृथिवी=**प्रथ विस्तारे**। जैसे-जैसे आग्नेयावस्था से उत्तरोत्तर की अवस्थाएँ आती गईं, वैसे-वैसे उत्तरोत्तर अवस्थाएँ अपेक्षया परिमाणों में अल्पाल्प होती गईं। भूमिष्ठ पर्वतादि की अपेक्षया, भूमि, वर्तमान अवस्था में अधिक प्रथित है। अतः इसे पृथिवी कहा जाता है।

२. महात्माओं के सिरों के चारों और प्रभामण्डल में शरीरस्थ विद्युत् ही चमकती है। इसी प्रकार हाथ की अंगुलियों द्वारा रोगी के रुग्ण स्थान में विद्युत् प्रवेश कर रोगनिवृत्ति में भी शरीरस्थ विद्युत् का प्रयोग किया जाता है। चिकित्सा की इस विधि को "**हस्त द्वारा शिवाभिमर्शन**" कहते हैं, देखो (११.४.१६ की व्याख्या)। यद्यपि इन्द्र शब्द

त्वष्टा=विविध रूपों की निर्माण शक्ति। धाता=मूत्र। (देखो मन्त्र ९)]।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

इन्द्रादिन्द्रः सोमात्सोमो अग्नेरग्निरजायत। त्वष्टा ह जज्ञे त्वष्टुर्धातुर्धाताजायत॥ ९॥

अर्थ—(इन्द्रात्) समष्टि विद्युत् से (इन्द्रः) शरीरस्थ व्यष्टि विद्युत्, (सोमात्) समष्टि जल से (सोमः) शरीरस्थ व्यष्टि जल अर्थात् रस-रक्त, (अग्नेः) समष्टि अग्नि से (अग्निः) शरीरस्थ व्यष्टि अग्नि (अजायत) प्रादुर्भूत हुई। (त्वष्टुः) रूपनिर्माण करने वाले सूर्य से (ह) निश्चय से (त्वष्टा) रूपों के निर्माण करने की व्यष्टि शक्ति, (धातुः) धारण करने वाले समष्टि मेघ से (धाता) शरीरस्थ मूत्र (अजायत) प्रादुर्भूत हुआ।

[निरुक्त के अनुसार इन्द्र मध्यमस्थानी देवता है, सम्भवतः विद्युत्। अग्नि है सूर्य की अग्नि। सोम है सामान्य जल; सोमः=water (आप्टे)। त्वष्टा है सूर्य, सूर्य के प्रकाश से वस्तुओं में विविध रूप उत्पन्न होते हैं, त्वष्टा=रूपकृत्, "**य इमे द्यावापृथिवी जनित्री रूपैरपिंशत् भुवनानि विश्वा। तमद्य होतरिषितो यजीयान् त्वष्टारमिह यक्षि विद्वान्**" (ऋ० १०.११०.९) में त्वष्टा के सम्बन्ध में "**रूपैरपिंशत्**" का वर्णन हुआ है। अतः त्वष्टा है सूर्य। धाता है मेघ—ये समष्टि जगत् के तत्त्व हैं। इनसे इन्हीं नामों वाले शरीरस्थ व्यष्टि तत्त्व प्रकट हुए। मन्त्र में समष्टि जगत् और व्यष्टि जगत् में साम्य दर्शाया है। मेघ, जलवृष्टि द्वारा, अन्नोत्पादक होने से सब प्राणियों का धारण-पोषण करता है, अतः धाता है। बृहदा० उप० अध्याय १, ब्राह्मण १ में वर्षा और मूत्र में एकता दर्शाई है "**यन्मेहति तद्वर्षति**"। मेहन का अर्थ हैं, मूत्र-करना। मूत्र भी शरीर का धारक होने से व्यष्टि रूप में अधिष्ठाता है। मूत्रोत्पत्ति और मूत्रस्राव न होने से नाना रोग पैदा हो जाते हैं। मूत्रचिकित्सक तो शरीर के लिए मूत्र को महौषध कहते हैं। अथर्व० ६.४४.३ में "**रुद्रस्य मूत्रमस्यमृतस्य नाभिः**" द्वारा रुद्र के मूत्र को "अमृत" कहा है। रुद्र का अर्थ है विद्युत्। उसके द्वारा बरसे वर्षा जल को मूत्र सदृश लाभकारी कहा है। **अमृतम् उदकनाम** (निघं० १.१२)। वर्षा जल स्वच्छ तथा गुणकारी होने से अमृतरूप है]।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ये त आसन्दश जाता देवा देवेभ्यः पुरा।
पुत्रेभ्यो लोकं दत्त्वा कस्मिंस्ते लोक आसते॥ १०॥

अर्थ—(ये ते दश देवाः) वे जो १० देव (मन्त्र ३-४), (पुरा) पूर्वकाल में (देवेभ्यः) देवों से (जाताः) उत्पन्न हुए थे, (ते) वे (पुत्रेभ्यः) पुत्रों को (लोकं दत्वा) स्थान या यह लोक देकर (कस्मिन्) किस (लोके) लोक में (आसते) रहते हैं।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यदा केशानस्थि स्नाव मांसं मज्जानमाभरत्।
शरीरं कृत्वा पादवत्कं लोकमनु प्राविशत्॥ ११॥

अर्थ—(यदा) जब (केशान्, अस्थि, स्नाव, मांसम्, मज्जानम्) केशों, हड्डियों, कण्डराओं, मांस, मज्जा को (आ भरत्) उसने शरीर में भर दिया, और (शरीरम्) शरीर को (पादवत् कृत्वा) पैरों समेत

जीवात्मा के लिए भी प्रयुक्त होता है, परन्तु वह पैदा नहीं होता। मन्त्र में "अजायत" शब्द का प्रयोग हुआ है, अतः मध्यस्थानी 'समष्टि विद्युत्' ही व्यष्टि शरीरस्थ विद्युत् प्रतीत होती है।

करके [वह कारीगर] (अनु) तत्पश्चात् (कम् लोकम्) किस लोक में (प्राविशत्) प्रविष्ट हो गया।

[स्नाव=वे मांसतन्तु जिनके द्वारा मांस हड्डियों के साथ बन्धा पड़ा है। इन तन्तुओं को कण्डराएँ कहते हैं। नाली वाली हड्डी में जो स्नेह भाग विद्यमान होता है, वह मज्जा है]।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

कुतः केशान्कुतः स्नाव कुतो अस्थीन्याभरत्।

अङ्गा पर्वाणि मज्जानं को मांसं कुत आभरत्॥ १२ ॥

अर्थ—(कुतः) कहाँ से [और किस ने] (केशान्) केशों को, (कुतः) कहाँ से [और किस ने] (स्नाव) मांस तन्तुओं को, (कुतः) कहाँ से [और किस ने] (अस्थीनि) हड्डियों को (आ भरत्) शरीर में भर दिया। (अङ्गा, पर्वाणि, मज्जानम्, मांसम्) अंगों को, जोड़ों को, मज्जा को, मांस को (कः) किस ने (कुतः) कहाँ से (आ भरत्) शरीर में भर दिया।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

संसिचो नाम ते देवा ये संभारान्त्समभरन्।

सर्वं संसिच्य मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन्॥ १३ ॥

अर्थ—(ते देवाः) वे देव (संसिचः नाम) संसिच् नाम वाले हैं, (ये) जिन्होंने (सम्भारान्) केश आदि सामग्री को (समभरन्) शरीर में भरा था। (सर्वम्, मर्त्यम्) मरणधर्मा प्राणी को सम्पूर्णतया (संसिच्य) सींच कर (देवाः) देव (पुरुषम्) पुरुष में (आ विशन्) आ प्रविष्ट हुए।

[संसिचः=सींचने वाले देव "आपः" प्रतीत होते हैं। रस-रक्तरूपी द्रवों को "आपः" ने ही सींचा है। वेद ने रस-रक्त को आपः कहा है। यथा "**को अस्मिन्नापो व्यदधात् विषूवृतः पुरुवृतः सिन्धुसृत्याय जातः। तीव्रा अरुणा लोहिनीस्ताम्र धूम्रा ऊर्ध्वा अवाचीः पुरुषे तिरश्चीः ॥**" (अथर्व १०.२.११)। इस मन्त्र में आपः=रसरक्त। सिन्धु=हृदय। लोहिनीः=लाल तथा लोहे वाला लाल रक्त। ताम्रधूम्राः=काला खून। ऊर्ध्वाः आदि=शरीर में सब ओर गति करने वाले आपः। शरीर की समग्र रचना पिता के वीर्यद्रव तथा माता के रजोद्रव से होती है। ये दोनों द्रव हैं, आपः, इन्हीं से केश आदि का निर्माण हुआ है। अतः ये संसिच् देव हैं, इन्हीं से समग्र शरीर सींचा गया है, ये ही शरीर में प्रविष्ट संसिच् देव हैं। मन्त्राभिप्रेत "आपः" की दृष्टि से "देवाः" पद बहुवचनान्त है]।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ऊरू पादावष्ठीवन्तौ शिरो हस्तावथो मुखम्।

पृष्ठीर्बर्जह्ये पार्श्वे कस्तत्समदधादृषिः ॥ १४ ॥

अर्थ—(ऊरू) दो ऊरुओं, (पादौ) दो पांवों, (अष्ठीवन्तौ) दो घुटनों, (शिरो हस्तौ) सिर और हाथों, (अथो) तथा (मुखम्) मुख को, (पृष्ठीः=पृष्टीः) पसलियों को, (बर्जह्ये) दो कन्धों या हंसलियों को, (पार्श्वे) दो कोखों को (कः ऋषिः) किस ऋषि ने (तत्) वह सब (समदधात्) जोड़ दिया।

[ऊरू=Thighs, इसका अनुवाद प्रायः जंघाएँ किया जाता है। अथर्व० १९.६०.२ में "**ऊर्वोरोजो जङ्घयोर्जवः**" में ऊरू और जङ्घाएँ पृथक्-पृथक् पठित हैं। मन्त्र में ऋषिपद द्वारा उत्तर भी दे दिया है कि "कः ऋषिः" अर्थात् "प्रजापति ऋषि" ने ये जोड़ जोड़े हैं। कः=प्रजापतिः। यथा "**को वै नाम**

प्रजापतिः'' (ऐ० ३.२१)]।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शिरो हस्तावथो मुखं जिह्वां ग्रीवाश्च कीकसाः।

त्वचा प्रावृत्य सर्वं तत्संधा समदधान्मही॥ १५॥

अर्थ—(शिरः, हस्तौ, अथो, मुखम्) सिर, दोनों हाथों और मुख को, (जिह्वां, ग्रीवाश्च, कीकसाः) जीभ, गर्दन की नस-नाड़ियों, रीड की हड्डियों को, (तत् सर्वम्) उस सब को, (त्वचा प्रावृत्य) त्वचा द्वारा वेष्टित करके, (मही संधा) जोड़ने वाली बड़ी शक्ति ने (समदधात्) परस्पर जोड़ दिया है।

[संधा=सन्धि पैदा करने वाली पारमेश्वरी शक्ति]।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यत्तच्छरीरमशयत्संधया संहितं महत्।

येनेदमद्य रोचते को अस्मिन्वर्णमाभरत्॥ १६॥

अर्थ—(यत्, तत् महत्, शरीरम्) जो वह बड़ा शरीर (सन्धया संहितम्) सन्धया शक्ति द्वारा जोड़ा हुआ (अशयत्) सोता है, (येन) जिस द्वारा (इदम्) यह शरीर (अद्य) आज (रोचते) चमकता या रुचि-कर होता है, उस (वर्णम्) वर्ण को, (अस्मिन्) इसमें (कः) किस ने (आभरत्) सर्वत्र भर दिया है।

[कः=प्रश्नवाची; तथा ''कः प्रजापतिः, करोति इति कः, जगत्कर्त्ता''। मन्त्र में ''कः'' द्वारा ही उत्तर भी सुझा दिया है। शरीरम्=सम्भवतः शेत इति; शीङ् धातु से व्युत्पन्न अशयत् के सन्निधान से]।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सर्वे देवा उपाशिक्षन्तदजानाद्वधूः सती।

ईशा वशस्य या जाया सास्मिन्वर्णमाभरत्॥ १७॥

अर्थ—(सर्वे देवाः) सब देवों ने (उपाशिक्षन्) समीप होकर शक्ति लगाई, (सती वधूः) साध्वी वधू ने (तत्) उसे (अजानात्) जान लिया। वह वधू (ईशा) अधीश्वरी शक्ति है, (या) जो कि (वशस्य) जगत् को वश में रखने वाले ब्रह्म की (जाया) उत्पादक शक्ति है। (सा) उसने (अस्मिन्) इस शरीर में (वर्णम्) वर्ण अर्थात् रूप (आ भरत्) भरा है।

[मन्त्र १ में भी ''जाया'' का वर्णन हुआ है। वहाँ जाया का अभिप्राय है—प्रकृति। कः ऋषिः (१४); कः (१६); संधा (१५, १६) ईशा (१७)—ये सब एक ही ब्रह्म की उपादान रूप प्रकृति के, और भिन्न-भिन्न शक्तियों के नाम हैं। ईशा है शासनशक्ति (देखो ११.९.२५, २६)। अभिप्राय यह है कि ब्रह्मेतर कोई शक्ति न तो शरीर में सन्धियाँ कर सकती है, न कोई प्रजा का पति है, और न कोई शासक है]।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यदा त्वष्टा व्यतृणत्पिता त्वष्टुर्य उत्तरः।

गृहं कृत्वा मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन्॥ १८॥

अर्थ—(यदा) जब (त्वष्टा) कारीगर परमेश्वर ने (व्यतृणत्) शरीर में इन्द्रिय आदि के विविध छिद्र

निर्मित किये, [उस त्वष्टा ने]—(यः) जो कि (त्वष्टुः) समष्टि, त्वष्टा अर्थात् सूर्य का (उत्तरः) उत्कृष्ट (पिता) पिता है, तब (देवाः) इन्द्रिय आदि देव (मर्त्यम्) मरणधर्मा शरीर को (गृहं कृत्वा) घर करके, (पुरुषम्) पुरुष में (आ विशन्) आ प्रविष्ट हुए।

[त्वष्टा=कारीगर परमेश्वर "**त्वक्षतेर्वा स्यात् करोतिकर्मणः**" (निरुक्त ८.२.१४)। यह परमेश्वर इन्द्रिय, आदि के निवास के लिए शरीर-गृह में छिद्रों का निर्माण करता है, अतः कारीगर है। व्यतृणत्=**परांचि खानि (इन्द्रियाणि) व्यतृणत्स्वयंभूः, तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्**" (कठ. उप. ४.१)। सन्तानें "उत्" उत्कृष्ट तब होती हैं जब कि पिता-माता, "उत्+तर", सन्तानों से अधिक उत्कृष्ट हों]।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

स्वप्नो वै तन्द्रीर्निर्ऋतिः पाप्मानो नाम देवताः।
जरा खालत्यं पालित्यं शरीरमनु प्राविशन्॥ १९॥

अर्थ—(स्वप्नः) सोना, (वै) तथा (तन्द्रीः) आलस्य, (निर्ऋतिः) कष्ट, (जरा) बुढ़ापा, (खालत्यम्) गञ्जापन या "चित्त-और-इन्द्रियों का स्खलन" (सायण), (पालित्यम्) केशों की सफेदी, ये (नाम पाप्मानः[१]) प्रसिद्ध पापरूपी (देवताः[१]) देवता (अनु) पीछे (शरीरम् प्राविशन्) शरीर में प्रविष्ट हुए।

["खालित्यम्" यह पाठ सायण भाष्य में है। अन्यत्र पाठ है "खालत्यम्"। देवताः=इन पापमय स्वप्न आदि को भी देवता कहा है। सम्भवतः "दिव्" धातु के "स्वप्न" और "मद" अर्थों की दृष्टि से स्वप्न आदि को देवता कहा हो, दिव्यता की दृष्टि से नहीं। अनु=उत्पन्न शिशु में, उत्पत्ति के समय, तो देव अर्थात् दिव्य तत्त्व ही प्रवेश पाते हैं, परन्तु "अनु" अर्थात् तत्पश्चात् कुसङ्ग, नियमोल्लङ्घन, खान-पान में असावधानी रजस्तमोमय जीवन के कारण शरीर में पापमय तत्त्वों का भी प्रवेश हो जाता है]।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

स्तेयं दुष्कृतं वृजिनं सत्यं यज्ञो यशो बृहत्।
बलं च क्षत्रमोजश्च शरीरमनु प्राविशन्॥ २०॥

अर्थ—(स्तेयम्) चोरी, (दुष्कृतम्) दुष्कर्म, (वृजिनम्) वर्जनीय अन्य दुराचार, (सत्यम्) सत्य अर्थात् यथार्थ ज्ञान, यथार्थ कथन, (यज्ञः) यज्ञ कर्म, (यशः) सत्कर्मों के कारण हुआ यश अर्थात् सुप्रसिद्धि, (बृहत्) बढ़प्पन, (च बलम्) और शारीरिक बल, (क्षत्रम्) क्षात्र शक्ति या क्षतिप्राप्त व्यक्तियों का त्राण, (च ओजः) और ओजस्विता—ये (अनु) पीछे (शरीरम् प्राविशन्) शरीर में प्रविष्ट हुए। अथवा "बृहत् यशः"=महायश। पैप्पलाद शाखा में बृहत् के स्थान में "सहः" पाठ है।

[जन्म के अनन्तर, शनैः-शनैः, कई दुर्गुण तथा कई सद्गुण शरीर में प्रविष्ट होते रहते हैं]।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

भूतिश्च वा अभूतिश्च रातयोरातयश्च याः।
क्षुधश्च सर्वास्तृष्णाश्च शरीरमनु प्राविशन्॥ २१॥

अर्थ—(च भूतिः) और समृद्धि, (वै) निश्चय से (च अभूतिः) और समृद्धि का अभाव, (रातयः)

१. "**या तयोच्यते सा देवता**"—इस दृष्टि से स्वप्न आदि भी देवता ही हैं, चाहे इनमें दिव्यता हो, चाहे न हो। अगले मन्त्रों में भी देवता का यही लक्षण जानना चाहिए।

दानाभाव, उदारता (च अरातयः) और दान न देना अर्थात् कञ्जूसी, (च, क्षुधः) भूख, (च) और (सर्वाः तृष्णाः) सब प्रकार की तृष्णाएँ, (अनु) पीछे (शरीरम्) शरीर में (प्राविशन्) प्रविष्ट हुईं।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

निन्दाश्च वा अनिन्दाश्च यच्च हन्तेति नेति च।

शरीरं श्रद्धा दक्षिणाश्रद्धा चानु प्राविशन्॥ २२॥

अर्थ—(च निन्दाः) और निन्दाएँ, (वै) निश्चय से (च अनिन्दाः) और स्तुतियाँ, (च यत्) और जो (हन्त इति) "हां" यह, (च न इति) और "न" यह; (श्रद्धा, दक्षिणा अश्रद्धा च) और श्रद्धा, दक्षिणा, अश्रद्धा—(अनु) तदनन्तर (शरीरम्, प्राविशन्) शरीर में प्रविष्ट हुए।

[हन्त=स्वीकृति अर्थात् हां। हन्त=ह+न्+त=ह+न्+अ=ह+अ+न्=हान्=हां]।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विद्याश्च वा अविद्याश्च यच्चान्यदुपदेश्यम्।

शरीरं ब्रह्म प्राविशदृचः सामाथो यजुः॥ २३॥

अर्थ—(च विद्याः) और ब्रह्मविद्या सम्बन्धी नानाविधज्ञान, (च अविद्याः) और नानाविध लौकिक ज्ञान, (च यत्) और जो (अन्यत् उपदेश्यम्) अन्य उपदेश योग्य वस्तु, (ब्रह्म) शब्दब्रह्म ओ३म् का ध्यान या ब्रह्मवेद=अथर्ववेद, (अथो) तथा (ऋचः, साम, यजुः) ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद (शरीरम् प्राविशत्) शरीर में प्रविष्ट हुए।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आनन्दा मोदाः प्रमुदोभीमोदमुदश्च ये।

हसो नरिष्टा नृत्तानि शरीरमनु प्राविशन्॥ २४॥

अर्थ—(आनन्दाः) समृद्धि के कारण उत्पन्न सुख विशेष, अथवा ब्रह्मोपासना द्वारा उत्पन्न आनन्द भरी चित्तवृत्तियाँ, (मोदाः प्रमुदः) मानसिक मोद-प्रमोद, (अभिमोदमुदश्च ये) और जो सम्मुख प्राप्त विषयजन्य हर्षातिरेक; (हसः) हसना, (नरिष्टाः) नरनारियों के अभीष्ट विषयों से उत्पन्न सुख, अथवा नरनारियों की इच्छाएँ, मनों की कामनाएँ, (नृत्तानि) नाच (अनु) पीछे से (शरीरम् प्राविशन्) शरीर में प्रविष्ट हुए।

[नरिष्टाः=अथवा नरिष्टानि। पदपाठ में विसर्ग रहित पाठ है]।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आलापाश्च प्रलापाश्चाभीलापलपश्च ये।

शरीरं सर्वे प्राविशन्नायुजः प्रयुजो युजः॥ २५॥

अर्थ—(आलापाः च) और गानविद्या सम्बन्धी आलाप, (प्रलापाः च) निरर्थक भाषण, (अभीलापलपः च ये) और जो परस्पर संमुख होकर वार्तालाप; (आयुजः) आयोजन, (प्रयुजः) प्रयोजन (युजः) योजनाएँ (सर्वे) ये सब (शरीरम्) शरीर में (प्राविशन्) प्रविष्ट हुए।

[मन्त्र २४ में नृत्तानि, और मन्त्र २५ में आलापाः—ये दो शब्द गानविद्या तथा नृत्य के सूचक हैं]।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या।

व्यानोदानौ वाङ् मनः शरीरेण त ईयन्ते॥ २६॥

अर्थ—प्राण, अपान, चक्षुः, श्रोत्र, अक्षिति, और जो क्षिति, व्यान, उदान, वाक्, मन, (ते) वे (शरीरेण) शरीर के साथ (ईयन्ते) गति करते हैं, सक्रिय होते हैं।

[व्याख्या देखो (मन्त्र ४)। ईयन्ते=ईङ्=**ईङ् गतौ**]।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आशिषश्च प्रशिषश्च संशिषो विशिषश्च याः।

चित्तानि सर्वे संकल्पाः शरीरमनु प्राविशन्॥ २७॥

अर्थ—(आशिषः च) और आशीर्वाद या आशाएँ, (प्रशिषः च) और प्रकृष्ट-शासन, (संशिषः) सम्यक्-शासन, (याः) जो (विशिषः च) और विविध प्रकार के शासन, (चित्तानि) नाना प्रकार के विचार या मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, या चित्तवृत्तियाँ, (संकल्पाः) विविध संकल्प—(अनु) तदनन्तर (शरीरम्) शरीर में (प्राविशन्) प्रविष्ट हुए।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आस्नेयीश्च वास्तेयीश्च त्वरणाः कृपणाश्च याः।

गुह्याः शुक्रा स्थूला अपस्ता बीभत्सावसादयन्॥ २८॥

अर्थ—(आस्नेयीः=आस्तेयीः च) असन् अर्थात् असृक् सम्बन्धी, (वास्तेयीः च) वस्ति अर्थात् मूत्राशय सम्बन्धी, (त्वरणाः) शीघ्र गति वाले, (याः च कृपणाः) और जो मन्दगति वाले, (गुह्याः) छिपे हुए अर्थात् शरीर के घटक, (शुक्राः) शुक्र अर्थात् शुक्ल वीर्य सम्बन्धी, (स्थूलाः) और स्थूल (अपः) जलों को (बीभत्सौ) कल्याणकारी तथा सुख के साधन भूत शरीर में (असादयन्) दिव्यशक्तियों ने स्थापित किया है [आस्नेयीः''] यह पाठ सायणाचार्य ने माना है। असृक् दो प्रकार का है, रक्त और नील। इस प्रकार शरीरनिष्ठ आपः आठ प्रकार के हैं, (देखो मन्त्र २९)।

[मन्त्र में शरीरस्थ आपः अर्थात् जलों का वर्णन हुआ है। ये आपः ८ प्रकार के दर्शाए हैं। ''आस्नेयीः'' पद द्वारा दो प्रकार के खूनों का कथन हुआ है, लाल और नीले। शरीर में दोनों प्रकार के खून हैं। ''वास्तेयीः'' पद द्वारा मूत्राशयस्थ मूत्ररूपी आपः हैं। त्वरमाणाः है शीघ्रगतिक रक्त और मूत्र। कृपणाः द्वारा मन्दगतिक आपः का निर्देश हुआ है, यथा स्वेद, मुखस्थ-स्राव, उदरस्थ पित्त, तथा अन्य सब ग्रन्थियों के रस। गुह्याः आपः हैं शरीर की रचना का निर्माण करने वाले आपः। शरीर की रचना में आपः ३/४ हैं। और पार्थिव भाग १/४ हैं। ये आपः अदृश्यमान हैं, गुह्यः हैं, छिपे हुए हैं। शुक्रः शब्द शुक्र अर्थात् वीर्य का द्योतक है। और स्थूला शब्द द्वारा नासिकामल, आँखों का मल, बलगम आदि का ग्रहण किया है। ये आपः ८ हैं, जिन्हें कि मन्त्र (२९) में ''अष्ट'' पद द्वारा निर्दिष्ट किया है।

मन्त्र में ''बीभत्सु'' पद है। इसका प्रसिद्ध अर्थ है, घृणित। परन्तु ''बीभत्सु'' पद भद् धातु द्वारा भी व्युत्पन्न माना जा सकता है, **भदि कल्याणे सुखे** है। शरीर कल्याण का भी हेतु है, और सुख का साधन भी]।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अस्थि कृत्वा समिधं तदष्टापो असादयन्। रेतः कृत्वाज्यं देवाः पुरुषमाविशन्॥ २९ ॥

अर्थ—(अस्थि) शरीर की हड्डियों को (समिधम् कृत्वा) समिधा करके (तत्) उस शरीर में (अष्ट अपः) आठ प्रकार के जलों को (असादयन्) देवों ने स्थापित किया। और (रेतः) वीर्य को (आज्यम् कृत्वा) घृत करके (देवाः) देव (पुरुषम्) पुरुष में (आ विशन्) आ प्रविष्ट हुए।

[समिधम्, आपः, आज्यम्, देवाः—पदों द्वारा शरीर को यज्ञशाला का रूप दिया है, और शारीरिक पवित्र जीवन को यज्ञमय दर्शाया है। मन्त्र २८ और २९ में "असादयन्, तथा अपः और आपः पदों के सन्निवेश से दोनों मन्त्रों को परस्पर समन्वित प्रदर्शित किया है। मन्त्र २९ में अष्ट, आपः द्वारा ८ प्रकार के जलों का निर्देश किया है, जिनका कि वर्णन मन्त्र २८ में हुआ है। "**अद्भ्यः संभृतः**" **पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्मणः समवर्त्तताग्रे**" (यजुः० ३१.१७) में शरीर की रचना जल, पृथिवी और रस द्वारा कही है। अतः "गुह्याः" पद द्वारा, शरीर के घटक जलों का ग्रहण, वेदानुमोदित है]।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

या आपो याश्च देवता या विराड् ब्रह्मणा सह।
शरीरं ब्रह्म प्राविशच्छरीरेऽधि प्रजापतिः॥ ३० ॥

अर्थ—(याः) जो (आपः) जल [मन्त्र २८ तथा २९] (याः च) और जो (देवताः) देवता [पूर्वमन्त्रों में कथित], (ब्रह्मणा सह या विराट्) ब्रह्म के साथ रहने वाली ब्रह्म की सहयोगिनी जो विराट् अर्थात् संसार के विविध रूपों में दीप्यमान प्रकृति है [जिसे कि मन्त्र १ में जाया कहा है] वह, (ब्रह्म) तथा ब्रह्म (शरीरम् प्राविशत्) शरीर में प्रविष्ट हुआ, (शरीरे अधि) और शरीर में अधिष्ठाता (प्रजापतिः) उत्पन्न सन्तानों का उत्पादक तथा पालक जीवात्मा हुआ।

[विराट्=वि+राजृ (दीप्तौ)। प्रजापतिः=**प्रजानां पालयिता पुत्राद्युत्पादको जीवः** (सायण)]।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणं पुरुषस्य वि भेजिरे। अथास्येतरमात्मानं देवाः प्रायच्छन्नग्नये॥ ३१ ॥

अर्थ—मृत्यु होने पर (सूर्यः) सूर्य (चक्षुः) दृष्टि शक्ति को, और (वातः) वायु (प्राणम्) श्वास-प्रश्वास की वायु को (बिभेजिरे) अपने अपने भागरूप में ले लेते हैं। (अथ) तथा (अस्य) इस पुरुष के (इतरम्) तद्भिन्न (आत्मानम्) शरीर को (देवाः) शेष देव, (अग्नये प्रायच्छन्) अग्नि को दे देते हैं।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

तस्माद्वै विद्वान्पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते। सर्वा ह्यस्मिन्देवता गावो गोष्ठ इवासते॥ ३२ ॥

अर्थ—(तस्मात्) इसलिए (वै) निश्चय से (विद्वान्) ज्ञानी व्यक्ति, (पुरुषम्) पुरुष को, (मन्यते) मानता है कि (इदं ब्रह्म) यह ब्रह्म है। (हि) क्योंकि (अस्मिन्) इस पुरुष-शरीर में (सर्वाः देवताः) सब देवता (आसते) निवास करते हैं, (इव) जैसे कि (गावः) गौएँ (गोष्ठे) गोशाला में।

[इदं ब्रह्म=पुरुष को "इदं ब्रह्म" कहना, नवीन वेदान्तियों के "अहं ब्रह्म" के अर्थों में नहीं। क्योंकि इसमें युक्ति दी है कि पुरुष शरीर में व्यष्टिरूप में सब देवताओं का निवास है (मन्त्र ३०) जैसे कि ब्रह्म में सब देवताओं का निवास है, इस सादृश्य से विद्वान् गौणरूप में पुरुष को ब्रह्म मानता है, नकि वस्तुतः।

न केवल अन्य देवताओं का ही अपितु स्वयं ब्रह्म का भी इसमें निवास है। (मन्त्र ३०) इसलिए गौणविधि से पुरुष को ब्रह्म कहा जाता है। अद्वैतवादी मुख्यरूप में अपने को "अहं ब्रह्म" कहते हैं]।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**पथ्या पङ्क्तिः** ॥

प्रथमेन प्रमारेण त्रेधा विष्वङ् वि गच्छति।
अद एकेन गच्छत्यद एकेन गच्छतीहैकेन नि षेवते॥ ३३॥

अर्थ—(विष्वङ्) सर्वत्र गति करने वाला जीवात्मा, (प्रथमेन प्रमारेण) मुख्य मारने वाले परमेश्वर द्वारा, अर्थात् उसके नियमानुसार, (त्रेधा) तीन प्रकार के (वि गच्छति) विविध स्थानों में जाता है, (अदः)[1] वहाँ अर्थात् मोक्ष को (एकेन) एक प्रकार के कर्मों द्वारा (गच्छति) जाता है, प्राप्त होता है, (अदः) वहाँ अर्थात् नीच योनि को (एकेन) एक प्रकार के कर्मों द्वारा (गच्छति) जाता है, प्राप्त होता है। (इह)[2] और यहाँ अर्थात् मनुष्य योनि में (एकेन) एक प्रकार के कर्मों द्वारा (निषेवते) सुख-दुःख का सेवन करता है।

[विष्वङ्=**विष्लृ व्याप्तौ**+**अञ्चु्** (गतौ)। प्रमारेण=यथा "**स एव मृत्युः सोऽमृतम्**" (अथर्व० १३.४(३).२५), अर्थात् वह परमेश्वर ही मृत्यु है, वह अमृत है]।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अप्सु स्तीमासु वृद्धासु शरीरमन्तरा हितम्।
तस्मिञ्छवोध्यन्तरा तस्माच्छवोध्युच्यते॥ ३४॥

अर्थ—(वृद्धासु) बढ़े हुए, (स्तीमासु) तथा अनार्द्र गर्भ को आर्द्र करते हुए (अप्सु) जलों के (अन्तरा) मध्य में (शरीरम्) शरीर (हितम्) निहित होता है। (तस्मिन्) उस शरीर के (अन्तरा) मध्य में (अधि) अधिष्ठातृरूप में (शवः) बलस्वरूप या बली जीवात्मा होता है, (तस्मात्) इस कारण (शवः) बलस्वरूप या बली जीवात्मा (अधि) शरीर का अधिष्ठाता[3] (उच्यते) कहा जाता है।

[**शवः बलनाम** (निघं० २.९); शवः अर्श आद्यच्=बली। मन्त्र में मातृगर्भ में विद्यमान शरीर का वर्णन हुआ है। यह भी कहा है कि उस अवस्था का शरीर निरात्मक नहीं होता, अपितु उसमें बलस्वरूप या बली जीवात्मा रहता है, जोकि शरीर का अधिष्ठाता होकर उसकी रक्षा तथा वृद्धि करता है। इन मन्त्रों में स्थान-स्थान पर "शरीरम्" का वर्णन हुआ है। साथ ही मन्त्र ३३ में कर्मों द्वारा जीवात्मा की त्रिविध गति का वर्णन करते हुए भिन्न-भिन्न योनियों में जीवात्मा के जाने का भी वर्णन हुआ है। अतः इस प्रसङ्गानुसार जीवात्मा के गर्भवास का वर्णन उचित ही प्रतीत होता है। स्तीमासु=**ष्टीम् आर्द्रीभावे**। ष्टीम=ष्टीम्+पचाद्यच्=ष्टीमासु=स्तीमासु]।

चौथा अनुवाक समाप्त॥

---

१. अदः=अथवा अन्तरिक्ष में स्थिति पाता है। शीघ्र जन्म न मिलने के कारण अन्तरिक्षत में घूमता रहता है।

२. इह=इस पृथिवीलोक में। अथवा "**पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम्**" प्रश्न० ३.३.७।

३. मन्त्र ३० में प्रजापति रूप में जीवात्मा को शरीर का अधिष्ठाता कहा है।

अनुवाक ५

सूक्त ९-१०

विषय-प्रवेश

(१) ११ वें काण्ड के ९ वें और १० में सूक्त में देवों और असुरों में युद्ध का वर्णन हुआ है। सूक्त ९ वें में साधारण युद्ध का तथा १०वें सूक्त में घोर युद्ध का वर्णन है। ९ वें सूक्त में सेनाओं के झण्डों का वर्णन नहीं, १० वें सूक्त में ''केतुभिः सह'' तथा ''अरुणैः केतुभिः सह'' (१०.१, २) द्वारा देवों के सैनिक-झण्डों और अरुण अर्थात् लाल झण्डों का वर्णन है, ये लाल झण्डे घोर युद्ध में हुए रक्तपात के सूचक हैं।

(२) ९वें सूक्त में अर्बुदि और न्यर्बुदि दो सेनापति हैं। अर्बुदि तो देवसेना द्वारा आसुरी सेना के साथ साक्षात् युद्ध करता है और न्यर्बुदि सेना संचाल में उसे निर्देश देता है। इसीलिए न्यर्बुदि को ''ईशान'' कहा है (४)। अर्बुदिः=अर्ब (**अर्व हिंसायाम्**)+दा (दाने), जो कि साक्षात् आसुरी सेना के लिए हिंसादायक है। न्यर्बुदिः=नितराम् अर्बुदिः, अत्यधिक हिंसा दायक। ईशान होने के कारण इसे अत्यधिक हिंसादायक कहा है।

(३) युद्ध के शीघ्र समाप्त न होने से न्यर्बुदि के स्थान में त्रिषन्धि को नियुक्त किया गया है (९.२३)। सूक्त १०वें में अर्बुदि और त्रिषन्धि ही देवसेना के अधिपति रूप में युद्ध करते हैं। (१०.२०, २१) में अर्बुदि के सहायक रूप में न्यर्बुदि को पुनः नियुक्त किया है। इस प्रकार (१०.२०, २१) में तीन अधिपति युद्ध में संलग्न होते हैं। त्रिषन्धि परस्पर की सन्धि में बन्धे तीन मित्रराष्ट्रों का प्रतिनिधि होकर सेनासंचालन करता है। अतः तीन राष्ट्रों के मेल के कारण देवसेना प्रबल हो जाती है। त्रिषन्धि के स्वरूप पर (९.२३; तथा १०.२) में विशेष प्रकाश डाला है।

(४) युद्ध में नाना प्रकार के अस्त्रों का प्रयोग देव सेना की ओर से हुआ है। परन्तु साथ ही उदार भावों का प्रदर्शन भी अनुमोदित हुआ है, ताकि आसुरी-सेना उदार भावों से प्रभावित होकर आत्मसमर्पण कर दे और युद्ध समाप्त हो सके (९.१,६,१५,१६,२२,२४)। (१०.१) में सायणाचार्य ने भी ''उदाराः'' का अर्थ किया है ''**औदार्यगुणापेताः सेनानायकाः**''।

(५) देवसेना की युद्ध सामग्री—

(क) श्वन्वतीः सेनाएँ (९.१५), अर्थात् शिकारी, खोजी या दोनों प्रकार के कुत्तों वाली सेनाएँ।

(ख) शत्रुओं के चित्तों को ज्ञानशून्य करने वाले विमोहनास्त्र (९.१३; १०.२०)।

(ग) अग्निजिह्वाः अर्थात् आग्नेयास्त्र, तथा धूमशिखाः अर्थात् धूमास्त्र (९.१९)।

(घ) तामसास्त्र अर्थात् शत्रु की सेना को अन्धकार से आवृत करने वाला अस्त्र (९.२२, १०.१९)।

(ङ) अयोमुख, सूचीमुख, विकङ्कतीमुख (अर्थात् कङ्घी के सदृश नोकीले नानामुखों वाले) वाण (१०.३)। तथा चतुर्दंष्ट्रान् अर्थात् दाढ़ों के सदृश चबाने वाले ४ दाढ़ों वाले नोकीले बाण, श्यावदतः अर्थात् कालेलोहे के बने दान्तों वाले बाण, और असृङ्मुखान् अर्थात् खूनीमुख अर्थात् खूनी अग्रभागों वाले बाण (९.२८)।

(च) ''शितिपदी चतुष्पदी शरव्या'' सम्भवतः तोप (१०.६) तथा केवल शितिपदी, सम्भवतः

विमोहनास्त्र के गुणों वाला अस्त्र (१०.२०)।

(छ) द्रव-वज्र अर्थात् शत्रु पर द्रव के सींचने का अस्त्र (१०.१२, १३), सम्भवतः वारुणास्त्र।

(ज) असीन् अर्थात् तलवारें, परशून् अर्थात् फरसे, कुल्हाड़े (९.१)।

(झ) कवच और वर्म (१०.२२, २३)।

(ञ) रथी, अश्वारोही......सादिनः (१०.२४)।

सूक्त-९

ऋषिः—**काङ्क्रायनः** ॥ देवता—**अर्बुदिः** ॥ छन्दः—**सप्तपदा विराट् शक्वरी** ॥

ये बाहवो या इषवो धन्वनां वीर्याणि च।
असीन्परशूनायुधं चित्ताकूतं च यद्धृदि।
सर्वं तदर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च प्र दर्शय॥ १ ॥

अर्थ—(ये बाहवः) जो बाहुएँ, (याः इषवः) जो बाण हैं, (च धन्वनां वीर्याणि) और धनुर्धारियों की वीरता के कर्म हैं या उनके पराक्रम हैं, उन्हें, तथा (असीन्) तलवारों, (परशून्) कुल्हाड़ों, (आयुधम्) युद्ध सम्बन्धी अस्त्र शस्त्रों, (च हृदि यत् चित्ताकूतम्) और हृदय में जो विचार तथा संकल्प हैं, (तद् सर्वम्) उस सब को (अर्बुदे) हे हिंसा करने वाले सेनापति! (त्वम्) तू (अमित्रेभ्यः) शत्रुओं के (दृशे) देखने के लिए (कुरु) संनद्ध कर, (च) और (उदारान्) उदार भावों का भी (प्र दर्शय) प्रदर्शन कर।

[अर्बुदिः=अर्ब् (**अर्व हिंसायाम्**)+उ (औणादिक प्रत्यय; १.७)+दा+किः=हिंसा देने वाला अर्थात् हिंसा करने वाला सेनापति या सेनाध्यक्ष। "किः" प्रत्यय उपसर्गपूर्वपद न होने पर भी घु-संज्ञक धातुओं में दृष्ट है, यथा **जलधिः; इषुधिः** (अष्टा० ३.३.९३)।

बाहवः=क्षत्रिय सैनिक। यथा "**बाहू राजन्यः कृतः**" (यजुः० ३१.११)। परराष्ट्र द्वारा नियुक्त जो दूत अपने राष्ट्र में विद्यमान है उसे अपनी सैन्यशक्ति का प्रदर्शन करा देना चाहिए, ताकि परराष्ट्र युद्ध के लिए साहस न कर सके। साथ ही अपने राष्ट्र के हार्दिक अर्थात् स्नेहपूर्ण शान्ति के विचारों तथा संकल्पों और उदारभावों को भी प्रकट कर देना चाहिए, जिससे वह जान सके कि हम किसी प्रकार भी युद्ध नहीं चाहते, यदि युद्ध के लिए हमें बाधित ही न कर दिया जाय]।

ऋषिः—**काङ्क्रायनः** ॥ देवता—**अर्बुदिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

उत्तिष्ठत सं नह्यध्वं मित्रा देवजना यूयम्।
संदृष्टा गुप्ता वः सन्तु या नो मित्राण्यर्बुदे॥ २ ॥

अर्थ—(देवजनाः मित्राः) हे मित्र विजिगीषु सैनिकजनो! (उत्तिष्ठत) उठो, (संनह्यध्वम्) अपने-आप को शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित करो। (अर्बुदे) हे हिंसा में कुशल सेनापति! (नः) हमारे (या मित्राणि) मित्र हैं, और हे मित्रो! (वः) तुम्हारे जो मित्र है, अर्थात् हमारे जो मित्रों के मित्र हैं वे, (संदृष्टा) कुछ को शत्रुओं की दृष्टि में लाओ, और कुछ को (गुप्ता सन्तु) गुप्त रखो।

[यदि युद्ध के लिए बाधित ही होना पड़े तो युद्ध की तय्यारी करनी चाहिए। युद्ध के लिए मित्रों और मित्रों के मित्र राष्ट्रों की सहायता भी लेनी चाहिए। अपनी पूरी सैनिक शक्ति को युद्ध भूमि में न ला

खड़ा करना चाहिए। कुछ युद्ध भूमि में लाने चाहिएँ, शेष गुप्त रखने चाहिएँ। संदृष्टा, गुप्ता=संदृष्टानि गुप्तानि मित्राणि। देवजनाः=दिवु विजिगीषा]।

ऋषिः—**काङ्कायनः** ॥ देवता—**अर्बुदिः** ॥ छन्दः—**परोष्णिक्** ॥

उत्तिष्ठतमा रभेथामादानसंदानाभ्याम्।

अमित्राणां सेना अभि धत्तमर्बुदे॥ ३॥

अर्थ—(अर्बुदे) हे अर्बुदि! और न्यर्बुदि! (४) तुम दोनों (उत्तिष्ठतम्) उठो, (आरभेथाम्) और युद्ध आरम्भ करो, (आदानसंदानाभ्याम्) पकड़ने तथा बाँधने के द्वारा, (अमित्राणाम् सेनाः) शत्रुओं की सेनाओं को (अभिधत्तम्) रस्सियों और शृङ्खलाओं द्वारा बाँधो।

[आदान=पकड़ना। सन्दान=बाँधना। अभिधत्तम्; अभिधानी=रस्सी, यथा "**अश्वाभिधानीमादत्ते**" (तै० सं० ५.१.२.१)]

ऋषिः—**काङ्कायनः** ॥ देवता—**अर्बुदिः** ॥ छन्दः—**उष्णिग् बृहतीगर्भा परात्रिष्टुप् षट्पदाऽतिजगती** ॥

अर्बुदिर्नाम यो देव ईशानश्च न्यर्बुदिः।

याभ्यामन्तरिक्षमावृतमियं च पृथिवी मही।

ताभ्यामिन्द्रमेदिभ्यामहं जितमन्वेमि सेनया॥ ४॥

अर्थ—(अर्बुदिः नाम) अर्बुदि नाम वाला (यः देवः) जो विजिगीषु सेनापति है, (ईशानः च न्यर्बुदिः) और सेनाधीश्वर जो न्यर्बुदि है, (याभ्याम्) जिन दोनों द्वारा (अन्तरिक्षम्) युद्धभूमि का अन्तरिक्ष [वायु सेना द्वारा] (आवृतम्) घेरा गया है, (इयं च मही पृथिवी) और यह विस्तृत युद्धभूमि घेरी गई है, (ताभ्याम् इन्द्रमेदिभ्याम्) मुझ सम्राट् के साथ स्नेह करने वाले उन अर्बुदि और न्यर्बुदि के साथ (सेनया) तथा सेना के साथ (जितम्) विजित राष्ट्र में (अनु एमि) उनके पीछे पीछे या विजित राष्ट्र के अनुकूल होकर आता हूँ।

[देवः=दिवु विजिगीषा, तद्वान्। न्यर्बुदि बड़ा अधिकारी है, तभी इसे ईशान कहा है। इन्द्र=सम्राट् "**इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा**" (यजुः० ८.३७)। सम्राट् दोनों आफिसरों तथा सेना के पीछे पीछे विजित राष्ट्र के प्रति अनुकूल भावनाओं सहित, विजित राष्ट्र में पदार्पण करता है, विरोधी या बदला लेने की भावना से नहीं]।

ऋषिः—**काङ्कायनः** ॥ देवता—**अर्बुदिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

उत्तिष्ठ त्वं देवजनार्बुदे सेनया सह। भञ्जन्नमित्राणां सेनां भोगेभिः परि वारय॥ ५॥

अर्थ—(देवजन अर्बुदे) हे विजिगीषु-जन, अर्बुदि! (त्वम्) तू (सेनया सह) सेना के साथ (उत्तिष्ठ) उत्थान कर, और [अमित्राणाम्] शत्रुओं की (सेनाम्) सेना को (भञ्जन्) तोड़ता हुआ, [शत्रु की प्रजा को] (भोगेभिः) भोग की वस्तुओं के द्वारा (परिवारय) घेर[१]।

[सेनापति का यह कर्त्तव्य है कि वह जब शत्रु राष्ट्र की सेनाओं पर विजय पा ले, तो वह शत्रु राष्ट्र की प्रजा को तंग न करे, अपितु भोग की वस्तुएँ देकर, उसे अपने अनुकूल बनाने का यत्न करे।]

---

१. भोग्य वस्तुएँ इतनी दे कि प्रजा भोग्य वस्तुओं से घिर जाए। भोगेभिः, यथा "भोगे रोगभयम्"।

ऋषिः—**काङ्कायनः** ॥ देवता—**अर्बुदिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सप्त जातान्न्यर्बुद उदाराणां समीक्षयन्।

तेभिष्ट्वमाज्ये हुते सर्वैरुत्तिष्ठ सेनया ॥ ६ ॥

अर्थ—(न्यर्बुदे) हे न्यर्बुदि सेनाधीश्वर! (४) (त्वम्) तू (उदाराणाम्) उदार भावों के (सप्त जातान्) सात उत्पत्ति स्थानों का (समीक्षयन्) सम्यक्-ईक्षण या विचार करता हुआ, (आज्ये हुते) पर राष्ट्र में प्रवेश के समय यज्ञ में आज्याहुति दे कर, (तेभिः सर्वैः) उन सब उत्पत्ति स्थानों के साथ, और (सेनया) पर राष्ट्र की सेना के साथ (उत्तिष्ठ) अपने राष्ट्र का उत्त्थान कर, समुन्नति कर।

[सप्त जातान्=राज्य सप्ताङ्ग होता है, "**स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलानि च**" अर्थात् राजा, मन्त्रिगण, मित्र राज्य, खजाना, राष्ट्र, किले और सैन्यबल। इन सात में से किस अङ्ग द्वारा विजित राष्ट्र के लिए उदारता प्रदर्शित करनी चाहिए, इस पर सम्यक् विचार करके, इन सब उदार भावों के साथ, पर-राष्ट्र में प्रवेश कर और शुभ-यज्ञ में घृताहुतियाँ देकर न्यर्बुदि, विजित राष्ट्र की सेना की भी उन्नति करता हुआ उत्त्थान करे, अपनी समुन्नति करे]।

ऋषिः—**काङ्कायनः** ॥ देवता—**अर्बुदिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रतिघ्नानाश्रुमुखी कृधुकर्णी च क्रोशतु। विकेशी पुरुषे हते रदिते अर्बुदे तव ॥ ७ ॥

अर्थ—(अर्बुदे) हे हिंसा करने वाले सेनापति! (तव रदिते) तेरे काटने पर (पुरुषे हते) पुरुष के मर जाने पर [उसकी पत्नी] (प्रतिघ्नाना) छाती पीटती हुई, (अश्रुमुखी) मुख पर आंसुओं वाली, (कृधुकर्णी) हलके कानों वाली, (विकेशी) और बिखरे केशों वाली होकर (क्रोशतु) चिल्लाए।

[**कृधु=ह्रस्वनाम** (निरुक्त ६.१.३), दुःख के कारण कर्णाभूषण उतार लेने पर हलके कानों वाली। रदित=काटना, तलवार, कुल्हाड़े, बाण द्वारा (मन्त्र १)। रदिते=रद्=To split, rend (आप्टे)]।

ऋषिः—**काङ्कायनः** ॥ देवता—**अर्बुदिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

संकर्षन्ती करूकरं मनसा पुत्रमिच्छन्ती। पतिं भ्रातरमात्स्वान्रदिते अर्बुदे तव ॥ ८ ॥

अर्थ—(अर्बुदे) हे हिंसा करने वाले सेनापति! (तव रदिते) तेरे काटने पर, (करूकरम्[1]) करूकर को (संकर्षन्ती) खींचती हुई, (मनसा, पुत्रम् इच्छन्ती) मन से पुत्र को चाहती हुई, तथा (पतिम् भ्रातरम्, आत् स्वान्) पति, भाई तदनन्तर निज सम्बन्धियों को मन से चाहती हुई (क्रोशतु) चिल्लाए।

[करूकरम्=कुरीरम्? (अथर्व० १४.१.८), कुरीरम् या कुरीकम्। "कुरीर" पत्नी के हाथ का आभूषण है, जिसे कि पञ्जाबी भाषा में कलीरा कहते हैं। अथर्व० ६.१३८.३ में कुरीर को शिरोभूषण कहा है। यथा **कुरीरमस्य शीर्षणि**"]।

ऋषिः—**काङ्कायनः** ॥ देवता—**अर्बुदिः** ॥ छन्दः—**पथ्या पङ्क्तिः** ॥

अलिक्लवा जाष्कमदा गृध्राः श्येनाः पतत्रिणः।

ध्वाङ्क्षाः शकुनयस्तृप्यन्त्वमित्रेषु समीक्षयन्रदिते अर्बुदे तव ॥ ९ ॥

---

१. अथवा "करूकरम्"=करूकरम् (सायण)। क्रियते कर्म येन सः करुः, स चासौ करः (हस्तः), तम् संकर्षन्ती इतस्ततः चालयन्ती। अर्थात् कर्मसम्पादक हाथ को इधर-उधर पटकती हुई।

अर्थ—(अलिक्लवाः) भौरों की तरह विक्लव अर्थात् उत्तेजित हुए, (जाष्कमदाः) मदमस्त हुए (गृध्राः, श्येनाः, पतत्रिणः) गीध, बाज, पक्षी, (ध्वाङ्क्षाः) कौए, (शकुनयः) तथा अन्य शक्तिशाली पक्षी (अमित्रेषु) शत्रुओं के शरीरों पर (तृप्यन्तु) तृप्त हों, (अर्बुदे तव रदिते) हे अर्बुदि! तेरे काटने पर। (समीक्षयन्) तू इस दृश्य को देखता रह।

[अलिः=भौरे जैसे पुष्पमधु के लिए उत्तेजित होते हैं, वैसे मांस के लिए उत्तेजित हुए गीध आदि। उत्तेजना के कारण गृध्र आदि को मदमस्त कहा है। जाष्कमदाः=**जष् हिंसायाम्** (भ्वादि); जष्+क (**कृ करणे**;) जाष्क=स्वार्थे अण्; अर्थात् हिंसाकारक मदवाले, अतिमदवाले]।

ऋषिः—**काङ्कायनः** ॥ देवता—**अर्बुदिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अथो सर्वं श्वापदं मक्षिका तृप्यतु क्रिमिः।

पौरुषेयेधि कुणपे रदिते अर्बुदे तव॥ १०॥

अर्थ—(अथ उ) तथा (श्वापदम्) कुत्तों के सदृश पैरोंवाले (सर्वम्) सब हिंस्रप्राणी, (मक्षिका) मक्खियाँ, (क्रिमिः) और कीड़े-मकौड़े, (पौरुषेये कुणपे अधि) पुरुषों के मृतशरीरों पर (तृप्यतु) तृप्त हों, (अर्बुदे) हे हिंसक सेनापति! (तव) तुझ द्वारा (रदिते) शत्रुओं के कटने पर।

ऋषिः—**काङ्कायनः** ॥ देवता—**अर्बुदिः** ॥ छन्दः—**पथ्या पङ्क्तिः** ॥

आ गृह्णीतं सं बृहतं प्राणापानान्न्यर्बुदे।

निवाशा घोषाः सं यन्त्वमित्रेषु समीक्षयन्रदिते अर्बुदे तव॥ ११॥

अर्थ—(न्यर्बुदे, अर्बुदे) हे न्यर्बुदि सेनाधीश! और अर्बुदि सेनापति! (प्राणापानान्) शत्रुओं के प्राणों और अपानों को (आगृह्णीतम्) जकड़ दो, (संबृहतम्) और प्राणापानों को पूर्णतया रोक दो। (अमित्रेषु) शत्रु दल में (निवाशाः) दबी-ध्वनि के (घोषाः) अनभिव्यक्त शब्द (संयन्तु) उठें, (अर्बुदे) हे शत्रुघातक! (तव) तुझ द्वारा (रदिते) शत्रुओं को काटने पर। (समीक्षयन्) और तू इस दृश्य को देखता रह।

[आगृह्णीतम्=जकड़ दो अर्थात् प्राणापान की गति को रोक दो। संबृहतम्=सम्+**बृहू उद्यमने**, अर्थात् उन्हें सम्यक्तया ऊपर ही ऊपर रोक दो, ताकि निकले हुए प्राणापान शरीर में पुनः प्रवेश न पाएँ। उद्यमन=उद्+यम (उपरमे)]।

ऋषिः—**काङ्कायनः** ॥ देवता—**अर्बुदिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

उद्वेपय सं विजन्तां भियामित्रान्त्सं सृज। उरुग्राहैर्बाह्वङ्कैर्विध्यामित्रान्न्यर्बुदे॥ १२॥

अर्थ—(न्यर्बुदे) हे शत्रुघातक सेनाधीश्वर! (अमित्रान्) शत्रुओं को (उद् वेपय) कम्पा दे, (संविजन्ताम्) वे सब विचलित हो जाएँ, (भिया) भय के साथ (संसृज) उनका संसर्ग कर। (अमित्रान्) शत्रुओं को (उरुग्राहैः) टांगों को जकड़ने वाले अस्त्रों द्वारा, तथा (बाह्वङ्कैः) बाहुओं को अङ्कित या वक्र कर देने वाले अस्त्रों द्वारा (विध्य) बींध।

[उरुग्राहैः[१]=**उरुग्राहैः ऊरूणां ग्रहणैः** (सायण)। अथर्व० ३.२.५ में "अप्वा" द्वारा शत्रु पक्ष के सैनिकों के अङ्गों का जकड़ने का वर्णन "**गृहाणाङ्गानि**" द्वारा किया है। यथा "**अमीषां चित्तानि प्रतिमोहयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि। अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैर्ग्राह्यामित्रांस्तमसा विध्य शत्रून्॥** अप्वा=अप+वा, चलानेवाले से अपगत होकर शत्रु की ओर गति करने वाला अस्त्र। बाह्वङ्कैः=बाहुवङ्कैः,

बाहुना वक्रबन्धनैः (सायण)। बाह्वङ्कैः का पदच्छेद="बाहू+अङ्कैः अधिक स्पष्ट है। अतः इस पद के दो अर्थ सम्भव हैं, (१) बाहुओं को वक्र कर देने वाले, या टेढ़ा कर देने वाले; तथा (२) बाहुओं को अङ्कित कर देने वाले शस्त्रों या अस्त्रों द्वारा।" अथर्व० ८.३.६ **"प्रतीचो बाहून् प्रति भङ्ग्ध्येषाम्"** द्वारा प्रतिकूल चलने वाले शत्रुओं के बाहुओं को, भग्न कर देने , तोड़ देने का वर्णन हुआ है, जिसे कि "वक्र कर देना कह सकते हैं। टांगों के जकड़ जाने से शत्रुसैनिक गतिहीन हो जाते हैं, और बाहुओं के भग्न या वक्र हो जाने पर वे शस्त्रास्त्र का प्रयोग नहीं कर सकते। अतः उन पर आसानी से विजय पा सकते हैं। बाहुओं को अङ्कित अर्थात् चिह्नित करने का प्रयोजन यह है कि उन्हें पराजित कर, जब उनके राष्ट्र में प्रवेश पा लिया जाए, तो अङ्कित बाहुओं वाले सैनिकों को पहचान कर उन्हें उचित दण्ड दिया जा सके]।

ऋषिः—**काङ्कायनः** ॥ देवता—**अर्बुदिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मुह्यन्त्वेषां बाहवश्चित्ताकूतं च यद्धृदि।
मैषामुच्छेषि किं चन रदिते अर्बुदे तव॥ १३॥

अर्थ—(एषाम्) इन शत्रुओं की (बाहवः) बाहुएँ (मुह्यन्तु) मूढ़ हो जाएँ, कर्त्तव्य रहित हो जावें, इनके (हृदि) हृदयों में (यत्) जो (चित्ताकूतम्) विचार और संकल्प है वह (मुह्यतु) कर्त्तव्याकर्त्तव्य से शून्य हो जाए। (एषाम्) इनका (किंचन) कुछ भी (मा उच्छेषि) शेष न बचे, (अर्बुदे) हे शत्रुघातक सेनापति! (तव रदिते) तुझ द्वारा शत्रुओं के कट जाने पर।

[मुह्यन्तु="अप्वा" द्वारा चित्तों के मूढ़ हो जाने पर, संज्ञाशून्य हो जाने पर प्रतिमोहयन्ती (मन्त्र १२ की व्याख्या)]।

ऋषिः—**काङ्कायनः** ॥ देवता—**अर्बुदिः** ॥ छन्दः—**पथ्या पङ्क्तिः** ॥

प्रतिघ्नानाः सं धावन्तूरः पटौरावाघ्नानाः।
अघारिणीर्विकेश्योरुदत्यः[1] पुरुषे हते रदिते अर्बुदे तव॥ १४॥

अर्थ—(पुरुषे हते) पति आदि के मर जाने पर, उनकी स्त्रियाँ (रुदत्यः) रोती हुई, (प्रतिघ्नानाः) युद्धभूमि से प्रतिमुख होकर जाती हुई, और (उरः) छातियों को तथा (पटौरौ=पटूरौ) पटूरों को (आघ्नानाः) हाथों द्वारा पीटती हुईं, (अघारिणीः) दुःख से आर्त, तथा (विकेश्यः) बिखरे केशों वाली हुई; (संधावन्तु) मिल कर युद्ध भूमि से दौड़ जाएँ (अर्बुदे) हे शत्रुघातक सेनापति! (तव रदिते) तुझ द्वारा शत्रुओं के कट जाने पर।

[पटूरौ=पटूरू=पट् (गतौ)+ऊरू। गति के साधन "ऊरू" अर्थात् कटि प्रदेश और दो घुटनों के बीच के दो भाग, पंजाबी में "दो-पट्ट"। ऊरू व जंघा को प्रायः पर्यायवाची (समानार्थक) माना जाता है जोकि वैदिक दृष्टि में ठीक नहीं। अथर्ववेद **"ऊर्वोरोजो जङ्घयोर्जवः"** (१९.६०.२) में, ऊरूओं और जङ्घाओं को पृथक्-पृथक् कहा है। जंघा=पिण्डली। प्रतिघ्नानाः=प्रति+हन् (गतौ)]।

---

१. अथवा विस्तृत पकड़-करने वाले जालों द्वारा पकड़ना भी बींधने के सदृश ही है। "जाल" के लिए देखो अथर्व० (८.९.६-७)।

ऋषिः—काङ्कायनः ॥ देवता—अर्बुदिः ॥ छन्दः—सप्तपदा शक्वरी ॥

श्वन्वितीरप्सरसो रूपका उतार्बुदे। अन्तःपात्रे रेरिहतीं रिशां दुर्णिहितैषिणीम्।
सर्वास्ता अर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च प्र दर्शय॥ १५॥

अर्थ—(श्वन्वतीः) शिकारी कुत्तों वाली सैनिक टुकड़ियों अर्थात् अल्प सैनिकों वाली सेनाओं को, (अप्सरसः) अन्तरिक्ष में विचरने वाली सैनिक-टुकड़ियों को, (रूपकाः) नानारूप धारण करने वाली सैनिक टुकड़ियों को, (पात्रे अन्तः) सत्पात्रों में बैठ कर (रेरिहतीम्) पूजापाठ करने वाली, (रिशाम्) परन्तु वस्तुतः हिंसावृत्ति वाली तथा (दुर्णिहितैषिणीम्) जिनमें बुरी इच्छाएँ निहित हैं ऐसी सैनिक-टुकड़ियों को—(ताः सर्वाः) उन सब टुकड़ियों को—(अर्बुदे) हे शत्रुघातक सेनापति! (त्वम्) तू (अमित्रेभ्यः दृशे कुरु) शत्रुओं के देखने के लिए तैयार कर, और (उदारान् च) उदारभावों को भी (प्रदर्शय) प्रदर्शित कर।

[अप्सरसः=**आपः अन्तरिक्षनाम** (निघं० १.३), तत्र सारिण्यः। रूपकाः=**नानारूपाणि कुर्वन्ति, ताः**। पात्रे=**सत्पात्रसमूहे, सत्पुरुषसमूहे**। रेरिहतीम्=**रिहति अर्चतिकर्मा** (निघं० ३.१४)। रिशाम्=**रिश हिंसायाम्** (तुदादिगण)। वेदानुयायी सम्राट् शान्तिप्रिय है, युद्धाभिलाषी नहीं। यथा "**संज्ञानं नः स्वेभिः संज्ञानमरणेभिः**" (अथर्व० ७.५२.१), अर्थात् हमारा अपनों के तथा परायों के साथ ऐकमत्य तथा समझौता हो। तथा "**मा घोषा: उत् स्थुर्बहुले विनिर्हते मेषुः पप्तदिन्द्रस्याहन्यागते**" (अथर्व० ७.५२.२), अर्थात् महा नरसंहारी युद्ध में आर्तनाद न उठें, और युद्ध का दिन आ जाने पर भी सम्राट् का बाण शत्रुओं पर न गिरे। सम्राट् के शान्तिप्रिय होने पर भी यदि शत्रु युद्ध करने से न टले तो शान्तिप्रिय सम्राट् को निज राष्ट्र रक्षा के लिए युद्धभूमि में आना ही पड़ेगा। युद्ध के जारी रहते सम्राट्, युद्ध शान्ति के लिए, यत्न करता रहे। इस निमित्त शत्रुपक्ष के शान्तिप्रिय गण्यमान्य सत्पुरुषों को सम्राट् निज राष्ट्र में आमन्त्रित कर, उन्हें अपनी विविध प्रकार की सैन्य शक्ति को दिखा कर, उन्हें समझाये कि आप लोग निज राष्ट्र में जा कर सैन्यविभाग के अधिकारियों को यह समझाएँ कि सम्राट् का सैन्यबल अति शक्तिशाली है, जो कि हमारा विनाश कर सकता है। इसलिए हमें युद्ध से उपरत हो जाना चाहिए। साथ ही सम्राट् आमन्त्रितों के प्रति निज उदारभावों को भी प्रदर्शित करे। भय और उदारता—इन दोनों उपायों का आश्रय लेकर सम्राट्, युद्धशान्ति के लिए यत्न करे। अन्तःपात्रे रेरिहतीम्=अथवा शत्रुओं के साथ बैठ कर पात्र में रखे अन्न का आस्वाद लेने वाली। रिहः=**लिह आस्वादने**]।

ऋषिः—काङ्कायनः ॥ देवता—अर्बुदिः ॥ छन्दः—पञ्चपदा विराडुपरिष्टाज्ज्योतिस्त्रिष्टुप्॥

खडूरेऽधिचङ्क्रमां खर्विकां खर्ववासिनीम्।
य उदारा अन्तर्हिता गन्धर्वाप्सरसश्च ये। सर्पा इतरजना रक्षांसि॥ १६॥

अर्थ—(खडूरे) भेदनीति और मन्थन में (अधि चङ्क्रमाम्) अधिक गति वाली सैनिक-टुकड़ी को, (खर्विकाम्) पराक्रम में गर्वीली को, तथा (खर्ववासिनीम्) गर्वीली शत्रु सेना का छेदन करती सैनिक-टुकड़ी को, तथा (ये) जो (उदाराः) उदार भाव (अन्तर्हिताः) अभी छिपाए रखे हैं, अभी प्रकट नहीं किये, (ये) तथा जो (गन्धर्वाप्सरसः च) पृथिवी-पति अपने साथी हैं, और जो अन्तरिक्ष में सरण करने वाली सैनिक-टुकड़ियाँ हैं, (सर्पाः) सर्पों के सदृश शत्रुओं में छिप कर, विष फैलाने वाले तथा (इतरजनाः)

तत्सदृश अन्य जन हैं, (रक्षांसि) और राक्षसी स्वभाव वाले सैनिक हैं, उन्हें [प्रदर्शय (१५) प्रदर्शित कर]।

[खडूरे=**खडि भेदने** (चुरादि); **खडि मन्थे** (भ्वादि) खडूरे=खड्+उरन् (औणादिक प्रत्यय) खर्विकाम्=**खर्व दर्पे** (भ्वादि)। खर्ववासिनाम्=**खर्व** (दर्पे)+**वस छेदने**[1] (चुरादि)। गन्धर्वाः=**गौः पृथिवी-नाम** (निघं० १.१)+**धृञ् (धारणे)**, पृथिवी का धारण करने वाले राजा। सर्पाः=विषैले व्यक्ति (अथर्व० ८.५.१३-१६)]

ऋषिः—**काङ्कायनः** ॥ देवता—**अर्बुदिः** ॥ छन्दः—**त्रिपदा गायत्री** ॥

चतुर्दंष्ट्राञ्छ्यावदतः कुम्भमुष्काँ असृङ्मुखान्। स्वभ्यसा ये चोद्भ्यसाः ॥ १७ ॥

अर्थ—(चतुर्दंष्ट्रान्) चार दाढ़ों वाले वाणों को, (श्यावदतः) श्याव अर्थात् काले लोहमय दान्तों अर्थात् कोनों वाले बाणों को, (कुम्भमुष्कान्[2]) कुम्भ अर्थात् घड़े के सदृश मोट तथा बलिष्ठ योद्धाओं को, (असृङ्मुखान्) जिनके मुखों अर्थात् अग्रभाग इतने तीक्ष्ण हैं जो कि शत्रु के शरीर में घुस कर मानो उसका रक्त पीते हैं ऐसे बाणों को, (स्वभ्यसाः) जो निजस्वरूप में भयानक हैं वे योद्धा, (उद्भ्यसाः) जो उन से भी समुन्नत अवस्था के भयानक हैं वे योद्धा—[उन्हें प्रदर्शय (१५) प्रदर्शित कर]।

[दंष्ट्रा=चबाने वाले तीखे दान्त अर्थात् दाढ़ें। दन्त शब्द बाण के अग्रभाग का भी वाचक है। दन्तः[3]=the point of an arrow (आप्टे)। कंघे के अग्र भागों को भी दन्त कहते हैं। अथर्व० (१४.२.६८) में "**शतदन् कण्टकः**" द्वारा १०० दान्तों वाले कण्टक अर्थात् कंघे का वर्णन हुआ है। अथर्व० (८.३.२) में अग्नि को "**अयोदंष्ट्रः**" कहा है। अयोदंष्ट्रः=लोहे से निर्मित दंष्ट्रा वाले बाणों के सदृश विघातक अग्नि। श्यावदतः=काले रंग के दान्त वाले बाण। इन्हें "अयोमुखाः" भी कहा है (अथर्व० ११.१०.३) अर्थात् जिनके मुखों अर्थात् अग्रभागों में लोहा लगा है ऐसे बाण। लोहा काला होता है, और श्याव का अर्थ काला भी है।

कुम्भमुष्कान्=मुष्कः=Amusaular or robustman (आप्टे) अर्थात् मांसल और बलवान् मनुष्य। स्वभ्यसाः=स्व+भ्यस् (भये)+कः "**घञर्थे कविधानम्**"। उद्भ्यसाः=समुन्नत-भ्यसाः, जो कि निज स्वरूप में तो भयानक हैं, परन्तु साथ ही शस्त्रास्त्रधारी भी हैं]।

ऋषिः—**काङ्कायनः** ॥ देवता—**अर्बुदिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

उद्वेपय त्वमर्बुदेमित्राणाममूः सिचः।
जयांश्च जिष्णुश्चामित्राँ जयतामिन्द्रमेदिनौ ॥ १८ ॥

अर्थ—(अर्बुदे) हे शत्रुघातक सेनापति! (त्वम्) तू (अमित्राणाम्) शत्रुओं की (अमूः) उन (सिचः)

---

१. छेदनार्थक "वस्" धातु से "वसा" शब्द निष्पन्न है, जिसका अर्थ है चर्बी है। पशु को काट कर, छिन्न-भिन्न कर, चर्बी प्राप्त होती है।

२. मुष्कः=मुष्टण्डे। मुष्कः=A muscular or robustman (आप्टे)।

३. "इषु" के सम्बन्ध में कहा है कि "**सुपर्णं वस्ते मृगो अस्या दन्तो**" (ऋ० ६.७५.११)। निरुक्त में कहा है कि "**मृगमयो अस्या दन्तः**" (९.२.१९; खण्ड १४), अर्थात् इषु का दन्त मृगमय है, मृग के सींग द्वारा निर्मित है। इसलिए इषु के अग्र भाग में लगी तीक्ष्ण वस्तु को भी "दन्त" कहा है।

गर्व से सिक्त हुई, सींची हुई सेनाओं को (उद्वेपय) कम्पा दे। (अमित्रान्) शत्रुओं को (जयान्=जयन्) जीतता हुआ तू, (च जिष्णुः) और जीतने के स्वभाव वाला न्यर्बुदि, तुम दोनों (इन्द्रमेदिनौ) जो कि सम्राट् के साथ स्नेह करने वाले हो, (जयताम्) विजयी होवो।

[सिचः=गर्व अर्थात् अभिमान से संसिक्त। उत्सेकः=अभिमान] सिचः का अर्थ "कपड़े के किनारे" भी होता है। यथा "**ये अन्ता यावतीः सिचो य ओतवो ये व तन्तवः**" (अथर्व० १४.२.५१) इस अर्थ में मन्त्रगत "सिचः" का अर्थ होगा "युद्ध भूमि के दूर के किनारों, सीमाओं तक फैली हुई सेनाएँ।]

ऋषिः—**काङ्कायनः** ॥ देवता—**अर्बुदिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रब्लीनो मृदितः शयां हतो३मित्रो न्यर्बुदे।
अग्निजिह्वा धूमशिखा जयन्तीर्यन्तु सेनया॥ १९॥

अर्थ—(न्यर्बुदे) हे नितरां शत्रुघातक सेनाधीश! (अमित्रः) शत्रु गण (प्रब्लीनः) घिरा हुआ, (मृदितः) कुचला हुआ, और (हतः) मरा हुआ (शयान्) भूमि पर सो जाए। (अग्निजिह्वाः) अग्नियों की ज्वालाओं वाले इषु, (धूमशिखाः) तथा धूएँ की शिखाओं वाले इषु[1] (जयन्तीः) विजय पाते हुए, (सेनया) हमारी सेना के साथ (यन्तु) युद्ध भूमि में चलें।

[प्रब्लीनः=प्र+ब्ली (वरणे, क्र्यादि)। अग्निजिह्वाः, धूमशिखाः="**धूममग्निं परादृश्यामित्रा हृत्स्वा दधतां भयम्**" (अथर्व० ८.८.२), अर्थात् धूम और अग्नि को दूर से देख कर शत्रु, हृदयों में भय धारण करें। तथा "धूमाक्षी [सेना] (अथर्व० ११.१०.७), अर्थात् धूम द्वारा आवृत आँखों वाली शत्रु सेना। अग्निजिह्वाः=अग्नेर्जिह्वाः याभ्यः ता इषवः। अग्नि को "सप्तजिह्व[2]" कहा है, (मुण्डक उप० मुण्डक १, खण्ड २, सन्दर्भ ४)। धूमशिखाः=धूमस्य शिखाः याभ्यः ताः इषवः। यह आग्नेयास्त्र तथा धूमास्त्र हैं]।

ऋषिः—**काङ्कायनः** ॥ देवता—**अर्बुदिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

तयार्बुदे प्रणुत्तानामिन्द्रो हन्तु वरंवरम्।
अमित्राणां शचीपतिर्मामीषां मोचि कश्चन॥ २०॥

अर्थ—(अर्बुदे) हे शत्रुघातक सेनापति! (तया) उस सेना द्वारा (१९) (प्रणुत्तानाम्) धकेले गये (अमित्राणाम्) शत्रुओं के (वरंवरम्) मुखियों का (शचीपतिः इन्द्रः) सब कर्मों का अधिपति सम्राट् (हन्तु) हनन करे, (एषाम्) इन मुखियों में (कश्चन) कोई भी (मा) न (मोचि) छूटे।

[शचीपतिः=राष्ट्र के सभी कर्मों का अधिपति सम्राट् है। वह जिस जिस मुखिया के हनन के सम्बन्ध में आज्ञा दे, उस-उस का हनन अर्बुदि करे। **शची कर्मनाम** (निघं० २.१)।

ऋषिः—**काङ्कायनः** ॥ देवता—**अर्बुदिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

उत्कसन्तु हृदयान्यूर्ध्वः प्राण उदीषतु।
शौष्कास्यमनु वर्ततामित्रान्मोत मित्रिणः॥ २१॥

अर्थ—(हृदयानि) शत्रुओं के हृदय अर्थात् धैर्य (उत्कसन्तु) टूट जाएँ, या शरीरों से उद्गत हो जाएँ,

---

१. द्र० पृष्ठ २०१, टि० ३।
२. सात जिह्वाओं सात ज्वालाओं वाली अग्नि।

निकल जाएँ [उत्+कसि (गतौ)] (प्राणः) प्राण (ऊर्ध्वः) उठकर (उदीषतु) ऊपर की वायु में चला जाए। (अमित्रान्) शत्रुओं को, (अनु) तत्पश्चात् (शौष्कास्यम्) मुख का सूखापन (वर्तताम्) प्राप्त हो, अर्थात् उनके मुख सूख जाएँ, मुरझा जाएँ (उत) और (मित्रिणः) मित्रों के मुख (मा) न सूखें, अपितु प्रसन्न हों।

ऋषिः—**काङ्कायनः** ॥ देवता—**अर्बुदिः** ॥ छन्दः—**सप्तपदा शक्वरी** ॥

ये च धीरा ये चाधीराः पराञ्चो बधिराश्च ये।
तमसा ये च तूपरा अथो बस्ताभिवासिनः।
सर्वांस्ताँ अर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च प्र दर्शय॥ २२॥

अर्थ—(ये च धीराः) जो धैर्यवाले, (ये च अधीराः) और जो धैर्यरहित (पराञ्चः) जोकि युद्ध से पराङ्मुख होकर भागे हैं, (ये बधिराः) जो युद्ध में शस्त्रास्त्रों की ध्वनियों तथा कोलाहलों के कारण बहरे हो गये हैं, (च) और (तमसा) विजयी सेना द्वारा फैंके तामसास्त्रों के कारण (ये) जो (तूपराः) शृङ्गविहीन पशुओं के सदृश पराक्रम रहित हो गये हैं, (अथो) और जो (बस्ताभिवासिनः) बकरों की खाल के वस्त्र [कवचों के रूप में] धारण किये हुए हैं, (तान् सर्वान्) उन सबको, (अर्बुदे) हे शत्रुघातक सेनापति! (त्वम्) तू (अमित्रेभ्यः) शत्रुओं के (दृशे) देखने के लिए (कुरु) उपस्थित कर, (उदारान् च) और उदार भावों को भी (प्रदर्शय) प्रदर्शित कर।

[जब अर्बुदि शत्रुओं पर विजय पा ले, तदनन्तर वह शत्रुपक्ष के धीर आदि पुरुषों को एकत्रित करके, शत्रु पक्ष के अधिकारियों के संमुख उन्हें उपस्थित करे, और कहे कि तुम्हें क्या लाभ हुआ युद्ध करके, देखो इन दीन सैनिकों की अवस्था को। परन्तु अधिकारियों के प्रति उदारभावों को भी दर्शाए जिससे उन्हें निश्चय हो जाए कि युद्ध लड़ने के कारण, विजयी राष्ट्र हमारे साथ निर्दयता का व्यवहार न करेगा।

तपसा तूपराः; तूपरः=**शृङ्गहीनः पशुः** (सायण)। तमसा=तमस् फैलाकर अर्थात् तामसास्त्रों के द्वारा शत्रुओं को अन्धकारावृत करके। यथा "**ग्राह्यामित्रांस्तमसा विध्य शत्रून्**" (अथर्व० ३.२.५); तथा "**तां विध्यत तमसापव्रतेन यथैषामन्यो अन्यं न जानात्**" (अथर्व० ३.२.६), अर्थात् "अंगों को जकड़ देने वाले "अप्वास्त्र" के द्वारा तथा "तामसास्त्र" के द्वारा शत्रुओं को बींध"। तथा "उस शत्रुसेना को कर्मरहित कर देने वाले "तामसास्त्र" द्वारा बींध, ताकि इनमें से वे परस्पर एक-दूसरे को न पहचान सकें। "विध्य और विध्यत्" में व्यध् धातु के प्रयोग के कारण, "अप्वा और तमसा" द्वारा अस्त्रों का ही ग्रहण किया जाना उचित प्रतीत होता है। देखो (यजुः० १७.४४) तथा (ऋक् १०.१०३.१२)]।

ऋषिः—**काङ्कायनः** ॥ देवता—**अर्बुदिः** ॥ छन्दः—**पथ्या पङ्क्तिः** ॥

अर्बुदिश्च त्रिषन्धिश्चामित्रान्नो वि विध्यताम्।
यथैषामिन्द्र वृत्रहुन्हनाम शचीपतेमित्राणां सहस्रशः॥ २३॥

अर्थ—(अर्बुदिश्च त्रिषन्धिश्च)[1] शत्रुघातक सेनापति, तथा त्रिषन्धि नामक सेना संचालक (नः

१. त्रिषन्धिः—"**कश्चित् सेनामोहको देवः, सन्धित्रयोपेतवज्रायुधाभिमानी वा**" (सायण)। इस लेख से प्रतीत होता है कि सायणाचार्य भी त्रिषन्धि को चेतन तत्त्व मानता है, केवल जड़ वज्र नहीं।

अमित्रान्) हमारे शत्रुओं को (विविध्यताम्) विशेषतया बींधें। (यथा) जिस प्रकार की (वृत्रहन्) हे आवरण डाले हुए अर्थात् घेरा डाले हुए शत्रुओं का हनन करने वाले! (शचीपते) राष्ट्रिय कर्मों के स्वामी (इन्द्र) हे सम्राट्! (एषाम् अमित्राणाम्) इन शत्रुओं के (सहस्रशः) हजार-हजार सैनिकों को (हनाम) हम एक दम मारें।

[हजार-हजार शत्रुओं को एक-एक उद्योग में मारने के लिए अधिक शक्ति की आवश्यकता है। इसलिए न्युर्बुदि के स्थान में ''त्रिषन्धि'' सेनासंचालक का वर्णन हुआ। परस्पर सन्धि में बन्धे तीन राष्ट्रों के प्रतिनिधित्वरूप सेनासंचालक को ''त्रिषन्धि'' कहा है। ये तीन राष्ट्र हैं। (१) स्वराष्ट्र, (२) मित्रराष्ट्र, (३) मित्र के मित्र का राष्ट्र। इन तीनों की परस्पर सन्धि, त्रिषन्धि है। इस त्रिषन्धि के प्रतिनिधि को भी मन्त्र में त्रिषंन्धि कहा है। त्रिषन्धि की व्याख्या (११.१०.२) में विशेष की गई है।

ऋषिः—**काङ्कायनः** ॥ देवता—**अर्बुदिः** ॥ छन्दः—**सप्तपदा शक्वरी** ॥

वनस्पतीन्वानस्पत्यानोषधीरुत वीरुधः।
गन्धर्वाप्सरसः सर्पान्देवान्पुण्यजनान्पितॄन्।
सर्वांस्ताँ अर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च प्र दर्शय॥ २४॥

अर्थ—(वनस्पतीन्) निज राष्ट्र की वनस्पतियों को, (वानस्पत्यान्) वनस्पतियों के फलों को, (ओषधीः) ओषधियों तथा व्रीहि-यव आदि को, (उत) और (वीरुधः) लताओं को, (गन्धर्वाप्सरसः) पृथिवी-पतियों और अन्तरिक्ष में सरण करने वाले सैनिकों को, (सर्पान्) सर्पसदृश विष प्रयोक्ताओं को, (देवान्) तथा शत्रुओं के विद्वानों को, (पुण्यजनान्) उनके पुण्यात्मा महात्माओं को, (पितॄन्) उनके माता-पिताओं को, (तान् सर्वान्) उन सबको [उपस्थित करके] (अर्बुदे) हे अर्बुदि! (त्वम्) तू (अमित्रेभ्यः दृशे) अमित्रों के लिए दृष्टिगोचर (कुरु) कर, (उदारान् च) और उस समय उदार भावों को भी (प्रदर्शय) प्रदर्शित कर।

[मन्त्र २३ में हजार-हजार सैनिकों को एक बार में मार देने का वर्णन हुआ है। यह दो प्रकार से सम्भव है। (१) तीन राष्ट्र मिलकर बढ़ी हुई शक्ति के द्वारा यह कार्य कर सकें; या (२) त्रिषन्धिवज्र इतना घातकवज्र हो कि इसके प्रयोग द्वारा हजारों सैनिक एक बार में मारे जा सकें।

मन्त्र २३ के अनुसार शत्रुओं के हजार-हजार सैनिकों के एक बार मारे जाने पर यह सम्भावना हो सकती है कि शत्रुपक्ष युद्ध से उपरत होने को तैयार हो जाए। ऐसी अवस्था में अर्बुदि, शत्रुपक्ष के बुजुर्गों और शान्तिप्रिय सज्जनों को आमन्त्रित कर, उन्हें शत्रुपक्ष के सैनिकों के संमुख उपस्थित कर, उन द्वारा युद्धशान्ति के लिए शत्रु सेना को प्रेरित करे, और साथ ही उदार भावों को भी प्रकट करे। साथ ही यह कहे कि शान्ति की अवस्था में हमारा राष्ट्र वनस्पतियों आदि के कारण कितना हरा भरा है। युद्धशान्ति पर तुम्हारा राष्ट्र भी ऐसा हरा-भरा हो जाएगा]।

शत्रु पर विजय पा लेने के पश्चात् शत्रुराष्ट्र में शासन के लिए त्रिषन्धि, निज उदार अधिकारियों के नाम आमन्त्रितों के समक्ष उपस्थित करता है। यथा—

ऋषिः—काङ्कायनः ॥ देवता—अर्बुदिः ॥ छन्दः—सप्तपदा शक्वरी ॥

ईशां वो मरुतो देव आदित्यो ब्रह्मणस्पतिः।
ईशां व इन्द्रश्चाग्निश्च धाता मित्रः प्रजापतिः।
ईशां व ऋषयश्चक्रुरमित्रेषु समीक्षयन्नदिते अर्बुदे तव॥ २५॥

अर्थ—(मरुतः) हमारे सैनिक (वः) तुम्हारे राष्ट्र पर (ईशां चक्रुः) शासन करें, (देवः आदित्यः) दिव्य आदित्य ब्रह्मचारी जैसा व्यक्ति, तथा (ब्रह्मणस्पतिः) वैदिक विद्वान् शासन करे। (इन्द्रः) हमारा सम्राट् (च अग्निः) और हमारे राष्ट्र का अग्रणी प्रधानमन्त्री, (धाता) धारण-पोषण कर सकने वाला व्यक्ति, (मित्रः) तथा तुम्हारे साथ मित्र बन कर रहने वाला, (प्रजापतिः) तथा तुम्हारी प्रजा की रक्षा करने वाला (वः) तुम्हारे राष्ट्र पर (ईशाम् चक्रुः) शासन करें। (वः) तुम्हारे राष्ट्र पर (ऋषयः) ऋषि लोग (ईशाम् चक्रुः) शासन करें, (अर्बुदे) हे शत्रुघातक सेनापति! (तव रदिते) तुझ द्वारा शत्रुओं के कट जाने पर, (समीक्षयन्) तू इस व्यवस्था का समीक्षण करता रह, अर्थात् सम्यक् प्रकार से निरीक्षण और प्रबन्ध करता रह।

[मरुतः=सैनिक। यथा "**यूयमुग्रा मरुत ईदृशे स्थाभिप्रेत मृणत सहध्वम्**" (अथर्व० ३.१.२), अर्थात् हे उग्रमरुतो! तुम ऐसे कर्म करने वाले हो, शत्रु की ओर जाओ, मारो और पराभव करो"। आदित्य ब्रह्मचारी तथा वैदिक विद्वान् तुम्हारे राष्ट्र में सदाचार और वैदिक शिक्षा के लिए हों। ऋषयः=ऋषि कोटि के लोग पक्षपाती तथा अत्याचार करने वाले नहीं होते, ऐसे व्यक्तियों की देख भाल में तुम्हारे राष्ट्र का प्रबन्ध चले। विजित राष्ट्र के शासन में यह कितना ऊँचा और सहानुभूतिपूर्ण आदर्श है।]

ऋषिः—काङ्कायनः ॥ देवता—अर्बुदिः ॥ छन्दः—पथ्या पङ्क्तिः ॥

तेषां सर्वेषामीशाना उत्तिष्ठत सं नह्यध्वं मित्रा देवजना यूयम्।
इमं संग्रामं संजित्य यथालोकं वि तिष्ठध्वम्॥ २६॥

अर्थ—(मित्राः, देवजनाः) हे मैत्री पूर्वक व्यवहार करने वाले दिव्यजनो! (यूयम्) तुम (तेषां सर्वेषाम्) पराजित हुए उन सब लोगों पर (ईशानाः) शासन करने वाले हो, (उत्तिष्ठत) उठो, (संनह्यध्वम्) अपना अपना सामान बाँध कर तैयार हो जाओ। (इमं संग्रामम्) इस युद्ध को (संजित्य) जीत कर (यथालोकम्) नियत किये स्थानों में (वि तिष्ठध्वम्) अलग-अलग जा बैठो।

[त्रिषन्धि, नियत-किये अपने अधिकारियों को कहता है कि तैयारी करो, और पराजित राष्ट्र में अपने-अपने नियत किये स्थानों में जा बैठो, और मैत्री पूर्वक तथा दिव्यभावनाओं के साथ उन पर शासन करो]।

सूक्त १०

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—त्रिषन्धिः ॥ छन्दः—*विराट् पथ्याबृहती ॥

उत्तिष्ठत सं नह्यध्वमुदाराः केतुभिः सह।
सर्पा इतरजना रक्षांस्यमित्राननु धावत॥ १॥

अर्थ—(उदाराः) हे उदार सैनिको! (उत्तिष्ठत) उठो (केतुभिः सह) झण्डों के साथ। (संनह्यध्वम्) कवचादि बाँध कर तैयार हो जाओ। (सर्पाः) हे सर्पवत् विष प्रयोग करने वालो! (इतरजनाः) हे तत्सदृश

अन्यजनो!, (रक्षांसि) तथा राक्षसी स्वभाव वालो! (अमित्रान् अनु धावत) शत्रुओं का पीछा करो।

[उदाराः=**औदार्यगुणोपेताः** (सायण) सूक्त ९ के मन्त्र २५, २६ से युद्ध-समाप्ति प्रतीत होती है। यदि युद्ध की समाप्ति के पश्चात् शत्रु पक्ष पुनः युद्धोद्यत हो जाए, या कोई नया युद्ध उपस्थित हो जाए, तो ऐसे युद्ध का वर्णन सूक्त १० में जानना चाहिए]।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**त्रिषन्धिः** ॥ छन्दः—**षट्पदा त्रिष्टुब्गर्भाऽतिजगती** ॥

ईशां वो वेद राज्यं त्रिषन्धे अरुणैः केतुभिः सह।
ये अन्तरिक्षे ये दिवि पृथिव्यां ये च मानवाः।
त्रिषन्धेस्ते चेतसि दुर्णामान उपासताम्॥ २॥

अर्थ—सम्राट् कहता है कि हे शत्रुओ! (वः) तुम्हारी (ईशाम्) शासनपद्धति को, तथा (राज्यम्) राज्य को (वेद) त्रिषन्धि जानता है, (त्रिषन्धे) हे त्रिषन्धि[1]! (अरुणैः केतुभिः सह) लाल झण्डों के साथ [उत्तिष्ठ[1]] उठ। (ये अन्तरिक्षे) जो अन्तरिक्ष में, (ये दिवि) जो द्युलोक में, (च ये पृथिव्याम्) और जो पृथिवी में (दुर्णामानाः मानवाः) बदनाम मनुष्य हैं (ते) वे (त्रिषन्धेः चेतसि) त्रिषन्धि के चित्त में (उपासताम्) स्थित रहें, अर्थात् त्रिषन्धि के मन में रहें।

[लाल झण्डे खून की निशानी हैं, जिन द्वारा यह दर्शाया है कि खूनी युद्ध होने वाला है। अन्तरिक्ष में मानव, वायुयानों वाले सैनिक हैं। पृथिवी के मानव तो प्रसिद्ध ही हैं। वेद की दृष्टि में द्युलोक में भी मानव सदृश सृष्टि है। महर्षि दयानन्द की दृष्टि में "ये सब भूगोल, लोक और इनमें मनुष्यादि प्रजा भी रहती हैं। जब पृथिवी के समान सूर्य, चन्द्र और नक्षत्र, वसु हैं, पश्चात् उनमें इसी प्रकार प्रजा के होने में क्या सन्देह। असंख्य लोकों में मनुष्यादि सृष्टि नहीं, तो क्या......परमेश्वर का काम सफल कभी हो सकता है। इसलिए सर्वत्र मनुष्यादि सृष्टि है। जिस जाति की जैसी सृष्टि इस देश में है वैसी जाति की ही सृष्टि अन्य लोकों में भी है" (सत्यार्थप्रकाश, अष्टम समुल्लास, पृ० ३६० सन्दर्भ ५-२० रामलाल कपूर ट्रस्ट)। तथा महर्षि ने यह भी माना है कि जैसे वेदों का इस लोक में प्रकाश है उन्हीं का उन लोकों में भी प्रकाश है"। इस लोक से यह सूचित होता है कि लोक लोकान्तरों में भी अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के मनुष्य हैं; तभी तो वेदों की सत्ता लोकों में प्रयोजनवती हो सकती है। इन दूरवर्ती दुर्णाम-प्रजाओं के साथ, मानव सैनिकों द्वारा युद्ध सम्भव है—यह विचारणीय है। अथवा वर्तमान काल में हम देखते हैं कि अमरीका और एशिया द्वारा ऐसे Rockets तथा missiles आकाश में छोड़े गये हैं जो कि सूर्य को भी पार कर आगे-आगे बढ़ते जा रहे हैं। यद्यपि इनमें मनुष्य नहीं, तो भी कभी ऐसा समय आ सकता है जब कि इन Rockets में मनुष्यों को भी इतनी दूरी तक भेजा जा सके। चाँद तक तो इन वायुयानों में मनुष्य पहुँच ही चुके हैं, जिनका पहुँचना असम्भव समझा जाता था। और समाचार पत्रों द्वारा यह भी ज्ञात हुआ है कि चाँद में जमीन खरीदने तक की चर्चा भी हुई है। महर्षि दयानन्द की दृष्टि में जब इन लोक लोकान्तरों में भी मानुष-सृष्टि है तो इनमें रहने वाले दुर्णाम-प्रजा के साथ युद्ध की सम्भावना भी किसी समय वास्तविक हो सकती है। वेद तो वर्तमान, भूत तथा भविष्यत् की घटनाओं का भी वर्णन करते हैं।]

---

१. मन्त्र ११.९.२३ से अर्बुदि और त्रिषन्धि का वर्णन हुआ है जो कि ११.१०.१-२७ के मन्त्रों में स्थान-स्थान पर भी वर्णित है। ११.९.२३ से पूर्व के मन्त्रों में अर्बुदि और न्यर्बुदि का ही वर्णन हुआ है, त्रिषन्धि का नहीं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**त्रिषन्धिः** ॥ छन्दः—**विराडास्तारपङ्क्तिः** ॥

अयोमुखाः सूचीमुखा अथो विकङ्कतीमुखाः।

क्रव्यादो वातरंहस आ सजन्त्वमित्रान्वज्रेण त्रिषन्धिना॥ ३॥

अर्थ—(अयोमुखाः) जिनके मुख अर्थात् अग्र भाग में लोहा लगा है ऐसे बाण, (सूचिमुखाः) मुख अर्थात् अग्रभाग में सूची सदृश पैने नोकों वाले बाण, (अथो) तथा (विकङ्कतीमुखाः) विशेष प्रकार की कङ्घी के सदृश नाना पैने मुखों वाले बाण—(क्रव्यादः) शत्रुओं के कच्चे मांसों को मानो खाने वाले ये बाण, (वातरंहसः) तथा वायु के वेग वाले ये बाण, (अमित्रान्) शत्रुओं को (आसजन्तु) आ लगें, (त्रिषन्धिना[1] वज्रेण) वज्ररूप त्रिषन्धि नामक सेनाधिपति द्वारा प्रेरित हुए।

[कङ्कती=A comb nair comb (आप्ट)]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**त्रिषन्धिः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्**॥

अन्तर्धेहि जातवेद आदित्य कुणपं बहु। त्रिषन्धेरियं सेना सुहितास्तु मे वशे॥ ४॥

अर्थ—(जातवेदः) हे उत्पन्न संग्राम की विद्या को जानने वाले! (आदित्य) हे शत्रुओं का आदान करने वाले, उन्हें पकड़ने वाले अर्बुदि! (बहु कुणपम्) शत्रुओं के बहुसंख्यक मृत शरीरों को (अन्तः) भूमि के अन्दर (धेहि) गाड़ दे। (त्रिषन्धेः इयं सेना) त्रिषन्धि की यह सेना (मे) मुझ सम्राट् के लिए (सुहिता अस्तु) उत्तम हित करने वाली हो, तथा (वशे) मेरे वश में हो।

[जातवेदः=जातसंग्रामस्य वेदितः। आदित्य="**आदत्ते**" इति (निरुक्त २.४.१३)। तथा अथर्व० ११.९.३ में "**आदानसन्दानाभ्याम्**" द्वारा शत्रु के आदान अर्थात् पकड़ने, तथा उसे बाँधने का वर्णन हुआ है। सम्राट् त्रिषन्धि को कहता है—निज सेना के साथ प्रेम से वर्ताव करना जिससे सेना मेरे वश में रहे, और मेरे लिए उत्तम हितकारिणी हो। कहीं युद्ध में बलवा या युद्धबन्दी न कर दे] सुहिता=अथवा सुपुष्टा=सु+धा (धारणपोषणयोः)+हि (**दधातेर्हिः**; अष्टा ७.४.४२)]।

१. ११.१०.१-२७ में भी कहीं-कहीं न्यर्बुदि का वर्णन हुआ है (देखो मन्त्र २०, २१), परन्तु त्रिषन्धि के सहायक रूप में ही। ११.९.२३ में दर्शाया जा चुका है कि त्रिषन्धि कोई शस्त्रास्त्र विशेष नहीं, अपितु शत्रु सेना के साथ युद्ध के लिए "तीन राष्ट्रों में पारस्परिक सन्धिरूप" है। इस सन्धि को मन्त्र (९.२५) में "सन्धा" कहा है। सन्धा और सन्धि समानार्थक हैं। सन्धा=Union, association, intimate, union, agreement, promise (आप्टे)। इस त्रिषन्धि को "युद्धसमिति" कह सकते हैं (military alliance या war alliance) । मन्त्रों में त्रिषन्धि के वर्णन से प्रतीत होता है कि त्रिषन्धि चेतन पुरुष है, कोई जड़ शस्त्रास्त्र नहीं। घोर युद्ध लड़ने के लिए "सन्धिबद्ध तीन मित्र राष्ट्रों के प्रतिनिधिरूप में त्रिषन्धि, सेनासंचालक आफिसर है। त्रिषन्धि अर्थात् युद्ध-समिति के प्रतिनिधि होने के कारण इसे त्रिषन्धि कहा है। इसीलिए "त्रिष-धरियं सेना" (४), तथा "त्रिषन्धेः सेनया" (६, ७) में सेना को त्रिषन्धि-सम्बन्धी कहा है। मन्त्र (३, २७) में "वज्रेण त्रिषन्धिना" द्वारा त्रिषन्धि को वज्र कहा है। "शक्तिशाली तीन राष्ट्रों का प्रतिनिधि होने के कारण "त्रिषन्धि" जड़ वज्र सदृश महती शक्ति है, इसलिए त्रिषन्धि को वज्ररूपता दी गई है। गीता १०.२८ में आयुधों में वज्र के सदृश महासंहारी होने के कारण श्री कृष्ण ने "**आयुधानामहं वज्रम्**" द्वारा अपने-आप को वज्र कहा है। इसी प्रकार (३, २७) में त्रिषन्धिनामक सेना-संचालक को वज्र कहा है। शस्त्रास्त्र आदि शब्दों का गौणरूप में प्रयोग अन्यत्र भी हुआ है यथा "**असङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्वा**" (गीता) में असङ्ग अर्थात् अनाशक्ति को "दृढ़ शस्त्र" कहा है। तथा मुण्डक उपनिषद् में प्रणव को धनुः (मुण्डक २, खण्ड २, सन्दर्भ ४) कहा, तथा मुण्डक (२.२.३) में प्रणव धनुः को महास्त्र कहा है। तथा "**शरो ह्यात्मा**" द्वारा मुण्डक में जीवात्मा को शर अर्थात् बाण कहा है]।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**त्रिषन्धिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

उत्तिष्ठ त्वं देवजनार्बुदे सेनया सह। अयं बलिर्व आहुतस्त्रिषन्धेराहुतिः प्रिया॥ ५॥

अर्थ—(देवजन अर्बुदे) हे विजिगीषु[1] जन! शत्रुघातक सेनापति! (त्वम्) तू (उत्तिष्ठ) उठ (सेनया सह) निज सेना के साथ। (वः) तुम सब की (अयं बलिः) यह बलि अर्थात् आत्मसमर्पण (आहुतः) युद्धाग्नि में आहुतिरूप हुआ है। (आहुतिः) यह आहुति (त्रिषन्धेः) तुम्हारे सेनासंचालक को (प्रिया) प्रिय है, अभीष्ट है।

[मन्त्रवर्णन से प्रतीत होता है कि युद्ध में साक्षात् युद्ध करने वाला अर्बुदि है। त्रिषन्धि सेना का संचालक है]।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**त्रिषन्धिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शितिपदी सं द्यतु शरव्ये३यं चतुष्पदी।

कृत्येमित्रेभ्यो भव त्रिषन्धेः सह सेनया॥ ६॥

अर्थ—(शितिपदी) काले लोहे के पैरों वाली, (चतुष्पदी) चार पैरों वाली (इयम् शरव्या) यह शरव्या (सं द्यतु) सम्यक् प्रकार के शत्रु का क्षय करे। (कृत्ये) हे शत्रुदल का छेदन करने वाली शरव्ये! (अमित्रेभ्यः भव) शत्रुओं के [संहार के] लिए तू हो, (त्रिषन्धेः सेनया सह) त्रिषन्धि की सेना के साथ।

[शिति=शुक्ल तथा कृष्ण। मन्त्र में कृष्ण अर्थ अभिप्रेत है। शरव्या के चार पैर अर्थात् पहिये हों, जोकि कृष्णायस् अर्थात् काले लोहे के हों। शरव्या द्वारा शत्रु को शरों द्वारा घेरा जाता है। शरव्या=शर (बाण)+**व्येञ् संवरणे**। सायणाचार्य ने शरव्या का अर्थ किया है "**शरसमूहः**" "**पाशादिभ्यो यः**" (अष्टा० ४.२.४९) इति समूहार्थे यः) कृत्या=**कृती छेदने**। संद्यतु=सम्+**दीङ् क्षये**। त्रिषन्धि की सेना के साथ, शरव्या युद्ध भूमि में चलती है, अतः इसके चार पैरों अर्थात् पहियों का वर्णन हुआ है। शरव्या चार पैरों वाली तोप प्रतीत होती है]।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**त्रिषन्धिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

धूमाक्षी सं पततु कृधुकर्णी च क्रोशतु।

त्रिषन्धेः सेनया जिते अरुणाः सन्तु केतवः॥ ७॥

अर्थ—(धूमाक्षी) धूमपीड़ित आँखों वाली शत्रुसेना (संपततु) पृथिवी पर गिर पड़े, (च कृधुकर्णी) और चिल्लाहट तथा शोर द्वारा कटे कानों वाली अर्थात् बहरे कानों वाली होकर (क्रोशतु) चिल्लाए। (त्रिषन्धेः सेनया जिते) त्रिषन्धि की सेना द्वारा विजय पाने पर (अरुणाः केतवः सन्तु) शत्रु के राज्य में हमारे लाल झंडे लहराएँ।

[धूमाक्षी="**धूमेन आवृतानि अक्षीणी यस्याः**" (सायण) कृधुकर्णी=अल्पश्रोत्रा, "**पटहध्वनिना हतश्रवणसामर्थ्या**" (सायण)। अरुणाः=**रुधिरेणाक्ताः अरुणवर्णाः** (सायण)। वस्तुतः झण्डों का अरुण वर्ण घोर युद्ध में प्रस्रवित रक्त-खून का द्योतक है]।

---

१. देवः=विजिगीषु; दिवु क्रीडा-विजिगीषा-व्यवहार आदि।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**त्रिषन्धिः** ॥ छन्दः—**विराट् त्रिष्टुप्**॥

अवायन्तां पक्षिणो ये वयांस्यन्तरिक्षे दिवि ये चरन्ति।

श्वापदो मक्षिकाः सं रभन्तामामादो गृध्राः कुणपे रदन्ताम्॥ ८॥

अर्थ—(ये) जो (वयांसि पक्षिणः) कौवे तथा अन्य पक्षी हैं, (ये) जोकि (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में (दिवि) दिन के समय (चरन्ति) विचरते हैं, वे (अवायन्ताम्) शव भक्षणार्थ नीचे आएँ। (श्वापदः) कुत्तों के सदृश पैरों वाले हिंस्रपशु, (मक्षिकाः) तथा मक्खियाँ (संरभन्ताम्) मिलकर खाना आरम्भ करें। (आमादः गृध्राः) कच्चा मांस खाने वाले गीध (कुणपे) शव पर (रदन्ताम्) चीर-फाड़ करें।

[संरभन्ताम्=अथवा खाने के लिए तीव्र वेग वाले हों। दिवि=दिन में। **दिवेदिवे अहर्नाम** (निघं० १.९)। रदन्ताम्=**रद विलेखने**]।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**त्रिषन्धिः** ॥ छन्दः—**पुरोविराट् पुरस्ताज्ज्योतिस्त्रिष्टुप्**॥

यामिन्द्रेण संधां समधत्था ब्रह्मणा च बृहस्पते।

तयाहमिन्द्रसंधया सर्वान्देवानिह हुव इतो जयत मामुतः॥ ९॥

अर्थ—(बृहस्पते) हे सेना के अधिपति त्रिषन्धि! तूने (इन्द्रेण) मुझ सम्राट् के साथ (च) और (ब्रह्मणा) हमारे महामन्त्री के साथ (याम्) जिस (संधाम्) सन्धि को किया है, (तया) उस (इन्द्रसंधया) "इन्द्रसन्धि के द्वारा (अहम्) मैं इन्द्र (सर्वान् देवान्) सन्धि वाले तीन राष्ट्रों के सब विजिगीषु योद्धाओं को (इह) इस युद्ध में (हुवे) बुलाता हूँ, और उन्हें कहता हूं कि (इतः जयत) इस ओर से विजय प्राप्त करो, (अमुतः मा) उस शत्रु पक्ष से नहीं, अर्थात् शत्रु के साथ मिलकर उनकी विजय न कराना। अथवा देखो मन्त्र (१४) की व्याख्या।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**त्रिषन्धिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

बृहस्पतिराङ्गिरस ऋषयो ब्रह्मसंशिताः। असुरक्षयणं वधं त्रिषंधिं दिव्याश्रयन्॥ १०॥

अर्थ—(आङ्गिरसः) युद्धविद्या के अङ्गों के सार को जानने वाले (बृहस्पतिः) महती सेना के अधिपति हमारे सेनाधीश ने तथा (ब्रह्मसंशिताः) वेद विद्या में निष्णात (ऋषयः) हमारे ऋषियों ने, (असुरक्षयणम्) प्राणपोषी तथा धनलुब्ध शत्रुओं के क्षयकारी, (वधम् त्रिषन्धिम्) घातक आयुधरूपी त्रिषन्धि को (दिवि) विजिगीषा के निमित्त (आश्रयन्) आश्रय रूप में ग्रहण किया है।

[ब्रह्म संशिताः=**ब्रह्मणा मन्त्रेण स्वभ्यस्तेन तीक्ष्णीकृताः** (सायण) संशिताः=Accomplished (आप्टे)। असुरः=**असुः प्राणनाम** (निरुक्त ३.२.८) तथा **असुरत्वमादिलुप्तम्** असु के आदि में "व" का लोप हुआ है, अतः असु=**वसु** अर्थात् धन (निरुक्त १०.३.३४)। दिवि=दिव् विजिगीषा+निमित्त सप्तमी। त्रिषन्धि अर्थात् सेना संचालक आफिसर, उग्र आयुधरूप है (देखो मन्त्र २ की टिप्पणी)]।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**त्रिषन्धिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

येनासौ गुप्त आदित्य उभाविन्द्रश्च तिष्ठतः।

त्रिषन्धिं देवा अभजन्तौजसे च बलाय च॥ ११॥

अर्थ—(येन) जिस त्रिषन्धि द्वारा (गुप्तः) सुरक्षित हुआ (असौ) वह पूर्वोक्त (आदित्यः) शत्रुओं को पकड़ने वाला अर्बुदि (४), (इन्द्रः च) और सुरक्षित हुआ सम्राट्, (उभौ) ये दोनों, (तिष्ठतः) अपने-

अपने स्थानों में स्थिति बनाए रखते हैं, (त्रिषन्धिम्) उस त्रिषन्धिनामक सेनासंचालन की (देवाः) राष्ट्रिय सब दिव्यजन (अभजन्त) सेवा करते हैं, (ओजसे च बलाय च) राष्ट्रिय ओज और बल की सुरक्षा के लिए।

[अभजन्त=**भज सेवायाम्**। ओजः=**उब्ज आर्जवे**। राष्ट्रिय ओजः वह सामर्थ्य है जिसके होते परराष्ट्र आक्रमण के लिए साहस नहीं कर सकता। और ऋजु बना रहता है। बल=कोशबल और सैनिक बल, प्रजाजन बल आदि]।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**त्रिषन्धिः** ॥ छन्दः—**१२ पञ्चपदा पथ्या पङ्क्तिः, १३ षट्पदा जगती** ॥

सर्वाँल्लोकान्त्समजयन्देवा आहुत्यानया।

बृहस्पतिराङ्गिरसो वज्रं यमसिञ्चतासुरक्षयणं वधम्॥ १२॥

बृहस्पतिराङ्गिरसो वज्रं यमसिञ्चतासुरक्षयणं वधम्।

तेनाहममूं सेनां नि लिम्पामि बृहस्पतेमित्रान्हन्म्योजसा॥ १३॥

अर्थ—(देवाः) विजिगीषु योद्धाओं ने (अनया आहुत्या) संग्रामाग्नि में इस निज आहुति द्वारा, समर्पण द्वारा (सर्वान् लोकान्) सब लोकों को (समजयन्) मिल कर या सम्यक् प्रकार से जीता है। (आङ्गिरसः) युद्ध विद्या के अङ्गों के सार को जानने वाले (बृहस्पतिः) महती सेना के अधिपति त्रिषन्धि ने, (यम्) जिस (असुरक्षयणं वधम्) असुरों के क्षय करने वाले तथा वध करने वाले (वज्रम्) वज्र को (असिञ्चत) सींचा है॥ १२॥

बृहस्पति आङ्गिरस ने जिस असुरों के क्षय करने वाले तथा वध करने वाले वज्र को सींचा है (मन्त्र १२ का उत्तरार्ध) (तेन) उस वज्र द्वारा (अहम्) मैं अर्बुदि, (अमूं सेनाम्) उस सेना को (निलिम्पामि) नितरां अर्थात् पूर्णतया लीपता हूँ, और (बृहस्पतेः अमित्रान्) बृहस्पति अर्थात् त्रिषन्धि के शत्रुओं को (ओजसा) पराक्रम द्वारा (हन्मि) मार डालता हूँ॥ १३॥

[आहुत्या=योद्धाओं के निज शरीरों की आहुति। वज्रम् असिञ्चत=यह वज्र द्रवरूप प्रतीत होता है "असिञ्चत" के प्रयोग द्वारा। सींचना द्रव द्वारा सम्भव है, ठोस वस्तु द्वारा नहीं। यह रासायनिक-द्रव या जल सम्भव है। बृहस्पति द्वारा आज्ञापित अर्बुदि ने, प्रथम द्रव का प्रयोग किया, तदनन्तर या तो इस द्रवरूपी ओज द्वारा, या सींचने के पश्चात् निज पराक्रम रूपी ओज द्वारा, उसने शत्रुओं का वध किया। असुर=प्राण पोषण तत्पर और धनलोभी शत्रुगण। द्रव का सींचना किसी मशीन द्वारा ही सम्भव है। संस्कृत साहित्य में "वारुणास्त्र" का भी वर्णन हुआ है, जिस द्वारा जल सींचा जाता है। द्रव-आयुध सम्भवतः जल की वर्षा करना हो]।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**त्रिषन्धिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सर्वे देवा अत्यायन्ति ये अश्नन्ति वषट्कृतम्।

इमां जुषध्वमाहुतिमितो जयत मामुतः॥ १४॥

अर्थ—(सर्वे) सब (देवाः) विजिगीषु-सैन्याधिकारी, (अति) निज स्थानों को छोड़ कर, (आयन्ति) युद्धार्थ आते हैं, (ये) जोकि (वषट्-कृतम्) राष्ट्र रक्षा-यज्ञ में "वषट्" शब्दोच्चारण पूर्वक दी गई आहुति का (अश्नन्ति) भोजन करते हैं। हे सैन्याधिकारी-देवो! (इमाम् आहुतिम्) इस आहुति का (जुषध्वम्)

प्रीतिपूर्वक सेवन करो, (इतः) इधर से अर्थात् अपनी राष्ट्र भूमि की ओर से (जयत) विजय प्राप्त करो, (अमुतः) उस शत्रु की भूमि की ओर से (मा) नहीं।

[देवाः=विजिगीषु, सैन्यविभागों के अधिकारी, "दिवु क्रीडा विजिगीषा व्यवहार आदि"।

वषट्कृतमश्नन्ति=यज्ञों में याज्या मन्त्र के अन्त में "वषट्" शब्द का उच्चारण कर आहुति दी जाती है, अग्निहोत्र आदि में "स्वाहा" का उच्चारण करके आहुति दी जाती है। अभिप्राय यह कि जो सैन्य विभागाधिकारी अल्प वेतन लेकर अपना निर्वाह करते हैं, जितने परिमाण की आहुति यज्ञाग्नि में दी जाती है अर्थात् जोकि राष्ट्रसेवा करने में धनार्जन की भावना से प्रेरित नहीं होते, वे इस युद्ध के निमित्त आवें।

मा, अमुतः=शत्रुराष्ट्र की भूमि में घुस कर उधर से, और अपने राष्ट्र की भूमि से, अर्थात् दोनों ओर से, शत्रु को घेर कर युद्ध करने का निषेध किया है। शत्रुराष्ट्र की भूमि में युद्ध के समय घुसने पर अपनी प्रविष्ट हुई सेना के घिर जाने की आशङ्का रहती है। तथा देखो मन्त्र (९)।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—त्रिषन्धिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

सर्वे देवा अत्यायन्तु त्रिषन्धेराहुतिः प्रिया।

संधां महतीं रक्षत ययाग्रे असुरा जिताः ॥ १५ ॥

अर्थ—(सर्वे देवाः) सब देव (१४), (अति) निज, स्थानों को छोड़कर, (आयन्तु) युद्धार्थ आ जाएँ, (त्रिषन्धेः) तीन राष्ट्रों के प्रतिनिधिरूप-सेना संचालक को (आहुतिः) युद्ध की यज्ञाग्नि में सब को अपनी आहुति देना (प्रिया) प्रिय है, अभीष्ट है। (महतीं सन्धाम्) तीनों राष्ट्रों की महतीसन्धि की (रक्षत) रक्षा करो, (यया) जिस महती सन्धि द्वारा (अग्रे) पहिले[1] भी (असुराः जिताः) असुरों पर विजय पाई है।

[महतीं संधाम्=तीन राष्ट्रों ने मिल कर प्रतीक्षा की है कि हम मिलकर असुरों पर विजय पाएँगे, इस प्रतिज्ञा की रक्षा करो, और इसकी रक्षा के लिए अपनी-अपनी आहुति दो।

आगे असुराः=अथवा "सेना के आगे युद्धार्थ आने वाले शत्रु असुर" अग्रे=In front of; at the head (आप्टे),] अर्थात् जो आसुरी सेना के अग्रभाग में स्थित होकर युद्ध करें। ऐसे योद्धाओं को यजुर्वेद में "मरुतः" कहा है। मरुतः जोकि मारने में सिद्धहस्त हों और स्वयं की मृत्यु से भयभीत न हों। यथा "**इन्द्र[2] आसां नेता बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञः पुर एतु सोमः। देवसेनानामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम्**॥ यजुः० १७.४०॥" **मरुतः यन्तु अग्रम्**—ये शब्द विशेष ध्यान के योग्य हैं। मरुत्=**म्रियते मारयति वा स मरुत्, मनुष्यजातिः** (उणा० १.९४, महर्षि दयानन्द)]।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—त्रिषन्धिः ॥ छन्दः—षट्पदा ककुम्मत्यनुष्टुप् त्रिष्टुब्गर्भा शक्वरी ॥

वायुरमित्राणामिष्वग्राण्याञ्चतु। इन्द्र एषां बाहून्प्रति भनक्तु मा शकन्प्रतिधामिषुम्।

आदित्य एषामस्त्रं वि नाशयतु चन्द्रमा युतामगतस्य पन्थाम् ॥ १६ ॥

---

१. अथर्व० ११.९.२६ में "संजित्य" शब्द के अनुसार देव विजय पहिले पा चुके हैं। ११.१०.१ से युद्ध पुनः आरम्भ हुआ है।

२. इन्द्रः=सम्राट् "**इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा**" (यजुः० ८.३७) बृहस्पतिः=बृहती सेना तस्याः पतिः। यज्ञः=यज् संगतिकरणे। **शत्रुसेनया सह युद्धार्थं स्वसेनायाः संगमकर्त्ता सेनाध्यक्षः**। सोमः=सेनाप्रेरकः (षू प्रेरणे)। देवसेना= **विजिगीषूणां स्वसैनिकानां सेना**।

अर्थ—(वायुः) वायुयानाध्यक्ष (अमित्राणाम्) शत्रुओं के (इष्वग्राणि) इषुओं के अग्रभागों को (आ अञ्चतु) पूर्णतया कुण्ठित कर दे; (इन्द्रः)[१] सम्राट् (एषाम्) इनमें से (प्रति) प्रत्येक की (बाहून्) बाहुओं को (भनक्तु) तोड़ दे, ताकि ये (इषुम्) बाण को (प्रतिधाम्) धनुष पर रखने को (मा शकन्) सशक्त न हो सकें, (आदित्यः) आदान करने वाला अर्बुदि (एषाम्) इनके (अस्त्रम्) अस्त्रागार को (विनाशयतु) विनष्ट कर दे, (चन्द्रमाः) चन्द्रमा के सदृश शीत स्वभाव वाला सेनाधिकारी (अगतस्य) जो अभी अपने राष्ट्र में वापिस नहीं गये उनके (पन्थाम्) मार्ग को (युताम्) खोल दे।

[वायुः=वायुयानों का अध्यक्ष, वायु से ऐसे अस्त्र फैंके—जैसे कि तामसास्त्र या वारुणास्त्र आदि—जिससे शत्रुओं के इषु कुण्ठित हो जाएँ, मानो कि शत्रुओं के इषुओं के अग्र भाग कुण्ठित हो गये हैं।

इन्द्रः=सम्राट्। सम्राट् की आज्ञानुसार अर्बुदि शत्रुओं की बाहुओं को तोड़ दे, कुटिल कर दे। आदित्यः=शत्रुओं का आदान कर, उन्हें पकड़ कर उन्हें बाँधने वाला अर्बुदि (११.१०.४), इनके अस्त्रागार को विनष्ट कर दे।

चन्द्रमाः=शीतल स्वभाव वाला सेनाध्यक्ष जिस कि चन्द्रमा कहा है, वह उन शत्रु योद्धाओं के लिए, जो कि निज राष्ट्र में वापिस जाना चाहते हैं, मार्ग खोल दे]।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**त्रिषन्धिः** ॥ छन्दः—**पथ्या पङ्क्तिः** ॥

यदि॑ प्रेयुर्दे॒वपु॒रा ब्रह्म॒ वर्मा॑णि चक्रि॒रे।

त॒नू॒पानं॑ परि॒पाणं॑ कृण्वा॒ना यदु॑पोचि॒रे सर्वं॒ तद॑र॒सं कृ॑धि॥ १७॥

अर्थ—(यदि देवपुराः) यदि हम देवों के पुरों अर्थात् नगरों या दुर्गों में (प्रेयुः) शत्रु अर्थात् असुर पहुँच गये हैं, और (ब्रह्म) हमारे धनों और अन्नों को उन्होंने (वर्माणि) अपने कवच रूप में (चक्रिरे) कर लिया है, और (तनूपानम्) अपने देहों की रक्षा तथा (परिपाणम्) सब प्रकार के खान पान को (कृण्वानाः) करते हुए (यद्) जो वे (उप ऊचिरे) गुप्त बातें करते हैं (तत् सर्वम्) उन सब को हे अर्बुदि! तू (अरसम्) रस रहित कर, विफल (कृधि) कर।

[देवपुराः=देव पुर्+टाप् (**टापं चैव हलन्तानाम्**)+द्वि० वि० बहुवचन। तनूपानम्=तनू+पा (रक्षणे)। परिपाणम्=परि+पा (पाने), खाना-पीना। असुर भक्ष्या-भक्ष्य का विचार न कर सब कुछ खाते-पीते हैं। **ब्रह्म=धननाम** (निघं० २.१०); **अन्ननाम** (निघं० २.७)। अरसम्=रस रहित वृक्ष, सुख कर फलविहीन हो जाता है, इसी प्रकार असुरों को विफल कर देना। मन्त्र में त्रिषन्धि, अर्बुदि को आदेश देता है। प्रेयुः=तीन मित्रराष्ट्रों की संयुक्त सेना, त्रिषन्धि के संचालन में, असुरों के साथ युद्ध में व्यापृत है। संयुक्त सेना को भेद कर आसुरी सेना देवपुरों में प्रवेश नहीं पा सकती। युद्धव्यापृत संयुक्त सेना से रहित हुए देवपुरों को जान कर, किसी छद्म प्रकार से किसी मार्ग द्वारा यदि आसुरी सेना देवपुरों में पहुँच गई है तो उस अवस्था का वर्णन मन्त्र में हुआ है]।

---

१. इन्द्रः=सम्राट् "**इन्द्रश्च सम्राट् वरुणश्च राजा**" (यजुः० ८.३७) बृहस्पतिः=बृहती सेना तस्याः पतिः। यज्ञः=यज् संगतिकरणे। **शत्रुसेनया सह युद्धार्थं स्वसेनायाः संगमकर्त्ता सेनाध्यक्षः**। सोमः=सेनाप्रेरकः (षू प्रेरणे)। देवसेना= **विजिगीषूणां स्वसैनिकानां सेना**।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—त्रिषन्धिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

क्रव्यादानुवर्तयन्मृत्युना च पुरोहितम्। त्रिषन्धे प्रेहि सेनया जयामित्रान्प्र पद्यस्व ॥ १८ ॥

अर्थ—(त्रिषन्धे) हे त्रिषन्धि! (क्रव्यादा) शत्रु के कच्चे मांस अर्थात् शरीर को खा जाने वाले आग्नेयास्त्र के साथ, (च) और (मृत्युना) मारक शस्त्रों के साथ, (पुरोहितम्) संमुखस्थ शत्रु का (अनुवर्तयन्) पीछा करता हुआ तू, (सेनया) सेना सहित (प्रेहि) आगे बढ़, (अमित्रान्) अमित्रों को (जय) जीत, (प्र पद्यस्व) आगे कदम बढ़ा।

[सम्राट्, त्रिषन्धि को आज्ञा देता है। **पुरोहितम्=पुरस्तात् स्थितं शत्रुम्** (सायण)। क्रव्याद् श्मशानाग्नि है। आग्नेयास्त्र अग्निरूप हैं।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—त्रिषन्धिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

त्रिषन्धे तमसा त्वममित्रान्परि वारय। पृषदाज्यप्रणुत्तानां मामीषां मोचि कश्चन ॥ १९ ॥

अर्थ—(त्रिषन्धे) हे त्रिषन्धि! (त्वम्) तू (तमसा) तामसास्त्र द्वारा (अमित्रान्) शत्रुओं को (परिवारय) सब ओर से आवृत कर, ढांप, घेर। (पृषदाज्यप्रणुत्तानाम्) दधि, और घृत की आहुतियों द्वारा धकेले गये रोगोत्पादक जीवाणुओं के सदृश, धकेले गये (अमीषाम्) इन शत्रुओं में से (कश्चन) कोई भी (मा मोचि) न छूट पाए।

[तमसा=''**ग्राह्यामित्रान् तमसा विध्य शत्रून्**'' (अथर्व० ३.२.५), अर्थात् तामसास्त्र द्वारा शत्रुओं को बींध। तथा ''**असौ या सेना मरुतः परेषामस्मानैत्यभ्योजसा स्पर्धमाना। तां विध्यत तमसापव्रतेन यथैषामन्यो अन्यं न जानात्** ॥ (अथर्व० ३.२.६), अर्थात् वह जो सेना, हे मरुतः! परायों की, स्पर्धा करती हुई हमारी ओर ओज से आती है उसे बींधो, कार्य से हीन कर देने वाले तमः से, तामसास्त्र से, ताकि इनमें से योद्धा एक-दूसरे को जान-पहचान न पाएँ। मरुतः=सेना के अग्रभाग के योद्धा जो कि शत्रुओं को मार सकने में कुशल हों, और स्वयं मृत्यु से भयभीत न हों। पृषदाज्यप्रणुत्तानाम्=दधि और धृत की आहुतियाँ रोगकीटाणुओं का निराकरण करती हैं]।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—त्रिषन्धिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

शितिपदी सं पतत्वमित्राणाममूः सिचः। मुह्यन्त्वद्यामूः सेना अमित्राणां न्यर्बुदे ॥ २० ॥

अर्थ—(शितिपदी) काले लोहे के पैरों वाली शरव्या (६), (अमित्राणाम्) शत्रुओं की (अमूः सिचः) उन सीमावर्ती सेनाओं पर (संपततु) संपात करे। (न्यर्बुदे) हे न्यर्बुदि! (११.९.४), (अमित्राणाम्) शत्रुओं की (अमूः सेनाः) वे सेनाएँ (अद्य) आज (मुह्यन्तु) कर्त्तव्याकर्त्तव्य विवेक से रहित हो जाएँ।

[शितिपदी=शरव्या, तोप? (६)। न्यर्बुदि (११.९.४)। सिचः (११.९.१८)]।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—त्रिषन्धिः ॥ छन्दः—विराट् पुरस्ताद् बृहती ॥

मूढा अमित्रा न्यर्बुदे जह्येषां वरंवरम्। अनया जहि सेनया ॥ २१ ॥

अर्थ—(न्यर्बुदे) हे न्यर्बुदि! (अमित्राः) शत्रु (मूढाः) मोहग्रस्त अर्थात् कर्त्तव्याकर्त्तव्य ज्ञान शून्य हो गये हैं, संज्ञारहित हो गये हैं, (एषाम्) इनमें से (वरंवरम्) प्रत्येक मुखिया का (जहि) तू हनन कर। (अनया सेनया) इस सेना की सहायता से (जहि) हनन कर।

[अथर्व० ११.९ के मन्त्रों में अर्बुदि तो साक्षात् लड़ने वाला है, और न्यर्बुदि है सेनासंचालक,

सेनाधीश। अथर्व ११.१० के सूक्त में त्रिषन्धि है सेनासंचालक, और अर्बुदि है साक्षात् लड़ने वाला, और मन्त्र २१ में न्यर्बुदि है अर्बुदि का सहायक। वैदिक युद्धनीति में सैनिकों का वध जहाँ तक सम्भव हो अनुमोदित नहीं। मुखियों के हनन का ही विधान किया है, जब कि शत्रुसेना पराजित हो जाए]।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः॥ देवता—त्रिषन्धिः॥ छन्दः—**विराट् पुरस्ताद् बृहती**॥

यश्च॑ कव॒ची यश्चा॑कव॒चो३॒॑ऽमित्रो॒ यश्चाज्म॑नि।

ज्या॒पा॒शैः क॑वचपा॒शैरज्म॑ना॒भिह॑तः शयाम्॥ २२॥

अर्थ—(यः च) और जो (अमित्रः) शत्रु (कवची) कवच वाला, (यः च) और जो (अकवचः) विना कवच वाला, (यः च) और जो भी (अज्मनि) संग्राम में भृत्य आदि है वह—(ज्यापाशैः कवचपाशैः) धनुष् की डोरीरूपी तथा कवचरूपी पाशों से बन्धा हुआ (अज्मना) संग्राम द्वारा (अभिहतः) मारा हुआ (शयाम्) युद्धभूमि में सो जाए।

[**अज्म संग्रामनाम** (निघं० २.१७)। शयाम्—शेताम् त् का लोप "**लोपस्त आत्मनेपदेषु**" (अष्टा० ७.१.४१) द्वारा, तथा 'शे' के 'ए' को अय्]।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः॥ देवता—त्रिषन्धिः॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ये व॒र्मिणो॒ ये॑ऽव॒र्माणो॑ अ॒मित्रा॒ ये च॑ व॒र्मिणः॑।

सर्वा॑स्ताँ अर्बुदे ह॒ताञ्छ्वानो॑ऽदन्तु॒ भूम्या॑म्॥ २३॥

अर्थ—(ये) जो (अमित्राः) शत्रु (वर्मिणः) वर्म वाले हैं, (ये) जो (अवर्माणः) वर्म रहित हैं, (ये च) और जो (वर्मिणः) शत्रु के भृत्य आदि वर्म वाले हैं, (अर्बुदे) हे अर्बुदि! (तान् सर्वान् हतान्) उन सब मरे हुओं को (श्वानः) कुत्ते आदि (भूम्याम्) भूमि पर (अदन्तु) खाएँ।

[मन्त्र २२ में कवच का वर्णन है, २३ में वर्म का। सम्भवतः कवच लोहनिर्मित हो (कवच=**कुङ् शब्दे,** भ्वादि), हिलने तथा गति करने पर जिससे शब्द पैदा हो; और वर्म चमड़े आदि द्वारा निर्मित हो, जैसे कि "**बस्ताभिवासिनः**" (अथर्व० ११.९.२२) में बकरे के चर्म के वस्त्रों वाले कहा है। तभी "**बस्तवासिनः**" (अथर्व० ८.६.१२) में बस्तवासियों को "दुर्गन्धीन्" भी कहा है, चमड़े से दुर्गन्ध आती ही है]।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः॥ देवता—त्रिषन्धिः॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ये र॒थिनो॒ ये अ॑र॒था अ॑सा॒दा ये च॑ सा॒दिनः॑।

सर्वा॑नदन्तु॒ तान्ह॒ताान्गृध्राः॑ श्ये॒नाः प॑त॒त्रिणः॑॥ २४॥

अर्थ—(ये रथिनः) जो रथारोही हैं, (ये अरथाः) जो रथरहित हैं, (असादाः) जो पदाति हैं, (ये च सादिनः) और जो अश्वारोही हैं, (तान् सर्वान् हतान्) उन सब मारे गयों को (गृध्रा, श्येनाः, पतत्रिणः) गीध, बाज आदि पक्षी (अदन्तु) खाएँ।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः॥ देवता—त्रिषन्धिः॥ छन्दः—**ककुभुष्णिक्**॥

स॒हस्र॑कुणपा शेतामामि॒त्री सेना॑ सम॒रे व॒धाना॑म्। विवि॑द्धा कक॒जाकृ॑ता॥ २५॥

अर्थ—(सहस्रकुणपा) हज़ारों मुर्दों वाली, (वधानाम्) वधकारी आयुधों के (समरे) युद्ध में

(विविद्धा) विविध प्रकार से बींधी गई, (ककजाकृता) कुत्सित अर्थात् विकृत केशों की आकृति वाली (आमित्री सेना) शत्रु सम्बन्धिनी सेना (शेताम्) युद्धभूमि में सो जाए।

[कुणप=कुण् (शब्दे, तुदादि)+अप (अपगत), शब्दादि के ज्ञान से रहित, अर्थात् मृत। आमित्री= अमित्रसम्बन्धिनी, अथवा "अमित्री आशेताम्"। ककजाकृता=क (कुत्सित)+कज (कच)+आकृता]।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः॥ देवता—त्रिषन्धिः॥ छन्दः—प्रस्तारपङ्क्तिः॥

मर्माविधं रोरुवतं सुपर्णैरदन्तु दुश्चितं मृदितं शयानम्।
य इमां प्रतीचीमाहुतिममित्रो नो युयुत्सति॥ २६॥

अर्थ—(सुपर्णैः) उत्तम प्रकार से पतन करने वाले अर्थात् शत्रुदल पर गिरने वाले बाणों द्वारा (मर्माविधम्) मर्म स्थलों में सर्वत्र बींधे गये, (रोरुवतम्) इसलिए रोते-चिल्लाते हुए, (दुश्चितम्) दुःखों से भरे हुए, या दुःखी चित्तों वाले (मृदितम्) कुचले हुए, (शयानम्) युद्धभूमि में शयन किये हुए शत्रु दल को, (अदन्तु) गीध आदि पक्षी (२४) खाएँ, (यः अमित्रः) जो शत्रुदल कि (नः) हमारी (इमाम्, प्रतीचीम् आहुतिम्) इस शत्रु दल के "प्रति-जाने-वाली"[१] आहुति के साथ (युयुत्सति) युद्ध करना चाहता है।

[मर्माविधम्=मर्मा ("**नहिवृतिवृषिव्यधि**"—अष्टा० ६.३.११५) द्वारा दीर्घ; तथा "**ग्रहिज्यावयि-व्यधि**" ....अष्टा० (६.१.१६) द्वारा विधम् (सम्प्रसारण)। विध्यते इति विधम् (कर्मणि क्विप्) अथवा मर्म+आविधम् प्रतीचीम्=शत्रुं प्रति अञ्चन्तीम्]।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः॥ देवता—त्रिषन्धिः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

यां देवा अनुतिष्ठन्ति यस्या नास्ति विराधनम्।
तयेन्द्रो हन्तु वृत्रहा वज्रेण त्रिषन्धिना॥ २७॥

अर्थ—(देवाः) देव अर्थात् दिव्य विचारों वाले या विजिगीषु सैनिक (याम्) जिस आहुति का (अनुतिष्ठन्ति) अनुष्ठान करते हैं, (यस्याः न अस्ति विराधनम्) जिसकी कि विफलता नहीं होती, (तया) उस आहुति द्वारा (वृत्रहा) वृत्रघाती (इन्द्रः) सम्राट्—(त्रिषन्धिना वज्रेण) त्रिषन्धि रूपी वज्र द्वारा, (हन्तु) असुर-वृत्रों का हनन करे।

[तया आहुत्या=देखो (११.१०.५, १२, १४, १५)। विराधनम्=वि+राधृ (संसिद्धौ); संसिद्धि= सफलता, विराधनम्=विफलता। वज्रेण=देखो (मन्त्र ११.१०.२ की व्याख्या) त्रिषन्धि वज्र=सेनासंचालक, त्रिषन्धि नामक सेनाधीश। देवाः=दिव्य विचारों वाले, या दिव् विजिगीषा। वृत्रघाती=असुर-वृत्रघाती]।

पञ्चम अनुवाक समाप्त॥

इति पञ्चविंशः प्रपाठकः॥

एकादश काण्ड का भाष्य सम्पूर्ण हुआ॥

---

१. मन्त्र (११.१०.५, १२, १५)।

द्वादश काण्ड

अथ षड्विंशः प्रपाठकः

अनुवाक १

सूक्त-१

विषय-प्रवेश

काण्ड १२, सूक्त १ को 'पृथिवी सूक्त' कहते हैं। समग्र पृथिवी का धारण और पोषण किन उपायों द्वारा हो सकता है—इसका वर्णन इस सूक्त में हुआ है। यह सूक्त राष्ट्रपरक नहीं। राष्ट्र तो पृथिवी के अङ्गरूप हैं, समग्र पृथिवीरूप नहीं। पृथिवी को इस सूक्त में माता कहा है। पृथिवी समग्र-पृथिवीरूप में तो माता हो सकती है, किसी अङ्गविशेषरूप में नहीं। माता, समुचित-शरीररूप में माता होती है, हाथ-पैर-पेट-टांग आदि अलग-अलग अवयवरूप में नहीं। भूमि माता है (मन्त्र १०, १२)। पृथक्-पृथक् राष्ट्रों में मातृभावना के कारण परस्पर युद्ध होते, और एक राष्ट्र समृद्ध तथा दूसरा निर्धन बना रहता है। इसलिए १२.१ में हमें यह उपदेश मिलता है कि समग्र-पृथिवी के सम्बन्ध में समग्र प्रजाजनों की मातृभावना होनी चाहिए। तथा समग्र-पृथिवी को समुन्नति में, सबको मिल कर, यत्नशील होना चाहिए। यह नहीं कि १२.१ में राष्ट्रभावना का परित्याग है, अपितु इस सूक्त में यह दर्शाया है कि राष्ट्रभावना और सार्वभौमभावना में परस्पर समन्वय होना चाहिए, परस्पर विरोध नहीं।

पृथिवी सूक्त में विशिष्ट भावनाएँ निम्नलिखित हैं—

(१) बृहत्सत्य, कड़े नियम, पृथिवीमाता की समुन्नति के लिए व्रत (दीक्षा): तपोमय जीवन, आस्तिकता, तथा शासन में ब्राह्मणत्व का प्राधान्य, द्रव्ययज्ञों का करना, देवकोटि के लोगों की पूजा, उनका सत्संग तथा उनके प्रति दान—पृथिवी का धारण-और पोषण करते हैं (१)।

(२) पृथिवी विश्वम्भरा तथा विश्वधायस् है, अर्थात् सबका भरण-पोषण करने वाली तथा सब की धाया है (६, २७)। इसका मुख्य शासक सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति होना चाहिए (इन्द्रऋषभा), तथा अन्य राज्याधिकारी देवकोटि के तथा अप्रमादी होने चाहिएँ (६, ७)।

(३) प्रजाजनों तथा अधिकारियों के हृदय परमेश्वरार्पित तथा सत्य से आवृत होने चाहिएँ (८)।

(४) प्रजाजनों को मधुरभाषी होना चाहिए (१६)।

(५) पृथिवी "असितज्ञू" अर्थात् बन्धन को न जानने वाली, स्वातन्त्र्यप्रिया है (२१)। अत्याचारियों तथा आततायियों को पृथिवी कम्पा फैंकती है (५७)।

(६) समग्रपृथिवी को माता जान कर इसे नमस्कार करना चाहिए, इसके प्रति नतमस्तक होना चाहिए (२६)।

(७) प्रजाजन पवित्र विचारों द्वारा अपने—आप को पवित्र तथा उत्कृष्ट बनाते रहें (३०) ताकि इनका पतन न हो (३१)।

(८) पृथिवी पर महावध तथा महाघाती शस्त्रास्त्र न होने चाहिएँ (३२)।

(९) पृथिवी पर परम-ऐश्वर्य वाले व्यक्ति का, शासक रूप में, वरण करती है, वृत्र का नहीं (३७)।

(१०) पृथिवी पर नाचना, गाना आदि भी होते रहने चाहिएँ (४१)।

(११) दिव्यकोटि के शिल्पियों द्वारा नगरों का निर्माण करना चाहिए (४३), तथा दिशाओं को रमणीय बनाना चाहिए (४३)।

(१२) भिन्न-भिन्न भाषाभाषियों तथा नाना धर्मियों को एक परिवार के सदृश परस्पर प्रेमपूर्वक रहना चाहिए (यथौकसम्, ४५)।

(१३) पृथिवी पर के मार्ग भद्र और पापी दोनों के विचरने के लिए हैं (४७)।

(१४) पृथिवी माता के सब पुत्रों-पुत्रियों को पृथिवी माता की सम्पत्ति के भोग में समानाधिकार है (६०)।

(१५) राज्य-कर स्वेच्छापूर्वक देना चाहिए (६२)। मधुर बोलो, सत्यासत्य की परीक्षा करके बोलो (५८)।

मातृभूमि

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भूमिः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

स॒त्यं बृ॒हदृ॒तमु॒ग्रं दी॒क्षा तपो॒ ब्रह्म॑ य॒ज्ञः पृ॑थि॒वीं धा॑रयन्ति।
सा नो॑ भू॒तस्य॒ भव्य॑स्य पत्न्यु॒रुं लो॒कं पृ॑थि॒वी नः॑ कृणोतु॥ १॥

अर्थ—(बृहत् सत्यम्) व्यापी सत्य, (उग्रम् ऋतम्) कड़े नियम (दीक्षा) समग्र पृथिवी की सेवा के लिए व्रतग्रहण, (तपः) तपश्चर्या का जीवन, (ब्रह्म) शासन में ब्राह्मणत्व का प्राधान्य तथा आस्तिकता, (यज्ञः) द्रव्ययज्ञ तथा दिव्यजनों की पूजा, उनका सत्संग, तथा त्यागभावना (पृथिवीम्) समग्र पृथिवी का (धारयन्ति) धारण करते हैं। (सा) वह पृथिवी (नः) हमारे (भूतस्य, भव्यस्य) भूत और भविष्य का (पत्नी) निर्माण करती है। (पृथिवी नः) पृथिवी हमारे लिए (उरुम्, लोकम्) विस्तृत प्रदेश (कृणोतु) प्रदान करे।

[काण्ड १२। सूक्त १ भूमि माता का वर्णन करता है, संकुचित राष्ट्रभूमियों का नहीं। माता निज समग्र शरीर रूप में माता है, उसका प्रत्येक अलग-अलग अंग माता नहीं। इसी समुचित-इकाई रूप-पृथिवी का वर्णन समग्र सूक्त में हुआ है। बीच-बीच में राष्ट्रों का भी वर्णन हुआ है, परन्तु समग्र पृथिवी के अङ्ग रूप में, न कि स्वतन्त्र सत्ताओं के रूप में। वेदानुसार राष्ट्रों और समग्र पृथिवी में पारस्परिक वही सम्बन्ध है जो कि देहावयवों और देह में है। इस समग्र पृथिवी के धारण के लिए प्रजाओं और शासकों में जिन-जिन गुणों का होना आवश्यक है, उनका वर्णन मन्त्र के पूर्वार्ध में किया है। परस्पर विरोध तथा संकुचित राष्ट्र-भावनाओं के रहते, पृथिवी, युद्धों तथा परस्पर विद्वेषों की स्थली बन कर, विनाश का कारण बनी रहती है। पृथिवी के भिन्न-भिन्न प्रदेशों के भिन्न-भिन्न जल-वायु, तथा भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के कारण उस-उस प्रदेश के निवासियों के भूत तथा भावी जीवनों में भेद तथा वैषम्य का होना स्वाभाविक है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्** ॥

असंबाधं मध्यतो मानवानां यस्या उद्वतः प्रवतः समं बहु।
नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः॥ २॥

अर्थ—(मानवानाम्) मननशील मनुष्यों[१] की (असंबाधम्[२]) अल्प-भी-सामूहिक-बाधा का (वध्यतः) वध करने वाली, हटा देने वाली (यस्याः) जिस पृथिवी के (उद्वतः) ऊंचे (प्रवतः) ढलवे, तथा (समम्) समतल प्रदेश (बहु) बहुत हैं। (या) जो (नानावीर्याः ओषधीः) विविध शक्तियों वाली ओषधियों को (बिभर्ति) धारण करती है (पृथिवी) वह पृथिवी, (नः) हमारा (प्रथताम्) विस्तार करे, (न) और हमारे प्रयत्नों को (राध्यताम्) सिद्ध तथा सफल करे।

[जो मननशील मनुष्य हैं, उनके सामूहिक प्रयत्नों में यदि कोई बाधा उपस्थित होती है तो वे, निज मनन शक्ति द्वारा, उस बाधा का निराकरण कर सकते हैं, और पार्थिव साधनों के सहारे सफलता प्राप्त कर सकते हैं। इस दृष्टि से पृथिवी, उनकी बाधाओं के निराकरण में, सहायक होती है। पृथिवी में ऊँचे, नीचे तथा समतल प्रदेश बहुत हैं, अतः इन प्रदेशों में रहने वाले मनुष्य-समुदायों में, परिस्थितियों के भेद के कारण, सभ्यता में भेद का होना भी अनिवार्य है]।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः।
यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत्सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु॥ ३॥

अर्थ—(यस्याम्) जिस पृथिवी में (समुद्रः उत, सिन्धुः, आपः) समुद्र और स्यन्दन करने वाली नदियाँ, तथा कूप, झीलें तथा वर्षा जल हैं, (यस्याम्) जिसमें (अन्नम्) अन्न तथा (कृष्टयः[३]) खेतियाँ (संबभूवुः) पर्याप्त होती रही हैं। (यस्याम्) जिसमें (इदम् एजत् प्राणत्) यह चलता फिरता प्राणधारी जगत् (जिन्वति) संतुष्ट हुआ विचरता है, (सा भूमिः) वह उत्पादिका भूमि (नः) हमें (पूर्वपेये) सम्पूर्ण प्रकार के खाद्य पेय अन्नों में (दधातु) स्थापित करे।

[मन्त्र ३ में भूमि में समुद्र आदि की सत्ता के वर्णन से भूमि का अभिप्राय समग्र पृथिवी है, न कि संकुचित राष्ट्र भूमियाँ। मन्त्र २ में भी ऊंचे, नीचे तथा सम प्रदेशों के बाहुल्य के वर्णन द्वारा समग्र पृथिवी ही अभिप्रेत है। जिन्वति=**जिवि प्रीणने**। पूर्वपेये;=**पूर्व पूरणे**]।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**षट्पदा जगती** ॥

यस्याश्चतस्रः प्रदिशः पृथिव्या यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः।
या बिभर्ति बहुधा प्राणदेजत्सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु॥ ४॥

अर्थ—(यस्याः पृथिव्याः) जिस पृथिवी की (चतस्रः प्रदिशः) चार विस्तृत दिशाएँ हैं, (यस्याम्) जिसमें (अन्नम्, कृष्टयः) अन्न और खेतियाँ या नाना विध कृषि कर्म (संबभूवुः) होते रहे हैं, (सा) वह (बहुधा) बहुत प्रकार के (प्राणत् एजत्) चलते फिरते प्राणी जगत् का (बिभर्त्ति) धारण पोषण करती

---

१. **मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति** (निरुक्त ३.२.७)।
२. अ (नञ् अल्पार्थे), यथा "अनुदरी कन्या"।
३. तथा **कृष्टयः मनुष्यनाम** (निघं० २.३), सम्भवतः कृषकाः।

है, (सा भूमिः) वह भूमि (नः) हमें (गोषु) गौओं में (अपि अन्ने) तथा अन्न में (दधातु) स्थापित करे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**षट्पदा जगती** ॥

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन्।

गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु॥ ५ ॥

अर्थ—(यस्याम्) जिस पृथिवी में (पूर्वे) पूर्व काल में (पूर्वजनाः) पूर्वजों ने (विचक्रिरे) विविध प्रकार के श्रेष्ठ कर्म किये हैं, (यस्याम्) जिस पृथिवी में (देवाः) दिव्यकोटि के मनुष्य (असुरान्) आसुर स्वभाव वाले लोगों को (अभ्यवर्तयन्) परास्त करते रहे हैं। (गवाम्, अश्वानाम्, वयसश्च) गौओं, अश्वों, पक्षियों का (विष्ठा) स्थिति स्थान (पृथिवी) पृथिवी, (नः) हमें (भगम्) ऐश्वर्य तथा (वर्चः) तेज (दधातु) प्रदान करे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**षट्पदा जगती** ॥

विश्वंभरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी।

वैश्वानरं बिभ्रती भूमिरग्निमिन्द्रऋषभा द्रविणे नो दधातु॥ ६ ॥

अर्थ—(विश्वम्भरा) सबका भरण-पोषण करने वाली, (वसुधानी) सम्पत्तियों को धारण करने वाली, (प्रतिष्ठा) प्रत्येक भौम पदार्थ का स्थिति स्थान रूप, (हिरण्यवक्षा) छाती में हिरण्य धारण करने वाली, (जगतः) जंगम प्राणियों को (निवेशनी) वसाने वाली, (वैश्वानरम्, अग्निम्, बिभ्रती) सब नर-नारियों की हितकारी अग्नि को धारण करती हुई, (इन्द्रऋषभा) श्रेष्ठ सूर्य वाली, (भूमिः) उत्पादिका पृथिवी (नः) हमें (द्रविणे) धन तथा बल में (दधातु) स्थापित करे।

[इन्द्र ऋषभो यस्याः, अर्थात् श्रेष्ठ सम्राट् वाली (इन्द्रः=**इन्द्रश्च सम्राट्** (यजुः० ८.३७)। द्रविणम्="**धनं द्रविणमुच्यते, बलं वा**" (निरुक्त ८.१.१)]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**प्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम्।

सा नो मधु प्रियं दुहामथो उक्षतु वर्चसा॥ ७ ॥

अर्थ—(अस्वप्नाः) निद्रा आलस्य से रहित, (देवाः) दिव्य कोटि के शासक, (अप्रमादम्) प्रमाद रहित हो कर, (विश्वदानीम्) सदा या सब को निज सम्पत्तियों का दान करने वाली (याम्) जिस (भूमिम्) उत्पादिका तथा (पृथिवीम्) विशाल पृथिवी की (रक्षन्ति) रक्षा करते हैं, (सा) वह पृथिवी (नः) हमें (मधु प्रियम्) मधुर और प्रिय वस्तुएँ (दुहाम्) गौ की तरह देती रहे, (अथो) और (वर्चसा[१]) तेज से (उक्षतु) सींचती रहे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**षट्पदा विराडष्टिः** ॥

यार्णवेऽधि सलिलमग्र आसीद्यां मायाभिरन्वचरन्मनीषिणः।

यस्या हृदयं परमे व्योमन्त्सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः।

१. वर्चस् है तेज, जिसमें गम्भीरता और सात्विकता का अंश है। त्विषि भी तेज है, इसमें उग्रता का अंश है। हाथी में और ब्राह्मण (अर्थात् ब्रह्मज्ञ व्यक्ति) में वर्चस् की सत्ता है। व्याघ्र, चीता आदि में त्विषि की सत्ता है।

सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे॥ ८॥

अर्थ—(या) जो पृथिवी (अग्रे) पुराकाल में, (अर्णवेऽधि) जलवत् द्रवीभूत जगदावस्था में (सलिलम्) जलवत् द्रवीभूत अवस्था में (आसीत्) थी, (याम्) जिस पृथिवी में (मनीषिणः) मननशील मनुष्य (मायाभिः) निज प्रज्ञाओं के अनुसार (अनु अचरन्) निरन्तर विचरते रहे, (यस्याः पृथिव्याः) जिस पृथिवी [के प्रजाजनों] का (हृदयम्) एकीभूत हृदय, (परमे व्योमन्) परमरक्षक तथा आकाशवत् व्यापक परमेश्वर में (आसीत्) था, तथा (अमृतम्) वह अमृत हृदय (सत्येन आवृतम्) सच्चाई से घिरा हुआ था, (सा भूमिः) वह उपजाऊ पृथिवी (नः) हमारे (उत्तमे राष्ट्रे) उत्तम राष्ट्र में (त्विषिम्, बलम्) तेज और बल (दधातु) स्थापित करे।

[**अर्णवे, सलिलम्**=तैत्तिरीयोपनिषद्, ब्रह्मानन्दवल्ली के अनुसार सृष्ट्युत्पत्तिक्रम है "आत्मा से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से आपः, आपः से पृथिवी", यथा "**तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी**"। "**तस्माद् वै एतस्मात् आत्मनः**" द्वारा "उस" अर्थात् दूरस्थ, तथा "इस" अर्थात् समीपस्थ आत्मा से—इस द्वारा परमेश्वर की सर्वव्यापकता सूचित की है। यजुर्वेद में भी कहा है कि "**तद् दूरे तद्वन्तिके**" (४०.५)] इस सृष्टि क्रमानुसार जगत् की "आपः" अवस्था को "अग्नेरापः" द्वारा दर्शाया है। मन्त्र में इस अवस्था को "अर्णवे" पद द्वारा दर्शाया है। इस अवस्था में पृथिवी भी "सलिल" रूप थी, "आपः" रूप थी। अर्णव में सलिल रूप थी। कालान्तर में सलिल रूपा पृथिवी दृढ़ावस्था में आई। "**येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा**" (यजुः० ३२.६) अथर्व० १२.१.६० में भी पृथिवी का जल में प्रवेश "**अर्णवे रजसि**" द्वारा दर्शाया है।

मायाभिः; **माया प्रज्ञानाम** (निघं० ३.९)। यह अद्वैतवादियों की माया नहीं, न ही प्रकृतिरूपा है। हृदयम्=पृथिवी जड़ है चेतन नहीं। जड़ में हृदय नहीं होता। यह हृदय, पृथिवी से उत्पन्न मनुष्य जाति का हृदय है। जब पृथिवी निवासी मनुष्य जाति के हृदय, विचारों और भावनाओं की दृष्टि से एकरूप हो जाएँ, परस्पर समन्वय और सामञ्जस्य में हो जाएँ, तो इस एकीभूत हृदय को मन्त्र में हृदयम् कहा है। यथा "**सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः। अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥**" (अथर्व० ३.३०.१) में "**सहृदयम्**" द्वारा "एकीभूत हृदय" को सूचित किया है। तथा हृदय परस्पर एकीभूत किस प्रकार होने चाहिएँ इसके लिए कहा है कि "**समञ्जन्तु विश्वेदेवाः समापो हृदयानि नौ**" (ऋ० १०.८५.४७), अर्थात् हृदय इस प्रकार एकीभूत होने चाहिएँ जैसे कि भिन्न-भिन्न जल परस्पर मिल कर एकीभूत हो जाते हैं। इस एकीभाव को "**सामञ्जस्य**" कहा है।

परमे व्योमन्="**ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्**" (ऋ० १.१६४.३९) में "परमे व्योमन्" का अर्थ है "सर्वोत्कृष्ट व्यापक परमेश्वर" मनुष्य जाति का एकीभूत हृदय परमेश्वर के प्रति लगा हुआ होना चाहिए, सांसारिक भोगों में नहीं, और "**सत्येनावृतम्**" सच्चाई से घिरा होना चाहिए। ऐसा एकीभूत हृदय अमृत होता है, मरा हुआ सा नहीं होता, सदा उन्नतिशील, प्रसन्न, तथा नई-नई उमङ्गों वाला होता है। ऐसी मनुष्यजाति का राष्ट्र उत्तम-राष्ट्र होता है।

भूमिः, राष्ट्रे=मन्त्र में कहा है कि "भूमि हमारे उत्तम राष्ट्र में त्विषि और बल प्रदान करे"। इससे प्रतीत होता है कि "सार्वभौमशासन" और "राष्ट्रशासन" पृथक्-पृथक् सत्ताएँ रखते हैं, परन्तु हैं परस्पर

समन्वित रूप में। राष्ट्रशासन अङ्गरूप है सार्वभौमशासन का, और सार्वभौम शासन "अङ्गी" रूप है। इस प्रकार वैदिकशासन पद्धति के अनुसार, समग्र पृथिवी में, अङ्गाङ्गिभाव से शासन व्यवस्था के होने पर पारस्परिक संघर्ष, तथा युद्ध समाप्त हो सकते हैं]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भूमिः**॥ छन्दः—**परानुष्टुप्**॥

यस्यामापः परिचराः समानीरहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति।
सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो दुहामथो उक्षतु वर्चसा॥ ९॥

अर्थ—(यस्याम्) जिस भूमि में (समानीः)[1] समानरूप में (परिचराः) सब ओर विचरने वाले (आपः) जल, (अहोरात्रे) दिन-रात (अप्रमादम्) विना प्रमाद के (क्षरन्ति) प्रवाहित हो रहे हैं, (सा) वह (भूरिधारा) प्रभूत जल धाराओं वाली या प्रभूतरूप में धारण-पोषण करने वाली (भूमिः) भूमि, (नः) हमें, (पयः) दूध आदि (दुहाम्) प्रदा करे, (अथो) तथा (वर्चसा) वर्चस् द्वारा (उक्षतु) सींचे।

[दुहाम् और पयः शब्दों द्वारा भूमि को गोरूप में वर्णित किया है, आपः=नदियों के जल]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भूमिः**॥ छन्दः—**षट्पदा जगती**॥

यामश्विनावमिमातां विष्णुर्यस्यां विचक्रमे। इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽनमित्रां शचीपतिः।
सा नो भूमिर्वि सृजतां माता पुत्राय मे पयः॥ १०॥

अर्थ—(याम्) जिस भूमि को (अश्विनौ) रात-और-दिन ने (अमिमाताम्) मापा है, (यस्याम्) जिसमें (विष्णुः) रश्मियों से व्याप्त सूर्य ने (विचक्रमे) विशेषतया या विविध स्थानों में पादविक्षेप[2] किया है। (शचीपतिः) प्रज्ञा तथा कर्मों के अधिपति (इन्द्रः=इन्द्रेन्द्रः) परमैश्वर्यवान् सम्राटों[3] के सम्राट् ने (याम्) जिस भूमि को (आत्मने) अपने लिए (अनमित्राम्) शत्रुरहित (चक्रे) किया है (साः नः भूमिः माता) वह हमारी भूमिमाता (मे पुत्राय) मुझ प्रत्येक पुत्र के लिए (पयः) दुग्ध आदि पदार्थ (विसृजताम्) प्रदान करे।

[अश्विनौ—**अहोरात्रावित्येके** (निरुक्त १२.१.१)। दिन-और-रात चक्कर लगा रहे हैं मानो भूमि को माप रहे हैं। भूमिः माता=समग्र अखण्डित भूमि माता है, खण्डित भूमियाँ अर्थात् राष्ट्र, मातृ भूमि नहीं कही जा सकतीं। अखण्डित भूमि का सार्वभौमशासन ही भूमि माता के प्रत्येक पुत्र को दुग्ध आदि पदार्थ प्रदान कर सकता है। दूध पिलाने वाली माता, निज समग्र शरीर रूप में माता है, निज खण्डित अवयवों में माता नहीं। मन्त्र में "अमिमाताम्" द्वारा भूगोल शास्त्र के एक विषय का निर्देश किया है। शचीपतिः; शची=प्रज्ञा तथा कर्म (निघं० ३.९; तथा ८.१)]।

तथा— अश्विनौ=अश्वारोही दो survey officers, जो कि भूमि को नापते हैं। इन्द्रः=सम्राट्। यथा

---

१. समानीः=समा (वर्ष)+नी (णीञ् प्रापणे)=वार्षिक वर्षा जल, जोकि नदियों के रूप में रात-दिन प्रवाहित होते रहते हैं।

२. पाद विक्षेप=चरणन्यास, रश्मिपात।

३. इन्द्रः=इन्द्रेन्द्रः, सम्राटों का सम्राट्। मन्त्रों में जहाँ समग्र भूमि के सम्बन्ध में सार्वभौम शासक का वर्णन प्रतीत हो, वहाँ इन्द्र पद द्वारा इन्द्रेन्द्र का वर्णन जानना चाहिए। इन्द्रेन्द्रः=इन्द्रः, यथा देवदत्तः=देवः या दत्तः। इन्द्रेन्द्र=यथा "**इन्द्रेन्द्र मनुष्याः परेहि**" (अथर्व० ३.४.६) मन्त्र में इन्द्रेन्द्र को मनुष्य कहा है।

"**इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा**" (यजुः० ८.३७)। इन्द्र अर्थात् सम्राट्[1] है, संयुक्त राष्ट्रशासक; तथा वरुण है प्रदेशशासक, राष्ट्रशासक]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भूमिः**॥ छन्दः—**षट्पदा विराडष्टिः**॥

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवि स्योनमस्तु।
बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम्।
अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम्॥ ११॥

अर्थ—(पृथिवि) हे पृथिवी! (ते) तेरे (गिरयः) पहाड़, तथा (हिमवन्तः पर्वताः) हिमाच्छादित पर्वत, (ते) तेरे (अरण्यम्) वन-जङ्गल, (स्योनम् अस्तु) सुखकारी हों। (बभ्रुम्) भरण-पोषण करने वाली या भूरे रंगवाली, (कृष्णाम्) कृषियोग्य या काले रंगवाली, (रोहिणीम्) ओषधियों-वनस्पतियों के रोहण अर्थात् उत्पत्ति के योग्य या लालरंगवाली, (विश्वरूपाम्) इस प्रकार विविधरूपों वाली, (ध्रुवाम्) ध्रुव, निश्चल (भूमिम्) उत्पादिका, तथा (इन्द्रगुप्ताम्) सम्राटों द्वारा सुरक्षित (पृथिवीम्) पृथिवी का—(अजीतः) हानि रहित, (अहतः) हननरहित, (अक्षतः) घावरहित (अहम्) मैं, (पृथिवीम्) उक्त गुणों वाली पृथिवी का—(अध्यष्ठाम्) अधिष्ठाता हुआ हूँ।

[मन्त्रोक्तगुणों वाली पृथिवी, कोई एकराष्ट्र या एक संयुक्तराष्ट्र नहीं हो सकता, अपितु इन गुणों वाली समग्र पृथिवी ही हो सकती है। ऐन्द्रराज्य, ऐन्द्रन्द्राज्य, अधिष्ठातृराज्य, वारुणराज्य—इनके परिज्ञान के लिए मन्त्र १० और ११ की टिप्पणी देखो। रोहिणीम्=तथा लोहिनीम्]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भूमिः**॥ छन्दः—**पञ्चपदा शक्वरी**॥

यत्ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं यास्त ऊर्जस्तन्वः संबभूवुः।
तासु नो धेह्यभि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः।
पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु॥ १२॥

अर्थ—(पृथिवि) हे पृथिवी! (ते) तेरे (मध्यम्) मध्य में अर्थात् ऊपर के समतल के नीचे, (यत् च) और जो (नभ्यम्) केन्द्र भाग में खनिज पदार्थ हैं, तथा (याः ऊर्जः) जो बल-तथा-प्राणप्रद अन्न (ते तन्वः) तेरे विस्तृत समतल भाग से (संबभूवुः) पैदा होते हैं, (तासु) उनमें (नः) हमें (धेहि) स्थापित कर, (नः) हमें (अभि पवस्व) पवित्र कर, (भूमिः) उत्पादिका पृथिवी (माता) माता है, (अहम्) मैं (पृथिव्याः पुत्रः) पृथिवी का पुत्र हूँ, (पर्जन्यः) मेघ (पिता) पिता है, (स उ) वह (नः) हमारा (पिपर्तु) पालन करे।

---

१. इन्द्र का अर्थ यद्यपि सम्राट् है, परन्तु "सार्वभौम शासन के प्रकरण में इन्द्र द्वारा इन्द्रेन्द्र का वर्णन अभिप्रेत है। सम्राट्=सम् (संयुक्त राष्ट्र)+राट् (राजा)। अतः साम्राज्य=संयुक्त-राष्ट्र शासन। Federation या confederation। पृथिवी में संयुक्तराष्ट्र नाना हो सकते हैं। मन्त्रों के अनुसार नाना राष्ट्रशासनों पर एक "सार्वभौमशासन" चाहिए। इसके शासक को "इन्द्रेन्द्र" कहा है (अथर्व० ३.४.६)। अतः संयुक्त राष्ट्रशासन को साम्राज्य, सम्राट्शासन, तथा ऐन्द्रशासन कह सकते हैं, और सार्वभौमशासन को "ऐन्द्रेन्द्रशासन। मन्त्र ११ में इन्द्रगुप्ताम्, तथा अध्यष्ठाम् द्वारा सम्राटों के सम्राट् को अधिष्ठाता भी कहा है। अधिष्ठाता=अधिराट्, यथा "**अधिराजो राजसु राजयातै**" (अथर्व० ६.९८.१) "**त्वमिन्द्राधिराजः**" (अथर्व० ६.९८.२)। इसे "**एकराट्**" (अथर्व० ३.४.१) भी कहा है, तथा "विशांपतिः" भी।

[मध्यम् नभ्यम्=पृथिवी तल से नीचे के स्तर में खनिज पदार्थ हैं उन्हें मध्यम् कहा है, और जो गहरे स्तरों में हैं उन्हें नभ्यम् कहा है। मध्यम् स्तरों के खनिज पदार्थ को "हिरण्यवक्षा" द्वारा भी सूचित किया है (६) पवस्व=मध्य, नभ्य, तथा ऊर्जस्—अन्नों का सेवन करते हुए, अपने शरीर, मन और आत्मा को पवित्र बनाना चाहिए।

अहम्=प्रत्येक पृथिवीवासी को चाहिए कि वह पृथिवी को निज माता जान कर, पवित्र भावना से, पृथिवी माता की सेवा तथा रक्षा करने में तत्पर रहे। पृथिवी माता है, इसके पार्थिव अंशों से प्रत्येक का शरीर बना है तथा यही माता खाद्य-पेय पदार्थ देकर हमारी रक्षा कर रही है। इस पृथिवी माता में पर्जन्य अर्थात् मेघ निज जल रूपी वीर्य सींचता है, इसलिए पर्जन्य पिता है। इसके जल रूपी वीर्य से अन्नोत्पत्ति तथा पीने के लिए हमें जल प्राप्त होता है। मन्त्र में समग्र अर्थात् अखण्ड-पृथिवी को माता तथा पर्जन्य को पिता कह कर राष्ट्रिय संकुचित भावनाओं से पृथक् रहने का सन्देश दिया है। निज राष्ट्रिय भावनाओं को, सार्वभौम भावनाओं के साथ समन्वित करना चाहिए]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भूमिः**॥ छन्दः—**पञ्चपदा शक्वरी**॥

यस्यां वेदिं परिगृह्णन्ति भूम्यां यस्यां यज्ञं तन्वते विश्वकर्माणः।
यस्यां मीयन्ते स्वरवः पृथिव्यामूर्ध्वाः शुक्रा आहुत्याः पुरस्तात्।
सा नो भूमिर्वर्धयद्वर्धमाना॥ १३॥

अर्थ—(विश्वकर्माणः) विविध प्रकार के कर्मों को करने वाले कारीगर (यस्याम् भूम्याम्) जिस भूमि में (वेदिम्) वेदि [के निर्माण के लिए भूमि] को घेरते हैं, तथा (यस्याम्) जिस भूमि में (यज्ञम्) यज्ञों का (तन्वते) विस्तार करते हैं। (यस्याम् पृथिव्याम्) जिस पृथिवी में (आहुत्याः पुरस्तात्) आहुति से पहिले, (ऊर्ध्वाः) ऊँचे तथा (शुक्राः) चमकीले (स्वरवः) यूपस्तम्भ (मीयन्ते) गाड़े या निर्मित किये जाते हैं, (सा) वह पृथिवी (वर्धमाना) बढ़ती हुई, वृद्धि को प्राप्त होती हुई (नः वर्धयत्) हम प्रजाजनों को बढ़ाए, समुन्नत करे।

[जिस पृथिवी पर यज्ञ, तथा दिव्यजनों की पूजा अर्थात् मान-सत्कार, उनका सत्संग, तथा उनके प्रति दान, और द्रव्ययज्ञों[१] में आहुतियाँ होती रहती हैं, वहाँ वृद्धि, समुन्नति तथा प्रजा का स्वास्थ्य बढ़ता रहता है। परिगृह्णन्ति; परिग्रहः Surrounding Fencing, enclosing, encircling (आप्टे)]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भूमिः**॥ छन्दः—**महाबृहती**॥

यो नो द्वेषत्पृथिवि यः पृतन्याद्योऽभिदासान्मनसा यो वधेन।
तं नो भूमे रन्धय पूर्वकृत्वरि॥ १४॥

अर्थ—(पृथिवि) हे पृथिवी! (यः) जो राजा (नः द्वेषत्) हमारे साथ द्वेष करता है, (यः) जो (पृतन्यात्) सेना द्वारा आक्रमण करता है, (यः) जो (मनसा) मानसिक शिक्षा द्वारा, (यः) जो (वधेन) मारक शस्त्रास्त्र द्वारा (अभिदासात्) हमें दास बनाता है, (पूर्वकृत्वरि भूमे) हे पूर्व अर्थात् पहले काम करने में त्वरा[२] वाली या पूर्णतया काट देने में श्रेष्ठ भूमि! (नः तम्) हमारे उस शत्रु को (रन्धय)

१. देखो अथर्व० (१२.१.१)
२. पृथिवीवासियों को चाहिए कि जो काम करना हो उसे शीघ्र करें, आलस्य और प्रमाद न करें।

वशीभूत कर।

[यदि कोई राष्ट्र या संयुक्तराष्ट्र अन्यराष्ट्र के साथ द्वेष करे, या उस पर आक्रमण आदि करे तो सार्वभौम-संगठन उसे अपने वश में रखे। **रन्धयेति रध्यतिर्वशगमने** (निरुक्त ६.६.३२)। पूर्वकृत्वरि पूर्व+कृ+त्वरा (शीघ्रता); या पूर्व (पूर्व पूरणे)+कृत् (छेदने)+वरि (श्रेष्ठ)]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भूमिः**॥ छन्दः—**पञ्चपदा शक्वरी**॥

त्वज्जातास्त्वयि॑ चरन्ति मर्त्या॒स्त्वं बि॑भर्षि द्वि॒पद॒स्त्वं चतु॑ष्पदः। तवे॒मे पृ॑थिवि॒ पञ्च॑ मान॒वा येभ्यो॒ ज्योति॑र॒मृतं॒ मर्त्ये॑भ्य उ॒द्यन्त्सूर्यो॑ र॒श्मिभि॑रात॒नोति॑॥ १५॥

अर्थ—(पृथिवि) हे पृथिवी! (त्वत् जाताः) तुझ से पैदा हुई (मर्त्याः) मरणधर्मा प्राणी (त्वयि चरन्ति) तुझमें विचरते हैं, (त्वम्) तू (द्विपदः) दो पैरों वाले मनुष्यों और पक्षियों को धारण-पोषण करती है, (त्वम्) तू (चतुष्पदः) चार पैरों वाले पशुओं का धारण-पोषण करती है। (इमे) ये (पञ्च मानवाः) विस्तृत मनुष्य (तव) तेरे हैं, (येभ्यः मर्त्येभ्यः) जिन मरणधर्मा मनुष्यों के लिए (उद्यन् सूर्यः) उदित होता हुआ सूर्य, (रश्मिभिः) रश्मियों द्वारा, (अमृतम्) अमृतरूपी (ज्योतिः) ज्योति का (आ तनोति) सर्वत्र विस्तार करता है।

[पञ्च=**पचि विस्तारे,** विस्तृत मनुष्य या प्रजाजन, यथा पञ्चास्य=शेर, विस्तृत मुख वाला]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भूमिः**॥ छन्दः—**साम्नी त्रिष्टुप्**॥

ता नः॑ प्र॒जाः सं दु॑ह्रतां सम॒ग्रा वा॒चो मधु॑ पृथिवि धेहि॒ मह्य॑म्॥ १६॥

अर्थ—(ताः समग्राः प्रजाः) वे सब प्रजाएँ, (नः) हम सबके लिए, (सं दुह्रताम्) परस्पर मिल कर, हे पृथिवी! तेरा दोहन करें, (पृथिवि) हे पृथिवी! (मह्यम्) मुझ प्रत्येक को (वाचः मधु) वाणी का मिठास (धेहि) प्रदान कर।

[सभी मनुष्य परस्पर मिल कर सहोद्योग द्वारा, पृथिवी का दोहन करें, पृथिवी से अन्न तथा नाना-विध सम्पतियों को परस्पर मिल कर प्राप्त करें। प्रत्येक मनुष्य में वाणी का माधुर्य होना चाहिए, तभी संगठन सुदृढ़ हो सकता है। परस्पर की निन्दा, कटु आलोचना, तथा तीखी वाणी होने पर दिल फट जाते, मनोमालिन्य हो जाता है, संगठन टूट जाता है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भूमिः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

वि॒श्व॒स्वं॑ मा॒तर॒मोष॑धीनां ध्रु॒वां भूमिं॑ पृथि॒वीं धर्म॑णा धृ॒ताम्।
शि॒वां स्यो॒नाम॑नु चरेम वि॒श्वहा॑॥ १७॥

अर्थ—(विश्वस्वम्) सब प्रकार के पदार्थों की उत्पादिका, (ओषधीनां मातरम्) ओषधियों की माता, (ध्रुवाम्) स्थिर, (भूमिम्) अन्नोत्पादिका, (धर्मणा धृताम्) बृहत्सत्य आदि धारकगुणों या धर्मों द्वारा धारित-पोषित, (शिवाम्) कल्याणकारिणी, (स्योनाम्) तथा सुखदायिनी (पृथिवीम्) विस्तृत पृथिवी पर, (विश्वहा) सब दिन, (अनु) परस्पर की अनुकूलता में (चरेम) हम विचरें।

[धर्मणा=अथर्व (१२.१.१)। धर्म का परिणाम है, पृथिवी का शिवरूपा तथा स्योनरूपा होना। विश्वहा=विश्वाहा]।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**षट्पदा त्रिष्टुबनुष्टुब्गर्भातिशक्वरी** ॥

महत्सधस्थं महती बभूविथ महान्वेग एजथुर्वेपथुष्टे। महांस्त्वेन्द्रो रक्षत्यप्रमादम्।

सा नो भूमे प्र रोचय हिरण्यस्येव संदृशि मा नो द्विक्षत कश्चन॥ १८ ॥

अर्थ—(सधस्थम्) तुझ पर साथ-साथ बैठने का स्थान (महत्) बड़ा है, (महती) तू परिमाण में बड़ी (बभूविथ) हुई है, (ते) तेरा (वेगः) सूर्य की प्रदक्षिणा करने का वेग, (एजथु[1]: वेपथुः) कम्पन और वेपन (महान्) महान् है, (महान् इन्द्रः) महान् परमेश्वर या महान् इन्द्रेन्द्र (त्वा) तेरी (रक्षति) रक्षा करता है (अप्रमादम्) सदा सावधान हो कर। (भूमे) हे भूमि! (सा) वह तू (नः) हमें (प्ररोचय) रूचिरूप वाले कर, (इव) जैसे कि (हिरण्यस्य) सुवर्ण का (संदृशि) दर्शन रुचिकर होता है, ताकि (कश्चन) कोई भी (नः) हमारे प्रति (मा द्विक्षत) न द्वेष करे।

[महान् इन्द्रः=इन्द्रेन्द्र=सम्राटों का सम्राट्, समग्र भौमशासन का अधिष्ठाता। (मन्त्र ११) भूमि के निवासियों के पारस्परिक व्यवहार ऐसे होने चाहिएँ जिनसे कि वे परस्पर एक-दूसरे के प्रति रुचिकर हो जाएँ, और पारस्परिक द्वेषभाव स्वयं समाप्त हो जाएँ। "**वाचो मधु**" (मन्त्र १६) इस भावना का पोषक है]।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**उरोबृहती** ॥

अग्निर्भूम्यामोषधीष्वग्निमापो बिभ्रत्यग्निरश्मसु।

अग्निरन्तः पुरुषेषु गोष्वश्वेष्वग्नयः॥ १९ ॥

अर्थ—(अग्निः) अग्नि (भूम्याम्, ओषधीषु) भूमि में और ओषधियों में है, (अग्निम्) अग्नि को (आपः) जल (बिभ्रति) धारण करते हैं, (अग्निः) अग्नि (अश्मसु) पत्थरों और मेघों में है। (अग्निः) अग्नि (पुरुषेषु अन्तः) पुरुषों के अन्दर है, (गोषु, अश्वेषु, अग्नयः) गौओं और अश्वों में अग्नियाँ हैं।

[मन्त्र में अग्नि का व्यापक स्वरूप प्रदर्शित किया है। मन्त्र १८ में "प्ररोचय" में रुच् धातु दीप्त्यर्थक है। दीप्ति है अग्निकर्म। इस सम्बन्ध से "प्ररोचय" के पश्चात् अग्नि का वर्णन स्वाभाविक है। अश्मसु=पत्थर; तथा **अश्मा मेघनाम** (निघं० १.१०)]।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**२० विराडुरोबृहती, २१ साम्नी त्रिष्टुप्**॥

अग्निर्दिव आ तपत्यग्नेर्देवस्योर्व१न्तरिक्षम्।

अग्निं मर्तास इन्धते हव्यवाहं घृतप्रियम्॥ २० ॥

अग्निवासाः पृथिव्यसितज्ञूस्त्विषीमन्तं संशितं मा कृणोतु॥ २१ ॥

अर्थ—(अग्निः, दिवः, आ तपति) अग्नि अर्थात् सौराग्नि द्युलोक से आकर ताप देती है, (उरु, अन्तरिक्षम्) विस्तृत अन्तरिक्ष (देवस्य अग्नेः) द्योतमान अग्नि अर्थात् विद्युत् का स्थान है, (हव्यवाहम्) हवियों को वहन करने वाली, (घृतप्रियम्) घृत की प्यारी अग्नि को (मर्तासः) मनुष्य (इन्धते) यज्ञों में प्रदीप्त करते हैं॥ २० ॥ (पृथिवी अग्निवासाः) पृथिवी में अग्नि बसी हुई, (असितज्ञूः) यह पृथिवी बन्धन को नहीं जानती, पृथिवी (मा) मुझ प्रत्येक पृथिवीवासी के (त्विषीमन्तम्) दीप्तिमान् तथा (संशितम्)

१. ये दो पद क्या भूचालों के सूचक है, या इनका कोई अन्य अभिप्राय है—यह विचारणीय है।

सम्यक् उग्ररूप (कृणोतु) करे।

[मन्त्र १९-२१; भूम्याम्=पार्थिव अग्नि ज्वालामुखी पर्वतों में प्रायः प्रकट होती है। ओषधियों में निहित अग्नि ओषधियों के जलाने पर प्रकट होती है। आपः अर्थात् जल में अग्नि रहती है, यथा "**अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा। अग्निं च विश्वशम्भुवम्**" (अथर्व० १.६.२)। विश्वशम्भुवम्=सब रोगों को शान्त करने वाली अग्नि। अश्मा अर्थात् पत्थर पर पत्थर की चोट मारने पर अग्नि प्रकट होती है, और मेघों में विद्युत् रूप में अग्नि प्रकट होती है। पुरुषों, अश्वों तथा गौओं में जाठराग्नि तथा शारीरिक तापमान के रूप में organic; अग्नियाँ होती हैं (मन्त्र १९)।

अग्नेः देवस्य=अन्तरिक्ष व्यापी Ionic sphere; असितज्ञूः=अ+षिञ् बन्धने+ज्ञा अवबोधने। पृथिवी स्वतन्त्रता को जानती है, बन्धन को नहीं। परतन्त्र हुए देश भी समय पाकर स्वतन्त्र हो जाते हैं, संशितम्=स्वतन्त्रता की प्राप्ति तथा स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए उग्रता है। अन्तरिक्ष के अल्पस्थान में वायु और जल विद्यमान हैं। शेष विस्तृत अन्तरिक्ष में सूर्य से निकले विद्युत् से आविष्ट सौर-कण व्याप्त हैं, जिन्हें कि आयोनिकस्तर कहते हैं]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भूमिः**॥ छन्दः—**षट्पदा विराडतिजगती**॥

भूम्यां देवेभ्यो ददति यज्ञं हव्यमरंकृतम्।
भूम्यां मनुष्या जीवन्ति स्वधयान्नेन मर्त्याः।
सा नो भूमिः प्राणमायुर्दधातु जरदष्टिं मा पृथिवी कृणोतु॥ २२॥

अर्थ—(भूम्याम्) भूमि में (देवेभ्यः[1]) देवों के प्रति (यज्ञम्) यज्ञक्रियाएँ (अरंकृतम्, हव्यम्) तथा अलंकृत हवियाँ (ददति) भेंट में देते हैं। (भूम्याम्) भूमि में (मर्त्याः) मरणधर्मा (मनुष्याः) मनुष्य (स्वधया) निज का धारण तथा पोषण करने वाले (अन्नेन) अन्न द्वारा (जीवन्ति) जीवित होते हैं। (सा भूमिः) वह भूमि (नः) हमें (प्राणम्, आयुः) प्राण शक्ति और दीर्घायु (दधातु) प्रदान करे, (पृथिवी) पृथिवी (मा) मुझ प्रत्येक को (जरदष्टिम्) जरावस्था तक पहुँचने वाला (कृणोतु) करे।

[मन्त्र में देवों के प्रति आहुति-प्रदान और उन द्वारा प्राप्त अन्न का परस्पर सम्बन्ध दर्शाया है। यथा—

अग्नौ प्रास्ताहुतिस्तावदादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिः वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥

गीता में भी इस पारस्परिक सम्बन्ध को निम्नलिखित श्लोक द्वारा दर्शाया है। यथा—

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः। परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥ (३.११)॥

भूमिः, पृथिवी=उत्पादन की दृष्टि से पृथिवी भूमि है, और विस्तार की दृष्टि से वह पृथिवी है। आदित्य द्वारा वर्षा होने पर पृथिवी उत्पादिका होती है। स्वधया, अन्नेन=दीर्घजीवन के लिए ऐसे अन्न का सेवन करना चाहिए जिससे शरीर का दीर्घकाल तक धारण हो सके तथा शरीर और मन परिपुष्ट हो सकें, तथा शरीर में प्राणों का ठीक संचार होता रहे; मांस मदिरा आदि का प्रयोग विघातक है। स्वधया=स्व+धा (धारणपोषणयोः अन्नेन[2]=अन् प्राणने)]।

---

१. तथा "भूमि में अतिथि देवों के प्रति यज्ञ अर्थात् पूजा-सत्कार तथा दान और सुसंस्कृत अन्न प्रदान करते हैं"। अवशिष्ट मन्त्रार्थ दोनों अर्थों में समान है। हव्यम्=हु अदने, खाने योग्य अन्न।

२. **अनिति जीवयतीति अन्नम्** (उणा० ३.१०, महर्षि दयानन्द)। अथवा अन्नम्=अद् (भक्षणे)+क्तः।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदा विराडतिजगती** ॥

यस्ते गन्धः पृथिवि संबभूव यं बिभ्रत्योषधयो यमापः।

यं गन्धर्वा अप्सरसश्च भेजिरे तेन मा सुरभिं कृणु मा नो द्विक्षत कश्चन॥ २३॥

अर्थ—(पृथिवि) हे विस्तृत पृथिवी! (यः गन्धः) जो गन्ध (ते) तेरा (संबभूव) तुझमें मिश्रित सत्ता वाला है, (यम्) जिसको (ओषधयः) ओषधियाँ, (यम्) और जिसको (आपः) जल (बिभ्रति) धारण करते हैं। (यम्) जिसे कि (गन्धर्वाः, अप्सरसः च) गन्धर्व और अप्सराएँ (भेजिरे) सेवन करती हैं, (तेन) उस गन्ध द्वारा (मा) मुझ प्रत्येक पृथिवीवासी को (सुरभिम्) सुरभित (कृणु) कर, ताकि (नः) हम में से (कश्चन) कोई भी (मा द्विक्षत) परस्पर द्वेष न करे।

[पृथिवी का स्वाभाविक गुण है गन्ध। गन्धवती पृथिवी (तर्कसंग्रह ३)। ओषधियों में, तथा उत्सों अर्थात् चश्मों के जलों में गन्ध नैमित्तिक है, पृथिवी से उत्पन्न होने के कारण है। गन्धर्वाः अर्थात् गो (पृथिवी) पर, धर्वाः (धृत) पदार्थों में, तथा अप्सरसः अर्थात् जलों में विचरने वाले जलचर प्राणियों में जो गन्ध हैं वे भी उनके पृथिवी से पैदा होने के कारण है। प्रत्येक पृथिवीवासी पृथिवी से यशःसौरभ की याचना करता है, जो यशःसौरभ पृथिवीवासी के क्षमाशील होने के कारण होता है, और जिसके होने पर पृथिवीवासी परस्पर में द्वेष नहीं करते। पृथिवी में एक विचित्र गन्ध भी है, वह है क्षमाशीलता, सहनशीलता, इसीलिए पृथिवी का नाम है क्षमा। **क्षमा पृथिवीनाम** (निघं० १.१)।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदानुष्टुब्गर्भा जगती** ॥

यस्ते गन्धः पुष्करमाविवेश यं संजभ्रुः सूर्याया विवाहे।

अमर्त्याः पृथिवि गन्धमग्रे तेन मा सुरभिं कृणु मा नो द्विक्षत कश्चन॥ २४॥

अर्थ—हे पृथिवी! (यः) जो (ते) तेरा (गन्धः) गन्ध (पुष्करम्) अन्तरिक्ष में (आ विवेश) आविष्ट हुआ है, (यम्) जिस (अग्रे) श्रेष्ठ गन्ध को (अमर्त्याः) अमानुष अर्थात् दिव्य शक्तियों ने, (सूर्यायाः विवाहे) सूर्या के विवाह में (संजभ्रुः) परस्पर मिल कर हरण अर्थात् प्राप्त किया है, (तेन) उस गन्ध द्वारा (मा) मुझ प्रत्येक पृथिवीवासी को (सुरभिम्) यशःसौरभ से सुरभित (कृणु) कर, ताकि (नः) हम में से (कश्चन) कोई भी (मा द्विक्षत) परस्पर द्वेष न करे।

[**पुष्करम्=अन्तरिक्षम्** (निघं० १.३)। सूर्यायाः विवाहे=सूर्या अर्थात् सूर्य की दुहिता अर्थात् रश्मि के विवाह में। अमावास्या में सूर्य और चन्द्रमा इकट्ठे अर्थात् परस्पर साथ रहते हैं, "अमा सह वसतः सूर्याचन्द्रमसौ यस्यां तिथौ सा अमावास्या। प्रतिपत्-तिथि में सूर्य की अल्प-रश्मियाँ चन्द्रमा पर पड़ती हैं जिससे चन्द्रमा अमावास्या की रात्रि के पश्चात् प्रकाशित होता है। इस घटना को सूर्या का विवाह कहा है, मानो रश्मिरूपी सूर्यकन्या विवाहित होकर चन्द्रमा के घर गई है। इस घटना को निम्नलिखित मन्त्र में भी दर्शाया है। यथा—

अत्रा ह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्। इत्था चन्द्रमसो गृहे। (ऋ० १.८४.१५)॥

अर्थात् "चन्द्रमा के इस घर में सूर्यरश्मि का नमन अर्थात् गमन, अवशिष्ट सूर्यरश्मियों ने मान लिया, स्वीकार कर लिया। यह नमन है त्वष्टा अर्थात् रूपाधिपति सूर्य से सौररश्मि का अपीच्य अर्थात् अपगत होना, सूर्य से हट कर चन्द्रमा के घर जाना"। अथवा "पुष्करम्" कमल। अथर्ववेद में, माघमास में

विवाह सम्बन्धी वचन प्रदान और फाल्गुन अर्थात् वसन्त में विवाह करने का निर्देश किया है, यथा "**मघासु हन्यन्ते गावः फल्गुनीषु व्युह्यते**" (१४.१.१३); गावः हन्यन्ते वचनानि दीयन्ते। वसन्त में प्राकृतिकदृश्य अतिसुहावने हो जाते हैं। वृक्षों में नव किसलय तथा पुष्प विकसित होते और पुष्पों की गन्ध को लेकर वायु प्रवाहित होने लगती है—यह दृश्य पृथिवी के कारण होता है। इसलिए मनुष्य तथा सूर्या के विवाह के इस काल में सर्वत्र पृथिवी के सौरभ का विस्तार होता है]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भूमिः**॥ छन्दः—**सप्तपदोष्णिगनुष्टुब्गर्भा शक्वरी**॥

यस्ते गन्धः पुरुषेषु स्त्रीषु पुंसु भगो रुचिः।
यो अश्वेषु वीरेषु यो मृगेषूत हस्तिषु।
कन्यायां वर्चो यद्भूमे तेनास्माँ अपि सं सृज मा नो द्विक्षत कश्चन॥ २५॥

अर्थ—(यः ते गन्धः) जो तेरा गन्ध (पुरुषेषु) पौरुषशक्ति सम्पन्न मनुष्यों में, (स्त्रीषु) स्त्रियों में, (पुंसु) तथा वृद्धिशील मनुष्यों में है, तथा जो (भगः) तेरा भग और (रुचिः) दीप्ति या रोचकता है, (यः) जो (अश्वेषु) अश्वों में, (वीरेषु) वीर योद्धाओं में, (यः) जो (मृगेषु) मृगों में (उत) और (हस्तिषु) हाथियों में है, (यद्) जो (वर्चः) दीप्ति (कन्यायाम्) कन्या में है, (भूमे) हे उत्पादिका पृथिवी! (तेन) उसके साथ (अस्मान् अपि) हमारा भी (संसृज) संसर्ग कर, ताकि (नः) हमारे साथ (कश्चन) कोई भी (मा द्विक्षत) न द्वेष करे।

[मन्त्र में गन्ध पद, घ्राणेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य "पृथिवी के गन्ध गुणमात्र" का निर्देश नहीं करता, अपितु सामान्य रूप से उसके "अंश" का निर्देश करता है इसलिए भगः, रुचिः, तथा वर्चः—इनका समन्वय सम्भव हो सकता है। "पुरुषेषु" आदि में भिन्न-भिन्न पार्थिव अंशों का सम्बन्ध है, इन अंशों के सम्बन्ध से पुरुष आदि में भिन्न-भिन्न शक्तियाँ प्रकट होती हैं। जैसे कि एक ही माता से उत्पन्न सन्तानों में, माता के भिन्न-भिन्न अंशों के समावेश द्वारा, सन्तानों में भिन्न-भिन्न आकृतियाँ तथा गुण प्रकट होते हैं।

पुरुषों, स्त्रियों, वृद्धिशील मनुष्यों, अश्वों, वीरों, मृगों, हस्तियों, तथा कन्या में, पृथक्-पृथक् पार्थिव अंशों के होने से, उनमें भग, रुचि तथा वर्चस् आदि गुणों का भी पार्थक्य है। किसी भी एक पुरुष में इन भिन्न-भिन्न गुणों तथा शक्तियों का एकत्रीकरण सम्भव नहीं। अतः मन्त्र में इन गुणों और शक्तियों के संसर्ग की जो इच्छा प्रकट की गई है उसका यह अभिप्राय है कि हमारे सामाजिक जीवनों में इन भिन्न-भिन्न गुणों वाले व्यक्ति हों, ताकि ऐसे व्यक्तियों की सत्ता होने पर, किसी को हमारे साथ राजनैतिक द्वेष करने का साहस न हो।

पुंसु=पुंस् अभिवर्धने। भगः=**ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा**। रुचिः=रुच् दीप्तौ। वर्चस्=वर्च् दीप्तौ। रुचि में रोचकता, तथा वर्चस् में कान्ति की विशेष भावना है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भूमिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

शिला भूमिरश्मा पांसुः सा भूमिः सन्धृता धृता।
तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नमः॥ २६॥

अर्थ—(शिला) पत्थर, (अश्मा) कीमती पत्थर, (पांसुः) रेता और धूल, (भूमिः) भूमि है। (सा

भूमिः) वह भूमि (संधृता) सम्यक् साधनों द्वारा धारित हुई (धृता) धारित होती है। (हिरण्यवक्षसे) छाती में सुवर्ण वाली (तस्यै पृथिव्यै) उस पृथिवी के लिए (नमः अकरम्) मैंने नमस्कार किया है।

भूमिः=यह शब्द पृथिवी की उत्पादक शक्ति को सूचित करता है। शिला=वे पत्थर जिनसे शैल अर्थात् पर्वत बने हैं। संधृता=सम्यक् साधन, देखो (अथर्व० १२.१.१)। हिरण्यवक्षसे द्वारा यह दर्शाया है कि हिरण्य की खानें बहुत गहरी नहीं होतीं]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भूमिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यस्यां वृक्षा वानस्पत्या ध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वहा।
पृथिवीं विश्वधायसं धृतामच्छावदामसि॥ २७॥

अर्थ—(यस्याम्) जिसमें (वृक्षाः) नानाविध वृक्ष, तथा (वानस्पत्याः) वनों के पेड़ या फलदार वृक्ष (ध्रुवाः) स्थिररूप में (विश्वहा) सदा (तिष्ठन्ति) स्थित रहते हैं, उस (विश्वधायसम्) सर्वपालिका तथा (धृताम्) सत्यादिसाधनों द्वारा धारित हुई (अथर्व० १२.१.१, २६) (पृथिवीम्) पृथिवी के प्रति, (अच्छ आवदामसि) हम सब अच्छे अर्थात् प्रशंसा के वचन सर्वत्र कहते हैं।

[अच्छ Pure (आप्टे); स्वच्छ। तथा अच्छाभी आभिमुख्ये। विश्वहा=वश्विाहा]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भूमिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

उदीराणा उतासीनास्तिष्ठन्तः प्रक्रामन्तः।
पद्भ्यां दक्षिणसव्याभ्यां मा व्यथिष्महि भूम्याम्॥ २८॥

अर्थ—(उदीराणाः) उठते हुए, (उत) और (आसीनाः) बैठते हुए, (तिष्ठन्तः) खड़े होते हुए, या (दक्षिणसव्याभ्याम् पद्भ्याम्) दाहिने और बाएँ पैरों द्वारा (प्रक्रामन्तः) चलते हुए, (भूम्याम्) भूमि में, (मा व्यथिष्महि) हम व्यथा अर्थात् कष्ट न पाएँ।

[पृथिवी पर ऐसा राज्य होना चाहिए कि किसी अवस्था में भी, किसी से, हमें व्यथा न प्राप्त हो]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भूमिः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

विमृग्वरीं पृथिवीमा वदामि क्षमां भूमिं ब्रह्मणा वावृधानाम्।
ऊर्जं पुष्टं बिभ्रतीमन्नभागं घृतं त्वाभि नि षीदेम भूमे॥ २९॥

अर्थ—(विमृग्वरीम्) विशुद्ध शोधयोग्य, या विशिष्टगति में श्रेष्ठ, (क्षमाम्) क्षमावृत्तिवाली अर्थात् सहनशील, (ब्रह्मणा) परमेश्वर या ब्रह्मोपासक तथा वेदज्ञ व्यक्ति द्वारा (अथर्व० १२.१.१) (वावृधानाम्) वृद्धि को प्राप्त होती हुई, (ऊर्जम्) बलप्रद तथा प्राणप्रद, (पुष्टम्) तथा पुष्टिदायक (अन्नभागम्) भजनीय अर्थात् सेवनीय अन्न को (घृतम्) तथा घृत को (बिभ्रतीम्) धारण करती हुई (भूमिम्) उत्पादिका पृथिवी के प्रति (आवदामि) आदरपूर्वक मैं कहता हूँ कि (भूमे) हे भूमि! (त्वा) तुझ पर (अभि नि षीदेम) हम सब एक-दूसरे के अभिमुख होकर सदा बैठें।

[विमृग्वरीम्[१]=वि+मृज् (शुद्धौ)+वरीम्; अथवा शोध अर्थात् खोजने योग्य, या वि+**मृग** (**मार्ष्टेर्गतिकर्मणः**, निरु० १.६.२०),+वरीम्=पृथिवी सूर्य की प्रदक्षिणा करती हुई भी हम में हलचल

---

१. शोधकार्य=Research वि+ मृग् (अन्वेषणे)+क्वनिप्+र+ङीप् (**वनो र च**, अष्टा० ४.१.७)।

पैदा नहीं करती अतः यह "वरी" श्रेष्ठ है। अभि=परस्पर के अभिमुख बैठने में पारस्परिक प्रेम सूचित होता है। अच्छाभी आभिमुख्ये]।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**त्रिपदा विराड् गायत्री** ॥

शुद्धा न आपस्तन्वे᳕ क्षरन्तु यो नः सेदुरप्रिये तं नि दध्मः।
पवित्रेण पृथिवि मोत्पुनामि॥ ३०॥

अर्थ—(शुद्धाः आपः) शुद्ध जल (नः तन्वे) हमारे शरीर के लिए (क्षरन्तु) बहें, (नः) हमारा (यः) जो (सेदुः) अपवित्र विनाशकारी कर्म है उसे (अप्रिये) अप्रियपक्ष में (नि दध्मः) हम स्थापित करते हैं, (पृथिवि) हे पृथिवी! (पवित्रेण) पवित्र कर्म द्वारा (मा) अपने-आप को (उत्पुनामि) मैं पवित्र करता हूँ, और उत्कृष्ट बनता हूँ।

[तन्वे=स्नान तथा पीने के लिए। अप्रिये=अपवित्र कर्मों के साथ अनुराग न कर, उनके प्रति उपेक्षा करनी चाहिए। सेदुः=षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु]।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यास्ते प्राचीः प्रदिशो या उदीचीर्यास्ते भूमे अधराद्याश्च पश्चात्।
स्योनास्ता मह्यं चरते भवन्तु मा नि पप्तं भुवने शिश्रियाणः॥ ३१॥

अर्थ—(याः) जो (ते) तेरी (प्राचीः प्रदिशः) पूर्व की फैली दिशाएँ हैं, (याः उदीचीः) जो उत्तर की, (भूमे) हे पृथिवी! (याः ते अधराद्) जो तेरी दक्षिण की (च याः पश्चात्) और जो कि पश्चिम की फैली दिशाएँ हैं, (ताः) वे सब (चरते मह्यम्) चलते फिरते मेरे लिए (स्योनाः भवन्तु) सुखकारी हों। (भुवने) उत्पन्न जगत् में (शिश्रियाणः) आश्रय पाया हुआ मैं (मा निपप्तम्) अधः पतित न होऊँ।

[स्योनाः, **स्योनं सुखनाम** (निघं० ३.६)। या प्राचीः=प्राची आदि दिशाओं में बहुवचन है। प्रत्येक दिशा भिन्न-भिन्न प्रदेशों की अपेक्षा से नाना हो जाती हैं। मा नि पप्तम्=मन्त्र ३० में पवित्र कर्मों द्वारा पवित्र होने का वर्णन है, उसी की पुष्टि "मा निपप्तम्" द्वारा की है। अतः पादस्खलन द्वारा पतन का वर्णन मन्त्र में नहीं है]।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**पुरस्ताज्ज्योतिस्त्रिष्टुप्** ॥

मा नः पश्चान्मा पुरस्तान्नुदिष्ठा मोत्तरादधरादुत।
स्वस्ति भूमे नो भव मा विदन्परिपन्थिनो वरीयो यावया वधम्॥ ३२॥

अर्थ—(भूमे) हे पृथिवी! (पश्चात्) पश्चिम से (नः) हमें (मा नुदिष्ठाः) न धकेल, (मा) न (पुरस्तात्) पूर्व से, (मा उत्तरात्) न उत्तर से, (उत) और (अधरात्) न दक्षिण से धकेल। (नः) हमारे लिए (स्वस्ति भव) कल्याणमयी तू हो, (परिपन्थिनः) चोर डाकू आदि (मा विदन्) हम में विद्यमान न हों, (वधम्) युद्धों में हुए वध को तथा मारक शस्त्रास्त्र को (वरीयः) अति दूर (यावय) कर।

[युद्धों में प्रजाजनों को सुरक्षित स्थान के लिए अपना पहिला निवास स्थान छोड़ना पड़ता है। मन्त्र में यह भावना प्रकट की गई है कि पृथिवी पर युद्ध न हों ताकि सब पृथिवीवासियों का कल्याण हो सके, और न ही पृथिवीवासियों में चोर और डाकू ही विद्यमान हों। कश्मीरस्थ केकय प्रदेश के राजा अश्वपति

के आदर्श राज्य के सम्बन्ध में राजा अश्वपति कहता है कि—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः। नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरणी कुतः॥

कैसा उत्तम आदर्श राज्य है अश्वपति का]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भूमिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यावत्तेभि विपश्यामि भूमे सूर्येण मेदिना।
तावन्मे चक्षुर्मा मेष्टोत्तरामुत्तरां समाम्॥ ३३॥

अर्थ—(भूमे) हे भूमि! (सूर्येण मेदिना) स्नेही सूर्य की सहायता से (यावत्) जब तक (अभि) तेरी ओर (विपश्यामि) मैं विवेक पूर्वक देखता रहूँ, (तावत्) तब तक (मे चक्षुः) मेरी आँख, (उत्तराम् उत्तराम् समाम्) उत्तरोत्तर वर्षों में, (मा मेष्ट) नष्ट न हो।

[सांसारिक जीवन विवेक सम्पन्न होना चाहिए, भोग प्रेरित नहीं। चक्षु प्रायः मनुष्य को सांसारिक भोगों की ओर ले जाते हैं। मन्त्र का अभिप्राय यह है कि चक्षु यदि विवेकी जीवन में सहायक है तो इसकी सत्ता शुभ है, अन्यथा इसकी सत्ता अनावश्यक है। सूर्य तो मानो स्नेहपूर्वक सांसारिक दृश्यों का दर्शन हमें कराता है, परन्तु उनकी उपादेयता और अनुपादेयता में हमें विवेकदृष्टि का प्रयोग करना चाहिए, तभी दृष्टि की सार्थकता होगी। मेदी=मिद् स्नेहने। यावत्, तावत्=यावत् कालम्, तावत् कालम्]।

अथवा "हे भूमि! स्नेही सूर्य की सहायता से तेरे अभिमुख होकर, तेरे जितने भाग को विविध रूपों में मैं देख रहा हूँ तेरे उतने भाग को देखने के लिए मेरी चक्षु उत्तरोत्तर वर्षों में भी बनी रहे"। "पश्येम शरदः शतम्" के लिए यह स्वात्मबोधन (Auto-suggestion) है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भूमिः**॥ छन्दः—**षट्पदा त्रिष्टुब्बृहतीगर्भातिजगती**॥

यच्छयानः पर्यावर्ते दक्षिणं सव्यमभि भूमे पार्श्वम्।
उत्तानास्त्वा प्रतीचीं यत्पृष्टीभिरधिशेमहे।
मा हिंसीस्तत्र नो भूमे सर्वस्य प्रतिशीवरि॥ ३४॥

अर्थ—(भूमे) हे भूमि! (शयानः) सोता हुआ मैं (यत्) जो (दक्षिणं सव्यं पार्श्वम् अभि) दाएँ-बाएँ पासों को (पर्यावर्ते) बदलता हूँ, तथा (उत्तानाः) ऊर्ध्वमुख होकर (यत्) जो (प्रतीचीं त्वा) पीठ की ओर वर्तमान तुझ पर (पृष्टीभिः) पीठ की अस्थियों द्वारा (अधिशेमहे) हम सोते हैं, (तत्र) उस अवस्था में, (सर्वस्य प्रतिशीवरि भूमे) सबको सुलाने वाली हे भूमि! (नः) हमारी (मा हिंसीः) तू हिंसा न कर।

[करवटों पर तथा ऊर्ध्वमुख की अवस्था में सोने पर व्यक्ति स्वस्थ रहता है। अधोमुख अवस्था में सोने पर नासिका द्वारा श्वास-प्रश्वास की गति ठीक नहीं रहती, और छाती के दबे रहने से फेफड़ों का संकोच-विकास भी उचित अवस्था में नहीं रहता। इससे स्वास्थ्य बिगड़ जाता है—यह ही हिंसा है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भूमिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यत्ते भूमे विखनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु।
मा ते मर्म विमृग्वरि मा ते हृदयमर्पिपम्॥ ३५॥

अर्थ—(भूमे) हे भूमि! (ते) तेरा (यत्) जो भाग [हल द्वारा] (विखनामि) खोदता हूँ (तदपि) वह भाग भी (क्षिप्रम्) शीघ्र (रोहतु) पुनः प्ररोहणयोग्य हो जाए। (विमृग्वरि) हे विमृग्वरी (मन्त्र २९) भूमि! (ते) तेरे (मर्म) मर्म को (मा) न (अर्पिपम्) मैं हानि पहुँचाऊँ, (ते) तेरे (हृदयम्) हृदय को (मा) न हानि पहुँचाऊँ।

[हल चला कर बीज बोया जाता है। बीज भूमि के उत्पादक तत्त्वों की सहायता से अङ्कुरित होता, तथा कालान्तर में फल प्राप्ति होती है। इस प्रकार भूमि के उत्पादक तत्त्व क्षीण होते रहते हैं। वायु के द्वारा तथा उचित खाद के द्वारा उस क्षति की पूर्ति करते रहना चाहिए। यह उत्पादकतत्त्व भूमि का मर्म है, इसकी हानि न होनी चाहिए। जलस्रोत पृथिवी का हृदयरूप है। जैसे कि हृदय द्वारा शरीर, रक्त से सींचा जाता है, वैसे जल स्रोत द्वारा भूमि सींची जाती है। खाद और जलस्रोत भूमि के मर्म और हृदयरूप हैं]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भूमिः**॥ छन्दः—**विपरीतपादलक्ष्मा पङ्क्तिः**॥

ग्रीष्मस्ते भूमे वर्षाणि शरद्धेमन्तः शिशिरो वसन्तः।
ऋतवस्ते विहिता हायनीरहोरात्रे पृथिवि नो दुहाताम्॥ ३६॥

अर्थ—(भूमे पृथिवि) हे उत्पादिका पृथिवी! (विहिताः) विधि पूर्वक स्थापित (ते) तेरी (ते) वे (ग्रीष्मः, वर्षाणि, शरद्, हेमन्तः, शिशिरः, वसन्तः ऋतवः) ग्रीष्म, वर्षा, शरद् अर्थात् शीत, हेमन्त[1] अर्थात् घातक शीत, शिशिर अर्थात् पतझड़ और वसन्त ऋतुएँ, (हायनीः) तथा अयनकालों की वर्षाएँ, (अहोरात्रे) तथा दिन और रातें (नः) हमें (दुहाताम्) अन्न आदि का दोहन करते रहें।

[ग्रीष्म=ज्येष्ठ और अषाढ़। वर्षा=श्रावण और भाद्र। शरद्=आश्विन और कार्त्तिक। हेमन्त=मार्गशीर्ष और पौष। शिशिर=माघ और फाल्गुन। वसन्त=चैत्र और वैशाख। हायनीः=स+अयनीः; स के स्थान में ह]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भूमिः**॥ छन्दः—**पञ्चपदा शक्वरी**॥

याप सर्पं विजमाना विमृग्वरी यस्यामासन्नग्नयो ये अप्स्व१न्तः।
परा दस्यून्ददती देवपीयूनिन्द्रं वृणाना पृथिवी न वृत्रम्।
शक्राय दध्रे वृषभाय वृष्णे॥ ३७॥

अर्थ—(या विमृग्वरी) जो विमृग्वरी (मन्त्र २९) (अप सर्पम्) हट-हट कर सर्पण करती हुई (विजमाना) मानो भयपूर्वक चलती है, (यस्याम्) जिसमें कि (अग्नयः आसन्) अग्नियाँ थीं (ये) जो कि (अप्सु अन्तः) मेघीय जलों में हैं। (देवपीयून् दस्यून्) देवों की हिंसा करने वाले, उपक्षयकारी लोगों को (परा ददती) दूर करती हुई (पृथिवी) पृथिवी, (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् पुरुष का (वृणाना) वरण करती है, (वत्रम् न) उन्नति पर आवरण डालने वाले का नहीं। वह पृथिवी (शक्राय) शक्तिशाली, (वृषभाय) श्रेष्ठ, (वृष्णे) सुखों और सम्पत्तियों की वर्षा करने वाले के लिए (दध्रे) परमेश्वर द्वारा धारित की हुई है।

[अपसर्पम्=पृथिवी सूर्य की परिक्रमा कर रही है। परिक्रमा करते समय आगे की ओर बढ़ती हुई पृथिवी बीच-बीच में पीछे की ओर हट जा जाती है, और पुनः आगे की ओर बढ़ती है—पीछे की ओर

---

१. हेमन्तः="**हन्तेर्मुट् हि च**" (उणा० ३.१२९), "**यो हन्ति शीतेन स हेमन्तः**' महर्षि दयानन्द।

हटते रहना "अपसर्पम्"[१] है।

विजमाना="**विजी भयचलनयोः**" पृथिवी के चलने में भय का होना इसलिए कहा है क्योंकि लगातार पृथिवी आगे को नहीं बढ़ती जाती, वह बीच-बीच में पीछे की ओर हट-हट कर चलती है, मानो आगे बढ़ते रहने में उसे भय प्रतीत होता है। भयपूर्वक परिक्रमा का वर्णन कवितामय है।

इसी प्रकार पृथिवी सूर्य की परिक्रमा करती हुई कभी तो सूर्य के समीप हो जाती है, और कभी उससे दूर हट जाती है। शीतकाल में सूर्य के समीप होती है, और ग्रीष्मकाल में उससे परे हट कर दूर हो जाती है—यह भी "अपसर्पम्" है।

अग्नयः=अप्स्वन्तः=मेघीय जलों में अग्नि विद्युत्-रूप में चमकती है। पृथिवी जब द्रवावस्था में थी उस समय पृथिवी स्वयं प्रकाशरूपा थी। उस समय पृथिवी में आग्नेय ज्वालाएँ उठती थीं—इन्हें "अग्नयः" कहा है—

पराददती=जगत् जीवात्माओं के भोग और अपवर्ग अर्थात् मोक्ष के लिए है। देव कोटि के लोग मोक्ष के अधिकारी होते हैं, वृत्र कोटि के नहीं। जगत् का अन्तिम प्रयोजन है मोक्ष। यह तभी सम्भव है जबकि पृथिवी वृत्रों का परादान अर्थात् संहार करती रहे, और देवों का उद्धार करती रहे। इसलिए पृथिवी मानो इन्द्रकोटि के व्यक्ति को अपना स्वामी बनाती है, वृत्र को नहीं, "**इन्द्रश्च सम्राट्**" (यजुः० ८.३७)। इन्द्रः=परमैश्वर्यवान् "**इदि परमैश्वर्ये**", सम्राट्=सम्यक्-राजा]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भूमिः**॥ छन्दः—**षट्पदा जगती**॥

यस्यां सदोहविर्धाने यूपो यस्यां निमीयते।
ब्रह्माणो यस्यामर्चन्त्यृग्भिः साम्ना यजुर्विदः।
युज्यन्ते यस्यामृत्विजः सोममिन्द्राय पातवे॥ ३८॥

अर्थ—(यस्याम्) जिस भूमि में (सदः हविर्धाने) परस्पर मिलकर बैठने तथा अतिथि देवों के लिए कमरे, और खाद्य-पेय वस्तुओं के रखने का कमरा है, (यस्याम्) जिसमें (यूपः) यज्ञस्तम्भ (निमीयते) गाड़ा जाता है। (यस्याम्) जिसमें (ब्रह्माणः) वेदज्ञ (ऋग्भिः, साम्ना) ऋचाओं और सामगानों द्वारा (अर्चन्ति) परमेश्वर की स्तुतियाँ करते हैं, तथा (यजुर्विदः ऋत्विजः) यजुर्वेद के जानने वाले ऋत्विक् (इन्द्राय पातवे) इन्द्र के पीने के लिए (सोमम्) सोमरस को (युज्यन्ते) जुटाते हैं। अथवा "यजुर्वेद के जानने वाले नियुक्त किये जाते हैं, इन्द्र को सोमरस पिलाने के लिए"।

[इन्द्राय=मन्त्र ३७ में इन्द्र द्वारा सम्राट् का कथन हुआ है। प्रकरणानुसार तथा राजनैतिक दृष्टि से भी (१२.१) भी इन्द्र द्वारा सम्राट् का ही वर्णन समझना चाहिए। सोमपान द्वारा सम्राट् शक्ति सम्पन्न होता है शक्राय (मन्त्र ३७)। सदोहविर्धाने=शालानिर्माण में अथर्ववेद का मन्त्र इस सम्बन्ध में प्रकाश डालता है। यथा—

"**हविर्धानमग्निशालं पत्नीनां सदनं सदः। सदो देवानामासि देवि शाले**" (अथर्व० ९.३.७)। मन्त्र में शाला में हविर्धान, अग्निशाल अर्थात् पाक के लिए कमरा या यज्ञशाला, पत्नीनां, सदः, तथा देवानां

१. सर्प अर्थात् सर्पण है मन्दगति से चलना। पृथिवी यद्यपि महावेग से चलती है (मन्त्र १८), परन्तु इसके वेग पूर्वक चलने की अनुभूति हमें नहीं होती, इसलिए इसके चलने का सर्प अर्थात् सर्पण कहा है।

सदः का वर्णन हुआ है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भूमिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यस्यां पूर्वे भूतकृत ऋषयो गा उदानृचुः। सप्त सत्रेण वेधसो यज्ञेन तपसा सह॥ ३९॥

अर्थ—(यस्याम्) जिस पृथिवी में (पूर्वे) अनादि काल से (भूतकृतः) सत्यानुष्ठाता (सप्त) सात (वेधसः) शरीर के विधाता, (ऋषयः) ऋषि कोटि के होकर (सत्रेण) जीवन-सत्र द्वारा (यज्ञेन, तपसा, सह) यज्ञ और तपश्चर्या के साथ (गाः) वेदवाणियों का (उदानृचुः) उत्कृष्टरूप में स्तवन करते रहे हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भूमिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सा नो भूमिरा दिशतु यद्धनं कामयामहे। भगो अनुप्रयुङ्क्तामिन्द्र एतु पुरोगवः॥ ४०॥

अर्थ—(सा भूमिः) वह भूमि (नः) हमें (आदिशतु) दे, (यत् धनम्, कामयामहे) जिस धन की हम कामना करते हैं। (भगः) भगरूपी धन (अनुप्रयुङ्क्ताम्) पीछे लगे, और (इन्द्रः) सम्राट् (पुरोगवः) आगे चलने वाला होकर (एतु) चले।

[शरीर के वेधस् अर्थात् विधाता ७ हैं, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, १ मन, और बुद्धि। ये जब सत्यमार्ग के अनुगामी हो जाते हैं तो ये ७ ऋषिरूप होकर, यज्ञ और तपश्चर्या के साथ, जीवन-सत्र के द्वारा, वेदवाणियों का उत्कृष्टरूप में गान कर, परमेश्वर की आराधना करते हैं। ये सात असत्यमार्ग के अनुगामी होकर न तो शरीर के विधाता बनते, और न ऋषि पदवी को पाते हैं। उस अवस्था में ये वृत्ररूप हो जाते हैं। ये ७ ऋषि शरीर की ही ७ शक्तियाँ हैं—यह निम्न लिखित मन्त्र द्वारा ज्ञात होता है। यथा—

"**सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्**" (यजुः० ३४.५५)। सत्र भी एक प्रकार के यज्ञ हैं जोकि "१३ दिनों से लेकर १०० दिनों में"[1] सम्पादित होते हैं। पुरुष का १०० वर्षों का धार्मिक जीवन भी यज्ञरूप हैं, "**पुरुषो वाव यज्ञः**" (छान्दोग्य० ३.१६.१)। १०० वर्षों का जीवन दीर्घसत्र रूप है। इस दीर्घसत्र में यज्ञिय विचारों और तपश्चर्या के साथ परमेश्वर का उत्कृष्ट स्तवन करना चाहिए। भूतकृतः; भूत=Right, Proper, true (आप्टे) गाः; **गौः वाङ्नाम** (निघं० १.११); (३९), ऐसी भूमि (३९), हम भूमिवासियों के लिए काम्य धन प्रदान करती है, वह काम्य धन है भग; अर्थात् "**ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा**॥ ये ६ भग हैं, जिस धन की कामना मन्त्र में कथित है। अर्थात् सब प्रकार का ऐश्वर्य, मकान, वस्त्र, अन्न, पशु सम्पत्ति आदि; धर्म; धर्म सम्पाद्य यश; शोभा; ज्ञान और वैराग्य अर्थात् त्यागमय जीवन। मन्त्र में कहा है कि इन भगों के उपार्जन में सम्राट् को अगुआ होना चाहिए, तब प्रजाजन भी इन भगों के अनुसार जीवनों को ढालेंगे]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भूमिः**॥ छन्दः—**षट्पदा ककुम्मती शक्वरी**॥

यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलिवाः।
युध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां वदति दुन्दुभिः।
सा नो भूमिः प्र णुदतां सपत्नानसपत्नं मा पृथिवी कृणोतु॥ ४१॥

अर्थ—(यस्यां भूम्याम्) जिस भूमि में (व्यैलवाः) विविध प्रकार की क्रीड़ाओं को करने वाले

---

१. आप्टे। सत्र १००० दिनों द्वारा भी सम्पादित होते हैं।

(मर्त्याः) मनुष्य (गायन्ति, नृत्यन्ति) गाते ओर नाचते हैं, (यस्याम्) जिसमें (युध्यन्ते, आक्रन्दः) युद्ध करते और युद्ध में परस्पर ललकारते हैं, (यस्याम्) जिसमें (दुन्दुभिः वदति) युद्ध के समय तथा खुशी के समय नगाड़े बजते हैं, (सा भूमिः) वह भूमि (नः सपत्नान्) हमारे शत्रुओं को (प्रणुदताम्) परे धकेले, और (मा) मुझे (पृथिवी) पृथिवी (असपत्नम्) शत्रुरहित (कृणोतु) करे।

[मन्त्र में मनुष्यों के स्वाभाविक जीवनों को चित्रित किया है। सम्राट् अपने लिए पृथिवी को शत्रुरहित चाहता है। व्यैलवाः=वि+एला (विलासे)+वाः (वाले), यथा **एला केला खेला विलासे** (कण्ड्वादिगण)। विलासः=Sport, Play, pastime (आप्टे)। आक्रन्दः=**क्रदि आह्वाने;** यथा "**मल्लो मल्लमाह्वयते**]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भूमिः**॥ छन्दः—**स्वराडनुष्टुप्**॥

यस्यामन्नं व्रीहियवौ यस्या इमाः पञ्च कृष्टयः।
भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोऽस्तु वर्षमेदसे॥ ४२॥

अर्थ—(यस्याम्) जिस भूमि में (अन्नम्, व्रीहियवौ) नानाविध अन्न[1], तथा धान और जौं होते हैं, (यस्याः) जिसके (इमाः पञ्च कृष्टयः) विस्तृत ये कृषिकर्म होते हैं। (वर्षमेदसे) वर्षा द्वारा स्निग्ध हुई, (पर्जन्यपत्न्यै) मेघ की पत्नीरूपा (भूम्यै) भूमि के लिए, (नमः अस्तु) नमस्कार हो।

[व्रीहिः=धान; जिसके कूटने पर तण्डुल प्राप्त होते हैं। पञ्च=**पचि विस्तारे**। कृष्टयः; कृष्टि=कृषि; कृष्+क्तिन्। भूमि का पति मेघ कहा है। मेघ जल रूपी वीर्य का सिञ्चन पृथिवी में करता है जिससे अन्न आदि पैदा होते हैं। भूमि द्वारा संकुचित राष्ट्र का ग्रहण नहीं होता, अपितु समग्र पृथिवी का ग्रहण होता है। समग्र पृथिवी को माता मान कर उसके प्रति नमस्कार का विधान किया है। "**पर्जन्यपत्न्यै**" कविता रूप में कहा है। कृष्टि=Plouging, cultivating the soil (आप्टे)]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भूमिः**॥ छन्दः—**विराडास्तारपङ्क्तिः**॥

यस्याः पुरो देवकृताः क्षेत्रे यस्या विकुर्वते।
प्रजापतिः पृथिवीं विश्वगर्भामाशामाशां रण्यां नः कृणोतु॥ ४३॥

अर्थ—(यस्याः) जिस पृथिवी के (पुरः) नगर (देवकृताः) दिव्यशिल्पियों द्वारा निर्मित हैं, (यस्याः क्षेत्रे) जिसके खेतों में (विकुर्वते) देवलोग विविध कर्मों को करते हैं। (प्रजापतिः) समग्र प्रजाओं का स्वामी या रक्षक अर्थात् परमेश्वर या अधिष्ठाता (मन्त्र ११), (विश्वगर्भाम् पृथिवीम्) सब पदार्थों की उत्पादिका पृथिवी को (नः) हमारे लिए (आशाम्, आशाम्) प्रत्येक दिशा में (रण्याम्) रमणीय अर्थात् सुन्दररूपा (कृणोतु) करे।

[समग्र पृथिवी का अधिष्ठाता इन्द्रेन्द्र अर्थात् सम्राटों का सम्राट्, पृथिवी को शोभा[2]सम्पन्न करे। पृथिवी पर नगर उत्तमशिल्पियों द्वारा निर्मित होने चाहिएँ]।

---

१. यजुर्वेद १८.१२ में विविध अन्नों का वर्णन हुआ है। वे हैं "व्रीहयः, यवाः, माषाः, तिलाः, मुद्गाः, खल्वाः, प्रियङ्गवः, अणवः, श्यामाकाः, नीवाराः, गोधूमाः, मसूराः।

२. स्थान-स्थान पर उद्यान् कूप, तालाब, क्रीड़ा भूमियाँ आदि होनी चाहिएँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भूमिः**॥ छन्दः—**जगती**॥

निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे।

वसूनि नो वसुदा रासमाना देवी दधातु सुमनस्यमाना॥ ४४॥

अर्थ—(गुहा) खानों में (बहुधा) बहुत प्रकार की (निधिम्) निधियों को (बिभ्रती) धारण करती हुई (पृथिवी) पृथिवी, (मे) मुझे (वसु) धन, (मणिम्) रत्न, (हिरण्यम्) सुवर्ण (ददातु) प्रदान करे। (वसुदा) धन देने वाली (वसूनि) धनों को (रासमाना) देती हुई, (सुमनस्यमाना) प्रसन्नमन हुई, (देवी) दिव्यगुणों वाली पृथिवी (नः) हमारा (दधातु) धारण-पोषण करे।

(मे, नः=प्रत्येक पृथिवीवासी यदि वसु आदि से सम्पन्न होगा तभी समग्र प्रजा प्रसन्नचित्त हो सकती है। कतिपय लोगों के सम्पत्तिशाली होने से, और अवशिष्ट प्रजाजनों के निर्धन होने से पृथिवी पर सौमनस्य नहीं हो सकता, ओर न पृथिवी माता सुप्रसन्नचित्त हो सकती है। पृथिवी यद्यपि जड़ है, अतः इसकी प्रसन्नचित्तता असम्भव है। परन्तु यतः इस पृथिवीसूक्त में पृथिवी को माता कहा है (मन्त्र १२), अतः कविता में इस पर प्रसन्नचित्तता का आरोप किया है। जैसे सन्तानों के प्रसन्नचित्त होने पर उनकी माता प्रसन्नचित्ता होती है, इसी प्रकार पृथिवीवासियों के प्रसन्नचित होने पर पृथिवी माता प्रसन्नचित्त होती है—यह गौण वर्णन है। गुहा=गुफ़ारूप खानें, mines। रासमाना=रासति दानकर्मा (निघं० ३.२०)]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भूमिः**॥ छन्दः—**जगती**॥

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्।

सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती॥ ४५॥

अर्थ—(यथौकसम्) जैसे एक घर में रहने वालों का समानरूप में भरण-पोषण होता है, वैसे (पृथिवी) पृथिवी (बहुधा) बहुत प्रकार के (विवाचसम्) विविध भाषाओं वाले, (नानाधर्माणम्) और भिन्न-भिन्न धर्मों और कर्मों वाले (जनम्) जनसमुदाय का (बिभ्रती) भरण-पोषण करती हुई, (मे) मुझ सम्राट् को, (द्रविणस्य सहस्रम्) हजारों प्रकार के धन (दुहाम्) प्रदान करे, (इव) जैसे (ध्रुवा) स्थिर खड़ी हुई और (अनपस्फुरन्ती) उछल कूद न करती हुई (धेनुः) दुधार गौ, (सहस्रं धाराः दुहाम्) दूध की हजारों धाराएँ देती है।

[मनुष्यों के मनोविज्ञान तथा स्वभाव के कारण, तथा भिन्न-भिन्न स्थानों में रहने और भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के कारण भाषाओं में भेद आ जाना, तथा विचार-भेद के कारण धर्मों और कर्मों में भेद का हो जाना अनिवार्य है—इनका पूर्व विचार करके मन्त्र में "विवाचसम्, तथा नानाधर्माणम्" का कथन हुआ है, और सदुपदेश दिया है "यथौकसम्" द्वारा]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भूमिः**॥ छन्दः—**षट्पदाऽनुष्टुब्गर्भा परा शक्वरी**॥

यस्ते सर्पो वृश्चिकस्तृष्टदंश्मा हेमन्तजब्धो भृमलो गुहा शये। क्रिमिर्जिन्वत्पृथिवि

यद्यदेजति प्रावृषि तन्नः सर्पन्मोप सृपद्यच्छिवं तेन नो मृड॥ ४६॥

अर्थ—(तृष्टदंश्मा) जिसका काटना प्यास लगाता है, (हेमन्तजब्धः) अतिशीत से ठिठुरा हुआ, (भृमलः) भरमाया हुआ (यः) जो (सर्पः, वृश्चिकः) सांप और बिच्छु (ते गुहा) तेरी गुफा में (शये) शयन करता है। (पृथिवि) हे पृथिवी! (प्रावृषि) वर्षा के आरम्भ में (यत् यत्) जो जो (जिन्वत्) प्रसन्न

होता (क्रिमिः) कीड़ा (एजति) चलता-फिरता है (तत्) वह (सर्पत्) सर्पण करता हुआ (नः उप) हमारे समीप (मा सृपत्) न सर्पण करे। हे पृथिवी! (यत्) जो (शिवम्) कल्याणकारी है (तेन) उस द्वारा (नः) हमें (मृड) सुखी कर।

[साँप बिच्छु आदि से अपने आप को सुरक्षित रखने का उपदेश दिया है। वर्षाकाल में सुरक्षा पर विशेष ध्यान देना चाहिए]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भूमिः**॥ छन्दः—**षट्पदोष्णिगनुष्टुब्गर्भा परातिशक्वरी**॥

ये ते पन्थानो बहवो जनायना रथस्य वर्त्मानसश्च यातवे। यैः संचरन्त्युभये भद्रपापास्तं पन्थानं जयेमानमित्रमतस्करं यच्छिवं तेन नो मृड॥ ४७॥

अर्थ—हे पृथिवी! (ये) जो (ते) तेरे (बहवः) बहुत (पन्थानः) मार्ग हैं, (जनायनाः) जिन पर जन आते जाते या चलते हैं; जो (रथस्य) रथ के (अनसः च) और बैल गाड़ी के (यातवे) जाने के लिए (वर्त्मा) मार्ग हैं, (यैः) जिन द्वारा (भद्रपापाः) भद्र लोग और पापी (उभये) दोनों (संचरन्ति) मिल कर चलते हैं, (तं पन्थानम्) उस मार्ग को (अनमित्रम्) शत्रुरहित, (अतस्करम्) और चोरों डाकुओं से रहित [कृधि] कर, (जयेम) उस मार्ग पर हम विजय पा लें, उसे अपने अधीन कर लें। (यत्) जो (शिवम्) कल्याणकारी है (तेन) उस द्वारा (नः) हमें (मृड) सुखी कर।

[(१) पृथिवी पर बहुत मार्ग होने चाहिएँ, मनुष्यों के जाने-आने के लिए। (२) रथों के मार्ग अलग होने चाहिएँ। (३) बैलगाड़ी के मार्ग भी अलग होने चाहिएँ। (४) जनायन मार्गों पर भले बुरे दोनों प्रकार के मनुष्य मिल कर चल सकने चाहिएँ। (५) अपने मार्गों की सुरक्षा का प्रबन्ध होना चाहिए ताकि शत्रु उन पर स्वामित्व न कर सके, उन पर विजय न पा सके। (६) मार्ग चोरों डाकुओं से रहित होने चाहिएँ। (७) जीवन के लिए कल्याणकारी मार्ग का अवलम्बन कर सुख प्राप्त करना चाहिए। यह सब प्रबन्ध पृथिवी के राज्याधिकारियों को करना चाहिए। अतस्करम्=देखो मन्त्र ३२ की व्याख्या]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भूमिः**॥ छन्दः—**पुरोऽनुष्टुप् त्रिष्टुप्**॥

मल्वं बिभ्रती गुरुभृद्भद्रपापस्य निधनं तितिक्षुः।
वराहेण पृथिवी संविदाना सूकराय वि जिहीते मृगाय॥ ४८॥

अर्थ—(मल्वम्) मलिन व्यक्ति का (बिभ्रती) भरण-पोषण करती हुई, तथा (गुरुभृत्) गौरवशाली व्यक्ति का भरण-पोषण करने वाली, (भद्रपापस्य) भद्रों-और-पापियों के (निधनम्) परिवारों और कुलों का (तितिक्षुः) सहन करने वाली (पृथिवी) पृथिवी, (वराहेण) मेघ के साथ (संविदाना) ऐकमत्य को प्राप्त हुई, (सूकराय) उत्तम किरणों वाले (मृगाय) शोधक सूर्य के लिए (वि जिहीते) विशेषतया गति कर रही है।

[निधनम्=Family race (आप्टे)। वराहेण; **वराहः मेघनाम** (निघं० १.१०)। सूकराय=सु+उ+कर (A ray of light, beam,) (आप्टे) मृगाय=**मृजूष् शुद्धौ**। जिहीते=**ओहाङ् गतौ**। संविदाना=पृथिवी जल देती है मेघ को, और मेघ जल देता है पृथिवी को। मानो ये दोनों इस दृष्टि से ऐकमत्य को प्राप्त हैं। मृगाय विजिहीते=मृगं अर्थात् **सूर्यं प्राप्तुं सेवितुं वा विजिहीते गच्छति** ("**क्रियार्थोपपदस्य**" अष्टा० २.३.१४) इति कर्मणि चतुर्थी)। पृथिवी सूर्य की ओर क्यों प्रयाण कर रही है—यह निम्नलिखित मन्त्र

द्वारा स्पष्ट हो सकेगा। यथा "**आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन् मातरं पुरः। पितरं च प्रयन्त्स्वः** (यजु:० ३.६)। इस मन्त्र में "गौ" का अर्थ है पृथिवीगोलक, इसकी माता है अन्तरिक्ष, जिसकी कि गोदी में यह बैठी हुई है। यह "पुरः" अर्थात् पूर्व की ओर "अक्रमीत्" पग बढ़ा रही है, गति कर रही है, "स्वः पितरम्" प्रकाशमान पिता अर्थात् सूर्य की ओर "प्रयन्' प्रयाण करती हुई। इस मन्त्र में लौकिक व्यवहार का भी निर्देश किया है। पृथिवी को बेटी कहा है और सूर्य को पिता। बेटियाँ पिता को मिलने या उसकी सेवा के लिए पितृगृह में जाया ही करती हैं]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भूमिः**॥ छन्दः—**जगती**॥

ये त आरण्याः पशवो मृगा वने हिताः सिंहा व्याघ्राः पुरुषादश्चरन्ति।
उलं वृकं पृथिवि दुच्छुनामित ऋक्षीकां रक्षो अप बाधयास्मत्॥ ४९॥

अर्थ—(पृथिवि) हे पृथिवी! (ते) तेरे (ये) जो (आरण्याः पशवः) अरण्यवासी पशु हैं, तथा (वने हिताः मृगाः) वन में निहित मृग हैं, तथा (पुरुषादः) पुरुषों को खाने वाले (सिंहाः व्याघ्राः) शेर और व्याघ्र (चरन्ति) तुझ पर विचरते हैं। (उलम्[१] वृकम्) गर्म स्वभाव वाले भेड़िये को, (दुच्छुनाम्[२] ऋक्षीकाम्) दुःखदायिनी रिच्छनी को, तथा (रक्षः) राक्षसी स्वभाव वाले मनुष्य को हे पृथिवी! (अस्मत् इतः) इस हमारे निवास स्थान से (अपबाधय) दूर कर दे।

[समग्र-पृथिवी के शासक का यह कर्त्तव्य है कि वह मनुष्यघातक पशुओं, तथा खेतों को खा जाने वाले मृगों को, तथा चोरों डाकुओं आदि मनुष्यों को, नगरों और बस्तियों में न आने देने का प्रबन्ध करे। अरण्यम्=अरमणीयम् अर्थात् घने जङ्गल, जिनमें जाना भयप्रद है। ऋग्वेद में बड़े अरण्य के साथ भय का वर्णन है। यथा "**अरण्यान्यरण्यान्यसौ या प्रेव नश्यसि। कथा ग्रामं न पृच्छसि न त्वा भीरिव विन्दतीँ३**॥ (ऋ० १०.१४६.१)।

वने=वन में मृगों का वर्णन है, अतः वन भद्र नहीं। वन=**वनु याचने,** तथा **वन संभक्तौ**। वानप्रस्थी वन की याचना करते हैं, तथा इनका सेवन करते हैं]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भूमिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ये गन्धर्वा अप्सरसो ये चारायाः किमीदिनः।
पिशाचान्त्सर्वा रक्षांसि तानस्मद्भूमे यावय॥ ५०॥

अर्थ—(ये) जो (गन्धर्वाः) हिंसा करने के निमित्त घूमते रहते हैं, (अप्सरसः) तथा धर्मापेतगतिवाले हैं, (ये च) और जो (अरायाः) अदानी, अर्थात् कंजूस स्वार्थी हैं, तथा (किमीदिनः) "**किम्, इदानीमिति चरते; किमिदं किमिदमिति वा**" (निरु० ६.३.११), कि "अब क्या होगा, यह क्या है, यह क्या है"—इस प्रकार प्रश्नपूर्वक दूसरों की गतिविधि की टोह में विचरते रहते हैं (तान्) उन्हें; तथा (पिशाचान्) मांस-भक्षकों और (सर्वा रक्षांसि) सब राक्षसी स्वभावों वाले मनुष्यों को (भूमे) हे भूमि (अस्मत्) हम से (यावय) पृथक् कर।

[समग्र पृथिवी के अधिष्ठाता (मन्त्र ११) से यह याचना की गई है। गन्धर्वाः=गन्ध अर्दने+अर्व

---

१. उलम्=**उष दाहे**। षकारस्य लकारः। यथा उल्का, उल्मुकम्, में ष् को ल हुआ है (उणा० ३.४२; ३.८४)।
२. दुच्छुनाम्=दुः+शुनम् (सुखनाम निघं० ३.६) अर्थात् दुःखदायिनी। अथवा दुःशुनी=बुरी कुतिया के सदृश।

(गतौ)। अप्सरस:;-यह पद स्त्रीलिङ्ग नहीं। क्योंकि इनका भी "ये" पद द्वारा निर्देश किया है। अराया: अ+रा (दाने)। पिशाचा:=पिश=पिशित (मांस)+अच[१] (याचने या अञ्च् गतौ)। रक्षांसि=**रक्षितव्यमस्मादिति रक्षः** (निरुक्त ४.३.१८); **रहसि क्षणोतीति वा** (निरुक्त ४.३.१८)]।

ऋषि:—**अथर्वा**॥ देवता—**भूमिः**॥ छन्द:—**षट्पदाऽनुष्टुब्गर्भा ककुम्मती शक्वरी**॥

यां द्विपादः पक्षिणः संपतन्ति हंसाः सुपर्णाः शकुना वयांसि।

यस्यां वातो मातरिश्वेयते रजांसि कृण्वंश्च्यावयंश्च वृक्षान्।

वातस्य प्रवामुपवामनु वात्यर्चिः॥ ५१॥

अर्थ—(याम्) जिसकी ओर (द्विपाद: पक्षिण:) दो पैरों वाले पक्षी, अर्थात् (हंसा:) हंस, (सुपर्णा:) गरुड़, (शकुना:) शक्तिशाली गीध-चील, (वयांसि) कौए (सं पतन्ति) संपात करते हैं। (यस्याम्) जिसमें (मातरिश्वा) वायु, माता अर्थात् अन्तरिक्ष में बहने वाली वायु—(रजांसि कृण्वन्) धूलि उड़ाती हुई, (वृक्षान् च च्यावयन्) और वृक्षों को गिराती हुई (ईयते) गति करती है, तथा (वातस्य) वायु के (प्रवाम्, उपवाम्, अनु) परे-हटने और समीप-आने के अनुसार (अर्चि:) अग्नि की ज्वाला (वाति) परे-हटती और समीप-आती है।

[प्रबल वायु के प्रवाह में वृक्षों में रगड़ के कारण अग्नि के प्रज्वलित हो जाने पर वायु के अनुसार ज्वाला की गति का वर्णन हुआ है। संपतन्ति=पक्षी स्वच्छन्दता से अन्तरिक्ष में विहार करते हैं, परन्तु थक कर पुन: पृथिवी पर संपात करते हैं। इस प्रकार पृथिवी पक्षियों के लिए भी विश्राम भूमि है]।

ऋषि:—**अथर्वा**॥ देवता—**भूमिः**॥ छन्द:—**पञ्चपदाऽनुष्टुब्गर्भा परातिजगती**॥

यस्यां कृष्णमरुणं च संहिते अहोरात्रे विहिते भूम्यामधि।

वर्षेण भूमिः पृथिवी वृतावृता सा नो दधातु भद्रया प्रिये धामनिधामनि॥ ५२॥

अर्थ—(यस्याम्, भूम्याम्, अधि) जिस उत्पादिका-भूमि में (कृष्णं च अरुणम्) काले और चमकीले (अहोरात्रे) रात और दिन (संहिते) परस्पर में मिले हुए (विहिते) विहित हैं, (सा) वह (भूमि: पृथिवी) उत्पादिका तथा विस्तृत पृथिवी, (वर्षेण) वर्षा द्वारा (वृता, आवृता) लिपटी और ढकी हुई, (भद्रया) भद्रबुद्धि के साथ (न:) हमें (प्रिये धामनि धामनि) प्रिय स्थानों में (दधातु) स्थापित करे।

[मन्त्र ५१ में ग्रीष्म ऋतु के वर्णन के पश्चात् मन्त्र ५२ में वर्षा ऋतु का वर्णन हुआ है। वर्षा ऋतु में प्रत्येक स्थान प्रिय प्रतीत होने लगता है। अरुणम्=**अरुणः आरोचनः** (निरुक्त ५.४.२१)। दिन आरोचन होता है, रुचिकर तथा चमकीला होता है]।

ऋषि:—**अथर्वा**॥ देवता—**भूमिः**॥ छन्द:—**पुरोबार्हतानुष्टुप्**॥

द्यौश्च म इदं पृथिवी चान्तरिक्षं च मे व्यचः।

अग्निः सूर्य आपो मेधां विश्वे देवाश्च सं ददुः॥ ५३॥

अर्थ—(द्यौ: च, पृथिवी च) द्युलोक और पृथिवी ने (मे) मुझे (इदम् व्यच:) यह विस्तार, (अन्तरिक्षम् च) तथा अन्तरिक्ष ने (मे) मुझे यह विस्तार (सं ददु:) दिया है। (अग्नि: सूर्य:, आप:,

---

१. जो मांस की याचना करते या मांस के लिए विचरते रहते हैं।

विश्वेदेवाः च) अग्नि, सूर्य, जल तथा सब देवों ने (मेधाम्) मुझे मेधा (संददुः) दी है।

[मन्त्र ५१ में अतिगर्मी का वर्णन है, अतः बुद्धि निज कार्य में शिथिल पड़ जाती है। मन्त्र ५२ के अनुसार वर्षा ऋतु में गर्मी कम हो जाने से बुद्धि भद्रावस्था में हो जाती है, परन्तु स्थान-स्थान पर कीचड़ और जल की सत्ता के कारण मार्ग रुक जाते हैं, अतः कार्यक्षेत्र संकुचित हो जाता है। परन्तु मन्त्र ५३ के अनुसार शरद् ऋतु के आगमन के कारण कार्यक्षेत्र विस्तृत हो जाता; द्यौ-पृथिवी-अन्तरिक्ष, बादलों के अभाव से स्वच्छ हो जाते, सूखा इन्धन प्राप्त हो जाने के कारण गृह्याग्नि प्रचण्ड होने लगती, सूर्य भी चमकने लगता, जल स्वच्छ हो जाता—इस प्रकार सब देव मिल कर कार्यक्षेत्र के लिए बुद्धि को अधिक विकसित कर देते हैं]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भूमिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम्।

अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहिः॥ ५४॥

अर्थ—(अहम्) मैं (सहमानः अस्मि) पराभव करने वाला हूँ, (भूम्याम्) पृथिवी में (उत्तरः) उत्कृष्ट शक्ति वाला (नाम) प्रसिद्ध हूँ। (अभीषाट् अस्मि) सम्मुख आए का मैं पराभव करता हूँ, (विश्वाषाट्) सबका मैं पराभव करता हूँ, (आशाम् आशाम् विषासहिः) प्रत्येक दिशा में पराजित करता हूँ।

[शरद् ऋतु में विजिगीषु राजा, विजय-यात्रा के निमित्त, निजशक्ति का अभिमान करता है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भूमिः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अदो यद्देवि प्रथमाना पुरस्ताद्देवैरुक्ता व्यसर्पो महित्वम्।

आ त्वा सुभूतमविशत्तदानीमकल्पयथाः प्रदिशश्चतस्रः॥ ५५॥

अर्थ—(देवि) [दिव्यगुणियों के निवास द्वारा] दिव्यगुणवती हे पृथिवी! (अदः) उस (पुरस्तात्) पुराकाल में (यद्) जो (प्रथमाना) कीर्ति द्वारा विस्तार को प्राप्त हुई तू—(देवैः) दिव्यगुणों वाले व्यवहार कुशल व्यापारियों द्वारा (उक्ता) निर्दिष्टमार्गा हुई—(महित्वम्) महिमा की ओर (व्यसर्पः) विशेषतया सरकी है—(तदानीम्) तब (त्वा) तुझमें (सुभूतम्) उत्तम ऐश्वर्य ने (आ अविशत्) आकर प्रवेश किया, और (चतस्रः प्रदिशः) चारों दिशाओं [के निवासियों] को (अकल्पयथाः) तूने सामर्थ्ययुक्त किया।

[अकल्पयथाः=**कृपू सामर्थ्ये**। पुरस्तात्=Formerly preveously (आप्टे)। अदः पुरस्तात्=उस पुराकाल में। यह किसी अनित्य ऐतिहासिक काल की घटना की ओर निर्देश नहीं, अपितु नित्य सिद्धान्त सम्बन्धी वर्णन है कि पूर्वकाल के कल्प-कल्पान्तरों में भी जब भी पृथिवी पर दिव्यगुणी व्यवहार कुशल, निःस्वार्थी और परोपकारियों द्वारा निर्दिष्ट मार्ग से व्यापार होता रहा है, तब पृथिवी ऐश्वर्य वाली होती रही है, और इस ऐश्वर्य के समुचित संविभाग द्वारा पृथिवी के समग्र प्रजाजन समृद्धिशाली बन कर सामर्थ्य सम्पन्न होते रहे हैं। मन्त्र ६० में भी इसी प्रकार की भावना का निर्देश हुआ है। कल्प-कल्पान्तरों में एक सदृश या समान घटनाएँ होती रहती हैं, इसमें प्रमाण है "**सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः**" (ऋ० १०.१९०.३)। इस मन्त्र में "यथापूर्वम्" पद विशेष महत्त्व का है]।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधि भूम्याम्।

ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते॥ ५६ ॥

अर्थ—(भूम्याम् अधि) पृथिवी पर (ये ग्रामाः) जो ग्राम, (यद् अरण्यम्) जो अरण्य, (ये संग्रामाः) जो ग्राम संगठन, (समितयः) तथा राजसभाएँ हैं, (तेषु) उनमें हे पृथिवी! (ते) तेरे सम्बन्ध में (चारु वदेम) प्रशंसा वचन हम बोलें।

[ग्रामाः, संग्रामाः=अलग-अलग ग्राम; तथा परस्पर संगठित ग्राम। सभाः, समितयः=लोकसभाएँ, तथा राजसभाएँ। "समितयः" के सम्बन्ध में कहा है कि "**यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव। विप्रः स उच्यते भिषग् रक्षोहामीवचातनः**" (यजुः० १२.८०), अर्थात् "जिस मनुष्य में ओषधियों का संगम होता है, जैसे कि राजाओं का समिति में, वह मेधावी "भिषक्" कहा जाता है, जो कि रोग कीटाणुओं और रोगों का हनन और विनाश करता है। इस वर्णन से प्रतीत होता है कि समितयः का अर्थ "राजसभाएँ" हैं। जिस पृथिवी का शासन उत्तम हो, जिससे कि प्रत्येक पृथिवी निवासी समृद्ध तथा सामर्थ्य सम्पन्न हो, उस शासन की प्रशंसा तो सर्वत्र होती ही है (मन्त्र ५५, ५६)]।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**पुरोतिजागता जगती** ॥

अश्व इव रजो दुधुवे वि ताञ्जनान्य आक्षियन्पृथिवीं यादजायत।

मन्द्राग्रेत्वरी भुवनस्य गोपा वनस्पतीनां गृभिरोषधीनाम्॥ ५७॥

अर्थ—(ये) जिन्होंने (पृथिवीम्) पृथिवी का (आक्षियन्) क्षय किया है, (यात्) जब से (अजायत) पैदा हुई है पृथिवी (तान् जनान्) उन जनों को (वि दुधुवे) विविध कालों में कम्पाती रही है, (इव) जैसे कि (अश्वः) घोड़ा (रजः) धूली को कम्पाता है। (मन्द्रा)[१] पृथिवी मन्दगति वाली है, परन्तु है (अग्रेत्वरी) आगे-आगे बढ़ने वाली, (भुवनस्य) उत्पन्न प्राणिजगत् की (गोपाः) रक्षिका है, (वनस्पतीनाम् ओषधीनाम्) वनस्पतियों और ओषधियों को (गृभिः) ग्रहण किये हुए है।

[यह स्वाभाविक नियम है कि आततायियों का अन्ततोगत्वा पराजय होता है। "सत्यमेव जयते", सत्य की ही विजय होती है। परक्षय—सदाचार, धर्म, न्याय के विरुद्ध है, अतः सत्य नहीं। संसार की उत्पत्ति का अन्तिम उद्देश्य है, जीवात्माओं का मोक्ष। भोग द्वारा प्राणियों का सुधार होता रहता है ताकि प्राणी मोक्ष के लिए अग्रसर होते रहें। पृथिवी पर यह क्रिया मन्द गति से हो रही है, परन्तु हो रही है आगे की ओर, उन्नति की ओर, मोक्ष की ओर; क्योंकि पृथिवी प्राणियों की रक्षिका है, विनाशिका नहीं। रक्षिका होने के कारण ही प्राणियों के लिए पृथिवी वनस्पतियों तथा ओषधियों को ग्रहण किये हुए है। यात्=यस्माम् कालात्, छान्दसप्रयोग। अग्रेत्वरी; त्वरा=पंजाबी भाषा में "टुरना" या "तुरना" चलना, गति करना। अश्व जैसे शरीरलग्न धूली को, शरीर कम्पा कर झाड़ फैंकता है, वैसे पृथिवी अपने पर बसे आततायियों को, भूचाल आदि द्वारा झाड़ फैंकती है। आक्षियन्=**क्षि क्षये। दुधुवे=धूञ् कम्पने**]।

---

१. "भूगोल विद्या" की दृष्टि से पृथिवी अपने कक्षावृत्त पर आगे-आगे गति करती रहती है। परन्तु उसकी गति हमें अनुभूत नहीं होती, अतः उसकी गति को मन्द्रा अर्थात् मन्द कहा है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**पुरस्ताद् बृहती** ॥

यद्वदामि मधुमत्तद्वदामि यदीक्षे तद्वनन्ति मा।

त्विषीमानस्मि जूतिमानवान्यान्हन्मि दोधतः ॥ ५८ ॥

अर्थ—(यद्) जो (वदामि) मैं बोलता हूँ (मधुमत्) मधुर बोलता हूँ, (तद्) वही मैं (वदामि) बोलता हूँ (यद्) जोकि मैं (ईक्षे) प्रत्यक्ष देखता हूँ, (तद्) यह शिक्षा (मा) मुझे (वनन्ति) गुरुजन अर्थात् माता, पिता, आचार्य आदि देते हैं। इससे (त्विषीमान् अस्मि) तेजस्वी मैं हुआ हूँ, (जूतिमान्) शक्तिशाली हुआ हूँ, और (अन्यान् दोधतः) अन्य क्रोधी व्यक्तियों को (अव हन्मि) पिछाड़ देता हूँ।

[दोधतः, **दोधति क्रुध्यतिमर्मा** (निघं० २.१२)। अव हन्मि=अव (नीचे)+हन् गतौ। मधुर बोलने, परन्तु छानबीन कर सदा सत्य बोलने से व्यक्ति, तेजस्वी तथा शक्तिशाली होकर, क्रोधी और अनृतभाषियों को लोगों की दृष्टि में नीचा करता है। गुरुजन बच्चों को मधुरभाषी होने तथा सदा सत्य बोलने की शिक्षा दिया करें]।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शन्तिवा सुरभिः स्योना कीलालोध्नी पयस्वती।

भूमिरधि ब्रवीतु मे पृथिवी पयसा सह ॥ ५९ ॥

अर्थ—(शन्तिवा) शान्तिवाली, (सुरभिः) फुलवाड़ियों द्वारा सुगन्धित, (स्योना) सुखस्वरूपा, (कीलालोध्नी) स्तनों में दुग्धरूपी अन्नों वाली गौ के सदृश अन्नों वाली, (पयस्वती) जलसम्पन्ना, (भूमिः) उत्पादिका (पृथिवी) पृथिवी (मे) मुझे (अधि ब्रवीतु) अधिकार पूर्वक सदुपदेश किया करे, जैसेकि माता (पयसा सह) दूध पिलाने के साथ-साथ शिशु को सदुपदेश सुनाती है।

[**कीलालम् अन्ननाम** (निघं० २.७)। पृथिवी पर शान्ति, फुलवाड़ियाँ, प्रभूत अन्न, तथा जल हो तो पृथिवी सुख देती है। तथा बच्चों की सदाचार-शिक्षा शिशुकाल से ही प्रारम्भ हो जानी चाहिए]।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यामन्वैच्छद्धविषा विश्वकर्मान्तरर्णवे रजसि प्रविष्टाम्।

भुजिष्यं1 पात्रं निहितं गुहा यदाविर्भोगे अभवन्मातृमद्भ्यः ॥ ६० ॥

अर्थ—(अर्णवे अन्तः) जलीय समुद्र के अन्दर (रजसि) जल में (प्रविष्टाम्) प्रविष्ट अर्थात् डूबी हुई (याम्) जिस पृथिवी को, (विश्वकर्मा) विश्व के कर्त्ता ने, (हविषा) प्रजाजनों के अन्न और जल की दृष्टि से, (अन्वैच्छत्) ढूँढ निकाला और (यत्) जो (भुजिष्यम्) भोजन योग्य तथा (पात्रम्) पीने और त्राण योग्य पदार्थ (गुहा) पृथिवी की गुफा में छिपा हुआ (निहितम्) रखा हुआ है, वह (मातृमद्भ्यः) पृथिवी माता से उत्पन्न सभी प्राणियों के (भोगे) भोग के निमित्त (आविः अभवत्) आविर्भूत हुआ है।

[अर्णवे=**अर्णः उदकनाम** (निघं० १.१२)+वः (उणा० ४.१९८)। रजसि; **"उदकं रज उच्यते"** (निरुक्त ४.३.१९)। पात्रम्=पा (पाने+त्रैङ्) (पालने)।

पृथिवी जब सूर्य से पृथक् हुई तब यह चमकती वायुरूपा थी, शनैः-शनैः द्रवावस्था में तथा दृढ़ावस्था में आई। तब भी अतितप्तावस्था में थी, वनस्पतियों-ओषधियों की उत्पत्ति के योग्य न थी। इस पर लगातार वर्षा होती रही। इससे समुद्रमयी पृथिवी होती गई। **"ततः समुद्रो अर्णवः"** (ऋ० १०.१९०.१)।

इस अवस्था को "**अन्तरर्णवे रजसि प्रविष्टाम्**" द्वारा सूचित किया है। समुद्र में प्रवेश द्वारा पृथिवी ठण्डी होती गई, और तब विश्वकर्मा ने इसे जल से अनावृत किया, और अन्न पैदा हुआ, और अन्न का भोग करने वाले प्राणी उत्पन्न हुए। वेद के समाजशास्त्र के अनुसार, पृथिवी सब प्राणियों की माता है, अतः मातृसम्पत्ति पर, इस माता की सब सन्तानों का—भोजन, पालन-पोषण तथा त्राण की वस्तुओं पर समान अधिकार है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भूमिः**॥ छन्दः—**पुरोबार्हता त्रिष्टुप्**॥

त्वमस्यावपनी जनानामदितिः कामदुघा पप्रथाना।

यत्त ऊनं तत्त आ पूरयाति प्रजापतिः प्रथमजा ऋतस्य॥ ६१॥

अर्थ—हे पृथिवी! (त्वम्) तू (जनानाम्) प्रजाजनों की, (आवपनी) बीज बोने और कृषि काटने की स्थली है; (अदितिः) अखण्डरूपा तू (कामदुघा) प्रजाजनों की कामनाओं को पूर्ण करती है, (पप्रथाना) और तेरा यश की दृष्टि से विस्तार होता है। (यत) जो (ते) तेरी (ऊनम्) न्यूनता है। (ते) तेरी (तत्) उस न्यूनता को (प्रजापतिः) प्रजाओं का रक्षक राजा या अधिष्ठाता (मन्त्र ११), (आ पूरयाति) पूर्णतया पूरित करता रहे, (ऋतस्य) जो प्रजापति कि ऋत का, (प्रथमजाः) सर्वश्रेष्ठ या मुखिया होता हुआ, जनयिता है।

[आवपनी=आ+**डुवप् बीजसन्ताने छेदने च**! अदितिः=अ+दो (अवखण्डे)+तिः। अखण्डरूपा समग्र पृथिवी, सभी प्रजाजनों की कामनाओं को पूर्ण कर सकती है, परन्तु भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र राष्ट्रों में खण्डित या विभक्त होकर नहीं, क्योंकि इससे खण्डित हुए राष्ट्रों की प्रजाओं के स्वार्थ बाधक हो जाते हैं। ऊनम्=सततकृषि द्वारा पृथिवी की उपजाऊ शक्ति में न्यूनता आ जाती है। तथा बंजर भूमियों में उपजाऊ शक्ति नहीं होती। इस न्यूनता को खाद तथा अन्य उपायों द्वारा राजा लोग पूरित करते रहें। जल का न होना भी कृषिकर्म में बाधक होता है। इस न्यूनता की पूर्ति राज्याधिकारियों को करनी चाहिए। **ऋतम् उदकनाम** (निघं० १.१२)। तथा ऋतस्य=नियमों का। प्रजा के लिए नियमों का निर्माण भी राज्याधिकारियों का कर्त्तव्य है। प्रजापतिः=A King (आप्टे); तथा (मन्त्र ४६)]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भूमिः**॥ छन्दः—**परा विराट् (निचृत्) त्रिष्टुप्**॥

उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा अस्मभ्यं सन्तु पृथिवि प्रसूताः।

दीर्घं न आयुः प्रतिबुध्यमाना वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम॥ ६२॥

अर्थ—(ते) तेरे (उपस्थाः) समीप-बैठने के स्थान, (अस्मभ्यम्) हमारे लिए, (अनमीवाः, अयक्ष्माः) रोग रहित तथा यक्ष्मा से रहित (सन्तु) हों, (पृथिवि) हे पृथिवी! (प्रसूताः) हम तेरे उत्पन्न किये पुत्र हैं। (नः) हमारी (आयुः) आयु (दीर्घम्) बड़ी हो। (वयम्) हम (प्रतिबुध्यमानाः) प्रतिबोध को प्राप्त हुए, (तुभ्यम्) तेरे लिए, (बलिहृतः) राज्य-कर देने वाले (स्याम) हों।

[पृथिवी के रोग रहित होने पर पृथिवी के पुत्रों की आयु बढ़ जाती है। प्रत्येक पृथिवीवासी को प्रतिबोध प्राप्ति के लिए यत्न करना चाहिए। बोध और प्रतिबोध मानो जीवन में दो ऋषि हैं, जो कि सन्मार्ग दर्शाते हैं। यथा "**ऋषी बोधप्रतीबोधावस्वप्नो यश्च जागृविः! तौ ते प्राणस्य गोप्तारौ दिवा नक्तं च जागृताम्**"॥ (अथर्व० ५.३०.१०)। बोध है ऐन्द्रियिक ज्ञान, सांसारिक ज्ञान, और प्रतिबोध या प्रतीबोध

है आध्यात्मिक ज्ञान। यथा "**प्रतिबोधविदितं मतममृतत्त्वं हि विन्दते।**"

बलिहृतः=बलिः=Tax, tribute, import, "**प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्**" (रघुवंश १.१८)। मन्त्र में पृथिवी[१] माता के निमित्त स्वेच्छापूर्वक राज्य-कर देने का विधान है। स्वेच्छया राज्यकर के दान में, जीवन में आध्यात्मिकता चाहिए। सांसारिकवृत्ति, स्वेच्छया राज्य कर देने में बधिका होती है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भूमिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

भूमे मातर्नि धेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम्।

संविदाना दिवा कवे श्रियां मा धेहि भूत्याम्॥ ६३॥

अर्थ—(भूमे मातः) हे सर्वोत्पादिके माता! (भद्रया) कल्याणकारिणी और सुखदायिनी बुद्धि के कारण उत्तमप्रतिष्ठा वाले या उत्तमदृढ़ स्थिति वाले (मा) मुझ को, (निधेहि) अपनी निधि जानकर, धारित तथा परिपुष्ट कर। (कवे)[२] हे वेद-काव्य की कवि! (संविदाना) सम्यक् ज्ञान वाली तू (दिवा) प्रतिदिन (मा) मुझे (श्रियाम्) शोभा में तथा (भूत्याम्) सम्पत्ति में (धेहि) स्थापित कर।

[भूमिः, संविदाना, माता—ये तीनों पद स्त्रीलिङ्ग में है। स्त्रीलिङ्ग पदों द्वारा वाच्य व्यक्ति को "कवि" कहा है। वर्तमान प्रचलित हिन्दी साहित्य में, स्त्री कवि के लिए, कवि शब्द का प्रयोग न कर "कवयित्री" शब्द का प्रयोग किया जाता है, जोकि अग्राह्य है]।

प्रथम अनुवाक समाप्त॥

अनुवाक २

सूक्त-२

विषय-प्रवेश

(१) काण्ड १२, सूक्त २ यक्ष्मरोग निवारणपरक है। नड अर्थात् सरकण्ड पर अग्नि प्रदीप्त कर, सीस अर्थात् सिक्के (Lead) को उस अग्नि पर रख कर सीस की भस्म बना कर, उसका प्रयोग यक्ष्मरोग के निवारण के लिए कथित किया है, गौओं और पुरुषों के यक्ष्मरोग के लिए सीसभस्म का प्रयोग कहा है (मन्त्र १)।

(२) नड की अग्नि को 'अक्रव्याद्' अर्थात् न-मांसभक्षक कहा है, क्योंकि इस द्वारा निर्मित सीसभस्म, यक्ष्म का निवारण कर, रोगी के मांस की सुरक्षा करती है (३)।

(३) क्रव्याद् अर्थात् मांसभक्षक अग्नि, तथा व्याघ्र[३] सदृश यक्ष्म के निवारणार्थ "माषाज्य" का कथन हुआ है। माषाज्य का अर्थ है "उरद और घृत"। घृत, सम्भवतः अजा (बकरी) के दूध का घृत। अजा नानाविध ओषधियाँ खाती है अतः उन ओषधियों के गुण अजा-दुग्ध द्वारा अजाघृत में भी विद्यमान होते हैं (४)। माषाज्य का भक्षण तथा इसकी आहुतियाँ देनी चाहिएँ, साथ ही जलनिष्ठ अग्नियों को भी

---

१. वैदिक भावनानुसार "राज्यकर" भूमिमाता की सेवा तथा प्रजा की समुन्नति के लिए है, राज्यकर्मचारियों के भोगविलास के लिए नहीं।

२. कविपद के संनिधान से मन्त्र में पारमेश्वरी माता का वर्णन प्रतीत होता है। अथवा भूमिष्ठ कवियों के कारण, गौणरूप में भूमि को कवि कहा है।

३. "यदि वा व्याघ्रः" (१२.२.४)। व्याघ्रः=Tiger like (ह्विटनी)।

यक्ष्मनिवृत्ति का उपाय कहा है "**अप्सुषदोऽग्नीन्**" (४)।

(४) गार्हपत्य अग्नि द्वारा (९), तथा देवयान मार्ग द्वारा (१०), क्रव्याद्-अग्नि के संहार का, और मन्त्र ११ से १३ में संकसुक-अग्नि द्वारा शुद्धि तथा आयुवृद्धि का वर्णन हुआ है।

(५) संकसुक, विकसुक, निर्ऋथ, निस्वर—इन अग्नियों द्वारा यक्ष्म का निवारण (१४)।

(६) सीस (सीसभस्म), नड, संकसुक-अग्नि, रामा अर्थात् कृष्णवर्णा अवि [अर्थात् इस भेड़ के दूध] द्वारा यक्ष्म की विशुद्धि, तथा उपबर्हण [सौर रश्मियां] द्वारा सिर-दर्द की चिकित्सा (१९, २०)।

(७) १०० वर्षों तक जीवित रहने के लिए 'परिधि' का कथन (२३)।

(८) अश्मन्वती अर्थात् संसाररूपी पथरीली नदी से तैर कर पार होना (२६, २७)।

(९) यक्ष्मनिवारणार्थ 'वैश्वदेवी' ओषधि का (२८), तथा २१ प्राणायामों द्वारा ऋषियों ने मृत्यु को खदेड़ा (२९) का वर्णन।

(१०) हृदयप्रविष्ट अग्नि (३३) का, तथा क्रव्याद् के दुष्परिणामों का, और क्रव्याद् के निराकरणार्थ विद्वान् ब्रह्मा की सहायता (३४ से ३९) का वर्णन।

(११) जलचिकित्सा द्वारा रिप्र और दुष्कृत के निवारण का (४०, ४१), तथा क्रव्याद् नामक यक्ष्मरोग का (४२), तथा दो व्याघ्रों[१] का, और अशिव व्याघ्ररूपी यक्ष्म के निवारण का कथन (४३)।

(१२) 'इन्द्र' नाम से परमेश्वर की उपासना द्वारा कष्ट विनाश का (४७), तथा 'अनड्वान्' नामक परमेश्वरीय नौका का अवलम्बन (४८)।

(१३) यक्ष्मनिवारण के साधनों का वर्णन—(१) अविकृष्णा, (२) सीसभस्म, (३) चाँदी अथवा सुवर्ण या दोनों, (४) पिसे उरद, (५) अरण्यानी सेवन, (६) जीर्ण इषीका का होम, (७) तिल, (८) पिञ्ज अर्थात् तिलों के पीडन द्वारा तैल निकाल कर बची खली। (९) दण्डन और नड के इध्म की अग्नि पर इनकी आहुतियाँ, तथा इनमें से भक्ष्य पदार्थों का भक्षण (५३, ५४)। आहुतियाँ रोगी के समीप देनी चाहिएँ, ताकि यज्ञोत्स्थ धूम रोगी के फेफड़ों में जा सके।

(१४) रोगोन्मुक्त होकर परमेश्वर के प्रति आत्मसमर्पण कर, सन्मार्ग पर जीवन यात्रा (५५)।

(१५) मन्त्रों में अक्रव्याद्, जातवेदस्, गार्हपत्य, सुगार्हपत्य, देवयजन—पर्यायवाची हैं।

(१६) मन्त्रों में कहीं-कहीं यक्ष्म और क्रव्याद् को पर्यायवाची रूप में वर्णित किया है, क्योंकि ये दोनों मांसभक्षी हैं। क्रव्याद्-अग्नि है श्मशानाग्नि, जोकि शव का मांस खाती है, और यक्ष्म जीवित रोगी के माँस को खाता है।

ऋषिः—**भृगुः**॥ देवता—**अग्निः**, **मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

नडमा रोह न ते अत्र लोक इदं सीसं भागधेयं त एहि।

यो गोषु यक्ष्मः पुरुषेषु यक्ष्मस्तेन त्वं साकमधराङ् परेहि॥ १॥

अर्थ—हे अग्नि! (नडम्) नड पर (आ रोह) तू आरोहण कर, (अत्र) इस नड पर (ते) तेरा (लोकः न) घर नहीं, (इदं सीसम्) यह सिक्का (ते) तेरा (भागधेयम्) भाग है, (एहि) तू आ। (यः)

१. "यदि वा व्याघ्रः" (१२.२.४)। व्याघ्र=Tiger-lika (ह्विटनी)।

जो (गोषु यक्ष्मः) गौओं में यक्ष्मरोग है, (पुरुषेषु यक्ष्मः) और पुरुषों में यक्ष्मरोग है (तेन साकम्[१]) उस यक्ष्म के साथ (त्वम्) हे अग्नि! तू (अधराङ्) नीचे आ, (परेहि) और परे चली जा।

[वर्णन कविता के ढंग का है। अभिप्राय है सीस अर्थात् सिक्के की भस्म का निर्माण। सीस भस्म के निर्माण के लिए नड अर्थात् नडे की आग चाहिए। नड (Reed) दलदली भूमि में पैदा होता है। सीस शीघ्र पिघल जाता है इसलिए तीव्र ज्वाला न चाहिए, नड की अल्पकालिक और नर्म ज्वाला सीस भस्म के लिए उपयुक्त है। सीसभस्म यक्ष्मरोग की औषध है। नड की अग्नि देर तक जलती न रहनी चाहिए, इसे **"न ते अत्र लोकः"** द्वारा सूचित किया है।

चन्द्रराज भण्डारी विशारद द्वारा "वनौषधि-चन्द्रोदय" की हिन्दी टीका में, सीस के सम्बन्ध में निम्नलिखित उद्धरण विशेष प्रकाश डालता है—

"हिन्दी सीसा, नाग। अंग्रजी" Lead। लेटिन Glumbum। जो सीसा आग पर रखने से शीघ्र गल जाए, तोड़ने से काला और भीतर उज्ज्वल हो और बाहर से काला हो वह उत्तम होता है। सीसा क्षयरोग, वातविकार, गुल्म, पाण्डुरोग, भ्रम, क्रिमि, कफ, शूल, प्रमेह, खांसी, संग्रहणी और गुदा के रोगों में लाभदायक होता है। यह जीवन-शक्तिवर्धक, जठराग्नि को प्रदीप्त करने वाला, बलवर्द्धक होता है। इसे मन्दाग्नि में पकाएँ। सोंठ के चूर्ण और पुराने गुड़ के साथ नागभस्म अर्थात् सीसाभस्म खाने से सिर का दर्द और कमर का दर्द मिटता है"]।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अघशंसदुःशंसाभ्यां करेणानुकरेण च। यक्ष्मं च सर्वं तेनेतो मृत्युं च निरजामसि॥ २॥

अर्थ—(अघशंस-दुःशंसाभ्याम्[२]) पापों की प्रशंसा और उसके दुष्परिणामों की प्रशंसा से, (अनुकरेण करेण च) तथा तदनुरूप कर्मों के करने और बार-बार करने से उत्पन्न (सर्वं यक्ष्मम्) सब प्रकार के यक्ष्म रोग को, (तेन) उस सीसाभस्म द्वारा (इतः) इस शरीर से (मृत्युम्) तथा अपमृत्यु को, (निरजामसि) हम निर्गत करते हैं, निकाल फैंकते हैं।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**आस्तारपङ्क्तिः** ॥

निरितो मृत्युं निर्ऋतिं निररातिमजामसि।
यो नो द्वेष्टि तमद्ध्यग्ने अक्रव्याद्यमु द्विष्मस्तमु ते प्र सुवामसि॥ ३॥

अर्थ—(इतः) इस शरीर से (मृत्युम्) अपमृत्यु को (निर्) हम निकला देते हैं, (निर् ऋतिम्) दुःखों और कष्टों को निकाल देते हैं, (अरातिम्) अदान भावना को (निर् अजामसि) निर्गत करते तथा निकाल फैंकते हैं। (यः) जो यक्ष्मरोग (नः) हमारे साथ (द्वेष्टि) द्वेष करता है (तम्) उसे (अक्रव्याद् अग्ने) शरीर के कच्चे मांस को न खाने देने वाली हे अग्नि! (अद्धि) तू खा जा, (उ) तथा (यम्) जिस यक्ष्मरोग के साथ (द्विष्मः) हम द्वेष करते हैं, अप्रीति करते हैं (तम् उ) उस यक्ष्मरोग को (ते) हे अग्नि!

१. तेन साकम्=यक्ष्मरोग तथा नड की अग्नि का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध दर्शाने के लिए कहा है कि नड पर की अग्नि के शान्त होते ही (निर्मित सीसभस्म के सेवन से) यक्ष्म रोग भी शीघ्र शान्त हो जाएगा, अर्थात् नड पर से अग्नि के उतरते ही मानो यक्ष्म का भी निवारण हो जाएगा। इस द्वारा सीमभस्म की अद्भुत शक्ति को सूचित किया हैं।

२. अघशंसदुःशंसाभ्याम्=पापों और उनके परिणामों की प्रशंसा करने से, तदनुरूप कर्मों के करने में प्रवृत्ति होती है, और इससे यक्ष्मरोग और अपमृत्यु होती है। निरजामसि=निर् अज (गतिक्षेपणयोः)।

तेरे प्रति (प्र सुवामसि) हम भेज देते हैं, प्रेरित करते हैं।

[''द्विष्टि'' के स्थान में पैप्पलाद शाखा में ''यक्ष्मः'' पाठ है, जो कि द्विष्टि की व्याख्या रूप है। अक्रव्याद् अग्नि=मन्त्र १ में प्रोक्त अग्नि। क्रव्याद् अग्नि रूप यक्ष्मरोग, कच्चे अर्थात् आयु की दृष्टि से न पके, अल्पायुओं के भी शारीरिक मांसों को खा जाता है। द्विष्मः=**द्विष् अप्रीतौ**। यक्ष्म के साथ यदि हम अप्रीति करेंगे, तो इस रोग के उत्पादक कारणों के ग्रहण से भी हम अप्रीति करने लगेंगे। यक्ष्मरोग दान नहीं करने देता। इस रोग को दूर करने में ही सामान्य व्यक्ति का धन लग जाता है, तो वह दान देने का सामर्थ्य ही नहीं रखता]।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यद्यग्निः क्रव्याद्यदि वा व्याघ्र इमं गोष्ठं प्रविवेशान्योकाः।

तं माषाज्यं कृत्वा प्र हिणोमि दूरं स गच्छत्वप्सुषदोप्यग्नीन्॥ ४॥

अर्थ—(यदि क्रव्याद् अग्निः) यदि मांसभक्षक अग्नि, (यदि वा) अथवा (अन्योकाः[1]) अन्य घर वाला (व्याघ्रः) क्रव्याद् अग्निरूपी व्याघ्र, (इमं गोष्ठम्) इस इन्द्रियों के निवास स्थान शरीर में (प्रविवेश) प्रविष्ट हो गया है, तो (तम्) उस क्रव्याद् अग्निरूपी व्याघ्र को, (माषाज्यम् कृत्वा) उर्द और घृतयुक्त या उर्द औ अजाघृत युक्त करके (दूरं प्रहिणोमि) मैं दूर करता हूँ। (सः) वह क्रव्याद् अग्नि (अप्सु सदः अपि अग्नीन् गच्छतु) जलों में स्थित अग्नियों को भी प्राप्त हो।

[क्रव्याद्-अग्नि है, यक्ष्मरोग। यह शरीर को खा जाती है, भस्मीभूत कर देती है। यह व्याघ्र रूप है। इसका घर अन्य है, यक्ष्मरोग के कीटाणु[1]। गोष्ठम्=गावः इन्द्रियाणि+स्थ। माषाज्यम्=उर्द और शुद्ध घृत या अजाघृत के सेवन से यक्ष्मरोगाग्नि दूर हो जाती है। कौशिकसूत्र ७१.६ के अनुसार माष, आज्य और शुक्ति (मोती) की आहुतियों का विधान है। आहुतियाँ बाह्य अग्नि में तथा जाठराग्नि में देनी चाहिएँ। यक्ष्माग्नि की निवृत्ति के लिए जल चिकित्सा तथा जलों द्वारा प्राप्त वैद्युताग्नि का भी विधान प्रतीत होता है। यथा ''**अप्सुषदोऽप्यग्नीन्**। व्याघ्रः=अथर्ववेद में व्याघ्र पद गौणार्थक भी है। यथा (१२.२.४३)। तथा चबाने की दो दाढ़ें=व्याघ्रौ (६.१४०.१)। व्याघ्रः=राजा (अथर्व० ४.८.४; ८.५.१२) इत्यादि]।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यत्त्वा क्रुद्धाः प्रचक्रुर्मन्युना पुरुषे मृते।

सुकल्पमग्ने तत्त्वया पुनस्त्वोद्दीपयामसि॥ ५॥

अर्थ—(पुरुषे मृते) पुरुष के मर जाने पर, (मन्युना) रोष के कारण (क्रुद्धाः) कुपित होकर, [हे अग्नि!] (यत् त्वा) जो तुझे (प्रचक्रुः) प्रकृतिरूप कर देते हैं, समाप्त कर देते हैं, (अग्ने) हे अग्नि! (तत्) वह (त्वया) तुझ द्वारा (सुकल्पम्) उत्तम प्रकार से सामर्थ्यवान् कर दिया जाता है, अतः (पुनः) फिर (त्वा) तुझे (उद् दीपयामसि) हम उद्दीप्त करते हैं। (देखो मन्त्र ६)।

[गार्हपत्याग्नि या आहवनीयाग्नि के सम्बन्ध में वर्णन हुआ है। गार्हपत्याग्नि गृहपति की रक्षा के लिए

---

१. अथवा क्रव्याद्—अग्नि को यतः व्याघ्र कहा है, परन्तु व्याघ्रों का ओकः अर्थात् घर होता है जङ्गल, नकि प्राणियों के शरीर, अतः व्याघ्राग्नि को अन्योकाः कहा है। वेदों में रोग के कीटाणुओं को पिशाच कहा है, अर्थात् पिशित (मांस) की याचना करने वाले। अच=याचने (भ्वादि)।

आहित की जाती है, ताकि उस द्वारा धार्मिक कृत्य किये जा कर गृहवासियों की रक्षा हो सके। परन्तु इन कर्मों से भी यदि गृहवासी की मृत्यु हो जाती है तो अश्रद्धालु गृहवासी क्रुद्ध होकर के जलते हुए अग्नि को यदि प्रकृतिस्थ कर दें, समाप्त कर दें, तो इस सम्बन्ध में कहा है कि अग्नि तो स्वास्थ्य सम्पादन करने में सामर्थ्यवान् है ही, अतः गृहवासी उसे पुनः उद्दीपित करते हैं। प्रचक्रुः=प्र+कृ+लिट्। प्रकृतिस्थ करना। यथा "**मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः**" (रघुवंश, ८.८७)।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**भुरिगार्षी पङ्क्तिः** ॥

पुन॑स्त्वादि॒त्या रु॒द्रा वस॑वः॒ पुन॑र्ब्र॒ह्मा वसु॑नीतिरग्ने।
पुन॑स्त्वा॒ ब्रह्म॑ण॒स्पति॒राधा॑द्दीर्घायु॒त्वाय॑ श॒तशा॑रदाय॥ ६॥

अर्थ—(अग्ने) हे गार्हपत्याग्नि! या आहवनीयाग्नि! (त्वा) तुझे (पुनः) फिर (आदित्याः रुद्राः वसवः) आदित्य, रुद्र और वसु कोटि के विद्वान्, या (पुनः) फिर (वसुनीतिः ब्रह्मा) वसु ब्रह्मचारी विद्वानों का नेता चतुर्वेदविद् ऋत्विक्, या (पुनः) फिर (त्वा) तुझे (ब्रह्मणस्पतिः) कोई वेदरक्षक विद्वान् (आधात्) स्थापित करे, तेरा आधान करे, (दीर्घायुत्वाय, शतशारदाय) दीर्घ आयु के लिए १०० वर्षों तक जीवित रहने के लिए।

[यदि प्रथमाग्न्याधान, विधि के प्रतिकूल हुआ है, जिसका परिणाम हुआ है—अकाल मृत्यु; तो उसका पुनः आधान विद्वान्-ऋत्विक् करे, ताकि गृहवासियों की १०० वर्षों की दीर्घायु हो सके]।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

यो अ॒ग्निः क्र॒व्यात्प्र॑वि॒वेश॑ नो गृ॒हमि॒मं पश्य॒न्नित॑रं जा॒तवे॑दसम्।
तं ह॑रामि पितृय॒ज्ञाय॑ दू॒रं स घ॒र्ममि॑न्धां पर॒मे स॒धस्थे॑॥ ७॥

अर्थ—(यः) जो (क्रव्याद् अग्निः) मांसभक्षक अग्नि (इतरम् जातवेदसम् पश्यन्) दूसरी जातवेदस् को देखती हुई भी (इमम्) इस (नः गृहम्) हमारे घर में (प्र विवेश) प्रविष्ट हो गई है, (तम्) उसे (पितृयज्ञाय) पितृयज्ञ के लिए (दूरम् हरामि) मैं दूर ले जाता हूँ। (सः) वह क्रव्याद् अग्नि (परमे) बहुत लक्ष्मी वाले (सधस्थे) सहवास स्थान अर्थात् गृहस्थ में (घर्मम्) दूध की बटलोही को (इन्धाम्) गर्म करती रहे।

[मन्त्र वर्णन कवितामय है। अभिप्राय यह है कि अग्नियाँ दो प्रकार की हैं, जातवेदस् तथा क्रव्याद्। जातवेदस् अग्नि तो देवयान मार्ग की है, और क्रव्याद् अग्नि पितृयाण मार्ग की। देवयान मार्ग तो देवपथिकों का है जिसमें ब्रह्मचर्य, सत्य और तप आदि का सेवन करना होता है। और पितृयाण मार्ग उनका है जोकि सन्तानोत्पत्ति द्वारा मातापिता बनना चाहते हैं। इस मार्ग में गृहस्थी के चूल्ले में दूध आदि पकते रहते हैं, पितृयज्ञ होते रहते हैं तथा गृहस्थियों के लिए निश्चित यज्ञ होते रहते हैं। इस मार्ग में यतः शक्ति क्षीण होती रहती है, अतः इस मार्ग पर क्रव्याद् अग्नि का राज्य होता है। शक्ति के क्षीण होते रहने के कारण इस मार्ग के पथिकों की १०० वर्षों से पहिले ही मृत्यु हो जाने की सम्भावना रहती है, अतः इन्हें क्रव्याद् अग्नि का शिकार बनना पड़ता है। जातवेदस् अग्नि वाले देव व्यक्ति क्रव्याद् अग्नि को दूर करते रहते हैं, अतः क्रव्याद् अग्नि श्मशान पर अधिकार जमाती है। सधस्थ का अर्थ है "साथ-साथ बैठने का स्थान" जोकि पारिवारिक व्यक्तियों का स्थान है। परमे=पर+मा (लक्ष्मी=बहुत लक्ष्मी वाले गृहस्थ में)]।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अग्निः, मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—भुरिक् त्रिष्टुप् ॥

क्रव्यादमग्निं प्र हिणोमि दूरं यमराज्ञो गच्छतु रिप्रवाहः।

इहायमितरो जातवेदा देवो देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन् ॥ ८ ॥

अर्थ—(क्रव्यादम् अग्निम्) क्रव्याद् अग्नि को (दूरम् प्रहिणोमि) मैं दूर भेज देता हूँ, (रिप्रवाहः) रिप्र अर्थात् पाप का वहन करने वाली क्रव्याद् अग्नि, (यमराज्ञः) यमराजा की प्रजा को (गच्छतु) जाए, प्राप्त हो। (इह) यहाँ हमारे घर में (अयम् इतरः जातवेदाः) यह उससे भिन्न जातवेदस् (देवः) दिव्य अग्नि, (प्रजानन्) मानो जानते हुए के सदृश, (देवेभ्यः) देवों के प्रति (हव्यम्) हवियोग्य वस्तु (वहतु) ले जाए, उन्हें प्राप्त कराए।

[यमराज्ञः=यमराजा की प्रजा है, गृहस्थजन। गृहस्थ पितृयाण मार्ग है जहाँ कि मृत्युएँ होती रहती हैं और पुनर्जन्म होते रहते हैं। अतः गृहस्थ मानो यमराजा के अधीन है, उसकी प्रजा है। गृहस्थ में रिप्र की अधिक सम्भावना है। रिप्र=पापकर्म। अतः गृहस्थ में क्रव्याद् अग्नि की भी अधिक सम्भावना है। परन्तु जो सद्गृहस्थ जावेदस् अग्नि की परिचर्या करते रहते हैं, वहाँ क्रव्याद् अग्नि की सम्भावना नहीं होती]।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अग्निः, मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुब्गर्भा विपरीतपादलक्ष्मा पङ्क्तिः ॥

क्रव्यादमग्निमिषितो हरामि जनान्दृंहन्तं वज्रेण मृत्युम्।

नि तं शास्मि गार्हपत्येन विद्वान्पितॄणां लोकेपि भागो अस्तु ॥ ९ ॥

अर्थ—(इषितः) दृढ़संकल्प वाला मैं (क्रव्यादम् अग्निम्) कच्चा माँस भक्षक अग्नि का (हरामि) संहार करता हूँ, जोकि (मृत्युम्) मृत्युरूप है, और (वज्रेण) वज्र द्वारा (जनान्) जनों को (दृंहन्तम्) निश्चल कर देती है। (विद्वान्) संहार विधि को जानता हुआ (गार्हपत्येन) गार्हपत्याग्नि द्वारा (तम्) उस क्रव्याद् को (नि शास्मि) मैं नितरां अनुशासित करता हूँ, (अपि=अपि च) तथा (पितॄणाम् लोके) माता पिता के लोक अर्थात् गृहस्थ में (भागः) उसका भाग (अस्तु) हो।

[दृंहन्तम्=मृत्यु होने पर शरीर पत्थर समान निश्चल हो जाता है]।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अग्निः, मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

क्रव्यादमग्निं शशमानमुक्थ्यं[1] प्र हिणोमि पथिभिः पितृयाणैः।

मा देवयानैः पुनरा गा अत्रैवैधि पितृषु जागृहि त्वम् ॥ १० ॥

अर्थ—(शशमानम्) प्लुतगति से चलती हुई, (उक्थ्यम्) वैदिक सूक्तों में वर्णित (क्रव्यादम् अग्निम्) जीवितों के मांस के भक्षक अग्नि को (प्र हिणोमि) मैं दूर करता हूँ। (पितृयाणैः पथिभिः) माता पिता जिन मार्गों पर चलते हैं उन मार्गों द्वारा। (देवयानैः) देवों अर्थात् सत्य मार्गों पर चलने वाले दिव्य जनों के मार्गों द्वारा तू हे क्रव्याद्! (पुनः) बार-बार (मा आगाः) न आ, (अत्र एव) इस पितृमार्ग में ही (एधि) तू बनी रह, (पितृषु) माता पिताओं में (त्वम्) तू (जागृहि) जागरूक रह।

[शशमानम्—भिन्न-भिन्न स्थानों में एक साथ मृत्युएँ होती रहती हैं, क्रव्याद् मानो प्लुतगति से सर्वत्र पहुँच जाती है तथा प्लुतगति से बार-बार, आक्रमण करती है। पुनः=देवयानमार्गियों की मृत्यु एक बार होती है, बार-बार नहीं, क्योंकि वे चिरकाल के लिए मुक्त हो जाते हैं। शशमानम्=**शश प्लुतगतौ**]।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अग्निः, मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

समिन्धते संकसुकं स्वस्तये शुद्धा भवन्तः शुचयः पावकाः।
जहाति रिप्रमत्येन एति समिद्धो अग्निः सुपुना पुनाति॥ ११ ॥

अर्थ—(स्वस्तये) कल्याण के लिए [मृतक के सम्बन्धी] (संकसुकम्) सम्यक् अर्थात् पूर्णरूप में शासन करने वाली श्मशानाग्नि को (समिन्धते) सम्यक्तया प्रदीप्त करते हैं, तदनन्तर (शुद्धाः भवन्तः) स्नान द्वारा शुद्ध होते, और (शुचयः पावकाः) पवित्र करने वाली यज्ञिय अग्नियों के सदृश पवित्र होते हैं। [गृहशुद्धि के लिए] (समिद्धः अग्निः) प्रदीप्त किया यज्ञिय अग्नि (रिप्रम्) अशुद्धिरूपी मल को (जहाति) दूर करती या छुड़ाती है, (एनः अत्येति) पापी रोगकीटाणु का अतिक्रमण करती, तथा (सुपुना) उत्तमतया पवित्र करने वाली ज्वाला द्वारा (पुनाति) पवित्र कर देती है।

[सङ्कसुकम्=सम्+कस् (शासने, **कसि गतिशासनयोः**), मृत्यु होने पर क्रव्याद्—अग्नि अर्थात् श्मशानाग्नि सम्यक् शिक्षा देती है। समिन्धते=इन्धन तथा यथोचित सामग्री के द्वारा प्रदीप्त करते हैं। शव की अन्त्येष्टि के पश्चात् स्नान द्वारा तथा मन्त्र जाप द्वारा शुद्ध और पवित्र हो कर, यज्ञाग्नि को प्रदीप्त कर, गृहशुद्धि करनी चाहिए। इस द्वारा रोग द्वारा उत्पन्न हुए मलादि दूर जाते हैं, मृत्यु बड़ा शिक्षा गुरु[1] है, जिसे देख कर कई बार जीवन में सुधार होता है, और व्यक्ति ऐसे कर्मों के करने से उपरत हो जाता है जो कि यक्ष्म के उत्पादक हों, और शुद्धाचरण वाला हो जाता है]।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अग्निः, मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

देवो अग्निः संकसुको दिवस्पृष्ठान्यारुहत्।
मुच्यमानो निरेणसोमोगस्माँ अशस्त्याः ॥ १२ ॥

अर्थ—(देवः) देवरूपी (संकसुकः अग्निः) संकसुक अग्नि, (दिवः पृष्ठानि) द्युलोक की पीठों पर, (आरुहत्) आरूढ़ हुई है। (निरेणसः) एनस् "अर्थात् पाप कर्म से "निर्" छुड़ाने वाली वह अग्नि, (मुच्यमानः) द्युलोक से छूट कर, (अस्मान्) हमें (अशस्त्याः) अप्रशस्त कर्मों से (अमोक्) मुक्त कर देती है।

[देवः=संकसुक अर्थात् श्मशानाग्नि यतः हमें पवित्र जीवनों के लिए प्रेरणा प्रद है, इसलिए इसे देव कहा है, साथ ही शव को भस्मीभूत करके, शव के घर में ही रहने पर जो घर की अशुद्धि होती है उसे दूर कर देती है, इसलिए भी संकसुक अग्नि देव है, दिव्य शक्ति से सम्पन्न है।

पृथिवी पर जितनी भी अग्नियाँ हैं उनका मूल स्रोत द्युलोक ही है। संकसुक अग्नि का भी मूल स्रोत द्युलोक ही है। इसलिए "इसका वर्णन" "दिवस्पृष्ठान्यारुहत्" द्वारा हुआ है। अन्त्येष्टि के पश्चात् संकसुक अग्नि श्मशान में नहीं दीखती, मानो वह निज कर्म का सम्पादन कर निज स्रोत में जा मिली है। "पृष्ठानि" में बहुवचन वेदोक्त "तिस्रः दिवः" का समर्थन करता है (अथर्व० १९.२७.३, १९.३२.४)]।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अग्निः, मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

अस्मिन्वयं संकसुके अग्नौ रिप्राणि मृज्महे।
अभूम यज्ञियाः शुद्धाः प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥ १३ ॥

---

१. इस सम्बन्ध में कठोपनिषद् में नचिकेता और मृत्यु का संवाद द्रष्टव्य है।

अर्थ—(अस्मिन्) इस (संकसुके अग्नौ) संकसुक अग्नि में (रिप्राणि) कुत्सित मलों को (मृज्महे) हम शुद्ध करते हैं, और (यज्ञिया:[1] शुद्धा अभूम) यज्ञ करने योग्य शुद्ध हुए हैं, (न:) हमारी (आयूंषि) आयुओं को (प्रतारिषत्) संकसुक अग्नि बढ़ाए।

[शव को संकसुक अर्थात् श्मशानाग्नि में जला देने पर शव के कारण होने वाले गृह्य कुत्सिक मल दूर हो जाते हैं। तदन्तर स्नान द्वारा शुद्ध होकर गृहवासी यज्ञ करने के योग्य होते हैं, और यज्ञ द्वारा निज आयुओं को बढ़ाते हैं। रिप्रम्=कुत्सितम् (उणा० ५.५५, महर्षि दयानन्द)]।

ऋषि:—**भृगु:** ॥ देवता—**अग्नि:, मन्त्रोक्ता:** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

संकसुको विकसुको निर्ऋथो यश्च निस्वर:।

ते ते यक्ष्मं सवेदसो दूराद्दूरमनीनशन्॥ १४॥

अर्थ—(संकसुक:) सामूहिक अर्थात् परिवार में व्याप्त, घातक यक्ष्म रोग निवारक अग्नि, (विकसुक:) व्यक्ति गत, घातक यक्ष्मरोग की निवारक अग्नि, (निर्ऋथ:) निकृष्ट आर्ति अर्थात् कष्ट दायक यक्ष्मरोग की निवारक अग्नि, (य: च) और जो (निस्वर:) स्वरभङ्ग करने वाले यक्ष्मरोग की निवारक अग्नि है, (ते) वे अग्नियाँ (सवेदस:) मानो ऐकमत्य को प्राप्त हुई, (ते यक्ष्मम्) तेरे यक्ष्मरोग को (दूरात् दूरम्) दूर से भी दूर करें, और (अनीनशन्) उसे नष्ट करें।

[संकसुक:=सम् (समूह)+कस (शासनम्); **कसि गतिशासनयो:** (अदादि)। शासनम्=Killer, destroyer (आप्टे)। अर्थात् समूह में व्याप्त, घातक यक्ष्मरोग सम्बन्धी। विकसुक:=व्यक्तिगत घातक यक्ष्मरोग सम्बन्धी। निर्ऋथ:=**"नि: शेषेण ऋच्छति पीडयतीति"** (सायण, अथर्व० ६.९३.१) तथा **"निकृष्टाम् आर्तिम् नाशम्"** (सायण अथर्व० ८.४.१४)। अत: "निर्ऋथ:"=पीड़ादायक और विनाश करने वाला यक्ष्मरोग, तत्सम्बन्धी निस्वर:=स्वरभङ्ग करने वाले स्वरयन्त्र सम्बन्धी यक्ष्मरोग तथा जिह्वा सम्बन्धी यक्ष्मरोग निवारक अग्नि (अथर्व० २.३३.१)। ये चारों प्रकार के यक्ष्मरोग अग्निरूप हैं। अग्नि की तरह रोगी को खाते रहते हैं। इसलिए दाहक अग्नि और यक्ष्मरूपी अग्नि को, कहीं-कहीं मन्त्रों में अभेदरूप से भी वर्णित किया है, और भिन्न-भिन्न रूप में भी।

वेद में "यक्ष्म" शब्द व्यापी अर्थ रखता है। अङ्ग की विकृतिमात्र में यक्ष्म शब्द का प्रयोग हुआ है। आँख, नाक, कान, मस्तिष्क, जिह्वा, ग्रीवा, रक्तनाड़ी, बाहु, हृदय, आन्त, गुदा, टांगों, घुटनों, अस्थि, मज्जा, हाथ, अङ्गुलियों, लोम, नख आदि किसी भी शरीराङ्ग के विकार में यक्ष्म शब्द प्रयुक्त हुआ है (अथर्व० २.३३.१-७); तथा (अथर्व० ९.८.१-२२)]।

ऋषि:—**भृगु:** ॥ देवता—**अग्नि:, मन्त्रोक्ता:** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

यो नो अश्वेषु वीरेषु यो नो गोष्वजाविषु।

क्रव्यादं निर्णुदामसि यो अग्निर्जनयोपन:॥ १५॥

अर्थ—(य:) जो अग्नि, अर्थात् अग्नि के समान नाशक यक्ष्मरोग, (न:) हमारे (अश्वेषु) अश्वों में, (वीरेषु) और वीर योद्धाओं में है, (य:) जो (न:) हमारी (गोषु अजाविषु) गौओं-बकरियों-भेड़ों में है, तथा (य: अग्नि:) अग्नि सदृश यक्ष्मरोग (जनयोपन:) जनों को व्याकुल कर देता है उस (क्रव्यादम्)

१. यज्ञयोग्य होकर यज्ञियाग्नि में यक्ष्मरोगनाशक ओषधियों की आहुतियाँ देकर (मन्त्र ११) दीर्घायु को प्राप्त करना।

कच्चे अर्थात् जीवित के मांस के भक्षी यक्ष्म को (निर्णुदामसि) हम निकाल फैंकते हैं।

[अग्नि शब्द द्वारा यक्ष्मरोग अभिप्रेत है। उसे ही क्रव्याद् भी कहा है। योपनः=**युप विमोहने।** विमोहन=मूढता, कर्त्तव्याकर्त्तव्यज्ञानशून्यता, अर्थात् व्याकुलता। मन्त्र में पशुचिकित्सा का भी निर्देश किया है]।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**ककुम्मती पराबृहत्यनुष्टुप्** ॥

अन्येभ्यस्त्वा पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वेभ्यस्त्वा।

निः क्रव्यादं नुदामसि यो अग्निर्जीवितयोपनः ॥ १६ ॥

अर्थ—(त्वा) तुझे (अन्येभ्यः पुरुषेभ्यः) अन्य पुरुषों से, (त्वा) तुझे (गोभ्यः अश्वेभ्यः) गौओं और अश्वों से, (क्रव्यादम्) अर्थात् तुझ क्रव्याद् को (निः नुदामसि) हम निकाल फैंकते हैं, (यः) जो तू कि (जीवितयोपनः) जीवितों को व्याकुल कर देता है।

[क्रव्याद् से अभिप्रेत है यक्ष्मरोग, जोकि रोगी के मांस को खाता रहता है, और जीवितों को व्याकुल कर देता है। मन्त्र १५ में "नः" द्वारा अपनों के यक्ष्मरोगों की चिकित्सा का वर्णन हुआ है, और मन्त्र १६ में अन्यों की चिकित्सा का। अन्यों की सेवा, धर्मकार्य है। मन्त्र में अन्यों की सेवा के लिए प्रेरणा दी है]।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यस्मिन्देवा अमृजत यस्मिन्मनुष्या उत।

तस्मिन्घृतस्तावो मृष्ट्वा त्वमग्ने दिवं रुह ॥ १७ ॥

अर्थ—(यस्मिन्) जिस यज्ञाग्नि में (देवाः) विद्वानों से (अमृजत) अपने-आप को शुद्ध किया, (उत) तथा (मनुष्याः) सामान्य मनुष्यों ने (यस्मिन्) जिस यज्ञाग्नि में अपने आप को शुद्ध किया, (तस्मिन्) उस यज्ञाग्नि में (घृतस्तावः) घृताहुतियों द्वारा परमेश्वर का स्तवन करने वाले हे रोगिन्! (मृष्ट्वा) अपने को शुद्ध करके, (अग्ने) हे अग्नि के समान शुद्ध हुआ (त्वम्) तू (दिवम्) मोद और कान्ति के [शिखर पर] (रुह) आरोहण कर।

[परमेश्वर की स्तुति पूर्वक शुद्ध घृताहुतियाँ देने का वर्णन है। इससे गृहशुद्धि होती है और व्यक्ति सुखी होता और शारीरिक कान्ति प्राप्त करता है। दिव्=मोद, कान्ति (धातुपाठ)]।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥

समिद्धो अग्न आहुत स नो माभ्यपक्रमीः। अत्रैव दीदिहि द्यवि ज्योक्च सूर्यं दृशे ॥ १८ ॥

अर्थ—(आहुत अग्ने) आहुति प्राप्त हे अग्नि! (सः) वह तू (नः) हमारे (मा अभि अपक्रमीः) अभिमुख होकर क्रव्याद् रूप में निन्दनीय आक्रमण मत कर। (द्यवि) प्रतिदिन (अत्र) इस पृथिवी पर (एव) ही (दीदिहि) प्रकाशित हो, ताकि (ज्योक्) चिरकाल तक (सूर्यम् दृशे) सूर्य को हम देखें।

[द्यवि=**द्यवि द्यवि अहर्नाम** (निघं० १.९); तथा **द्युः अहर्नाम** (निघं० १.९); अग्नि में यदि यथोचित आहुतियाँ दी जाएँ तो यक्ष्म आदि से हमारी अकालमृत्युएँ नहीं होतीं। अन्यथा क्रव्याद् का निन्दनीय अवाञ्छित आक्रमण होता रहता है। इसीलिए गार्हपत्याग्नि सदा घर में रहनी चाहिए—ऐसा विधान है]।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अग्निः, मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

सीसे मृड्ढ्वं नडे मृड्ढ्वमग्नौ संकसुके च यत्।
अथो अव्यां रामायां शीर्षक्तिमुपबर्हणे॥ १९॥

अर्थ—(यत् शीर्षक्तिम्) जो शिरोवेदना है उसको (सीसे) सीसभस्म में (मृड्ढ्वम्) धो डालो, (नडे) नड में (मृड्ढ्वम्) धो डालो, (च संकसुके अग्नौ) और संकसुक अग्नि में धो डालो। (अथो) तथा (रामायाम् अव्याम्) अभिराम तथा रक्षक सूर्य में धो डालो, (उपबर्हणे) तथा उपबर्हण में धो डालो।

[सीसभस्म द्वारा शिरोवेदना दूर होती है। यथा "सोंठ के चूर्ण और पुराने गुड़ के साथ नागभस्म अर्थात् सीस भस्म को खाने से सिर का दर्द और कमर का दर्द मिटता है" (वनौषधि चन्द्रोदय "सीस" शीर्षक में)। नडे=सीसभस्म नड पर तैयार की जाती हैं, अतः शीर्षक्ति रोग में नड का वर्णन हुआ है। संकसुक अग्नि नडाग्नि प्रतीत होती है, जिसे नड पर प्रदीप्त करके सीसभस्म तैयार होती है। संकसुक अग्नि शवाग्नि है, परन्तु नड तथा सीस के दाहक होने के कारण नडाग्नि को भी संकसुक अग्नि कहा प्रतीत होता है। यह शव का भी दहन करती है तथा नड और सीस का भी।

अव्याम् रामायाम्=रमणीय गुणों वाला रक्षक सूर्य (अव रक्षणे)। यथा "**अविर्वै नाम देवतर्तेनास्ते परीवृता। तस्या रूपेणेमे वृक्षा हरिता हरितस्रजः॥** (अथर्व० १०.८.३१)। इस मन्त्र में "अवि" द्वारा रक्षक सूर्य का वर्णन हुआ है, जिस द्वारा कि वृक्ष हरे होते हैं, और लतारूपी हरी मालाएँ धारण करते हैं। "**अव्यां रामायाम्**[१]" "काली भेड़ के दूध में"—ऐसा अर्थ भी सम्भव है। परीक्षणों द्वारा यह देखना चाहिए कि इस दूध का यक्ष्मरोग, यक्ष्मरोग-जन्य शिरोवेदना या सामान्य शिरोवेदना के साथ सम्बन्ध है या नहीं।

उपबर्हणे—उपबर्हण का अर्थ प्रायः सिरहाना अर्थात् तकिया होता है। इसका सामान्य अभिप्राय यह हो सकता है कि शिरोवेदना में तकिये पर सिर रख कर सो जाओ तो सोने से आराम मिल जाएगा। परन्तु इसका अन्य अर्थ भी सम्भव है। शीर्षक्तिरोग यक्ष्मा का भी परिणाम होता है, देखो (अथर्व० ९.८.१, १०)। सिर के रोगों की निवृत्ति "उदित होते हुए आदित्य की रश्मियों" द्वारा भी होती है, और यक्ष्मरोग का भी विनाश होता है। यथा "**सं ते शीर्ष्णः कपालानि हृदयस्य च यो विधुः। उद्यन्नादित्य रश्मिभिः शीर्ष्णो रोगमनीनशोऽङ्गभेदमशीशमः**" (अथर्व० ९.८.२२)।

तथा "शीर्षण्ययक्ष्मा को मस्तिष्क से निकाल देने का वर्णन", तथा तदर्थ "कश्यप के वीवर्हण" के प्रयोग का भी वर्णन मिलता है। यथा "**यक्ष्मं शीर्षण्यं मस्तिष्काज्जिह्वाया विवृहामि ते**" (अथर्व० २.३३.१); तथा "**कश्यपस्य वीबर्हेण विश्वञ्चं विवृहामसि**" (अथर्व० २.३३.७)। "कश्यप" का अभिप्राय है आदित्य। यथा "**कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च**" (अथर्व० १७.१.२८)। ज्योति और वर्चस् से सम्पन्न आदित्य ही है। २.२३.७, २८ में "विवृहामि", "वीवर्हेण", तथा "उपवर्हणे" में एक ही "वृह" धातु का प्रयोग है, जिसका अर्थ है—हिंसा (चुरादि, भ्वादिगण)। इस प्रकार "उपवर्हण" का अर्थ है "हिंसा करने वाली आदित्य की रश्मि"; हिंसा=रोग की हिंसा अर्थात् विनाश। इस प्रकार

---

१. रामा=कृष्णा, काली! यथा "**अधोरामः सावित्रः**" **इति पशुसमाम्नाये** (यजुः० २९.५८) **विज्ञायते, कस्मात् सामान्यादित्यधस्तात्तद्वेलायां तमो भवत्येतस्मात् सामान्यात्, अधस्ताद् रामोऽधस्तात् कृष्णः** (निरुक्त १२.२.१३; सविता की व्याख्या में)।

''अवि'', और ''कश्यप'' समानाभिप्रायक हैं]।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अग्निः, मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

सीसे मलं सादयित्वा शीर्षक्तिमुपबर्हणे।

अव्यामसिक्न्यां मृष्ट्वा शुद्धा भवत यज्ञियाः ॥ २० ॥

अर्थ—(मलम्) यक्ष्मरूपी मल को (सीसे) सीसभस्म में (सादयित्वा) स्थापित करके अथवा विशीर्ण करके, (शीर्षक्तिम्) शिरोवेदना को (उपबर्हणे) उपबर्हण में स्थापित या विशीर्ण करके, तथा (असिक्न्याम् अव्याम्) काली भेड़ के दूध में, या काले धब्बों वाले रक्षक सूर्य में (मृष्ट्वा) धो कर (शुद्धाः भवत) शुद्ध हो जाओ, (यज्ञियाः) और यज्ञकर्मों के करने योग्य हो जाओ।

[अव्याम्, असिकन्याम्=अवि=सूर्य (मन्त्र १९), असिक्नी=काली। सूर्य में काले धब्बे हैं। अविः=भेड़ (मन्त्र १९)। शेष पदों की व्याख्या के लिए देखो (मन्त्र १९)]।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—मृत्युः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

परं मृत्यो अनु परेहि पन्थां यस्त एष इतरो देवयानात्।

चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमीहेमे वीरा बहवो भवन्तु ॥ २१ ॥

अर्थ—(मृत्यो) हे मृत्यु! (अनु) निरन्तर (परम् पन्थाम्) दूर के मार्ग पर (परेहि) तू परे चली जा, (यः ते एषः) जो यह तेरा मार्ग (देवयानात् इतरः) देवों के मार्ग से भिन्न है। मानो (ते चक्षुष्मते शृण्वते) तुझ देखते हुए तथा सुनते हुए के प्रति (ब्रवीमि) मैं कहता हूँ। (इह) इन देवों के मार्ग में (इमे) ये (वीराः) धर्मवीर तथा शूरवीर (बहवः) बहुत से (भवन्तु) हों।

[जीवन के दो मार्ग हैं—पितृयाण तथा देवयान। देवयान सत्यमय है और पितृयाण सन्तानधर्मियों का। पितृयाण में मृत्यु का राज्य होता है, व्यक्ति मृत्यु और पुनर्जन्म की शृङ्खला में बन्धे रहते हैं, और देवयानी मोक्ष प्राप्त कर मृत्यु की मार से बच जाते हैं। ''**सत्यं वै देवाः, अनृतं मनुष्याः**'']।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—मृत्युः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

इमे जीवा वि मृतैराववृत्रन्नभूद्भद्रा देवहूतिर्नो अद्य।

प्राञ्चो अगाम नृतये हसाय सुवीरासो विदथमा वदेम ॥ २२ ॥

अर्थ—(इमे जीवाः) ये जीवित मनुष्य, (मृतैः) मृतों से (वि) वियुक्त अर्थात् अलग होकर, (आ ववृत्रन्) लौट आए हैं, (अद्य) आज (नः) हमारी (देवहूतिः) परमेश्वर देव के प्रति पुकार या प्रार्थना (भद्रा) कल्याणकारिणी तथा सुखप्रदा (अभूत्) हुई है। (प्राञ्चः) आगे की ओर (अगाम) हम बढ़े हैं, (नृतये हसाय) नाचने और हंसी-खुशी के लिए। (सुवीरासः) उत्तम धर्मवीर तथा शूरवीर होकर (विदथम्) ज्ञान गोष्ठियों में (आवदेम) हम परस्पर ज्ञानचर्चा करें।

[संक्रामक रोग में कतिपय सम्बन्धियों की मृत्यु हो जाए तो उनकी जीवित अन्त्येष्टि के पश्चात् शेष सम्बन्धी वापिस आकर दुःख या शोक से ग्रस्त न हो जाएँ, अपितु परमेश्वर के उपासक होते हुए प्रसन्नता पूर्वक उन्नति पथ पर चलते रहें, और परस्पर मिलकर ज्ञान बढ़ाते रहें। भद्रा=**भद् कल्याणे सुखे च।** विदथम्=विदथानि वेदनानि (ज्ञानानि); यथा ''**विदथानि प्रचोदयन्**'' (ऋ० ३.२७.७); (निरुक्त ६.२.७)]।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—मृत्युः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरो अर्थमेतम्।
शतं जीवन्तः शरदः पुरूचीस्तिरो मृत्युं दधतां पर्वतेन॥ २३॥

अर्थ—(जीवेभ्यः) जीवित मनुष्यों के लिए (इमं परिधिम्) इस मर्यादा को (दधामि) मैं परमेश्वर स्थापित अर्थात् निश्चित करता हूँ, (एषाम्) इन मनुष्यों से (अपरः) कोई (नु) निश्चय से (एतम् अर्थम्) इस अभ्यर्थनीय परिधि अर्थात् मर्यादा का (मा गात्) उल्लंघन न करे। (पुरूचीः) बहुविध कर्मों से व्याप्त (शतं शरदः) सौ वर्षों तक (जीवन्तः) जीवित रहते हुए (मृत्युम्) मृत्यु को (तिरः दधताम्) तिरोहित करो, रोके रखो (पर्वतेन) जैसे कि पर्वत द्वारा पारवर्ती शत्रु को रोका जाता है।

[वेद द्वारा जीवन के लिए जो मर्यादाएँ उपदिष्ट हुई हैं, उनमें चलते हुए, तथा सत्कर्मों में व्याप्त होते हुए, अकाल मृत्यु पर विजय पानी चाहिए। वेद में ७ मर्यादाओं का कथन हुआ है, "**सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुः**" (ऋ० १०.५.६)। इस मन्त्र की व्याख्या में निरुक्तकार ने ७ मर्यादाएँ निम्नलिखित दर्शाई हैं। यथा—

स्तेयम्, तल्पारोहणम् अर्थात् व्यभिचार, ब्रह्महत्याम्, भ्रूणहत्याम् अर्थात् गर्भनाशः, सुरापानम् दुष्कृतस्य कर्मणः पुनः पुनः सेवाम्, पातकेऽनृतोद्यम्" (निरु० ६.५.२७) मन्त्र २३ में परिधि शब्द पठित है परन्तु परिधि या मर्यादा, इन दोनों का अभिप्राय एक ही है। मृत्यु सम्बन्धी परिधि के सम्बन्ध में, अथर्व० ८.२.२५ निम्नलिखित मन्त्र भी है। यथा—"**सर्वो वै तत्र जीवति गौरश्वः पुरुषः पशुः। यत्रेदं ब्रह्म परिधिर्जीवनाय कम्**", अर्थात् जब जीवन को सुखी बनाने के लिए इस ब्रह्म (वेद) को, अर्थात् समग्र वेद के उपदेश को, परिधि रूप, मर्यादा रूप किया जाता है, तब गौ, अश्व, पुरुष तथा अन्य पशु भी अपनी-अपनी पूर्ण आयु तक जीवित रहते हैं, क्योंकि वेदों में प्रत्येक जाति के प्राणियों के सम्बन्ध में दीर्घ जीवन के उपाय दर्शाए हैं।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—मृत्युः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

आ रोहतायुर्जरसं वृणाना अनुपूर्वं यतमाना यति स्थ।
तान्वस्त्वष्टा सुजनिमा सजोषाः सर्वमायुर्नयतु जीवनाय॥ २४॥

अर्थ—(यति स्थ) जितने तुम हो, (अनुपूर्वम्) एक के पीछे दूसरा—इस प्रकार (यतमानाः) प्रयत्न करते हुए, (जरसम् वृणानाः) और जरावस्था को प्राप्त हो कर, (आयुः) आयु के शिखर तक (आरोहत) आरोहण करो, चढ़ो। (सुजनिमा) उत्तम मनुष्य-जीवन देने वाला, तथा (सजोषाः) प्रीति करने वाला (त्वष्टा) जगत् का कारीगर परमेश्वर, (तान् वः) उन तुम को, (जीवनाय) जीवित रहने के लिए, (सर्वम् आयुः) पूर्ण आयु तक (नयतु) ले चले या पहुँचाए।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—मृत्युः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

यथाहान्यनुपूर्वं भवन्ति यथर्तव ऋतुभिर्यन्ति साकम्।
यथा न पूर्वमपरो जहात्येवा धातरायूंषि कल्पयैषाम्॥ २५॥

अर्थ—(यथा) जैसे (अहानि) दिन और रात (अनुपूर्वम्) एक के पीछे दूसरा, (भवन्ति) होते रहते हैं, (यथा) जैसे (ऋतवः) ऋतुएँ (ऋतुभिः साकम्) अन्य ऋतुओं के साथ, एक के पीछे दूसरी (यन्ति)

चलती हैं, (यथा) जैसे (पूर्वम्) पूर्व के दिन को या पूर्व की ऋतु को (अपरः) अगला दिन या अगली ऋतु (न जहाति) नहीं छोड़ती, (एवा) इसी प्रकार (धातः) हे विधाता! (एषाम्) इन प्रजाजनों की (आयूँषि) आयुषों को (कल्पय) तू संयोजित कर, या सामर्थ्ययुक्त कर।

[अहानि="**अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च**" (ऋ० ६.९.१) में अहः को कृष्ण और अर्जुन अर्थात् शुक्ल कहा है। इसलिए अहः का अर्थ रात्रि भी है, और दिन भी]।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**मृत्युः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अश्मन्वती रीयते सं रभध्वं वीरयध्वं प्र तरता सखायः।

अत्रा जहीत ये असन्दुरेवा अनमीवानुत्तरेमाभि वाजान्॥ २६॥

अर्थ—(अश्मन्वती) पथरीली नदी (रीयते) बह रही है, (सखायः) हे मित्रो! (संरभध्वम्) परस्पर मिल कर कार्यारम्भ करो, (वीरयध्वम्) वीरता का प्रदर्शन करो, (प्रतरता) और तर जाओ। (अत्रा) यहीं, या इसी समय या इसी जन्म में (जहीत) छोड़ दो (ये असन् दुरेवाः) जो हैं दुःखदायीकर्म, (अनमीवान्) रोग रहित (वाजान्) अन्नों को (अभि) लक्ष्य करके (उत्तरेम) हम उत्तीर्ण हो जाएँ।

[पूर्वमन्त्रों में यक्ष्म और उसके निराकरण के उपायों का वर्णन हुआ है। इस मन्त्र में भी "अनमीवान्" द्वारा रोग रहित होने का निर्देश हुआ है। अतः प्रकरणानुसार अश्मन्वती नदी का अभिप्राय "रोग और रोगजन्य कष्टों वाला जीवन" प्रतीत होता है। इसीलिए कहा है कि हम "अनमीवान् वाजान्" अर्थात् रोग रहित अन्नों को लक्ष्य करके रोगजन्य कष्टमय नदी को तैर जाएँ। रोग और रोगजन्यकष्ट तथा अकाल मृत्यु हैं जीवन के अश्मन् अर्थात् पत्थर। परस्पर मिल कर सहोद्योग द्वारा रोगप्रद कर्मों के परित्याग का वर्णन मन्त्र में हुआ है, संसार नदी से वैराग्यपूर्वक छूटने या मोक्ष प्राप्ति का नहीं। इसीलिए अगले मन्त्र (२८) में १०० वर्षों तक जीवित रहने के संकल्पों का वर्णन हुआ है। मन्त्र में "रोगनिवारक संगठन" का निर्देश मिलता है जिसमें कि मिल कर व्यक्ति प्रण करें कि हम इस संगठन में रोगों को दूर करने का सम्मिलित प्रयत्न करेंगे और ऐसे अन्नों का सेवन करेंगे जिससे यक्ष्म का उन्मूलन हो सके। वाजान्=**वाजः अन्ननाम** (निघं २.७)]।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**मृत्युः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

उत्तिष्ठता प्र तरता सखायोश्मन्वती नदी स्यन्दत इयम्।

अत्रा जहीत ये असन्नशिवाः शिवान्त्स्योनानुत्तरेमाभि वाजान्॥ २७॥

अर्थ—(सखायः) हे मित्रो! (उत्तिष्ठत) उठो, (प्रतरता) और तैरो, (इयम्) यह (अश्मन्वती) पथरीली (नदी) रोगाक्रान्त जीवनरूप नदी (स्यन्दते) बह रही है। (अत्रा) यहीं अर्थात् इस संगठन में ही (जहीत) छोड़ दो, त्याग दो (ये) जो कि (अशिवाः असन्) अकल्याणकारी कर्म हैं, (शिवान्) कल्याणकारी (स्योनान्) और सुखदायक (वाजान्) अन्नों को (अभि) लक्ष्य करके (उत्तरेम) हम तैर जाएँ, पार हो जाएँ।

[अशिवाः=रोग और तज्जन्य कर्म। शिवान्=स्वास्थ्यकारी अन्न, औषध तथा कर्म। तरेम=रोग के कष्टों से पार हो जाएँ]।

ऋषिः—भृगुः॥ देवता—मृत्युः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

वैश्वदेवीं वर्चस आ रभध्वं शुद्धा भवन्तः शुचयः पावकाः।
अतिक्रामन्तो दुरिता पदानि शतं हिमाः सर्ववीरा मदेम॥ २८॥

अर्थ—(वर्चसे) शरीर की कान्ति के लिए (वैश्वदेवीम्) वैश्वदेवनाम वाली ओषधि [का सेवन] (आरभध्वम्) आरम्भ करो, (शुद्धाः भवन्तः) यक्ष्मरोग के मल से शुद्ध होते हुए (पावकाः) पवित्र करने वाली, अग्नि के सदृश (शुचयः) पवित्र हो जाओ। (दुरिता) दुःखदायी या दुष्परिणामी (पदानि) चालों का (अतिक्रामन्तः) अतिक्रमण करते हुए (सर्ववीराः) सब वीर होकर (शतं हिमाः) सौ वर्ष (मदेम) हम मोद-प्रमोद अनुभव करते रहें।

[प्रकरणानुसार यह अर्थ सङ्गत प्रतीत होता है। अथर्व० ८.७.४ का मन्त्रांश इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य है। यथा—"**ते वीरुधो वैश्वदेवीरुग्राः पुरुषजीवनीः**", अर्थात् वैश्वदेवी वीरुधें, ओषधियाँ, रोग के विनाशन में उग्र हैं, और पुरुषों को जीवन प्रदान करती हैं। ये ओषधियाँ यक्ष्म का विनाश करती हैं देखो (अथर्व० ८.७.२-५ आदि)। वीरुधः=वि+रुध्, विविध रोगों को अवरुद्ध करने वाली; या रोगविरोधिनी ओषधियाँ। पदानि=**पद् गतौ**]।

ऋषिः—भृगुः॥ देवता—मृत्युः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

उदीचीनैः पथिभिर्वायुमद्भिरतिक्रामन्तोवरान्परेभिः।
त्रिः सप्त कृत्व ऋषयः परेता मृत्युं प्रत्यौहन्पदयोपनेन॥ २९॥

अर्थ—(उदीचीनैः) ऊपर को चढ़ते हुए, (वायुमद्भिः) वायु सम्बन्धी (परेभिः) परले या श्रेष्ठ (पथिभिः) मार्गों द्वारा, (अवरान्) नीचे के या अश्रेष्ठ मार्गों का (अतिक्रामन्तः) अतिक्रमण करते हुए (ऋषयः) ऋषि लोग, (त्रि सप्त कृत्वः) तीन वार सात अर्थात् २१ वार [प्राणायामों द्वारा] (परेताः) परले या श्रेष्ठ स्थान पर पहुँचे हैं। उन्होंने (पदयोपनेन) मृत्यु के पैरों को व्यामोहित करके (मृत्युम्) मृत्यु को (प्रत्यौहन्) दूर कर दिया।

[प्रत्यौहन्=प्रति+वह्। प्रतिवाहनम्=Leading back (आप्टे), वापिस करना, प्रतिकूल दिशा की ओर करना। मन्त्र में मृत्यु पर विजय पा कर मोक्षधाम को जाने, तथा प्रकरणानुसार अकाल मृत्यु पर विजय प्राप्त करने का भी वर्णन है।

त्रिः सप्त कृत्वः=कईयों को २१ वार तपश्चर्या द्वारा—यह अर्थ अभिमत है। परन्तु २१ तपश्चर्याएँ कौन सी हैं इस पर उन्होंने प्रकाश नहीं डाला। प्रकरणानुसार ३×७ प्राणायाम प्रतीत होते हैं, जिन्हें कि प्रतिदिन करना होता है। इस अर्थ की पुष्टि में "आसीनाः" पद अर्थात् आसन लगा कर—यह भाव विशेष महत्त्व का है, देखो मन्त्र (३०)। "**प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य**" (योग १.३४) की व्याख्या में, योगी स्वामी ओमानन्द जी तीर्थ "पातञ्जल योग प्रदीप" में लिखते हैं कि "आरम्भ में इस प्राणायाम को इक्कीस वार अथवा यथा सामर्थ्य करना चाहिए। शनैः शनैः अभ्यास बढ़ावें। इस लेख से "त्रिः सप्त कृत्वः" का अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है। अकालमृत्यु पर विजय पाने के पक्ष में "परेभिः पथिभिः" का अर्थ है श्रेष्ठ योगमार्ग तथा त्याग भावना से जीवनयात्रा का मार्ग, और "अवरान्" का अर्थ है अश्रेष्ठ सांसारिक मार्ग तथा भोग-प्रधान जीवन यात्रा का मार्ग।

उदीचीनैः वायुमद्भिः पथिभिः="किसी सुखासन से बैठ कर.....कोष्ठ स्थित वायु को नाभि से उठा कर दोनों नासिका पुटों द्वारा वमन की भान्ति एक दम बाहर फैंक देना चाहिए" ("पातञ्जल योगप्रदीप", योग १.३४)। इस प्रकार नाभि से उठी वायु, जिस मार्ग से नासिका पुटों तक पहुँचती है, अर्थात् नीचे से ऊपर की ओर जाती है, उसे "**उदीचीनैः वायुमद्भिः पथिभिः**" द्वारा निर्दिष्ट किया गया है।

अतिक्रामन्तः अवरान् परेभिः=प्राणायाम करते समय, नाभि से अर्थात् नीचे से (अवरान्); वायु को ऊपर की ओर (परेभिः) ले जाते हुए, अवरमार्गों का परमार्गों की दृष्टि से अतिक्रमण करना होता है]।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**मृत्युः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

मृत्योः पदं योपयन्त एत द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः।
आसीना मृत्युं नुदता सधस्थेथ जीवासो विदथमा वदेम ॥ ३० ॥

अर्थ—(द्राघीयः आयुः) दीर्घ आयु को (प्रतरम्) अधिक प्रकृष्ट करके (दधानाः) धारण करते हुए (मृत्योः पदं योपयन्तः) और मृत्यु के पैर को व्यामोहित करते हुए (एत) योगमार्ग की ओर आओ। (सधस्थे) उपासना के लिए इकट्ठे बैठने के स्थान में (आसीनाः) योगासन में बैठ कर (मृत्युम्) अकालमृत्यु को (नुदता) धकेलो, (अथ) तत्पश्चात् (जीवासः) जीवित हम (विदथम् आ वदेम) ज्ञानगोष्ठी में ज्ञान चर्चा करें।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**मृत्युः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

इमा नारीरविधवाः सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा सं स्पृशन्ताम्।
अनश्रवो अनमीवाः सुरत्ना आ रोहन्तु जनयो योनिमग्रे ॥ ३१ ॥

अर्थ—(अविधवाः) न विधवा अर्थात् जीवित पतियों वाली, (सुपत्नीः) उत्तम-पत्नियाँ—(इमाः नारीः) अर्थात् ये नारियाँ (आञ्जनेन=अञ्जनेन) अञ्जन, (सर्पिषा) और पिघले घृत के साथ (संस्पृशन्ताम्) संस्पर्श किया करें। (अनश्रवः) आंसुवों से रहित अर्थात् सदा सुप्रसन्न, (अनमीवाः) रोगरहित, (सुरत्नाः) आभूषणों द्वारा सुभूषित, (जनयः) सन्तानोत्पादिका ये नारियाँ, (योनिम्) घर में (अग्रे) पतियों के आगे-आगे होकर (आरोहन्तु) चढ़ा करें, प्रवेश पाया करें।

[आरोहन्तु=घर की नींव पृथिवीतल से ऊंची और सीढ़ियों वाली होनी चाहिए। **योनिः गृहनाम** (निघण्टु ३.४)। संस्पृशन्ताम्=अञ्जन द्वारा आँखों का तथा सर्पिः द्वारा शरीर का स्पर्श]।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**मृत्युः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

व्याकरोमि हविषाहमेतौ तौ ब्रह्मणा व्य१हं कल्पयामि।
स्वधां पितृभ्यो अजरां कृणोमि दीर्घेणायुषा समिमान्त्सृजामि ॥ ३२ ॥

अर्थ—(एतौ) इन दो को, (हविषा) हविः की दृष्टि से (अहम्) मैं (व्याकरोमि) विभक्त करता हूँ, (ब्रह्मणा) वेद द्वारा (अहम्) मैं (वि कल्पयामि) इन दो को विशेषतया समर्थित करता हूँ। अर्थात् (पितृभ्यः) पितरों के लिए (अजराम् स्वधाम्) अजर तथा स्वधारण योग्य अन्न को (कृणोमि) नियत करता हूँ, और (इमान्) पितरों से भिन्न इन व्यक्तियों को (दीर्घेण) दीर्घ आयु देने वाले (आयुषा) अन्न के साथ (सृजामि) सम्बद्ध करता हूँ।

[प्रकरण यक्ष्मरोग तथा अकाल मृत्यु के अपाकरण का है। परमेश्वर कहता है कि वृद्धों और अवृद्धों के जीवनों के लिए उपादेय अन्न का, वेद द्वारा विभाग मैं दर्शाता हूँ,। पितरों के लिए तो अन्न "**स्वधा**" रूप नियत करता हूँ जो कि उनके स्वधारण के योग्य हो (स्वधा=स्वधारणायोग्य) और अजरा हो, उन्हें शीघ्र जीर्ण करने वाला न हो, सुपाच्य हो। और अवशिष्ट व्यक्तियों का सम्बन्ध ऐसे अन्न के साथ करता हूँ जो कि उनकी आयुओं को दीर्घ करे। परन्तु इन दोनों विभागों को अन्न का सेवन, हविः रूप में करना चाहिए। जीवन को यज्ञ समझते हुए ऐसे अन्न का सेवन करते रहना चाहिए जिससे जीवन यज्ञ सफलता पूर्वक समाप्त हो। आयुषा=**आयुः अन्ननाम** (निघण्टु २.७) "आयुषा" पद द्व्यर्थक हैं, दो अर्थ हैं आयु और अन्न। **स्वधा अन्ननाम** (निघण्टु २.७)। कल्पयामि=**क्लृप् सामर्थ्ये**। ब्रह्मणा=वेदेन। ब्रह्म का अर्थ है वेद। अथर्ववेद का तो नाम ही है "ब्रह्मवेद", क्योंकि अथर्ववेद साक्षात् रूप से अन्य वेदों की अपेक्षा अधिकरूप में ब्रह्म का प्रतिपादन करता है, शेष वेद प्रायः परम्परया ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं। इसलिए ऋग्वेद में कहा है कि "**यस्तं न वेद किमृचा करिष्यति**" (ऋग्वेद) अर्थात् ऋचाओं का अध्ययन करके भी जो ब्रह्म को नहीं जानता उसे ऋचाओं के अध्ययन से प्राप्त ही क्या हुआ? अतः साक्षात् तथा परम्परया ब्रह्म का प्रतिपादन करने से सभी वेदों को ब्रह्म कहते हैं। महर्षि दयानन्द ने भी कहा है कि "**ब्रह्म=ईश्वरो, वेदः, तत्त्वं, तपो वा**" (उणाः ४.१४७)]।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**मृत्युः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यो नो अग्निः पितरो हृत्स्व१न्तराविवेशामृतो मर्त्येषु।

मय्यहं तं परि गृह्णामि देवं मा सो अस्मान्द्विक्षत मा वयं तम्॥ ३३॥

अर्थ—(पितरः) हे पितरो! (मर्त्येषु अमृतः) मरण धर्मा पदार्थों में (अमृतः) अमर (यः अग्निः) जो अग्नि (नः हृत्सु अन्तः) हमारे हृदयों के भीतर (आ विवेश) प्रविष्ट हुआ है (तम्) उस (देवम्) देव को (अहम्) मैं (मयि) अपने में (परिगृह्णामि) पूर्णतया ग्रहण किये रखता हूँ, (सः) वह (अस्मान्) हमारे साथ (मा द्विक्षत) अप्रीति न करे अर्थात् हमारा त्याग न करे, (मा) और न (वयम्) हम (तम्) उससे अप्रीति करें, उसे त्यागें।

[मन्त्र में अग्नि पद परमेश्वर वाचक है—इसमें कोई सन्देह नहीं। मन्त्र ३२ में "अहम्" द्वारा "प्रवक्ता" का स्वरूप क्या है—इसे दर्शाने के लिए मन्त्र ३३ पठित है। द्विक्षत=**दिष अप्रीतौ**। परस्पर अप्रीति होने पर त्याग की सम्भावना रहती है]।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अपावृत्य गार्हपत्यात्क्रव्यादा प्रेत दक्षिणा।

प्रियं पितृभ्य आत्मने ब्रह्मभ्यः कृणुता प्रियम्॥ ३४॥

अर्थ—(गार्हपत्यात्) गार्हपत्य कुण्ड से (अपावृत्य) हट कर, (क्रव्यादा) मांस भक्षक अग्नि के साथ (दक्षिणा) दक्षिणा दिशा को (प्रेत) जाओ। और (पितृभ्यः आत्मने) पितरों के लिए तथा अपने लिए (प्रियम्) प्रिय कर्म (कृणुत) करो, (ब्रह्मभ्यः) वेद-वेत्ताओं के लिए (प्रियम्) प्रिय कर्म करो।

[प्रिय कर्म है अन्त्येष्टि संस्कार। इस निमित्त गार्हपत्य कुण्ड से अग्नि का उद्धरण करो। अभी तक तो गार्हपत्य-अग्नि देव रूप थी, परन्तु जब इसका अन्त्येष्टि के लिए उद्धरण किया तो यह क्रव्याद् रूप

हो गई, क्योंकि इसने शव के मांस का भक्षण करना है। क्रव्याद् अग्नि को लेकर बस्ती के दक्षिण की ओर जाना चाहिए। दक्षिण में अन्त्येष्टि कर्म होना चाहिए। दक्षिण दिशा ह्रास को, शक्ति के ह्रास को, सूचित करती है। जैसे जैसे सूर्य दक्षिण की ओर ढलता जाता है वैसे-वैसे उसकी शक्ति का ह्रास होता जाता है, अतः ह्रास क्रिया का अर्थात् अन्त्येष्टि का करना, दक्षिण दिशा में विहित है। अन्त्येष्टि, जीवनीय शक्ति के अत्यन्ततम ह्रास को सूचित करती है।

जीवित अवस्था में व्यक्ति सब सम्बन्धियों को प्रिय होता है, परन्तु मृत होने पर सभी को उसकी शवक्रिया ही प्रिय होती है। वेद-वेत्ताओं को भी उस अवस्था में शवक्रिया प्रिय होती है, माता-पिता को भी और अपने-आप को भी यही क्रिया प्रिय होती है।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

द्विभागधनमादाय प्र क्षिणात्यवर्त्या।

अग्निः पुत्रस्य ज्येष्ठस्य यः क्रव्यादनिराहितः ॥ ३५ ॥

अर्थ—(यः) जो (क्रव्याद् अग्निः) मांस-भक्षक अग्नि (अनिराहितः) निराहित नहीं की गई, हटाई नहीं गई, वह (ज्येष्ठस्य पुत्रस्य) बड़े पुत्र के (द्विभागधनम्) दो भागों के धन को (आदाय) छीन कर, (अवर्त्या) वृत्ति के अभाव द्वारा (प्रक्षिणाति) उसे क्षीण करती रहती है।

[अनिराहितः; निर्+आहितः=आहित अग्नि को निकाल देना। अ+निराहितः=आहित अग्नि को न निकालना, न पृथक् करना। मन्त्र में ''क्रव्याद्'' द्वारा, क्रव्याद् के हेतुभूत यक्ष्मरोग का वर्णन किया है। दोनों ही क्रव्याद् है मांसभक्षक हैं। क्रव्याद् अर्थात् शवाग्नि तो स्पष्टतया मांसभक्षक है ही, जोकि हमारे सम्मुख ही शव का भक्षण कर रही होती है। यही अवस्था यक्ष्मरोग की है। यक्ष्म रोग शनैः-शनैः रोगी के मांस को खाता जाता है इसलिए मन्त्र में यक्ष्म को भी क्रव्याद् कहा है। यक्ष्मरोग भयानक होता है। उग्रावस्था में यह रोग रोगी के समग्र धन का भी व्यय करा देता है। यदि बड़े भाई को यह रोग हो जाए तो दायभाग में मिले उसके दुगने धन को भी चिकित्सा में व्यतीत करा कर, उसे वृत्तिरहित कर, क्षीण कर देता है। अतः अग्निरूप, इस भक्षक यक्ष्मरोग को, शरीर से यथासम्भव अनुग्रावस्था में ही पृथक् करने का यत्न करना चाहिए। मन्त्र में पिता की जायदाद के बटवारे में ज्येष्ठ पुत्र को दो भाग देने का विधान किया है, और अन्यों को एक-एक भाग। अवर्तिः=अ+वर्तिः (उणा० ४.१४२)]।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यत्कृषते यद्वनुते यच्च वस्नेन विन्दते। सर्वं मर्त्यस्य तन्नास्ति क्रव्याच्चेदनिराहितः॥ ३६ ॥

अर्थ—(चेत्) यदि (क्रव्याद्) मांसभक्षक अग्नि (अनिराहितः) घर से निकाली नहीं गई तो (मर्त्यस्य) मरने वाले का (तत् सर्वम्) वह सब कुछ (न अस्ति) नहीं होता, अर्थात् (यत्) जो (कृषते) खेती से वह प्राप्त करता है, (यद्) जो (वनुते) दायभाग से प्राप्त करता है, (यत् च) और जो (वस्नेन) धन द्वारा (विन्दते) प्राप्त करता है, खरीदता है।

[मन्त्र में ''क्रव्याद्'' अर्थात् मांसभक्षक रूप में यक्ष्मरोग का वर्णन अग्नि पद द्वारा हुआ है, शवाग्नि का नहीं। व्यक्ति जब यक्ष्म के कारण मर गया, तो उसका सर्वस्व, उसके लिए न रहा। वनुते=**वन संभक्तौ**। वस्नः=वसति येन सः= मूल्यम् (उणा० ३.६)]।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अग्निः, मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—पुरस्ताद् बृहती ॥

अयज्ञियो हतवर्चा भवति नैनेन हविरत्तवे।

छिनत्ति कृष्या गोर्धनाद्यं क्रव्यादनुवर्तते॥ ३७॥

अर्थ—(यम्, क्रव्याद्, अनुवर्तते) क्रव्याद् अग्नि जिसका पीछा करती है वह (अयज्ञियः) यज्ञ करने योग्य नहीं रहता, (हतवर्चाः भवति) और कान्तिरहित हो जाता है, (एनेन) इस द्वारा (हविः) अन्न (न अत्तवे) नहीं खाया जाता। वह (कृष्याः, गोः, धनात्) कृषि कर्म से, गौओं और धन से (छिनत्ति) अपने आप को काट लेता है, वञ्चित कर लेता है।

[जिसे यक्ष्म रोग हुआ मानो शवाग्नि उसका पीछा कर रही है। वह न यज्ञ करने में शक्त होता, न खा-पी सकता, कान्ति से रहित हो जाता, और सम्पत्ति से भी वञ्चित हो जाता है]।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अग्निः, मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

मुहुर्गृध्यैः प्र वदत्यार्तिं मर्त्यो नीत्य। क्रव्याद्यानग्निरन्तिकादनुविद्वान्वितावति॥ ३८॥

अर्थ—(मर्त्यः) मरणधर्मा रोगी (आर्तिम्) कष्ट को (नीत्य) प्राप्त हो कर, (गृध्यैः) लोभी उत्तमर्णों के साथ (मुहुः) बार-बार धन प्राप्ति के लिए (प्र वदति) व्यर्थ में बात करता है, (यान्) जिस-जिस का कि (अग्निः) क्रव्याद् अग्नि, (विद्वान्) मानो जानती हुई सी, (अन्तिकात्) समीप होकर (अनु वितावति) अनुगमन करती रहती है।

[यक्ष्मरोगी, यक्ष्मरोग से पीड़ित हुआ, उत्तमर्णों से धन के लिए व्यर्थ में बातचीत करता है, परन्तु लोभी उत्तमर्ण, उसकी आसन्न मृत्यु जान कर, सूद पर उसे धन नहीं देते। नीत्य=नि+इण्+ल्यप्। अनु वितावति=अनु+वि+तु (गतौ)]।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अग्निः, मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

ग्राह्या गृहाः सं सृज्यन्ते स्त्रिया यन्म्रियते पतिः।

ब्रह्मैव विद्वानेष्यो३ यः क्रव्यादं निरादधत्॥ ३९॥

अर्थ—(यत्) जब (स्त्रियाः) स्त्री का (पतिः म्रियते) पति मर जाता है तब (गृहाः) गृहवासी (ग्राह्या संसृज्यन्ते) पीड़ा से सम्बद्ध हो जाते हैं। अतः (विद्वान् ब्रह्मैव) चारों वेदों का विद्वान् ही (एष्यः) ढूंढना चाहिए (यः) जोकि (क्रव्यादम्) मांसभक्षक अग्नि को (निरादधत्) निकाल दे।

[ब्रह्मा=चारों वेदों का ज्ञाता, या ब्रह्मवेदज्ञ, अथर्ववेज्ञ। क्रव्यादम्=अभिप्राय है यक्ष्मरोग। यक्ष्मरोग के रहते क्रव्याद् की भी सत्ता बनी रहेगी। यक्ष्मरोग के अभाव में क्रव्याद् का भी अभाव स्वतः सिद्ध है]।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अग्निः, मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—पुरस्ताद् ककुम्मत्यनुष्टुप्॥

यद्रिप्रं शमलं चकृम यच्च दुष्कृतम्।

आपो मा तस्माच्छुम्भन्त्वग्नेः संकसुकाच्च यत्॥ ४०॥

अर्थ—(यत्) जो (रिप्रम्) कुत्सित कर्म, (शमलम्) चित्त की शान्ति को समाप्त कर देने वाला कर्म, (यत् च) और जो (दुष्कृतम्) दुराचार (चकृम) हमने किया है, तथा (यत्) जो (संकसुकात् अग्नेः) शवाग्नि की चञ्चल ज्वाला या यक्ष्म से कष्ट हुआ है (तस्मात्) उस सब से छुड़ा कर (आपः)

व्यापक परमेश्वर तथा जल (मा) मुझे (शुम्भन्तु) पुनः सुशोभित कर दें।

[रिप्रम्=कुत्सितम्, "लीरीडोर्ह्रस्वः पुट् च तरौ श्लेषणकुत्सनयोः" (उणा० ५.५५)। शमलम्=शम् (शान्ति)+अलम्। आपः=परमेश्वर यथा "ता आपः स प्रजापतिः" (यजुः० ३२.१) आपः=जल। अर्थात् परमेश्वरीय उपासना तथा जल चिकित्सा द्वारा यथासम्भव मन्त्र निर्दिष्ट दोषों का उपचार करना चाहिए। शवाग्नि की गर्मी की चञ्चल ज्वाला के कारण यदि कोई शारीरिक कष्ट प्राप्त हुआ है तो उसे जलचिकित्सा द्वारा स्वस्थ करना चाहिए। संकसुक;=चञ्चलः (उणा० २.३०=महर्षि दयानन्द); अस्थिर (उणा० २.३०; भट्टोजी दीक्षित)। क्रव्याद्=मांस भक्षक अग्नि; संकसुक=चञ्चल शवाग्नि, वायु के झोंकों के कारण शवाग्नि की चञ्चल हुई ज्वाला। संकसुक=सम्+कसि (गतौ)]।

ऋषिः—भृगुः॥ देवता—अग्निः, मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

ता अधरादुदीचीरावंवृत्रन्प्रजानतीः पथिभिर्देवयानैः।
पर्वतस्य वृषभस्याधि पृष्ठे नवाश्चरन्ति सरितः पुराणीः॥ ४१॥

अर्थ—(ताः) वे आपः[अर्थात् जल] (प्रजानतीः) मानो पंथों को जानती हुई सी (देवयानैः पथिभिः) वायुदेव के जाने-आने के पथों द्वारा (अधराद्) नीचे से (उदीचीः) ऊपर की ओर अञ्चन अर्थात् गति करती, और ऊपर से नीचे की ओर (आववृत्रन्) आवर्तन करती हैं, आती हैं। (पर्वतस्य) पर्वत की ओर (वृषभस्य) वर्षाकारी मेघ के (पृष्ठे अधि) पीठ पर मानो (पुराणीः सरितः) पुरानी नदियाँ (नवाः) नया नया रूप धारण करके (चरन्ति) विचरती हैं।

[वृषभस्य=**वृषु वर्षणे**। देवयानैः=वायु,देव जिस ओर गति करता है, मेघस्थ आपः भी उसी ओर गति करते हैं। मन्त्र ४० में आपः का वर्णन हुआ है। पीने तथा जलचिकित्सा के लिए वर्षा जल तथा पर्वत से उतरता जल उत्तम होता है। पृथिवी पर बहता-बहता मलिन हो जाता है]।

ऋषिः—भृगुः॥ देवता—अग्निः, मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—त्रिपदा भुरिगार्ची गायत्री (एकावसाना)॥

अग्ने अक्रव्यान्निः क्रव्यादं नुदा देवयजनं वह॥ ४२॥

अर्थ—(अक्रव्याद्) हे अक्रव्याद् अर्थात् मांस भक्षक अग्नि से भिन्न अग्नि! तू (क्रव्यादम् निः नुद) मांस भक्षक अग्नि को निकाल फैंक, और (देवयजनम् आ वह) देवयजन अग्नि को हमें प्राप्त करा।

[मन्त्र में तीन अग्नियों का वर्णन किया है, (१) अक्रव्याद्, (२) क्रव्याद्, (३) देवयजन। यक्ष्मरोग के निवारण के प्रकरणानुसार, यक्ष्म यतः शारीरिक रोग है, इसलिए इसका परिणाम है मांसभक्षक क्रव्याद् अर्थात् श्मशानाग्नि। सूक्तोक्त अग्नियों में शारीरिक अग्नि जाठराग्नि तथा शरीर के तापमान को बनाए रखने वाली रक्तगत "आप्य-अग्नि"। यह सम्भवतः अक्रव्याद् अभिप्रेत है। देवयजन का अर्थ है "देवों का यजन", अर्थात् शारीरिक देवों—ऐन्द्रियिक तथा बौद्धिक दिव्य शक्तियों का, संगठन अर्थात् शरीर के साथ संगति बनाए रखने वाली अग्नि। यह दिव्याग्नि है आत्माग्नि, जीवात्माग्नि तथा परमात्माग्नि। यजन=यज् देवपूजा, संगतिकरण, दान। अथवा देवयजन=गार्हपत्य या आहवनीय अग्नि (मन्त्र ४४)]।

ऋषिः—भृगुः॥ देवता—अग्निः, मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

इमं क्रव्यादा विवेशायं क्रव्यादमन्वगात्।
व्याघ्रौ कृत्वा नानानं तं हरामि शिवापरम्॥ ४३॥

अर्थ—(इमम्) इस रोगी में (क्रव्याद्) मांसभक्षक-अग्नि (आ विवेश) आ प्रविष्ट हुई है, (अयम्) यह रोगी (क्रव्यादम्) मांसभक्षक-अग्नि का (अनु अगात्) स्वयं अनुगामी बना है। इन दोनों को (नानानम्) भिन्न-भिन्न प्राणशक्तियों वाले (व्याघ्रौ कृत्वा) दो व्याघ्ररूप करके, (तम्) उसका (हरामि) मैं संहार करता हूँ, (शिवापरम्) जो शिव से अपर अर्थात् भिन्न है, अशिव है।

[क्रव्याद्—यक्ष्मरोगरूप में रोगी में प्रविष्ट हुई है, जो कि रोगी के मांस का भक्षण करती रहती है, श्मशानाग्नि के रूप में प्रविष्ट नहीं हुई है। वस्तुतः रोगी ने स्वयं क्रव्याद् अर्थात् यक्ष्मरोग का आह्वान किया है, स्वास्थ्य के नियमों के भंग द्वारा। रोगी और यक्ष्मरूपी क्रव्याद्—इन दोनों में यक्ष्म तो व्याघ्ररूप स्वयं हैं, जो कि रोगी को खाता जाता है। यक्ष्म का वैद्य नाना उपचारों द्वारा रोगी की प्राणशक्ति का उद्धार करके रोगी को शनैः शनैः प्रबल व्याघ्र बना देता है, और इस व्याघ्र द्वारा अशिव यक्ष्मरूपी व्याघ्र का संहार करता है। व्याघ्रौ, पशुव्याघ्र नहीं, अपितु दो परस्पर विरोधी शक्तियाँ हैं—स्वास्थ्यशक्ति और रोगशक्ति। नानानम्=नाना (भिन्न-भिन्न)+अनम् (अन् प्राणने, प्राणशक्तियां)। रोग में भी निज प्राणशक्ति होती है, जिस द्वारा वह अपने स्वरूप को बनाए रखने तथा विजयी करने में सशक्त होता है। वर्णन कवितामय है]।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**द्विपदाऽर्ची बृहती (एकावसाना)** ॥

अन्तर्धिर्देवानां परिधिर्मनुष्याणामग्निर्गार्हपत्य उभयानन्तरा श्रितः ॥ ४४ ॥

अर्थ—(अग्निः गार्हपत्यः) गार्हपत्य अग्नि (देवानाम्) देवों के (अन्तर्धिः) भीतर अर्थात् जीवन या आत्मा में स्थित होकर उनका धारण-पोषण करती है, और (मनुष्याणाम्) मनुष्यों के (परिधिः) बाहर स्थिर होकर उनका धारण-पोषण करती है, और (उभयान् अन्तरा) दोनों—रोगी होने वाले मनुष्य और रोग—को व्यवहित करती हुई (श्रितः) रहती है।

[गार्हपत्य अग्नि में पुष्टिप्रद और रोगविनाशक पदार्थों की नियमपूर्वक आहुतियों द्वारा रोग, मनुष्य से दूर रहता है। संन्यासी हैं, देवकोटि के लोग। गार्हपत्य अग्नि इनकी आत्माओं में आरोपित रहती है। यथा—"**आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात्**"। "ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मोपासक वेदानुसारी जीवन वाला व्यक्ति, निज आत्मा में अग्नियों को आरोपित कर गृहजीवन से ही प्रव्रज्या अर्थात् संन्यास धारण करले"]।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

जीवानामायुः प्र तिर त्वमग्ने पितृणां लोकमपि गच्छन्तु ये मृताः।
सुगार्हपत्यो वितपन्नरातिमुषामुषां श्रेयसीं धेह्यस्मै ॥ ४५ ॥

अर्थ—(अग्ने) हे गार्हपत्य अग्नि! (त्वम्) तू (जीवानाम्) प्राणधारियों, जीवितों की (आयुः प्रतिर) आयु को बढ़ा (ये मृताः) जो मर गये हैं वे (अपि) भी (पितृणाम् लोकम्) माता-पिता के लोक अर्थात् पृथिवी-लोक को (गच्छन्तु) प्राप्त हों। (सुगार्हपत्यः) उत्तम तथा श्रेष्ठ गार्हपत्य तू (अरातिम्) रोगरूपी शत्रु को (वितपन्) तपा देती हुई (उषाम् उषाम्) प्रत्येक उषा को (श्रेयसीम्) कल्याणकारी रूप में (अस्मै) इस रोगोन्मुक्त के लिए (धेहि) प्रदान कर।

[गच्छन्तु=**गतेस्त्रयोऽर्थाः, ज्ञानम् गतिः, प्राप्तिश्चेति**। यहाँ प्राप्ति अर्थ लिया गया है। सुगार्हपत्यः= गार्हपत्य-अग्नि की उत्तमता तथा श्रेष्ठता इतने में है कि इसमें दी गई, पौष्टिक तथा आरोग्यकारी आहुतियों

को यह सुफल कर देती है]।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अग्निः, मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—४६ द्विपदा साम्नी त्रिष्टुप् (एकावसाना), ४७ पञ्चपदा बार्हतवैराजगर्भा जगती ॥

सर्वा॑नग्ने॒ सह॑मानः स॒पत्ना॑नैषा॒मूर्जं॑ र॒यिम॒स्मासु॑ धेहि ॥ ४६ ॥

इ॒ममिन्द्रं॒ वह्निं॒ पप्रि॑म॒न्वार॑भध्वं॒ स वो॒ निर्व॑क्षद्दुरि॒ताद॑व॒द्यात्।

तेनाप॑ हत॒ शरु॑मा॒पत॑न्तं॒ तेन॑ रु॒द्रस्य॒ परि॑ पाता॒स्ताम् ॥ ४७ ॥

अर्थ—(अग्ने) हे अग्नि! (सर्वान् सपत्नान्) सब शत्रुओं का (सहमानः) पराभव करता हुआ तू, (एषाम्) इनके (ऊर्जम्) बल और-प्राणशक्ति को तथा (रयिम्) वेगरूपी-सम्पत्ति को (अस्मासु) हम में (आ धेहि) स्थापित कर।

[प्रत्येक रोगरूपी शत्रु में अपना-अपना स्वाभाविक बल तथा शक्ति और वेग होता है। गार्हपत्य-अग्नि के यथोचित सेवन से रोग के बल आदि घटते जाते हैं, और तादृश बल आदि रोग से उन्मुच्यमान व्यक्ति में शनैः शनैः आते जाते हैं (४६)]।

(वह्निम्) रोग को प्रवाहित करने वाले, (पप्रिम्) रोग द्वारा उत्पन्न क्षति को पूरित करने वाले (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवान् परमेश्वर का (अनु आरभध्वम्) निरन्तर आलम्बन करो, (सः) वह (वः) तुम्हें (अवद्यात्) गर्ह्य अर्थात् निन्दनीय (दुरितात्) दुःखफलक रोग से (निर्वक्षत्) छुड़ाएगा, निर्मुक्त करेगा। (तेन) उसकी कृपा द्वारा (आपतन्तम्) आक्रमणकारी (शरुम्) जीर्ण-शीर्ण कर देने वाले रोग को (अपहत) दूर करो या उसका पूर्णतया हनन करो, (तेन) उसकी कृपा द्वारा (रुद्रस्य) रुद्ररूपी रोगकीटाणु के (अस्ताम्) फैंके (शरुम्) विनाशक बाण को (अपहत) दूर करो या उसका पूर्णतया हनन करो, और (परि पात) अपनी सब ओर से रक्षा करो (४७)।

[पप्रिम्=प्रा पूरणे। शरुम्=**शॄ हिंसायाम्**। परमेश्वरोपासना द्वारा उसकी कृपा का आह्वान कर, दुःखों से छुटकारा पाने का यत्न करते रहना चाहिए]।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अग्निः, मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—भुरिक् त्रिष्टुप् ॥

अ॒न॒ड्वाहं॑ प्ल॒वम॒न्वार॑भध्वं॒ स वो॒ निर्व॑क्षद्दुरि॒ताद॑व॒द्यात्।

आ रो॑हत सवि॒तुर्नाव॑मे॒तां ष॒ड्भिरु॒र्वीभि॒रम॑तिं तरेम ॥ ४८ ॥

अर्थ—(अनड्वाहम्) संसाररूपी शकट का वहन करने वाली, (प्लवम्) भवसागर से तैराने वाली नौका रूप परमेश्वर का (अनु) निरन्तर (आरभध्वम्) आलम्बन लो, (सः) वह (वः) तुम्हारा (निर्वक्षत्) निवर्हन करेगा (अवद्यात्) गर्ह्य अर्थात् निन्दनीय (दुरितात्) तथा दुष्परिणामी पाप से। (सवितुः) संसार के उत्पादक परमेश्वर रूपी (एतां नावम्) इस नौका पर (आ रोहत) आरोहण करो ताकि (षड्भिः) छः (उर्वीभिः) विस्तृत षट्-सम्पत्ति रूपी नौकाओं द्वारा (अमतिम्) अध्यात्म-अज्ञानरूपी नद को (तरेम) हम तैर जाएँ।

[अनड्वाहम्; अनस्=शकट, उसका वहन करने वाला, अर्थात् संसार रूपी शकट का वहन करने वाला परमेश्वर। प्लवम्=नौका। परमेश्वर को ब्रह्मोडुप[1] भी कहा है, अर्थात् ब्रह्म रूपी डोंगी या नौका

१. ''**ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्त्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि**''।

(श्वेता० उप० अध्या० २, खं. ८)। सवितुः नावम्=सविता रूपी नौका (विकल्पे षष्ठी) भवसागर से तैराने वाली नौका है परमेश्वर, और जिस अध्यात्म-अज्ञानरूपी नद में हम गोते खा रहे हैं, या डूबे जा रहे हैं, उस अज्ञानरूपी नद से तैराने वाली हैं षट्-सम्पत्ति रूपी छः नौकाएँ[1]]।

ऋषिः—**भृगुः**॥ देवता—**अग्निः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्**॥

अहोरात्रे अन्वेषि बिभ्रत्क्षेम्यस्तिष्ठन्प्रतरणः सुवीरः।
अनातुरान्त्सुमनसस्तल्प बिभ्रज्ज्योगेव नः पुरुषगन्धिरेधि॥ ४९॥

अर्थ—(अहोरात्रे) दिन-और-रात (बिभ्रत्) सबका भरण-पोषण करता हुआ तू (अनु एषि) निरन्तर सक्रिय हो रहा है, (क्षेम्यः तिष्ठन्) सबका क्षेम करता हुआ तू जगत् में स्थिर हो रहा है, (प्रतरणः) कष्टों से तैराने वाला, तथा (सुवीरः) श्रेष्ठ वीर या सर्वप्रेरक तू है। (तल्प) हे शय्यारूप! (अनातुरान्, सुमनसः, बिभ्रत्) आरोग्यसम्पन्नों और शिवसंकल्पी मनों वालों को सदा परिपुष्ट करता हुआ तू (ज्योग् एव) सदा ही (पुरुषगन्धिः) पौरुषरूपी सुगन्ध से सुगन्धित हुआ (नः) हमें (एधि) प्राप्त हो।

[सुवीरः=परमेश्वर सर्वतः श्रेष्ठ वीर है, सबकी रक्षा करता और किसी का भी विनाशक नहीं है, सबको न्यायानुसार फल देता है; या सु+वि+ईर् (गतौ) अर्थात् सर्वप्रेरक है। तल्प=शय्या, शयन करने का पलङ्ग। जैसे रात्रि के समय थके मनुष्य पलङ्ग पर आराम पाते हैं, वैसे सांसारिक धन्धों से विमुख होकर विरक्त, परमेश्वराश्रय में विश्राम पाते हैं। इसी भावना के अनुसार वैदिक साहित्य में परमेश्वर को "उपस्तरण" (बिछौना), तथा "अपिधान (ओढ़नी) भी कहा है। पुरुषगन्धिः=परमेश्वर सदा पौरुष कर्म तथा पुरुषार्थ में तत्पर रहता है]।

ऋषिः—**भृगुः**॥ देवता—**अग्निः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**उपरिष्टाद् विराड् बृहती**॥

ते देवेभ्य आ वृश्चन्ते पापं जीवन्ति सर्वदा।
क्रव्याद्यानग्निरन्तिकादश्व इवानुवपते नडम्॥ ५०॥

अर्थ—(ते) वे (देवेभ्यः) दिव्य शक्तियों से अपने-आप को (आ वृश्चन्ते) पूर्णतया काट लेते हैं, वञ्चित कर लेते हैं, और (सर्वदा पापम्) सदा कष्टमय (जीवन्ति) जीवन व्यतीत करते हैं, (यान्) जिन्हें कि (क्रव्याद् अग्निः) मांस भक्षक अग्नि, (अन्तिकात्) समीप होकर (अनु वपते) निरन्तर छिन्न भिन्न कर देती है (इव) जैसे कि (अश्वः) घोड़ा (नडम्) नड को छिन्न-भिन्न कर देता है।

[मन्त्र में यक्ष्म रोग को क्रव्याद् अग्नि कहा है। यक्ष्म, रोगी के मांस को खाता रहता है, और रोगी को अन्त में श्मशानाग्नि के सुपुर्द कर देता है]।

ऋषिः—**भृगुः**॥ देवता—**अग्निः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

येऽश्रद्धा धनकाम्या क्रव्यादा समासते। ते वा अन्येषां कुम्भीं पर्यादधति सर्वदा॥ ५१॥

अर्थ—(ये) जो (अश्रद्धाः) श्रद्धा विहीन व्यक्ति (क्रव्याद्) क्रव्याद् के साथ (समासते) रल-मिल कर रहते हैं। (धनकाम्याः) और धन की कामना वाले होते हैं, (ते वै) वे निश्चय से (सर्वदा) सब जीवन काल तक (अन्येषाम्) दूसरों की (कुम्भीम्) हंडियों को (पर्यादधति) अग्नि पर चढ़ाते रहते हैं।

---

१. एक सात्त्विक मन और सात्त्विक ५ ज्ञानेन्द्रियाँ रूपी नौकाएँ।

[जो वेदोपदिष्ट कर्त्तव्यों पर श्रद्धा नहीं रखते, वे कुकर्मों के मार्ग पर चलते हुए, क्रव्याद् के संगी-साथी बन कर, धन का अपव्यय कर धनविहीन हो जाते, और धनप्राप्ति की कामना से दूसरों की पाकशालाओं में पाचक बने रहते हैं। कुमार्ग पर चलने से व्यक्ति अल्पायु हो जाता है, मानो क्रव्याद् उस पर शीघ्र आक्रमण कर देती है]।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पुरस्ताद् विराड् बृहती** ॥

प्रेव पिपतिषति मनसा मुहुरा वर्तते पुनः।

क्रव्याद्यानग्निरन्तिकादनुविद्वान्वितावति ॥ ५२ ॥

अर्थ—(इव) मानो कुकर्मी व्यक्ति (मनसा) मन द्वारा (प्र) आगे की ओर (पिपतिषति) उड़ना चाहता है, परन्तु (मुहुः) बार-बार (पुनः) फिर (आ वर्त्तते) वापिस लौट आता है, (यान्) जिन्हें कि (क्रव्याद् अग्निः) मांसभक्षक अग्नि, (विद्वान्) मानो जानता हुआ सा, (अन्तिकात्) उनके समीप होकर, (अनु) निरन्तर (वितावति) वृद्धि या उन्नति से विगत करती रहती है। वितावति=वि+तु (वृद्धौ)।

[कुकर्मी व्यक्ति उन्नति की केवल मानसिक इच्छा करता है, परन्तु निःशक्त हो जाने से उसे सफलता प्राप्त नहीं होती। वह क्रव्याद् अग्नि का शिकार बना रहता है और उन्नति नहीं कर सकता।

अन्तिकात्=जिनमें रोग निरोधशक्ति (Immunity) कम होती है उनके समीप रोग रहते हैं। कुकर्मों द्वारा रोगनिरोधक शक्ति कम हो जाती है]।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अविः कृष्णा भागधेयं पशूनां सीसं क्रव्यादपि चन्द्रं त आहुः।

माषाः पिष्टा भागधेयं ते हव्यमरण्यान्या गह्वरं सचस्व ॥ ५३ ॥

अर्थ—(क्रव्याद्) हे मांसभक्षक यक्ष्मरोग! (पशूनां कृष्णा अविः) पशुओं में काली भेड़ (ते भागधेयम्) तेरे भाग्य में है। (सीसम्) सीसभस्म को, (चन्द्रम्) चन्द्र अर्थात् चाँदी तथा सुवर्ण को (अपि) भी (ते भागधेयम् आहुः) तेरे भाग्यरूप में [वैद्यलोग] कहते हैं। (पिष्टाः माषाः) पीसे हुए उरद जोकि (हव्यम्) खाने योग्य हवि (ते भागधेयम्) तेरे भाग्य में है, (अरण्यान्याः) बड़े अरण्य के (गह्वरम्) घने प्रदेश का (सचस्व) तू सेवन कर।

[क्रव्याद् यद्यपि मांस-भक्षक शवाग्नि है। यतः यक्ष्मरोग और शवाग्नि का परस्पर सहचार है (मन्त्र ५१), अतः साहचर्य के कारण यक्ष्मरोग को क्रव्याद् कहा है। यक्ष्मरोग के लिए, (१) काली भेड़ का दूध, (२) सीसभस्म, (३) चाँदी तथा सुर्वण निर्मित औषधें, (४) पिसे उरद का भोजन तथा उसकी आहुतियाँ, (५) तथा बड़े अरण्यों के घने प्रदेशों का सेवन उपकारी है। चन्द्रम्=चाँदी; तथा **चन्द्रम् हिरण्यनाम** (निघं १.२)। हव्यम्=**हु दानादनयोः**, अर्थात् अग्नि के प्रति दान, तथा अदन अर्थात् भक्षण। अरण्यान्याः=महदरण्यम्। बड़े अरण्यों के घने प्रदेशों की वायु स्वच्छ होती है। भागधेयम्=Fortune, destiny, luck (आप्टे)]।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

इषीकां जरतीमिष्ट्वा तिल्पिञ्जं दण्डनं नडम्।

तमिन्द्र इध्मं कृत्वा यमस्याग्निं निरादधौ ॥ ५४ ॥

अर्थ—(जरतीम्) जीर्ण हुई (इषीकाम्) मूँज की, (तिल्पिञ्जम्) तिलों और तिल की खली की, (दण्डनम्, नडम्) दण्डन और नड की (इष्ट्वा) इष्टि करके, इनकी आहुतियाँ दे कर, (तम्, इध्मम्, कृत्वा) और इन्हें ही इध्म बना कर, (इन्द्रः) इन्द्र ने (यमस्य अग्निम्) मृत्यु की अग्निरूप यक्ष्म को या शवाग्नि को, (निरादधौ) शरीर से, या घर से, निकाल धरा।

[इषीका=Reed, Rush (आप्टे)। इन्द्रः=यक्ष्मरोग से मुक्त हुआ, ऐश्वर्य सम्पन्न जीवात्मा वाला, व्यक्ति]।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**बृहतीगर्भा त्रिष्टुप्** ॥

प्रत्यञ्चमर्कं प्रत्यर्पयित्वा प्रविद्वान्पन्थां वि ह्याविवेश।
परामीषामसून्दिदेश दीर्घेणायुषा समिमान्त्सृजामि॥ ५५ ॥

अर्थ—(प्रत्यञ्चम्) प्रत्येक पदार्थ में व्याप्त, (अर्कम्) अर्चनीय परमेश्वर के (प्रति अर्पयित्वा) प्रति अपने आप को समर्पित करके, (पन्थाम्) स्वास्थ्य के मार्ग को (प्र विद्वान्) ठीक प्रकार से जानता हुआ मैं, (हि) निश्चय पूर्वक, (वि आविवेश) शरीरगृह में, मृत्यु से विमुख हो कर, प्रविष्ट हुआ हूँ। (अमीषाम्) जीवन विरोधी इन शक्तियों के (असून्) प्राणों को (परा दिदेश) मैंने अपने से परे रहने का निर्देश किया है, अब (इमान्) इन निज शक्तियों को, (दीर्घेण आयुषा) दीर्घ आयु के साथ, (सं सृजामि) मैं सम्बद्ध करता हूँ।

[यक्ष्म प्रकरण के अनुसार मन्त्रार्थ किया है। रोगोन्मुक्त व्यक्ति, ५४ मन्त्रोक्त इष्टियाँ करके, परमेश्वर के प्रति अपने-आप को समर्पित करके वेदनिर्दिष्ट जीवन मार्ग को जान कर, शरीर गृह में मानो पुनः प्रविष्ट हुआ है। वह पवित्रजीवन-विरोधी कर्मों का परित्याग करता है, और दीर्घायु सम्बन्धी कर्मों को करने का संकल्प करता है। मन्त्र में रोगोन्मुक्त स्वस्थ जीवात्मा (इन्द्र ५४) के वचन हैं। प्रत्यञ्चम्; प्रत्यक्=परमेश्वर, यथा—"**कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत**" (कठ. उप० ४.१)। अर्कम्; **अर्को देवो भवति यदेनमर्चन्ति**" (निरुक्त ५.१.४)।

सूक्त ३
विषय-प्रवेश

भूतपूर्व विवाह सम्बन्धी अति संक्षिप्त निर्देश। गृहस्थी के कर्त्तव्य। ६० वर्षों की आयु पर आश्रम परिवर्तन। ६० वर्षों की आयु पर "गृही" संन्यासी। "गृही" संन्यासी के कर्त्तव्य। "गृही" संन्यासी की अन्त्येष्टि। यथा—पति-पत्नी का एकासन पर बैठना; भूतपूर्व विवाह सम्बन्धी आयुओं की राज्य द्वारा स्वीकृति (१) विवाह से पूर्व पारस्परिक अभिरुचि आदि (२)। देवयान सम्बन्धी कर्त्तव्यों का पालन (३-१२)। गृह्य उपकरणों की शुद्धि (१३-१५)। गृहस्थ को स्वर्ग बनाना (१६)। पाणिग्रहण तथा पत्नी का पति के अनुव्रता होना (१७)।

व्रीहि अर्थात् धान से तण्डुलों का निर्माण (१८-२०) रजो गुण का गृहस्थ में परित्याग (२१)। तण्डुल पकाना (२२-३०)।

भोजनार्थ आसन के लिए कुशा काट कर लाना, सह भोजन आदि (३१-३३)। ६० वर्ष की आयु होने पर गृह त्याग कर आश्रम परिवर्तन (३४-३८)।

"गृही" संन्यासी

"गृही" संन्यासी सम्बन्धी वर्णन (३९-६०)। यथा—६० वर्षों की आयु होने पर सन्तानोत्पादन कर्म त्याग करना (४१) और "गृही" संन्यासी होना। "गृही" संन्यासी होने की योग्यता—पति पत्नी में परस्पर सहानुभूति तथा परिवार के सब सदस्यों के प्रति समदृष्टि (३९-४०)। वसु (दूध), मधु और घृत का सात्त्विक भोजन (४१)। गृह निधि की सुरक्षा, त्रिविध स्वर्ग की प्राप्ति (४२)। विद्वान् अतिथियों की सेवा (४३, ४४)। परमेष्ठी तथा हिरण्मय ज्योति की प्राप्ति (४५, ५०)। सत्य और तप के लिए दान (४६)। समग्र लोगों के प्रति कुमार पुत्र की भावना-पूर्वक सेवा (४७, ४८)। प्रेमभावना (४९)। घर बुना वस्त्र धारण करना (५१)। अनृतभाषण परित्याग (५२)। "गृही" संन्यासी की अन्त्येष्टि (५३-६०)।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्**॥

पुमान्पुंसोऽधितिष्ठ चर्मेहि तत्र ह्वयस्व यतमा प्रिया ते।
यावन्तावग्रे प्रथमं समेयथुस्तद्वां वयो यमराज्ये समानम्॥ १ ॥

अर्थ—(पुमान्) वृद्धिशील हे पुरुष! तू (पुंसः[१]) नर पशु के (चर्म) चमड़े पर (अधितिष्ठ) बैठ, (एहि) आ, (तत्र) उस पर [बैठने के लिए] (ह्वयस्व) उसे बुला (यतमा) इनमें से जो (ते) तेरी (प्रिया) प्रिया है। (अग्रे) पहिले अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम में (यावन्तौ) जिस आयु के तुम दोनों (प्रथमम् समेयथुः) प्रथम संगत हुए थे, [गुरुकुल में] प्रविष्ट हुए थे, (वाम्) तुम दोनों की (तत् वयः) वह आयु (यमराज्ये) यमनियमों के पालन कराने वाले नियन्ता राजा के राज्य में (समानम्) मान सहित स्वीकृत है।

[विवाह सम्बन्धी प्रकरण है। विवाह के लिए वरवधू की आयुओं का विचार राज्याधिकारी रखें। ब्रह्मचर्याश्रमों में उनकी जो-जो आयु अङ्कित हो, राज्य में उसे मानपूर्वक स्वीकृत कर लेना चाहिए। विवाह से पूर्व वर-वधू में विवाह के लिए परस्पर प्रीति होनी चाहिए]।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

तावद्वां चक्षुस्तति वीर्या॑णि तावत्तेजस्ततिधा वाजिनानि।
अग्निः शरीरं सचते यदैधोऽधा पक्वान्मिथुना सं भवाथः॥ २ ॥

अर्थ—(वाम्) तुम दोनों की (चक्षुः) प्रेम दृष्टि (तावत्) उतनी या उसी प्रकार बनी रहे, (वीर्याणि) वीर्य शक्तियाँ (तति) उतनी ही बनी रहें, (तेजः) तेज (तावत्) उतना या उसी प्रकार का रहे, (वाजिनानि) बल (ततिधा) उतने ही प्रकार के बने रहें [जैसे कि ब्रह्मचर्याश्रम में थे]। (यदा) जब (शरीरम्) तुम्हारे प्रत्येक शरीर के साथ (अग्निः) ज्योति (सचते) संगत हो जाए, जैसे कि (अग्निः) अग्नि (एधः) इन्धन को प्राप्त कर उसे ज्योतिर्मय बना देती है, (अधा) तब (पक्वात्) तुम्हारे प्रत्येक के परिपक्व शरीर से (मिथुना) बाल-बालिकाएँ (संभवाथः) सम्भूत हों, पैदा हों।

[मुनस्मृति में कहा है कि ऋत्वनुसार सम्पर्क से गृहस्थी, ब्रह्मचारी सदृश ही रहते हैं, और उनके तेज आदि पूर्ववत् बने रहते हैं]।

---

१. चर्म=अजिन या मृगछाल। "पुंसः" द्वारा यह दर्शाया है कि तू अभिवृद्धि शील पुरुषों पर अधिष्ठित हो, उनका मुखिया बन। पुंसः (पुंस् अभिवर्धने)।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सम॑स्मिँल्लो॒के सम्उ॑ दे॒व॒या॒ने सं स्मा॑ स॒मेतं॑ यम॒राज्ये॑षु।

पू॒तौ प॒वित्रै॒रुप॒ तद्ध्व॑येथां॒ यद्य॒द्रेतो॒ अधि॑ वां सं॒ब॒भूव॑॥ ३ ॥

अर्थ—(अस्मिन् लोके) इस लोक अर्थात् गृहस्थ में (सम् एतम्) तुम दोनों मिल कर रहो, (उ) और (देवयाने) देवों के मार्ग में अर्थात् ब्रह्मचर्य, सत्य आदि के मार्ग में (सम् एतम्) मिल कर चलो, (यमराज्येषु) यमनियमों का पालन कराने वाले नियन्ता राजा के राज्य प्रदेशों में (सं स्मा समेतम्) परस्पर मिल कर जाओ-आओ। (पवित्रैः) पवित्र कर्मों द्वारा (पूतौ) पवित्र हुए तुम दोनों (तद्) उस सन्तान को (उपह्वयेथाम्) अपने समीप बुलाया करो, (यद् यद्) जो जो सन्तान कि (वाम्) तुम दोनों के (रेतः अधि) रज-वीर्य से (संबभूव) उत्पन्न हुई है।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

आप॑स्पुत्रासो अ॒भि सं वि॑शध्वमि॒मं जी॒वं जी॒वध॑न्याः स॒मेत्य॑।

तासां॑ भजध्वम॒मृतं॒ यमा॒हुर्यमो॑द॒नं पच॑ति वां॒ जनि॑त्री॥ ४॥

अर्थ—(पुत्रासः) हे पुत्रो! (आपः) सर्वव्यापक परमेश्वर की तरह सर्वोपकारी हो कर, (जीवधन्याः) जीवलोक में अपने-आप को धन्य समझते हुए, (समेत्य) परस्पर मिल कर, (इमम् जीवम्) इस जीव लोक में (अभि सं विशध्वम्) प्रवेश करो। (तासाम्) उस परमेश्वर का (भजध्वम्) भजन किया करो (यम्) जिसे कि (अमृतम्, आहुः) अमृत अर्थात् अमर कहते हैं, और (यम् ओदनम्) जिस ओदन को (वाम्) तुम दोनों प्रकार के भाई-बहिन की (जनित्री) जननी (पचति) परिपक्व करती रहती है।

[आपः, तासाम्=परमेश्वर! यथा "**तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः**" (यजुः० ३२.१) में आपः=परमेश्वर, **आप्लृ व्याप्तौ**। अन्य भाष्यकारों ने संविशध्वम् का कर्म मान कर आपः को "अपः" में परिवर्तित किया है।

मन्त्र में बुजुर्ग अपने पुत्रों को उपदेश देता है कि (१) तुम अपने आप को धन्य समझो कि इस जीवलोक में तुम्हें मनुष्य जन्म मिला है; (२) परस्पर मिल कर इस जीवलोक में जीवनों को सफल बनाओ; (३) परमेश्वर को भजन किया करो, (४) सदा अमृत परमेश्वर का भजन किया करो, मरने वाले का नहीं; (५) परमेश्वर का भजन करते हुए, जैसे शारीरिक भोजन के लिए ओदन का सेवन करते हो, वैसे आत्मिक भोजन के लिए परमेश्वर का, ओदन की तरह, सेवन किया करो। देखो तुम्हारी माता भी इस आध्यात्मिक ओदन का परिपाक निज जीवन में करती रहती है। ओदनम्=परमेश्वर। यथा "**यस्मात् पक्वादमृतं सम्बभूव यो गायत्र्या अधिपतिर्बभूव। यस्मिन् वेदा निहिता विश्वरूपास्तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम्**" (अथर्व० ४.३५.६), "जिसके परिपक्व होने से अमृत अर्थात् मोक्ष प्रकट होता है, जो गायत्री का अधिपति हुआ है। जिसमें विश्व का निरूपण करने वाले वेद निहित हैं, उस ओदनरूपी नौका द्वारा (मृत्युम्) जन्म मृत्यु के नद को (अतितराणि) मैं तैर जाऊँ]।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

यं वां॑ पि॒ता पच॑ति॒ यं च॑ मा॒ता रि॒प्रान्निर्मु॑क्त्यै॒ शम॑लाच्च वा॒चः।

स ओ॑द॒नः श॒तधा॑रः स्व॒र्ग उ॒भे व्या॒पि नभ॑सी महि॒त्वा॥ ५ ॥

अर्थ—(रिप्रात्) पाप से (च वाचः शमलात्) और वाणी के मल से (निर्मुक्त्यै) छुटकारे के लिए, हे पुत्र और पुत्री! (वाम्) तुम दोनों का (पिता, यम्, पचति) पिता जिस ओदन नामक परमेश्वर को [निज जीवन में योगाभ्यास द्वारा] परिपक्व करता है, (यं च माता) और जिसे तुम्हारी माता परिपक्व करती है, (सः) वह ओदन नामक परमेश्वर (शतधारः) सैकड़ों का धारण-पोषण करता, या सैकड़ों आनन्द धाराओं को प्रवाहित करता (स्वर्गः) और विशिष्ट सुख प्राप्त कराता है। (महित्वा) निज महिमा से (उभे नभसी) वह दोनों भूलोक और द्युलोक में (व्याप) व्याप्त है।

[**रिप्रम्=रीयते तद् रिप्रम्, कुत्सितं "पापम्"** (उणा० ५.५५, महर्षि दयानन्द)। शमलम्=शम्+अलम्, सुखशान्ति को समाप्त करने वाला वाचिक मल, मिथ्या भाषण, दुर्भाषण, अति भाषण आदि। मन्त्र के वर्णन द्वारा स्पष्ट है कि मन्त्र ४ और ५ में ओदन द्वारा परमेश्वर का वर्णन है। यह दर्शाने के लिए कि हम जैसे शारीरिक भूख की शान्ति के लिए प्राकृतिक ओदन का सेवन करते हैं, वैसे आध्यात्मिक भूख की शान्ति के लिए, तथा मानसिक पाप और वाचिक मल से मुक्ति पाने के लिए हमें आध्यात्मिक ओदन का भी सेवन प्रतिदिन करना चाहिए। गृहजीवन में जिनके माता-पिता परमेश्वरोपासना में रत होंगे उनकी सन्तानें भी आस्तिक बन जाएँगी]।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

उभे नभसी उभयांश्च लोकान्ये यज्वनामभिजिताः स्वर्गाः।

तेषां ज्योतिष्मान्मधुमान्यो अग्रे तस्मिन्पुत्रैर्जरसि सं श्रयेथाम्॥ ६॥

अर्थ—(उभे नभसी) दोनों अर्थात् पृथिवी और द्यौ को, (च) तथा (उभयान् लोकान्) दोनों लोकों को (संश्रयेथाम्) हे पति-पत्नी! तुम दोनों मिल कर अपने आश्रय बनाओ, तथा (यज्वनाम्) यज्ञकर्त्ताओं के (ये) जो (अभिजिताः स्वर्गाः) विजित किये स्वर्ग है—[या इन्हें आश्रय बनाओ]। (तेषाम्) उनमें (यः) जो (ज्योतिष्मान्) ज्योति वाला तथा (मधुमान्) मधुर है, (अग्रे) अग्रगण्य है, (तस्मिन्) उसमें, (पुत्रैः) पुत्रों के साथ (जरसि संश्रयेथाम्) जरावस्था में मिल कर आश्रय पाओ।

[**नभसी द्यावापृथिवीनाम** (निघं० ३.३०)। "स्वर्गाः" पद में बहुवचन क्या नाना स्वर्गों का द्योतक है? १२.३.४२ में भी तीन स्वर्गों का वर्णन है। मन्त्र में पति-पत्नी के लिए निम्नलिखित विकल्प दिये प्रतीत होते हैं; (१) योगाभ्यास द्वारा विभूति प्राप्त कर द्युलोक और भूलोक में यथेच्छ विहारी होकर आनन्द लाभ करना। (२) दो लोक अर्थात् गृहस्थ में तथा वानप्रस्थ में विचरना। वानप्रस्थ में जाकर सत्संगों द्वारा अध्यात्मज्योति को प्राप्त करना, तथा गृहस्थ में रहते हुए मधुर गृहस्थ जीवन व्यतीत करना। (३) याज्ञिकों की विधि के अनुसार यज्ञ करते हुए गृहस्थ जीवन को स्वर्गमय बनाना, और जरावस्था में पुत्रों के साथ गृहस्थ में मधुर जीवन व्यतीत करना]।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

प्राचींप्राचीं प्रदिशमा रभेथामेतं लोकं श्रद्दधानाः सचन्ते।

यद्वां पक्वं परिविष्टमग्नौ तस्य गुप्तये दम्पती सं श्रयेथाम्॥ ७॥

अर्थ—(प्राचीम्, प्राचीम्) प्रत्येक प्रगतिशील (प्रदिशम्) प्रकृष्ट निर्देश के अनुसार (आरभेथाम्) जीवन आरम्भ करो। (श्रद्दधाना) श्रद्धालु लोग (एतम्, लोकम्) इस गृहस्थ लोक के साथ (सचन्ते)

अपना सम्बन्ध करते हैं। (वाम्) तुम दोनों का (यत् पक्वम्) जो पका अन्न है, जोकि (अग्नौ) अग्नि में वैश्वदेव्य आहुतिरूप में (परिविष्टम्) मानो परोसा गया है, (तस्य गुप्तये) उस कर्म को सुरक्षित करने के लिए, (दम्पती) हे घर के तुम दोनों स्वामी! (संश्रयेथाम्) परस्पर मिल कर रहो।

[गृहस्थ का सेवन श्रद्धा से करना चाहिए, केवल शारीरिक भोग के लिए नहीं, और दैनिक धर्मकृत्यों का विलोप न होने देना चाहिए। दम्पती=दमे (गृहनाम, निघं० ३.४)+पती; अथवा "जाया और पति"। प्राची=Forward is also eastern (ह्विटनी)। अगले मन्त्रों में दक्षिण दिशा, प्रतीची दिशा, उत्तर, तथा ध्रुवा का वर्णन हैं। ये दिशाएँ भी जीवन सम्बन्धी निर्देशों को सूचित करती हैं। ये दिशाएँ। (Cardinal Point) कम्पस द्वारा सूचित दिशाओं या सूर्य के उदयास्त तथा उत्तरायण और दक्षिणायन को सूचित नहीं करतीं]।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

दक्षिणां दिशमभि नक्षमाणौ पर्यावर्तेथामभि पात्रमेतत्।
तस्मिन्वां यमः पितृभिः संविदानः पक्वाय शर्म बहुलं नि यच्छात्॥ ८॥

अर्थ—(दक्षिणाम्, दिशम्, अभि) दक्षिण दिशा की ओर (नक्षमाणौ) गति करते हुए तुम दोनों, (एतत् पात्रम् अभि) इस रक्षक देवमार्ग की ओर (पर्यावर्त्तेथाम्) लौट आओ। (तस्मिन्) उस देवमार्ग में (वाम्) तुम दोनों का (यमः) नियन्ता बुजुर्ग, (पितृभिः) घर के पितरों के साथ (सं विदानः) ऐकमत्य को प्राप्त हुआ, (पक्वाय) तुम्हारे परिपक्व अभ्यास के लिए, (बहुलम्, शर्म) बहुत सुख (नियच्छात्) प्रदान करे।

[दक्षिण दिशा है वृद्धि की दिशा, **दक्ष वृद्धौ**। इस ओर जाते हुए व्यक्ति प्रायः भोगमार्गावलम्बी हो जाते हैं। अध्यात्म प्रगतिमार्ग से विमुख हो जाते हैं, देवमार्ग से च्युत हो जाते हैं। अतः इन्हें कहा कि इस वृद्धिमार्ग की ओर कदम बढ़ाते हुए तुम दोनों रक्षक-देवमार्ग की ओर अपने-आप को लौटाते रहो। देवमार्ग "पात्रम्" है, रक्षक और पालक है। पात्रम्=पा (रक्षणे)+त्र (त्रैङ् पालने)। देवमार्ग में अभ्यास के परिपक्व करने में सहायता दे कर घर का बुजुर्ग, अन्य पितरों से परामर्श लेकर तुम्हें बहुत सुख सामग्री प्रदान करता रहे। प्राची है देवमार्ग और दक्षिणा है पितृमार्ग। इस उपर्युक्त अभिप्राय को दर्शाने के लिए मन्त्र में यम और पितरों का वर्णन हुआ है]।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रतीचीं दिशामियमिद्वरं यस्यां सोमो अधिपा मृडिता च।
तस्यां श्रयेथां सुकृतः सचेथामधा पक्वान्मिथुना सं भवाथः॥ ९॥

अर्थ—(दिशाम्) दिशाओं में (इयम्) यह (प्रतीची) पश्चिम दिशा (इद्) निश्चय से (वरम्) वरणीय है, श्रेष्ठ है, (यस्याम्) जिसमें (सोमः) चाँद या वीर्य (अधिपाः) अधिकतया पालक (च मृडिता) और सुखदायी है। (तस्याम्) उस पश्चिम दिशा में (श्रयेथाम्) तुम दोनों आश्रय पाओ, (सुकृतः) सुकर्मियों तथा उत्तम कर्मों के साथ (सचेथाम्) अपना सम्बन्ध करो, (अधा) तदनन्तर (मिथुनौ) तुम दोनों पति-पत्नी (पक्वात्) परिपक्व योगाभ्यास से (सं भवाथः) परस्पर मिलकर नवजीवन धारण करो।

[प्रतीची दिशा ह्रास को सूचित करती है। सूर्य प्राची से उदित होता, मध्याकाश तक चढ़ता जाता, तत्पश्चात् पश्चिम की ओर ढलकता हुआ और शक्ति में क्षीण होता हुआ, पश्चिम में अस्त हो जाता है। यही परिस्थिति शारीरिक जीवन में शरीर की है। ४० वर्षों की आयु के पश्चात् शरीर में परिहाणि का प्रारम्भ हो जाता है, मानो शरीर पश्चिम की ओर ढलकता जाता है। इस ढलकते काल में, वीर्य का प्रयोग सन्तानोत्पत्ति में न कर, योगाभ्यास में करना चाहिए। वीर्य शक्ति के विना योगाभ्यास में सफलता नहीं मिलती। इसलिए योगदर्शन में वीर्य को योगाभ्यास में एक कारण कहा है। सोमः=सु (प्रसवे)+मन् (उणा० १.१४०); सुमन् semen। सोमः=तथा चन्द्रमा। चन्द्रमा रात्रि का देवता है और शीतल प्रकाशवाला तथा शान्ति प्रद है। प्राची और दक्षिण शब्दों द्वारा द्योतित जीवन यापन के पश्चात् ढलकती आयु में जीवन को शान्त बना कर, योगाभ्यास करना चाहिए। इस ढलकती आयु में सोम पालक और सुखदायी होता है। इस आयु में सुकर्मियों के साथ सम्पर्क करते हुए उत्तम कर्म करते रहना चाहिए]।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

उत्तरं राष्ट्रं प्रजयोत्तरावद्दिशामुदीची कृणवन्नो अग्रम्।
पाङ्क्तं छन्दः पुरुषो बभूव विश्वैर्विश्वाङ्गैः सह सं भवेम॥ १०॥

अर्थ—(उत्तरम्, राष्ट्रम्) उत्कृष्ट राष्ट्र (प्रजया) प्रकृष्ट सन्तानों द्वारा (उत्तरावत्) उत्कृष्ट होता है। (दिशाम्, उदीची) दिशाओं में उदीची अर्थात् उन्नति पहुँचाने वाली दिशा (नः) हमें (अग्रम्) अग्रणी (कृणवत्) करे। इस दिशा से (पुरुषः) प्रत्येक मनुष्य (पाङ्क्तम्) पाँचों इन्द्रियशक्तियों से सम्पन्न, तथा (छन्दः) स्वतन्त्रेच्छा सम्पन्न (बभूव) हुआ है। (विश्वैः) सबके साथ मिल कर (विश्वाङ्गैः सह) सब अङ्गों सहित (संभवेम) हम सब हों।

[मन्त्र ९ में सुकर्मों के करने का वर्णन हुआ है। सुकर्मों द्वारा उत्कृष्ट होकर, हम राष्ट्र, को उत्तम बना कर, सर्वाग्रणी बनें, समग्र इन्द्रियों की शक्तियों वाले, स्वतन्त्र, तथा सर्वाङ्ग सम्पन्न हम सब हों। प्रजा=प्र (प्रकृष्ट)+जा (अपत्यम्), निघं. ६.२.९, देखो विजामातुः (४०)। उदीची दिशा=उन्नति की ओर ले जाने वाले निर्देश। पुरुषः=पाङ्क्तम्, छन्दः]।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ध्रुवेयं विराण्नमो अस्त्वस्यै शिवा पुत्रेभ्य उत मह्यमस्तु।
सा नो देव्यदिते विश्ववार इर्य इव गोपा अभि रक्ष पक्वम्॥ ११॥

अर्थ—(इयम्) यह (ध्रुवा) गतिशील तो भी स्थिररूप पृथिवी (विराट्) विशिष्ट दीप्ति से सम्पन्न है, (अस्यै) इसके लिए (नमः) नमस्कार हो, (पुत्रेभ्यः) यह अपने समस्त पुत्रों के लिए, (उत) और (मह्यम्) मेरे लिए (शिवा) कल्याण कारिणी (अस्तु) हो। (देव्यदिते) हे दिव्यगुणों वाली अखण्डित, (विश्ववार) तथा सब वरणीय वस्तुओं वाली मातृभूमि! (सा) वह तू (नः) हमारे (पक्वम्) परिपक्व योगाभ्यास की (अभि रक्ष) रक्षा कर (इव) जैसे कि (इर्यः) जलों का स्वामी (गोपाः) पृथिवीपति (पक्वम्) पकी खेती की रक्षा करता है।

[ध्रवा=**ध्रुवति गतिकर्मा** (निघं० २.१४), तथा स्थिर (**ध्रुव स्थैर्ये**)। पृथिवी गति करती हुई भी हमें स्थिर अनुभूत हो रही है। पुत्रेभ्यः=पृथिवी वासियों को पुत्र कहने से पृथिवी को माता है। माता के प्रति

नमस्कार करना पुत्रों का दैनिक कर्त्तव्य है। अदिते=अ+दो (अवखण्डने)+क्तिन्। पृथिवी अखण्डित इकाई है। खण्डशः राज्य व्यवस्था वेदाभिमत नहीं, अपितु एक सार्वभौम महाराजा के साथ सम्बद्ध, सब माण्डलिक राजा होने चाहिएँ। **अतिथिः पृथिवीनाम** (निघं० १.१)। इर्यः=इरा (जलम्) यथा इरावती=जलवती नदी तथा **इरा अन्ननाम** (निघं० २.७)। गोपाः=गो (पृथिवी, निघं० १.१)+पा (रक्षणे)]।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

पितेव पुत्रानभि सं स्वजस्व नः शिवा नो वाता इह वान्तु भूमौ।

यमोदनं पचतो देवते इह तन्नस्तप उत सत्यं च वेत्तु॥ १२॥

अर्थ—(पिता इव पुत्रान्) पिता जैसे पुत्रों को, वैसे हे [ओदन] परमेश्वर! (नः) हमारा (अभि सं स्वजस्व) साक्षात् आलिङ्गन कर, (इह भूमौ) इस भूमि में (नः) हमारे लिए (शिवाः वाताः) शुभ वायुएँ तुम्हारी कृपा से (वान्तु) बहें। (देवते) देवतास्वरूप पति-पत्नी (इह) इस गृह में (यम् ओदनम्) जिस परमेश्वर को (पचतः) परिपक्व करते हैं (तम्) उस परमेश्वर को (नः) हमारा (तपः) तप (च) और (सत्यम्) सत्यमय जीवन (वेत्तु) जाने।

[ओदनम्=परमेश्वर को, (देखो मन्त्र ४)। पचतः=योगाभ्यास द्वारा। वेत्तु=परमेश्वर का प्रत्यक्षज्ञान हो जाना ही उसे प्राप्त करना है। वह तो सर्वव्यापक होने से हमें सर्वदा प्राप्त ही है। तपश्चर्या और सत्यमय जीवन द्वारा उसका ज्ञान होता है। वेत्तु=विद् ज्ञाने]।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराडार्षी पङ्क्तिः** ॥

यद्यत्कृष्णः शकुन एह गत्वा त्सरन्विषक्तं बिल आससाद।

यद्वा दास्या३र्द्रहस्ता समङ्क्त उलूखलं मुसलं शुम्भतापः॥ १३॥

अर्थ—(यद् यद्) जब-जब (विषक्तं त्सरन्) विना-टिके (त्सरन्) छद्मगति से उड़ता हुआ (कृष्णः शकुनः) काला पक्षी कौआ, (इह आ गत्वा) यहाँ आ कर (बिले) बिल सदृश सुरक्षादायक हमारे घर में (आ ससाद) आ बैठता है; (यद्वा) अथवा (आर्द्रहस्ता) गीले हाथों वाली (दासी) दासी (उलूखलं मुसलम्) उलूखल और मुसल को (समङ्क्त) गीला कर देती है, तो (आपः) हे जलो! (शुम्भत) उन्हें शुद्ध कर दो।

[कौआ विष्ठा खाता तथा विष्ठा के समीप बैठता है। घर में आ बैठने पर उसके पञ्जों तथा चोंच द्वारा स्थान के अपवित्र हो जाने की आशङ्का रहती है, और इसी प्रकार दासी के साथ से टपकते जल बून्दों द्वारा उलूखल (Mortar) और मुसल (Pestle) के भी अपवित्र हो जाने पर उन्हें शुद्ध जल द्वारा स्वच्छ कर लेना चाहिए। गीले हाथों के जल में हाथ के मल के घुले रहने की सम्भावना रहती है। (Hygienics) अर्थात् आरोग्य की दृष्टि से ये सुझाव ग्राह्य हैं। मनुस्मृति में भी गीले हाथ के बिन्दुओं को अपवित्र माना है। उलूखल और मुसल तथा दृषद् अर्थात् हाथ की चक्की की वैदिक सभ्यता ग्राह्य है। इस द्वारा तण्डुल और आटे के विटेमिन विनष्ट नहीं होते हैं। बिले=बिल, बिलवासियों को सुरक्षा प्रदान करती है, यह अवस्था घर की भी है। मन्त्र में उपमावाचक पद लुप्त है। त्सरन्=**त्सर छद्मगतौ**]।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अयं ग्रावा पृथुबुध्नो वयोधाः पूतः पवित्रैरप हन्तु रक्षः।

आ रोह चर्म महि शर्म यच्छ मा दम्पती पौत्रमघं नि गाताम्॥ १४॥

अर्थ—(अयं ग्रावा) यह ग्रावा (पृथुबुध्नः) विस्तृत पैंदे [अधोभाग] वाला, (वयोधाः) अन्न का आधार, (पवित्रैः) पवित्र जलादि द्वारा (पूतः) पवित्र हुआ (रक्षः) क्षुद्र कीटाणु समूह को (अप हन्तु) अपगत अर्थात् पृथक् करे। हे ग्रावन्! (चर्म आरोह) चर्म पर आरोहण कर, (महि शर्म यच्छ) महासुख प्रदान कर, (दम्पती) पति-पत्नी (पौत्रमघम्) पुत्र हत्या के पाप या कष्ट को (मा निगाताम्) न प्राप्त हों।

["रक्षः" पद द्वारा, मन्त्र १३ में वर्णित आर्द्रहस्ता दासी तथा कौए से प्राप्त हो सकने वाली कीटाणुरूपी अपवित्रता का निर्देश किया है। कीटाणु पुत्रहत्या के कारणीभूत हो सकते हैं। अन्नाभाव द्वारा भी पुत्रहत्या होती है, इस कारण का निषेध "वयोधाः" शब्द द्वारा दर्शाया है। इस द्वारा अन्न के अभाव को सूचित किया है। **वयः अन्ननाम** (निघं० २.७)। "ग्रावा" पत्थर का बना है या लकड़ी का—यह सन्दिग्ध है। यह उलूखल प्रतीत होता है]।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वनस्पतिः सह देवैर्न आगन्रक्षः पिशाचाँ अपबाधमानः।

स उच्छ्रयातै प्र वदाति वाचं तेन लोकाँ अभि सर्वाञ्जयेम॥ १५॥

अर्थ—(देवैः सह) दिव्यगुणों वाला (वनस्पतिः) वृक्ष-निर्मित मुसल (नः आगन्) हमें प्राप्त हुआ है, यह (रक्षः पिशाचान्) रोगबीजरूपी राक्षसों और पिशाचों को (अपबाधमानः) दूर करता है। (सः) वह (उच्छ्रयातै) ऊपर की ओर उठे और [नीचे की ओर आता हुआ] (वाचं प्र वदाति) आवाज करे। (तेन) उसके सहारे मानो (सर्वान् लोकान् अभि जयेम) सब लोकों पर हम विजय पाएँ।

["वनस्पति" द्वारा मुसल का वर्णन किया है। मुसल ऐसे वृक्ष की लकड़ी का होना चाहिए जो कि रोगनिवारक हो। रक्षः=वे रोग या रोगकीटाणु जो कि स्वास्थ्य या वृद्धि को रोक देते हैं (**रक्षयितव्यमस्मादिति रक्षः**)। पिशाचान्=शरीर के मांस का ह्रास करने वाले रोग या कीटाणु। पिशाच=पिश=पिशित (मांस)+च (चमु अदने), मांसक्षय, सूखा रोग (Marasmus)। मन्त्र १४, १५ में ऊखल-मुसल द्वारा स्वयं तण्डुल तैयार करने का निर्देश दिया है]।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सप्त मेधान्पशवः पर्यगृह्णन्य एषां ज्योतिष्माँ उत यश्चकर्श।

त्रयस्त्रिंशद्देवतास्तान्त्सचन्ते स नः स्वर्गमभि नेष लोकम्॥ १६॥

अर्थ—(पशवः) पशुओं ने (सप्त मेधान्=मेधाः) सात मेधाओं का (पर्यगृह्णन्) परिग्रह किया है, (एषाम्) इन पशुओं में (यः) जो (ज्योतिष्मान्) प्रशस्त ज्योति अर्थात् मेधावान् होता है, (उत) और (यः चकर्ष) जो मेधा में प्रकृष्ट है, (तान्=तम्) उसको (त्रयस्त्रिंशत्[१]) ३३ (देवताः) दिव्य शक्तियाँ (सचन्ते) प्राप्त होती हैं। (सः) वह ज्योतिष्मान् व्यक्ति (नः) हमें (स्वर्गम् लोकम् अभि) स्वर्ग लोक

१. ये ३३ देवता शरीरगत शारीरिक और मानसिक दिव्य शक्तियाँ प्रतीत होती हैं, आधिदैविक नहीं। आधिदैविक ३३ देवों की प्राप्ति अशक्य है।

की ओर (नेष) ले चले, अर्थात् हमारे गृहस्थों को स्वर्गीय करे।

[सप्त मेधान्=सप्त मेधाः। सप्त मेधान् का अर्थ है "सात यज्ञों को" और सप्त मेधाः का अर्थ है "सात प्रज्ञानों को"। मन्त्र में "सप्त मेधान्" सम्भवतः "सप्त मेधाः" वाचक हो। ज्योतिष्मान् पद के स्थान में अथर्ववेद की पैप्पलादशाखा में "मेधस्वान्" पठित है। सप्त मेधाः हैं, ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, १ मन, १ बुद्धि। इन्हें यजुर्वेद में सात ऋषि भी कहा है, यथा "**सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे**" (यजु० ३४.५५)। तथा "**तदासत ऋषयः सप्त साकम्**" (अथर्व० १०.८.९) में भी मस्तिष्क में ७ ऋषियों का स्थान दर्शाया है। "सप्त मेधान्" का अर्थ है "सातयज्ञ"। ये कौन से सात यज्ञ हैं जिनका कि परिग्रह पशुओं ने किया हुआ है, ज्ञात नहीं। ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि तो सब पशुओं में हैं, किन्हीं में कम और किन्हीं में अधिक। सम्भवतः यजुर्वेदोक्त ७ ऋषियों को निजस्थानों में यज्ञकर्त्ताओं के रूप में अधिकतर माना है।

पशवः=वेद की दृष्टि में ५ प्रकार के पशु अधिक उपयोगी मान कर उन्हें ५ विभागों में विभक्त किया है। यथा "**तवेमे पञ्च पशवो विभक्ता गावो अश्वाः पुरुषा अजावयः**" (अथर्व० १०.२.९)। इन सबमें सप्त मेधाएँ विद्यमान हैं]।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराडार्षी पङ्क्तिः** ॥

स्वर्गं लोकमभि नो नयासि सं जायया सह पुत्रैः स्याम।
गृह्णामि हस्तमनु मैत्वत्र मा नस्तारीन्निर्ऋतिर्मो अरातिः॥ १७॥

अर्थ—हे ज्यातिष्मान्! (१६), (नः) हमें (स्वर्गं[1] लोकम् अभि) सद् गृहस्थरूपी स्वर्ग लोक की ओर (नयासि) ले चल, ताकि हम (जायया) पत्नी के (सम् स्याम) साथ हों, अर्थात् पत्नियों वाले हों, और (पुत्रैः सह स्याम) पुत्रों के साथ हों। हे वधु! (हस्तं गृह्णामि) मैं तेरा पाणिग्रहण करता हूँ, (अत्र) इस गृहस्थ में वह (मा अनु एतु) मेरी अनुव्रता हो। गृहस्थ में (निर्ऋतिः) कष्ट (मा तारीत्) हमें न प्राप्त हो, (मा अरातिः) न अदानवृत्ति प्राप्त हो।

[जिस गृहस्थ में पत्नी अनुव्रता न हो वहाँ कष्टमय जीवन हो जाता है। गृहस्थधारण कर अदानी न होना चाहिए। अदानभावना के होते पञ्चमहायज्ञ निष्पन्न नहीं हो सकते। अरातिः=अ+रा (दाने)+तिः]।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ग्राहिं पाप्मानमति ताँ अयाम तमो व्यस्य प्र वदासि वल्गु।
वानस्पत्य उद्यतो मा जिहिंसीर्मा तण्डुलं वि शरीर्देवयन्तम्॥ १८॥

अर्थ—(पाप्मानम्) पापी (ताम् ग्राहिम्) उस आलस्यवृत्ति का अकर्मण्यता का (अति अयाम) हम अतिगमन करें, उसे त्याग दें। हे पत्नी! (तमः) तामसिक भावना को (व्यस्य) हटा कर (वल्गु) मनोहर (प्र वदासि) वचन बोला कर। (वानस्पत्य) हे वनस्पति के बने मुसल! (उद्येतः) ऊपर की ओर उठता हुआ, उद्यम करता हुआ तू (मा जिहिंसीः तण्डुलम्) तण्डुल को चूरा-चूरा न कर, (मा) और न (विशरीः) इसे तोड़, (देवयन्तम्) क्योंकि [पक कर इस ने] माता, पिता, अतिथि आदि देवों की सेवा के लिए जाना है।

[कटुवचन तामसिक भावना के परिणाम होते हैं। गृहादि कृत्यों के लिए आलस्य और अकर्मण्यता

१. मन्त्र भावना, गृहस्थ-स्वर्ग सम्बन्धिनी है।

का परित्याग करना चाहिए। धान कूटते समय मुसल का प्रहार ऐसा करना चाहिए कि न तो तण्डुलों का आटा बने और न वे टूटें]।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

विश्वव्य॑चा घृतपृ॑ष्ठो भविष्यन्त्सयो॑निर्लोकमुप॑ याह्येतम्।
वर्षवृ॑द्धमुप॑ यच्छ शूर्पं॑ तुषं॑ पलावानप॑ तद्विनक्तु॥ १९ ॥

अर्थ—हे तण्डुल! (विश्वव्यचाः) सब को प्राप्त होने वाला, (सयोनिः) जल में पका हुआ, (घृतपृष्ठः भविष्यन्) और घृत से स्पृष्ट होने वाला तू (एतं लोकम्) इस देवलोक को (उप याहि) प्राप्त हो। हे गृहस्वामी! तू (वर्षवृद्धम्) वर्षाऋतु में बढ़े हुए, (शूर्पम्) छाज को (उप यच्छ) प्राप्त कर, पकड़, (तद्) वह छाज (तुषं पलावान्) तुषों और तिनकों को (अप विनक्तु) छांट कर तण्डुलों से पृथक् करे।

[विश्वव्यच्=विश्व+वि+अञ्च् (गतौ) सबको प्राप्त होने वाला अन्न पर सब प्राणियों का अधिकार है। सयोनिः=स+योनिः (उदकनाम, निघं० १.१२), जलसहित अर्थात् जल में पका हुआ ओदन। पके ओदन में घृत मिला कर देवों के निवास स्थानों पर पहुंचा कर उनकी सेवा करना गृहस्थों का कर्त्तव्य है (देवयन्तम्)। पलावान्=पलाव या पलाल=तिनके]।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

त्रयो॑ लोकाः संमि॑ता ब्राह्मणेन द्यौरेवासौ पृ॑थिव्य१न्तरि॑क्षम्।
अंशून्गृभीत्वान्वारभेथामा प्यायन्तां पुनरा यन्तु शूर्पम्॥ २० ॥

अर्थ—(ब्राह्मणेन) ब्रह्मज्ञ तथा वेदज्ञ व्यक्ति द्वारा (त्रयः लोकाः) तीन लोक (संमिता) सम्यक्तया जाने हुए होते हैं, (असौ द्यौः) वह द्युलोक, (पृथिवी, अन्तरिक्षम्, एव) पृथिवी और अन्तरिक्ष [ये तीनों] ही। (अंशून् गृभीत्वा) तण्डुल के कणों को ले कर—(आप्यायन्ताम्) जब कि ये कण पर्याप्त इकट्ठे हो जाएँ—(अनु आरभेथाम्) तदनन्तर छांटना आरम्भ करो, और इस निमित्त कण (पुनः) फिर (शूर्पम्) छाज में (आ यन्तु) आ जाएँ।

[ब्राह्मणेन=मन्त्र १८ में "देवयन्तम्" पद द्वारा देवों का निर्देश किया है। माता, पिता, आचार्य, अतिथि तो सेवनीय देव हैं ही, परन्तु ब्रह्मज्ञ-और-देवज्ञ व्यक्ति, जिन्हें कि तीनों लोकों का ज्ञान हैं, विशेषतया सेवनीय हैं—यह निर्देश मन्त्र के प्रथमार्ध में दिया है। अशून्=जब धान कूटा जाता है तो कतिपय तण्डुल टूट जाते हैं, उन कणों को लेकर छाज द्वारा पुनः छांट लेना चाहिए। संमिताः=सम्+मिताः (ज्ञाताः)]।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

पृथग्रूपाणि बहुधा पशूनामेकरूपो भवसि सं समृद्ध्या।
एतां त्वचं लोहिनीं तां नुदस्व ग्रावा शुम्भाति मलग इव वस्त्रा॥ २१ ॥

अर्थ—(पशूनां रूपाणि) पशुओं के रूप (बहुधा पृथक्) बहुत करके पृथक् पृथक् होते हैं। (सं समृद्ध्या) सम्यक्[1] समृद्धि द्वारा (एकरूपः भवसि) तू एक रूप हो जाता है। (एतां लोहिनीं त्वचम्) इस लोहिनी त्वचा को (नुदस्व) पृथक् कर, इस निमित्त (ग्रावा) विज्ञानी-उपदेष्टा गुरु (ताम् शुम्भाति)

---

१. योगाभ्यास जन्य समृद्धि।

उसको शुभ्र रूप करे, (इव) जैसे कि (मलगः) वस्त्रों के मल को पृथक् करने वाला धोबी (वस्त्रा=वस्त्राणि) वस्त्रों को शुभ्ररूप करता है।

[पशुओं में पुरुष भी पशु है, "**तवेमे पञ्च पशवो विभक्ता गावो अश्वा पुरुषा अजावयः**" (अथर्व० १०.२.९)। पुरुष भी नाना रूप होता है, कभी तामसिक रूप, कभी राजसिक रूप, और कभी सात्त्विक रूप। जीवात्मा कई कोशों से घिरा हुआ है, जिनमें दो मुख्य हैं, (१) एक शरीर जिसे कि "लोहिनी त्वचा" कहा है। इस त्वचा का सम्बन्ध लोहित (रक्त) से है। (२ दूसरी त्वचा को भी "लोहिनी त्वचा" कहा है। यह है रजोगुण वाली मनोरूप त्वचा। मनोरूप-त्वचा प्रायः पुरुषों में रजोगुणी[1] होती है। रजोगुण का धर्म है क्रियाशीलता। जागते-सोते मन सदा क्रियाशील रहता है। त्वचा है आवरण रूप (त्वच् संवरणे)। ये दो आवरण या कोश जीवात्मा को घेरे हुए हैं। इन्हें सद्गुरु द्वारा निर्दिष्ट उपायों द्वारा पृथक् करके जीवात्मा शुभ्र सात्त्विक दृष्टि से "एकरूप" हो जाता है। जीवात्मा के तमोरूप और रजोरूप मलों को सद्गुरु धो डालता है। मलगः=**मलं गमयति, अपाकरोति, अपगमयति**=धोबी। ग्रावा=गुरुः, (**गृणातेः**) (निरुक्त ९.१.८); गृ विज्ञाने; शब्दे; गुरु]।

तण्डुल पक्ष में

तण्डुल व्रीहि से निकलते हैं। व्रीहि के नाना रूप होते हैं। व्रीहि को देख कर बताया जा सकता है कि व्रीहिवर्ती तण्डुल किस प्रकार का है। तण्डुल नाना प्रकार के होते हैं, और उनके दाम भी इसलिए अलग-अलग होते हैं।

ये तण्डुल भी पशु हैं। काण्ड ११, सूक्त ३(१), मन्त्र ५ में कहा है कि **अश्वाः कणा गावस्तण्डुला मशकास्तुषाः**"। जब समृद्धि होती है, अर्थात् धान को कूटा, छाँटा जाता है तो सब प्रकार के तण्डुल एक रूप हो जाते हैं, शुभ्र रूप हो जाते हैं। इनकी पहली त्वचा अर्थात् आवरण लोहिनी अर्थात् रोहणी होती है। इस त्वचा के होते बीज का जन्म होता है, पौधा पैदा होता है (**रुह बीजजन्मनि**)। दूसरी त्वचा तण्डुल के साथ चिपकी होती है। पालिश की विधि से इस त्वचा को पृथक् करने से प्रत्येक प्रकार का तण्डुल एकरूप, शुभ्ररूप हो जाता है। तण्डुल पक्ष में "ग्रावा" है चक्की का पाट। ग्रावा=हन्तेः (निरुक्त ९.१.८) अर्थात् व्रीहि का अवहनन कर पाट उसे तण्डुलरूप प्रदान करता है। यथा "**व्रीहीनवहन्ति**" (शतपथ ब्राह्मण)। व्रीहि=धान।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

पृथिवीं त्वा पृथिव्यामा वेशयामि तनूः समानी विकृता त एषा।
यद्यद् द्युत्तं लिखितमर्पणेन तेन मा सुस्रोर्ब्रह्मणापि तद्वपामि॥ २२ ॥

अर्थ—(त्वा पृथिवीम्) तुझ पृथिवी रूप को (पृथिव्याम् आवेशयामि) पृथिवी पर मैं स्थापित करता हूँ, (तनूः समानी) [तुम दोनों का] स्वरूप समान है, (एषा) यह [उखा तथा कुम्भी, मन्त्र २३] (ते) हे पृथिवी! तेरा (विकृता) विकृत स्वरूप है। [हे उखा तथा कुम्भी!] (यत् यत्) जो-जो तुम्हारा भाग

---

१. रजोगुण को "लोहित" भी कहते हैं, यथा "**अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्**" (श्वेता० ४.५) में रजोगुण को "लोहित" सत्त्वगुण को शुक्ल, तथा तमोगुण को "कृष्ण" कहा है। अजा=न जन्म लेने वाली प्रकृति, अर्थात् नित्या—प्रकृति।

(द्युत्तम्) अग्नि द्वारा जला है, तथा (अर्पणेन) खुर्चने द्वारा (लिखितम्) क्षत हुआ है (तेन) उससे (सुस्रोः मा) तू स्रवित न हो, चू मत, (तद् अपि) उसको भी (ब्रह्मणा) वेदानुसार (वपामि) ठीक कर देता हूँ।

[मन्त्र २३ में उखा अर्थात् अंगीठी, तथा कुम्भी अर्थात् तण्डुल पकाने की हण्डिया का वर्णन हुआ है। ये दोनों पृथिवी अर्थात् मिट्टी के ही विकृत स्वरूप हैं। हैं ये तीनों अर्थात् पृथिवी, उखा और कुम्भी समानरूप। उखा और कुम्भी को अग्नि में पकाया जाता है। इसका निर्देश "द्युत्तम्" द्वारा किया है (द्युत् दीप्तौ)। तथा इससे पूर्व खुर्च कर उखा और कुम्भी पर कुछ चित्रकारी की जाती है। जिसे कि "लिखितम्" द्वारा निर्दिष्ट किया है। लेप द्वारा इन्हें लीप दिया जाता है ताकि ये सुन्दर रूप हो जाएँ, और तण्डुल पकाते समय कुम्भी से जल स्रवित न हो]।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

जनित्रीव प्रति हर्यासि सूनुं सं त्वा दधामि पृथिवीं पृथिव्या।
उखा कुम्भी वेद्यां मा व्यथिष्ठा यज्ञायुधैराज्येनातिषक्ता॥ २३॥

अर्थ—(जनित्री इव) माता जैसे (सूनुम्) पुत्र को, वैसे हे पृथिवी! तू इसे (प्रति हर्यासि) चाह। (त्वा पृथिवीम्) हे उखा और कुम्भी! तुझ पृथिवी रूप को (पृथिव्या) पृथिवी के साथ (सं दधामि) मैं सम्बद्ध करता हूँ। (उखा कुम्भी) हे उखा और कुम्भी! (वेद्याम्) वेदी में (मा व्यथिष्ठाः) तू व्यथा को प्राप्त न हो, (यज्ञायुधैः) यज्ञ के आयुधों द्वारा (आज्येन) तथा घृत द्वारा (अतिषक्ता) दृढ़ रूप से तू टिकाई गई और सिक्त हुई है। अतिषक्ता=अति (दृढया)+सक्ता (**षच समवाये**), टिकाई गई तथा सिक्त हुई।

[उखा का सम्बन्ध अग्निचयन में होता है। उखा में अग्नि को यजमान वर्ष भर जलाए रखता है, तत्पश्चात् गार्हपत्य और आहवनीय में इस अग्नि को डाल कर आहुतियाँ दी जाती हैं। उखा और वेदि शब्दों द्वारा गृहस्थ की पाकशाला को, यज्ञशाला का रूप दिया गया है, क्योंकि गृहस्थ को भी पञ्चमहायज्ञ करने होते हैं। अतः ओदन के पकाने के लिए गृहस्थ को अंगीठी और हण्डिया की आवश्यकता है। उखा=अंगीठी और कुम्भी=हण्डिया। अथवा गृहस्थ में भी एक पृथक् यज्ञशाला निर्माण की सूचना इन शब्दों द्वारा दी गई है। यज्ञायुधैः=ध्रुवा, उपभृतः, स्रुक्, स्रुव आदि—यज्ञ सम्बन्धी आयुध हैं, उपकरण हैं]।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

अग्निः पचन्रक्षतु त्वा पुरस्तादिन्द्रो रक्षतु दक्षिणतो मरुत्वान्।
वरुणस्त्वा दृंहाद्धरुणे प्रतीच्या उत्तरात्त्वा सोमः सं ददातै॥ २४॥

अर्थ—(पचन्) पकाती हुई (अग्निः) अग्नि (त्वा) तुझ कुम्भी को (पुरस्तात्) पूर्व से (रक्षतु) सुरक्षित करे, (मरुत्वान्) मानसून वायु वाला (इन्द्रः) इन्द्र अर्थात् विद्युत् (दक्षिणतः) दक्षिण से (रक्षतु) रक्षित करे। (वरुणः) वरुण अर्थात् जलाधिदेव[1] (धरुणे) दृढ़ स्थिति के निमित्त (त्वा) तुझे (प्रतीच्याः) पश्चिम से (दृंहात्) दृढ़ करे, (उत्तरात्) उत्तर से (त्वा) तुझे (सोमः) सोम (सं ददातै) दृढ़ बद्ध करे, बाँधे।

[अग्निः=अग्नि का सम्बन्ध पूर्वदिशा के साथ है, क्योंकि पृथिवी पर जो अग्नि है उसका मूल स्रोत सूर्य है। पृथिवी के दक्षिण में समुद्र फैला हुआ है। वर्षा ऋतु में मानसून वायु के साथ विद्युत् दक्षिणी समुद्र

१. वरुणोऽपामधिपतिः (अथर्व० ५.२४.४)।

से आकाश में आती है। **मरुत्**=मानसून वायु (अथर्व० ४.२७.४, ५)। पृथिवी के पश्चिम से चाँद का उदय होता है। सम्भवतः इस मन्त्र में वरुण[१] द्वारा चाँद का निर्देश हो। समुद्र के ज्वार-भाटा के साथ चाँद का भी सम्बन्ध है, इसलिए चाँद को जलाधिपति[२] भी कहा हो। उत्तर में सोम का सम्बन्ध दर्शाया है। उत्तर में ओषधियाँ और वनस्पतियाँ होती हैं। सोम भी ओषधि है। सोम को ओषधियों का अधिपति कहा है। यथा—"**सोमो वीरुधामधिपतिः**" (अथर्व० ५.२४.७)। अधिपति होने के कारण सोम का सम्बन्ध उत्तर के साथ दर्शाया गया है[३]। वीरुधः=विविध प्रकार की रोहण करने वाली ओषधियाँ तथा वनस्पतियाँ। रोहण=**रुह बीजजन्मनि**। सं ददातै=सन्दानम् (रज्जु)]।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

पूताः पवित्रैः पवन्ते अभ्राद्दिवं च यन्ति पृथिवीं च लोकान्।

ता जीवला जीवधन्याः प्रतिष्ठाः पात्र आसिक्ताः पर्यग्निरिन्धाम्॥ २५ ॥

अर्थ—(पवित्रैः) सूर्य की पवित्र रश्मियों द्वारा (पूताः) पवित्र हुए आपः अर्थात् जल (अभ्रात्) मेघ से (पवन्ते) आ कर हमें पवित्र करते हैं। ये (दिवम्) द्युलोक को, (च पृथिवीम्) और पृथिवी को, (च) और अन्तरिक्ष को (लोकान्) इन तीनों लोकों को (यन्ति) जाते हैं, (ताः) वे आपः अर्थात् जल (जीवलाः) जीवनप्रदान करते, (जीवधन्याः) प्राणियों के लिए धन्यवाद के योग्य हैं। (पात्रे आसिक्ताः) पात्र में डाले गये, (प्रतिष्ठाः) और पात्र में स्थित हुए जलों को (अग्निः) आग (परि इन्धाम्) सब ओर से प्राप्त करे।

[तण्डुलों के परिपाक के लिए कुम्भी में जल डाल कर उन्हें अग्नि द्वारा प्रतप्त करने का निर्देश दिया है। जीवलाः=जीव+ला (आदाने)]।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

आ यन्ति दिवः पृथिवीं सचन्ते भूम्याः सचन्ते अध्यन्तरिक्षम्।

शुद्धाः सतीस्ता उ शुम्भन्त एव ता नः स्वर्गमभि लोकं नयन्तु॥ २६ ॥

अर्थ—जल (दिवः आयन्ति) द्युलोक से आते हैं, (पृथिवीं सचन्ते) और पृथिवी पर इकट्ठे होते हैं, (भूम्या अधि) भूमि से (अन्तरिक्षम् सचन्ते) अन्तरिक्ष में इकट्ठे होते हैं। (शुद्धाः सतीः एव) शुद्ध होते हुए ही (ताः) वे जल (उ) निश्चय से (शुम्भन्ते) सुशोभित होते हैं। (ताः) वे जल (नः) हमें (स्वर्गम् लोकम्[४] अभि) स्वर्ग लोक की ओर (नयन्तु) ले चलें, अर्थात् हमें सुख पहुँचाएँ। [स्वर्गम्=स्वः (सुख)+ग (प्राप्ति); गतेस्त्रयोऽर्थाः; ज्ञानं, गतिः, प्राप्तिश्च]।

---

१. **वृञ् आवरणे**। चाँद रात्रि में निज प्रकाश का आवरण पृथिवी पर डालता है।

२. **वरुणोऽपामधिपतिः** (अथर्व० ५.२४.४)।

३. कुम्भी के रक्षक दिव्यतत्त्वों के निर्देश द्वारा, इन्हें अपनी-अपनी नियत दिशाओं से, पृथिवीस्थ समस्त प्राणी और अप्राणी जगत् के रक्षकरूप में दर्शाया है। कुम्भी तो एक दृष्टान्तरूप है।

४. अथवा हमारे गृहस्थ लोक या पृथिवी लोक को स्वर्गीयावस्था तक पहुँचाएँ। जहाँ जल नहीं वह नरकधाम है। जहाँ जल है वह स्वर्गधाम है।

ऋषिः—यमः ॥ देवता—स्वर्गः, ओदनः, अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

उतेवं प्रभ्वीरुत संमितास उत शुक्राः शुचयश्चामृतासः ।
ता ओदनं दम्पतिभ्यां प्रशिष्टा आपः शिक्षन्तीः पचता सुनाथाः ॥ २७ ॥

अर्थ—(उत इव) मानो (प्रभ्वीः) जल हैं तो प्रभूत, (उत) परन्तु (सं मितासः) कुम्भी में सम्यक्तया मापे हुए हैं, (उत) तथा कुम्भी के जल (शुक्राः शुचयः अमृतासः) शुद्ध, पवित्र और मृत्यु से बचाने वाले हैं। (ताः आपः) हे वे शुद्ध पवित्र जलो! तुम (प्रशिष्टाः) मात्रा की दृष्टि से प्रशासित हुए, (सुनाथाः) उत्तम प्रकार से प्रतप्त होकर (दम्पतिभ्याम्) पति-पत्नी के लिए (ओदनम्) ओदन (शिक्षन्तीः) देते हुए (पचत) ओदन को पकाओ।

[पृथिवी में जल हैं तो प्रभूत, परन्तु ओदन के परिपाक के लिए जल मापे हुए होने चाहिएँ। जल शुद्ध-पवित्र होने चाहिएँ। जल जीवन में महोपकारी हैं। शिक्षन्तीः=**शिक्षति दानकर्मा** (निघं० ३.२०)। सुनाथाः=सु+नाथृ (उपतापे)। मन्त्र में "आपः" पद की दृष्टि से बहुवचन और स्त्रीलिङ्ग में पद प्रयुक्त हुए हैं। वेदों में वर्णन कविता के शब्दों में प्रायः होते हैं। इसीलिए "आपः" पद सम्बुद्धि में प्रयुक्त हुआ है। जल अमृत हैं, जल का पीना तथा जल चिकित्सा आयुवर्धक हैं, इसलिए जल अमृत है]।

ऋषिः—यमः ॥ देवता—स्वर्गः, ओदनः, अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

संख्याता स्तोकाः पृथिवीं सचन्ते प्राणापानैः संमिता ओषधीभिः ।
असंख्याता ओप्यमानाः सुवर्णाः सर्वं व्यापुः शुचयः शुचित्वम् ॥ २८ ॥

अर्थ—(संख्याताः) गिने हुए (स्तोकाः) जलबिन्दु (पृथिवीम् सचन्ते) पृथिवी में समाते हैं, (संमिताः) और मपे हुए (प्राणापानैः) प्राणों और अपानों द्वारा उपलक्षित प्राणियों के साथ, (ओषधीभिः) तथा ओषधियों के साथ (सचन्ते) सम्बद्ध होते हैं। परन्तु (ओप्यमानाः) पृथिवी पर मानो बीजरूप में डाले जाते हुए [मेघ के] जल बिन्दु (असंख्याता;) अनगिनत होते हैं, (सुवर्णाः) उत्तमरूप वाले, (शुचयः) पवित्र होते हैं, तथा (सर्वम्) सब प्रकार से (शुचित्वम्) पवित्रता को (वि+आपुः) विशेषतया प्राप्त होते हैं।

[ओदन परिपाक के साथ-साथ जलविद्या का भी प्रतिपादन मन्त्रों में हो रहा है। पृथिवी, प्राणी ओषधियाँ जल की अल्पमात्रा का ही प्रयोग करते हैं। आकाश से जल असंख्य मात्रा में पृथिवी पर पड़ता है, जोकि प्रवाहरूप में समुद्र में समा जाता है, और यह बरसा-जल बीजाङ्कुरों को प्रकट करता तथा सब प्रकार से पवित्र होता है]।

ऋषिः—यमः ॥ देवता—स्वर्गः, ओदनः, अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

उद्योधन्त्यभि वल्गन्ति तप्ताः फेनमस्यन्ति बहुलांश्च बिन्दून् ।
योषेव दृष्ट्वा पतिमृत्वियायैतैस्तण्डुलैर्भवता समापः ॥ २९ ॥

अर्थ—(तप्ताः) तपे जल (उद् योधन्ति) मानो उछल-उछल कर युद्ध करते हैं, (अभि वल्गन्ति) नाचते हैं या युद्धार्थ चालें चलते हैं, (फेनमस्यन्ति) झाग फैंकते हैं, (च बहूलान् बिन्दून्) और बहुत बूंदों को फैंकते हैं (योषा इव) स्त्री जैसे (पतिं दृष्ट्वा) पति को देखकर (ऋत्वियाय) ऋतुकर्म के लिए (सम् भवति) उसके साथ सम्पर्क करती है वैसे (आपः) हे जलो! तुम (एतैः तण्डुलैः) इन तण्डुलों के साथ (सम् भवत) सम्पर्क करो।

[जलों के युद्ध आदि का वर्णन कवितामय है। मन्त्र में जल के लिए "आप:" शब्द पठित है जो कि स्त्रीलिङ्ग है। इस द्वारा स्त्रियों की सेना द्योतित होती है। महर्षि दयानन्द के लेखों में स्त्रीसेना का भी वर्णन हुआ है। तथा मन्त्र में यह भी सूचित किया है कि पति-पत्नी का सम्पर्क केवल ऋतुकाल में ही होना चाहिए। मन्त्रार्थ में जल पद के स्थान में स्त्रीलिङ्गी "आप:" पद जानना चाहिए]।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

उत्थापय सीदतो बुध्न एनानद्भिरात्मानमभि सं स्पृशन्ताम्।

अमासि पात्रैरुदकं यदेतन्मितास्तण्डुलाः प्रदिशो यदीमाः ॥ ३० ॥

अर्थ—(बुध्ने सीदतः) कुम्भी के तल पर बैठे (एनान्) इन तण्डुलों को (उत्थापय) उठा, ताकि ये (अद्भिः) जलों के साथ (आत्मानम्) अपने आप का (अभि संस्पृशन्ताम्) सम्यक्-स्पर्श करें। (पात्रैः) पात्रों द्वारा (उदकम्) जल को (अमासि) तूने मापा है, (यत् एतत्) जोकि यह कुम्भी में है। (तण्डुलाः) तण्डुल भी (मिताः) मापे हुए हैं, (यदि) यदि (इमाः प्रदिशः) इन प्रकृष्ट निर्देशों को (अमासि) तू जानता है।

[पकाने वाले से कहा है कि तू तण्डुल पकाने के लिए, जल और तण्डुल के पारस्परिक अनुपात को जान ले। अमासि=अ+मा (मापना, और ज्ञान)+सि। तण्डुल पकने के पश्चात् अधिक जल को तण्डुलों के निकालने पर जल के घुले तण्डुल के कई पौष्टिक अंश व्यर्थ हो जाते हैं]।

॥ इति षड्विंशः प्रपाठकः ॥

अथ सप्तविंशः प्रपाठकः

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्र यच्छ पर्शुं त्वरया हरौषमहिंसन्त ओषधीर्दान्तु पर्वन्।

यासां सोमः परि राज्यं बभूवामन्युता नो वीरुधो भवन्तु ॥ ३१ ॥

अर्थ—(पर्शुम्[1]) फरसे (प्र यच्छ) दे, (त्वरय) शीघ्रता कर; (ओषम्) ताकि उषा के आसपास—(ओषधीः) ओषधियों को—(अहिंसन्तः) उनकी जड़ों की हिंसा न करते हुए (पर्वन्) जोड़ों पर (दान्तु) काटें, (आ हर) और उन्हें ले आ। (यासाम्) जिन ओषधियों के (राज्यम् परि) राज्य पर (सोमः) सोम (बभूव) राजा हुआ है वे (वीरुधः) ओषधियाँ (नः) हमारे लिए (अमन्युताः) मन्यु का विस्तार न करने वाली (भवन्तु) हों। [अमन्युतः=अ+मन्यु+तन् (विस्तारे)]।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

नवं बर्हिरोदनाय स्तृणीत प्रियं हृदश्चक्षुषो वल्ग्वस्तु।

तस्मिन्देवाः सह दैवीर्विशन्त्विमं प्राश्नन्त्वृतुभिर्निषद्य ॥ ३२ ॥

---

१. पर्शुम्=जात्येकवचनम्। काटने वाले नाना व्यक्ति हैं (दान्तु), अतः फरसे भी नाना चाहिएँ। त्वरण=फरसे देने में शीघ्रता, क्योंकि उषा काल के आसपास ओषधियाँ काट लेनी हैं। ओषम्=ओषसम्। ओषधीः=बर्हिः (मन्त्र ३२)। अमन्युताः=ये ओषधियाँ स्वभावों को शीतल कर मन्यु का निराकरण करतीं, और ओषधीः अर्थात् मानसिक गर्मी का धयन अर्थात् पान करती हैं (**धेट् पाने**)। सम्भवतः ये दर्भ या कुशाएँ हैं। **ओषम् क्षिप्रम्** (निघं० २.१५); परन्तु क्षिप्रार्थक "त्वरय" पद मन्त्र में पठित ही है। पर्शु प्रदाता और कटी ओषधियों का आहर्त्ता एक ही व्यक्ति है।

अर्थ—(ओदनाय) चावल के लिए (नवं बर्हिः) नई कटी कुशालों को (स्तृणीत) बिछाओ, जो कि (हृदः प्रियाम्) हृदय को प्रिय तथा (चक्षुषः वल्गु अस्तु) आँख के लिए रमणीय हो। (तस्मिन्) उस पर (देवाः दैवीः) देव और देवियाँ (सह) साथ-साथ (विशन्तु) प्रवेश करें और (निषद्य) बैठ कर (ऋतुभिः) ऋतु के अनुकूल (इमम् प्राश्नन्तु) इसे खाएँ।

[हरी कुशाओं का आसन प्रिय तथा रमणीय होता है। गृहस्थ के स्त्री पुरुष परस्पर साथ-साथ बैठ कर भोजन करें। भोजन के लिए भोज्य पदार्थ ऋतु-ऋतु के अनुकूल होने चाहिएँ। स्त्री-पुरुषों को दिव्य विचारों, दिव्य भावनाओं और दिव्य कर्मों वाले होने चाहिएँ]।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

वनस्पते स्तीर्णमा सीद बर्हिरग्निष्टोमैः संमितो देवताभिः।

त्वष्ट्रेव रूपं सुकृतं स्वधित्यैना एहाः परि पात्रे ददृश्राम्॥ ३३॥

अर्थ—(वनस्पते) हे गृह के स्वामी! (स्तीर्णं बर्हिः) बिछाए कुशासन पर (आ सीद) आ विराजिए, (अग्निष्टोमैः) अग्निष्टोम आदि यज्ञों, तथा तत्सम्बन्धी सामगानों के कारण (देवताभिः) इन देवियों और देवताओं द्वारा (संमितः) आप संम्यक्-ज्ञात अर्थात् प्रसिद्ध हैं। (त्वष्ट्रा इव) शिल्पी द्वारा जैसे (स्वधित्या) शस्त्र की सहायता से (रूपं सुकृतम्) वस्तु को सुन्दर रूप किया जाता है, इसी प्रकार (एहाः) भोजनेच्छुक (एनाः) इन देवी-देवताओं को सुन्दर रूप में, (पात्रे) भोजन-पात्र के (परि) चारों ओर बैठे (ददृश्राम्) मैं देखूँ।

[वनस्पतिः=वन (A place of abode, residence, house, आप्टे)+पतिः। भोजन के समय वस्त्र स्वच्छ और सुन्दर होने चाहिएँ। अभ्यागतों के सत्कारार्थ प्रथम यज्ञ तथा गान भी होना चाहिए। गान वैदिक ढंग का सामगान हो। मन्त्र के पूर्वार्द्ध में गृह स्वामी को देवी-देवताओं के मध्य सत्कार पूर्वक बैठाने का वर्णन हुआ है, और उत्तरार्ध में उसने अभ्यागतों के दर्शन की अभिलाषा प्रकट की है]।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्गर्भा त्रिष्टुप्**॥

षष्ट्यां शरत्सु निधिपा अभीच्छात्स्वः पक्वेनाभ्यश्नवातै।

उपैनं जीवान्पितरश्च पुत्रा एतं स्वर्गं गमयान्तमग्नेः॥ ३४॥

अर्थ—(षष्ट्यां शरत्सु) ६० वर्षों की आयु में (निधिपाः) निधि का रक्षक (स्वः अभि) स्वः की ओर (इच्छात्) जाने की इच्छा करे, (पक्वेन) इस प्रकार पकी आयु द्वारा (अभ्यश्नवातै) स्वः को प्राप्त हो। (पितरः च पुत्राः) पिता, माता आदि और पुत्र (एनम् उप) इसके आश्रय पर (जीवान्) जीवें (एतम्) इसे (स्वर्गं गमय) स्वर्ग की ओर भेज, (अग्नेः अन्तम्) और अग्नि क्रिया की समाप्ति की ओर।

[निधिपाः=घर के खजाने का रक्षक। ६० वर्षों की आयु होने पर व्यक्ति स्वर्ग धाम की ओर जाना चाहे, और गार्हपत्य तथा आहवनीय अग्नि में की जाने वाली क्रियाओं को समाप्त कर दे। गृह के अवशिष्ट पितर और पुत्र इस द्वारा निर्दिष्ट मार्गों पर जीवन व्यतीत करें। मन्त्र में स्वर्ग पौराणिक-स्वर्ग प्रतीत नहीं होता, जो कि शरीर छोड़ने के पश्चात् प्राप्त हो सकता है। स्वर्ग का अभिप्राय संन्यास प्रतीत होता है, वानप्रस्थ भी नहीं क्योंकि वानप्रस्थ में अग्नि कर्म जारी रहते हैं। मृत्यु के पश्चात् प्राप्त होने वाले स्वर्ग की ओर यदि यह गया तो इसके आश्रय, पितर और पुत्र कैसे जीवन निभाएंगे। ६० वर्ष से अभिप्राय यह प्रतीत

होता है कि १० वर्ष की आयु में गुरुकुल में प्रवेश, २४ वर्षों का ब्रह्मचर्य, १ वर्ष विवाह की तय्यारी, २५ वर्ष गृहस्थ, शेष जीवन आत्मोन्नति द्वारा स्वर्ग-भोग के लिए]।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

धर्ता ध्रियस्व धरुणे पृथिव्या अच्युतं त्वा देवताश्च्यावयन्तु।
तं त्वा दम्पती जीवन्तौ जीवपुत्रावुद्वासयातः पर्यग्निधानात्॥ ३५॥

अर्थ—(धर्ता) धारण करने वाला तू (पृथिव्याः धरुणे) समग्र पृथिवी के धारण-पोषण के निमित्त, (ध्रियस्व) अपने-आप का धारण कर; (अच्युतं त्वा) गृह कार्यों से न-विरत हुए तुझ को (देवताः) दिव्य गुणी सज्जन (च्यावयन्तु) गृह-कार्यों से विरत कराएँ। (जीवन्तौ) जीवित, (जीवपुत्रौ) जीवित पुत्रों वाले (दम्पती) जाया और पति (तं त्वा) उस तुझ को (अग्निधानात् परि) अग्न्याधान सम्पाद्य कर्म से (उद्वासयातः) उद्वासित करें, छुड़ा दें।

[गृह का धारण करने वाला ६० वर्षों की आयु में भी यदि गृहकार्यों से विरत नहीं हुआ, तो दिव्य सज्जन उसे सदुपदेश दे कर गृहकार्यों से छुड़ा दें, ताकि आश्रम-व्यवस्था अक्षुण्ण रूप में चलती रहे, और उसे कहें कि तुम्हारे दम्पती अर्थात् पुत्र और वधू जीवित हैं, इसलिए गृहकार्यों को वे सम्भाल लेंगे, उनके पुत्र भी जीवित हैं, इसलिए वंश परम्परा भी बनी रहेगी, तू अब समग्र पृथिवी की सेवा में अपने-आप को व्यापृत कर]।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सर्वान्त्समागा अभिजित्य लोकान्यावन्तः कामाः समतीतृपस्तान्।
वि गाहेथामायवनं च दर्विरेकस्मिन्पात्रे अध्युद्धरैनम्॥ ३६॥

अर्थ—(सर्वान् लोकान्) सब लौकिक वासनाओं पर (अभिजित्य) विजय पाकर तूने (सम् आगाः) नए आश्रम में समागम किया है, (यावन्तः कामाः) जितनी भी एषणाएँ हैं (तान्) उन्हें (सम् अतीतृपः) तूने पूरी तरह तृप्त कर लिया है। (आयवनं च दर्विः) तेरे कड़छी और चम्मच और गृह्यसाधन (विगाहेथाम्=विगाहेताम्) जलस्नान करें, अर्थात् उन्हें धो और साफ कर (एकस्मिन् पात्रे) किसी एक विश्वासपात्र में (अधि) अधिकृत कर दे, और (एनम्) इस अपने-आप का (उद्धर) उद्धार कर।

[पात्रे=यज्ञिय आयवन और दर्वि आदि को, स्वामी के मृत्युकाल में, स्वामी के शव के साथ दग्ध करना होता है। इसलिए मृत्युकाल तक उन्हें सुरक्षित रखने का विधान हुआ है। एषणाएँ=पुत्रैषणा, लोकैषणा, धनैषणा आदि। नए आश्रम के वासी अभ्यागत के प्रति कहते हैं]।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

उप स्तृणीहि प्रथय पुरस्ताद् घृतेन पात्रमभि घारयैतत्।
वाश्रेवोस्रा तरुणं स्तनस्युमिमं देवासो अभिहिङ्कृणोत॥ ३७॥

अर्थ—(उप स्तृणीहि) समीप आसन बिछा, (पुरस्तात् प्रथय) पूर्व की ओर आसन को फैला। (एतत् पात्रम्) इस पात्र को (घृतेन अभिघारय) घी से स्निग्ध कर। (इव उस्रा) जैसे गौ (तरुणं स्तनस्युम् अभि) तरुण स्तनेच्छु बछड़े के प्रति (वाश्रा) रम्भाती है, वैसे (देवासः) हे दिव्य सज्जनो! (इमम् अभि) इस नवाश्रमी के प्रति (हिं कृणोत) हिंकारपूर्वक सामगान करो।

[नवाश्रमी पूर्वदिशा में आसन बिछाता है। घृतादि द्वारा यज्ञ किया जाता है, और यज्ञ की समाप्ति निमित्तक सामगान किया जाता है। सामगान के ५ अवयव होते हैं; उपद्रव, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार और निधन]।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

उपास्तरीरकरो लोकमेतमुरुः प्रथतामसमः स्वर्गः।

तस्मिञ्छ्रयातै महिषः सुपर्णो देवा एनं देवताभ्यः प्र यच्छान्॥ ३८ ॥

अर्थ—(उप अस्तरीः) तूने आसन बिछाने आदि कर्म कर दिये, (एतम् लोकम् अकरः) इस नवीन लोक अर्थात् आश्रम को तूने प्राप्त कर लिया है। (असमः) जिसकी समता का और कोई आश्रम नहीं, वह (स्वर्गः) विशिष्ट सुख प्रापक आश्रम (उरुः प्रथताम्) खूब फैले, अर्थात् इस आश्रम में बहुत व्यक्ति आएँ, या इस आश्रम की स्थिति भिन्न-भिन्न स्थानों में हो जाए। (तस्मिन्) उस आश्रम में (महिषः) एक महान् (सुपर्णः) सबका उत्तमरूप में पालन-पोषण करने वाला आचार्य (श्रयातै) निवास करे। (देवाः) स्थानीय दिव्य लोग (एनम्) इसे (देवताभ्यः) आश्रम के दिव्य व्यक्तियों के प्रति (प्र यच्छान्) सौंप दें।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुब्गर्भा त्रिष्टुप्** ॥

यद्यज्जाया पचति त्वत्परःपरः पतिर्वा जाये त्वत्तिरः।

सं तत्सृजेथां सह वां तदस्तु सम्पादयन्तौ सह लोकमेकम्॥ ३९ ॥

अर्थ—(त्वत्) तुझ से (परः परः) परे होकर (जाया) पत्नी (यद् यद्) जो कुछ (पचति) पकाती है, (जाये) हे पत्नी! (वा) या (पतिः त्वत् तिरः) पति तुझ से छिप कर पकाता है, (तत्) उसे (सं सृजेथाम्) तुम दोनों मिला दो, (वाम्) तुम दोनों का (तद् सह अस्तु) वह कर्म एक साथ हो जाए, (एकं लोकं सह संपादयन्तौ) इस प्रकार एक गृहस्थलोक का तुम दोनों मिल कर सम्पादन करो।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यावन्तो अस्याः पृथिवीं सचन्ते अस्मत्पुत्राः परि ये संबभूवुः।

सर्वांस्ताँ उप पात्रे ह्वयेथां नाभिं जानानाः शिशवः समायान्॥ ४० ॥

अर्थ—(अस्याः अस्मत् परि) इस पत्नी से और मुझ से (ये पुत्राः) जो पुत्र (सं बभूवुः) पैदा हुए हैं, (यावन्तः) और जितने (पृथिवीं सचन्ते) पृथिवी पर हैं, अर्थात् जीवित हैं, (तान् सर्वान्) उन सब को, (पात्रे) खाने के पात्र के (उप) समीप (ह्वयेथाम्) तुम दोनों बुलाओ, (नाभिं जानानाः) सम्बन्ध जानते हुए (शिशवः) शिशु (समायान्) सम्मिलित होने के लिए आयें।

[सब शिशु माता-पिता के साथ मिल कर साथ-साथ भोजन किया करें। पुत्राः=पुत्र और पुत्रियाँ। इसीलिए मन्त्र के उत्तरार्ध में शिशवः पद पठित है। नाभिं जानानाः=एक माता के पेट से पैदा हुए अपने आप को जानते हुए]।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वसोर्या धारा मधुना प्रपीना घृतेन मिश्रा अमृतस्य नाभयः।

सर्वास्ता अव रुन्धे स्वर्गः षष्ट्यां शरत्सु निधिपा अभीच्छात्॥ ४१ ॥

अर्थ—(याः) जो (वसोः धाराः) दूध की धाराएँ, (मधुना प्रपीनाः) मधु द्वारा अभिवर्धित, (घृतेन मिश्राः) घृतमिश्रित हैं, वे (अमृतस्य नाभयः) शीघ्र न मरने के केन्द्ररूप हैं (स्वर्गः) स्वर्गीय जीवनरूप हैं (ताः सर्वाः) वे सब धाराएँ (अव रुन्धे) रोकता हूँ। (षष्ट्यां शरत्सु) ६० वर्षों की आयु में (निधिपाः) गृह्यसम्पत्ति का रक्षक (अभि इच्छात्) अगले आश्रम की इच्छा करें।

[दूध में शहद और घृत मिला कर सेवन करने से आयु बढ़ती है। गृहस्थरूपी स्वर्ग में ये सब वस्तुएँ प्रभूतमात्रा में होनी चाहिएँ। इन सुखों की प्राप्ति के होते हुए भी गृहस्थी को, ६० वर्षों की आयु हो जाने पर, आध्यात्मिक सुख की प्राप्ति के लिए अगले आश्रमों में जाने की इच्छा करनी चाहिए। गृहस्थ जीवन स्वर्गरूप है, इस निमित्त देखो (अथर्व० ४.३४.१-८) इस सूक्त में दर्शाया है कि गृहस्थ में मधु, घृत, क्षीर अर्थात् दूध, दधि, उदक से भरे कुम्भ होने चाहिएँ। ऐसे गृहस्थ को स्वर्ग कहा है (मन्त्र ५, ७)। यदि सब प्रकार की सुखसामग्री प्राप्त हो तो गृहस्थ भी स्वर्ग हैं, आधिभौतिक स्वर्ग है, परन्तु वानप्रस्थ आदि का निरीह जीवन आध्यात्मिक स्वर्ग है]।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्** ॥

निधिं निधिपा अभ्येनमिच्छादनीश्वरा अभितः सन्तु येऽन्ये।
अस्माभिर्दत्तो निहितः स्वर्गस्त्रिभिः काण्डैस्त्रीन्त्स्वर्गानरुक्षत्॥ ४२ ॥

अर्थ—(निधिपाः) निधि का रक्षक गृहस्वामी, (एनं निधिम्) इस निधि को, (अभीच्छात्) निजाधिकार में चाहे; (ये अन्ये) जो अन्य गृहवासी (अभितः) गृहस्वामी के समीप या चारों ओर रहते हैं वे (अनीश्वराः सन्तु) निधि पर अनधिकारी हों। (अस्माभिः दत्तः) हम द्वारा दी गई (निहितः) निधि भी (स्वर्गः) स्वर्गरूप है, सुखविशेष प्राप्त कराने वाली है। (त्रिभिः) तीन (काण्डैः) कमनीय साधनों द्वारा (त्रीन् स्वर्गान्) तीन स्वर्गों पर (अरुक्षत्) व्यक्ति आरोहण करता है।

[गृहस्वामी जब तक गृहजीवन में रहे तब तक गृह्यसम्पत्ति पर गृहस्वामी का ही अधिकार होना चाहिए। दान देने से भी जीवन स्वर्गमय बनता है। यथा "**दातुं चेच्छिक्षान्त्स स्वर्ग एव**" (अथर्व० ६.१२२.२)। अर्थात् अन्य बन्धुओं से रहित व्यक्ति, यदि अपनी सम्पत्ति का सर्वस्व दान कर दे, तो यह स्वर्ग रूप ही है। व्यक्ति तीन कमनीय साधनों द्वारा तीन स्वर्गों पर आरूढ़ होता है—गृहस्थ द्वारा, वानप्रस्थ द्वारा, संन्यास द्वारा स्वर्ग, अर्थात् विशेष सुखमय जीवन को प्राप्त करता है, या ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ, और संन्यास द्वारा। पौराणिक साहित्य में प्रायः एक स्वर्ग का ही वर्णन मिलता है, जिसका कि अधिपति इन्द्र है। काण्डैः=कमनीयैः, काम्यैः]।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्** ॥

अग्नी रक्षस्तपतु यद्विदेवं क्रव्यात्पिशाच इह मा प्र पास्त।
नुदाम एनमप रुध्मो अस्मदादित्या एनमङ्गिरसः सचन्ताम्॥ ४३ ॥

अर्थ—(अग्निः) ज्ञानाग्नि (रक्षः) राक्षसी विचार को (तपतु) तपा दे, भस्मीभूत कर दे (यद् विदेवम्) जो कि देवविरोधी है, परमेश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करता, नास्तिकतारूपी है। (क्रव्याद् पिशाचः) मांसभक्षी यह पैशाची विचार (इह) इस हमारे जीवन में (मा प्रपास्त) हमारा रक्त न पीए। (एनं नुदाम) इसे हम दूर करते हैं, (अस्मत्) अपने पास आने का इसका मार्ग (अपरुध्मः) दूर से ही

रोक देते हैं। (आदित्याः) आदित्य ब्रह्मचारी (अङ्गिरसः) ज्ञानाग्नि विद्या के जानने वाले (एनम्) इस पैशाची विचार के साथ (सचन्ताम्) अपना सम्बन्ध स्थापित करें [इसके विनाश के लिए]।

[अग्निः="**ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन**" (गीता)। ज्ञानाग्नि सब बुरे कर्मों को भस्मसात् करती है। एतदर्थ अग्निविद्या अर्थात् ज्ञानाग्निविद्या के जानने वाले विज्ञ विद्वानों की सहायता प्राप्त करनी चाहिए। अग्नि को अङ्गिरा भी कहा है। यथा "**तं त्वा समिद्भिरङ्गिरः**" (यजुः० ३.३)। आधिभौतिक दृष्टि में आदित्यकोटि के विद्वान् अङ्गिरसः हैं। नास्तिक जीवन में जीवन निरंकुश हो जाता है और पैशाची विचार जीवन में मांस खाने लगते और रक्त पीने लगते हैं। "रुध्मः" द्वारा यह भी सूचित किया है कि यत्नपूर्वक हमें भी ऐसे विचारों को रोकते रहना चाहिए]।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**पराबृहती त्रिष्टुप्** ॥

आदित्येभ्यो अङ्गिरोभ्यो मध्विदं घृतेन मिश्रं प्रति वेदयामि।
शुद्धहस्तौ ब्राह्मणस्यानिहत्यैतं स्वर्गं सुकृतावपीतम्॥ ४४॥

अर्थ—(आदित्येभ्यो अङ्गिरोभ्यः) ज्ञानाग्नि विद्या के जानने वाले आदित्य कोटि के विद्वानों के लिए (घृतेन मिश्रम्) घृत सहित (इदं मधु) यह मधु (प्रतिवेदयामि) निवेदित अर्थात् समर्पित करता हूँ। (ब्राह्मणस्य) ब्रह्मवेत्ता तथा वेदवेत्ता के (एतम्) इस भाग का (अनिहत्य) हनन न करके, (शुद्धहस्तौ) शुद्ध हाथों वाले तुम दोनों पति-पत्नी, (सुकृतौ) सुकर्मों वाले होकर, (स्वर्गम्) स्वर्ग को (अपीतम्) प्राप्त करो।

[जिन आदित्यों और अङ्गिराओं ने हमारे पैशाची विचारों को दूर कर कृपा की है, उस निमित्त हम में से प्रत्येक का कर्त्तव्य है कि सात्त्विक पदार्थों के दान द्वारा इनकी सेवा करें। दृष्टान्त रूप में गोघृत तथा शुद्ध मधु का निर्देश मन्त्र में हुआ है। शुद्धहस्तौ=हाथों द्वारा पवित्र कर्म करने वाले, यथा "Have clean hands=To be free from guilt." अर्थात् पापों से रहित होना। पैशाची विचारों से रहित होकर शुद्धहस्त पति पत्नी स्वर्ग को प्राप्त कर सकते हैं। "ब्राह्मणस्य" में एकवचन अविवक्षित है, क्योंकि आदित्येभ्यः, अङ्गिरोभ्यः में बहुवचन है। अपीतम्=अपि+इतम्]।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

इदं प्रापमुत्तमं काण्डमस्य यस्माल्लोकात्परमेष्ठी समाप।
आ सिञ्च सर्पिर्घृतवत्समङ्ग्ध्येष भागो अङ्गिरसो नो अत्र॥ ४५॥

अर्थ—(अस्य) इस जीवन के (इदम्) इस (उत्तमम् काण्डम्) उत्तम काम्य लोक को (प्रापम्) मैंने प्राप्त किया है, अर्थात् उस लोक को (यस्मात् लोकात्) जिस लोक से कि (परमेष्ठी[१]) सर्वोच्च स्थिति को प्राप्त परमेश्वर (समाप) सम्यक्तया प्राप्त होता है। (घृतवत्) घृत वाले मधु को, (सर्पिः) तथा पिघले घी को (आसिञ्च) तू उदर में सींच, (समङ्ग्धि) और इस प्रकार शरीर को कान्ति से युक्त कर, (अङ्गिरसः) हे ज्ञानाग्नि विद्या के जानने वाले! (अत्र) इस आश्रम में (नः) हमारा (एष भागः) यह भाग है।

[काण्डम्=कमनीय, काम्य। परमेष्ठी=परमे स्थाने तिष्ठति (अथर्व० ४.११.७)। सर्पिः=पिघला घी।

१. परमेषु प्रकृत्यपेक्षयोत्कृष्टेषु जीवात्मसु तिष्ठतीति वा।

आसिञ्च=आश्रम का आचार्य, नव प्रविष्ट के प्रति, कहता है कि इस आश्रम में हमारे लिए घृत उपकारी है, पिघले घृत का पान, तथा घृत मिश्रित मधु का सेवन]।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सत्याय च तपसे देवताभ्यो निधिं शेवधिं परि दद्म एतम्।

मा नो द्यूतेव गान्मा समित्यां मा स्मान्यस्मा उत्सृजता पुरा मत्॥ ४६ ॥

अर्थ—(सत्याय च तपसे) सत्य और तपश्चर्या की वृद्धि के लिए, (देवताभ्यः) दिव्यगुणी विद्वानों के प्रति (एतं शेवधिं निधिम्) इस सुख दायक खजाने को (परि दद्मः) हम देते हैं, या सौंपते हैं। (नः) हमारा यह धन (द्यूते) द्यूत कर्म में (मा अवगात्) भ्रष्ट न हो, (मा समित्याम्) न युद्ध में; और (मत् पुरा) मुझसे बिना पूछे, (मा स्व अन्यस्मै उत्सृजत) न अन्य किसी के प्रति दो।

[शेवधिम्=शेवम् (सुखनाम, निघं० ३.६)+धिम्, सुख के लिए सुरक्षित धन। शेवम्=Savings। पुरा मत्=आश्रम आचार्य कहता है]।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्** ॥

अहं पचाम्यहं ददामि ममेदु कर्मन्करुणेधि जाया।

कौमारो लोको अजनिष्ट पुत्रो३न्वारभेथां वय उत्तरावत्॥ ४७ ॥

अर्थ—(अहं पचामि) मैं पकाता हूँ, (अहं ददामि) मैं देता हूँ, (मम इद् उ करुणे कर्मन् अधि) मेरे इस करुणामय कर्म में ही (जाया) मेरी पत्नी सम्मिलित है। (लोकः) सब लोग (कौमारः पुत्रः) हमारे लिए कुमार-पुत्र (अजनिष्ट) हो गया है। हे पति-पत्नी! तुम दोनों (उत्तरावत् वयः) इस उत्तम जीवन को (अन्वारभेथाम्) अब से निरन्तर आरम्भ करो, या इस जीवन का आलम्बन करो।

[पति पत्नी जो कुछ पकाएँ उसका दान भी अन्नाभिलाषियों को करें। सब मनुष्यों को निज पुत्रवत् जानें]।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

न किल्बिषमत्र नाधारो अस्ति न यन्मित्रैः सममान एति।

अनूनं पात्रं निहितं न एतत्पक्तारं पक्वः पुनरा विशाति॥ ४८ ॥

अर्थ—(अत्र) इस प्रकार के गृहस्थ जीवन में (किल्बिषम् न) कोई पाप नहीं, (न आधारः अस्ति) न यह लाञ्छन है कि यह किसी का धारण-पोषण नहीं करता, (न यत्) न यह कि (मित्रैः समम्) मित्रों के संग (अमानः) मानरहित होता हुआ यह (एति) विचरता है। (नः) हमारा (एतत्) यह (पात्रम्) पात्र (अनूनं निहितम्) सदा भरपूर रखा रहता है, न्यून नहीं होता। (पक्वः) पका भोजन, (पुनः) अतिथि आदि की सेवा के पश्चात्, (पक्तारम्) पकाने वाले में (आ विशाति) प्रवेश करे, या करता है।

[गृहस्थ में रहकर जीवन व्यतीत करने में कोई पाप नहीं। यथा "**इहैव स्तं वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्। क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वस्तकौ**" (अथर्व० १४.१.२२)। आधारः=आ+अधरः (धारण-पोषण-रहितः)। अन्नार्थियों द्वारा भोजन खा लेने के पश्चात् अन्नदाता अन्नसेवन करे। यथा—"**अशितावत्यतिथावश्नीयाद् यज्ञस्य सात्मत्वाय यज्ञस्याविच्छेदाय तद् व्रतम्**" (अथर्व० ९.६(३).८);

अर्थात् "अतिथि के खा चुकने पर खाए, अतिथि यज्ञ की आत्मा के बने रहने के लिए, अतिथि यज्ञ के लगातार बने रहने के लिए, यह व्रत है"। सममममानः=समम् (साथ)+अमानः (मान रहितः)]।

ऋषिः—**यमः** ॥ **स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रियं प्रियाणां कृणवाम तमस्ते यन्तु यतमे द्विषन्ति।

धेनुरनड्वान्वयोवय आयदेव पौरुषेयमप मृत्युं नुदन्तु॥ ४९॥

अर्थ—(प्रियाणाम्) प्रियों का (प्रियं कृणवाम) हम प्रिय करें। (यतमे) जो (द्विषन्ति) हमारे साथ द्वेष करते हैं (ते) वे (तमः यन्तु) तमोगुण को प्राप्त रहें। (धेनुः) दूध देने वाली गौ (अनड्वान्) तथा बैलगाड़ी चलाने वाला बैल (वयः वयः) प्रत्येक अन्नरूप हैं, अन्न प्रदाता है (आयत् एव) ये हमें प्राप्त होते ही रहें, और (पौरुषेयम्) पुरुष सम्बन्धी (अप मृत्युम्) बुरी मृत्यु को (नुदन्तु) धेनु और अनड्वान् दूर करते रहें।

[सद्गृहस्थी प्यारों के प्रिय अर्थात् अभीष्ट का सम्पादन करे, और द्वेषियों के साथ द्वेष न कर उन्हें इस तमोमय वृत्ति में रहने दे कर, उनके सम्बन्ध में उपेक्षावृत्ति धारण करें। यथा "**मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्**" (योग १.३३) में अपुण्यों के प्रति उपेक्षा करने को कहा है। मनुष्यों के उपकारार्थ सद्गृहस्थी दूधदायक गौओं, तथा खेती में सहायक बैलों का उपार्जन करता रहे, क्योंकि ये दोनों प्रकार के प्राणी दूध तथा कृष्यन्न देते हैं। इन अन्नों द्वारा मनुष्य मात्र की सेवा करके उन्हें अन्नाभाव के कारण होने वाली अपमृत्यु से बचाया जा सकता है]।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

समग्नयो विदुरन्यो अन्यं य ओषधीः सचते यश्च सिन्धून्।

यावन्तो देवा दिव्या३तपन्ति हिरण्यं ज्योतिः पचतो बभूव॥ ५०॥

अर्थ—(अग्नयः) अग्नियाँ (अन्यो अन्यम्) परस्पर में (संविदुः) संवेदन अर्थात् मानो ऐकमत्य को प्राप्त हैं, (यः) जो अग्नि कि (ओषधीः सचते) औषधियों के साथ सम्बद्ध है, (यः च) और जो (सिन्धून्) स्यन्दनशील नदियों, या अन्तरिक्ष में स्यन्दन करने वाले मेघों के साथ सम्बद्ध है वे। तथा (यावन्तः) जितने (देवाः) द्योतमान नक्षत्र-तारागण (दिवि) द्युलोक में (आ तपन्ति) द्युलोक के सब ओर तप रहे हैं, उन सब में से (हिरण्यं ज्योतिः) हिरण्मय ज्योति (पचतः) अन्न पका कर, निरीह-सेवा करने वाले को (बभूव) प्राप्त होती है।

[अभिप्राय यह कि उक्त ज्योतियाँ जड़ होती हुई भी परस्पर में ऐकमत्य (Harmony) को प्राप्त होकर हमारी सेवाएँ कर रही हैं, तो हम ज्ञानवान् ज्योतियों को भी परस्पर सहानुभूतिपूर्वक एक-दूसरे की सेवा करनी चाहिए। ओषधियों की अग्नि, ओषधि के जलाने से प्रकट होती है। सिन्धुओं की अग्नि है विद्युत्। हिरण्यं ज्योति है "हिरण्मय सूर्य में विद्यमान ज्योति," यथा "**हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म**" (यजुः० ४०.१७)। इस ब्राह्मी ज्योति को "**आदित्यवर्णम्**" भी कहा है (यजुः० ३१.१८)]।

ऋषिः—यमः ॥ देवता—स्वर्गः, ओदनः, अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

एषा त्वचां पुरुषे सं बभूवानग्नाः सर्वे पशवो ये अन्ये।
क्षत्रेणात्मानं परि धापयाथोमोतं वासो मुखमोदनस्य ॥ ५१ ॥

अर्थ—(त्वचाम्) त्वचाओं में से (एषा) यह त्वचा [अर्थात् वस्त्र] (पुरुषे) पुरुष के निमित्त (सं बभूव) हुई हैं, (ये अन्ये पशवः) जो अन्य पशु हैं वे (सर्वे) सब (अनग्नाः) नग्न नहीं हैं। इसलिए तुम दोनों पति-पत्नी (क्षत्रेण) क्षतों से त्राण करने वाले वस्त्र द्वारा (आत्मानम्) अपने-आप को (परिधापयाथः) सब ओर से ढांपो (अमोतं वासः) घर में बुना वस्त्र (ओदनस्य) ओदन की अपेक्षया (मुखम्) मुख्य है।

[पुरुषभिन्न पशु निजत्वचाओं द्वारा सर्दी-गर्मी-वर्षा से बचे रहते हैं, अतः वे नग्न नहीं, परन्तु पुरुष की स्थिति ऐसी नहीं, अतः उसके लिए वस्त्ररूपी त्वचा चाहिए। वस्त्ररूपी त्वचा को क्षत्र कहा है, क्षत्+त्र (पालने), यह वस्त्ररूपी त्वचा खाद्यान्न से भी मुखिया है। विना वस्त्र के पुरुष समाज से वञ्चित रहता है। **अमा गृहनाम** (निघं० ३.४)]।

ऋषिः—यमः ॥ देवता—स्वर्गः, ओदनः, अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

यदक्षेषु वदा यत्समित्यां यद्वा वदा अनृतं वित्तकाम्या।
समानं तन्तुमभि संवसानौ तस्मिन्त्सर्वं शमलं सादयाथः ॥ ५२ ॥

अर्थ—(यद् अनृतम्) जो असत्य (अक्षेषु) मुकद्दमों में (वदा) तुम बोलते हो, (यत् समित्याम्) जो राष्ट्रिय सभा-समिति में, (यद्वा) या जो (वित्तकाम्या) धन की कामना से (वदा) असत्य बोलते हो, (समानम्) एक ही (तन्तुम्) व्यापी यज्ञभावना का वस्त्र (अभिसंवसानौ) पहिनते हुए तुम दोनों, (तस्मिन्) उस यज्ञभावना में, (सर्वं शमलम्) समग्र अनृतमल का (सादयाथः) विशीर्ण कर दो।

[अक्षेषु=Legal procedure, law suit (आप्टे)। तन्तुम्=**तन् विस्तारे**, व्यापी यज्ञ, सत्य का व्यापी व्रतरूपी यज्ञ। या The supreme Being (आप्टे) अर्थात् परमेश्वर। परमेश्वर रूपी वस्त्र में अपने-आप को लिपट जानते हुए। सादयाथः=**शद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु**। शमलम्=शम्=(शान्ति)+अलम् (समाप्ति), अनृतरूपी मल के कारण चित्त अशान्त हो जाता है]।

ऋषिः—यमः ॥ देवता—स्वर्गः, ओदनः, अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

वर्षं वनुष्वापि गच्छ देवांस्त्वचो धूमं पर्युत्पातयासि।
विश्वव्यचा घृतपृष्ठो भविष्यन्त्सयोनिर्लोकमुप याह्येतम् ॥ ५३ ॥

अर्थ—(वर्षम्) परमेश्वरीय कृपा की वर्षा की (वनुष्व) याचना कर, (देवान्) दिव्य लोकों को (अपि गच्छ) जा, (त्वचः) शरीर से (धूमम्) अन्त्येष्टि संस्कारोत्थित धूंए को (उत्पातयासि) तू ऊपर अन्तरिक्ष की ओर उड़ा। (विश्वव्यचाः) विश्व में फैलने वाला, (घृतपृष्ठः) घृत से स्पृष्ट (भविष्यन्) होने वाला, तथा (सयोनिः) सबके लिए जो सामान्य घर है उसे प्राप्त हुआ, (एतम् लोकम्) इस अन्तरिक्ष लोक को (उप याहि) तू जा।

[मृत्यु के समय का, तथा अन्त्येष्टि संस्कार का वर्णन है। विश्वव्यचाः=अग्नि द्वारा शरीर सूक्ष्म होकर

विश्व में फैल जाता है, और घृतपृष्ठः=घृताहुतियों द्वारा अन्त्येष्टि संस्कार निष्पन्न किया जाता है। विश्वव्यचाः का यह भी अभिप्राय है कि मृत्यु के पश्चात् जीवात्मा विश्व में विचरता है। विश्वव्यचाः विश्व+वि+अञ्च् (गतौ) त्वचः=शरीर मानो आत्मा की त्वचा है, **त्वच् संवरणे**। सयोनिः=स+योनिः (गृहनाम, निघं० ३.४)। मृत्यु के पश्चात् जीवात्माओं का घर अन्तरिक्ष होता है। **पृष्ठं स्पृशतेः** (निरु० ४.१.३)]।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

तन्वं स्वर्गो बहुधा वि चक्रे यथा विद आत्मन्नन्यवर्णाम्।

अपाजैत्कृष्णां रुशतीं पुनानो या लोहिनी तां ते अग्नौ जुहोमि॥ ५४॥

अर्थ—(स्वर्गः) विशिष्ट-सुख की ओर गमन कहने वाला व्यक्ति, (यथाविदे) यथार्थज्ञानी (आत्मन्) आत्मा के आश्रय में विद्यमान् (तन्वम्) निज तनू को (बहुधा) बहुविध अर्थात् (अन्यवर्णाम्) अन्यान्य वर्णों वाली (विचक्रे) विशेष प्रयत्न द्वारा करता है। (कृष्णाम्) काली अर्थात् तामसिक तनू पर (अजैत्) विजय पाता है, (रुशतीम्) चमकती अर्थात् सात्त्विक तनू को (पुनानः) पवित्र करता रहता है, [हे स्वर्गेच्छु!] (या) जो (ते) तेरी (लोहिनी) रजोमयी तनू है (ताम्) उसे (अग्नौ) ज्ञान अग्नि में (जुहोमि) मैं तेरा आचार्य आहुत करता हूँ।

[तीन प्रकार की तनुएँ आत्मा की होती हैं। एक तो कृष्णा, स्थूल शरीमयी। दूसरी मन और इन्द्रियमयी, इसे लोहिनी अर्थात् रजोमयी कहा है। तीसरी बुद्धिमयी, इसे रुशती कहा है। आश्रम का आचार्य रजोमयी तनू को ज्ञानाग्नि के सुपुर्द करता है। "**ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन**" (गीता)]।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**सप्तपदाः शङ्कुमत्योऽतिजागतशाक्वरातिशाक्वरधार्त्यगर्भातिधृतयः, कृतिः** ॥

प्राच्यै त्वा दिशे३ऽग्नयेऽधिपतयेऽसिताय रक्षित्र आदित्यायेषुमते।

एतं परि दद्मस्तं नो गोपायतास्माकमैतोः। दिष्टं नो अत्र जरसे

नि नेषज्जरा मृत्यवे परि णो ददात्वथ पक्वेन सह सं भवेम॥ ५५॥

अर्थ—(प्राच्यै दिशे) पूर्व दिशा के लिए, (अग्नये अधिपतये) अधिपति अग्नि के लिए, (रक्षित्रे असिताय) रक्षक असित के लिए, (इषुमते आदित्याय) इषु अर्थात् रश्मियों वाले आदित्य के लिए, (एतं त्वा) इस तुझ को (परिदद्मः) हम सौंपते हैं। (नः) हमारे (तम्) उस बन्धु की (गोपायत) रक्षा करो, (अस्माकम्) हमारे उस बन्धु को (ऐतोः) सर्वत्र जाने, आने में समर्थ करो। (दिष्टम्) निर्दिष्ट आयु (अत्र) इस जीवन में या पृथिवी में (नः) हमें (जरसे) जरावस्था तक (निनेषत्) ले चले, (जरा) बुढ़ापा (नः) हमें (मृत्यवे) मृत्यु के लिए (परि ददातु) दे या सौंप दे, (अथ) तदनन्तर (पक्वेन सह) पके अन्न के साथ या कर्मों के परिपाक के साथ (सं भवेम) हम उत्पन्न हों।

[प्राची दिशा का अधिपति है अग्नि, अर्थात् सर्वाग्रणी परमेश्वर। प्राकृतिक अग्नियाँ भी प्राची दिशा से उद्यत होतीं और पश्चिम दिशा में अस्त होती हैं। सर्वाग्रणी परमेश्वर असित है, वह अन्य किसी शक्ति द्वारा बद्ध नहीं, वह स्वयंभू है, स्वाश्रित सत्ता वाला है, वह सबका रक्षक है। आदित्य की रश्मियाँ उसके इषु हैं, बाण हैं, जिन द्वारा वह अन्धकार, अज्ञान तथा रोगों का विनाश करता है। दिष्टम्=वेद द्वारा निर्दिष्ट

आयु मनुष्य की १०० वर्षों की है, "**जीवेम शरदः शतम्**" (अथर्व० १९.६७.२)। ऐतोः=आ (सर्वत्र)+इण् (गतौ)+तोसुन्। असिताय=अ+सित (**षिञ् बन्धने**)+क्त। आदित्याय इषुमते=**उद्यन्नादित्यः क्रिमीन् हन्तु निम्रोचन् हन्तु रश्मिभिः**" (अथर्व० २.३२.१); रश्मियों द्वारा हनन कहने से रश्मियाँ इषु रूप हैं। पक्वेन="**अन्नाद् रेतः, रेतसः पुरुषः**", परिपक्व रेतस्, या पके अन्न से उत्पन्न रेतस् के साथ जन्म। अथवा कर्मों के परिपाक के साथ जन्म। ऐतोः (**ईश्वरे तोसुन्कसुनौ**, अष्टा० ३.४.१३)]।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**सप्तपदाः शङ्कुमत्योऽतिजागतशाक्वरातिशाक्वरधार्त्यगर्भातिधृतयः** ॥

दक्षिणायै त्वा दिश इन्द्रायाधिपतये तिरश्चिराजये रक्षित्रे यमायेषुमते।
एतं परि दद्मस्तं नो गोपायतास्माकमैतोः। दिष्टं नो अत्र जरसे
नि नेषज्जरा मृत्यवे परि णो ददात्वथ पक्वेन सह सं भवेम॥ ५६॥

अर्थ—(दक्षिणायै दिशे) दक्षिण दिशा के लिए (इन्द्राय अधिपतये) अधिपति इन्द्र के लिए, (तिश्चीराजये रक्षित्रे) टेढ़े चलने वालों पर राज्य करने वाले रक्षक के लिए, (इषुमते यमाय) इषु वाले जन्म मृत्यु के नियन्ता के लिए; (एतम् त्वा) इस तुझ को। दिष्टं नो०। पूर्ववत् (५५)।

[इन्द्राय=**इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा**" (यजुः० ८.३७) द्वारा इन्द्र को सम्राट् कहा है। मनुष्य सम्राट्, मनुष्यों से बसी पृथिवी का राजा है, सामुद्रिक जीवजन्तुओं को वश में नहीं कर सकता, परन्तु सम्राट् परमेश्वर पार्थिव भाग तथा सामुद्रिक भाग दोनों का महाराज है। दोनों भागों के प्राणियों का नियन्ता और उनकी जन्म-मृत्यु का नियन्ता है।

तिरश्चीराजये—परमेश्वर समुद्र में टेढ़ी गतियों से चलने वाले जीव जन्तुओं का भी राजा है। मृत्यु उसका महास्त्र है, जिससे कोई बच नहीं सकता, पार्थिव-सम्राट् को भी मृत्यु आ घेरती है। परमेश्वर के लिए कहा है कि "स उ एव महायमः", अर्थात् परमेश्वर महायम है (अथर्व० १३.४। पर्याय १.५); तथा "**स एव मृत्युः सोऽमृतम्**" (अथर्व० १३.४(३).२५), अर्थात् परमेश्वर मृत्यु है, वह अमृत है, तथा "**यो मारयति प्राणयति यस्मात् प्राणन्ति भुवनानि विश्वा**" (अथर्व० १३.३.३), अर्थात् जो मार देता है प्राणित करता है, जिससे सब भुवन प्राणित होते हैं। इससे भी ज्ञात होता है कि मृत्यु और जीवन का दाता परमेश्वर ही है]।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**सप्तपदाः शङ्कुमत्योऽतिजागतशाक्वरातिशाक्वरधार्त्यगर्भातिधृतयः, कृतिः** ॥

प्रतीच्यै त्वा दिशे वरुणायाधिपतये पृदाकवे रक्षित्रेऽन्नायेषुमते।
एतं परि दद्मस्तं नो गोपायतास्माकमैतोः। दिष्टं नो अत्र जरसे
नि नेषज्जरा मृत्यवे परि णो ददात्वथ पक्वेन सह सं भवेम॥ ५७॥

अर्थ—(प्रतीच्यै दिशे) पश्चिम दिशा के लिए, (अधिपतये वरुणाय) अधिपति वरुण के लिए, (पृदाकवे रक्षित्रे) पालन साधन भूतान्न के प्रदानकर्त्ता रक्षक के लिए, (इषुमते अन्नाय) इषु वाले अन्न[1] के लिए (एतं त्वा) इस तुझ को०। दिष्टं नो०। पूर्ववत् (५५)।

---

१. "**अहमन्नम्**" (तैत्ति० उप० भृग वल्ली)।

[वरुणाय=वरुण है जलाधिपति। यथा "**वरुणोपामधिपतिः**" (अथर्व० ५.२४.४), अर्थात् वरुण जलों का अधिपति है। प्रायः वर्षा ऋतु में, प्रथमवर्षा, पश्चिम समुद्र की मानसून वायु द्वारा आती है। वर्षा और अन्न, तथा पालन-पोषण का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिए वरुण, पृदाकु और अन्न का वर्णन मन्त्र में हुआ है। अन्न इषु है क्षुधा का। पृदाकुः=पृ (पालने)+दा+कृ (डुन्, उणा० ५.२८, बाहुलकात्)। इस दृष्टि से "पृदाकु"—वरुण तथा रक्षिता हो सकता है, सर्प अर्थ में नहीं। वरुण द्वारा वर्षाकारी परमेश्वर का वर्णन हुआ है। "वरुण का अर्थ श्रेष्ठ भी है। वर्षाकारी होने के कारण वह श्रेष्ठ है। वरुण का अर्थ निवारण कर्त्ता भी है (अथर्व० ४.१६.१-९)। वह क्षुधा का और अन्नाभाव से उत्पन्न होने वाले कष्टों, और मृत्यु का निवारण करता है—अन्नोत्पादन द्वारा परमेश्वर को अन्न भी कहा है, "अहमन्नम्"]।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**सप्तपदाः शङ्कुमत्योऽतिजागतशाक्वरातिशाक्वरधार्त्यगर्भातिधृतयः, कृतिः** ॥

उदीच्यै त्वा दिशे सोमायाधिपतये स्वजाय रक्षित्रेशन्या इषुमत्यै। एतं परि दद्मस्तं नो गोपायतास्माकमैतोः। दिष्टं नो अत्र जरसे नि नेषज्जरा मृत्यवे परि णो ददात्वथ पक्वेन सह सं भवेम॥ ५८॥

अर्थ—(उदीच्यै दिशे) उत्तर दिशा के लिए, (अधिपतये सोमाय) अधिपति उत्पादक के लिए, (स्वजाय रक्षित्रे) स्व सदृशों के उत्पादक रक्षक के लिए, (इषुमत्यै अशन्यै) इषु वाली अशनि[१] अर्थात् विद्युत् की तरह व्यापक परमेश्वर के लिए (एतं त्वा) इस तुझ को०। दिष्टं नो०। पूर्ववत् (५५)।

[उत्तर दिशा के साथ "सोम" का सम्बन्ध दर्शाया है। सोम का अर्थ वीर्य भी होता है, देखो (अथर्व० १४.१.१-५) मन्त्रों की व्याख्या "अथर्ववेदभाष्य, जिल्द ३, ग्रन्थकार कृत)। सोमः=सु (प्रसवे)+मन् (उणा० १.१४०)। सुमन् का विकृतरूप है semen (वीर्य)। सोम अर्थात् semen प्राणिजगत् का उत्पादक है। सोम से जो प्राणी उत्पन्न होते हैं वे "स्वज" होते हैं, वीर्यदाता के स्वसदृशों के उत्पादक होते हैं, स्वज=(स्व+ज)। पक्षियों, पशुओं, मनुष्यों, कृमियों आदि में "स्वज" का नियम दृष्टिगोचर होता है। परमेश्वर उदीची दिशा के प्राणियों का उत्पादक है, इसलिए परमेश्वर को भी सोम अर्थात् उत्पादक कहा है। प्राणि जगत् के उत्पादन द्वारा परमेश्वर प्राणिजगत् की स्वसदृश वंश परम्परा की रक्षा करता है। उत्तर दिशा में विविध प्रकार के तथा निज सृष्टि में श्रेष्ठ तथा सर्वश्रेष्ठ मनुष्य प्राणियों के उत्पादक होने से, उत्तर दिशा के साथ परमेश्वर के सोमस्वरूप का सम्बन्ध दर्शाया है। अशनि का व्यवहार यतः उत्तरदिशा में होता है, इसलिए अशनि को इषु कहा है। "अशनि" सम्भवतः उत्तर दिशा में वर्तमान चुम्बक शक्ति या "उत्तरध्रुवीय प्रकाश" भी हो, देखो मन्त्र (५८) की टिप्पणी]।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**सप्तपदाः शङ्कुमत्योऽतिजागतशाक्वरातिशाक्वरधार्त्यगर्भातिधृतयः, कृतिः** ॥

ध्रुवायै त्वा दिशे विष्णवेधिपतये कल्माषग्रीवाय रक्षित्र ओषधीभ्य इषुमतीभ्यः। एतं परि दद्मस्तं नो गोपायतास्माकमैतोः। दिष्टं नो अत्र

१. अथवा अशनिः=Aurora Borealis. The goddess of dawn. A luminous meteoric phenomenon of electrical character, Seen in and towards the polar regions, with a tremulous motion, and giving forth streams of light.

जरसे नि नैषज्जरा मृत्यवे परि णो ददात्वथ पक्वेन सह सं भवेम॥ ५९॥

अर्थ—(ध्रुवायै दिशे) ध्रुवा दिशा के लिए, (अधिपतये विष्णवे) ध्रुवादिशा के स्वामी, किरणों द्वारा व्याप्त सूर्य के लिए, (कल्माषग्रीवाय रक्षित्रे) विविधरूपों वाली वनस्पतियों की माला जिसने मानो ग्रीवा में पहनी हुई है ऐसे (रक्षित्रे) रक्षक सूर्य के लिए, (इषुमतीभ्यः ओषधीभ्यः) बाणों वाली ओषधियों के लिए—

तथा

(अधिपतये विष्णवे) जगत् के अधिपति सर्वव्यापक परमेश्वर के लिए, (कल्माषग्रीवाय) पापमल का निगीर्ण करने वाले (रक्षित्रे) सर्वरक्षक परमेश्वर के लिए, (इषुमतीभ्यः) बाणों वाली सर्वौषधिरूप परमेश्वर के लिए—

(एतं त्वा) इस तुझ को०। दिष्टं नो० पूर्ववत् (५५)।

[ध्रुवा दिशा=पृथिवी। पूर्वादि दिशाएँ भिन्न-भिन्न स्थानों की दृष्टि से भिन्न-भिन्न हो जाती हैं। यथा मसूरी की अपेक्षया देहरादून-नगर दक्षिण में, और हरद्वार की अपेक्षया उत्तर में, सहारनपुर की अपेक्षया पूर्व में, तथा ऋषिकेश की अपेक्षया पश्चिम में है। इस प्रकार पूर्व आदि दिशाएँ ध्रुव नहीं, स्थिररूप नहीं। परन्तु पृथिवी सदा ध्रुवरूपा है।

कल्माषग्रीवः=सूर्यपक्ष में कल्माष का अर्थ है "विविधरूपी" (Variegated आप्टे) , तथा परमेश्वर पक्ष में कल्माष का अर्थ है मल, पाप (Dirt, sin,आप्टे)। परमेश्वर सच्चे उपासकों के चित्त के मलों तथा पापों को निगीर्ण कर देता है, ग्रीवा=**गॄ निगरणे**।

ओषधीभ्यः—सूर्य पक्ष में ओषधयः का अर्थ है "**ओषद् धयन्ति; दोषं धयन्ति**" (निरुक्त ९.३.२७), अर्थात् जलन पैदा करने वाले रोग को जो पी जाती है, या वात-पित्त-कफ आदि दोषों को जो पी जाती है। रोग निवारण करने के कारण ओषधियाँ इषु या बाण रूप हैं।

ओषधीभ्यः—परमेश्वर पक्ष में, परमेश्वर दैहिक, ऐन्द्रियिक तथा मानसिक और आध्यात्मिक रोगों तथा मलों और पापों के निवारण में महौषधि रूप है! यथा—**भेषजमसि भेषजं गवेऽश्वाय पुरुषाय भेषजम्। सुखं मेषाय मेष्यै॥** (यजुः० ३.५९)। मन्त्र में परमेश्वर को भेषज कहा है। [भिषज् चिकित्सायाम्] महर्षि दयानन्द "भेजषम्=परमेश्वर। महीधर" भेषजम्=रुद्र। रुद्र भी आध्यात्मिक शक्ति है]।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**सप्तपदाः शङ्कुमत्योऽतिजागतशाक्वरातिशाक्वरधार्त्यगर्भातिधृतयः, कृतिः** ॥

ऊर्ध्वायै त्वा दिशे बृहस्पतयेऽधिपतये श्वित्राय रक्षित्रे वर्षायेषुमते।
एतं परि दद्मस्तं नो गोपायतास्माकमैतोः। दिष्टं नो अत्र जरसे
नि नैषज्जरा मृत्यवे परि णो ददात्वथ पक्वेन सह सं भवेम॥ ६०॥

अर्थ—(ऊर्ध्वायै दिशे) ऊपर की दिशा के लिए, (अधिपतये बृहस्पतये) अधिपति बृहस्पति अर्थात् महान्-से-महान्-के-पति परमेश्वर के लिए, (श्वित्राय रक्षित्रे) गतियों और वृद्धियों के पालक तथा रक्षक के लिए, (वर्षाय इषुमते) वर्षक तथा वर्षारूपी इषु वाले के लिए, (एतं त्वा) इस तुझ को (परिदद्मः)

हम देते हैं, समर्पित करते हैं, (नः तम्) हमारे उस बन्धु की (गोपायत) तुम रक्षा करो (अस्माकं ऐतोः) हमारे उस बन्धु के सर्वत्र आने जाने के लिए। (दिष्टं) निर्दिष्ट आयु (नः) हमें (अत्र) इस जीवन में (जरसे) बुढ़ापे के लिए (निनेषत्) ले चले, (जरा) बुढ़ापा (मृत्यवे) मृत्यु के लिए (नः) हमें (परि ददातु) दे या सौंप दे, (अथ) तत्पश्चात् (पक्वेन सह) पके अन्न के साथ (संभवेम) हम उत्पन्न हों।

[द्युलोक पक्ष में शिवत्राय=white jepnosy (आप्टे)=श्वेत कुष्ठ। द्युलोक में श्वेत तारे तथा ताराओं के मध्यवर्ती कृष्ण आकाश श्वेत कुष्ठ की एक अवस्था का निर्देशक है। परमेश्वर पक्ष में "शिवत्राय"=गतियों तथा वृद्धियों के पालक तथा रक्षक के लिए" शिव (गति वृद्ध्योः)+त्रै (पालने)।

वर्षाय=वर्षा द्वारा प्यास आदि की निवृत्ति तथा अन्नोत्पत्ति, और तद्-द्वारा क्षुधा की निवृत्ति होने से वर्षक परमेश्वर को इषुमत् कहा है। संभवेम=उत्पन्न हों—वर्षा का वर्णन इसलिए भी किया है कि उपनिषद् (बृहदा० उप० ६.२.१६) के अनुसार जीवात्मा पुनर्जन्म के लिए "**आकाशाद्वायुं वायोर्वृष्टिं वृष्टेः पृथिवीं ते पृथिवीं प्राप्यान्नं भवन्ति, ते पुनः पुरुषाग्नौ हूयन्ते ततो योषाग्नौ जायन्ते**" इन प्रक्रमों में से गुजरते हैं। "संभवेम" और "वर्ष" के द्वारा भी सम्भवतः इस उत्पत्ति के प्रक्रम को सूचित किया हो। मन्त्र में वर्ष शब्द है वर्षा नहीं। परन्तु उपनिषद् के कथनानुसार वर्ष का अर्थ वर्षा किया है। वर्ष शब्द कालवाची भी है, लगभग वर्षभर मातृयोनि में निवास कर मनुष्य शिशु जन्म लेता है]।

सूक्त ४

विषय-प्रवेश

(१) सूक्त (अनुवाक) ४ का विषय है "वशा"। इन मन्त्रों में वशा के सम्बन्ध में, विवादरूप में, ब्राह्मणों अर्थात् ब्रह्मज्ञों और वेदज्ञों, देवों अर्थात् दिव्य कोटि के विद्वानों तथा तदनुयायी प्रजा में तथा राजन्य (राजा) अधिकारी वर्ग तथा राजन्य के अनुयायी प्रजा में, वेदवाणी के प्रचार की स्वतन्त्रता और प्रचारक ब्राह्मणों आदि को वाक्-स्वतन्त्रता (Freedom of speech) के प्रदान तथा इस सम्बन्ध में राजन्य पक्ष के विरोध का वर्णन हुआ है। यह वर्णन कोई ऐतिहासिक वृत्त नहीं, अपितु सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए प्ररोचनारूप में, काल्पनिक वृत्त है।

(२) प्रकरण में "ब्रह्म" के दो अर्थ दर्शाए हैं—१. परमेश्वर; तथा २. वेद (**बृंहेर्नोऽच्च,** उणा० ४.१४७, महर्षि दयानन्द), इस प्रकार ब्राह्मण का अर्थ है परमेश्वरज्ञ तथा वेदज्ञ, न कि जन्मतः ब्राह्मण।

(३) वशा का पर्याय शब्द मन्त्रों में "गौः" पद पठित है। इसके तीन अर्थ किये हैं, १. **गौः वाङ्नाम** (निघं० १.११), २. **स्तोतृनाम** (निघं० ३.१६), (३) **गौः पृथिवीनाम** (निघं० १.१)। इस दृष्टि से गौ के अर्थ हैं वेदवाणी तथा प्रचारक ब्राह्मणों की वाणी और स्तोताओं की वाणी; तथा "गोपति" पद का अर्थ हैं पृथिवी का पति राजन्य।

(४) कई वैदिक विद्वान् "वशा" का अर्थ करते हैं "गर्भघातिनी" वन्ध्या गौ। परन्तु मन्त्र ३७-३८ में वशा स्वयं कहती है कि मैं गर्भधारिणी हूँ "वेहत्" नहीं। वेहत्=वी (प्रजननं, गर्भम्) तत् हन्ति।

(५) मन्त्र २७, २८ से ज्ञात होता है कि वशा ऋचाओं का उच्चारण करती है। चतुष्पाद गौ पशु ऋचाओं का उच्चारण नहीं कर सकती। मन्त्र २७ की टिप्पणी में अथर्ववेद के आङ्गलभाषा में अनुवादकर्त्ता विलियम ड्विट ह्विटनी लिखते हैं कि "Verses (ऋचः) are doubtless those which the Brahmanas come to claim their rightful property"।

तथा वशा के स्वरूप के परिज्ञान के लिए अथर्ववेद १०.१०.१४ का निम्नलिखित मन्त्रार्ध अति महत्त्व का है । यथा "**वशा समुद्रे प्रानृत्यत् ऋचः सामानि बिभ्रती**", अर्थात् ऋचाओं और सामगान को धारण करती हुई वशा समुद्र में नाची है। अभिप्राय यह कि जैसे समुद्र में जलीय लहरें मानो नाचती कूदती हैं। इस प्रकार उपासक के हृदय समुद्र में ऋचाओं और सामगानों की लहरें नाचती तथा कूदती हैं। जैसे कि कहा है कि "**एताः**" (स्तुतिवाणियां) **अर्षन्ति हृद्यात्समुद्रात्**" (यजुः० १७.९३)। अतः वशा है काम्या तथा कान्तिमयी ऋचाओं का समूहरूप वेदवाणी (वश कान्तौ), तथा इन ऋचाओं के प्रचार करने वाले ब्रह्मज्ञों और वेदज्ञों की वशीकृत अर्थात् सुसंयमित वाणी। इन्हीं दृष्टियों के आधार पर समग्रसूक्त ४ के बुद्धिग्राह्य अर्थ किये गये हैं।

(६) वशा की तीन जातियाँ कही हैं, विलिप्ती, सूतवशा और वशा (४४, ४३, ४७)। इन पर भी प्रकाश डाला है।

(७) वशा के सम्बन्ध में मनः, मनसा तथा क्रुद्धा (३०, ३१, ३७) शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। यतः वशा को राजन्य की माता कहा है (३२, ३३), अतः मातृरूप में मनः आदि का प्रयोग अस्वाभाविक नहीं है।

(८) वशा के गुप्त ऊधस् तथा स्तनों का भी वर्णन हुआ है (१८)। वेदवाणी के भी गुप्त ऊधस् और स्तनों की व्याख्या दर्शाई है।

(९) मन्त्रों में नारद (१६, २४, ४१-४३, ४५); रुद्र (५२); इन्द्र (५०); बृहस्पति (४४, ४६, ४८); तथा भवाशर्वौ (१७), इनके अभिप्रायों को भी दर्शाया है।

वशा गौ

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

द॒दा॒मीत्ये॒व ब्रू॑या॒दनु॑ चैना॒मभु॑त्सत। व॒शां ब्र॒ह्मभ्यो॒ याच॑द्भ्य॒स्तत्प्र॒जाव॒दप॑त्यवत्॥ १ ॥

अर्थ—(वशाम्) वशीकृत वाणी, (याचद्भ्यः) याचना करने वाले (ब्रह्मभ्यः) ब्रह्मरूप हुए व्यक्तियों को (ददामि) मैं देता हूँ, (इति एव ब्रूयात्) यह ही कहे, यदि (एनाम्) इस वशा के स्वरूप को (अनु अभुत्सत) अनुकूल रूप में जान लिया है। (तत्) वह अर्थात् वशास्वातन्त्र्य (प्रजावत्) प्रशस्त प्रजा वाला है, (अपत्यवत्) प्रशस्त सन्तान वाला है।

[मन्त्र में ब्रह्मज्ञ तथा वेदज्ञ ब्राह्मणों को, वशीकृत वाणी के प्रयोग की स्वतन्त्रता देने का वर्णन है। उन ब्राह्मणों को जो कि ब्रह्मरूपता को प्राप्त हुए हैं। "**यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम्। स्युष्टे सत्या इहाशिषः ॥**" (ऋ० ८.४४.२३), अर्थात् हे सर्वाग्रणी! जब मैं तुझ स्वरूप हो जाऊँ, या तू मुझ स्वरूप हो जाए, तो इस जीवन में तेरे दिये आशीर्वाद सत्य हो जाएँ। योगी जब ब्रह्म को ध्येय कर, चित्तवृत्ति को ब्रह्म में लीन कर देता है, तब वह स्व-स्वरूप को भूल जाता, और ब्रह्म का ही केवल साक्षात् करता है, यह है योगी की ब्रह्मरूपता[1]। राजा का कर्त्तव्य है कि ऐसे योगिब्राह्मण को वाणी का स्वातन्त्र्य दे। इसकी वाणी वशा है, स्वात्मवश है, संयमित है। यह जो कुछ बोलेगा यथार्थ बोलेगा। इसके यथार्थ सदुपदेशों द्वारा प्रजाएँ प्रशस्त बन जाएँगी, और सन्तानें भी प्रशस्त बन जाएँगी। प्रजावत्, अपत्यवत् में

१. "**ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति**" इसकी व्याख्या भी इसी प्रकार जाननी चाहिए।

"वत्" प्राशस्त्यार्थ में है। यथा "**भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने संसर्गेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः**"]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रजया स वि क्रीणीते पशुभिश्चोप दस्यति।

य आर्षेयेभ्यो याचद्भ्यो देवानां गां न दित्सति॥ २॥

अर्थ—(यः) जो राजा (याचद्भ्यः) याचना करते हुए (आर्षेयेभ्यः) ऋषि सन्तानों के लिए (देवानाम्) दिव्यगुणी ब्राह्मणों की (गाम्) वाणी [की स्वतन्त्रता] को (न दित्सति) नहीं देना चाहता (सः) वह (प्रजया पशुभिः च) प्रजा और पशुओं समेत (विक्रीणीते) अपने-आप को बेच देता है, (च) और (उप दस्यति) अन्यों के समीप दास बन जाता है, या उपक्षीण हो जाता है।

[गाम्; **गौः वाङ्नाम** (निघं० १.११)। जो राजा ऋषियों की सन्तानों की वाणी पर प्रतिबन्ध लगा देता है, और उन्हें वाणी का स्वातन्त्र्य (Freedom of speach) नहीं देता, वह राज्यच्युत और निर्धन होकर अपनी सन्तानों तथा पशुओं समेत अपने आप को बेच कर, अन्यों के स्वामित्व में दासवृत्ति से जीवनयापन करता है]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

कूटयास्य सं शीर्यन्ते श्लोणया काटमर्दति।

बण्डया दह्यन्ते गृहाः काणया दीयते स्वम्॥ ३॥

अर्थ—(कूटया) कूटनीति द्वारा (अस्य) इस क्षत्रिय राजा की प्रजाएँ (सं शीर्यन्ते) जीर्ण-शीर्ण हो जाती हैं, (श्लोणया) लंगड़ीनीति के द्वारा (काटम्) काटे गये गढ़े में (अर्दति) दुःख भोगता है। (बण्डया) प्रलोभन की नीति द्वारा (गृहा) गृहवासी (दह्यन्ते) दग्ध हो जाते हैं, (काणया) निमीलन की नीति द्वारा (स्वम्) उसका निजधन (दीयते) क्षीण हो जाता है।

[क्षत्रिय राजा यदि ब्रह्मज्ञों को वाणी का स्वातन्त्र्य न देकर भिन्न-भिन्न नीतियों की चालें चलता है तो उनका जो परिणाम होता है उसे मन्त्र में दर्शाया है। वे नीतियाँ हैं—(१) कूटनीति अर्थात् झूठ और धोखे की नीति (२) श्लोणानीति, अर्थात् वचन दे कर उसे पूरा न करना, कुछ अंश में दिये वचन को पूरा करना, अवशिष्ट वचन स्थगित कर देना। (३) बण्डानीति[१], अर्थात् प्रलोभन की नीति, लालच दिखा कर वाणी स्वातन्त्र्य के आन्दोलन को रोकने का यत्न करना। (४) कानीनीति, अर्थात् आन्दोलन पर पूरा ध्यान ही न देना, आँख मूंद रखना। काणया=**कण निमीलने** (आँख बन्द रखना)]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विलोहितो अधिष्ठानाच्छक्नो विन्दति गोपतिम्।

तथा वशायाः संविद्यं दुरदभ्ना ह्युच्यसे॥ ४॥

अर्थ—(शक्नः[२]) शक्ति के (अधिष्ठानात्) अधिष्ठानरूप ब्रह्मज्ञ से (गोपतिम्) पृथिवीपति को

१. बण्डि=बण्टि=fish-hook श।

२. शक्ना=धूम आदि से; तेज आदि से (यजुः० ३७.९), महर्षि दयानन्द। अतः शक्नः का अर्थ लीद ही नहीं। **शक्नोतीति शकृत्** (म० दयानन्द)।

(विलोहितः) मुख का पीलापन (विन्दति) प्राप्त होता है। (तथा) वैसा अर्थात् उपर्युक्त (वशायाः) वशीकृत अर्थात् संयमित ब्रह्मज्ञवाणी के सम्बन्ध में (संविद्यम्) यथार्थ ज्ञान है, (हि) चूंकि हे वशे! (दुरदभ्ना=दुरादभ्ना) तू कठिनाई से दबाई जाने वाली (उच्यसे) कही जाती है।

[विलोहितः=लोहित अर्थात् रक्त से विगत हो जाना। ब्रह्मज्ञ व्यक्ति शक्ति का अधिष्ठान है। उसकी वाणी अदभ्या है। अतः पृथिवीपति का पराजय हो जाने पर उसका मुख पीला पड़ जाता है। गोपतिम्=**गौः पृथिवी** (निघं० १.१)]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प॒दोर॑स्या अ॒धि॒ष्ठाना॑द्वि॒क्लिन्दु॒र्नाम॑ विन्दति।

अ॒ना॒म॒नात्सं शी॑र्यन्ते॒ या मुखे॑नोप॒जिघ्र॑ति॥ ५॥

अर्थ—(अस्याः) इस वाणी के (पदोः) प्रतिपाद्य दो [विषयों] के (अधिष्ठानात्) अधिष्ठानरूप ब्रह्मज्ञ को प्राप्त कर (विक्लिन्दुः) विशेष प्रकार से गीला हुआ पृथिवीपति, (नाम) नम्रता को (विन्दति) प्राप्त होता है। (अनामनात्) और न नम्र होने से (सं शीर्यन्ते) इसकी प्रजाएँ नष्ट हो जाती हैं, (याः) जिन प्रजाओं को ब्रह्मज्ञ की वाणी, (मुखेन) ब्रह्मज्ञ के मुख द्वारा, (उप जिघ्रति) समीप होकर सूंघती[१] है। पदोः; देखो "**पदवायम्**" (१२.५। पर्याय १.४)।

[अधिष्ठानात् विन्दति=अधिष्ठानं प्राप्य विन्दति। यथा प्रासादात् प्रेक्षते=प्रासादमारुह्य प्रेक्षते। पदोः= प्रतिपाद्य दो विषय=अभ्युदय और निःश्रेयस। विक्लिन्दुः=पसीने से गीला हुआ। मन्त्र ४ में विलोहित द्वारा, भय के कारण मुख के पीलेपन का वर्णन हुआ है, और मन्त्र ५ में भय के कारण छूटे पसीने का वर्णन किया है]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यो अ॒स्या॒: कर्णा॑वास्कु॒नोत्या स दे॒वेषु॒ वृश्चते।

लक्ष्म॑ कु॒र्व इति॒ मन्य॑ते॒ कनी॑यः कृणु॒ते स्वम्॥ ६॥

अर्थ—(यः) जो [गोपति अर्थात् पृथिवीपति] (अस्याः) ब्रह्मज्ञ की इस वाणी के सम्बन्ध के (कर्णौ) कानों को (आस्कुनोति) अपनी ओर झुकाने का यत्न करता है, (सः) वह (देवेषु) देवसंघ में (वृश्चते) अपने-आप को पृथक् कर लेता है। और जो (इति मन्यते) यह मानता है कि (लक्ष्म कुर्वे) मैं इनका केवल दर्शन करता हूँ वह देवसंघ में (स्वम्) अपने आपको (कनीयः) छोटा (कृणुते) कर लेता है।

[कर्णौ=वाणी सम्बन्धी दो कान हैं, दो प्रकार के श्रोतृवर्ग। प्रजाओं में कई तो राजपक्ष के लोग होते हैं और कई प्रजा के नेतृपक्ष के। राजा दोनों पक्षों के नेताओं की वक्तृताओं को सुनता है, मानो ये दोनों पक्षों के लोग दो कान रूप हैं। कान सुनते हैं। सुनने के कारण इन्हें कान कहा है। जैसे "**षट्कर्णो भिद्यते मन्त्रः**" (पञ्चतन्त्र १.९९) में मन्त्र का विशेषण है "षट्कर्णः" इसी प्रकार "अस्याः कर्णौ" में वाणी

---

१. उपजिघ्रति=इस द्वारा ब्रह्मज्ञ और वेदज्ञ की वाणी को विषैली सर्पिणी कहा है। विषैला सर्प सूंघने मात्र से व्यक्ति को मार देता है। यथा "**स्पृशन्नपि गजो हन्ति जिघ्रन्नपि भुजङ्गमः**" हितोपदेश ३.१४; तथा भामिनी विलास १.९९.२।

के दो कर्ण कहे हैं]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥

यदस्याः कस्मैचिद्भोगाय बालान्कश्चित्प्रकृन्तति।

ततः किशोरा म्रियन्ते वत्सांश्च घातुको वृकः॥ ७॥

अर्थ—(कश्चित्) राजपक्ष का कोई व्यक्ति, (कस्मैचित् भोगाय) किसी स्वार्थ लाभ के लिए, (यद्) जो (अस्याः) ब्रह्मज्ञ की इस वाणी के (बालान्) बालों को (प्रकृन्तति) काटता है, (ततः) तदनन्तर (किशोराः) बालक (म्रियन्ते) मर जाते हैं, (वृकः वत्सान् च) और भेड़िया शिशुओं का (घातुकः) हनन करता है।

[बालान् प्रकृन्तति=वाणी या वक्तृता की "बाल की खाल उतारना" किशोराः=ब्रह्मज्ञ पक्षीय तथा राजपक्षीय लोगों में युद्ध की अवस्था में किशोर सैनिक भी मर जाते हैं, और ब्रह्मज्ञ पक्ष का सेनाध्यक्ष मानो वृक बन कर शिशुओं को भी मार देता है, ताकि ऐसे राजा के वंश का ही विलोप हो जाए]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यदस्या गोपतौ सत्या लोम ध्वाङ्क्षो अजीहिडत्।

ततः कुमारा म्रियन्ते यक्ष्मो विन्दत्यनामनात्॥ ८॥

अर्थ—(गोपतौ) पृथिवीपति के होते (अस्याः सत्याः) ब्रह्मज्ञ की इस सती अर्थात् पवित्र वाणी के (लोम) एक भी बाल को, (यद्) जो (ध्वाङ्क्षः) लोभी कर्मचारी (अजीहिडत्) खींच कर अनादृत करता है, (ततः) तदनन्तर (कुमाराः) कुमार (म्रियन्ते) मर जाते हैं, (अनामनात्) और राजा के नम्र या नत न होने पर (यक्ष्मः) ब्रह्मज्ञ का सेनाध्यक्ष मानो यक्ष्मरोग का रूप धारण करके (विन्दति) राजकीय परिवार को प्राप्त होता है।

[इस मन्त्र में भी युद्ध हो जाने पर युद्ध का बुरा परिणाम दर्शाया है। कुमाराः=यौवन प्राप्त सैनिक। किशोराः=जो कि यौवन प्राप्त नहीं हुए। ध्वाङ्क्षः=**ध्वाङ्क्षेण क्षेपे** (अष्टा० २.१.४१), यथा "**तीर्थध्वाङ्क्षः**"। ध्वांक्षः=कौआ। क्षेप=तिरस्कार, अनादर, नीचता। गोपतौ=पृथिवीपति की उपस्थिति में। गौः=पृथिवी (निघं० १.१)। लोम अजीहिडत्=वक्तृता के किसी छोटे अंश को लेकर "उसकी बाल की खाल उतार कर" ब्रह्मज्ञ का अनादर करता है। **हेडृ अनादरे**]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यदस्याः पल्पूलनं शकृद्दासी समस्यति। ततोपरूपं जायते तस्मादव्येष्यदेनसः॥ ९॥

अर्थ—जैसे (दासी) गृहदासी (शकृत्) गोबर का (समस्यति) संग्रह करती है, वैसे दासी अर्थात् पृथिवीपति की वेतन भोगी प्रजा (अस्याः) ब्रह्मज्ञ की इस वाणी की जड़ को (पल्पूलनम्=पल्यूलनम्) काटने वाले साधनों का (यद्) जो संग्रह करती है, (ततः) उससे पृथिवीपति का (अपरूपम्) अपयश (जायते) उत्पन्न होता है, और वह (तस्मात्) उस (एनसः) पाप से (अव्येष्यत्) विगत नहीं हो पाता, छूटता नहीं।

[पल्पूलनम्=**पल्पूल लवनपवनयोः** (चुरादि)। अव्येष्यत्=अ (नञ्)+वि+इष् (गतौ)+स्य+शतृ।

लवन=काटना तथा काटने के साधन]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

जायमानाभि जायते देवान्त्सब्राह्मणान्वशा।

तस्माद् ब्रह्मभ्यो देयैषा तदाहुः स्वस्य गोपनम्॥ १०॥

अर्थ—(वशा) वेदवाणी (जायमाना) प्रकट होती हुई, (सब्राह्मणान्) ब्रह्मज्ञ तथा वेदज्ञ अर्थात् ब्राह्मणों समेत (देवान्) दिव्य व्यक्तियों को (अभि) अभिमुख करके (जायते) प्रकट होती है। (तस्मात्) इसलिए (एषा) यह वशा (ब्रह्मभ्यः) ब्रह्मज्ञों तथा वेदज्ञों के स्वामित्व के लिए (देया) दे देनी चाहिए, (तद्) इस दान को (स्वस्य गोपनम् आहुः) राजा की निज सुरक्षा रूप कहते हैं।

[राष्ट्रिय प्रजाओं और सन्तानों को प्रशस्त बनाने के लिए, ब्रह्मवेत्ताओं तथा वेदवेत्ताओं को वाणी की स्वतन्त्रता प्रदान करने के प्रकरण में "वशा" द्वारा वेदवाणी का वर्णन हुआ है। ऐसे तथा इस प्रकार के अन्य दिव्यगुणी विद्वानों को वेदवाणी के प्रचार का अधिकार, राजा द्वारा, प्राप्त होना चाहिए, इससे राजा की भी आत्मरक्षा हो सकेगी। ऐसे विद्वान् अपनी वाणी द्वारा, वेदवाणी के अनुकूल ही, प्रजा को सदुपदेश देंगे, जिससे राष्ट्रोन्नति होकर राजा की स्थिरता बनी रहेगी]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

य एनां वनिमायन्ति तेषां देवकृता वशा। ब्रह्मज्येयं तदब्रुवन्य एनां निप्रियायते॥ ११॥

अर्थ—(ये) जो ब्रह्मज्ञ तथा वेदज्ञ व्यक्ति (एनाम् वनिम्) इस वेदवाणी के प्रचार की स्वतन्त्रता की याचना के लिए (आयन्ति) राजा के प्रति आते हैं, (तेषाम्) उनके लिए, (वशा) वेदवाणी (देवकृता) परमेश्वर देव ने आविर्भूत की है। (तद् अब्रुवन्) देव कोटि के व्यक्तियों ने यह कहा है कि (इयम्) यह वेदवाणी (ब्रह्मज्या) ब्रह्मवेत्ताओं तथा वेदवेत्ताओं के जीवन को हानि पहुँचाती हैं (यः) जो राजा कि (एनाम्) इस वेदवाणी को (निप्रियायते) नितरां निज प्रिया की तरह अपने स्वामित्व में रखता है।

[वनिम्=**वनु याचने**। वेदवाणी के प्रचार या प्रचार का अधिकार, यदि राजा, अपने हाथ में रखता है तो इससे वेदज्ञों का जीवन कष्टमय हो जाता है। परमेश्वर ने तो ऐसे विद्वानों को, प्रचारार्थ, वेद का अधिकार दिया हुआ है]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

य आर्षेयेभ्यो याचद्भ्यो देवानां गां न दित्सति।

आ स देवेषु वृश्चते ब्राह्मणानां च मन्यवे॥ १२॥

अर्थ—(यः) जो राजा (याचद्भ्यः) याचना करने वाली (आर्षेयेभ्यः) ऋषि सन्तानों को (देवानाम्) देवों की (गाम्) वेदवाणी पर अधिकार (न दित्सति) नहीं देना चाहता, (सः) वह (देवेषु) देव समाज में (आ वृश्चते) पूर्णतया अपने आप को सम्बन्ध से वञ्चित कर लेता है, (च) और (ब्राह्मणानाम्) ब्रह्मज्ञों तथा वेदज्ञों के (मन्यवे) मन्यु का भाजन बन जाता है।

[देवानाम्=ब्राह्मणों से भिन्न राष्ट्र के अन्य विद्वान्]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यो अस्य स्याद्वशाभोगो अन्यामिच्छेत तर्हि सः।

हिंस्ते अदत्ता पुरुषं याचितां च न दित्सति॥ १३॥

अर्थ—(अस्य) इस राजा का (यः वशाभोगः) वेदवाणी द्वारा सम्पन्न जो भोग (स्यात्) हो, (तर्हि) तो (सः) वह राजा (अन्याम्) अन्य रीति को (इच्छेत) अपनाने की इच्छा करे। (अदत्ता) न दी गई (पुरुषम्) राज पुरुष की (हिंस्ते) हिंसा कर देती है, जोकि (याचिताम्) याचना की गई को (न दित्सति) नहीं देना चाहता।

[भोगों की अन्य रीति=अपनी मिल्ल लगाना लेना, टैक्स नए लगा देना, व्यापार आदि। वेदवाणी के प्रचार पर प्रतिबन्ध[1] लगा कर राजा निजभोगों के सम्पादन की इच्छा न करे, क्योंकि वेद प्रचार न होने से प्रजाएँ और सन्तानें प्रशस्त नहीं हो सकतीं।

विशेष—(१) मन्त्रों में "ब्रह्मभ्यः, आर्षेयेभ्यः, ब्राह्मणानां, देवानाम्" में बहुवचन और "गाम्" में एक वचन होने से, एक गौ के लिए बहुतों की मांग प्रतीत होती है। यदि "गौ" का अर्थ "गोप्राणी" किया जाये तो राजा किस को गौ दे, यह राजा के निश्चय के लिए प्रश्न पैदा हो जाएगा। यदि गौ का अर्थ वेदवाणी और उसके प्रचार के लिए ब्राह्मणों को वाणी प्रयोग का स्वातन्त्र्य दिया जाये तो कोई कठिनाई पैदा नहीं हो सकती। (२) ब्राह्मणानाम्, देवानाम्" में भेद यह है कि जो तो वेद प्रचार करना चाहते हैं उन्हें तो मन्त्रों में ब्राह्मण शब्दों द्वारा निर्दिष्ट किया है, और जो वेदवाणी के भक्त तो हैं, परन्तु उसके प्रचार में रुचि नहीं रखते उन्हें इन मन्त्रों में देव शब्दों द्वारा निर्दिष्ट किया है]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यथा शेवधिर्निहितो ब्राह्मणानां तथा वशा।

तामेतदच्छायन्ति यस्मिन्कस्मिंश्च जायते॥ १४॥

अर्थ—(यथा) जैसे (निहितः) सुरक्षित (शेवधिः) सुखदायक खजाना होता है, (तथा) वैसे (ब्राह्मणानाम्) वेदज्ञों के लिए (वशा) वेदवाणी होती है। (एतत्) इस हेतु से, (यस्मिन् कस्मिन् च) जिस किसी व्यक्ति में (जायते) वेदवाणी प्रादुर्भूत हो जाती है (ताम्) उस वशा अर्थात् वेदवाणी के [द्रष्टा] की (अच्छ) ओर (आयन्ति) वेदज्ञ विद्वान् आते हैं [उसके दर्शन के लिए] अच्छ=**अच्छाभी आभिमुख्ये**।

[जिस किसी ऋषि को यथार्थ रूप में वेदमन्त्रों का ज्ञान प्रकट होता है, उसकी ओर उसके दर्शन के लिए वेदज्ञ विद्वान् जाते हैं। अच्छ=आभिमुख्ये]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

स्वमेतदच्छायन्ति यद्वशां ब्राह्मणा अभि।

यथैनानन्यस्मिञ्जिनीयादेवास्या निरोधनम्॥ १५॥

१. प्रतिबन्ध=निरोधन (मन्त्र १५)। राजा वेदवाणी के प्रचार पर प्रतिबन्ध इसलिए लगाता है कि इस प्रचार द्वारा उसके निजभोग कहीं समाप्त न हो जाएँ, क्योंकि वेदवाणी तो "**तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः, मा गृधः**" का उपदेश देती है (यजुः० ४०.१)।

अर्थ—(ब्राह्मणाः) ब्रह्मज्ञ=वेदज्ञ विद्वान् (यद्) जो (वशाम्) वेदवाणी या निज वशीकृत वाणी को (अभि) लक्ष्य करके (आ यन्ति) राजा की ओर आते हैं, वे (एतद् स्वम्) मानो इस निज सम्पत्ति को (अच्छ) लक्ष्य करके आते हैं। (अस्याः) इस वाणी का (निरोधनम्) निरोध (एवा) ऐसा ही है (यथा) जैसे कि (एनान्) इन ब्राह्मणों को (अन्यस्मिन्) अन्य [किसी अपराध] में (जिनीयात्) हानि पहुँचाना है।

[मन्त्रों में ''वशा'' शब्द द्वारा दो अर्थ द्योतित होते हैं। (१) वेदवाणी; (२) ब्राह्मणों की वेदवाणी के प्रचारार्थ वशीकृत निज वाणी का स्वातन्त्र्य। इस निमित्त ब्राह्मण राजा की ओर जाते हैं। ब्राह्मण प्रजा में विद्रोह पैदा करके यह स्वातन्त्र्य नहीं चाहते। क्योंकि विद्रोह से प्रजा का तथा राष्ट्रिय सम्पत्ति का विनाश होता है। इसलिए शान्ति के उपाय द्वारा अपनी माँग को वे सफल बनाना चाहते हैं]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

चरेदेवा त्रैहायणादविज्ञातगदा सती। वशां च विद्यान्नारद ब्राह्मणास्तर्ह्येष्याः ॥ १६ ॥

अर्थ—वशा (आ त्रैहायणात्) तीन वर्षों की अवधि तक (अविज्ञातगदा सती) अज्ञात रूप में (चरेत् एव) विचरती ही रहे (नारद) हे नरसमाज के शोधक! (च) और (वशाम्) वशीकृत वाणी के स्वरूप को (विद्यात्) राजा जब जान ले (तर्हि) तो (ब्राह्मणाः) ब्रह्मज्ञ यथा वेदज्ञ व्यक्ति (एष्याः) ढूंढने चाहिएँ, ताकि उन्हें वाणी का स्वातन्त्र्य दिया जा सके।

[तीन वर्षों तक ब्राह्मण शान्ति के उपायों का अवलम्बन कर, जनता में व्याख्यान न दें, अपितु व्यक्तिरूप में परस्पर मिल कर वेदवाणी का प्रचार करते रहें। राजा को जब यह ज्ञात हो जाएगा कि ब्राह्मण लोग अपनी वक्तृताओं द्वारा प्रजा को भड़का कर वाणी स्वातन्त्र्य नहीं चाहते, तो नरों की विचारशुद्धि और आचारशुद्धि चाहने वाला अधिकारी, नारद स्वयं ऐसे शान्तिप्रिय ब्राह्मणों की खोज करेगा ताकि प्रजा में वे वेदवाणी का प्रचार करें। नारद=नार (नृणां समूहः)+द (दैप् शोधने)। सम्भवतः नारद धर्माधिकारी है]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

य एनामवशामाह देवानां निहितं निधिम्।
उभौ तस्मै भवाशर्वौ परिक्रम्येषुमस्यतः ॥ १७ ॥

अर्थ—(यः) जो राजाधिकारी (देवानां निहितं निधिम्) देवकोटि के विद्वानों की सुरक्षित वेदवाणी रूपी खजाने को (अवशाम्) अवशा (आह) कहता है, अर्थात् इसके प्रचार द्वारा प्रजा वश में नहीं रहेगी, विद्रोही हो जाएगी (तस्मै) उस अधिकारी को, (उभौ) दोनों (भवाशर्वौ) भव और शर्व (परिक्रम्य) घेर कर उस पर (इषुम् अस्यतः) बाण फैंकते हैं।

[भव=प्रधानमन्त्री; शर्व=सेनापति। ये दोनों अधिकारी उसे वाक्-वाणी द्वारा बींधते हैं, उसकी निन्दा करते हैं]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यो अस्या ऊधो न वेदाथो अस्या स्तनानुत।
उभयेनैवास्मै दुहे दातुं चेदशकद्वशाम् ॥ १८ ॥

अर्थ—(यः) जो (अस्याः) इस वशा अर्थात् वेद माता के, तथा वेद प्रचारक की वाणी के (ऊधः) दुग्धाशय को (न, वेद) नहीं जानता, (अथ उ उत) और (अस्याः) इसके (स्तनान्) स्तनों को (न, वेद) नहीं जानता वह (चेत्) यदि (वशाम् दातुम्) वशा प्रदान करने को (अशकत्) शक्ति सम्पन्न या सामर्थ्य वाला हो जाए, तो वशा (उभयेन एव) दोनों अर्थात् दुग्धाशय तथा स्तनों द्वारा ही (अस्मै) इसके लिए (दुहे) दूध देने लगे।

[अभिप्राय यह है कि राजा अथवा राज्याधिकारी यह कहता है कि इस वशा-माता का न तो दुग्धाशय है और न स्तन हैं, अतः वशा निरुपयोगी है, राष्ट्र के लिए। परन्तु मन्त्र के उत्तरार्ध में यह कहा है कि वह यदि वशा के प्रचार की स्वतन्त्रता देने का सामर्थ्य रखे तो उसे ज्ञात हो जाएगा कि वशा के दुग्धाशय और स्तन हैं, और वह दूध देती है, प्रचार के लिए राष्ट्रोपयोगी है।

इस सम्बन्ध में निम्नलिखित मन्त्रार्थ विशेष प्रकाश डालता है यथा—

"**अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्**" (ऋ० १०.७१.५)। इस पर यास्कमुनि लिखते हैं कि "**अधेन्वा ह्येष चरति मायया वाक् प्रतिरूपया, नास्मै कामान् दुग्धे वाग्दोह्यान् देवमनुष्यस्थानेषु यो वाचं श्रुतवान् भवत्यफलामपुष्पामित्यफलास्मा अपुष्पा वाक् भवतीति वा किञ्चित्पुष्पफलेति वा। अर्थं वाचः पुष्पफलमाह। याज्ञदैवते पुष्पफले, देवताध्यात्मे वा।**" (निरुक्त १.६.२०)।

अर्थात् जिसने वेदवाणी को केवल सुना ही है वह मायारूप अर्थात् कृत्रिम गौ के साथ विचरता है, जो कि अधेनु है, दूध नहीं दे रही, तथा ऐसे वृक्ष की सेवा करता है, जो कि फल और पुष्प नहीं दे रहा" (ऋ० १०.७१.५)। तथा "देवस्थान अर्थात् यज्ञों में, तथा मनुष्यस्थान अर्थात् पाठशाला आदि में जिसने केवल वेदवाणी सुनी ही है, परन्तु उसके फलों और पुष्पों को प्राप्त नहीं किया, अथवा स्वल्पमात्रा में फल-पुष्प प्राप्त किये हैं, वह न दूध देने वाली गौ के साथ विचरता है जो कि मायारूप है, वेदवाणी की प्रतिकृति मात्र है, वह इस श्रोता के लिए वाणी द्वारा दोहे जाने वाले काम्य पदार्थों को नहीं दोहती। वेदवाणी का अर्थ है पुष्प और फल, अर्थात् यज्ञ और देवता तथा परमेश्वर और जीवात्मा का ज्ञान। तथा "**वृक्षो वेदः तस्य फलं प्रणवः**" (आप० धर्मसूत्र), अर्थात् वृक्ष है वेद और उसका फल है प्रणव, अर्थात् परमेश्वर।

इस प्रकार समुच्चित वेदवाणी है गौ, चार वेद हैं चार स्तन, और वेदों द्वारा प्राप्त ज्ञान है दुग्ध। और इस प्रकार वशा अर्थात् वेदवाणी दुग्धाशय तथा स्तनों से रहित नहीं। अतः फलप्रदा है]।

ऋषिः—**कश्यपः**॥ देवता—**वशा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

दुरदभ्नैनमा शये याचितां च न दित्सति।
नास्मै कामाः समृध्यन्ते यामदत्त्वा चिकीर्षति॥ १९॥

अर्थ—(दुरदभ्ना) दर्वाजों को तोड़ देने वाली वशा (एनम्) इसके समीप (आशये) सोई सी रहती है, जो कि (याचिताम्) मांगी गई को (न दित्सति) नहीं देना चाहता। (अस्मै) इसके लिए (कामाः) कामनाएँ (न समृध्यन्ते) समृद्ध नहीं होतीं। (याम्) जिस वशा को (अदत्त्वा) न देकर (चिकीर्षति) यह करना चाहता है।

[दुरदभ्ना=दुर (दर्वाजा)+दभ् (तोड़ना) तथा (मन्त्र ४)। मन्त्र में राजा का वर्णन "दित्सति" द्वारा हुआ है। वेदवाणी के प्रचार की स्वतन्त्रता न देने पर, स्वतन्त्रताभिलाषी व्यक्ति, राजा के निवास स्थान के दरवाजे तोड़ कर राजा पर आक्रमण कर देते हैं। दुरः=द्वार (अथर्व० २०.२१.२)। दूर=Door]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥

देवा वशामयाचन्मुखं कृत्वा ब्राह्मणम्।
तेषां सर्वेषामददद्धेडं न्येति मानुषः॥ २०॥

अर्थ—(देवाः) देवों ने (ब्राह्मणम्) ब्रह्मज्ञ तथा वेदज्ञ को (मुखं कृत्वा) मुखरूप या मुखिया बना कर (वशाम्) वशा की (अयाचन्) याचना की। (अददत् मानुषः) न देता हुआ राजा (तेषां सर्वेषाम्) उन सब देवों के (हेडम्) अनादर को (न्येति) नितरां प्राप्त होता है।

[सब दिव्यगुणी जन राजा का निरादर करने लगते हैं वाणी-स्वातन्त्र्य न देने से। मुखम् (मन्त्र ५)। अददत्=अ+दद् (दाने)+शतृ। मानुषः=अर्थात् राजा कोई अलौकिक व्यक्ति नहीं, वह भी है तो मनुष्य ही। इसलिए प्रजा द्वारा बाधित किया जा सकता है]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

हेडं पशूनां न्येति ब्राह्मणेभ्योऽददद्वशाम्।
देवानां निहितं भागं मर्त्यश्चेन्निप्रियायते॥ २१॥

अर्थ—(ब्राह्मणेभ्यः) ब्रह्मज्ञ तथा वेदज्ञ विद्वानों को (वशाम्, अददद्) वशा अर्थात् वेदवाणी और उसके प्रचार के लिए वशीकृत वाणी का स्वातन्त्र्य (अददद्) न देता हुआ राजा (पशूनाम्) पशु सदृश साधारण प्रजाजनों के (हेडम्) अनादर को भी (न्येति) नितरां प्राप्त होता है, (चेत्) यदि वह (मर्त्यः) मरणधर्मा राजा (देवानाम्) देवजनों के (निहितम्) सुरक्षित (भागम्) वाणी-स्वातन्त्र्य अधिकार को (निप्रियायते) नितरां निज प्रियावत् स्वाधिकृत समझता है (मन्त्र ११)।

[मन्त्र में राजा को "मर्त्य" कह कर उसकी दिव्यता का निरास किया है]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यदन्ये शतं याचेयुर्ब्राह्मणा गोपतिं वशाम्।
अथैनां देवा अब्रुवन्नेवं ह विदुषो वशा॥ २२॥

अर्थ—(यद्) यदि (अन्ये) अन्य (शतं ब्राह्मणाः) सौ ब्राह्मण (गोपतिम्) पृथिवीपति से (वशाम्, याचेयुः) वशा मांगें, (अथ) तो भी (एनाम्) इस वशा के सम्बन्ध में (देवा अब्रुवन्) देवों ने कहा है कि (वशा एवं विदुषः ह) कि वशा इस प्रकार के ज्ञानी की ही है।

[ब्राह्मण तीन प्रकार के होते हैं—(१) ब्रह्मज्ञ। (२) वेदज्ञ। (३) ब्रह्मज्ञ तथा वेदज्ञ। तीसरे प्रकार के ब्राह्मणों को वेद प्रचार के लिए वाणी-स्वातन्त्र्य देना चाहिए, ऐसा अभिप्राय है]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

य एवं विदुषेऽदत्त्वाथान्येभ्यो दददद्वशाम्।
दुर्गा तस्मा अधिष्ठाने पृथिवी सहदेवता॥ २३॥

अर्थ—(यः) जो राजा (एवं विदुषे) इस प्रकार के ज्ञानी को (अदत्त्वा) न दे कर (अथ) फिर (अन्येभ्यः) अन्यों को (वशाम्) वेदवाणी के प्रचार की स्वतन्त्रता (ददद्) प्रदान करता है, (तस्मै) उसके लिए (सहदेवता) देवताओं सहित (पृथिवी) पृथिवी, (अधिष्ठाने) राजा के निज निवास स्थान में, (दुर्गा) दुःख पहुँचाती है।

[यदि राजा विद्वान् ब्रह्मज्ञ तथा वेदज्ञ को वेदप्रचार की स्वतन्त्रता न दे कर अन्यों को स्वतन्त्रता देता है, तो मानो पृथिवी के वासी निज नेताओं के साथ मिल कर उसे उसके निवास स्थान पर जा कर कष्ट पहुँचाते हैं]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

देवा वशामयाचन्यस्मिन्नग्रे अजायत।
तामेतां विद्यान्नारदः सह देवैरुदाजत॥ २४॥

अर्थ—(देवाः) देवों ने (वशाम्) वेदवाणी की (अयाचन्) याचना उससे की (यस्मिन्) जिस किसी व्यक्ति में (अग्रे) प्रथम (अजायत) वेदवाणी प्रकट हुई। (नारदः) नर-नारी समाज को शुद्ध करने वाला वह व्यक्ति (ताम्) उस वशा के स्वरूप को (विद्यात्) जान ले। (देवैः सह) राष्ट्र के देवों के साथ मिल कर वह व्यक्ति (एताम्) इस वशा अर्थात् वेदवाणी को (उदाजत) समुन्नत करता है। "**अग्रे अजायत**" देखो (मन्त्र १४)।

[जिस किसी व्यक्ति में वेदप्रचार की अभिव्यक्ति प्रथम हो उसकी सहायता सभी देवकोटि के विद्वान् करके वेदविद्या की समुन्नति में सहयोग दें। नारदः=नार (नर-नारियों का समाज)+द (दैप् शोधने)]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अनपत्यमल्पपशुं वशा कृणोति पूरुषम्।
ब्राह्मणैश्च याचितामथैनां निप्रियायते॥ २५॥

अर्थ—[जो राजपुरुष] (ब्राह्मणैः) ब्रह्मज्ञों तथा वेदज्ञों द्वारा (याचिताम्) मांगी गई (अथ एनाम्) इस वशा अर्थात् वेदवाणी को (निप्रियायते) नितरां निजप्रिया के सदृश स्वस्वामित्व में रखता है, (पूरुषम्) उस राजपुरुष को (वशा) अप्रचारित वेदवाणी (अनपत्यम्) प्रजारूप सन्तान से रहित तथा (अल्पपशुम्) अल्पपशुओं वाला (कृणोति) कर देती है। निप्रियायते, देखो (मन्त्र ११, २१)।

[जो राजपुरुष वेद प्रचार पर प्रतिबन्ध लगाता है, उसके राज्य में न प्रजा की वृद्धि होती है, न पशुओं की]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अग्नीषोमाभ्यां कामाय मित्राय वरुणाय च।
तेभ्यो याचन्ति ब्राह्मणास्तेष्वा वृश्चतेऽददत्॥ २६॥

अर्थ—(अग्नीषोमाभ्याम्) राज्य में अग्नि और सोम की वृद्धि के लिए, (कामाय) काम्यपदार्थों के लिए, (मित्राय) मित्रों के लिए, (च वरुणाय) श्रेष्ठ व्यक्तियों के लिए, (तेभ्यः) उन सबके लिए, (ब्राह्मणाः) ब्रह्मज्ञ और वेदज्ञ विद्वान् (याचन्ति) वशा की याचना करते हैं, (अददत्) राजा न देता हुआ,

(तेषु) उनमें रहता हुआ भी (आ वृश्चते) पूर्णतया अपने आप को अलग कर लेता है।

[राज्य की वृद्धि के लिए अग्नि (Power) की तथा सोम (जल) की वृद्धि चाहिए। अग्नि द्वारा कलाकौशल की वृद्धि, तथा जल द्वारा कृषि की वृद्धि होती है। इन द्वारा काम्य पदार्थों की उत्पत्ति होती है। वेद प्रचार द्वारा प्रजा में मैत्री-भावना का तथा श्रेष्ठता का प्रसार होता है। सोम=जल (water) आप्टे। वरुणः=उत्तमम् (उणा० ३.५३, महर्षि दयानन्द)। अभिप्राय यह कि ब्राह्मण स्वार्थ के लिए वेदप्रचार नहीं चाहते, अपितु राष्ट्रोन्नति के लिए चाहते हैं]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यावदस्या गोपतिर्नोपशृणुयादृचः स्वयम्।
चरेदस्य तावद्गोषु नास्य श्रुत्वा गृहे वसेत्॥ २७॥

अर्थ—(गोपतिः) पृथिवी का पति राजा (यावत्) जब तक (अस्याः) इस वशा अर्थात् वेदवाणी की (ऋचः) ऋचाओं को (न उपशृणुयात् स्वयम्) अपने आप नहीं सुनता, (तावत्) तब तक (अस्य) इस गोपति के (गोषु) स्तोताओं में वशा अर्थात् वेदवाणी (चरेत्) विचरे, (श्रुत्वा) ऋचाओं को सुन कर (अस्य) इस गोपति के (गृहे) केवल गृह में ही (न वसेत्) न बसे, न विचरे।

[वशा का अर्थ यदि गौ (पशु) हो तो वह ऋचाएँ कैसे बोलेगी। वेदवाणी तो ऋचाएँ बोलती ही है। अतः इस वशा प्रकरण में वशा का अर्थ वेदवाणी ही जानना चाहिए। वेदवाणी मानो वेदज्ञ ब्राह्मण के मुख द्वारा ऋचाओं का उच्चारण करती है। गोपति का अर्थ है पृथिवीपति, न कि ग्वाला। इसीलिए मन्त्र ३२ में 'राजन्यः', और मन्त्र ३३ में 'राजन्यस्य' पद पठित हैं।

मन्त्र में यह भी निर्देश मिलता है कि गोपति के अन्य कार्यों में व्यापृत होने के कारण वह वेदवाणी के सदुपदेशों से वञ्चित रहता है। इसलिए वेदवाणी राजा के स्तोतृ आदि याज्ञिकों तक सीमित रहती है, परन्तु गोपति जब स्वयं वेदवाणी की ऋचाओं का श्रवण करता है तब वह वेदवाणी के सदुपदेशों के प्रचार की इच्छा करता है, और वेदवाणी पहिले जो उसके गृह्यकृत्यों के लिए याज्ञिकों द्वारा प्रयुक्त होती थी, वह अब राष्ट्रकृत्यों के लिए भी उपयुक्त होती है। गोषु, **गौः स्तोतृनाम** (निघं० ३.१६)]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यो अस्या ऋच उपश्रुत्याथ गोष्वचीचरत्।
आयुश्च तस्य भूतिं च देवा वृश्चन्ति हीडिताः॥ २८॥

अर्थ—(यः) जो राजा (अस्याः) इस वशा अर्थात् वेदवाणी की (ऋचः) ऋचाओं को (उपश्रुत्य) सुन कर, (अथ) फिर भी (गोषु) इन्द्रियों [के भोगों] में (अचीचरत्) विचरता रहता है, (तस्य) उसकी (आयुः च, भूतिं च) आयु को और विभूति को—(हीडिताः देवाः) अनादृत हुए देवजन (वृश्चन्ति) काट देते हैं।

[मन्त्र २७ में "**अस्याः गोपतिः ऋचः**" में "अस्याः" का अन्वय "गोपति" के साथ नहीं, अपितु "ऋचः" के साथ है, जैसा कि मन्त्र २८ में स्पष्ट है। गोषु=इन्द्रियेषु। यथा "**गौः पशुः, इन्द्रियं, सुखं, किरणो, वज्रं, चन्द्रमा, भूमिः, वाणी, जलं वा**", "**गमेर्डोः**" (उणा० २.६८, महर्षि दयानन्द)। देखो "वशाभोगः" (१३)]।

ऋषिः—कश्यपः ॥ देवता—वशा ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

वशा चरन्ती बहुधा देवानां निहितो निधिः ।

आविष्कृणुष्व रूपाणि यदा स्थाम जिघांसति ॥ २९ ॥

अर्थ—(देवानां निहितः निधिः) देवकोटि के विद्वानों का सुरक्षित खजाना (वशा) वेदवाणी, (बहुधा) बहुत प्रकार के विषयों में (चरन्ती) गति करती हुई, (रूपाणि) नाना रूपों का (आविष्कृणुष्व= आविष्करोति) आविर्भाव अर्थात् वर्णन करती है, (यदा) जब कि यह (स्थाम) निज स्थान अर्थात् आश्रय में (जिघांसति) जाना चाहती है।

[अभिप्राय यह कि वेदवाणी जब ब्रह्मज्ञ तथा वेदज्ञ विद्वानों में आश्रय पाती है, तब नाना विषयों का प्रतिपादन करती है। ये विषय हैं आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक। इस वेदवाणी का निज स्थान है—ब्राह्मण। यथा "**विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि**" (निरु० २.१.४)। विद्या=वेदविद्या; तथा (३०, ३१)। जिघांसति=हन् हिंसागत्योः=जिगमिषति]।

ऋषिः—कश्यपः ॥ देवता—वशा ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

आविरात्मानं कृणुते यदा स्थाम जिघांसति ।

अथो ह ब्रह्मभ्यो वशा याच्ञ्याय कृणुते मनः ॥ ३० ॥

अर्थ—(आविः आत्मानम्) अपने स्वरूप को प्रकट कर देती है (यदा) जब कि वशा अर्थात् वेदवाणी (स्थाम) निज स्थान अर्थात् ब्रह्मवेत्ता तथा वेदवेत्ता को (जिघांसति) जाना चाहती है। (अथ उ ह) तब निश्चय से (वशा) वेदवाणी (ब्रह्मभ्यः) वेदवेत्ताओं द्वारा (याच्ञ्याय) निज याचना के लिए (मनः कृणुते) इच्छा करती है, अर्थात् ब्राह्मण मेरी माँग करें, मुझे चाहें, ऐसी इच्छा करती है। [जिघांसति=जिगमिषति; हन् गतौ] आविरात्मानम्="**उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः**" (ऋ० १०.७१.४)।

ऋषिः—कश्यपः ॥ देवता—वशा ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

मनसा सं कल्पयति तद्देवाँ अपि गच्छति ।

ततो ह ब्रह्माणो वशामुपप्रयन्ति याचितुम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—(मनसा) मन से (सं कल्पयति) संकल्प करती है, (तत्) वह संकल्प (देवान्) देवों को (अपि गच्छति) प्राप्त होता है। (ततः ह) तत्पश्चात्, निश्चय से, (ब्रह्माणः) ब्रह्मवेत्ता तथा वेदवेत्ता (वशाम्) वेदवाणी की (याचितुम्) याचना के लिए (उप प्रयन्ति) गोपति के समीप प्रयाण करते हैं।

[मनसा—संकल्प मन का गुण है न कि आत्मा का। अभिप्राय यह कि वेदवाणी के प्रचार के स्वातन्त्र्य के लिए प्रथम देवकोटि के विद्वानों से परामर्श लेना चाहिए। तत्पश्चात् राजा के पास इस निमित्त प्रयाण करना चाहिए। मन्त्र ३० और ३१ में मनः और मनसा, तथा संकल्प का वर्णन कवितारूप में है]।

ऋषिः—कश्यपः ॥ देवता—वशा ॥ छन्दः—उष्णिग्बृहतीगर्भानुष्टुप् ॥

स्वधाकारेण पितृभ्यो यज्ञेन देवताभ्यः ।

दानेन राजन्यो वशाया मातुर्हेडं न गच्छति ॥ ३२ ॥

अर्थ—(पितृभ्यः) पितरों के लिए (स्वधाकारेण) उनके निज धारण और पोषण करने वाले अन्न के प्रदान द्वारा, (देवताभ्यः) देवताओं के लिए (यज्ञेन) यज्ञ द्वारा, तथा [ब्रह्मभ्यः] ब्रह्मज्ञों और वेदज्ञों के लिए (वशायाः दानेन) वेदवाणी के प्रचार की स्वतन्त्रता के प्रदान द्वारा (राजन्यः) प्रशस्त राजा (मातुः) वेद माता द्वारा (हेडम्) अनादर को (न, गच्छति) नहीं प्राप्त होता है।

[पितृभ्यः=वृद्ध माता पिता, वनस्थ तथा संन्यस्त मुनियों की सवा द्वारा; पृथिवी, जल, वायु और अन्न आदि की शुद्धि यज्ञों द्वारा तथा वेदवाणी के प्रचार द्वारा करके राजा, वेदवाणीरूपी माता द्वारा अनादर नहीं पाता। वेदमाता="**स्तुता मया वरदा वेदमाता**" (अथर्व० १९.७१.१)। मन्त्र में राजा के कतिपय कर्त्तव्यों का निर्देश किया है। निज कर्त्तव्यों के पालन से राजा वेदमाता द्वारा सत्कार पाता है, अन्यथा वह अनादर पाता है, अर्थात् वेदमाता के भक्तों द्वारा यह निज कर्मानुसार अनादर या सत्कार पाता है]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वशा माता राजन्यस्य तथा संभूतमग्रशः।
तस्या आहुरनर्पणं यद् ब्रह्मभ्यः प्रदीयते॥ ३३ ॥

अर्थ—(वशा) वेदवाणी (राजन्यस्य) राजा की (माता) माता है, (तथा) ऐसा (अग्रशः) पहिले से (संभूतम्) निश्चित हुआ है। (तस्याः) उसके सम्बन्ध में दान को (अनर्पणम्, आहुः) "यह समर्पण नहीं हैं", ऐसा कहते हैं, (यद्) जबकि (ब्रह्मभ्यः) वेदज्ञों को (प्रदीयते) वशा अर्थात् वेदवाणी प्रदान की जाती है।

[समर्पण का अभिप्राय है, उस वस्तु का प्रदान, जिस पर कि दाता का स्वामित्व है। वशा अर्थात् वेदवाणी राजन्य की माता है। माता पर राजन्य का स्वामित्व नहीं। अपितु राजन्य का कर्त्तव्य है माता की सेवा करना। राजन्य की माता का समर्पण तो राजन्य का पिता ही निज जामाता को कर सकता है। वेदमाता का समर्पण करने वाला केवल परमेश्वर है, जोकि वेदमाता का पिता है। इस मन्त्र द्वारा यह दर्शाया है कि राजन्य यदि ब्रह्मवेत्ताओं को वेदवाणी प्रदान करता है तो इस द्वारा वह निज कर्त्तव्य का ही पालन करता है]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यथाज्यं प्रगृहीतमालुम्पेत्स्रुचो अग्नये।
एवा ह ब्रह्मभ्यो वशामग्नय आ वृश्चतेऽददत्॥ ३४ ॥

अर्थ—(यथा) जैसे (अग्नये) अग्नि के लिए (प्रगृहीतम्) ग्रहण किये गये (आज्यम्) घी को (स्रुचः) यज्ञिय चमस से (आलुम्पेत्) कोई छीन ले, तो वह (अग्नये) अग्नि=कर्म के लिए (आ वृश्चते) अपने सम्बन्ध को काट लेता है, (एवा) इसी प्रकार (ह) ही (ब्रह्मभ्यः) ब्रह्मवेत्ताओं के लिए (वशाम्) वेदवाणी को (अददत्) न देता हुआ राजा, [ब्रह्मज्ञों से अपने सम्बन्ध को काट लेता है]।

[अग्नेय=अग्निकर्म कर्त्तुं स्वात्मानमावृश्चते]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पुरोडाशवत्सा सुदुघा लोकेऽस्मा उप तिष्ठति।
सास्मै सर्वान्कामान्वशा प्रददुषे दुहे॥ ३५ ॥

अर्थ—(पुरोडाशवत्सा) पुरोडाशवत्सवाली, (सुदुघा) सुगमता से दुही जाने वाली (वशा) वेदवाणी (लोके) लोक में (अस्मै) इस राजा के लिए (उप तिष्ठति) उपस्थित होती है। वह (अस्मै) इस राजा के लिए, (प्रददुषे) जिसने कि वेदवाणी के प्रचार की स्वतन्त्रता दी है—(सर्वान् कामान्) सब कामनाओं का (दुहे) दोहन करती है।

[सुदुघा गौ, बछड़े के सम्पर्क से, दूध देती है। मन्त्र में पुरोडाश को वशा का बछड़ा कहा है, अर्थात् चावल की पीठी से कछुए के आकार में बनाए गये भटूरे को वत्स कहा है। पुरोडाश=Sacrificial cake। इससे प्रतीत होता है कि मन्त्र में "वशा" पद गोपशु वाचक नहीं। गोपशु का वत्स चार टांगों वाला प्राणी होता है, पुरोडाश नहीं। इसलिए मन्त्र में "वशा" पद वेदवाणी का वाचक है न कि गोपशु का। "लोके" का भी अभिप्राय है—इस लोक में, राजा के राज्य में। जो राजा निजराज्य में वेदप्रचार की स्वीकृति देता है उसके राज्य में सब कामनाएँ सफल हो जाती हैं। वेदवाणीरूपी वशा सब कामनाओं का दोहन करती है, केवल दूध का ही नहीं]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सर्वान्कामान्यमराज्ये वशा प्रददुषे दुहे।
अथाहुर्नारकं लोकं निरुन्धानस्य याचिताम्॥ ३६ ॥

अर्थ—(यमराज्ये) यम-नियमों का पालन कराने वाले नियन्ता राजा के राज्य में वशा अर्थात् वेदवाणी (प्रददुषे) वेदवाणी के प्रचार की स्वतन्त्रता प्रदान करने वाले के लिए (सर्वान् कामान्) सब कामनाओं का (दुहे) दोहन करती है। (अथ) और (याचिताम्) मांगी हुई को (निरुन्धानस्य) रोक देने वाले के लिए (नारकम्, लोकम्) नरक समान लोक (आहुः) कहते हैं।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रवीयमाना चरति क्रुद्धा गोपतये वशा।
वेहतं मा मन्यमानो मृत्योः पाशेषु बध्यताम्॥ ३७ ॥

अर्थ—(प्रवीयमाना) गर्भवती (वशा) वशा (गोपतये) गोपति के लिए (क्रुद्धा) क्रुद्ध हुई सी (चरति) विचरती है। गोपति जोकि (मा) मुझे (वेहतम्) गर्भघातिनी (मन्यमानः) मानता है वह (मृत्योः) मृत्यु के (पाशेषु) फन्दों में (बध्यताम्) बाँधा जाए।

[मन्त्र ३५ के अभिप्राय के आधार पर मन्त्र ३७ की निम्नलिखित व्याख्या प्रतीत होती है—
कविता शैली में वेदवाणी कहती है कि पृथिवीपति मुझ गर्भवती को गर्भघातिनी न समझे। गर्भघातिनी गृहस्थ-जीवन के लिए अनुपयोगी है। इसी प्रकार यदि पृथिवीपति मुझ वेदवाणी को राष्ट्रिय जीवन के लिए अनुपयोगी समझता है तो वह जान ले कि मेरे पेट में जो सत्यनियमों के गर्भ विद्यमान हैं उन से लाभ न लेने पर पृथिवीपति अन्ततोगत्वा मृत्यु का ग्रास बनेगा। राष्ट्र में वेद प्रतिपादित समुन्नति के उपायों का आश्रय न लेने से प्रजा दुःखी होकर पृथिवीपति का विनाश कर देगी]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यो वेहतं मन्यमानोमा च पचते वशाम्।
अप्यस्य पुत्रान्पौत्रांश्च याचयते बृहस्पतिः ॥ ३८ ॥

अर्थ—(यः) जो पृथिवीपति (वेहतं मन्यमानः) मुझे गर्भघातिनी मानकर, (च) और (अमा) अपने घर में (वशाम्) मुझ वेदवाणी को (पचते) सन्तप्त[1] करता है, (अस्य) इस पृथिवीपति की (पुत्रान्, पौत्रान् च) पुत्रों और पौत्रों को (अपि) भी (बृहस्पतिः) बृहती वेदवाणी का पति परमेश्वर (याचयते) भिखारी बना देता है।

[वेदवाणी में प्रदर्शित राष्ट्रोन्नति के उपायों का अवलम्ब न लेने पर, राष्ट्र की अवनति हो जाने से, प्रजाविद्रोह द्वारा राजा पदच्युत कर दिया जाता और सम्पत्ति से रहित कर दिया जाता है। परिणाम में राजा भी भिखारी सा बन जाता है, और उसका परिवार भी। वेहत्=वी (प्रजननम्)+हत् (हन्ति) जो प्रजनन का हनन करे, अर्थात् गर्भघातिनी। वेदवाणी का सन्तप्तहृदया होना कवितामय है]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

म॒हदे॒षाव॑ तपति॒ चर॑न्ती॒ गोषु॒ गौरपि॑।

अथो॑ ह॒ गोप॑तये व॒शाद॑दुषे वि॒षं दु॑हे॥ ३९ ॥

अर्थ—(गोषु) स्तोतृ-याज्ञिकों में (चरन्ती) केवल विचरती हुई (एषा) यह वेदवाणी (महत्) बहुत (अव तपति) सन्तप्तहृदया सी रहती है। (गौः अपि) वाणी होती हुई भी (वशा) वेदवाणी (अददुषे) प्रचार की स्वतन्त्रता जिसने नहीं दी उस (गोपतये) पृथिवीपति के लिए (विषम् दुहे) मानो विषरूपी दूध देती है।

[गौषु; **गौः स्तोतृनाम** (निघं० ३.१६)। **गौः वाङ्नाम** (निघं० १.११)। वशा अर्थात् वेदवाणी का यज्ञों में प्रयोग (३५)। वर्णन कवितामय है]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रि॒यं प॒शूनां॑ भवति॒ यद् ब्र॒ह्मभ्यः॑ प्रदी॒यते॑।

अथो॑ व॒शाया॒स्तत्प्रि॒यं यद्दे॑व॒त्रा ह॒विः स्यात्॥ ४० ॥

अर्थ—(यद्) जो (ब्रह्मभ्यः) ब्रह्मज्ञों के लिए (प्रदीयते) वेदवाणी के प्रचार में स्वतन्त्रता दे दी जाती है तो (पशूनाम्) पशुओं का (प्रियम्) प्रिय अन्न (भवति) पैदा होता है। (अथो) तथा (वशायाः) वेदवाणी का भी (तत्) वह (प्रियम्) अभीष्ट सिद्ध हो जाता है कि (यद्) जो (देवत्रा) देवों को (हविः) हवि (स्यात्) प्राप्त हो।

[ब्रह्मज्ञों को वेदवाणी के प्रचार की स्वतन्त्रता मिलने पर वे यज्ञों द्वारा वर्षा के कारण बनते, और वर्षा द्वारा कृषि की तथा घास चारे की वृद्धि होने से पशुओं की प्रिय वस्तु उन्हें यथेच्छ प्राप्त होती है, और मन्त्र पूर्वक हवि भी देवों को प्राप्त होती रहती है। देव=पृथिवी, जल, वायु, ओषधि आदि (यजुः० १४.२०)]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

या व॒शा उ॒दक॑ल्पयन्दे॒वा य॒ज्ञादु॒देत्य॑।

तासां॑ विलि॒प्त्यं भी॒मामु॒दाकु॑रुत नार॒दः॥ ४१ ॥

१. मानसिक सन्ताप देता है। यमः (३०, ३१)।

अर्थ—(यज्ञात् उदेत्य) यज्ञ से उठकर (देवाः) विद्वानों ने (याः वशाः) जिन वशाओं को (उदकल्पयन्) [विषय विभाग की दृष्टि से] विभक्त किया, (तासाम्) उनमें (भीमाम्) भयप्रद (विलिप्त्यम्) विलिप्ती वशा को (नारदः) नर-नारी समाज के शोधक ने (उदाकुरुत[१]) उत्कृष्ट जाना या माना। या वशाः=बहुवचने[२]; अभी तक वशा का वर्णन एकवचन में हुआ है।

[मन्त्र में यज्ञ का अभिप्राय है "ज्ञानगोष्ठी"[३]। "**उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुः**" (ऋ० १०.७१.५) की व्याख्या में निरुक्तकार ने "**वाक्सख्ये**" तथा "**देवसख्ये**", "**वाग्ज्ञेयेषु बलवत्स्वपि**" आदि शब्दों द्वारा ज्ञानगोष्ठी का निर्देश किया है (निरुक्त १.६.२०)। यह ज्ञानगोष्ठी यज्ञ स्वरूप है। इस गोष्ठी में देवों ने वशाः अर्थात् वेदवाणियों के तीन विभाग किये, और नारद ने "विलिप्त्यम्" विभाग को उत्कृष्ट माना। विलिप्त्यम्=विलिप्ती+अम्। "**इको यणचि**" (अष्टा० ६.१.७७) के अनुसार "यण्" हुआ है। यह छान्दस प्रयोग है=विलिप्तीम्। ऐसे प्रयोग वेदों में प्रायः मिलते हैं। यथा कुमार्यम्=कुमारीम् (अथर्व० १४.१.६३)। नारद है जनशोधक। अतः उसने विलिप्ती मन्त्रों को उत्कृष्ट माना। विलिप्ती का अर्थ है वह वेदवाणी, जो कि राग=द्वेष आदि के लेपों से रहित होने का वर्णन करती है। यह विलिप्तीभावना समाज का संशोधन करती है। मन्त्र में कोई ऐतिहासिक घटना कथित नहीं हुई। अपितु रोचक ढंग से एक तथ्य का वर्णन हुआ है। विलिप्ती प्रदर्शित जीवन-मार्ग अतिकठिन है इसलिए इस विलिप्ती को "भीमा"[४] कहा है]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**बृहतीगर्भानुष्टुप्** ॥

तां देवा अमीमांसन्त वशेया३मवशेति। तामब्रवीन्नारद एषा वशानां वशतमेति॥ ४२ ॥

अर्थ—(ताम्) उस विलिप्ती के सम्बन्ध में (देवाः) विद्वानों ने (अमीमांसत) विचार किया, (इयम्) कि यह (वशा) वशा है या (अवशा इति) वशा नहीं है। (ताम्) उसके सम्बन्ध में (नारदः) समाज-संशोधक ने (अब्रवीत्) कहा कि (एषा) यह विलिप्ती (वशानाम्) वशाओं में (वशतमा इति) सर्वाधिक वशा है।

[वशा=कान्तिमयी या कामना योग्य वेदवाणी। **वश कान्तौ**, तथा **वश्मि कान्तिकर्मा** (निघं० २.६)। नारद कहता है कि "विलिप्ती" वेदवाणी, अन्य वेदवाणियों में सर्वाधिक कान्ति वाली तथा कामना योग्य है, क्योंकि यह नर-नारी समाज का संशोधन करने वाली है]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

कति नु वशा नारद यास्त्वं वेत्थ मनुष्यजाः।
तास्त्वा पृच्छामि विद्वांसं कस्या नाश्नीयादब्राह्मणः॥ ४३ ॥

अर्थ—(नारद) हे नर-नारियों का शोधन करने वाले! (वशाः) "वशा" वेदवाणियाँ (नु कति)

---

१. उदाकुरुत=उत्कृष्ट आकर अर्थात् खनिरूप माना।

२. वशा का बहुवचन "वेदवाणी" रूप में उपपन्न होता है, गोपशु के रूप में नहीं। मन्त्र (४१-४७) तक में वशा के बहुत्व का प्रतिपादन हुआ है।

३. ऐसी ज्ञान गोष्ठियों को परिषद् कहा है। यथा "**पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि**" (निरुक्त १.६.१७)।

४. विलिप्ती-मार्ग को इसलिए "दुर्गपथः" भी कहा है। यथा "**दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति**" (कठ० ३.१४)। यह मार्ग योगियों तथा संन्यासियों का है, सामान्य प्रजा का नहीं।

कितने प्रकार की हैं, (याः) जिन्हें कि (त्वम्, वेत्थ) तू जानता है, जोकि (मनुष्यजाः) मनुष्यों के लिए आविर्भूत हुई हैं?, (ताः) उन वेदवाणियों को (त्वा विद्वांसम्) तुझ ज्ञानी से (पृच्छामि) मैं पूछता हूँ, और यह भी पूछता हूँ कि (कस्याः) किस वेदवाणी का (न अश्नीयात्) न भोग करे, न सेवन करे (अब्राह्मणः) जोकि ब्रह्म और वेद को नहीं जानता।

[अब्राह्मणः=**ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः। तद्भिन्नः**=**अब्राह्मणः**। अश्नीयात्=**अश भोजने**। भुज धातु का प्रयोग मुख द्वारा खाने में ही नहीं होता यथा "**अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा। यथैव ते न गुरोर्भोजनीयास्तथैव तान् न भुनक्ति श्रुतं तत्॥**" (निरुक्त २.१.४) में "भोजनीयाः और भुनक्ति" में मुख द्वारा खाना अर्थ नहीं]।

ऋषिः—**कश्यपः**॥ देवता—**वशा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

विलिप्त्या बृहस्पते या च सूतवशा वशा।
तस्या नाश्नीयादब्राह्मणो य आशंसेत भूत्याम्॥ ४४॥

अर्थ—(बृहस्पते) हे बृहती वेदवाणी के रक्षक! (विलिप्त्या) विलिप्ती वेदवाणी के साथ (या च) और जो (सूतवशा, वशा) सूतवशा और वशा वेदवाणी है (तस्याः) उसका (न अश्नीयात्) सेवन न करे, (यः) जोकि (अब्राह्मणः) ब्रह्म और वेद को नहीं जानता, और जो (भूत्याम्) सांसारिक ऐश्वर्य में जीवन बिताना (आशंसेत) चाहता है।

[आशंसेत=**आङः शासु इच्छायाम्**। भूत्याम्=अथवा भूतिम्। भूति+ड्या+अम् ("**सुपां सुलुक्**" अष्टा० ७.१.३९)। अभिप्राय यह कि जो व्यक्ति सांसारिक भोगों में ही रहना चाहता है और जिसमें ब्रह्मज्ञान और वेदज्ञान की इच्छा नहीं, उसके लिए उक्त तीन प्रकार की वाणियाँ व्यर्थ हैं यथा—"**यस्तं न वेद किमृचा करिष्यति**" (ऋग्वेद), अर्थात् जो ब्रह्म को नहीं जानता उसको ऋचाओं द्वारा क्या लाभ होना है।

विलिप्ती=राग-द्वेष आदि के लेप से रहित होने का उपदेश देने वाली वेदवाणी (योगियों और संन्यासियों के लिए)।

सूतवशा=इन्द्रियों को वशीभूत करके सन्तानोत्पादन का उपदेश देने वाली वेदवाणी (गृहस्थियों के लिए)।

वशा=इन्द्रियों को वशीभूत करके आश्रम-जीवन का उपदेश देने वाली वेदवाणी (ब्रह्मचारियों और वानप्रस्थियों के लिए)।

तथा सांसारिक भोगों को चाहने वालों के लिए वह वेदवाणी जिसमें कि कृषि, वाणिज्य, गोपालन और कला-कौशल आदि का वर्णन हो। मन्त्र में वशा का एक रूप "सूतवशा" भी कहा है। जिसने एक वशा को अर्थात् प्रसूत कर दिया वह "वशा" गौ, वन्ध्या या गर्भघातिनी कैसे कही जा सकती है। अतः वशा का अर्थ गौ नहीं है]।

ऋषिः—**कश्यपः**॥ देवता—**वशा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

नमस्ते अस्तु नारदानुष्ठु विदुषे वशा। कतमासां भीमतमा यामदत्त्वा पराभवेत्॥ ४५॥

अर्थ—(नारद) हे नर-नारियों को शुद्ध करने वाले! (नमस्ते अस्तु) तुझे नमस्कार हो, (अनुष्ठु)

यह अनुरूप स्थिति है कि (वशा) काम्या तथा कान्तिमती वेदवाणी के प्रचार का अधिकार (विदुषे) विद्वान् व्यक्ति के लिए है। (आसाम्) इन वेदवाणियों में (कतमा) कौन सी (भीमतमा) सर्वाधिक जयप्रदा है (याम् अदत्त्वा) जिसे न देकर (पराभवेत्) राजन्य पराभव को प्राप्त करता है।

[राजन्य (३२, ३३) यदि भीमतमा अर्थात् विलिप्ती (४१) वेदवाणी के प्रचार की स्वतन्त्रता विद्वान् ब्रह्मवेत्ता को नहीं देता तो वह प्रजा द्वारा पराभव अर्थात् अपमान को प्राप्त होता है। विलिप्ती वेदवाणी राग-द्वेष आदि के लेप से रहित होने का उपदेश देती है, जिस द्वारा जीवन उत्कृष्ट बनता है। विलेपमार्ग अतिदुर्गम होने से भीमतम है]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

विलिप्ती या बृहस्पतेथो सूतवशा वशा।

तस्या नाश्नीयादब्राह्मणो य आशंसेत भूत्याम्॥ ४६॥

अर्थ—अर्थ देखो (मन्त्र ४४)। (तस्याः नाश्नीयात् अब्राह्मणः) अब्राह्मण उसका भोग न करे। अब्राह्मण=जोकि वेदवेत्ता नहीं।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

त्रीणि वै वशाजातानि विलिप्ती सूतवशा वशा।

ताः प्र यच्छेद् ब्रह्मभ्यः सोनाव्रस्कः प्रजापतौ॥ ४७॥

अर्थ—(वशा जातानि) वशा अर्थात् वाणियों के भेद (वै) निश्चय से (त्रीणि) त्रिविध हैं, (विलिप्ती, सूतवशा वशा) विलिप्ती, सूतवशा, तथा वशा। (ताः) उन्हें राजन्य (ब्रह्मभ्यः) ब्रह्मवेत्ताओं के प्रति (प्रयच्छेत्) सौंप दे, (सः) इससे वह राजन्य (प्रजापतौ) प्रजाओं के पति परमेश्वर की दृष्टि में (अनाव्रस्कः) छिन्न-भिन्न नहीं होता।

[अनाव्रस्कः=अन्+आ+**व्रश्चू छेदने**। व्याख्या (मन्त्र ४४)]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

एतद्वो ब्राह्मणा हविरिति मन्वीत याचितः।

वशां चेदेनं याचेयुर्या भीमाददुषो गृहे॥ ४८॥

अर्थ—(चेत्) यदि (एनम्) इस राजा से (वशाम् याचेयुः) वशा की याचना करे तो (याचितः) प्रार्थित हुआ राजा (इति मन्वीत) यह माने या कहे कि (ब्राह्मणाः) हे ब्रह्मज्ञो और वेदज्ञो! (एतद्) यह वशा (वः) तुम्हारे लिए (हविः) हवि है, (या) जो वशा कि (अददुषः गृहे) न देने वाले के घर अर्थात् अधिकार में रही हुई (भीमा) भयप्रदा होती है। वशा=काम्या वेदवाणी, **वश कान्तौ**।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

देवा वशां पर्यवदन्न नोऽदादिति हीडिताः।

एताभिर्ऋग्भिर्भेदं तस्माद्वै स पराभवत्॥ ४९॥

अर्थ—राजन्य ने (नः) हमें (न अदात्) भीमा वेदवाणी नहीं दी—(इति) इससे (हीडिताः) अनादृत या क्रुद्ध हुए (देवाः) देवों ने (वशाम्) वेदवाणी को (पर्यवदन्) मानो शिकायत की। और

(एताभिः ऋग्भिः) इन ऋचाओं द्वारा देवों ने (भेदम्) भेदनीति का अवलम्ब किया, (तस्मात्) उस भेद से (सः) वह राजन्य (पराभवत्) पराभूत हुआ।

[वशाम्, ऋग्भिः=देवों ने वशा को शिकायत की और ऋचाओं द्वारा भेदनीति अपनाई—इससे भी सूचित होता है कि वशा और ऋचाएँ अभिन्न हैं, एकात्मरूप हैं। नीति चार प्रकार की होती है, साम, दान, दण्ड और भेद। देवों ने भेदनीति को अपना कर राजा और प्रजा में भेद अर्थात् फूट पैदा कर राजन्य का पराभव किया। भेद के लिए देवों ने उन ऋचाओं का आश्रय लिया जिनमें कि भेदनीति का वर्णन है]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

उतैनां भेदो नाददाद्वशामिन्द्रेण याचितः।

तस्मात्तं देवा आगसोवृश्चन्नहमुत्तरे॥ ५०॥

अर्थ—(इन्द्रेण) इन्द्र द्वारा (याचितः) प्रार्थित हुए राजन्य ने (एनाम्, वशाम्) इस काम्या और कान्तिमती वेदवाणी पर अधिकार (न, अददात्) न दिया, (उत) तथा (भेदः) भेदनीति ने भी न दिया, तो (तस्मात् एनसः) उस अपराध के कारण (देवाः) देवों ने (तम्) उस राजन्य को (अहमुत्तरे) युद्ध में (अवृश्चन्) काट डाला।

[भेदनीति से यदि सफलता न मिले तो दण्डनीति को अपना कर सफल होना चाहिए। इन्द्रेण—"**इन्द्रश्च सम्राड्, वरुणश्च राजा**" (यजुः० ८.३७), अर्थात् इन्द्र है सम्राट् और वरुण है राजा अर्थात् माण्डलिक राजा। राजन्य, माण्डलिक-राजा प्रतीत होता है जोकि सम्राट् से नीचे पद का है। जब सम्राट् द्वारा प्रार्थना करने पर भी राजन्य ने वशा का अधिकार ब्रह्मवेत्ताओं को न दिया, और भेदनीति भी असफल हुई तब सम्राट् की स्वीकृति पाकर देवों ने राजन्य को काट डाला। अहमुत्तरे=युद्ध में; जिसमें परस्पर लड़ने वाले दोनों पक्षों के नेता यह भाव रखते हैं कि युद्ध में मैं श्रेष्ठ हूँ, मैं श्रेष्ठ हूँ—इस प्रकार अहमहमिकया युद्ध लड़ते हैं]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ये वशाया अदानाय वदन्ति परिरापिणः।

इन्द्रस्य मन्यवे जाल्मा आ वृश्चन्ते अचित्त्या॥ ५१॥

अर्थ—(ये) जो (परिरापिणः) सर्वत्र स्पष्ट आन्दोलनकारी लोग (वशायाः) वेदवाणी सम्बन्धी अधिकार के (अदानाय) न देने के लिए (वदन्ति) राजन्य को कहते हैं, वे (जाल्माः) जाल फैलाने वाले या जालिम (अचित्त्या) निज अज्ञान के कारण (इन्द्रस्य) सम्राट् के (मन्यवे) क्रोध के लिए (आवृश्चन्ते) सब काटे जाते हैं।

[परिरापिणः=परि (सर्वत्र)+रापिणः (**रप व्यक्तायां वाचि**)]

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ये गोपतिं पराणीयाथाहुर्मा ददा इति।

रुद्रस्यास्तां ते हेतिं परि यन्त्यचित्त्या॥ ५२॥

अर्थ—(ये) जो लोग (गोपतिम्) पृथिवीपति को (पराणीय) परे ले जा कर (अथ) तदनन्तर (इति आहुः) यह कहते हैं कि (मा) न (ददाः) दे, (ते) वे (अचित्त्या) निज अज्ञान के कारण (रुद्रस्य)

सेनापति के (अस्ताम्) चलाए हुए अस्त्र को (परि यन्ति) सब ओर से प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यदि॑ हु॒तां यद्यहु॑ताम॒मा च॒ पच॑ते व॒शाम्।

दे॒वान्त्सब्रा॑ह्मणानृ॒त्वा जि॒ह्मो लो॒कान्निरृ॑च्छति ॥ ५३ ॥

अर्थ—(यदि) यदि वेदवाणी की स्वतन्त्रता (हुताम्) देने का वचन तो दिया, (यदि) परन्तु (अहुताम्) वस्तुतः न दी गई (वशाम्) वेदवाणी को (अमा) घर में (पचते) मानो सन्तप्त करना है, तो वह (जिह्मः) कुटिल पृथिवीपति (सब्राह्मणान् देवान्) ब्रह्मवेत्ताओं समेत देवों को (ऋत्वा) कष्ट पहुँचा कर, (लोकात्) राष्ट्रभूमि से (निः ऋच्छति) निकाला जा कर कष्ट भोगता है। [ऋत्वा; ऋ=To injure, hurt (आप्टे)। निर्+ऋच्छ (गतौ), निर्गत हो जाता है]।

चतुर्थ अनुवाक समाप्त ॥

अनुवाक ५

सूक्त ५

विषय-प्रवेश

सूक्त (अनुवाक) ५ में ७ पर्याय और ७३ मन्त्र हैं। विषय है ब्रह्मगवी। ब्रह्मगवी के दो अर्थ हैं। (१) ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर की गौ अर्थात् वेदवाणी। **गौः वाङ्नाम** (निघं० १.११)। तथा (२) ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर का गोपशु, गोजाति। गौ सर्वश्रेष्ठ पशु है, इसलिए इसे विशेषतया परमेश्वरीय कहा है। १ से ११ मन्त्रों में ब्रह्मगवी अर्थात् वेदवाणी का वर्णन हुआ है। वेदवाणी ब्रह्म द्वारा सृष्ट हुई, ब्रह्म की कृपा से प्राप्त होती, और वेदवाणी के वर्णनों और सांसारिक नियमों में समन्वय है, विरोध नहीं (१)। मन्त्रों के पदों का संगठन ब्रह्मकृत है, और ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मज्ञ, तथा वेदज्ञ व्यक्ति वेदवाणी का अधिपति अर्थात् अधिष्ठाता और रक्षक है (४)। ब्राह्मण वेदवाणी का प्रचार करना चाहता है, परन्तु क्षत्रिय अर्थात् राजा (५, ११) प्रचार का विरोधी है। परिणाम यह होता है कि क्षत्रिय राज्यलक्ष्मी से वञ्चित कर दिया जाता है (६), और नाना प्रकार के कष्ट भोगता है (६-११)।

१२ से ७३ मन्त्रों में ब्रह्मगवी अर्थात् गोपशु जाति का वर्णन हुआ है। इन मन्त्रों में दर्शाया है कि गोजाति का अधिपति ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मज्ञ और वेदज्ञ व्यक्ति, गोजाति की रक्षा के लिए कटिबद्ध है, परन्तु क्षत्रिय अर्थात् राजा, जिसका कि धर्म है "क्षत से परित्राण करना"—वह गोघात तथा गोमांस का पक्षपाती है। इस पर ब्राह्मण और क्षत्रिय राजा में युद्ध हो जाता है, सम्भवतः द्वन्द्व युद्ध। क्षत्रिय मारा जाता है, उसके शव को कुछ काल तक गीध आदि पक्षियों का भोज्य करके शेष बचे को जला दिया जाता है (४७, ४८)। क्षत्रिय राजा के पश्चात् राजपक्ष के लोग पुनः युद्ध करते हैं। इस युद्ध को "छिन्धि", आदि (५१) द्वारा दर्शाया है। राजपक्ष का नेता परास्त होता और उसका सिर काट कर और धड़ कुचल कर जला दिया जाता (६०, ६१)। फिर राजपक्ष का एक और नेता युद्ध के लिए तैयार हुआ और "वृश्च" आदि (६२) द्वारा पुनः युद्ध प्रारम्भ होता है। अन्त में यह भी परास्त होता और जला दिया जाता है (६३)।

उपर्युक्त वर्णन ऐतिहासिक वृत्त नहीं है। मन्त्रों का अभिप्राय इतने मात्र में है कि गो जाति की रक्षा

के लिए युद्ध भी करने पड़ें तो इसके लिए भी तैयार हो जाना चाहिए, और गोघातियों को उग्र दण्ड देने चाहिएँ।

मन्त्र १ से ३ में **सृष्टा, वित्ता, श्रिता, आवृता, प्रावृता, परीवृता परिहिता, पर्यूढा, गुप्ता** तथा **प्रतिष्ठिता**—इन पदों को, विसर्गान्त बहुवचन पद मान कर, महर्षि दयानन्द ने व्याख्यात किया है (ऋ० भा० भूमिका वेदोक्तधर्म विषय)। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि पदपाठ में "प्रतिष्ठिता" पद को विसर्गान्त पढ़ा है, यथा "प्रति स्थिता;" अतः सृष्टा आदि पदों को भी महर्षि ने विसर्गान्त बहुवचनान्त माना है। "**बहुलं छन्दसि**" द्वारा अन्य पदों में विसर्गों का लोप सम्भव है।

सूक्त ५, पर्याय १

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**प्राजापत्यानुष्टुप्** ॥

श्रमेण तपसा सृष्टा ब्रह्मणा वित्तर्ते श्रिता ॥ १ ॥

अर्थ—[ब्रह्मगवी अर्थात् वेदवाणी] (श्रमेण) श्रम द्वारा तथा (तपसा) तप द्वारा (सृष्टा) प्रकट की गई है, (ब्रह्मणा) ब्रह्म के अनुग्रह से (वित्ता) प्राप्त हुई, (ऋते) यथार्थ नियमों पर (श्रिता) आश्रित है।

[मन्त्र ५ में ब्रह्मगवी पद पठित है। उसी का वर्णन इस मन्त्र में किया गया है। ब्रह्म का अर्थ है सर्वोपरि शक्ति परमेश्वर, और गो का अर्थ है वाणी, यथा **गौः वाङ्नाम** (निघं० १.११)। अतः ब्रह्मगवी का अर्थ है "ब्रह्म की गौ" अर्थात् वेदवाणी। वेदवाणी ब्रह्म द्वारा प्रकट हुई है, देखो (ऋ० १०.७१.१, ३)। वेदवाणी ब्रह्म के श्रम तथा तप द्वारा सृष्ट हुई है। ब्रह्म का श्रम है मानसिक श्रम अर्थात् कामना, यथा "**सोऽकामयत**" (बृहदा० उप० १.२.४)। प्रलयावस्था में ब्रह्म निष्काम होता है। सर्जनावस्था में उसमें सृष्टि के सर्जन की कामना होती है। ब्रह्म के लिए यह कामना ही श्रमरूप है। तपः के सम्बन्ध में कहा है कि "**यस्य ज्ञानमयं तपः**" अर्थात् ब्रह्म का तपः है ज्ञानमय अर्थात् ज्ञान, सृष्टि किस प्रकार करनी है, एतद्विषयक ज्ञान। प्रथम कामना पैदा हुई कि मैं सृष्टि का सर्जन करूँ, तत्पश्चात् आलोचन हुआ, ज्ञान प्रकट हुआ कि इस विधि से मैं सृष्टि का सर्जन करूँ। प्राकृतिक सृष्टि की रचना के पश्चात् मनुष्य के काल में ब्रह्मगवी अर्थात् वेदवाणी की सृष्टि हुई ऋषियों के माध्यम से (ऋ० १०.७१.३)। वेदवाणी को ब्रह्मगवी कह कर यह सूचित किया है कि वेदवाणी ब्रह्म की वाणी है, मनुष्य की नहीं।

ब्रह्मणा वित्ता=वेदवाणी तपश्चर्या और पुण्यकर्मों के प्रभाव से ब्रह्म की प्रसन्नता तथा अनुग्रह द्वारा ऋषियों को प्राप्त हुई है।

ऋते श्रिता=सत्य है ज्ञानरूप; और ऋत है नियमरूप। सृष्टि परमेश्वरीय नियमों तथा व्यवस्था पूर्वक रची गई और चल रही है। वेदवाणी में इन नियमों तथा व्यवस्था का वर्णन है। इन्हीं नियमों तथा व्यवस्था के प्रतिपादन के लिए वेदवाणी की रचना की गई है। अतः वैदिक वर्णनों और सृष्टि के नियमों में परस्पर विरोध नहीं, अपितु ये दोनों परस्पर के यथार्थ स्वरूपों के जानने में सहायक हैं]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**भुरिक् साम्न्यनुष्टुप्** ॥

सत्येनावृता श्रिया प्रावृता यशसा परीवृता ॥ २ ॥

अर्थ—(सत्येन) सत्यज्ञान से (आवृता) आच्छादित, (श्रिया) सम्पत् से (प्रावृता) प्रकर्षरूप में ढकी हुई, तथा (यशसा) यश अर्थात् कीर्त्ति से (परीवृता) सब प्रकार से घिरी हुई ब्रह्मगवी अर्थात्

वेदवाणी है।

[आवृता, प्रावृता, परीवृता—तीनों पद लगभग समानार्थक हैं। अभिप्राय यह कि जो राष्ट्र वैदिक सत्यज्ञान के अनुसार चलेगा, उस राष्ट्र की समृद्धि होगी, और उसका यश होगा]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**चतुष्पदा स्वराडुष्णिक्** ॥

स्वधया परिहिता श्रद्धया पर्यूढा दीक्षया गुप्ता यज्ञे प्रतिष्ठिता लोको निधनम्॥ ३॥

अर्थ—(स्वधया) निज धारण तथा पोषण शक्ति से (परिहिता) सबके लिए हितकारिणी, (श्रद्धया) श्रद्धावृत्ति द्वारा (पर्यूढा) पूर्णतया धारण की गई, (दीक्षया) वैदिकधर्म में दीक्षा के द्वारा (गुप्ता) सुरक्षित हुई, (यज्ञे) यज्ञियकर्मों में (प्रतिष्ठिता) प्रतिष्ठित हुई ब्रह्मगवी है। (लोकः) इहलोक, परलोक तथा ब्रह्मलोक के ज्ञान-प्रदान में (निधनम्) ब्रह्मगवी अर्थात् ब्रह्मप्रोक्त वेदवाणी का पर्यवसान है।

[स्वधा=स्व+धा (धारणपोषणयोः), अर्थात् वेदवाणी में जो धारण और पोषण करने की निज स्वाभाविक शक्ति है, उस द्वारा वह सबके लिए हितकारिणी है।

पर्यूढा=परि+ऊढा (Borne, आप्टे)। प्रतिष्ठिता=पद पाठ में "प्रति, स्थिताः" ऐसा बहुवचनान्त पाठ है। सम्भवतः इस बहुवचनान्त की दृष्टि से ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (वेदोक्तधर्म-विषय) में महर्षि दयानन्द ने मन्त्र १-३ में सर्वत्र बहुवचनान्त पद माने हों। निधनम्=सामगान में उपद्रव, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार, तथा निधन, ये ५ रूप माने हैं। निधन का अर्थ है सामगान का पर्यवसान अर्थात् समाप्ति]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**आसुर्यनुष्टुप्** ॥

ब्रह्म पदवायं ब्राह्मणोऽधिपतिः ॥ ४॥

अर्थ—(ब्रह्म) परमेश्वर (पदवायम्) वेदवाणी में पदों का सन्तान अर्थात् फैलाव करता है, और (ब्राह्मणः) ब्रह्मज्ञ[1] तथा वेदज्ञ व्यक्ति (अधिपतिः) वेदवाणी का अधिष्ठाता तथा रक्षक होता है।

[पदवायम्=पदानि वयति संतनोति, इति पदवायम्। "ब्रह्म" पद की दृष्टि से नपुंसकलिङ्ग में "पदवायम्" प्रयुक्त हुआ है। मन्त्रों में पदों का सन्तान परमेश्वर ने किया है। यथा="**पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि**" (निरु० १.६.७)। ऋ० १०.७१.३ में "**पदवीयम् आयन्**" पाठ के साथ पदवायम् की तुलना। पदवायम् का विग्रह "तन्तुवाय" पद के सदृश है। इस सूक्त में ब्रह्मगवी का अर्थ है "ब्रह्म की वाणी", न कि ब्राह्मण का गौ। ब्राह्मण[2] ब्रह्मगवी का रक्षक है]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**५ साम्नी पङ्क्तिः, ६ साम्न्युष्णिक्** ॥

तामाददानस्य ब्रह्मगवीं जिनतो ब्राह्मणं क्षत्रियस्य॥ ५॥

अप क्रामति सूनृता वीर्यं पुण्या लक्ष्मीः॥ ६॥

अर्थ—(ताम् ब्रह्मगवीम्) ब्रह्म की उस वाणी का (आददानस्य) अपहरण करने वाले, [इस प्रकार] (ब्राह्मणम्) ब्रह्मवेत्ता तथा वेदवेत्ता व्यक्ति को (जिनतः) जीवन की हानि पहुँचाने वाले (क्षत्रियस्य) क्षत्रिय का (सूनृता) उषःकाल, (वीर्यम्) वीरता, और (पुण्या लक्ष्मीः) पुण्यकर्मों द्वारा उपार्जित राज्यलक्ष्मी

१. ब्रह्म=परमेश्वर तथा वेद। "**ब्रह्म=ईश्वरो, वेदः, तत्त्वम्, तपो वा**" (उणा० ४.१४७; महर्षि दयानन्द)।

२. यथा "**विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि**" (निरु० २.१.४), अर्थात् वेदविद्या ब्राह्मण की शरण में आई कि तू मेरी रक्षा कर, मैं तेरा सुखों का खजाना हूँ। ब्राह्मण का अभिप्राय है ब्रह्मज्ञ और वेदज्ञ व्यक्ति।

(अप क्रामति) अपक्रान्त हो जाती है, उससे छीन ली जाती है।

[आददानस्य=अपहर्तुः। यथा—"**आदित्यः कस्मात् आदत्ते भासं ज्योतिषाम्**" (निरु० २.४.१३)। **प्रातरुदयन्नादित्यः ज्योतिषां नक्षत्राणां भासं दीप्तिमादत्ते, अपहरति**। क्षत्रियस्य—प्रजाओं का क्षतों से त्राण करने वाले राजा का। सूनृता=**उषोनाम** (निघं० १.८)। क्षत्रिय के राज्य का प्रारम्भ काल। यदि राजा अपने राज्यकाल के प्रारम्भ काल में ब्राह्मण की वेदवाणी पर प्रतिबन्ध लगा देता है तो प्रजाविद्रोह के कारण उसके राज्य के उषःकाल में ही उससे राज्यलक्ष्मी अपक्रान्त हो जाती है। वेदवाणी वेदवेत्ता के लिए जीवनीय साधन होती है। अतः वेदवाणी का अपहरण वेदवेत्ता के जीवन को हानि पहुँचाना है]।

सूक्त ५, पर्याय २

ऋषिः—**कश्यपः**॥ देवता—**ब्रह्मगवी**॥ छन्दः—**७ साम्नीत्रिष्टुप्, ८ भुरिगार्च्यनुष्टुप्, ९ आर्च्यनुष्टुप्, १० उष्णिक्, ११ आर्ची निचृत्पङ्क्तिः**॥

ओजश्च तेजश्च सहश्च बलं च वाक्चेन्द्रियं च श्रीश्च धर्मश्च॥ ७॥

ब्रह्म च क्षत्रं च राष्ट्रं च विशश्च त्विषिश्च यशश्च वर्चश्च द्रविणं च॥ ८॥

आयुश्च रूपं च नाम च कीर्तिश्च प्राणश्चापानश्च चक्षुश्च श्रोत्रं च॥ ९॥

पयश्च रसश्चान्नं चान्नाद्यं चर्तं च सत्यं चेष्टं च पूर्तं च प्रजा च पशवश्च॥ १०॥

तानि सर्वाण्यप क्रामन्ति ब्रह्मगवीमाददानस्य जिनतो ब्राह्मणं क्षत्रियस्य॥ ११॥

अर्थ—पराक्रम और तेज, पराभव शक्ति और सैनिक बल, वक्तृत्वशक्ति और अन्य इन्द्रियाँ, सम्पत्ति और धर्मकृत्य॥ ७॥

वैदिक ज्ञान और क्षतों से त्राण करने की शक्ति, राज्य और प्रजाएँ दीप्ति और यश, प्रभाव और धन॥ ८॥

आयु और रूप, नाम और कीर्ति, प्राण और अपान, दृष्टिशक्ति और श्रवणशक्ति॥ ९॥

दूध तथा अन्य रस, अन्न और अन्न का खाना, जीवन के नियम और सत्य, यज्ञ और परोपकार, प्रजा अर्थात् सन्तानें और निज के पशु॥ १०॥

वे सब अपक्रान्त हो जाते हैं, अर्थात् इन सबसे वञ्चित कर दिया जाता है, जो क्षत्रिय अर्थात् राजा, ब्रह्मवेत्ता अर्थात् वेदवेत्ता की ब्रह्मप्रोक्त वेदवाणी का अपहरण करता, और इस द्वारा ब्रह्मवेत्ता के जीवन को हानि पहुँचाता है॥ ११॥

[१ से ११ तक मन्त्रों का सार यह है कि वेदवाणी ब्रह्मप्रोक्त है, और ब्रह्म के अनुग्रह द्वारा परिश्रमी और तपस्वी व्यक्ति को प्राप्त होती है, वैदिक ज्ञान और प्राकृतिक नियमों में परस्पर विरोध नहीं। वेदविद्या समृद्धिकारिणी है, इसमें इहलोक, परलोक तथा ब्रह्मलोक का वर्णन है। वैदिक पदों द्वारा मन्त्रों की रचना ब्रह्म ने की है, और ब्राह्मण वेदवाणी का रक्षक है। जो क्षत्रिय (राजा) वेदवाणी के प्रसार तथा प्रचार में प्रतिबन्ध उपस्थित करता है वह पदच्युत हो कर, राज्यलक्ष्मी से वञ्चित हुआ, नानाविध कष्ट भोगता है]।

सूक्त ५, पर्याय ३

ऋषिः—**कश्यपः**॥ देवता—**ब्रह्मगवी**॥ छन्दः—**विराड् विषमा गायत्री**॥

सैषा भीमा ब्रह्मगव्य१घविषा साक्षात्कृत्या कूल्बजमावृता॥ १२॥

अर्थ—(सा एषा) वह यह (ब्रह्मगवी) ब्रह्म की गौ (भीमा) भयानक है; (अघविषा) हत्यारा विष है, (साक्षात् कृत्या) वस्तुतः काट देने वाली शक्ति है; (आवृता[१]) प्रतिबद्ध हुई, (कूल्बजम्) नदी के कूलों अर्थात् किनारों में प्रतिबद्ध वेगवान् जलप्रवाह के सदृश है।

[ब्रह्मगवी=ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर की गौ। गौ महोपकारी प्राणी है, दूध, घृत, नवनीत, दधि, छाछ, पनीर आदि प्रदान करती, बैलों को जन्म देकर कृषिकर्म, भारोद्वहन, कार्य तथा बैल गाड़ी द्वारा यातायात और उत्तम खाद देने में सहायिका है। इसलिए ब्रह्म की रचना में श्रेष्ठ प्राणी है। मन्त्र १२ से गोरक्षान्दोलन का प्रारम्भ होता है। जो क्षत्रिय (राजा) अपने राज्य में गोरक्षा न कर, गौओं के नानाविध कष्टों में कारण बनता है, उसके लिए गौ विषरूपा, घातक तथा नदी के कूलों को काट देने वाले जल प्रवाह के सदृश हो जाती है। यद्यपि गोपशु स्वयं इन कृत्यों के करने में अशक्त है, तथापि वह प्रेरिका बन जाती है गोरक्षा के आन्दोलन कर्त्ताओं के इन कृत्यों के करने में। मन्त्रों में गो शब्द एकवचनान्त गो जातिपरक है।

कूल्बजम् आवृता=कूल+वजम् (वज गतौ), कूलों द्वारा आवृत हुई नदी के वेगवान् जल प्रवाह के सदृश। मन्त्र १३ और उससे आगे भी, गौ के जिन-जिन कृत्यों का वर्णन हुआ है, वे गोरक्षान्दोलकों द्वारा किये जाने वाले कृत्य समझने चाहिएँ। अघम् "**हन्तेर्निर्ह्रसितोपसर्गः, आहन्तीति**" (निरु० ६.३.११)]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**आसुर्यनुष्टुप्**॥

सर्वाण्यस्यां घोराणि सर्वे च मृत्यवः॥ १३॥

अर्थ—(अस्याम्) इस गौ अर्थात् गोजाति में (सर्वाणि घोराणि, सर्वे च मृत्यवः) सब प्रकार के घोरकर्म तथा सब प्रकार की मृत्यएँ वास करती हैं।

[घोराणि=**हन्तीति घोरम्। हन्तेरच् घुर च** (उणा० ५.६४) सब प्रकार के घोरकर्म तथा सब प्रकार की मृत्युएँ गोहत्यारे राजवर्ग के लिए गोरक्षा सम्बन्धी आन्दोलन कत्ताओं द्वारा सम्भावित हैं]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**साम्न्युष्णिक्** ॥

सर्वाण्यस्यां क्रूराणि सर्वे पुरुषवधाः॥ १४॥

अर्थ—(अस्याम्) इस गौ अर्थात् गोजाति में (सर्वाणि क्रूराणि) सब प्रकार के क्रूरकर्म और (सर्वे पुरुषवधाः) सब प्रकार के [राज] पुरुषों के वध के साधन वास करते हैं।

[क्रूराणि=**कृन्तति छिनत्ति, इति क्रूरः** (उणा० २.२१), काटने के साधन]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

सा ब्रह्मज्यं देवपीयुं ब्रह्मगव्यादीयमाना मृत्योः पड्बीश आ द्यति॥ १५॥

अर्थ—(सा ब्रह्मगवी) ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर की वह गौ अर्थात् गोजाति (आदीयमाना) हिंसित की जाती हुई, (ब्रह्मज्यम्) गो जाति के अधिपति ब्राह्मण को हानि पहुँचाने वाले, (देवपीयुम्) देवकोटि के ब्राह्मण के हिंसक [क्षत्रिय राजा] का (मृत्योः पड्वीशे) मृत्यु की बेड़ी में (आ द्यति) पूर्णतया विनाश कर देती है।

[ब्रह्मज्यम्=ब्रह्म (ब्राह्मण)+**ज्या वयोहानौ**। पीयुम्=**पीयतिर्हिंसाकर्मा** (निरु० ४.४.२५)। ब्रह्मगवी=परमेश्वर की गोजाति। आदीयमाना=आ+दीङ् (क्षये)+यक्, मुक्, शानच्। पड्वीशे=पदि विशति,

१. आवृता, कूल, बज (वज गतौ), इनके साहचर्य द्वारा निर्दिष्ट अर्थ सूचित होता है।

पैरों में डाला गया "पादबन्धन", बेड़ी। ब्रह्मज्यम्=ब्राह्मण, गोरक्षान्दोलन का नेता है। यह ब्रह्मज्ञ तथा वेदज्ञ है, निःस्वार्थी तथा परोपकारी है, अतः नेता बनने का अधिकारी है। इन गुणों वाले व्यक्ति ही आन्दोलन आदि के नेता होने चाहिएँ। मन्त्रों में वर्णित ब्राह्मण पद जन्मजात का सूचक नहीं इसलिए मन्त्र में ब्राह्मणपद नहीं दिया, अपितु "ब्रह्म" पद दिया है, जो ब्रह्म और वेद का सूचक है] आ द्यति=**दो अवखण्डने** (दिवादि)।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**प्राजापत्यानुष्टुप्** ॥

मेनिः शतवधा हि सा ब्रह्मज्यस्य क्षितिर्हि सा ॥ १६ ॥

अर्थ—(सा) वह गौ अर्थात् गो जाति (शतवधा मेनिः) सौ का वध करने वाला वज्र है, (सा) वह (हि) निश्चय से (ब्रह्मज्यस्य) ब्रह्मज्ञ और वेदज्ञ ब्राह्मण को हानि पहुँचाने वाले का (क्षितिः) विनाश रूप है।

[मेनिः=**मी हिंसायाम्**। क्षितिः=**क्षि क्षये**]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**प्राजापत्यानुष्टुप्** ॥

तस्माद्वै ब्राह्मणानां गौर्दुराधर्षा विजानता ॥ १७ ॥

अर्थ—(तस्माद् वै) इस कारण निश्चय से (विजानता) विज्ञानी द्वारा (ब्राह्मणानाम्) ब्रह्मवेत्ता तथा वेदवेत्ता ब्राह्मणों की (गौः) अर्थात् गो जाति का (दुराधर्षा) धर्षण करनी कठिन है।

[ब्राह्मणानाम् में बहुवचन, और गौ में एक वचन, गो जाति को सूचित करते हैं। बहुवचन द्वारा यह दर्शाया है कि एक के पश्चात् दूसरा ऐसे अनेक ब्राह्मण, गोरक्षान्दोलन में नेतृत्व के लिए कटिबद्ध हैं]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**याजुषी जगती** ॥

वज्रो धावन्ती वैश्वानर उद्वीता ॥ १८ ॥

अर्थ—(धावन्ती) भय के कारण दौड़ती हुई (वज्रः) वज्ररूप है। (उद्वीता) उठती हुई (वैश्वानरः) वैश्वानर अग्निरूप है।

[धावन्ती में "**धावु गतौ**", और वज्र में "**वज गतौ**"। दोनों में गत्यर्थ समान होने से भय द्वारा धावन्ती गौ अर्थात् गो जाति को वज्र कहा है। उद्वीता अर्थात् उठ कर चलती फिरती गौ वैश्वानर अर्थात् सब नर-नारियों का हित करने वाली है, परन्तु भय के कारण उठी हुई गौ अग्नि रूप है। वैश्वानरः= वैश्वानर=अग्निः]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**प्राजापत्यानुष्टुप्** ॥

हेतिः शफानुत्खिदन्ती महादेवो३ऽपेक्षमाणा ॥ १९ ॥

अर्थ—(शफान् उत्खिदन्ती) खेद में खुरों को उठा-उठा कर पटकती हुई (हेतिः) अस्त्र या वज्र है। (अपेक्षमाणा) अपेक्षा करती हुई (महादेवः) महादेव है।

[हेतिः=**हि गतौ**, या "**हेतिर्हन्तेः**" (निरु० ६.१.३)। **हेतिर्वज्रनाम** (निघं० २.२०)। उत्खिदन्ती= उत्+खिद् (खेदे)। महादेवः=महान् देवाधिदेव ब्रह्म। जैसे सृष्टि रचनार्थ, ईक्षण करता हुआ ब्रह्म ("**स ऐक्षत**", ऐतरेय २.३; ३.१) **ईक्षतेर्नाशब्दम्** (वेदान्त १.१.५) प्रकृति तथा जीवात्माओं के कर्मों की अपेक्षा करता है और उसे ये दोनों सहायक कारण, प्राप्त हो जाते हैं, वैसे ही खेद में सहायता की अपेक्षा

करने वाली गो जाति को ब्राह्मण नेता सहायक रूप, प्राप्त हो जाते हैं]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**प्राजापत्यानुष्टुप्** ॥

क्षुरपविरीक्षमाणा वाश्यमानाभि स्फूर्जति ॥ २० ॥

अर्थ—(ईक्षमाणा) [घातक की ओर] दृष्टि करती हुई (क्षुरपविः) मानो छुरावज्र है, (वाश्यमाना) लड़ाई का सा शब्द करती हुई (अभि स्फूर्जति) मानो प्रत्यक्षरूप में बिजुली कड़कती है।

[वाशृ=How], cry, roar, Scream (आप्टे)। **पविः वज्रनाम** (निघं० २.२०)।

घातक को देखती हुई, और उससे अपने आप को छुड़ाती हुई गौ को देखकर, गोरक्षक घातक के लिए क्षुरपवि और विद्युत्पात रूप हो जाते हैं, यह अभिप्राय प्रतीत होता है]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**साम्न्यनुष्टुप्** ॥

मृत्युर्हिङ्कृण्वत्यु१ग्रो देवः पुच्छं पर्यस्यन्ती ॥ २१ ॥

अर्थ—(हिंकृण्वती) हिङ्कार अर्थात् धीमा "हिं" शब्द करती हुई गौ [घातक के लिए] (मृत्युः) मृत्युरूप है। (पुच्छम्) पूंछ को (पर्यस्यन्ती) सब ओर पटकती हुई (उग्रः देवः) उग्र देव अर्थात् रुद्ररूप है।

[हिङ्कार="हिं" ऐसा धीमा शब्द करना। अति निर्बलता के कारण शब्दोच्चारण धीमा पड़ जाता है। घातक द्वारा चोट खाई हुई गौ की निर्बलावस्था को उसके "हिं" शब्द द्वारा सूचित किया है, जो कि मरणासन्न गौ का है। ऐसी अवस्था देख कर गोरक्षक भी घातक के लिए मृत्युरूप हो जाते हैं। मच्छरों और मक्खियों से तंग हुई गौ पूंछ को इधर-उधर पटकती रहती है। यह दोष राजवर्ग का है जो कि गौओं के स्वच्छ और सुखप्रद गोशालाओं का प्रबन्ध नहीं करते। गौओं के इस कष्ट को अनुभव कर गोरक्षक राजवर्ग के प्रति उग्ररूप होकर रोष प्रकट करते हैं। गौ में सामर्थ्य न तो मृत्युरूप होने का है, और न उग्रदेव अर्थात् रुद्ररूप होने का]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**साम्नी बृहती** ॥

सर्वज्यानिः कर्णौ वरीवर्जयन्ती राजयक्ष्मो मेहन्ती ॥ २२ ॥

अर्थ—(कर्णौ) कानों को (वरीवर्जयन्ती) बार-बार वर्जित सी करती हुई (सर्वज्यानिः) सर्ववयोहानिरूप है, और (मेहन्ती) और बार-बार मूत्र करती हुई (राजयक्ष्मः) तपेदिकरूप है।

[बार-बार वर्जित करना अर्थात् बार-बार फरफराना, इस द्वारा गौ कर्ण पीड़ा आदि को सम्भवतः सूचित करती है। और मेहन्ती पद द्वारा सम्भवतः प्रमेहरोग अभिप्रेत प्रतीत होता है। प्रमेह में वृक्कों (Kidney) और मूत्राशय (Urinary Bladder) की विकृति हो जाती है। सम्भवतः इस विकृति को मन्त्र में यक्ष्म कहा हो। यक्ष्मरोग शरीर के प्रत्येक अङ्ग को हो सकता है। इसलिए यक्ष्म के सम्बन्ध में कहा है कि "**अङ्गे अङ्गे लोम्नि लोम्नि यस्ते पर्वणि पर्वणि यक्ष्मं त्वचस्यम्**" आदि (अथर्व० २.३३.७)। यक्ष्म के स्वरूप के परिज्ञान के लिए समग्र २.३३.१-७ मन्त्र द्रष्टव्य हैं। कर्ण और प्रमेह शब्दों द्वारा गौ की रुग्णावस्था को सूचित किया है, ताकि गोरक्षक गौ के रोगों की चिकित्सा कर सकें। गौएँ यक्ष्मरोग द्वारा आक्रान्त हो जाती हैं, इसे पशु-चिकित्सक जानते हैं]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**याजुषी त्रिष्टुप्** ॥

मेनिर्दुह्यमाना शीर्षक्तिर्दुग्धा ॥ २३ ॥

अर्थ—(दुह्यमाना) दोही जाती हुई, तथा (दुग्धा) दोही गई (मेनिः, शीर्षक्तिः) हिंसक वज्ररूप तथा शिरोरोग रूप है।

[मन्त्र २३ का सम्बन्ध मन्त्र २२ के वर्णन के साथ समझना चाहिए। मन्त्र २२ में गौ को कर्णरुग्णा तथा प्रमेहरुग्णा दर्शाया है। ऐसी गौ का दूध "हिंसकवज्ररूप" तथा सिर के रोगों को पैदा करता है। अतः ऐसी गौ का दूध त्याज्य है]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**आसुरी गायत्री** ॥

सेदिरुपतिष्ठन्ती मिथोयोधः परामृष्टा ॥ २४ ॥

अर्थ—[ऐसी रुग्णा गौ] (उप तिष्ठन्ती) अन्य गौओं के स्थान में उपस्थित रहती हुई (सेदिः) अन्य गौओं की विनाशिका और उनमें अवसाद पैदा करती है, (परामृष्टा) और छुई गई (मिथोयोधः) साथिन गौओं पर रोग का संप्रहार करती है।

[सेदिः=**षद्लृ विशरणे; अवसादे**। विशरणः=Killing; अवसादः=Sinking, fainting (आप्टे)। अतः रुग्णा गौओं को स्वस्थ गौओं से पृथक् रखना चाहिए। मिथः=मिथ्=To associate with, to unite (आप्टे)। योधः=**युध सम्प्रहारे**]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**साम्न्यनुष्टुप्** ॥

शरव्या३ मुखेऽपिनह्यमान ऋतिर्हन्यमाना ॥ २५ ॥

अर्थ—(मुखे, अपिनह्यमाने) मुख के बाँधे जाते हुए (शरव्या) गौ शरों के समान होती है, (हन्यमाना) वध की जाती हुई (ऋतिः) कष्टरूपा है।

[गौ चाहे रुग्ण भी हो तब भी इसे कष्ट न पहुँचाना चाहिए, न इसका वध करना चाहिए—यह मन्त्र में प्रतिपादित किया है। वध के लिए गौ के मुख को बाँध रखना, ताकि वह आक्रन्दन न कर सके, और मुख बाँधने के पश्चात् हनन करना, इनका निषेध किया है। इन दो कृत्यों के करने वाले को भी, गोरक्षक लोग, शरों द्वारा विनष्ट करते, और विविध प्रकार के कष्ट देते हैं]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**साम्न्युष्णिक्** ॥

अघविषा निपतन्ती तमो निपतिता ॥ २६ ॥

अर्थ—(निपतन्ती) वध के पश्चात् गिरती हुई गौ (अघविषा) हत्यारा विष रूप है, और (निपतिता) गिर गई (तमः) अन्धकार रूप है।

[गौ हत्यारे को, गोरक्षक लोग, हत्यारे-विष द्वारा मार डालें, और उसे अन्धेरी कोठरी में बन्द रखें—ऐसा विधान मन्त्र में है। जब तक हत्यारे के वध का प्रबन्ध नहीं होता तब तक गो हत्यारे को अन्धेरी कोठरी में बन्द रखना चाहिए]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**आर्च्युष्णिक्** ॥

अनुगच्छन्ती प्राणानुप दासयति ब्रह्मगवी ब्रह्मज्यस्य ॥ २७ ॥

अर्थ—(ब्रह्मगवी) ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर की गौ या गोजाति (ब्रह्मज्यस्य) ब्राह्मण को हानि पहुँचाने

वाले मृत क्षत्रिय का (अनुगच्छन्ती) अनुगमन करती हुई, पीछा करती हुई, (प्राणान्) प्राणों को (उप दासयति) विनष्ट करती है।

[मन्त्र २६ के अनुसार घातक क्षत्रिय (राजा) को तो मार दिया गया। गौ भी मारी गई। मन्त्र का अभिप्राय यह है मृत गौ, मृत हत्यारे क्षत्रिय का पीछा करती है, और पुन: जन्म लिए हत्यारे के प्राणों को नष्ट कर देती है। कर्म गति के अनुसार यह सम्भव है कि मृत गौ, ऐसे मनुष्य या प्राणी के रूप में पुन: पैदा हो जोकि नए शरीर में प्राप्त हत्यारे के प्राणों का हरण कर ले]।

सूक्त ५, पर्याय ४

ऋषि:—**कश्यप:** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्द:—**आसुरी गायत्री** ॥

वैरं विकृत्यमाना पौत्राद्यं विभाज्यमाना ॥ २८ ॥

अर्थ—(विकृत्यमाना) विविधाङ्गों में काटी जाती हुई (वैरम्) परस्पर में वैर उत्पन्न करती, (विभाज्यमाना) और बाँटी जाती हुई (पौत्राद्यम्) घातक के पौत्रों तक को खाने वाली होती है।

[गौ या गौओं को काटने और उसके माँस को बाँटने पर, घातक के कुल और रक्षकों में वैर पैदा हो जाता, और इस वैर का दुष्परिणाम घातक के पौत्रों तक को भोगना पड़ता है। यह वैर कहाँ तक चलता है, यह गोरक्षकों की गौ के प्रति उग्र श्रद्धा पर निर्भर है]।

ऋषि:—**कश्यप:** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्द:—**आसुर्यनुष्टुप्** ॥

देवहेतिर्ह्रियमाणा व्यृद्धिर्हृता ॥ २९ ॥

अर्थ—[बाँटने के पश्चात्] (ह्रियमाणा) ली जाती हुई (देव हेति:) देवों का अस्त्र है, (हृता) ली गई (व्यृद्धि:) ऋद्धि का अभाव रूप है।

[अभिप्राय यह कि गौमांस लिए जाने पर यदि राष्ट्र के विद्वानों या दिव्य कोटि के लोगों को इस बात का पता लग जाए तो वे भी प्रहार करने पर उद्यत हो जाते हैं, और गौओं के कम हो जाने पर दूध आदि के अभाव तथा कृषिकर्म में कठिनाई के कारण राष्ट्र की ऋद्धि क्षीण होती जाती है]।

ऋषि:—**कश्यप:** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्द:—**साम्न्यनुष्टुप्** ॥

पाप्माधिधीयमाना पारुष्यमवधीयमाना ॥ ३० ॥

अर्थ—(अधिधीयमाना) ऊँचाई पर रखी जाती हुई (पाप्मा) पापरूप है, और तदनन्तर उतार कर (अवधीयमाना) नीचे रखी जाती हुई (पारुष्यम्) कठोरता है।

[सुरक्षा के लिए गोमांस ऊँचे स्थान पर रखना, पापवृत्ति को प्रकट करता, तथा पकाने के लिए पुन: उसे उतारना हृदय की कठोरता को प्रकट करता है]।

ऋषि:—**कश्यप:** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्द:—**याजुषी त्रिष्टुप्** ॥

विषं प्रयस्यन्ती तक्मा प्रयस्ता ॥ ३१ ॥

अर्थ—(प्रयस्यन्ती) पकाने के लिए प्रयास की जाती हुई गौ (विषम्) विषरूप है, (प्रयस्ता[1]) और प्रयास की गई (तक्मा[2]) कष्टप्रद ज्वर रूप है।

---

१. प्रयस्त=Seasoned, dressed with condiments (आप्टे), अर्थात् मसाले लगाना।

२. **तकि कृच्छ्रजीवने**। अभिप्राय है "कष्टप्रद ज्वर", (अथर्व० ५.२२.१४)।

[प्रयस्यन्ती=प्र+यस् (प्रयत्ने)+शतृ। मन्त्र ३२ में "पच्यमाना और पक्वा" पदों की दृष्टि से पकाने से पूर्व—किये जाने वाले प्रयास, अर्थात् मांस को देगची में डालना और आग के जलाने आदि का वर्णन मन्त्र में अभिप्रेत है। मन्त्र में दर्शाया है कि गोमांस खाना विषरूप है। तथा कष्टप्रद ज्वर का उत्पादक[1] है]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**साम्नी गायत्री** ॥

अघं पच्यमाना दुःष्वप्न्यं पक्वा ॥ ३२ ॥

अर्थ—(पच्यमाना) मांसरूप में पकाई जाती हुई गौ (अघम्) पाप सूचक है, (पक्वा) पकी हुई (दुःष्वप्न्यम्) बुरे स्वप्नों में दुःखदायी है।

[गौ के माँस को पकाना पाप है, और परिणाम में दुःखदायी है, दुःष्वप्न्यों के सदृश। दुःस्वप्न दुःखदायी होते हैं, क्योंकि ये भय, कम्पन देते और निद्रा के विघातक हो जाते हैं]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**साम्नी बृहती** ॥

मूलबर्हणी पर्याक्रियमाणा क्षितिः पर्याकृता ॥ ३३ ॥

अर्थ—(पर्या क्रियमाणा) विलोड़ी जाती हुई (मूलबर्हणी) जड़ काट देती, और (पर्याकृता) विलोड़ी गई (क्षितिः) क्षयरोग पैदा करती है।

[कड़छी द्वारा विलोडना। पकते समय दाल आदि को विलोड़ा जाता है। इसी क्रिया को मांस पकाते समय निर्दिष्ट किया है। गौ के मांस से क्षय रोग हो जाने की सम्भावना है। खाने पर खाने वाले को क्षयरोग हो जाने पर इस उत्पन्न होने वाली सन्तानों में भी क्षयरोग की सम्भावना रहती है, "पितृभूत जड़" के रुग्ण होने से मानो भावी सन्तानों के स्वास्थ्य की जड़ कट गई]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**साम्नी बृहती** ॥

असंज्ञा गन्धेन शुगुद्ध्रियमाणाशीविष उद्धृता ॥ ३४ ॥

अर्थ—[पकते गोमांस की] (गन्धेन) गन्ध से [गन्ध लेने वाले की] (असंज्ञा) अज्ञता सूचित होती है। (उद्ध्रियमाणा) पके मांसरूप में आग से उठाई जाती गौ (शुक्) परिणाम में शोक जनिका होती है। (उद्धृता) उठाई गई (आशीविषः) विषैले सर्पवत् होती है।

[असंज्ञा="सम्यक् ज्ञान का अभाव", कि गोमांस दुष्परिणामी है, और रोग द्वारा शोकोत्पादक है। गोमांस विष के समान है, आशीविष है, आशी अर्थात् फण में है विष जिस के=विषैला सांप]।

---

१. बौद्ध धार्मिक ग्रन्थ "सूतनिपात" को एक प्रकरण के सन्दर्भ का अंग्रेजी में अनुवाद निम्नलिखित है—"Like unto a mother, a father, a brother and other relatives, the cows are our best friends. There were formely three diseases—desire, hunger and decay, but from the slaying of cattle there came ninety-eight"। अर्थात् माता-पिता, भाई तथा अन्य सम्बन्धियों की तरह गौएँ भी हमारे श्रेष्ठ सखा हैं। पूर्व काल में तीन ही रोग थे—इच्छा, भूख और क्रमिक ह्रास। परन्तु पशुघात के कारण ९८ रोग पैदा हो गये।

इसी प्रकार चरक संहिता के चिकित्सा स्थान के १० वें अध्याय में निम्नलिखित सन्दर्भ है। "**गवां गौरवादौष्ण्यादसात्म्यादशस्तोपयोगाच्चोपहताग्नीनामुपहतमनसामतीसारः पूर्वमुत्पन्नः**"। अर्थात् गौ के मांस के भारी होने से, उष्ण और अस्वाभाविक होने से और उसके प्रयोग के अप्रशस्त होने से लोगों की जाठराग्नि और बुद्धिशक्ति मन्द हो गई, और अतिसार रोग उत्पन्न हो गया"।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**भुरिक् साम्न्यनुष्टुप्** ॥

अभूतिरुपह्रियमाणा पराभूतिरुपहृता ॥ ३५ ॥

अर्थ—(उपह्रियमाणा) गोमांस रूप में समीप लाई जा रही गौ (अभूतिः) शारीरिक विभूति का नाश करती, और (उपहृता) समीप लाई गई (पराभूतिः) पराभव करती है।

[गोमांस द्वारा शारीरिक विभूति नष्ट हो जाती है, और व्यक्ति रोगों द्वारा पराभूत हो जाता है]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**साम्न्युष्णिक्** ॥

शर्वः क्रुद्धः पिश्यमाना शिमिदा पिशिता ॥ ३६ ॥

अर्थ—(पिश्यमाना) गोमांसरूप में पीसी जाती हुई, गौ (क्रुद्धः शर्वः) क्रुद्ध और विनाशकारी रूप है, (पिशिता) और पीसी गई (शिमिदा) सत्कर्मों की जड़ काट देती है।

[गोमांस के सेवन से व्यक्ति में क्रोधवृत्ति तथा हिंस्र भावना पैदा होती, और सत्कर्म विनष्ट हो जाते हैं। क्रोध और हिंसा सत्कर्मों का विनाश करते हैं। शिमिदा=**शिमि कर्मनाम** (निघं० २.१)+दाप् लवने। निघण्टु में "शिमी" पाठ है]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**आसुर्यनुष्टुप्** ॥

अवर्तिरश्यमाना निर्ऋतिरशिता ॥ ३७ ॥

अर्थ—गोमांसरूप में (अश्यमाना) खाई जाती हुई गौ (अवर्तिः) दरिद्रता पैदा करती, और (अशिता) खाई गई (निर्ऋतिः) कष्टोत्पादन करती है।

[गोमांस के प्रचार से गोवंश के विनाश द्वारा दुग्ध आदि के अभाव से जीवन में दरिद्रता होती तथा जीवन कष्टप्रद होता है]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**प्रतिष्ठा गायत्री** ॥

अशिता लोकाच्छिनत्ति ब्रह्मगवी ब्रह्मज्यमस्माच्चामुष्माच्च ॥ ३८ ॥

अर्थ—(अशिता) खाई गई (ब्रह्मगवी) ब्रह्म-अर्थात् परमेश्वर की गौ, (ब्रह्मज्यम्) गोरक्षक ब्राह्मण को हानि पहुँचाने वाले को, (अस्मात् च अमुष्मात् च) इस लोक तथा उस लोक से विच्छिन्न कर देती है।

[मन्त्र में दो ब्रह्मपद द्व्यर्थक हैं। ब्रह्मगवी द्वारा तो यह सूचित किया है कि गोजाति का स्वामी परमेश्वर है। परमेश्वर की सम्पत्ति के विनाश करने का अधिकार किसी मनुष्य को नहीं। दूसरे ब्रह्म पद द्वारा ब्राह्मण को सूचित किया है जो कि गोरक्षान्दोलन का नेता है। ऐसे नेता के जीवन को हानि पहुँचाने पर गोरक्षा का आन्दोलन न हो सकेगा और गोवंश के विनाश से जनता का इह लोक दुःखप्रद हो जाएगा, तथा गोघृत के अभाव में यज्ञों के न हो सकने के कारण परलोक की प्राप्ति भी न हो सकेगी। यथा "स्वर्गकामो यजेत"]।

सूक्त ५, पर्याय ५

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**साम्नी पङ्क्तिः** ॥

तस्या आहननं कृत्या मेनिराशसनं वलग ऊबध्यम् ॥ ३९ ॥

अर्थ—(तस्याः) उस गौ की (आहननम्) हत्या (कृत्या) कृत्यारूप है, (आशसनम्) काटना (मेनिः) वज्ररूप और (ऊबध्यम्) पेट का मल (वलगः) घेरा डाल कर चलने वाला अस्त्ररूप है।

[कृत्याः=**कृती छेदने**; काटने का शस्त्रविशेष। **मेनिः वज्रनाम** (निघं० २.२०) वलगः=वल (संवरणे)+ग (गच्छति), जो अस्त्र को फूट कर, घेरा डाल कर आगे-आगे बढ़ता जाता है। "वलग" भूमि में गाड़ा जाता है। यथा—"**वलगं वा निचख्नुः**" (अथर्व० १०.१.१८)। अभिप्राय यह कि गौ की हत्या उसके काटने, और भय के कारण पेट के मल के निकल जाने पर, गोरक्षक, कृत्या आदि साधनों द्वारा घातक पर आक्रमण करते हैं]।

ऋषिः—**कश्यपः**॥ देवता—**ब्रह्मगवी**॥ छन्दः—**याजुष्यनुष्टुप्**॥

अ॒स्व॒ग॒ता प॑रिह्णु॒ता॥ ४०॥

अर्थ—(परिह्णुता) चुराई गई गौ (अस्वगता) चुराने वाले की "स्व" अर्थात् सम्पत्ति को "अगत" अर्थात् विगत कर देती है।

[परिह्णुता=परि+ह्नुङ् (अपनयने)। अभिप्राय है कि गौ चुराने वाला निज लाभ के लिए चुराता है, गौ रक्षक दण्डरूप में चोर की सम्पत्ति उससे छीन लेते हैं]।

ऋषिः—**कश्यपः**॥ देवता—**ब्रह्मगवी**॥ छन्दः—**भुरिक् साम्न्यनुष्टुप्**॥

अ॒ग्निः क्र॒व्याद्भू॒त्वा ब्र॒ह्मग॒वी ब्र॒ह्म॒ज्यं प्र॒विश्या॑त्ति॥ ४१॥

अर्थ—(ब्रह्मगवी) "ब्रह्म" अर्थात् परमेश्वर की "गवी" अर्थात् गोजाति, (क्रव्याद् अग्निः भूत्वा) श्मशान की शवाग्नि हो कर, (ब्रह्मज्यम्) ब्रह्मज्ञ और वेदज्ञ के जीवन को हानि पहुँचाने वाले में (प्रविश्य) प्रविष्ट होकर (अत्ति) उसे खा जाती है।

[गोजाति परमेश्वर की सम्पत्ति या सन्तानरूप है, क्योंकि परमेश्वर ने ही गोजाति को उत्पन्न किया है। ब्रह्म अर्थात् ब्रह्मज्ञ और वेदज्ञ ब्राह्मण, उस गोजाति का रक्षक है। जो क्षत्रिय (राजा) गोरक्षक के जीवन को हानि पहुँचाता है, उसे गोरक्षक-नेता के अनुयायी अग्नि द्वारा दग्ध कर देते हैं—यह अभिप्राय मन्त्र का प्रतीत होता है। गोरक्षा के समग्र प्रकरण में, नेता-ब्राह्मण और क्षत्रिय अर्थात् राजा में, परस्पर विवाद का वर्णन है। ब्रह्मज्यम्=ब्रह्म+ज्या (वयोहानौ)]।

ऋषिः—**कश्यपः**॥ देवता—**ब्रह्मगवी**॥ छन्दः—**आसुरी बृहती**॥

सर्वा॒स्याङ्गा॒ पर्वा॒ मूला॑नि वृश्चति॥ ४२॥

अर्थ—(अस्य) इस ब्रह्मज्य के (सर्वा=सर्वाणि; अङ्गा=अङ्गानि) सब अङ्गों को, (पर्वा=पर्वाणि) जोड़ों को, (मूलानि) मूलों को (वृश्चति) ब्रह्मगवी काट देती है।

[जीवित, और मृत गौ, बदला नहीं ले सकती। अतः गौ के मारने वाले के अङ्गों, जोड़ों, और मूलों को गोरक्षक नेता के अनुयायी काट देते हैं—यह अभिप्राय है। मूल का अर्थ है जड़ें। जिनसे कि क्षत्रिय-राजा पैदा हुआ है, अर्थात् माता-पिता आदि तथा ज्ञातिवर्ग]।

ऋषिः—**कश्यपः**॥ देवता—**ब्रह्मगवी**॥ छन्दः—**साम्नी बृहती**॥

छि॒नत्त्य॑स्य पितृब॒न्धु परा॑ भावयति मातृब॒न्धु॥ ४३॥

अर्थ—(अस्य) इस ब्रह्मज्य के (पितृबन्धु) पैतृक सम्बन्ध या बन्धुओं को (छिनत्ति) गौ अर्थात् गो जाति काट देती है, और (मातृबन्धु) मातृक बन्धुओं का (परा भावयति) पराभव कर देती है।

[काटती और पराभव करती है निज रक्षकों के आन्दोलनों द्वारा]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**पिपीलिकमध्यानुष्टुप्** ॥

विवाहां ज्ञातीन्त्सर्वानपि क्षापयति ब्रह्मगवी ब्रह्मज्यस्य क्षत्रियेणापुनर्दीयमाना ॥ ४४ ॥

अर्थ—(क्षत्रियेण) क्षत्रिय राजा द्वारा (अपुनर्दीयमाना) स्वरक्षा का वचन पुनः न दी जाती हुई (ब्रह्मगवी) गौ अर्थात् गो जाति (ब्रह्मज्यस्य) ब्रह्मज्ञ और वेदज्ञ ब्राह्मण के जीवन को हानि पहुँचाने वाले के (विवाहान्) विवाहों और (सर्वान्) सब (ज्ञातीन् अपि) ज्ञाति बन्धुओं को भी (क्षापयति) निज रक्षकों द्वारा नष्ट करा देती है।

[अपुनर्दीयमाना=अथवा अ+पुनः+दीयमाना (दीङ् क्षये)=पुनः पुनः क्षीण न होती हुई, अर्थात् एक बार भी क्षीण होती हुई गौ अर्थात् गो जाति]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**आर्ची बृहती** ॥

अवास्तुमेनमस्वगमप्रजसं करोत्यपरापरणो भवति क्षीयते ॥ ४५ ॥

अर्थ—इस क्षत्रिय राजा को (अवास्तुम्) घर से रहित, (अस्वगम्) सम्पत्ति से रहित, (अप्रजसम्) प्रजा तथा सन्तानों से रहित (करोति) गौ अर्थात् गो जाति कर देती है। (अपरापरणः) क्षत्रिय राजा किसी अपर व्यक्ति द्वारा भी पालन-पोषण से रहित (भवति) हो जाता है (क्षीयते) और क्षीण या नष्ट हो जाता है।

[अवास्तुम्=अ+वास्तु (गृह)। अपरापरणः=अपर+अ+परणः (**पॄ पालने**); परणः=पॄ+युच् (औणादिक)]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**भुरिक् साम्न्यनुष्टुप्** ॥

य एवं विदुषो ब्राह्मणस्य क्षत्रियो गामादत्ते ॥ ४६ ॥

अर्थ—(यः क्षत्रियः) जो क्षत्रिय राजा कि (एवम् विदुषः) इस प्रकार के विद्वान् (ब्राह्मणस्य) ब्रह्मज्ञ और वेदज्ञ नेता की (गाम्) गौ अर्थात् गो जाति को [सुरक्षित करने के अधिकार को] (आदत्ते) छीन लेता है।

[आदत्ते=**आदित्यः कस्मात् आदत्ते भासं ज्योतिषाम् (नक्षत्राणाम्)**; निरु० २.४.१३ ॥ १२ से ४६ तक के मन्त्रों में गोरक्षा का वर्णन हुआ है। क्षत्रिय अर्थात् राजा गोरक्षा नहीं चाहता। परन्तु ब्रह्मज्ञ और वेदज्ञ व्यक्ति गो जाति को ब्रह्म की राष्ट्रोपयोगी विशिष्ट सन्तान जान कर, और गो रक्षा को वेदानुकूल जान कर, गोरक्षान्दोलन करता है। परिणामतः क्षत्रिय राजा का हनन होता है। हत हो जाने पर उसकी जो दशा होती है, उसका वर्णन ४७ से ७३ तक के मन्त्रों में हुआ है। गौ स्वस्थ हो या रुग्ण उसकी रक्षा करना और उसके मांस को न खाने देना—यह वैदिक धर्म है। इसके लिए देखो यजुः० १३.४३; ३०.१७; ऋक् ८.१०१.१५; १०.८७.१६ तथा अथर्व० १.१६.४]।

सूक्त ५, पर्याय ६

ऋषिः=**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**प्राजापत्यानुष्टुप्** ॥

क्षिप्रं वै तस्याहनने गृध्राः कुर्वत ऐलबम् ॥ ४७ ॥

अर्थ—(तस्य) उस क्षत्रिय राजा के (आहनने) हनन हो जाने पर (क्षिप्रं वै) निश्चय से शीघ्र (गृध्राः) गीध (ऐलवम्) विलास (कुर्वते) करते हैं।

[ऐसे क्षत्रिय राजा को मार देने पर उसके शरीर को खाने के लिए गीध इकट्ठे हो जाते हैं]।

ऋषिः=कश्यपः ॥ देवता—ब्रह्मगवी ॥ छन्दः—आर्च्यनुष्टुप् ॥

क्षिप्रं वै तस्यादहनं परि नृत्यन्ति केशिनीराघ्नानाः
पाणिनोरसि कुर्वाणाः पापमैलबम् ॥ ४८ ॥

अर्थ—(क्षिप्रम् वै) निश्चय से शीघ्र ही (तस्य) उस क्षत्रिय के (आदहनम् परि) जलती चिता के चारों ओर, (पाणिना) हाथों द्वारा (उरसि आघ्नानाः) छातियाँ पीटती हुई, (केशिनीः) बिखरे केशों वाली स्त्रियाँ (पापम्, ऐलवम्, कुर्वाणाः) बुरा विलास करती हुई (नृत्यन्ति) गात्र विक्षेप करती हैं।

ऋषिः=कश्यपः ॥ देवता—ब्रह्मगवी ॥ छन्दः—प्राजापत्यानुष्टुप् ॥

क्षिप्रं वै तस्य वास्तुषु वृकाः कुर्वत ऐलबम् ॥ ४९ ॥

अर्थ—(क्षिप्रम् वै) निश्चय से शीघ्र ही (तस्य) उस क्षत्रिय के (वास्तुषु) घरों में (वृकाः) भेड़िये (ऐलवम्, कुर्वते) विलास करने लगते हैं।

[इन मन्त्रों में क्षत्रिय राजा के मारे जाने का निर्देश किया है। गोरक्षा के विरोधी राजा के मारे जाने का वर्णन राष्ट्र में मुखिया होने के कारण हुआ है। अथवा यह द्वन्द्व युद्ध प्रतीत होता है। गोरक्षा के विरोधी राजा के मारे जाने पर प्रजा स्वयमेव गोरक्षा के पक्ष में हो ही जाएगी। इस द्वन्द्वयुद्ध के कारण न तो प्रजा का विनाश होता है, न राष्ट्रिय सम्पत्ति का। ऐसे द्वन्द्व युद्ध महाभारत के काल में भी हुए हैं, जैसे कि भीम और जरासन्ध का युद्ध, भीम और दुर्योधन का, तथा कृष्ण और कंस का युद्ध]।

ऋषिः=कश्यपः ॥ देवता—ब्रह्मगवी ॥ छन्दः—साम्नी बृहती ॥

क्षिप्रं वै तस्य पृच्छन्ति यत्तदासी३दिदं नु ता३दिति ॥ ५० ॥

अर्थ—(क्षिप्रं वै) निश्चय से शीघ्र ही (तस्य) उस क्षत्रिय राजा के सम्बन्ध में प्रजाएँ (पृच्छन्ति) पूछने लगती हैं कि (यत्) जो (तद्) वह राजा था, क्या (इदम्, नु) यह ही (तत्) वह है।

[अर्थात् वह तो शक्तिशाली राजा था वह ही श्मशानाग्नि में जल रहा है क्या?]।

ऋषिः=कश्यपः ॥ देवता—ब्रह्मगवी ॥ छन्दः—प्राजापत्यानुष्टुप् ॥

छिन्ध्या च्छिन्धि प्र च्छिन्ध्यपि क्षापय क्षापय ॥ ५१ ॥

अर्थ—(छिन्धि) काट, (आच्छिन्धि) सब ओर से काट, (प्रच्छिन्धि) पूर्णतया काट, (अपि क्षापय क्षापय) तथा मार, मार डाल।

[राजा के मारे जाने और जला देने के पश्चात् यदि गोमांस भक्षक युद्ध के लिए फिर खड़े हो जाएँ, तो गोरक्षा का पक्षपाती-नेता निजानुयायियों द्वारा उनसे युद्ध करता हुआ, अनुयायियों को मन्त्र द्वारा प्रोत्साहित करता और आज्ञा देता है]।

ऋषिः—**कश्यपः ॥** देवता—**ब्रह्मगवी ॥** छन्दः—**प्राजापत्यानुष्टुप् ॥**

आददानमाङ्गिरसि ब्रह्मज्यमुप दासय ॥ ५२ ॥

अर्थ—(आङ्गिरसि) अङ्गों=अङ्गी अर्थात् शरीर के लिए रस-प्रदायिनी ओषधिरूप हे गोजाति! (आददानम्) गोरक्षा का अधिकार छीनने वाले, (ब्रह्मज्यम्) ब्रह्मज्ञ और वेदज्ञ ब्राह्मण-नेता के जीवन को हानि पहुँचाने वाले का (उप दासय) क्षय कर।

[आङ्गिरसि=ओषधियाँ ४ प्रकार की होती हैं। आथर्वणीः, आङ्गिरसीः, दैवीः, तथा मनुष्यजाः। यथा "**आथर्वणीराङ्गिरसीर्दैवीर्मनुष्यजा उत। ओषधयः प्रजायन्ते यदा त्वं प्राण जिन्वति॥** अथर्व० ११.४.१६); तथा "**या रोहन्त्याङ्गिरसीः पर्वतेषु समेषु च। ता नः पयस्वतीः शिवा ओषधीः सन्तु शं हृदे**" (अथर्व० ८.७.१७)। गोजाति का रसीला दूध ओषधिरूप है। गोजाति स्वरक्षकों द्वारा निज-घातकों का क्षय करती है। राजा की मृत्यु के पश्चात् राजपक्ष के लोगों के नेता को ब्रह्मज्य जानना चाहिए। आददानम्, यथा आदत्ते (मन्त्र ४६), अथवा आ+**दाप् लवने**]।

ऋषिः—**कश्यपः**॥ देवता—**ब्रह्मगवी**॥ छन्दः—**प्राजापत्यानुष्टुप्**॥

वैश्वदेवी ह्यु१च्यसे कृत्या कूल्बजमावृता॥ ५३॥

अर्थ—[हे गोजाति] (वैश्वदेवी हि) सब देवों की तू प्रतिनिधिरूपा (उच्यसे) कही जाती है। (आवृता) रोकी गई तू (कृत्या कूल्बजम्) नदी के कूलों से (आवृता) आवृत, वेग वाले जल प्रवाह के सदृश है।

[चार प्रकार की ओषधियों में "दैवी" ओषधियाँ भी हैं (मन्त्र ५२), यथा जल, वायु, मृद्, सौर रश्मियाँ आदि। इस द्वारा गोजाति को ओषधि रूपा कह कर मनुष्योपकारिणी दर्शाया है। तथा "कूल्बजम्" कह कर इसकी गति पर रुकावट डालने वालों के लिए वेगवती नदी के जल प्रवाह के सदृश विनाश करने वाली भी कहा है। वैश्वदेवी="**वीरुधो वैश्वदेवीरुग्राः पुरुषजीवनीः**" (अथर्व० ८.७.४), अर्थात् वैश्वदेवी लताएँ रोगनाश में उग्ररूप तथा पुरुषों को जीवन देने वाली हैं]।

ऋषिः—**कश्यपः**॥ देवता—**ब्रह्मगवी**॥ छन्दः—**प्राजापत्योष्णिक्**॥

ओषन्ती समोषन्ती ब्रह्मणो वज्रः॥ ५४॥

अर्थ—[गोजाति] (ओषन्ती) दग्ध करने वाली, तथा (समोषन्ती) सम्यक् दग्ध करने वाली (ब्रह्मणः वज्रः) ब्रह्म का वज्ररूप है। [ओषन्ती=**उष् दाहे**]।

ऋषिः—**कश्यपः**॥ देवता—**ब्रह्मगवी**॥ छन्दः—**प्राजापत्योष्णिक्**॥

क्षुरपविर्मृत्युर्भूत्वा वि धाव त्वम्॥ ५५॥

अर्थ—(क्षुरपविः) छुरे के समान तीक्ष्ण वज्ररूप हुई, तथा (मृत्युः भूत्वा) मृत्युरूप होकर (त्वम्) हे गोजाति! (त्वम्) तू (वि धाव) विविध ओर दौड़।

[गो जाति के विनाशक शत्रु जो कि गोरक्षकों के साथ युद्ध के लिए एकत्रित हुए हैं (मन्त्र ५१) उनके लिए हे गोजाति! तू क्षुरपवि तथा मृत्युरूप होकर, विविध पार्श्वों में स्थित जो शत्रु हैं उनके प्रति दौड़। [यह निर्देश गोरक्षकों के लिए है कि वे दौड़-दौड़ कर शत्रुओं का सब ओर से विनाश करें]।

ऋषिः—**कश्यपः**॥ देवता—**ब्रह्मगवी**॥ छन्दः—**आसुरी गायत्री**॥

आ दत्से जिनतां वर्च इष्टं पूर्तं चाशिषः॥ ५६॥

अर्थ—[हे गो जाति!] (आ दत्से) तू छीन लेती है (जिनताम्) तेरे जीवन को हानि पहुँचाने वालों के (वर्चः) तेज को, (इष्टम्) उनके यज्ञ के फलों को, (पूर्तम्) सामाजिक परोपकारों के यश को, (आशिषः) तथा इच्छाओं को।

["जिनताम्" पद में बहुवचन है, इससे प्रतीत होता है कि गोघातक नाना व्यक्ति हैं जिनके साथ

कि गोरक्षकों का युद्ध है। आदत्से=छीन लेती है या हरण कर लेती है]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**प्राजापत्यानुष्टुप्** ॥

आदाय जीतं जीताय लोके३मुष्मिन्प्र यच्छसि ॥ ५७ ॥

अर्थ—[हे गोजाति!] (जीतम्) मृत गोघातक को (आदाय) पकड़ कर (जीताय) मृत गोरक्षक के प्रति, (अमुष्मिन् लोके) उस परलोक में (प्रयच्छसि) तू सौंप देती है, सुपुर्द कर देती है [बदला लेने के लिए]। यद्यपि की गई मृत्यु का दुष्फल तो परमेश्वर ने देना है, परन्तु उस दुष्फल का निमित्त गौ हो जाती है]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**प्राजापत्यानुष्टुप्** ॥

अघ्न्ये पदवीर्भव ब्राह्मणस्याभिशस्त्या ॥ ५८ ॥

अर्थ—(अघ्न्ये) न हनन के योग्य हे गो जाति! तू (ब्राह्मणस्य) ब्रह्मज्ञ और वेदज्ञ की (अभिशस्त्या) गोरक्षान्दोलन में मृत्यु के कारण (पदवीः भव) अन्य रक्षकों की मार्गदर्शिका बन।

[पदवीः=पदों में गति देने वाली युद्ध के लिए; पद (पैर)+वी (गतौ)। मन्त्र में गोजाति के लिए "अघ्न्या" शब्द का प्रयोग हुआ है—यह दर्शाने के लिए कि परमेश्वर की दृष्टि में गोजाति हनन के योग्य नहीं, परन्तु फिर भी गोघातक गोजाति का हनन करते हैं। इसलिए परमेश्वर की आज्ञा है कि हे वशे! तू "पदवी भव" अन्य रक्षकों के लिए मार्गदर्शिका हो जा। पदवी=पद (पैर)+वी (गतौ)=पैरों द्वारा जिसमें जाया जाए। Road, Path, course, यथा "अनुयाहि साधुपदवीम्" (आप्टे)]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**प्राजापत्यानुष्टुप्** ॥

मेनिः शरव्या भवाघादघविषा भव ॥ ५९ ॥

अर्थ—[हे अघ्न्ये] तू (मेनिः) हिंसक वज्र, (शरव्या) विशीर्ण करने वाला शर समूह, तथा (अघात्) घातक पाप से (अघविषा) घातक विष (भव) होजा।

[मेनिः=**मी हिंसायाम्**। शरव्या=**शॄ हिंसायाम्**। अघम्=आहन्तीति]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

अघ्न्ये प्र शिरो जहि ब्रह्मज्यस्य कृतागसो देवपीयोरराधसः ॥ ६० ॥

अर्थ—(अघ्न्ये) हे अवध्य गोजाति! (ब्रह्मज्यस्य) ब्रह्मज्ञ और वेदज्ञ ब्राह्मण के जीवन को हानि पहुँचाने वाले, (कृतागसः) पापी, (देवपीयोः) देवहिंसक, (अराधसः) आराधना हीन के (शिरः) सिर को (प्रजहि) काट दे, या उसके सिर पर प्रहार कर।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**प्राजापत्यानुष्टुप्** ॥

त्वया प्रमूर्णं मृदितमग्निर्दहतु दुश्चितम् ॥ ६१ ॥

अर्थ—(हे अघ्न्ये) (त्वया) तेरी वजह से (प्रमूर्णम्) मारे गये, (मृदितम्) कुचले गये (दुश्चितम्) बुरे विचार वाले को (अग्निः) अग्नि (दहतु) दग्ध कर दे।

दुश्चितम्=दुः+**चिती संज्ञाने**+कन्। अथवा **चिञ् चयने** अर्थात् जिसकी चिता बुरी तरह से चिनी गई है]।

सूक्त ५, पर्याय ७

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**प्राजापत्यानुष्टुप्** ॥

वृश्च प्र वृश्च सं वृश्च दह प्र दह सं दह ॥ ६२ ॥

अर्थ—(वृश्च) काट, (प्रवृश्च) पूर्णतया काट, (संवृश्च) अच्छी तरह काट, (दह) जला दे, (प्रदह) पूर्णतया जला दे, (सं दह) अच्छी तरह जला दे।

[शब्दों के पुनर्वचनों, भावपूर्ण पुनर्वचनों तथा शब्दों के अर्थों को दृष्टिगत करने से प्रतीत होता है कि मन्त्र में गोघातकों और गोरक्षकों में युद्ध का निर्देश है। इसके सदृश ही मन्त्र ५१ में शब्द हैं। साथ ही ''जिनताम्'' (मन्त्र ५९) में बहुवचन भी यह दर्शाता है कि गोसम्बन्धी विवाद किन्हीं दो व्यक्तियों में नहीं, अपितु क्षत्रिय पक्ष तथा ब्राह्मणपक्ष के लोगों में यह युद्ध है। इस वर्णन को पढ़ते हुए इस युद्ध को ऐतिहासिक युद्ध न समझना चाहिए। अपितु इस द्वारा यह भाव सूचित किया है कि गोरक्षा के लिए युद्ध भी लड़ना एक धार्मिक और सामाजिक कर्त्तव्य है]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**प्राजापत्यानुष्टुप्** ॥

ब्रह्मज्यं देव्यघ्न्य आ मूलादनुसन्दह ॥ ६३ ॥

अर्थ—(अघ्न्ये देवि) हे अवध्य गौ देवि! (ब्रह्मज्यम्) गोरक्षक ब्राह्मण के जीवन को हानि पहुँचाने वाले को (आ मूलात्) मूल से लेकर (अनुसंदह) सम्यक् जला दे।

[मन्त्रों में बार-बार अघ्न्या पद के कथन द्वारा गोरक्षकों को सचेत किया जा रहा है कि गौ किसी के लिए भी वध्या नहीं। इसकी रक्षा होनी ही चाहिए। गौ को देवी कह कर इसकी दिव्यता को सूचित किया है, क्योंकि गौ प्रजा के लिए महोपकारी प्राणी है]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**प्राजापत्यानुष्टुप्** ॥

यथायाद्यमसादनात्पापलोकान्परावतः ॥ ६४ ॥

अर्थ—(यथा) जिस तरह की गोघाती (यमसादनात्) यम[१] के सदन से (परावतः) दूरवर्ती (पापलोकान्) पापियों के लोकों को (यात्) जाए।

[पापलोकान्=पापियों के लोक अर्थात् कीट, पतंग और वृक्ष आदि। इन्हें ''परावतः'' इसलिए कहा है कि इन योनियों में पहुँच कर पुनः मनुष्य योनि में आने में बहुत लम्बा काल अपेक्षित होता है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**६५ गायत्री, ६६ प्राजापत्यानुष्टुप्; ६७ प्राजापत्या गायत्री** ॥

एवा त्वं देव्यघ्न्ये ब्रह्मज्यस्य कृतागसो देवपीयोरराधसः ॥ ६५ ॥

वज्रेण शतपर्वणा तीक्ष्णेन क्षुरभृष्टिना ॥ ६६ ॥

प्र स्कन्धान्प्र शिरो जहि ॥ ६७ ॥

अर्थ—(एवा) इस प्रकार (अघ्न्ये देवी) हे अवध्य गौ देवी! (त्वम्) तू (ब्रह्मज्यस्य) ब्रह्मज्ञ और वेदज्ञ ब्राह्मण के जीवन को हानि पहुँचाने वाले, (कृतागसः) पापी, (देवपीयोः) देवहिंसक, (अराधसः)

---

१. यमः=''**अयं वै यमो योऽयं पवते**'' (शतपथ १४.२.२.११)। अतः यमसादन=अन्तरिक्ष।

आराधनाहीन व्यक्ति के (६५),

(शतपर्वणा) सौ जोड़ों वाले, (तीक्ष्णेन) तेज (क्षुरभृष्टिना) प्रतप्त छुरे की तरह भूनने वाले (वज्रेण) वज्र द्वारा। (६६), [भृष्टिना=भ्रस्ज पाके]।

(स्कन्धान्) कन्धों को (प्र जहि) काट दे, (शिरः) सिर को (प्र जहि) काट दे (६७)।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**६८-७० प्राजापत्यानुष्टुप्, ७१ आसुरी पङ्क्तिः** ॥

लोमान्यस्य सं छिन्धि त्वचमस्य वि वेष्टय॥ ६८ ॥

मांसान्यस्य शातयस्नावान्यस्य सं वृह॥ ६९ ॥

अस्थीन्यस्य पीडय मज्जानमस्य निर्जहि॥ ७० ॥

सर्वास्याङ्गा पर्वाणि वि श्रथय॥ ७१ ॥

अर्थ—(अस्य) इसके (लोमानि) लोमों को (सं छिन्धि) काट दे, (अस्य) इसकी (त्वचम्) त्वचा को (वि वेष्टय) उधेड़ दे (६८)।

(अस्य) इसके (मांसानि) मांसों को (शातय) टुकड़े-टुकड़े कर दे, (अस्य) इसकी (स्नावानि) नस-नाड़ियों को (सं वृह) सम्यक्तया काट दे (६९)।

(अस्य) इसकी (अस्थीनि) हड्डियों को (पीडय) पीस दे, (अस्य) इसके (मज्जानम्) मज्जा को (निर्जहि) नष्ट कर दे (७०)। [मज्जा=marrow), हड्डियों में वर्तमान गुद्दा]।

(सर्वा=सर्वाणि) सब (अस्य) इसके (अङ्गा=अङ्गानि) अङ्गों को, (पर्वाणि) जोड़ों को (विश्रथय) ढीला कर दे (७१)।

[वेद, पापी को, सख्त दण्ड देने की आज्ञा देता है। नर्म दण्ड से पापकर्मों में बार-बार प्रवृत्ति होती है। सख्त दण्ड इस प्रवृत्ति को भी रोकता और प्रजा के लिए चेतावनी का काम भी करता है]।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**७२ प्राजापत्या त्रिष्टुप्, ७३ आसुर्युष्णिक्** ॥

अग्निरेनं क्रव्यात्पृथिव्या नुदतामुदोषतु वायुरन्तरिक्षान्महतो वरिम्णः॥ ७२ ॥

सूर्य एनं दिवः प्र णुदतां न्योषितु॥ ७३ ॥

अर्थ—(क्रव्याद् अग्निः) शवाग्नि (एनम्) इस गोघाती को (पृथिव्याः) पृथिवी से (नुदताम्) धकेले, (उद् ओषतु) जलाए और ऊपर [वायु में भेजे], (वायुः) वायु (महतो वरिम्णः, अन्तरिक्षात्) महाविस्तृत अन्तरिक्ष से धकेले, (सूर्यः) सूर्य (एनम्) इसे (दिवः) द्युलोक से (प्र नुदताम्) दूर धकेले, (न्योषतु) और तपाकर नीचे पृथिवी की ओर धकेले (मन्त्र ७२, ७३)।

[मन्त्रानुसार, सूक्ष्मशरीर समेत जीवात्मा, पृथिवी से वायु अर्थात् अन्तरिक्ष में जाता है, तदनन्तर सूर्य की ओर, फिर सूर्य के ताप से उत्पन्न मेघ से वर्षा द्वारा पुनः पृथिवी पर आकर कर्मानुसार जन्म लेता है]।

पञ्चम अनुवाक समाप्त।

द्वादश काण्ड का भाष्य सम्पूर्ण हुआ॥

त्रयोदश काण्ड

अथाष्टाविंशः प्रपाठकः

अनुवाक १

सूक्त १

विषय-प्रवेश

(१) काण्ड १३। सूक्त १ अध्यात्म और रोहितादित्यदेवता परक है। अध्यात्म दृष्टि में रोहित है सर्वोपरि आरूढ़ परमेश्वर। इसीलिए रोहित को ऋषि भी कहा है, **"रोहितेन ऋषिणा भृतम्"** (मन्त्र ५५) सूक्त के मध्य में भी स्थान-स्थान पर रोहित पद द्वारा परमेश्वर का वर्णन हुआ है। यथा **"यो रोहितो विश्वमिदं जजान"** (१), **"रोहितो द्यावा पृथिवी जजान"** (६)। मन्त्रद्रष्टा तथा मन्त्रार्थद्रष्टा को ऋषि कहते हैं। परमेश्वर तो साक्षात् मन्त्र तथा मन्त्रार्थ द्रष्टा है, क्योंकि मन्त्र परमेश्वर द्वारा ही प्रदत्त हैं। तथा "विश्व का उत्पादन" और द्यावा पृथिवी की उत्पत्ति जिस रोहित द्वारा हुई है वह परमेश्वर ही हो सकता है। अतः "रोहित" द्वारा परमेश्वरार्थ के ग्रहण में संशय नहीं।

(२) रोहित पद द्वारा राजा का ग्रहण भी मन्त्रानुमोदित है। **"अप्स्वन्तः"** द्वारा राज्याभिषेक, **"राष्ट्रं प्रविश"** द्वारा राष्ट्र में प्रवेश (१)। **"विश आरोह"** द्वारा प्रजाओं का अधिकार (२)। "मरुतों (सैनिकों) द्वारा शत्रुओं का विनाश (३)। राष्ट्र का वर्णन (४, ५) तथा **"विशि राष्ट्रे जागृहि"** (९) द्वारा प्रजा और राष्ट्र के प्रबन्ध में जागरूक रहना—इस द्वारा राजा का वर्णन निःसंदिग्ध है। आरोह पद (२), तथा **"रोहितः शृणवत्"** (३) द्वारा राजा को रोहित कहा है। (मन्त्र (१३) में **"सामित्यै रोहयतु"** द्वारा राजा निज समिति के सदस्यों की सहायता द्वारा उन्नति की प्रार्थना परमेश्वर से करता है। इस सबसे प्रतीत होता है कि १३.१ में राष्ट्र का तथा राजा का भी वर्णन हुआ है, और राजा को रोहित भी कहा है।

(३) रोहित पद द्वारा सूर्य (आदित्य) का भी वर्णन हुआ है (२४)। मन्त्र २४ में रोहित पद के दो अर्थ दर्शाए हैं, (१) ओषधियों का रोहण (बीजजन्म तथा प्रादुर्भाव) करने वाला या द्युलोक में आरूढ़ हुआ।

(४) १३.१ सूक्त को रोहितादित्यपरक तथा अध्यात्म भी कहा है। रोहित पद द्वारा जिन मन्त्रों में परमेश्वर का वर्णन हुआ है वे तो "अध्यात्म" स्वतः सिद्ध हैं। रोहित पद द्वारा राजा के वर्णन में, तथा सूर्य के वर्णन में भी परमात्मा का वर्णन मन्त्रों में अनुस्यूत है। यथा राजा के सम्बन्ध में कहा है कि **"स त्वा राष्ट्राय सुभृतं बिभर्तु"** (१), अर्थात् वह रोहित (परमेश्वर) राष्ट्र की सेवा के लिए उत्तम भरण-पोषण पूर्वक तुझे परिपुष्ट करे। तथा **"आ ते राष्ट्रमिह रोहितोऽहार्षीद्"** (५), अर्थात् रोहित परमेश्वर इस पृथिवी पर तेरे लिए राष्ट्र या राज्य लाया है—इत्यादि। इस प्रकार वैदिक राष्ट्र और परमेश्वर में परस्पर सम्बन्ध होने से, वैदिक राष्ट्र का वर्णन भी, अध्यात्म है।

(५) सूर्य (आदित्य) के सम्बन्ध में भी कहा है कि **"यो रोहितो.....पर्यग्निं परि सूर्यं बभूव"** (२५), अर्थात् जो रोहित अग्नि के सब ओर, और सूर्य के सब ओर विद्यमान है, इन दोनों में व्याप्त या

इन दोनों को घेरे हुए है। इस प्रकार सूर्य के वर्णन में भी अध्यात्म भावना ओत-प्रोत है।

(६) मन्त्र १७-१९ में "वाचस्पति" द्वारा शिक्षाध्यक्ष का; तथा मन्त्र ३१ में "बृहस्पति" शब्द द्वारा सेनापति का भी वर्णन हुआ है।

(७) मन्त्र ३३ में रोहित को "ब्रह्म" भी कहा है। इस प्रकार रोहित पद का परमेश्वरार्थ संपुष्ट होता है।

(८) परमेश्वर का वर्णन "सूर्य" पद द्वारा भी हुआ है (३९, ४५)।

(९) सूक्त में प्रासंगिक पराविद्या और अपरा विद्या का भी निर्देश हुआ है (४१)।

(१०) मन्त्र ४६ से ५४ में सौर-जगत् का वर्णन, याज्ञिक-यज्ञों के पारिभाषिक शब्दों में किया है। यथा "हिम और घ्रंस अर्थात् चन्द्रमा और सूर्य को दो अग्निरूप (आहवनीय तथा गार्हपत्यरूप) में दिशाओं को परिधिरूप में, भूमि को वेदिरूप में, पर्वतों को यूपरूप में, वर्षा आदि को आज्यरूप आदि में वर्णित किया है।

(११) मन्त्र ५६-५८ के तीन मन्त्र, प्रसिद्धार्थों में अप्रासंगिक प्रतीत होते हैं, इन मन्त्रों की व्याख्या, प्रासंगिक दृष्टि से की गई है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

उदेहि वाजिन्यो अप्स्व१न्तरिदं राष्ट्रं प्र विश सूनृतावत्।
यो रोहितो विश्वमिदं जजान स त्वा राष्ट्राय सुभृतं बिभर्तु॥ १॥

अर्थ—(वाजिन्) हे बलशाली! (उदेहि) उठ आ, (यः) जो तू कि (अप्सु अन्तः) [राज्याभिषेकार्थ] जलों में स्थित है, (सूनृतावत्) प्रिय और सत्य वाणी वाले (इदम् राष्ट्रम्) इस राष्ट्र में (प्रविश) तू प्रवेश कर। (यः) जिस (रोहितः[१]) सर्वारूढ़ ने (इदम् विश्वम्) इस विश्व को (जजान) पैदा किया है (सः) वह (त्वा) तुझे (राष्ट्राय) राष्ट्र की सेवा के लिए (सुभृतम्) उत्तम भरण-पोषण पूर्वक (बिभर्तु) परिपुष्ट करे।

[**वाजः बलनाम** (निघं० २.९), अतः वाजी=बलशाली। सूनृता=प्रिय सत्यवाणी; True and Pleasant Speech (आप्टे)। राज्याभिषेकार्थ जलस्नान का वर्णन है। रोहितः=रुह **बीजजन्मनि प्रादुर्भावे च,** जो संसार को जन्म देता और उसे प्रादुर्भूत करता, वह सर्वाधिरूढ़ परमेश्वर]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

उद्वाज आ गन्यो अप्स्व१न्तर्विश आ रोह त्वद्योनयो याः।
सोमं दधानोप ओषधीर्गाश्चतुष्पदो द्विपद आ वेशयेह॥ २॥

---

१. १३.१ सूक्त के देवता अर्थात् प्रतिपाद्य विषय हैं—अध्यात्मक, रोहित और आदित्य। इन मन्त्रों में "रोहित" पद द्वारा परमेश्वर, राजा और आदित्य—तीनों का मिला-जुला वर्णन हुआ है। रोहित पद के ३ अर्थ हैं। (१) जन्मदाता, (२) प्रादुर्भावकर्त्ता, और (३) आरोहण कर्त्ता। परमेश्वर विश्व को जन्म देता, उसका प्रादुर्भाव करता, तथा सर्वोपरि आरूढ़ है। राजा राष्ट्र की सम्पत्तियों को जन्म देता, उनका प्रादुर्भाव करता, तथा राजसिंहासन का आरूढ़ होता है। सूर्य या आदित्य पार्थिव उत्पत्तियों को जन्म देता, उनका प्रादुर्भाव करता, तथा द्युलोक में आरूढ़ है। इस समान धर्मों के कारण इन तीनों का संमिश्रित वर्णन इन मन्त्रों में हुआ है।

अर्थ—(वाजः) बलस्वरूप राजा (उद् आ गन्) उठ आया है, (यः) जोकि (अप्सु अन्तः) [राज्याभिषेकार्थ] जलों में स्थित था, (विशः आरोह) प्रजाओं पर तू आरोहण कर (याः) जिन प्रजाओं ने (त्वत् योनयः) तुझ से नवजन्म धारण करना है, या जिनकी तू योनिरूप है। (सोमम्, ओषधीः, अपः, दधानः) सोम, ओषधियों, जल को धारण करता हुआ तू, (इह) इस राष्ट्र में (गाः) गौओं, (चतुष्पदः) अन्य चौपायों तथा (द्विपदः) दोपायों को (आ वेशय) सब ओर प्रविष्ट कर, निवासित कर।

[आरोह=राजसिंहासन पर आरोहण। दधानः=राष्ट्र में सोम आदि की परिपुष्टि करता हुआ]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

यूयमुग्रा मरुतः पृश्निमातर इन्द्रेण युजा प्र मृणीत शत्रून्।
आ वो रोहितः शृणवत्सुदानवस्त्रिषप्तासो मरुतः स्वादुसंमुदः ॥ ३ ॥

अर्थ—(पृश्निमातरः) भूमि को माता मानने वाले (उग्राः मरुतः) हे शूरवीर सैनिको! (यूयम्) तुम (इन्द्रेण युजा) सेनापति के सहयोग द्वारा (शत्रून् प्र मृणीत) शत्रुओं का नाश करो। (सुदानवः) सुगमता से विनाश करने वाले वीरो! (रोहितः) सिंहासनारूढ़ राजा (वः शृणवत्) तुम्हारी तकलीफों और कष्टों को सुने। (मरुतः) मारने वाले शूरवीरो! तुम (त्रिषप्तासः) ३ और ७ या ३×७ सैन्य विभागों में विभक्त हो, और (स्वादु संमुदः) स्वादु भोजनों में परस्पर मिल कर हर्ष प्राप्त करते हो।

[पृश्निः=भूमिः (सायण ऋक् १.२३.१०)। मरुत्=म्रियते मारयतीति वा। सुदानवः=सु+दो (अवखण्डने)+नु। स्वादु संमुदः=सैनिकों के भोजन स्वादिष्ट होने चाहिएँ]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

रुहो रुरोह रोहित आ रुरोह गर्भो जनीनां जनुषामुपस्थम्।
ताभिः संरब्धमन्वविन्दन्षडुर्वीर्गातुं प्रपश्यन्निह राष्ट्रमाहाः ॥ ४ ॥

अर्थ—(रोहितः) उन्नति करने वाला राजा (रुहः) राष्ट्र की समुन्नतियों पर (रुरोह) चढ़ा है, (आ रुरोह) आरूढ़ हुआ है। (जनीनाम्) जन्म दात्री प्रजाओं का (गर्भः) गर्भवत् सुरक्षित राजा, (जनुषाम्[1]) जन्म दात्री प्रजाओं की (उपस्थम्) गोदी में मानो बैठा है। (ताभिः) उन प्रजाओं द्वारा (संरब्धम्) लब्ध अर्थात् प्राप्त हुए को (षड् उर्वीः) ६ विस्तृत दिशाओं [की प्रजा] ने (अनु अविन्दन्) अनुकूल रूप में स्वीकार कर लिया है। (गातुम्) [राष्ट्रोन्नति के] मार्ग को (प्रपश्यन्) देखता हुआ या जानता हुआ, (इह) यहाँ (राष्ट्रम्), राष्ट्र को (आहाः) राजा प्राप्त हुआ है।

[आहाः=आ+अ+अट्+हाः (**ओहाङ् गतौ**)। **गतेः त्रयोऽर्थाः ज्ञानं गतिः प्राप्तिश्च**। यहाँ प्राप्त्यर्थक "ओहाङ्" है। संरब्धम्=संलब्धम्। संलब्धम्, अनु अविन्दन्=अभिप्राय यह कि पौरों और नागरिकों द्वारा प्रस्तुत राजा को, ६ दिशाओं के वासी अन्य प्रजाजनों ने भी अनुकूल रूप में स्वीकृत कर लिया। इह= पृथिवी में। ६ दिशाएँ=पूर्व, पश्चिम, उत्तर तथा दक्षिण दिशा के वासी, पर्वतवासी (ऊर्ध्वा दिक्), तथा अधर प्रदेश वासी (सामुद्रिक स्थान वासी)। सामुद्रिक स्थान अधर प्रदेश हैं, क्योंकि नदियाँ इस अधर प्रदेश की ओर बहती हैं। मन्त्र २ में "**त्वद्योनयः याः**" द्वारा राजा को प्रजा की योनि कहा है, चूंकि राजा

---

१. अथवा राष्ट्रिय उत्पत्तियों की तू गोद है, आश्रय है।

के सुप्रबन्ध द्वारा मानो प्रजा का नवजन्म सा होता है, और मन्त्र ४ में राजा को जन्मदात्री प्रजाओं का गर्भ पुत्र कहा है। दोनों कथन ठीक हैं, इनमें परस्पर विरोध नहीं]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**जगती**॥

आ ते राष्ट्रमिह रोहितोहार्षीद् व्यास्थन्मृधो अभयं ते अभूत्॥

तस्मै ते द्यावापृथिवी रेवतीभिः कामं दुहाथामिह शक्वरीभिः॥ ५॥

अर्थ—हे राजन्! (रोहितः) सर्वोपरि आरूढ़ परमेश्वर (इह) इस पृथिवी पर (ते) तेरे लिए (राष्ट्रम्) राष्ट्र या राज्य (आ अहार्षीत्) लाया है, (मृधः) संग्रामकारी शत्रुओं को (व्यास्थत्) उसने स्थानच्युत कर दिया है, (ते) तेरे लिए राष्ट्र (अभयम् अभूत्) भय रहित हुआ है। (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवी लोक, (रेवतीभिः) धन सम्पन्न तथा (शक्वरीभिः) शक्ति सम्पन्न प्रजाओं के द्वारा, (तस्मै ते) उस तेरे लिए (इह) इस राष्ट्र में (कामम्) कामना को (दुहाथाम्) प्रपूरित करें, दोहें।

[**मृधः संग्रामनाम** (निघं० २.१७)]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

रोहितो द्यावापृथिवी जजान तत्र तन्तुं परमेष्ठी ततान।

तत्र शिश्रियेज एकपादोदृंहद् द्यावापृथिवी बलेन॥ ६॥

अर्थ—(रोहितः) सर्वोपरि आरूढ़ परमेश्वर ने (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवी को (जजान) पैदा किया है, (परमेष्ठी) परमस्थान में स्थित परमेश्वर ने (तत्र) उन दोनों के मध्य में (तन्तुम्) विस्तृत सूत्रात्मकवायु को (ततान) ताना है, फैलाया है। (तत्र) उन द्युलोक-पृथिवी तथा सूत्रात्मक वायु में (एकपादः अजः) एक पाद तथा अजन्मा परमेश्वर (शिश्रिये) आश्रय पाया हुआ है, उसने (बलेन) निज बल द्वारा (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवी को (अदृंहत्) सुदृढ़ किया है।

[परमेष्ठी="**ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम्**" (अथर्व० १०.७.१७), अर्थात् जो पुरुष अर्थात् शरीरपुरी में शयन किये हुए या बसे हुए जीवात्मा में विद्यमान ब्रह्म को जानते हैं, वे ब्रह्म के परमेष्ठिस्वरूप को जानते हैं। परमेष्ठी=परमे जीवात्मनि तिष्ठतीति परमेष्ठी। अजः=परमेश्वर का जन्म नहीं होता। वह शरीरधारण नहीं करता। एकपादः="**पादोऽस्य विश्वा भूतानि**", "**पादोऽस्येहाभवत् पुनः**" (यजुः० ३१.३, ४)]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

रोहितो द्यावापृथिवी अदृंहत्तेन स्वः स्तभितं तेन नाकः।

तेनान्तरिक्षं विमिता रजांसि तेन देवा अमृतमन्वविन्दन्॥ ७॥

अर्थ—(रोहितः) सर्वोपरि आरूढ़ परमेश्वर ने (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवी को (अदृंहत्) सुदृढ़ किया है, (तेन) उसने (स्वः) स्वर्लोक को (स्तभितम्) थामा हुआ है, (तेन) उसने (नाकः) मोक्ष को थामा हुआ है। (तेन) उसने (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष तथा (रजांसि) सब लोक (विमिता=विमितानि) मापे हुए हैं, (तेन) उस द्वारा अर्थात् उसकी कृपा से (देवाः) दिव्यकोटि के लोग (अमृतम्) अमृत-परमेश्वर या मोक्ष को (अन्वविन्दन्) पाए हैं।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः ॥ छन्दः—भुरिक् त्रिष्टुप् ॥

वि रोहितो अमृशद्विश्वरूपं समाकुर्वाणः प्ररुहो रुहश्च।
दिवं रूढ्वा महता महिम्ना सं ते राष्ट्रमनक्तु पयसा घृतेन॥ ८॥

अर्थ—(प्ररुहः) प्ररोहों (रुहः च) और रोहों का (समाकुर्वाणः) संग्रह करते हुए, (रोहितः) सर्वोपरि आरूढ़ परमेश्वर ने, (विश्वरूपम्) विश्व के स्वरूप का (वि अमृशत्) विमर्श अर्थात् विचार किया है। (महता महिम्ना) अपनी महामहिमा के कारण (दिवम् रूढ्वा) द्युलोक पर आरूढ़ होकर परमेश्वर, (ते राष्ट्रम्) तेरे राष्ट्र को, (पयसा) दुग्ध और जल द्वारा तथा (घृतेन) घृत द्वारा (सम् अनक्तु) सम्यक्तया कान्तियुक्त करे।

[प्ररुहः, रुहः=बीज से जो प्रथम अँकुर निकलता है वह "प्ररोह" है, तथा उस अँकुर के जो भावी रूप होते हैं वे "रुहः" हैं। इन शब्दों द्वारा जगदुत्पत्ति के क्रमों को निर्दिष्ट किया है। परमेश्वर ने इन क्रमों का ध्यान कर विश्व का स्वरूप क्या होना है—इस पर विचार किया। इसे उपनिषदों में "**सोऽकामयत**" "**स ऐक्षत**" इन शब्दों द्वारा निर्दिष्ट किया है। पृथिवी पर जो प्रकाश, ताप तथा जल आते हैं वे द्युलोक से आते हैं। मानो द्युलोक पर आरूढ़ परमेश्वर, इन्हें प्रेषित कर रहा है। इन्हीं के कारण पृथिवी पर दूध, जल और घृत की सत्ता होती है। दूध और घृत के सेवन से प्रजा की शान्ति बढ़ती है, तथा जल द्वारा अन्नोत्पत्ति होती है]।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः ॥ छन्दः—जगती ॥

यास्ते रुहः प्ररुहो यास्त आरुहो याभिरापृणासि दिवमन्तरिक्षम्।
तासां ब्रह्मणा पयसा वावृधानो विशि राष्ट्रे जागृहि रोहितस्य॥ ९॥

अर्थ—हे राजन्! (ते) तेरे (याः) जो (रुहः प्ररुहः) रोह और प्ररोह हैं, (ते) तेरे (याः) जो (आरुहः) आरोह हैं, (याभिः) जिन द्वारा (दिवम्, अन्तरिक्षम्) द्यौः और अन्तरिक्ष को (आ पृणासि) तू भरपूर करता है, (तासाम्) उन रोहों, प्ररोहों तथा आरोहों के (पयसा) फलों द्वारा, तथा (ब्रह्मणा) वेद ज्ञान तथा परमेश्वर की कृपा द्वारा, (वावृधानः) बढ़ता हुआ तू, (रोहितस्य) सर्वोपरि आरूढ़ परमेश्वर की (विशि) प्रजा में तथा (राष्ट्रे) राष्ट्र में (जागृहि) जागरूक रह, सावधान रह।

[रुहः, प्ररुहः आरुहः=राजा के भिन्न-भिन्न राष्ट्रिय विभागों की जो समुन्नतियाँ, उन्नतियाँ तथा समृद्धियाँ हैं, जिनकी कीर्ति मानो द्यौः और अन्तरिक्ष में फैली हुई है, उनके फलों तथा परिणामों द्वारा तू स्वयं बढ़ तथा प्रजाओं को बढ़ा। साथ ही "ब्रह्मणा" अर्थात् वेद मन्त्रों के सदुपदेशों द्वारा स्वयं वृद्धि को प्राप्त हो तथा प्रजा को बढ़ा। राजा को यह भी कहा है प्रजा और राष्ट्र परमेश्वर के हैं। इन्हें परमेश्वरीय देन समझ कर इनकी रक्षा और समृद्धि के लिए सदा जागरूक रहना। "प्ररुहः" आदि द्वारा राष्ट्रिय विभागों की उन्नति के क्रमिक विकास को, ओषधियों के क्रमिक विकास द्वारा रूपित किया है]।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

यास्ते विशस्तपसः संबभूवुर्वत्सं गायत्रीमनु ता इहागुः।
तास्त्वा विशन्तु मनसा शिवेन संमाता वत्सो अभ्येतु रोहितः॥ १०॥

अर्थ—(ते) तेरी (याः विशः) जो प्रजाएँ (तपसः) तपोमय जीवन से (सं बभूवुः) सम्यक् सम्पन्न

हुई हैं (ताः) वे प्रजाएँ, (गायत्रीम्, वत्सम्, अनु) गायत्री और उसके वत्स[1] परमेश्वर की अनुकूलता में होकर (इह) इस राष्ट्र में (आ अगुः) तुझे [हे राजन्!] प्राप्त हुई हैं। (ताः) वे प्रजाएँ (शिवेन मनसा) शिव संकल्पी मन के साथ (त्वा) तुझे (विशन्तु) प्राप्त हों या तेरे राष्ट्र में प्रवेश करें, (रोहितः, वत्सः) सर्वोपरि आरूढ़ हुआ गायत्री का वत्स परमेश्वर, (संमाता) गायत्री माता के साथ, (अभ्येतु) तेरे और तेरी प्रजाओं के अभिमुख आए, प्राप्त रहे।

[प्रजाओं के जीवन तपोमय होने चाहिएँ (अथर्व० १२.१.१)। गायत्री में परमेश्वर का वर्णन है। गायत्री के जप द्वारा परमेश्वर प्रकट होता है। अतः परमेश्वर गायत्री का वत्स है। वत्स अर्थात् बछड़े के सान्निध्य में गौ दूध देती है, इसी प्रकार वत्सरूपी परमेश्वर के सान्निध्य में गायत्री फलप्रदा होती है। गायत्री के जप द्वारा यदि परमेश्वर प्रकट नहीं हुआ तो मानो गायत्री का जप सफल नहीं हुआ। प्रजाओं के जीवन, गायत्री और उसके वत्स के अनुकूल होने चाहिएँ, प्रतिकूल नहीं। परमेश्वर और उसकी माता गायत्री को राजा और प्रजाएँ सदा अपने संमुख रखें, ताकि प्रजाएँ शिवसंकल्पी हो सकें]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ऊर्ध्वो रोहितो अधि नाके अस्थाद्विश्वा रूपाणि जनयन्युवा कविः।
तिग्मेनाग्निर्ज्योतिषा वि भाति तृतीये चक्रे रजसि प्रियाणि॥ ११ ॥

अर्थ—(ऊर्ध्वः) संसार की रचना से ऊपर उठा हुआ (रोहितः) सर्वोपरि आरूढ़ परमेश्वर (नाके अधि) मोक्ष स्वरूप में (अस्थात्) अधिष्ठित हुआ है। (विश्वा रूपाणि) सब रूपों, आकृतियों को (जनयन्) जन्म देता हुआ (युवा कविः) सदा युवा तथा वेदकाव्यों का कवि, तथा (अग्निः) अग्निवत् प्रकाशमान परमेश्वर (तिग्मेन ज्योतिषा) उग्र ज्योति के साथ (विभाति) चमकता है। (तृतीये रजसि) तीसरे द्युलोक में (प्रियाणि) प्रिय लगने वाले नक्षत्रों और तारागणों को (चक्रे) उसने निर्मित किया है।

[ऊर्ध्वः="**त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः**" (यजुः० ३१.४)। युवा=नित्य पदार्थ निज शक्तियों की दृष्टि से सदा युवा होते हैं, अथवा युवा=**यु मिश्रणामिश्रणयोः**, संसार की उत्पत्ति में घटकतत्त्वों का संयोग-विभाग करने वाला परमेश्वर]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

सहस्रशृङ्गो वृषभो जातवेदा घृताहुतः सोमपृष्ठः सुवीरः।
मा मा हासीन्नाथितो नेत्त्वा जहानि गोपोषं च मे वीरपोषं च धेहि॥ १२ ॥

अर्थ—(सहस्रशृङ्गः) हजारों जाज्वल्यमान किरणों वाले सूर्य के सदृश (वृषभः) सुखों की वर्षा करने वाला, (जातवेदाः) उत्पन्न पदार्थों का ज्ञाता तथा मन में विद्यमान, (घृताहुतः) घृत की आहुतियों द्वारा सत्कृत, (सोमपृष्ठः) चन्द्रमा आदि का पृष्ठवत् आश्रय, (सुवीरः) उत्तम प्रेरणाओं का प्रदाता परमेश्वर है। (नाथितः) प्रार्थित हुआ परमेश्वर (मा मा) मुझे न (हासीत्) त्यागे, (नेत्) न ही (त्वा) तुझे

१. वेदमन्त्रों का वर्णन निराले ढंग का है। यहाँ परमेश्वर को गायत्री का वत्स कहा है। (अथर्व० ४.३९.९) में अग्निवासी परमेश्वर को "**ऋषीणां पुत्रः**" कहा है, अर्थात् ऋषि लोग परमेश्वर के लिए ऐसा स्नेह रखते हैं जैसाकि माता-पिता पुत्र के प्रति स्नेह रखते हैं तथा "**यो गायत्र्या अधिपतिर्बभूव**" (अथर्व० ४.३५.६) में गायत्री का अधिपति कहा है। अथवा वत्सः=बसा हुआ, गायत्री में रमा हुआ। इसी प्रकार परमेश्वर की माता, पिता, बन्धु आदि भी कहा है।

(जहानि) मैं त्यागूँ। (गोपोषम्) गौओं, राष्ट्रभूमि, तथा इन्द्रियों की पुष्टि (च) और (वीरपोषम्) वीर पुरुषों की पुष्टि (मे) मुझे (धेहि) दे।

[**शृङ्गः, शृङ्गाणि ज्वलतो नाम** (निघं० १.१७)। सुवीरः=सु+वि+ईर (गतौ)। मन्त्र में अभिषिक्त राजा द्वारा कथन प्रतीत होता है (मन्त्र १, २)]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**अतिशाक्वरगर्भातिजगती**॥

रोहितो यज्ञस्य जनिता मुखं च रोहिताय वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि।

रोहितं देवा यन्ति सुमनस्यमानाः स मा रोहैः सामित्यै रोहयतु॥ १३॥

अर्थ—(रोहितः) सर्वोपरि आरूढ़ परमेश्वर (यज्ञस्य) यज्ञ का (जनिता) जन्मदाता (च) तथा (मुखम्) उपदेष्टा है, (रोहिताय) सर्वोपरि आरूढ़ परमेश्वर के प्रति (वाचा) स्तुति वचनों द्वारा, (श्रोत्रेण मनसा) श्रवण और मनन द्वारा, (जुहोमि) मैं अपने आप को समर्पित करता हूँ। (देवाः) देव कोटि के लोग (सुमनस्यमानाः) सुप्रसन्नचित्त होकर या उत्तमविधि से मनन करते हुए (रोहितम्) सर्वोपरि आरूढ़ परमेश्वर को (यन्ति) प्राप्त होते हैं। (सः) वह परमेश्वर (सामित्यैः) राजसभा के सदस्यों के साथ (मा) मुझ राजा को (रोहैः) उन्नतियों द्वारा (रोहयतु) समुन्नत करे।

[यज्ञस्य=संसार-यज्ञ या द्रव्ययज्ञ। सामित्यैः=समिति (राजसभा) के सदस्य राजवर्ग (अथर्व० १२.१.५६)]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**त्रिपदा पुरःपरशाक्वरा विपरीतपादलक्ष्मा पङ्क्तिः**॥

रोहितो यज्ञं व्यदधाद्विश्वकर्मणे तस्मात्तेजांस्युप मेमान्यागुः।

वोचेयं ते नाभिं भुवनस्याधि मज्मनि॥ १४॥

अर्थ—(रोहितः) सर्वोपरि आरूढ़ परमेश्वर ने (विश्वकर्मणे) विविध प्रकार की रचनाओं के करने वाले शिल्पिसमूह के लिए, (यज्ञम्) संसारयज्ञ का (व्यदधात्) विधिपूर्वक निर्माण किया है; (तस्मात्) उस शिल्पिसमूह से (मा) मुझ राजा को (इमानि तेजांसि) ये राष्ट्रिय तेज (उपागुः) प्राप्त हुए हैं। हे परमेश्वर! (भुवनस्य) उत्पन्न संसार के (मज्मनि अधि) बलों या शक्तियों में (ते) तेरी (नाभिम्) केन्द्रिय-शक्ति का (वोचेयम्) मैं कथन करता हूँ।

[परमेश्वर ने संसार-यज्ञ विधिपूर्वक रचा है। शिल्पी लोग संसार की विधिपूर्वक रचनाओं को देख कर विविध रचनाएँ करते हैं। राष्ट्र के नगरों, मकानों आदि का निर्माण कर शिल्पी राष्ट्र को सुन्दर रूप देते हैं। संसार की रचनाओं में, केन्द्ररूप शक्ति, परमेश्वर की है। मज्मनि=**मज्मना बलनाम** (निघं० २.९) नाभिम्=शरीर में नाभि केन्द्ररूप है। माता के पेट में शिशु का पालन नाभिनाल द्वारा होता है। सांसारिक शक्तियों में परमेश्वर की शक्ति नाभिरूप है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**अतिजागतगर्भा पराजगती**॥

आ त्वा रुरोह बृहत्यू३त पङ्क्तिरा ककुब्वर्चसा जातवेदः।

आ त्वा रुरोहोष्णिहाक्षरो वषट्कार आ त्वा रुरोह रोहितो रेतसा सह॥ १५॥

अर्थ—हे राजन्! (त्वा) तुझ पर (बृहती) बृहती छन्द वाले मन्त्र, (उत) और (पङ्क्तिः)

पङ्क्ति छन्द वाले मन्त्र (आरुरोह) सवार हुए हैं, (जातवेदः) हे उत्पन्न पदार्थों के जानने वाले राजन्! (ककुप्) ककुप् छन्द वाले मन्त्र (वर्चसा) निज ज्ञानवर्चस् के साथ (आ) तुझ पर सवार हुए हैं। (उष्णिहाक्षरः) उष्णिक् छन्द द्वारा प्रतिपाद्य अक्षर, अविनाशी परमेश्वर या इस छन्द के अक्षरों वाला मन्त्र तथा (वषट्कारः) वषट्कार (त्वा) तुझ पर (आ रुरोह) सवार हुए हैं, (रोहितः) सर्वोपरि आरूढ़ परमेश्वर (रेतसा सह) निज शक्ति के साथ (त्वा) तुझ पर (आ रुरोह) सवार हुआ है।

[राजा को सम्बोधित करके कहा है कि हे राजन्! राष्ट्र में जो उत्पत्तियाँ या उन्नतियाँ होती हैं उन्हें तू जानता है। राष्ट्रशासन के लिए वैदिक छन्दों में निर्दिष्ट विधियों द्वारा तूने राष्ट्रशासन करना है। ये वैदिक छन्द तुझ पर आरूढ़ हुए हैं, मानो तुझ पर सवार हुए हैं। जैसे अश्वारोही अर्थात् घुड़सवार अश्व पर आरूढ़ होकर अश्व को चलाता है, इसी प्रकार वैदिक छन्दों में उपदिष्ट निर्देश तुझे मार्ग दर्शन कराएँगे। यही नहीं, अपितु यह भी जान कि सर्वाधिरोही परमेश्वर भी निज शक्ति समेत तुझ पर सवार है। इसलिए परमेश्वर निर्दिष्ट मार्ग से राष्ट्र का शासन करना, तथा राष्ट्रशासन यज्ञ को सफल बनाने वाले राष्ट्रिय देवों अर्थात् सत्पात्रों को दान देकर उनकी पूजा करते रहना। यजुर्वेद के यज्ञाहुति सम्बन्धी मन्त्र का उच्चारण करने के अन्त में "वषट्" बोलकर यज्ञों में आहुति दी जाती है। इसलिए मन्त्र में वषट्कार का अभिप्राय है सत्पात्रों में दानरूपी आहुतियाँ प्रदान करना। उष्णिहाक्षरः=उष्णिक् (**उष्णिह्; उत्पूर्वात् स्निह्यतेर्वा स्यात् कान्तिकर्मणः;** निरुक्त (७.३.१२)। उष्णिक्=उष्णिह्; **"टापं चैव हलन्तानाम्"** द्वारा उष्णिह्+आ=उष्णिहा। **उष्णिहायाः अक्षराणि**[1] **यस्मिन् सः उष्णिहाक्षरः मन्त्रः।** प्रतीत होता है कि बृहती आदि छन्दों में से, कतिपय बृहती आदि छन्दों में राष्ट्रशासन के उत्कृष्ट तत्त्वों का वर्णन है, उन्हीं छन्दों का निर्देश मन्त्र में किया गया है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**विराड् बृहती**॥

अयं वस्ते गर्भं पृथिव्या दिवं वस्तेयमन्तरिक्षम्।

अयं ब्रध्नस्य विष्टपि स्वर्लोकान्व्यानशे॥ १६॥

अर्थ—(अयम्) यह [रोहित परमेश्वर] (पृथिव्याः गर्भम्) पृथिवी के गर्भ में (वस्ते) वसता है, (अयम्) यह (दिवम्, अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष और द्युलोक में (वस्ते) वसता है। (अयम्) यह (ब्रध्नस्य) महान् सूर्य सम्बन्धी (विष्टपि) द्युलोक में विद्यमान (स्वर्लोकान्) उत्तप्त या प्रकाशमान लोकों में (व्यानशे) व्याप्त है।

[वस्ते=**वस निवासे, आच्छादने**। ब्रध्नस्य=ब्रध्नः महान् सूर्यः (उणा० ३.५; महर्षि दयानन्द)। विष्टपि="**अथ द्यौराविष्टा ज्योतिर्भिः पुण्यकृद्भिश्च**" (निरुक्त २.४.१४)। लोकान्=नक्षत्र, तारा आदि]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**पञ्चपदा ककुम्मती जगती**॥

वाचस्पते पृथिवी नः स्योना स्योना योनिस्तल्पा नः सुशेवा।

इहैव प्राणः सख्ये नो अस्तु तं त्वा परमेष्ठिन्पर्यग्निरायुषा वर्चसा दधातु॥ १७॥

अर्थ—(वाचस्पते) हे वाणी अर्थात् शिक्षा के पति राजन्! (पृथिवी) पृथिवी (नः) हमें (स्योना) सुखकारी हो, (योनिः) घर (स्योना) सुखकर हो, (तल्पा) पलंग (नः), हमें (सुशेवा) उत्तम सुखदायी

१. इस द्वारा यह दर्शाया है कि मन्त्रपादों में अक्षरसंख्या का नियम आवश्यक है, लघु-गुरु मात्राओं का नियम आवश्यक नहीं।

हो। (इह एव) इस राष्ट्र में ही (प्राणः) प्राण (नः) हमारे साथ (सख्ये अस्तु) सखिभाव में हो, (परमेष्ठिन्) राष्ट्र के परमोच्चपद पर स्थित हे राजन्! (अग्निः) ज्ञानाग्निमय परमेश्वर, (तं त्वा) उस अर्थात् शिक्षाध्यक्षरूप तुझ को, (आयुषा) दीर्घ तथा नीरोग आयु के साथ, तथा (वर्चसा) तेज के साथ (परि दधातु) घेरे रहे।

[शिक्षा इस प्रकार की होनी चाहिए जिससे कि जीवन सुखी हो सके, गृह जीवन तथा रात्री में शयन सुखकर हों, जीवन में प्राण हमें सुखदायी हो, प्राणसम्बन्धी कष्ट हमें न हो। परिदधातु=ज्ञानाग्नि सम्पन्न परमेश्वर, आयु और तेज की दृष्टि से, परिधि बन कर तेरी रक्षा करे]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥
छन्दः—**पञ्चपदा परशाक्वरा भुरिग् ककुम्मत्यतिजगती**॥

वाचस्पत ऋतवः पञ्च ये नौ वैश्वकर्मणाः परि ये संबभूवुः। इहैव प्राणः सख्ये नो अस्तु तं त्वा परमेष्ठिन्परि रोहित आयुषा वर्चसा दधातु॥ १८॥

अर्थ—(वाचस्पते) हे वाणी अर्थात् शिक्षा के पति अर्थात् अध्यक्ष राजन्! या शिक्षाध्यक्ष! (वैश्वकर्मणाः) विश्व के कर्त्ता द्वारा रचीं (ये) जो (पञ्च ऋतवः) पाँच या विस्तृत ऋतुएँ हैं, (ये) जोकि (नौ) हम दोनों अर्थात् प्रजावर्ग और राजवर्ग को (परि सं बभूवुः) घेरे हुई हैं, वे हम दोनों के लिए सुखदायी हों (मन्त्र १७ से)। इहैव प्राणः (पूर्ववत् मन्त्र १७)।

[मन्त्र १७ में "अग्नि", और १८ में "रोहित" पद, परमेश्वरार्थक है। पञ्च=**पचि विस्तारे**। विस्तृत या हेमन्त और शिशिर को एक ऋतु मन कर, पाँच ऋतुएँ कही हैं। अथवा **ऋतवः नः सख्ये सन्तु**]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥
छन्दः—**पञ्चपदा परातिजागता ककुम्मत्यतिजगती**॥

वाचस्पते सौमनसं मनश्च गोष्ठे नो गा जनय योनिषु प्रजाः। इहैव प्राणः सख्ये नो अस्तु तं त्वा परमेष्ठिन्पर्यहमायुषा वर्चसा दधामि॥ १९।

अर्थ—(वाचस्पते) वाणी अर्थात् शिक्षा के पति अर्थात् अध्यक्ष हे राजन्! [शिक्षा द्वारा] (नः) हम प्रजाजनों में (सौमनसम्) मन की प्रसन्नता, (च मनः) और मननशीलता हो; तथा (गोष्ठे) इन्द्रियों की स्थिति स्थान शरीर में (गाः) स्वस्थ इन्द्रियाँ हों, या गोशालाओं में गौएँ हों, (योनिषु) घरों में या स्त्रीयोनियों में (प्रजाः) सन्तानें (जनय) पैदा कर। इहैव---(पूर्ववत् मन्त्र १७)। मन्त्र में "अहम्" पद द्वारा परमेश्वर का कथन है।

[शिक्षा द्वारा मन की प्रसन्नता तथा मन का मननशील होना चाहिए, तथा इन्द्रियों की स्वस्थता होनी चाहिए। राजा ऐसा प्रबन्ध करे कि घर-घर में दूध आदि के लिए गौएँ हों, और गृहस्थी संतानों से विहीन न हों। गाः; गौः=पशुः, इन्द्रियम्, सुखं, किरणो, वज्रम्, चन्द्रमाः, भूमिः, वाणी, जलं वा (उणा० २.६८; महर्षि दयानन्द। **योनिः गृहनाम** (निघं० ३.४)]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

परि त्वा धात्सविता देवो अग्निर्वर्चसा मित्रावरुणावभि त्वा। सर्वा अरातीरवक्रामन्नेहीदं राष्ट्रमकरः सूनृतावत्॥ २०॥

अर्थ—(सविता देवः) दिव्य गुणी, उत्पत्तियों का अध्यक्ष, (त्वा) तेरी (परिधात्) रक्षा-परिधि बने, या सब ओर से तेरा रक्षक और पोषक हो, (वर्चसा) तेज के साथ (अग्निः) परमेश्वर या ज्ञानाग्नि का अधिष्ठाता तेरी रक्षा-परिधि बने, या सब ओर से तेरा रक्षक और पोषक बने [परित्वा धात्], (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण (त्वा अभि) तेरे सम्मुख रहें। (सर्वाः) सब (अरातीः) शत्रुओं को (अवक्रामन्) आक्रमण द्वारा नीचे करता हुआ (एहि) विजयी बन कर आ, और (इदम् राष्ट्रम्) इस राष्ट्र को (सूनृतावत्) प्रिय और सत्य वाणी वाला (अकरः) कर, या तूने किया।

[सविता=उत्पत्तियों का, विशेष रूप से सन्तानोत्पत्तियों का अध्यक्ष। "**सविता प्रसवानामधिपतिः**" (अथर्व० ५.२४.१)। प्रसव=उत्पत्ति। मित्रावरुणौ; मित्रः=राजा को "मित्रवर्धन" कहा है (अथर्व० ४.८.२, ६), तथा "**मित्रेणाग्ने मित्रधा यतस्व**" (अथर्व० २.६.४) में "मित्र" के द्वारा तू "मित्रधा" बनने के लिए यत्न कर। इस प्रकार मित्रनामक अधिकारी है "पर राष्ट्रों के अधिकारियों को अपने राष्ट्रमित्र बनाने के लिए। वरुणः=यह है स्पशों का अधिकारी। स्पश् का अभिप्राय है "गुप्तचर"। यथा "**दिव स्पशः प्रचरन्तीदमस्य**", "**संख्याता अस्य निमिषो जनानाम्**" (अथर्व० ४.१६.४, ५)। यद्यपि यह वर्णन परमेश्वर-वरुण सम्बन्धी है। राष्ट्रपरक अर्थ में "वरुण" गुप्तचरों का अधिकारी प्रतीत होता है। सूनृतावत्=राष्ट्रिय शिक्षा का एक मुख्य उद्देश्य नैतिक या सदाचार शिक्षण है। सूनृता अर्थात् "प्रिय और सत्य भाषण" की शिक्षा राष्ट्र के लिए अत्युपयोगी है। मनुस्मृति का श्लोक इस सम्बन्ध में स्मरणीय है। यथा "**सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्। प्रियं च नानृतं ब्रूयाद् एष धर्मः सनातनः**"]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**आर्षी निचृद् गायत्री**॥

यं त्वा पृषती रथे प्रष्टिर्वहति रोहित। शुभा यासि रिणन्नपः॥ २१॥[1]

अर्थ—(रोहितः) हे सिंहासनारूढ़ राजन्! (यम् त्वा) जिस तुझ को (पृषती) चितकबरी (प्रष्टिः) घोड़ी (रथे) रथ में (वहति) वहन करती है, वह तू (अपः रिणन्) जल का विमोचन करता हुआ, (शुभा) शोभा से युक्त हुआ (यासि) राष्ट्र में जाता है।

[राष्ट्रोन्नति के लिए योजनाएँ (Projects) की जाती हैं। कृषि के लिए कुल्या (नहर) आदि के विमोचन का वर्णन मन्त्र में प्रतीत होता है। राजा इसका विमोचन करता है। रिणन्=**रि गतौ**]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अनुव्रता रोहिणी रोहितस्य सूरिः सुवर्णा बृहती सुवर्चाः।
तया वाजान्विश्वरूपां जयेम तया विश्वाः पृतना अभि ष्याम॥ २२॥

अर्थ—(सूरिः) प्रेरणा देने वाली, (सुवर्णा) उत्तमोत्तम रूपों वाली, (बृहती) संख्या में बड़ी, (सुवर्चाः) तेजस्विनी तथा (रोहिणी) समुन्नतिशील प्रजा, (रोहितस्य) सिंहासनरूढ़ राजा के (अनुव्रता)

१. (रोहित) हे बीजों के उत्पादक! तथा बीजाङ्कुरों का प्रादुर्भाव करने वाले राजन्! (यं त्वा) जिस तुम को (पृषती) भूमि को सींचने वाली नहर के सदृश [शीघ्रगामिनी] (प्रष्टिः) घोड़ी (रथे) रथ में (वहति) ले चलती है, और तू (शुभा) शोभायुक्त हुआ (यासि) जाता है, (अपः रिणन्) और जलों का विमोचन करता है।

[पृषती=**पृषु सेचने**। लुप्तोपमावाचक शब्द। बीजों के उत्पादन और बीजाङ्कुरों के उत्पादन के वर्णन के कारण पृषती है सींचने वाली नहर। पृषतियों का सम्बन्ध मानसून वायुओं के साथ है। यथा "**पृषत्यो मरुताम्**" (निघं० १.१५)। मरुतः=मानसून वायुएँ (अथर्व० ४.२७.४, ५)]।

अनुकूल कर्मों वाली हो। (तया) उस प्रजा के द्वारा हम सैनिक, (वाजान्) शत्रु के बलों को, (विश्वरूपाम्) तथा नानारूपों वाली भूमि को (जयेम) जीतें। (तया) उस प्रजा द्वारा (विश्वाः पृतनाः) सभी सेनाओं का (अभि स्याम) पराभव करें।

[सूरिः=**षू प्रेरणे**। प्रजा प्रेरणाएँ देती हैं राजा को अथवा सूरिः=विदुषी। **व्रतम् कर्मनाम** (निघं० २.१)। **वाजः बलनाम** (निघं० २.९)। **पृतनाः संग्रामनाम** (निघं० २.१७)। अभिष्याम्=अभि भवेम]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

इदं सदो रोहिणी रोहितस्यासौ पन्थाः पृषती येन याति।

तां गन्धर्वाः कश्यपा उन्नयन्ति तां रक्षन्ति कवयोऽप्रमादम्॥ २३॥

अर्थ—(रोहिणी) समुन्नतिशील प्रजा है। (इदम् सदः) यह सिंहासन स्थिति का स्थान है (रोहितस्य) सिंहासनारूढ़ राजा का। (असौ पन्थाः) और वह मार्ग है (येन) जिस मार्ग द्वारा (पृषती) सींचने वाली नहर (याति) जाती है। (ताम्) उस नहर को (गन्धर्वाः) पृथिवी के धारक राज्याधिकारी तथा (कश्यपाः) राज्यनिरीक्षक लोग (उन्नयन्ति) समुन्नत करते हैं, (ताम्) उसकी (अप्रमादम्) आलस्य छोड़कर (रक्षन्ति) रक्षा करते हैं (कवयः) वेदकाव्य के विद्वान्।

[अभिप्राय यह कि प्रजा तो स्वयं समुन्नतिशील है, उन्नतिमार्ग पर स्वयं आरोहण करने वाली है। राजा का स्थान है राजसिंहासन, जिस पर आरूढ़ होकर उसने शासन करना है। प्रजा के जल के लिए तथा कृषि की उन्नति के लिए राज्याधिकारी नहर और उसके मार्ग की रक्षा करें, और वेदकाव्य के विद्वान् भूमि की उपज के सम्बन्ध में मार्ग प्रदर्शन करें]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सूर्यस्याश्वा हरयः केतुमन्तः सदा वहन्त्यमृताः सुखं रथम्।

घृतपावा रोहितो भ्राजमानो दिवं देवः पृषतीमा विवेश॥ २४॥

अर्थ—(हरयः) अन्धकार का हरण करने वाले, (केतुमन्तः) रोग हटाने वाले या ज्ञान के साधनभूत, (अमृताः) जल सम्बन्धी (सूर्यस्य अश्वाः) सूर्य के अश्व अर्थात् रश्मियाँ, (सदा रथं सुखं वहन्ति) सदा सूर्यरूपी रथ का वहन सुख पूर्वक कर रही हैं। (घृतपावा) जल का पान करने वाला, (भ्राजमानः) प्रदीप्त हुआ, (रोहितः देवः) ओषधियों का रोहण करने वाला या द्युलोक पर आरूढ़ हुआ सूर्य-देव, (पृषतीम्[१]) नक्षत्रों और तारा रूपी बिन्दुओं से युक्त विविधवर्णा (दिवम्) द्यौ में (आ विवेश) प्रविष्ट हुआ है।

[हरयः=**हृञ् हरणे**। केतु=**कित निवासे, रोगापनयने च**, अर्थात् चिकित्सक रूप। तथा **केतुः प्रज्ञानाम** (निघं० ३.९)। अमृताः=**अमृतम् उदकनाम** (निघं० १.१२), तद्वन्तः "**अर्शआदिभ्योऽच्**" (अष्टा० ५.२.१२७)। **घृतम् उदकनाम** (निघं० १.१२)। पृषती=बिन्दुमती, पृषत्=बिन्दुः (उणा० २.८५)।

---

१. अथवा "पृषती" का अर्थ यदि नदी ही अभिप्रेत हो, तो पूर्वोक्त मन्त्रों में समन्वय की दृष्टि से "पृषती" द्वारा आकाश गङ्गा का ग्रहण करना चाहिए। सूर्य का स्थान वस्तुतः आकाश गङ्गा है—यह वैज्ञानिक तथ्य है। यथा "The milky way (आकाश गङ्गा) is the mother of the sun" पृष्ठ १२, १४। "The milky way is the great mother of the sun, पृष्ठ १४; milky way to be the suns path, पृष्ठ १५; The milky way as the path of the sun, पृष्ठ ९, (Popular Hindu Astronomy) द्वारा कालीनाथ मुकरजी, संस्करण १९६९)।

सूर्यस्य रथम्=सूर्यम् (विकल्पे षष्ठी)]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यो रोहितो वृषभस्तिग्मशृङ्गः पर्यग्निं परि सूर्यं बभूव।
यो विष्टभ्नाति पृथिवीं दिवं च तस्माद्देवा अधि सृष्टीः सृजन्ते॥ २५॥

अर्थ—(यः) जो (वृषभः) सुखवर्षी, (तिग्मशृङ्गः) उग्रप्रकाश वाला (रोहितः) सर्वोपरि आरूढ़ परमेश्वर (अग्निं परि) अग्नि के सब ओर, तथा (सूर्यं परि) सूर्य के सब ओर (बभूव) विद्यमान है, अर्थात् इन दोनों में व्याप्त है या इन दोनों को घेरे हुए है। (यः) जो (पृथिवीम् दिवं च) पृथिवी और द्यौ को (विष्टभ्नाति) थामे हुए है, (तस्मात् अधि) उससे [ज्ञान प्राप्त करके] (देवाः) देवकोटि के शिल्पी (सृष्टीः) विविध प्रकार की सृष्टियाँ (सृजन्ते) रचते हैं।

[तिग्मशृङ्गः=**शृङ्गाणि ज्वलतोनाम** (निघं० १.१७)। सूर्यम् परि=इससे ज्ञात होता है कि मन्त्र २४ में "सूर्यस्य" पद का अर्थ परमेश्वर नहीं। देव लोग परमेश्वरीय रचनाओं को देख कर निज रचनाएँ रचते हैं]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**विराट् परोष्णिक्** ॥

रोहितो दिवमारुहन्महतः पर्यर्णवात्। सर्वा रुरोह रोहितो रुहः॥ २६॥

अर्थ—(महतः अर्णवात् परि) महासमुद्र से, (रोहितः) सर्वोपरि आरूढ़ परमेश्वर, (दिवम् आरुहत्) द्युलोक पर आरोहण किये हुए है। (रोहितः) सर्वोपरि आरूढ़ परमेश्वर (सर्वाः रुहः रुरोह) सब ऊँचाईयों पर आरोहण किये हुए है।

[महतः अर्णवात्=पार्थिव महासमुद्र। पृथिवी पर तीन अंश समुद्र है और एक अंश स्थल। अभिप्राय यह कि परमेश्वर पृथिवी से लेकर द्युलोक तक तथा द्युलोक की भी सब ऊचाईयों में व्याप्त है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वि मिमीष्व पयस्वतीं घृताचीं देवानां धेनुरनपस्पृगेषा।
इन्द्रः सोमं पिबतु क्षेमो अस्त्वग्निः प्र स्तौतु वि मृधो नुदस्व॥ २७॥

अर्थ—(पयस्वतीम्) दूध देने वाली, (घृताचीम्) घृत से व्याप्त [राज्य भूमि] को (विमिमीष्व) ठीक प्रकार से माप, (एषा) यह राज्य भूमि (देवानाम्) व्यवहारियों की (अनपस्पृग्) स्पर्श से अपगत न होने वाली (धेनुः) दुधार गौ रूप है। (इन्द्रः) सम्राट् (सोमम्) इसके दूध का (पिबतु) पान करे और कराये, (क्षेमः अस्तु) ताकि सबका कुशल हो, (अग्निः) क्षात्राग्नि (प्रस्तौतु) शत्रु के प्रति युद्ध का प्रस्ताव करे, और तू हे सम्राट्! (मृधः) शत्रु संग्रामकारियों को (विनुदस्व) धकेलने का प्रबन्ध कर।

[देवानाम्=**दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहार...**। अतः देव=व्यवहार कुशल व्यापारी। सोम=दूध, तथा पृथिवी धेनु द्वारा प्राप्य अन्य पदार्थ। "**सोमो दुग्धाभिरक्षाः**" (ऋ० ९.१०७.९), तथा "**सोमो दुग्धाभ्यः क्षरति**" (निरुक्त ५.१.३), अर्थात् दुही गई गौओं से सोम क्षरित होता है। सोम उपलक्षक है अन्य पदार्थों का भी। अनपस्पृग्=अ+नुट्+अप+स्पृग्) (स्पृश)। स्पर्श से अपगत न होने वाली अर्थात् प्रापणीया। अग्निः=क्षात्राग्निः[1], (अथर्व० ६.७६.१-४)]।

१. क्षात्राग्नि मन्त्रों के अर्थ—"जो इस अग्नि की सेवा करते हैं, और इसे देखने के लिए इसका आधान करते हैं, उनकी यह अग्नि जिह्वाओं द्वारा प्रदीप्त होती, और हृदय से उठती है"॥ १॥ "मैं आयु (जीवन) के लिए, सम्यक् तपाने

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**॥

समिद्धो अग्निः समिधानो घृतवृद्धो घृताहुतः।

अभीषाड् विश्वाषाडग्निः सपत्नान्हन्तु ये मम॥ २८॥

अर्थ—(घृताहुतः) घृत की आहुति को प्राप्त, (घृतवृद्धः) घृत द्वारा बढ़ी हुई [याज्ञियाग्नि की तरह] (अग्निः) क्षात्राग्नि (समिधानः) समिद्ध होता हुआ (समिद्धः) तथा पूर्णतया समिद्ध हुआ, (अभीषाड्) संमुख उपस्थित शत्रुओं को पराभूत करता, तथा (विश्वाषाड्) अन्य सब शत्रुओं को पराभूत करता है, (अग्निः) वह क्षात्राग्नि (सपत्नान्) शत्रुओं का (हन्तु) हनन करे, (ये मम) जो कि मेरे हैं।

[क्षात्राग्निः (मन्त्र २७)]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

हन्त्वेनान्प्र दहत्वरिर्यो नः पृतन्यति। क्रव्यादाग्निना वयं सपत्नान्प्र दहामसि॥ २९॥

अर्थ—क्षात्राग्नि (एनान्) इन्हें (हन्तु) मारे, (यः) जो (अरिः) शत्रु (नः पृतन्यति) हम पर सेना द्वारा आक्रमण करता है उसे (प्र दहतु) क्षात्राग्नि दग्ध करे। (वयम्) हम (क्रव्यादा अग्निना)श्मशानाग्नि द्वारा (सपत्नान्) शत्रुओं को (प्र दहामसि) प्रदग्ध करते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अवाचीनानव जहीन्द्र वज्रेण बाहुमान्।

अधा सपत्नान्मामकानग्नेस्तेजोभिरादिषि॥ ३०॥

अर्थ—(इन्द्र) हे सेनापति! (बाहुमान्) बाहुओं में शक्ति वाला तू (वज्रेण) वज्र द्वारा (अवाचीनान्) नीचे गिरे हुओं को (अव जहि) नीचे गिरी अवस्था में मार डाल। (अधा) तब (मामकान् सपत्नान्) मेरे शत्रुओं को (अग्नेः) क्षात्राग्नि के (तेजोभिः) तेजों द्वारा, (आदिषि) अपनी अधीनता में मैं लेता हूँ।

[अग्नेः तेजोभिः=अथवा आग्नेयास्त्रों के तेजों द्वारा]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**पञ्चपदा ककुम्मती शाक्वरगर्भा जगती**॥

अग्ने सपत्नानधरान्पादयास्मद् व्यथया सजातमुत्पिपानं बृहस्पते।

इन्द्राग्नी मित्रावरुणावधरे पद्यन्तामप्रतिमन्यूयमानाः॥ ३१॥

अर्थ—(अग्ने) हे क्षात्राग्नि! (सपत्नान्) शत्रुओं को (अस्मत्) हम से (अधरान्) नीचे (पादय) कर दे। (सजातम्) सजातीय शत्रु को (बृहस्पते) हे बड़ी सेना के पति! (उत्पिपानम्) जो कि अतिलोभी या उच्छोषणकारी है उसे (व्यथय) व्यथित कर, पीड़ित कर। (इन्द्राग्नी) हे सम्राट् तथा क्षात्राग्नि! (मित्रावरुणौ) हे मित्र तथा वरुण! (अप्रतिमन्यूयमानाः) शत्रु हमारे प्रति मन्यु न करते हुए (अधरे

वाली अग्नि के चरण का आश्रय लेता हूँ (आलभे)। सत्यान्वेषी व्यक्ति जिसके धूम को मुख से उठता हुआ देखता है"॥ २॥ "क्षत्रिय द्वारा आधान की गई इस अग्नि की समिधा [आत्मसमर्पण] को जो जानता है वह मृत्यु के लिए कुटिल मार्ग [युद्ध] पर अपना चरण नहीं रखता"॥ ३॥ "चारों ओर से घेरने वाले शत्रु इसका हनन नहीं कर पाते, समीपस्थ शत्रुओं को तो यह अवगत अर्थात् जानता तक नहीं, जो ज्ञानी क्षत्रिय कि जीवन के लिए इस अग्नि का नाम ग्रहण करता है, नाम जपता है"॥ ४॥ अतः क्षात्राग्नि=निज देश की रक्षा के लिए क्षत्रिय के हृदय का उत्साह, तथा आक्रमणकारियों पर क्रोध।

पद्यन्ताम्) हम से नीचे हो जाएँ।

[बृहस्पते=यथा "**बृहस्पते परि दीया रथेन**" (यजुः० १७.३६), हे बृहस्पति! तू रथ-युद्ध द्वारा शत्रु का क्षय कर, दीय=**दीङ् क्षये**। इसी प्रकार देखो (यजुः० १७.४०), इस मन्त्र में यह कहा है कि बृहस्पति सेना के दक्षिण में होकर सेना के साथ चले। उत्पिपानम्=उत्+पा (पीना)+कानच्=अति खाऊ-पीऊ, अर्थात् लोभी। अथवा "अतिकर" आदि द्वारा प्रजा का रक्तपान करने वाला। अथवा "उत्+पै (शोषणे)+कानच्"=उच्छोषणकारी। इन्द्रः="**इन्द्रश्च सम्राट्**" (यजुः० ८.३७)। मित्रावरुणौ=देखो (मन्त्र २०)]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

उ॒द्यंस्त्वं दे॑व सूर्य स॒पत्ना॒नव॑ मे जहि। अवै॑ना॒नश्म॑ना जहि॒ ते य॑न्त्वध॒मं तमः॥ ३२॥

अर्थ—(सूर्य देव) हे दिव्य सूर्य! (त्वम्) तू (उद्यन्) उदित होता हुआ (मे) मेरे (सपत्नान्) शत्रुओं का (अवजहि) हनन कर। (एनान्) इन्हें (अश्मना) व्यापक रश्मिसमूह द्वारा (अव जहि) मार, (ते) वे शत्रु (अधमं तमः) मृत्युरूप कुत्सित अन्धकार को (यन्तु) प्राप्त हों[१]।

[अश्मना="अश्नुते व्याप्नोति" (उणा० ४.१४८)। सूर्य के रश्मिसमूह द्वारा शत्रुओं के विनाश का वर्णन है]।

तथा

हे सूर्य सदृश स्वप्रकाशी परमेश्वर-देव! तू मेरे हृदय में उदित होता हुआ मेरे काम-क्रोधादि शत्रुओं का हनन कर, मेरे जीवन में व्याप्ति द्वारा उनका हनन कर, उनका हनन कर जो कि नीच तमोमयी वृत्तियों के परिणाम हैं।

[सूर्य="**सो अग्निः स उ सूर्यः। स उ एव महायमः**" (अथर्व० १३.४(१).५) में परमेश्वर को सूर्य कहा है। मन्त्र में "तमः" शब्द "रजस् का भी उपलक्षक है। प्रथम तमोमयी वृत्तियों का विनाश करना होता है, तदनन्तर रजोमयी का। मन्त्रों में परमेश्वर को "**आदित्यवर्णम्**" (यजुः० ३१.१७) भी कहा है, अर्थात् आदित्य सदृश स्वप्रकाशी तथा प्रकाशदाता]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

व॒त्सो वि॒राजो॑ वृ॒ष॒भो म॑ती॒नामा रु॑रोह शु॒क्रपृ॑ष्ठो॒ऽन्तरि॑क्षम्।
घृ॒तेना॒र्कम॒भ्य॑र्चन्ति व॒त्सं ब्रह्म॒ सन्तं॒ ब्रह्म॑णा वर्धयन्ति॥ ३३॥

अर्थ—(विराजः) विविध कृतियों में प्रदीप्त हो रही प्रकृति का (वत्सः) वत्सरूप, (मतीनाम्) ज्ञानों की (वृषभः) वर्षा करने वाला, (शुक्रपृष्ठः) शुभ्रसूर्य के लिए पृष्ठवत् आधारभूत परमेश्वर, (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष या हृदयान्तरिक्ष में (आ रुरोह) आरूढ़ हुआ है। उपासक (अर्कम्) स्तुत्य (वत्सम्) वत्सरूपी परमेश्वर की (घृतेन) घृतादि पदार्थों द्वारा (अभ्यर्चन्ति) स्तुतियाँ करते हैं, (ब्रह्म सन्तम्) ब्रह्म अर्थात् सर्वतो बृहत् होते हुए की (ब्रह्मणा) ब्रह्म वेद या वेदमन्त्रों द्वारा (वर्धयन्ति) बढ़ाई करते हैं।

[विराजः=प्रकृति का। प्रकृति ही सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादिरूप में, तथा समग्र जड़ और प्राणी जगत् में

---

१. अथवा "सूर्य सदृश राष्ट्र को प्रकाशित करने वाले हे सम्राट्! तू उदय को अर्थात् अभ्युदय को प्राप्त होता हुआ पत्थर सदृश घातक शस्त्रास्त्र समूह द्वारा राष्ट्र के शत्रुओं का हनन कर। मन्त्र में प्रजा के प्रतिनिधि की उक्ति है।"

चमक रही तथा विराजमान हो रही है। परमेश्वर इसका वत्सरूप है। प्राकृतिक कृतियों द्वारा इनके कर्त्ता का अनुमानरूपी ज्ञान हमें होता है। योगियों को समाधि में परमेश्वर का साक्षात् होता है। परन्तु वह भी प्राकृतिक शरीर तथा चित्त की सहायता द्वारा। इसलिए परमेश्वर को विराट् अर्थात् प्रकृति का पुत्र (वत्स) कहा है। क्योंकि वह प्रकृति द्वारा प्रकट होता है। वृषभः=वेदों द्वारा परमेश्वर मतियों अर्थात् ज्ञानों की वर्षा कर रहा है। शुक्रपृष्ठः=सूर्य की रश्मियाँ शुभ्र हैं, सुफैद हैं। इसलिए सूर्य शुक्र है। सूर्य मानो परमेश्वर को पृष्ठ मार कर, इस पीठ पर सवार हुआ गति कर रहा है। घृतेन=जैसे घृतादि पदार्थों द्वारा शिशु की सेवा, तथा प्रशंसावचनों द्वारा उसकी प्रशंसा या स्तुति की जाती है, वैसे उपासक लोग घृतादि साध्य यज्ञों द्वारा प्रेम और स्नेह पूर्वक परमेश्वर की स्तुतियाँ करते और उसकी बढ़ाई करते हैं। मन्त्र में ब्रह्म शब्द जता रहा है कि मन्त्र परमेश्वर परक है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

दिवं च रोह पृथिवीं च रोह राष्ट्रं च रोह द्रविणं च रोह।

प्रजां च रोहामृतं च रोह रोहितेन तन्वं१ सं स्पृशस्व॥ ३४॥

अर्थ—हे राजन्! या सम्राट्! तू (दिवं च रोह) निज कीर्ति की दृष्टि से द्युलोक तक (रोह) आ रोहण कर, (पृथिवीं च रोह) और समग्र पृथिवी पर आरोहण कर, अर्थात् तेरे सुशासन की कीर्त्ति द्युलोक तथा पृथिवी पर फैले, (राष्ट्रं च रोह) निज राष्ट्र पर आरोहण कर, (द्रविणं च रोह) और राष्ट्र की सम्पत्ति पर आरोहण कर अर्थात् इन पर स्वामित्व कर। (प्रजां च रोह) प्रजा पर आरोहण कर, अर्थात् प्रजा का मुखिया बन, (अमृतं च रोह) अमृत होने की ओर आरोहण कर, (रोहितेन) सर्वोपरि आरूढ़ परमेश्वर के साथ (तन्वम्) निज शरीर का (सं स्पृशस्व) सम्यक् स्पर्श कर।

[अमृतं च रोह=अर्थात् राष्ट्र, राष्ट्र की सम्पत्ति तथा प्रजा पर तू आरूढ़ हुआ है। ऐसी सात्त्विक भावना से राज्य करना जिससे तेरा अभ्युदय तथा निःश्रेयस (अमृतत्त्व) दोनों सम्पन्न हो सकें।

रोहितेन तन्वम्=परमेश्वर समग्र जगत् का सम्राट् है, इसके साथ अपने शरीर, मन तथा बुद्धि का सम्यक्-स्पर्श[१] बनाए रखना। यह मान कर सुशासन करना कि जगत् का शासक मेरे शासन में, मेरे शरीर, मन और बुद्धि में प्रेरणा दे रहा है, और उसी की प्रेरणाओं द्वारा मैं शासन कर रहा हूँ]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**उपरिष्टाद् बृहती**॥

ये देवा राष्ट्रभृतोभितो यन्ति सूर्यम्।

तैष्टे रोहितः संविदानो राष्ट्रं दधातु सुमनस्यमानः॥ ३५॥

अर्थ—(राष्ट्रभृतः) राष्ट्र का भरण-पोषण करने वाले (ये) जो (देवाः) देवकोटि के शासक अधिकारी, (सूर्यम् अभितः) सूर्य समान निर्मल कीर्ति वाले सम्राट् के सम्मुख (यन्ति) आते-जाते हैं, (तैः) उन द्वारा (संविदानः) सम्यक्-ज्ञान को प्राप्त हुआ, (ते) हे परमेश्वर! तेरा (रोहितः) राष्ट्रारूढ़ सम्राट् (सुमनस्यमानः) प्रसन्न चित्त हुआ, हुआ (राष्ट्रम् दधातु) राष्ट्र का धारण-पोषण करे।

[देवाः=राष्ट्र के शासक देवकोटि के व्यक्ति होने चाहिएँ। राष्ट्रारूढ़ सम्राट् यह समझे कि मैं परमेश्वर

---

१. अथवा जैसे अयस्कान्त (magnet) के संस्पर्श से लोहा अयस्कान्त के गुणों का ग्रहण कर लेता है, वैसे परमेश्वर के साथ संस्पर्श द्वारा निज को परमेश्वरीय गुणों का ग्रहण करने वाला कर।

द्वारा नियुक्त हुआ राष्ट्र का शासक बना हूँ। वह निज अधिकारियों के साथ ऐकमत्य को प्राप्त हुआ और उनसे ज्ञान प्राप्त करके शासन करे]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**निचृन्महाबृहती** ॥

उत्त्वा यज्ञा ब्रह्मपूता वहन्त्यध्वगतो हरयस्त्वा वहन्ति।

तिरः समुद्रमति रोचसेऽर्णवम्॥ ३६ ॥

अर्थ—(ब्रह्मपूताः) ब्रह्म के संस्पर्श के कारण पवित्र हुए (यज्ञाः) तेरे यज्ञिय कर्म (त्वा) तुझे (उत् वहन्ति) उत्कृष्टता की ओर ले जाते हैं। इस प्रकार तू (अध्वगतः) [भवसि] सन्मार्गगामी बनता है, (हरयः) प्रत्याहार सम्पन्न तेरे इन्द्रियाश्व, (त्वा) तुझे या तेरे शरीर का (वहन्ति) वहन करते हैं, तू (अर्णवम्) जल वाले (समुद्रम् तिरः) समुद्र के पार तक (अति रोचसे) अति कीर्तिमान् हो जाता है। तेरी कीर्ति समुद्र पार के प्रदेशों में भी फैल जाती है।

[मन्त्र ३४ में कथित "रोहितेन संस्पृशस्व" का फलनिर्देश मन्त्र ३६ में किया है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अध्यात्मम् रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**परशाक्वरा विराडतिजगती** ॥

रोहिते द्यावापृथिवी अधि श्रिते वसुजिति गोजिति सन्धनाजिति।

सहस्रं यस्य जनिमानि सप्त च वोचेयं ते नाभिं भुवनस्याधि मज्मनि॥ ३७ ॥

अर्थ—(वसुजिति) वसुओं पर विजय पाए हुए, (गोजिति) पृथिवी पर विजय पाए हुए, (संधनाजिति) समग्र धनों पर विजय पाए हुए (रोहिते अधि) सर्वोपरि आरूढ़ परमेश्वर में, (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवी लोक (श्रिते) आश्रय पाए हुए हैं। (यस्य) जिस परमेश्वर के (सहस्रम्) हजारों नक्षत्र-तारा आदि (च) और (सप्त) अर्थात् सात बुध, शुक्र, पृथिवी, मंगल, बृहस्पति, शनैश्चर तथा चन्द्र या सूर्य (जनिमानि) जन्मे पुत्रों के सदृश हैं, (ते) तेरा (नाभिम्) सम्बन्ध या केन्द्रियत्व (भुवनस्य) उत्पन्न जगत् के (मज्मनि अधि) बलों में है, (वाचेयम्) यह मैं कहूँ।

[वसु=पृथिवी, अग्नि; अन्तरिक्ष, वायु; नक्षत्र, चन्दमा; द्यौः, सूर्य—ये आठ वसु हैं। नाभिम्=**नह् बन्धने**; तथा नाभि=केन्द्र। परमेश्वर संसार के बलों का केन्द्र है। इस केन्द्र से संसार के सब बल प्रसूत हुए हैं]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यशा यासि प्रदिशो दिशश्च यशाः पशूनामुत चर्षणीनाम्।

यशाः पृथिव्या अदित्या उपस्थेहं भूयासं सवितेव चारुः॥ ३८ ॥

अर्थ—[हे सवितः अर्थात् हे सूर्य!] (यशाः) यशस्वी हुआ तू (प्रदिशः) अवान्तर दिशाओं में (च) तथा (दिशः) मुख्य दिशाओं में (यासि) जाता है, (यशाः) यशस्वी हुआ (पशूनाम् उत चर्षणीनाम्) पशुओं और मनुष्यों के मध्य तू आता-जाता है। (अदित्याः उपस्थे) अदीना-देवमाता अर्थात् पारमेश्वरी माता की गोद में स्थित हुआ तू (यशाः) यशस्वी होकर आता जाता है। (पृथिव्या उपस्थे) पृथिवी माता की गोद में (अहम्) मैं सम्राट् (सविता इव) सूर्य के सदृश (चारुः) सबके लिए सुन्दर या रुचिकर (भूयासम्) होऊँ।

[अभिप्राय यह कि मैं सम्राट् जब पृथिवी के भिन्न-भिन्न प्रदेशों तथा प्रजाजनों में जाऊं, तो मैं भी

यशस्वी हुआ और प्रजाजनों के लिए रुचिकर हुआ जाऊँ। कहीं मेरा अपयश न हो, और न मुझे प्रजाजन अप्रिय जानें]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः,** आदित्यः ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अमुत्र सन्निह वेत्थेतः संस्तानि पश्यसि।

इतः पश्यन्ति रोचनं दिवि सूर्यं विपश्चितम्॥ ३९ ॥

अर्थ—हे परमेश्वर! (अमुत्र सन्) उस दूर द्युलोक में विद्यमान होता हुआ तू (इह) इस पृथिवी लोक में विद्यमान पदार्थों को (वेत्थ) जानता है, (इतः सन्) और इस पृथिवी में होता हुआ तू (तानि) उन द्युलोक के पदार्थों को (पश्यसि) देखता है। परन्तु योगी-ध्यानी लोग (इतः) केवल इस पृथिवी से (रोचनम्) रुचिकर या रोचक और (विपश्चितम्) तुझ मेधावी को (पश्यन्ति) देख पाते हैं, जैसे कि (दिवि सूर्यम्) द्युलोक में सूर्य को [यहाँ से] देखते हैं।

[मन्त्र के प्रथमार्धभाग में परमेश्वर की व्यापकता का निर्देश दिया है, जोकि दूर होता हुआ यहाँ के पदार्थों जो जानता और यहाँ होता हुआ दूर के पदार्थों को देखता है। यह देखने वाला सूर्य नहीं हो सकता। सूर्य दूर रहता हुआ यहाँ के पदार्थों को जानता है, यह किसी तरह माना जा सकता है। परन्तु सूर्य की सत्ता यहाँ पृथिवी पर है नहीं, तब वह यहाँ से द्युलोकस्थ पदार्थों को कैसे देख सकता है। परमेश्वर तो सर्वव्यापक है, उसकी स्थिति यहाँ पर है और दूर में भी। यथा "**तद् दूरे तद्वन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः**" (यजुः० ४०.५)। साथ ही "**विपश्चितम्**" पद भी सूर्य का सूचक नहीं हो सकता। विपश्चित् का अर्थ है मेधावी (निघं० ३.१५)। सूर्य मेधावी नहीं। परमेश्वर तो मेधावी है। "दिवि सूर्यम्" दृष्टान्तरूप भी है, जैसे हम सूर्य को प्रत्यक्ष देखते हैं, वैसे योगी-ध्यानी उपासक परमेश्वर को सूर्यवत् चमकता हुआ ध्यानावस्था में प्रत्यक्ष करते हैं]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

देवो देवान्मर्चयस्यन्तश्चरस्यर्णवे। समानमग्निमिन्धते तं विदुः कवयः परे॥ ४० ॥

अर्थ—(देवः) तू परमेश्वर-देव (देवान्) दिव्य-तत्त्वों का (मर्चयसि) सदुपदेश करता है, तू (अर्णवे अन्तः) हृदय-समुद्र के भीतर (चरसि) विचर रहा है। (कवयः) वेदकाव्य के विद्वान् (समानम्, अग्निम्) इसी "एक" परमेश्वराग्नि को (इन्धते) ध्यानावस्था में तथा यज्ञों में प्रदीप्त करते हैं, और (परे कवयः) सर्वोत्कृष्ट कवि (तम्) उस परमेश्वर को (विदुः) जान पाते हैं।

[मर्चयसि=**मर्च शब्दार्थः** (चुरादि), अतः मर्चयसि=उपदिशसि। अर्णवे अन्तः=हृदय-समुद में। वेदों में हृदय को भी समुद्र कहा है। यथा "**एताऽअर्षन्ति हृद्यात्समुद्रात्**" (यजुः० १७.९३), अर्थात् ये स्तुतिवाणियाँ हृदय-समुद्र से उठती हैं, अर्थात् जैसे जलीय-समुद्र से जल की लहरें उठती हैं, वैसे हृदय-समुद्र से स्तुतिवाणियों की लहरें उठती हैं। मन्त्र में "अर्णव" शब्द पठित है जिसका अर्थ है "जलवाला समुद्र"। **अर्णः उदकनाम** (निघं०१.१२)। अथर्ववेद में "रक्त" को "आपः" अर्थात् जल भी कहा है "**कोऽस्मिन् [पुरुषे] आपो व्यदधात्**" (१०.२.११)। इसलिए हृदय भी अर्णव है, जलीय-समुद्र है। परमेश्वर इस हृदय-समुद्र में विचरता हुआ योगी-ध्यानियों को सदुपदेश देता और उनका प्रेरक होता है। परे कवयः=अथवा परे ब्रह्मणि ध्यानावस्थिताः कवयः। **कविः मेधाविनाम** (निघं० ३.१५)]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अवः परेण पर एनावरेण पदा वत्सं बिभ्रती गौरुदस्थात्।

सा कद्रीची कं स्विदर्धं परागात्क्व स्वित्सूते नहि यूथे अस्मिन्॥ ४१॥

अर्थ—(परेण पदा) परब्रह्म प्रतिपादक पद समूह द्वारा (अवः) अवरब्रह्मरूपी (वत्सम्) वत्स को, तथा (एना अवरेण) इस अवरब्रह्मप्रतिपादक पद समूह द्वारा (परः) पर ब्रह्मरूपी वत्स को (बिभ्रती) [निज वर्णन द्वारा] परिपुष्ट करती हुई (गौः) वेदवाणी (उद् अस्थात्) उठी है। (सा) वह वेदवाणी (कद्रीची) कहाँ से आती, (कंस्वित्) और किस (अर्धम्) ऋद्धि-सम्पन्न तत्त्व की ओर (परागात्) परे चली जाती है?। यह वेदवाणी रूपी गौ (क्वस्वित्) किस में (सूते) निज वत्स को जन्म देती है? परन्तु वह (अस्मिन्) इस (यूथे) मानुष संघ में (नहि) निश्चय से नहीं निजवत्स को जन्म देती।

[मन्त्र कूट है। अतः सम्भावित अर्थ किया है। मन्त्र में पराविद्या और अवरा विद्या की दृष्टि से परब्रह्म और अवरब्रह्म अर्थ किया है। बृहदा० उप० में "**द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तं चैवामूर्त्तं च, मर्त्यं चामृतं च**" (बृहदा० २.३.१-३) में जगत् के मूर्त (स्थूल) और अमूर्त (सूक्ष्म) स्वरूपों को ब्रह्म के दो रूप कहे हैं, परन्तु ब्रह्म इन दोनों रूपों से पृथक् अरूप अर्थात् आत्मस्वरूप है।

मन्त्रनिष्ठ पदसमूह परब्रह्म का वर्णन करते हुए भी, उसके अवर रूप अर्थात् उसकी प्राकृतिक कृतियों द्वारा उसका वर्णन करते हैं, और मन्त्रपद जब केवल प्राकृतिक कृतियों का वर्णन करते हैं तब भी उनमें कर्तृत्वरूप में अनुस्यूत ब्रह्म[1] का भी, परम्परया वर्णन अभिप्रेत होता है। इन मन्त्र पदों द्वारा ब्रह्म का स्वरूप जाना जाता है, अतः गौ अर्थात् वेदवाणी को ब्रह्म की माता, तथा ब्रह्म को वेदवाणी का वत्स कहा है, (देखो मन्त्र ३३)।

यह गौ अर्थात् वेदवाणी कहाँ से आती और किस की ओर चली जाती है—इस सम्बन्ध में कहा है कि "**अपूर्वेणेषिता वाचस्ता वदन्ति यथायथम्। वदन्तीर्यत्र गच्छन्ति तदाहुर्ब्राह्मणं महत्**"॥ (अथर्व० १०.८.३३) इस मन्त्र में दर्शाया है कि "अपूर्वब्रह्म द्वारा वेदवाणियाँ प्रेषित होती हैं, और उसी की ओर चली जाती हैं। वह वेदवाणी किसी ही समाधिस्थ व्यक्ति में—वेदवाणी के जप और तदनुरूप जीवन द्वारा—निज वत्स रूपी ब्रह्म को प्रकट करती है, सर्व साधारण मानुष यूथ में नहीं"]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**विराड् जगती**॥

एकपदी द्विपदी सा चतुष्पद्यष्टापदी नवपदी बभूवुषी।

सहस्राक्षरा भुवनस्य पङ्क्तिस्तस्याः समुद्रा अधि वि क्षरन्ति॥ ४२॥

अर्थ—[गौ अर्थात् वेदवाणी] (एकपदी) एक पाद वाली, (द्विपदी) दो पादों वाली (सा) वह (चतुष्पदी) चार पादों वाली, (अष्टापदी) आठ पादों वाली, तथा (नवपदी) नौ पादों वाली होती हुई

१. बृहदारण्यक उपनिषद् में स्थूलजगत् पृथिव्यादि, और सूक्ष्मजगत् वायु-अन्तरिक्ष आदि को, मूर्त्त और अमूर्त्त कहा है। ये दोनों ब्रह्म के रूप हैं। परन्तु ब्रह्म जो कि आत्मस्वरूप से इनमें व्याप्त है, वह अरूप है। जैसे कि स्थूलशरीर और सूक्ष्मशरीर मूर्त्त और अमूर्त्त, जीवात्मा के दो रूप हैं, परन्तु इनमें निजशक्ति द्वारा व्याप्त जीवात्मा अरूप है। मूर्त्त और अमूर्त्त जगत् अपर ब्रह्म है, और अरूप ब्रह्म आत्मस्वरूप में इन दोनों से भिन्न है, वह परब्रह्म है। तथा जैसे कि देवदत्त, शरीर की दृष्टि से अपर-देवदत्त है, और जीवात्मदृष्टि से पर-देवदत्त। शरीर और जीवात्मा, इन दोनों के मेल का ही नाम है, देवदत्त।

(सहस्राक्षरा) तथा हजारों अक्षरों वाली होती हुई, (भुवनस्य) उत्पन्न जगत् का (पङ्क्तिः) विस्तार पूर्वक वर्णन करती है, (तस्याः अधि) उस वेदवाणी से (समुद्राः) नाना ज्ञान समुद्र (विक्षरन्ति) विविधरूप में क्षरित होते हैं।

[पङ्क्तिः=**पचि विस्तारवचने** (चुरादि)। अथवा **पचि व्यक्तीकरणे** (भ्वादि), अभिव्यक्त करती है]।

अथवा—(एकपदी) एक प्रकृति में जिसका पदन्यास है, (द्विपदी) दो अर्थात् प्रकृति और जीवात्माओं में जिसका पदन्यास है, (चतुष्पदी) चार अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार में जिसका पदन्यास है, (अष्टापदी) आठ अर्थात् शरीरस्थ आठ चक्रों में जिसका पदन्यास है, (नवपदी) नव द्वारा शरीरपुरी के नौ द्वारों में जिसका पदन्यास है, तथा हजारों न-क्षीण होने वाले तारों वाली, तथा भुवन का विस्तार करन वाली या उसे अभिव्यक्त करने वाली पारमेश्वरी-माता है। उस माता से वेदरूपी ज्ञान समूह प्रवाहित होते हैं।

[यजुर्वेद में कहा है "**पादोऽस्य विश्वा भूतानि**" (यजु० ३१.३), तथा "**पादोऽस्येहाभवत्पुनः**" (यजु० ३१.४), अर्थात् "सब भूत-भौतिक जगत् इस परम पुरुष के "एकपाद" रूपी शक्ति से उत्पन्न हुए हैं", तथा "इसका एकपाद इस संसार में पुनः पुनः प्रकट होता है"। इसी एकपाद द्वारा वह "अमृतत्त्व का भी ईशान" है, "**उतामृतत्वस्येशानः**" (यजु० ३१.२)। आठ चक्र तथा नौ द्वार="**अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या**" (अथर्व० १०.२.३१), "**पुण्डरीकं नवद्वारं**" (अथर्व० १०.८.४३)। परमेश्वर है चतुष्पाद् (माण्डूक्योपनिषद्)। शेष तीन पाद उसके अमृतरूप हैं। उनका सम्बन्ध मरणधर्मा जगत् की उत्पत्ति आदि के साथ नहीं]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**विराण्महाबृहती**॥

आरोहन्द्यामृतः प्राव मे वचः।
उत्त्वा यज्ञा ब्रह्मपूता वहन्त्यध्वगतो हरयस्त्वा वहन्ति॥ ४३॥

अर्थ—हे परमेश्वर ! (अमृतः) अमर तू (द्याम्, आरोहन्) सिर या सिर में स्थिर सहस्रार-चक्र पर आरोहण करता हुआ (मे वचः) मेरे वचन की (प्र अव) रक्षा कर, या इसे सुन कि (ब्रह्मपूताः) मन्त्रों द्वारा पवित्र हुए (यज्ञाः) यज्ञकर्म, (त्वा) तुझे, (उद् वहन्ति) ऊपर की ओर, अर्थात् सहस्रार-चक्र की ओर ले जाते हैं। (अध्वगतः) तू इस मार्ग द्वारा प्राप्त होता है। (हरयः) प्रत्याहारसम्पन्न योगिजन (त्वा) तुझे (वहन्ति) सहस्रार-चक्र तक ले जाते हैं।

[द्याम्="**शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत**" (यजुः० ३१.१३), अध्यात्म में द्यौः=शिरः सिर। अव=रक्षणे, श्रवणे (भ्वादि)। ब्रह्मपूताः यज्ञाः=मन्त्रों के अर्थों और अभिप्रायों के अनुरूप किये गये यज्ञ-कर्म। अध्वगतः=प्रथमैकवचन, अथवा "अध्वगत्+जस्=प्रथमा बहुवचन। इस स्थिति में "अध्वगतः" पद हरयः का विशेषण होगा, कि ऐसे यज्ञमार्ग के अनुगामी योगिजन। **हरयः मनुष्यनाम** (निघं० २.३)]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**परोष्णिक्**॥

वेद तत्ते अमर्त्य यत्त आक्रमणं दिवि। यत्ते सधस्थं परमे व्योमिन्॥ ४४॥

अर्थ—(अमर्त्य) हे अमर परमेश्वर! (यत्) जो (ते) तेरा (दिवि) मस्तिष्क में (आक्रमणम्) आक्रमण करना है (ते) तेरे (तत्) उस आक्रमण को (वेद) मैं जानता हूँ। तथा (ते) तेरे उस (सधस्थम्)

साथ बैठने के स्थान को भी मैं जानता हूँ, (यत्) जो कि (परमे व्योमन्) उत्कृष्ट हृदयाकाश में है।

[दिवि=देखो "द्याम्" (मन्त्र ४३)। परमे व्योमन्=परम व्योम है हृदयाकाश (छान्दोग्य० उप० अध्या० ८, खं० १, सन्दर्भ १-६)। हृदयाकाश "सधस्थ" है। इसमें जीवात्मा तथा परमेश्वर साथ बैठते हैं]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सूर्यो द्यां सूर्यः पृथिवीं सूर्य आपोऽति पश्यति।
सूर्यो भूतस्यैकं चक्षुरा रुरोह दिवं महीम्॥ ४५॥

अर्थ—(सूर्यः) सूर्य (द्याम्, पृथिवीम्, आपः) द्युलोक, पृथिवी और समुद्र या अन्तरिक्ष से (अति) परे (पश्यति) देखता है (सूर्यः) सूर्य (भूतस्य) प्राणियों की (एकम्, चक्षुः) एकमात्र चक्षु है, वह (महीम्, दिवम्) बड़े द्युलोक पर (आ रुरोह) आरूढ़ हुआ है।

[आपः=जल; तथा अन्तरिक्ष (निघं० १.३)। सूर्य पद द्वारा परमेश्वर[1] भी वाच्य है, देखो (मन्त्र ३९)। "अतिपश्यति" पद सूर्य के सम्बन्ध में अत्युक्ति है, परन्तु परमेश्वरार्थ में यथार्थोक्ति है। परमेश्वर भी द्युलोक में आरूढ़ हुआ-हुआ है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

उर्वीरासन्परिधयो वेदिर्भूमिरकल्पत। तत्रैतावग्नी आधत्त हिमं घ्रंसं च रोहितः॥ ४६॥

अर्थ—(उर्वीः) विस्तृत दिशाएँ (परिधयः आसन्) परिधियाँ थीं, (रोहितः) सर्वोपरि आरूढ़ परमेश्वर ने (भूमिः) भूमि को (वेदिः) वेदि (अकल्पत=अकल्पयत्) बनाया। (तत्र) उसे वेदि में उसने (एतौ) इन दो (अग्नी) अग्नियों, का (आधत्त) आधान किया, (हिमम् घ्रसं च) शीत को और गर्म को।

[वेदि को घेरने के लिए उसके चारों ओर घेरा डालते हैं, इसे परिधि कहते हैं। भूमि को परमेश्वर ने वेदि कल्पित किया, और उसके चारों ओर स्थित दिशाओं को परिधि कल्पित किया। वेदि में दो मुख्य अग्नियों का आधान किया जाता है—गार्हपत्याग्नि का और आहवनीयाग्नि का। गार्हपत्य कुण्ड से अग्नि को उठा कर आहवनीयकुण्ड में उसे स्थापित किया जाता है। भूमिरूपी वेदि में परमेश्वर ने दो अग्नियों का अधान किया, हिम अर्थात् शीत चन्द्रमा का, और घ्रंस अर्थात् दिन के समान गर्म सूर्य का। सूर्य गार्हपत्याग्नि रूप है और चन्द्रमा आहवनीयाग्नि रूप। सूर्य की अग्नि का आधान चन्द्रमा में होता है। इन दोनों अग्नियों का प्रकाश पृथिवी में होता है। **घ्रंसः अहर्नाम** (निघं० १.९)। दिन का निर्माण सूर्य द्वारा होता है, अतः घ्रंस पद सूर्य का उपलक्षक है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

हिमं घ्रंसं चाधाय यूपान्कृत्वा पर्वतान्। वर्षाज्यावग्नी ईजाते रोहितस्य स्वर्विदः॥ ४७॥

अर्थ—(हिमम्) शीत चन्द्रमा का, (घ्रंसं च) और गर्म सूर्य का, (आधाय) आधान करके, और (पर्वतान्) पर्वतों को (यूपान् कृत्वा) यूप अर्थात् यज्ञशाला स्तम्भरूप करके, (वर्षाज्यौ[2]) वर्षा रूपी यज्ञिय-घृत वाली (अग्नी) चन्द्रमा और सूर्य रूपी दो अग्नियाँ—(स्वर्विदः) उपतप्त द्युलोक में विद्यमान या आनन्दाभिज्ञ (रोहितस्य) सर्वोपरि आरूढ़ परमेश्वर के (ईजाते) संसार यज्ञ को रचा रही हैं।

---

१. **"सो अग्निः स उ सूर्य स उ एव महायमः"** (अथर्व० १३.४(१).५)।
२. देखो **"वर्षेणाज्येन"** (मन्त्र ५२, ५३)।

[वर्षाज्यौ=चन्द्रमा और सूर्य के कारण वर्षा होती है, अतः वर्षा का सम्बन्ध, इन दोनों के साथ दर्शाया है। मन्त्र में घ्रंस अर्थात् सूर्य का पृथक् वर्णन किया है, अतः "रोहितस्य" द्वारा सूर्य अभिप्रेत नहीं]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

स्वर्विदो रोहितस्य ब्रह्मणाग्निः समिध्यते।

तस्माद् घ्रंसस्तस्माद्धिमस्तस्माद्यज्ञोऽजायत॥ ४८ ॥

अर्थ—(स्वर्विदः रोहितस्य) उपतप्त द्युलोक में विद्यमान या आनन्दाभिज्ञ सर्वोपरि आरूढ़ परमेश्वर की (अग्निः) द्युलोकाग्नि, (ब्राह्मणा) सर्वतो महान् परब्रह्म द्वारा (समिध्यते) प्रदीप्त की जाती है। (तस्मात्) उस द्युलोकाग्नि से (घ्रंसः) गर्म सूर्याग्नि, (तस्मात्) उस सूर्याग्नि से (हिमः) शीत चन्द्राग्नि, (तस्मात्) उससे (यज्ञः) संसार यज्ञ (मन्त्र ४७), (अजायत) रचाया जाता है।

[यद्यपि मूलतः रोहित और ब्रह्म एक ही चेतन-तत्त्व है, तो भी कर्म भेद से एक ही चेतन-तत्त्व के दो नाम दर्शाए हैं, ये कर्म हैं आरोहण और द्युलोकाग्नि का उत्पादन। द्युलोकाग्नि की उत्पत्ति के पश्चात् उस पर आरोहण सम्भव है। स्वर्विदः=स्वः (सुखविशेष, आनन्द)+विद् (ज्ञाने)]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ब्रह्मणाग्नी वावृधानौ ब्रह्मवृद्धौ ब्रह्माहुतौ।

ब्रह्मेद्धावग्नी ईजाते रोहितस्य स्वर्विदः॥ ४९ ॥

अर्थ—(अग्नी) चन्द्रमा और सूर्य—ये दो अग्नियाँ, (ब्रह्मणा) सर्वतो महान् परब्रह्म द्वारा (वावृधानौ) बढ़ती हुईं, (ब्रह्मवृद्धौ) ब्रह्म द्वारा बढ़ी हुईं, (ब्रह्माहुतौ) ब्रह्म द्वारा आहुत हुईं, (ब्रह्मेद्धौ) ब्रह्म द्वारा प्रदीप्त हुईं (स्वर्विदः रोहितस्य ईजाते) उपतप्त द्युलोक में विद्यमान या आनन्दाभिज्ञ, सर्वोपरि आरूढ़ परमेश्वर के (ईजाते) संसार यज्ञ को रचा रही हैं।

[ब्रह्माहुतौ=ब्रह्म ही चन्द्रमा और सूर्य में, अग्नितत्त्व की आहुतियाँ दे रहा है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सत्ये अन्यः समाहितोऽप्स्वन्यः समिध्यते।

ब्रह्मेद्धावग्नी ईजाते रोहितस्य स्वर्विदः॥ ५० ॥

अर्थ—(अन्यः) एक अर्थात् सूर्य (सत्ये) सत्य ब्रह्म में (समाहितः) स्थित है, (अन्यः) दूसरा अर्थात् चन्द्रमा (अप्सु) अन्तरिक्ष में (समिध्यते) प्रदीप्त होता है, चमकता है। (ब्रह्मेद्धौ) वस्तुतः ब्रह्म द्वारा प्रदीप्त (अग्नी) सूर्य और चन्द्रमारूपी दो अग्नियाँ (स्वर्विदः, रोहितस्य) स्वर्विद् रोहित के (ईजाते) संसार यज्ञ को रचा रही हैं।

[सत्ये=**सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्म**। सूर्य ब्रह्माश्रित है, यथा "**यत्राधि सूरऽउदितो वि भाति कस्मै देवाय हविषा विधेम**" (यजुः० ३२.७), कस्मै "क" अर्थात् प्रजापति के आधार में सूर्य उदित हुआ प्रभावान् होता है। अप्सु=**आपः अन्तरिक्षनाम** (निघं० १.३)। अथवा शीत होने के कारण "अप्सु" अर्थात् जलों में चन्द्रमा का समिन्धन कहा है। स्वर्विदः रोहितस्य (मन्त्र ४७)]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यं वातः परिशुम्भति यं वेन्द्रो ब्रह्मणस्पतिः ।

ब्रह्मेद्धावग्नी ईजाते रोहितस्य स्वर्विदः ॥ ५१ ॥

अर्थ—(यम्) जिस चन्द्राग्नि को (वातः) वायु नामक ब्रह्म (परिशुम्भति) शोभायुक्त करता है, (वा) तथा (यम्) जिस सूर्याग्नि को (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् (ब्रह्मणस्पतिः) वेदपति सत्यब्रह्म (५०) शोभित करता है, (ब्रह्मेद्धौ, अग्नी) ब्रह्म द्वारा प्रदीप्त वे दो अग्नियाँ (स्वर्विदः रोहितस्य) स्वर्विद् रोहित के (४७) (ईजाते) संसार यज्ञ को रचाती हैं। वातः या वायुः "**तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः**" (यजुः० ३२.१)।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**पथ्या पङ्क्तिः** ॥

वेदिं भूमिं कल्पयित्वा दिवं कृत्वा दक्षिणाम्।

घ्रंसं तदग्निं कृत्वा चकार विश्वमात्मन्वद्वर्षेणाज्येन रोहितः ॥ ५२ ॥

अर्थ—(भूमिम्) भूमि को (वेदिम् कल्पयित्वा) वेदि कल्पित करके, (दिवम्) द्युलोक को (दक्षिणाम्, कृत्वा) दक्षिणारूप करके, (तत्) उस (घ्रंसम्) गर्म सूर्य को (अग्निम्) अग्नि (कृत्वा) करके, (रोहितः) सर्वोपरि आरूढ़ परमेश्वर ने, (वर्षेण आज्येन) वर्षा रूपी घृत द्वारा, (विश्वम्) सब [प्राणियों] को (आत्मन्वत्) आत्मावाला अर्थात् जीवित (चकार) किया है।

[अभिप्राय यह कि सांसारिक जीवन को, यदि यज्ञ-भावनाओं से संमिश्रित कर निभाया जाए, अर्थात् अभ्युदय और निश्रेयस की दृष्टि से यदि जीवन निभाया जाए, तो इस यज्ञ के फलरूप में दैवी जीवन प्राप्त होता है। यज्ञमय जीवन की यह दक्षिणा है। मृत्यु के पश्चात् दैवी जीवन मिलना दक्षिणारूप है। दैवी जीवन को "दिवम्" कहा है। यज्ञ के लिए तीन वस्तुएँ चाहिएँ, वेदि, अग्नि और आज्य। ये हैं भूमि, सूर्य और वर्षा। यद्यपि इस यज्ञ के लिए दो अग्नियाँ चाहिएँ (४६-५१), परन्तु याज्ञिक यज्ञ में मुख्याग्नि होती है गार्हपत्य, इसी से आहवनीयाग्नि ली जाती है, इसी प्रकार मुख्याग्नि है सूर्य, इसी से चान्द्राग्नि चमकती है। अतः मन्त्र में मुख्याग्नियों, अर्थात् गार्हपत्य और सूर्य का ही वर्णन हुआ है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

वर्षमाज्यं घ्रंसो अग्निर्वेदिर्भूमिरकल्पत।

तत्रैतान्पर्वतानग्निर्गीर्भिरूर्ध्वाँ अकल्पयत्॥ ५३ ॥

अर्थ—(वर्षम्, आज्यम्, अकल्पत) वर्षा हुई आज्य, (घ्रंसः अग्निः) गर्म सूर्य हुआ अग्नि, (भूमिः वेदिः) भूमि हुई वेदि। (तत्र) उस भूमि में (अग्निः) अग्नि ने, (गीर्भिः) शब्दों के साथ (पर्वतान्) पर्वतों को (ऊर्ध्वान्) ऊँचा (अकल्पयत्) रचा या बनाया है।

[आज्य, अग्नि और वेदि से अतिरिक्त, याज्ञिक-यज्ञ में, यूप भी चाहिएँ (४७), जो कि पर्वतरूप हैं (४७)। इन यूपों के प्रतिनिधिरूप में पर्वतों का वर्णन हुआ है। ये पर्वत, भूमि के गर्भ में स्थित अग्नि द्वारा, उत्क्षिप्त हुए हैं, यह अभिप्राय प्रतीत होता है। ये पर्वत जब भूमिष्ठ अग्नि द्वारा उत्क्षिप्त हुए तो सम्भवतः साथ ही धड़ाके के शब्द भी हुए। इन्हें "गीर्भिः" द्वारा सूचित किया है।

अथवा "अग्निः" द्वारा यदि घ्रंसाग्नि अर्थात् सूर्याग्नि अभिप्रेत हो तो अभिप्राय यह होगा कि पृथिवी

जब द्रवावस्था में तथा तत्पश्चात् द्रव-और-दृढ़ावस्था-के बीच की अवस्था में अर्थात् दधि समान पिच्छिलावस्था में थी, तब सूर्य की आकर्षण शक्ति द्वारा ऐसी पृथिवी पर, पार्थिव तत्त्व की ऊँची-ऊँची पर्वत समान लहरों का उत्थान और पतन होता रहता होगा, और शनैः शनैः ये लहरें जब ठण्डी होती गईं तो पर्वत रूप में दृढ़ावस्था वाली पृथिवी पर, स्थिर हो गईं, साथ ही इन लहरों के उत्थान और पतन में उग्र शब्द भी होते रहे, जैसे कि जलीय-समुद्र में सूर्य द्वारा आकर्षण होने पर जलीय लहरें शब्द करती हुईं उत्थान और पतन करती हैं। उत्थान और पतन=चढ़ाव-उतराव, लहरों का। गीर्भिः=याज्ञिक-यज्ञों में यूपछेदन, यूपनिर्माण तथा यूपस्थापन के लिए मन्त्र रूपी वाणियों के उच्चारण किये जाते हैं, तब यज्ञ सफल होते हैं, इसलिए वर्तमान प्रतिपाद्य संसार यज्ञ में भी "गीर्भिः" द्वारा पर्वतों के उर्ध्वीभवन का वर्णन किया है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

गीर्भिरूर्ध्वान्कल्पयित्वा रोहितो भूमिमब्रवीत्।
त्वयीदं सर्वं जायतां यद्भूतं यच्च भाव्यम्॥ ५४॥

अर्थ—(गीर्भिः) वाणियों या शब्दों के साथ [पर्वतों को] (ऊर्ध्वान् कल्पयित्वा) ऊँचे रच कर, (रोहितः) सर्वोपरि आरुढ़ परमेश्वर (भूमिम्) भूमि को (अब्रवीत्) बोला कि (त्वयि) तुझ में (इदं सर्वम्) यह सब [प्राणी और अप्राणी] (जायताम्) पैदा हो, (यद् भूतम्) जो कि वर्तमान है या पूर्व कल्पों में हुआ है, (यत् च भाव्यम्) और जो होने वाला है, या होगा।

[मन्त्र कविता शैली का है, परमेश्वर, वास्तव में, भूमि को बोलता नहीं]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**ककुम्मती बृहतीगर्भा पथ्या पङ्क्तिः** ॥

स यज्ञः प्रथमो भूतो भव्यो अजायत।
तस्माद्ध जज्ञ इदं सर्वं यत्किं चेदं विरोचते रोहितेन ऋषिणाभृतम्॥ ५५॥

अर्थ—(सः यज्ञः) वह यज्ञ (४६-५३), (प्रथमः) विस्तारवान् है, (भूतः) पूर्वकल्पों में विस्तारवान् (अजायत) हुआ है, (भव्यः) भविष्य में भी विस्तारवान् होगा। (तस्मात्) उस विस्तारवान् यज्ञ से, (ह) निश्चय रूप में, (इदं सर्वं जज्ञे) यह सब पैदा हुआ है, (यत् किं च इदं विरोचते) जो कुच्छ कि यह विविध प्रकार चमक रहा है, जो कि (रोहितेन ऋषिणा) सर्वोपरि आरूढ़ तथा ऋषि अर्थात् मन्त्रद्रष्टा परमेश्वर ने (आभृतम्) धारित तथा परिपुष्ट किया है।

[मनुष्य द्वारा रचित यज्ञ अल्प स्थान में किया जाता है, परन्तु रोहित द्वारा रचाया यज्ञ महाविस्तार वाला है। प्रत्येक कल्प में रोहित द्वारा रचाया यज्ञ विस्तारवान् ही होता है, "**यथा पूर्वमकल्पयत्**"। प्रथमः=**प्रथ विस्तारे** (निरुक्त, पृथिवी पद के व्याख्यान में]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यश्च गां पदा स्फुरति प्रत्यङ् सूर्यं च मेहति।
तस्य वृश्चामि ते मूलं न च्छायां करवोपरम्॥ ५६॥

प्रसिद्धार्थ—"जो गौ को पैर से ठुकराता है, और सूर्य के सम्मुख मूत्र करता है, उस तेरी जड़ को मैं काट देता हूँ, ताकि अपर जगत् को आश्रय तू न कर सके, अर्थात् तू जीवित न रह सके।

विशेषार्थ—(यः) जो (पदा) निज ज्ञान द्वारा (गाम्) वेदवाणी को (स्फुरति) स्फूर्ति देता है, उसे प्रसिद्ध करता है; और जो (सूर्यम्) सूर्यसम प्रकाशमान परमेश्वर के (प्रत्यङ्) सम्मुख भक्ति जल की (मेहति[१]) वर्षा करता है, (तस्य ते) उस तेरी अविद्यारूपी (मूलम्) जड़ को मैं (वृश्चामि) काट देता हूँ, ताकि (अपरम्) अपर जगत् को अपना (छायाम्) आश्रय तू (न करवः) न करे [अपितु परब्रह्म को अपना आश्रय करे]।

[पदा=पद् (गतौ)+क्विप्+तृतीयैकवचन। **गतेस्त्रयोऽर्थाः, ज्ञानं, गतिः प्राप्तिश्च**। मन्त्र में ज्ञानार्थक "पदा" शब्द है। गाम्; **गौः वाङ्नाम** (निघं० १.११)। प्रत्यङ्=**परमेश्वरं प्रति अञ्चति, गच्छति, प्राप्नोति**। सूर्यम्="**सो अग्निः स उ सूर्यः स उ एव महायमः**" (अथर्व० १३.४(१).५) में परमेश्वर को सूर्य कहा है। मेहति=**मिह सेचने**। हिन्दी में "मेह" शब्द है जो कि "मिह" धातु से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ है वर्षा करना, या मेह बरसना। मेघ शब्द भी "मिह" धातु का रूप है जिसका अर्थ है "बादल"। मेघ जल की वर्षा करता है। इस प्रकार "मेहति" का अर्थ "मूत्र करना" ही है, इसमें कोई प्रमाण नहीं। "छाया" का अर्थ आश्रय भी है यथा "**यस्यच्छायामृतम्**" (यजुः० २५.१३)। अपरम्=यथा पराविद्या तथा अपराविद्या, अर्थात् ब्रह्मविद्या तथा सांसारिक विद्या। इसी प्रकार परब्रह्म=परमेश्वर, तथा अपरब्रह्म=जगत्, मूर्त्त तथा अमूर्त्त (मन्त्र ४१)]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**ककुम्मत्यनुष्टुप्**॥

यो मा॒भिच्छा॑यम॒त्येषि॒ मां चा॒ग्निं चान्त॒रा।

तस्य॑ वृश्चामि॒ ते मू॒लं न च्छा॒यां क॑र॒वोप॑रम्॥ ५७॥

अर्थ—(यः) जो तू, (अभिच्छायम्, मा) परमेश्वर की छाया अर्थात् आश्रय को प्राप्त हुए मुझ को, (अत्येषि) तिरस्कृत करता है, (च) और (माम् अग्निम् अन्तरा) मुझ और अग्नि के मध्य में अन्तराय रूप होता है, (तस्य ते) उस तेरी (मूलम्) जड़ को, अर्थात् जड़ सहित तुझे, (वृश्चामि) मैं काट देता हूँ, ताकि तू (अपरम्) अवर-जगत् को भी (छायाम्) अपना आश्रय (न करवः) न कर सके।

[अभिच्छायम्=अभि प्राप्तः छायाम्, आश्रयम्। अत्येषि=अतिक्रमण, उल्लंघन करता है, अतिक्रान्त करता है। अग्निम्=परमात्मानम्। "**तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः**" (यजुः० ३२.१) में अग्नि पद परमेश्वरार्थक भी है। उपासक और उपास्य अग्निनामक ब्रह्म के मध्य में जो व्यक्ति अन्तराय बनता है, उसके काटने का वर्णन है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यो अ॒द्य दे॑व सूर्य॒ त्वां च॒ मां चान्त॒राय॑ति।

दुः॒ष्वप्न्यं॒ तस्मि॒ञ्छम॑लं दु॒रिता॑नि च मृज्महे॥ ५८॥

अर्थ—(देव सूर्य) हे सूर्यसम प्रकाशित परमेश्वर-देव! (यः) जो (अद्य) आज (त्वां च मां च अन्तरा अयति) तेरे और मेरे बीच अन्तराय रूप होकर आता है, (तस्मिन्) उसमें वर्तमान (दुःष्वप्न्यम्) एतत्सम्बन्धी दुःस्वप्न अर्थात् दुर्विचार को, (शमलम्) शान्ति भङ्ग करने वाले विचार को (दुरितानि च)

---

१. "**तं यज्ञं बर्हिषि "प्रौक्षन्" पुरुषं जातमग्रतः**" (यजुः० ३१.९) में हृदयान्तरिक्ष में, यज्ञनामक परमेश्वर के प्रति भक्तिरसरूपी जल की वर्षा का वर्णन "प्रौक्षन्" शब्द द्वारा किया है।

और दुष्कर्मों को (मृज्महे) हम धो डालते हैं, शुद्ध कर देते हैं।

[मन्त्र ५७ में तो ऐसे व्यक्ति के विनाश का वर्णन है, और वर्तमान मन्त्र में उसके संशोधन का। यदि संशोधन के लिए यत्न करने पर भी व्यक्ति शुद्ध नहीं होता तो फिर उसके लिए विनाश दण्ड ही विहित है। मृज्महे=**मृजूष् शुद्धौ**। रात्रि के समय निद्रावस्था में दुःष्वप्न्य आते हैं, और सूर्योदय होने पर निद्राक्षय होने से दुःष्वप्न्य दूर हो जाते हैं। इसलिए व्यक्ति के दुःष्वप्न्य आदि के दूर करने के प्रसङ्ग में परमेश्वर को सूर्यपद द्वारा निर्दिष्ट किया है। अग्नि का काम है भस्म करना, अतः व्यक्ति के नाश के प्रसङ्ग में मन्त्र ५७ में परमेश्वर को अग्नि पद द्वारा निर्दिष्ट किया है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**गायत्री**

मा प्र गाम पथो वयं मा यज्ञादिन्द्र सोमिनः। मान्त स्थुर्नो अरातयः॥ ५९॥

अर्थ—(इन्द्र) हे परमैश्वर्यवान् परमेश्वर! (पथः) तुझ द्वारा दर्शाए सत्पथ से (वयम्) हम (मा) न (प्र गाम) दूर हों, और (मा) न (सोमिनः यज्ञात्) ब्रह्मचर्य-जीवन रूपी यज्ञ से दूर हों, (नः) हमारे (अन्तः) जीवनों में (अरातयः) अदान भावनाएँ रूपी शत्रु (मा स्थुः) स्थित न हों।

[सोमिनः=सोम=वीर्य, जो सन्तानोत्पादक है; **षु प्रसवे** (अथर्व० १४.१.१-५)। यज्ञात्=**पुरुषो वाव यज्ञः**'' (छान्दोग्य० उप०)। इन्द्र=**इदि परमैश्वर्ये**। अरातयः=अ+रा (दाने)+ति]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

यो यज्ञस्य प्रसाधनस्तन्तुर्देवेष्वाततः। तमाहुतमशीमहि॥ ६०॥

अर्थ—(यज्ञस्य) जीवन-यज्ञ का (यः) जो (प्र साधनः) श्रेष्ठ, साधनभूत, (तन्तुः) सूत्रात्मरूप परमेश्वर, (देवेषु) प्रकाशमान सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, तारा आदि में (आततः) फैला हुआ है। (तम्) उस को—(आहुतम्) जिसमें कि हम ने आत्म-समर्पणरूप आहुतियाँ दी हैं—(अशीमहि) हम प्राप्त हों। आहुतम्=अथवा जिसकी आहुति हम ने निज आत्माओं में दी है उसे हम प्राप्त हों।

प्रथम अनुवाक समाप्त॥

अनुवाक २

सूक्त २

विषय-प्रवेश

(१) १३.२ के मन्त्र ४६ हैं। अनुक्रमणी में इस सूक्त को ''अध्यात्म'', तथा ''रोहितादित्य दैवत'' कहा है। इसका अभिप्राय यह है कि इस सूक्त के कई मन्त्रों में साक्षात् परमेश्वर का भी वर्णन है, और आदित्य के वर्णन-प्रसङ्ग में तन्निष्ठ तथा तदधिष्ठातृरूप में ब्रह्म का भी वर्णन साथ-साथ जानना चाहिए, जैसे कि ''**योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म**'' (यजुः० ४०.१७), तथा १३.२.१ से ज्ञात होता है।

(२) परमेश्वररूपी माता की प्रज्ञा द्वारा चन्द्र-सूर्यरूपी दो शिशु आकाश में क्रीड़ा कर रहे हैं (११)।

(३) अत्रिः=ब्रह्म (१३)। अत्रिनामक परमेश्वर द्वारा सूर्य की द्युलोक में स्थिति (४)।

(४) अत्रि के सम्बन्ध में अन्य वर्णन (१२, ३६)।

(५) परमेश्वर भक्त की प्रार्थना को सुनता है (४४, ४५)।

(६) परमेश्वर के प्रति समर्पण तथा अग्निहोत्र काल (४६)।
(७) परमेश्वर का मुख्यरूप में, तथा सूर्य का गौणरूप में वर्णन (३१-४६)।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

उदस्य केतवो दिवि शुक्रा भ्राजन्त ईरते।
आदित्यस्य नृचक्षसो महिव्रतस्य मीढुषः॥ १॥

अर्थ—(नृ चक्षसः) मनुष्यों के द्रष्टा, (महिव्रतस्य) महाव्रती, (मीढुषः) सिंचन करने वाले, (अस्य आदित्यस्य) इस आदित्य की, (भ्राजन्तः) प्रदीप्त हुईं (शुक्राः) शुद्ध-पवित्र (केतवः) प्रज्ञापक रश्मियाँ (दिवि) द्युलोक में (उद् ईरते) उदित हुई हैं।

[**केतुः प्रज्ञानाम** (निघं० ३.९)। नृचक्षसः=सूर्यपक्ष में कवितामय वर्णन है। परमेश्वर पक्ष में वास्तविक वर्णन है। परमेश्वर सबके उपकार के लिए उन पर दृष्टि रखता, और शुभाशुभ कर्मों का निरीक्षण करता है। देखो काण्ड १३.४.(१).११); तथा (१३.४(२).९१)। आदित्य=परमेश्वर भी, "**तदेवाग्निस्तदादित्यः**" (यजुः० ३२.१)। दिवि उदीरते=परमेश्वर के प्रज्ञापक प्रकाश मस्तिष्क में उदित होते हैं। मीढुषः महिव्रतस्य=वह सुखों की वर्षा करता, और जगत् की उत्पत्ति, स्थिति के लिए महाव्रती है। परमेश्वर ही सूर्य में स्थित हुआ सौर जगत् का नियन्त्रण कर रहा है "**योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म**" (यजुः० ४०.१७)। तथा "**य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद, यस्यादित्यः शरीरं, य आदित्यमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः**" (बृहदा० उप० ३.७.९), अर्थात् जो आदित्य में स्थित हुआ आदित्य से भिन्न है, जिसे आदित्य नहीं जानता, आदित्य जिसका शरीर है, जो आदित्य को नियमन करता है, यह तेरा आत्मा है, अन्तर्यामी और अमृत है। इस प्रकार वैदिक दृष्टि में सूर्य का वर्णन केवल स्थूल दृश्यमान सूर्य पिण्ड का नहीं, अपितु परमेश्वररूप अधिष्ठातृसमेत सूर्य का वर्णन है। इसीलिए सूर्यपिण्ड के वर्णन में "नृचक्षसः" आदि चेतन धर्मों का भी वर्णन समझना चाहिए। इस प्रकार अगले मन्त्रों के वर्णन भी जानने चाहिएँ। इस दृष्टि से सूक्त को "अध्यात्म" कहा है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**जगती**॥

दिशां प्रज्ञानां स्वरयन्तमर्चिषा सुपक्षमाशुं पतयन्तमर्णवे।
स्तवाम सूर्यं भुवनस्य गोपां यो रश्मिभिर्दिश आभाति सर्वाः॥ २॥

अर्थ—(अर्चिषा) दीप्ति द्वारा (दिशां प्रज्ञानाम्=दिशः प्रज्ञानीः) वस्तुओं की सापेक्ष स्थिति को जताने वाली दिशाओं को (स्वरयन्तम्) प्रकाशित करते हुए, (सुपक्षम्) मानो सुदृढ़ पंखों वाले पक्षी के सदृश (अर्णवे) जलवाले अन्तरिक्ष में (आशुम्, पतयन्तम्) शीघ्र उड़ते हुए, (भुवनस्य गोपाम्) सौर मण्डल के रक्षक (सूर्यम्) सूर्य का (स्तवाम) हम वर्णन करते हैं, (यः) जो सूर्य की (रश्मिभिः) रश्मियों द्वारा (सर्वाः दिशः) सब दिशाओं को (आ भाति) प्रकाशित करता है।

[दिशां प्रज्ञानाम्=सम्बन्धे षष्ठी। अथवा प्रज्ञानी दिशाओं सम्बन्धी पदार्थों को प्रकाशित करते हुए....]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**जगती**॥

यत्प्राङ् प्रत्यङ् स्वधया यासि शीभं नानारूपे अहनी कर्षि मायया।
तदादित्य महि तत्ते महि श्रवो यदेको विश्वं परि भूम जायसे॥ ३॥

अर्थ—(यत्) जो (प्राङ् प्रत्यङ्) पूर्व और पश्चिम की ओर, (स्वधया) स्वनिष्ठशक्ति द्वारा तथा (मायया) परमेश्वर की प्रज्ञा द्वारा (शीभम्) शीघ्र (यासि) तू जाता है, और (नानारूपे) भिन्न-भिन्न रूपों वाले (अहनी) दिन और रात्रि को (कर्षि) करता है, (आदित्य) हे आदित्य! (तत् महि) वह महाकर्म है, (तत्) तथा वह (ते) तेरा (महि) महा (यश:) यशस्वी कर्म है (यत्) जो कि (एक:) अकेला (विश्वं भूम परि) समग्र भुवन में (जायसे) तू प्रकट होता है।

[संसार के प्रत्येक पदार्थ में स्वनिष्ठ शक्ति होती है, जिसे कि परमेश्वर निज प्रज्ञापूर्वक प्रदान करता है। आदित्य में भी स्वनिष्ठ शक्ति है, जो कि परमेश्वर की प्रज्ञा द्वारा मिली है। **माया प्रज्ञानाम** (निघं० ३.९)। माया शब्द के प्रयोग द्वारा मन्त्रार्थ अध्यात्म है। एक:=आदित्य दिन में अकेला प्रकट होता है। दिन में चाँद, नक्षत्र, तारागण आकाश में नहीं होते, केवल आदित्य ही आकाश में होता हुआ दिन को प्रकट कर प्राणियों के व्यवहारों का सम्पादन करता है। रात्रि में चाँद, नक्षत्र, तथा तारागण नाना ज्योतियाँ प्रकट होती हैं]।

ऋषि:—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहित:, आदित्य:**॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्**॥

विपश्चितं तरणिं भ्राजमानं वहन्ति यं हरित: सप्त बह्वी:।
स्रुताद्यमत्रिर्दिवमुन्निनाय तं त्वा पश्यन्ति परियान्तमाजिम्॥ ४॥

अर्थ—(बह्वी:) बड़ी (सप्त[1] हरित:) सात या फैली हुई रश्मियाँ (यम्) जिस (भ्राजमानम्) चमकते हुए, (विपश्चितम्) मेधावी परमेश्वर द्वारा चिने हुए, (तरणिम्) रात्रि के अन्धकार नद से तैराने वाले सूर्य को (वहन्ति) ले जाती हैं, (यम्) और जिसे (अत्रि:) अत्रि (स्रुतात्) द्रवावस्था से निकाल कर (दिवम् उन्निनाय) ऊपर द्युलोक में लाया, (तं त्वा) उस तुझ को (आजिम् परियान्तम्) मानो संग्राम की ओर जाते हुए को, (पश्यन्ति) देखते हैं। **आजौ संग्रामनाम** (निघं० २.१७)।

[विपश्चितम्=**विप: मेधाविनाम** (निघं० ३.१५)+चितम् (**चिञ् चयने**)। चिनी हुई वस्तु स्वयं गति नहीं करती, वह निश्चल होती है। इस द्वारा दर्शाया है कि सूर्य निश्चल है, ध्रुव है। अन्यत्र कहा भी है **"एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन्"** (अथर्व० ११.४.२१), अर्थात् हंस (सूर्य) अपने एक पैर को उखाड़ता नहीं, जमाए रखता है। तरणिम्=वह नौकारूप है जो कि प्रत्यक्षत: द्यु-समुद्र में तैरती हुई, पूर्व से पश्चिम तक जाती दीखती है। इसे ले जाने वाले सप्तरंगी महाबली सात अश्व हैं। सूर्य की शुभ्र रश्मि, सात रंगों वाली ७ किरणों के परस्पर मिश्रण द्वारा निर्मित होती है। ये सप्तविध किरणें वर्षर्तु में इन्द्र-धनुष में दीखती हैं। अत्रि=चराचर जगत् का "अत्ता"[2] अर्थात् खाने वाला परमेश्वर। विराट् अर्थात् आग्नेय अवस्था से जब जगत् की स्रुतावस्था अर्थात् द्रवावस्था आई तब उस द्रवावस्था से अत्रि ने सूर्य को पृथक् कर उसे द्युलोक में स्थापित किया। विराट्—अवस्था तेजोमयी अवस्था है, तत्पश्चात् स्रुतावस्था आती है। **"ततो विराडजायत विराजो अधि पूरुष:। स जातोऽअत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथोपुर:"** (यजु:० ३१.५)। "अति अरिच्यत" द्वारा जगत् की अति विरेचनावस्था अर्थात् द्रवावस्था सूचित की है। सूर्य के सम्बन्ध में कहा है कि वह मानो संग्राम में जाता है—अन्धकार के साथ युद्ध करने

१. सप्त=**"सृप्ता संख्या"**, तथा **"सप्तपुत्रम्=सर्पणपुत्रमिति वा"** (निरुक्त ४.४.२६)।
२. वेदान्त (१.२.९)। परमेश्वर को "अन्नाद" भी कहा है (अथर्व० १३.३.७)।

के लिए। मन्त्र वर्णन कवितामय है। अत्रिः[१]=**अद भक्षणे**। परमेश्वर प्रलयावस्था में जगत् का भक्षण करता है। मन्त्र में अत्रि के वर्णन द्वारा मन्त्रवर्णन अध्यात्मरूप हुआ है। अत्रिः (१३.२.१२; ३६; तथा १३.३.१५)। स्रुतात्=**स्रु (गतौ)**+क्तः। गति सूचक है द्रवावस्था का]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

मा त्वा दभन्परियान्तमाजिं स्वस्ति दुर्गाँ अति याहि शीभम्।
दिवं च सूर्य पृथिवीं च देवीमहोरात्रे विमिमानो यदेषि ॥ ५ ॥

अर्थ—(आजिम्, परि यान्तम्) संग्राम की ओर जाते हुए (त्वा) तुझे हे सूर्य! (मा दभन्) विरोधी शक्तियाँ न दबाएँ, (दुर्गान्) दुर्गम मार्गों का, (स्वस्ति) कल्याण पूर्वक (शीभम्) शीघ्र (अति याहि) अतिक्रमण करता हुआ तू जा। (यद्) जो कि (दिवं च, पृथिवीं च देवीम् अहोरात्रे विमिमानः) द्युलोक को, और दिव्य पृथिवी लोक को (एषि) तू आता है, दिन और रात को मापता हुआ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

स्वस्ति ते सूर्य चरसे रथाय येनोभावन्तौ परियासि सद्यः।
यं ते वहन्ति हरितो वहिष्ठाः शतमश्वा यदि वा सप्त बह्वीः ॥ ६ ॥

अर्थ—(सूर्य[२]) हे सूर्य! (चरसे) चलने के निमित्त (ते रथाय) तेरे रथ के लिए (स्वस्ति) कल्याण हो, (येन) जिस रथ द्वारा (उभौ अन्तौ) दोनों अन्तों अर्थात् क्षितिजों (परि यासि सद्यः) की ओर तू शीघ्र जाता है, या एक दिन में आता है। (ते) तेरे (यम्) जिस रथ को (हरितः) जलाहरण करने वाले, (वहिष्ठाः) तेज से जाने वाले (शतम् अश्वाः) सैकड़ों रश्मिरूपी अश्व, (यदि वा) अथवा (सप्त बह्वीः) बहुबली सात—सप्तरंगी सात किरण रूपी घोड़ियाँ (वहन्ति) ढोए लिए जाती हैं।

[सद्यः=समाने द्यवि दिने। सप्तरंगी सात किरणें=Red (लाल) Yellow (पीत), Orange (नारंगी), Green (हरी), Blue (नीली), Indigo (नील के पौधा से निकले रङ्ग वाली), Violet (बैंगनी)। इन सात किरणों को "बह्वीः" स्त्रीलिङ्ग पद द्वारा कथित किया है। ये सात किरणें मिश्रित होकर अश्वरूपी शुभ्र (सुफैद) रश्मि की जननियाँ होती हैं। अतः इन्हें स्त्रीलिङ्ग में, तथा "अश्वाः" को पुल्लिङ्ग में वर्णित किया है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सुखं सूर्य रथमंशुमन्तं स्योनं सुवह्निमधि तिष्ठ वाजिनम्।
यं ते वहन्ति हरितो वहिष्ठाः शतमश्वा यदि वा सप्त बह्वीः ॥ ७ ॥

अर्थ—(सूर्य) हे सूर्य! (अंशुमन्तम्) रश्मियों वाले, (स्योनम्) सुखदायक, (सुवह्निम्) उत्तमता से

---

१. अत्रिः=अद्+त्रिः (त्रैङ् पालने)। परमेश्वर प्रलयावस्था में जगत् का "अद्" भक्षण करता, और सर्गावस्था में जगत् का त्राण करता है। अद्+त्र+इनिः।

२. "सूर्य ते रथाय" में सूर्य और सूर्य के रथ का वर्णन हुआ है। इससे प्रतीत होता है कि सूर्य और रथ—ये दो वस्तुएँ हैं। यजुर्वेद ४०.१७ में आदित्य और आदित्यस्थ पुरुष, ओ३म् और ब्रह्म का वर्णन हुआ है। सम्भवतः सूर्य द्वारा ब्रह्म और रथ द्वारा सूर्यपिण्ड अभिप्रेत हो। परन्तु "परियासि" पद द्वारा सूर्य की गति का वर्णन मन्त्र में हुआ है। परमेश्वर व्यापक है। अतः उसमें गति नहीं हो सकती। अथवा "**तदेजति तन्नैजति**" (यजुः० ४०.५) द्वारा समाधान जानना चाहिए।

वहन करने वाले, (वाजिनम्) गतिवाले अथवा बलवान् या सुदृढ़ (रथम्) सूर्य पिण्डरूपी रथ पर (सुखम्) सुखपूर्वक (अधितिष्ठ) अधिष्ठातृरूप में तू बैठ। मन्त्र के उत्तरार्ध के लिए देखो मन्त्र ६ का उत्तरार्ध।

[मन्त्र ७ में रथ द्वारा सूर्य पिण्ड, और सूर्य द्वारा सूर्याधिष्ठाता ओ३म्-ब्रह्म के ग्रहण में विशेष आपत्ति प्रतीत नहीं होती]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

सप्त सूर्यो हरितो यातवे रथे हिरण्यत्वचसो बृहतीरयुक्त।

अमोचि शुक्रो रजसः परस्ताद्विधूय देवस्तमो दिवमारुहत्॥ ८॥

अर्थ—(सूर्यः) सूर्य ने (यातवे) चलने के लिए, (रथे) रथ में, (हिरण्यत्वचसः) सुवर्णसमान चमकीली, (बृहतीः) और महाबली, (सप्त हरितः) सात किरणों को (अयुक्त) जोता है। (रजसः) अन्तरिक्ष-लोक के (परस्तात्) परे के भाग में (शुक्रः) चमकीला सूर्य (अमोचि) अन्धकार से मुक्त हो गया है, (देवः) चमकीला सूर्य (तमः विधूय) तम को हटा कर (दिवम्, आरुहत्) द्युलोक में आरूढ़ हुआ है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

उत्केतुना बृहता देव आगन्नपावृक्तमोभि ज्योतिरश्रैत्।

दिव्यः सुपर्णः स वीरो व्यख्यददितेः पुत्रो भुवनानि विश्वा॥ ९॥

अर्थ—(बृहता केतुना) बड़े प्रकाश के साथ (देवः) सूर्यदेव (उद् आगन्) उदित हुआ है, (तमः अपावृक्) उसने अन्धकार को हटाया है, (ज्योतिः अश्रैत्) और ज्योति का आश्रय लिया है। (सः दिव्यः, सुपर्णः, वीरः, अदितेः पुत्रः) उस दिव्य, उत्तमपालक अथवा उत्तमपंखों वाले पक्षी के समान वर्तमान, वीर या प्रेरक अदिति के पुत्र ने, (विश्वा भुवनानि) सब भुवनों को (व्यख्यत्) प्रकाशित किया है।

[सुपर्णः=सु+पर्णः (**पॄ पालने**), अथवा उत्तम तथा सुदृढ़ पंखों वाले पक्षी के समान [आकाश में उड़ता हुआ। अदितिः="**अदितिः अदीना देवमाता**" (निरुक्त ४.४.२२), प्रकृति या पारमेश्वरी माता। वीरः=वीर या "वि+ईरः" अर्थात् प्रेरक। सूर्य के उदित होते ही प्राणी निजकार्यों में व्यापृत हो जाते हैं अतः सूर्य मानो उनका प्रेरक है। केतुना=निघं० के अनुसार "**केतुः प्रज्ञानाम**" (३.९)। इस अर्थ में "परमेश्वर की प्रज्ञा के द्वारा उदित हुआ है" ऐसा अर्थ होगा। यह अर्थ है भी सत्य। परमेश्वर की प्रज्ञा के कारण ही सूर्यादि सब पदार्थ अपने-अपने कार्यों में व्यापृत हैं, जड़ प्रकृति के कारण नहीं]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**आस्तारपङ्क्तिः** ॥

उद्यन्रश्मीना तनुषे विश्वा रूपाणि पुष्यसि।

उभा समुद्रौ क्रतुना वि भासि सर्वाँल्लोकान्परिभूर्भ्राजमानः॥ १०॥

अर्थ—(उद्यन्) उदित होता हुआ (रश्मीन्) रश्मियों को (आ तनुषे) तू फैलाता है, (विश्वा रूपाणि) सब रूपों को (पुष्यसि) तू पुष्ट करता है। (क्रतुना) अपने कर्म या परमेश्वरीय प्रज्ञा द्वारा (उभा समुद्रौ) दोनों समुद्रों को (विभासि) तू प्रकाशित करता है, (भ्राजमानः) प्रदीप्त होता तू (सर्वान् लोकान्) सब लोकों को [प्रकाश द्वारा] (परिभूः) घेर लेता है।

[रात्रि में अन्धकार के कारण वस्तुओं के रूप प्रकट नहीं होते, सूर्य के उदित होते ही प्रकट हो जाते हैं, यह रूपों का पोषण है। क्रतुना; **क्रतुः कर्मनाम** (निघं० २.१), **प्रज्ञानाम** (निघं० ३.९)। समुद्रौ= अन्तरिक्षस्थ तथा पृथिवीस्थ समुद्र; यथा "**स उत्तरस्मादधरं समुद्रमपो दिव्या असृजद्वर्ष्या अभि**" (ऋ० १०.९८.५), अर्थात् "उसने उत्तर समुद्र; (मेघ) से अधर समुद्र (पार्थिवसमुद्र) की और दिव्य वर्षा जल बरसाए"। इसी प्रकार "**अतूर्ते बद्धं सविता समुद्रम्**" (ऋ० १०.१४९.१) में "समुद्रम्" का अर्थ मेघ है। निरुक्त में इस पर लिखा है कि "**अन्तरिक्षे मेघं बद्धम्**" (१०.३.३२)]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**बृहतीगर्भा त्रिष्टुप्**॥

पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीडन्तौ परि यातोर्णवम्

विश्वान्यो भुवना विचष्टे हैरण्यैरन्यं हरितो वहन्ति॥ ११॥

अर्थ—सूर्य और चाँद (मायया) परमेश्वर की प्रज्ञा द्वारा (पूर्वापरम्) एक दूसरे के आगे-पीछे (चरतः) विचरते हैं, (शिशू) दोनों शिशु (क्रीडन्तौ) मानो परस्पर क्रीड़ा करते हुए (अर्णवम्) प्रकाश समुद्र के (परियातः) चारों ओर जाते हैं। (अन्यः) एक अर्थात् सूर्य (विश्वा भुवना) सब भुवनों को (विचष्टे) देखता है, (अन्यम्) दूसरे चन्द्रमा को (हैरण्यैः) हिरण्यसदृश चमकीले नक्षत्रों द्वारा [निर्दिष्ट मार्ग से] (हरितः) सूर्य की रश्मियाँ रूपी अश्व, (वहन्ति) ढोते हैं, मार्ग पर चलाते हैं।

[मन्त्र में पूर्णिमा के चाँद और सूर्य रूपी दो शिशुओं की क्रीड़ा का वर्णन हुआ है। पूर्णिमा से अतिरिक्त अवस्था में चाँद **पृष्ट्यामयी** (ऋ० १.१०५.१८) अर्थात् पृष्ठरोगी है, कुबड़ा है, अतः क्रीड़ा में असमर्थ है। ये एक-दूसरे के आगे-पीछे एक दूसरे को पकड़ने की मानों क्रीड़ा कर रहे हैं। इस क्रीड़ा में परमेश्वर माता की प्रज्ञा सहायिका है। मायया; **माया प्रज्ञानाम** (निघं० ३.९)। चन्द्रमा नक्षत्रों का पति है। यथा "**चन्द्रमा नक्षत्राणामधिपतिः**" (अथर्व० ५.२४.१०)। अतः नक्षत्र उसकी प्रजाएँ हैं। नक्षत्र (हैरण्यैः) निज स्वामी का मार्ग प्रदर्शन करते हैं। और वह सूर्य के अश्वों द्वारा अपनी प्रजा के निरीक्षणार्थ जाता है। हरितः=हरण करने वाले, सूर्य रथ के, अश्व। यथा "**हरित आदित्यस्य**" (निघं० १.१५), अर्थात् आदित्य के अश्व हैं, हरितः। चन्द्र और सूर्य की क्रीड़ा के लिए देखो अथर्व० (१.८१.१; १४.१.२३)]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

दिवि त्वात्रिरधारयत्सूर्या मासाय कर्तवे।

स एषि सुधृतस्तपन्विश्वा भूतावचाकशत्॥ १२॥

अर्थ—(सूर्य) हे सूर्य (मासाय कर्त्तवे) सौर और चान्द्र मास के निर्माण के लिए, (अत्रिः) परमेश्वर ने (त्वा) तुझे (दिवि) द्युलोक में (आ अधारयत्) सम्यक्तया धारित या स्थापित किया है। (सः) वह (सुधृतः) उत्तम प्रकार से धृत अर्थात् स्थापित हुआ तू (तपन्) तपता हुआ (एषि) आता है, और (विश्वा भूता) सब भूत-भौतिक जगत् को (अव चाकशत्) नीचे की ओर प्रकाशित करता हुआ आता है।

[अत्रिः=अत्त्रिः (मन्त्र ४)। चाकशत्=**चकासृ दीप्तौ**। मासाय=सौरमास तथा चान्द्रमास। सौरमास की रचना तो १२ राशियों में सूर्य के संक्रमणों द्वारा होती है, और चान्द्रमास की रचना नक्षत्रों में चन्द्र के संक्रमण द्वारा होती है। चन्द्रमा पर सूर्य के प्रकाश के कम और अधिक के पड़ने पर पूर्णिमा, अष्टमी तथा

अमावास्या लक्षित होती हैं, और इससे चान्द्रमास का परिज्ञान होता है। इसलिए चान्द्रमास की रचना में भी सूर्य हेतु है। वेद में दोनों प्रकार के मास अभिप्रेत हैं। इसीलिए इनके दिनों में साम्य के लिए ३० दिनों का मलमास तथा अधिमास (Intercalary month) का वर्णन वेदों में हुआ है, (अथर्व० १३.३.८)]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

उभावन्तौ समर्षसि वत्सः संमातराविव। नन्वे३तदितः पुरा ब्रह्म देवा अमी विदुः॥ १३॥

अर्थ—हे सूर्य! (उभौ अन्तौ) दोनों अन्तों अर्थात् पूर्व और पश्चिम दिशा के अन्त भागों को (समर्षसि) तू सम्यक्तया प्राप्त होता है (इव वत्सः) जैसे कि बच्चा (संमातरौ) अपने एक ही माता-पिता को सम्यक्तया प्राप्त होता है। (ननु) निश्चय से (इतः पुरा[1]) इस मन्त्र के पूर्व मन्त्र में (एतत्) इस अत्रितत्त्व को (अमी देवाः) वे वैदिक विद्वान् (ब्रह्म विदुः) ब्रह्म जानते हैं। अत्रितत्त्व (मन्त्र ४)। अत्रिः=अत्तिः। मातरौ=एकशेष में पितरौ की तरह मातरौ प्रयोग हुआ है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यत्समुद्रमनु श्रितं तत्सिषासति सूर्यः। अध्वास्य विततो महान्पूर्वश्चापरश्च यः॥ १४॥

अर्थ—(यत्) जो मेघीय जल (समुद्रम् अनु श्रितम्) समुद्र अर्थात् अन्तरिक्ष में आश्रित है (तत्) उसे (सूर्यः) सूर्य (सिषासति) देना चाहता है या देता है। (अस्य) इस सूर्य का (अध्वा) मार्ग (महान्) महान् है, (यः) जो कि (पूर्वः च अपरः च विततः) पूर्व और पश्चिम में फैला हुआ है।

[सम्रदम्=अन्तरिक्ष में या मेघ में जल का वास है जिसे कि सूर्य देता है। सूर्य निज ताप द्वारा पार्थिव जल का वाष्पीकरण करके, जल को अन्तरिक्ष में पहुँचाता और वर्षा ऋतु में हमें पुनः दे देता है। समुद्र के लिए देखो (मन्त्र १०)। तथा "**समुद्रः अन्तरिक्षनाम**" (निघं० १.३)]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

तं समाप्नोति जूतिभिस्ततो नाप चिकित्सति।
तेनामृतस्य भक्षं देवानां नाव रुन्धते॥ १५॥

अर्थ—(तम्) उससे मार्ग को सूर्य (जूतिभिः) वेगों से (समाप्नोति) समाप्त करता है, (ततः) उस मार्ग से वह (अप चिकित्सति, न) टलता नहीं या उस मार्ग को वह विस्मृत नहीं करता। (तेन) उस द्वारा (देवानाम्) देवों के (अमृतस्य भक्षम्) अमृत भक्षण को वह (रुन्धते न) रोकता नहीं।

[**अमृतम् उदकनाम** (निघं० १.१२)। अप चिकित्सति=अप+**चिति स्मृत्याम्;** अपस्मरण=विस्मरण। ततः=पञ्चमी, या द्वितीया विभक्ति में तसिल्। जूतिभिः=वेगों से। बहुवचन द्वारा यह सूचित किया है कि

१. पुरा शब्द द्वारा कालकृत तथा स्थानकृत उभयविध पूर्वता का ग्रहण होता है। पुरा=In former times; In the first Place (आप्टे) अथवा सूर्य में ब्रह्म अधिष्ठित है, अतः अधिष्ठान और अधिष्ठित में अभेद मान कर पुराकल्प से सूर्य को विद्वान् ब्रह्म जानते रहे हैं—यह अर्थ समझना चाहिए। यथा "**योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म**" (यजुः० ४०.१७)। अथवा "**द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे**" की दृष्टि से सूर्य को ब्रह्म कहा है। देखो मन्त्र (१३.१.४१) की व्याख्या। अथवा उपनिषदों में अब्रह्म पदार्थों के लिए भी गौणरूप में ब्रह्मशब्द प्रयुक्त हुआ है। अतः वर्तमान मन्त्र में भी सूर्य को गौणरूप में ब्रह्म कहा है। तथा बृहदा० उपनिषद् में (अ० २। ब्राह्मण १) में गौणरूप में ब्रह्म शब्द प्रयुक्त हुआ है। तथा **प्राणो वै ब्रह्म, चक्षुर्वै ब्रह्म, श्रोत्रं वै ब्रह्म, मनो वै ब्रह्म**—इत्यादि (बृहदा० उप० ४.१.३-६) में भी प्राण आदि के लिए ब्रह्म शब्द प्रयुक्त हुआ है। अधिष्ठितः=अधितिष्ठतीति।

सूर्य प्रतिदिन वेग से अपने मार्ग को इसलिए समाप्त करता है ताकि वर्षा ऋतु के दिन शीघ्र आ जाएँ, और वह जल को वाष्पीभूत करके अन्तरिक्ष, वायु और विद्युत् आदि देवों को, और वर्षा द्वारा पृथिवी, ओषधि और वनस्पति आदि देवों को अमृत अर्थात् जल का पान करा सके। यह जल देवों का अमृत भक्ष है। मन्त्र में कूट कविता के शब्दों में भाव छिपा हुआ है[1]]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**आर्षी गायत्री** ॥

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्यम्॥ १६॥

अर्थ—(केतवः) रश्मियाँ (त्यम्) उस (जातवेदसम्) ऐश्वर्योत्पादक, (देवम्) द्योतमान (सूर्यम्) सूर्य को, (विश्वाय दृशे) सब को दर्शाने के लिए, (उद् उ वहन्ति) ऊपर आकाश या द्युलोक में चला रही हैं।

[यजुः० ७.४१; ८.४१; ३३.३१; अथर्व० २०.४७.१३)। इन स्थानों में कहीं-कहीं मन्त्र के आध्यात्मिक अर्थ भी हैं, प्रकरण की दृष्टि से]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**आर्षी गायत्री** ॥

अप त्ये तायवो यथा नक्षत्रा यन्त्यक्तुभिः। सूराय विश्वचक्षसे॥ १७॥

अर्थ—(यथा) जैसे (त्ये) वे (तायवः) चोर (अक्तुभिः) रात्रियों के साथ (अप यन्ति) भाग जाते हैं वैसे (नक्षत्रा) नक्षत्र, रात्रियों के साथ भाग जाते हैं (विश्वचक्षसे सूराय) विश्व के द्रष्टा सूर्य के निमित्त[2]। **तायुः स्तेननाम** (निघं० ३.२४)। **अक्तुः रात्रिनाम** (निघं० १.७)।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**आर्षी गायत्री** ॥

अदृश्रन्नस्य केतवो वि रश्मयो जनाँ अनु। भ्राजन्तो अग्नयो यथा॥ १८॥

अर्थ—(अस्य) इस सूर्य की (केतवः) प्रज्ञापक (रश्मयः) रश्मियाँ, (जनान् अनु) जनों में, (वि अदृश्रन्) विशेषतया दृष्टिगोचर हुई हैं, (यथा) जैसे कि (भ्राजन्तः अग्नयः) दीप्यमान अग्नियाँ।

[प्रातःकाल होते ही सूर्य की रश्मियाँ दृष्टिगोचर होती हैं, जैसे कि प्रातःकाल में पाकशालाओं में अग्नियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। सूर्य की रश्मियाँ पदार्थों का ज्ञान कराती हैं, अतः ये केतवः हैं, प्रज्ञापक हैं]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**आर्षी गायत्री** ॥

तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य। विश्वमा भासि रोचन॥ १९॥

अर्थ—(सूर्य) हे सूर्य! (तरणिः) रात्रि के अन्धकार से तैराने वाला, (विश्वदर्शतः) सब वस्तुओं का दर्शाने वाला, (ज्योतिष्कृत्) प्रकाश करने वाला (असि) तू है। (रोचन) हे रुचिकर तथा सुन्दर! (विश्वम् आभासि) सबको तू चमकाता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**आर्षी गायत्री** ॥

प्रत्यङ् देवानां विशः प्रत्यङ्ङुदेषि मानुषीः। प्रत्यङ् विश्वं स्वर्दृशे॥ २०॥

अर्थ—(देवानाम् विशः) दैवी प्रजाओं के (प्रत्यङ्) सम्मुख, (मानुषीः) और मानुष प्रजाओं के

---

१. मन्त्र की भावना "**सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः**" के अनुरूप है।

२. सूर्य को उदयोन्मुख होते जान कर, रात्रि के साथ चोर और नक्षत्र अपगत हो जाते हैं।

(प्रत्यङ्) संमुख (उदेषि) तू उदित होता है। (विश्वं प्रत्यङ्) सबके सम्मुख तू उदित है, (स्वः दृशे) निज प्रकाशमान स्वरूप दिखाने के लिए।

[प्रात:काल का समय, जब कि द्युलोक में दैवी प्रजाएँ अर्थात् तारागण विद्यमान हों, तथा मानुषी प्रजाएँ भी जागरितावस्था में हो गई हों, उस समय के सूर्योदय का वर्णन है। स्वः=प्रकाशमान। **स्वृ उपतापे**]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**आर्षी गायत्री** ॥

येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु। त्वं वरुण पश्यसि॥ २१ ॥

अर्थ—(पावक वरुण) हे पवित्र करने वाले श्रेष्ठ सूर्य! (येना चक्षसा) जिस कृपादृष्टि से (जनान् अनु) मनुष्यों में (भुरण्यन्तम्) प्रगति शील मनुष्य को (त्वं पश्यसि) तू देखता है। [उस कृपादृष्टि से मुझे भी देख]।

[सूर्य के प्रकाश में कई व्यक्ति उद्यमशील होकर सफलता प्राप्त करते हैं, और कई उद्यमशील होते हुए भी सफलता प्राप्त नहीं करते। यह विषमता अपने-अपने कर्मों के अनुसार है। परन्तु असफल व्यक्ति भी सफलता के अभिलाषी तो होते ही हैं, अतः वे भी कृपादृष्टि चाहते हैं। **भुरण्यति गतिकर्मा** (निघं० २.१४)]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**आर्षी गायत्री** ॥

वि द्यामेषि रजस्पृथ्वहर्मिमानो अक्तुभिः। पश्यञ्जन्मानि सूर्य॥ २२ ॥

अर्थ—(सूर्य) हे सूर्य! (अक्तुभिः) रात्रियों समेत (अहः) दिनों को (मिमानः) मापता हुआ, तथा (जन्मानि पश्यन्) पार्थिव उत्पन्न पदार्थों को देखता हुआ, (द्याम्) द्युलोक में, (रजः[१], पृथु) विस्तृत अन्तरिक्ष लोक में (वि एषि) विविध रूपों में तू आता है।

[ऋतु-ऋतु में कर्म-भेद से सूर्य विविध रूपों वाला है। पृथु=**प्रथ विस्तारे**। मिमानः=सूर्य दिन के समय मानो दिनों को मापता है, और रात्रि के समय रात्रियों को मापता है। वर्ष के दिनों-रातों की लम्बाई बदलती रहती है, अतः प्रतिदिन और प्रतिरात्रि मापने का वर्णन हुआ है। इसलिए अक्तुभिः में बहुवचन है। "अहः" में एकवचन अहर्जाति कृत है। पश्यन्=वेदों में सूर्य को "चक्षुः[२]" कहा है। चक्षुः का कर्म है देखना। अतः सूर्य के सम्बन्ध में "पश्यन्" का वर्णन हुआ है। अथवा "पश्यन्" पद कविता प्रयुक्त है। अथवा सूर्य और सूर्य के अधिष्ठाता में अभेद दृष्टि से "पश्यन्" प्रयुक्त हुआ है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**आर्षी गायत्री** ॥

सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति देव सूर्य। शोचिष्केशं विचक्षणम्॥ २३ ॥

अर्थ—(देव सूर्य) हे द्योतमान सूर्य! (सप्त हरितः) सात किरणें, (शोचिष्केशम्) पवित्र या प्रकाशमयी रश्मियों वाले, (विचक्षणम्) द्रष्टा (त्वा) तुझे (रथे वहन्ति) रथ में वहन करती हैं।

["त्वा रथे", "सूर्य रथे" में सूर्य और रथ अर्थात् सूर्य और सूर्यपिण्ड में भेद दर्शाया है। यह भेद वैकल्पिक है, कविता रूप में है। केशम्=**केशा रश्मयः, काशनाद्वा प्रकाशनाद्वा** (निरुक्त १२.३.२५)।

---

१. "**रजांसि वै लोकाः**" (निरुक्त ४.३.१९), रजः पद (३९)।

२. "**तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्**"। तथा (मन्त्र २१)।

विचक्षणम्; **विचष्टे पश्यतिकर्मा** (निघं० ३.११)। तथा विचक्षते=अभिविपश्यन्ति (निरुक्त १२.३.२८)। सप्त=शुभ्र रश्मि के फटने पर उत्पन्न सात रश्मियाँ, जो कि इन्द्रधनुष में दृष्टिगोचर होती हैं।

अथवा—हे परमेश्वर! प्रत्याहार रूपी योगाङ्ग सम्पन्न ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि—ये सात, शरीर रथ में, पवित्र या प्रकाशमयी किरणों वाले, सर्वद्रष्टा तुझ को वहन करते हैं, मुझे प्राप्त कराते हैं। **वह प्रापणे**। सूर्य=परमेश्वर (अथर्व० १३.४(१).५)]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**आर्षी गायत्री** ॥

अयुक्त सप्त शुन्ध्युवः सूरो रथस्य नप्त्यः। ताभिर्याति स्वयुक्तिभिः ॥ २४ ॥

अर्थ—(रथस्य सूरः) शरीर रथ के प्रेरक सूर्य ने, परमेश्वर ने, (शुन्ध्युवः) शोधक तथा (नप्त्यः) न गिरने देने वाली (सप्त) सात शक्तियों, ५ ज्ञानेन्द्रियों, मन और बुद्धि को (अयुक्त) शरीर-रथ में स्वयं जोता है। (स्वयुक्तिभिः) स्वयं जोती हुई (ताभिः) उन सात शक्तियों द्वारा परमेश्वर (याति) प्राप्त होता है।

[याति=**या प्रापणे**। सूरः=**षू प्रेरणे**। नप्त्यः=जिन सात इन्द्रियादि को परमेश्वर स्वयं शरीर-रथ में जोतता है, वे सात पवित्र हुईं, शरीर-रथ का पतन नहीं होने देतीं]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**ककुम्मत्यास्तारपङ्क्तिः** ॥

रोहितो दिवमारुहत्तपसा तपस्वी।
स योनिमैति स उ जायते पुनः स देवानामधिपतिर्बभूव ॥ २५ ॥

अर्थ—(तपसा) उपासक के तप के द्वारा, (तपस्वी) ज्ञान रूप तप वाला (रोहितः) सर्वोपरि आरूढ़ परमेश्वर, (दिवम्) उपासक के शिरस्थ-सहस्रारचक्र पर (आरुहत्) आरूढ़ हुआ है। (सः) वह परमेश्वर (योनिम्) सहस्रारचक्र रूपी घर में (ऐति) आता है, (स उ) वह निश्चय से (पुनः) बार-बार (जायते) प्रकट होता है। (सः) वह (देवानाम्) देवों का (अधिपतिः बभूव) अधिपति हुआ है।

[(दिवम्="**शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत**") (यजुः० ३१.१३), तथा "**दिवं यश्चक्रे मूर्धानम्**" (अथर्व० १०.७.३२) में सिर को द्यौः तथा दिवम् कहा है। (तपस्वी="**यस्य ज्ञानमयं तपः**") (मुण्डक उप० १.१.९)। **योनिर्गृहनाम** (निघं० ३.४)। देवानाम्=दिव्यकोटि के योगिजन, तथा द्योतमान लोक-लोकान्तर।

[मन्त्र का अभिप्राय यह है कि अभ्यासी के तपोमय जीवन पूर्वक योगाभ्यास की परिपक्व अवस्था में, ज्ञानस्वरूप परमेश्वर, योगी के शिरस्थ सहस्रार चक्र में प्रकट हो जाता है। सहस्राचक्र परमेश्वर का मानो घर बन जाता है। योगी जब-जब समाधिस्थ होकर परमेश्वर में ध्यान लगाता है, तब-तब उसे परमेश्वर का प्रत्यक्ष हो जाता है। इसे "पुनः जायते" द्वारा प्रकट किया है। ऐसे योगी की क्रियाओं और कर्मों का अधिपति-परमेश्वर प्रेरक होता है। सूर्य पक्ष में—दिवम्=द्युलोक; तपसा तपस्वी=ताप द्वारा तपा हुआ; योनिम्=द्युलोक तथा जगद्योनि परमेश्वर अथवा प्रकृति; पुनः जायते=बार-बार उदित होता है, या प्रतिकल्प में पैदा होता है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**पुरोद्व्यतिजागता भुरिग् जगती** ॥

यो विश्वचर्षणिरुत विश्वतोमुखो यो विश्वतस्पाणिरुत विश्वतस्पृथः।
सं बाहुभ्यां भरति सं पतत्रैर्द्यावापृथिवी जनयन्देव एकः ॥ २६ ॥

अर्थ—(यः) जो परमेश्वर (विश्वचर्षणिः) विश्व का द्रष्टा, (विश्वतोमुखः) सब ओर मुख वाला, (विश्वतस्पाणिः[१]) सब ओर हाथों के व्यवहार वाला, (विश्वतस्पृथः) सब ओर विस्तार वाला है, वह (एकः देवः) एक देव (पतत्रैः) परमाणुओं द्वारा (द्यावा पृथिवी) द्युलोक और पृथिवी लोक को (सं जनयन्) उत्पन्न करता हुआ, (बाहुभ्याम्) निज बल द्वारा (संभरति) द्युलोक तथा पृथिवी लोक का सम्यक् भरण-पोषण करता है।

[विश्वतोमुखः=सब ओर विद्यमान परमेश्वरीय कृतियाँ, मानो उसके मुख रूप होकर, उसकी महिमा का वर्णन करती हैं। पृथः=**प्रथ विस्तारे**। बाहुभ्याम्=**बाह्वोर्बलम्** (अथर्व १९.६०.१)। पाणिः=हाथ; हाथों द्वारा आदान-प्रतिदान। पतत्रैः=गतिशील परमाणुओं द्वारा। सूर्यपक्ष में अर्थ गौण है। बाहुभ्याम्=सूर्य की धारण और आकर्षण शक्ति। पतत्रैः=गतिशील रश्मियाँ। जनयन्=प्रकट करना, रात्रि के अन्धकार से द्युलोक और पृथिवी को अनावृत करना]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**विराड् जगती**॥

एकपाद् द्विपदो भूयो वि चक्रमे द्विपात्त्रिपादमभ्येति पश्चात्।
द्विपाद्ध षट्पदो भूयो वि चक्रमे त एकपदस्तन्वं समासते॥ २७॥

अर्थ—(एकपाद्) एकपाद् परमेश्वर (द्विपदः) द्युलोक और पृथिवी लोक से (भूयः) अधिक (वि चक्रमे) व्यापक है। (दिपाद्) द्युलोक और पृथिवी लोक (त्रिपादमभि) तीन लोकों को अभिमुख कर (पश्चात्) उनके पीछे-पीछे (एति) आते हैं, अर्थात् व्याप्ति की दृष्टि से उनसे कम हैं। (द्विपाद्) द्युलोक और पृथिवी लोक (षट्पदः) छह ऋतुओं से (भूयः) अधिक (वि चक्रमे) व्यापी हैं। (ते) वे सब (एकपदः) एकपद परमेश्वर के (तन्वम्) स्वरूप या विस्तार में (समासते) समा जाते हैं, या सम्यक्तया स्थित हैं।

[एकपाद्=एकपाद्रूप। इसी प्रकार द्विपाद्रूप, त्रिपाद्रूप, तथा षट्पाद्रूप। विचक्रमे=विशेष पाद-विक्षेप करता है, अधिक पग चलता है, अतः अधिक व्याप्त है। षट्पदः=६ ऋतुओं का निवास केवल पृथिवी पर है, इसलिए द्युलोक और पृथिवी लोक मिल कर ६ ऋतुओं की अपेक्षया अधिक व्याप्ति वाले हैं। मन्त्र २६ में एक देव और द्युलोक और पृथिवी का वर्णन है। मन्त्र २७ में परमेश्वर और कार्य जगत् की सापेक्ष व्याप्ति का वर्णन हुआ है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अतन्द्रो यास्यन्हरितो यदास्थाद् द्वे रूपे कृणुते रोचमानः।
केतुमानुद्यन्त्सहमानो रजांसि विश्वा आदित्य प्रवतो वि भासि॥ २८॥

अर्थ—(अतन्द्रः) आलस्य रहित हुआ सूर्य, (यास्यन्) जाने के निमित्त, (यद्) जब (हरितः) पीली प्रभा वाले रश्मिरूपी अश्वों[२] पर (आ अस्थात्) सवार होता है, तब (रोचमानः) प्रदीप्त हुआ (द्वे रूपे) दो रूपों अर्थात् दिन और रात्रि का (कृणुते) निर्माण करता है। (आदित्य) हे आदित्य! (केतुमान्) किरणरूपी झण्डों से युक्त, (उद्यन्) उदय होता हुआ (विश्वा रजांसि) सब लोकों को (सहमानः)

१. **"अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः"** (श्वेताश्वतर ३.१९)।
२. **"हरित आदित्यस्य"** (निघं० १.१५) तथा **"हरितोऽश्वानिति वा"** (निरुक्त ४.२.११)।

पराभूत करता हुआ, (प्रवतः) गहरी खाईयों को (वि भासि) तू विशेषता प्रकाशित करता है।

[हरितः=सूर्य की रश्मियाँ पीत वर्ण की कही जाती हैं। द्वे रूपे=उदित हुआ सूर्य दिन का निर्माण करता और अस्त होकर रात्रि का निर्माण करता है। सहमानः=सूर्य उदित होता हुआ द्युलोक के सभी लोक-लोकान्तररूपी नक्षत्रों तथा ताराओं को पराभूत कर देता है उन्हें प्रकाश रहित कर देता है। प्रवतः=खाइयाँ, दर्रे और घाटियाँ। यथा "**यस्या उद्वतः प्रवतः समं बहु**" (अथर्व० १२.१.२), अर्थात् जिस पृथिवी में ऊँचे-नीचे तथा समतल बहुत हैं]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**बार्हतगर्भानुष्टुप्** ॥

बण्महाँ असि सूर्य बडादित्य महाँ असि।

महांस्ते महतो महिमा त्वमादित्य महाँ असि॥ २९॥

अर्थ—(सूर्य) हे प्रेरक! (बट्) सत्य है कि (महान् असि) महान् तू है, (आदित्य) उदित हुए हे आदित्य! अर्थात् द्युलोक की ज्योतियों का आदान अर्थात् अपहरण करने वाले। (बट्) सत्य है कि (महान्) महान् (असि) तू है। (ते महतः) तुझ महान् की (महिमा महान्) महिमा महान् है, (आदित्य) हे आदित्य! (त्वम्) तू (महान् असि) महान् है।

[**बट् सत्यनाम** (निघं० ३.१०)। मन्त्र में "सूर्य और आदित्य" इन दो पदों द्वारा प्रकृत परमेश्वर और सूर्यपिण्ड—इन दोनों का संयुक्त वर्णन सम्भवतः अभिप्रेत हो। सूर्य और आदित्य ये दोनों नाम परमेश्वर के भी हैं (अथर्व० १३.४(१)।५; तथा (यजुः० ३२.१)]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदोष्णिक् बृहतीगर्भाऽतिजगती** ॥

रोचसे दिवि रोचसे अन्तरिक्षे पतङ्ग पृथिव्यां रोचसे रोचसे अप्स्वन्तः।

उभा समुद्रौ रुच्या व्यापिथ देवो देवासि महिषः स्वर्जित्॥ ३०॥

अर्थ—(पतङ्ग) हे पक्षी के सदृश उड़ने वाले! (दिवि) द्युलोक में (रोचसे) तू प्रदीप्त होता है, (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में (रोचसे) प्रदीप्त होता है। (पृथिव्याम्) पृथिवी में (रोचसे) प्रदीप्त होता, (अप्सु अन्तः) शरीरस्थ रस-रक्त में (रोचसे) प्रदीप्त होता है। (उभा समुद्रौ) दोनों समुद्रों में (रुच्या) प्रदीप्त द्वारा (व्यापिथ) तू व्याप्त हो रहा है,। (देव) हे द्योतमान (देव असिः) तू वस्तुतः देव है, (महिषः) महान् है, (स्वर्जित्) सर्वविजयी है।

[उभा समुद्रौ (देखो मन्त्र १०), अथवा पार्थिव समुद्र तथा हृद्यसमुद्र (यजुः० १७.९३), तथा हृदय सिन्धु=**सिन्धुसृत्याय** (अथर्व० १०.२.११)। अप्सु=रक्त-रस (अथर्व० १०.२.११)। पतङ्गः=पक्षी की तरह उड़ता आता तथा उड़ कर मानो चला जाता। समाधि में परमेश्वर हृदय में मानो उड़ कर आता और व्युत्थानावस्था में मानो उड़ कर चला जाता। "**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया**" (अथर्व० ९.९.२०) में परमेश्वर को सुपर्णा द्वारा पक्षी कहा भी है। स्वः, स्वर्=सर्वम् रकारवकारयोराद्यन्तविपर्यासः (केशी १४ की व्याख्या में निरुक्त १२.३.२६), अथवा स्वः=द्युलोक तथा सुख विशेष। मन्त्र का स्वारस्य परमात्म-विषयक है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अर्वाङ् परस्तात्प्रयतो व्यध्व आशुर्विपश्चित्पतयन्पतङ्गः।
विष्णुर्विचित्तः शवसाधितिष्ठन्प्र केतुना सहते विश्वमेजत्॥ ३१ ॥

अर्थ—(प्रयतः) पवित्र, (विचित्तः) प्रकृति जन्य चित्त से विगत अर्थात् रहित, तो भी (विपश्चित्) मेधावी, (व्यध्वे) प्रेय मार्ग के विरुद्ध श्रेय मार्ग में वर्तमान उपासक में, (पतङ्गः) पक्षी के सदृश (परस्तात्) परे से (अर्वाङ्) उपासक की ओर (आशुः पतयन्) शीघ्र मानो उड़ कर आता हुआ, तथा (शवसा) बलपूर्वक (अधितिष्ठन्) उसका अधिष्ठाता होता हुआ (विष्णुः) सर्वव्यापक परमेश्वर, (केतुना) प्रज्ञा और कर्म द्वारा, (एजत्) गति शील (विश्वम्) विश्व पर, (प्र सहते) विजय पाए हुए है।

[मन्त्र में कविता रूप में सूर्य पिण्ड तथा परमेश्वर का सम्मिलित वर्णन हैं। "विपश्चित्" शब्द परमेश्वर में चरितार्थ होता है, सूर्य पिण्ड में नहीं। सूर्य पिण्ड मेधावी नहीं। न ही सूर्य पिण्ड केतु अर्थात् प्रज्ञा से सम्पन्न है। वेदानुसार परमेश्वर-पुरुष, सूर्य में, अधिष्ठातृरूप से वर्णित है (यजुः० ४०.१७)। अतः वेद में प्रायः अधिष्ठेय-सूर्य पिण्ड और अधिष्ठाता-परमेश्वर-पुरुष का मिला-जुला वर्णन भी होता है। इसी प्रकार सूक्त के भावी मन्त्रों में जानना चाहिए। मन्त्र में परमेश्वर परक अर्थ किया है, सूर्यार्थ भी स्पष्टतया प्रतीत होता है। विष्णु पद सूर्य पिण्डार्थक भी है। सूर्य पक्ष में "व्यध्वे" का अर्थ है "मार्ग रहित आकाश में"]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

चित्रश्चिकित्वान्महिषः सुपर्ण आरोचयन्रोदसी अन्तरिक्षम्।
अहोरात्रे परि सूर्यं वसाने प्रास्य विश्वा तिरतो वीर्याणि॥ ३२ ॥

अर्थ—(चित्रः) विचित्र शक्ति वाला, (चिकित्वान्) चेतनावान्, (महिषः) महान् (सुपर्णः) सुपालक सूर्य पिण्ड या सूर्य पिण्ड का अधिष्ठाता-पुरुष, (रोदसी, अन्तरिक्षम्) द्युलोक-पृथिवी लोक और अन्तरिक्ष को (आ रोचयन्) प्रकाशित करता हुआ वर्तमान है। (सूर्यं परि वसाने) सूर्य के आश्रय पर बसने वाले (अहोरात्रे) दिन-और-रात्रि (अस्य) इसकी (विश्वा) विविध प्रकार की (वीर्याणि) शक्तियों को (प्रतिरतः) प्रकर्ष रूप में फैला रहे हैं, बढ़ा रहे हैं।

[चिकित्वान्=चेतनावान् (निरुक्त ८.२.६; इध्मः (२) की व्याख्या में)। चेतना धर्म है चेतन का। अतः इस द्वारा सूर्य पिण्ड के अधिष्ठाता को सूचित किया जाता है। **कित रोगापनयने** अर्थ में सूर्य को भी निर्दिष्ट किया है। सूर्य विविध रोगों का चिकित्सक है। दिन-रात्रि का सम्बन्ध सूर्य के साथ है अतः मन्त्र में सूर्यपिण्ड का भी निर्देश हुआ है। वस्तुतः जैसे जीवित मनुष्य के सम्बन्ध में शरीर पिण्ड के गुणधर्मों का आरोप जीवात्मा में, और जीवात्मा के गुणधर्मों का आरोप शरीर पिण्ड में, बोल-चाल में होता है, इसी प्रकार इस सूक्त में अधिष्ठेय-सूर्यपिण्ड के गुणधर्मों का आरोप अधिष्ठातृ-पुरुष में, और अधिष्ठातृ-पुरुष के गुणधर्मों का आरोप अधिष्ठेय-सूर्यपिण्ड में प्रायः हुआ है। इस दृष्टि से इस सूक्त को "अध्यात्म" कहा है। "**अहोरात्रे सूर्यं परिवसाने**" का शाब्दिक अर्थ है "सूर्य रूपी ओढ़नी को अपने सब ओर ओढ़े हुए दिन-रात"]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

तिग्मो विभ्राजन्तन्वं शिशानोरंगमासः प्रवतो रराणः।

ज्योतिष्मान्पक्षी महिषो वयोधा विश्वा आस्थात्प्रदिशः कल्पमानः॥ ३३॥

अर्थ—(तिग्मः) तीक्ष्ण रश्मियों वाला, (विभ्राजन्) विशेष दीप्ति वाला, (तन्वम्, शिशानः) निज शरीर को तेज करता हुआ, (अरङ्गमासः) पर्याप्त दूरी तक पहुँचे हुओं को प्रदीप्त करने वाला, (प्रवतः) गहरे प्रदेशों तक (रराणः) पहुंचा हुआ या रमा हुआ, (ज्योतिष्मान्) ज्योतिवाला, (पक्षी) पक्षी के सदृश प्रकाश में उड़ने वाला, (महिषः) महान् (वयोधाः) अन्न और आयु को परिपुष्ट करने वाला (विश्वाः प्रदिशः) सब दिशाओं और उपदिशाओं का (कल्पमानः) निर्माण करता हुआ (आस्थात्) सूर्य स्थित है। [अरंगमासः=अरम् (पर्याप्त)+गम+अस् (दीप्तौ)। प्रवतः—गहरे या दूर तक फैले हुए प्रदेशों तक सूर्यपिण्ड अपनी रश्मियों द्वारा पहुँचता, उन्हें प्रकाशित करता है। रराणः=रण गतौ या रममाण। आस्थात्=पक्षी के सदृश उड़ता प्रतीत होता हुआ भी सूर्यपिण्ड स्थिर है। **अस गतिदीप्त्यादानेषु** (भ्वादि)। ग्रह, सूर्य से बहुत दूर हैं, उन्हें भी सूर्य प्रदीप्त करता है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**आर्षी पङ्क्तिः** ॥

चित्रं देवानां केतुरनीकं ज्योतिष्मान्प्रदिशः सूर्यं उद्यन्।

दिवाकरोति द्युम्नैस्तमांसि विश्वातारीदुरितानि शुक्रः॥ ३४॥

अर्थ—(चित्रम्) विचित्र, (देवानाम् केतुः) देवों अर्थात् दिव्य ज्योतियों का ध्वज, (अनीकम्) प्राणप्रद, (ज्योतिष्मान्) ज्योति वाला (सूर्यः) सूर्य, (प्रदिशः) दूर की दिशा अर्थात् पूर्व क्षितिज से (उद्यन्) ऊपर को उठता हुआ, उदित होता हुआ (दिवाकरः) दिन का निर्माण करता है, (द्युम्नैः) प्रकाशों द्वारा, (तमांसि) रात्रि के अन्धकारों का (अति) अतिक्रमण करता हुआ, (शुक्रः) चमकीला सूर्य (विश्वा दुरितानि) सब दुष्परिणामों को (अतारीत्) दूर करता है।

[अनीकम्=अनिति जीवयतीति (उणा० ४.१८), जो प्राणप्रद अर्थात् जीवनप्रद है। **अन प्राणने। द्युम्नम् द्योततेः**]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।

आप्राद् द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च॥ ३५॥

अर्थ—(चित्रम्) अद्भुत, (देवानाम्, अनीकम्) द्योतमान रश्मियों का समूह (उद् अगात्) उदित हुआ है, यह (मित्रस्य) मित्र की, (वरुणस्य) वरुण की और (अग्नेः) अग्नि की (चक्षुः) आँख है। इसने (द्यावापृथिवी, अन्तरिक्षम्) द्युलोक—पृथिवी लोक और अन्तरिक्ष को (आ अप्रात्) प्रकाश से भरपूर कर दिया है। (सूर्यः) सूर्य (आत्मा) आत्मा है (जगतः) जङ्गम प्राणियों का (तस्थुषश्च) तथा स्थावरों का।

[मन्त्र सूर्यपिण्ड तथा सूर्यस्थ परमेश्वर का वर्णन करता है, मुख्यरूप से परमेश्वर का, तथा गौणरूप से सूर्यपिण्ड का। परमेश्वर पक्ष में मित्र, वरुण और अग्नि=द्युलोकस्थ सूर्य, अन्तरिक्षस्थ वायु, तथा पृथिवीस्थ अग्नि। परमेश्वर परक मुख्यार्थ है, इसमें यह भी प्रमाण है कि सूर्य को त्रिलोकी में भरपूर माना है, सूर्य निज प्रकाश द्वारा त्रिलोकी में भरपूर नहीं। सूर्य पक्ष में मित्र और वरुण दिन और रात हैं। यथा

"**अहोरात्रौ मित्रावरुणौ**" (ताण्ड्य २५.१०.१०)। परमेश्वर भी निज ज्योति द्वारा रश्मिसमूहरूप है। परमेश्वर हृदयाकाश में उदित होता है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

उच्चा पतन्तमरुणं सुपर्णं मध्ये दिवस्तरणिं भ्राजमानम्।

पश्याम त्वा सवितारं यमाहुरजस्रं ज्योतिर्यदविन्ददत्रिः॥ ३६॥

अर्थ—(सुपर्णम्) उत्तम-पंखों वाले पक्षी के समान (उच्चा पतन्तम्) ऊँचे आकाश में उड़ते हुए, (अरुणम्) आरोचमान, (दिवः मध्ये भ्राजमानम्) द्युलोक के मध्य में चमकते हुए, (तरणिम्) नौकारूप में तैरते हुए, (त्वा सवितारम्) तुझ प्रेरक को (पश्याम) हम देखें, (यम्) जिसे कि (अजस्रं ज्योतिः आहुः) अनश्वर ज्योति कहते हैं, (यद्) जिस ज्योति को (अत्रिः) "अत्ता" परमेश्वर ने (अविन्दत्) प्राप्त किया, उस पर स्वामित्त्व प्राप्त किया है।

[इस प्रकार स्वीय और स्वामी के रूप में, मन्त्र में, सूर्यपिण्ड और उसके अधिष्ठाता का वर्णन हुआ है। अजस्रं[1] ज्योतिः=सूर्य कल्पान्तस्थायी है, इसलिए इसे अनश्वर ज्योतिः कहा है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदा विराड्गर्भा जगती** ॥

दिवस्पृष्ठे धावमानं सुपर्णमदित्याः पुत्रं नाथकाम उप यामि भीतः।

स नः सूर्य प्र तिर दीर्घमायुर्मा रिषाम सुमतौ ते स्याम॥ ३७॥

अर्थ—(दिवस्पृष्ठे) मूर्धा की पीठ पर (धावमानम्) गति करते और उपासक को शुद्ध करते हुए, (सुपर्णम्) उत्तम-पालक, तथा (अदित्याः पुत्रम्) अखण्डित एकरस चित्तवृत्ति के पुत्ररूप, उस द्वारा प्रकटीभूत परमेश्वर को—(नाथकामः) उस नाथ की कामना वाला मैं—(भीतः) सांसारिक कामादि शत्रुओं से डरा हुआ, (उपयामि) शरणागत होता हूँ। (सूर्य) हे सूर्य सदृश ज्योति वाले! (सः) वह तू (नः) हमें (दीर्घम् आयुः प्रतिर) दीर्घ आयु प्रदान कर, (ते सुमतौ स्याम) तेरी समुति में हम रहें (मा रिषाम) इस प्रकार हमारा विनाश न हो।

[दिवः पृष्ठे="**दिवं चक्रे मूर्धानम्**" (अथर्व० १०.७.३२), दिव् अर्थात् मूर्धा के साथ स्पृष्ट सहस्रार चक्र में प्रकट हुआ परमेश्वर, इस मूर्धा में गति करता, तथा उपासक को विशुद्ध करता है। धावमानम्=**धावु गतिशुद्ध्योः**। उपासक को कामादि से विशुद्ध करने में जो परमेश्वर की ऐच्छिक सक्रियता है, वह गति यहाँ अभीष्ट है। उपासक कामादि शत्रुओं से छुटकारा पाकर दीर्घायु की प्रार्थना करता है। मन्त्र में परमेश्वर के अधिष्ठान रूपी सूर्यपिण्ड का भी वर्णन हुआ है, परन्तु "नाथकामः" और "सुमतौ" का सम्बन्ध अधिष्ठातृ-परमेश्वर के साथ समझना चाहिए। पृष्ठ=स्पृष्ट, "**पृष्ठं स्पृशतेः संस्पृष्टमङ्गैः**" (निरुक्त ४.१.३) शिताम (३) शब्द की व्याख्या में]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सहस्राह्ण्यं वियतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम्।

स देवान्त्सर्वानुरस्युपदद्य संपश्यन्याति भुवनानि विश्वा॥ ३८॥

---

१. ज्योतियाँ ३ हैं। यथा "**त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी**" (यजुः० ३२.५)। ये हैं (१) भौमाग्निरूप; (२) अन्तरिक्षीय विद्युद्; (३) द्युलोकस्थ, जिसमें मुख्य सूर्याग्नि है। (१) और (२) ज्योतियाँ नश्वर हैं। परन्तु सूर्याग्नि

अर्थ—(स्वर्गम्, पततः) स्वर्ग की ओर उड़ते हुए, (हरेः) सौरपरिवार का हरण करते हुए, उसे अपने साथ लिए हुए, (अस्य हंसस्य) इस हंस अर्थात् सूर्य के (पक्षौ) दोनों पंख, (सहस्राह्ण्यम्) हजारों दिनों से (वियतौ) विशेष रूप में प्रयत्नशील हैं। (सः) वह हंस (सर्वान्) सब (देवान्) सौर-परिवार के ग्रह-उपग्रह आदि को (उरसि) अपनी छाती में (उपदद्य) दे कर अर्थात् धारित करके, (संपश्यन्) देखता हुआ, (विश्वा भुवनानि) मार्गवर्ती सब भुवनों को (याति) पहुँचता है।

[वियतौ=वि+यती (प्रयत्ने)+क्विप्+प्रथमा द्विवचन। हरेः=**हृञ् हरणे,** ले चलना। हंसस्य=सूर्यस्य। सूर्यस्य। हन्ति अन्धकारं, सनोति ददाति च प्रकाशम्; हन्+षणु (दाने)+डः (औणादिक प्रत्यय)। उप दद्य=उप+दद् (दाने)। संपश्यन्=कविता में, या निज अधिष्ठातृ-परमेश्वर की दृष्टि से।

स्वर्गं पततः=स्वर्ग कौन सा स्थान है जिसकी ओर सूर्य-हंस हजारों दिनों से उड़ता जा रहा है—कहा नहीं जा सकता। वर्तमान काल के पाश्चात्त्य ज्योतिषी कहते हैं कि उत्तर दिशा में एक तारा है जिसे Vega (Alpha Lyrae) कहते हैं, जो कि वीणा मण्डल में है, उसकी ओर सपरिवार-सूर्य गति कर रहा है, और यह VEGA तारा पृथिवी से २६ प्रकाश-वर्षों की दूरी पर है। एक "प्रकाश-वर्ष"=५,८८०,००० मिलियन मील। वीणामण्डल (Lyra Constillation) हरकुलीज मण्डल के पूर्व में, तथा आकाश गङ्गा के पश्चिम में है। एक "प्रकाश-वर्ष" का अभिप्राय है कि प्रकाश की किरणें एक वर्ष में जितना मार्ग चलती हैं। सम्भवतः मन्त्र का वर्णन केवल कविता मात्र ही हो]।

परमेश्वर पक्ष में

हंसः=The supreme soul Brahaman (आप्टे) धात्वर्थ की दृष्टि से "**हन्ति, प्रज्ञानान्धकारम्, सनोति ददाति च ज्ञानप्रकाशमिति हंसः**। सहस्राह्ण्यम्=हजारों दिनों की व्याप्ति में। परमेश्वर पक्ष में हजार युगों को एक दिन कहा है। यथा "**तद्वै युगसहस्रान्तं ब्राह्मं पुण्यमहर्विदुः**" (ऋ०भा०भूमिका, महर्षि दयानन्द, वेदोत्पत्तिविषय)। हजार युगों की रात्रि भी कही है "**रात्रिं च तावतीमेव**"। ब्राह्म दिन-रात रूपी सर्ग और प्रलय, परमेश्वरपक्षी के दो पक्ष अर्थात् पंख हैं। इन पंखों द्वारा परमेश्वर-पक्षी मानो उड़ान कर रहा है। स्वर्ग है असीम-आकाश। सर्वान् देवान्=संसार के सब द्योतमान सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, तारागण आदि। यह ब्रह्माण्ड फैलता जा रहा है असीम-आकाश में। वेद में दिन-रात को परमेश्वर के दो पार्श्व कहे हैं, यथा "**अहोरात्रे पार्श्वे**" (यजुः० ३१.२२)। परमेश्वर का वर्णन जब पक्षी रूप में होगा, तब दो पार्श्व, पक्षरूप ही होंगे। सहस्राह्ण्यम् में "अहः" शब्द द्वारा दिन और रात अभिप्रेत हैं। यथा "**अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च**" (ऋ० ६.९.१) तथा निरुक्त (२.६.२१)। "**अहश्च कृष्णं रात्रिः, शुक्लं चाहरर्जुनम्**"।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

रोहि॑तः का॒लो अ॑भवद्रोहि॒तोऽग्रे॑ प्र॒जाप॑तिः।

रोहि॑तो य॒ज्ञानां॒ मुखं॒ रोहि॑त॒: स्व१॒॑राभ॑रत्॥ ३९॥

अर्थ—(रोहितः) सर्वोपरि आरूढ़ (कालः अभवत्) कालरूप हुआ, (रोहितः) सर्वोपरि आरूढ़ (अग्रे) आरम्भ में (प्रजापतिः) प्रजापति हुआ। (रोहितः) सर्वोपरि आरूढ़ (यज्ञानां मुखम्) यज्ञों का

कल्पान्त तक रहेगी। अतः इसे "अजस्रम्" अर्थात् अनश्वर कहा है। अजस्रम्=अ+जसु (हिंसायाम्)।

मुख हुआ, (रोहितः) सर्वोपरि आरूढ़ ने (स्वः) प्रकाशमय द्युलोक (आभरत्) रचा है।

[सूर्य भी दिन-रात के द्वारा काल की रचना करता है, परमेश्वर तो काल का भी काल है "**ज्ञः कालकारो गुणी सर्वविद्यः**" (श्वेता० उप० ६.२)। सूर्य प्रजाओं का पति अर्थात् रक्षक है, परमेश्वर भी प्रजाओं का रक्षक है "**ता आपः स प्रजापतिः**" (यजुः० ३२.१)। सूर्य के उदयास्त ऋतु तथा वर्षकाल की दृष्टि से यज्ञ किये जाते हैं, परमेश्वर तो यज्ञस्वरूप, यज्ञों का मुख्य देवता, और यज्ञों का सिर है "**स यज्ञस्तस्य यज्ञः स यज्ञस्य शिरस्कृतम्**" (अथर्व० १३.४(४).४०)। सूर्य प्रकाश देता है, परमेश्वर ने प्रकाशमय द्युलोक रचा है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

रोहितो लोको अभवद्रोहितोत्यतपद्दिवम्।
रोहितो रश्मिभिर्भूमिं समुद्रमनु सं चरत्॥ ४०॥

अर्थ—(रोहितः) रोहित (लोकः) लोक (अभवत्) हुआ, (रोहितः) रोहित ने (दिवम्) द्युलोक को (अत्यतपत्) अति तपाया। (रोहितः) रोहित (रश्मिभिः) निज रश्मियों द्वारा (भूमिं समुद्रम् अनु) भूमि और समुद्र में (सं चरत्) संचार करता है, विचरता है।

[लोकः=सूर्य से फट कर सौर लोक (परिवार) बना है, मानो सूर्य "सौर लोक" (परिवार) रूप हो गया है। परमेश्वर पक्ष में परमेश्वर आलोक[1] अर्थात् प्रकाशवान् या दर्शनीय हुआ है। प्रलयकाल में परमेश्वर का प्रकाश अनुभूत नहीं होता। सृष्टि की उत्पत्ति होने पर उसके प्रकाश की अनुभूति होती है। परमेश्वर तो भूमि, समुद्र में निज व्याप्ति से संचार कर रहा है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सर्वा दिशः समचरद्रोहितोधिपतिर्दिवः। दिवं समुद्रमाद्भूमिं सर्वं भूतं वि रक्षति॥ ४१॥

अर्थ—(दिवः अधिपतिः रोहितः) द्युलोक का अधिपति अर्थात् स्वामी रोहित (सर्वाः दिशः) सब दिशाओं में (समचरत्) संचार करता है [रश्मियों द्वारा मन्त्र ४०]। (दिवम्) द्युलोक, (समुद्रम्) समुद्र, (आत्) और (भूमिम्) भूमि (सर्वम् भूतम्) तथा सब प्राणियों की (वि रक्षति) रक्षा करता है।

[सूर्य तो निज रश्मियों द्वारा दिशाओं में विचरता है, वह भी सीमितरूप में; परन्तु परमेश्वर सब दिशाओं में असीमितरूप में, और दिशाओं को अतिक्रान्त करके भी विचरता है। दिवः, दिवम्=सूर्य द्युलोक का एक नक्षत्र मात्र है। द्युलोक का वास्तविक अधिपति तथा रक्षक परमेश्वर है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

आरोहञ्छुक्रो बृहतीरतन्द्रो द्वे रूपे कृणुते रोचमानः।
चित्रश्चिकित्वान्महिषो वातमाया यावतो लोकानभि यद्विभाति॥ ४२॥

अर्थ—(शुक्रः) प्रकाशमान सूर्य (अतन्द्रः) आलस्य रहित हुआ, (बृहतीः) महती दिशाओं पर (आरोहन्) अरोहण करता हुआ, (रोचमानः) और दीप्त हुआ (द्वे रूपे कृणुते) दो रूपों का निर्माण करता है। (यद्) जब (वातम्, आ अयाः) यह [रश्मियों द्वारा] वायु में पहुँचता है तब (चित्रः) चित्र-विचित्र

---

१. "**प्रथो वरो व्यचो लोक इति त्वोपास्महे वयम्**" (अथर्व० १३.४ (६) ५३)। लोकः=दर्शनीयः, **लोकृ दर्शने**।

रूप में प्रकट होता है, और (यावतः लोकान्) जितने लोक हैं उनके (अभि) अभिमुख अर्थात् सम्मुख (विभाति) विशेषतया चमकता है। (चिकित्वान्) सूर्य मानो चेतनावान् है, (महिषः) और महान् है।

[द्वे रूपे="**अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च**" (ऋ० ६.९.१), अर्थात् काला दिन अर्थात् रात्रि, और अर्जुन दिन अर्थात् प्रकाशित दिन। इन दोनों रूपों का निर्माण सूर्य करता है। परमेश्वर पक्ष में काला दिन है प्रलय रात्रि, और अर्जुन दिन है उत्पन्न जगत्। चिकित्वान्=उदित हुआ सूर्य जागरित प्राणियों की चेतना के कारण चेतनावान् है, परमेश्वर स्वतः चेतनावान् है। वातमायाः=सूर्य की रश्मियाँ जब वायु में आती हैं तब अन्धेरियाँ आतीं, मेघ बनते, वर्षा होती, इन्द्रधनुष दीखता, उषाएँ चमकतीं—इस प्रकार सूर्य की शक्तियाँ चित्र-विचित्र रूप में प्रकट होती हैं, और जब सूर्य उदित होता है तो चन्द्रमा, नक्षत्र और समग्र तारागणों के सम्मुख यही एक चमक रहा होता है, अन्य ये सब ज्योतियाँ निष्प्रभ हो जाती हैं। परन्तु जब सूर्यों की सूर्य परमेश्वर उदित होता है तब सूर्यपिण्ड भी निष्प्रभ हो जाता है। यथा "**न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः**" (उपनिषद्)। तथा जब परमेश्वर वायु अर्थात् प्राणायामादि की परिस्थिति में प्रकट होता है तब इसका चित्र-विचित्र स्वरूप दृष्टिगोचर होता है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

अभ्य१न्यदेति पर्यन्यदस्यतेहोरात्राभ्यां महिषः कल्पमानः।
सूर्यं वयं रजसि क्षियन्तं गातुविदं हवामहे नाधमानाः॥ ४३॥

अर्थ—(महिषः) महान् सूर्य (अहोरात्राभ्याम्) दिन और रात्रि द्वारा (कल्पमानः) काल का निर्माण करता हुआ, (अन्यत् अभि) पृथिवी के एक पार्श्व के संमुख (एति) आता है, और (अन्यत्) दूसरा पार्श्व (परि उदस्यते) लगभग या पूर्णतया उत्क्षिप्त कर दिया जाता है, छोड़ दिया जाता है। परन्तु (नाधमानाः वयम्) याचना करते हुए हम (रजसि) रञ्जकजगत् में (क्षियन्तम्) निवास करते हुए, (गातुविदम्) मार्गदर्शक (सूर्यम्) सूर्य अर्थात् परमेश्वर का (हवामहे) आह्वान करते हैं।

[सूर्यम्=सूर्य पद परमेश्वर का वाचक है (अथर्व० १२.४(१).५)। गातुविदम्=परमेश्वर वेदों द्वारा जीवन के मार्ग को दर्शाता है, और सूर्य पिण्ड पैरों द्वारा चलने का मार्ग दर्शाता है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**चतुष्पदा पुरःशाक्वरा भुरिग्जगती** ॥

पृथिवीप्रो महिषो नाधमानस्य गातुरदब्धचक्षुः परि विश्वं बभूव।
विश्वं संपश्यन्त्सुविदत्रो यजत्र इदं शृणोतु यदहं ब्रवीमि॥ ४४॥

अर्थ—(पृथिवीप्रः) पृथिवी को धन-धान्यादि से भरपूर करने वाला, (महिषः) महान् (नाधमानस्य) याचना करने वाले का (गातुः) मार्गदर्शक, (अदब्धचक्षुः) अबाधित दृष्टि वाला, (विश्वं परि बभूव) विश्व के सब ओर विद्यमान है। (विश्वं सं पश्यन्) विश्व को सम्यक् देखता हुआ (सुविदत्रः) सम्यक्-ज्ञानी, (यजत्रः) संसार-यज्ञ का रचयिता परमेश्वर (इदं शृणोतु) इस वचन को सुने (यद्) जिसे (अहं ब्रवीमि) मैं कहता हूँ।

[पृथिवीप्रः=पृथिवी+प्रा (पूरणे)। यजत्रः=इज्यतेः=**इज्यते यजति वा तद् यजत्रम्** (उणा० ३.१०५)। शृणोतु=सूर्य नहीं सुनता, सूर्यस्थ ब्रह्म सुनता है (यजुः० ४०.१७)]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**अतिजागतगर्भा जगती** ॥

पर्यस्य महिमा पृथिवीं समुद्रं ज्योतिषा विभ्राजन्परि द्यामन्तरिक्षम्।

सर्वं संपश्यन्त्सुविदत्रो यजत्र इदं शृणोतु यदहं ब्रवीमि ॥ ४५ ॥

अर्थ—(अस्य) इसकी (महिमा) महिमा (पृथिवीं, समुद्रं, परि) पृथिवी और समुद्र के चारों और फैली हुई है, (ज्योतिषा विभ्राजन्) ज्योति द्वारा प्रकाशमान परमेश्वर (द्याम्, अन्तरिक्षम्, परि) द्युलोक और अन्तरिक्ष के चारों ओर व्याप्त है। (सर्वं सं पश्यन् सुविदत्रः यजत्रः इदं शृणोतु यद् अहं ब्रवीमि) सबको सम्यक्-देखता हुआ, सम्यक्-ज्ञानी, संसारयज्ञ का रचयिता परमेश्वर इस वचन को सुने जिसे मैं कहता हूँ।

[शृणोतु=प्रार्थी के कथन को परमेश्वर तो सुन सकता है, सूर्य पिण्ड नहीं, देखो मन्त्र (४४)]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अबोध्यग्निः समिधा जनानां प्रति धेनुमिवायतीमुषासम्।

यह्वा इव प्र वयामुज्जिहानाः प्र भानवः सिस्रते नाकमच्छ ॥ ४६ ॥

अर्थ—(धेनुम् इव) दुधार गौ की तरह (आयतीम्, उषासम्, प्रति) आती हुई उषा को लक्ष्य करके (जनानाम्) जनों की (समिधा) समिधाओं द्वारा (अग्निः) अग्नि (अबोधि) प्रबुद्ध हुई है। (भानवः) रश्मियाँ (नाकम्, अच्छ) नाक की ओर (सिस्रते) प्रसृत हुई हैं, फैली हैं, (इव) जैसे कि (यह्वाः) बड़े वृक्ष (वयाम्) शाखाओं को (प्र उज्जिहानाः) दूर तक ऊपर की ओर फैंकते हैं।

[उषा के आगमन काल में जैसे अग्निहोत्र में अग्नि प्रबुद्ध होती है, वैसे उपासना में परमेश्वराग्नि के प्रबोधक का विधान मन्त्र में हुआ है। उपासना में समिधा के लिए कहा है "**त्रिः सप्त समिधः कृताः**" (यजुः० ३१.१५)। त्रिः सप्त समिधाएँ=५ ज्ञानेन्द्रियाँ, मन और अहङ्कार; ५ कर्मेन्द्रियाँ, मन और अहङ्कार; ५ तन्मात्राएँ, मन और अहङ्कार। ये तीन सप्तक हैं, जो कि उपासना में समिधाएँ हैं। उपासना में इन तीन सप्तकों को परमेश्वरार्पित कर, परमेश्वर में चित्त गाड़ कर, परमेश्वराग्नि को उद्बुद्ध करना चाहिए। धेनुम्=दुधार गौ जब आती है तो उसे चारा भेंट किया जाता है, इसी प्रकार उषा के समय अग्निहोत्र की अग्नि को तथा परमेश्वराग्नि को यथोचित समिधाएँ भेंट की जाति हैं। समर्पण या भेंट तो करनी होती हैं—ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, और ५ तन्मात्राएँ परन्तु मन और अहङ्कार साथ न दें, तो इन तीन सप्तकों का समर्पण नहीं हो सकता। इसलिए तीन सप्तकों के साथ मन और अहङ्कार की गणना की है। समर्पण का वर्णन निम्न लिखित मन्त्र द्वारा अधिक स्पष्ट होता है। यथा "**यस्मै हस्ताभ्यां पादाभ्यां वाचा श्रोत्रेण चक्षुषा। यस्मै देवाः सदा बलिं प्रयच्छन्ति विमितेऽमितं स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः**" (अथर्व० १०.७.३९)। इस मन्त्र में "बलिं हरन्ति" द्वारा समर्पण का वर्णन हुआ है। कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों की निज शक्तियों का, स्कम्भ-परमेश्वर के प्रति समर्पण का कथन हुआ है। हस्त-पाद-वाक्, कर्मेन्द्रियों के सूचक हैं, और श्रोत्र-चक्षुः, ज्ञानेन्द्रियों के सूचक हैं]।

द्वितीय अनुवाक समाप्त ॥

अनुवाक ३

सूक्त ३

विषय-प्रवेश

(१) समग्र सूक्त मुख्यरूप में तथा परम्परया "अध्यात्म" है। जिन मन्त्रों में रोहित और आदित्य का वर्णन है उनमें भी परमेश्वर सम्बन्धी भावनाएँ अनुस्यूत हैं।

(२) समग्र मन्त्रों का उद्देश्य यह है कि जो व्यक्ति ब्रह्मज्ञ-और वेदज्ञ को हानि पहुँचाता है वह परमेश्वर के लिए पापी है, अपराधी है, उसे रोहित अर्थात् सिंहासनारूढ़ राजा दण्डित करे। साथ-साथ मन्त्रों में परमेश्वर तथा सूर्य का भी वर्णन सर्वत्र हुआ है।

(३) सूर्यपिण्ड की शक्ति की अपेक्षया परमेश्वर का उच्चशक्ति रूप में वर्णन (५)।

(४) परमेश्वर को "अन्नाद" (७), तथा "अत्रिः" अर्थात् अदनकर्त्ता कहा है (१५), जिसे कि वेदान्त सूत्रों में "अत्ता" कहा है, **अत्ता चराचरग्रहणात्**" (वेदान्त १.२.९)। अन्नाद, अत्रि, और अत्ता समानार्थक हैं।

(५) मन्त्र में वर्णित "अत्रि" परमेश्वर है, भोक्ता जीवात्मा नहीं (१५)।

(६) तीस दिनों के तेरहवें मास का—जिसे कि मलमास तथा अधिमास भी कहते हैं—वर्णन हुआ है (८)।

(७) "सप्त सूर्याः" का वैज्ञानिक स्वरूप (१०)।

(८) तीन प्रकार के सूर्यास्त, तीन प्रकार के उषःकाल, तीन लोक, तीन द्युलोक, अग्नि का त्रिविध जन्म, देवों के त्रिविध जन्म—इनकी यथासम्भव व्याख्या (२१)।

(९) हजार दिनों से हंस के उड़ते रहने का अभिप्राय (१४)।

(१०) "**य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषम्**" इस मन्त्र (२४) को सूक्त में रखने से यह दर्शाया है कि समग्र सूक्त परमेश्वर का वर्णन साक्षात् तथा परम्परया करता है।

(११) मन्त्र २५, २६ की विशिष्ट व्याख्या।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**अष्टपदाऽऽकृतिः**॥

य इमे द्यावापृथिवी जजान यो द्रापिं कृत्वा भुवनानि वस्ते।
यस्मिन्क्षियन्ति प्रदिशः षडुर्वीर्याः पतङ्गो अनु विचाकशीति तस्य देवस्य।
क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति।
उद्वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान्॥ १॥

अर्थ—(यः) जिसने (इमे) ये (द्यावापृथिवी) द्युलोक-पृथिवी लोक (जजान) पैदा किये, (यः) जो (भुवनानि) भुवनों को (द्रापिं कृत्वा) वस्त्र करके (वस्ते) ओढ़े हुआ है। (यस्मिन्) जिसमें (उर्वीः) विस्तृत (षट् प्रदिशः) ६ दिशाएँ (क्षियन्ति) समाप्त होती हैं (याः) जिन्हें कि (पतङ्गः) मानो वह पक्षी समान उड़ता हुआ (अनु विचाकशीति) निरन्तर देखता है (तस्य क्रुद्धस्य देवस्य) उस क्रुद्ध देव के लिए (एतत्) यह (आगः) अपराधी है (यः) जो कि (एवम्) इस प्रकार के (विद्वांसं ब्राह्मणम्) विद्वान्

ब्रह्मवेत्ता और वेदवेत्ता को (जिनाति) हानि पहुँचाता है। (रोहित) हे सिंहासनारूढ़ राजन्! (उद्वेपय) ऐसे व्यक्ति को कम्पा, (प्रक्षिणीहि) ऐसे का क्षय कर, (ब्रह्मज्यस्य) ब्रह्मवेत्ता और वेदवेत्ता को हानि पहुँचाने वाले पर (पाशान् प्रतिमुञ्च) फंदे डाल।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**षट्पदा भुरिगष्टिः** ॥

यस्माद्वाता ऋतुथा पवन्ते यस्मात्समुद्रा अधि विक्षरन्ति तस्य देवस्य।
क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति।
उद्वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान्॥ २॥

अर्थ—(यस्मात्) जिस परमेश्वर से (वाताः) वायुएँ (ऋतुथा) ऋत्वनुसार (पवन्ते) बहती या पवित्र करती हैं। (यस्मात् अधि) जिससे (समुद्राः) समुद्र (विक्षरन्ति) विविध प्रकार से क्षरित होते हैं। (तस्य देवस्य.......पाशान्) पूर्ववत् (मन्त्र १)।

[समुद्राः=पार्थिव चारों-समुद्र पृथिवी से अन्तरिक्ष की ओर, तथा अन्तरिक्षस्थ मेघ समुद्र अन्तरिक्ष से पृथिवी की ओर क्षरित होते हैं]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**षट्पदाऽष्टिः** ॥

यो मारयति प्राणयति यस्मात्प्राणन्ति भुवनानि विश्वा तस्य देवस्य।
क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति।
उद्वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान्॥ ३॥

अर्थ—(यः) जो परमेश्वर (मारयति) मारता है, (प्राणयति) जो जीवन देता है, (यस्मात्) जिससे (विश्वा भुवनानि) सब भुवन (प्राणन्ति) प्राणवान् होते हैं, (तस्य देवस्य.....पाशान्) पूर्ववत् (मन्त्र १)।

[भुवनानि=जगत् के सत्तावान् प्रत्येक पदार्थ में, निज को बनाए रखने की शक्ति को, प्राण कहा है। यह प्राण परमेश्वर द्वारा इन्हें मिलता है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**षट्पदाऽतिशाक्वरगर्भा धृतिः** ॥

यः प्राणेन द्यावापृथिवी तर्पयत्यपानेन समुद्रस्य जठरं यः पिपर्ति तस्य देवस्य।
क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति।
उद्वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान्॥ ४॥

अर्थ—(यः) जो परमेश्वर (प्राणेन) प्राण द्वारा (द्यावापृथिवी) द्युलोक-पृथिवी लोक को, (तर्पयति) तृप्त करता है, (अपानेन) अपान[१] द्वारा (समुद्रस्य जठरम्) समुद्र के पेट को (पिपर्ति) पालित करता है। (तस्य देवस्य.....पाशान्) पूर्ववत् (मन्त्र १)।

---

१. समुद्र के प्राणी, अस्मदादिवत्, वायुमण्डल से वायु को ग्रहण कर, "आक्सीजन" (O_2) को तो रक्त में विलीन कर लेते हैं, और फेफड़ों की गन्दी वायु "कार्बन डाईआक्साइड" (CO_2) को, अपानरूप में त्याग देते हैं। यह अपानवायु समुद्र-जल में विलीन होती रहती है, और समुद्रस्थ पौधों के लिए भोजनरूप हो जाती है। यह है समुद्र के पेट का पालना।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥
छन्दः—**सप्तपदा शाक्वरातिशाक्वरगर्भा प्रकृतिः** ॥

यस्मिन्विराट् परमेष्ठी प्रजापतिरग्निर्वैश्वानरः सह पङ्क्त्या श्रितः।
यः परस्य प्राणं परमस्य तेज आददे तस्य देवस्य।
क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति।
उद्वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान्॥ ५ ॥

अर्थ—(यस्मिन्) जिस परमेश्वर में (परमेष्ठी) परमोच्च स्थान-द्युलोक में स्थित (विराट्) विशेषतया प्रदीप्त सूर्य, (प्रजापतिः) तथा वर्षा और प्राण देकर प्रजा की रक्षा करने वाली वायु, (वैश्वानरः अग्निः) और पाककर्म के द्वारा सब नर-नारियों का हितकारी पार्थिव अग्नि, (पङ्क्त्या सह) अपनी-अपनी पंक्तियों के साथ (श्रितः) आश्रित है, (यः) जो परमेश्वर (परस्य) दूरस्थ सूर्य के, तथा (परमस्य) उससे भी परम अर्थात् दूरस्थ द्युलोक के (प्राणं तेजः) तेजरूपी प्राण को (आददे) प्रलयकाल में छीन लेता है। (तस्य देवस्य.......पाशान्) पूर्ववत् (मन्त्र १)।

[तीन लोकों के तीन देवता हैं, (१) परमेष्ठी विराट्=सूर्य, (२) प्रजापति=वायु, (३) पार्थिवाग्नि। पंक्तया=पार्थिवाग्नि, वायु और सूर्य में से प्रत्येक के "भक्ति सहचारी" गणों का निर्देश निरुक्त में दैवत-प्रकरण में किया है। उदाहरणार्थ "**अथैतान्यग्निभक्तीनि, अयं लोकः, प्रातःसवनं, वसन्तो गायत्री, त्रिवृत् स्तोमो, रथन्तरं साम, ये च देवगणाः समाम्नाताः प्रथमे स्थानेऽग्नायी, पृथिवीळेति स्त्रियः।**" इत्यादि (निरुक्त ७.३.८)। इसी प्रकार शेष दो देवताओं के "भक्ति सहचारी" गण भी दर्शाए हैं। ये हैं तीन निर्दिष्ट देवताओं की पंक्तियाँ। ये सब परमेश्वराश्रय में स्थित हैं। परस्य=इस द्वारा सूर्य का कथन हुआ है। इसके प्राणभूत तेज को परमेश्वर हर लेता है। इससे प्रतीत होता है कि इन मन्त्रों में मुख्य वर्णन परमेश्वर का है, सूर्य का नहीं। विराट्=वि+राज् (दीप्तौ)। परमस्य=परमपद द्युलोक वाची प्रतीत होता है। अतः परमेष्ठी पद, "परमे द्युलोके तिष्ठति" इस अर्थ में, सूर्य में सूपपन्न है]। श्रिः=श्रि+क्विप्+तुक् (बहुवचन)।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥
छन्दः—**सप्तपदा शाक्वरातिशाक्वरगर्भा प्रकृतिः** ॥

यस्मिन्षडुर्वीः पञ्च दिशो अधि श्रिताश्चतस्र आपो यज्ञस्य त्रयोऽक्षराः।
यो अन्तरा रोदसी क्रुद्धश्चक्षुषैक्षत तस्य देवस्य।
क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति।
उद्वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान्॥ ६ ॥

अर्थ—(यस्मिन् अधि) जिसमें (षट् उर्वीः) ६ पृथिवियाँ (पञ्च दिशः) विस्तृत दिशाएँ (श्रिताः) आश्रित हैं, तथा (यज्ञस्य) संसार यज्ञ के (त्रयः अक्षराः) तीन अनश्वर अर्थात् तीन लोक, और (चतस्रः आपः) चार जलीय समुद्र आश्रित हैं। (यः) जो (क्रुद्धः) मानो क्रुद्ध होकर (रोदसी अन्तरा) द्यौः और पृथिवी के अन्तराल में (चक्षुषा) सूर्य रूपी चक्षु द्वारा (ऐक्षत) देखता है। (तस्य देवस्य.......पाशान्),

पूर्ववत् (१)।

[षट् उर्वीः=बुध, शुक्र, पृथिवी, मंगल, गुरु, शनि। चतस्रः आपः=पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण के चार जलीय समुद्र। पञ्च=**पचि विस्तारे**। चक्षुः=सूर्य। यथा "**तच् चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच् छुक्रमुच्चरत्**", तथा "**चक्षोः सूर्योऽअजायत**" (यजुः० ३१.१३)। कल्पान्त काल तक स्थिर, अतः अनश्वर तीन लोक]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**सप्तपदाऽनुष्टुब्गर्भातिधृतिः**॥

यो अ॑न्ना॒दो अन्न॑पतिर्ब॒भूव॑ ब्रह्म॑ण॒स्पति॑रु॒त यः।
भू॒तो भ॑वि॒ष्यद्भुव॑नस्य॒ यस्पति॒स्तस्य॑ दे॒वस्य॑।
क्रु॒द्धस्यै॒तदागो॒ य ए॒वं वि॒द्वांसं॑ ब्राह्म॒णं जि॒नाति॑।
उद्वे॑पय रोहित॒ प्र क्षि॑णीहि ब्रह्म॒ज्यस्य॒ प्रति॑ मुञ्च॒ पाशा॑न्॥ ७॥

अर्थ—(यः) जो (अन्नादः) अन्नभक्षक, (अन्नपतिः) अन्नों का स्वामी, (उत) तथा (यः) जो (ब्रह्मणस्पतिः) वेदों का स्वामी, (बभूव) हुआ है। (यः) जो (भुवनस्य) उत्पन्न जगत् का (पतिः) स्वामी है, (भूतः) हुआ है, (भविष्यत्) और होगा। (तस्य देवस्य....पाशान्) पूर्ववत् (मन्त्र १)।

[अन्नादः=परमेश्वर अन्नाद है। समग्र प्राणी तथा अप्राणी उसके अन्न हैं, उन्हें वह खाता रहता है। जैसे कहा है—"**यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः। मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः॥**" (कठोप० २.२५)।

अर्थात् ब्राह्मतेजः सम्पन्न और क्षात्र शक्ति सम्पन्न व्यक्ति जिसके ओदन अर्थात् भात हैं, और मृत्यु जिसका उपसेचन अर्थात् भात को सींचने का पदार्थ दाल आदि है उसे कौन वास्तव में जानता है, जहाँ कि वह है, अर्थात् हृदय में है या मस्तिष्क में—इनमें से कहाँ उसका प्रत्यक्ष होता है। इस द्वारा यह जतलाया है कि जो परमेश्वर ब्रह्म और क्षत्र समान प्रबल व्यक्तियों को अपना भात बनाता है उसके लिए वैश्य और शूद्र तो सुतरां ओदन या भातरूप हैं, और जड़ पदार्थों की तो गिनती है क्या है? वह परमेश्वर समग्र चराचर का पति है, अन्नपति है, और साथ ही ज्ञानमय वेदों का भी वह ही पति है। परमेश्वर अन्नाद है, परन्तु अन्न[1] भी है। भक्त उपासक समाधि में इस परमेश्वर के आनन्द रस-रूपी अन्न का आस्वादन करते हैं। "**रसो वै सः, रसं ह्येष लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति**" (तैत्तिरीयोप० २.७)]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**षट्पदाऽत्यष्टिः**॥

अ॒हो॒रा॒त्रैर्विमि॑तं त्रिं॒शद॑ङ्गं त्रयोद॒शं मास॒ं यो निर्मि॑मीते॒ तस्य॑ दे॒वस्य॑।
क्रु॒द्धस्यै॒तदागो॒ य ए॒वं वि॒द्वांसं॑ ब्राह्म॒णं जि॒नाति॑।
उद्वे॑पय रोहित॒ प्र क्षि॑णीहि ब्रह्म॒ज्यस्य॒ प्रति॑ मुञ्च॒ पाशा॑न्॥ ८॥

अर्थ—(अहोरात्रैः) दिनों और रात्रियों द्वारा (विमितम्) मापे हुए, (त्रिंशदङ्गम्) तीस अङ्गों वाले, (त्रयोदशं मासम्) १३ वें मास का (यः) जो परमेश्वर (निर्मिमीते) निर्माण करता है। (तस्य देवस्य पाशान्) पूर्ववत् (मन्त्र १)।

---

१. "**अहमन्नम् अहमन्नादः**" (तै० उप० ३.१०.६)।

[सौरमास वेद में ३० दिनों का माना है, और वर्ष ३६० दिनों का। यथा "**तस्मिन् साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः**" (ऋ० १.१६४.४८), अर्थात् उस संवत्सर-चक्र में ३०० और ६० शङ्कु हैं। तथा "**षष्टिर्ह वै त्रीणि च शतानि संवत्सरस्याहोरात्राः**" (शत० ब्राह्मण ९.१.१.४३), अर्थात् ६० और ३०० दिन-रात्र, संवत्सर के हैं। राशिचक्र ३६०° अंशों में बांटा जाता है। सम्भवतः इन अंशों की दृष्टि से संवत्सर के ३६० सौर दिन माने हों। चान्द्रवर्ष ३५४ दिनों का होता है। Lunar year=a Peried of twelve lunar months or 354 days (Chamber's Dictionary)। इस प्रकार वैदिक सौरवर्ष और चान्द्रवर्ष में ३६०-३५४=६ दिनों का अन्तर प्रतिवर्ष हो जाता है। ३०दिनों के मल मास या अधिमास के लिए ५ वर्ष अपेक्षित हैं, ६×५=३० दिन। इन ५ वर्षों का वर्णन यजुर्वेद में हुआ है। यथा "**संवत्सराय, परिवत्सराय, इदावत्सरा, इद्वत्सराय, वत्सराय**"[१] (यजुः० ३०.१५)। कहीं "**इद्वत्सराय**" के स्थान में "अनुवत्सर" नाम भी आया है, (अथर्व० पैप्पलाद शाखा १७.६.१५)। इस प्रकार वैदिक ३६० दिनों के सौरवर्ष और ३५४ दिनों के चान्द्र वर्ष की दृष्टि से, प्रत्येक ५ वर्षों के पश्चात्, ३० दिनों का १ मलमास या अधिमास अथवा त्रयोदश मास पड़ता है।

वैदिक ३६० दिनों के सौरवर्ष और वर्तमान कैलेण्डर के ३६६ दिनों के सौर वर्षों में भी लगभग ६ दिनों का अन्तर प्रति कैलेण्डर सौर-वर्ष के हिसाब से पड़ता है। प्रति ५ वर्षों के पश्चात् ३० दिनों का एक मास इस हिसाब में भी पूर्ववत् है। कैलेण्डर सौर वर्ष के दिन=३६५ दिन, ५ घण्टे ४८ मिनिट, ४९.७ सेकण्ड, अर्थात् लगभग ३६६ दिन।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**सप्तपदा भुरिगतिधृतिः** ॥

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति।

त आववृत्रन्त्सदनादृतस्य तस्य देवस्य। क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति।

उद्वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान्॥ ९ ॥

अर्थ—(हरयः) जल का हरण करने वाली, (सुपर्णाः) पक्षियों के सदृश उत्तम-उड्डनशील किरणें अथवा सुपालक किरणें (कृष्णम्) काले (नियानम्) नीचे के मार्ग को प्राप्त कर, (अपो वसानाः) और जल को धारण कर (दिवम्) द्युलोक की ओर (उत्पतन्ति) उड़ जाती हैं। (ते) वे किरणें (ऋतस्य सदनात्) जल के सदन से (आववृत्रन्) फिर लौटती हैं। (तस्य देवस्य....पाशान्) पूर्ववत् (मन्त्र १)।

कृष्णं नियानम्=सूर्य से नीचे की ओर आता हुआ नीलाम्बर का काला मार्ग। ऋतस्य=जलस्य (निघं० १.१२)। ऋत का सदन=मेघ या अन्तरिक्ष। आववृत्रन्=लौटती हैं, वर्षा काल में]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**सप्तपदा भुरिगतिधृतिः** ॥

यत्ते चन्द्रं कश्यप रोचनावद्यत्संहितं पुष्कलं चित्रभानु।

यस्मिन्त्सूर्या आर्पिताः सप्त साकं तस्य देवस्य।

क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति।

उद्वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान्॥ १० ॥

---

१. पारस्कर गृह्यसूत्र ३.२.२ में इसी क्रम से ५ नाम पठित हैं (अथर्ववेद, विलियम, ड्विट ह्विटनी, ६.५५.३)।

अर्थ—(कश्यप) हे सर्वद्रष्टः! प्रभो! (ते) तेरा (यत्) जो (चन्द्रम्) चाँदी के सदृश (रोचनावद्) रुचिकारक चाँद है, (यत्) और जो (संहितम्) निज ग्रह-उपग्रहों के साथ सन्धि अर्थात् मेल को प्राप्त, (पुष्कलम्) पुष्टिकारक, (चित्रभानु) चित्र-विचित्र किरणों वाला सूर्यमण्डल है, तथा (यस्मिन्) जिस तुझ में (सप्त सूर्याः) सप्तरंगी ७ प्रकार के सूर्य (साकम्) परस्पर मिल कर (आर्पिताः) समर्पित हुए हुए हैं (तस्य देवस्य.......पाशान्) पूर्ववत् (मन्त्र १)।

[मन्त्र में गुण प्रदर्शक पदों द्वारा दो अभिधेयों को सूचित किया है। चन्द्रम् का अर्थ है चाँदी। इस पदा द्वारा शुभ्र किरणों वाले रोचक चाँद का वर्णन किया है। "यत्" पद के दोबारा पठन द्वारा सूर्यमण्डल को सूचित किया है जिसकी कि किरणें पुष्टिदायक और चित्र-विचित्र हैं। वर्षाकाल में मेघों में इन्द्रधनुष् के रूप में सूर्य की चित्र-विचित्र किरणों की आभा प्रकट होती है। द्युलोक में जितने भी विविध प्रकार के सूर्य हैं, अर्थात् स्वयं प्रकाशी चमकते तारा-नक्षत्र हैं, वे रंगों की दृष्टि से ७ प्रकार के हैं। कोई लाल, कोई सन्तरिया, कोई पीला, कोई हरा, कोई नीला आकाशीय रंगवाला, कोई इण्डिगो के पौधे से निकले नील वर्ण के सदृश, और कोई बैंगनी वर्णवाला है। ये सब मिलकर परमेश्वर में आश्रय पाए हुए हैं। मन्त्र में परमेश्वर की महिमा का वर्णन हुआ है। पुष्कलम्=पुष्करम्, रलयोरभेदात्। कश्यप=**पश्यक; आद्यन्त-विपर्यासः**। छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक उपनिषदों में भी वर्णभेद के आधार पर सूर्यों का वैविध्य दर्शाया है। यथा—"**असौ वा आदित्यः पिङ्गल एष शुक्ल एष नील एष पीत एष लोहितः**" (छान्दो० ८.६.१। तथा "**तस्मिन् शुक्लमुत नीलमाहुः पिङ्गलं हरितं लोहितं च**" (बृहदा० ४.४.९)।

विशेष—"सप्त सूर्याः" के सम्बन्ध में यह जानना आवश्यक है कि द्युलोक में जो नक्षत्र और तारा गण रात्रि के समय दृष्टिगोचर होते हैं उनमें दीखने वाले सौर ग्रहों को छोड़ कर, अवशिष्ट नक्षत्र तथा तारागण सूर्यरूप हैं, स्वतःप्रकाशी हैं। इन सबका विभाजन (Classification) "सप्त सूर्याः" द्वारा किया गया है, अर्थात् वैदिक दृष्टि से ये सब सूर्य मूलभूत (Primary) सात-रंगों अर्थात् सप्त-वर्णों में विभक्त किये गये हैं, तथा कतिपय ये सूर्य ऐसे भी हैं, जो कि मूलभूत रंगों के मिश्रण द्वारा उत्पन्न मिश्रित रंगों वाले भी हैं[१], मूलभूत या Primary Colours Red, Orage, Yellow, Green, Blue, Indigo, Violet. वर्षा ऋतु में इन्द्र धनुष् (Rain Bow) में ये सात रंग या वर्ण दृष्टिगोचर होते हैं, तथा Prism में से सूर्य की किरणों के गुजरने पर भी]।

---

१. कतिपय उदाहण, यथा (१) Bluish-white star लुब्धक (Sirius), मृगव्याधमण्डल में, पृष्ठ ४६। (२) Yellowish Like sun पूषा पृष्ठ ७७। (३) Yellow colour ब्रह्महृदय तारा, The goat star, पृष्ठ ७४। (४) Deep yellow or Reddish colour रोहिणी Aldebaran शकटाकृतिः, वृष राशि में पृष्ठ ८६। (५) Gold-like yellow colour sword-fish, पृष्ठ ८९। A very red star, R dorodus, पृष्ठ ८९। (७) Bluish-white coloured or green coloured star २ मिथुनस्य, पृष्ठ ९६।

विशेष—In the Vedas the star; लुब्धक is said to be of पिशङ्ग Reddish-Yellow colour. But at Present the star : लुब्धक is one of the intensely white stars, in the Heavens, पृष्ठ १२४। अभिप्राय यह जब यह पैदा हुआ था तो यह तारा Reddish-Yellow था, परन्तु वर्तमान में अति शुक्ल है। देखो उपरिप्रदत्त नक्षत्र छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक उपनिषद्। Reddish-Yellow=Orange ? इन्द्रधनुष् का नं० २ वर्ण। ये कतिपय उदाहरण "Popular Hindu Artronomy" ग्रन्थकार कान्तिनाथ मुकरजी, New inpression, १९६९ की पृष्ठ संख्याओं से दिये गये हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**सप्तपदा भुरिगतिधृतिः** ॥

बृहदेनमनु वस्ते पुरस्ताद्रथन्तरं प्रति गृह्णाति पश्चात्।
ज्योतिर्वसाने सदमप्रमादं तस्य देवस्य। क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति।
उद्वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान्॥ ११ ॥

अर्थ—(पुरस्तात्) पहिले (बृहत्) बड़ा द्युलोक (एनम्) इस परमेश्वर को (अनु) अनुकूल तथा (वस्ते) वस्त्र रूप में धारण करता है, (पश्चात्) पीछे अर्थात् तदनन्तर (रथन्तरम्) रथों द्वारा मानो तैरने योग्य, मार्ग तय करने योग्य पृथिवी लोक (प्रति गृह्णाति) इसे अनुकूल या वस्त्र रूप में ग्रहण करता है। ये दोनों (सदम्) सदा (अप्रमादम्) विना प्रमाद किये (ज्योतिः) ज्योतिःस्वरूप परमेश्वर को (वसाने) वस्त्र रूप में धारण किये रहते हैं। (तस्य देवस्य.....पाशान्) पूर्ववत् (मन्त्र १)।

[सृष्ट्युत्पत्ति में पहिले द्युलोक हुआ, पश्चात् पृथिवी लोक। इसलिए द्युलोक ने स्व-रक्षार्थ परमेश्वर को वस्त्र रूप में पहिले धारण किया। पृथिवी लोक पीछे पैदा हुआ, इसलिए इसने तत्पश्चात् परमेश्वर को वस्त्र रूप में धारण किया। वस्त्र धारण शरीर रक्षार्थ होता है। परमेश्वर वस्त्र रूप में इन दोनों लोकों की रक्षा कर रहा है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**सप्तपदा भुरिगतिधृतिः** ॥

बृहदन्यतः पक्ष आसीद्रथन्तरमन्यतः सबले सध्रीची। यद्रोहितमजनयन्त देवाः
तस्य देवस्य। क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति।
उद्वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान्॥ १२ ॥

अर्थ—(देवाः) देवों ने (यद्) जब (रोहितम्) सर्वोपरि आरूढ़ परमेश्वर को (अजनयन्त) हृदयों में पैदा किया, प्रत्यक्ष किया, तब (अन्यतः) एक ओर का (पक्षः) पक्ष (बृहत्) बृहत्सामगान (आसीद्) था, (अन्यतः) दूसरी ओर का पक्ष (रथन्तरम्) रथन्तर साम गान था। (सबले) ये दोनों साम गान, परमेश्वर के प्रत्यक्षीकरण में प्रबल हैं, जब कि ये दोनों (सध्रीची) साथ-साथ चलें, साथ-साथ गाए जाएँ। (तस्य देवस्य.....पाशान्) पूर्ववत् (मन्त्र १)।

[परमेश्वर के प्रत्यक्षीकरण में, पहिले बृहत्साम गान करना चाहिए, तत्पश्चात् उपासना के अनन्तर, रथन्तर-सामगान करना चाहिए। पक्षः=पार्श्व, किनारा; Side (आप्टे)]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**अष्टपदा विकृतिः** ॥

स वरुणः सायमग्निर्भवति स मित्रो भवति प्रातरुद्यन्।
स सविता भूत्वान्तरिक्षेण याति स इन्द्रो भूत्वा तपति मध्यतो दिवं तस्य देवस्य।
क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति।
उद्वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान्॥ १३ ॥

अर्थ—(सः) वह (वरुणः) वरणीय या वरा-गया परमेश्वर (सायम्) सायंकाल में (अग्निः भवति) अग्नि होता है, (सः) वह (प्रातः) प्रातःकाल (उद्यन्) उदित होता हुआ (मित्रः भवति) मित्र होता है। (सः) वह (सविता भूत्वा) सविता होकर (अन्तरिक्षेण) अन्तरिक्ष द्वारा (याति) गति करता है, (सः)

वह (इन्द्रः भूत्वा) इन्द्र होकर (मध्यतः) मध्य भाग से (दिवम्) द्युलोक को (तपति) तपाता है। (तस्य देवस्य.....पाशान्) पूर्ववत् (मन्त्र १)।

[वरुणः=व्रियते, वृतो वा; मन्त्र १२ के अनुसार वरा-गया रोहित अर्थात् सर्वोपरि आरोहण को प्राप्त परमेश्वर। वरुण नियामक है, इसलिए वरुण के साथ पाशों का वर्णन होता है यथा **"ये ते पाशा वरुण सप्त सप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विषिता रुषन्तः"** (अथर्व० ४.१६.६,७); **"उदुत्तमं वरुण पाशम्"** (अथर्व० ७.८३.३); **"प्रास्मत्पाशान्वरुण मुञ्च"** (अथर्व० ७.८३.४)। इन व्याख्येय मन्त्रों में भी पाशों का वर्णन है, जिनमें कि क्रुद्ध हुआ परमेश्वर ब्रह्मवेत्ता को हानि पहुँचाने वाले व्यक्ति को जकड़ देता है। वरुणपद द्वारा परमेश्वर का वर्णन करते हुए यह दर्शाया है कि क्रुद्ध हुए परमेश्वर के नाना पाश हैं जो कि सुदृढ़ तथा घातक हैं, ताकि ब्रह्मवेत्ता को हानि पहुँचाने का कोई साहस न कर सके।

अग्नि आदि=अग्नि का काम है दग्ध करना; मित्र का काम है स्नेह करना; सविता का काम है प्रेरणाएँ देना (षू प्रेरणे); इन्द्र का काम है परमैश्वर्य वाला होना (इदि परमैश्वर्ये)।

उपासना परक मन्त्रों के प्रकरण में, मन्त्रपद द्वारा यह निर्देश मिलता है कि सायंकाल की उपासना से, सायंकाल की अग्नि में तदधिष्ठातृरूप परमेश्वराग्नि[1] का ध्यान करते हुए निजमलों को दग्ध कर देने की प्रार्थना परमेश्वर से करनी चाहिए, शारीरिक कुचेष्टाएँ, इन्द्रियों की अपवित्रता तथा चञ्चलता, मन के अशिव संकल्प—ये सब मलरूप हैं।

प्रातःकाल की उपासना में, उदित होते हुए मित्रनामक सूर्य में स्थित परमेश्वर को सर्वमित्र जान कर, उससे सर्वभूत-मैत्री के सद्गुण की प्रार्थना करनी चाहिए।

सूर्योदय के पश्चात् अन्तरिक्ष में गति करते हुए सविता अर्थात् प्रेरणाप्रद सूर्य में स्थित परमेश्वर से सत्प्रेरणाओं की प्रार्थना करनी चाहिए।

निजताप और प्रकाश में परमैश्वर्य को, मध्य आकाश में, प्राप्त हुए सूर्य में स्थित परमेश्वर से, निज ध्येय के परमैश्वर्य की उसकी परमोच्चता की प्राप्ति के लिए परमैश्वर्यवान् परमेश्वर से प्रार्थना करनी चाहिए।

यद्यपि सर्वसाधारण के लिए सन्ध्या दो काल की है। परन्तु जीवन की प्रत्येक अवस्था में, चित्त में परमेश्वर को धारण करते हुए, दिन के भिन्न-भिन्न कालों में भी परमेश्वर के आशीर्वाद की प्रार्थना करना, कार्यों में बाधक नहीं। और वानप्रस्थियों के लिए—जिन्होंने जीवनों को आध्यात्मिक बनाने के लिए इस आश्रम को स्वीकार किया है—दिन के भिन्न-भिन्न कालों में, उपासना में बैठना, लाभकारी ही होगा]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**अष्टपदा विकृतिः**॥

सहस्राह्ण्यं वियतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम्।
स देवान्त्सर्वानुरस्युपदद्य संपश्यन्याति भुवनानि विश्वा तस्य देवस्य।
क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति।
उद्वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान्॥ १४॥

---

१. यथा **"अग्नावग्निश्चरति प्रविष्टः"** (अथर्व० ४.३९.९) में अग्नि में स्थित परमेश्वराग्नि का वर्णन हुआ है। इसी प्रकार मित्रादि नामों वाले सूर्य में, मित्र आदि नामों वाले परमेश्वर की सत्ता जाननी चाहिए।

अर्थ—यह मन्त्र, १३.२.३८ का पुनः-कथन है। पूर्वपठित मन्त्र में दो अर्थ किये हैं, (१) आधिदैविक और (२) आध्यात्मिक। इस स्थान में पुनः पाठ केवल आध्यात्मिक अर्थ के लिए है। मन्त्र का दण्डान्वयरूप में अर्थ निम्नरूप है—

"स्वर्ग की ओर उड़ते हुए, प्रलयकाल में सृष्टि का हरण करने वाले इस हंस अर्थात् सृष्टिकाल में अज्ञानान्धकार के हन्ता तथा ज्ञानप्रकाश के दाता परमेश्वर के, दो पक्ष अर्थात् ब्राह्मदिन और ब्राह्मी रात्रि, हज़ारों ब्राह्मदिनों की व्याप्ति तक प्रयत्नशील रहते हैं। वह परमेश्वर सब देवों अर्थात् नक्षत्रों, ताराओं, तीनों लोकों आदि को अपनी छाती में मानो रखकर, उन्हें अपनी छाती का सहारा देता हुआ, और सम्यक्-निरीक्षण करता हुआ सब भुवनों तक जाता है। उस क्रुद्ध देव के लिए वह अपराधी है जो कि इस प्रकार के विद्वान् ब्रह्मवेत्ता और वेदवेत्ता को हानि पहुँचाता है। हे सिंहासनारूढ़ राजन्! ऐसे व्यक्ति को कम्पा, ऐसे का क्षय कर, ब्रह्मवेत्ता और वेदवेत्ता को हानि पहुँचाने वाले पर फन्दे डाल"।

[मन्त्र १४ का पुनः कथन यह जताने के लिए किया गया है कि सृष्टि का कर्त्ता और अपहर्त्ता जिस पर कुपित हो जाए तो वह इसके कोप से बच नहीं सकता। ब्रह्मज्ञ और वेदज्ञ विद्वान् को हानि पहुँचाना उसके लिए अपराध है। इसलिए इस अपराध से बचे रहना चाहिए। मन्त्रार्थ (१३.३.१४, तथा १३.३.१) के आधार पर किया है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**सप्तपदा निचृदतिधृतिः**॥

अयं स देवो अप्स्व१न्तः सहस्रमूलः पुरुशाको अत्त्रिः।
य इदं विश्वं भुवनं जजान तस्य देवस्य।
क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति।
उद्वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान्॥ १५॥

अर्थ—(अयं सः देवः) यह, वह देव जो कि (अप्सु अन्तः) जलों के भीतर है, (सहस्रमूलः) हजारों का मूलकारण है, (पुरुशाकः) महाशक्तिशाली है, (अत्त्रिः) प्रलय में संसार का अदन अर्थात् भक्षण करता है। और सृष्टि काल में त्राण (यः) जिसने (इदं विश्वं भुवनम्) इस सब भुवन को (जजान) पैदा किया है। (तस्य देवस्य.....पाशान्) पूर्ववत् (मन्त्र १)।

[अत्त्रिः पद स्पष्टरूप में परमेश्वर-वाचक है। इसे अन्नाद भी कहा है (मन्त्र ७), वेदान्त में इसे अत्ता कहा है, "**अत्ता चराचरग्रहणात्**" (१.२.९)। अप्सु=सामुद्रिक जलों में तथा हृदय के रक्तरूपी जलों में (अथर्व० १०.२.११), तथा विस्तृत अन्तरिक्ष में (निघं० १.३), आपः=**आप्लृ व्याप्तौ**, व्याप्त अन्तरिक्ष]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**अष्टपदाऽऽकृतिः**॥

शुक्रं वहन्ति हरयो रघुष्यदो देवं दिवि वर्चसा भ्राजमानम्।
यस्योर्ध्वा दिवं तन्व१स्तपन्त्यर्वाङ् सुवर्णैः पटरैर्वि भाति तस्य देवस्य।
क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति।
उद्वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान्॥ १६॥

अर्थ—(दिवि) द्युलोक में (वर्चसा) तेज द्वारा (भ्राजमानम्) चमकते हुए, (शुक्रम्, देवम्) पवित्र

सूर्य-देव को (रघुष्यदः हरयः) शीघ्रगामी रश्मिरूपी अश्व (वहन्ति) हम तक प्राप्त कराते हैं। (यस्य) जिस सूर्य देव के (ऊर्ध्वाः) ऊर्ध्व दिशा के (तन्वः) रश्मिविस्तार (दिवं तपन्ति) द्युलोक को तपाते हैं, और (अर्वाङ्) नीचे पृथिवी की ओर वह (सुवर्णैः) सुवर्णमय (पटरैः) रश्मि समूह द्वारा (विभाति) प्रदीप्त होता है। (तस्य देवस्य.......पाशान्) पूर्ववत् (मन्त्र १)।

[वहन्ति=**वह प्रापणे**। सूर्य का हमारे साथ सम्बन्ध उसकी रश्मियों द्वारा होता है। सूर्य के वर्णन द्वारा सूर्य के अधिष्ठाता परमेश्वर का भी वर्णन जानना चाहिए। "क्रुद्ध" परमेश्वर ही हो सकता है, सूर्य नहीं। "तस्य देवस्य क्रुद्धस्य पाशान्" इस मन्त्र भाग को प्रत्येक मन्त्र के साथ बार-बार कथन का अभिप्राय है कि जिन मन्त्रों में सूर्य-पिण्ड का वर्णन प्रतीत होता है, उनमें उसके अधिष्ठाता परमेश्वर का भी वर्णन समझा जाय"]।

परमेश्वर पक्ष में

(दिवि) मस्तिक में (वर्चसा भ्राजमानम्) तेज द्वारा चमकते हुए (शुक्रम्, देवम्) पवित्र परमेश्वर देव को (रघुष्यदः हरयः) तीव्रवेगी प्रत्याहार आदि योगाङ्गों वाले योगिजन (वहन्ति) प्राप्त करते हैं। (यस्य) जिसके (ऊर्ध्वाः तन्वः) ऊपर के मस्तिष्क में विस्तार (दिवम्) मस्तिष्क को (तपन्ति) प्रकाशित करते हैं, और जो (अर्वाङ्) अधःस्थ हृदय में (सुवर्णैः) उत्तम वर्णों वाले (पटरैः) प्रकाशसमूहों द्वारा (वि भाति) विविध प्रकार से चमकता है। (तस्य देवस्य....पाशान्) पूर्ववत् (मन्त्र १)।

[दिवि="**दिवं यश्चक्रे मूर्धानम्**" (अथर्व० १०.७.३२)। "**शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत**" (यजुः० ३१.१३)। शुक्रम्=**शुचिर् पूतिभावे**। **हरयः मनुष्यनाम** (निघं० २.३)। वहन्ति=**वह प्रापणे**। तन्वः=**तनु विस्तारे**। पटरैः=पटलैः, समूहैः। सुवर्णैः="**हृदयपुण्डरीके धारयतो या बुद्धिसंवित्—बुद्धिसत्त्वं हि भास्वरमाकाशकल्पं, तत्र स्थितिवैशारद्यात् प्रवृत्तिः सूर्येन्दु-ग्रहमणिप्रभारूपाकारेण विकल्पते**" (योग १.३६, व्यास भाष्य), अर्थात् "हृदयकमल में चित्त की धारणा करने वाले को जो चित्त संवित्—अर्थात् आकाशवत् प्रकाशवती प्रवृत्ति—सूर्य, चन्द्र तथा मणि की प्रभारूप में नानारूप वाली होती है।" ये उत्तमवर्णों वाले प्रकाशसमूह, हृदयकाल में योगी को प्रकट होते हैं। इन प्रकाश समूहों द्वारा इनमें मानो परमशेवर की ज्योति चमकती है। जैसे कि वह चाँद, सूर्य तथा तारागणों में चमक रही है। इन ज्योतियों के प्रकट होने पर, चित्त अधिकाधिक स्थिरता को प्राप्त हो कर, परमेश्वर के साक्षात्कार में हेतुभूत हो जाता है। रघुष्यदः="**तीव्रसंवेगानामासन्नः**" (योग १.२१), अर्थात् तीव्र संवेग (वेग या वैराग्य) वालों को समाधिलाभ तथा समाधि का फल शीघ्र प्राप्त हो जाता है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**सप्तपदा कृतिः**॥

येनादित्यान्हरितः संवहन्ति येन यज्ञेन बहवो यन्ति प्रजानन्तः।
यदेकं ज्योतिर्बहुधा विभाति तस्य देवस्य।
क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति।
उद्वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान्॥ १७॥

अर्थ—(येन) जिस परमेश्वर की सहायता द्वारा (हरितः) अन्धकार का हरण करने वाली आदित्य-रश्मियाँ (सं वहन्ति) परस्पर मिलकर आदित्य का वहन करती हैं, (येन यज्ञेन) जिस यजनीय परमेश्वर

की सहायता द्वारा (प्रजानन्तः) प्रज्ञा को प्राप्त हुए जन (यन्ति) जीवनयापन करते हैं। (यद्) जो (एकं ज्योतिः) एक ज्योति (बहुधा) बहु प्रकार से (वि भाति) चमक रही है, अर्थात् जगत् के विविध रूपों में चमक रही है, (तस्य देवस्य.......पाशान्), पूर्ववत् (मन्त्र १)।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**अष्टपदाऽऽकृतिः** ॥

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुस्तस्य देवस्य।
क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति।
उद्वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान्॥ १८॥

अर्थ—(एकचक्रम् रथम्) एक चक्र वाले रथ को (सप्त युञ्जन्ति) सात अश्व (युञ्जन्ति) जोतते हैं, वस्तुतः (सप्तनामा) सात अश्वों में परिणत होने वाला (एकः अश्वः) एक अश्व (वहति) रथ को चलाता है। (चक्रम्) चक्र (त्रिनाभि) तीन नाभियों वाला, (अजरम्) जरा रहित, (अनर्वम्) नाश रहित है, (यत्र) जिस चक्र में (इमा विश्वा भुवना) ये सब भुवन (अधि तस्थुः) अधिष्ठित हैं। (तस्य देवस्य....पाशान्) पूर्ववत् (मन्त्र १)। अनर्वम्=अथवा विना प्राणी घोड़े का चक्र रथ।

[एकचक्र रथ=सूर्य। सूर्य चक्राकार है, गोल है, और अकेला आकाश में विचरता है। सूर्य के विचरते काल में चाँद, नक्षत्र, तारागण नहीं होते। सूर्यरथ का वहन एक जातीय शुभ्रवर्ण वाली रश्मियाँ करती हैं जोकि सप्तरंगी सात रश्मियों में फट कर परिणत हो जाती है। तीन ऋतुएँ, अर्थात् ग्रीष्म, वर्षा और शरद् मानो इस चक्र की तीन नाभियां[1] हैं। रथ के चक्र अपनी अपनी रथ-नाभि के चारों ओर घूमते हैं। सूर्यरूपी चक्र, नाभिरूप तीन ऋतुओं के चारों ओर मानो घूम रहा है। सूर्य के आधार पर सब सौर-भुवन अधिष्ठित हैं। "विश्वा भुवना" पद द्वारा सूर्य के अधिष्ठाता परमेश्वर का वर्णन भी अभिप्रेत है, जिसके आश्रय जगत् के समग्र भुवन अधिष्ठित हैं। इस सूर्य-रथ पर सूर्य का स्वामी परमेश्वर अधिष्ठित है। "एकचक्रं रथम्" एक चक्र वाले रथ की सम्भावना को सूचित किया है, अर्थात् mono cycle vehicle को]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**अष्टपदा भुरिगाकृतिः** ॥

अष्टधा युक्तो वहति वह्निरुग्रः पिता देवानां जनिता मतीनाम्।
ऋतस्य तन्तुं मनसा मिमानः सर्वा दिशः पवते मातरिश्वा तस्य देवस्य।
क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति।
उद्वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान्॥ १९॥

अर्थ—(अष्टधा) आठ योगाङ्गों द्वारा आठ प्रकार से (युक्तः) योग युक्त किया गया (उग्रः वह्निः)

---

१. नाभियाँ=केन्द्र। सौर-चक्र की ३ नाभियाँ अर्थात् केन्द्र कहे हैं। तीन केन्द्रों पर की परिधि या चक्र वृत्ताकार न होकर बृहद् अण्डाकार होता है। वेदानुसार सूर्य नहीं चलता, अपितु पृथिवी चलती है। पृथिवी के चलने से सूर्य चलता प्रतीत होता है। अतः पृथिवी के मार्ग की अण्डाकृति दर्शाई है। अथवा त्रिनाभि चक्रम्=ग्रीष्म, वर्षा, शरद् ऋतुरूपी ३ नाभियाँ।

उग्र वाहक परमेश्वर, (वहति) सिद्ध योगी के शरीर रथ का वहन करने लगता है। वह (देवानाम्) द्योतमान सूर्यादि का (पिता) पिता है, और (मतीनाम्) वैदिक ज्ञानों का (जनिता) उत्पादक है। (ऋतस्य तन्तुम्) सत्यज्ञान तथा संसार के सत्य नियमों के कारणीभूत परमेश्वर को, (मनसा) मानो ज्ञानपूर्वक (मिमानः) मापता हुआ (मातरिश्वा) अन्तरिक्षस्थ वायु, (सर्वाः दिशः) सब दिशाओं में (पवते) गति करता या बहता है।

[अष्टधा=आठ प्रकार से। योगाङ्ग आठ हैं, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि (योग २.२९)। इन आठ योगाङ्गों में से प्रत्येक अङ्ग परमेश्वर को योग[१] युक्त करने में सहायक है। इसलिए परमेश्वर को "अष्टधायुक्तः" कहा है। परमेश्वर उग्र है, आसानी से योगयुक्त नहीं किया जा सकता, जैसे कि उग्र अश्व या उग्र बैल आसानी से ज़ोता नहीं जा सकता। परमेश्वर की उग्रता पर, आठ योगाङ्गों द्वारा काबू पाया जा सकता है। वशीभूत परमेश्वर सिद्ध-पुरुष के शरीर-रथ का वहन करने लगता है। उस अवस्था में सिद्ध-पुरुष के जीवन में परमेश्वर प्रेरक हो जाता है। परमेश्वर सूर्यादि जड़-जगत् का तथा वैदिक ज्ञानों का पिता तथा जनयिता है।

तन्तुम्=तन्तु कारण हैं पट के, वस्त्र के। परमेश्वर तन्तुवत् संसार पट का कारण है, सांसारिक नियमों तथा वैदिक ज्ञानों का कारण है। मिमानः=वायु मानो व्यापक परमेश्वर के परिमाण को नापने के लिए सब[२] दिशाओं में गति कर रही है। जैसे कि कहा है कि "क्व प्रेप्सन् पवते मातरिश्वा" (अथर्व० १०.७.४), अर्थात् कहाँ जाना चाहती हुई वायु गति कर रही है। उत्तर में कहा है कि "स्कम्भ रूप परमेश्वर की प्राप्ति के लिए" वायु गति कर रही है]।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः॥ छन्दः—षट्पदाऽत्यष्टिः॥

सम्यञ्चं तन्तुं प्रदिशोनु सर्वा अन्तर्गायत्र्याममृतस्य गर्भे तस्य देवस्य।
क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति।
उद्वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान्॥ २०॥

अर्थ—(सर्वाः प्रदिशः अनु) सब फैली दिशाओं के साथ-साथ (सम्यञ्चम्) सम्यक् फैले हुए, (गायत्र्याम् अन्तः) और गायत्री के भीतर [प्रतिपाद्यरूप में विद्यमान], तथा (अमृतस्य) अमृत-तत्त्व प्रकृति के (गर्भे) गर्भ में [प्रेरक रूप से विद्यमान], (तन्तुम्) जगत् के कारणीभूत परमेश्वर को [मिमानः सर्वा दिशः पवते मातरिश्वा (मन्त्र १९), मापती हुई अन्तरिक्षस्थ वायु सब दिशाओं में गति कर रही है] (तस्य देवस्य पाशान्) पूर्ववत् (मन्त्र १)।

[अन्तर्गायत्र्याम्="**यस्मात्पक्वादमृतं संबभूव यो गायत्र्या अधिपतिर्बभूव। यस्मिन् वेदा निहिता विश्वरूपास्तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम्**" (अथर्व० ४.३५.६) में "गायत्री में मुख्यरूप से परमेश्वर के प्रतिपाद्य होने से परमेश्वर को गायत्री का अधिपति कहा है"]।

१. परमेश्वर को योगसाधनों द्वारा शरीर-रथ में जोतना।
२. मानो परमेश्वर की लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई नापने के लिए चारों तथा ऊर्ध्व-दिशा में वायु गति करता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**अष्टपदाऽऽकृतिः** ॥

निम्रुचस्तिस्रो व्युषो ह तिस्रस्त्रीणि रजांसि दिवो अङ्ग तिस्रः।
विद्मा ते अग्ने त्रेधा जनित्रं त्रेधा देवानां जनिमानि विद्म तस्य देवस्य।
क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति।
उद्वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान्॥ २१ ॥

अर्थ—(निम्रुचः) सूर्यास्त (तिस्रः) तीन हैं, (व्युषः) उषाएँ (ह तिस्रः) निश्चय से तीन हैं, (रजांसि) लोक (त्रीणि) तीन हैं, (अङ्ग) हे प्रिय! (दिवः) द्युलोक (तिस्रः) तीन हैं, (अग्ने) हे अग्नि (त्रेधा) तीन प्रकार के (ते) तेरे (जनित्रम्) जन्मों को (विद्मा) हम जानते हैं। (त्रेधा) तीन प्रकार के (देवानाम्) देवों के (जनिमानि) जन्मों को (विद्म) हम जानते हैं। (तस्य देवस्य....पाशान्) पूर्ववत् (मन्त्र १)।

[दिवः तिस्रः=(१) विषुवती रेखा अर्थात् Equinoctial, जिस पर सूर्य के उदयास्त पर दिन-रात बराबर होते हैं, २१ मार्च तथा २३ सितम्बर को—वह द्यु भाग। (२) विषुवती रेखा के उत्तर का द्युभाग। (३) विषुवती रेखा के दक्षिण का द्युभाग। इस प्रकार तीन द्युभाग "दिवः तिस्रः" हैं।

निम्रुचः व्युषः तिस्रः=(१) सूर्य का विषुवती रेखा पर उदयास्त होना, २१ मार्च तथा २३ सितम्बर को; (२) सूर्य का कर्क राशि पर उदयास्त होना २१ जून को, कर्क राशि उत्तरायण की अन्तिम सीमा है; (३) सूर्य का मकर राशि पर उदयास्त होना २१ दिसम्बर को, मकर राशि दक्षिणायन की अन्तिम सीमा है। इन तीन[१] स्थानों पर सूर्य के उदयास्त के अनुसार सूर्यास्त तथा उषाएँ भी तीन प्रकार की हो जाती हैं। दिन-रात के बराबर होने, दिनों के बड़े होने, तथा रातों के बड़े होने से सूर्य के उदयास्त के समय भिन्न-भिन्न हो जाने से निम्रुचः अर्थात् सूर्यास्त, तथा व्युषः अर्थात् सूर्योदय सम्बन्धी उषाएँ भी भिन्न-भिन्न अर्थात् त्रिविध हो जाती हैं। व्युषः अर्थात् विविध प्रकार की उषाएँ।

त्रीणि रजांसि="**लोका रजांस्युच्यन्ते**" निरुक्त (४.३.१९)। तीन लोक हैं पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्यौः। अग्ने त्रेधा जनित्रम्=अग्नि के जन्म तीन प्रकार के हैं। पार्थिवाग्नि का जन्म इध्म से होता है। अन्तरिक्षीय अग्नि अर्थात् विद्युत् का जन्म मेघों से होता है। द्युलोकस्थ अग्नि का जन्म द्युलोक के तत्त्वों द्वारा होता है। वर्तमान पाश्चात्त्य वैज्ञानिक इस तत्त्व को हाइड्रोजन कहते हैं

त्रेधा देवानां जन्मानि=देवों के त्रिविध जन्म=सूर्य तथा सूर्य सदृश स्वयं प्रकाशी देवों का जन्म प्रकृति की प्रकाशमयी "विराट्" अवस्था से; पृथिवी आदि ग्रहों का जन्म सूर्य से; तथा उपग्रह रूपी चन्द्र आदि का जन्म ग्रहों से हुआ है। इस प्रकार देवों के जन्म त्रेधा अर्थात् त्रिविध हैं]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**षट्पदात्यष्टिः** ॥

वि य और्णोत्पृथिवीं जायमान आ समुद्रमदधादन्तरिक्षे तस्य देवस्य।
क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति।
उद्वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान्॥ २२ ॥

---

१. आदित्य के लिए इन तीन स्थानों को "तीन बन्धन" भी कहा है। यथा "**त्रीणि त आहुर्दिवि बन्धनानि**" (यजुः० २९.१५)। आदित्य की प्रतीयमान गति द्युलोक के इन तीन स्थानों में बन्धी हुई है।

अर्थ—(यः) जो सूर्य (जायमानः) पैदा होता हुआ, (पृथिवीम्[1]) पृथिवी को (वि और्णोत्) विषेशतया प्रकाश से आच्छादित करता, या अन्धकार के आच्छादन से विगत करता, और (समुद्रम्) समुद्र अर्थात् मेघ को (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में (आ अदधात्) स्थापित करता है, (तस्य देवस्य.....पाशान्) पूर्ववत् (मन्त्र १)।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**अष्टपदा विकृतिः** ॥

त्वमग्ने क्रतुभिः केतुभिर्हितोऽर्कः समिद्ध उदरोचथा दिवि।
किमभ्यार्चिन्मरुतः पृश्निमातरो यद्रोहितमजनयन्त देवास्तस्य देवस्य।
क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति।
उद्वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान्॥ २३॥

अर्थ—(अग्ने) हे अग्रणी! (त्वम्) तू (क्रतुभिः) निज कर्मों द्वारा (केतुभिः) तथा प्रज्ञाओं द्वारा (हितः) सबका हितकारी है। (समिद्धः) प्रदीप्त हुआ अर्थात् प्रकट हुआ तू (अर्कः) सूर्य सदृश है, और (दिवि) मस्तिष्क में (उदरोचथाः) उदित हुआ चमकता है। (यद्) जब (देवाः) दिव्य योगिजन (रोहितम्) तुझ सर्वोपरि आरूढ़ को (अजनयन्त) प्रकट करते हैं; तब वे (पृश्निमातरः) भूमि माता से उत्पन्न हुए (मरुतः) मरणधर्मा मनुष्य (किम्) और किस को (अभि आर्चन्) लक्ष्य करके अर्चना अर्थात् स्तुति तथा पूजा करें, अर्थात् तेरी ही स्तुति तथा पूजा करें।

[दिवि="**दिवं यश्चक्रे मूर्धानम्**" (अथर्व० १०.७.३२)। पृश्निमातरः=पृश्नि अर्थात् विविध वर्णों से स्पृष्ट पृथिवी है माता जिनकी ऐसे मनुष्य मरुत्=**म्रियते, मनुष्यजातिः** (उणा० १.९४, महर्षि दयानन्द)।

अजनयन्त=परमेश्वर के सम्बन्ध में जब जन्म या जन् धातु का प्रयोग हो तो अर्थ "प्रकट होना" होता है, उत्पन्न होना नहीं। देखो (अथर्व० १३.४(४).२९-३९)।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**सप्तपदा कृतिः** ॥

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
योऽस्येशे द्विपदो यश्चतुष्पदस्तस्य देवस्य।
क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति।
उद्वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान्॥ २४॥

अर्थ—(यः) जो परमेश्वर (आत्मदाः) आत्मा का दाता, (बलदाः) और बलों का दाता है, (विश्वे) सब (यस्य) जिसके (प्रशिषम्) उत्तम-शासन की (उपासते) उपासना करते हैं, (देवाः) देव (यस्य) जिसके प्रशासन की उपासना करते हैं, या देव जिसके अधीन हैं। (यः) जो (अस्य द्विपदः) इस दोपाए-जगत् का, और (यः) जो इस (चतुष्पदः) चौपाए जगत् का (ईशे) अधीश्वर है, (तस्य

---

१. तथा "जो परमेश्वर हृदय या मस्तिष्क में प्रकट हुआ, शरीर में विशेष आभा प्रकट करता है, तथा जिसने अन्तरिक्ष अर्थात् वक्षःस्थल में विद्यमान हृदय-समुद्र को स्थापित किया है....। पृथिवीम्="**पृथिवी शरीरम्**" (अथर्व० ५.९.७); "**पृथिव्याः शरीरम्**" (अथर्व० ५.१०.८)। समुद्रम्="**हृद्यात् समुद्रात्**" (यजुः० १७.९३), तथा "**सिन्धु-सृत्याय**" (अथर्व० १०.२.११) में सिन्धु=हृदय।

देवस्य....पाशान्) पूर्ववत् (मन्त्र १)।

[आत्मदाः=शरीरों में आत्माओं का देने वाला। प्रार्थी जीवन को जेल न समझता हुआ, जीवन को उन्नति और मोक्ष का साधन जानकर परमेश्वर की स्तुति "आत्मदाः" पद द्वारा करता है। बलदाः=शारीरिक ऐन्द्रियिक, मानसिक तथा आत्मिक बलों का दाता। उपासते=सच्चे उपासक जैसे परमेश्वर की आज्ञा के अनुसार चलते हैं, वैसे सब जड़ जगत् परमेश्वर के उत्तम-शासन के अनुसार चल रहा है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**अष्टपदा विकृतिः**॥

एकपाद् द्विपदो भूयो वि चक्रमे द्विपात्त्रिपादमभ्येति पश्चात्।
चतुष्पाच्चक्रे द्विपदामभिस्वरे संपश्यन्पङ्क्तिमुपतिष्ठमानस्तस्य देवस्य।
क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति।
उद्वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान्॥ २५॥

अर्थ—(एकपाद्)[१] एकपाद् पुरुषार्थ वाला मनुष्य (भूयः) फिर (द्विपदः) दोपाद् पुरुषार्थ वाले व्यक्तियों की ओर (विचक्रमे) विशेष पग बढ़ाता है, (द्विपाद्) द्विपाद् पुरुषार्थ वाला बन कर (पश्चात्) तदनन्तर (त्रिपादम् अभि) त्रिपाद् पुरुषार्थ वाले व्यक्ति की ओर (एति) आता है। तत्पश्चात् वह (चतुष्पाद् चक्रे) चतुष्पाद् पुरुषार्थ वाला होकर तदनुसार आचरण करता है ऐसे (द्विपदाम्) दो पग वाले मनुष्यों की (अभि स्वरे) पुकार कर परमेश्वर (सं पश्यन्) उनकी अभिलाषा को देखता हुआ, (पंक्तिम्) उन उपासकों की पंक्ति में (उपतिष्ठमानः) उपस्थित हो जाता है। (तस्य क्रुद्धस्य देवस्य) उस क्रुद्ध देव के लिए (एतत्) यह (आगः) अपराध या अपराधी है (यः) जो कि (एवम्) इस प्रकार के (विद्वांसं ब्राह्मणम्) विद्वान् ब्रह्मवेत्ता और वेदवेत्ता को (जिनाति) हानि पहुँचाता है। (रोहित) हे सिंहासनारूढ़ राजन्! (उद् वेपय) ऐसे व्यक्ति को कम्पा, (प्रक्षिणीहि) ऐसे व्यक्ति का क्षय कर, (ब्रह्मज्यस्य) ब्रह्मवेत्ता और वेदवेत्ता को हानि पहुँचाने वाले पर (पाशान् प्रतिमुञ्च) फन्दे डाल।

[पुरुषार्थ के चार पाद हैं, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। प्रत्येक मनुष्य को चाहिए कि वह धर्म की आधारशिला पर, अर्थोपार्जन करके गृहस्थ धारण कर, कालान्तर में अगले आश्रमों का ग्रहण कर, मोक्ष का अधिकारी बने। ऐसी अवस्था में पहुँचे व्यक्तियों की पुकार और अभिलाषाओं को परमेश्वर सुनता है। ऐसे व्यक्ति को हानि पहुँचाने वाले को राजा दण्ड दे, यह वैदिक आज्ञा मन्त्र द्वारा ज्ञात होती है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

कृष्णायाः पुत्रो अर्जुनो रात्र्या वत्सोऽजायत।
स ह द्यामधि रोहति रुहो रुरोह रोहितः॥ २६॥

अर्थ—(कृष्णायाः रात्र्याः) काली रात्रि का (वत्सः) बच्चा (रोहितः) लाल सूर्य (अजायत) पैदा हुआ है। (सः ह) वह (द्याम् अधिरोहति) द्युलोक की ओर आरोहण करता है, और (अर्जुनः) शुक्ल होकर (रुहः) द्युलोक की ऊँचाइयों तक (रुरोह) चढ़ गया है। इसी प्रकार काली रात्रि का (अर्जुनः

१. एकपाद्=एकपादः (धर्मरूपः) यस्य सः। द्विपाद्=द्वौ पादौ (धर्मार्थौ) यस्य सः। त्रिपाद्=त्रयः पादाः (धर्मार्थकामाः) यस्य सः। चतुष्पाद्=चत्वारः पादाः (धर्मार्थकाममोक्षरूपाः) यस्य सः, अर्थात् चतुष्पाद् धर्मरूपः मनुष्यः।

पुत्रः) शुक्त पुत्र परमेश्वर प्रकट हुआ है। वह मस्तिष्क रूपी द्युलोक की ओर आरोहण करता है, और मस्तिष्क तक की ऊँचाई तक चढ़ गया है।

[कृष्णायाः रात्र्याः="अजायत" में जन् धातु के प्रयोग के कारण "कृष्णायाः रात्र्याः" को पञ्चम्यन्त, तथा सम्बन्ध मात्र की विवक्षा में षष्ठ्यन्त प्रयोग भी समझा जा सकता है। सूर्य जब क्षितिज से पैदा हो रहा होता है तब वह लाल होता है, जैसे कि कवि ने कहा है कि "**उदेति सविता ताम्रः ताम्र एवास्तमेति च**"। ताम्र लाल होता है। इस सूर्य को वत्स मात्र कह कर इसके उदय को विशेष महत्त्व नहीं दिया। सूर्य प्रतिदिन उदित होता ही रहता है।

परमेश्वर भी काली रात्रि से प्रकट होता है। रात्रि के काल में उपासना के अभ्यास से परमेश्वर प्रकट होता है। यथा "**नाम नाम्ना जोहवीति पुरा सूर्यात् पुरोषसः**" (अथर्व० १०.७.३१), अर्थात् "उपासक परमेश्वर के नाम को बार-बार जपता हुआ परमेश्वर का आह्वान करता है, सूर्योदय से पूर्व तथा उषा से पूर्व।" इसका अनुमोदन निरुक्तकार ने भी किया है, "**पूर्वः पूर्वो यजमानो वनीयान्**" (ऋ० ५.७७.२) का प्रमाण देते हुए "पूर्व-पूर्व काल के उपासक को अधिक सफल कहा है" (निरुक्त १२.३.५); तथा "**ये रात्रिमनुतिष्ठन्ति**" (अथर्व० १९.४८.५) में रात्रि में अनुष्ठान का वर्णन हुआ है।

अर्जुनः पुत्रः=सूर्य उदित होता हुआ लाल होता है, परन्तु परमेश्वर उदित हुआ शुक्ल प्रतीत होता है। सूर्य उदित होता हुआ साधारण वत्स के सदृश है, परन्तु परमेश्वर उदित होता हुआ पुत्रसमान है, अर्थात् "बहुत रक्षा करने वाला; पालन करने वाला दुःख से या जन्ममरण की परम्परारूपी नरक से रक्षा करने वाला है। यथा "**पुत्रः पुरु त्रायते, निपरणाद्वा, पुन्नरकं ततः त्रायत इति वा**" (निरुक्त २.३.११)। परमेश्वर में पुत्र के ये सब गुण पाये जाते हैं। इसीलिए कहा है कि "**अग्नावग्निश्चरति प्रविष्ट ऋषीणां पुत्रो अभिशस्तिपा उ**" (अथर्व० ४.३९.९), अर्थात् "परमेश्वर अग्नि में अग्नि नाम वाला प्रविष्ट होकर विचरता है, यह ऋषियों का पुत्र है, उनकी हिंसा से रक्षा करता है।"

रोहितः, रुहः, रुरोह=परमेश्वर प्रथम हृदय में प्रकट होता है, तदनन्तर आज्ञा चक्र में आरोहण करता, तत्पश्चात् मस्तिष्कस्थ सहस्रार चक्र की ऊँचाई पर आरोहण करता है]।

तृतीय अनुवाक समाप्त॥

अनुवाक ४

सूक्त ४

विषय-प्रवेश

(१) सूक्त ४ का भी ऋषि है ब्रह्म, और देवता है "आध्यात्मिक सविता"। अनुक्रमणिका में "**रोहितादित्यदेवत्यम्**" कह कर रोहितादित्य को भी सूक्त ४ का देवता कहा है। परन्तु समग्र सूक्त ४ में न तो रोहित पद पठित है और न आदित्यपद। सम्भवतः सविता पद तथा सूर्यपद (४(१).१,५)। की दृष्टि से "**रोहितादित्यदेवत्यम्**" कह दिया हो।

(२) समग्र सूक्त ४ में आध्यात्मिक-सविता का वर्णन हुआ है, और एक विषय होते हुए भी सविता के अवान्तर स्वरूपों को भिन्न-भिन्न ६ खण्डों में दर्शाया है, जिन्हें कि "पर्याय" कहते हैं। इस प्रकार सूक्त ४ के ६ पर्याय हैं। सूक्त ४ के कुल मन्त्र ५६ हैं, और मन्त्रों को १ से ५६ क्रमाङ्कों द्वारा दर्शाया है।

(३) निरुक्तकार ने सविता के आधिदैविक स्वरूप के सम्बन्ध में कहा है कि **"तस्य कालो यदा द्यौरपहततमस्काकीर्णरश्मिर्भवति, अधस्तात्तद्वेलायां तमो भवति"** (१२.२.१३), अर्थात् सविता के काल में द्युलोक का अन्धकार तो दूर हो जाता है, परन्तु नीचे पृथिवी पर अभी अन्धकार रहता है। इसीलिए सूक्त ४ के प्रारम्भ (१) में "अध्यात्म सविता" को "स्व:" पद द्वारा प्रकाशस्वरूप कह कर, उसके प्रकाश की स्थिति "दिवस्पृष्ठे" द्वारा मस्तिष्क में दर्शाकर, "आवृत:" (२) पद द्वारा अभी नीचे के चक्रों में उसे ढका हुआ अर्थात् अप्रकाशित ही दर्शाया है। अध्यात्म सविता के प्रकाश का जब अवरोहण होगा, तभी नीचे के चक्रों में उसका प्रकाश पहुंचेगा।

(४) अध्यात्म-सविता के भिन्न-भिन्न गुणों और कर्मों के प्रदर्शक पर्यायवाची १२ नाम, जिनमें सूर्यनाम भी पठित है (२-५)। सम्भवत: "सूर्यनाम" के आधार पर अनुक्रमणिका में "रोहितादित्यदेवत्यम्" कहा हो।

(५) अध्यात्म दृष्टि से प्राय: ५ कोशों का वर्णन होता है। मन्त्र १० में "नवकोशा:" द्वारा ९ कोशों का वर्णन हुआ है। ९ कोशों के स्वरूपों पर प्रकाश डाला है (१०)।

(६) मन्त्र १२-२४ में यह स्पष्ट कहा है कि मुख्य देवता एक ही है, और यह ही एक उपास्य है (४७-५६)।

(७) सविता अर्थात् परमेश्वर के सम्बन्ध में जब "जन्" धातु का प्रयोग हो तब उसका अर्थ सामान्य जन्म या उत्पत्ति न होकर केवल ज्ञान अर्थ ही जानना चाहिए (२९-३८)। इनमें से मन्त्र ३८ में सविता का जन्म ऋचाओं से दर्शाया है। ऋचाओं से सवितृ-परमेश्वर के स्वरूप का शाब्दिक-ज्ञान होता है, जन्म नहीं।

(८) मन्त्र ३८ में यह दर्शाया है कि ऋचाओं की उत्पत्ति सविता अर्थात् प्रेरक (षू प्रेरणे) परमेश्वर से हुई है, अर्थात् ऋचाओं का कर्त्ता परमेश्वर ही है।

(९) मन्त्र ४१-४२ में प्रलयकाल का वर्णन प्रतीत होता है।

(१०) मन्त्र ४६ में "इन्द्र" पद द्वारा परमेश्वर का कथन किया है। इन्द्र=**इदि परमैश्वर्ये,** अर्थात् परमैश्वर्य वाला परमेश्वर।

सूक्त ४, पर्याय १

ऋषि:—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्**॥ छन्द:—**प्राजापत्यानुष्टुप्**॥

स ए॑ति सवि॒ता स्व॑र्दि॒वस्पृ॒ष्ठे॑ऽव॒चाक॑शत्॥ १॥

अर्थ—(स:) वह (सविता) प्रेरक (स्व:) प्रकाशमान हुआ (दिव: पृष्ठे) मस्तिष्क की पीठ पर (एति) आता है, और (अव चाकशत्) नीचे के अङ्गों में प्रदीप्त होता है।

[सूक्त अध्यात्म है, अत: तदनुसार व्याख्या उपपन्न है। सविता=**षू प्रेरणे**। स्व:=**स्वृ उपतापे**। दिव:=**"दिवं यश्चक्रे मूर्धानम्"** (अथर्व० १०.७.३२)। अव=नीचे। चाकशत्=**चकासृ दीप्तौ**। मन्त्र में समाधिस्थ पुरुष में परमेश्वरीय प्रकाश का वर्णन हुआ है। परमेश्वर जब मस्तिष्क के सहस्रार चक्र में चमकता है। तो उसकी चमक नीचे के चक्रों अर्थात् आज्ञा चक्र, विशुद्धि चक्र, अनाहत (हृदय) चक्र में भी अनुभूत होती है। जैसे कि द्युलोक में चमकते सूर्य का प्रकाश, अधस्थ अन्तरिक्ष तथा पृथिवी लोक

में भी होता है।

मन्त्रों में सूर्य का वर्णन भी साथ-साथ जानना चाहिए। सूर्य के अधिष्ठातृ-देवब्रह्म का वर्णन भी अर्थापन्न है (यजु:० ४०.१७)]।

ऋषि:—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्**॥ छन्द:—**प्राजापत्यानुष्टुप्**॥

रश्मिभिर्नभ आभृतं महेन्द्र एत्यावृतः॥ २॥

अर्थ—(रश्मिभि:) रश्मियों द्वारा (नभ:) हृदयाकाश (आभृतम्) भर गया है, क्योंकि (आवृत:) ढका हुआ (महेन्द्र:) महेश्वर (एति) हृदयाकाश में आया है।

[महेन्द्र अर्थात् महेश्वर (सविता) जब हृदयाकाश में प्रकट होता है तब महेश्वर के प्रकाश से हृदयाकाश भर जाता है (छान्दो० उप० अध्याय ८, खण्ड १, सन्दर्भ १-३)। आभृतम्=भृञ् भरणे (भ्वादि)। सूर्य पक्ष में नभ:=मेघ। महेन्द्र=विद्युत् आकाश में ढकी रहती है। वर्षा काल में मेघ में आ प्रकट होती है]।

ऋषि:—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्**॥ छन्द:—**प्राजापत्यानुष्टुप्** (**रश्मिभिरित्यस्योक्तमेव**)॥

स धाता स विधर्ता स वायुर्नभ उच्छ्रितम्। रश्मिभिर्नभ आभृतं महेन्द्र एत्यावृतः॥ ३॥[1]

अर्थ—(स:) वह सविता अर्थात् प्रेरक परमेश्वर (धाता) सबका धारण-पोषण करता है, (स:) वह (विधर्ता) विधियों का विधान करता है, (स:) वह (वायु:) वायुवत् प्राणभूत है, (नभ:) आकाशवत् व्यापक है, (उच्छ्रितम्) ऊपर के द्युलोक में भी आश्रित है। (रश्मिभि:) देखो मन्त्र (२)।

ऋषि:—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्**॥ छन्द:—**प्राजापत्यानुष्टुप्** (**रश्मिभिरित्यस्योक्तमेव**)॥

सोऽर्यमा स वरुणः स रुद्रः स महादेवः। रश्मिभिर्नभ आभृतं महेन्द्र एत्यावृतः॥ ४॥

अर्थ—(स:) वह सविता (अर्यमा) अर्यमा है, (स:) वह (वरुण:) वरुण है, (स:) वह (रुद्र:) रुद्र है, (स:) वह (महादेव:) बड़ा-देव है। (रश्मिभि:) देखो मन्त्र (२)।

[सविता के भिन्न-भिन्न गुणकर्मों की दृष्टि से, अर्यमा आदि नाम हैं। सत्यार्थप्रकाश समुल्लास प्रथम में, इन नामों के अर्थ व्याख्यात हैं]।

ऋषि:—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्**॥ छन्द:—**प्राजापत्यानुष्टुप्** (**रश्मिभिरित्यस्योक्तमेव**)॥

सो अग्निः स उ सूर्यः स उ एव महायमः। रश्मिभिर्नभ आभृतं महेन्द्र एत्यावृतः॥ ५॥

अर्थ—वह सविता अग्नि है, वह ही सूर्य है, वह ही महायम है। (रश्मिभि:) देखो मन्त्र (२)।

[महायम:=महानियन्ता, जङ्गम और स्थावर सृष्टि का नियन्ता]।

ऋषि:—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्**॥ छन्द:—**प्राजापत्यानुष्टुप्** (**रश्मिभिरित्यस्योक्तमेव**)॥

तं वत्सा उप तिष्ठन्त्येकशीर्षाणो युता दश। रश्मिभिर्नभ आभृतं महेन्द्र एत्यावृतः॥ ६॥

अर्थ—(एकशीर्षाण:) "एक" जिनका शिरोभूत है ऐसे (दश) दस (वत्सा:) बच्चे, (युता:)[2]

---

१. मन्त्र २ को, ३-७ के मन्त्रों की समाप्ति पर, आवृत्त किया जाता है।

२. "अयुता:" पाठ भी मिलता है। अयुता: का अर्थ है पृथक्-पृथक्। प्रत्येक इन्द्रिय के विषय पृथक्-पृथक् हैं, अत: प्रत्येक इन्द्रिय की विषय ग्रहण शक्ति भी पृथक्-पृथक् है। प्रत्येक इन्द्रिय पृथक्-पृथक् रूप में निज की भेंट करती है।

परस्पर मिलकर, (तम्) उस पिता का (उपतिष्ठन्ति) उपस्थान करते हैं, पूजन करते हैं। (रश्मिभिः) देखो मन्त्र (२)।

[शिरोभूत=मन। मन सहित ५ ज्ञानेन्द्रियाँ पुत्र रूप होकर, निज पिता अर्थात् सविता का पूजन करती हैं। इन्हें वत्स अर्थात् पुत्र कहा है। परमेश्वर सब जगत् का पिता होने से मन और १० इन्द्रियों का भी पिता है। इन इन्द्रियों का शिरोभूत है, मन। मन से प्रेरणा पाकर इन्द्रियाँ विषयों को ग्रहण करती हैं, तथा निज शक्तियों को परमेश्वरार्पित करती हैं। यथा "**यस्मै हस्ताभ्यां पादाभ्यां वाचा श्रोत्रेण चक्षुषा। यस्मै देवा सदा बलिं प्रयच्छन्ति**" (अथर्व० १०.७.३९), अर्थात् देवलोग जिस स्कम्भ अर्थात् सब को थामने वाले परमेश्वर के प्रति, हाथों, पादों, वाणी, श्रोत्र तथा चक्षु द्वारा सदा भेंट देते हैं, अर्थात् निज शक्तियों को समर्पित कर उसका पूजन करते हैं। इसी प्रकार मन सहित १० इन्द्रियाँ निज पितृरूप सविता के प्रति निज व्यवहारों और शक्तियों को भेंट कर उसका उपस्थान करती हैं।

सूर्यपक्ष में "एकशीर्षाणः"=जिन १० में से एकशिरोभूत है—ऐसा अर्थ होगा। १० हैं "बुध, शुक्र, पृथिवी, मंगल, बृहस्पति, शनैश्चर, यूरेनस, नेपच्यून उल्का समूह (methods), तथा चन्द्रमा"। इनमें से "पृथिवी" शिरोभूत है, मुखिया है। पृथिवी जल तथा अन्न से सम्पन्न है, अतः सम्पन्न होने से मुखिया है। ये सब सूर्य से उत्पन्न हैं, इसलिए सूर्य के वत्स हैं। ये सूर्य की परिक्रमाएँ कर रहे हैं, मानो इस द्वारा सूर्य-पिता का उपस्थान कर रहे हैं। उल्का समूह किसी समय एक ग्रह (Planet) था—ऐसा पाश्चात्त्य ज्योतिर्विद् मानते हैं। अतः उल्का समूह भी ग्रहरूप है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**प्राजापत्यानुष्टुप् (रश्मिभिरित्यस्योक्तमेव)**॥

पश्चात्प्राञ्च आ तन्वन्ति यदुदेति वि भासति।

रश्मिभिर्नभ आभृतं महेन्द्र एत्यावृतः॥ ७॥

अर्थ—(प्राञ्चः[1]) आगे की ओर जाती हुईं, अर्थात् बहिर्मुख हुईं इन्द्रियाँ, जब (पश्चात्) पीछे की ओर (आ तन्वन्ति) फैलती हैं, अर्थात् अन्तर्मुख हो जाती हैं, तब (यद्) जो चक्र (उदेति) खिलता है, वह (वि भासति) चमक उठता है। (रश्मिभिः) देखो मन्त्र २।

[जब इन्द्रियाँ अन्तर्मुख हो जाती हैं तो शारीरिक चक्रों पर चित्त को स्थिर करने पर चक्र खिल जाते हैं। शरीर के पृष्ठ की ओर सुषुम्णादण्ड है। इसमें मुख्य आठ चक्र हैं। इसलिए शरीर को आठ चक्रों वाली पुरी कहा है। "**अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या**" (अथर्व० १०.२.३१)। प्रत्येक चक्र में सुषुम्णा दण्ड के अतिसूक्ष्म तन्तु विद्यमान हैं। जिस चक्र पर चित्त को स्थिर किया जाता है उस चक्र के तन्तु खिल कर, कमल की डोडी की तरह खिल कर, प्रकाश देने लगते हैं]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**प्राजापत्यानुष्टुप्**॥

तस्यैष मारुतो गणः स एति शिक्याकृतः॥ ८॥

अर्थ—(एषः मारुतः गणः) यह वायुओं का समूह (तस्य) उस सविता का है। (सः) वह वायु समूह (शिक्याकृतः) छिक्के में धरी वस्तु के समान (एति) गति करता है। सविता=परमेश्वर।

मारुतो गणः=प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान आदि गण। यह शरीररूपी छिक्के में धरा हुआ शरीर

१. "**पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः**" (उपनिषद् कठ० ४.१)।

में गति करता है। परन्तु इस गण का स्वामी परमेश्वर है। अन्तरिक्षस्थ वायुगण अन्तरिक्ष में गति करता और सूर्य उसका स्वामी है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**प्राजापत्यानुष्टुप्** ॥

रश्मिभिर्नभ आभृतं महेन्द्र एत्यावृतः ॥ ९ ॥

अर्थ—रश्मियों द्वारा हृदयाकाश भर गया है, क्योंकि ढका हुआ महेश्वर हृदयाकाश में आया है। देखा (मन्त्र २)।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**प्राजापत्यानुष्टुप्** ॥

तस्येमे नव कोशा विष्टम्भा नवधा हिताः ॥ १० ॥

अर्थ—(तस्य) उस सविता के (इमे) ये (नव) नौ (कोशाः) कोश हैं, (विष्टम्भाः)[1] जो कि सविता को थामे हुए हैं, और (नवधा) नौ प्रकार से (हिताः) स्थापित किये हैं। परमेश्वर के थामने के स्थान, (बृहदा० उप० अ०। ब्रा० ७। खण्ड ३-२३) नव कोशाः=अन्नमय (शरीर), प्राणमय जिसे कि मारुतो गणः कहा है (मन्त्र ८), मनोमय (मन, संकल्पविकल्पात्मक), आनन्दमय (आनन्दमयी चित्तवृत्ति, सम्प्रज्ञात योग की विशेषावस्था, योग १.१७), विज्ञानमय (ज्ञानेन्द्रियाँ, बुद्धि, चित्त, अंहकार और जीवात्मा) ये ५ विज्ञानमय कोश हैं, अर्थात् ज्ञान के साधन और आधार हैं। ये नवकोश सविता परमेश्वर को थामे हुए हैं, और नौ प्रकार से अलग-अलग स्थापित हैं[2]]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**प्राजापत्यानुष्टुप्** ॥

स प्रजाभ्यो वि पश्यति यच्च प्राणति यच्च न ॥ ११ ॥

अर्थ—(सः) वह सविता (प्रजाभ्यः) प्रजाओं के भले के लिए (वि पश्यति) अलग-अलग रूप में सब को देखता रहता है, अर्थात् (यच्च) जो कि (प्राणति) प्राणधारी है, (यच्च) और जो (न) प्राणधारी नहीं, अर्थात् जड़ है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**विराड् गायत्री** ॥

तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव ॥ १२ ॥

अर्थ—(इदम्) यह (सहः)[3] बलशाली जगत् (तम्) उस सविता में (निगतम्) प्रविष्ट है उसके

---

१. जो परमेश्वर जगदाधार है, द्युलोक और भू लोक को थामे हुए है, **"स्कम्भेनेमे विष्टभिते द्यौश्च भूमिश्च तिष्ठतः"** (अथर्व० १०.८.२), उसे शारीरिक ९ कोश थामते हैं—यह कथन यद्यपि संगत प्रतीत नहीं होता। तो भी इसका अभिप्राय यह है कि संसार में कोई ऐसा पदार्थ नहीं, सिवाय इन नौ कोशों के समूह के, जहां परमेश्वर साक्षात् अनुभूत हो सके, और उच्चकोटि के योगी जब चाहें अन्तर्ध्यानी होकर परमेश्वर के दर्शन पा सकें। इसलिए ९ कोशों के समूह को सविता के "विष्टम्भाः" कहा है।

२. सूर्यपक्ष में ९ कोश=बुध, शुक्र, पृथिवी, मङ्गल, बृहस्पति, शनि, युरेनस (वरुणम्), नेपचून, चन्द्रमा। ये ९ कोश हैं जो कि सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाते हैं और जिनके मध्यवर्ती सूर्य है, अतः सूर्य के कोश हैं। इन द्वारा आकृष्ट किया सूर्य निज स्थान में विष्टब्ध हुआ है, थामा हुआ है। अथवा चन्द्रमा के स्थान पर "उल्का समूह" की गणना करनी चाहिए, जो कि मङ्गल और बृहस्पति के मध्य में गति करते हैं, जोकि पाश्चात्त्य ज्योतिषियों के अनुसार ग्रहरूप थे, और किसी कारण इस ग्रह से फट जाने से अब उल्कारूप (metesrs) हो गये हैं, जो कि रात्रि में टूटते तारा के रूप में कभी-कभी दृष्टिगोचर होते हैं। इन्हें उल्कापात कहते हैं।

३. **सहः बलनाम** (निघं० २.९)।

आश्रय में है। (स एषः) वह यह सविता (एकः) एक है, (एकवृत्)[१] एक महाशक्ति रूप विद्यमान है, (एक एव) एक ही है (देखो १३.४(२).१६-१८)।

[सः एषः=वह अर्थात् दूरस्थ, तथा एषः अर्थात् समीपस्थ। यथा "**तद् दूरे तद्वन्तिके**" (यजुः० ४०.५)]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**आसुर्युष्णिक्** ॥

एते अस्मिन्देवा एकवृतो भवन्ति ॥ १३ ॥

अर्थ—(एते) ये (देवाः) सब दिव्य पदार्थ, (अस्मिन्) इस सविता परमेश्वर में, (एकवृतः)[२] अर्थात् इस एक में वर्तमान (भवन्ति) होते हैं।

सूक्त ४, पर्याय २

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**भुरिक् साम्नी त्रिष्टुप्** ॥

कीर्तिश्च यशश्चाम्भश्च नभश्च ब्राह्मणवर्चसं चान्नं चान्नाद्यं च ॥ १४ ॥[३]

अर्थ—(कीर्तिः च) उसके सम्बन्ध में संकीर्तन, (यशः च) उसका यश (अम्भः च) ज्ञान की दीप्ति, (नभः च) उसके पापकर्मों का हिंसन, (ब्राह्मणवर्चसम् च) ब्राह्मणों अर्थात् ब्रह्मवेत्ताओं का तेज, (अन्नं च) दुग्धादि अन्न (अन्नाद्यम्, च) और खाने योग्य अन्न होते हैं।

[नभः=**णभ हिंसायाम्**। अम्भश्च=**अम गत्यादिषु**, गतिः ज्ञानम्; यथा "**गतेस्त्रयोऽर्थाः ज्ञानं गतिः प्राप्तिश्च**"+भ (दीप्ति), **भा दीप्तौ**। जो सविता अर्थात् जगत् के प्रेरक परमेश्वर को जान लेता है, साक्षात् कर लेता है, उसे सब कुछ प्राप्त हो जाता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**आसुरी पङ्क्तिः** ॥

य एतं देवमेकवृतं वेद ॥ १५ ॥

अर्थ—जो कि (एतम्) इस सविता को (एकवृतम् देवम्) एकमात्र देव (वेद) जानता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**प्राजापत्याऽनुष्टुप् (य एतमित्यस्योक्तमेव)** ॥

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते। य एतं देवमेकवृतं वेद ॥ १६ ॥

अर्थ—न दूसरा, न तीसरा, और न चौथा परमेश्वर कहा जाता है। (य एतम्) देखो मन्त्र (१५)।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**आसुरी गायत्री (य एतमित्यस्योक्तमेव)** ॥

न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते। य एतं देवमेकवृतं वेद ॥ १७ ॥

अर्थ—न पाँचवाँ, न छठा, और न भी सातवाँ परमेश्वर कहा जाता है। (य एतम्) देखो मन्त्र (१५)।

---

१. एकः वर्तते इति।

२. एकस्मिन् [सवितरि परमेश्वरे] वर्त्तन्ते इति। सूर्यपक्ष में एकवृत् अर्थात् सौर परिवार में सूर्य एक ही है। और सब ग्रह इसी एक के आश्रय में एकवृतः है। तथा ९ प्रकार के कक्षा-वृत्तों में पृथक्-पृथक् निहित हैं।

३. यहाँ से आगे पर्यायसूक्त के मन्त्रों की क्रम संख्या १-२ आदि के पश्चात् जो ॥१३॥ ॥१४॥ आदि संख्या दी गई है वह पूरे चौथे सूक्त की मन्त्र संख्या है। ऐसा जानना चाहिए।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**आसुरी गायत्री (य एतमित्यस्योक्तमेव)**॥

नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते। य एतं देवमेकवृतं वेद॥ १८॥

अर्थ—न आठवाँ, न नौवाँ और न भी दसवां यह परमेश्वर कहा जाता है। (य एतम्) देखो मन्त्र (१५)।

[अभिप्राय १६-१८ का यह है कि परमेश्वर को जो एक मात्र देव जानता है, उसके लिए परमेश्वर के अतिरिक्त और कोई उपास्य नहीं। मौलिक संख्याएँ १-१० तक हैं, पश्चात् की संख्याएँ इन्हीं की पुनरावृत्ति रूप हैं। अतः दस तक वर्णन हुआ है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**प्राजापत्याऽनुष्टुप् (य एतमित्यस्योक्तमेव)**॥

स सर्वस्मै वि पश्यति यच्च प्राणति यच्च न। य एतं देवमेकवृतं वेद॥ १९॥

अर्थ—(सः) वह परमेश्वर (सर्वस्मै) सबके भले के लिए (वि पश्यति) अलग-अलग रूप में सब को देखता रहता है, (यच्च) अर्थात् जो (प्राणति) प्राणधारी है,(यच्च न) और जो प्राणधारी नहीं, अर्थात् जड़ है। (य एतम्) देखो मन्त्र (१५)।

[४(१)।११ में प्रजाओं अर्थात् उत्पन्न पदार्थों का वर्णन हुआ है, और मन्त्र ४(२) १९ में सब उत्पन्न और अनुत्पन्न, प्राणी और अप्राणी जगत् का वर्णन हुआ है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**विराड् गायत्री (य एतमित्यस्योक्तमेव)**॥

तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव। य एतं देवमेकवृतं वेद॥ २०॥

अर्थ—(इदम्) यह (सहः) बलशाली जगत् (तम्) उस सविता में (निगतम्) प्रविष्ट है, उसके आश्रय में है, (सः एषः) वह यह सविता (एकः) एक है, (एकवृत्) एक महा शक्ति रूप विद्यमान है, (एक एव) एक ही है। (य एतम्) देखो मन्त्र (१५)।

[अभिप्राय, पूर्ववत् (४(१)।१२)]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**आसुर्युष्णिक् (य एतमित्यस्योक्तमेव)**॥

सर्वे अस्मिन्देवा एकवृतो भवन्ति। य एतं देवमेकवृतं वेद॥ २१॥

अर्थ—(सर्वे) सब (देवाः) दिव्य पदार्थ, (अस्मिन्) इस सविता में (एकवृतः) अर्थात् इस एक में वर्तमान (भवन्ति) होते हैं। (य एतम्) देखो मन्त्र (१५)।

सूक्त ४, पर्याय ३

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**२२ भुरिक् प्राजापत्या त्रिष्टुप् (य एतमित्यस्योक्तमेव), २३ आर्ची गायत्री, २४ आसुरी पङ्क्तिः**॥

ब्रह्म च तपश्च कीर्तिश्च यशश्चाम्भश्च नभश्च
ब्राह्मणवर्चसं चान्नं चान्नाद्यं च। य एतं देवमेकवृतं वेद॥ २२॥
भूतं च भव्यं च श्रद्धा च रुचिश्च स्वर्गश्च स्वधा च॥ २३॥
य एतं देवमेकवृतं वेद॥ २४॥

अर्थ—(ब्रह्म च) वेद-वेदार्थ का भान, (तपः च) तपोमय जीवन, (कीर्तिः च) व्यक्तित्व का

संकीर्तन, (यशः च) यश, (अम्भः च) ज्ञान की दीप्तिः, (नभः च) पापकर्मों का हिंसन, (ब्राह्मण-वर्चसम् च) ब्रह्मवेत्ताओं का तेज, (अन्नं च) अन्न, (अन्नाद्यम् च) और खाने-योग्य अन्न॥ २२॥

(भूतं च भव्यं च) भूत और भविष्य का ज्ञान, (श्रद्धा च, रुचिः च) श्रद्धा और श्रद्धेय में रुचि, (स्वर्गः च, स्वधा च) स्वर्ग और स्वधारणशक्ति अर्थात् स्वावलम्बिता होते हैं॥ २३॥

(यः) जो व्यक्ति (एतम्) इस सविता परमेश्वर को (एकवृतम् देवम्) एकमात्र देव (वेद)[1] जानता है॥ २४॥

[कीर्तिः=**कृत संशब्दे**=संकीर्तन। भूतं च भव्यं च=यथा **परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्** (योग ३.१६), अर्थात् धर्मपरिणाम, लक्षण परिणाम और अवस्थापरिणाम में संयम द्वारा वस्तु सम्बन्धी अतीत (भूत) और अनागत (भविष्य) का परिज्ञान होता है (देखो सूत्र पर व्यासभाष्य)। अम्भः=**अम् गत्यादिषु**। अत्र गतिः=ज्ञानम्। गतेस्त्रयोऽर्थाः, ज्ञानं गतिः प्राप्तिश्च। अम्+भः (भा दीप्तौ)। नभः=णभ् हिंसायाम्]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**एकपदाऽऽसुरी गायत्री**॥

स एव मृत्युः सो३मृतं सो३भ्वं१ स रक्षः॥ २५॥

अर्थ—(सः) वह सविता परमेश्वर (एव) ही (मृत्युः) मृत्यु है, (सः) वह (अमृतम्) अमृत है, (सः) वह (अभ्वम्) सृष्टि का अभाव करने वाला अर्थात् विनाशक है, (सः) वह (रक्षः) सृष्टि रक्षक है।

[परमेश्वर ही मृत्युरूप से प्राणियों की मृत्यु करता और अमृत रूप में जीवात्मा को मोक्ष प्रदान करता अर्थात् जन्ममरण की शृङ्खला से मुक्त करता है। वह ही सृष्टि विनाशक और सृष्टि रक्षक है।

अभ्वम्=अ+भू (सत्तायाम्)+व (औणादिकः), ऊकारलोपः, क्लीबत्वं च। "सत्ता का अभाव" करने वाला। रक्षः=रक्षतीति, पालकः (उणा० ४.१९०, महर्षि दयानन्द)]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**आर्षी गायत्री**॥

स रुद्रो वसुवनिर्वसुदेये नमोवाके वषट्कारोनु संहितः॥ २६॥

अर्थ—(सः) वह (रुद्रः) रौद्ररूप रुलाने वाला है, (वसुदेये) सम्पत्तियों के प्रदान में (वसुवनिः) सम्पत्तियों का विभाग करने वाला, (नमोवाके) "नमः" कहने (वषट्कारः) पर कष्टनाशक है, (अनु संहितः) सदा सम्यक्तया हितकारी है।

(रुद्रः) पापियों को, उनके कर्मों के अनुसार, रौद्ररूप में परमेश्वर, उन्हें रुला कर, सुपथ में प्रवर्तित कर, उनका हित करता है। वसुवनिः=वसु+वन (संभक्तौ)। "वषट्" का प्रयोग याज्यामन्त्रों की समाप्ति पर आहुतियों के प्रदान में होता हैं। यह शब्द मन्त्रान्त का सूचक होते हुए, यहाँ दुःखान्त तथा कष्टान्त का सूचक है। अथवा वषट्कारः=वष् (हिंसायाम्)+अट् (गतौ)+कारः=हिंसा को विगत करने वाला। अनुसंहितः=कर्मानुसार सुख-दुःख प्रदान करने से परमेश्वर सदा हित करता है। राष्ट्र में न्यायाधीश दण्डविधान द्वारा प्रजा का हित ही करते हैं]।

१. वेद=साक्षात्कार।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**प्राजापत्याऽनुष्टुप्** ॥

तस्येमे सर्वे यातव उप प्रशिषमासते ॥ २७ ॥

अर्थ—(इमे) ये (सर्वे) सब (यातवः) गतिशील तारागण आदि, (तस्य) उस सविता परमेश्वर के (प्रशिषम्) उत्तम-शासन की (उप आसते) उपासना करते हैं, अर्थात् उसके आज्ञापालक हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**प्राजापत्याऽनुष्टुप्** ॥

तस्यामू सर्वा नक्षत्रा वशे चन्द्रमसा सह ॥ २८ ॥

अर्थ—(चन्द्रमसा सह) चन्द्रमासहित (अमू सर्वा नक्षत्रा=अमूनि सर्वाणि नक्षत्राणि) वे सब नक्षत्र (तस्य) उस सविता के (वशे) वश में हैं।

[नक्षत्रा= Ecliptic (रविमार्ग में वर्तमान) नक्षत्र। वेदानुसार, २८ नक्षत्र हैं, जोकि चन्द्रमा की दैनिक गति द्वारा निश्चित किये गये हैं। ये सभी सविता के अधीन हैं, उसके आज्ञापालक हैं। २८ वाँ नक्षत्र है ''अभिजित्''। नक्षत्रों के लिए देखो (अथर्व० १९.७, ८) के मन्त्र]।

सूक्त ४, पर्याय ४

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**आसुरी गायत्री** ॥

स वा अह्नोजायत तस्मादहरजायत ॥ २९ ॥

अर्थ—(सः) वह सविता अर्थात् प्रेरक परमेश्वर (वै) निश्चय से (अह्नः) दिन से (अजायत) पैदा अर्थात् प्रकट हुआ है, क्योंकि (तस्मात्) उससे (अहः) दिन (अजायत) पैदा हुआ है।

[दिन कार्य है, प्रतिदिन नया दिन आता है। इस कार्य का कोई चेतन-कर्त्ता होना चाहिए, जैसे कि घट-पट आदि कार्यों के कुम्हार और जुलाहा आदि चेतन-कर्त्ता होते हैं। परमेश्वर के कार्यों द्वारा परमेश्वर का अनुमान होता है। यह परमेश्वर का जन्म अर्थात् प्रकट होना है। यही तर्क अगले १० संख्या के मन्त्रों तक जानना चाहिए]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**प्राजापत्याऽनुष्टुप्** ॥

स वै रात्र्या अजायत तस्माद्रात्रिरजायत ॥ ३० ॥

अर्थ—(सः वै) वह निश्चय से (रात्र्याः) रात्रि से (अजायत) प्रकट हुआ है, क्योंकि (तस्मात्) उससे (रात्रिः) रात्रि (अजायत) पैदा हुई है।

[अजायत=इस पद में ''जन्'' धातु का प्रयोग है, जिसका प्रसिद्ध अर्थ है जन्म धारण करना। दिन और रात्रि आदि से सविता-परमेश्वर का प्रसिद्धार्थक जन्म नहीं होता, न ही प्रतिदिन और प्रतिरात्रि से सविता-परमेश्वर का प्रतिदिन और प्रतिरात्रि जन्म होता रहता है। प्रतिदिन और प्रतिरात्रि, सविता-परमेश्वर का प्रकटीकरण तो अनुमान द्वारा होता ही रहता है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**विराड् गायत्री** ॥

स वा अन्तरिक्षादजायत तस्मादन्तरिक्षमजायत ॥ ३१ ॥

अर्थ—(सः वै) वह निश्चय से (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष से (अजायत) प्रकट हुआ, क्योंकि (तस्मात्) उससे (अन्तरिक्षम्, अजायत) अन्तरिक्ष पैदा हुआ है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**प्राजापत्यानुष्टुप्** ॥

स वै वायोरजायत तस्माद्वायुरजायत॥ ३२ ॥

अर्थ—(सः वै) वह निश्चय से (वायोः) वायु से (अजायत) प्रकट हुआ है, क्योंकि (तस्मात्) उससे (वायुः) वायु (अजायत) पैदा हुई है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**आसुरी गायत्री** ॥

स वै दिवोऽजायत तस्माद् द्यौरध्यजायत॥ ३३ ॥

अर्थ—(सः वै) वह निश्चय से (दिवः) द्युलोक से (अजायत) प्रकट हुआ है, क्योंकि (तस्माद् अधि) उससे (द्यौः) द्युलोक (अजायत) पैदा हुआ है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**साम्न्युष्णिक्** ॥

स वै दिग्भ्योऽजायत तस्माद्दिशोऽजायन्त॥ ३४ ॥

अर्थ—(सः वै) वह निश्चय से (दिग्भ्यः) दिशाओं से (अजायत) प्रकट हुआ है, क्योंकि (तस्मात्) उससे (दिशः) दिशाएँ (अजायन्त) पैदा हुई हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**प्राजापत्याऽनुष्टुप्** ॥

स वै भूमेरजायत तस्माद्भूमिरजायत॥ ३५ ॥

अर्थ—(सः वै) वह निश्चय से (भूमेः) भूमि से (अजायत) प्रकट हुआ है, क्योंकि (तस्मात्) उससे (भूमिः) भूमि (अजायत) पैदा हुई है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**प्राजापत्याऽनुष्टुप्** ॥

स वा अग्नेरजायत तस्मादग्निरजायत॥ ३६ ॥

अर्थ—(सः वै) वह निश्चय से (अग्नेः) अग्नि से (अजायत) प्रकट हुआ है, क्योंकि (तस्मात्) उससे (अग्निः) अग्नि (अजायत) पैदा हुई है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**साम्न्युष्णिक्** ॥

स वा अद्भ्योऽजायत तस्मादापोऽजायन्त॥ ३७ ॥

अर्थ—(सः वै) वह निश्चय से (अद्भ्यः) जलों से (अजायत) प्रकट हुआ है, क्योंकि (तस्मात्) उससे (आपः) जल (अजायन्त) पैदा हुए हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**साम्न्युष्णिक्** ॥

स वा ऋग्भ्योऽजायत तस्मादृचोऽजायन्त॥ ३८ ॥

अर्थ—(सः वै) वह निश्चय से (ऋग्भ्यः) ऋचाओं से (अजायत) प्रकट हुआ है, क्योंकि (तस्मात्) उससे (ऋचः) ऋचाएँ (अजायन्त) पैदा या प्रकट हुई हैं।

[इस वर्णन में स्पष्ट कहा है कि ऋचाएँ अर्थात् वेद, सविता नाम वाले अर्थात् प्रेरक परमेश्वर से उत्पन्न हुए हैं। परमेश्वर ने आद्य ऋषियों में वेद प्रेरित किये। साथ ही यह भी जानना चाहिए कि ऋचाओं से सविता तथा परमेश्वर का प्रसिद्धार्थक जन्म नहीं होता, अपितु उसके स्वरूप का बौद्धिक ज्ञानमात्र होता है। इसलिए जिन भी मन्त्रों में परमेश्वर के जन्म का वर्णन होता है, उनमें जन्म द्वारा ज्ञानमात्र अर्थ ही

जानना चाहिए।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**आसुरी गायत्री** ॥

स वै यज्ञादजायत तस्माद्यज्ञोऽजायत॥ ३९ ॥

अर्थ—(सः वै) वह निश्चय से (यज्ञात्) यज्ञ से (अजायत) प्रकट हुआ है, क्योंकि (तस्मात्) उससे (यज्ञः) यज्ञ (अजायत) पैदा हुआ है।

[यज्ञः=एकवचन के कारण, सत्त्व-रजस्-तमस् के परस्पर संगम द्वारा उत्पन्न, संसार यज्ञ यहाँ अभिप्रेत प्रतीत होता है। अथर्व० ११.३(३)। ५२, ५३ मन्त्र, इस सम्बन्ध में निम्नरूप हैं यथा—

एतस्माद्वा ओदनात् त्रयस्त्रिंशतं लोकान् निरमिमीत प्रजापतिः॥ ५२॥ तेषां प्रज्ञानाय यज्ञमसृजत॥ ५३॥ मन्त्रों का अभिप्राय यह है कि प्रजापति ने ३३ लोकों का निर्माण किया। उनके प्रज्ञान के लिए उसने यज्ञ सृजा। यहाँ यज्ञ से संसार यज्ञ अभिप्रेत प्रतीत होता है[१]। ३३ लोकों में समग्र-संसार की व्याप्ति है। इनके स्वरूपों के ज्ञान के लिए ही परमेश्वर ने इन्हें रचा है, ताकि इनका यथावत् प्रयोग और उपयोग किया जा सके]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**आसुरी गायत्री** ॥

स यज्ञस्तस्य यज्ञः स यज्ञस्य शिरस्कृतम्॥ ४०॥

अर्थ—(सः) वह सविता (यज्ञः) यज्ञ है, (तस्य) उस सविता का (यज्ञः) यज्ञ है, (सः) वह सविता (यज्ञस्य) यज्ञ का (शिरः कृतम्) सिर रूप में कल्पित किया गया है।

[वेदों में संसार को शरीररूप मान कर, और संसार के घटक अवयवों को अङ्गरूप मान कर, इन्हें परमेश्वर के शरीर रूप में और अङ्गों के रूप में वर्णित किया है। यथा अथर्व० १०.७.१८-३४; तथा यजुः० ३१.११-१३)। संसार और परमेश्वर में शरीर-शरीरिभाव का वर्णन यह दर्शाने के लिए हुआ है ताकि यह अनुभव किया जा सके कि जैसे अस्मदादि जीवनों में शरीर और शरीराङ्ग चेतन जीवात्माओं के ज्ञान, इच्छा, तथा प्रेरणाओं द्वारा सक्रिय होते हैं, वैसे संसार और संसारावयव भी किसी विभु चेतन के ज्ञान, इच्छा तथा प्रेरणाओं द्वारा ही प्रेरित तथा सक्रिय हो रहे हैं।

परन्तु इससे कहीं यह न समझ लिया जाए कि परमेश्वर वस्तुतः शरीरधारी है, इसलिए कहा कि "तस्य यज्ञः" अर्थात् यज्ञ उसका है, वह यज्ञ रूप नहीं, वह यज्ञ का स्वामी है। इसे और स्पष्ट किया है कि "**स यज्ञस्य शिरस्कृतम्**", वह संसार का "सिर रूप" है। सिर प्रेरक है शरीर और शरीर के अङ्गों का। इसी प्रकार परमेश्वर संसार और संसार के अङ्गों का प्रेरक है। [शिरस्कृतम्=सिर रूप में कल्पित किया गया है]। परमेश्वर के सम्बन्ध में स्पष्ट कहा है कि "अकायम्, अव्रणम्, अस्नाविरम्" (यजुः० ४०.८)।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**साम्नी बृहती** ॥

स स्तनयति स वि द्योतते स उ अश्मानमस्यति॥ ४१॥

अर्थ—(सः) वह सविता-परमेश्वर (स्तनयति) गर्जता है, (सः) वह (विद्योतते) विद्युत् रूप में

१. अथर्व० (११.७.५-१९) में नाना यज्ञों तथा यज्ञांगों का कथन हुआ है, जिनके स्वरूपों का वर्णन, अथर्व० में नहीं। ब्राह्मण ग्रन्थों में इनके स्वरूपों का वर्णन हुआ है। ब्राह्मणग्रन्थों में वर्णित इनके स्वरूप अथर्ववेदाभिमत हैं। या नहीं—यह विचार योग्य है।

चमकता है, (स उ) वह ही (अश्मानम्) ओले (अस्यति) फैंकता है, बर्साता।

[मेघ और विद्युत् में प्रेरक रूप में परमेश्वर की सत्ता को जान कर—यह कहा है कि सविता ही गर्जन, द्योतन, और ओले फैंकने के कार्य कर रहा है। मन्त्र का अभिप्राय मन्त्र ११ के अभिप्राय के अनुरूप है। मानुष शक्ति से बाह्य घटनाओं का प्रेरक परमेश्वर ही है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**प्राजापत्याऽनुष्टुप्**॥

पापाय वा भद्राय वा पुरुषायासुराय वा॥ ४२॥

अर्थ—(पापाय) पापी के लिए (वा) और (भद्राय) भद्र के लिए (वा) और (पुरुषाय) पुरुष के लिए (वा) तथा (असुराय) असुर के लिए—[वह गर्जन, द्योतन और ओले फैंकने के कार्य करता है (मन्त्र १२)। वा=समुच्चयार्थः]।

[मन्त्र में प्रलय काल का वर्णन है, जिसमें भले-बुरे, आस्तिक-नास्तिक सबका संहार होता है। पुरुषाय=**पुरि देहे वसति शेते वा**। अर्थात् जो अपने-आप को—देह से भिन्न होता हुआ, कर्मों के कारण देह में वसता तथा शयन कर्त्ता मानता है, अर्थात् जीवात्मा की सत्ता मानने वाला, आस्तिक।

असुराय=असु अर्थात् प्राणों के पोषण में रत, और धनैषणा वाला, नास्तिक। मन्त्र में "वा" समुच्चयार्थक हैं, यथा "**अथापि समुच्चयार्थे भवति, "वायुर्वा त्वा मनुर्वा त्वा**" (निरुक्त १.२.५)। प्रलय काल में प्रलयार्थ सबका समुच्चय होता है। पाप-भद्र, और पुरुष-असुर परस्पर में प्रतिद्वन्द्वी पद हैं]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**आर्षी गायत्री**॥

यद्वा कृणोष्योषधीर्यद्वा वर्षसि भद्रया यद्वा जन्यमवीवृधः॥ ४३॥

अर्थ—(यद् वा) और जो (ओषधीः) ओषधियों को (कृणोषि) तू पैदा करता है, (यद् वा) और जो (भद्रया) कल्याणकारिणी और सुखदायिनी भावना से (वर्षसि) तू वर्षा करता है, (यद् वा) और जो (जन्यम्) जन समुदाय की (अवीवृधः) वृद्धि करता है।

[वा=समुच्चयार्थक (मन्त्र १३)। भद्रया=**भदि कल्याणे सुखे च**। मन्त्र में सृष्टि की रक्षा का वर्णन है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**साम्न्यनुष्टुप्**॥

तावांस्ते मघवन्महिमोपो ते तन्वः शतम्॥ ४४॥

अर्थ—(मघवन्) हे सम्पत्तिशाली सवितः! (तावान्) उतनी या वह सब (ते महिमा) तेरी महिमा मात्र है, (उप उ) तथा (ते) तेरे [कार्यों के] (तन्वः) विस्तार (शतम्) सैकड़ों हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**आसुरी गायत्री**॥

उपो ते बध्वे बद्धानि यदि वासि न्यर्बुदम्॥ ४५॥

अर्थ—(यदि वा) चाहे (न्यर्बुदम्) अर्बों विस्तार वाला (असि) तू है, वे विस्तार (ते) तेरे (बद्धे) बन्धन में (उप ऊ बद्धानि) समीपता से, बंधे हुए हैं।

[न्यर्बुदम्=अर्बुद का दस गुना। अर्बुद=१०० मिलियन। मिलियन=१० लाख। न्यर्बुद=१० अर्बुद। उ=वितर्के। उप=समीपता; परमेश्वर सब विस्तारवाली वस्तुओं में व्यापक होने से, उनके अत्यन्त समीप होकर उन्हें अपने बन्धन में बाँधे हुए है]।

सूक्त ४, पर्याय ५

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**आसुरी गायत्री** ॥

भूयानिन्द्रो नमुराद्भूयानिन्द्रासि मृत्युभ्यः ॥ ४६ ॥

अर्थ—(नमुराद्) न मरने वाले अर्थात् नित्य पदार्थों से (इन्द्रः) परमेश्वर (भूयान्) बड़ा है, (इन्द्र) हे परमेश्वर! (मृत्युभ्यः) मरने वाले अर्थात् अनित्य पदार्थों से (भूयान्) बड़ा (असि) तू है।

[इन्द्रः=**इदि परमैश्वर्ये**। अतः इन्द्रः=परमेश्वर। सविता को इन्द्र कहा है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**यवमध्या गायत्री** ॥

भूयानरात्याः शच्याः पतिस्त्वमिन्द्रासि विभूः प्रभूरिति त्वोपास्महे वयम् ॥ ४७ ॥

अर्थ—(इन्द्र) हे परमैश्वर्य वाले! (अरात्याः भूयान्) अदानी से बड़ा, (शच्याः पतिः) कर्मों और प्रज्ञाओं का स्वामी (त्वम् असि) तू है, (विभूः) व्यापक और (प्रभूः) शक्तिशाली या स्वामी है (इति) इस प्रकार (वयम्) हम (त्वा) तेरी (उपास्महे) उपासना करते हैं।

[परमेश्वर अदानी से बड़ा है, वह कर्मों और प्रज्ञाओं का अध्यक्ष है तथा परमैश्वर्य का भी स्वामी है, अतः अदानी से माँग न करते हुए हम तेरी शरण में आते हैं। तू व्यापक, विभूतियों वाला, तथा सर्वशक्तिमान् है। अतः हम तेरी ही उपासना करते हैं]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**साम्न्युष्णिक्** ॥

नमस्ते अस्तु पश्यत पश्य मा पश्यत ॥ ४८ ॥

अर्थ—(पश्यत[१]) हे सर्वद्रष्टा परमेश्वर! (ते नमः अस्तु) तुझे नमस्कार हो, (पश्यत) हे सर्वद्रष्टः! (मा) मुझे (पश्य) कृपादृष्टि से देख।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**निचृत्साम्नी बृहती** ॥

अन्नाद्येन यशसा तेजसा ब्राह्मणवर्चसेन ॥ ४९ ॥

अर्थ—(अन्नाद्येन) खाद्य अन्न से (यशसा) यश से, (तेजसा) तेज से, (ब्राह्मणवर्चसेन) ब्रह्मज्ञों की दीप्ति से युक्त हमें करके कृपा दृष्टि से देख।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**प्राजापत्याऽनुष्टुप् (नमस्ते इत्यस्यान्नाद्येनेत्यस्य चोक्तमेव)** ॥

अम्भो अमो महः सह इति त्वोपास्महे वयम्।
नमस्ते अस्तु पश्यत पश्य मा पश्यत।
अन्नाद्येन यशसा तेजसा ब्राह्मणवर्चसेन ॥ ५० ॥

अर्थ—हे परमेश्वर! तू (अम्भः) जलवत् शान्त स्वरूप (अमः) ज्ञान स्वरूप, (महः) पूजनीय

---

१. "पश् या स्पश्" वैदिक धातु है—जिसका अर्थ है—देखना। "स्पशः" (गुप्तचर), (अथर्व० ४.१६.४); **यतो व्रतानि "पस्पशे"** (अथर्व० ७.२६.६); यदा "पश्यः" **पश्यते रुक्मवर्णम्** (मुण्डक उप० ३.१.३); "पस्पश" (पस्पशाह्निक, महाभाष्य पतञ्जलि)। स्पशः आदि पदों में "पश्" धातु प्रयुक्त हुई है। Spy तथा spectrum में भी "पश्" धातु प्रतीत होती है। Spy तथा स्पश् में अधिक वर्णसाम्य और अर्थसाम्य है।

तथा सबसे महान् (सहः) सहन स्वभाव वाला है (इति) इस प्रकार तुझे जानकर (वयम्) हम (त्वा) तेरी (उपास्महे) उपासना करते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**विराड् गायत्री (नमस्ते इत्यस्यान्नाद्येनेत्यस्य चोक्तमेव)** ॥

अम्भो अरुणं रजतं रजः सह इति त्वोपास्महे वयम्।
नमस्ते अस्तु पश्यत पश्य मा पश्यत।
अन्नाद्येन यशसा तेजसा ब्राह्मणवर्चसेन ॥ ५१ ॥

अर्थ—(अम्भः) ज्ञान दीप्ति वाला, (अरुणम्) आरोचमान, (रजतम्) प्रीति के पात्र आनन्द स्वरूप, (रजः) रजोमयी पृथिवी के सदृश क्षमाशील, (सहः) बलवान् तू है (इति) इस प्रकार जानकर (वयम्) हम (त्वा उपास्महे) तेरी उपासना करते हैं।

[अम्भः=अम् (अम)+भा (दीप्तौ), ज्ञान की दीप्ति वाला। अरुणः=**आरोचमानः** (निरुक्त ५.४.२१, वृकः ६५ की व्याख्या)। रजतम्=**रजति प्रियं भवतीति** (उणा० ३.१११)। **सहः बलनाम** (निघं० २.९)]।

सूक्त ४, पर्याय ६

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**प्राजापत्याऽनुष्टुप् (नमस्ते इत्यस्यान्नाद्येनेत्यस्य चोक्तमेव)** ॥

उरुः पृथुः सुभूर्भुव इति त्वोपास्महे वयम्।
नमस्ते अस्तु पश्यत पश्य मा पश्यत।
अन्नाद्येन यशसा तेजसा ब्राह्मणवर्चसेन ॥ ५२ ॥

अर्थ—(उरुः) सर्वाच्छादक, (पृथुः) विस्तृत अर्थात् व्यापक, (सुभूः) सब पदार्थों में अच्छी प्रकार विद्यमान, (भुवः) आकाशवत् सबके लिए निवास स्थान तू है (इति) इस प्रकार जानकर (वयम्) हम (त्वा) तेरी (उपास्महे) उपासना करते हैं।

[उरुः=**ऊर्णुञ् आच्छादने**। सुभूः=**सुष्ठुतया सर्वेषु पदार्थेषु भवतीति** (ऋ०भा०भूमिका, महर्षि दयानन्द)। सुभूर्भुवः=सम्भवतः सु (स्वः)+भूः+भुवः (महाव्याहृतियाँ)। स्वः=सम्प्रसारण द्वारा, सुः=सु।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**प्राजापत्याऽनुष्टुप् (नमस्ते इत्यस्यान्नाद्येनेत्यस्य चोक्तमेव)** ॥

प्रथो वरो व्यचो लोक इति त्वोपास्महे वयम्।
नमस्ते अस्तु पश्यत पश्य मा पश्यत।
अन्नाद्येन यशसा तेजसा ब्राह्मणवर्चसेन ॥ ५३ ॥

अर्थ—(प्रथः) सब जगत् का प्रसारक, (वरः) श्रेष्ठ, (व्यचः) विविध प्रकार के सब पदार्थों में गत अर्थात् व्यापक, (लोकः) दर्शनीय तू है (इति) यह जानकर (वयम्) हम (त्वा) तेरी (उपास्महे) उपासना करते हैं।

[व्यचः=वि+अञ्चु (गतिपूजनयोः)। लोकः=लोकृ (दर्शने)]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**द्विपदाऽर्षी गायत्री** ॥

भवद्वसुरिदद्वसुः संयद्वसुरायद्वसुरिति त्वोपास्महे वयम् ॥ ५४ ॥

अर्थ—(भवद्वसुः) वसुओं को पैदा करने वाला, (इदद्वसुः) वसुओं में ऐश्वर्य स्थापित करने वाला, (संयद्वसुः) वसुओं का संयमन करने वाला, (आयद्वसुः) वसुओं में प्रयत्नशील, उनमें गति देने वाला[१] तू है (इति) यह जान कर (वयम्) हम (त्वा) तेरी (उपास्महे) उपासना करते हैं।

[भवद्वसुः=**भवन्ति वसवः यस्मात् सः**। वसवः[२]=पृथिवी, अग्नि; अन्तरिक्ष, वायु; द्युलोक, आदित्य; नक्षत्र समूह, चन्द्रमाः। इदद्वसुः=इदि (परमैश्वर्ये)+शतृ+वसुः। आयद्=आ+यती प्रयत्ने+क्विप्; आ+अय् (गतौ)+शतृ]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**५५ साम्न्युष्णिक्, ५६ निचृत्साम्नी बृहती** ॥

नमस्ते अस्तु पश्यत पश्य मा पश्यत ॥ ५५ ॥

अन्नाद्येन यशसा तेजसा ब्राह्मणवर्चसेन ॥ ५६ ॥

अर्थ—(पश्यत) हे सर्वद्रष्टा सविता परमेश्वर! (ते नमः अस्तु) तुझे नमस्कार हो, (पश्यत) हे सर्वद्रष्टः! (मा) मुझे (पश्य) कृपादृष्टि से देख।

(अन्नाद्येन) खाद्य अन्न से, (यशसा) यश से, (तेजसा) तेज से, (ब्राह्मणवर्चसेन) ब्रह्मज्ञों की दीप्ति से [युक्त हमें करके, कृपादृष्टि से देख]।

चतुर्थ अनुवाक समाप्त ॥

इत्यष्टविंशः प्रपाठकः ॥

त्रयोदश काण्ड का भाष्य सम्पूर्ण हुआ ॥

---

१. बृहदा० उप० अध्याय ३, ब्राह्मण ९, खण्ड ३।
२. प्रयत्न शील, अथवा उनमें गति देने वाला।